अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे द्वादशं प्रसूनम्

आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः

योगवासिष्ठः

[निर्वाणप्रकरणोत्तरार्द्धप्रथमखण्डरूपः]

श्रीमदच्युतग्रन्थमाला-विश्वनाथपुस्तकालयाध्यक्षेण सा० आ०
पं० श्रीकृष्ण पन्त शास्त्रिणा वे० आ० पं० मूलशङ्कर
शास्त्रिणा च विरचितेन भाषानुवादेन
समलङ्कृतः



अच्युतग्रन्थमालाकार्यकारिणां पण्डितानां
साहाय्येनानुवादकमहोदयाभ्यां
सम्पादितः

प्रकाशनस्थानम्—
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः,
काशी।

संवत्
२००५

प्रथमावृत्तिः १५००]

मूल्यम् ८)

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

मुद्रक—
इ० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

योगवासिष्ठके चतुर्थ भागकी विषय-सूची

[निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध—४२७०-५३६०]

विषय | पृष्ठ

ॐ

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

योगवासिष्ठ

[भाषानुवादसहित]

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध

प्रथमः सर्गः

श्रीराम उवाच

नैष्कर्म्यात्कल्पनात्यागात्तनुः पतति देहिनः ।
कथमेतदतो ब्रह्मन्सम्भवत्याशु जीवतः ॥ १ ॥

पहला सर्ग

[ममता, अहङ्कार एवं सङ्कल्प-विकल्पसे रहित जीवन्मुक्त पुरुष जैसा जीवनयापन और आचरण करते हैं वैसा निर्वचन करनेके लिए युक्तिका कथन]

इस निर्वाण-प्रकरणके पूर्वार्धमें श्रीरामजीकी समाधिके प्रदर्शनव्याजसे यह दर्शाया कि जो उत्तमाधिकारी पुरुष हैं उनके बार-बार किये गये श्रवणका जब परिपाक हो जाता है तब आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञानका आविर्भाव होकर परमपदमें तत्काल ही उनकी विश्रान्ति हो जाती है। अब ऐसे जो उत्तमाधिकारी हैं उनकी किसी प्रारब्धके बलसे कदाचित् समाधि टूट भी जाय, तो भी जिस रीतिसे उस परम पदमें निरन्तरविश्रान्ति अनायास सिद्ध हो जा सकती है उस रीतिसे उत्तरोत्तरकी भूमिकाओंमें उन्हें चढ़ानेके लिए इस उत्तरार्ध प्रकरणका आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरणमें सबसे पहले 'अहं ममेति संविदन्' * यह जो पूर्वप्रकरणके अन्तमें कहा गया है उसको लेकर—हे महाराज, कल्पनाजनित देह-

---

* अहं ममेति संविदन् दुःखतो विमुच्यते ।
असंविदन् विमुच्यते यदीप्सितं तदाचर ॥ [नि० पू० १२६।१०२]

वसिष्ठ उवाच

जीवतः कल्पनात्यागो युज्यते न त्वजीवतः ।
रूपमस्य यथातत्त्वं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ २ ॥
अहम्भावनमेवाऽऽहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ३ ॥

धारण आदि व्यवहार सब कल्पनाओंका परित्याग कर देनेपर कैसे सिद्ध हो सकता है—ऐसी श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'नैष्कर्म्यात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—हे ब्रह्मन्, देह, प्राण आदिमें जब पुरुष अहन्ता, ममता आदि कल्पनाएँ छोड़ देता है तब सब तरहकी क्रियाओंकी शान्ति हो जानेके कारण देहको ठीक-ठीक रखनेवाली तथा उसकी पोषक प्राण आदिकी चेष्टाएँ उस पुरुषमें रहेंगी ही नहीं । ऐसी दशामें उसका शरीर तत्काल ही गिर जायगा, अतः आपने सर्वकल्पनात्यागी पुरुषके लिए जो व्यवहार आदि हमें बतलाये, वे कैसे हो सकते हैं ॥ १ ॥

पुरुषका जीवन कल्पनाधीन नहीं है, जिससे कि कल्पनात्यागसे शरीर-त्यागका प्रसङ्ग हो जाय, किन्तु जीवन भोगजनक प्रारब्धके अधीन है । असलमें विचार किया जाय, तो कल्पनात्याग ही जीवनके अधीन है, इसलिए अपने उपजीव्य जीवनका कल्पनात्याग कैसे बाध कर सकता है । ऐसी दशामें कल्पना-त्याग होनेपर जीवनका न रहना ही विरुद्ध है, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'जीवतः' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जो पुरुष जीवनसम्पन्न है उसीका कल्पनात्याग हो सकता है । जो जीवनसम्पन्न नहीं है उसका नहीं हो सकता । इस कल्पनात्यागका स्वरूप जिस प्रकारसे जीवनविरुद्ध नहीं है उस प्रकारसे मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, उसे आप सुनिये । वह कानोंके लिए अत्यन्त ही मधुर है ॥ २ ॥

भद्र, आत्माको शरीर आदिके-जैसा छोटा जो मान बैठना है उसे ही कल्पनाके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् कल्पना कहते हैं और आत्माको आकाशके सदृश अपरिच्छिन्न जानकर अपने पारमार्थिक स्वरूपका निरन्तर जो अनुसन्धान करना है, उसे कल्पनात्याग कहते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थरसमेवाऽऽहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ४ ॥
इदं वस्त्विति संवेगमाहुः कल्पनमुत्तमाः ।
नभोर्थभावनं तस्य सङ्कल्पत्याग उच्यते ॥ ५ ॥
स्मरणं विद्धि सङ्कल्पं शिवमस्मरणं विदुः ।
तच्च प्रागनुभूतं च नाऽनुभूतञ्च भाव्यते ॥ ६ ॥
अनुभूतां नाऽनुभूतां स्मृतिं विस्मृत्य काष्ठवत् ।
सर्वमेवाऽऽशु विस्मृत्य गूढस्तिष्ठ महामते ॥ ७ ॥
सर्वास्मरणमात्रात्मा तिष्ठाऽऽयातेषु कर्मसु ।
अर्द्धसुप्तशिशुस्पन्द इवाऽभ्यस्तोपपत्तिषु ॥ ८ ॥

कल्पनाके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् आत्माकी परिच्छिन्न पदार्थोंके सदृश भावनाको ही कल्पना कहते हैं और आकाशके सदृश अपरिच्छिन्न परमार्थ-स्वरूपकी भावनाको सङ्कल्पत्याग कहते हैं ॥ ४ ॥

उत्तम महानुभाव लोग यह सम्पूर्ण देहादि दृश्य वस्तु परमार्थसत्य है—इस अभिमानको ही कल्पना कहते हैं और चूँकि दृश्य आकाशके कार्य भूतचतुष्टयका विकार हैं, इसलिए तत्त्वतः अकेला आकाशरूप अर्थ ही स्फुरित होता है, यों अर्थके पर्यालोचनको सङ्कल्पका त्याग कहते हैं। ये दोनों ही भ्रान्तपुरुषके अनुभवके विरुद्ध होनेपर भी जीवनके विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि जी रहे पुरुषकी ही भ्रान्तिकी निवृत्ति देखी जाती है, यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

हे रामजी, विषयोंके स्मरणको आप सङ्कल्प जानिये तथा यह भी जान लीजिये कि विषयोंके अस्मरणको विद्वान् लोग शिवस्वरूप समझते हैं। वह स्मरण अनुभूत और अननुभूत—यों दो तरहका कहा जाता है अर्थात् भूत और भावी दोनों तरहके विषयोंका स्मरण होता है ॥ ६ ॥

हे महामते, अनुभूत और अननुभूत दोनों तरहकी स्मृतियोंका विस्मरण कर तथा अनुमिति आदि अन्य सब वृत्तियोंका भी शीघ्र विस्मरण कर अपरिच्छिन्न ब्रह्माकारमें लीन होकर आप काष्ठके तुल्य दृढ़ और निश्चल बनकर चिरकाल तक जीवित रहिये ॥ ७ ॥

व्यवहारकालमें तो स्मृतिमात्रका निरोध करना चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वा०' इत्यादिसे ।

निःसङ्कल्पप्रवाहेण चक्रं प्रस्पन्दते यथा ।
स्पन्दस्व कर्मस्वनघ प्राक्संस्कारवशात्तथा ॥ ९ ॥
अविद्यमानचित्तस्त्वं सत्त्वसंस्कारमागतः ।
प्रवाहपतितेष्वेव स्पन्दस्व स्वेषु कर्मसु ॥ १० ॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
असङ्कल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते ॥ ११ ॥
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदयं सर्वदुःखहा ।
चिन्तामणिर्विचाराख्यो हृत्स्थोऽपि त्यज्यते जनैः ॥ १२ ॥
अवेदनमसङ्कल्पस्तन्मयेनैव भूयताम् ।
एतावत्परमं श्रेयः स्वयमेवाऽनुभूयताम् ॥ १३ ॥

सब पदार्थोंके विस्मरणसे युक्त होकर प्रारब्धप्राप्त कार्योंमें आप स्थित रहिये, क्योंकि पूर्वजन्मके दृढ़ अभ्यासमात्रसे होनेवाले स्तनपान आदि कर्मोंमें अर्धसुप्त बालकके स्पन्दनके सदृश पूर्वापर-स्मृतिकी आवश्यकता नहीं रहती ॥८॥

सङ्कल्पशून्य प्रवाहसे यानी किसी प्रयोजन एवं उद्देशके बिना ही एकमात्र पूर्वके संस्कारसे कुलालका चक्र कृतकार्य होनेपर भी जबतक वेग नष्ट नहीं हो जाता तबतक जैसे भ्रमण किया ही करता है, वैसे ही हे पापशून्य श्रीरामजी, आप भी अपने कर्मोंमें पूर्वजन्मके संस्कारके वशसे चेष्टा करते रहिये ॥ ९ ॥

क्षीण चित्तसे युक्त अतएव वासनाशून्य मनके संस्कारके वेगसे अनुगत होकर हे श्रीरामजी, आप प्रवाहपतित ही अपने कर्मोंमें चेष्टा करते रहिये ॥१०॥

मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वरसे चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, लेकिन कोई उसे सुनता ही नहीं कि सङ्कल्पत्याग ही परम श्रेयका सम्पादक है, अतः उसकी भावना तुम लोग अपने हृदयमें क्यों नहीं करते ॥ ११ ॥

अहो, इस मोहका माहात्म्य तो देखो कि यह सम्पूर्ण दुःखोंको छुड़ानेवाला विचारनामक चिन्तामणि हृदयमें स्थित रहते हुए भी सब मनुष्योंसे त्यक्त हो रहा है ॥ १२ ॥

दृश्य-दर्शनसे निर्मुक्त जो आत्मतत्त्व है वही मुख्य असङ्कल्प है। हे श्रीरामजी, आप तन्मय ही हो जाइये। यही परम श्रेय है, इसका आप स्वयं अनुभव कर लीजिये ॥ १३ ॥

किल तूष्णीं स्थितेनैव तत्पदं प्राप्यते परम् ।
परमं यत्र साम्राज्यमपि राम तृणायते ॥ १४ ॥

गम्यदेशैकनिष्ठस्य यथा पान्थस्य पादयोः ।
स्पन्दो विगतसङ्कल्पस्तथा स्पन्दस्व कर्मसु ॥ १५ ॥

सर्वकर्मफलाभोगमलं विस्मृत्य सुप्तवत् ।
प्रवाहपतिते कार्ये स्पन्दस्व गतवेदनम् ॥ १६ ॥

स्पन्दस्वाऽकृतसङ्कल्पं सुखदुःखान्यभावयन् ।
प्रवाहपतिते कार्ये चेष्टितोन्मुक्तशष्पवत् ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि सङ्कल्पकी चेष्टा छोड़कर एकमात्र चुपचाप स्थित रहनेसे ही वह परम पद प्राप्त हो जाता है, जहांपर यह सम्पूर्ण हिरण्यगर्भतकका भी साम्राज्य तृणकी नाईं तुच्छ बन जाता है ॥१४॥

प्राक्तन सङ्कल्पप्रयुक्त क्रियाओंके वेगसे ही वेगक्षयपर्यन्त जो व्यवहारकी सिद्धि होती है, उसमें पहले कहे गये दृष्टान्तको फिर कहते हैं—'गम्य०' इत्यादिसे ।

अपने एकमात्र गन्तव्यस्थान गृह आदिकी ओर जानेके लिए तत्पर पथिकके पैरमें स्पन्दन जैसे बिना सङ्कल्पके ही प्रतिक्षण होते रहते हैं यानी उस पथिकके पैर अपने अभीष्ट स्थानकी ओर जानेके लिए सङ्कल्परहित ही होकर बे-रोक-टोक उठते जाते हैं, वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी सङ्कल्पशून्य होकर ही अपने कर्मोंमें स्पन्दन करते चलिये ॥ १५ ॥

'अवेदनमसङ्कल्पस्तन्मयेनैव भूयताम्' यह जो ऊपर कहा गया है उसका व्यवहारकालमें भी उपपादन करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलोंको, सोये हुएकी नाईं, बिलकुल भूलकर प्रवाहपतित (प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए) कर्मके लिए सङ्कल्पशून्य होकर स्पन्दन करते चलिये ॥ १६ ॥

जैसे स्वतः सङ्कल्पसे विमुक्त एक छोटा-सा तृण वायु आदिके प्रवाहमें पड़कर दूसरे तृण आदिके साथ संयोग और वियोगरूप कार्यमें स्पन्दनशील बनता है वैसे ही हे श्रीरामजी, आप भी सुख और दुःखकी कुछ भी भावना न करते हुए सङ्कल्पनिर्मुक्त होकर प्रवाहपतित अपने कार्यमें चेष्टाशील बने रहिये ॥ १७ ॥

रसभावनमन्तस्ते माऽलं भवतु कर्मसु ।
दारुयन्त्रमयस्येव परार्थमिव कुर्वतः ॥ १८ ॥
नीरसा एव ते सन्तु समस्तेन्द्रियसंविदः ।
आकारमात्रसंलक्ष्या हेमन्ततौं लता इव ॥ १९ ॥
बोधार्कपीतरसया स्पन्दषड्वर्गसत्तया ।
यन्त्रस्पन्दोपमस्तिष्ठ वल्ल्येव शिशिरे द्रुमः ॥ २० ॥
चिदान्तररसान्येव प्रवृत्तान्यपि धारय ।
स्वयत्नेनेन्द्रियाण्याशु हेमन्ततुंस्तरूनिव ॥ २१ ॥

दूसरोंके कौतुकके लिए नृत्य आदि कर रही-सी स्थित कठपुतलीको जैसे नटके समान श्रृङ्गार आदि रसकी भावना नहीं होती, वैसे ही प्रारब्धप्राप्त कर्म कर रहे आपको भी हृदयके भीतर कर्मोंमें, विषयसुखमें मूर्खकी नाईं, रसकी भावना (कौतुक बुद्धि) बिलकुल न हो ॥ १८ ॥

समस्त इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके अनुभव आपको ऐसे नीरस मालूम पड़ें, जैसे कि हेमन्त ऋतुमें सिर्फ अपने आकारमात्रसे दिखाई दे रही लताएँ ॥१९॥

बोधरूपी सूर्य जिसके रसका (भावनाका) पान कर गया है, ऐसी पञ्चकोश संवलित चिदाभास, मनसहित प्राणवर्ग, ज्ञानेन्द्रियवर्ग, कर्मेन्द्रियवर्ग, ज्ञानकर्मेन्द्रिय सहित अन्तःकरण और शरीर—इन छः स्पन्दनयुक्त षड्वर्गोंकी सत्तासे युक्त आप यन्त्रगत स्पन्दनके समान ऐसे स्थित रहिये, जैसे लतासे वेष्टित शिशिर ऋतुमें नीरस वृक्ष स्थित रहता है ॥ २० ॥

भला नीरस षड्वर्गका जीवन कैसे रह सकता है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'चिदा०' इत्यादिसे ।

आवरणशून्य भूमानन्दस्वरूप चिति ही षड्वर्गका जीवनकी पुष्टि आदिमें हेतुभूत आन्तरिक रस है । स्वभावतः बाह्य विषय-रसोंके आस्वादमें प्रवृत्त हुए भी षड्वर्गोंको उधरसे अपने यत्नसे हटाकर उन्हें अपने जीवनकी पुष्टिमें हेतुभूत चितिरूपी आन्तरिक रसकी ओर ले जा करके ऐसे जिलाये रहिये, जैसे हेमन्तऋतु बाहरी जलके अभावमें भी अपने आन्तरिक रससे ही वृक्षोंको जिलाये रहती है ॥ २१ ॥

सरसेन्द्रियवृत्तेस्ते कुर्वतोऽकुर्वतस्तथा ।
संसारानर्थसार्थोऽयं न कदाचन शाम्यति ॥ २२ ॥
निःसङ्कल्पमरुज्ज्वालायन्त्राम्बुस्पन्दवद्यदि ।
स्पन्दसे तदनन्ताय श्रेयसे परिकल्पसे ॥ २३ ॥
एतदेव परं धैर्यं जन्मज्वरनिवारणम् ।
यदवासनमभ्यस्ता निजकर्मसु कर्तृता ॥ २४ ॥
अवासनमसङ्कल्पं यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
शनैश्चक्रभ्रमाभोग इव स्पन्दस्व कर्मसु ॥ २५ ॥
मा कर्मफलबुद्धिर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।
उभयं वा त्यजैतत्त्वमुभयं वा समाश्रय ॥ २६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपादिदमुच्यते ।
सङ्कल्पनं मनो बन्धस्तदभावो विमुक्तता ॥ २७ ॥

इन्द्रियवृत्तियोंको विषयोंकी ओर जानेसे न रोकनेमें तथा उन्हें सरस बनाये रखनेमें क्या होगा ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सरसे०' इत्यादिसे ।

यदि आपकी इन्द्रियवृत्तियाँ बाह्य विषयोंकी ओर लगी रहेंगी तथा आप उन्हें सरस बनाये रक्खेंगे, तो चाहे आप विषयोंका उपभोग करें या न करें, किन्तु आपका यह संसारके अनर्थोंका समूह तो कभी भी शान्त न होगा ॥२२॥

सङ्कल्पशून्य होकर यदि आप वायु, अग्निज्वाला, यन्त्र और जलके समान स्पन्द करते रहेंगे, तब तो आप अनन्त श्रेयके लिए समर्थ हो सकेंगे ॥ २३ ॥

जन्मरूपी ज्वरके निवारणके लिए यही सबसे बढ़कर उत्तम उपाय है कि अपने कर्मोंमें जो कर्तृत्व अभ्यस्त हो, वह वासनारहित हो ॥ २४ ॥

वासनाओं और सङ्कल्पोंसे शून्य होकर प्रारब्ध-प्राप्त कार्योंके अनुसार बर्ताव कर रहे आप चाकके ऊपर भ्रमण करनेवाले सन्निवेश (घटादि रचनाविशेष) की नाईं धीरे-धीरे उत्तरोत्तर उपशमशील होते हुए अपने कर्मोंमें स्पन्द करते रहिये ॥२५॥

कर्मफलमें आपकी आसक्त बुद्धि न हो और कर्मोंके त्यागमें भी आपकी आसक्ति (कर्मत्यागके फलमें आसक्ति) न हो । इन दोनोंका आप त्याग कर दीजिये या आप इन दोनोंका आश्रयण कीजिये । फलमें आसक्ति न करनेपर कर्म करने या छोड़ देनेमें कुछ भी विशेषता नहीं रहती ॥ २६ ॥

हे श्रीरामजी, अब इस विषयमें और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

नेह कार्यं न वा कार्यमस्ति किञ्चिन्न कुत्रचित् ।
सर्वं शिवमजं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम् ॥ २८ ॥
पश्यन् कर्मण्यकर्मत्वमकर्मणि च कर्मताम् ।
यथाभूतार्थचिद्रूपः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ २९ ॥
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम् ।
अत्यन्तं तन्मयो भूत्वा तथा तिष्ठ यथाऽसि भोः ॥ ३० ॥
समे शान्ते शिवे सूक्ष्मे द्वैतैक्यपरिवर्जिते ।
ततेऽनन्ते परे शुद्धे किं केन किल खिद्यते ॥ ३१ ॥
नोदेतु त्वयि सङ्कल्पो मरुभूमाविवाऽङ्कुरः ।
इच्छा नोदेतु भवति लतिकेवोपलोदरे ॥ ३२ ॥

संक्षेपसे मैं यही कह देता हूँ कि सङ्कल्प ही मनका बन्धन है और उसका अभाव ही है मुक्ति ॥ २७ ॥

यहाँपर न कहीं कोई कार्य है और न कहीं कोई अकार्य (त्याज्य) है, किन्तु सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवस्वरूप ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी आप जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥ २८ ॥

सांसारिक सब कार्य निष्क्रिय ब्रह्मरूप हैं और निष्क्रिय ब्रह्मभावमें स्थिति अवश्य करनी चाहिए—यों देखते हुए आप परमार्थ चैतन्यरूप होकर सुखपूर्वक शान्त बैठे रहिये ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी, विषयोंके विस्मरणको ही चित्तका क्षय तथा जीवब्रह्मैक्यरूप योग कहते हैं, इसलिए आप उसमें अत्यन्त तन्मय होकर जैसे हैं वैसे ही स्थित रहिये ॥ ३० ॥

स्पन्दशून्य होकर चुपचाप बैठे रहना तो एकमात्र दुःखदायक ही होगा, जैसे कि आम-वातसे जड़ बना दिया गया शरीर दुःखदायी होता है, इस शङ्काका वारण करते हैं—'समे' इत्यादिसे ।

सम, शान्त, शिव, सूक्ष्म, द्वैत एवं ऐक्यसे वर्जित, व्यापक, अनन्त और शुद्ध परब्रह्मकी प्राप्ति हो जानेपर कौन किसलिए खिन्न हो सकता है ॥ ३१ ॥

मरुभूमिमें अङ्कुरकी नाईं आपमें सङ्कल्पका उदय न हो तथा पत्थरके उदरमें लताकी नाईं आपमें इच्छा भी उदित न हो ॥ ३२ ॥

अवेदनस्य शान्तस्य जीवतो वाऽप्यजीवतः ।
नेह किञ्चित् कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनाऽपि कश्चन ॥ ३३ ॥
यत्कर्माकर्मशान्तेऽन्तः शाश्वताभेदरूपिणि ।
न कर्मणि च कर्माणि न कर्तर्यपि कर्तृता ॥ ३४ ॥
अहं ममेति संविदन्न दुःखतो विमुच्यसे ।
असंविदन्विमुच्यसे यदीप्सितं तदाचर ॥ ३५ ॥
अहं ममेति नास्त्यलं यदस्ति तच्छिवं परम् ।
परात्परं त्विदं शिवादशब्दमर्थरूपकम् ॥ ३६ ॥

सङ्कल्पशून्य शान्त पुरुषको जीवित रहते या न रहते इस संसारमें किये या न किये गये लौकिक या वैदिक कर्मसे इस लोक या परलोकके लिए कोई भी फल नहीं होता ॥ ३३ ॥

क्यों नहीं होता, इस शङ्कापर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चूँकि आप कर्म और अकर्म इन दोनोंके बाधकी अवधि हैं यानी ये दोनों आपमें एकरूपसे मिल चुके हैं, इसलिए कर्माकर्मात्मक हुए सदा अभेदरूप आपके प्रातिभासिक कर्मरूपसे विवर्तमान होनेपर भी वस्तुतः आपमें कर्मता नहीं है और प्रातिभासिक कर्तारूपसे विवर्तमान होनेपर भी वस्तुतः कर्तृता नहीं है। मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्यको कर्म और कर्तृत्व आदिमें सत्यत्वबुद्धि रहती है उसीको कर्मफल मिलते हैं, सो तो आपमें है ही नहीं ॥ ३४ ॥

यही कारण है कि देहादिमें 'अहं, मम' इस तरहका ज्ञान रखनेवालेको ही विधि और निषेध शास्त्रोंके अधिकारसे कर्मकृत बन्धन होता है, दूसरेको नहीं, यह जो पहले कहा जा चुका है, उसे ही फिर कहते हैं—'अहं मम' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, 'अहं', 'मम' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) यह भावना कर रहे आप सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा नहीं पा सकते तथा 'अहं', 'मम' यह भावना न कर रहे आप मुक्ति पा सकते हैं, अतः इनमें जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये ॥ ३५ ॥

हे श्रीरामजी, 'अहं', 'मम' यह सर्वथा नहीं है। जो है सो केवल परम शिव ही है। भूमानन्द शिवसे अन्य यह दृश्यरूप प्रातिभासिक जगत् तो अनिर्वचनीय (अवस्तु) ही है ॥ ३६ ॥

यद्दृश्यते जगदिदं खलु किञ्चिदेत-
द्धेम्नोऽङ्गदत्वमिव भाति न विद्यमानम् ।
अस्य क्षयं विदुरवेदनमेव पश्चा-
त्सत्यं तदेव परमार्थमथाऽवशिष्टम् ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे इच्छादिचिकित्सायोगोपदेशो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अद्वैतैक्यं विमननं शान्तमात्मन्यवस्थितम् ।
यथा पङ्कमयं सैन्यं तथा शिवमयं जगत् ॥ १ ॥

इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'यद्दृश्यते' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, जो कुछ यह जगत् दिखाई दे रहा है, वह सुवर्णकी कटक, अङ्गद आदि रूपताके सदृश केवल प्रतीतिमात्र है, उसकी पृथक् सत्ता नहीं है । आत्मासे भिन्न इसका अनुभव न करना ही इसका नाश है । आत्माके अज्ञानका नाश होनेके अनन्तर अवशिष्ट दृश्य-बाधका अधिष्ठान तो ज्ञानका अविषय ही है । इसीको अनुभवी लोग सत्य, एक और परम पुरुषार्थ कहते हैं ॥ ३७ ॥

प्रथम सर्ग समाप्त

दूसरा सर्ग

[सम्पूर्ण जगत्में शिवमयरूपता बतलानेके बाद कर्मके बीजका अन्वेषण करके उसका समूल निवारण किया जाता है, यह वर्णन]

'सर्वं शिवमयं शान्तमनन्तं प्राग्वदास्यताम्' (सब अज, शान्त, अनन्त तथा शिवमय ब्रह्म ही है, इसलिए हे श्रीरामजी, आप जैसे पहले थे वैसे ही स्थित रहिये) यह जो कहा गया है, उसका यहाँ उपपादन करनेके लिए पहले प्रतिज्ञा करते हैं—'अद्वैतैक्यम्' इत्यादिसे ।

मनोहङ्कारबुद्ध्यादिचित्तमेव च तन्मयम् ।
कालाकारक्रियाशब्दशक्तिसन्दर्भसंयुतम् ॥ २ ॥
शिवपङ्कमया एव रूपालोकमनःक्रमाः ।
तन्मयत्वादनन्तत्वादतः किं केन चेत्यते ॥ ३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वैतता और एकतासे रहित, मननशून्य, शान्त आत्मा ही अपने पारमार्थिक स्वभावमें तत्त्व-दृष्टिसे अवस्थित है। जिस तरह मिट्टीकी सेना मिट्टीमय है उसी तरह शिवका यह सारा संसार शिवमय है ॥ १ ॥

जो-जो चितिसे भास्य है वह सब चितिका विवर्त होनेसे चिन्मय—चिति-स्वरूप—ही है, इसे चार अन्तःकरणोंमें क्रमशः दर्शाते हैं—'मनो०' इत्यादिसे।

काल, आकार, क्रिया, नाम और अर्थसे समन्वित मन, अहङ्कार, चित्त और बुद्धि आदिरूप सब चित्त चितिसे भास्य होनेके कारण चिन्मय ही * है ॥ २ ॥

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय, इन्द्रियोंसे जनित ज्ञान तथा ज्ञानके जो विषय हैं उनमें भी चिद्व्याप्तिप्रयुक्त ही अपरोक्ष प्रकाश है, इसलिए उनमें भी विवेकी पुरुष शिवरूपताका ही अवलोकन करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'शिव०' इत्यादिसे।

बाह्य रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदिके आलोचन तथा मनके क्रम यानी बाह्य सविकल्पक हान और उपादान आदि बुद्धियाँ एवं उनके विषय सबके सब शिवरूपी पङ्कमय हैं। [यों सभी पदार्थोंको शिवरूप देखनेपर सम्पूर्ण त्रिपुटीरूपसे एकमात्र शिव ही दिखाई देता है, शिवसे अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु इस संसारमें देखनेमें नहीं आती, यह कहते हैं—'तन्मयत्वाद०' से] चूँकि इस संसारकी सभी वस्तुएँ अनन्त शिवस्वरूप पङ्क ही हैं, इसलिए कौन किससे प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

* सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि चितिका चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख होना-रूप जो मनन है वह चितिसे व्याप्त ही है। तदनन्तर विषयोंका अभिमान, अध्यवसाय, स्मरण, काम और सङ्कल्प आदि जो वृत्तियाँ उदित होती हैं वे भी चितिसे व्याप्त ही उदित होती हैं, यह सर्वानुभवसिद्ध है। तथा चिति और चेत्यका सम्बन्धरूप काल, विषयोंका आकार, उसकी क्रिया—इस प्रकार नाम और अर्थके सहित जो सम्पूर्ण अन्तःकरणका संसरण है वह भी साक्षात् साक्षीसे वेद्य होनेके कारण शिवमय ही है, यह प्रत्येक विद्वान्को जान लेना चाहिए।

मातृमेयप्रमाणादि देशकालौ दिगादि च ।
भावाभावविवर्तादि शिवपङ्कमयात्मकम् ॥ ४ ॥
अहं ममेत्यतः सारान्नेतरत्परमेश्वरात् ।
असंसक्तमतिस्तिष्ठ हा शिलोदरमौनवत् ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

अहं ममेत्यसद्रूपं ज्ञस्याऽभावयतः प्रभो ।
अशुभं कर्मणां त्यागादनुष्ठानाच्च किं शुभम् ॥ ६ ॥

इसीको फिर स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—'मातृ०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण, देश, काल, दिशा आदि तथा भाव और अभाव आदि विवर्त, ये सबके सब शिवपङ्कमयात्मक ही हैं ॥ ४ ॥

'अहं' और 'मम' (मैं और मेरा) इन दो रूपोंसे ही सम्पूर्ण विवर्तोंका संग्रहकर फिर 'ये सभी वस्तुएँ चितिसे व्याप्त हैं' इस तरहसे उनमें चिति-व्याप्तिकी भलीभाँति आलोचना करनेपर एकमात्र चितिके ही साररूपसे बच जानेके कारण उसमें स्थिति सुलभ हो जाती है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'अहं ममे०' इत्यादिसे ।

चूँकि हे श्रीरामचन्द्रजी, सारभूत परमेश्वरसे भिन्न 'अहं' 'मम' इत्यादि विवर्त कुछ भी नहीं है, इसलिए संसक्तमति न होते हुए यानी स्त्री, पुत्र आदि विषयोंमें तनिक भी आसक्ति न रखते हुए आप शिलाके उदरमें प्रसिद्ध वाणी आदि चेष्टाशून्य मौनके समान स्थित* रहिये ॥ ५ ॥

अनन्त कोटि जन्मोंके सञ्चित पाप और पुण्यरूपी कर्मोंका अपरोक्षरूपसे भान न होनेके कारण शिवमयतावलोकन द्वारा बाध सिद्ध तो हो नहीं सकता, इसलिए अन्ततोगत्वा जबतक मृत्यु न हो जाय तबतक चेष्टाशून्य होकर रहनारूप ही उनका त्याग एकमात्र उनके निवारणमें उपाय है, क्योंकि ज्ञानी पुरुषको कर्म करनेसे न तो कोई फल मिलनेकी अपेक्षा है और न नित्य एवं नैमित्तिक कर्मोंके त्यागसे प्रत्यवाय लगनेकी ही आशा है, जिससे कि चुपचाप स्थित रहना उससे न हो सकेगा, ऐसी सम्भावना करके श्रीरामजी पूछते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

---

* क्योंकि अपरोक्ष चितिकी व्याप्तिके ही द्वारा नाम और रूपात्मक समस्त प्रपञ्च शिवस्वरूप है, ऐसा निर्णय कर बाध द्वारा उस स्वरूपमें अनायास अवस्थिति हो सकती है ।

वसिष्ठ उवाच

पृच्छामि यदहं तत्त्वं कथयाऽऽशु ममाऽनघ ।
यदि जानासि तत्त्वेन कर्म तावत्किमुच्यते ॥ ७ ॥
विस्तारः कर्मणः कीदृङ् मूलं तस्य च किं भवेत् ।
नाशनीयं च निपुणं कथं कथय नाश्यते ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

यन्नाशनीयं निपुणं तन्नूनं च विनाश्यते ।
मूलकाषेण भगवन्न शाखादिविकर्तनैः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे प्रभो, 'अहं', 'मम' इत्यादि दृश्यसमूहकी असद्रूपसे भावना कर रहे ज्ञानी पुरुषको कर्मोंके त्यागसे क्या अशुभ होता है तथा उनके अनुष्ठानसे क्या शुभ होता है ॥ ६ ॥

सचमुच आपका नैष्कर्म्य सिद्ध हो जाय, यदि अज्ञानरूप मूलके साथ आप कर्मोंका त्याग कर सकें। परन्तु मूलका त्याग करना तो अत्यन्त ही कठिन है, यह दिखलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी—श्रीरामचन्द्रजी मुझसे 'कर्मोंका मूल क्या है' इसका निश्चय कर पूछ रहे हैं या यों ही पूछ रहे हैं—इसकी परीक्षा करनेके लिए हे श्रीरामजी, आपने कर्मोंका स्वरूप कैसा निश्चित किया है, उनका फलात्मक विस्तार कैसा है, उनका मूल क्या है, उनमें नाशयोग्य अंश और उसका उपाय आपने कैसा निश्चित किया है—यह पूछते हैं—'पृच्छामि' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे निष्पाप श्रीरामजी, जो मैं आपसे पूछ रहा हूँ उसे शीघ्र कहिये। यदि वास्तवमें आप जानते हों, तो कहिये, कर्म किसे कहते हैं ॥ ७ ॥

कर्मका विस्तार कैसा है, उसका मूल क्या है और उसके किस अंशका नाश किया जाता है? यानी उसका नाशनीय अंश कौन है? और वह किस तरह नष्ट होता है। यह भी अच्छी तरह कहिये ॥ ८ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे भगवन्, जो नाशनीय अंश है, उसका भलीभाँति मूलोच्छेदपूर्वक नाश कर देना चाहिए, केवल शाखा आदिको कतरकर नहीं ॥९॥

शुभाशुभं नाशनीयं स्वकर्म खलु धीमता ।
मूलकाषविनाशेन तच्च नष्टं भवत्यलम् ॥ १० ॥
कर्मवृक्षस्य वक्ष्यामि ब्रह्मन् मूलानि मे शृणु ।
यन्निकाषेण निर्मूलो न स भूयः प्ररोहति ॥ ११ ॥
देहस्तावदयं ब्रह्मन्कर्मवृक्षः समुत्थितः ।
रूढः संसारविपिने विचित्राङ्गलताश्चितः ॥ १२ ॥
कर्म बीजं तरोरस्य सुखदुःखफलावलेः ।
क्षणतारुण्यकान्तस्य जराकुसुमहासिनः ॥ १३ ॥
मुहूर्तं प्रति कालोग्रमर्कटध्वंसिताकृतेः ।
निद्राहेमन्तजठरलीनस्वप्नदलोद्गतेः ॥ १४ ॥

कर्मका स्वरूप और उसके नाशका प्रकार, जो अपनेको अभिप्रेत है, श्रीरामजी बतलाते हैं—'शुभाशुभम्' इत्यादिसे ।

बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि वह अपने पुण्य और पापरूप कर्मोंको नष्ट कर दे और मूल उखाड़ कर नाश कर देनेसे वे बिलकुल नष्ट भी हो सकते हैं ॥१०॥

तीसरे प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'कर्मवृक्षस्य' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, कर्मरूपी वृक्षके मूल मैं आपसे कहता हूँ, आप सुनिये । जिनको उखाड़ फेंकनेसे निर्मूल होकर यह वृक्ष फिर नहीं पनपता ॥ ११ ॥

इस लोकके कर्मका मूल शरीर ही पूर्वजन्मके कर्मका विस्ताररूप भी होता है, इस दूसरे प्रश्नका भी शरीरका ही कर्मवृक्षरूपसे वर्णन करके समाधान देते हैं—'देहस्तावद०' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, संसाररूपी विपिनमें रोपा गया यह शरीर ही कर्मवृक्षरूपसे उत्पन्न है । यह कर्मरूपी वृक्ष विचित्र हाथ, पैर आदि अङ्गरूपी शाखाओंसे विराजमान है ॥ १२ ॥

सुख-दुःखरूपी नानाविध फलोंकी पङ्क्तियोंसे समन्वित इस वृक्षका पूर्वजन्ममें किया गया भला या बुरा कर्म ही बीज है । क्षणिक तरुण अवस्थासे यह कमनीय दिखाई देता है और वृद्धावस्थारूपी फूलोंसे हँसता है ॥ १३ ॥

प्रत्येक क्षणमें कालरूपी उग्र बन्दर हर्ष, विषाद, रोग, जरा आदि विकारकी चेष्टाओंके द्वारा इसकी आकृतिको नष्ट करता है । निद्रारूपी हेमन्त ऋतुके जठरमें इसके स्वप्नरूपी पत्तोंके निर्गम सङ्कुचित हुए रहते हैं ॥ १४ ॥

स्ववार्धकशरच्छान्तशीर्णेहापर्णसन्ततेः ।
जगज्जङ्गलजातस्य कलत्रोपतृणावलेः ॥ १५ ॥
पल्लवावयवा हस्तपादपृष्ठादयोऽरुणाः ।
पत्राणि तनुवृत्तानि सुरेखाणि चलानि च ॥ १६ ॥
अरुणाः पवना लोला मृद्व्यो मसृणमूर्तयः ।
स्नाय्वस्थिदिग्धसरसा अङ्गुल्यो बालपल्लवाः ॥ १७ ॥
मृद्व्यो मसृणतीक्ष्णाग्रा वृत्ता रूढाः पुनः पुनः ।
द्वितीयेन्दुकलाकाराः कलिका नखपङ्क्तयः ॥ १८ ॥
कर्मणः परिफुल्लस्य देहरूपतयेति हि ।
कर्मेन्द्रियाणि मूलानि दष्टानि ग्रन्थिमन्ति च ॥ १९ ॥
स्थिरास्थिग्रन्थिनद्धानि पङ्कमग्नात्मकानि च ।
वासनारसपीतानि निजरक्तरसानि च ॥ २० ॥

अपनी वृद्धावस्थारूपी शिशिर ऋतुके अन्तमें इसके चेष्टारूप पत्तोंके समूह शान्त और शीर्ण हो जाते हैं। जगत्-रूपी जङ्गलमें उत्पन्न हुए इस वृक्षके समीपमें स्त्री, पुत्र आदि पोष्यवर्गरूपी बहुत-से तृण पैदा हुए हैं ॥ १५ ॥

हाथों और पैरोंके पिछले हिस्से तथा ओष्ठ, कान और जीभ आदि इसके लाल-लाल कोमल पल्लवरूप अवयव हैं और हाथों एवं पैरोंके तलवे कुछ कठोर होनेसे कम लालिमा लिये हुए इसके छकु गोल तथा सुन्दर रेखाओंसे युक्त चञ्चल पत्ते हैं ॥ १६ ॥

भीतरमें स्थित नाडियों तथा हड्डियोंसे लिप्त होनेके कारण सुन्दर, कोमल और चिकनी मूर्ति लाल अङ्गुलियां ही इसके वायुसे कम्पित हो रहे बालपल्लव हैं ॥१७॥

काटनेपर भी पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली कोमल, चिकनी, तीक्ष्ण अग्रभागोंसे युक्त दूजकी चन्द्रकलाके आकारवाली इसकी नखपङ्क्तियां ही गोल-गोल कलियां हैं ॥ १८ ॥

इस तरह देहवृक्षरूपसे उत्पन्न हुए पूर्वजन्मके कर्मकी कर्मेन्द्रियां ही मूल हैं। [इनमें वृक्षमूलके धर्म दिखलाते हैं—'दष्टानि'से] इनमें जो छिद्रोंसे युक्त हैं, वे तो आसङ्ग-कामादिरूपी साँपोंसे डसे गये हैं और जो बिना छिद्रोंके हैं उनमें भी बड़ी-बड़ी गाँठें पड़ गई हैं ॥ १९ ॥

हे भगवन्, दृढ़ हड्डियोंकी गाँठोंसे बँधी, नाड़ियोंमें भरे गये अन्नरसोंमें डूबी

गुल्फवन्ति दृढाङ्गानि सुत्वञ्चि मसृणानि च ।
तेषामपि च मूलानि विद्धि बुद्धीन्द्रियाणि हि ॥ २१ ॥
सुदूरमपि जातानि पञ्चस्तम्बानि तानि तु ।
वासनापङ्कमग्नानि रसवन्ति महान्ति च ॥ २२ ॥
तेषां मूलं बृहत्स्तम्भं मनो व्याप्तजगत्त्रयम् ।
पञ्चस्रोतःशिराकृष्टभुक्तानन्तरसद्रवम् ॥ २३ ॥
तस्य मूलं विदुर्जीवं चेत्योन्मुखचिदात्मकम् ।
चेत्यस्य चेतनं मूलं सर्वमूलैककारणम् ॥ २४ ॥
चितेस्तु ब्रह्म मूलं यत्तस्य मूलं न विद्यते ।
अनाख्यत्वादनन्तत्वाच्छुद्धत्वात्सत्यरूपिणः ॥ २५ ॥
सर्वेषां कर्मणामेवं वेदनं बीजमुत्तमम् ।
स्वरूपं चेतयित्वाऽन्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते ॥ २६ ॥

हुई, वासनारूपी रसको पी जानेवाली तथा अपने रक्तरूप रससे परिपूर्ण; एँड़ीके ऊपरकी गाँठसे युक्त, दृढ़ अङ्गोंवाली, सुन्दर त्वचाओंसे समन्वित और चिकनी उन कर्मेन्द्रियोंके भी मूल आप ज्ञानेन्द्रियोंको जानिये ॥ २०,२१ ॥

ज्ञानेन्द्रियां देहसे बाहर बहुत दूर विषयप्रदेशोंमें जाकर भी विषयोंको पकड़ लेनेमें अत्यन्त समर्थ हैं, नेत्रगोलक आदि पांच तरहके स्थानोंमें वे आश्रित हैं और अपने-अपने विषय-वासनारूपी कीचड़में निमग्न अतएव वासनायुक्त हैं तथा उन्हें निगृहीत करना शक्य नहीं है—काबूके बाहर है ॥ २२ ॥

उन ज्ञानेन्द्रियोंका भी महान् स्तम्भयुक्त मूल यह मन है, इसने तीनों लोकको व्याप्त कर रक्खा है तथा यही अनन्त रूपादि रसद्रवोंको पांच ज्ञानेन्द्रियोंके स्रोतरूपी नाडियोंके द्वारा खींचकर उनका उपभोग कर लेनेके बाद फिर उन्हें फेंक देता है ॥ २३ ॥

हे भगवन्, उस मनका मूल तत्त्वज्ञानी लोग चेत्य (विषय) की ओर उन्मुख हुए चिदात्मक जीवको (चिदाभासको) कहते हैं। चेत्यांशका मूल अविद्या-शबल (मायाशबल) चिति है। उस चिदाभासरूप चितिका भी मूल बिम्बभूत ब्रह्म है, जो सब मूलोंका एक कारण है। हे ब्रह्मन्, चूँकि वह अशब्द, अनन्त, शुद्ध और सत्यस्वरूप है, इसलिए उस ब्रह्मका कोई दूसरा मूल नहीं है ॥२४,२५॥

हे महर्षे, इस तरह सम्पूर्ण कर्मोंका मूल विषयोंकी ओर उन्मुख हुई चिति

मुने चेतनमेवाऽऽद्यं कर्मणां बीजमुच्यते ।
तस्मिन्सति महाशाखो जायते देहशाल्मलिः ॥ २७ ॥
एतच्चेतनशब्दार्थभावनावलितं यदि ।
तत्कर्मबीजतामेति नो चेत्सत्परमं पदम् ॥ २८ ॥
चितिश्चेतनशब्दार्थभावनावलिता यदि ।
तत्कर्मबीजतामेति नो चेदाद्यं परं पदम् ॥ २९ ॥
तस्माद्वेदनमेवेह कर्मकारणमाकृतेः ।
यदेतत्कर्मणां प्रोक्तं त्वयैवोक्तं मुनीश्वर ॥ ३० ॥

ही है । वह अहङ्कारादिके साथ तादात्म्यापन्न होकर 'मैं ही सब कुछ करती हूँ' यों कर्ताके स्वरूपकी भावना करके क्रियात्मक स्पन्द बनकर उसके फलके लिए प्रवृत्त होती है ॥ २६ ॥

हे मुने, सब कर्मोंका आदि बीज यह जीवचेतन ही है, क्योंकि उसके रहनेपर ही यह बड़ी-बड़ी टहनियोंवाला शरीररूपी सेमलका वृक्ष पैदा होता है ॥ २७ ॥

यह जीवचैतन्य जिस समय अहङ्कार आदिसे युक्त 'मैं ही चेतन कर्ता हूँ' इस तरहकी उद्बुद्ध हुई शब्दार्थभावनासे समन्वित होता है उसी समय कर्मोंकी बीजताको प्राप्त होता है, अन्यथा यह अपने सत् परम पदरूपसे ही स्थित रहता है ॥ २८ ॥

फिर इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'चिति०' इत्यादिसे ।

यह जीवचेतन जब चेतनशब्दार्थकी भावनासे यानी चैतन्यात्मक मैं ही सब कुछ करता हूँ—इस तरहकी भावनासे वेष्टित होता है तब कर्मोंकी बीजताको प्राप्त होता है, अन्यथा अपने परम सद्रूप पदसे स्थित रहता है ॥ २९ ॥

उक्त अर्थकी प्रामाणिकताकी सिद्धिके लिए गुरुवाक्यको ही प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अब उपसंहार करते हैं—'तस्माद्' इत्यादिसे ।

इसलिए हे मुनीश्वर, अपने शरीर आदिमें अहंरूपताके आकारकी भावना ही इस संसारमें सब कर्मोंकी कारण है । यह जो मैंने कर्मोंका मूल आपसे कहा है, सो आपने ही पहले मुझसे कहा था, अतः आपके वचनका अवलम्बन करके ही मैंने यह सब आपसे कहा है ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्य राघव सूक्ष्मस्य कर्मणो वेदनात्मनः।
कस्त्यागः किमनुष्ठानं यावद्देहमिति स्थितम् ॥ ३१ ॥
यच्चेत्यतेऽनु तेनाऽऽशु बहिरन्तश्च भूयते।
सत्याकारमसत्यं वा भवत्वाहितविभ्रमम् ॥ ३२ ॥
न चेत्यते चेत्तदलं भ्रमादस्माद्विमुच्यते।
भ्रमः सत्योऽस्त्वसत्यो वा किं विचारणयाऽनया ॥३३॥
एतच्चेतनमेवाऽन्तर्विकसत्युद्भवभ्रमैः।
वासनेच्छामनःकर्मसंकल्पाद्यभिधात्मभिः ॥ ३४ ॥
प्रबुद्धस्याऽप्रबुद्धस्य देहिनो देहगेहके।
आदेहं विद्यते चित्तं त्यागस्तस्य न विद्यते ॥ ३५ ॥

हे श्रीरामजी, यह जो आपने कर्मोंका मूल मुझे सुनाया है, इसका त्याग चुपचाप बैठे रहने या देहका त्याग कर देनेसे नहीं हो सकता है और न तो कर्मोंकी निवृत्ति ही आपके द्वारा दिखलाये गये मार्गसे हो सकती है, इस अभिप्रायसे महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'अस्य' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, जबतक देहरूप उपाधि उपस्थित है तबतक वेदनात्मक इस सूक्ष्म कर्मका क्या त्याग और क्या अनुष्ठान हो सकता है ॥ ३१ ॥

देहके विद्यमान रहते बाह्य और आभ्यन्तर दृश्योंके अध्यासको दूर करना अत्यन्त ही कठिन है, यह कहते हैं—'यच्चे०' इत्यादिसे।

देह रहते बाह्य और आभ्यन्तर जिस-जिसकी यह जीवचेतन भावना करता है उसी रूपका यह शीघ्र हो जाता है, चाहे वह सत्याकार हो या विभ्रमसे भरा हुआ बिलकुल असत्य ही क्यों न हो ॥ ३२ ॥

यदि भावना नहीं करता, तो यह अच्छी तरह इस संसारके भ्रमसे मुक्त हो जाता है। वह भ्रम सत्य हो या असत्य, इस विचारसे प्रयोजन क्या है ॥ ३३ ॥

यह जीव चेतन ही वासना, इच्छा, मन, कर्म, सङ्कल्प आदि नामवाले औपाधिक उत्पन्न भ्रमोंसे अपने अन्दर संसाररूपसे विकसित होता है ॥ ३४ ॥

तब तो प्रतिबिम्बकी हेतु चित्तरूप उपाधिका ही प्रबोधसे निरास करना चाहिए, इस शङ्कापर कहते हैं—'प्रबुद्धस्या०' इत्यादिसे।

जीवतां तस्य संत्यागः कथं नामोपपद्यते ।
केवलं कर्मशब्दार्थभावनाभावने सति ।
कर्माकर्मत्वमुत्सृज्य स्वयमेव भवत्ययम् ॥ ३६ ॥
असंभवति संत्यागे कर्मणो यः करोति हि ।
इदं कर्तव्यतात्यागं न किञ्चित्तेन तत् कृतम् ॥ ३७ ॥
बोधादिदन्तासंवित्तेः स्वयं विलयनात्तु यत् ।
जगतस्तं विदुस्त्यागमसङ्गं मोक्षमेव च ॥ ३८ ॥
वेदनं सति संवेद्ये सर्गादावेव वेद्यदृक् ।
नोत्पन्ना विद्यते नैव तस्मात्किं केव वेदनम् ॥ ३९ ॥

देहरूपी घरके भीतर स्थित प्रबुद्ध हुए या अप्रबुद्ध हुए इस जीवका देह-पर्यन्त चित्त रहेगा ही, उसका त्याग हो नहीं सकता ॥ ३५ ॥

जीवन धारण कर रहे प्राणियोंके चित्तका भला कैसे त्याग हो सकता है। इसलिए चुपचाप बैठे रहने या देहके त्यागसे सब कर्मोंका कभी त्याग नहीं हो सकता, किन्तु यथाप्राप्त सब व्यवहारोंको करते समय भी 'असङ्ग, अद्वितीय, कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप मैं कुछ भी नहीं करता', इस निष्क्रिय आत्मस्वभावकी स्थितिसे कर्मशब्दार्थकी भावनाके उत्पन्न न होनेपर यत्नके बिना भी कर्म और अकर्मरूपताका विकल्प छूट जानेसे यह कर्म-त्याग स्वयं ही हो जाता है ॥ ३६ ॥

इससे भिन्न किसी दूसरे मार्गसे कर्मका त्याग अत्यन्त कठिन है, यह कहते हैं—'असम्भवति' इत्यादिसे ।

इससे अन्य दूसरे कर्मत्यागका संभव न होनेपर जो केवल अपने शरीरसे कर्तव्यता त्यागरूप (शास्त्रविहित या लौकिक कर्मोंको छोड़कर चुपचाप बैठनारूप त्याग) करता है, उसके द्वारा यह कुछ भी नहीं किया गया समझना चाहिए ॥ ३७ ॥

बोध होनेके बाद दृश्य-प्रतिभासका स्वयमेव लय होनेसे जो जगत्का अत्यन्ताभाव होता है उसीको असङ्ग त्याग और मोक्ष भी कहते हैं ॥ ३८ ॥

बोधसे तो वेद्यका ही बाध होता है, वेदनका नहीं, फिर उसका बाध कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'वेदनम्' इत्यादिसे ।

वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य रूपं यद्वेदनस्य वै।
न वेदनं तन्नो कर्म तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते ॥ ४० ॥
चेतनं प्रोच्यते कर्म संसृत्याभ्रविकासितम्।
अचेतनं विदुर्मोक्षं ज्ञं प्रत्येवोपदेशगीः ॥ ४१ ॥
त्यागो हि कर्मणां तस्मादादेहं नोपपद्यते।
यैस्तु संपूज्यते कर्म तन्मूलं तैर्न मुच्यते ॥ ४२ ॥

वेद्य (विषयों) के रहनेपर ही वेदन होता है। किन्तु यदि सृष्टिके आदिमें ही वेद्यदृष्टि उत्पन्न नहीं हुई, तो फिर वह वर्तमानकालमें तो नहीं है ही। इसलिए क्या और कहां वेदन है * ॥ ३९ ॥

चिदाभासतारूप वेद्योन्मुखताका परित्याग कर जो वेदनका शुद्ध चिदात्मक रूप अवशिष्ट रहता है वह द्वैतवेदन नहीं है, क्योंकि वह कर्म-क्रिया नहीं है, जिससे कि 'विद्' धातुसे भावमें 'ल्युट्' प्रत्यय करनेपर जो 'विद्' धातुका अर्थ होता है वह हो। किन्तु वह शान्त ब्रह्म ही है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं ॥ ४० ॥

चिदाभासात्मक जो चेतन है वह तो कर्म-क्रियारूप ही कहा गया है, क्योंकि बुद्धि आदिके व्यापार द्वारा जल आदिमें प्रतिबिम्बित आकाशकी नाईं वह विकासको प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि अनुभवी विद्वान् लोग मोक्षको चिदाभासशून्य ही कहते हैं। उन लोगोंकी विवेकी शिष्यके प्रति इसी तरहकी उपदेशवाणी सुनाई देती है ॥ ४१ ॥

इस तरह यह सिद्ध हो गया है कि जबतक यह शरीर खड़ा है तबतक सुख-पूर्वक व्यवहार होता ही रहेगा, इसी आशयसे कहते हैं—'त्यागः' इत्यादिसे।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, जबतक यह शरीर खड़ा है तबतक कर्मोंका त्याग नहीं हो सकता। जो लोग कर्मोंकी पूजा करते हैं वे लोग उसके मूलको नहीं छोड़ते ॥ ४२ ॥

---

* तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वेद्यदृष्टि (विषयदृष्टि) न तो उत्पन्न हुई है और न विद्यमान ही है, क्योंकि उपाधिका बाध होनेपर चिदाभासकी अलग स्थिति नहीं रहती, यह भाव है।

मूलं स्वकर्मणः संविन्मनसो वासनात्मनः।
सा चाऽऽदेहं समुच्छेत्तुमृते बोधान्न शक्यते ॥ ४३ ॥
राम केवलमेषाऽन्तः कर्ममूलकरा परा ॥ ४४ ॥
सूक्ष्मसंविदसंविच्या स्वयत्नेन निकृन्त्यते।
येन संविदसंविच्या स्वयत्नेन विचार्यते ॥ ४५ ॥
तेन संसृतिवृक्षस्य मूलकाषो वितन्यते ॥ ४६ ॥

अचेतनाकाशमनन्यदेकं
तदेवमस्ति त्विदमर्थहीनम्।
तद्व्योमरूपं यत एतदेवं
निरामयं चेतनसारमाहुः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कर्मबीजदाहयोगोपदेशो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥



अपने कर्मका मूल वासनात्मक मनसम्बन्धी चिदाभास संवित् ही है। उसका उच्छेद जबतक यह शरीर है तबतक ज्ञानके बिना हो नहीं सकता ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामजी, यही चिदाभाससंवित् भीतर अन्य कर्मोंके मूल काम, वासना आदिको पैदा करनेमें तत्पर और श्रेष्ठ है ॥ ४४ ॥

इसलिए मेरे द्वारा कहा गया ही सबसे बढ़िया कर्मत्यागमें उपाय है, इस आशयसे कहते हैं—'सूक्ष्म०' इत्यादिसे।

जो तत्त्वज्ञानी चिदाभासरूपा संवित्को मूलाज्ञानके साथ अपने यत्नसे तत्त्वको समझकर स्वरूपसे च्युत कर देता है वह उससे उत्पन्न तत्-तत् दृश्यदर्शनरूप वृत्त्यवच्छिन्न चिदाभासात्मक सूक्ष्म संवित्को अप्रतिसन्धानरूप मूलबाधक अपने यत्नसे ही काट देता है अर्थात् उसे काटनेके लिए पृथक् प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं है ॥ ४५ ॥

जो चिदाभासको शुद्ध आत्मदृष्टिसे विचार कर विचलित कर देता है वह संसाररूपी वृक्षका तत्त्वज्ञानके द्वारा सर्वबाधरूपी मूलोच्छेद कर डालता है ॥४६॥

हे श्रीरामजी, चूँकि चितिके आभाससे रहित, सजातीय और विजातीय भेदोंसे

तृतीयः सर्गः

श्रीराम उवाच

अवेदनं वेदनस्य मुनीन्द्र क्रियते कथम् ।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
यदा तदैव सुकरं वेदनावेदनं स्वयम् ॥ २ ॥

शून्य, दृश्य पदार्थोंसे हीन जो एक आकाश है वह तत्त्वदृष्टिसे ब्रह्मरूप ही है, इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग उसीको हम सब चेतनोंका सार (पारमार्थिक रूप) कहते हैं ॥ ४७ ॥

दूसरा सर्ग समाप्त

—०—

तीसरा सर्ग

[द्वैतका अत्यन्त बाध हो जानेपर विद्वानोंको जिस उपायसे आत्मतत्त्व अवेदनरूप और निष्क्रिय सिद्ध होता है, उस उपायका वर्णन]

'अवेदनं विदुर्मोक्षम्' इत्यादि पूर्ववचनसे जो कहा गया है उस विषयमें श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'अवेदनम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे मुनीन्द्र, जो वेदन (ज्ञान) पदार्थ है उसे अवेदन-रूप कैसे बनाया जा सकता है । न तो असद्वस्तुकी सत्ता हो सकती है और न सद्वस्तुका अभाव हो सकता है [यद्यपि 'वेद्योन्मुखत्वं संत्यज्य' इत्यादिसे अवेदन-शब्दार्थका निरूपण हो जानेसे श्रीरामभद्रको यह शङ्का नहीं होनी चाहिए, तथापि 'येन संविदसंवित्या' इस कथनसे वेदननाश ही असंवेदन कहा गया है, यह बात 'तच्छान्तं ब्रह्म कथ्यते' इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित अवेदनकी ब्रह्मरूपता नहीं घटती, क्योंकि सत् असत् नहीं हो सकता, इसलिए शङ्काका अवसर है] ॥१॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जिस समय यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि असत् वस्तुकी उत्पत्ति और सद्वस्तुका विनाश नहीं होता, उस दशामें वेदनको अवेदन बनाना स्वयं ही सुलभ हो जाता है ॥ २ ॥

एतौ वेदनशब्दार्थौ रज्जुसर्पभ्रमोपमौ ।
असत्यावुदितौ विद्धि मृगतृष्णाम्भसा समौ ॥ ३ ॥
अबोधस्त्वनयोः श्रेयान् बोधो दुःखाय चैतयोः ।
तस्मात्सदेव बुद्धयस्व माऽसद्बुद्धयस्व राघव ॥ ४ ॥
जन्तोर्वेदनशब्दार्थबोधो दुःखकरः परः ।
निष्कृत्य ज्ञप्तिशब्दार्थबोधं तिष्ठ यथास्थितम् ॥ ५ ॥
सर्वावबोधावसरे ज्ञप्तिशब्दार्थयोरिह ।
निर्वाणोदय इत्येव परमोमिति शाम्यताम् ॥ ६ ॥
शुभाशुभात्मकर्म स्वं नाशनीयं विवेकिना ।
तन्नास्तीत्यवबोधेन तत्त्वज्ञानेन सिध्यति ॥ ७ ॥

संसारदशामें प्रसिद्ध यह वेदनशब्द और इसका अर्थ ये दोनों एक तरहसे रज्जुसर्पभ्रमके सदृश मिथ्या हैं। मिथ्यासामग्रीसे मिथ्यारूप उत्पन्न हुए हैं और मृगतृष्णाजलके सदृश ये केवल दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥

हे राघव, वेदनशब्द और उसके अर्थका न जानना उत्तम है तथा उनका ज्ञान होना दुःख है, इसलिए आप अविनाशी तटस्थ आत्मस्वरूपको जानिये और त्रिपुटीभानके अन्तर्गतवृत्तिसे युक्त चेतनके आभासको आत्मरूप मत समझिये ॥४॥

प्राणीके लिए सबसे बढ़कर दुःख पैदा करनेवाला वेदनशब्द और उसका अर्थ जानना है, इसलिए वेदनशब्द और उसके अर्थका परिज्ञान समूल नष्ट कर अपने असल स्वरूपमें अवस्थित रहिये ॥ ५ ॥

व्यवहारकालमें उसका उच्छेद किस तरह करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'सर्वावबोधा०' इत्यादिसे।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीभान जिस समय होता है, उस समय जो व्यावहारिक ज्ञानरूप शब्द और उसका अर्थ प्राप्त होता है उन दोनोंकी यथा-योग्य सर्वार्थरूप कूटस्थ चैतन्य तथा सर्वशब्दरूप 'ओम्' शब्दमें लक्षणाकर कूटस्थ चैतन्यमात्र ही आत्मा है और यही मोक्षका आविर्भाव है, यों सुदृढ़ निश्चय कर ज्ञानी पुरुष समस्त विक्षेपात्मक प्रपञ्चोंका परित्याग कर व्यवहार करे ॥ ६ ॥

इस प्रकारके ज्ञानरूप व्यवहारसे ही ज्ञानीको पूर्वोत्तर शुभाशुभ-कर्मोंका

कर्ममूलनिकाषेण संसारः परिशाम्यति ।
सुविचारितमन्विष्टं यावत् कर्म न विद्यते ॥ ८ ॥
चिद्रूपो बिल्वमज्जान्तश्चित्तसंज्ञां यदात्मनि ।
करोति तद्यथा बिल्वान्न स्वल्पमपि भिद्यते ॥ ९ ॥
न यथा सन्निवेशान्तः सन्निवेशस्ततः पृथक् ।
तथा नभोर्थादि पृथङ् न परस्मान्मनागपि ॥ १० ॥
यदेवाऽम्भस्तदेवाऽन्तर्द्रवत्वमपृथग्यथा ।
चित्त्वमेव तथा चित्तं तद्रूपत्वात्तदर्थयोः ॥ ११ ॥

सम्बन्ध नहीं होता और उनका विनाश भी हो जाता है, यह कहते हैं—'शुभा०' इत्यादिसे ।

विवेकी पुरुषको अपना शुभाशुभ कर्म विनष्ट कर देना चाहिए । यह विनाश 'शुभाशुभ कर्मोंका आत्माके साथ तनिक भी किसी समय सम्बन्ध नहीं है', इस प्रकारके बोधरूप तत्त्वज्ञानसे स्वयं सिद्ध हो जाता है ॥ ७ ॥

मूलसहित कर्मोंका विनाश करनेसे संसार अशेषरूपसे शान्त हो जाता है । जब कि आत्मतत्त्व भलीभाँति विचारित एवं प्रत्यक्ष किया जाता है तब समूल कर्मोंका विनाश हो जाता है ॥ ८ ॥

जैसे बिल्वकी मज्जा भीतर बीज आदिका निर्माण करती है, परन्तु बीज आदि जैसे बिल्वभिन्न नहीं रहते, वैसे ही चिद्रूप आत्मा भी अपने भीतर चित्त-संज्ञा एवं क्रिया, कारक आदि त्रिपुटीका निर्माण करता है, पर चित्त आदि उससे तनिक भी भिन्न नही हैं ॥ ९ ॥

भूलोककी रचनाके अन्तर्गत जम्बूद्वीप आदिकी रचना जैसे भूमिसे पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाशके अन्तर्गत सब भूत और भुवन आदि सन्मात्र पर-ब्रह्म चिदाकाशसे तनिक भी पृथक् नहीं हैं ॥ १० ॥

जो जल है वही उसके अन्तर्गत द्रवत्व भी है । इसी तरहसे चितिके अन्तर्गत विद्यमान चित्त्व एवं चित्त चितिसे पृथक् नहीं है, क्योंकि चित्त्व और चित्त शब्दके जो अर्थ हैं, वे केवल चैतन्यवाचक चितिधातुके ही अर्थ हैं ॥११॥

यथा द्रवत्वं पयसि यथालोकश्च तेजसि ।
तथा ब्रह्मण्यतद्भावं चित्त्वं चित्तं च विद्यते ॥ १२ ॥
चेतनं कर्म तत्स्वान्तर्निर्मूलं भ्रमयक्षवत् ।
उदेत्यहेतुकं तच्चेन्नोदितं तन्न विद्यते ॥ १३ ॥
चेतनं कर्म तच्चैतद्भाति स्पन्द इवाऽनिलः ।
अहेतुकं यदात्मैतद्बहिरन्तश्च सार्थधीः ॥ १४ ॥
विस्तारः कर्मणां देहः सोऽहन्तात्मा स संसृतिः ।
अचेतनाऽनहंत्वेन शाम्यत्यस्पन्दवातवत् ॥ १५ ॥
अचेतनादनन्तात्मा भूत्वा ज्ञोऽप्युपलोपमः ।
संसारमूलकषणं कुरु क्रोडश्रुखाग्रवत् ॥ १६ ॥

जैसे जलमें द्रवत्व और तेजमें प्रभा ग्राहकत्व-स्मर्तृत्व- धर्मोंसे शून्य है, वैसे ही ब्रह्ममें चित्त्व और चित्त ग्राहकत्व एवं स्मर्तृत्व धर्मसे शून्य है ॥ १२ ॥

चित्त्व और चित्त ग्राहकत्व और स्मर्तृत्व धर्मसे शून्य कैसे है ? यह कहते हैं—'चेतनम्' इत्यादिसे ।

'चेतयति इति चित्' (जो प्रकाशन करता है वह चित् है) इस व्युत्पत्तिसे अर्थका प्रकाश चितिका कर्म ही मालूम पड़ता है । परन्तु यह कूटस्थ चैतन्यमें—निर्मूल भ्रमसिद्ध यक्षके समान—किसी कारणके बिना मिथ्यारूप ही प्रतीत होता है, इसलिए चितिमें उसकी उत्पत्ति ही नहीं है और न उसका अस्तित्व ही है ॥ १३ ॥

इस रीतिसे चेतनक्रियाके चेतनसे पृथक् न सिद्ध होनेपर विषय भी चेतनसे पृथक् सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'चेतनम्' इत्यादिसे ।

वायु और उसके स्पन्दनकी नाईं जब चेतन और उसकी अर्थप्रकाशनरूप क्रिया अहेतुक है, तब स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें होनेवाला वह अर्थप्रकाश आत्मचेतनरूप ही है, भिन्न नहीं है ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण कर्मोंका विस्तार यह देह ही है, उसका मूल अहङ्कार है और शाखाएँ संसार है । अचेतनरूप (चिदाभासरूप क्रियासे शून्य) मूलोच्छेदक अनहङ्कारसे शाखाओंके सहित यह ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु ॥ १५ ॥

यह नहीं समझना चाहिये कि चिदाभासके उच्छेदसे जीवका स्वरूप नष्ट

कर्मबीजकलाकोशत्याग एवं कृतो भवेत् ।
नाऽन्यथा राघवाऽन्तस्ते शान्तमस्तु सदास्थितम् ॥ १७ ॥
कर्मबीजकलात्यागे त्वेतस्मादितरात्मनि ।
अविद्यमाने जीवस्य तज्ज्ञैर्विदितवस्तुभिः ॥ १८ ॥
शान्तैर्न गृह्यते किञ्चिन्न च सन्त्यज्यतेऽपि च ।
त्यागादाने न जानन्ति ततस्तैः शान्तमानसम् ॥ १९ ॥
आकाशशून्यहृदयैर्ज्ञैर्यथास्थितमास्यते ।
क्रियते च यथाप्राप्तं नाऽप्यैतैः क्रियतेऽपि च ॥ २० ॥
प्रवाहपतितं सर्वं स्पन्दते शान्तमानसम् ।
तेषां कर्मेन्द्रियाण्येवमर्द्धसंसुप्तबालवत् ॥ २१ ॥

हो गया, किन्तु उसने तो ब्रह्मस्वरूपसे अनन्तात्मा होकर अपने अनर्थरूप संसारका मूलोच्छेद कर परम पुरुषार्थका सम्पादन कर लिया, यह कहते हैं— 'अचेतना०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाभासात्मक क्रियाका उच्छेद करके पत्थरके समान निश्चल अनन्त परब्रह्म परमात्मरूप होकर संसारके मूलको ऐसे उखाड़ फेंकिये, जैसे वराहके मुखका अग्रभाग मोथाको समूल उखाड़ फेंकता है ॥ १६ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे ही कर्मबीजके मूलका त्याग किया जाता है, दूसरी रीतिसे नहीं । इसलिए हे राघव, आपके हृदयमें सदा स्थित रहनेवाला वेदनात्मक कर्ममूल शान्त हो जाय ॥ १७ ॥

इस कर्मबीजका मूल जब त्याग दिया जाता है तब जीवके लिए न चिदाभासकी सत्ता रहती है और न दृश्यप्रपञ्चकी ही सत्ता रहती है । ऐसी स्थितिमें विदिततत्त्व शान्त ब्रह्मज्ञानी न किसी वस्तुका ग्रहण करते हैं और न किसी वस्तुका परित्याग ही करते हैं, क्योंकि उस समय उन्हें त्याग और ग्रहणका परिज्ञान ही नहीं रहता । अनन्तर वे आकाशके सदृश निर्मल एवं विशद हृदयसे युक्त होकर ज्ञानी पुरुष मानसिक विकल्पोंसे शून्य होकर जैसी उनकी मूल स्थिति है उसी रीतिसे अवस्थित रहते हैं । जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसे करते हैं और नहीं भी करते हैं ॥ १८–२० ॥

जैसे नदीके प्रवाहमें पतित तृण, काष्ठ आदि सब कुछ स्पन्दित होता है

रसे निर्वासने लब्धे रसा अप्यतिनीरसाः ।
नाऽन्तस्तिष्ठन्ति न बहिरज्ञाननिपुणा इव ॥ २२ ॥
कर्मणो वेदनं त्यागः स च सिद्धः प्रबोधतः ।
अवस्तुनेतरेणाऽर्थः किं कृतेनाऽकृतेन वा ॥ २३ ॥
अवेदनमसंवेद्यं यदवासनमासितम् ।
शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २४ ॥
अपुनःस्मरणं सम्यक् चिरविस्मृतकर्मवत् ।
स्थितं स्तम्भोदरसमं स कर्मत्याग उच्यते ॥ २५ ॥
अत्यागं त्यागमिति ये कुर्वते व्यर्थबोधिनः ।
सा भुङ्क्ते तान्पशूनज्ञान्कर्मत्यागपिशाचिका ॥ २६ ॥
समूलकर्मसंत्यागेनैव ये शान्तिमास्थिताः ।
नैव तेषां कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ॥ २७ ॥

वैसे ही ज्ञानियोंकी कर्मेन्द्रियाँ किसी प्रकारके मनोविकारके बिना अर्धसुप्त या बालककी नाईं स्पन्दित होती हैं ॥ २१ ॥

सबसे बढ़े-चढ़े ब्रह्मानन्दके प्राप्त हो जानेपर भोगलम्पट करणवृत्तियाँ भी नीरस होकर अपने-अपने विषयोंके प्रकाशनमें असमर्थ-सी बनकर भीतर या बाहर कुछ भी नहीं कर पातीं ॥ २२ ॥

वह पूर्वोक्त विज्ञान ही सम्पूर्ण कर्मोंका परित्याग है और यह त्याग आत्मबोधसे स्वतः सिद्ध हो जाता है । इतर देहादिके स्पन्दनरूप कर्मके करनेसे या न करनेसे प्रयोजन ही क्या ? ॥ २३ ॥

विषयोंसे विनिर्मुक्त, वासनाओंसे शून्य, सुदृढ़रूपसे स्थित, शान्त, एकरूप, कृत और अकृतके अनुसन्धानसे रहित जो अवेदन है वही कर्मत्याग कहा जाता है ॥ २४ ॥

दीर्घकालसे भूले गये कर्मोंके सदृश विषयोंका भलीभाँति पुनः-पुनः स्मरण न होना ही कर्मत्याग कहा जाता है । वह विस्मरण निरन्तर खम्भेके पेटके सदृश ठोस और एकरूपका होना चाहिए ॥ २५ ॥

जो मिथ्या ज्ञानी पुरुष मूलत्यागके बिना केवल इन्द्रियसंयममात्ररूप करते हैं, उन अज्ञानी पशुओंको कर्मत्यागरूप पिशाचिका खा जाती है ॥ २६ ॥

मूलसहित कर्मत्यागके द्वारा जो ज्ञानी शान्ति प्राप्त कर बैठे हैं

समूलमलमुद्धृत्य कर्मबीजकलामिति ।
नित्यमेकसमाधानास्तज्ज्ञास्तिष्ठन्त्यतः सुखम् ॥ २८ ॥
प्रवाहपतिते कार्ये ईषत्स्पन्दा अतन्मयाः ।
घूर्णमाना इव क्षीबा यन्त्रसञ्चारिता इव ॥ २९ ॥
मोक्षलक्ष्म्या विलासिन्या व्यसनोपहता इव ।
अर्द्धसुप्तप्रबुद्धाभाः कामप्यवनिमागताः ॥ ३० ॥
यत्समूलं परित्यक्तं तत्त्यक्तमिति कथ्यते ।
अमूलकाषस्त्यागो यः स शाखालवनोपमः ॥ ३१ ॥
अकृष्टमूलशाखाग्रलवनः कर्मपादपः ।
पुनः शाखासहस्रेण दुःखाय परिवर्धते ॥ ३२ ॥
अवेदनात्मना तेन कर्मत्यागोऽङ्ग सिद्ध्यति ।
क्रमेण नेतरेणाऽत्र एतदेवाऽऽहरन् भव ॥ ३३ ॥

उन्हें यहाँ कृत-अकृत कर्मसे कोई मतलब नहीं रहता ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे चूँकि ज्ञानी-पुरुष कर्म-बीजरूपी अंशोंका समूल भलीभाँति उच्छेदकर निरन्तर एकमात्र निर्विकल्पक समाधिमें स्थित रहते हैं, इसलिए वे सुखका उपभोग करते हैं ॥ २८ ॥

ज्ञानी पुरुष प्रारब्धप्राप्त कार्यमें कुछ प्रवृत्त हुए-से दिखाई देते हैं, परन्तु ये घूर्णमान मदिरोन्मत्त पुरुषके सदृश तथा यन्त्रसे सञ्चालित काठकी मूर्तियोंके सदृश उसके अभिमानसे रहित रहते हैं ॥ २९ ॥

नानाविध विलासोंसे परिपूर्ण मोक्षलक्ष्मीसे ज्ञानी पुरुष ऐसे अपने देह आदिके भानको भूले रहते हैं, जैसे अत्यन्त आसक्तिरूप व्यसनसे साधारण पुरुष अपने देह आदिके भानको भूले रहते हैं और किसी अनिर्वचनीय पञ्चम आदि भूमिकाओंमें प्राप्त होकर अर्धसुप्त एवं अर्धप्रबुद्धके सदृश रहते हैं ॥ ३० ॥

जो मूलोच्छेदपूर्वक छोड़ा जाता है वही छोड़ा गया कहा जाता है। और जो मूलोच्छेदके विना त्याग है, वह शाखाच्छेदनके सदृश ही है ॥ ३१ ॥

मूलके छेदनके विना केवल शाखाग्रसे काटा गया कर्मरूपी वृक्ष फिर हजारों शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे दुःखके लिए बढ़ता ही रहता है ॥ ३२ ॥

हे भद्र, पूर्वोक्त अवेदनस्वरूपसे ही कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरेसे नहीं,

ये त्वेवं कर्मसन्त्यागमकृत्वाऽन्यत्प्रकुर्वते ।
अत्यागं त्यागरूपात्म गगनं मारयन्ति ते ॥ ३४ ॥
बोधात्मकतया कर्मत्यागः सम्पद्यते स्वयम् ।
दग्धबीजा निरिच्छोच्चैरक्रियैव भवेत्क्रिया ॥ ३५ ॥
बुद्धीन्द्रियैर्हितं कर्म सफलं रसभावनात् ।
वेष्टितव्यं कुदारुव स्पन्दोऽन्यो निष्फलोऽङ्गजः ॥ ३६ ॥
कर्मत्यागे स्थिते बोधाज्जीवन्मुक्तो विवासनः ।
गृहे तिष्ठत्वरण्ये वा शाम्यत्वस्येतु वोदयम् ॥ ३७ ॥
गेहमेवोपशान्तस्य विजनं दूरकाननम् ।
अशान्तस्याऽप्यरण्यानी विजना सजना पुरी ॥ ३८ ॥
परिशान्तमतेर्ज्ञस्य स्वप्नेऽप्यप्राप्तमानवा ।
निर्मला वितता हृद्या हृद्येव वनभूमिका ॥ ३९ ॥

इसलिए बतलाये गये क्रमसे उसीके अभ्यासमें तत्पर रहिये ॥ ३३ ॥

श्रीरामजी, जो कोई पुरुष उस प्रकारका कर्मत्याग न कर दूसरे अत्यागरूपी त्यागको करनेमें प्रवृत्त रहते हैं वे मानो गगनताड़नके लिए ही उद्यत रहते हैं ॥३४॥

आत्मबोधसे कर्मत्याग स्वयं ही सिद्ध हो जाता है । इच्छारहित जीवन्मुक्तों- की बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण क्रियाएँ भी अक्रियारूप ही हैं, क्योंकि उनका मूलभूत बीज जल चुका है । जिसके तन्तु जल चुके हैं ऐसा वस्त्र वस्त्रके सदृश दिखाई दे रहा भी वास्तविक वस्त्र नहीं है ॥ ३५ ॥

भोगासक्तिरूप रसकी भावनासे ही बुद्धिसहित इन्द्रियोंके द्वारा निष्पादित कर्म ऐसे सफल होता है, जैसे रस्सीके द्वारा कूपकाष्ठ जल निकालना, सींचना आदिरूप रसभावनासे धान पैदा कर सफल होता है । वह काष्ठ वृथा चेष्टासे जैसे व्यर्थ है वैसे ही अन्य शारीरिक चेष्टारूप स्पन्द भी निष्फल है ॥ ३६ ॥

ज्ञानसे कर्मत्यागके सिद्ध हो जानेपर वासनाशून्य जीवन्मुक्त पुरुष चाहे घरमें रहे या जङ्गलमें, धनादि सम्पत्तिके नाशसे दरिद्र हो या धनादि सम्पत्तिकी वृद्धिसे अभ्युदयको प्राप्त हो, किन्तु है वह रहता सर्वत्र एक-सा ही ॥ ३७ ॥

शान्त पुरुषके लिए घर ही निर्जन दूरस्थ जङ्गल है तथा अशान्त पुरुषके लिए निर्जन महान् जङ्गल भी जनसमुदायसे ठसाठस भरी नगरी है ॥ ३८ ॥

'गेहमेव' इस श्लोकके पूर्वार्धकी स्पष्ट व्याख्या करते हैं—'परिशान्त०'

ज्ञस्य निर्वाणदृश्यस्य निस्पन्दार्था नभोमयी ।
शान्ताशेषविशेषार्था जगदेव महाटवी ॥ ४० ॥

अनन्तसङ्कल्पवतो हृदयस्थजगत्स्थितेः ।
हृद्येवाऽऽवर्तते भूमिरज्ञस्याऽखिलसागरा ॥ ४१ ॥

जनस्याऽज्ञस्य दीनस्य विविधद्वन्द्वसङ्कुटा ।
सारम्भा विविधाकारा हृद्येव ग्राममण्डली ॥ ४२ ॥

विविधकार्यविकारदशामयी
सपुरपत्तनमण्डलपर्वता ।
मुकुरकोश इव प्रतिबिम्बिता
हृदि भवत्यमला मलिने मही ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपशमयोगोपदेशो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इत्यादिसे ।

परिशान्तमति तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए स्वप्नमें भी निर्जन, निर्मल, विस्तृत और अतिमनोहर वनभूमि हृदयके अन्दर ही विराजमान है ॥ ३९ ॥

ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए दृश्य प्रपञ्चवाले तत्त्वज्ञानीके लिए यह संसार ही स्पन्दन-शून्य, आकाशमयी, अशेष-विशेष पदार्थोंसे शून्य महाटवी है ॥ ४० ॥

अब उपर्युक्त श्लोकके उत्तरार्धकी विशद व्याख्या करते हैं—'अनन्त०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

अनन्त सङ्कल्पोंवाले तथा जगत्की स्थितिको हृदयमें रखनेवाले अज्ञानीके लिए सम्पूर्ण सागरों सहित सारी पृथिवी हृदयके अन्दर ही विराजमान है ॥४१॥

अज्ञानी दीन मनुष्यके लिए विविध द्वन्द्वोंसे भरी हुई, नानाविध कार्योंके आरम्भसे युक्त तथा अनेक तरहके आकारोंसे समन्वित ग्राममण्डली हृदयके भीतर ही विराजमान है ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामजी, अज्ञानी पुरुषके लिए विविध आवश्यक कार्योंसे यानी धनोपार्जन, धनव्यय, दूरदेशमें प्रवास, कलह आदिसे सर्वदा ही लोभ, मोह, शोक,

चतुर्थः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

साहन्तादिजगच्छान्तौ बोधे संवित्कलात्मनि ।
संशान्तदीपसङ्काशस्त्यागः सिद्ध्यति नाऽन्यथा ॥ १ ॥
न त्यागः कर्मसन्त्यागो बोधस्त्याग इति स्मृतः ।
अजगत्प्रतिभैकात्मा योऽनहन्तादिरव्ययः ॥ २ ॥

भय, आसक्ति आदि विकारोंसे पूर्ण छोटे-छोटे कसबों, बड़े-बड़े नगरों तथा देश-देशान्तरों एवं पर्वतोंसे युक्त यह सारी पृथिवी मलिन हृदयमें—जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो, वैसे—प्रतिबिम्बित होती ही है ॥ ४२ ॥

तीसरा सर्ग समाप्त

चौथा सर्ग

[अहन्ता ही संसारकी मूल है, इसका आत्मबोधसे अनहंभावकी भावना करनेपर त्याग हो जाता है, यह वर्णन]

सम्पूर्ण दृश्योंका त्याग ही द्रष्टा आत्माका मोक्ष है । तेल खतम हो जानेपर दीप-निर्वाणके समान तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चके मूल अज्ञानका निर्वाण (नाश) हो जानेपर ही वह सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं—'साहान्तादि०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, चेतन आत्मरूप तत्त्व-बोध हो जानेपर जब अहन्तादिके सहित जगत् शान्त हो जाता है तब तेल समाप्त हो जानेपर जैसे दीप बुत जाता है वैसे ही सब दृश्य प्रपञ्चोंका त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

कर्मोंका त्याग वस्तुतः त्याग नहीं कहा गया है, बोध ही मुख्य त्याग कहा गया है । जिसमें जगत्का प्रतिभास नहीं है ऐसा परिशिष्ट मुख्य एक आत्मा ही सर्वत्यागरूपी मोक्ष है, यह अविनाशी तथा अहन्तादि विकारोंसे रहित है ॥ २ ॥

अयं सोऽहमिदं तन्म इति निःस्नेहदीपवत् ।
शान्ते परमनिर्वाणं प्रबोधात्मेति शिष्यते ॥ ३ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे शान्तमित्येव यस्य नो ।
न ज्ञानं तस्य नो शान्तिर्न त्यागो न च निर्वृतिः ॥ ४ ॥
ममेदमयमेवाऽहमित्येतावति यः क्षयः ।
बोधात्मा शिवमाशान्तं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ५ ॥
अहमंशे विदा क्षीणे सर्वमेव क्षयं गतम् ।
न किञ्चिच्च क्वचित् क्षीणं निर्वाणैकघनं स्थितम् ॥ ६ ॥
अहंविदनहंविस्त्वादेव शाम्यत्यविघ्नतः ।
एतावन्मात्रसाध्येयं किमिवेयं कदर्थना ॥ ७ ॥

'पामरजन तक प्रसिद्ध यह देहादि दृश्यप्रपञ्च ही मैं हूँ' तथा 'देहादिसे सम्बद्ध यह भोग्य जगत् मेरा है', इस तरहके तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यासरूप दो बन्धनोंके, तेलरहित दीपककी नाईं, समूल शान्त हो जानेपर सर्वोत्तम बोध ही (एकमात्र चैतन्य ही आत्मा है, इस प्रकारका ज्ञान ही) शेष रह जाता है, बस इसीका नाम परमनिर्वाण यानी मोक्ष है ॥ ३ ॥

उक्त अर्थको व्यतिरेकसे भी दृढ़ करते हैं—'अयम्' इत्यादिसे ।

'यह देहादिरूप मैं हूँ तथा स्त्री-पुत्र आदि मेरे हैं' इस प्रकारका अध्यासरूप संसार जिसका शान्त नहीं है उसे न ज्ञान है, न शान्ति है, न त्याग ही है और न निर्वृति यानी मोक्षरूप सुख ही है ॥ ४ ॥

यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं, यह शरीर, इन्द्रिय आदि मैं हूँ, सिर्फ इतने अध्यासकी जो निवृत्ति है वह अध्यस्त पदार्थोंके बाधका अधिष्ठानरूप होनेसे बोधरूप तथा सर्वथा शान्त शिवस्वरूप है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥५॥

तत्त्वबोधके द्वारा अहमंशके क्षीण हो जानेपर [हे श्रीरामजी, यह आप समझ लीजिए कि] ममताका आधार सारा संसार ही विनाशको प्राप्त हो गया । [सब जगत्का नाश होनेपर सर्वस्वनाशकी आशङ्कासे डरे हुए पुरुषके प्रति समाधान देते हैं—'न किञ्चिच्च'से] और सच पूछिये तो यथार्थमें कहीं कुछ भी नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि सर्वत्र आनन्दघन एक आत्मा ही स्थित है ॥ ६ ॥

अहंबुद्धिको नष्ट करनेमें बिलकुल सरल उपाय बतलाते हैं—'अहंविद०' इत्यादिसे ।

अहं नाहमिति भ्रान्तिर्नूनं च चित्त्वादृतेऽस्ति सा ।
चित्त्वं चाऽऽकाशविशदमतः क्वैषा भ्रमस्थितिः ॥ ८ ॥
न भ्रमो भ्रमणं नैव न भ्रान्तिर्भ्रामकोऽस्ति वा ।
अनालोकनमेवेदमालोकान्नेदमस्ति ते ॥ ९ ॥
विद्धि चिन्मात्रमेवेदमसद्रूपोपमं ततम् ।
तेनालं मौनमास्स्वैवं सर्वं निर्वाणमात्रकम् ॥ १० ॥

अहङ्कारकी भावना करनेवाला जीव एकमात्र अहङ्कारकी भावना न करनेसे ही बिना किसी विघ्नके * शान्त हो जाता है । और यह मुक्ति सिर्फ इतने ही साधनसे सिद्ध हो जाती है, इसके लिए अनेक साधनोंके सम्पादनमें व्यर्थ क्लेश क्यों किया जाय ? ॥ ७ ॥

अनहंबुद्धि भी तो अहंबुद्धिकी नाईं द्वैतरूप होनेके कारण अध्यास ही है, फिर वह किससे शान्त होती है, यदि यह पूछिये, तो इसका उत्तर यह है कि पङ्कके साथ कतकधूलिकी नाईं अहंबुद्धिके साथ वह भी अपने-आप चिदात्मामें शान्त हो जाती है, यह उपपत्तिपूर्वक कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

मैं देहादि नहीं हूँ, किन्तु चिन्मात्ररूप ही हूँ, इस बुद्धिको भी यदि आप द्वैतभ्रमबुद्धि ही कहें, तो यह परमार्थचित्स्वभावको छोड़कर और कुछ नहीं है; क्योंकि चितिस्वरूप तो आकाशके समान विशद है, इसलिए इसमें भ्रमकी स्थिति ही कहाँ रह सकती है ॥ ८ ॥

भ्रम, भ्रमसाधन, भ्रमफल एवं उनके आश्रय सभी अज्ञानमात्रके परिणाम हैं, इसलिए अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है, यह कहते हैं—'न भ्रमः' इत्यादिसे ।

न भ्रम है, न भ्रमका साधन है, न भ्रमका फल है और न भ्रमका आश्रय ही है, जो कुछ है, वह सब अज्ञान ही है, इसलिए जब आपको तत्त्वज्ञान हो जायगा तब उसीसे आपमें उनकी सत्ता नहीं रहेगी ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, यह जो प्रपञ्च दिखाई दे रहा है, वास्तवमें उसे चिन्मात्र ही समझिये । स्वरूपतः विस्तृत प्रपञ्च असत् शशशृङ्गके सदृश ही है, इसलिए आप

---

* अर्थात् 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस बुद्धिसे रजतके अध्यासबाधमें जैसे कोई विघ्न नहीं है ।

येनैवाऽऽशु निमेषेण त्वहमित्येव चेतति ।
तेनैव नाहमित्येव चेतित्वाऽऽशु न शोच्यते ॥ ११ ॥
अहम्भावनभोर्थेन निर्वाच्याऽऽरूढबाणवत् ।
अजस्रमाशु वा क्षीणं तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥ १२ ॥
सनभोर्थामहन्तां त्वं चेतन्नेवमनारतम् ।
सर्वभावैरनारूढो भव तीर्णभवार्णवः ॥ १३ ॥
स्वभावमात्रविजये स्वयं यस्य न वीरता ।
तस्योत्तमपदप्राप्तौ पशोर्ब्रूहि कथैव का ॥ १४ ॥
षड्वर्गो निर्जितः पूर्वं येनोत्तमविदा स्वतः ।
भाजनं स महार्थानां नेतरो नरगर्दभः ॥ १५ ॥

जगत्के विषयमें समस्त वाग्व्यवहारको छोड़कर चुपचाप बैठे रहिये, क्योंकि पूर्वोक्त प्रणालीसे सब कुछ परिशिष्ट आत्मस्वरूप ही है ॥ १० ॥

जब-जब अहंभावका उदय प्राप्त हो, तब-तब उसी समयमें अहंभावकी विरोधिनी अनहंभावबुद्धि पैदा करनी चाहिए, यह कहते हैं—'येनैवा०' इत्यादिसे।

जिस कारणसामग्रीसे निमेषमात्रमें शीघ्र अहंबुद्धि उत्पन्न होती है उसी सामग्रीसे विरुद्ध तत्काल अनहंभावका उत्पादन कर पुरुष किसी प्रकारके शोकसे सन्तप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

भद्र, इस तरह निरन्तर अत्यन्त सावधानीसे पैदा किये गये अनहंभावसे अहंभावको शीघ्र आकाशपुष्पके सदृश निर्वचनीय बनाकर—रणमें धनुषपर चढ़ाये गये अर्जुनबाणके सदृश अपराङ्मुख हो ब्रह्मरूप लक्ष्यका दृढ़ अवलम्बन कर—निरन्तर आप अवस्थित रहिये ॥ १२ ॥

हे रामभद्र, इस रीतिसे निरन्तर अहन्ताकी आकाशपुष्प आदिके सदृश भावना कर रहे आप समस्त सांसारिक भावनाओंसे निर्मुक्त होकर संसारसागरसे पार हो जाइये ॥ १३ ॥

भद्र, स्वाभाविक अज्ञानजनित अहंभावके ऊपर विजय पानेमें जिसकी स्वयं वीरता नहीं है उस पशुकी उत्तमपदप्राप्तिके लिए कोई चर्चा ही क्या हो सकती है, यह कहिये ॥ १४ ॥

जिस उत्तमज्ञानी पुरुषने सबसे पहले काम, क्रोध आदि छः शत्रुओंके ऊपर

यस्य स्वान्तर्मनोवृत्तिर्जीयमाना जिताऽथवा ।
विषयः स विवेकानां स पुमानिति कथ्यते ॥ १६ ॥
अर्थो दृषदिवाऽम्भोधौ यो य आपतति त्वयि ।
तस्मादेव पलायस्व नाहमित्येव भावयन् ॥ १७ ॥
नाहमस्मीति बुध्वापि सोपपत्तिकमप्यलम् ।
जानानो ज्ञप्तिमात्रं च किमज्ञ इव मुह्यसि ॥ १८ ॥
न ज्ञेयमर्थतोस्तीह हेम्नीव कटकादिता ।
भ्रान्तिमात्रादृते सा च शाम्यत्यस्मरणेन ते ॥ १९ ॥
यो यो भाव उदेत्यन्तस्त्वयि स्पन्द इवाऽनिले ।
नाहमस्मीति चिद्वृत्त्या तमनाधारतां नय ॥ २० ॥

विजय पा ली है, वही बड़े-बड़े अर्थोंका भाजन हो सकता है; दूसरा मनुष्यरूपी गदहा नहीं ॥ १५ ॥

जो पुरुष अपने अन्दरकी मनोवृत्तिको जीत रहा है या जो जीत चुका है वह पुरुष विवेकज्ञानका पात्र गिना जाता है और वही 'पुरुष' इस शब्दसे कहा जाता है यानी उसी पुरुषने अपना जन्म सफल बनाया है ॥ १६ ॥

भद्र, समुद्रमें शिलाके सदृश जो-जो विषय आपके लिए प्रारब्धवश प्राप्त हो जायँ, उन सब विषयोंसे आप 'वह विषय मैं नहीं हूँ' इस प्रकारकी भावना करते हुए अपना सम्बन्ध ही हटा दीजिये ॥ १७ ॥

मैं देहादि विषयरूप नही हूँ, ऐसा जानते हुए और अनेक तरहकी युक्तियोंसे ज्ञानरूप सुखका अच्छी तरह अनुभव करते हुए भी क्यों आप अज्ञानीके सदृश मोहमें फँसते हैं अर्थात् नहीं ही फँसना चाहिए ॥ १८ ॥

युक्तिसे विचारनेपर जैसे सुवर्णमें कटक आदिरूपता केवल भ्रान्तिको छोड़कर कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है वैसे ही इस आत्मामें युक्तिसे विचारनेपर देहादि ज्ञेय वस्तु भ्रान्तिको छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। आपकी वैसी भ्रान्ति केवल विषयोंके विस्मरणसे ही नष्ट हो जायगी ॥ १९ ॥

हजारों युक्तियोंके प्रदर्शनसे कोई प्रयोजन नहीं है केवल 'देहादि मैं नहीं हूँ' अकेली इस भावनाका अभ्यास कर लेनेपर ही सब भ्रान्तियां निकल जायँगी, यह कहते हैं—'यो यः' इत्यादिसे ।

लोभो लज्जा मदो मोहो येनाऽऽदाविति नो जिताः ।
निरर्थकमनर्थेऽस्मिन्स किमर्थं प्रवर्तते ॥ २१ ॥
अहन्त्वं पवने स्पन्द इव यत्त्वयि संस्थितम् ।
परमात्मनि तन्नान्यदेतत्स्पन्द इवाऽनिले ॥ २२ ॥
असर्गसंविदा सर्गः परेऽस्तोऽतिविराजते ।
संनिवेशविशेषेण दुरर्थोऽपि हि शोभते ॥ २३ ॥
परमात्मा तु नोदेति नास्तं याति कदाचन ।
न चाऽस्मादन्यदस्तीति को भावोऽभाव एव वा ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, वायुमें क्रियाके सदृश आपके भीतर जो-जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन-उन भावोंके आप 'मैं भावरूप नहीं हूँ' इस तरहकी भावनावृत्तिसे अपनेको अनाश्रय बना दीजिये ॥ २० ॥

जिस पुरुषने सबसे पहले अहंभावका त्यागकर लोभ, लज्जा, मद और मोहके ऊपर विजय नहीं पाई, वह पुरुष नास्तिकता, यथेष्टाचरण आदिके उत्पादक इस अध्यात्मशास्त्रमें निरर्थक क्यों प्रवृत्त होता है यानी लोभ आदि दोषोंसे युक्त पुरुष अध्यात्मशास्त्रका अनधिकारी है। उसे इसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। यदि वह प्रवृत्ति करेगा, तो नास्तिक एवं यथेच्छाचारी ही बन जायगा ॥ २१ ॥

पवनमें स्पन्दनके सदृश आपमें जो अहन्ता स्थित है वह आपके परमात्मस्वरूप बन जानेपर वायुमें स्पन्दनके सदृश आपसे पृथक् नहीं रह सकती ॥ २२ ॥

कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्रके ज्ञानसे परमात्मामें जब संसार एकरूपसे मिल जाता है तब वह बहुत ही भला लगता है। ठीक ही है कि मालामें भ्रान्तिसे कल्पित सर्प आदि भयङ्कर अर्थ जब मालाके ज्ञानसे मालास्वरूप हो जाते हैं तब मालारूपसे कण्ठमें धारण करनेपर सुन्दर लगते ही हैं ॥ २३ ॥

यदि आत्मज्ञानसे जीव और जगत्की परमात्मरूप अवयवीके रूपमें उत्पत्ति आपने मान ली, तो उसके बाद दूसरे भावविकार भी उत्पन्न होंगे ही, ऐसी स्थितिमें उन विकारोंसे तथा जीवभाव, जगद्भाव एवं उनके ध्वंस आदिको लेकर द्वैतापत्ति भी होगी, इस शङ्कापर कहते हैं—'परमात्मा' इत्यादिसे ।

वस्तुतः परमात्मा न तो कभी उदित (उत्पन्न) होता है और न कभी अस्त ही। और जब इस परमात्मासे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब

परं परे पूर्णं पूर्णे शान्तं शान्ते शिवं शिवे।
इत्येवमात्रं विततं नाहं न च जगन्न धीः॥ २५॥
निर्वाण एव निर्वाणं शान्तं शान्ते शिवे शिवम्।
निर्वाणमप्यनिर्वाणं सनभोर्थं न वापि तत्॥ २६॥

उससे भिन्न कौन भाव रहा और कौन अभाव रहा, कहनेका तात्पर्य यह कि बाधसे कल्पितकी जो अधिष्ठानरूपता है, वह न तो उत्पत्तिरूप है और न नाशरूप ही है, किन्तु नित्यसिद्ध आत्मरूप है। अपि च विकार आदिमें हेतु तो एकमात्र क्रिया ही रहती है, ज्ञान नहीं, इसलिए जीवकी परमात्मरूपताके बाद द्वैत कभी भी नहीं हो सकता॥ २४॥

तत्त्वज्ञानसे ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञानरूप त्रिपुटीका बाध हो जानेपर त्रिपुटीजनित जीव-भावका विनाश हो जाता है। इससे यही बात निकली कि 'त्वं' पदका लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप परब्रह्म जो 'तत्' पदके लक्ष्य पूर्ण, शान्त, शिवस्वरूप पर स्वभावमें पहलेसे स्थित है, इसीका तत्त्वज्ञान विस्तार कर देता है, अपूर्व किसीका भी उत्पादन नहीं करता॥ २५॥

प्रदीपके निर्वाणके समान आभाससहित अविद्याका निर्वाण अपूर्व ज्ञानका फल उत्पन्न हुआ, यह अवश्य ही मानना होगा, अन्यथा ज्ञान निष्फल हो जायगा, इसपर कहते हैं—'निर्वाण' इत्यादिसे।

ठीक है, यद्यपि निर्वाण ज्ञानका फल है तथापि वह अपूर्व उत्पन्न हुआ, यह कहना अत्यन्त अप्रसिद्ध है, क्योंकि अन्धकारशून्य सूर्यमें अन्धकारनिवृत्तिके समान प्रपञ्चशून्य ब्रह्ममें प्रपञ्च-निवृत्ति और नित्यशान्तमें शान्ति कही गयी है, अतः अनर्थनिवृत्तिरूप ज्ञानका कोई अपूर्व फल नहीं हुआ। इसी तरह नित्यसिद्ध निरतिशयानन्द शिवमें आनन्दप्राप्तिरूप फल भी कोई अपूर्व पदार्थ नहीं है। इस तरह ज्ञानका फल माननेपर द्वैतापत्ति नहीं आ सकती। यदि प्रत्यक्‌में (जीवात्मामें) बन्ध और ब्रह्ममें आकाशादि पदार्थ सत्य होते, तो उनका निर्वाण प्रदीपनिर्वाणके समान अपूर्व होता, लेकिन ऐसा है नहीं। रज्जुमें सर्पनिर्वाणके समान प्रत्य-गात्माके बन्धका निर्वाण भी वास्तवमें अनिर्वाणरूप ही है। ब्रह्म भी वास्तवमें आकाशादि सत्य पदार्थोंसे युक्त नहीं रहता, इसलिए उनकी निवृत्ति द्वैतको सिद्ध नहीं कर सकती॥ २६॥

शस्त्राघाताः प्रसह्यन्ते सह्यन्ते व्याधिवेदनाः ।
नाहमित्येवमात्रस्य सहने का कदर्थना ॥ २७ ॥
जगत्पदार्थसार्थानामहमित्यक्षयोऽङ्कुरः ।
तस्मिन्निर्मूलतां याते जगन्निर्मूलतां गतम् ॥ २८ ॥
बाष्पेणेवाऽहमर्थेन निःसारेणाऽपि सारवत् ।
व्यामलः परमादर्शस्तच्छान्तौ सम्प्रसीदति ॥ २९ ॥
अहमर्थः परे वायौ स्पन्दस्तत्प्रशमे तु तत् ।
अनिर्देश्यमनाभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३० ॥
अहमर्थः पुरो द्रव्यप्रतिबिम्बप्रदश्चिति ।
तच्छान्तौ सा निराभासमनन्तमजमव्ययम् ॥ ३१ ॥

अनहंभावना असह्य है, इसका खण्डन करते हैं—'शस्त्रा०' इत्यादिसे ।

जब शस्त्रोंके आघात सहे जाते हैं, जब व्याधियोंकी पीड़ाएँ सही जाती हैं, तब 'मैं नहीं हूँ' इतनी भावनाको सहनमें कौन-सा क्लेश हो रहा है ॥ २७ ॥

जितने जगत्के पदार्थ हैं, उन सबका अविनाशी कारण देहादिमें अहंभाव रखना ही है । ज्ञान द्वारा उसका निर्मूलन हो जानेपर यह जगत् तो अपने आप उखड़ जाता है ॥ २८ ॥

निःसार भी मुखके बाष्पसे जैसे परम स्वच्छ दर्पण मलिन हुआ प्रतीत होता है वैसे ही परमात्मारूपी दर्पण अहङ्काररूपी निःसार भी मुखबाष्पसे सारवत् मलिन हुआ प्रतीत होता है । अहङ्काररूप निःसार बाष्पके शान्त होनेपर तो परमात्मा निर्मल हो जाता है ॥ २९ ॥

परमात्मारूप वायुमें अहङ्काररूप स्पन्द है । उसके शान्त होनेपर अनिर्देश्य, अनाभास, अज और अविनाशी अद्वय चिदाकाशमात्र शेष रहता है ॥ ३० ॥

बाह्य अनर्थोंके अवलोकनमें भी अहङ्कार ही हेतु है, यह कहते हैं—'अहमर्थ०' इत्यादिसे ।

अहङ्कार सामने उपस्थित द्रव्योंका चितिमें प्रतिबिम्ब प्रदान करता है । उस अहङ्कारके शान्त हो जानेपर वह चिति निराभास, अनन्त, अज और अविनाशी परमात्मस्वरूप ही रह जाती है ॥ ३१ ॥

अहमर्थाम्बुदे क्षीणे परमार्थशरन्नभः ।
परयाऽनन्तया लक्ष्म्या स्वच्छयाऽच्छं विराजते ॥ ३२ ॥
अहमर्थमलोन्मुक्तमव्यक्तं ताम्रमङ्ग चेत् ।
तत्परं परमाभासं सम्पन्नं हेमकान्तिमत् ॥ ३३ ॥
यथा निरभिधार्थश्रीर्भजत्यव्यपदेश्यताम् ।
तथाऽनहन्ताहन्तेयं ब्रह्मत्वमधिगच्छति ॥ ३४ ॥
अस्त्यहन्त्वे स्थितं ब्रह्म सनामेव पदार्थवत् ।
शान्तवत्सदिवाभासं तद्वत्सव्यपदेशवान् ॥ ३५ ॥

अहङ्काररूपी मेघके छिन्न-भिन्न हो जानेपर परमार्थरूप शरत्कालका आकाश सर्वोत्तम, स्वच्छ असीम चिति लक्ष्मीसे खूब सुन्दर भासित होने लग जाता है ॥३२॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो विशुद्ध सुवर्णरूप चिरकालिक चैतन्य है, वह अहङ्काररूप मलके सम्पर्कसे जीवरूपी ताम्रभावको प्राप्त हुआ है, परन्तु श्रवणादि उपायरूपी अग्निमें तपकर जब अहङ्काररूपी मलसे निर्मुक्त हो जाता है तब वही परम प्रकाशमय कान्तिमान् ब्रह्मरूपी सुवर्ण* बन जाता है ॥ ३३ ॥

यदि आप यह कहें कि अहङ्कारकी निवृत्ति हो जानेपर किस नामसे मेरा व्यपदेश होगा, तो इसपर मेरा कहना यह है कि समुद्रमें विलीन सैन्धव आदि पदार्थोंकी तरह तत्-तत् नामकी निवृत्तिसे जैसी अव्यपदेश्यता होती है वैसी ही आपकी भी अव्यपदेश्यता होगी। उस समय आप अनिर्वचनीय ब्रह्मस्वरूप हो जायँगे, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे समुद्रमें विलीन हुए पदार्थोंका स्वरूप अव्यपदेश्यताको प्राप्त हो जाता है वैसे ही अनहन्तासे ब्रह्ममें विलीन हुई अहन्ता भी अव्यपदेश्यताको प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उस समय वह ब्रह्मरूप बन जाती है ॥ ३४ ॥

अहङ्कारनिवृत्तिके बाद ब्रह्म आदि नामसे जो जीवका व्यवहार होता है वह भी अन्य पदके अर्थकी नाईं उसमें (जीवमें) अहङ्काररूप अल्पत्व (छोटेपनका) नाशरूप जो बृहत्त्व (बड़प्पन) है तत्स्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तकी कल्पना करके ही होता है, वस्तुतः नहीं होता, यह कहते हैं—'अस्त्यहन्त्वे' इत्यादिसे ।

---

* देखिये यह श्रुति—'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।'

अहमर्थो जगद्बीजं यदि दग्धमभावनात् ।
तदहन्त्वं जगद्बन्ध इत्यादेः कलनैव का ॥ ३६ ॥
सद्ब्रह्म शिवमात्मेति परे नामकलङ्किता ।
उदेत्यहन्ता कुम्भत्वादिव मृद्धा तु विस्मृतिः ॥ ३७ ॥
अहमर्थादियं बीजात्सत्ता बिम्बलतोत्थिता ।
यस्यां जगन्त्यनन्तानि फलान्यायान्ति यन्ति च ॥ ३८ ॥
साद्र्यचक्षुर्वीनदी सेयं रूपालोकैषणादिका ।
अहमर्थस्य मरिचबीजस्याऽन्तश्चमत्कृतिः ॥ ३९ ॥

तरङ्ग आदि धर्मोंसे शून्य अपने स्वाभाविक स्वरूपसे स्थित हुआ जल जैसे पूर्वके तरङ्ग आदि रूपसे भीतर सत्य-सा प्रतीत होकर तरङ्ग आदि नामोंसे व्यवहृत होता है और स्वाभाविक जलरूपसे स्थित हुआ तरङ्ग आदि नामोंसे व्यवहृत नहीं होता, वैसे ही अपने स्वरूपमें स्थित आत्मा किसी नामसे व्यवहृत नहीं होता, परन्तु जब अहन्ता रहती है, तब वह अन्य पदार्थोंके सदृश नामवाला-सा बनकर स्थित रहता है और उन-उन लाक्षणिक नामोंकी कल्पनासे व्यवहृत होता है ॥ ३५ ॥

अहङ्कार ही जन्ममरणरूप इस संसारका बीज है। भावनाके मूल अज्ञानके नाशसे जब यह अहङ्काररूपी बीज दग्ध हो जाता है तब जगत् और बन्ध इत्यादिकी कल्पना ही क्या रहती है ॥ ३६ ॥

इस संसारका बीज अहङ्कार ही है, इसका उपपादन करनेके लिए 'यह कैसे उदित होता है' यह बतलाते हैं—'सद्ब्रह्म' इत्यादिसे।

सत्, ब्रह्म, शिव, आत्मा, यानी कालत्रयाबाध्य, अपरिच्छिन्न, निरतिशयानन्द, अपरोक्ष चिदेकरस इन स्वभावोंसे युक्त परमात्मामें सत् आदि चारों स्वभावोंके संकोचरूप नामसे कलङ्कित यानी मालिन्ययुक्त, समष्टि-अहन्ता ऐसी उदित होती है जैसी घटाकारपरिच्छेदसे मिट्टीकी स्वभावविस्मृति ॥ ३७ ॥

इसलिए अहङ्काररूपी बीजसे यह दृश्यप्रपञ्चकी सत्तारूपी बिम्बलता उदित हुई है, जिसमें व्यष्टिभावसे अनन्त जगत्-रूपी फल उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं ॥ ३८ ॥

इसीका विस्तृतरूपसे वर्णन करते हैं—'साद्र्य०' इत्यादिसे।

द्यौः क्ष्मावायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
इत्यामोदोऽहमर्थोग्रकुसुमस्य विकासिनः ॥ ४० ॥
अहमर्थः प्रविसृतः प्रकटीकुरुते जगत् ।
सद्रूपालोकमननं प्रवृत्त इव वासरः ॥ ४१ ॥
प्रवृत्तेन दिनेनार्थः प्रकटीक्रियते यथा ।
असज्जगदहन्त्वेन क्षणान्निर्मीयते तथा ॥ ४२ ॥
अहमित्यर्थबिन्दुस्तैललवो ब्रह्मणि वारिणि ।
प्रसृतो यत्तदाश्वेतत्त्रिजगच्चक्रकं स्थितम् ॥ ४३ ॥
उन्मेषमात्रेणाहन्ता जगन्त्यनुभवत्यहो ।
न निमेषेण दृगिव सत्यानीत्यप्यसन्त्यलम् ॥ ४४ ॥
अहमर्थे प्रविसृते संसारो ह्यनुभूयते ।
नान्तर्भूय परिक्षीणे लोचनस्येव तारके ॥ ४५ ॥

इस अहमर्थरूपी मरिचके बीजके भीतर पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी और नदियोंके सहित तथा बाह्य इन्द्रियोंसे होनेवाले पदार्थोंके पर्यालोचन एवं मनके भीतर रहनेवाली काम-सङ्कल्प आदि वृत्तिरूप एषणारूपी चमत्कृति उदित होती है ॥ ३९ ॥

अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ ये सबके सब अहमर्थरूपी विकसित कुसुमकी सुगन्ध हैं ॥ ४० ॥

सुमेरुके परभागमें सद्रूप दिन उदित होते ही सद्रूप पदार्थका प्रकाश और मनन जैसे करता है वैसे ही आत्मामें उदित होते ही यह अहङ्कार जगत्‌को प्रकट करता है ॥ ४१ ॥

प्रारम्भ होते ही दिन जैसे पदार्थोंको प्रकाशित करता है वैसे ही प्रारम्भ होते ही अहङ्कारभावना क्षणभरमें असत् जगत्‌का निर्माण कर देती है ॥ ४२ ॥

ब्रह्मरूपी जलमें अहङ्काररूपी तेलका बिन्दु पड़ते ही जो चारो ओर फैल जाता है वही शीघ्र यह त्रिलोकीरूपी चक्र बनकर स्थित हो जाता है ॥ ४३ ॥

जिस तरह खराब आँखें खुली रहकर असद्रूप जगत्‌को सत्यरूपसे खूब अनुभव करती हैं, किन्तु बन्द हो जाते ही नहीं करतीं; अहो, उसी तरह उन्मेषमात्रसे यह अहन्ता असद्रूप जगत्‌को सत्यरूपसे अनुभव करती है ॥ ४४ ॥

इसीको दृढ़ करनेके लिए फिर कहते हैं—'अहमर्थे' इत्यादिसे ।

जैसे आँखकी पुतली सुषुप्ति, मरण या मूर्च्छामें जब तिरोहित हो जाती है

अहमंशे निरंशत्वं नीते शाश्वतसंविदा ।
शाम्यतीयमशेषेण संसारमृगतृष्णिका ॥ ४६ ॥
स्वसंविद्भावनामात्रसाध्येऽस्मिन्वरवस्तुनि ।
सिद्धमात्रात्मनि स्वैरं मा खेदं गच्छ मा भ्रमीम् ॥ ४७ ॥
स्वयत्नमात्रसंसाध्यादसहायादिसाधनात् ।
अनहंवेदनान्नान्यच्छ्रेयः पश्यामि तेऽनघ ॥ ४८ ॥
विस्मृत्याऽहन्त्वमास्व प्रविसृतविभवः पूरिताशेषविश्वो
विष्वक्शैलान्तरिक्षक्षितिजलधिमरुन्मार्गरूपोऽमलात्मा ।

या जब मोक्षमें पूर्णतया विलीन हो जाती है अथवा समाधिमें साक्षात्कार द्वारा जब नष्ट हो जाती है तब सांसारिक पदार्थोंका अनुभव नहीं कर पाती ; वैसे ही अहमर्थके प्रसुप्त होनेपर ही यह संसार अनुभूत होता है, अन्यथा नहीं ॥ ४५ ॥

नित्य परमात्मज्ञानसे अहमंशके बिलकुल निःशेष कर दिये जानेपर यह संसाररूपी मृगतृष्णा पूर्णरूपसे शान्त हो जाती है ॥ ४६ ॥

साधन और फल दोनों अतिसुलभ हैं, यह दिखलाते हैं—'स्वसंविद्०' इत्यादिसे ।

स्वप्रकाश चिदात्माकी एकमात्रभावनासे साध्य * स्वतःसिद्ध † आत्मरूप इस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्तिमें हे श्रीरामजी, आप निरंकुश खेद या अहंभावादि भ्रान्तिको प्राप्त न हों ॥ ४७ ॥

किसी दूसरे पुरुष आदि बाह्यसाधनकी अपेक्षा न होनेसे भी इसको अतिसुलभ बतलाते हैं—'स्वयत्न०' इत्यादिसे ।

हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, किसी दूसरे सहायक आदि साधनके बिना ही स्वयत्नमात्रसे साध्य अनहंभावनाके सिवा मैं दूसरा आपका कोई कल्याणकारक नहीं देखता ॥ ४८ ॥

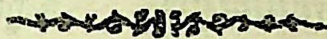
सम्पूर्ण उपदेश सिद्धान्तोंका सार संक्षेपरूपसे दिखलाते हुए अब उपसंहार करते हैं—'विस्मृत्या०' इत्यादिसे ।

* जड पदार्थोंकी नाईं इसमें फलव्याप्तिकी अपेक्षा नहीं है, अतः इसके साधनमें अति सुलभता है, यह इससे दिखलाया गया ।

† इससे फलमें भी उत्पादन आदि किसी विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता न होनेसे अतिसुलभता दिखलाई गई है ।

स्वस्थः शान्तो विशोकः करणमलकलावर्जितो निष्प्रपञ्चो
निःसञ्चारश्चरात्मा सकलमसकलं चेति सिद्धान्तसारः ॥४९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे अहन्तानिरासो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



पञ्चमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वभावं स्वं विजित्यादाविन्द्रियाणां सचेतसाम् ।
प्रवर्तते विवेके यः सर्वं तस्याऽऽशु सिध्यति ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, सबसे पहले व्यष्टि-अहंभावको भूलकर चारो ओरसे पर्वत, अन्तरिक्ष, पृथिवी, समुद्र, वायु तथा उसके मार्ग आकाशरूप होकर सारे संसारको परिपूर्ण बना करके अपने विभवका विस्तार करते हुए आप समष्टिभावसे स्थित हो जाइये। तदनन्तर स्थावर-जंगम सारा संसार ब्रह्मरूप ही है, इस तरहके ज्ञानसे समस्त प्रपञ्चोंका बाध करके प्रपञ्चशून्य, इन्द्रियों, अन्तःकरणके मलों तथा कलाओंसे वर्जित होते हुए स्वस्थ, शान्त, विशोक और निर्मलात्मा होकर स्थित रहिये, क्योंकि इस तरह अध्यारोप तथा अपवाद न्यायसे निष्प्रपञ्च आत्मरूपसे अवशिष्ट रह जाना ही सम्पूर्ण वेदान्तसिद्धान्तोंका सार है ॥ ४९ ॥

चौथा सर्ग समाप्त



पाँचवाँ सर्ग

[जितेन्द्रिय पुरुषोंमें ही शास्त्रोंका उपदेश सफल होता है, अजितेन्द्रियोंमें नहीं, इस विषयमें भुशुण्ड द्वारा कथित विद्याधरकथाका वसिष्ठजी द्वारा वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, सबसे पहले मनके सहित इन्द्रियोंके स्वभावको (विषयोंकी ओर उन्मुख हो रही प्रवृत्तिको) जीतकर पीछे नित्यानित्य वस्तुके विवेक आदि साधनोंमें जो मनुष्य प्रवृत्त होता है उसीके लिए शास्त्रके और आचार्यके उपदेशका सारा फल शीघ्र सिद्ध होता है, दूसरेके लिए नहीं ॥ १ ॥

स्वभावमात्रं येनान्तर्न जितं दग्धबुद्धिना ।
तस्योत्तमपदप्राप्तिः सिकतातैलदुर्लभा ॥ २ ॥

शुद्धेऽल्पोऽप्युपदेशो हि निर्मले तैलबिन्दुवत् ।
लगत्युत्तानचित्तेषु नादर्शे इव मौक्तिकम् ॥ ३ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मम पूर्वं भुशुण्डेन कथितं मेरुमूर्द्धनि ॥ ४ ॥

पुरा भुशुण्डः कस्मिंश्चित्पृष्ट आसीत्कथान्तरे ।
मया कदाचिदेकान्ते मेरोः शिखरकोटरे ॥ ५ ॥

मुग्धबुद्धिमनात्मज्ञं कं त्वं सुचिरजीवितम् ।
स्मरसीति मया पृष्टेनोक्तं तेनेदमङ्ग मे ॥ ६ ॥

जिस दग्धबुद्धिने अपने भीतर विषयोंकी ओर दौड़नेवाली अपनी इन्द्रियोंके स्वभावको नहीं जीत लिया उसको परमपदकी प्राप्ति ऐसे दुर्लभ है, जैसे बालूमेंसे तेल निकालना दुर्लभ है। तात्पर्य यह है कि बालू निचोड़नेका श्रम जैसे निष्फल है, वैसे ही चिरकालसे अभ्यस्त हुए भी, श्रवण, मनन आदि—इन्द्रियोंके स्वभावको जीते बिना—बिलकुल निष्फल है ॥ २ ॥

शुद्ध निर्मल वस्त्र आदिमें तेलबिन्दुकी नाईं शुद्ध विमल चित्तवाले मनुष्यमें थोड़ा भी उपदेश प्रविष्ट हो जाता है। और साधनचतुष्टयसे रिक्त चित्तवालोंमें ऐसे नहीं प्रविष्ट हो पाता जैसे दर्पणके भीतर मोती नहीं प्रविष्ट हो पाता ॥ ३ ॥

इस विषयमें विद्वान् लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। भुशुण्डजीने बहुत दिन पहले मुझसे मेरु पर्वतके शिखरपर यह कहा था ॥ ४ ॥

बात बहुत पुरानी है, कभी मेरु शिखरके एकान्त कोटरमें किसी अध्यात्म-कथाके प्रस्तावमें श्रीभुशुण्डजीसे मैंने यह पूछा था ॥ ५ ॥

मैंने भुशुण्डजीसे पूछा था कि हे प्रिय, यह बतलाओ कि इस संसारमें मुग्धबुद्धि तथा आत्मज्ञानशून्य दीर्घजीवी तुम किसे स्मरण करते हो ? हे श्रीरामजी, मेरे पूछनेपर उन्होंने यह कहा ॥ ६ ॥

भुशुण्ड उवाच

आसीद्विद्याधरः पूर्वमनात्मज्ञः सुखेदितः ।
लोकालोकान्तरशृङ्गे शुष्क आर्यो विचारवान् ॥ ७ ॥
तपसा बहुरूपेण यमेन नियमेन च ।
अक्षीणायुरतिष्ठत्स पुरा कल्पचतुष्टयम् ॥ ८ ॥
ततश्चतुर्थे कल्पान्ते विवेकस्तस्य चोदभूत् ।
विदूरस्येव वैदूर्यमौचित्याज्जलदोदयात् ॥ ९ ॥
पुनर्मृतिः पुनर्जन्म जरामेति विभावयन् ।
लज्जेऽहं तत्किमेकं स्यात् स्थिरमित्यवमृश्य सः ॥ १० ॥
मामाजगाम सम्प्रष्टुममष्टादशमयीं पुरीम् ।
स्वामुपोह्य विरक्तात्मा संसाररसतां गतः ॥ ११ ॥

भुशुण्डजीने कहा—हे भगवन्, लोकालोकान्तर पर्वतकी चोटीपर बहुत दिन पहले एक विद्याधर रहता था। वह अजित इन्द्रियोंसे अत्यन्त खेदको प्राप्त अतएव विश्रान्तिरससे हीन, आत्मज्ञानशून्य, विचारवान् तथा आयुवृद्धिके हेतुभूत सदाचारसे सम्पन्न था ॥ ७ ॥

अनेक तरहके तप, यम और नियमसे अक्षीणायु (परिपूर्ण आयु) होकर पूर्व कालमें वह चार कल्पोंतक स्थित रहा ॥ ८ ॥

तदनन्तर चौथे कल्पके अन्तमें चिरकालतक तप, नियम आदिके अनुष्ठानसे उसको ऐसे विवेक उदित हुआ, जैसे बादलके उदयसे विदूरभूमिमें वैदूर्यमणि ॥ ९ ॥

विवेकस्वरूप दिखलाते हैं—'पुन०' इत्यादिसे।

पुनः पुनः जन्म, पुनः पुनः मृत्यु तथा पुनः पुनः वृद्धावस्था न हो, क्योंकि इसका विचार करते हुए मैं लज्जित हो रहा हूँ। अतः जहाँ ये बिलकुल न हों, ऐसी एक स्थिर कौन-सी वस्तु हो सकती है ॥ १० ॥

यों विचार करके पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा स्थूल देह इन अठारह अवयवोंसे युक्त अपनी पुरीको चिरकालतक धारण करनेसे श्रान्त तथा संसारके रससे विरक्त वह महात्मा मेरे पास कुछ पूछने आया ॥ ११ ॥

स मत्समीपमागत्य कृतोदारनमस्कृतिः ।
मत्पूजितोऽवसरत उवाचेदमनिन्दितम् ॥ १२ ॥

विद्याधर उवाच

मृदूनि परितापीनि दृषद्दृढबलानि च ।
छेदे भेदे च दक्षाणि स्वशस्त्राणीन्द्रियाणि च ॥ १३ ॥

पर्याकुलानि मलिनानि विपत्प्रदानि
दुःखोर्मिमन्ति गुणकाननपावकत्वात् ।
हार्दान्धकारगहनानि तमोमयानि
जित्वेन्द्रियाणि सुखमेति च किं ममार्थैः ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने विद्याधरप्रश्नो नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥



मेरे समीप आकर बड़े आदरके साथ उसने नमस्कार किया। मैंने भी सत्कारसे उसे बैठाया। अनन्तर प्रश्नका अवसर पाकर उसने यह अनिन्दित वचन कहा ॥ १२ ॥

अपने खेदके हेतुभूत इन्द्रियादिकोंके दोषोंका विस्तारसे आगे चलकर वर्णन करनेकी इच्छा कर रहे विद्याधर भूमिका बांध रहे हैं—'मृदूनि' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

विद्याधरने कहा—हे भगवन्, अपने-अपने विषयोंमें शीघ्रानुप्रवेशी होनेके कारण अत्यन्त कोमल, प्रवेशके बाद अत्यन्त परितापी और तदनन्तर उनका हिलाना-डुलाना अशक्य होनेसे पत्थरसे भी अधिक दृढ़ और बलवान्, छेदन और भेदनमें दक्ष अपने शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए बाण आदि शस्त्र और इन्द्रियां तुल्य हैं ॥ १३ ॥

हे मुने, ये इन्द्रियां हृदयमें रूढ़ हैं, तमोमय हैं, अन्धकारसे भरे सघन जङ्गलके तुल्य हैं, काम आदि वानरोंसे व्याप्त हैं एवं प्राण, मन, देह और हृदयस्थ अशनायादि दुःखरूपी छः तरङ्गोंसे युक्त हैं। तरङ्गोंसे युक्त होती हुई भी दैवात् कहीं अङ्कुरित हुए शम-दमादि गुणरूपी जंगलकी दाहक होनेसे ये विपत्प्रद तथा मलिन हैं। अतः इस तरहकी इन्द्रियोंको एवं उनके आश्रय मनको

षष्ठः सर्गः

विद्याधर उवाच

यदुदारमनायासं क्षयातिशयवर्जितम् ।
पदं पावनमाद्यन्तरहितं तद्वदाऽऽशु मे ॥ १ ॥

एतावन्तमहं कालं सुप्त आसं जडात्मकः ।
इदानीं सम्प्रबुद्धोऽस्मि प्रसादादात्मनो मुने ॥ २ ॥

जीतकर प्राणी सुखी हो सकता है, सांसारिक इन भोगोंसे कदापि सुखी नहीं हो सकता। अतः मुझे विद्याधरोंके भोगरूपी इन पदार्थोंसे कोई मतलब अब नहीं है। हे भगवन्, यही कारण है कि विरक्त जिज्ञासु होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ ॥ १४ ॥

पाँचवाँ सर्ग समाप्त

छठा सर्ग

[चिरकालतक दिव्य भोगको भोगे हुए विद्याधरके द्वारा परीक्षित विषयोंमें उन्मुख इन्द्रियोंकी नीतिका वर्णन]

अतः चार साधनोंसे सम्पन्न मुझ ब्रह्मजिज्ञासुको हे ब्रह्मन्, आप ब्रह्मोपदेश दीजिये, यह कहते हैं—'यदु०' इत्यादिसे ।

विद्याधरने कहा—हे भगवन्, आप मुझे उस परमपावन पदका शीघ्र उपदेश दीजिये, जो पूर्णरूपसे कृपणताका निवर्तक, दुःखरहित तथा निरतिशयानन्दरूप होनेसे अति उदार है, आयासहीन तथा क्षय एवं अतिशयसे शून्य है, आदि और अन्तसे रहित है [हे भगवन्, मैं त्रिविधतापसे अत्यन्त सन्तप्त हूँ। अतएव सागरमें डूबनेकी इच्छा कर रहे सन्तप्त सिरवाले पुरुषकी नाई अब मुझसे विलम्ब सहा नहीं जाता] ॥ १ ॥

यदि तुम्हारी ऐसी स्थिति है, तो फिर पहले ही क्यों नहीं आये ? इसपर कहते हैं—'एतावन्तम्' इत्यादिसे ।

हे मुने, इतने कालतक जडात्मा बनकर मैं गाढ़ निद्रामें सोया हुआ था। अब मनकी तीव्रतर वैराग्यरूपी प्रसन्नतासे जाग गया हूँ ॥ २ ॥

मनोमहामयोत्तप्तं क्षुब्धमज्ञानवृत्तिषु ।
मामुद्धर दुरन्तेहं मोहादहमिति स्थितात् ॥ ३ ॥
श्रीमत्यपि पतन्त्याशु शातनाः कातरादयः ।
गुणवत्युग्रपत्रेऽपि तुहिनानीव पङ्कजे ॥ ४ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च केवलं जीर्णजन्तवः ।
न धर्माय न मोक्षाय मशका इव पङ्कजे ॥ ५ ॥

हे भगवन्, मैं मनके महाभयङ्कर रोग कामसे पीड़ित हूँ, अज्ञानकी वृत्तियों दुर्वासनाओंमें क्षुब्ध हूँ, मेरे समस्त कर्म दुरुच्छेद्य हैं। अतः अनात्मामें आत्माभिमानाकारसे स्थित मोहसे मेरा शीघ्र उद्धार कीजिये ॥ ३ ॥

विद्याधर तो सम्पूर्ण विद्याओंके आश्रय होनेसे अपने विद्याबलसे ही समस्त दुःखोंको दूर करनेमें समर्थ होते हैं, क्योंकि मणि-मन्त्र-रसायनादिकी सिद्धियों तथा अणिमादि ऐश्वर्योंसे वे युक्त रहते हैं, यह सुना जाता है, तो फिर यों श्रीसम्पन्न तुममें कामादि दुःख शातनाएँ तथा कातरता और कार्पण्यादि दोष क्यों आकर गिर पड़े ? जिससे कि श्रेष्ठ देवयोनिमें उत्पन्न होनेसे अत्यन्त सबके मान्य होते हुए भी तुम आज निकृष्ट काकयोनिमें पैदा हुए भी मेरी शरणमें आये हो और मोहसे अपने उद्धारका कारण मुझसे पूछ रहे हो ? इस आशङ्कापर कह रहे हैं—'श्रीमत्यपि' इत्यादिसे।

सम्पूर्ण विद्याओं तथा नानाविध सिद्धियों आदि श्रीसम्पत्तियोंसे सम्पन्न एवं अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त रहते विद्याधरोंमें भी अजितेन्द्रिय होनेके कारण आत्मज्ञानशून्य होनेसे काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि दुःखशातनाएँ और कातर्य दोष ऐसे शीघ्र गिरते हैं, जैसे लक्ष्मीके आधार बिसतन्तुओंसे युक्त उग्र पत्तोंवाले कमलके ऊपर तुहिन गिरते हैं ॥ ४ ॥

ज्ञानका अभाव रहनेपर धर्मानुष्ठानमें अधिकार न होनेसे देवयोनियाँ मशकादि योनियोंके तुल्य ही हैं, यह सूचित करते हुए अपने वैराग्यके कारणभूत सर्वत्र दोषदर्शनका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'जायन्ते' इत्यादिसे।

जीर्ण-शीर्ण जीव निरन्तर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। विषयलोलुप वे जीव कमलमें मच्छड़ोंके समान न तो धर्मके लिए कोई यत्न करते हैं और न मोक्षके लिए ही ॥ ५ ॥

भावैस्तैरेव तैरेव तुच्छालम्भविडम्बनैः ।
चिरेण परिखिन्नाः स्मो विप्रलम्भाः पुनः पुनः ॥ ६ ॥
नान्तोऽस्त्यस्य न च स्थैर्यावस्थाऽविश्रान्तमानसम् ।
भ्रमन्तो भोगभङ्गेषु मरुभूमिष्विवाध्वनः ॥ ७ ॥
आपातमधुरारम्भा भङ्गुरा भवहेतवः ।
अचिरेण विकारिण्यो भीषणाः भोगभूमयः ॥ ८ ॥
मानावमानपरया दुरहङ्कारकान्तया ।
न रमे वामया तात हतविद्याधरश्रिया ॥ ९ ॥
दृष्टाश्चैत्ररथोद्यानभुवः कुसुमकोमलाः ।
कल्पवृक्षलतादत्तसमस्तविभवश्रियः ॥ १० ॥

अत्यन्त तुच्छ सुखके लिए हजारों बार पहले उपभुक्त हुए शब्दादिविषयोंसे धोखेकी टट्टीरूप विषय-इन्द्रियसम्बन्ध द्वारा बार-बार ठगे गये हम बहुत दिनोंसे दुःखी हैं ॥ ६ ॥

कहीं एक जगह मनको स्थिर किये विना मरुस्थलके सदृश क्षणभंगुर इन भोगोंमें भ्रमण कर रहे मेरे इस संसारपथकी न तो कहीं चरमसीमा है और न कहीं स्थिरता ही है ॥ ७ ॥

भोगकी भूमियां आरम्भमें आपाततः रमणीय प्रतीत होती हैं, क्षणमें ही विलीन हो जाती हैं, उनसे अनेक तरहके संसार उत्पन्न होते हैं, तत्काल ही उनमें विकार पैदा हो जाता है तथा उनका भीषण परिणाम होता है ॥ ८ ॥

बहुत अधिक पुण्योंसे प्राप्त विद्याधर सम्पत्तिसे ही तुम्हें विश्रान्ति क्यों नहीं मिल रही है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'माना०' इत्यादिसे ।

हे तात, मैं इस तुच्छ विद्याधरसम्पत्तिसे सन्तुष्ट नहीं हो रहा हूँ, मैं इसके साथ रमण करना नहीं चाहता, क्योंकि मान और अपमान ही इसमें बड़ी वस्तुएँ हैं । दुष्ट अहङ्कारसे ग्रस्त जीवोंके लिए ही यह अच्छी है और विवेकी पुरुषोंके लिए सदा प्रतिकूल है ॥ ९ ॥

भुक्तभोगी होनेके कारण सर्वत्र नीरसता दिखलाते हैं—'दृष्टा०' इत्यादिसे ।

जहाँ कल्पवृक्ष-वल्ली द्वारा अनेक तरहकी विभव-सम्पत्तियाँ प्रदान की जाती हैं, वैसी कुसुमके सदृश अत्यन्त कोमल मैंने चैत्ररथकी उद्यानभूमियां भी देख

विहृतं मेरुकुञ्जेषु विद्याधरपुरेषु च ।
विमानवरमालासु वातस्कन्धस्थलीषु च ॥ ११ ॥
विश्रान्तं सुरसेनासु कान्ताभुजलतासु च ।
हारिहारविलासासु लोकपालपुरीषु च ॥ १२ ॥
न किञ्चिदुचितं साधु सर्वमाधिविषोष्मणा ।
दग्धं भस्मायते तात विज्ञातमधुना मया ॥ १३ ॥
रूपालोकनलोलेन वनिताननगृध्नुना ।
सावभासेन दोषाय दुःखं नीतोऽस्मि चक्षुषा ॥ १४ ॥
इदं गुणावहं नेदमिति मुक्त्वा विकल्पनम् ।
रूपमात्रानुसारित्वादवस्तुन्यपि धावति ॥ १५ ॥

लीं, यानी वहाँके समस्त भोगोंका उपभोग कर लिया। हे भगवन्, मेरुके कुञ्जों तथा विद्याधरोंके नगरोंमें मैंने खूब विहार कर लिया। इतना ही नहीं, मैंने सर्वोत्तम अनेक जातिके विमानों एवं वायुके स्कन्धोंकी भूमियोंमें यानी शीतल-मन्द सुगन्ध हवामें भी इच्छानुसार विहार कर लिया। हे भगवन्, देवताओंकी सेनाओंमें, सुन्दर स्त्रियोंकी भुजलताओंमें तथा हारादिसे विभूषित कमनीय नायिकाओंके मनोहर विहारचमत्कारोंसे युक्त लोकपालोंकी नगरियोंमें चिरकालतक विश्राम भी मैंने खूब किया। हे तात, मैंने अब यह भलीभाँति जान लिया कि इनमें कोई भी पदार्थ सुखदायक नहीं है। मानसिक दुःखरूपी विषकी उष्णतासे सबके सब दग्ध होकर भस्म हुए-जैसे मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥ १०–१३ ॥

किस तरहके विवेकज्ञानसे किस-किसका कैसे-कैसे परिज्ञान किया, इसको पहले चक्षु आदि इन्द्रियोंमें दिखलाते हैं—'रूप०' इत्यादिसे।

रूप देखनेमें अति चपल, स्त्रियोंके मुख देखनेकी स्पृहा रखनेवाले तथा बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशयुक्त नेत्रने अपने विषयोंके सम्बन्ध द्वारा मनको दूषित करनेके लिए मुझे भारी दुःखमें ढकेल दिया है ॥ १४ ॥

स्त्रीके शरीरमें यह वस्त्र, आभूषण सिन्दूर आदि ही सौन्दर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, रक्त-मांस आदि नहीं, इस तरहके विवेचनके बिना ही एकमात्र रूपके पीछे-पीछे दौड़नेका स्वभाव होनेके कारण नेत्र अवस्तुमें भी दौड़ जाता है ॥१५॥

तावदायाति विरतिं न वशं यावदापदाम् ।
नानाबन्धपरं चेतः परानर्थैर्हितोन्मुखम् ॥ १६ ॥
घ्राणमेतदनर्थाय धावच्चैवाश्रितः स्फुटम् ।
न निवारयितुं तात शक्नोमीह हयं यथा ॥ १७ ॥
गन्धोदकप्रणालेन मुखश्वासानुपातिना ।
वैरिणेवातिदोषेण घ्राणेनास्मि नियोजितः ॥ १८ ॥
चिरं रसनया चाहमनया नयहीनया ।
गजगोमायुगुप्तेषु दुःखाद्रिष्वलमाहतः ॥ १९ ॥
निरोद्धुं न च शक्नोमि स्पर्शलम्पटतां त्वचः ।
ग्रीष्मकालसमिद्धस्य तापमंशुमतो यथा ॥ २० ॥

तत्-तत् विषयोंमें आसक्ति रखनेसे दूषित हुआ रागान्ध यह चित्त, प्रदीपके रूपसे मोहित प्रेमी पतङ्गकी नाईं सर्वोत्कृष्ट मरण आदि अनर्थके लिए अपने अभिलषित दुर्व्यसनोंकी ओर झुककर जबतक नानाविध वध, बन्धन, नरक आदि आपत्तियोंके वशमें पड़ा रहता है तबतक इसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती ॥१६॥

नेत्रोंमें कहे गये दोषको घ्राण आदि इन्द्रियोंमें भी दिखलाते हैं—'घ्राणम्' इत्यादिसे ।

हे तात, इस संसारमें नानाविध अनर्थोंके लिए चारों ओर खूब दौड़ रहे इस घ्राणको अश्वकी नाईं रोकनेमें मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥ १७ ॥

अतिदोषयुक्त कोई प्रबल शत्रु जबर्दस्ती पकड़कर जैसे किसी पुरुषको दुर्गन्ध पूर्ण जल बहानेवाले नगरके बड़े पनालेमें 'तुम इसीमें बराबर घूमते रहो' ऐसा आदेश देकर नियुक्त कर देता है, वैसे ही श्लेष्मादि दुर्गन्ध भरे जल बहा रहे अपने बिलमें मुखश्वासानुसारी इस घ्राणेन्द्रियने मुझे नियुक्त कर दिया है ॥ १८ ॥

तथा बहुत दिनोंसे भक्ष्याभक्ष्यके विचारसे हीन इस जिह्वाने पशुओंमें सबसे बलवान् हाथियों और सबसे बुद्धिमान् सियारोंसे सुरक्षित दुःखोंके पहाड़ोंपर मुझे पर्याप्तरूपसे घायल कर रक्खा है ॥ १९ ॥

भगवन्, त्वगिन्द्रियकी स्पर्शलम्पटताको मैं ऐसे रोक नहीं सकता, जैसे ग्रीष्मकालके प्रदीप्त सूर्यके तापको ॥ २० ॥

शुभशब्दरसार्थिन्यो मुने श्रवणशक्तयः ।
मां योजयन्ति विषमे तृणेच्छा हरिणं यथा ॥ २१ ॥

प्रणताः प्रियकारिण्यः प्रह्वभृत्यसमीरिताः ।
वाद्यगेयरवोन्मिश्राः शुभशब्दश्रियः श्रुताः ॥ २२ ॥

श्रियः स्त्रियो दिशश्चैव तटाश्चाम्भोधिभूभृताम् ।
दृष्टा विभवहारिण्यः प्रक्वणन्मणिभूषणाः ॥ २३ ॥

चिरमास्वादिताः स्वादुचमत्कारमनोरमाः ।
प्रह्वकान्ताजनानीताः षड्रसा गुणशालिनः ॥ २४ ॥

कौशेयकामिनीहारकुसुमास्तरणानिलाः ।
निर्विघ्नमभितः स्पृष्टा भृशमाभोगभूमिषु ॥ २५ ॥

हे मुने, सुन्दर शब्दका आस्वाद लेनेमें अभिलाषिणी श्रवणकी शक्तियाँ मुझे विषम परिस्थितिमें ऐसे ढकेल देती हैं, जैसे कोमल तृण खानेकी इच्छाएँ हरिणको तृणोंसे ढके भयङ्कर कूपमें ढकेल देती हैं ॥ २१ ॥

तो क्या रूपसे लेकर शब्दपर्यन्त सभी विषय तुम्हें दुर्लभ थे, जिससे कि उनके लिए तुम्हें अनर्थ प्राप्त हुआ, इस प्रकार 'नहीं' यह कहते हैं—'प्रणताः' इत्यादिसे ।

मुनिवर, आनन्दजनक, नम्र भृत्यजनोंसे प्रेरित, अतएव प्रणतप्राय वाद्य और गानेके शब्दोंसे मिली-जुली अनेक शुभ शब्दोंकी शोभाएँ सुन चुका हूँ ॥ २२ ॥

अपने विषयोंसे सबका मन हरनेवाली तथा मनोहर शब्दोंवाले मणियोंके आभूषणोंसे युक्त श्री, स्त्री, दिशाएँ और समुद्रों एवं पर्वतोंके मैंने अनेक तट देख लिये हैं ॥ २३ ॥

विनीत स्त्रियों द्वारा लाये गये, मधुर आदि रसोंके अनेक चमत्कारोंसे मनोरम, यथायोग्य मिलाने तथा पकाने आदिके चातुर्यके कारण गुणयुक्त सम्पादित षड्रसोंका मैंने चिरकालतक खूब स्वाद चखा है ॥ २४ ॥

रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कान्ताओं, अनेक तरहके हारों, पुष्पशय्याओं तथा शीतल-मन्द-सुगन्ध युक्त पवनका भी मैंने भोगभूमियोंमें सर्वत्र निर्विघ्नतापूर्वक खूब स्पर्श किया है ॥ २५ ॥

वधूमुखौषधीपुष्पसमालम्भनभूमयः ।
अनुभूता मुने गन्धा मन्दानिलसमीरिताः ॥ २६ ॥
श्रुतं स्पृष्टं तथा दृष्टं भुक्तं घ्रातं पुनः पुनः ।
संशुष्कविरसं भूयः किं भजामि वदाऽऽशु मे ॥ २७ ॥
भुक्त्वा वर्षसहस्राणि दुर्भोगपटलीमिमाम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं न तृप्तिरुपजायते ॥ २८ ॥
साम्राज्यं सुचिरं कृत्वा तथा भुक्त्वा वधूगणम् ।
भङ्क्त्वा परबलान्युच्चैः किमपूर्वमवाप्यते ॥ २९ ॥
येषां विनाशनं नासीद्यैर्भुक्तं भुवनत्रयम् ।
तेऽपि तेऽप्यचिरेणैव समे भस्मपदं गताः ॥ ३० ॥

हे मुने, सुन्दर स्त्रियोंके मुख, चन्दन, खस, अगुरु आदि औषधियाँ अनेक तरहके फूल तथा ढेरके ढेर कपूर, कस्तूरी आदिके मिश्रण—इन सबकी मन्द-मन्द बह रही वायुसे प्रेरित गन्धोंका मैं बहुत अनुभव कर चुका हूँ ॥ २६ ॥

हे मुने, मैंने शब्दादि विषयोंका खूब श्रवण, स्पर्श और अवलोकन किया, नानाविध रसोंका खूब आस्वाद लिया, तरह-तरहके फूलोंको खूब सूँघा । महर्षे, पुनः पुनः इन विषयोंका उपभोग करनेसे ये सबके सब विषय मेरे लिए सूखे काठकी नाईं बिलकुल नीरस हो चुके हैं । ऐसी स्थितिमें ये विषय तो मेरे लिए एक तरहसे वान्ताशनप्राय (वमनको खानेके सदृश) बन गये हैं, अतः हे भगवन्, मुझसे शीघ्र कहिये, अब मैं किसका सेवन करूँ ॥ २७ ॥

तृण, गुल्म आदिसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्तके परिणाममें दुःखदायक विषयोंका मैंने हजारों वर्षोंतक अच्छी तरह भोग किया, लेकिन हे भगवन्, फिर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ २८ ॥

चिर कालतक निष्कपट राज्य करके, अनेक सुन्दरियोंका भोग करके तथा शत्रुओंके सैन्यको खूब चूर्ण-चूर्ण करके भी हे भगवन्, मनुष्य अपूर्व कौन-सा पदार्थ पा जाता है ? मेरी समझमें तो उसे नई कोई चीज नहीं मिलती ॥ २९ ॥

भगवन्, जिन हिरण्यकशिपु आदि राजाओंने तीनों लोकका चिरकालतक लगातार मनमाना भोग किया तथा जिनके विनाशका साधन इस संसारमें कुछ नहीं था, वे सब भी शीघ्र ही भस्मपदको प्राप्त हो गये—नामावशेष हो गये ॥ ३० ॥

प्राप्तेन येन नो भूयः प्राप्तव्यमवशिष्यते।
तत्प्राप्तौ यत्नमातिष्ठेत्कष्टयाऽपि हि चेष्टया ॥ ३१ ॥
येन कान्ताश्चिरं भुक्ता भोगास्तस्येह जन्तुभिः।
दृष्टो न कस्यचिन्मूर्ध्नि तरुर्व्योमप्लवश्च वा ॥ ३२ ॥
चिरमासु दुरन्तासु विषयारण्यराजिषु।
इन्द्रियैर्विप्रलब्धोऽस्मि धूर्तबालैरिवार्भकः ॥ ३३ ॥
अद्य त्वेते परिज्ञाता मया स्वविषयारयः।
कष्टा इन्द्रियनामानो वञ्चयित्वा तु मां पुनः ॥ ३४ ॥

ऐसी स्थितिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये, यह कहते हैं—'प्राप्तेन' इत्यादिसे।

जिसके प्राप्त हो जानेसे फिर कोई दूसरा प्राप्त करने योग्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रह जाता, हे मुने, सो कष्टपूर्ण चेष्टासे भी उसकी प्राप्तिमें मनुष्यको सदा प्रयत्नशील बनना चाहिये ॥ ३१ ॥

चिरकालतक नानाविध बड़े-बड़े भोगोंका भोग करनेवाले भी पुरुषोंमें भोगकाल समाप्त हो जानेपर जिन लोगोंने भोग नहीं किया है ऐसे अन्य पुरुषोंकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं दीखती, यह कहते हैं—'येन' इत्यादिसे।

जिन-जिन पुरुषोंने अत्यन्त रमणीय भोगोंका चिरकालतक इस संसारमें खूब भोग किया, उन सब पुरुषोंके मध्यमें किसीके भी मस्तकके ऊपर पैदा हुआ कल्पतरु वृक्ष आजतक किसीसे नहीं देखा गया, जिससे कि वह पुरुष उस कल्पतरुकी छायामें सदैव पूर्णकाम होकर विश्राम करता रहे और न उसके पैरमें आकाशमें उड़नेवाला विमान आदि ही कोई पैदा हुआ देखा गया, जिससे कि वह सदा ही सर्वत्र विहार करता रहे ॥ ३२ ॥

दुःखसे त्याज्य होनेवाली इन विषयरूपी महाजंगलकी पङ्क्तियोंमें बहुत दिन पहले ही इन इन्द्रियोंने मुझे ऐसे ठग लिया है, जैसे धूर्त बड़े-बड़े लड़के सुशील छोटे बच्चेको ठग लेते हैं ॥ ३३ ॥

शब्दादि विषयरूप भूत ही मनको बाहर खींचकर अपने-अपने भोगोंके लिए श्रोत्र आदि भावसे स्थित हैं। इन कष्टदायक इन्द्रियनामवाले अपने विषयरूपी शत्रुओंको आज मैंने अच्छी तरह पहचान लिया। ये विषय और

संसारजङ्गले शून्ये दग्धं नरमृगं शठाः ।
आश्वास्याऽऽश्वास्य निघ्नन्ति विषयेन्द्रियलुब्धकाः ॥३५॥
विषमाशीविषैरेभिर्विषयेन्द्रियपन्नगैः ।
ये न दग्धा न दष्टास्ते द्वित्रा एव जगत्यपि ॥ ३६ ॥
भोगभीमेभवलितां तृष्णातरलवागुराम् ।
लोभोग्रकरवालाढ्यां कोपकुन्तकुलाङ्किताम् ॥ ३७ ॥
द्वन्द्वजालरथव्याप्तामहङ्कारानुपालिताम् ।
चेष्टातुरङ्गमाकीर्णां कामकोलाहलाकुलाम् ॥ ३८ ॥
शरीरसीमान्तगतां दुरिन्द्रियपताकिनीम् ।
ये जेतुमुत्थितास्तात त एवेह हि सद्भटाः ॥ ३९ ॥
सुसाध्यः करटोद्भेदो मत्तैरावणदन्तिनः ।
नोत्पथप्रतिपन्नानां स्वेन्द्रियाणां विनिग्रहः ॥ ४० ॥

इन्द्रियरूपी शठ व्याध शून्य संसाररूपी जंगलमें सन्तप्त नररूपी मुझ मृगको धोखेसे फँसाकर बार-बार आश्वासन दे देकर मार रहे हैं ॥ ३४,३५ ॥

जिनकी तालुके अन्दर भयङ्कर विष भरा रहता है ऐसे इन विषय और इन्द्रियरूपी साँपोंसे जो नहीं डसे गये हों, ऐसे दो-तीन मनुष्य भी आजतक इस संसारमें मुझे नहीं दीख पड़े ॥ ३६ ॥

इन्हें अवश्य जीतना चाहिये, यह दिखलानेके लिए इन्द्रियोंका ही शत्रुकी सेनारूपसे वर्णन करते हैं—'भोग०' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

हे तात, इस दुष्ट इन्द्रियरूपी सेनाको जीतनेके लिए कमर कसकर जो खड़े हैं वे ही इस संसारमें सर्वोत्कृष्ट योद्धा हैं । यह दुष्ट इन्द्रियरूपी सेना भोगरूपी भयङ्कर हाथियोंसे वलित है, तृष्णारूपी चञ्चल वागुरासे युक्त है, लोभरूपी उग्र तलवारोंसे पूर्ण है, कोपरूपी बरछियोंसे अङ्कित है, शीतोष्णादि द्वन्द्वसमूहरूपी रथोंसे व्याप्त है, अहङ्काररूपी सेनापतिसे सुरक्षित है, चेष्टारूपी घोड़ोंसे यह भरी है, कामरूपी कोलाहलोंसे युक्त है और यह शरीररूपी नगरके सीमान्तको चारो ओरसे आक्रान्त कर स्थित है ॥ ३७—३९ ॥

मतवाले ऐरावतका मस्तक फाड़ देना बिलकुल सरल है, लेकिन हे मुनीश्वर, कुमार्गमें प्रवृत्त अपनी इन्द्रियोंको रोक रखना सरल नहीं है ॥ ४० ॥

पौरुषस्य महत्त्वस्य सत्यस्य महतः श्रियः ।
इन्द्रियाक्रमणं साधो सीमान्तो महतामपि ॥ ४१ ॥
तावदुत्तमतामेति पुमानपि दिवौकसाम् ।
कृपणैरिन्द्रियैर्यावत्तृणवन्नापकृष्यते ॥ ४२ ॥
जितेन्द्रिया महासत्त्वा ये त एव नरा भुवि ।
शेषानहमिमान्मन्ये मांसयन्त्रगणांश्चलान् ॥ ४३ ॥
मनःसेनापतेः सेनामिमामिन्द्रियपञ्चकम् ।
जेतुं चेदस्ति मे यत्नो जयामि तदलं मुने ॥ ४४ ॥
इन्द्रियोत्तमरोगाणां भोगाशावर्जनादृते ।
नौषधानि न तीर्थानि न च मन्त्राश्च शान्तये ॥ ४५ ॥
नीतोऽस्मि परमं खेदमभिधावद्भिरिन्द्रियैः ।
एक एव महारण्ये तस्करैः पथिको यथा ॥ ४६ ॥

हे साधो, तत्त्वज्ञानियोंकी भी अपने पौरुष, महत्त्व, महाधैर्य और विश्रान्ति-सम्पत्तिकी अवधि इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करना ही है ॥ ४१ ॥

मनुष्य तभीतक देवताओंकी भी मान्यताको प्राप्त करता है जबतक कि तृणकी नाईं अपनी कृपण इन्द्रियोंसे विषयोंकी ओर खींच नहीं लिया जाता ॥४२॥

हे भगवन्, जो मनुष्य जितेन्द्रिय और महासत्त्वसम्पन्न हैं वे ही इस पृथिवीके ऊपर मनुष्य हैं। शेष इन पुरुषोंको तो मैं चलते-फिरते मांसके अनेक यन्त्र समझता हूँ ॥ ४३ ॥

हे मुने, मनरूपी सेनापतिकी इन्द्रियपञ्चकरूपी इस सेनाको जीतनेका यदि कोई उपाय हो, तो कृपाकर बतलाइये, ताकि मैं भलीभाँति इसे जीत सकूँ ॥ ४४ ॥

मुझे तो एक ही उपाय मालूम है, इसे कहते हैं—'इन्द्रिय' इत्यादिसे।

भोगोंकी आशाके त्यागके सिवा इन इन्द्रियरूपी भयङ्कर रोगोंकी शान्तिके लिए न तो कोई औषधियां हैं, न कोई तीर्थ हैं और न कोई मन्त्र ही दीखते हैं ॥ ४५ ॥

विषयोंकी ओर दौड़ रही इन इन्द्रियोंने मुझे परम खेदमें ऐसे पहुँचा दिया है, जैसे महाभयङ्कर जङ्गलमें अकेले जा रहे पथिकको चोर खेदमें पहुँचा देते हैं ॥ ४६ ॥

पङ्कवन्त्यप्रसन्नानि महादौर्भाग्यवन्ति च ।
गन्धिशैवलतुच्छानि पल्वलानीन्द्रियाणि च ॥ ४७ ॥
दुरतिक्रमणीयानि नीहारगहनानि च ।
जनितातङ्कजालानि जङ्गलानीन्द्रियाणि च ॥ ४८ ॥
पङ्कजानि सरन्ध्राणि सुदुर्लक्ष्यगुणानि च ।
ग्रन्थिमन्ति जडाङ्गानि मृणालानीन्द्रियाणि च ॥ ४९ ॥
रूक्षाणि रत्नलुब्धानि कल्लोलवलितानि च ।
दुर्ग्रहग्राहघोराणि क्षाराम्बूनीन्द्रियाणि च ॥ ५० ॥
बान्धवोद्वेगदायीनि देहान्तरकराणि च ।
करुणाक्रन्दकारीणि मरणानीन्द्रियाणि च ॥ ५१ ॥

इसके बाद तुल्य विशेषणों द्वारा पल्वल आदिके साम्यसे इन्द्रियोंका वर्णन करते हैं—'पङ्कवन्ति' इत्यादिसे ।

कीचड़ोंसे पूर्ण, मलिन, महादौर्भाग्ययुक्त, दुर्गन्धसहित शैवलों तथा तत्तुल्य गन्दे पदार्थोंसे कुत्सित ये छोटी-छोटी तलैयाँ और इन्द्रियाँ एक-सी हैं ॥ ४७ ॥

दुरतिक्रमणीय जाड्य और हिमोंसे गहन तथा अनेक तरहका आतङ्क पैदा करनेवाले ये जङ्गल और इन्द्रियसमुदाय एक-से हैं ॥ ४८ ॥

पङ्कसे उत्पन्न तथा पङ्कके उत्पादक, छिद्रयुक्त, अत्यन्त दुर्लक्ष्य गुण (वासना और तन्तु) वाले, गाँठोंसे समन्वित और जड़ अङ्गोंवाले ये मृणाल और इन्द्रिय-समुदाय तुल्य हैं ॥ ४९ ॥

रूक्ष, रत्नलुब्ध, तरङ्गोंसे वलित और दुर्ग्रहग्राहोंसे भयङ्कर, लवणसागरके जल और ये इन्द्रियसमुदाय एक-से हैं* ॥ ५० ॥

बान्धवोंको उद्वेग पहुँचानेवाले, अन्य शरीर धारण करानेवाले और करुणासे आक्रन्दन करानेवाले ये मरण और इन्द्रियसमुदाय समान हैं ॥ ५१ ॥

---

* सुख स्पर्शवाला न होनेके कारण लवणसागरका जल रूक्ष है तथा निष्ठुर होनेके कारण ये इन्द्रियाँ भी रूक्ष हैं । रत्नोंके लिए लोभी ये इन्द्रियाँ हैं तथा रत्नोंसे युक्त लवणसागरके जल हैं । काम, क्रोध आदि छः तरङ्गोंसे युक्त ये इन्द्रियाँ हैं तथा अपने तरङ्गोंसे युक्त लवणसागरके जल हैं । जिन्हें पकड़ लेना सहज नहीं है, ऐसे अनेक ग्राहोंसे भयङ्कर तो लवणसागरके जल हैं तथा दुराग्रहरूपी ग्राहोंसे भयङ्कर ये इन्द्रियाँ हैं ।

अविवेकिष्वमित्राणि मित्राणि च विवेकिषु ।
गहनानन्तशून्यानि काननानीन्द्रियाणि च ॥ ५२ ॥
घनास्फोटान्यसाराणि मलिनानि जडानि च ।
विद्युत्प्रकाशान्येतानि भीमाभ्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५३ ॥
क्षुद्रप्राणिगृहीतानि वर्जितानि कृतात्मभिः ।
रजस्तमोभिभूतानि स्वेन्द्रियाण्यवटानि च ॥ ५४ ॥
पातनैकान्तदक्षाणि दोषाशीविषवन्ति च ।
रूक्षकण्टकलक्षाणि श्वभ्राग्राणीन्द्रियाणि च ॥ ५५ ॥
आत्मम्भरीण्यनार्याणि साहसैकरतानि च ।
अन्धकारविहारीणि रक्षांसि स्वेन्द्रियाणि च ॥ ५६ ॥

अविवेकियोंके शत्रु और विवेकियोंके मित्र, गहन, निरवधि तथा जनविश्रान्ति-शून्य ये कानन और इन्द्रियगण तुल्य हैं ॥ ५२ ॥

घन आस्फोटवाले*, असार, मलिन, जड़ और विद्युत् प्रकाशवाले† ये भयङ्कर मेघ और इन्द्रियसमुदाय तुल्य हैं ॥ ५३ ॥

क्षुद्र प्राणियोंसे गृहीत, महात्माओंसे वर्जित तथा रज और तमसे अभिभूत‡ अपनी ये इन्द्रियां और कुपथ समान हैं ॥ ५४ ॥

नीचे गिरानेमें अत्यन्त निपुण, दोषाशीविषवाले+ तथा रूखे लाखों कण्टकोंसे× युक्त जीर्ण गड्ढोंके मुख और ये इन्द्रियां तुल्य हैं ॥ ५५ ॥

हे महामुने, अपना पेट पालनेमें प्रवीण, अनार्य, एकमात्र साहसमें निरत और अन्धकारमें विहरणशील ये राक्षस और इन्द्रियां तुल्य ही हैं ॥ ५६ ॥

---

* मेघोंके समान जिनसे भुजाओंका स्फालन तथा गर्जनशब्द होता है, ऐसी तो ये इन्द्रियाँ हैं और भयङ्कर गर्जन करनेवाले हैं मेघ ।

† बिजलीके समान क्षणभरके लिए सुखका प्रकाश करनेवाली इन्द्रियाँ हैं तथा बिजलीसे जहाँ क्षणभरके लिए प्रकाश हो जाता है ऐसे तो ये हैं मेघ ।

‡ धूलि और अन्धकारसे अभिभूत कुपथ हैं और रजोगुण तथा तमोगुणसे अभिभूत इन्द्रियाँ हैं ।

\+ भुजाओंके समान लम्बे-लम्बे विषधरोंवाले जीर्ण गड्ढोंके मुख हैं तथा नानाविध दोषरूपी साँपोंवाली ये इन्द्रियाँ हैं ।

× विषयरूपी लाखों रूक्ष काँटोंसे व्याप्त ये इन्द्रियाँ भी हैं ।

अन्तःशून्यान्यसाराणि वक्राणि ग्रन्थिमन्ति च ।
दहनैकार्थयोग्यानि दुर्दारूणीन्द्रियाणि च ॥ ५७ ॥
घनमोहप्रबन्धीनि दुष्कूपगहनानि च ।
महावरकतुच्छानि कुपुराणीन्द्रियाणि च ॥ ५८ ॥
अनन्तेषु पदार्थेषु कारणानि घटादिषु ।
संभ्रमाणि सपङ्कानि चक्रकाणीन्द्रियाणि च ॥ ५९ ॥
आपन्निमग्नमिममेवमकिंचनं त्वं
मामुद्धरोद्धरणशील दयोदयेन ।
ये नाम केचन जगत्सु जयन्ति सन्त-
स्तत्सङ्गमं परमशोकहरं वदन्ति ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने वैराग्यवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

भीतरमें खोखले, असार, वक्र, गांठयुक्त, एकमात्र जलानेमें उपयोगी जीर्ण बांस आदिकी लकड़ियां और इन्द्रियां एक-सी हैं ॥ ५७ ॥

घनीभूत मोहादिके द्वारा चौर्य, कलह, द्यूत आदि दुर्व्यसनोंमें प्रबन्धनशील, दुष्टकूपोंसे गहन तथा महा अवकरोंसे* तुच्छ असज्जनोंके नगर और ये इन्द्रियां समान हैं ॥ ५८ ॥

अनन्त घटादि पदार्थोंमें कारणभूत, भ्रमण और कीचड़से युक्त ये कुम्हारके चाक और इन्द्रियां दोनों समान हैं ॥ ५९ ॥

हे आपत्तिसे उबारनेवाले भगवन्, इस तरह इन्द्रियोंके कारण आपत्तिके सागरमें डूबे हुए इस मुझ अकिञ्चन शरणागतका आप दया करके उपदेशसे उद्धार कीजिये, क्योंकि इस संसारमें आपके जैसे जो कोई दयावान् बड़े तत्त्वज्ञानी रहते हैं उनकी शरणागति परमशोकनाशक होती है, यों सभी शास्त्र तथा सभी लोग बतलाते हैं ॥ ६० ॥

छठा सर्ग समाप्त

---

* ढेरके ढेर कतवारोंसे परिपूर्ण होनेके कारण असज्जनोंके नगर जैसे तुच्छ बने रहते हैं वैसे ही ये इन्द्रियाँ भी विषय-वासनारूपी कतवारों (कूड़ा-करकटों) से परिपूर्ण होनेके कारण अति-तुच्छ बनी हैं ।

सप्तमः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

ततस्तस्य मया ब्रह्मंस्तच्छ्रुत्वा पावनं वचः ।
इदमुक्तं यथापृष्टं सुस्पष्टपदया गिरा ॥ १ ॥
साधु विद्याधराधीश दिष्ट्या बुद्धोऽसि भूतये ।
भवान्धकूपकुहराच्चिरेणोत्थानमिच्छसि ॥ २ ॥
पावनीयं तव मती राजते घनरूपिणी ।
विवेकेनानलेनेव कनकद्रवसन्ततिः ॥ ३ ॥
उपदेशगिरामर्थमादत्ते हारि हेलया ।
मुकुरे निर्मले द्रव्यमयत्नेनैव बिम्बति ॥ ४ ॥
यदिदं वच्मि तत्सर्वमोमित्यादातुमर्हसि ।
अस्माभिश्चिरमन्विष्टं नाऽत्र कार्या विचारणा ॥ ५ ॥

सातवाँ सर्ग

[ब्रह्मकी ही सत्ता है, जगत्-रूपी दुःखकी सत्ता है ही नहीं; यह सारा जगत् अज्ञानके कारण प्रतीत हुआ है तथा अहङ्काररूपी बीजसे यह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ है—इन सबका वर्णन]

भुशुण्डने कहा—हे ब्रह्मन्, तदनन्तर विद्याधरके उस पवित्र वचनको सुनकर प्रश्नके अनुसार मैंने सुस्पष्ट पदोंसे युक्त वाणीसे यह उत्तर दिया ॥ १ ॥

हे विद्याधराधीश, हर्षका विषय है कि आज तुम कल्याणके लिए भाग्य-वशात् जाग गये हो, चिरकालके बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपकुहरसे आज तुम निकलनेकी चाह कर रहे हो ॥ २ ॥

जिस तरह अग्निसे व्याप्त सुवर्णद्रव-सन्तति अत्यन्त सुन्दरतासे युक्त होकर शोभने लगती है, उसी तरह विवेकसे निविड़रूपको व्याप्त हुई तुम्हारी यह पवित्र बुद्धि किसी अनिर्वचनीय सौन्दर्यसे शोभित हो रही है ॥ ३ ॥

अतः मुझे विश्वास है कि यह तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणीके अर्थका बिना किसी प्रयत्नके अवश्य ही आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेगी, क्योंकि निर्मल दर्पणमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब बिना यत्नके ही पड़ता है ॥ ४ ॥

मैं जो कुछ यह कहूँगा, उन सबका तुम 'हाँ' कह करके ग्रहण कर लेना,

यत्किञ्चित्स्वदतेऽन्तस्ते बुध्यस्वाबोधमुत्सृजन् ।
नासि त्वं चिरमप्यन्तः प्रेक्षितोऽपि न लभ्यसे ॥ ६ ॥
नाहं त्वञ्चास्ति न जगदिति निश्चयिनस्तव ।
सर्वमस्ति शिवं तच्च न दुःखाय सुखाय ते ॥ ७ ॥
किमज्ञत्वाज्जगज्जातं जगतोऽथ किमज्ञता ।
विचार्यापीति नो विद्म एकत्वादलमेतयोः ॥ ८ ॥

तुम ग्रहण करनेमें ही समर्थ हो । मैंने इस विषयमें चिरकालतक खूब अन्वेषण किया है, इसमें कुछ भी तुम विचार मत करो ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चका विवेक हो जानेपर साक्षिस्वरूप शुद्ध ब्रह्म ही एकमात्र अवशिष्ट रहता है, यही सम्पूर्ण वेदान्तोंका रहस्य है, इस बातका संक्षेपरूपसे पहले उपदेश देते हैं—'यत्किञ्चित्' इत्यादिसे ।

जो कुछ अहङ्कार आदि तुम्हारे हृदयमें दृश्यरूपसे प्रकाशित हो रहा है वह सब तुम नहीं हो । 'दृश्योंमें ही कोई आत्मा है उसीको ढूँढ़कर मुझे प्राप्त करना चाहिए' इस तरह अपने हृदयमें विचारकर आत्माका चिरकालतक यदि तुम अन्वेषण करोगे, तो भी तुम आत्माको प्राप्त नहीं करोगे, इसलिए दृश्यमात्रस्वरूप अज्ञानको छोड़कर तुम दृश्यप्रपञ्चके साक्षी आत्मा अपनेको समझो ॥ ६ ॥

यह समझना अनुचित होगा कि द्रष्टा और दृश्यरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चका त्याग हो जानेपर शून्यतापत्ति आ जायगी, क्योंकि सुख-दुःखके वैषम्यके प्रयोजक कल्पित दोषांशकी निवृत्तिसे वास्तविक परमकल्याणस्वरूप ब्रह्मभावसे परिपूर्ण सभी पदार्थ अवस्थित रहते ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'नाहम्' इत्यादिसे ।

न मैं हूँ, न तुम हो और न तो यह सारा संसार ही है, यदि ऐसा तुम निश्चय कर लेते हो, तो बस यह समझ लो कि यह समस्त दृश्यप्रपञ्च शिवस्वरूप है और न यह तुम्हारे सुखके लिए है और न दुःखके लिए है ॥ ७ ॥

ऊपरमें जो दृश्यमात्रको अबोधस्वरूप बतला आये हैं, अब उसीका उपपादन करते हैं—'किमज्ञ०' इत्यादिसे ।

क्या सुषुप्तिमें अहङ्कारादिभावसे घनीभूत प्रसिद्ध जो अज्ञान है, उसीसे जाग्रत् और स्वप्नस्वरूप यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है अथवा पिघले हुए कठिन लाहके समान विलीन हुए जाग्रदादिरूप इस संसारसे सुषुप्तिकालका अज्ञान

मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वमवस्तुत्वात्सदप्यसत् ।
यच्चेदं भाति तद् ब्रह्म न किञ्चित्किञ्चिदेव वा ॥ ९ ॥
मृगतृष्णाम्बुवद्विश्वं नास्ति त्वमथवास्ति च ।
प्रतिभासोऽपि नास्त्यत्र तदभावादतः शिवम् ॥ १० ॥
विश्वबीजमहन्त्वं त्वं विद्धि तस्माद्धि जायते ।
साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशादिजगज्जरठपादपः ॥ ११ ॥

उत्पन्न हुआ है, इसका बहुत विचार करनेपर भी कोई विनिगमक हेतु न होनेसे कार्यकारणभावकी व्यवस्था हम नहीं समझ रहे हैं। अतः काठिन्य और द्रवावस्थामें घृतके एकत्वकी नाईं इन दोनोंमें एकत्व होनेसे सब कुछ एकमात्र अज्ञानस्वरूप है, यही हमने आखिरमें निश्चय किया है ॥ ८ ॥

यह सारा जगत् ब्रह्मका विवर्त है, इस तरह इस जगत्में ब्रह्मविवर्तताका अवलोकन ही त्याग है। बाधित हुए जगत्को तुच्छ समझनेसे तो कोई भी ब्रह्मस्वरूप सिद्ध नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानरूपतापत्तिकी भावना करनेपर तो सम्पूर्ण पदार्थ ही ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाते हैं; यह कहते हैं—'मृगतृष्णा' इत्यादिसे।

मृगतृष्णाजलके समान यह सारा विश्व अवस्तुरूप होनेके कारण सद्रूपसे प्रतीत होनेपर भी असद्रूप है। जो कुछ भी भासित हो रहा है वह सब ब्रह्मरूप ही है। अथवा यों कह सकते हैं कि यह सारा दृश्यप्रपञ्च कुछ भी नहीं है या कुछ है ही ॥ ९ ॥

उक्त अभिप्रायको विशदरूपसे बतलाते हुए उसके प्रतिभासका भी खण्डन करते हैं—'मृगतृष्णा' इत्यादिसे।

मृगतृष्णा जलके समान यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है अथवा कुछ है ही। प्रतिभास्यके अभावसे यहाँ प्रतिभास भी नहीं है* अतः एकमात्र शिवस्वरूप ही यह सारा विश्व स्थित है ॥ १० ॥

इस अनन्तरूप जगत्का प्रातिस्विकरूपसे निरास न हो सकनेसे उसके बीजके

* तात्पर्य यह है कि जैसे घटका अभाव रहनेपर प्रकाशके रहते हुए भी घटप्रकाश नहीं रहता, वैसे ही प्रतिभास्यका अभाव रहनेपर प्रतिभास भी नहीं रह सकता।

अहन्त्वबीजादणुतो जायतेऽसौ जगद्द्रुमः ।
तस्येन्द्रियरसाढ्यानि मूलानि भुवनानि हि ॥ १२ ॥
तारकाजालकलिका ऋक्षौघः कोरकोत्करः ।
वासनागुच्छविसराः पूर्णचन्द्रः फलालयः ॥ १३ ॥
स्वर्गादयो बृहद्वर्गा महाविटपकोटराः ।
मेरुमन्दरसह्यादिगिरयः पत्त्रराजयः ॥ १४ ॥
सप्ताब्धयोऽग्रसुतयः पातालं मूलकोटरम् ।
युगानि घुणवृन्दानि पर्वाणि गुणपङ्क्तयः ॥ १५ ॥
अज्ञानमुत्पत्तिमही नरा विहगकोटयः ।
उपलम्भो बृहत्स्तम्भो दवो निर्वाणनिर्वृतिः ॥ १६ ॥

दाहसे ही उसका निरास हो सकता है, यह कहनेके लिए अहङ्कारका जगद्रूपी वृक्षके बीजरूपसे वर्णन करते हैं—'विश्व०' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, इस अहङ्कारको तुम विश्वका बीज समझो । क्योंकि एकमात्र उस अहङ्कारसे ही पर्वत, सागर, पृथ्वी, नदीश आदिके सहित यह जगद्रूपी पुराना वृक्ष उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

सूक्ष्म अहङ्काररूपी बीजसे वह जगद्रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिरूपी रससे परिपूर्ण नीचेके भुवन उस वृक्षके मूल हैं ॥ १२ ॥

अश्विनी आदि सत्ताईस तारे इसकी प्रधान कलियां हैं, अन्य तारोंके समूह इसके अन्य कलियोंके समूह हैं, प्राणियोंकी धर्मादिवासनाएँ इसके फूलोंके गुच्छोंके समूह हैं और पूर्णचन्द्र फलका गुच्छा है ॥ १३ ॥

महान् लोगोंके स्वर्ग आदि लोकवर्ग इसके महान् शाखासमूहोंके गर्भप्रदेश हैं । मेरु, मन्दर, सह्य आदि पर्वत इसकी पत्तोंकी पङ्क्तियां हैं ॥ १४ ॥

सातों समुद्र इसके आलवालपरिखा (चारों ओरके थाले) हैं, पाताल इसका मूलकोटर है, सत्ययुग आदि चारों युग इसके घुणसमूह हैं तथा प्रत्येक युगके वर्ष, ऋतु और मास आदि इस वृक्षके पोर हैं ॥ १५ ॥

अज्ञान ही इसकी उत्पत्तिकी भूमि है, अनेक जीव इसके करोड़ों पक्षी हैं, भ्रान्तिज्ञान ही इस वृक्षका स्तम्भ है यानी सम्पूर्ण शाखाओंके आधारभूत मध्यभाग है तथा तत्त्वबोधसे प्रपञ्चनिवृत्तिरूपी मोक्ष ही इसे जलानेके लिए दावाग्नि है ॥ १६ ॥

रूपालोकमनस्कारा विविधामोदवृत्तयः ।
वनं विपुलमाकाशं शुक्तिजालं मुखत्वचः ॥ १७ ॥
विचित्रशाखा ऋतव उपशाखा दिशो दश ।
संविद्रसमहापूरो वातस्पन्दो निवर्तनः ॥ १८ ॥
चन्द्रार्करुचयो लोला मज्जनोन्मज्जनोन्मुखाः ।
रम्याः कुसुममञ्जर्यस्तिमिरं भ्रमरभ्रमः ॥ १९ ॥
पातालमाशागणमन्तरिक्ष-
मापूर्य तिष्ठत्यसदेव सद्वत् ।
तस्यानहन्ताग्निहतेहमर्थ-
बीजे पुनर्नास्ति सतोऽपि रोहः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने जगद्वृक्षबीजवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इन्द्रियोंसे अर्थोंकी उपलब्धि यानी विषयोंका साक्षात्कार एवं मनसे होनेवाले सङ्कल्प और विकल्प आदि इस वृक्षके अनेक तरहके सुगन्धप्रसार हैं। अव्याकृत आकाश इसका विपुल वन है तथा नेत्र, ओष्ठ आदिका विकास ही इसके शुक्तिजाल-जैसे फूलोंका खिलना है ॥ १७ ॥

सब ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसो दिशाएँ उपशाखाएँ हैं, आत्म-संवित् इसके जीवनके लिए रसकी धारा है और सूत्रात्मा ही इसका वात-स्पन्द है ॥ १८ ॥

प्रतिदिन उदय और अस्तमें तत्पर चन्द्र और सूर्यकी चञ्चल किरणें ही इसकी रम्य कुसुममञ्जरियाँ हैं और सूर्यके साथ भ्रमण कर रहा अन्धकार ही भ्रमण कर रहे भ्रमर हैं ॥ १९ ॥

इस तरहका यह संसाररूपी वृक्ष मूलसे (जड़से) पातालको, मध्यसे सभी दिशाओंको और अपने मस्तकसे अन्तरिक्षको परिपूर्ण करके वस्तुतः असद्रूप होनेपर भी सद्रूप-सा स्थित है। उस अनहंभावरूपी अग्निसे उसका अहङ्कार-रूपी बीज भुन दिये जानेपर जबतक इस शरीरका पतन नहीं हो जाता तबतक

अष्टमः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

विद्याधर धराधारो गिरिकन्दरमन्दिरः ।
दिगन्तराम्बराचारचारसञ्चारचञ्चुरः ॥ १ ॥
ईदृशोऽयं जगद्वृक्षो जायतेऽहन्त्वबीजतः ।
बीजे ज्ञानाग्निनिर्दग्धे नैव किञ्चन जायते ॥ २ ॥
प्रेक्ष्यमाणं च तन्नास्ति किलाहन्त्वं कदाचन ।
एतावदेव तज्ज्ञानमनेनैव प्रदह्यते ॥ ३ ॥

जीवन्मुक्तिभोगके लिए प्रतिभासके विद्यमान रहते हुए भी इसके संसाररूपी वृक्षका जन्मादिके द्वारा पुनः प्ररोह नहीं हो सकता यानी फिर यह अङ्कुरित नहीं हो सकता ॥ २० ॥

सातवाँ सर्ग समाप्त

—०—

आठवाँ सर्ग

[इस संसाररूपी वृक्षका ज्ञानसे उच्छेद तथा यह संसार सङ्कल्पमण्डपके सदृश है, इसका वर्णन]

पूर्वोक्त संसाररूपी वृक्षका पुनः वर्णन करते हैं—'विद्याधर' इत्यादिसे ।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, जिसका मूलभाग नीचेके सात लोक-सहित यह पृथिवी है, जिसकी आलवालसहित वेदि लोकालोकान्तर पर्वतोंकी कन्दराएँ हैं और जो दसों दिशाओं और आकाशमें तिरछे शाखाओंके विस्तार तथा ऊपरकी ओर शाखाओंके प्रसारसे एवं तत्-तत् स्थानोंमें प्राणियोंके जहाँ-तहाँ घूमनेसे अतिचञ्चल है, इस तरहका यह संसाररूपी वृक्ष अहङ्काररूपी बीजसे उत्पन्न होता है । ज्ञानरूपी अग्निसे बीजके दग्ध हो जानेपर कुछ भी उत्पन्न नहीं होता ॥ १, २ ॥

रत्नकी परीक्षाकी नाईं तत्त्वदृष्टिसे यह क्या है, इसका अच्छी तरह विचार करके 'यह केवल ब्रह्म ही है' यह निश्चय करनेपर वह अहङ्कार कदापि कहीं नहीं रहता, बस यही वह ज्ञान है । इसीसे अहङ्कार दग्ध होता है ॥ ३ ॥

अहन्त्वभावाच्चाहन्त्वमस्ति संसारबीजकम् ।
नाहन्त्वभावान्नाहन्त्वमस्तीतिज्ञानमुत्तमम् ॥ ४ ॥
सर्गादावेव सर्गस्य किलास्याभावयोगतः ।
कुतोऽहन्त्वं कुतस्त्वन्त्वं कुतो द्वित्वैक्यविभ्रमः ॥ ५ ॥
समाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं यतन्ते ये स्वयत्नतः ।
सङ्कल्पत्यागमामूलं पदं प्राप्तौ जयन्ति ते ॥ ६ ॥
रन्धनाज्जयमाप्नोति स्वशास्त्रे सूपकृत्कृते ।
विवेकी स्वविवेकित्वं यतनादेव नान्यथा ॥ ७ ॥

शरीर आदिमें अहंभावना करनेसे संसारका बीज अहङ्कार रहता है और सर्वत्र अनहंभाव करनेसे वह नहीं रहता, यही सर्वोत्तम ज्ञान है ॥ ४ ॥

सत् या असत्से जिसकी उत्पत्तिकी ही संभावना नहीं है उसकी भला स्थिति ही कहाँसे हो सकती है, वह तो बहुत दूर कहीं भगा दी गई है, यह कहते हैं—'सर्गादावेव' इत्यादिसे ।

वस्तुतः जब सृष्टिके प्रारम्भमें ही इस सृष्टिके अभावका योग है तब भला कहाँसे अहन्ता, कहाँसे त्वन्ता और कहाँसे हो सकता है द्वित्व और एकत्वका भ्रम ! ॥ ५ ॥

यह संसार तीनों कालमें वस्तुतः है ही नहीं, इस पूर्वोक्त अर्थको दृढ़ करनेके लिए सङ्कल्पद्यूतमण्डपका आगे चलकर वर्णन करनेकी इच्छा कर रहे भुशुण्डजी महाराज पहले भूमिका बांधते हैं—'समाकर्ण्य' इत्यादिसे ।

आगे चलकर वर्णित होनेवाले तथा पूर्वमें वर्णित हो चुके मूलसहित सङ्कल्पका त्याग करनेके लिए उसका उपायक्रम बतलानेवाले गुरुके वाक्य सुनकर उस गुरु द्वारा कहे गये क्रमसे जो अपने प्रयत्न द्वारा स्वयं यत्न करते हैं वे तत्त्वज्ञानप्राप्तिके बाद सङ्कल्परहित कैवल्यनामक परमपदको जीत लेते हैं ॥ ६ ॥

जैसे पाचक अपने पाकशास्त्रका भलीभांति अभ्यास कर लेनेपर उस पाकशास्त्रमें वर्णित विधिसे ही नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थों एवं नाना तरहके रसायनोंका पाक बनानेसे क्षुधा, तृष्णा, रोग, जरा आदिके ऊपर विजय प्राप्त करता है तथा बड़े-बड़े राजाओंके यहां सम्मान प्राप्त करता है वैसे ही विवेकी पुरुष गुरु-शास्त्रोक्त मार्गसे अपने प्रयत्न द्वारा ही कैवल्य पदको प्राप्त करता है, दूसरी रीतिसे नहीं ॥ ७ ॥

चिच्चमत्कारमात्रं त्वं जगद्विद्धीह नेतरत् ।
नाशासु न बहिर्नान्तरेतत्क्वचन विद्यते ॥ ८ ॥
सङ्कल्पोन्मेषमात्रेण जगच्चित्रं विलोक्यते ।
तदनुन्मेषविलयि चित्रकृच्चित्तचित्रवत् ॥ ९ ॥
मण्डपोऽस्ति महास्तम्भो मुक्तामणिविनिर्मितः ।
बहुयोजनलक्षाणि कान्तकाञ्चनचित्रितः ॥ १० ॥
मणिस्तम्भसहस्रेण वृतोऽग्रे प्रोतमेरुणा ।
इन्द्रायुधसहस्राढ्यकल्पसन्ध्याभ्रसुन्दरः ॥ ११ ॥

यह सारा संसार स्वप्न एवं इन्द्रजाल आदिके सदृश अज्ञात चितिका चमत्कारमात्र है, इस चितिसे बाहर कुछ भी नहीं है, यह कहते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, इस संसारको तुम यहां एकमात्र चितिका चमत्कार ही समझो, उससे भिन्न कुछ नहीं । यह न तो दिशाओंमें है, न बाहर है और न भीतर ही कहीं है ॥ ८ ॥

यह सारा प्रपञ्च चितिका एकमात्र चमत्कार ही है, इसका उपपादन करते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पके एकमात्र आविर्भावसे ही यह संसाररूपी चित्र दिखाई देता है और उसके अभावसे इस तरह विलीन हो जाता है, जिस तरह कि चित्रकारके चित्तमें चित्र ॥ ९ ॥

यह सारा संसार सङ्कल्पमात्र कल्पित है, इस कथनको दृढ़ बनानेके लिए संसारमें सङ्कल्पभूतमण्डपके आकारकी कल्पना करते हैं—'मण्डपो०' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, यह संसार मुक्ता और मणियोंसे विनिर्मित, बड़े-बड़े खम्भोंसे युक्त तथा सुन्दर सुवर्णसे चित्रित लाखों योजनमें बहुत दूरतक विस्तृत सङ्कल्पकल्पित एक महामण्डप है ॥ १० ॥

यह हजारों मणिमय खम्भोंसे घिरा है, जिसके अग्रभागमें नीचे मुँह करके पिरोये गये सुमेरुकी नाईं गुगुल लगे हुए हैं । यही कारण है कि कहीं-कहीं हजारों इन्द्रधनुषसे व्याप्त-जैसा तथा कहीं-कहीं प्रलयकालीन सन्ध्याके मेघों-जैसा यह सुन्दर दीखता है ॥ ११ ॥

स्त्रीबालपुरुषादीनां वास्तव्यानामितस्ततः ।
क्रीडार्थं स्थापिता यत्र नानारचनयान्तरे ॥ १२ ॥
भूतबीजपरापूर्णास्तमोरिपुसघुङ्घुमाः ।
तमःप्रकाशचित्राख्या लोकान्तरसमुद्गकाः ॥ १३ ॥
आमोदसुभगालोलजलदावलिपल्लवाः ।
लीलापद्माकरे स्त्रीणां विलूनाः कल्पपादपाः ॥ १४ ॥
बालनिःश्वासचलिताः कन्दुकानि कुलाचलाः ।
सन्ध्याम्बुदाः कर्णपूराश्चामराः शरदम्बुदाः ॥ १५ ॥
कल्पान्तकालजलदास्तालवृन्तपदं गताः ।
भूतलं द्यूतफलकं वितानं तारकाम्बरम् ॥ १६ ॥

जिसके भीतर इधर-उधर निवास कर रहे स्त्री, बालक तथा पुरुषोंकी क्रीड़ाके लिए पाताल, स्वर्ग एवं अन्य लोकोंके आकारकी पेटारियां स्थापित की गई हैं, जो बीच-बीचमें जहां-तहां नानाविध नदियों, पर्वतों, जंगलों, हाथियों, घोड़ों, देवताओं, पक्षियों तथा मनुष्यों आदिकी तरह-तरहकी रचनाओंसे युक्त हैं, वे पेटारियां कहीं प्राणियों तथा उनके उपभोगकी वस्तुओंसे ठसाठस भरी हैं, कहीं अन्धकारके विघातक मणियों, प्रदीपों, सूर्य और चन्द्र आदिकोंके द्वारा व्यवहार चलनेसे शब्दयुक्त हैं एवं कहीं अन्धकारों तथा कहीं प्रकाशोंसे उनकी विचित्र तरह-तरहकी संज्ञाएँ पड़ी हैं ॥ १२, १३ ॥

क्रीडालक्ष्मीके आकरभूत जिस मण्डपके भीतर स्त्रियोंके शृङ्गारके लिए कर्णफूल आदि अलङ्कार प्रदान करनेवाले, सुगन्धसे रमणीय, चञ्चल मेघपङ्क्तिरूपी पल्लवोंसे युक्त अनेक कल्पवृक्ष लगाये गये हैं ॥ १४ ॥

छोटे-छोटे बच्चोंके निःश्वाससे भी उड़ जानेवाले जहांपर कुलपर्वत गेंद बनाये गये हैं, सन्ध्याकालीन मेघ जहांपर दिशारूपी वधुओंके कर्णफूल बनाये गये हैं और शरत्कालके मेघ ही जिनके हाथमें चँवर धरा दिये गये हैं ॥ १५ ॥

हे विद्याधर, जिस मण्डपमें कल्पके अन्तकालके मेघोंने पंखोंके स्थाने दखल कर लिये हैं, जहां यह सम्पूर्णभूतल जुआ खेलनेका एक मेज है, जहां तारोंके सहित आकाश चाँदनी है ॥ १६ ॥

भूतशारपरावर्ते द्यूतेऽक्षाः शशिमानवः ।
व्योमाजिरे जगद्भासपणे गृहनिवासिनाम् ॥ १७ ॥
इति सङ्कल्प एवान्तश्चिरभावनया यथा ।
अग्रस्थदृश्योपमया सत्यतामिव गच्छति ॥ १८ ॥
तथैवायं जगद्रूपः सङ्कल्पैः सुसमुत्थितः ।
चिच्चमत्कारमात्रात्मा चित्रकृच्चित्तचित्रवत् ॥ १९ ॥
असत्यमेव स्फुरति सर्वमस्ति च नास्ति च ।
असदुत्थित एवायं कुतोऽपीह समुत्थितः ॥ २० ॥
हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः ।
चिच्चमत्कार एवायमविकल्पनसंक्षयः ॥ २१ ॥

जिस मण्डपके भीतर आकाशरूप चौकमें जहां संसारके आविर्भाव और तिरोभावप्रत्ययरूप दावँ लगाये जा रहे हैं और खेलनेवाले ब्रह्मादि मण्डप-स्वामियोंके जिस जुएमें चार प्रकारके जीवसमुदायोंरूपी शारिफलोंका बार-बार जन्म-मरण आदिके द्वारा भ्रमण हो रहा है तथा सूर्य, चन्द्र आदि नवग्रह ही पाशे जहां हैं ॥ १७ ॥

इस तरह सङ्कल्प करनेवालेका सङ्कल्प ही अन्तःकरणमें चिर कालकी भावनासे जैसे सामने स्थित दृश्यके तुल्य एक तरहसे सत्यताको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही धाताके सङ्कल्पोंसे सुसमुत्थित यह जगद्रूपी मण्डप चितिका एकमात्र चमत्कारस्वरूप—चित्रकारके चित्तमें बनाये गये चित्रके तुल्य—है ॥१८,१९॥

जो कुछ यहां फुरित हो रहा है वह सब असत्यरूप ही है । वह प्रति-भाससे सत्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थरूपसे तो बिलकुल है ही नहीं । यह असत् ही उत्पन्न हुआ है; न जाने कहांसे मायाके हाथी, घोड़ेकी नाईं यहां उत्पन्न हो गया है ॥ २० ॥

जैसे सुवर्णमें कटक आदि है वैसे ही जिसने अपने उदरकोटरमें संसारको धारण कर रखा है ऐसा यह चितिका चमत्कार ही सब कुछ है तथा सङ्कल्प-विकल्प न करनेसे ही इसका नाश होता है ॥ २१ ॥

अत्यन्तमेव स्वायत्तो यथेच्छसि तथा कुरु ।
यश्चान्नपानदानादावनादरमुपेयिवान् ।
तस्येदं पश्चिमं जन्म न स कर्म समुज्झति ॥ २२ ॥
प्राप्तो विवेकपदवीमसि पावनात्म-
न्पुण्यां पवित्रितजगत्त्रितयां द्वितीयाम् ।
नाधःपतिष्यसि पुनर्मनसाऽमुनेति
जानामि मौनममलं पदमुत्सृज त्वम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने मायामण्डपवर्णनं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस तरह इस संसारकी उत्पत्ति और नाश तत्त्वज्ञानियोंकी अपनी इच्छाके अत्यन्त ही अधीन है यानी तत्त्वज्ञानियोंके अपने ऐच्छिक विकल्पोंसे इसका आविर्भाव तथा अविकल्पोंसे तिरोभाव होना अत्यन्त ही अपने अधीन है, इसलिए हे विद्याधर, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। जो पुरुष अन्न-पानादि ऐहिक भोगसामग्रियोंमें तथा दान, यज्ञ आदि पारलौकिक भोगसाम-ग्रियोंमें फलोंकी अनभिसन्धिको प्राप्त हो चुका है यानी जो पुरुष इस लोक तथा परलोकके कर्मफलोंकी इच्छासे शून्य हो चुका है वह कर्मोंका कभी त्याग नहीं करता यानी फलप्राप्तिकी इच्छासे शून्य होकर वह कर्म करते ही चलता है। हे विद्याधर, ऐसे उस पुरुषका यह अन्तिम जन्म समझो ॥ २२ ॥

विवेकज्ञानप्राप्तिसे ही तुम्हें मुक्ति अवश्य मिल सकती है, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ, यों पुनर्जन्मादिकी संभावनासे भयभीत हुए उस विद्याधरको आश्वासन देते हैं—'प्राप्तो' इत्यादिसे ।

हे शुद्धबुद्धे, अपने पतनके हेतुभूत अविवेक पदकी अपेक्षा न करके तीनों जगत्को पवित्र करनेवाली इस दूसरी पुण्यमय विवेकपदवीमें तुम प्राप्त हो चुके हो, अतः इस मनसे तो तुम फिर अधःपतनमें नहीं गिर सकते हो, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। इसलिए तुम वाणी और मनकी चेष्टासे शून्य निर्मल चिन्मात्रपदका अवलम्बन करके मन आदि इस दृश्यसमूहका परित्याग कर दो ॥ २३ ॥

आठवाँ सर्ग समाप्त



नवमः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

अबुद्धयमानश्चेत्यादिचिद्रूपमपि चानघ ।
शान्तचिद्घन एवाऽऽस्व निर्मलाप्स्वन्तरंशुवत् ॥ १ ॥
अचेतनं चेतनान्तश्चेतनादेव विद्यते ।
स्वेऽसादृश्येऽपि सदृशं पयोराशौ यथाऽनलः ॥ २ ॥

नवाँ सर्ग

[चितिके अधीन जगत्का उदय, ध्वंस, सत्ता, स्फूर्ति तथा परिवर्तन है और यह सारा विश्व चिन्मात्र चितिका स्फुरण है—यह वर्णन]

'हेम्नीव कटकादित्वं संसारोदरकोटरः' । चिच्चमत्कार एवायमविकल्पनसंक्षयः ॥' [नि० प्र० उत्त० सर्ग ८।२१] यह जो कहा गया है सो, इन दोनोंका अनुभव करानेकी इच्छा कर रहे भुशुण्डजी अविकल्पकी रीतिका सबसे पहले उपदेश दे रहे हैं—'अबुद्ध्यमान०' इत्यादिसे ।

हे निष्पाप विद्याधर, विषयों तथा विषयोंमें रहनेवाले क्रिया, गुण, दोष आदिके प्रकाशक चिद्रूपका तनिक भी स्मरण न करते हुए तुम निर्मल जलमें प्रविष्ट सूर्यकी किरणोंकी नाईं सर्वविध तापशून्य प्रकाशमात्रावशेष होकर बैठे रहो ॥ १ ॥

'संसारोदरकोटरः' चिच्चमत्कार एवायम्' इसका भी उपपत्तिपूर्वक अनुभव कराते हैं—'अचेतनम्' इत्यादिसे ।

जाड्यदुःखपरिणामित्वादिरूप अपना चितिका असादृश्य रहनेपर भी तत्सदृश यह सारा दृश्यप्रपञ्च चेतनाके कारण ही चेतनके भीतर, समुद्रमें अग्निके सदृश विद्यमान है, अन्यत्र नहीं । तात्पर्य यह है कि यदि अन्यत्र यह विद्यमान होता, तो उससे असम्बद्ध चेतनाके द्वारा इसका प्रकाश कभी नहीं होता और ऐसा कोई पदार्थ है नहीं, जो अचेत्यमान सिद्ध हो सके तथा चेतना सक्रिया भी नही है, जिससे कि अन्यत्र विषयोंमें जाकर चैतन्य प्रदान कर सके । यदि वह चेतना सर्वगत मान ली जाती है, तब तो हे विद्याधर, हमारी प्रतिज्ञा सिद्ध हो चुकी, यह तुम समझ लो ॥ २ ॥

सचेतनाचेतनयोर्हेतुश्चित्त्वात्तथैव चित् ।
विनाशोत्पादयोर्वह्निज्वालायाः पवनो यथा ॥ ३ ॥
नाहमस्तीति चिद्रूपं चिति विश्रान्तिरस्तु ते ।
ततो यथा यादृशेन भूयते तादृशो भव ॥ ४ ॥
चिद्रूपः सर्वभावानामन्तर्बहिरसि स्थितः ।
प्रसन्नाम्बुभरस्यान्तर्बहिश्चैव यथा पयः ॥ ५ ॥
नाहमस्तीति चिद्रूपं चितौ चेल्लग्नमङ्ग ते ।
न चान्यचेतितं ब्रह्मरूपं केनोपमीयते ॥ ६ ॥

इस तरह सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चकी देशतः स्थिति चितिके अन्दर सिद्धकर अब उसे कालतः सूचित करते हुए चितिकी कार्यता सिद्ध करते हैं—'सचेतना०' इत्यादिसे ।

चिति अपनी चेतनाशक्तिसे सचेतन और अचेतन पदार्थोंकी पूर्वके ही समान हेतु (विवर्तोपादान) ऐसे हैं, जैसे कि अग्निज्वालाके विनाश और उत्पत्तिका हेतु पवन है । तात्पर्य यह है कि चितिका विवर्त ही चितिका चमत्कार है ॥ ३ ॥

इसमें 'अहम्' इस सचेतनांशके त्याग द्वारा ही सचेतन और अचेतन दोनों अंशोंके त्यागकी सिद्धि हो जानेसे चिन्मात्रकी अवस्थिति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'नाहम्' इत्यादिसे ।

अहम्पदार्थ कुछ नहीं है, यों अहङ्कारके आस्पद अंशका बाध करके प्रत्यक् चिद्रूपको शेष रखकर विकल्पके हेतुओंके क्षयसे ही विकल्पनिर्मुक्त पूर्ण-चितिमें तुम्हारी विश्रान्ति हो जाय । शेष बचे प्रारब्धका क्षय होनेपर तो जिस रूपसे स्थित रह सकते हो, उसी रूपसे तुम स्थित रहो ॥ ४ ॥

जलसे पूर्ण दूधका जल नष्ट हो जानेपर भी जो रूप शेष रहता है उसीके समान तुम्हारा अनुपम ब्रह्मरूप ही शेषरूपसे रहता है । यह कहते हैं—'चिद्रूपः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे स्वच्छ जलसमूहके बाहर और भीतर सब जगह जल ही जल दीखता रहता है वैसे ही समस्त पदार्थोंके बाहर और भीतर चिद्रूपसे तुम्हीं स्थित दीखते हो ॥ ५ ॥

हे विद्याधर, यह अहंपदार्थ बिलकुल नहीं है, यों अहङ्कारका त्याग कर

ससुरासुरपातालभूविष्टपमिवोषितम् ।
नानाभावाजवीभावक्रियाकालमिवाऽऽकुलम् ॥ ७ ॥
यथा रङ्गमयं कुड्ये जगन्मौनमिव स्थितम् ।
तथा चिच्चित्रकचितं खे कुड्ये चात्मसंस्थितम् ॥ ८ ॥
तेनैव भूयते भूरि यच्चित्तं कचितं स्वतः ।
अचेतनं चेतनं वा यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ९ ॥
चिच्चमत्कृतयो व्योम्नि स्फुरन्त्येता जगत्तया ।
अर्कांशुवदरोधिन्यः स्वच्छा विदितवेदिनाम् ॥ १० ॥

यदि तुम्हारा चिद्रूप चितिमें पूर्ण ऐक्यको प्राप्त हो जाय, तो बताओ तो सही, तुम्हारे सिवा भला ऐसी प्रकाशित कौन-सी दूसरी वस्तु है, जिससे कि किसी अन्यके साथ ब्रह्मरूप तुम्हारी उपमा दी जाय ? ॥ ६ ॥

सुर और असुरोंसे व्याप्त पाताल, पृथिवी और स्वर्गकी नाईं स्थित एवं प्रीति, हर्ष, क्रोध, युद्ध, जय, पराजय आदि नाना भावोंसे तथा पलायन, अनुधावन आदि अत्यन्त वेगपूर्वक दौड़ने आदि भावोंसे व्याप्त तत्-तत् अनुरूप क्रियाकालसे व्याकुल हुआ-सा रङ्गमय चित्रमें लिखित जगत्, भित्तिमें लिखित मुनिशरीरकी नाईं, जैसे व्यापारशून्य ही स्थित रहता है ; वैसे ही मायाशबल चितिरूपी चित्रकारके द्वारा विरचित यह जगद्रूपी चित्र भी शुद्ध चिदाकाशरूपी भित्तिमें विकारशून्य अद्वयात्मरूपसे ही संस्थित है, जगद्भावसे नहीं ॥ ७, ८ ॥

अचेतन या चेतन (मिथ्या जगद्रूप या परमार्थ सद्ब्रह्मरूप) जो ही अपने-आप चितिमें चित्रित होता है वही सब चेतनरूप हो जाता है । ये दोनों तुम्हारे अधीन हैं, अब इनमें जो तुम चाहो, सो करो—तुम्हारी इच्छा हो, तो समाधि लगाओ या न हो, तो उससे विरक्त हो जाओ ॥ ९ ॥

अज्ञानियोंकी अपेक्षा तत्त्वज्ञानियोंमें सिर्फ यही विशेष रहता है कि जैसे मरुस्थलमें महानदी आदिके रूपसे दिखाई दे रही सूर्यकी किरणें मज्जन, मरण आदिका भय उत्पन्न हो जानेपर उनको तैर जानेका कोई समुचित उपाय न सूझनेसे मरुस्थलका ज्ञान न रखनेवालोंको तटके इधर ही रोक रखती हैं; जिन महापुरुषोंको मरुस्थलका असली ज्ञान हो चुका है उन्हें नहीं, उन्हें तो स्वच्छ-भासती हैं; वैसे ही एकके विज्ञानसे तत्त्वतः सबका विज्ञान हो जानेपर तत्त्व-

तिमिराक्रान्तदृष्टीनां यथा केशोण्डुकादि खे।
स्फुरत्येवं जगद्रूपमनात्मन्येव तिष्ठताम् ॥ ११ ॥

एवं जगत्त्वमहमित्यवबोधरूप-
मामासमात्रमुदितं न च नोदितं च।
अर्कांशुजालरचना नगराभमत्र
कुड्यादि सत्यमिदमस्ति न खे लतेव ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने चित्कचनयोगोपदेशो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

ज्ञानियोंको, चिदाकाशमें स्फुरित हो रही ये चितिकी चमत्कृतियां कुछ भी बाधा नहीं पहुँचातीं। उन्हें तो बिलकुल स्वच्छ मालूम पड़ती हैं, किन्तु अज्ञानियोंको तो अवश्य ही बाधा पहुँचाती हैं ॥ १० ॥

अज्ञानियोंको तो बाधा पहुँचाती ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'तिमिर०' इत्यादिसे।

तिमिर रोगसे आक्रान्त नेत्रोंवाले पुरुषोंको आकाशमें जैसे केशोण्डुक आदि स्फुरित होते हैं, वैसे ही संसारमें ही अवस्थित रहनेवाले अज्ञानी पुरुषोंको यह जगद्रूप स्फुरित होता है [ज्ञानी पुरुषोंको नहीं, वे तो सबको ब्रह्मरूपसे ही देखते हैं] ॥ ११ ॥

'मरुस्थलमें सूर्यकी किरणोंकी नाईं' यह जो ऊपरमें दृष्टान्त बतलाया गया है उसका दूसरी रीतिसे भी वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे विद्याधर, यों 'तुम और मैं' इत्याकारक अवबोधस्वरूप यह जगत् आभासमात्र यानी पूर्ववर्णित चितिका एकमात्र चमत्कार ही है, अतः यह अज्ञानियोंकी दृष्टिसे ही उत्पन्न हुआ है, ज्ञानियोंकी दृष्टिसे नहीं। एकमात्र सूर्यकी किरणोंसे जिसकी रचना हुई है ऐसे गन्धर्वनगरके समान इस व्यवहारभूमिमें कुड्य आदि जगत है। जगद्रूपसे तो यह सब आकाशमें लताकी नाईं बिलकुल सत्य नहीं है [अतः यह

दशमः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

विद्धि त्वं चेतनादेव चेतनेतरचेतनम् ।
जलेऽग्निरिव चिज्जाड्ये नातो भिन्ने मनागपि ॥ १ ॥
तद्वेदनावेदनयोरभेदात्स्वस्थमास्यताम् ।
निर्यन्त्रमेव चित्रस्थज्ञप्तिवद्व्योममध्यवत् ॥ २ ॥

जगत् चितिका निरोधक नहीं है । हे विद्याधर, मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि इस तरह चितिकी अपरिच्छिन्नता सिद्ध हो चुकी है] ॥ १२ ॥

नवाँ सर्ग समाप्त

दसवाँ सर्ग

[निर्विकार और कारणशून्य ब्रह्म ही यह सब स्थित है, यह जगत् कभी कहीं नहीं था, यह वर्णन]

ब्रह्ममें जगत्का अपलाप सिद्ध करनेके निमित्त उसकी जड़ताका खण्डन करनेके लिए जड़रूपसे अभिमत जगत्की चिद्रूपताका अनुभव कराते हैं—'विद्धि' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, चेतनसे भिन्न माने गये इस जगत्के स्फुरणको तुम चेतनसे ही उत्पन्न जानो, क्योंकि चेतनता स्फुरणरूप ही होती है* । जैसे जलमें प्रतिबिम्बित अग्नि जलसे भिन्न नहीं है वैसे ही यह जगत् भी चेतनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है । अतः चैतन्य और जाड्य ये दोनों तनिक भी भिन्न नहीं हैं यानी जलकी शीतलतासे अलग प्रतिबिम्बभूत अग्निकी गरमीकी नाईं चैतन्यसे तनिक भी अलग जाड्यनामकी कोई दूसरी वस्तु नहीं है ॥ १ ॥

एकमात्र जाड्यके अपलापसे ही जगत्का अपलाप सिद्ध करके विक्षेपशून्य होकर स्थित रहो, यह कहते हैं—'तद्वेदना॰' इत्यादिसे ।

इसलिए हे विद्याधर, ज्ञान और अज्ञानमें अभेद होनेसे परिच्छेदशून्य

---

* तात्पर्य यह है कि यदि वह जगद्रूप स्फुरित होता है, तो फिर वह चेतन ही है, चेतनसे इतर नहीं है ।

ब्रह्मण्यशेषशक्तित्वादचित्त्वं विद्यते तथा ।
अक्षुब्धे विमले तोये भाविफेनलवो यथा ॥ ३ ॥
न कारणं विनोदेति जलात्फेनलवो यथा ।
न कारणं विनोदेति सर्गादि ब्रह्मणस्तथा ॥ ४ ॥
न च कारणमस्त्यत्र सर्गवृत्तावकारणे ।
नातः सञ्जायते किञ्चिज्जगदादिर्न नश्यति ॥ ५ ॥
अत्यन्तं कारणाभावान्न किञ्चिज्जायते जगत् ।
मरावम्भ्विव नास्त्येव दृष्टमप्यग्रतो जगत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मानन्तमजं शान्तमतोऽस्तीदं न सर्गधीः ।
कारणाभावतस्तेन ब्रह्मैवेदमखण्डितम् ॥ ७ ॥

चित्रकारके चित्तमें बने हुए चित्रस्थ उसके ज्ञान या गन्धर्वनगरके अधिष्ठान आकाशके मध्यके समान स्वस्थ स्थित रहो ॥ २ ॥

'प्रलयकालमें भी अचिद्रूप जगत् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें स्थित रहता ही है'—ये जो श्रुति और स्मृतिमें वचन मिलते हैं वे मायाशबलके सर्वशक्तिसम्पन्न होनेके कारण असत्य पदार्थोंमें भी ब्रह्मसत्ताकी आरोपदृष्टिसे ही व्यवहृत हुए मिलते हैं, जैसे कि भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले जलके स्वरूप फेनमें वर्तमानकालमें उपस्थित जलकी सत्तासे सत्ताव्यवहार मिलता है, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—'ब्रह्मणि' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न होनेके कारण ब्रह्ममें अचित्त्व उसी तरह रहता है, जिस तरह अक्षुब्ध निर्मल जलमें भविष्यत् फेनलव ॥ ३ ॥

वास्तविक दृष्टिसे तो मायाके असत्त्व होनेके कारण निर्विकार अद्वितीय वस्तुमें किसी तरहका क्षोभ और उसका हेतु न होनेसे जड़सृष्टिकी उत्पत्तिकी संभावना ही नहीं है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

कारणके बिना जैसे जलमें फेनका लेश उदित नहीं होता, वैसे ही कारणके बिना ब्रह्मसे सर्ग आदि भी उदित नहीं होता ॥ ४ ॥

तथा इस सृष्टिरचनामें अकारण ब्रह्ममें कोई कारण नहीं है । जगत् आदि कुछ भी इससे न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है ॥ ५ ॥

कारणका अत्यन्ताभाव होनेसे जगत् आदि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता । मरुस्थलमें जलकी नाईं सामने देखा गया भी यह जगत् सर्वथा नहीं ही है ॥ ६ ॥

अज, शान्त और अनन्त ब्रह्म ही सब कुछ है, अतः कारणका अभाव

अतः शिलोदराभोऽसि व्योमकोशोपमोऽपि च ।
ब्रह्मैकघनरूपत्वादजोऽनवयवोऽसि च ॥ ८ ॥
ज्ञोऽसि किञ्चिन्न किञ्चिद्वा निःशङ्कमलमास्यताम् ।
अचेतनाचिदाभासे शाम्यतामात्मनाऽऽत्मनि ॥ ९ ॥
नित्यानन्दतयाऽजस्य कारणं नास्ति कार्यकृत् ।
सर्गाद्यसंभवे तस्माद्यदस्ति तदजं शिवम् ॥ १० ॥
अजो येषां तु चिद्रूपो नास्ति मौर्ख्यविलासिनाम् ।
सर्गनाशे समुत्पन्ने किं तेषां प्रविचार्यते ॥ ११ ॥

होनेसे यह निश्चित हो गया है कि सर्गबुद्धि भी नहीं है। चूँकि यह जगत् आदि कुछ भी नहीं है, इसलिए यह सिद्ध है कि एकमात्र अखण्डित ब्रह्म ही सब कुछ है ॥ ७ ॥

इसलिए हे विद्याधर, तुम शिलाके उदरके समान तथा आकाशकोशके सदृश हो। ब्रह्मैकघनस्वरूप होनेके कारण तुम अज और अवयवरहित भी हो ॥ ८ ॥

हे विद्याधर, तुम ज्ञानरूप हो, किसी एक विशेषरूपका निश्चय न होनेसे सबमें अनुगत सत्तासामान्यस्वरूप होनेके कारण तुम किञ्चिद्रूप तो अवश्य ही हो तथा विशेषका बाध होनेपर सत्तासामान्यकी भी निवृत्ति हो जानेसे एवं एकरूपका निश्चय हो जानेसे किञ्चिद्रूप भी नहीं हो। हे विद्याधर, बुद्धि तथा चिदाभासशून्य इस आत्मामें अपने-आप शान्त हो जाओ ॥ ९ ॥

प्रयोजनकी अपेक्षा न होनेसे भी यह सृष्टि नहीं है, यह कहते हैं— 'नित्यानन्दतया' इत्यादिसे ।

अज परमात्माके नित्यानन्दस्वरूप होनेके कारण कार्यसम्पादन करनेवाला कोई कारण नहीं है—क्रियानिमित्त कोई फल नहीं है । इसलिए सृष्टि आदिका संभव न होनेपर जो कुछ है, वह सब अज शिवस्वरूप ही है ॥ १० ॥

इस तरह तत्त्वदृष्टिसे नित्यमुक्तताकी सिद्धिका उपपादन करके इसका स्वीकार न करनेपर मूर्खोंमें नित्यबद्धताकी प्रसक्ति अनिवार्य होगी यानी मूर्ख सब नित्य-बद्ध अवश्य रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं, यह कहते हैं—'अजो' इत्यादिसे ।

अपनी मूर्खतामें विलास करनेवाले जिन जीवोंकी दृष्टिमें अजन्मा चिद्रूप

यत्र यत्र परं ब्रह्म तत्र सन्ति जगन्ति हि।
जगच्छब्दार्थरूपेण मुक्तान्येवं विधानि च॥ १२॥
तृणे काष्ठे जले कुड्ये सर्वत्रैव परं स्थितम्।
सर्वत्रैव च सर्गौघः परिप्रोतः स्थितो मिथः॥ १३॥
ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसाविति वक्तुं न युज्यते।
अनन्ते परमे तत्त्वे स्वत्वास्वत्वात्यसम्भवात्॥ १४॥
अभावसव्यपेक्षस्य भावस्यासम्भवादपि।
पदं बध्नन्ति नानन्ते स्वभावाद्या दुरुक्तयः॥ १५॥

नहीं है उनके लिए सृष्टिके नाश या उत्पत्तिके विषयमें क्या विचार किया जाय? तात्पर्य यह है कि अनिर्मोक्ष दोषकी सत्ता बनी रहनेसे उनके विषयमें मोक्षोपायकी चिन्ता बिलकुल व्यर्थ है॥ ११॥

अर्धप्रबुद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे जैसी संसारकी स्थिति रहती है, उसे कहते हैं—'यत्र यत्र' इत्यादिसे।

जहाँ-जहाँ परब्रह्म है वहाँ-वहाँ जगत्के शब्दार्थरूपसे शून्य इस तरहके अनेकों जगत् हैं ही॥ १२॥

तृण, काष्ठ, जल और भित्तिमें सर्वत्र ही परब्रह्म स्थित है तथा सभी जगहोंमें सृष्टिका समूह परस्पर गुथा हुआ स्थित है॥ १३॥

तब तो ऐसी दशामें ब्रह्मका मिथ्यासर्ग ही स्वभाव कहिये, हानि क्या है, इस आशङ्कापर 'नहीं' यह कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे।

ब्रह्मका क्या स्वभाव* है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त परम ब्रह्मतत्त्वमें स्वत्व और अस्वत्व दोनोंका रहना अत्यन्त असंभव है॥१४॥

व्यावर्तकमें 'स्व' शब्दका असंघटन कहकर 'भाव' शब्दका असंघटन भी दिखलाते हैं—'अभाव०' इत्यादिसे।

अभावकी अपेक्षा रखनेवाले 'भाव' का भी सम्भव न होनेसे अनन्त परब्रह्ममें स्वभाव आदि दुरुक्तियाँ अपना पैर नहीं जमा सकतीं॥ १५॥

* अपना जो व्यावर्तक धर्म है उसे स्वभाव कहते हैं। उस स्वभावकी धर्मता अस्वभावके व्यावर्तकरूपसे ही कहनी पड़ेगी, इसलिए यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मका क्या स्वभाव है, क्योंकि उसमें स्वत्वास्वत्व नहीं है।

अस्वत्वाभावयोर्नित्येऽनन्तेऽत्यन्तमसम्भवात् ।
स्वत्वभावेषु सिद्धेषु स्वभावोक्तिर्न तिष्ठति ॥ १६ ॥
नाहन्त्वं लभ्यते साधो बुद्ध्यालोके निरीक्षितम् ।
असदेव कुतोऽप्येतद्बालयक्ष इवोदितम् ॥ १७ ॥
मुक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैर्लभ्यते यच्च तत्परम् ।
युक्तं त्वहन्त्वशब्दार्थैः प्रेक्ष्यमाणं विलीयते ॥ १८ ॥
भेदो जगद्ब्रह्मदृशोरभेदः
पर्यायशब्दार्थविलासतुल्यः ।
सङ्कल्पमात्रं कथितो न सत्यो
यथाऽनयोर्वै कटकत्वहेम्नोः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने स्वर्गापवर्गप्रतिपत्तियोगोपदेशो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

व्यावर्त्य पदार्थकी प्रसिद्धि न रहनेसे भी 'स्व' और 'भाव' इन दोनों पदोंका संघटन नहीं बैठता, यह कहते हैं—'अस्वत्वा०' इत्यादिसे ।

नित्य, अनन्त परब्रह्ममें अस्वत्व और अभाव—इन दोनोंका अत्यन्त सम्भव न होनेसे स्वतःसिद्ध अव्यावर्तक स्वत्व और भावोंमें व्यवहृत 'स्वभाव' शब्दका प्रयोग लोकमें नहीं बैठता । कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वभावशब्दका जो तात्त्विक अर्थ है वह लोकमें बिलकुल नहीं घटता ॥ १६ ॥

जिस तरह ब्रह्ममें सृष्टि आदिकी सिद्धि न होनेसे वह अद्वय सिद्ध होता है उसी तरह प्रत्यगात्मा जीवमें भी अहन्ता आदिकी सिद्धि न होनेसे वह अद्वय सिद्ध होता है, यों दोनों तरहसे विचार होनेपर अखण्डता ही सिद्ध होती है, इस आशयसे कहते हैं—'नाहन्त्वम्' इत्यादिसे ।

हे साधो, बुद्धिसे विचारकर देखनेपर तो अहन्ता कहीं नहीं उपलब्ध होती है । बच्चेके सामने बेतालके सदृश असद्रूप ही यह कहींसे आ टपकी है ॥१७॥

अहन्ताके शब्दार्थोंसे मुक्त जो उपलब्ध होता है वह परब्रह्म ही है तथा अहन्ताके शब्दार्थोंसे युक्त जो उपलब्ध होता है वह शास्त्र और आचार्यके अनुभवसे परीक्षा करके तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर तो विलीन हो जाता है ॥ १८ ॥

इस दृष्टिसे जैसे जाड्य चित्स्वभावको प्राप्त है वैसे ही जीव और जगत्का

एकादशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

शस्त्राणि दयिताङ्गानि लग्नान्यङ्गे निरम्बरे ।
यो बुध्यमानः सुसमः स परस्मिन्पदे स्थितः ॥ १ ॥
तावत्पुरुषयत्नेन धैर्येणाभ्यासमाहरेत् ।
यावत्सुपुष्टतोदेति पदार्थोंदयनं प्रति ॥ २ ॥

भेद भी अभेदस्वरूपताको ही प्राप्त है, यही दिखलानेके लिए सुवर्ण और कटकमें अभेददृष्टान्त पहले अनेक बार कहे जा चुके हैं, इसी अभिप्रायसे अब उपसंहार भी करते हैं—'भेदो' इत्यादिसे ।

जगत् और ब्रह्मदृष्टिमें जो भेद प्रतीत हो रहा है वास्तवमें वह अभेद ही है । जगत् और ब्रह्म—ये दोनों पर्यायशब्दोंके अर्थविलासके तुल्य हैं । 'राहुका सिर' इस व्यपदेशके सदृश सङ्कल्पमात्र ही इस भेदको विद्वानोंने कहा है, सत्य नहीं कहा है । जैसे सुवर्ण और कटकमें अभेद है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म—इन दोनोंमें अभेद है ॥ १९ ॥

दसवां सर्ग समाप्त

ग्यारहवाँ सर्ग

[इन्द्रियोंको जीतकर पूर्ण ब्रह्म परमात्मामें मनकी स्थिति तथा देह आदि दृश्य पदार्थोंमें अनात्मभावना दृढ़ करनी चाहिए, यह वर्णन]

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, वस्त्रोंसे न ढके अपने शरीरमें लगे हुए शस्त्रोंके आघात और तरुणीके स्तन आदि अङ्गोंका अनुभव करके भी जो बुद्धिमान् पुरुष बिलकुल समभावमें स्थित है वही परम पदमें स्थित है । तात्पर्य यह कि जबतक वैसी स्थिति नहीं आ जाती तबतक मनुष्यको इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी दृढ़ चेष्टा और आत्मनिष्ठासे विरत नहीं होना चाहिए ॥ १ ॥

इसी अर्थको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'तावत्' इत्यादिसे ।

बड़े धैर्यके साथ अपने पुरुषप्रयत्नके द्वारा मनुष्यको तबतक इन्द्रियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए, जबतक कि

यथाभूतार्थतत्त्वज्ञमाधयोऽग्रगता अपि ।
न मनागपि लिम्पन्ति पयांसीव सरोरुहम् ॥ ३ ॥
शस्त्राङ्गनानभांस्यङ्गलग्नान्यलमसंविदम् ।
अलग्नानीव शान्तात्मा यः पश्यति स पश्यति ॥ ४ ॥
विषं यथा स्वान्तरेव दुर्घुणीभवति स्वयम् ।
न च दुर्घुणता नाम विषादन्याऽस्ति काचन ॥ ५ ॥
स्वरूपमजहत्त्वेवं जीवतामधितिष्ठति ।
तथात्मातत्परिज्ञानमात्रैकप्रविलापिनीम् ॥ ६ ॥

शस्त्र और कान्ता, आदि बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हो रहे विकारोंको मिथ्यात्व बुद्धिसे दूर फेंककर एकमात्र स्वात्मसुखविश्रान्तिरूप सुषुप्तता नहीं उदित हो जाती ॥ २ ॥

मानसिक पीड़ाओंका संस्पर्श न होना ही दृढ़ तत्त्वज्ञानका लक्षण है, यह कहते हैं—'यथाभूता०' इत्यादिसे ।

यथार्थ परमात्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुषको सामने उपस्थित भी मानसिक पीड़ाएँ* तनिक भी ऐसे नहीं लिप्त कर पातीं, जैसे कमलको जल नहीं लिप्त कर पाते ॥ ३ ॥

आकाशके सदृश स्वच्छ नाना प्रकारके चमकते हुए शस्त्रों तथा देदीप्यमान अनेक स्त्रियों के असंवित्में—शरीरमें खूब संलग्न हो जानेपर भी (चिपक जाने पर भी) उन्हें असंलग्न-सा जो शान्तात्मा देखता है, वही यथार्थमें देखता है यानी उसीको सचमुच यथार्थमें साक्षात्कारज्ञानवान् समझना चाहिए ॥ ४ ॥

जैसे विष अपने ही स्वरूपमें घुण आदि विकारभावको प्राप्त होता है और वह घुणता भी विषसे अन्य कोई पदार्थ नहीं होती, वैसे ही अपने स्वरूपका परित्याग न करते हुए ब्रह्म भी स्वतत्त्वके एकमात्र परिज्ञानसे नष्ट हो जानेवाली जीवरूपताको यानी जीवाकारविवर्तनको प्राप्त होता है । कहनेका मतलब यह कि जीवता कोई ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ नहीं है ॥ ५, ६ ॥

---

* जैसे कि शुक्तिमें 'यह रजत नहीं है, किन्तु शुक्ति ही है' यह यथार्थज्ञान हो जानेपर उस शुक्तिमें रजतके लाभ या हानि जनित किसी तरहकी मानसिक पीड़ा नहीं देखी जाती, यह भाव है ।

जीवो भवति दुर्घूणोऽमृत्यात्मैव यथा तथा ।
अत्यजन्ती निजं रूपं चिज्जडं रूपमृच्छति ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्यनन्योऽप्यन्याभो दुर्घूणः क्वचिदुत्थितः ।
तत्स्थः स एवास इवाप्यतत्स्थ इव सर्गकः ॥ ८ ॥
विषं विषत्वमजहद्यथा स्वान्तः कृमिः क्रमात् ।
न जायते न म्रियते म्रियतेऽपि च जायते ॥ ९ ॥
स्वेनैव संविदर्थेन पदार्थामग्नरूपिणा ।
तीर्यते गोष्पदमिव न तु दैवाद्भवार्णवः ॥ १० ॥

अमरणस्वभाव जड़ विष अपने विषस्वभावको न छोड़ते हुए ही जैसे मरण-स्वभाव कीटरूप जीव होता है वैसे ही ब्रह्मचिति भी अपने रूपका त्याग न करती हुई मरणस्वभाव जड़रूपको प्राप्त हो जाती है ॥ ७ ॥

घुणकी नाईं उत्पन्न हुए जीवकी तरह यह सारा संसार भी उत्पन्न हुआ है, यह कहते हैं—'ब्रह्मण्य०' इत्यादिसे ।

विषमें कीटके समान ब्रह्ममें ब्रह्मसे अनन्य होते हुए भी उससे अन्यके सदृश भासमान यह सृष्टिरूप दुष्ट घुण भी कहींसे आविर्भूत हुआ है । यद्यपि यह उसीमें स्थित उसीका रूप है तथापि उससे अन्य और उसमें स्थित नहीं-सा भासता है ॥ ८ ॥

कृमिमें जैसे विषस्वभावदृष्टिसे जन्म और मरण नहीं होते, परन्तु आत्म-स्वभावदृष्टिसे तो होते ही हैं; वैसे ही जीवमें भी ब्रह्मस्वभावदृष्टिसे जन्म और मरण नहीं होते, किन्तु जीवस्वभावदृष्टिसे तो होते ही हैं, यह कहते हैं—'विषम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे विष अपने विषरूपी स्वभावको न छोड़कर ही अपने अन्दर क्रमशः कृमि होता है तथा विषदृष्टिसे न जन्म लेता और न मरता ही है, किन्तु कृमिदृष्टिसे मरता है जन्म भी लेता है; वैसे ही यह आत्मा भी ब्रह्मस्वरूपसे न जन्म लेता है और न मरता है, किन्तु जीवस्वभावसे जन्म लेता और मरता भी है ॥ ९ ॥

देह, इन्द्रिय आदि विषय पदार्थोंमें अहन्ता-ममताकी आसक्तिसे अपने स्वरूपको तिरोहित न करके मनुष्य श्रवण, मनन आदि प्रयत्न द्वारा निष्पादित आत्मसाक्षात्कारज्ञानके प्रयोजनभूत अपनेसे ही इस भवसागरको गायके खुरके

सर्वभावान्तरावस्था सर्वभावातिशायिनी ।
अन्तःशीतलता यस्मिंस्तस्मिन्किमिव हेलनम् ॥ ११ ॥
जगत्पदार्थसत्तान्तः सामान्येनाऽऽशु भाविते ।
मनोहङ्कारबुद्ध्यादि कः कलङ्कोऽमलात्मनि ॥ १२ ॥
यथा घटपटाद्यर्थान्पश्यस्येवं शरीरकम् ।
तथाऽहन्त्वमनोबुद्धिवेदनाद्यपि पश्य हे ॥ १३ ॥
जगत्पदार्थसार्थौघमनोबुद्ध्यादिसंस्थितम् ।
ज्ञ एवासंविदंस्तिष्ठ परिनिष्ठितनिष्ठया ॥ १४ ॥

समान तैर जाता है, न कि मुझे इस संसारसागरसे दैव पार लगायगा, इस प्रयत्नकी उपेक्षा करके ॥ १० ॥

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंका बाध हो जानेपर परिशिष्ट बचे परम दरिद्ररूपी एक आत्मस्वरूपमें भला विश्रान्तिसुखकी संभावना ही कैसे ? इस प्रसक्त अवहेलनाका निवारण करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण भावोंको मात कर देनेवाली समस्त पदार्थोंकी सार सुखरूपावस्था तथा सांसारिक सभी तापोंकी निवृत्ति हो जानेसे आन्तरिक शीतलता जिसमें विद्यमान है ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वरूपमें हे विद्याधर, किस तरहकी अवहेलना हो सकती है ? ॥ ११ ॥

जीवके मन, अहङ्कार आदि कलङ्ककी निवृत्तिमें उपाय बतलाते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

जागतिक सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्ताके भीतर सन्मात्रब्रह्मरूपसे भावित निर्मल आत्मामें मन, अहङ्कार, बुद्धि आदिरूप भला कौन-सा कलङ्क रह सकता है ? ॥१२॥

जैसे घट, पट आदि पदार्थोंको तुम तटस्थरूपसे देख रहे हो, वैसे ही हे विद्याधर, अहन्ता आदिका अभिमान छोड़ करके शरीरको पहले तटस्थरूपसे देख लेनेके बाद तुम अहन्ता, मन, बुद्धि और ज्ञान आदिको भी तटस्थरूपसे ही देखते रहो ॥ १३ ॥

तदनन्तर हे विद्याधर, सर्वसाक्षिस्वरूप होकर तुम बाह्य जगत्के सम्पूर्ण पदार्थों तथा आन्तरिक मन, बुद्धि आदिका अनुभव न करते हुए अपनी स्वाभाविक स्थितिसे बैठे रहो ॥ १४ ॥

न केनचित्कस्यचिदेव कश्चि
द्दोषो न चैवेह गुणः कदाचित् ।
सुखेन दुःखेन भवाभवेन
न चास्ति भोक्ता न च कर्तृता च ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरो॰ यथाभूतार्थवेदनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

ख एव व्योम सम्पन्नमिति सङ्कल्पनं यथा ।
भ्रान्तिमात्रमसद्रूपं तथाऽहम्भावभावनम् ॥ १ ॥

उस स्थितिमें सम्पूर्ण गुण, दोष आदिके विक्षेपोंके हेतुओंकी शान्ति रहती है, यह कहते हैं—'न केनचित्' इत्यादिसे ।

उस ज्ञानरूप अवस्थामें सम्पत्ति या विपत्ति तथा उससे उत्पन्न सुख या दुःख किसी कारणसे भी इस संसारमें किसीको कभी भी कोई गुण या दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस दशामें कर्तृताके न रहनेसे भोक्तृता भी नहीं रहती* ॥१५॥

ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त

बारहवाँ सर्ग

[अहंभाव भ्रान्तिमात्र है, जगत्का भ्रम चितिका विवर्त है, उसकी मूल अविद्या है तथा अविद्याके नाशका क्रम क्या है—इन सबका वर्णन]

अविद्या ही अहंभावरूपी सूक्ष्मप्रपञ्चभाव है । उसीकी स्थूलरूपता होती है । इस रीतिसे समस्तविकल्पोंके चितिका विवर्तमात्ररूप होनेसे सबमें एकता दिखलाते हैं—'ख एव' इत्यादिसे ।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, आकाशमें ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ

---

* देखो यह श्रुति क्या कह रही है—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' ।

खे खं जातमिति भ्रान्तेरहं कल्पयिता यथा ।
तथा निर्व्यपदेश्यात्म सदस्त्यसदिवाऽऽततम् ॥ २ ॥
खे खात्मैवास्ति चिद्रूपं तत्स्वकं बुध्यते वपुः ।
भासते यदिदन्त्वेन नाहमस्मि न चानहम् ॥ ३ ॥
ततश्चिद्रूपमस्तीदृग्यत्र स्थूलं खमप्यलम् ।
अणाविव महामेरुस्तत्संविच्चिर्हि खादिता ॥ ४ ॥
घनस्ततोऽचिदाभासः खादप्यतितरामणुः ।
जानाति यत्स्वभावं तदेतत्सर्गतया स्थितम् ॥ ५ ॥

है, यों अपने मनसे एक दूसरे आकाशकी कल्पना कर लेना ही जैसे एक ही आकाशमें सिर्फ भेदकी भ्रान्ति है, वैसे ही अज्ञात आत्मामें सूक्ष्मप्रपञ्चात्मक असद्रूप अहंभावकी कल्पना करना एकमात्र भ्रान्ति है ॥ १ ॥

दृष्टान्तमें कल्पना करनेवाला तो कोई तीसरा ही पुरुष प्रतीत होता है, वह तीसरा कौन है, यह पूछनेपर उसे बतलाते हैं—'खे खम्' इत्यादिसे ।

आकाशमें ही दूसरा आकाश उत्पन्न हुआ है, इस भ्रान्तिका कल्पक जैसे अहंभाव है वैसे ही अविद्यासे आच्छादित होनेसे असत्-सा प्रतीत हो रहा अतएव शब्दादिसे अव्यवहार्य आत्मरूप सद्वस्तु ही कल्पक है ॥ २ ॥

जैसे आकाशमें अद्वितीय आकाशात्मा ही है, दूसरे आकाशको तो कल्पक पुरुषका सङ्कल्पावच्छिन्न चिद्रूप अपने सङ्कल्पात्मक शरीरकी ही उस रूपमें कल्पना करके जानता है वैसे ही चूँकि अविद्योपहित चिदात्मा अपने अविद्यारूप शरीरकी 'मैं और यह' इत्यादि अभिमन्ता और अभिमन्तव्यरूपसे कल्पना करके अवभासता है। इसलिए अज्ञानसे अन्य न अहंभाव है और न अनहंभाव ही है ॥ ३ ॥

इसलिए हे विद्याधर, प्रत्येकको यह समझ लेना चाहिए कि वह चिद्रूप ऐसा है कि जहाँ परमाणुमें महामेरुकी नाईं आकाश भी अति स्थूल है। सम्पूर्ण कल्पनाओंका अधिष्ठानभूत वह ब्रह्म परमसूक्ष्म है। उसी अतिसूक्ष्म ब्रह्मचितिकी कल्पना आकाश आदि यह स्थूल जगत्-रूप है ॥ ४ ॥

उस ब्रह्मकी परम सूक्ष्मरूपताका उपपादन करते हैं—'घन०' इत्यादिसे ।

अहन्ताखादितात्मविदः प्रसरणं जगत् ।
अम्भोद्रवप्रसरणं यथावर्तादिवेष्टनम् ॥ ६ ॥
अचित्प्रसरणं शान्तमस्पन्दीव जलद्रवः ।
निस्पन्दपवनाकारमाकाशहृदयोपमम् ॥ ७ ॥
न देशकालादिजगत्प्रसरेषु च युज्यते ।
घनाच्छून्यान्निराभासाच्चिन्मात्रविसराद्दते ॥ ८ ॥
चिन्मात्रे प्रसृते काले व्योम्नि नावि जले स्थले ।
निद्रायां जाग्रति स्वप्ने भवेज्जगदिवोदितम् ॥ ९ ॥
प्रसरणाप्रसरणे न च सम्भवतो विदः ।
खादप्यत्यन्तस्वच्छत्वादक्षोभादेः सदैव हि ॥ १० ॥

आकाशसे भी अत्यन्तसूक्ष्म अज्ञानरूपी अनादि विवर्त है, जो कि आत्मचितिसे अत्यन्त स्थूल है उस तरहका परमसूक्ष्म चेतन ही 'मैं, यह' इत्यादिरूप अनादि वासनासे उत्तरोत्तर स्थूल हुए अपने स्वभावकी कल्पना करके जो सब पदार्थोंको जानता है वही यह सब सृष्टिरूपसे स्थित है ॥ ५ ॥

जैसे आवर्त आदि विकार जलद्रवके प्रसार हैं, वैसे ही आत्मामें अहन्ता आदि आध्यात्मिक तथा आकाश आदि आधिभौतिक यह जगत् आत्मचेतनका विस्तृत विवर्तरूप है ॥ ६ ॥

चितिके विवर्तका अभाव ही प्रलय है, जो निश्चल जलद्रवकी नाईं, स्पन्दन-शून्य पवनके आकारके सदृश तथा आकाशहृदयके तुल्य है ॥ ७ ॥

इस तरह देश, काल आदि जगत् तथा इसके अवान्तर हजारों कार्यरूपी प्रसारोंमें भी एकमात्र घन, शून्य और निराभास चितिके विवर्तके सिवा अन्य कोई पारमार्थिकरूप उपपन्न नहीं है ॥ ८ ॥

इसमें उपपत्ति दिखलाते हैं—'चिन्मात्रे' इत्यादिसे ।

चितिका ही विवर्त होनेसे काल, आकाश, नौका, जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्नमें यह जगत् उदितके सदृश भासता है ॥ ९ ॥

चितिका जगत्के आकारमें परिणामस्वरूप वास्तविक प्रसार क्यों नहीं है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'प्रसरणा०' इत्यादिसे ।

आकाशसे भी अत्यन्त अधिक स्वच्छ होने तथा संचलन आदि सब तरहके

ज्ञश्चेतति न भोगादि न चैवात्मन्यसावहम् ।
द्रवत्वमम्भसीवान्तरद्वितीयः परे स्थितः ॥ ११ ॥
धीर्ह्रीः श्रीर्भीः स्मृतिः कीर्तिः कान्तिरित्यादिकं गणम् ।
न पश्यति विसङ्कल्पस्तमसीव पदान्यहेः ॥ १२ ॥
ब्रह्मेन्दुबिम्बस्फुरितचिज्ज्योत्स्नांशामृतद्रवः ।
दिक्कालासम्भवात्सर्गो नेश्वरादतिरिच्यते ॥ १३ ॥

विकारोंसे शून्य होने से चितिका विस्तार और संकोच वास्तवमें नहीं होता [अतएव इस संसारकी उत्पत्ति और नाश एकमात्र अज्ञानसे ही सिद्ध है] ॥१०॥

सुख-दुःख आदि भोगोंके अनुभवरूप तथा देह आदिमें अहंभावरूप विकार तो चिदात्मामें दिखाई देते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो उसपर कहते हैं—'ज्ञश्चेतति' इत्यादिसे ।

ज्ञानस्वरूप आत्मा विषयजनित सुख-दुःख आदि भोगोंका अनुभव नहीं करता और न इस आत्मामें 'यह तथा मैं' यह व्यवहार ही रहता है । किन्तु जलमें द्रवत्वके समान अद्वितीय आत्मा भीतर अपने कूटस्थस्वभावमें स्थित है । तात्पर्य यह है कि भोगादि विभ्रम चिदाभासको ही होते हैं, कूटस्थ आत्माको नहीं होते ॥ ११ ॥

सङ्कल्पशून्य आत्मा चिन्ता, लज्जा, हर्ष, भय, स्मृति, कीर्ति तथा इच्छा आदि मनकी वृत्तियोंके हेतु बाह्य विषयोंको ऐसे नहीं देखता, जैसे कि अन्धकारमें साँपके पैर ॥ १२ ॥

हे विद्याधर, ब्रह्मरूपी चन्द्रबिम्बसे स्फुरित जीवचिदाभासरूपी ज्योत्स्नाके अंशभूत चाक्षुष आदि ज्ञानमय अमृतका द्रवरूपी जो यह सर्ग है वह परमेश्वरसे भिन्न नहीं है, क्योंकि इस सृष्टिके आधारभूत दिशा और काल इन दोनोंका निरवयव और निष्क्रिय ब्रह्ममें रहना संभव नहीं है । दिशाके रहनेपर ही मूर्त-द्रव्यकी क्रियासे सर्गकालकी कल्पना की जा सकती है और वह क्रिया पहलेसे तो उपस्थित है नहीं । एवं कालके रहनेपर ही दिशा आदिकी उत्पत्तिकी कल्पना की जा सकती है, लेकिन प्रलयमें वह भी नहीं है, कारण कि क्रियाके अतिरिक्त उसका कोई साधक नहीं है । पूर्ण कूटस्थमें तो क्रियाका योग है ही नहीं । ऐसी स्थितिमें उन दोनोंके अभावमें किसी अन्यका अवकाश नहीं है, इस तरह यह सिद्ध है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी पदार्थकी सिद्धि नहीं है ॥ १३ ॥

आधिमान्यः स्फुरत्येवं परे स्फुरति भासुरम् ।
जगदाद्यात्मकं चित्तं चक्रौघत्वमिवाम्भसि ॥ १४ ॥
मज्जनोन्मज्जनारावैर्विवर्तावर्तवेष्टनैः ।
अच्छिन्नानुपदं क्षीणा भाति सर्गसरिच्चिरम् ॥ १५ ॥
यथाऽऽवर्तैः पयो भाति धूमो भाति यथा घनः ।
तथा जडात्मकतया तृतीयः सर्ग एतयोः ॥ १६ ॥
दारुणि क्रकचच्छेदे यथाऽऽवर्तादिकं तथा ।
अदिगादौ परे सर्गस्तद्वत्तद्रूपवानयम् ॥ १७ ॥
संसारकदलीस्तम्भाद्विना सङ्कल्पपल्लवम् ।
मृदुनोऽपि दृषत्क्रूरान्न किञ्चिल्लभतेऽन्तरम् ॥ १८ ॥

इस तरह भगवान् परमेश्वरके अपनेसे अभिन्न जगत्के आकारमें सर्वसाधारण सच्चिदानन्दात्मरूपसे खूब चमकते हुए स्फुरित होनेपर देह आदि किसी एक स्थानमें विशेष अभिमान करके उसके अनुकूल या प्रतिकूल हेय या उपादेयकी कल्पना द्वारा अहङ्कारात्मा ही अन्यकी नाईं स्फुरित होता है। इस तरह जलमें आवर्तसमूहकी नाईं यह सम्पूर्ण जगत्, जीव, बन्ध मोक्ष आदि की कल्पना है, जो कि एकमात्र भ्रान्त चित्त ही है, अणुमात्र भी और कुछ नहीं है ॥ १४ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक—इन दोनोंका रूपक द्वारा एकीकरण करके उपपादन करते हैं—'मज्जन०' इत्यादिसे ।

मज्जन और उन्मज्जनके शब्दोंसे तथा विवर्तावर्तरूपी भ्रमणोंसे पूर्ण बराबर बह रही यह सृष्टिरूपी मरीचिनदी स्फुरित हो रही है, जो कि तत्त्वसाक्षात्कारसे शीघ्र ही चिरकालके लिए क्षीण हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे मृगतृष्णाकी नदी मरुभूमिके साक्षात्कारसे शीघ्र नष्ट हो जाती है वैसे ही यह सृष्टि भी परमात्मतत्त्वके साक्षात्कारसे शीघ्र ही सदाके लिए क्षीण हो जाती है ॥ १५ ॥

जैसे आवर्तोंसे जल या दूरसे धूमसमूह निबिड मेघरूपसे भासता है वैसे ही ब्रह्म और मन इन दोनोंके मध्यमें तीसरी यह सृष्टि विषयरूप होनेसे जड़ और सत्यरूपसे स्फुरित होनेके कारण अजडरूपसे भासती है ॥ १६ ॥

आरीसे लकड़ी चीरनेपर जैसे आवर्त आदि भासते हैं वैसे ही देश-कालादिसे शून्य परमात्मामें यह सृष्टि जड़ और अजड़रूपसे भासती है ॥ १७ ॥

मिथ्या होनेसे अपने स्वरूपसे अत्यन्त कोमल तथा अधिष्ठानसत्तासे

सहस्रखुरमूर्धाक्षिकरवक्त्रेहितोहितम् ।
नानाद्रितनुदिग्देशसरित्प्रादेशमात्रकम् ॥ १९ ॥
अन्तःशून्यमसारात्म बहुरागोपरञ्जितम् ।
स्फुरद्विरागविहितमार्जनामात्रतर्जनम् ॥ २० ॥
ससुरासुरगन्धर्वविद्याधरमहोरगम् ।
जडात्मपवनस्पन्दि परचेतनचेतितम् ॥ २१ ॥
पटे चित्रमहाराज्यमिव भासुरसुन्दरम् ।
परामर्शासहं चारु विकल्पस्फूर्जितं जगत् ॥ २२ ॥

पत्थरकी नाईं अतिदृढ़ इस संसाररूपी कदलीस्तम्भका स्फटिकशिलामें प्रतिबिम्बित कदलीस्तम्भसे तनिक भी असाम्य विवेकदृष्टिसे देखनेपर नहीं मिलता। यदि कुछ मिलता भी है तो सिर्फ वह सङ्कल्पकल्पित पल्लववैलक्षण्यकृत ही। कहनेका तात्पर्य यह कि सङ्कल्पकल्पित विलक्षण पल्लवके सिवा और कुछ तनिक भी वैसादृश्य इन दोनोंमें नहीं मिलता ॥ १८ ॥

पटके ऊपर विरचित चित्रगत राज्यके सादृश्यसे अब इस जगत्‌का वर्णन करते हैं—'सहस्र०' इत्यादि चार श्लोकोंसे।

हे विद्याधर, यह रमणीय सारा संसार पटके ऊपर विरचित चित्रगत महाराज्यके सदृश प्रकाशयुक्त, सुन्दर और विकल्पसे विस्फूर्जित है। हे विद्याधर, चित्रगत महाराज्यके सदृश ही यह भी परामर्शको न सहनेवाला * है। इसके अन्दर हजारों पैर, मस्तक, नेत्र, हस्त, मुख तथा इनसे अभिलषित और वितर्कित वस्तुएँ एवं नाना प्रकारके पर्वत, चतुर्विध प्राणियोंके शरीर, दिशाएँ और अनेक नदियाँ परमात्माके मापसे प्रादेशमात्रके समान परिच्छिन्न हैं। अनेक प्रकारके रञ्जक द्रव्योंसे रञ्जित चित्रगत महाराज्यकी नाईं यह सारा संसार भी अनेक प्रकारके कामादिरूप रंगोंसे रञ्जित है। विरुद्ध वर्णवाले मार्जनद्रव्यसे परिमार्जन कर देना ही एकमात्र जिसका नाश है ऐसे चित्रलिखित महाराज्यकी नाईं यह सारा संसार भी केवल तीव्र वैराग्यमात्रसे ही परिमार्जित होता है। हे विद्याधर, सुर, असुर, गन्धर्व, विद्याधर तथा महोरग आदिसे युक्त जड़ात्मकपवनसे स्पन्दनशील

---

* परामर्श यानी विचार, इसको नहीं सहनेवाला यह संसार है अर्थात् विचार करनेपर तनिक भी टीक नहीं सकता तथा चित्र भी दूसरे द्वारा हुए उपमर्दनको नहीं सह सकता।

स्पन्दात्मनि विकल्पांशे पतिताऽसत्यरूपिणि ।
संवित्प्रसरति भ्रान्तौ तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ २३ ॥
हृल्लेखाजालविसरैः सर्वावर्तविवर्तनैः ।
विसरत्स्नेहसंमिश्रजडानुदयचर्वणैः ॥ २४ ॥
अहमित्यादिचिद्रूपे विकल्पेनोन्मुखी सती ।
न पराव्यतिरिक्तैषा जलत्वादिव तोयता ॥ २५ ॥
चिदादित्यः स्व आत्मैव सर्ग इत्यभिधीयते ।
भूत्वाऽहमिति तेनान्यो न सर्गोऽस्ति न सर्जकः ॥ २६ ॥

तथा द्रष्टाचेतनसे चेतित चित्रलिखित महाराज्यकी नाईं यह सारा संसार भी सुर, असुर, गन्धर्व आदिसे युक्त सूत्रात्मासे स्पन्दनशील तथा ब्रह्मचेतनसे चेतित है ॥ १९–२२ ॥

अर्थशून्य तथा बाध्य होनेसे असत्यस्वरूप स्पन्दनात्मक विकल्पांशमें यानी विकल्पात्मक वृत्ति जिसमें उदित होती है ऐसे मनमें प्रतिबिम्बभावसे पतित संवित् भ्रान्तिमें ऐसे प्रसरणशील होती है, जैसे जलमें तैलबिन्दु ॥ २३ ॥

कैसे प्रसरणशील होती है, यह कहते हैं—'हृल्लेखा०' इत्यादिसे ।

मनको क्षोभित करनेवाले कामवासना आदि जालसमूहोंसे निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्तरूप विकारोंसे समन्वित पुत्र, स्त्री आदिमें फैल रहे स्नेहसे मिश्रित मिथ्या होनेके कारण उत्पन्न न हुए ही इन शब्द-स्पर्श आदि विषयोंके बार-बार आस्वादनोंके द्वारा जो संवित् प्रसरणशील होती है वही चित्रगत महाराज्यरूपसे वर्णित यह संसार है ॥ २४ ॥

इस रीतिसे यह आदिचिति ही अहंभावादि विकल्पोंसे बहिर्मुखी हो जीवभावको प्राप्त करके भी परमात्मासे तनिक भी ऐसे भिन्न नहीं है; जैसे कि जलरूपतासे भिन्न तोयता नहीं है । तात्पर्य यह है कि भेदक उपाधियोंके विकल्पमात्र होनेसे 'जीव' और 'पर' शब्दका 'जल' और 'तोय' शब्दकी नाईं एक अर्थमें पर्यवसान है ॥ २५ ॥

उपाधिके अनुप्रवेश द्वारा नाम और रूपोंका व्याकरण करनेवाले अहमर्थ जीवके ब्रह्ममात्र होनेसे जीवका भोग्य सर्गशब्दार्थ भी एकमात्र ब्रह्म ही है, यही कहते हैं—'चिदादित्यः' इत्यादिसे ।

स्पन्दात्मिकायां सत्तायां यथाऽस्पन्दो जलद्रवः ।
तथा चिदात्मा व्योमत्वे न व्योमत्वादि वेत्ति हि ॥ २७ ॥
देशकालादिनिर्माणपूर्वकं वेदनं विदः ।
सर्गात्मकत्वात्तेनाम्बुद्रवसाम्यं न दूरगम् ॥ २८ ॥

यह चिद्रूपी सूर्य स्वात्मा ही है । यह उपाधिमें प्रवेश द्वारा 'अहम्' इत्यादि नामको प्राप्त होकर 'सर्ग' इस नामसे कहा जाता है । इसलिए यह सिद्ध है कि वास्तवमें चेतनसे अन्य न कोई सृष्टि है और न कोई इस सृष्टिका रचयिता ही है ॥ २६ ॥

'राहुका सिर' यहांपर जैसे राहु और उसके सिरमें अभेद सिद्ध है यानी जो राहु है वही तो उसका सिर है, इसी तरह जगत् और चितिमें अभेद सिद्ध है । इन दोनोंमें एकमात्र अविद्याके कारण ही भेदकी प्रतीति हो रही है । इसका दृष्टान्त देकर उपपादन करते हैं—'स्पन्दात्मिकायाम्' इत्यादिसे ।

जैसे स्पन्दरूप अपनी सत्तामें वस्तुतः जलद्रव स्पन्दरहित ही है उसमें स्पन्दकी प्रतीति तो एकमात्र विकल्प ही है, * वैसे ही आकाशादि प्रपञ्चकी रचनामें चिदात्मा न आकाशादिरूपसे स्थित है, न इन सबका कर्ता है और न आकाशादि पदार्थोंको अपनेसे भिन्न समझता ही है ॥ २७ ॥

जलद्रवकी भेदकल्पनामें देश और कालका भेद नियामक है । पूर्वकाल और पूर्वदेशमें स्थित जल उत्तरकाल और उत्तरदेशमें उपलब्ध होता है । उत्तरदेशकी प्राप्ति भी क्रियापूर्वक ही बाण आदिमें देखी गई है, इसी

---

* 'जलं स्पन्दते' (जल स्पन्दित होता है) इस स्थलपर थोड़ा विचार किया जाय । क्या जल ही स्पन्दरूपसे स्थित रहता है या अन्य कुछ ? जलसे भिन्न अन्य कोई स्पन्दनरूपसे स्थित रहता है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अन्य किसीकी यहाँ उपलब्धि नहीं होती । यदि यही मान लिया जाय कि वहाँ कोई अन्य ही स्पन्दित होता है तब तो उस स्पन्दनको जलकी ही अपेक्षा है, यह नियम नहीं रह सकता; अतः दूसरा ही स्पन्दित होता है, यह प्रतीति होने लगेगी और साथ-साथ यह भी नहीं कह सकते कि वह नियम समवायके बलपर सिद्ध है, क्योंकि सम्बन्धकी अनवस्था होनेसे उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती । अब रही बात प्रथम पक्षकी । इस पक्षमें जल स्पन्दका कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि स्पन्दात्मा स्पन्द नहीं करता, कारण कि यदि वह स्पन्द करे, तो उस स्पन्दमें कर्तृत्वापत्ति आ जायगी। इसलिए यह सिद्ध है कि जलद्रव अपनी स्पन्दात्मिका सत्तामें स्पन्दशून्य ही स्थित रहता है ।

मनोहम्भावबुद्ध्यादि यत्किञ्चिन्नामवेदनम् ।
अविद्यां विद्धि यत्नेन पौरुषेणाऽऽशु नश्यति ॥ २९ ॥

तरह जलमें भी द्रवणक्रियाभेदकी कल्पना कर सकते हैं। परन्तु अद्वितीय ब्रह्ममें तो देश और काल किसीका भेद नहीं है, अतः आकाश आदि भेदकी कल्पनामें कोई निमित्त न होनेसे जलद्रवका साम्य बहुत दूर चला गया; यदि यह कोई शङ्का करे, तो उसका समाधान देते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

सृष्टिरूप होनेसे देश, काल आदिके निर्माणपूर्वक ही चिदात्माके आकाश आदि विकल्पज्ञानका हम वर्णन कर रहे हैं, इसलिए जलद्रवका साम्य कहीं दूर चला गया, यह कोई नहीं कह सकता † ॥ २८ ॥

इस तरह विकल्पोंके मन, अहङ्कार और बुद्धि आदिसे साध्य होनेके कारण आकाश आदि सृष्टिभेदके विकल्पसमयमें इनके असिद्ध होनेसे विकल्पकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है? यह आशङ्का भी अनुपपत्ति आदि हजारों दोषोंसे पूर्ण एकमात्र अविद्याका स्वीकार कर लेनेसे ही अनायास परिहृत हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'मनो०' इत्यादिसे।

हे विद्याधर, मन, अहंभाव, बुद्धि आदि जो कुछ भी विकल्पज्ञान है उन सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुषप्रयत्नसे शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ २९ ॥

† आकाश आदि सृष्टिके विकल्पकी असंभावनाके ऊपर जो आक्षेप किया जा रहा है, सो क्या आकाश आदिकी सर्गात्मिकदशामें आक्षेप किया जा रहा है या ब्रह्मदशामें? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मदशामें आक्षेप किया जा रहा है, तब तो यह आपत्ति हमें इष्ट है, क्योंकि ब्रह्मभावमें हम किसी तरहका कोई विकल्प स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं। यदि यह कहा जाय कि सर्गात्मिकदशामें आक्षेप किया जा रहा है, तो इसपर हमारा यह कहना है कि सर्गात्मिकदशामें तो यह कहना ही पड़ेगा कि वह सृष्टिकाल प्रलयकालसे पूर्व है। इस तरह कालविभाग और संसारासंसार देशभेदका भी कल्पना द्वारा निर्माण करके हम चिदात्माके आकाशादि विकल्पज्ञानका वर्णन कर रहे हैं, अतः किसीको सन्देह करनेका तनिक भी स्थान नहीं है कि जलद्रवका साम्य बिलकुल कहीं दूर चला गया। इस विषयमें वार्तिककारकी यह उक्ति भी स्मरणीय है—

'अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवासित्वा प्रकल्प्यते।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥'

अर्द्धं मिथः सङ्कथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतः शिष्टमविद्याया निवर्तते ॥ ३० ॥
चतुर्भागात्मनि कृते इत्यविद्याक्षये क्रमात् ।
समकालाच्च यच्छिष्टं तदनामार्थसन्मयम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

अर्द्धं मिथः सङ्कथया भागः शास्त्रविचारणैः ।
आत्मप्रत्ययतो भागः कथं तस्या निवर्तते ॥ ३२ ॥
समकाले क्रमाच्चेति मुनिनाथ किमुच्यते ।
तदनामार्थसच्चेति सच्चासच्चेति किं वद ॥ ३३ ॥

किस-किस पौरुषसे वह कितनी नष्ट होती है, यह बतला रहे हैं—'अर्धम्' इत्यादिसे ।

विनय, प्रणाम, दान, सम्मान आदिके द्वारा वशीभूत हुए तत्त्वज्ञानियोंके साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीत करनेके कारण प्रथम भूमिकापर्यन्त अभ्यस्त हुई उत्कट वैराग्य आदि चार साधनोंकी सिद्धिसे पुत्र, स्त्री, धन आदिमें ममताध्यासके हेतुभूत इस अविद्याका आधा भाग नष्ट हो जाता है, श्रवण, मनन आदि शास्त्रविचारोंसे इस अविद्याका विक्षेप शक्तिरूप चौथा अंश—जो प्रमाण और प्रमेयकी सम्भावना आदिरूप तथा देहादिमें अहन्तारूप है—नष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसे उसका बचा हुआ आवरणशक्तिरूप चौथा भाग भी सूर्योदयके बाद अन्धकारकी नाईं धीरे-धीरे क्रमशः नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त रीतिसे भूमिकाओंके अभ्यास द्वारा समकालमें और क्रमशः चार भागोंमें विभक्त अविद्याके नष्ट कर दिये जानेपर जो अवशिष्ट रहता है वह नामरूपरहित सन्मात्र ही परमपुरुषार्थ है ॥ ३१ ॥

संक्षेपसे कही गई बातको विस्तारसे सुननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अर्धम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, अविद्याका आधा भाग विद्वानोंके साथ परस्पर आध्यात्मिक बातचीतोंसे, एक चतुर्थांश शास्त्रोंके विचारोंसे एवं दूसरा चतुर्थांश आत्मतत्त्वके साक्षात्कारसे कैसे नष्ट हो जाता है ? कृपाकर कहिये ॥३२॥

तदनन्तर हे मुनिनाथ, 'समकालमें' और 'क्रमशः' यह क्यों कहा जाता है ?

वसिष्ठ उवाच

सुजनेन विरक्तेन संसारोत्तरणार्थिना ।
सह चाप्यात्मविदुषा संसृतिं प्रविचारयेत् ॥ ३४ ॥

यतः कुतश्चिदन्विष्य सविरागममत्सरम् ।
जनं सज्जनमात्मज्ञं यत्नेनाऽऽराधयेद्बुधः ॥ ३५ ॥

सम्पन्ने सङ्गमे साधोरविद्यार्धं क्षयं गतम् ।
विद्धि वेद्यविदां श्रेष्ठ ज्येष्ठश्रेष्ठदशोदयात् ॥ ३६ ॥

अर्द्धं सज्जनसम्पर्कादविद्याया विनश्यति ।
चतुर्भागस्तु शास्त्रार्थैश्चतुर्भागं स्वयत्नतः ॥ ३७ ॥

तथा 'वह नामार्थरहित सन्मय ही है'—यहाँपर 'मयट्' प्रत्ययसे असदंशको भी लेकर सत् और असत् जो कहा गया है, उसमें असदंश क्या है, सो भी दयाकर कहिये ॥ ३३ ॥

प्रश्नक्रमके अनुसार महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'सुजनेन' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, संसारसागरको तैर जानेकी इच्छा रखनेवाले विरक्त सज्जन पुरुषको आत्मज्ञानी विद्वान् तथा अन्य मुमुक्षुके साथ अपनी बुद्धिसे यह विचार करना चाहिए कि यह संसार क्या है, इसका परिणाम, मूल और सार क्या है तथा इसे तैर जानेका कौन-सा उपाय है ? ॥ ३४ ॥

विद्वान्को चाहिये कि वह जहां-कहींसे संसारसागरसे पार हो जानेकी इच्छा रखनेवाले विरक्त, मत्सररहित, आत्मज्ञानी सज्जन पुरुषको यत्नपूर्वक ढूंढ़कर उसकी आराधना करे ॥ ३५ ॥

हे वेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीरामजी, यह आप भलीभांति जान लीजिये कि सज्जन पुरुषका समागम हो जानेपर अविद्याका आधा भाग तो अन्य सब भूमिकाओंमें ज्येष्ठ तथा साधनचतुष्टयसम्पत्तिसे श्रेष्ठ शुभेच्छानामक प्रथम भूमिका प्रतिष्ठाके उदयसे ही क्षयको प्राप्त हो गया ॥ ३६ ॥

हे श्रीरामजी, अविद्याका आधा भाग तो सिर्फ सज्जन पुरुषोंके सम्पर्कसे ही नष्ट हो जाता है। बाकी बचे दो चतुर्थ भागोंमें एक भागको बुद्धिमान् पुरुषको

एकोऽभिलाष उत्पन्नो भोगेभ्यश्च निवार्यते ।
तत्क्षये यात्यविद्यायाश्चतुर्थांशः स्वयत्नतः ॥ ३८ ॥
साधुसङ्गमशास्त्रार्थस्वयत्नैः क्षीयते मलम् ।
एकैकेनाथ सर्वैश्च तुल्यकालं क्रमादपि ॥ ३९ ॥
यद्विद्याक्षयैकात्म न किञ्चित्किञ्चिदेव च ।
शिष्यते तत्परं प्राहुरनामार्थमसच्च सत् ॥ ४० ॥
ब्रह्मेदं घनमजराद्यनन्तमेकं
सङ्कल्पस्फुरणमविद्यमानमेव ।
बुद्ध्वैवं व्यपगतमानमेयमोहो
निर्वाणं परिविहरन्विशोकमास्व ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने सङ्कल्पसर्गयोरैक्यप्रतिपत्तिर्नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

शास्त्रार्थोंके पर्यालोचनसे तथा दूसरेको अपने आत्मसाक्षात्काररूप यत्नसे नष्ट कर देना चाहिए ॥ ३७ ॥

संसारबन्धनसे मुक्त होनेकी कहीं एक उत्कट इच्छा उत्पन्न हो गई, तो उस मुमुक्षु पुरुषको वैराग्य आदि सम्पत्ति ही भोगों तथा उनके साधनोंसे दूर हटा देती है और भोगोंके नष्ट होनेसे अविद्याका चतुर्थ अंश अपने यत्नसे ही नष्ट हो जाता है ॥ ३८ ॥

सज्जनोंकी सङ्गति, शास्त्रोंकी चर्चा और अपने प्रयत्न—इन सबकी एक साथ प्राप्ति होनेपर समकालमें यानी एक ही कालमें तथा एक-एककी प्राप्ति होनेपर क्रमशः अविद्यारूपी मल क्षीण हो जाता है ॥ ३९ ॥

अविद्याका क्षय हो जाना ही जिसका एकमात्र अपना स्वरूप है ऐसा जो अविद्याके नाशके बाद अकिञ्चिद्रूप या किंचिद्रूप शेष रहता है वह परमार्थभूत नामार्थरहित, असत् और सत् भी * कहा गया है ॥ ४० ॥

हे श्रीरामजी, यह परिशिष्टवस्तु, आनन्दैकघन, जरादिविकारशून्य अनन्त, एक

---

* अर्थक्रियाव्यवहारके योग्य न रहनेसे वह 'असत्' तथा अबाध्य परम पुरुषार्थरूप होनेसे वह 'सत्' कहा गया है ।

त्रयोदशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

जगत्प्रसररूपस्य न देश उपयुज्यते ।
न कालो धारणे स्तम्भ आलोकस्याम्बरे यथा ॥ १ ॥
मनोमनननिर्माणमात्रमेतज्जगत्त्रयम् ।
शान्तं तनु लघु स्वच्छं वातान्तः सौरभादपि ॥ २ ॥
चिच्चमत्कृतिमात्रस्य साधो जगदणोः किल ।
वातान्तः सौरभं मेरुरन्यानुभवयोगतः ॥ ३ ॥

ब्रह्म ही है। जीव और जगद्रूप तो विकल्पका स्फुरण होनेसे सर्वथा अविद्यमान ही है। इसलिए हे श्रीरामजी, आप अपनेको परमात्मतत्त्वरूप जानकर प्रमाण, प्रमेय आदि त्रिपुटीके मोहसे शून्य होते हुए ब्रह्म ही होकरके सर्वातिशायी बृहत् होनेसे सब ओरसे व्याप्त होकर विहार करते हुए शोकशून्य स्थित रहिये ॥ ४१ ॥

बारहवां सर्ग समाप्त

तेरहवाँ सर्ग

[मायाके कार्यमें देश आदिकी अपेक्षाका अभाव तथा परमाणुके उदरमें इन्द्रके राज्यकी कल्पनाका विस्तार—यह वर्णन]

'देश कालादि निर्माणपूर्वकं वेदनं विदुः' इत्यादि जो पूर्व सर्गमें कहा गया है, उसका उपपादन करनेके लिए इन्द्र-त्रसरेणु आख्यान कहनेके पहले भूमिका बाँधते हैं—'जगत्' इत्यादिसे।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, इस मायिक विस्तृत जगद्रूपके धारणमें देश और कालकी अपेक्षा इस तरह नहीं है, जिस तरह आकाशमें फैले हुए आलोकके धारणमें खम्भोंकी अपेक्षा नहीं है ॥ १ ॥

शान्त, पवनके अन्दर स्थित सुगन्ध या प्रकाशसे भी अति सूक्ष्म, लघु और स्वच्छ यह त्रिलोकी मनके मननकी रचनामात्र है ॥ २ ॥

हे साधो, चितिके चमत्कारमात्ररूपसे दृष्ट इस जगद्रूपी अणुकी अपेक्षा वायुके अन्तर्गत सौरभ भी मेरुकी नाईं स्थूल है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं

यं प्रत्युदेति सर्गोऽयं स एवैनं हि चेतति ।
पदार्थः सन्निवेशं स्वमिव स्वप्नं पुमानिव ॥ ४ ॥
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
यद्वृत्तं देवराजस्य त्रसरेणूदरे पुरा ॥ ५ ॥
क्वचित्कदाचित्कस्मिंश्चित्किञ्चित्कल्पद्रुमेऽभवत् ।
कस्यांचिद्युगशाखायां फलं जगदुदुम्बरम् ॥ ६ ॥
ससुरासुरभूतौघमशकाहितघुङ्घुमम् ।
शैलमांसलपातालद्युभूम्युग्रकपाटकम् ॥ ७ ॥
चिच्चमत्कृतिचारूच्चैर्वासनारसपीवरम् ।
विविधानुभवामोदं चित्तास्वादमनोहरम् ॥ ८ ॥

है, क्योंकि वायुके अन्दर स्थित सौगन्ध या सौरभका तो अन्य पुरुष भी अपनी घ्राण आदि इन्द्रियोंके द्वारा अनुभव करते हैं, परन्तु यह संसारकी सृष्टि तो जिस पुरुषके मनमें उदित होती है वही इसका ऐसे अनुभव करता है, जैसे मनोराज्यके पदार्थका मनोराज्य साक्षी द्वारा या अपने स्वप्नका स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वयं अनुभव करता है ॥ ३, ४ ॥

पूर्वसिद्ध देश और कालकी अपेक्षा न रखनेवाले तथा दूसरेके अनुभवमें न आनेसे परम सौम्यरूप इसी विषयका एक बहुत पुराना इतिहास विद्वान् लोग उदाहरणरूपमें कहा करते हैं; जो कि त्रसरेणुके उदरमें बहुत दिन पहले इन्द्रको अनुभूत हुआ था ॥ ५ ॥

कभी कहीं किसी एक कल्पवृक्षमें (सब तरहकी कल्पनाओंके आधारभूत मायाशबल ब्रह्ममें युगकी सन्धिरूप शाखामें) ब्रह्माण्डरूपी गूलरका फल पैदा हुआ ॥ ६ ॥

उस फलका वर्णन करते हैं—'ससुरा०' इत्यादिसे ।

वह फल अन्य फलोंसे विलक्षण था । वह सुर और असुर आदि अनेकविध भूतोंके समूहरूपी मच्छड़ोंकी भनभनाहटसे युक्त था तथा अनेक शैलरूपी कीलोंसे जटित दृढ़ पाताल, स्वर्ग और भूमण्डलरूपी दुर्धर्ष कपाटोंसे समन्वित था ॥ ७ ॥

वह फल चितिकी चमत्कृतिरूप विचित्र रचनाशक्तिसे सुन्दर, बहुत बड़ा,

बृहद्ब्रह्मतरुप्रौढसत्ताव्रततिकोटिगम् ।
अहङ्कारमहावृन्तं समालोकसमुज्ज्वलम् ॥ ९ ॥
मोक्षद्वारविकास्यास्यं सरिदब्धिशिरावृतम् ।
मात्रापञ्चककोशस्थं तरत्तारकसीकरम् ॥ १० ॥
कल्पावसानजरठं काककोकिलगाम्यथ ।
पतितं शान्तिमायातं क्वाप्यन्तावासनं गतम् ॥ ११ ॥
तत्राऽभूदमराधीशः शक्रस्त्रिभुवनेश्वरः ।
क्षौद्रकुम्भनिषण्णानां क्षुद्राणामिव नायकः ॥ १२ ॥
गुरूपदेशस्वाभ्यासात्स क्षीणावरणोऽभवत् ।
महात्मा भावितान्तात्मा पूर्वापरविदां वरः ॥ १३ ॥
नारायणादिषु ततः कदाचिद्वीर्यशालिषु ।
क्वचिदेव निलीनेषु सत्स्वेकः स सुराधिपः ॥ १४ ॥

वासनारूपी रससे स्थूल, अनेकविध शब्दादि विषयोंके अनुभवरूपी सुगन्धसे समन्वित तथा चित्तके आस्वादसे मनोहर था ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त महान् ब्रह्मरूपी कल्पतरुमें आविर्भूत सूक्ष्म जगत्‌की सत्तारूपी करोड़ों लताओंके अन्तर्गत वह फल लगा था और अहङ्काररूपी महान् वृंतसे युक्त वह फल साक्षी चेतनसे उज्ज्वल था ॥ ९ ॥

ज्ञानरूपी विकसित मुखवाला, अनेक नदी और समुद्ररूपी नाड़ियोंसे आवृत, पञ्चतन्मात्रारूपी कोशमें स्थित, ऊपरमें तैर रहे नक्षत्रोंरूपी हिमकणोंसे परिपूर्ण, महाकल्पके अवसानमें पककर गिरनेमें उन्मुख, तदनन्तर मूर्खरूपी कौवों या विवेकी जनरूपी कोकिलोंसे भक्ष्यमाण गिरनेपर शान्तिको प्राप्त तथा कहींपर वासनामात्र शेषस्वरूप नाश या ब्रह्मभावको प्राप्त होनेवाला वह फल था ॥ १०,११ ॥

उस गूलरके भीतर तीनों भुवनका स्वामी देवताओंका ईश इन्द्र ऐसे रहता था, जैसे क्षौद्रकुम्भके भीतर स्थित मधुमक्खियोंका स्वामी ॥ १२ ॥

अपने अन्तःकरणमें आत्माका निरन्तर विचार करनेवाला पूर्वापरवेत्ताओंमें श्रेष्ठ वह महात्मा गुरुके उपदेश तथा अपने अभ्याससे अविद्यारूपी आवरणसे रहित हो गया था ॥ १३ ॥

इसके बाद अपने पराक्रमसे सुशोभित नारायण आदि जब कहीं क्षीर-सागरमें

शस्त्रज्वालानलोद्गारैरयुध्यत महासुरैः ।
विजितस्तैर्महावीर्यैरतो व्यद्रवदाद्रुतम् ॥ १५ ॥
दिशो दश सुवेगेन दुद्रावाऽभिद्रुतोऽरिभिः ।
न विश्रामास्पदं प्राप परलोक इवाऽधमः ॥ १६ ॥
तद्भ्रान्तदृष्टिष्वरिषु मनाक् छिद्रमवाप्य सः ।
प्रशमं कायसङ्कल्पं नीत्वा स्वं स्वान्तरे बहिः ॥ १७ ॥
कमप्यर्कांशुकोशस्थं त्रसरेणुं विवेश सः ।
संविद्रूपतया पद्मकोशं मधुकरो यथा ॥ १८ ॥
स तत्राऽऽशु विशश्राम चिरादाश्वासमाययौ ।
अथ विस्मृतसङ्ग्रामो निर्वृत्तिं समुपागमत् ॥ १९ ॥
कल्पितं सद्म तत्राथ स क्षणादनुभूतवान् ।
तस्मिन्सद्मनि पद्मान्ते रेमे स्व इव विष्टरे ॥ २० ॥

शयन कर रहे थे तब अकेले उस सुरेश्वरने शस्त्रोंकी ज्वालारूपी अग्निको धारण करनेवाले बड़े-बड़े पराक्रमी असुरोंके साथ युद्ध किया और बादमें उनसे पराजित होकर वह शीघ्र युद्धभूमिसे भागा ॥ १४, १५ ॥

और शत्रु उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे । शत्रुओंके पीछा करनेपर दसों दिशाओंमें बड़े वेगसे भागते हुए उसने कहींपर भी अपने विश्रामका स्थान ऐसे नहीं प्राप्त किया, जैसे पापी पुरुष उत्तम परलोक नहीं प्राप्त करता ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् जब उसके शत्रुओंकी दृष्टि इधर-उधर कहीं थोड़ी देरके लिए भ्रान्त हो गयी तब अपने छिपनेका किञ्चित् अवसर पाकर वह अपने स्थूलाकार सङ्कल्पको अपने अन्तःकरणके अन्दर ही सूक्ष्मभूतमें विलीन करके अत्यन्त अणु बनकर बाहर सूर्यकी किरणोंके कोशमें स्थित किसी एक त्रसरेणुके भीतर अपने संविद्रूप प्रवेशसङ्कल्पसे ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे पद्मकोशके भीतर मधुकर प्रविष्ट हो जाता है ॥ १७, १८ ॥

वहां जाते ही वह शीघ्र विश्राम करने लगा । चिरकालके बाद उसने वहां शान्ति प्राप्त की । तदनन्तर बहुत दिनों तक वहीं पड़े रहनेके कारण वह अपना संग्राम भूल गया, जिससे बाहर निकलनेकी उसकी स्मृति भी समाप्त हो गई । वहांपर उसने अपने रहनेके लिए एक घरकी कल्पना की और तत्काल ही

गृहस्थः स ददर्शाथ कल्पितं नगरं हरिः ।
मणिमुक्ताप्रवालादिकृतप्राकारमन्दिरम् ॥ २१ ॥
नगरान्तर्गतोऽपश्यत्ततो जनपदं हरिः ।
नानाद्रिग्रामगोवाटपत्तनारण्यराजितम् ॥ २२ ॥
तादृग्प्रतिश्चेतितवान्स शक्रो भुवनं ततः ।
साद्र्यब्ध्युर्वीनदीशान्तं सक्रियाकालकल्पनम् ॥ २३ ॥
तादृग्प्रतिश्चेतितवान् स शक्रस्त्रिजगत्ततः ।
सपातालमहीव्योमविष्टपार्कादिपर्वतम् ॥ २४ ॥
तत्राऽतिष्ठत्सुरेशत्वे स भोगभरभूषितः ।
पुत्रो बभूव तस्याथ कुन्दो नामाथ वीर्यवान् ॥ २५ ॥

उसका अनुभव किया। उस अपने कल्पित घरके भीतर पद्मासनके ऊपर बैठकर उसने ऐसे रमण किया, जैसे कि अपने स्वर्गलोकमें स्थित प्रसिद्ध सिंहासनके ऊपर बैठकर रमण करता था ॥ १९, २० ॥

उस गृहके भीतर स्थित इन्द्रने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जहाँपर चहार-दीवारियोंसे घिरे मणि-मुक्ता और प्रवालोंसे विरचित अनेक मन्दिर चमचमा रहे थे ॥ २१ ॥

उसके बाद उस नगरके भीतर पहुँचकर इन्द्रने एक देश देखा, जिस देशके भीतर अनेक प्रकारके पर्वत, ग्राम, गोशालाएँ, नगर और बहुत-से जङ्गल विराजमान थे ॥ २२ ॥

इसके अनन्तर उसी तरहके सङ्कल्पसे युक्त इन्द्रने भूलोकका अवलोकन किया, जो अनेक पर्वतों, समुद्रों, भूमियों, नदियों, राजाओं तथा उनकी राज्य-सीमाओंसे युक्त और क्रिया एवं काल आदिकी कल्पनाओंसे समन्वित था ॥२३॥

इसके पश्चात् वैसे ही सङ्कल्पसे युक्त इन्द्रने तीनों जगत्का अनुभव किया, जो पाताल, पृथिवी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य, पर्वत आदि अनेक पदार्थोंसे युक्त था ॥ २४ ॥

तदनन्तर अनेक तरहके भोगोंसे परिपूर्ण वह इन्द्र देवताओंके अधीशपनके पदपर देवलोकमें अधिष्ठित हो गया और कुछ काल बीत जानेके बाद उसे कुन्द नामक एक महापराक्रमी पुत्र पैदा हुआ ॥ २५ ॥

ततो जीवितपर्यन्ते त्यक्त्वा देहमनिन्दितः ।
निर्वाणमाययौ शक्रो निःस्नेह इव दीपकः ॥ २६ ॥
कुन्दस्त्रैलोक्यराजोऽभूज्जनयित्वा सुतं निजम् ।
कालेन जीवितस्यान्ते जगाम परमं पदम् ॥ २७ ॥
तत्पुत्रोऽपि तथैवाथ कृत्वा राज्ये सुतं निजम् ।
जगाम जीवितस्यान्ते पावनं परमं पदम् ॥ २८ ॥
एवं पौत्रसहस्राणि समतीतानि सुन्दर ।
तत्राद्यापि सुरेशस्य येषां राज्ये स्थितोऽशकः ॥ २९ ॥
इत्यद्ययावदमरेश्वरवंश एव
सङ्कल्पिते जगति शक्रपदं विधत्ते ।
तस्मिन् क्षतेऽपि गलितेऽपि हतेऽपि नष्टे
क्वाप्यम्बरे दिनकरातपपावनाणौ ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने त्रसरेण्वन्तरसर्गसङ्घवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

तत्पश्चात् अनिन्दित वह इन्द्र जीवनके अन्तमें इस पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग कर, तैलरहित दीपककी नाईं, निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो गया ॥ २६ ॥

उसका पुत्र कुन्द तीनों लोकका राजा हुआ और पुत्र उत्पन्न करके समयसे जीवनका अन्त आनेपर वह भी परम पदको प्राप्त हो गया ॥ २७ ॥

उस कुन्दका भी लड़का अपने पिताके ही समान बहुत वर्षोंतक राज्य करके अपने पुत्रको राज्यसिंहासनपर बैठाकर जीवनके अन्तमें परम पावन पदको प्राप्त हो गया ॥ २८ ॥

हे सुन्दर, इस तरह उस सुरेशके हजारों पुत्र-पौत्र आदि हो गये। आज भी जिनके उस राज्यमें अंशक नामका राजा राजसिंहासनपर स्थित है ॥ २९ ॥

हे विद्याधर, इस रीतिसे, जैसा कि मैंने तुमसे वर्णन किया, दिनकरके आतपसे पवित्र उस त्रसरेणुके आकाशप्रदेशमें कहीं क्षत, गलित, हत या सर्वथा नष्ट हो जानेपर भी इन्द्रके सङ्कल्पित त्रसरेणुके अन्दर स्थित जगत्में उस अमरेश्वरका वंश ही इन्द्रके राज्यका आज भी पालन कर रहा है ॥ ३० ॥

तेरहवाँ सर्ग समाप्त

चतुर्दशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

तस्य शक्रस्य कुलजः कश्चिदासीत्सुराधिपः ।
तत्रोत्तमगुणः श्रीमान्पाश्चात्या यस्य सा तनुः ॥ १ ॥
अथेन्द्रकुलपुत्रस्य तस्य तत्र बभूव ह ।
प्रतिभाज्ञानसम्प्राप्तिर्बृहस्पतिगिरोदिता ॥ २ ॥
ततो विदितवेद्योऽसौ यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
चकार जगतां राज्यमाज्यपानामधीश्वरः ॥ ३ ॥
युयुधे दानवैः सार्द्धमजयत्सर्वशात्रवान् ।
शतं चकार यज्ञानामज्ञानोत्तीर्णमानसः ॥ ४ ॥
उवास कार्यवशतो बिसबालान्तरे चिरम् ।
अन्यान्यपि च वृत्तान्तशतान्यनुबभूव ह ॥ ५ ॥

चौदहवाँ सर्ग

[उस कुलमें उत्पन्न इन्द्रकी बिसतन्तुमें जगत्‌की रचना तथा सब तरहके विचारकर देखनेपर ब्रह्मदृष्टिमें आकाशकी इन्द्रताका वर्णन]

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, पूर्वोक्त उस इन्द्रके कुलमें उत्तम गुणोंसे पूर्ण श्रीसम्पन्न कोई इन्द्र हुआ। उस देवलोकमें उसका वह अन्तिम शरीर था ॥१॥

कुछ दिनोंके बाद उस देवलोकमें इन्द्रके वंशमें उत्पन्न हुए लड़केको बृहस्पतिकी उपदेशवाणीसे आत्म-तत्त्वसाक्षात्कारज्ञानकी प्राप्ति हुई ॥ २ ॥

तदनन्तर वेद्यवस्तुका ज्ञान प्राप्त करानेवाले तथा प्रारब्धानुसार प्राप्त कार्योंका सम्पादन करनेवाले देवताओंके उस अधीश्वरने समस्त जगत्‌का राज्य किया ॥३॥

उसने दानवोंके साथ युद्ध किया, अपने शत्रुओंको जीता तथा अज्ञानको पार कर चुके मनवाले उस राजाने सौ अश्वमेध यज्ञ किये ॥ ४ ॥

उसने अपने किसी कार्यवश कमलदण्डके कोमल तन्तुके अन्दर चिरकालतक निवास किया। उस बिसतन्तुके भीतर कल्पित ब्रह्माण्डमें राज्य करना तथा युद्धमें जय-पराजय प्राप्त करना आदि भिन्न-भिन्न सैकड़ों वृत्तान्तोंका भी उसने खूब अनुभव किया, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥

कदाचिदासीत्तस्येच्छा प्रबोधबलशालिनः ।
ब्रह्मतत्त्वमवेक्षेऽहं यथावद्ध्यानवानिति ॥ ६ ॥
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन तत एकान्तसंस्थितः ।
सबाह्याभ्यन्तरेऽशेषकारणत्यागशान्तधीः ॥ ७ ॥
सर्वशक्तिपरं ब्रह्म सर्ववस्तुमयं ततम् ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम् ॥ ८ ॥
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्त्य संस्थितम् ॥ ९ ॥
सर्वेन्द्रियगुणैर्मुक्तं सर्वेन्द्रियगुणान्वितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १० ॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ ११ ॥
सर्वत्र चन्द्रार्कमयं सर्वत्रैव धरामयम् ।
सर्वत्र पर्वतमयं सर्वत्राब्धिमयं तथा ॥ १२ ॥

ज्ञान-बलयुक्त उस राजाको कभी अचानक ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं भलीभांति ध्यान लगाकर मायाशबलित ब्रह्मका स्वभाव देखूँ ॥ ६ ॥

इसके बाद उसने एकान्तमें स्थित होकर बाहर और भीतरके सम्पूर्ण विक्षेप कारणोंके त्यागसे शान्तबुद्धि होते हुए समाधि लगा करके सर्वविध शक्तियोंसे सम्पन्न, सर्ववस्तुमय, सर्वत्र व्याप्त, सब तरहसे सर्वदा सर्वरूप और सबके साथ, सर्वगामी परब्रह्मको देखा, जो अनेक हाथ और पैरोंसे युक्त था, चारों तरफ जिसकी आँखें, मस्तक और अनेक मुख थे, सभी ओर अनेक श्रोत्रेन्द्रियोंसे युक्त तथा लोकमें सबको आवृत करके जो स्थित था ॥ ७–९ ॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंसे निर्मुक्त होता हुआ भी उनके रूप आदि गुणोंके ग्रहण करनेकी शक्तियोंसे समन्वित था। परमार्थमें सबसे अलग रहता हुआ भी वह व्यवहारमें सबको धारण किये हुए था। निर्गुण रहनेपर भी वह सम्पूर्ण गुणोंका भोक्ता था ॥ १० ॥

समस्त प्राणियोंके बाहर-भीतर स्थित अचर तथा चर, सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय एवं दूरस्थ होनेपर भी वह समीपमें ही स्थित था ॥ ११ ॥

सर्वत्र चन्द्र-सूर्यमय, सर्वत्र पृथिवीमय, सर्वत्र पर्वतमय, सर्वत्र सागरमय,

सर्वत्र सारगुरुकं सर्वत्रैव नभोमयम् ।
सर्वत्र संसृतिमयं सर्वत्रैव जन्मयम् ॥ १३ ॥
सर्वत्रैव च मोक्षात्म सर्वत्रैवाद्यचिन्मयम् ।
सर्वत्र सर्वार्थमयं सर्वतः सर्ववर्जितम् ॥ १४ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये शकटे वानरे नरे ।
धाम्नि व्योम्नि तरावद्रावनिले सलिलेऽनले ॥ १५ ॥
नानाचारविचाराणि विविधावृत्तिमन्ति च ।
परमाण्वंशमात्रेऽपि त्रिजगन्ति ददर्श सः ॥ १६ ॥
मरीचस्यान्तरे तैक्ष्ण्यं शून्यत्वमिव चाऽम्बरे ।
त्रिजगत्सत्यसति च विद्यते चिन्मयात्मनि ॥ १७ ॥
इत्येवं भावयन्मुक्तभावया शुद्धसंविदा ।
शक्रः क्रमेण तेनैव तथैव ध्यानवानभूत् ॥ १८ ॥
ध्यानेन सर्वमेकत्र पश्यंश्चिरमुदारधीः ।
ददर्शेममसौ सर्गमस्मदीयं महामतिः ॥ १९ ॥

सर्वत्र चित्सार, गुरुरूप, सर्वत्र आकाशमय, सर्वत्र संसृतिमय, सर्वत्र जगन्मय, सर्वत्र मोक्षरूप, सर्वत्र आद्यचिन्मय, सर्वत्र सर्वपदार्थमय तथा सर्वत्र वह सबसे रहित था ॥ १२—१४ ॥

घट, पट, वट, शकट, भित्ति, वानर, तेज, गृह, आकाश, वृक्ष, पर्वत, वायु, जल और अग्नि आदि सब पदार्थोंमें तथा परमाणुके एक अंशमात्रमें भी नाना प्रकारके प्राणियोंके शारीरिक आचारों तथा मानसिक विचारोंसे युक्त एवं स्वर्ग, नरक आदिके गमनागमनादिसे समन्वित उसने तीनों जगत्को देखा ॥ १५, १६ ॥

मरीचके भीतर तीक्ष्णता तथा आकाशके भीतर शून्यताकी नाईं तीनों जगत् सदसद्रूप (आविर्भावकालात्मक एवं तिरोभावकालात्मक) चिन्मय परमात्मामें विद्यमान हैं ॥ १७ ॥

इस तरह जीवभावसे शून्य शुद्ध ज्ञानसे देखता हुआ वह इन्द्र पूर्ववासना-कल्पित उसी शरीरसे क्रमशः वैसे ही ध्यानवान् हो गया ॥ १८ ॥

महामति उदारबुद्धि उस इन्द्रने ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको माया-शबलित ब्रह्ममें देरतक देखते हुए हम लोगोंके द्वारा अनुभूयमान इस ब्रह्माण्डको देखा ॥ १९ ॥

ततोऽस्मिन् विचरन्सर्गे शक्रान्ते शक्रतां गतः ।
चकार जगतां राज्यं वृत्तान्तशतशोभितम् ॥ २० ॥
विद्याधरकुलाधीश इत्यद्यैव स देवराट् ।
तस्येन्द्रस्य कुलोत्पन्न इति विद्धि यथास्थितम् ॥ २१ ॥
ततो हृदयबीजस्थप्राङ्मुख्याभ्यासयोगतः ।
बिसबालनिवासादिवृत्तान्तमनुभूतवान् ॥ २२ ॥
यथैष शक्रः कथितस्त्रसरेणूदरास्पदः ।
बिसबालास्पदश्चैतत्कुलजः कान्तिमानथ ॥ २३ ॥
तथा शतसहस्राणि तत्रेतश्चान्यतश्च खे ।
तादृशव्यवहाराणि समतीतानि सन्ति च ॥ २४ ॥
वहतीयमविच्छिन्ना चिरायैवं तरङ्गिणी ।
तावद्दृश्यसरित् प्रौढा रूढारूढे च तत्पदे ॥ २५ ॥

तदनन्तर हम लोगोंके इस ब्रह्माण्डमें पाताल, भूमि आदि लोकोंके क्रमसे इन्द्र-लोकके भीतर मनसे विचरण करता हुआ वह इन्द्रके समीप पहुँचा। वहां इन्द्रको देखते ही 'मैं इन्द्र हूँ' इस संस्कारके उद्‌बुद्ध होने तथा पूर्वमें किये गये सैकड़ों अश्वमेघ यज्ञोंके फलकी प्राप्ति अनिवार्य होनेसे इन्द्र हो गया और सैकड़ों वृत्तान्तोंसे शोभित अनेक भुवनोंका राज्य किया ॥ २० ॥

हे विद्याधरकुलाधीश, इस रीतिसे उस त्रसरेणुके अन्तर्गत इन्द्रके कुलमें उत्पन्न वह इस ब्रह्माण्डमें भी देवोंका राजा बनकर स्थित है, यह तुम जान लो ॥ २१ ॥

इस ब्रह्माण्डका इन्द्र बन जानेके बाद, उसने हृदयमें बीजके सदृश संस्कार-रूपसे स्थित पूर्वकालके ज्ञानयोगाभ्यासरूप योगसे बिसतन्तुके भीतर स्थित अपने प्राक्तन वृत्तान्तोंका स्मरण किया ॥ २२ ॥

सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्ममें सर्वत्र सबका सद्भाव होनेसे इस तरहके सैकड़ों इन्द्र विद्यमान हैं, यह कहते हैं—'यथैषः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

त्रसरेणुके उदरमें बिसतन्तुके भीतर अपना निवास बनाकर कान्तिमान् जैसे यह इन्द्र कहा गया है, वैसे ही इधर-उधर उस तरहके सैकड़ों हजारों व्यवहार चिदाकाशमें हो चुके हैं और हो भी रहे हैं ॥ २३, २४ ॥

हे विद्याधर, जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, तबतक प्रबल यह दृश्यरूप

इति मायेयमादीर्घा प्रसृता प्रत्ययोन्मुखी ।
सत्यावलोकमात्रातिविलयैकविलासिनी ॥ २६ ॥
यतः कुतश्चिन्मायेयं यत्र क्वचन वाऽनघ ।
यथाकथञ्चित्सम्पन्नमात्रैव परिदृश्यते ॥ २७ ॥
अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात् ।
जायते मिहिकेवाऽऽशु प्रेक्षामात्रविनाशिनी ॥ २८ ॥
येनायताभिमतदर्शनद्रष्टृदृश्य-
मुक्तस्वभावमवभासनमात्मतत्त्वम् ।
सर्वार्थशून्यमत एव च शून्यरूप-
मेकं खमात्रमिव मात्रविकल्पमेव ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्यानान्तर्गतेन्द्राण्डाख्याने सर्गसङ्कल्पयोरैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

नदी अविच्छिन्नरूपसे चिरकालतक बहती ही रहती है और चौथी भूमिकासे लेकर छठी भूमिकाओं तक उस ब्रह्मपदके अर्धरूढ़ तथा अर्ध अनारूढ़ होनेपर बहुत दूरतक लम्बी-चौड़ी फैली हुई यह माया माया-रूपसे अनुभवमें आ जाती है। एकमात्र विलासमें ही तत्पर रहनेवाली यह माया केवल सत्य परमात्माके साक्षात्कारसे विलयको प्राप्त होती है ॥ २५, २६ ॥

चूँकि यह माया है, इसीलिए इसके वैचित्र्यमें कोई विशेष हेतु ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'यतः' इत्यादिसे ।

हे अनघ, यह माया जिस किसी कारणसे जहां कहीं यथा कथंचित् उत्पन्न हुई दिखाई देती है, अतः इसकी विचित्रताओंके विषयमें विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥ २७ ॥

अथवा एकमात्र अहङ्काराध्यास ही इसके वैचित्र्यमें निश्चित हेतु है, यह कहते हैं—'अहम्भाव०' इत्यादिसे ।

मेघसे वृष्टिके सदृश अहंभावरूप चमत्कारसे कुहरेके जैसी यह माया उत्पन्न होती है और आत्माके साक्षात्कारमात्रसे क्षण भरमें ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥२८॥

चूँकि सर्वसाक्षिब्रह्मका रूप परमार्थतः समस्त विकल्पोंसे रहित ही है, इसीलिए

पञ्चदशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

यत्राहन्त्वं जगत्तत्र पूर्वमागत्य तिष्ठति ।
पराण्वन्तरपीन्द्रस्य त्रसरेणूदरे यथा ॥ १ ॥
भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अहम्भावोऽभिमन्तात्मा मूलमाद्यमुदाहृतम् ॥ २ ॥
वासनारससंसिक्तादहंबीजकणादयम् ।
ब्रह्माद्रौ व्योमविपिने जायते त्रिजगद्द्रुमः ॥ ३ ॥

अहङ्कारके वशसे विस्तृत हुए मानस विकल्पों तथा द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—इस त्रिपुटीरूप इन्द्रियके विकल्पोंसे मुक्तस्वभाव (जाग्रदवस्थासे शून्य) होनेके कारण वासनामय स्वाप्निक पदार्थोंसे रहित है । शून्यरूप एकमात्र आकाशकी तरह पूर्ण अवभासवाला एक चिद्रूप आत्मतत्त्व ही परिशिष्ट है ॥ २९ ॥

चौदहवाँ सर्ग समाप्त

पन्द्रहवाँ सर्ग

[जगत्की भ्रान्तिका बीज तथा स्वरूप अहंभाव है, इसके परिमार्जनसे जगत्के अभाव द्वारा शुद्ध परमात्माके शेष रह जानेसे कृतार्थता सिद्ध हो जाती है, यह वर्णन]

'अहंभावचमत्कारमात्राद्वृष्टिरिवाम्बुदात्' यह जो ऊपर कहा गया है, इसमें उपपादकरूपसे इन्द्र और त्रसरेणुकी आख्यायिकाकी योजना करते हैं—'यत्र०' इत्यादिसे ।

भुशुण्डजीने कहा—हे विद्याधर, जहांपर अहन्ता रहती है वहांपर जगत् पहले हीसे* आकर ऐसे बैठा रहता है, जैसे त्रसरेणुके भीतर परमाणुके अन्दर इन्द्रका साम्राज्य आदि प्रपञ्च ॥ १ ॥

आकाशके वर्णके सदृश आविर्भूत इस जागतिक भ्रमका अभिमानकर्ता अहंभाव ही आद्य मूल कहा गया है ॥ २ ॥

वासनारूपी रससे सींचे गये अहंभावरूपी बीजकणसे ब्रह्मरूपी पर्वतके

---

* अभिनव स्वप्नप्रपञ्चमें भी मैं पूर्वसिद्ध ही जगत्को देख रहा हूँ, यह सबको अनुभव भी है, इस अभिप्रायसे 'पूर्वमागत्य तिष्ठति' यह उक्ति है ।

तारकापुष्पनिकरो विलीनाचलपल्लवः ।
सरित्सारशिरापूरो वासनासारतत्फलः ॥ ४ ॥
अहन्त्वसलिलस्येदं जगत्स्पन्द उदाहृतः ।
चिच्चमत्करणस्वादुर्वासनाविसरद्रवः ॥ ५ ॥
तारकासीकरासारो नभोऽनन्तनिखातवान् ।
भावाभावमहावर्तो नानागिरितरङ्गकः ॥ ६ ॥
त्रिलोकीविलिखल्लेखो विलोलालोकफेनिलः ।
ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भेदः कपाटापीडपीवरः ॥ ७ ॥
भूपीठदृढडिण्डीरपिण्डश्चिद्घनमद्गुमान् ।
चित्राजवं जवीभावमज्जनोन्मज्जनात्मकः ॥ ८ ॥

ऊपर अव्याकृत आकाशरूपी विपिनमें यह त्रिलोकीरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है ॥३॥

इस वृक्षके सभी तारे पुष्पसमूह हैं, मेघमिहिकारूपी वनसे ढके समस्त पर्वत इसके पल्लव हैं, गङ्गा आदि सब नदियां इसकी नाड़ियोंके प्रवाह हैं तथा हे विद्याधर, वासनारूपी बीजांशोंसे परिपूर्ण नानाविध भोग ही तो इसके सुन्दर फल हैं ॥ ४ ॥

अब अहङ्कारका महाजलरूपसे तथा जगत्का उसके कार्यभूत तरङ्ग आदि रूपसे वर्णन करते हैं—'अहन्त्व०' इत्यादि पाँच श्लोकोंसे ।

हे विद्याधर, यह जगत् अहङ्काररूपी सलिलका स्पन्द (विलास) कहा गया है। चितिके वैषयिक सुखरूपी माधुर्यसे परिपूर्ण वासनाओंका प्रसार ही इसका द्रव है ॥ ५ ॥

तारोंके समूहरूपी सीकरोंकी मूसलाधार वृष्टि करनेवाला तथा आकाशके कारण अनन्त निखातों (सरोवरों) से परिपूर्ण यह जगत् अहङ्काररूपी महाजलका विलास है । नाना प्रकारके अनेक पर्वतोंरूपी तरङ्गोंसे समन्वित इसमें सम्पत्तियों और विपत्तियों के अनेक आवर्त उठते-रहते हैं ॥ ६ ॥

इसमें चित्रलिखित रेखाओंकी नाईं तीनों लोकके जनसमूहरूपी रेखाएँ आविर्भूत हो रही हैं तथा सूर्य और चन्द्र आदिके प्रकाशोंके कारण वह फेनयुक्त हो गया है । इसमें अनेकों ब्रह्माण्डरूपी बुलबुलोंके उद्भेद उपस्थित हैं तथा कपाटकी नाईं मोक्षद्वारको रोक रखनेवाले मोहसे यह अभिवृद्ध है ॥ ७ ॥

भूपीठरूपी दृढ़ समुद्रफेनके पिण्डसे युक्त, अनेक जीवोंके कारण जलकाकोंसे

जरामरणमोहादिवीचीचयचमत्कृतिः ।
उत्पन्नध्वंसिदेहादिबिन्दुवृन्दैकबन्धुरः ॥ ९ ॥
अहन्त्वपवनस्पन्दो जगदित्यवगम्यताम् ।
अहन्त्वपद्मसौगन्ध्यं जगदित्यवबुध्यताम् ॥ १० ॥
नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दवत्सदा ।
पयो द्रवत्वमिव च वह्निरौष्णमिव च ॥ ११ ॥
जगदस्त्यहमर्थेऽन्तरहमस्ति जगद्धृदि ।
अन्योन्यभाविनी त्वेते आधाराधेयवत्स्थिते ॥ १२ ॥
जगद्बीजमहन्त्वं यो मार्ष्टि बोधादवेदनात् ।
अलं चित्रं जलेनेव तेन धौतं जगन्मलम् ॥ १३ ॥

समन्वित तथा उनके नाना प्रकारके वेगपूर्वक ऊपर, नीचे, तिरछे भ्रमणोंके कारण यह मज्जन और उन्मज्जनरूप है ॥ ८ ॥

यह जरा-मरण और मोहादिरूपी तरङ्गोंके समूहरूप चमत्कारसे परिपूर्ण है तथा उत्पत्ति और विनाशशील देहादि पदार्थरूपी बिन्दुओंके वृन्दसे अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥

अब दूसरी रीतिसे जगत्का वर्णन करते हैं—'अहन्त्व०' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, तुम इस जगत्को अहङ्काररूपी पवनका स्पन्द समझो तथा यह भी जान लो कि यह जगत अहङ्काररूपी कमलकी सुगन्ध है ॥ १० ॥

पवन तथा उसके स्पन्द, जल और उसके द्रवत्व एवं अग्नि तथा उसकी उष्णताके सदृश यह अहङ्कार और जगत् सदा अभिन्नरूप है ॥ ११ ॥

परस्पर बीजताका वर्णन करते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

हे विद्याधर, अहङ्कारके अन्दर यह जगत् तथा उस जगत्के अन्दर अहङ्कार स्थित है । ये दोनों परस्पर एक दूसरेको उत्पन्न करनेवाले तथा परस्पर एक दूसरेके अधीन स्थितिवाले हैं ॥ १२ ॥

यही कारण है कि अहङ्कारके परिमार्जनसे जगत्का परिमार्जन हो जाता है, यह कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

जो मनुष्य जगत्के बीज इस अहङ्कारको अनहंभावरूप ज्ञानसे नष्ट कर

अहन्त्वं नाम तत्किञ्चिद्विद्याधर न विद्यते।
अकारणमवस्तुत्वाच्छशशृङ्गमिवोदितम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मण्यतितेऽनन्ते सङ्कल्पोल्लेखवर्जिते।
अहन्त्वकारणाभावान्न कदाचन सन्मयम् ॥ १५ ॥
अवस्तुन्येति सर्गादौ न सम्भवति कारणम्।
अतोऽहन्त्वादि नास्त्येव वन्ध्यासुत इव क्वचित् ॥ १६ ॥
तदभावाज्जगन्नास्ति चित्त्वं जगदभावतः।
शिष्टं निर्वाणमेवाऽतः शान्तमास्व यथासुखम् ॥ १७ ॥
अभावादुपपत्तिस्थादेवं जगदहन्त्वयोः।
रूपालोकमनस्काराः शान्तास्तव न चेतरत् ॥ १८ ॥

देता है मानो वह मलसे परिपूर्ण जगद्रूपी चित्रको उसी ज्ञानरूपी जलसे बिलकुल धो डालता है ॥ १३ ॥

तत्त्वदृष्टिसे अहङ्कारको असद्रूप देखना ही इसका परिमार्जन है—यह कहते हैं—'अहन्त्वम्' इत्यादिसे।

इसलिए हे विद्याधर, परमार्थमें यह अहंभाव कुछ नहीं है। अवस्तुरूप होनेसे खरहेके सींगके समान बिना कारण ही यह उदित है ॥ १४ ॥

यह कैसे, इसपर कहते हैं—'ब्रह्मण्य०' इत्यादिसे।

सर्वत्र व्याप्त, अनन्त, सङ्कल्पोंके उल्लेखोंसे शून्य ब्रह्ममें अहङ्कारका कोई कारण ही नहीं है, अतः वह कभी भी सद्रूप नहीं है ॥ १५ ॥

कारण रहते भी लोकमें अवस्तुके लिए वह कुछ नहीं कर सकता, प्रकृत सर्ग आदिमें तो कारणका संभव ही नहीं है। इसलिए वन्ध्या स्त्रीके पुत्रकी नाईं अहंभाव आदि कहींपर हैं ही नहीं ॥ १६ ॥

अहंभावादिरूप बीजके अभावसे यह जगत् भी नहीं है और इस जगत्के अभावसे कैवल्यरूपी निर्वाण ही चिन्मात्र अवशिष्ट है। अतः हे विद्याधर, शान्त ब्रह्मस्वरूप होकर तुम सुखपूर्वक बैठे रहो ॥ १७ ॥

इस प्रकार उपपत्तिमें प्रतिष्ठित जगत् और अहङ्कारके अभावसे बाह्यरूप, आलोक आदि संसार तथा आभ्यन्तर मानसिक संसार सब तुम्हारे शान्त हो चुके। इन दोनोंसे अतिरिक्त हेय कोई दुःख अब तुम्हें नहीं है, अतः हे विद्याधर, तुम शान्त बैठे रहो ॥ १८ ॥

यन्नास्ति तत्तु नास्त्येव शेषं शान्तमसि ध्रुवम् ।
सम्प्रबुद्धोऽसि मा भूयो निर्मूलां भ्रान्तिमाहर ॥ १९ ॥

व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः
शिवमसि शान्तमसीश्वरोऽसि नित्यः ।
खमपि भवति पर्वतोपमानं
जगदपि वा परमाणुरूपमेव ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरनिर्वाणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

भुशुण्ड उवाच

कथयत्येवमप्येवं स विद्याधरनायकः ।
आसीत्संशान्तसंवित्तिः समाधिपरिणामवान् ॥ १ ॥

जो नहीं है वह तो सर्वथा नहीं है ही, अतः विक्षेपादि दुःखरहित शान्त ब्रह्मरूप ही तुम हो । हे विद्याधर, इसमें सन्देह नहीं कि अब तुम अच्छी तरह प्रबुद्ध हो चुके हो, अब फिर तुम निर्मूल भ्रान्तिको मत अपनाओ ॥ १९ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर दृश्यप्रपञ्चके कल्पनरूपी कलङ्कसे शून्य अतएव शुद्ध, शिव, शान्त, नित्य ईश्वररूप ही तुम हो । हे विद्याधर, अध्यारोपदृष्टिसे आकाश भी पर्वतके सदृश होता है तथा अपवाददृष्टिसे तो ब्रह्माण्ड भी परमाणुरूप आकाश ही हो जाता है ॥ २० ॥

पन्द्रहवां सर्ग समाप्त

सोलहवां सर्ग

[इस उपदेशको सुनकर विद्याधरकी समाधिमें लीनता तथा अनहंभावकी प्रशंसा द्वारा कथाकी समाप्तिका वर्णन]

भुशुण्डजीने कहा—हे मुने, मैं यों कह ही रहा था कि उस विद्याधरनायक-का समस्त दृश्यज्ञान शान्त हो गया नीरक्षीरके समान समाधिरूपी चित्तके परिणामसे युक्त हो गया यानी समाधिमें लीन हो गया ॥ १ ॥

प्रबोध्यमानोऽपि मया भूयोभूयस्ततस्ततः ।
न पपात पुरो दृश्ये परं निर्वाणमागतः ॥ २ ॥
स प्राप परमं स्थानं तावन्मात्रप्रबोधवान् ।
केनचिन्नाधिकेनाङ्ग यत्नेनातिशयैषिणा ॥ ३ ॥
अत उक्तं मया राम यदि शुद्धे हि चेतसि ।
उपदेशः प्रसरति तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ४ ॥
नाहमित्यस्ति तेनान्तर्मैनं भावय शान्तये ।
एतावदुपदेशोक्तिः परमा नेतराऽस्ति हि ॥ ५ ॥
एषैवाभव्यमनसि पतिता प्रविलीयते ।
उत्ताने मसृणादर्शे मुक्ताफलमिवाऽमलम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर बार-बार मैंने उसे इधर-उधरसे जगाया, लेकिन परम निर्वाणपदको प्राप्त वह फिर शब्दादि विषयोंकी ओर न गिरा ॥ २ ॥

हे महर्षे, मुख्य अधिकारी होनेके कारण मेरे सिर्फ उतने उपदेशसे ही प्रबोधवान् होकर वह परमपदरूप स्थान को प्राप्त हो गया। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि किसी और अधिक अतिशयशाली यत्नसे नहीं ॥ ३ ॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने पूर्वोक्त अर्थमें विद्याधरके चित्तका उदाहरण देकर वर्णनमें शीघ्रता होनेके कारण भुशुण्डजीकी उक्तिको छोड़ करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए पहले मैंने आपसे कहा था कि शुद्ध चित्तमें उपदेश ऐसे फैलता है, जैसे कि जलमें तैलबिन्दु ॥ ४ ॥

वह कौन-सा उपदेश है? यह पूछनेपर उसको कहते हैं—'नाहम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, आपके चिदेकरस प्रत्यगात्मामें अहङ्कारका-अंश बिलकुल नहीं है, अतः आप अपनी शान्तिके लिए असद्रूप इसकी भावना कभी मत कीजिये, बस यही मेरी सर्वोत्तम सारसंग्रहभूत उपदेशवाणी है और कुछ अन्य नहीं ॥ ५ ॥

यही अभव्य पुरुषके चित्तमें पड़कर ऐसे नहीं ठहर पाती, जैसे कि उलटे चिकने साफ दर्पणमें निर्मल मुक्ताफल नहीं ठहर पाता ॥ ६ ॥

भव्ये तु शान्तमनसि लगत्यभ्येत्यविच्युतिम् ।
प्रविश्यान्तर्विचाराख्यामर्चिरर्कमणौ यथा ॥ ७ ॥
अहंभावनमेवोच्चैर्बीजं दुःखाख्यशाल्मलेः ।
ममेदं तद्वदादीति शाखाप्रसरकारणम् ॥ ८ ॥
अहमादौ ममेत्यन्तस्ततत इच्छा प्रवर्तते ।
इदमर्थशतानर्थकारिणी भवभारिणी ॥ ९ ॥
एवंविधा मुनिश्रेष्ठ मूढा अपि चिरायुषः ।
भवन्त्यनियमो ह्यङ्ग दीर्घायुष्यस्य कारणम् ॥ १० ॥
अन्तःशुद्धमनस्का ये सुचिरायाभयप्रदम् ।
मनागप्युपदिष्टास्ते प्राप्नुवन्ति परं पदम् ॥ ११ ॥

परन्तु भव्य शान्तपुरुषके मनमें जाकर शीघ्र लग जाती और खूब चिपक जाती है तथा उसके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर यह सम्पूर्ण मोहरूपी जंगलको जलानेमें समर्थ विचारनामक अग्निशिखा ऐसे पैदा करती है, जैसे कि सूर्यकान्त मणिके भीतर प्रविष्ट होकर सूर्यकी किरण अग्निशिखा पैदा करती है ॥ ७ ॥

इस संसारके दुःखरूपी सेमरके वृक्षका महान् बीज अहंभावना ही है तथा उस अहंभावनाके समान ही 'यह मेरा है' यह भावना भी इस वृक्षकी मूल है, क्योंकि रागादिरूपी शाखाओंके प्रसारकी कारण वही है ॥ ८ ॥

उसीको बतला रहे हैं—'अहम्भावन०' इत्यादिसे ।

बीजावस्थाके स्थानमें तो अहंभाव, इसके कार्यभूत वृक्षके स्थानमें ममभाव (यह मेरा है, यह भाव) तथा इस वृक्षकी शाखाओंके स्थानमें इच्छा प्रवृत्त होती है, जो कि इदमर्थरूप अनेक अनर्थों तथा संसार को प्रदान करनेवाली है ॥ ९ ॥

इस तरह अपने पूर्वकथनका प्रकृत सम्मतिसे समर्थन करके फिर भुशुण्डजीकी कथाका ही अनुसरण करते हुए महाराज वसिष्ठजी विद्याधरकी कथाका उपसंहार करते हैं—'एवंविधा' इत्यादिसे ।

हे मुनिश्रेष्ठ, इस तरह मूढ भी कभी-कभी चिरजीवी होते हैं, अतः दीर्घायुका कारण तत्त्वज्ञान है, यह कोई नियम नहीं है ॥ १० ॥

परन्तु शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषके ज्ञानमें चिरकालिक अभ्यास ही कारण है, यह नियम तो है ही, इस आशयसे कहते हैं—'अन्तःशुद्धमनस्काः' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

मेरुमूर्द्धनि मामेवमुक्त्वा स विहगाधिपः ।
तूर्ष्णीं बभूव मुक्तात्मा ऋष्यमूक इवाम्बुदः ॥ १२ ॥
अहमापृच्छ्य तं सिद्धं विद्याधरमथो पुनः ।
प्राप्त आत्मास्पदं राम मुनिमण्डलमण्डितम् ॥ १३ ॥
एतत्तवाद्य कथितं बलिशुकथोक्तं
विद्याधरोपशमनं लघुबोधनोत्थम् ।
अस्मिन् भुशुण्डविहगेन्द्रसमागमे मे
चैकादशेह हि गतानि महायुगानि ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विद्याधरोपाख्याने विद्याधरनिर्वाणं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥



चिरकालके अभ्याससे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे महानुभाव तो थोड़ा भी उपदेश पाकर अभयप्रद परम पदको (ज्ञानको) प्राप्त कर लेते हैं ॥ ११ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरु पर्वतके शिखरपर इस तरह मुझसे कहकर विहगोंके अधिपति मुक्तात्मा वे भुशुण्डजी ऐसे चुप हो गये, जैसे कि ऋष्यमूक पर्वतके ऊपर मतङ्ग ऋषिके आश्रममें उनके शापके भयसे मूक होकर मेघ चुप हो जाते हैं ॥ १२ ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर उस सिद्ध भुशुण्डजीसे पूछकर उनकी आज्ञासे मैं उस विद्याधरके पास उक्त संवादके विषयमें पूछताछ करनेके लिए चला गया। वहाँसे सारी बातें ठीक-ठीक जानकर मैं फिर मुनिमण्डलमण्डित अपने आश्रममें आ गया ॥ १३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आज मैंने आपसे काकभुशुण्डजीके द्वारा कही गई कथासे प्रतिपादित विद्याधरकी परम विश्रान्ति, जो तत्त्वज्ञानके कारण तत्काल ही उत्पन्न हुई थी, सुनाई। हे रामचन्द्रजी, इस वर्णित मेरे विहगेन्द्र भुशुण्डजीके समागमके अनन्तर इस कल्पके ग्यारह दिव्य युग बीत चुके हैं ॥ १४ ॥

सोलहवां सर्ग समाप्त

सप्तदशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अनहंवेदनादेवं शुभाशुभफलप्रदा ।
संसारफलिनी नूनमिच्छान्तरुपशाम्यति ॥ १ ॥
अनहंवेदनाभ्यासात्समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
भूत्वा शान्तभवापीडो न नरः परिताम्यति ॥ २ ॥
अहन्तापुटकोड्डीनपरबोधबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ३ ॥

सत्रहवाँ सर्ग

[अनहंभावरूप अग्निसे अहंभावरूप बीजके दग्ध हो जानेपर देहादिसंसारका पूर्णरूपसे बाध हो जानेके बाद यह संसार बिलकुल मिथ्या भासने लगता है, यह वर्णन]

सम्पूर्ण संसृतिका मूल काम ही है, इसलिए अनहंभाव द्वारा सबसे पहले उसीकी निवृत्ति कहते हैं—'अनहंवेदना०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इस तरह अनहंभावके ज्ञानसे शुभ और अशुभ फल देनेवाली तथा संसाररूप फलसे परिपूर्ण इच्छा अन्तःकरणमें ही शान्त हो जाती है, यह निश्चित है ॥ १ ॥

कामका उपरम हो जानेपर लोभ आदि दोषोंके क्षयसे वैराग्य आदि सम्पत्ति द्वारा सम्पूर्ण मानसिक दुःखोंका क्षय हो जाता है, यह कहते हैं—'अनहम्' इत्यादिसे।

अनहंभावज्ञानके अभ्याससे ढेला, पत्थर और सुवर्णको एक-सा समझनेवाला मनुष्य सांसारिक पीड़ाओंसे शान्त होकर फिर किसीकी इच्छा नहीं करता ॥ २ ॥

साधनसम्पन्न पुरुषको श्रवण आदिके द्वारा ज्ञानोदय होनेपर ब्रह्मसे अतिरिक्त अहमर्थका, बाधसे, असत्त्व ही पर्यवसित होता है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्ता०' इत्यादिसे।

श्रवण आदिके द्वारा ज्ञाननिर्मथनके अभ्याससे अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रके पुटकसे अग्निज्वालाकी नाईं आविर्भूत परब्रह्मसाक्षात्काररूपी बोधके बलसे फेंका गया अहमादि दृश्य पदार्थरूपी पाषाण, अग्नियन्त्र द्वारा फेंके गये पाषाणकी तरह, उड़कर शीघ्र ही न जाने कहाँ चला जाता है ॥ ३ ॥

अहन्तापुटकोड्डीनब्रह्मवीरबलेरितः ।
अहमित्यर्थपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ४ ॥
अहन्तापुटकोड्डीनो ब्रह्मवीरबलेरितः ।
शरीरयन्त्रपाषाणो न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ५ ॥
अहमर्थहिमं स्वन्तरनहन्ताचिदर्चिषा ।
उड्डीयेव विलीनं सन्न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ६ ॥
अहंरसो विलीनोन्तरनहन्ताचिदर्चिषा ।
शरीरपर्णादुद्वर्णान्न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ७ ॥
शरीरपर्णान्निष्पीतस्त्वहंभावरसासवः ।
अनहन्तार्कमार्गेण परतामधिगच्छति ॥ ८ ॥

अन्तिम साक्षात्कारवृत्तिमें आरूढ हुआ ब्रह्म ही अज्ञान, अहङ्कार आदिके निरासमें समर्थ है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्ता०' इत्यादिसे ।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटकसे आविर्भूत ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीरके बलसे फेंका गया अहमादि दृश्यपदार्थरूपी पाषाण न जाने कहां शीघ्र उड़कर चला जाता है ॥ ४ ॥

अज्ञान और अहङ्कारकी नाईं व्यष्टिसमष्टिरूप स्थूलदेहका भी निवर्तक ब्रह्म ही है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्ता०' इत्यादिसे ।

अहन्तारूप प्रमातारूपी यन्त्रपुटकसे आविर्भूत हुए ब्रह्मसाक्षात्काररूपी वीरके बलसे फेंका गया शरीरयन्त्ररूपी पाषाण उड़कर न जाने कहां शीघ्र चला जाता है ॥ ५॥

अथवा अनहंभावनावृत्तिमें प्रतिफलित चितिसे ही अहन्ताका नाश होता है, यही पक्ष रहे, इस आशयसे कहते हैं—'अहमर्थ०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

अहमर्थरूप हिम अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्निसे भीतर विलीन होकर मानो उड़ करके न जाने कहां शीघ्र चला जाता है ॥ ६ ॥

अनहंभावात्मक चितिरूपी अग्निकी ज्वालासे ब्रह्मविद्याके अधिकारी उत्कृष्ट ब्राह्मण आदि वर्ण तथा परिपाकके कारण पाण्डुवर्ण शरीररूपी पत्तेसे अहंभावरूपी रस अन्तःकरणमें ही गलकर न जाने शीघ्र कहां चला जाता है ॥ ७ ॥

अथवा बाधित अहन्तादिकी शून्यता नहीं है, किन्तु ब्रह्मता ही है, इस आशयसे कहते हैं—'शरीर०' इत्यादिसे ।

शयने कर्दमे शैले गृहे व्योम्नि स्थले जले।
स्थूला सूक्ष्मा निराकारा रूपान्तरगतापि च ॥ ९ ॥
यत्र तत्र स्थिता सुप्ता प्रबुद्धा भस्मतां गता।
धृता नीता निमग्ना च दूरस्था निकटा सती ॥ १० ॥
शरीरवटधानान्तःस्थिताहन्त्वनवाङ्कुरा ।
शाखाजालं तनोत्याशु संसाराख्यमिदं क्षणात् ॥ ११ ॥
अहन्त्ववटधानान्तःस्थितदेहबृहद्द्रुमः ।
संसारशाखानिवहं यत्र तत्र तनोत्यलम् ॥ १२ ॥
शाखाशतेद्धदलपुष्पफलद्रुमोऽस्ति
बीजोदरे ननु दृशा परिदृश्यतेऽसौ ।

शरीररूपी पत्तेसे भलीभांति पीया गया अहंभावरूपी रसासव अनहन्तारूपी सूर्यकी किरण द्वारा अपने कारणभूत सूक्ष्मजलात्मक ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

तत्त्वज्ञानके बिना तो कहीं कभी किसी अवस्थामें भी देह या अहङ्कारका आत्यन्तिक उच्छेद नहीं हो सकता, क्योंकि परस्पर एक दूसरेके बीज होनेके कारण परस्परमें उनकी भीतर सत्ता है, अतः जगद्भावसे इन दोनोंकी सर्वत्र उत्पत्ति है, यह कहते हैं—'शयने' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानके बिना स्थूल, सूक्ष्म, निराकार, रूपान्तरको प्राप्त सुप्त, प्रबुद्ध, भस्मीभूत, धृत, आनीत, निमग्न, दूरस्थ या निकटमें रहकर शयन, कर्दम, शैल, गृह, आकाश, स्थल तथा जलमें जहां-तहां कहीं भी स्थित शरीररूपी वटधाना (वटबीज), जिसके भीतर अहंभावरूपी नवीन अङ्कुर उद्भूत है, क्षणभरमें ही शीघ्र सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त हो जानेवाले इस संसाररूपी शाखासमूहका विस्तार कर देती है ॥ ९–११ ॥

इस तरह अहंभावरूपी वटबीजके भीतर शरीररूपी महान् वृक्ष भी स्थित है, यह समझना चाहिए, यह कहते हैं—'अहन्त्व०' इत्यादिसे।

अहन्त्वरूपी वटबीजके भीतर महान् शरीररूपी वृक्ष स्थित होकर जहां-तहां संसाररूपी शाखासमूहका खूब विस्तार करते रहता है ॥ १२ ॥

वटादिबीजके दृष्टान्तसे ही पूर्वोक्त अर्थका अनुभव कराते हैं—'शाखा०' इत्यादिसे।

देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्य-
संवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम् ॥ १३ ॥

देहादहन्त्वमनवाप्तवतो विचारै-
श्चिद्व्योममात्रवपुषो वपुषोऽथवोच्चैः ।
नाऽहन्त्वबीजजठरादसतोऽभ्युदेति ।
संसारवृक्ष इह बोधमहाग्निदग्धात् ॥ १४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अहन्त्वासत्तायोगोपदेशो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥



हे श्रीरामचन्द्रजी, यह प्रसिद्ध है कि जैसे बीजके भीतर सैकड़ों शाखाओंसे विराजमान दलों, पुष्पों और फलोंसे समन्वित वृक्ष है, क्योंकि उसके रहनेसे ही तो अङ्कुरादिके रूपमें निकलते हुए उसे सब लोग अपनी आँखोंसे देखते हैं, वैसे ही अहङ्काररूपी सूक्ष्म बीजके भीतर समस्त दृश्योंसे युक्त यह देह है, इसे सूक्ष्मबुद्धिरूपी अपनी आँखोंसे विद्वान् पुरुषोंने ही देखा है ॥ १३ ॥

इस तरह अविचारके फल सर्वत्र अनिर्मोक्षको बतलाकर अब विचारके फल मोक्षको बतलाते हैं—'देहाद०' इत्यादिसे ।

श्रवण आदि विचारोंसे तत्त्वबोध होनेपर चिदाकाशमात्र शरीरधारी जीवन्मुक्त पुरुषके अहन्ताको न प्राप्त किये हुए विद्यमान भी शरीरसे या निरतिशयानन्द पदमें प्रतिष्ठित हुए विदेहमुक्त पुरुषके बोधरूपी महाग्निसे दग्ध हुए असद्भूत अहन्तारूपी बीजके जठरसे यह संसाररूपी वृक्ष फिर कहीं नहीं पैदा होता ॥१४॥

सत्रहवां सर्ग समाप्त

अष्टादशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

मरणं सर्वनाशात्म न कदाचन विद्यते।
स्वसङ्कल्पान्तरस्थैर्यं मृतिरित्यभिधीयते ॥ १ ॥
पश्येमे पुर उह्यन्त इव मन्दरमेरवः।
आरूढा अपि दिग्वातैः सरिद्बिम्बितशैलवत् ॥ २ ॥

अठारहवाँ सर्ग

[सर्वत्र आकाशमें पवन द्वारा उड़ाये जा रहे मृत जीवके मनमें स्थित अनन्त जगत्‌का वर्णन]

'देहोऽस्त्यहन्त्वकणिकान्तरशेषदृश्यसंवित्परीत इति बुद्धिदृशैव दृष्टम्' यह जो ऊपर कहा गया है, उसमें कैसे और किस तरहकी बुद्धिदृष्टि है ? इन दोनोंका मृत जीवके वासनामय अनन्त जगत्‌के व्युत्पादन द्वारा समर्थन करनेके लिए भूमिका रचते हैं—'मरणम्' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पामर ही मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि समस्त वस्तुओंके नाशको मरणरूपसे समझते हैं, वह वास्तवमें मरण-स्वरूप नहीं है। यदि वैसा मान लिया जाय, तो कृतहानि आदि दोषोंकी प्राप्ति अवश्य होने लगेगी। किन्तु मनुष्यादिशरीरोंमें आत्मभावके कारण प्रारब्धका क्षय होनेपर उसके अनुरूप सङ्कल्पके तिरोभावके बाद देवादिशरीरमें अहंभावादिके जनक कर्मकी उत्पत्ति हो जानेपर उसके अनुरूप अपने दूसरे सङ्कल्पका, उसके भोजक अदृष्ट क्षयपर्यन्त स्थिर रहना ही, मरण कहलाता है यानी अपने सम्पूर्ण सङ्कल्पोंका रूपान्तरमें स्थित रहना ही मृति है ॥ १ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'पश्ये०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, इस तरह तत्-तत् जीवोंके सङ्कल्पसे कल्पित जगत्‌के भीतर स्थित हुए भी ये मन्दराचल और सुमेरु आदि दिशाओंमें वायु द्वारा सर्वत्र इधर-उधर उड़ाये जा रहे, नदियोंमें प्रतिबिम्बित पर्वतोंकी नाईं, मेरे आगे दिखाई दे रहे हैं, आप भी देखिये न ॥ २ ॥

उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत् ।
श्लिष्टाश्लिष्टस्वरूपाः खे मिथः संसृतयः स्थिताः ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

पश्येमे पुर उद्यन्त इति वाक्यार्थमक्षतम् ।
न किञ्चिदवगच्छामि यथावन्मुनिनायक ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

प्राणस्याऽऽभ्यन्तरे चित्तं चित्तस्याऽऽभ्यन्तरे जगत् ।
विद्यते विविधाकारं बीजस्यान्तरिव द्रुमः ॥ ५ ॥
मृते पुंसि नभोवातैर्मिलन्ति प्राणवायवः ।
सरिज्जलैरिवाम्भोधिजलान्यात्मद्रुतानि हि ॥ ६ ॥

केलेके स्तम्भके भीतर-भीतर छील-छीलकर देखनेसे प्राप्त दलके समान एक दूसरेके ऊपर-ऊपर स्थित हुए समान अदृष्टवाले जीवोंके परस्पर मिले हुए तथा भिन्न अदृष्टवालोंके न मिलें हुए भी आकाशमें अनेक संसार अवस्थित दिखाई देते हैं ॥ ३ ॥

उक्त अर्थकी असंभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'पश्येमे' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, 'पश्येमे पुरः उद्यन्त' इस वाक्यका पूर्ण अर्थ मैं कुछ भी नहीं जान रहा हूँ, अतः कृपाकर मुझे ठीक-ठीक समझाइये ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यह तो लोक और वेदमें सब जगह प्रसिद्ध ही है कि मृत प्राणियोंके प्राण आकाशमें उत्क्रमण करते हैं। तो ऐसी दशामें यदि प्राण हैं, तो उनके भीतर चित्त और चित्तके भीतर विविधाकार जगत् भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि बीजके अन्दर वृक्ष [इसकी आप संभावना कर सकते हैं] ॥ ५ ॥

ठीक है, रहें, किन्तु वे दिशाओंमें वायुद्वारा इधर-उधर कैसे पहुँचाये जाते हैं ? इसपर कहते हैं—'मृते' इत्यादिसे ।

पुरुषके मर जानेपर उसके शरीरसे उत्क्रान्त हुए प्राणवायु बाह्याकाशमें पूर्ण पवनोंके साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे स्वरूपतः द्रुत होनेके कारण समुद्रके जल नदियोंके जलके साथ मिल जाते हैं ॥ ६ ॥

इतश्चेतश्च यान्तीव तेषामन्तर्जगन्त्यलम् ।
व्योमवातविनुन्नानां सङ्कल्पैकात्मकान्यपि ॥ ७ ॥
सप्राणवातैः पवनैः स्फुरत्सङ्कल्पगर्भितैः ।
सर्वा एव दिशः पूर्णाः पश्यामीमाः समन्ततः ॥ ८ ॥
अत्रैते पश्य पश्यामि सङ्कल्पजगताङ्गणे ।
बुद्धिदृष्ट्या समुह्यन्ते पुरो मन्दरमेरवः ॥ ९ ॥
खवातेऽन्तर्मृतप्राणाः प्राणानामन्तरे मनः ।
मनसाऽन्तर्जगद्विद्धि तिले तैलमिव स्थितम् ॥ १० ॥
खवातैः खसमाः प्राणा यथोह्यन्ते मनोमयाः ।
उह्यन्ते वै तथैतानि तदङ्गानि जगन्त्यपि ॥ ११ ॥
स भूतान्यम्बरोर्व्यादिवृन्दादि त्रिजगन्त्यपि ।
उह्यन्ते चाप्यरूढानि पुरः सर्वत्र गन्धवत् ॥ १२ ॥

अतः आकाशवायुसे विशेषतः आकृष्ट हुए उन प्राणोंके अन्तर्गत एकमात्र सङ्कल्परूपसे स्थित अनेक जगत् भी इधर-उधर खूब भ्रमण करते हुए जो दिखाई दे रहे हैं वे ही मानो वायु द्वारा इधर-उधर उड़ाये जा रहे प्रतीत हो रहे हैं ॥ ७ ॥

स्फुरित हो रहे सङ्कल्पोंसे परिपूर्ण प्राणवायुके सहित पवनोंसे इन सब दिशाओंको मैं चारो ओरसे परिपूर्ण देख रहा हूँ ॥ ८ ॥

यहां मैं देख रहा हूँ कि इस सङ्कल्पकल्पित आँगनमें मेरे सामने ये अनेक मन्दराचल और सुमेरु पर्वत उड़ रहे हैं। हे श्रीरामजी, आप भी अपनी बुद्धि-दृष्टिसे देखिये ॥ ९ ॥

आकाशमें विद्यमान वायुके भीतर मृत प्राणियोंके प्राण, उन प्राणोंमें उनका मन और उसी मनमें जगत्को हे श्रीरामजी आप ऐसे स्थित जानिये, जैसे तिलमें तैल स्थित रहता है ॥ १० ॥

इतने बड़े वजनदार ये जगत् भला वायु द्वारा कैसे उड़ाये जा रहे हैं, इसपर कहते हैं—'खवातैः' इत्यादिसे ।

आकाशवायुके द्वारा आकाशवायुके समान (लघु) मनोमय प्राण जैसे उड़ाये जा रहे हैं वैसे ही मनके अङ्गभूत ये अनेक जगत् भी उड़ाये जा रहे हैं ॥ ११ ॥

चार प्रकारके प्राणियोंके तथा आकाश, पृथिवी आदि समूहोंके सहित

तानि बुद्ध्यैव दृश्यन्ते न दृष्ट्या रघुनन्दन ।
पुरः सङ्कल्परूपाणि स्वस्वप्नपुरपूरवत् ॥ १३ ॥
सर्वत्र सर्वदा सन्ति सुसूक्ष्माण्येव खादपि ।
कल्पनामात्रसारत्वान्न चोह्यन्ते मनागपि ॥ १४ ॥
तान्येव दृढभावत्वात्स्वेषु लोकेषु तेष्वलम् ।
सत्यान्येव चिदंशस्य सर्वगत्वाद्भवानिव ॥ १५ ॥
प्रतिबिम्बं पुराणीव पुरः प्राणसरिद्रये ।
अरूढान्यपि चोह्यन्ते रूढान्यपि च नैव च ॥ १६ ॥
सौरभाणि समुह्यन्ते वाताङ्गस्थानि राघव ।
जगन्ति प्राणसंस्थानि व्योमात्मकमयानि तु ॥ १७ ॥

अप्रतिष्ठित ये तीनों लोक भी एक देशसे दूसरे देशमें ऐसे सर्वत्र मेरे सामने उड़ाये जा रहे हैं, जैसे कि गन्ध ॥ १२ ॥

हे रघुनन्दन, अपने स्वप्नमें देखे गये नगरसमूहके तुल्य ये सङ्कल्पकल्पित जगत् बुद्धिचक्षुसे ही सामने दिखाई देते हैं, चर्मचक्षुसे नहीं ॥ १३ ॥

आकाशसे भी अत्यन्तसूक्ष्म सङ्कल्पकल्पित ये मनोमय जगत् सब जगह सर्वदा ही हैं और कल्पनामात्र सार होनेसे तनिक भी कहीं नहीं पहुँचाये जाते ॥ १४ ॥

यद्यपि वे सब कल्पनामात्रसार होनेसे असत्यरूप ही हैं, अतः कहीं इधर-उधर नहीं उड़ाये जाते, तथापि वे उन तत्-तत् जीवोंके भोग्यरूप अपने अपने स्वर्ग, नरक, पृथिवी आदि लोकोंमें उनका दृढ़भाव होनेके कारण एवं सुख, दुःख आदि भोगोंकी क्रियामें समर्थ होनेके कारण सत्यरूप ही हैं; क्योंकि उनकी सत्यताके सम्पादक अधिष्ठान चिदंश तो सर्वगामी ही है। इसलिए हे रघुनन्दन, जिस तरह मेरी दृष्टिसे श्रवण आदि अर्थक्रियामें समर्थ मेरे सामने आप सत्यरूप दीखते हैं उसी तरह ये भी दीखते हैं ॥ १५ ॥

सामने स्थित प्राणरूप नदीके वेगमें प्रतिबिम्बित नगरोंकी नाईं वासनामात्र होनेसे अनाविर्भूत तथा आविर्भूत हुए ये अनेक जगह इधर-उधर पहुँचाये जाते हैं और नहीं भी पहुँचाये जाते ॥ १६ ॥

हे राघव, जैसे वायुमें स्थित सौगन्ध्य इधर-उधर ले जाये जाते हैं वैसे ही

कुम्भे देशान्तरं नीते यथाऽन्तर्व्योम्नि नान्यता ।
स्पन्दनादिमये चित्ते तथैव त्रिजगद्भ्रमे ॥ १८ ॥
इत्थं न सज्जगद्भ्रान्तिरसत्यैवोदितेव ते ।
न विनश्यति नोदेति केवलं ब्रह्मरूपिणी ॥ १९ ॥
यदि वाय्युदिते वातैस्तत्तदस्या न लक्ष्यते ।
तदन्तःसंस्थितैः स्पन्दो नावि कोशगतैरिव ॥ २० ॥
यथा स्पन्दोऽङ्गलग्नायां नाव्यन्तःसंस्थितैरपि ।
न लक्ष्यते तथा पृथ्व्यां तत्संस्थैस्तन्मयैरपि ॥ २१ ॥

प्राणवायुमें स्थित आकाशात्मक जगत् भी इधर-उधर ले जाये जाते हैं ॥ १७ ॥

यही कारण है कि तीनों जगत्के भ्रमरूपसे चित्तमें स्पन्दन और भेदके रहनेपर भी आत्मामें स्पन्दन और भेद नहीं है, यह कहते हैं—'कुम्भे' इत्यादिसे।

घटको देशान्तरमें पहुँचा देनेपर भी जैसे घटके अन्तर्गत आकाशमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही स्पन्दनमय चित्तमें तीनों जगत्का भ्रम रहनेपर भी आत्मामें स्पन्दन और भ्रम नहीं है ॥ १८ ॥

जैसे मृत प्राणियोंके प्राणमें स्थित जगत् सङ्कल्पमात्र होनेसे असद्रूप है, इसी तरह हे श्रीरामजी, आपका भी यह जगत् असद्रूप ही है । एकमात्र भ्रान्ति ही उदित हुई-सी है । परमार्थमें तो वह भ्रान्ति भी न तो नष्ट होती है और न उदित ही होती है । अर्थात् तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर तो वह भ्रान्ति भी एकमात्र ब्रह्मरूपिणी ही है ॥ १९ ॥

व्यवहारदृष्टिसे जगत् और इसकी भ्रान्ति दोनों यदि वायुके भीतर उड़ते हुए ही उदित हैं, तो फिर हम लोग इस पृथिवीको निश्चलरूपसे कैसे देख रहे हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

जगत् और इसकी भ्रान्ति ये दोनों उदित नहीं हैं, यह तो परमार्थमें निश्चित ही है । अथवा व्यवहारदृष्टिसे यदि उदित हैं, तो भी वायुद्वारा किये गये इस पृथिवीके तत्-तत् भ्रमण, परिवर्तन आदिको इसके भीतर बैठे हुए हम लोग ऐसे नहीं देख रहे हैं, जैसे कि नौकामें उत्पन्न हो रहे स्पन्दको उसके भीतर बैठे हुए मनुष्य नहीं देखते ॥ २० ॥

इसीको पुनः स्पष्टरूपसे बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

यथाऽयोजनविस्तीर्णं लघौ सद्मानुभूयते ।
यत्तस्य पादपस्तम्भे परमाणौ यथा जगत् ॥ २२ ॥
वस्त्वल्पमप्यतिबृहल्लघुसत्त्वो हि मन्यते ।
मूषिकाः स्वाञ्जलिद्रव्यं नवपङ्कमिवार्भकाः ॥ २३ ॥

जैसे अङ्गमें संलग्न नौकाके भीतर स्थित मनुष्यों तथा उसमें जटित कील आदिकोंको उसकी गति लक्षित नहीं होती, वैसे ही पृथिवीके भीतर स्थित पार्थिव देहादिमय होते हुए भी हम लोगोंको इसकी गति लक्षित नहीं होती ॥ २१ ॥

इस तरह 'पश्येमे पुर उद्यन्त इव मन्दरमेरवः' इस अपनी उक्तिका श्रीरामचन्द्रजीसे उपपादन करके 'उपर्युपर्यन्तरन्तः कदलीदलपीठवत्' इस उक्तिमें भी छोटेमें बड़ेके समावेशको पहले बड़ेमें अल्पत्वकी कल्पना करके दिखलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

छोटे-से वृक्षस्तम्भमें विचित्रव्यूहरचनापूर्वक निर्माण करनेके लिए प्रयत्नशील शिल्पकारकी बुद्धिसे अल्पत्वकी कल्पना द्वारा जैसे योजनों दूरतक विस्तीर्ण हुआ घर अनुभूत होता है, वैसे ही भीतर-भीतर अत्यन्त सूक्ष्म भी परमाणुमें यह संसार बुद्धिसे कल्पना द्वारा अनुभूत होता है ॥ २२ ॥

अथवा परमाणु आदिमें बृहद्रूपकी कल्पना करके उसमें बृहत् जगत्के समावेशका अनुभव नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'वस्त्व०' इत्यादिसे ।

तुच्छ विचारवान् पुरुष छोटी-सी भी वस्तुको बहुत बड़ी मान बैठता है, जैसे कि रत्नोंके भण्डारमें प्रविष्ट हुई धनसम्बन्धशून्य मूषिकाएँ रत्नोंको बहुत नहीं मानतीं, किन्तु सिर्फ एक अञ्जुलीभर अन्नको ही वहां अपने बड़े भाग्यसे प्राप्त हुआ बहुत समझती हैं अथवा छोटे-छोटे बच्चे पहने हुए अपने बहुमूल्य आभरणोंको भी अधिक आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते, किन्तु मृग या पक्षीके आकारके बने हुए नवीन नानाविध रङ्गोंसे रंगे गये चमकते हुए मिट्टीके पिण्डको ही अपने खेलनेकी बहुत बड़ी चीज समझते हैं; जिससे कि वे उस मिट्टीके खिलौनेसे लुब्ध होकर अपने बहुमूल्य आभरणोंको भी उसके बदलेमें दे डालते हैं ॥ २३ ॥

असत्येव स्वरूपेऽस्मिम् जगदाख्ये विदो भ्रमे ।
लोकान्तराधर्ममयी सा बृहङ्गस्य भावना ॥ २४ ॥
इदं हेयमुपादेयमिदमित्यन्तरज्ञता ।
यस्य तस्य भवायास्ति सर्वज्ञस्याऽपि मूढता ॥ २५ ॥
सचेतनो ह्यवयवी चेतत्यवयवान्यथा ।
स्वान्तरेव ततं जीवस्त्रिजगद्बुध्यते तथा ॥ २६ ॥

छोटेमें बड़ेका समावेश वस्तुतः नहीं हो सकता, भ्रान्तिसे तो हो ही सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'असत्येव' इत्यादिसे ।

अज्ञानसे आवृत चितिके जगन्नामक भ्रममें असद्रूप ही पदार्थमें जीवितको यह लोक, मृतको परलोक तथा उनमें धर्माधर्मफलकी जो कल्पना है वह वृद्धिदशाको* प्राप्त चित्तकी सङ्कल्परूप एकमात्र भावना ही है । इसका तात्पर्य यह है कि भावनाको वस्तुका अन्यथाभाव रोक नहीं सकता ॥ २४ ॥

मूर्खोंको भीतर-भीतर जगद्भ्रमकी भावना बनी रहे, कोई हानि नहीं, परन्तु आप-जैसे सर्वज्ञ महानुभावोंको भला भीतर-भीतर एक जगत्के पीछे दूसरा जगत् विद्यमान है, यह भ्रान्ति कैसे, इस शङ्कापर कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

यह वस्तु हेय है और यह वस्तु उपादेय है, इस तरहकी भेदभरी अज्ञता जिसके अन्दर उपस्थित है, सर्वज्ञ होते हुए भी उस पुरुषकी, व्यवहार चलानेके लिए जबतक प्रारब्धका बिलकुल क्षय नहीं हो जाता तबतक कुछ न कुछ, मूढ़ता उसके पीछे लगी ही रहती है ॥ २५ ॥

यही कारण है कि सर्वज्ञ रहते हुए भी समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भको अपने अवयवोंकी नाईं भीतरमें ही तीनों जगत्का दर्शन होता है, यह कहते हैं—'सचेतनो' इत्यादिसे ।

जैसे सचेतन लौकिक व्यष्टिपुरुष अपने हाथ, पैर आदि अवयवोंका अपने भीतर ही अवलोकन करता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक हिरण्यगर्भ भी अपने ही भीतर व्याप्त तीनों जगत्का अवलोकन करता है ॥ २६ ॥

---

* बृहङ्गस्य यानी बृंहणको—वृद्धिको—प्राप्त हो रहे चित्तकी । यहाँपर बृह धातुसे 'घञ' प्रत्ययके अर्थमें 'क' प्रत्ययका विधान है । इसलिए भावमें यहाँ 'क' प्रत्यय करके 'अन्येष्वपि दृश्यते' [पा० ३।२।१०१] इस सूत्रसे गम् धातुसे ड प्रत्यय करनेके बाद बाहुलकात् 'नुम्' हुआ है ।

संविदात्मपराकाशमनन्तमजमव्ययम् ।
व्योम्नोऽवयवरूपाणि तस्येमानि जगन्ति भोः ॥ २७ ॥
सचेतनोऽयःपिण्डोऽन्तः क्षुरसूच्यादिकं यथा ।
बुध्यते बुध्यते तद्वज्जीवोऽन्तस्त्रिजगद्भ्रमम् ॥ २८ ॥
अचिच्चिद्वाऽपि मृत्पिण्डः शरावोदञ्चनादिकम् ।
यथाङ्गं मनुते जीवस्तथाङ्गं मनुते जगत् ॥ २९ ॥
चिदचिद्वाङ्कुरो देहे वृक्षत्वं मन्यते यथा ।
वृक्षशब्दार्थरहितं ब्रह्मेदं त्रिजगत्तथा ॥ ३० ॥

परन्तु मायोपहित ईश्वर ही इस तरह देखता है, यह कहते हैं—'संविदात्म०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, संविदात्मक, परमाकाश अनन्त, अज एवं अविनाशी ईश्वर है । उसी मायोपहित परमाकाशरूप ईश्वरके अवयवस्वरूप ये समस्त जगत् हैं ॥२७॥

प्रलयकालमें ईश्वर अपने अन्तर्गत समस्त जगत्को कैसे देखता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सचेतनो०' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

यदि लोहेका गोला सचेतन हो, तो वह भी अपने अन्दर सूक्ष्मरूपसे स्थित छुरे, सुई, कैंची आदि अपने भावी विकारको जैसे देख सकता है, वैसे ही समष्टिजीवात्मक ईश्वर भी अपनेमें लीन किये समस्त संस्कारोंसे समन्वित होकर तीनों जगत्के भ्रमको देखता है ॥ २८ ॥

अधिष्ठान सद्रूपकी प्रधानतासे चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूपके प्राधान्यकी विवक्षासे अचितिरूप मिट्टीका पिण्ड शराव, उदञ्चन आदिको जैसे अपना अङ्ग मानता है वैसे ही समष्टिजीवरूप ईश्वर भी जगत्को अपना अङ्ग मानता है ॥ २९ ॥

उपहितके प्राधान्यसे चिति या आरोपित मिट्टी आदिरूपके प्राधान्यसे अचितिरूप अङ्कुर अपनी देहमें जैसे वृक्षत्व मानता है, वैसे ही वृक्ष शब्दार्थसे रहित ब्रह्म इन तीनों लोकोंको अपनेमें ही स्थित मानता है* ॥ ३० ॥

* विशेषता यही है कि जीवसंस्कारोपहितरूपसे वृक्षशब्दादिसहित ब्रह्म अपनेको मानता है तथा जीवसंस्कारसे अनुपहित ईश्वररूपसे वह अपनेको वृक्षशब्दादिके अर्थसे रहित यानी अनादिसिद्ध विद्यासे बाधित मानता है ।

चिद्वाऽचिद्वा यथाऽऽदर्शो बिम्बितं वाप्यबिम्बितम् ।
नगरं वेत्ति नो वाऽपि तथा ब्रह्म जगत्त्रयम् ॥ ३१ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमात्रमेव जगत्त्रयम् ।
अहन्त्वजगतोस्तेन भेदो नास्त्येतदात्मनोः ॥ ३२ ॥
कल्पितेनोपमानेन यदेतदुपदिश्यते ।
तत्रोपमैकदेशेन उपमेयसधर्मता ॥ ३३ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
अणुश्वतः पराणुत्वं जीवस्यैतत्स्मृतं वपुः ॥ ३४ ॥

परिणामदृष्टिसे जीव और ईश्वरके सृष्टि और सृष्टिके अभावकालमें जगत्के अवलोकनमें दृष्टान्त कहकर विवर्तदृष्टिसे भी कहते हैं—'चिद्वा' इत्यादिसे।

जैसे चिति या अचितिरूप दर्पण बिम्बित या प्रतिबिम्बित नगरको अपने भीतर जानता है वैसे ही ब्रह्म भी तीनों जगत्को जीव और ईश्वरकी उपाधिसे उपहित दृष्टिसे जानता है तथा अनुपहित शुद्ध दृष्टिसे नहीं भी जानता है† ॥३१॥

इस तरह श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नोंका समाधान देकर प्रासङ्गिक सभी बातें समाप्तकर 'नाहन्त्वजगती भिन्ने पवनस्पन्दने यथा' इस पूर्व प्रस्तुत अर्थका प्रकारान्तरसे समर्थन करनेके लिए अनुसन्धान करते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही ये तीनों जगत् हैं और अहङ्कार भी इन देश, काल आदिके साथ अभेद सम्बन्धाभिमान रखनेके कारण देश, काल आदि रूप ही है, अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहङ्कार—इन दोनोंमें भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

इसीका अनुभव करानेके लिए श्रुति और मैंने मिट्टीके पिण्ड और लोहेके गोले आदिके दृष्टान्त यद्यपि अचेतन हैं, तथापि उनमें चेतनत्वका आरोप करके एक देशके साम्यसे उनका उपन्यास किया है, यह कहते हैं—'कल्पितेन' इत्यादिसे।

कल्पित जड़ात्मक लोहे आदिके उपमानरूपसे जो मैंने उपदेश दिया है, वहाँ उपमाके केवल एक अंशसे उपमेयके साथ सधर्मता—समानता है ॥ ३३ ॥

जो कुछ यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् दिखाई दे रहा है वह सब अपनी

† देखिये श्रुति—'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि।

सर्वसंवेदनत्यागे शुद्धसंस्पन्ददे पदे ।
न मनागपि भेदोऽस्ति निःसङ्गोपलकोशवत् ॥ ३५ ॥
यो यो नाम विकल्पांशो यत्र यत्र यथा यथा ।
यदा यदा येन येन दीयते स तथैव चित् ॥ ३६ ॥
अचित्त्वान्नास्ति मनसि सङ्कल्पः ख इवाङ्कुरः ।
चित्त्वात्तु चेतसो विद्धि चितिरेवेह कल्पनम् ॥ ३७ ॥

वास्तविक ब्रह्मभावरूपी परमसूक्ष्मताका त्याग न कर रहे जीवका विवर्तरूप स्थूल शरीर ही है ॥ ३४ ॥

यही कारण है कि अधिष्ठानदृष्टिसे समस्त विवर्तोंका ज्ञानसे बाध होनेपर सब ओर शुद्धात्माका प्रसार करनेवाले पूर्ण पदमें किसी तरहसे तनिक भी जीव-जगत्‌का भेद नहीं है, यह कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सम्पूर्ण पदार्थका ज्ञानसे बाध होनेपर शुद्ध संस्पन्दन प्रदान करनेवाले आत्मपदमें निःसङ्ग पाषाणकोशकी नाईं तनिक भी भेद नहीं है ॥ ३५ ॥

परन्तु ज्ञानसे समस्त पदार्थोंका बाध न होनेपर तो सर्वदा सर्वत्र सम्पूर्ण विकल्पोंके रूपसे ही चिति विवर्तित होती है, यह कहते हैं—'यो यो नाम' इत्यादिसे ।

अबाध दशामें जो-जो विकल्पांश जहाँ-तहाँ जैसे-जैसे जब-जब जिस-जिस रूपसे मूढ़ोंसे दिया जाता है वह उसी रूपसे चिति ही विवर्तित होती है ॥ ३६ ॥

मनमें भी चितिका अनुप्रवेश रहनेसे ही विचित्र सङ्कल्पोंकी सामर्थ्य होती हैं, स्वतः नहीं, इसलिए यह निश्चित है कि चितिमें ही सम्पूर्ण विवर्तकी स्वतन्त्रता निहित है, यह कहते हैं—'अचित्त्वात्' इत्यादिसे ।

आकाशमें अङ्कुरकी नाईं चितिका अभाव रहनेपर मनमें किसी तरहका सङ्कल्प नहीं उठता । चितिके उसमें अधिष्ठित रहनेसे ही नाना प्रकारके सङ्कल्प मनमें उठते रहते हैं, इसलिए हे श्रीरामजी, आप यह जान लीजिये कि इस संसारमें जितनी कल्पनाएँ मनमें उदित होती हैं वे सबके सब चिति-स्वरूप ही हैं ॥ ३७ ॥

या योदेति विकल्पश्रीरप्रबुद्धाशयं प्रति ।
सर्वगत्वादनन्तत्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३८ ॥
यथोदेति विकल्पश्रीः प्रबुद्धेनोदितैव सा ।
सर्वगत्वादनन्तत्वाच्चिद्व्योम्नः सा न सन्मयी ॥ ३९ ॥
सर्वसङ्कल्पकलना सत्येत्याबालमक्षतम् ।
स्वप्नादावनुभूतोऽन्तरर्थः केनापि लभ्यते ॥ ४० ॥
सङ्कल्पो वासना जीवस्त्रयोऽर्था लिखिताश्रिता ।
सोऽनुभूतोऽप्यसत्यः स्यादसत्त्वस्यैव नो सतः ॥ ४१ ॥

अज्ञानीके हृदयमें जो-जो विकल्पश्री उदित होती है वह सब चिदाकाशके सर्वगामी और अनन्त होनेसे सद्रूप नहीं है ॥ ३८ ॥

अज्ञानीमें जिस तरह विकल्पश्री उदित होती है उस तरह प्रबुद्धमें वह उदित नहीं होती, यह निश्चित है । चिदाकाशके सर्वव्यापक तथा देश, काल और वस्तु कृत परिच्छेदसे शून्य होनेके कारण वह सद्रूप नहीं है ॥ ३९ ॥

यदि विकल्पश्री असद्रूप ही है, तो फिर बाल-गोपालतक सभीको सत्य-सी इसकी प्रतीति कैसे होती है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालकी कल्पनाएँ ही सत्य प्रतीत होती हैं, यह बात नहीं है, किन्तु स्वप्नकाल आदिकी भी सभी कल्पनाएँ सत्यरूप प्रतीत होती हैं। यह बात बालकतक जानते हैं । परन्तु हे श्रीरामजी, स्वप्न एवं भ्रान्ति आदिमें उपलब्ध हुए गज, रजत आदि पदार्थ किसीके भी द्वारा अपने भीतर सत्यरूपसे गृहीत नहीं होते ॥ ४० ॥

सत्यस्वरूप यह संसार भला असत्यरूप कैसे होगा ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

जाग्रत् और स्वप्नके सङ्कल्प, वासनामय सुषुप्ति तथा इन दोनोंमें प्रतिबिम्बित चिद्रूप भोक्ता जीव—ये तीनों पदार्थ सत्यकूटस्थ चितिके द्वारा अपने स्वरूपमें चित्रकी नाईं चित्रित हुए हैं, इसलिए चित्रसंसारके सदृश यह संसार अधिष्ठानसत्तासे सत्यस्वरूप अनुभूत होता हुआ भी असत्यरूपी जीवकी ही दृष्टिमें असत्यरूप है, अधिष्ठान सत्की दृष्टिमें नहीं, क्योंकि उसके साथ तो उसका स्पर्श ही नहीं है । तात्पर्य यह कि जैसे चित्तमें प्रतिबिम्बित या स्वप्नमें देखे गये घोड़े, चित्र या स्वप्नके पुरुषोंके ही, चढ़नेके काममें आते हैं, इन

असत्यताभिधं सत्यं मुक्त एव भवेच्छिवः ।
साऽतिवाहिकदेहैकपरिक्षयविकासवान् ॥ ४२ ॥
जगन्ति वातैरुह्यन्ते व्योम्नि शाल्मलितूलवत् ।
नोह्यन्ते चोपलानीव न च सन्त्येव कल्पनात् ॥ ४३ ॥
इत्यस्मिन्नखिलपदार्थसार्थकोशे
व्योमन्यप्यतिवितते जगन्ति सन्ति
अन्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च
नान्योन्यं परिमिलितानि कानिचिच्च ॥ ४४ ॥

दोनोंके बाहर रहनेवाले सत्य पुरुषके चढ़नेके काममें नहीं आते; वैसे ही असत्पुरुषके लिए ही यह असद्रूप संसार भी है, सत्पुरुषके लिए नहीं है ॥ ४१ ॥

अथवा 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतिसे सत्यपुरुषमें ही यह असद्रूप संसार, अपने अबोधके कारण, भले ही बना रहे, तथापि वह पुरुष तो नित्यमुक्त ही कहा गया है; क्योंकि जिस तरह तत्त्वज्ञानके पहले सत्यस्वरूप वह ब्रह्म अपनी सत्यताको जगत्में सङ्क्रमितकर स्वयं सत्यत्वनामको प्राप्त होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके बाद वह भी बाधित हुए जगत्से अपनी सत्ताको अपनेहीमें उपसंहृत करके उसके असत्य नामको भी स्वयं प्राप्त होता है। इसलिए यह निश्चित है कि अधिष्ठानमात्रके परिशेषसे अन्य दूसरी कोई प्रपञ्चकी असत्यता कदापि नहीं कही जा सकती, क्योंकि आतिवाहिक देहके सहित अकेले एकमात्र अपने अज्ञानका परिक्षय होनेपर पूर्णतारूप विकाससे युक्त प्रत्यगात्मा ही शिव-स्वरूप शेष रह जाता है ॥ ४२ ॥

यही कारण है कि अज्ञानदृष्टिसे ही ये जगत् इधर-उधर उड़ाये जा रहे हैं, तत्त्वदृष्टिसे नहीं, यह जो पहले कहा है, उसका अब उपसंहार करते हैं—'जगन्ति' इत्यादिसे ।

इसलिए सेमलकी रूईके समान आकाशमें ये जगत् इधर-उधर वायुद्वारा उड़ाये जा रहे हैं, यह उक्ति भी अज्ञानियोंकी दृष्टिसे ही है। परमार्थमें तो कल्पनामात्र होनेसे न तो ये जगत् हैं और न पत्थरकी तरह इधर-उधर उड़ाये ही जा रहे हैं ॥ ४३ ॥

इस वर्णित रीतिसे अखिल पदार्थसमूहोंके कोशभूत अज्ञात प्रत्यगात्मरूप,

सर्वत्वात्परमचितेरनन्तरूपा-
　　ण्यारम्भप्रचुरदिगन्तसंभृतानि ।
लोलाम्बूदरपुरबिम्बभङ्गुराणि
　　स्वान्तःस्थाविरलमहापुरोपमानि ॥ ४५ ॥

सस्थैर्याण्यपि सततं क्षणक्षयाणि
　　व्यक्ताक्षाण्यपि सततं निमीलितानि ।
सालोकान्यपि परितस्तमोवृतानि
　　चिद्रूपार्णवलहरीविवर्तनानि ॥ ४६ ॥

पृथक्स्थितानि व्यतिमिश्रितानि
　　जलानि चैवाम्बुनिधौ नदीनाम् ।

परमार्थतः सर्वत्र व्याप्त तथा शून्याकाशके सदृश चिदाकाशमें अविद्या द्वारा अनन्त जगत् स्थित हैं । वे कितने तो कतिपय जीवोंके भोजक अदृष्टका साम्य होनेपर जागर अवस्था तथा ब्रह्माण्डकी एक परस्पर मिले हुए रहते हैं एवं अदृष्टका वैषम्य होनेपर तो ब्रह्माण्डभेद और स्वप्नावस्थामें परस्पर मिले हुए नहीं भी रहते हैं ॥ ४४ ॥

उन्हींको विशेषरूपसे कहते हैं—'सर्वत्वात्' इत्यादि तीन श्लोकोंसे ।

ब्रह्मके सर्वशक्तिसम्पन्न होनेके कारण गुण, वस्तु, क्रिया और जात्यादिसे अनन्तरूप, नानाविध कार्योंका आरम्भ किये हुए दिगन्तोंमें संस्थित जनोंसे परिपूर्ण, चञ्चल जलाशयके भीतर प्रतिबिम्बित नगरके समान क्षणभङ्गुर अतएव अपने अन्तःकरणमें स्थित, सम्पूर्ण सामग्रियोंसे भरे देव, गन्धर्व आदिके नगरोंके समान ये सब संसार हैं ॥ ४५ ॥

अनुवृत्त वस्तुके (ब्रह्मके) स्वरूपसे निरन्तर स्थैर्ययुक्त भी व्यावृत्तभावविकारोंके कारण क्षणभङ्गुर एवं जाग्रदवस्थामें व्यक्ताक्ष (इन्द्रियोंसे प्रकट हुए) भी निमीलित (तत्त्वतः अप्रकट) तथा आत्मज्योतिसे प्रकाशयुक्त होनेपर भी उसके अज्ञानरूपी तमसे आवृत होनेके कारण चारों ओर अन्धकारसे आवृत हुए ये संसार चिद्रूपी समुद्रके तरङ्गोंके विवर्तनरूप हैं ॥ ४६ ॥

पृथक्‌रूपसे स्थित हुए इनके एकत्र मिलकर रहनेमें तथा एकत्र मिले हुए इनके पृथक्‌रूपसे स्थित रहनेमें क्रमशः दो दृष्टान्त कहते हैं—'पृथक्' इत्यादिसे।

तारार्कचन्द्रग्रहमण्डलानां
समोदितानां नभसीव भासः ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगज्जालकोशसाधर्म्ययोगोपदेशो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

मुने जीवस्य यद्रूपमाकृतिग्रहणं तथा ।
यथा च परमात्मत्वं स्थानं यच्चास्य तद्वद ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

स्वसङ्कल्पेन चेत्योक्त चिदित्यपरनामकम् ।
अनन्तं चेतनाकाशं जीवशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥

जैसे नदीरूपी पात्रमें पृथक्‌रूपसे स्थित हुए भी जल सागरमें बिलकुल मिले हुए रहते हैं तथा आकाशमें एक ही समयमें उदित हुए भी सब तारोंके प्रकाश 'यह इसका प्रकाश है' इस तरहसे विवेचन करनेमें अशक्य होनेके कारण एकमें सर्वथा मिले हुए भी एकके चलनेपर दूसरेके न चलनेसे पृथक् स्थित हुए रहते हैं, वैसे ही पृथक्-पृथक्‌रूपसे स्थित हुए भी ये सब संसार आत्मामें एक-रूपसे स्थित हैं ॥ ४७ ॥

अठारहवाँ सर्ग समाप्त

उन्नीसवाँ सर्ग

[जीवका स्वरूप, उसका तत्त्व, समष्टि-व्यष्टि शरीरोंकी कल्पना तथा स्थान एवं करणोंकी भिन्नतासे भोगभेद—इन सबका वर्णन]

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, जीवका जो स्वरूप है यानी शास्त्रीय व्यवहारमें उपयोगी तथा पारमार्थिक जैसा उसका रूप है, उसकी स्थूल देहकी जैसी कल्पना होती है, जिस रीतिसे उसकी परमात्मरूपता है तथा जो उसका स्थान हो, वह सब हमसे कहिए ॥ १ ॥

मोक्षशास्त्रमें जो समष्टिजीव प्रसिद्ध है, उसका परिशोधन हो जानेपर वह

न पराणुर्न च स्थूलं न शून्यं न च किञ्चन ।
चिन्मात्रं स्वानुभूत्यात्म सर्वगं जीव उच्यते ॥ ३ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
न किञ्चिन्मात्रकं चैव सर्वं जीवं विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
यस्य यस्य पदार्थस्य यो भावस्तेन तत्र तम् ।
स्थितं विद्धि तदाभासं तदात्मैकान्तवेदनात् ॥ ५ ॥

ब्रह्मके साथ अभिन्न बन जानेमें योग्य हो जाता है, यह पहले बतलाते हैं—'स्व०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अनन्त व्यापक जो चेतन ब्रह्म है, वही अपने संकल्पसे प्राण द्वारा 'जीव' यों व्यवहृत होकर तथा चक्षु आदि द्वारा दूसरा 'चित्' नामवाला होकर जीवशब्दसे कहा जाता है ॥ २ ॥

उसका पारमार्थिक स्वरूप बतलाते हैं—'न' इत्यादिसे ।

भद्र, जो परम अणुरूप नहीं है, जो स्थूल नहीं है, जो न शून्यस्वरूप है, जो शून्य आकाशके अन्तर्गत है, जो चिन्मात्र, अनुभवस्वरूप है और सर्वत्र व्यापक है, वही जीव कहलाता है ॥ ३ ॥

जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओंसे भी सूक्ष्म है, जो गुरुतर वस्तुओंमें सबसे बढ़-चढ़कर गुरुतर (स्थूलतम) है, जो तुच्छरूप नहीं है और जो सर्वात्मक है, उसीको पण्डित लोग जीव कहते हैं ॥ ४ ॥

जीवकी सर्वव्यापकताको अनुभवपर चढ़ाते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिस-जिस पदार्थका जो असाधारण स्वरूप है, उस उस पदार्थमें उस उस रूपसे स्थित उसी जीवको ही आप जानिए, इसलिए उस उस पदार्थके रूपमें जीव ही भासमान होता है क्योंकि बार-बार देखनेपर तत्-तत् पदार्थोंके आकारमें ही उसका अनुभव होता है, यह अकाट्य नियम है । तात्पर्य यह है कि घट और चक्षुका सम्बन्ध होनेपर चक्षुके द्वारा निकला हुआ अन्तःकरण स्ववृत्तिमें सम्बद्ध

---

* 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि' इत्यादि श्रुतिमें प्रदर्शित निजी सङ्कल्प द्वारा अपनेसे प्रकाशित होनेवाले सूक्ष्म भूतरूप उपाधिमें प्रवेशसे उसके स्तम्भक प्राणोंके धारणसे तथा 'जीव प्राणधारणे' इस धातुके अर्थके अनुगमसे प्राणके द्वारा परब्रह्मका जीवशब्दसे व्यवहार किया गया है, यह भाव है ।

स चेतति यथा यत्र यद्यदाशु तदेव हि ।
तथा तत्र तदा राम भवत्यनुभवात्मकम् ॥ ६ ॥
पवनस्य यथा स्पन्दश्चेत्यं जीवस्य वै तथा ।
स्वसंविन्मात्रनिर्णेयं नोपदेशाम यक्षवत् ॥ ७ ॥
यथैवास्पन्दनाद्वातः सन्नेवैत्यसदात्मताम् ।
तथैवाचेतनाज्जीवो जीवन्नेति परां गतिम् ॥ ८ ॥
जीवश्चिद्घनरूपत्वादहमित्येव चेतनात् ।
देशकालक्रियाद्रव्यशक्तीर्निर्माय तिष्ठति ॥ ९ ॥

घटावच्छिन्न जीवचैतन्यको ही 'यह घट प्रकाशित होता है' इस रूपसे घटस्वभावके तादात्म्यरूपसे ही अनुभव कराता है ॥ ५ ॥

हे श्रीरामजी, अतएव समष्टिजीव जहाँपर जिस रूपसे सङ्कल्प करता है, वहाँपर उस रूपका हो जाता है, क्योंकि समष्टिजीव जो सङ्कल्प करता है, वह सत्य ही होता है और व्यष्टिजीव जैसा रहता है, वैसा ही सङ्कल्प करता है ॥६॥

ऐसी स्थितिमें यह निष्कर्ष निकला कि जो चित्रविचित्र समस्त वस्तुओंका समष्टिजीवको भास होता है, वह भासरूप सर्ग पवनके स्पन्दकी नाईं समष्टिजीवका स्वानुभवसिद्ध स्वभाव है, न कि बालककी यक्षभ्रान्तिके सदृश उपदेशाभ्याससे उत्पन्न है, यह कहते हैं—'पवनस्य' इत्यादिसे ।

जैसे पवनकी संचलनक्रिया स्वभावसिद्ध है, वैसे ही समष्टिजीवका चित्र-विचित्र वस्तुओंका अनुभवात्मक सर्ग (संसार) स्वभाव ही है, यह अपने अनुभवसे निर्णय कर लेना चाहिए, बालककी यक्षभ्रान्तिके सदृश इसका हम उपदेशसे साधन करना नहीं चाहते ॥ ७ ॥

इसलिए मुक्ति, सुषुप्ति और महाप्रलय-कालमें बाह्य आभ्यन्तर सभी पदार्थ चेतनमें, जीवभावके रहते भी, शान्त हो जाते हैं, यह कहते हैं—'यथैवा०' इत्यादिसे ।

जैसे संचलनक्रियाके न होनेसे अपना अस्तित्व रहते भी वायु असद्रूप बन जाता है, वैसे ही चित्र-विचित्र पदार्थोंका प्रकाश न होनेसे मुक्ति आदि अवस्थाओंमें अपना अस्तित्व रहते भी जीव ब्रह्मरूप बन जाता है ॥ ८ ॥

अब जीव किस-किस तरहके आकारोंको ग्रहण करता है, इसको बतलानेके

देशकालक्रियाद्रव्यचर्चिताचर्चितां स्वयम् ।
असत्यां सत्यवत्स्फारां तावन्मात्रशरीरिकाम् ॥ १० ॥
चेतसा ह्यसदाकारां प्रालेयपरमाणुताम् ।
पश्यत्यात्मन्यथात्मत्वे स्वप्ने स्वमरणोपमाम् ॥ ११ ॥
स्वप्नस्वावयवान्यत्वसदृशीं तां विभावयन् ।
विस्मृत्य चेतनां सत्तां तत्तामेवाऽऽशु गच्छति ॥ १२ ॥
एवंरूपो बुद्ध्यमानः प्रोच्छूनत्वमथात्मनि ।
पश्यत्याशु स्वमात्मानं चन्द्रबिम्बमिव द्रुतम् ॥ १३ ॥

लिए सबसे पहले अनेक प्रकारकी शक्तियोंसे सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए तथा समस्त कल्पनाओंके मूलस्तम्भस्वरूप समष्टि अहङ्कारके अध्यासका दिग्दर्शन कराते हैं—'जीवः' इत्यादिसे ।

जो समष्टिजीव है, वह असलमें चैतन्यघनका ही स्वरूपभूत है और 'अहम्' रूपसे स्फुरित होता है, इसीसे देश, काल, क्रिया और द्रव्यकी असीम शक्तिका निर्माण (आविर्भाव) कर वह अवस्थित रहता है ॥ ९ ॥

अब सूक्ष्मभूतोंके संस्कारोंकी उत्पत्तिरूप समष्टिचित्तकी कल्पना बतलाते हैं—'देशकाल०' इत्यादिसे ।

अनन्तर देश, काल, क्रिया और द्रव्यसे युक्त (संस्काररूपसे थोड़ा-सा आविर्भाव होनेके कारण युक्त) एवं उनसे अयुक्त (स्थूलरूपसे भलीभाँति आविर्भाव न होनेके कारण अयुक्त) स्वयं असत्य होती हुई भी सत्य वस्तुके सदृश स्फुरित हो रही, केवल असत्य स्वरूपवाली समष्टिचित्तरूपताके कारण तथा सूक्ष्मतम जलका सम्बन्ध होनेके कारण हिम परमाणुके सदृश, असदाकार परमाणुरूपताका आत्मामें अवलोकन करता है यानी आत्माको परिच्छिन्न समझ बैठता है । अपनी आत्मरूपताके विषयमें, स्वप्नमें अपने मरणके सदृश तथा स्वप्नमें व्याघ्रादिरूपताके दर्शनसे प्रतीयमान अपने हाथ, पैर आदि अवयवोंकी अन्यरूपताके सदृश उसकी (समष्टि चित्तरूप विष्णुरूपताकी) भावना करता हुआ चेतन सत्ताको भूलकर उसीकी कल्पनाके पीछे-पीछे दौड़ता रहता है ॥ १०-१२ ॥

अनन्तर इस तरहका जाना गया उक्त चेतन अपने स्वरूपमें तत्काल स्थूलरूपताका (पञ्चीकरणसे स्थूलता सम्पादन कर स्थूल समष्टि विराट्रूप

आत्मन्यथेन्दुबिम्बात्मन्यसौ संविचिपश्चकम् ।
काकतालीयवद्भिन्नमुदितं चेतति स्वयम् ॥ १४ ॥
पश्चानां संविदां पश्च भिन्नान्यङ्गान्यसावथ ।
बुद्ध्यते तानि तद्रूपरन्ध्राण्यनुभवत्यपि ॥ १५ ॥
स पञ्चावयवः पश्चाद्राजते पुरुषो विराट् ।
अनन्ताकारसंविचिरव्यक्तात्मा निरामयः ॥ १६ ॥
मनोमयोऽसावुदितः परस्मात्प्रथमोत्थितः ।
आकाशविशदः शान्तो नित्यानन्दविभामयः ॥ १७ ॥

होकर स्थूलरूपताका) अनुभव करता है और उसमें अपने समष्ट्यात्मक द्रवस्वभाव मनको चन्द्रबिम्बके सदृश समझने लग जाता है, यही उसकी बुद्धिसमष्टिरूप ब्रह्मरूपता है ॥ १३ ॥

विराट् देहमें उसके भोगकी उपपत्तिके लिए समष्टिरूप मनसे आदित्य-आदिरूप पांच इन्द्रियों और उनके स्थलभेदकी कल्पनाको कहते हैं—'आत्मनि' इत्यादिसे ।

अनन्तर चन्द्रबिम्बस्वरूप अपने स्वरूपमें काकतालीय न्यायके सदृश अकस्मात् उत्पन्न हुई भिन्न-भिन्न पांच इन्द्रियोंके रूपमें यह स्वयं प्रकाशित होने लगता है ॥ १४ ॥

इसके बाद पाँच इन्द्रियोंके अलग-अलग पांच स्थानोंके रूपमें यह अपना अनुभव करता है और उनके स्थानभूत अलग-अलग रूप आदिके उपभोगद्वारोंका भी अनुभव करता है ॥ १५ ॥

पीछे आदित्य, दिशा, जल, वायु और पृथिवीरूप पांच इन्द्रिय-स्थानरूप अवयवोंसे युक्त होकर रूप आदि पांच विषयोंका उपभोग कर रहा विराट् पुरुष बन जाता है, यह विराट् पुरुष अनेक मानसिक विकल्पोंके कारण अनन्त आकारकी कल्पनाओं द्वारा अनन्त आकारोंके विज्ञानसे युक्त रहता है, इसका स्वरूप अव्यक्त है तथा समस्त विकारोंसे शून्य है ॥ १६ ॥

उसके मनोमयरूप होनेपर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानैश्वर्यसे एवं सब शक्तियोंसे सम्पन्न होनेके कारण वह जीव और ईश्वर दोनोंरूप है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'मनोमयोऽसावुदितः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

स चाप्यपञ्चभूतात्मा पञ्चभूतात्मकोपमः ।
विराडात्मैकपुरुषः परमः परमेश्वरः ॥ १८ ॥
स्वयमेवाऽऽशु भवति स्वयमेव विलीयते ।
स्वयमेव प्रसरति स्वयं सङ्कोचमेति च ॥ १९ ॥
स्वसङ्कल्पकृतेनाऽसौ कल्पौघेन क्षणेन च ।
यदृच्छयोदेति पुनः पुनर्भूत्वोपशाम्यति ॥ २० ॥
मनोमात्रैकरूपात्मा प्रकृतेर्देह एष सः ।
एष पुर्यष्टकं प्रोक्तः सर्वस्यैवाऽऽतिवाहिकः ॥ २१ ॥
सूक्ष्मः स्थूलोऽम्बरात्मैष व्यक्तोऽव्यक्तोऽन्तवर्जितः ।
सर्वस्य बहिरन्तश्च न किञ्चित्किञ्चिदेव च ॥ २२ ॥

यह मनोमयरूपसे उदित हुआ हिरण्यगर्भ सर्वप्रथम परब्रह्मसे आविर्भूत है, अतः आकाशके समान विशद, शान्त, नित्य, आनन्दस्वरूप एवं प्रकाशमय है ॥ १७ ॥

समस्त प्राणियोंका समष्टिरूप अद्वय विराट् पुरुष परम परमेश्वररूप है, और पञ्चभूतात्मा न होनेपर भी पञ्चभूतात्माके सदृश भासमान है ॥ १८ ॥

ईश्वररूप होनेसे वह अपने आविर्भाव और तिरोभावमें बिलकुल स्वतन्त्र है, यह कहते हैं—'स्वयमेवा०' इत्यादिसे ।

सर्वशक्ति-सम्पन्न होनेसे वह शीघ्र ही स्वयं आविर्भूत होता है, स्वयं विलीन हो जाता है, स्वयं विस्तारको प्राप्त होता है तथा स्वयं ही सङ्कोचको भी प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

अपने सङ्कल्पसे कल्पित अनेक कल्पोंमें तथा क्षणभरमें वह अपनी इच्छाके अनुसार स्वयं उदित होता है तथा पुनः पुनः उदित हो होकर वह फिर-फिर शान्त भी हो जाता है ॥ २० ॥

केवल मनोमात्रस्वरूपात्मक यह जीव ही सबके उपादानभूत ईश्वररूप प्रकृतिका शरीर है और यही व्यष्टिरूपसे सब जीवोंका पुर्यष्टक (सूक्ष्म) शरीर भी कहा गया है ॥ २१ ॥

यही अव्यक्त अनन्त आकाशात्मा परमेश्वर पिपीलिकादि सूक्ष्म देहोंमें सूक्ष्म, स्थूल पदार्थोंमें स्थूल, सबके बाहर और भीतर व्यक्ताव्यक्त, परमार्थमें किञ्चिद्रूप न होनेपर भी व्यवहारमें किञ्चिद्रूप यानी परिच्छिन्नरूप है ॥ २२ ॥

अङ्गानि राम तस्याऽष्टौ मनःषष्ठानि पञ्च च ।
साहंभावानीन्द्रियाणि भावाभावमयानि च ॥ २३ ॥
तेन गीता इमे वेदाः सहशब्दार्थकल्पनाः ।
नियतिः स्थापिता तेन तथाऽद्यापि यथास्थिता ॥ २४ ॥
अनन्तमूर्ध्वं मूर्द्धाऽस्य तथाऽधः पादयोस्तलम् ।
अपराकाशमुदरमिदं ब्रह्माण्डमण्डपम् ॥ २५ ॥
लोकान्तराण्यनन्तानि पार्श्वकाः क्षतजं पयः ।
मांसपेश्यः क्षितिधराः सरितः सन्तताः शिराः ॥ २६ ॥
रक्ताधारा जलधयो द्वीपान्येवाऽऽन्त्रवेष्टनम् ।
बाहवः ककुभः स्फारास्तारका रोमसन्ततिः ॥ २७ ॥
पञ्चाशदनिलस्कन्धा एकोनाः प्राणवायवः ।
मार्तण्डमण्डलं चण्डं पित्तं जठरपावकः ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, मूर्त एवं अमूर्तस्वरूप पञ्चज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, षष्ठेन्द्रिय मन और अहङ्कार—ये आठ उस पुरुषके अङ्ग हैं ॥ २३ ॥

उसीने अपने चार मुखोंसे शब्दार्थोंकी कल्पनासे युक्त इन चारों वेदोंका गान किया है । उसीने शास्त्रीय सदाचार आदिकी मर्यादा इस ढंगसे स्थापित की है कि आज भी ज्योंकी त्यों व्यवस्थितरूपसे चली आ रही है ॥ २४ ॥

अनन्त आकाश इस पुरुषका मस्तक है, पृथिवी इसके पैरका तलवा है, मध्याकाश इसका उदर* है तथा यह ब्रह्माण्ड इसका शरीर है ॥ २५ ॥

अनन्त लोक इस विराट् पुरुषके पार्श्वके अवयव हैं, जल रक्त हैं, समस्त पर्वत मांसपेशियां हैं और निरन्तर बह रही ये नदियां इसकी नाडियां हैं ॥ २६ ॥

ये सब समुद्र रक्तसञ्चयकी पेशियां हैं, सभी द्वीप छः कोशोंके वेष्टन हैं, दिशाएँ बाहु हैं और ये चमकते तारे † रोमसमूह हैं ॥ २७ ॥

आवह, प्रवह आदि उनचास पवन इसकी प्राणवायु, मार्तण्डमण्डल इसकी क्रूर आँखें और बडवानल इसका चित्त है ॥ २८ ॥

* देखिये यह श्रुति—'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' ।

† यद्यपि छान्दोग्य श्रुतिमें 'लोमानि बर्हिः' यह कहा गया है तथापि दूसरी श्रुतिके अनुरोधसे यहाँ 'तारका' यह उक्ति है ।

शशाङ्कमण्डलं जीवः श्लेष्मा शुक्रं सितं बलम् ।
मनः सङ्कल्पकोशात्म सारात्मा परमामृतम् ॥ २९ ॥
मूलं शरीरवृक्षस्य बीजं कर्मद्रुमस्य च ।
प्रसवात्सर्वभावानामिन्दुरानन्दकारणम् ॥ ३० ॥
यदिन्दुमण्डलं नाम स सम्राड् जीव उच्यते ।
शरीरकर्ममनसां बीजं मूलं च कारणम् ॥ ३१ ॥
अस्मादिन्दुविराड्जीवात्प्रसरन्ति जगत्त्रये ।
जीवा मनांसि कर्माणि सुखान्यत्राऽमृतानि च ॥ ३२ ॥
विराज एते सङ्कल्पा ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
तस्य चित्तचमत्काराः सुरासुरनमश्चराः ॥ ३३ ॥

चन्द्रमण्डल ही इस विराट् पुरुषका जीव, श्लेष्मा, वीर्य, बल, चर्बी और सङ्कल्पात्मक मन है तथा ब्रह्म ही साररूप आत्मा है ॥ २९ ॥

बीजादिभाव भी मनका ही होता है, यह कहते हैं—'मूलम्' इत्यादिसे ।

चन्द्ररूपी मन ही शरीररूपी वृक्षका मूल, कर्मरूपी वृक्षका बीज तथा सम्पूर्ण भाव पदार्थोंका उत्पादन करने एवं अन्नादिरूपसे वर्धन करनेसे आनन्दका कारण है ॥ ३० ॥

वही विराट् शरीरमें जीव है, क्योंकि अन्नरूप उसीसे समष्टि प्राणोंका धारण होता है, इस आशयसे कहते हैं—'यदिन्दु०' इत्यादिसे ।

जो यह चन्द्रमण्डल है वही सम्राट् जीव कहलाता है । अन्नमय व्यष्टि-शरीरोंका वह बीज है, प्राणहेतुक सम्पूर्ण कर्मोंका मूल है और व्यष्टिमनका वही कारण* है ॥ ३१ ॥

उसीको फिर स्पष्टरूपसे कहते हैं—'अस्मादिन्दु०' इत्यादिसे ।

इस चन्द्ररूपी विराट् जीवसे इन तीनों लोकोंमें सब जीव कर्म, मन, विषयभोग तथा मोक्ष प्रवृत्त होते हैं ॥ ३२ ॥

इस चन्द्ररूपी विराट्जीवके सङ्कल्पस्वरूप ही ये ब्रह्मा†, विष्णु और भगवान्

* इसमें 'चन्द्रमा मनसो भूत्वा हृदयं प्राविशत्' यह श्रुति प्रमाण है ।

† ब्रह्मा आदिके शरीर भी चन्द्ररूपी अमृतके परिणाम ही हैं । देखिये इस विषयमें श्रुति क्या कह रही है—

'सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः ।
जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥'

चित्स्वभावो बुद्ध्यमानः प्रालेयपरमाणुताम् ।
यदादौ भावयत्याशु तदा तत्रैव तिष्ठति ॥ ३४ ॥
तेनैतदेव जीवस्य स्थानं विद्धि रघूद्वह ।
पञ्चावयवमेतत्तच्छरीरमनुभूयते ॥ ३५ ॥
विराड्जीवाच्चन्द्रमसो जीवभूतानि देहिनाम् ।
प्रसरन्त्यन्नजातानि प्रालेयविसरात्मना ॥ ३६ ॥
तान्येव देहिदेहेषु जीवा जीवन्ति जीविषु ।
मनो भूत्वा विचेष्टन्ते कर्मजन्मसु कारणम् ॥ ३७ ॥
एवं विराट्सहस्राणि महाकल्पशतानि च ।
गतान्यथ भविष्यन्ति नानाचाराणि सन्ति च ॥ ३८ ॥

शङ्कर आदि देवता हैं तथा उसीके चित्तके चमत्काररूप ये सुर, असुर और पक्षी आदि नाना प्रकारके जीव-समुदाय हैं ॥ ३३ ॥

चित्तोपहित चितिके विवर्तरूपसे चित्तकी चमत्कारताको प्रकट करते हैं—'चित्स्वभावः' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आदिमें चन्द्रमाकी अत्यन्तसूक्ष्म अमृत कलात्मताको साक्षीरूपसे जान रहा विराट् प्रजापति जब देवतादिके शरीराकारका सङ्कल्प करता है, तब शीघ्र वह चतुर्मुखादि शरीरभावमें ही स्वयं सिद्धकी नाईं स्थित हो जाता है, तात्पर्य यह कि वह सत्यसङ्कल्पवाला होनेसे शीघ्र सङ्कल्पितरूपमें ही परिणत हो जाता है ॥ ३४ ॥

इसलिए, हे रघूद्वह, इस चन्द्रमण्डलको ही आप सम्पूर्ण जीवसमष्टिरूप विराट् जीवका स्थान और अपञ्चीकृत पञ्चभूतावयवयुक्त शरीर समझिये इसीका जाग्रदवस्थारूपसे सबको अनुभव होता है ॥ ३५ ॥

चन्द्ररूपी विराट् जीवसे व्यष्टि जीवका प्रसार जो पहले कहा गया है उसका उपपादन करते हैं—'विराड्जीवात्' इत्यादिसे ।

चन्द्रमारूपी विराट्जीवसे प्राणियोंके जीवनके साधनभूत अन्न आदि सब पदार्थ, जो औषधियोंमें चन्द्रकलाओंके प्रसाररूप हैं, सर्वत्र प्रसृत होते हैं ॥ ३६ ॥

वे ही जीवित प्राणियोंके शरीरोंमें जीव होकर जीते हैं और मन हो करके अनेक जन्मोंके कारणभूत कर्म किया करते हैं ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह नानाविध आचारोंसे युक्त असंख्य विराट्के

सर्वतोऽनुभवरूपयाऽनया सत्तयोत्तमपदादभिन्नया ।
अन्तवर्जितमहाङ्गसङ्गया तिष्ठतीति पुरुषः परो विराट् ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विराडात्मवर्णनं नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

विंशतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सङ्कल्पपुरुषस्त्वेष यद्यत्कल्पयति स्वयम् ।
तत्तथा तादृशं पञ्चभूतात्मा भवतीव खम् ॥ १ ॥

शरीर तथा असंख्य महाकल्प बीत चुके हैं, आगे चलकर होंगे और इस समय हैं भी ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामजी, ब्रह्मसे अभिन्न, अतएव अवधिशून्य एवं महान् व्यष्टि और समष्टिके देहसम्बन्धसे युक्त इस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्तासे ही 'तद्विवर्तो विराट् पुरुषः' इस वर्णित रीतिसे सब देश और सब कालोंमें परम विराट् पुरुष इस मायावृत ब्रह्ममें ही अवस्थित रहता है ॥ २९ ॥

उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त

बीसवाँ सर्ग

[वासना, कर्म और इच्छाके अनुसार सङ्कल्पोंके सर्जनसे व्यष्टि-जीवोंकी समष्टिके साथ समताका वर्णन]

ब्रह्म विराट् पुरुषके सत्यसङ्कल्पके अनुसार ही विवर्त धारण करता है, यह कहते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, पञ्चभूतात्मा विराट् पुरुष स्वयं जिस-जिस तरहकी कल्पना करता है, उस-उस तरहसे ब्रह्मरूप आकाश भी विवर्तभावको धारण कर लेता है ॥ १ ॥

सर्वं राम जगज्जातं तत्सङ्कल्पं विदुर्बुधाः ।
ताद्रूप पञ्चकात्मविषयोन्मुखमाततम् ॥ २ ॥
जगत्पदार्थसार्थस्य विराट् सर्वस्य कारणम् ।
कारणेन समान्येव कार्याणि च भवन्त्यतः ॥ ३ ॥
यथैष स विराडेवं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
स्वसंविदि प्रसरति बोधवान् न त्वबोधवान् ॥ ४ ॥
आसरीसृपमारुद्रमेवमभ्युदितो भ्रमः ।
अणावप्यद्रिविस्तारो बीजकोश इव द्रुमः ॥ ५ ॥
आसरीसृपमारुद्रं विराट् प्रत्येकमात्मनि ।
पराणावप्यनन्तात्मबोधतो न त्वबोधतः ॥ ६ ॥

चूँकि ब्रह्म पूर्वकी उपासनासे मिश्रित वासनासे सृष्टिके आरम्भमें पञ्चभूतात्मक विराट्-स्वरूप बनकर उपासनाके फलभूत पञ्चमहाभूतात्मक विषय-समष्टिका उपभोग करनेमें तत्पर हुआ है, अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत्‌को विराट् पुरुषका एक सङ्कल्प ही मानते हैं ॥ २ ॥

यतः मिट्टी आदि हेतुओंसे उत्पन्न कसोरे आदि मिट्टीके स्वभावसे ही ओत-प्रोत रहते हैं, यह देखा गया है, अतः समस्त जगत्‌के पदार्थोंका कारण विराट् होनेसे जगत् भी विराट्‌के स्वभावसे ओत-प्रोत है ॥ ३ ॥

जैसा विराट् पुरुष (समष्टिजीव) समस्त जगत्‌का निर्माण करता है, वैसा ही व्यष्टिजीव भी अपनेमें समस्त जगत्‌का निर्माण करता है; क्योंकि मानसिक वृत्तिके अनुसार जब व्यष्टिजीवको बाह्याकार विज्ञान उत्पन्न होता है, तब व्यष्टिजीव भी समष्टिजीवके अनुसार तत्-तत् पदार्थोंके स्वरूपज्ञानसे युक्त रहता ही है ॥ ४ ॥

भद्र, तुच्छसे तुच्छ कीटादि तक और बड़ेसे बड़े रुद्र तक इस तरहका जगत्-रूप भ्रम जो उत्पन्न हुआ है, वही यह सृष्टि है। जैसे छोटेसे बीजमें बड़ा वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही छोटेसे छोटे अणुरूप आत्मामें यह विशाल पर्वतरूप भ्रम उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

ऐसा भले ही हो, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं— 'आसरीसृप०' इत्यादिसे ।

कीट तक और रुद्र तक जितने व्यष्टिजीव हैं, वे सब अपनेमें जगत्‌का

यादृगेव विराडात्मन्येष विस्तार आगतः ।
तादृगेवेह सर्वस्मिन्नणुमात्रेऽपि भूतके ॥ ७ ॥
परमार्थेन न स्थूलं न सूक्ष्मं किञ्चन क्वचित् ।
यद्यथा विततं यत्र तत्तथाऽऽश्वनुभूयते ॥ ८ ॥
मनश्चन्द्रमसो जातं मनसश्चन्द्र उत्थितः ।
जीवाज्जीवोऽथवैकैषा सत्ता द्रवजलाङ्गवत् ॥ ९ ॥
शुक्रसारं विदुर्जीवं प्रालेयकणसंनिभम् ।
आनन्दोऽचलसन्दोहस्तत एव प्रवर्तते ॥ १० ॥

निर्माण करते हैं और ये सब परम सूक्ष्म शरीरके रहते भी अनन्त आत्मस्वरूपको समझकर ही, न कि समझे बिना निर्माण करते हैं ॥ ६ ॥

जैसे विराट् आत्मामें इस समस्त जगत्का विस्तार कल्पनावश हुआ है, वैसे ही सभी इन मच्छर आदि सूक्ष्म भूतोंमें जगत्का विस्तार हुआ है ॥ ७ ॥

भद्र, परमार्थतः न स्थूल है और न कुछ कहीं सूक्ष्म ही है, परन्तु भ्रान्तिसे जहां कहीं जो कुछ बन जाता है, वहां वह तत्क्षण ही अनुभूत हो जाता है ॥८॥

व्यष्टिमन और व्यष्टिमनसे उपहित जीव—इन दोनोंका तो विराट् कारण है, अतः उनकी समानता कैसे ? इसपर कहते हैं—'मनश्चन्द्र०' इत्यादिसे ।

मन चन्द्रमासे उत्पन्न हुआ है और मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, समष्टि जीवसे व्यष्टिजीव उत्पन्न हुआ है अथवा समष्टिजीव और व्यष्टिजीव दोनोंकी सत्ता एक ही है, अतः भेदका अवसर ही नहीं है, इसलिए उसमें कारणत्वका प्रसङ्ग कैसे हो सकता है ॥ ९ ॥

इस तरह उपाधिरूप मनकी कारणताका निरासकर अब उपहित जीवके प्रति कारणताका निरास करनेके लिए उपाधिका स्वरूप बतलाते हैं—'शुक्रसारम्' इत्यादिसे ।

सबसे पहले हिमकणके सदृश तथा शुक्र (वीर्य) रूप उपाधिसे युक्त जीव होता है, यह मुनियोंका मत है । इस शुक्रोपहित जीवसे ही माता-पिताके मैथुन-कालमें अचल पूर्णानन्द ब्रह्मका भोगाकार वृत्तिमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे रतिरूप आनन्द प्रवृत्त होता है, 'इसी आनन्दकी एक मात्राको लेकर दूसरे प्राणी अपने-अपने आनन्दका निर्वाह करते हैं' इस अर्थकी प्रतिपादक श्रुति भी इस विषयमें प्रमाण है ॥१०॥

तं चेतति तदाभासं पूर्णमात्मस्थमात्मा ।
तत्र तन्मयतां धत्ते तेन तन्मयरूपिणी ॥ ११ ॥
जीवसंविदथैषान्तर्यदुपायाति पञ्चताम् ।
न तत्र कारणं किञ्चिद्विद्यते न च कार्यता ॥ १२ ॥
प्रतियोगिव्यवच्छित्तेरभावात्स्वस्वभावयोः ।
स्वभावोऽर्किंन चैवाऽत्र भवत्यर्थानुसारिणी ॥ १३ ॥
जीवो जीवत्वमेव स्वजीवत्वादेव च स्वतः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन दृश्यते न च वायुवत् ॥ १४ ॥

उसी ब्रह्मके आभासरूप आनन्दका, जो शुक्रयुत जीवात्मक चैतन्यमें स्थित है, वीर्यरूप स्वभावके द्वारा अनुभव करता है, उसीमें तादात्म्याध्यासरूप तन्मयता धारण कर चिति तद्रूप बन जाती है ॥ ११ ॥

अनन्तर यह जीवचिति उस वीर्यमें पञ्चभूतात्मक देहरूपताको धारण करती है, यही इसकी उपहितता है, ऐसी स्थितिमें उसमें न तो कोई कारणता है और न कोई कार्यरूपता ही है ॥ १२ ॥

यदि उपाधियुक्त स्वरूपमें कोई भी कारण नहीं है, तो वह जीवोंका अनागन्तुक स्वरूप स्वभावरूप ही माना जायगा, स्वभाव तो किसीका चला जाता नहीं, ऐसी स्थितिमें जीवोंकी मुक्ति ही नहीं होगी, इस प्रकारकी आशङ्काकर कहते हैं—'प्रतियोगि०' इत्यादिसे ।

आप जो इस औपाधिक रूपके विषयमें कहते हैं कि वह अनागन्तुक जीवका स्वभाव ही है, वह आपका कथन किसी अर्थसे पूर्ण नहीं है यानी वह कोई मूल्य ही नहीं रखता, क्योंकि स्व और स्वभावमें कोई प्रतियोगी और व्यवच्छेद है ही नहीं। सारांश यह है कि स्वशब्दार्थसे युक्त जो भाव है, यही तो स्वभावशब्दका अर्थ है, यहाँ स्वशब्दका अर्थ यदि शुद्ध आत्मा मान लिया जाय, तो शुद्ध वस्तु अद्वितीय है, अतः न तो वह प्रतियोगी है और न उसका कोई व्यवच्छेद ही है, इसलिए अव्यावर्तक (किसीसे भिन्नता न करनेवाले) स्वशब्दार्थसे भिन्न भावशब्दार्थका निरूपण न हो सकनेके कारण स्वशब्दार्थविशिष्ट भावशब्दार्थका (स्वभावार्थका) साधन करना ही नहीं बन सकता ॥ १३ ॥

यदि स्वशब्दका अर्थ उपाधिसे युक्त आत्मा मान लिया जाय, तो भी यह

नीहारेणेव संवीतश्चेत्यवस्तुपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानं मारुतात्मा न पश्यति ॥ १५ ॥
जगज्जृम्भिकया जीवः स्वमैक्यं द्वित्वमास्थितः ।
स्पन्दशक्त्येव पवन आवृतात्मा न पश्यति ॥ १६ ॥

स्वशब्दार्थसे पृथक् भावशब्दार्थ नहीं पा सकता, जिससे कि स्वशब्दार्थसे भावशब्दार्थमें कोई विशेष बात आ जाय, यह कहते हैं—'जीवः' इत्यादिसे।

उपाधिसे युक्त जीव भी स्वयं उपहित-स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें जीवत्वरूप उपहितरूपता ही विराजमान है; अतः उपहितरूपको छोड़कर और कोई दूसरा रूप, जो कि भावशब्दका अर्थभूत तथा स्वविशेष्यताके लिए योग्यता रखता हो, भीतर या बाहर यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। यही रूप—जैसे 'वायु बहती है' यहाँपर क्रियारूप ही वायुका विकल्पवृत्तिसे भेद मानकर 'बहती है' कहा जाता है वैसे ही 'जीवो जीवत्वम्' आदि द्वारा—धर्मधर्मिभावरूप भेद मानकर कहा जाता है ॥ १४ ॥

यदि नित्य या अनित्य स्वभावभूत जीवस्वरूप नहीं है, तब वह है क्या चीज, जो संसारमें फँस जाती है ? यदि यह कोई प्रश्न करे, तो इस प्रश्नका उत्तर यही है कि वह चीज अनिर्वचनीय अज्ञानसे आवृत ब्रह्म ही है यानी अपने विपरीत स्वरूपका अवलोकन ही उक्त चीज है और यही संसारमें फँसती है, यह कहते हैं—'नीहारेणेव' इत्यादिसे।

जैसे कुहरेसे आच्छादित वस्तुका स्वरूपतः ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, वैसे ही नीहारके सदृश स्वरूप-आच्छादन करनेवाले अज्ञानसे आवृत आत्माका भी स्वरूपतः ज्ञान न होकर जो विपरीत अवलोकन है, वही जीवका स्वरूप है, इसीसे विषयात्मक वस्तुओंकी ओर उसकी प्रवृत्ति झुकी हुई रहती है। जड़ इन्द्रिय आदिरूप अपनेको मानकर वह—जन्मान्ध पुरुष जैसे मार्गको नहीं देखता, वैसे ही—अपने स्वरूपको नहीं देखता ॥ १५ ॥

जगत्‌के रूपमें वर्धित अविद्याशक्तिके प्रभावसे तिरस्कृत अतएव अपनी एकताकी द्वैतरूपमें (द्रष्टा-दृश्यरूपमें) कल्पना कर उसीमें अभिनिवेश करके जीवात्मा बैठा रहता है। इसीलिए पवन जैसे अपनी स्पन्दनशक्ति नहीं देखता, वैसे ही अविद्याशक्तिसे आवृत वह आत्मा अपने स्वरूपको नहीं देखता ॥ १६ ॥

अज्ञानस्य महाग्रन्थेर्मिथ्यावेद्यात्मनोऽसतः ।
अहमित्यर्थरूपस्य भेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥ १७ ॥

व्यपगतघनचेतनः स्वसमन्ता-
दहमिति नूनमबुध्यमान आस्व ।
अनभिधघनचेतनैकरूपः
क्षितसदसत्सदसत्सदोदितश्च ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवनिर्वाणयोगोपदेशो नाम विंशः सर्गः ॥२०॥

इसीलिए विद्यासे अविद्याका विनाश सम्भव होनेके कारण अनिर्मोक्ष दोष नहीं आ सकता, यह कहते हैं—'अज्ञानस्य' इत्यादिसे ।

मिथ्या विषयरूप, असत् तथा 'अहम्' रूप अज्ञानरूपी सबसे बड़ी गाँठका जो भेदन है, वही मोक्ष है, यह मुनियों द्वारा कहा गया है ॥ १७ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, सबसे पहले आप अज्ञानरूप घनमेघसे छुटकारा पाये हुए चैतन्य प्रकाशरूप बन जाइए, फिर अपनेको अहङ्कारकी उपाधिसे परिच्छिन्न न समझिए यानी शोधित त्वंपदार्थरूप हो जाइए, फिर मूर्त, अमूर्त और मूलाज्ञानके बाधसे युक्त निरन्तर उदितस्वभाव होकर नामशून्य, आनन्दैकरसघन एकमात्र चेतनरूप (शोधित तत्पदार्थरूप) हो जाइए और इस प्रकार होकर आप चारों ओरसे पूर्ण बनकर स्थित रहिए ॥१८॥

बीसवाँ सर्ग समाप्त

एकविंशतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम न ज्ञानबन्धुना ।
अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

किमुच्यते ज्ञानबन्धुर्ज्ञानी चैव किमुच्यते ।
किं फलं ज्ञानबन्धुत्वे ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् ।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ३ ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

[शुभ और अशुभ दो तरहकी ज्ञानबन्धुता है, इनमें शुभ ग्राह्य है और अशुभ हेय है, इसका यत्नपूर्वक लक्षणों द्वारा वर्णन]

इन दोनोंमें पहले हेय ज्ञानबन्धुताका वर्णन करनेके लिए भूमिका रचते हैं—'ज्ञानिनैव' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मनुष्यको सदा ज्ञानी* ही होना चाहिए, ज्ञानबन्धु† नहीं होना चाहिए। मैं अज्ञानीको अच्छा समझता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धुताको अच्छा नहीं समझता ॥ १ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन कहा जाता है तथा ज्ञानबन्धु होनेमें कौन फल मिलता और ज्ञानी होनेमें कौन फल मिलता है, यह सब आप कृपाकर मुझे बतलाइये। प्रश्न करनेका मेरा आशय यह है कि किस स्वरूपको प्राप्त करके मनुष्य ज्ञानबन्धु होता है और किस स्वरूपको प्राप्त करके ज्ञानी कहा जाता है तथा इन दोनोंके फल क्या हैं, यह सब भलीभाँति मुझे बतलाइये ॥ २ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जो शास्त्रोंको केवल अपने भोगके

---

* ज्ञानीका लक्षण आगे चलकर बतलाया जायगा ।

† ज्ञानके बहाने सत्कर्मोंमें श्रद्धाके त्यागसे भोगोंमें लम्पट बनाकर जो अपनेको और दूसरेको अनर्थोंके द्वारा बाँध देता है, वह ज्ञानबन्धु कहा गया है ।

कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते ।
बोधशिल्पोजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ४ ॥
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये ।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः ॥ ५ ॥
प्रवृत्तिलक्षणे धर्मे वर्तते यः श्रुतोचिते ।
अदूरवर्तिज्ञानत्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ ६ ॥
आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु ।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्याऽनवबोधनात् ॥ ७ ॥

लिए शिल्पीकी तरह पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, परन्तु स्वयं जो ज्ञानके उपायभूत साधनचतुष्टयके सम्पादन और मनन आदिमें प्रयत्न नहीं करता वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥ ३ ॥

जिसका शास्त्राभ्यासजनित शाब्दिक बोध भोग-व्यवहारोंमें वैराग्योपरम आदि फलोंसे फलित नहीं दीखता वह तत्त्वकथाओं द्वारा दूसरोंको ठगनेके लिए चातुर्यपूर्ण बोधरूपी शिल्पकारीसे अपना जीवन-निर्वाह करनेवाला होनेसे ज्ञान-बन्धु कहा गया है ॥ ४ ॥

एकमात्र भोजन, वस्त्र आदिसे सन्तुष्ट होकर भोजन आदिकी प्राप्तिको ही जो शास्त्राध्ययनका फल मानते हैं, उन शास्त्रार्थकथाका अभिनय करनेवालोंको नटादि शिल्पियोंके समान ही समझना चाहिए ॥ ५ ॥

शुभानामक दूसरी ज्ञानबन्धुताको लक्षण बतलाकर दिखलाते हैं— 'प्रवृत्तिलक्षणे' इत्यादिसे ।

जो शास्त्रार्थज्ञानके उचित, किये जानेवाले वेदान्तश्रवणमें चित्तशुद्धि द्वारा अनुकूल निष्काम अग्निहोत्र आदि धर्मोंमें अथवा श्रुतिबोधित अपने अधिकार और कुलाचार आदिके उचित* सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है वह तत्त्वज्ञानका निकटवर्ती होनेके कारण ज्ञानबन्धु कहा जाता है ॥ ६ ॥

अनात्मशास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर हुए भी पुरुष तत्-तत् अर्थज्ञानोंसे सम्बद्ध होते दिखाई देते हैं, उनके तुल्य ये श्रीरामचन्द्रजी न हों, इसलिए आत्मज्ञानमें विशेष दर्शाते हैं—'आत्मज्ञानम्' इत्यादिसे ।

* इसमें 'विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

आत्मज्ञानमनासाद्य ज्ञानान्तरलवेन ये ।
सन्तुष्टाः कष्टचेष्टं ते ते स्मृता ज्ञानबन्धवः ॥ ८ ॥
ज्ञानादि तज्ज्ञेयविकाशशान्त्या
विना न सन्तुष्टधियेह भाव्यम् ।
त्वं ज्ञानबन्धुत्वमुपेत्य राम
रमस्व मा भोगभवामयेषु ॥ ९ ॥
अत्राऽऽहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम् ।

आत्मज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं, आत्मज्ञानसे भिन्न जो अन्य ज्ञान हैं वे सब जगत् और जीवके अधिष्ठानभूत ब्रह्मके बोधरूप न होनेसे ज्ञानावभास ही हैं ॥७॥

अतएव उस तरहके ज्ञानावभासकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट रहनेवालोंमें अशुभ ज्ञानबन्धुता ही है, यह कहते हैं—'आत्मज्ञान०' इत्यादिसे ।

दुष्ट अभिमान आदि दोष तथा पारलौकिक अनर्थरूप फलके लिए कष्ट चेष्टापूर्वक कर्म करते हुए जो आत्मज्ञानको न प्राप्त कर अन्य ज्ञानलेशकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट रहते हैं वे अशुभज्ञानबन्धु कहे गये हैं ॥ ८ ॥

इसलिए जबतक सप्तमभूमिकाकी स्थिरता नहीं हो जाती तबतक मुमुक्षुको सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहना चाहिए, यह कहते हैं—'ज्ञानादि' इत्यादिसे ।

बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंकी अनेक वृत्तिरूप ज्ञान, इन वृत्तियोंके कारण एवं आश्रय प्रमाता तथा इनके शब्दादि विषय और इन विषयोंके प्रकाश—इन सबकी आत्यन्तिक शान्तिसे होनेवाली पूर्णानन्दैकरस, स्वप्रकाश, ब्रह्मात्मैक्यकी प्रतिष्ठाके बिना अवान्तर भूमिकाओंके सिर्फ लाभसे 'अब मैं कृतार्थ हो गया हूँ' इस तरह सन्तुष्टबुद्धि होकर उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें पहुँचानेवाले प्रयत्नोंसे मुमुक्षु पुरुषको यहाँ शिथिल नहीं हो जाना चाहिए । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप सम्पूर्ण विद्याओंमें कुशल होते हुए भी अध्यात्मशास्त्रको छोड़ करके अन्यशास्त्रोंमें चातुर्यपूर्ण आसक्तिसे ज्ञानकी उपेक्षा द्वारा या अनधिकारी पुरुषोंमें ज्ञानोपदेश देनेके कौशलके प्रदर्शनके द्वारा ज्ञानबन्धुताको प्राप्तकर उस ख्यातिलाभ आदिके द्वारा भोगरूपी सांसारिक रोगोंमें रमण न कीजिये ॥ ९ ॥

तब मुमुक्षुको किस तरह रहना चाहिए, इसपर कहते हैं—'अत्र' इत्यादिसे ।

प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम् ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ज्ञानविचारो नामैकविंशतितमः सर्गः ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ज्ञानेन ज्ञेयनिष्ठत्वाद्योऽचित्तं चित्तमेव च ।
न बुध्यते कर्मफलं स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ १ ॥

इस संसारमें मुमुक्षु पुरुषको अपने आहारकी (हित, मित और मेध्य भोजनकी) प्राप्तिके लिए श्रुति-स्मृति तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा अनुमोदित अनिन्द्य कर्म करना चाहिए तथा वह आहार भी अपने प्राणोंके धारणके लिए ही करना चाहिए एवं प्राणोंका धारण तत्त्वजिज्ञासाके लिए करना चाहिए और ऐसे तत्त्वकी जिज्ञासा करनी चाहिए, जिससे कि फिर जन्म, मरण आदि दुःखकी प्राप्ति न हो ॥ १० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त

बाईसवाँ सर्ग

[सबसे पहले अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंसे ज्ञानियोंके लक्षणोंका वर्णन तथा प्रसङ्गसे जीव, जगत् और ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन]

निकृष्ट ज्ञान और उसका फल पहले बतलाया गया है, अब 'ज्ञानी चैव किमुच्यते', 'ज्ञानित्वेऽपि च किं फलम्' (ज्ञानी किसे कहते हैं और ज्ञानी बन जानेपर क्या फल होता है) इन प्रश्नोंका उत्तर कहनेके लिए सबसे प्रथम ज्ञानीके लक्षण कहते हैं—'ज्ञानेन' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, क्रमशः एक-एकके पीछे दूसरी-दूसरी भूमिकाओंके ऊपर चढ़नेसे परिपक्व हुए तत्त्वज्ञानसे ज्ञातव्य ब्रह्ममात्रमें दृढ़ निष्ठा हो जानेके कारण जो पुरुष प्रारब्ध फलका भोग करते हुए भी शब्द आदि विषयोंको और शब्दादि विषयाकारोंमें एवं काम-सङ्कल्पादि वृत्तियोंमें परिणत अन्तःकरणको

ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु ।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ २ ॥
अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्यावलोक्यते ।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते ॥ ३ ॥
अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥ ४ ॥
प्रवाहपतिते कार्ये कामसङ्कल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

वस्तुसत् नहीं समझता, [क्योंकि तत्त्वज्ञानसे बाधित हो जानेके कारण उनकी केवल अनुवृत्तिमात्र ही रहती है] वह ज्ञानी कहलाता है ॥ १ ॥

जो ज्ञानी पुरुष अन्तःकरणके भोग्य विषयोंमें तथा उसकी चक्षु आदि द्वारा निर्गत ज्ञानात्मक वृत्तियोंमें साक्षीरूपसे स्थित चैतन्यमात्रको यथार्थरूप जानकर बाधित दृश्यको वासनात्मना भी नहीं देखता वह ज्ञानी है अथवा जिस तत्त्वके ज्ञात होनेसे चित्तकी समस्त वासनाएँ निकल जाती हैं, उस तत्त्वको भलीभाँति जानकर स्थित हुए जिसकी सब प्राणियोंके यथेष्ट व्यवहारोंमें भी अनुज्ञा (सम्मति) ही देखी जाती हो अर्थात् अपना धन आदिका अपहरण करनेवाले चोरोंकी प्रवृत्तिका भी जो अनुमोदन करता हो ,वह ज्ञानी है ॥ २ ॥

स्वाभाविक एकमात्र स्वात्मलाभसे युक्त जिस पुरुषकी व्यवहारोंमें भीतरसे शीतलता बुद्धिमानों द्वारा अनुभूत होती है वह ज्ञानी कहा जाता है ॥ ३ ॥

पुनर्जन्मका कारण जो अनादि अज्ञान है उसका निवर्तक तत्त्वज्ञान है, दूसरा नहीं, यह कहते हैं—'अपुनर्जन्मने' इत्यादिसे ।

जो बोध पुनर्जन्मका हेतु नहीं है वही ज्ञानशब्दके लिए योग्य है, इसको छोड़कर दूसरा जो शब्दज्ञानका चातुर्य है वह केवल अन्न-वस्त्र प्रदान करनेवाला है, इसलिए इस तरहका ज्ञान शिल्पज्ञानके सदृश 'जीविका' शब्दके लिए योग्य है, न कि ज्ञानशब्दके लिए ॥ ४ ॥

प्रारब्धके प्रवाहमें जो भी कार्य आ जाय, उसके लिए जो मनुष्य काम और सङ्कल्पको छोड़कर तत्पर रहता है एवं शरत्कालके आकाशके सदृश जिसका हृदय आवरणशून्य प्रकाशमान रहता है वही पण्डित कहा जाता है ॥ ५ ॥

अकारणं प्रवर्तन्त इव भावा अकारणात् ।
अविद्यमाना अप्येते विद्यमाना इव स्थिताः ॥ ६ ॥
आविर्भावतिरोभावैर्भावाभावभवाभवैः ।
पश्चात् कारणतां यान्ति मिथः कारणकर्मभिः ॥ ७ ॥
असतः शशशृङ्गादेर्मृगतृष्णाम्भसो यथा ।
आलोकनादलभ्यस्य कीदृक् स्यात्किल कारणम् ॥ ८ ॥
असतः शशशृङ्गादेः कारणं मार्गयन्ति ये ।
वन्ध्यापुत्रस्य पौत्रस्य स्कन्धमासादयन्ति ते ॥ ९ ॥

ये जो ज्ञानीके लक्षण बतलाये गये हैं उनकी युक्तिपूर्णता बतलानेके लिए तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण द्वैतवासनाओंकी निवृत्ति कर देता है, इसका समर्थन करते हैं और इसी समर्थनके लिए असत्य अविद्यारूपता ही आखिरमें बच जानेके कारण जगत्‌में न तो किसी तरहकी हेतुता है और न सत्ता ही है, यह बतलाते हैं—'अकारणम्' इत्यादिसे ।

ये जो जगत्‌के नानाविध पदार्थ हैं वे किसी तरहके कारणके बिना ही उत्पन्न होते हैं और चूँकि कारणके अभाव रहते भी उत्पन्न हैं, इसलिए उनका अस्तित्व है ही नहीं । ये सब अविद्यमान ही विद्यमानकी नाईं स्थित हैं ॥ ६ ॥

आगेके वृद्धि आदि भावविकारोंमें भी कारणके न रहनेसे ही असत्त्व समझना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'आविर्भाव०' इत्यादि ।

कारणके न रहनेसे अविद्यमान भी वे आविर्भाव, तिरोभाव, सत्ता, असत्ता, उत्पत्ति, नाश आदि विकारोंसे युक्त होकर विद्यमान-से हुए स्थित हैं, पीछे सृष्टिकालमें कारणके व्यापारोंसे वे परस्पर कारणताको प्राप्त होते हैं । यह बात सृष्टिके प्रारम्भमें नहीं हो सकती, क्योंकि प्रलयमें बीज और अङ्कुर दोनोंका भी अभाव है ॥ ७ ॥

इस समय दिखाई दे रहा भी बीज सद्रूप अङ्कुरका कारण है या असद्रूप अङ्कुरका कारण है ? सद्रूप अङ्कुरका कारण तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि सत्‌को कारणकी अपेक्षा ही नहीं रहती, असद्रूपका भी कारण नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'असतः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

शशशृङ्ग आदि तथा मृगतृष्णाजलके समान विचारसे अलभ्य इस जगत्‌का कारण कैसा होगा ? जो पुरुष असत् शशशृङ्ग आदिके कारणकी अन्वेषणा करते हैं,

असत्यप्रतिभासानामेतदेवाऽऽशु कारणम् ।
यदनालोकनं नाम समालोकक्षणक्षयम् ॥ १० ॥
परमात्मायते जीवो बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवाऽवतिष्ठते ॥ ११ ॥

वे वन्ध्यापुत्रके या उसके पौत्रके कन्धेके ऊपर मानो आरोहण करते हैं ॥ ८,९ ॥

द्वैतका निष्कारण अस्तित्व माननेपर अनिर्मोक्ष-प्रसक्ति एवं मोक्षशास्त्रमें अप्रामाण्य आ जायगा, इसलिए इन दोनों दोषोंकी निवृत्ति करनेके लिए किसी कारणकी अवश्य कल्पना करनी चाहिए, यदि यह कहिए, तो इसपर यही समाधान हो सकता है कि एकमात्र ज्ञानसे निवृत्त होनेवाला मिथ्याभूत अज्ञान ही कारण है, यही कल्पना करनी चाहिए, दूसरे किसी सद्रूपकी नहीं, क्योंकि सद्रूप वस्तुकी ज्ञानसे निवृत्ति न हो सकनेके कारण आपका अनिर्मोक्ष-प्रसङ्ग ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, इस आशयसे कहते हैं—'असत्य०' इत्यादिसे ।

भद्र, मिथ्याभूत जो पदार्थ हैं उनका यही एकमात्र कारण है, जिसका कि नाम अनालोकन यानी अज्ञान है और इस अज्ञानका ज्ञान-क्षणमें तत्काल ही विनाश हो जाता है ॥ १० ॥

संसार अज्ञानका कार्य है और तत्त्वसाक्षात्कारक्षणमें ही वह विनष्ट हो जाता है, इन दोनों बातोंका अनुभव कराते हैं—'पर०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह जीव—जड़ अहङ्कार, देह आदिको स्वभिन्न जानकर तत्काल ही तद्रूपत्वके अध्यास-संस्कारोंके उद्बोधसे उनको आत्मा समझ बैठता है, बस यही इसका संसार है और जब अपनेको सभी उपाधियोंसे विनिर्मुक्त चैतन्य-स्वरूप समझता है तब यही जीव सम्पूर्ण जगत्‌के सारभूत निरतिशय आनन्दरूप होकर बैठ जाता है, यही इसका मोक्ष है* ॥ ११ ॥

* अथवा अचेतन यानी बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास—इन तीनोंसे रहित कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यमात्रस्वरूप अपनेको समझकर जीव ब्रह्मस्वरूप बनकर स्थित रहता है और अपनेको चेतनरूप यानी बुद्धि, स्थूल देह एवं चिदाभासरूप समझकर तो जीव ही बनकर बैठता है यानी पूर्णभावको प्राप्त नहीं करता । चेतनशब्दके जो तीन अर्थ (बुद्धि, स्थूल देह और चिदाभास हैं, वे व्युत्पत्तिभेदसे किये गये हैं—(१) जीवः चेत्यते अनेन, (२) जीवः चेत्यते अस्मिन् और (३) चेत्यते इति चेतनम् । अथवा यह जीव अचेतनरूप घटादि विषयोंमें चक्षु आदिकी वृत्तियोंसे जनित फलसम्बन्धसे शून्य होकर अपनेको स्वप्रकाश चैतन्यरूप समझता हुआ परमात्मा बन जाता है और उससे शून्य न हुआ जीव ब्रह्मभावापन्न नहीं होता ।

परमात्मैव जीवोऽयं बुध्यमानस्त्वचेतनम् ।
आम्र एव रसापत्तेः प्रयाति सहकारताम् ॥ १२ ॥
चेतनं बुध्यमानस्तु जीव एवाऽवतिष्ठते ।
जीवो जीवितजीर्णेषु जातिजन्मसु जर्जरः ॥ १३ ॥
ये परां दृष्टिमायाता विद्धि तेषामपामिव ।
अरूपालोकमननं स्पन्दमस्पन्दनं सदा ॥ १४ ॥
ये परां दृष्टिमायाता दृश्यश्रीपारदर्शिनः ।
न विद्यमानमप्यस्ति तेषां वेदनमाततम् ॥ १५ ॥

उपर्युक्त श्लोकके पूर्वार्धका विवरण करते हैं—'परमात्मैव' इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त रीतिसे अचेतनको यानी अहङ्कारादिशून्यरूपताको ही अपनी आत्मामें जान रहा यह जीव जागरूक होकर परमात्मरसके आवेशसे परमात्मरूपताको ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे कि हेमन्त ऋतुमें एक तरहसे सोया हुआ आम वसन्त ऋतुमें रसावेशके कारण पल्लवित एवं पुष्पित होनेके बाद प्रबुद्ध-सा होकर सहकार-शब्दवाच्यताको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

उत्तरार्धका भी विवरण करते हैं—'चेतनम्' इत्यादिसे ।

परन्तु चेतनको अपनी आत्मामें जानता हुआ यह जीव तो जीव ही बनकर जीवनोंसे जीर्ण बन जानेवाले नानाविध योनियोंके जन्मोंमें जर्जर होकर अवस्थित रहता है ॥ १३ ॥

यही कारण है कि तत्त्ववेत्ताओंकी चेष्टाएँ अभिमानरहित होनेसे अस्पन्दरूप ही हुआ करती हैं, यह कहते हैं—'ये पराम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यह आप जान लीजिये कि जो परादृष्टिको प्राप्त हो चुके हैं उनकी दृश्य-दर्शनाभिमानशून्य चेष्टाएँ, जलोंके नीचेकी ओर अभिसरणकी नाईं, प्रारब्ध कर्मका एकमात्र अनुसरण करनेवाली, अतः वे सदा अस्पन्दरूप ही रहती हैं ॥ १४ ॥

जैसे दग्ध पटका दर्शन पटदर्शनरूप कभी नहीं होता, किन्तु भस्मदर्शनरूप ही होता है; वैसे ही बाधित दृश्यश्रीका दर्शन दृश्यातीत ब्रह्मदर्शनरूप ही होता है, अतः उनको द्वैतवेदन नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'ये पराम्' इत्यादि ।

दृश्य-सौन्दर्यके पारदर्शी जो परादृष्टिको प्राप्त हो चुके हैं उन्हें विद्यमान भी विस्तृत दृश्य-प्रपञ्चका ज्ञान नहीं होता ॥ १५ ॥

ये परां दृष्टिमायाता विद्धि तेषामपामिव ।
स्पन्दमस्पन्दनं सर्वमवेदनवशादिह ॥ १६ ॥
अरूपालोकमननवेष्टिता मुक्तदामवत् ।
बुधाः कर्मसु चेष्टन्ते वृक्षपत्रेष्विवाऽनिलः ॥ १७ ॥
ये परां दृष्टिमायाताः संसृतेः पारदर्शिनः ।
न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्यां वसन्निव ॥ १८ ॥
ये बद्धवासना मूढाः कर्म शंसन्ति तेऽनघ ।
श्रुतिस्मृत्युचितं तेन विना बोधं प्रयान्ति ते ॥ १९ ॥

दृश्यदर्शनके अभावमें भी जल दृष्टान्त दिये गये हैं, इस आशयसे कहते हैं—'ये' इत्यादि।

हे श्रीरामजी, जो यहाँ ब्रह्मरूपी सर्वोत्कृष्ट दृष्टिको प्राप्त हो चुके हैं, उनका स्पन्दन भी, जलकी नाईं, दृश्यप्रपञ्चका ज्ञान न होनेसे स्पन्दनशून्य ही रहता है ॥ १६ ॥

इसीलिए उन्हें कर्मबन्धनके सम्बन्धका अभाव रहता है, यह कहते हैं—'अरूपालोक०' इत्यादिसे।

चूँकि दृश्यदर्शनके अभिमानसे वेष्टित वे नहीं होते, इसीलिए मुक्तबन्धन वृषभके समान वे सांसारिक कर्मबन्धनके सम्बन्धसे शून्य रहते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रारब्धानुसार प्राप्त कर्मोंमें ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसे वृक्षोंके पत्तोंमें पवन ॥ १७ ॥

पारलौकिक कर्मोंकी अपेक्षा तो उनसे बहुत दूर ही रहती है, इस आशयसे कहते हैं—'ये पराम्' इत्यादि।

जो इस संसारके पारदर्शी महानुभाव सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टिको प्राप्त हो चुके हैं, वे कर्मोंकी उस तरह प्रशंसा नहीं किया करते, जिस तरह गङ्गाजीके तटपर निवास करनेवाला कूपकी प्रशंसा नहीं करता ॥ १८ ॥

अज्ञ पुरुषोंके लिए तो एकमात्र कर्म ही शरण है, यह कहते हैं—'ये' इत्यादिसे।

हे निष्पाप श्रीरामजी, जो मूर्ख सांसारिक विषयवासनाओंमें बँधे हुए रहते हैं, वे श्रुति एवं स्मृतिसे प्रतिपादित उचित कर्मकी प्रशंसा किया करते हैं तथा तत्त्वज्ञानके अभावसे उसी कर्मके द्वारा फलका भोग पाते हैं ॥ १९ ॥

इन्द्रियाणि पतन्त्यर्थे भ्रष्टं गृध्र इवाऽऽमिषम् ।
तानि संयम्य मनसा युक्त आसीत तत्परः ॥ २० ॥
नासन्निवेशं हेमास्ति नासर्गं ब्रह्म विद्यते ।
किन्तु सर्गादिशब्दार्थमुक्तं युक्तमतेः शिवम् ॥ २१ ॥
एकान्धकारे सम्पन्ने व्यवहारो युगक्षये ।
निर्विभागो निराभासो यथा ब्रह्मघने तथा ॥ २२ ॥

क्यों उनके लिए एकमात्र कर्म ही शरण है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'इन्द्रियाणि' इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंकी इन्द्रियाँ अधःपतनके हेतुभूत अर्थोंके ऊपर इस प्रकार गिरती हैं, जिस प्रकार नीचे गिरे हुए मांसके ऊपर गृध्र गिरता है । इसलिए हे श्रीरामजी, विद्वान्‌को चाहिए कि वह अपनी उन सभी इन्द्रियोंका मनसे निग्रह करके आत्मज्ञानके सम्पादनमें लग जाय और उसीमें सदा तत्पर हो अवस्थित रहे ॥ २० ॥

जले हुए तथा न जले हुए पटमें अवयवसाम्यकी नाईं बाधिताबाधित जगत्‌के अवयवसाम्यका भान अज्ञानियोंकी तरह यद्यपि तत्त्वज्ञानियोंको भी होता रहे, तथापि तत्त्वज्ञानियोंके लिए तो वह एकमात्र ब्रह्मरूप ही है, इस आशयसे कहते हैं—'नाऽसन्निवेशम्' इत्यादि ।

जैसे कटक, केयूर आदि रचनाविशेषरूप अर्थोंसे भिन्न सुवर्ण नहीं रहता, वैसे ही सृष्टिरूप अर्थसे रहित ब्रह्म भी नहीं रहता यों ज्ञानी-अज्ञानीको भान-साम्य है । किन्तु तत्त्वज्ञानीको सृष्टि आदि शब्दार्थसे रहित एकमात्र शिवरूप ही वह भासित होता है ॥ २१ ॥

सृष्टिशब्दार्थसे रहित होनेमें प्रलय दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'एकान्धकारे' इत्यादिसे ।

जिस तरह कल्पके अन्तमें एकमात्र अन्धकारके रहते ब्रह्मघनमें निर्विभाग और निराभास ही सृष्टि रहती है उसी तरह तत्त्वज्ञानियोंको असद्रूप भी यह जगत् सद्रूप ब्रह्म ही भासता है ॥ २२ ॥

* तात्पर्य यह कि सत्कर्मका अवलम्बन न रहनेसे अज्ञानियोंका इन्द्रियोंके द्वारा अधःपतन हो ही जाता है । देखिये श्रुति क्या कहती है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥'

अभ्रोदरे भ्रमाङ्गानां स्पन्दास्पन्दमयी यथा।
स्वसंविदात्मिका सत्ता भूतानामीश्वरी तथा ॥ २३ ॥
जलस्यान्तर्जलांशानां द्वैताद्वैतमयो यथा।
स्वसंविदात्मा सुस्पन्दस्तथा ब्रह्मणि भूतदृक् ॥ २४ ॥
यथाऽम्बरेऽम्बरांशानां द्वैताद्वैतकृताऽऽत्मनि।
अनन्या सृष्टिराभाति तथाऽनवयवे शिवे ॥ २५ ॥
जगतोऽन्तरहंरूपमहंरूपान्तरे जगत्।
स्थितमन्योन्यवलितं कदलीदलपीठवत् ॥ २६ ॥

प्रलयमें स्पन्दनकी सत्ता नहीं है, यों असम्भावना करनेवालेके प्रति दृष्टान्त कहते हैं—'अभ्रोदरे' इत्यादिसे।

जैसे आकाशमें इधर-उधर चल रहे मेघोंके उदरमें उदरके अवयवोंकी अविभागसे उनकी अस्पन्दमयी तथा दिशाओंके विभागसे स्पन्दमयी—स्वानुभव चैतन्यरूप ही सत्ता, विरुद्ध धर्मोंका एक कालमें सम्भव होनेके कारण, मानी जाती है वैसे ही प्रलयकालमें भी भूतोंकी ईश्वरकी स्पन्दमयी सत्ता है, यह सम्भावना करनी चाहिए ॥ २३ ॥

वहाँपर चिदाभासका स्पन्दन है, इसमें भी दृष्टान्त कहते हैं—'जलस्य' इत्यादिसे।

जैसे तालाब आदिके भीतर स्थित तरल जल तथा उसके अंशोंका स्पन्दन द्वैताद्वैतमय है, क्योंकि तरलताके कारण भेद और अभेदका निर्वचन करना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही ब्रह्ममें तत्-तत् जीवरूप आभास भी ब्रह्मसंविदात्मक ही है ॥२४॥

निरवयव ब्रह्ममें अवयवयुक्त जगत्के सद्भावमें भी दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे निरवयव आकाशमें दिशाभेदरूप आकाशके अवयवोंकी अभिन्न सृष्टि भासती है, वैसे ही अवयवरहित ब्रह्मरूप आत्मामें यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्न-रूपसे विद्यमान है ॥ २५ ॥

इसी रीतिसे पूर्वोक्त अहङ्कार और जगत्—ये दोनों एक-दूसरेके अन्दर स्थित हैं, यह समझ लेना चाहिए, यह कहते हैं—'जगतोऽ०' इत्यादिसे।

इसी रीतिसे जगत्के अन्तर्गत अहङ्कार और अहङ्कारके अन्तर्गत जगत्—

रूपालोकनमस्कारैरन्ध्रैर्बहिरिव स्थितम् ।
सृष्टिं पश्यति जीवोऽन्तः सरसीमिव पर्वतः ॥ २७ ॥
जीवो जगत्तयाऽऽत्मानं पश्यत्ययमकारणम् ।
हेमेव कटकादित्वं तदपश्यन्न पश्यति ॥ २८ ॥
जीवन्तोऽपि न जीवन्ति म्रियन्ते न मृता अपि ।
सन्तोऽपि च न सन्तीव पारावारविदः शुभाः ॥ २९ ॥
प्रबुद्धः सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि न पश्यति ।
गृहकर्माणि गेहस्थो गोष्ठभाण्डमना इव ॥ ३० ॥

ये दोनों परस्पर एक दूसरेमें, केलेके पत्तोंके स्तरके समान, वेष्टित हैं ॥ २६ ॥

अहङ्कारात्मक जीव अपने भीतर स्थित जगत्को बाहर देखता है, इसमें भी दृष्टान्त देते हैं—'रूपा०' इत्यादिसे ।

जैसे हिमालय पर्वत अपने छिद्रोंसे निकले हुए जलको बाहर मानसरोवर आदि रूपमें स्थित देखता है वैसे ही यह जीव भी अपने अन्तर्गत जगत्को इन्द्रियों तथा मानसिक वृत्तियोंसे बाहर स्थित-सा देखता है ॥ २७ ॥

जैसे आपाततः भ्रान्तिसे सुवर्णपिण्डमें भूत और भावी कटक, केयूर आदि आकार दिखाई पड़ते हैं, किन्तु सुवर्णमात्र दृष्टि करनेपर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही यह जीव बिना कारणके यानी एकमात्र भ्रान्तिसे अपनेको जगद्रूपसे देखता है ॥ २८ ॥

यही कारण है कि जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानियोंकी जन्म-मरणादिरूप सांसारिक स्थितियां अन्यदृष्टिसे विद्यमान रहती हुई भी नहीं ही रहती हैं, यह कहते हैं—'जीवन्तोऽपि' इत्यादिसे ।

इस जगत्के पारावारदर्शी जीवन्मुक्त महापुरुष जीवन धारण करते हुए भी वस्तुतः जीवन धारण नहीं करते एवं मरे हुए नहीं रहते भी वे मरे हुए-जैसे तथा उपस्थित रहते हुए भी नहीं-से रहते प्रतीत होते हैं ॥ २९ ॥

जैसे घरके अन्दर स्थित भी पुरुष गोशाला आदिमें आसक्तचित्त हो गृह-कार्योंको नहीं देखता, वैसे ही ब्रह्ममें आसक्तचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुष देहयात्राके निर्वाहके लिए कर्मोंको करते हुए भी उन्हें नहीं देखता ॥ ३० ॥

विराड् हृदि यथा चन्द्रः प्रतिदेहं यथास्थितः ।
जीवो हिमकणाकारः स्थूले स्थूलो लघौ लघुः ॥ ३१ ॥
अहमात्मा त्रिकोणत्वमुपगच्छति कल्पनम् ।
असदेव सदाभासं मन्यते चेतनाद्वपुः ॥ ३२ ॥
कर्मकोशे त्रिकोणे च शुक्रसारेऽवतिष्ठते ।
देहे जीवोऽहमित्यात्मा स्वामोदः कुसुमे यथा ॥ ३३ ॥
अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
विसरत्यखिले ज्योत्स्ना यथा ब्रह्माण्डमण्डपे ॥ ३४ ॥

प्रासङ्गिक बातें समाप्तकर अब प्रस्तुतका अनुसन्धान कर रहे हैं—'विराड् हृदि' इत्यादिसे ।

जैसे ब्रह्माण्डके हृदयमें विराट्जीव चन्द्रमा स्थित है, वैसे ही प्रत्येक व्यष्टिदेहमें हिमकणके सदृश वीर्यरूप जीव स्थूलमें स्थूल एवं लघुमें लघु रूपसे स्थित है ॥ ३१ ॥

उस जीवके देहधारणका प्रकार बतलाते हैं—'अहमात्मा०' इत्यादिसे ।

पिताके हृदयमें वीर्यरूपसे अवस्थित अहङ्कारात्मा जीव माताकी त्रिकोणाकार योनिमें पिताके द्वारा निषिक्त होकर त्रिकोणाकार परिच्छिन्न कल्पनाको प्राप्त होता है । तदनन्तर उस योनिमें स्थित रक्तसे मिल करके कललबुद्बुद तथा पिण्ड आदि आकार-क्रमसे आविर्भूत हो असद्रूप शरीरमें सदाकार 'अहम्' इत्याकारक अभिमानको चेतन होनेके कारण मानने लग जाता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार त्रिकोणाकारोपलक्षित माताके गर्भमें, एकमात्र शुक्र ही, जिसमें सत् यानी अस्थि, स्नायु आदि कठिनांशरूपसे स्थित रहता है ऐसे अपने कर्मों द्वारा निर्मित शरीरमें कोशाकार कृमिकी नाईं बद्ध होकर 'मैं जीव हूँ' इत्याकारक अभिमानसे युक्त इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह फूलोंमें सुगन्ध ॥३३॥

उसमें भी, चन्द्रकलाओंके चन्द्रबिम्बकी नाईं, हृदयमें स्थित वीर्यकणोंके भीतर अहंभावकी स्फुर्तियोंकी विशेषरूपसे व्याप्ति होती है और उसके द्वारा सारे शरीरमें सामान्यतः अहंभावका विस्तार होता है, यह सब अपने एकमात्र अनुभवसे ही सिद्ध है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

वीर्यकणोंके अन्दर स्थित संवित् पैरसे लेकर मस्तकतक सारे शरीरमें

अक्षरन्ध्रप्रणालेन विसृतं वेदनोदकम् ।
व्याप्नोति त्रिजगद्धूमो वियन्मेघतया यथा ॥ ३५ ॥
देहे यद्यप्यशेषेऽस्मिन् बहिरन्तश्च वेदनम् ।
विद्यते तत्तथाऽप्यत्र शुक्रेऽस्ति घनवासना ॥ ३६ ॥
जीवः सङ्कल्पमात्रात्मा यत्सङ्कल्पोऽवतिष्ठते ।
हृदि भूत्वा स एवाऽऽशु बहिः प्रसरति स्फुटम् ॥ ३७ ॥
यथास्थितां च निश्चित्तां वर्जयित्वा स्थिरोपमाम् ।
न कयाचिदपि स्थित्या शाम्यत्यहमिति भ्रमः ॥ ३८ ॥

अहंभावरूपसे इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्डमण्डपमें चन्द्रमाकी किरण ॥ ३४ ॥

उसके बाह्य पदार्थोंके अवलोकनमें द्वार बतलाते हैं—'अक्ष०' इत्यादिसे ।

इन्द्रियोंके छिद्ररूपी पनालेसे बाहर निकला हुआ आभाससहित अन्तःकरणात्मक ज्ञानरूपी जल तीनों लोकोंमें स्थित सन्निकृष्ट बाह्यपदार्थोंको ऐसे व्याप्त कर लेता है, जैसे धूम मेघरूपसे सारे आकाशको ॥ ३५ ॥

समस्त देहकी अपेक्षा वीर्यमें इसका विशेषाभिमान अनुभवसिद्ध है, यह बतलाते हैं—'देहे' इत्यादिसे ।

यद्यपि समस्त शरीरमें बाहर और भीतर सर्वत्र वह ज्ञान रहता है, तथापि इस वीर्यमें इसको सबसे अधिक अहमभिमान रहता है ॥ ३६ ॥

यही कारण है कि हार्दिक सङ्कल्पपूर्वक ही सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंके व्यवहार प्रवृत्त होते हैं, यह कहते हैं—'जीवः' इत्यादिसे ।

इसी हेतुसे सङ्कल्पात्मक यह जीव हृदयके अन्दर रहकर जिस किसी वस्तुका सङ्कल्प करता है, शीघ्र उसीरूपसे बाहर स्पष्ट प्रसृत होने लग जाता है ॥ ३७ ॥

और इसी कारणसे उस जीवका वह अहंभाव चित्तकी ब्रह्माकार स्थितिके बिना हजारों अन्य उपायोंसे भी शान्त नहीं होता, यह कहते हैं—'यथास्थिताम्' इत्यादिसे ।

यथास्थित यानी स्वभावसिद्ध चित्तवर्जित स्थिर ब्रह्मैकरसस्थितिरूपी ज्ञानदशाको छोड़कर और किसी भी दूसरी स्थितिसे 'अहम्' इत्याकारक भ्रम शान्त नहीं होता ॥ ३८ ॥

चिन्तानुचिन्त्यमानाऽपि भावनीयाऽम्बरोपमा ।
अहंभावोपशमने शमनेन क्रमेण ते ॥ ३९ ॥
तज्ज्ञा व्यवहरन्तीह भाव्यभावनवर्जितम् ।
अरूपालोकमननं मौनं दारुनरा इव ॥ ४० ॥
अकिञ्चिद्भावनो यः स्यात्स मुक्त इति कथ्यते ।
जीवन्नाकाशविशदो बन्धशून्य इव स्फुटम् ॥ ४१ ॥
अहमित्येव शुक्रस्था संविदापादमस्तकम् ।
विसरत्यखिले देहे ब्रह्माण्डेऽर्कप्रभा यथा ॥ ४२ ॥
दृङ्नेत्रं स्वदनं जिह्वा श्रुतिः श्रोत्रं भवत्यसौ ।
इत्याद्या वासनाः पञ्च बद्ध्वा तासु निमज्जति ॥ ४३ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मनन, निदिध्यासन आदिके द्वारा निरन्तर चिन्तन की जा रही भी अपनी ब्रह्मचिन्ता—अहंभावकी आत्यन्तिक शान्तिके लिए उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें निर्विकल्पक समाधिके परिपाक-क्रमसे चरम भूमिकातक आकाशके समान—आपको बना देनी चाहिए। अतः इतनेसे ही सन्तुष्ट होकर आप बैठ मत जाइये ॥ ३९ ॥

तो क्या आप-जैसे महानुभावोंको भी वह वैसी ही सम्पादनीय है, इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'तज्ज्ञाः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानी लोग इस संसारमें बाह्य तथा मानसिक दृश्य-दर्शनके अभिमानसे शून्य कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंसे रहित एवं भाव्य और भावनसे वर्जित ऐसे व्यवहार करते हैं, जैसे काष्ठके पुरुष ॥ ४० ॥

जिसके अन्दर तुच्छ प्रपञ्चकी भावना नहीं है, वह जीते-जी आकाशके समान विशाल, शृङ्खला आदिके बन्धनसे निर्मुक्त हुएकी नाईं, स्पष्ट रूपसे मुक्त कहा जाता है ॥ ४१ ॥

शुक्रांशके सम्बन्धके वशसे ही समस्त शरीरमें अहंभावका सम्बन्ध भी रहता है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

वीर्यकणोंके अन्दर स्थित संवित् पैरसे लेकर मस्तकतक समस्त शरीरमें अहंभाव-रूपसे इस प्रकार व्याप्त हो जाती है, जिस प्रकार सारे ब्रह्माण्डमें सूर्यकी प्रभा ॥४२॥

चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपसे तत्-तत् स्थानोंमें सम्बन्ध भी शुक्रात्मभूत ही जीवका रहता है, यह कहते हैं—'दृग्' इत्यादिसे ।

चिद्भावोऽक्षतयोदेति मनो भूत्वैकदेशतः ।
सर्वगोऽपि रसो भूमौ यथाङ्कुरतया मधौ ॥ ४४ ॥
यो भावयति भावेषु नेह रूढेष्वभावताम् ।
तस्याऽयत्नवतो दुःखमनन्तं नोपशाम्यति ॥ ४५ ॥
येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचनशायीह स सम्राडिव राजते ॥ ४६ ॥

चक्षु इन्द्रिय और चक्षुगोलक, स्वदनेन्द्रिय और जिह्वास्थान, श्रवणेन्द्रिय और श्रवणस्थान—इत्यादि सब वीर्यमें स्थित वह संवित् ही होती है, इसीलिए स्त्री आदिका दर्शन, स्पर्शन, श्रवण आदि होनेपर पहलेकी रूपादि पाँच वासनाएँ बांधकर समस्त इन्द्रियोंके द्वारा जनित कामोद्दीपनसे उनमें निमग्न हो जाती है ॥४३॥

अज्ञानावृत चितिकी विपरीत भावना ही सबसे पहले मन बनती है, फिर वीर्यमें अहंभावरूप एक देशके द्वारा सारे शरीरमें व्याप्त होकर तत्-तत् इन्द्रियभावसे इस तरह उदित होती है, जिस तरह पृथिवीमें सर्वगामी भी रस अङ्कुरके रूपसे वसन्त ऋतुमें उदित होता है ॥ ४४ ॥

इसीलिए उसके प्रतिकूल यथार्थभावनाके बिना उस जीवके दुःखोंका उपरम नहीं होता, यह कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो पुरुष इस संसारमें उत्पन्न मन, अहङ्कार, देहादि जगत्-पदार्थोंमें 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, नेह नानास्ति किञ्चन, अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा दिखलाई गई अभावरूपकी भावना नहीं करता, मोक्षके अनुकूल यत्नसे रहित उस पुरुषरूपी गदहेके जन्मादि अनन्त दुःखोंकी शान्ति कभी नहीं होती ॥ ४५ ॥

सारे सांसारिक पदार्थोंमें ब्रह्मरूपकी भावना कर रहे पुरुषको तो बाह्य सर्वस्वका त्याग होनेपर भी प्रारब्धके कारण आकृष्ट हुए मनुष्योंके द्वारा भोजन, वस्त्र आदिके मिल जानेसे तथा अपने भीतर स्वानन्दामृत-तृप्ति रहनेसे वैराजपदतक साम्राज्य सुख है ही, यह कहते हैं—'येन केनचित्' इत्यादिसे ।

जिस किसीके द्वारा वस्त्र आदिसे ढक दिया गया, जिस किसीके द्वारा खिला दिया गया तथा जहाँ कहीं सो जानेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्राट्के समान शोभित होता है ॥ ४६ ॥

वासनाभिरुपेतोऽपि समग्राभिरवासनः ।
अन्तः शून्योऽप्यशून्यात्मा खमिव श्वसनान्वितः ॥ ४७ ॥
आसने शयने याने स्थितो यत्नैर्न बोध्यते ।
निद्रालुरिव निर्वाणमनोमनननिर्वृतः ॥ ४८ ॥
संविन्मात्रं हि पुरुषः सर्वगोऽपि स तिष्ठति ।
स्फुटसारे शरीरस्य यथा गन्धोऽब्जकेसरे ॥ ४९ ॥
संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
आत्मनिष्ठत्वमजगत्परमेत्युपदेशभूः ॥ ५० ॥
नीरसो भवभावेषु सर्वेषु विभवादिषु ।
पाषाणं हृदयं कृत्वा यथा भवसि भूतये ॥ ५१ ॥

समग्र ब्रह्माकार वासनाओंसे अथवा जले हुए वस्त्रोंके तन्तुओंके आकारके सदृश जागतिक समस्त वासनाओंसे युक्त हुआ भी तत्त्वज्ञानी पुरुष वासनारहित ही रहता है तथा अन्तःशून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा वह आकाशके सदृश प्राणवायुसे समन्वित रहता है ॥ ४७ ॥

षष्ठ आदि भूमिकाओंमें प्रविष्ट होनेके कारण आसन, शयन या यानमें स्थित, निर्वाणदशाको प्राप्त अतएव मानसिक चिन्ताओंसे सर्वथा अलग हुआ तत्त्वज्ञानी पुरुष, निद्रालुकी नाईं, अनेक तरहके यत्नोंसे जगानेपर भी नहीं जागता ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वत्र व्याप्त भी संविन्मात्र वह पुरुष शरीरके स्फुटसारमें (वीर्यमें) इस तरह अवस्थित रहता है, जिस तरह पद्मकोशमें गन्ध ॥ ४९ ॥

इस तरह व्यष्टि और समष्टि जीव-भावादिके वर्णनको परम प्रस्तुत विषयमें संयोजित करके अपने उपदेशरूप सर्वस्वको संक्षिप्त करते हुए महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'संविन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संविन्मात्र ही जीव कहा गया है और उसीके विस्तारको तत्त्वज्ञानी लोग 'जगत्' समझते हैं यानी यह जो जगत है, वह एकमात्र संविद्रूप जीवका विस्तार ही है । जब यह जीव आत्मनिष्ठ हो जाता है तब अजगद्रूप अपने परम पदको प्राप्त हो जाता है, बस यही सर्वोत्कृष्ट उपदेशस्थिति है ॥५०॥

दृढ़ वैराग्य होना ही साधन-रहस्य है, यह कहते हैं—'नीरसः' इत्यादिसे ।

साधो हृदयसौषिर्यमसौषिर्यमिवाऽस्तु ते।
अचित्त्ववपुषो चित्त्वादुपलस्येव राघव ॥ ५२ ॥
तज्ज्ञाज्ञयोरशेषेषु भावाभावेषु कर्मसु।
ऋते निर्वासनत्वात्तु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ ५३ ॥
सत्त्वैवैषा विदो यत्सा भवत्युन्मिषिता जगत्।
परं तत्त्वं निमिषिता दृगित्वाऽनामकं ततम् ॥ ५४ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त सांसारिक विभव आदि भाव पदार्थोंमें विरक्त हो जाइये तथा पाषाणके समान अपने हृदयको बना करके ऐश्वर्य-प्राप्तिके लिए आप जिसरूपसे तैयार हो रहे हैं वैसा ही सन्नद्ध रहिये ॥ ५१ ॥

'पाषाणके समान अपने हृदयको बना करके' यह जो ऊपर कहा है, उसे और साफरूपसे कह रहे हैं—'साधो' इत्यादिसे।

हे साधो राघव, जैसे अचित्त्वशरीर पत्थरके हृदयका पोलापन अचिद्रूप होनेसे ही चितिके निवेशके लिए अवकाशाभावरूप अपोलापन प्रसिद्ध है वैसे चिन्मात्रशरीर आपका दहराकाशरूप हृदय सौषर्य (हृदयका पोलापन) चिद्रूप होनेसे ही अचितिके निवेशके लिए अवकाशाभावरूप चितिसे निबिडित अपोलापनकी नाईं हो जाय* ॥ ५२ ॥

यही कारण है कि स्फटिक पत्थरमें प्रतिबिम्बित मनुष्योंके व्यवहार कर्मोंके सदृश ज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंमें प्रतीतिसाम्य रहनेपर भी सत्यत्ववासनाभावकृत विशेष है, यह कहते हैं—'तज्ज्ञाज्ञयो०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंके सम्पूर्ण भाव और अभावरूप कर्मोंमें एकमात्र वासनाभावके सिवा और कोई दूसरा विशेष नहीं रहता ॥५३॥

और इस तरह स्फटिक पत्थरमें द्रष्टापुरुषकी दृष्टिकी नाईं चैतन्यकी जो सत्ता है वही वासनाओंसे दीपित होकर जगद्रूप हो जाती है और वासनाओंके

* अथवा—हे साधो श्रीरामचन्द्रजी, आजतक चिदात्माके अभिमानसे शून्य होनेके कारण अचित्त्व शरीर हुए आपका—अचिद्रूप अज्ञानसे स्फटिक पत्थरके अन्दर कल्पित आकाशकी नाईं करोड़ों धनादिरूप भोग सामग्रियोंके लाभसे भी परिपूर्ण नहीं हो रहा कामरूपी मन-छिद्र अब नित्य निरतिशयानन्द पूर्णात्माके लाभसे पूर्णकाम हो जानेके कारण, बाधित हुए वास्तविक स्फटिकछिद्रकी नाईं, एकमात्र आनन्दघन हो जाय, यह आशय है।

दृश्यं विनश्यत्यखिलं विनष्टं जायते पुनः ।
यन्न नष्टं न चोत्पन्नं यत्सद्भवति तद्भवान् ॥ ५५ ॥
भावज्ञप्तिर्हि निर्मूला भाविताऽपि न विद्यते ।
सलिलं मृगतृष्णेव न ददाति भवाङ्कुरम् ॥ ५६ ॥
यथाभूतार्थसंदर्शच्छिन्नाऽहमिति भावना ।
दृष्टाऽपि न करोत्यन्तर्दग्धं बीजमिवाङ्कुरम् ॥ ५७ ॥
कर्म कुर्वन्न कुर्वन्वा वीतरागो निरामयः ।
निर्मना नित्यनिर्वाणः पुमानात्मनि तिष्ठति ॥ ५८ ॥
चित्तोपशान्तौ संशान्ताः शान्ता ये भोगबन्धवः ।
न स्वभावपरिक्षीणाश्चित्तमेषां किलाकरः ॥ ५९ ॥

अभावसे निमिषित यानी शान्त हो करके तो अपरिच्छिन्न परमतत्त्व-मोक्षरूप हो जाती है, जिसका दूसरा कोई नाम ही नहीं है ॥ ५४ ॥

इसलिए एकमात्र चितिकी सत्ता ही नित्य है, यह कहते हैं—'दृश्यम्' इत्यादिसे ।

यह सारा दृश्य प्रपञ्च पहले नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर पुनः उत्पन्न होता है । परन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, जो न तो कभी नष्ट हुआ, न उत्पन्न ही हुआ और सद्रूप है वही आप हैं ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, इस तरहके बोधसे मूलाज्ञानका नाश होनेपर अन्वेषण करनेपर भी कहीं जगत्भ्रान्ति अस्तित्व नहीं रखती, और मृगतृष्णा जैसे जल प्रदान नहीं करती, वैसे ही यह संसारमें अङ्कुर नहीं प्रदान करती ॥ ५६ ॥

आत्मपदार्थके साक्षात्कारसे काटी गई अहंभावना दिखाई देनेपर भी भीतरमें संसारको इस तरह उत्पन्न नहीं कर पाती, जिस तरह दग्ध कर दिया गया बीज अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर पाता ॥ ५७ ॥

इसीलिए विहित कर्मोंका अनुष्ठान करने या न करनेपर तत्त्वज्ञानियोंके लिए कोई विशेष बात नहीं निकलती, यह कहते हैं—'कर्म' इत्यादिसे ।

वीतराग, मानसिक विकारोंसे रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष चाहे कर्म करे या न करे, इससे उसमें कोई नयी बात नहीं आती, वह तो सर्वदा ही सङ्कल्पशून्य एवं नित्यमुक्त होकर अपनी आत्मामें ही स्थित रहता है ॥ ५८ ॥

मनयुक्त हठयोगी लोग क्षान्ति आदि गुणोंके कारण अपनी आत्मामें क्यों

अघनः केवलालोको बुधो जीवः परायते ।
स एवाऽन्योऽप्यनन्योऽन्तरपराह्ण इवाऽऽतपः ॥ ६० ॥

एकदेशस्थितात्पुंसो दूरायातस्य चेतसः ।
यद्रूपं सकलं मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥ ६१ ॥

नहीं स्थित रहते ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'चित्तो०' इत्यादिसे ।

जो हठयोगसे शान्त बने योगी लोग रहते हैं वे भी चित्तकी उपशान्ति हो जानेपर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं; क्योंकि उनकी भोग-वासनाएँ बिलकुल मूलसे छिन्न हुई नहीं रहतीं, इसमें कारण यह पड़ जाता है कि सम्पूर्ण वासनाओंका आधारभूत उनका चित्त तो बना ही रहता है ॥ ५९ ॥

चित्त, देह आदिरूपसे जीवकी जो एकरूपता है, वही ब्रह्मसे जीवको भिन्न बनानेवाली और उसको संताप देनेवाली है और उसके अभावमें तो यह जीव ब्रह्मसे अभिन्न एवं संतापशून्य ही बना रहता है, यह कहते हैं—'अघनः' इत्यादिसे ।

जीव ज्ञानी (शोधित त्वंपदार्थ), मूर्तिशून्य, (चित्त, देह आदिस्वरूप न हुआ) एवं शुद्ध चैतन्यप्रकाशरूप बनकर ही परमात्माके साथ एकता प्राप्त करनेके लिए योग्य हो जाता है । वही जीव अन्य होता हुआ भी उस परमात्मासे ऐसे अनन्य है, जैसे मध्याह्नकालमें सूर्यका आतप सूर्यसे अनन्य है ॥ ६० ॥

आत्माके उसी मूर्तिशून्य केवल चिदालोकस्वरूपका अनुभव कराते हैं—'एकदेश०' इत्यादिसे ।

पुरुषके शरीरसे बहुत दूरीपर स्थित सूर्य, चन्द्र आदि मण्डलतक चक्षु आदिके द्वारा गये हुए चित्तकी जो वृत्ति है, उसका मध्यमें विच्छेद न रहनेके कारण देहसे लेकर सूर्यादिमण्डल पर्यन्त अविच्छिन्नरूपसे अपरोक्ष चिति उसमें अभिव्यक्त है ही । यह वृत्ति देहप्रदेश तथा चन्द्रप्रदेशमें यद्यपि विषयसहित है, तथापि मध्यभागमें उसका निर्विषयक जो रूप प्रसिद्ध है उसी रूपको परमात्माका पूर्णरूप समझना चाहिए* ॥ ६१ ॥

---

* देखिये यह श्रुति—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्' ।

चारुचिद्व्योम कर्पूरं यच्चमत्कुरुते स्वयम् ।
अनन्तमन्तरव्यक्तं जगदित्येव वेत्ति तत् ॥ ६२ ॥
गतभवभ्रमभासुरमक्षयं
शममुपेतमुपेक्षितदीपवत् ।
स्थितमपीह जनं जगदीश्वरा-
दनुगतं ननु भाति मुदा च खे ॥ ६३ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सुखयोगोपदेशो नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विरागवासनापास्तसमस्तभववासनः ।
उत्थाय गच्छ प्रकृतेरस्या मङ्किरिवाङ्कितः ॥ १ ॥

निर्विषयक चितिका ही यह जगत् एक मायिक चमत्कार है, यह कहते हैं—'चारु०' इत्यादिसे ।

असीम और अनभिव्यक्त सुन्दर चिदाकाशरूप कपूर जो अपने भीतर स्वयं चमत्कार करता है, उसीको वह जगद्रूपसे जानता है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरहसे यह संसार तत्त्वज्ञानी पुरुषको सांसारिक भ्रमके दूर हो जानेसे प्रकाशमय, उपेक्षित दीपकी नाईं, निर्वाणको प्राप्त अक्षय (परिपूर्ण) ब्रह्मरूप ही भासता है और अज्ञानीको तो परमार्थतः आकाशके उदरमें स्थित भी यह संसार सर्वनियन्ता परमेश्वरकी समस्त नियन्त्रण व्यवस्थाओंसे तथा भोग-प्रीतियोंसे अनुगत ही भासता है । कहनेका तात्पर्य यह कि यह जगत् भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप ही है ॥ ६३ ॥

बाईसवां सर्ग समाप्त

तेईसवां सर्ग

[मरुभूमिके महावनमें महाराज वसिष्ठके साथ मङ्किनामक ब्राह्मणका समागम तथा वैराग्य आ जानेसे तत्त्वजिज्ञासु हुए उसका उपदेश, यह वर्णन]

'नीरसो भव भावेषु सर्वेषु विभवादिषु' इससे जो वैराग्यकी दृढ़ताके लिए

मङ्किर्नामाभवत्पूर्वं ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
स कथं शृणु निर्वाणमाप्तवान्मद्विबोधितः ॥ २ ॥
अहं कदाचिदाकाशकोशादवनिमागतः ।
भवत्पितामहार्थेन केनाऽप्युपनिमन्त्रितः ॥ ३ ॥
विहरन् भूतलं गच्छंस्त्वत्पितामहपत्तनम् ।
प्राप्तोऽस्मि काम्प्यादीर्घामरण्यानीं महातपाम् ॥ ४ ॥
पांसुप्रतर्दनहतां प्रकचत्तप्तसैकताम् ।
अदृष्टापारपर्यन्तां क्वचिद्राम किलाङ्किताम् ॥ ५ ॥
अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनीम् ।
ततां शून्यां महारम्भां ब्रह्मसत्तामिवाऽमलाम् ॥ ६ ॥

आवश्यकता बतलाई गई है उसको खूब स्थिर करनेके लिए मङ्कि ब्राह्मणका उपाख्यान आरम्भ करते हैं—'विराग०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, भलीभाँति आँखोंके सामने दिखाई दे रहे इस स्वाभाविक अज्ञानादिरूप संसारसे तत्त्वबोध द्वारा निकलकर आप मङ्किके सदृश उत्तम लक्षणोंसे युक्त और वैराग्यकी वासनासे समस्त सांसारिक वासनाओंसे निर्मुक्त होकर निर्वाण पदको प्राप्त हो जाइये ॥ १ ॥

बहुत दिन पहलेकी बात है, प्राचीनकालमें एक उत्तमव्रती मङ्कि नामक ब्राह्मण हुए थे, उन्होंने हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे उपदेश, देनेपर कैसे निर्वाण पदकी प्राप्ति की, उसे आप सुनिये ॥ २ ॥

किसी समय पहले आपके पितामह अजने किसी यज्ञादिरूप कार्यसे मुझे निमन्त्रण दिया था, इसलिए आकाशमण्डलसे इस पृथिवीपर मैं आया ॥ ३ ॥

आपके पितामहकी नगरी अयोध्यामें आ रहा मैं पृथिवीपर विचरते हुए महान् आतपोंसे युक्त किसी एक बड़े महाजंगलमें पहुँच गया ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह महाजंगल अविच्छिन्नरूपसे धूलि उड़नेके कारण धूसर हो रहा था, वहांपर तप्त हुई सिकताएँ खूब चमक रही थीं, उसका ओर-छोर कहीं नहीं दिखाई दे रहा था तथा वह कहीं-कहीं निकृष्ट ग्रामोंसे चिह्नित था ॥ ५ ॥

धूलि आदिके उड़नेसे अक्षुब्ध हुए आकाश, झंझावात, आतप, मृगतृष्णाके

अविद्यामिव सम्मोहमृगतृष्णां गतां भ्रमात् ।
जडतामाततां शून्यां दिङ्मोहमिहिकाकुलाम् ॥ ७ ॥
अथ तस्यामरण्यान्यां यावत्प्रविहराम्यहम् ।
तावत्पश्यामि पुरतो वदन्तं पथिकं श्रमात् ॥ ८ ॥

पान्थ उवाच

अहो नु परिखेदाय प्रौढप्रायातपो रविः ।
परितापाय पापोऽयं दुर्जनेनेव सङ्गमः ॥ ९ ॥
सुगलन्तीव मर्माणि स्फुरतीवाग्निरातपे ।
सङ्कुचत्पल्लवापीडास्ताप्यन्ते वनराजयः ॥ १० ॥
तत्तावदेवमग्रस्थं ग्रामकं प्रविशाम्यहम् ।
श्रममन्नापनीयाऽऽशु वहाम्यध्वानमाशुगः ॥ ११ ॥

जल और तप्त हुई पृथिवीकी शान्तिसे शोभायमान, विस्तृत, शून्य तथा दुर्गम होनेके कारण जानेवालोंके द्वारा किये गये महान् प्रयत्नोंसे युक्त निर्मल ब्रह्मसत्ताकी नाईं वह महाजंगल था ॥ ६ ॥

मोह पैदा करनेवाली मृगतृष्णा-सी अविद्याके सदृश, भ्रमके कारण जड़ताको प्राप्त, बहुत दूरतक फैला हुआ, प्राणियोंके सञ्चारसे शून्य तथा दिग्भ्रमरूपी कुहरासे वह व्याप्त था ॥ ७ ॥

उस महाजंगलमें पहुँचनेके बाद ज्योंही मैं इधर-उधर विहार करनेमें प्रवृत्त हो रहा था, त्योंही श्रमके मारे एक पथिकको कुछ कहते देखा ॥ ८ ॥

वह पथिक कह रहा था—अहो, जैसे दुर्जनका पापी समागम एकमात्र परितापके लिए ही होता है वैसे ही प्रचण्ड आतपयुक्त यह सूर्य भी अत्यन्त खेद पहुँचानेके लिए ही उदित हुआ है ॥ ९ ॥

सभी अङ्ग एक तरहसे गलते जा रहे हैं, इस आतपमें मानो अग्नि प्रदीप्त हो रही है तथा संकुचित हो रहे पल्लवोंवाली वनराजियाँ सन्तप्त हो रही हैं ॥ १० ॥

इसलिए छोटे-से इस अगले गाँवमें प्रविष्ट होकर कुछ देरतक रहूँ। यहींपर जल्दी थकावट मिटाकर फिर शीघ्रगामी मैं अपना रास्ता पकड़ लूँगा ॥ ११ ॥

इति सञ्चिन्त्य सोऽग्रस्थं किरातग्रामकं यदा ।
प्रवेष्टुमिच्छति तदा मया प्रोक्तमिदं वचः ॥ १२ ॥
अपरिज्ञातनीरागमार्गमित्र शुभाकृते ।
मरुमार्गमहारण्यपान्थ स्वागतमस्तु ते ॥ १३ ॥
चिरं मनुष्यदेशेऽस्मिन्निर्जनग्रामसध्वनि ।
अधराध्वग विश्रान्तिं विश्रान्तोऽपि न लप्स्यसे ॥ १४ ॥
ग्रामे विश्रमणं नैव वर्तते पामरास्पदे ।
तृड्‌वै लवणपानेन भूय एवाभिवर्धते ॥ १५ ॥

ऐसा विचारकर जब वह आगे स्थित किरातोंके एक छोटे-से गांवमें प्रवेश करनेकी इच्छा कर रहा था, तबतक मैंने उससे यह बात पूछ दी* ॥ १२ ॥

हे अकिञ्चन पुरुषोंके सञ्चारयोग्य मार्गका परिज्ञान न रखनेवाले मरुमार्गके महाजङ्गलके पथिक, हे शुभाकृते मेरे मित्र, [यहां मेरे दर्शनसे सभी दुःखोंके मूलका क्षय हो जानेके कारण] तुम्हारा स्वागत हो ॥ १३ ॥

हे निम्नमार्गके पथिक*, पूर्वके गांवोंमें अन्न-पान-आश्रय आदिके लाभ-द्वारा कुछ विश्रान्तिसुख पा जानेपर भी अतिथियोंका सत्कार करनेवाले पुरुषोंसे शून्य गांवमें रहकर इस मनुष्यदेहरूपी देशमें आगे चलकर चिरकालतक विश्रान्ति नहीं प्राप्त कर सकोगे† ॥ १४ ॥

पामरजनोंके निवासस्थान गांवमें‡ विश्रान्तिसुख नहीं मिलता, हे श्रीरामजी,

---

* अर्थात् मैंने उसका भाग्योदयकाल जानकर उसके सम्पूर्ण श्रमका मूलोच्छेद करनेके लिए आगे कही जानेवाली बातें पूछ दीं ।

* हे अधराध्वग, इस सम्बोधनसे उस समय महाराज वसिष्ठजीका आकाशमार्गसे गमन सूचित होता है ।

† यह ऊपरी अर्थ है । इसका मनोगत अर्थ यह है—हे अधरकर्मके पथिक, कर्मोपासनासे लब्ध होनेवाले इस दक्षिणायण-उत्तरायण मार्गरूपी पथमें, स्वर्ग आदि भूमियोंमें कुछ-कुछ विश्रान्तिको प्राप्त करते हुए भी जन्मसमूहरहित मोक्षकी नाईं चिरकालतक विश्रान्ति न प्राप्त कर सकोगे ।

‡ वास्तविक अर्थ यह है—कामद्वेष आदिकोंके निवासस्थान कर्तृ-करणसंघातके आलय देव-मनुष्य आदि देहमें विश्रान्तिसुख नहीं मिलता ।

एते ग्रामैकशरणाः पल्लवाः स्पन्दभीरवः ।
अयथापथसञ्चारा हरिणा इव जन्तवः ॥ १६ ॥
न स्फुरन्ति विचारेषु प्रज्वलन्त्यनुभूतिषु ।
न त्रस्यन्ति दुराचाराद्श्मयन्त्रमया इव ॥ १७ ॥
कामार्थरागसद्वेषपरिनिष्ठितपौरुषाः ।
कर्मण्यापातमधुरे रमन्ते दग्धबुद्धयः ॥ १८ ॥
आभिजात्याऽऽततोदारा शीतला रसशालिनी ।
नेह विश्वसिति प्रज्ञा मेघमाला मराविव ॥ १९ ॥
वरमन्धगुहाहित्वं शिलान्तःकीटता वरम् ।
वरं मरौ पङ्गुमृगो न ग्राम्यजनसङ्गमः ॥ २० ॥

यह निश्चित है कि नमकका पानी* पीनेसे तृष्णा और बढ़ती जाती है, उससे प्यास नहीं बुझती ॥ १५ ॥

ये सब पुलिन्द जातिके जन्तु लोग जङ्गली एक छोटे-से गांवमें रहते हैं, जनपदके स्पन्दसे बहुत डरते हैं तथा उटपटाङ्ग मार्गमें इधर-उधर मृगोंकी तरह घूमते-फिरते हैं* ॥ १६ ॥

पत्थरकी बनी मूर्तियोंकी नाईं वे विचारोंमें स्फुरित नहीं होते यानी मूढ़ होते हैं, अनुभूतियोंमें खूब जलते हैं तथा दुराचारसे वे कभी नहीं डरते† ॥१७॥

काम और अर्थमें ही इनका सम्पूर्ण पौरुष परिनिष्ठित रहता है तथा मुग्धबुद्धि वे आपात रमणीय कर्मोंमें ही रमण किया करते हैं ॥ १८ ॥

दोनों कुलकी विशुद्धतासे विस्तृत, शीतल, उदार, ब्रह्मानन्दैकरसशालिनी प्रज्ञा इन लोगोंमें ऐसे विश्वास नहीं करती, जैसे मरुस्थलमें मेघमाला ॥ १९ ॥

अन्धकारावृत गुहामें अजगर होना अच्छा है, पत्थरके भीतर कीट होना

* नमकीन विषयोंके सेवनसे विषयाभिलाषा और बढ़ती जाती है। सुनिये ययातिने क्या कहा है—

'न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥'

* वास्तविक अर्थ यह है—ये काम आदि पल्लवकी नाईं स्नेह-रागसे युक्त हैं, विवेक-स्पन्दसे सदा डरते हैं तथा अशास्त्रीय मार्गमें खूब घूमते हैं।

† विवेकज्ञान होनेपर वे काम आदि स्फुरित नहीं होते, तत्त्वज्ञानका अनुभव हो जानेपर ये जलने लगते हैं तथा दुराचारसे कभी तनिक भी भय नहीं करते।

निमेषास्वादमधुराः क्षणान्तरविरागिणः ।
मारणैकान्तनिरता ग्राम्या विषकणा इव ॥ २१ ॥
वान्ति भस्मकणाकीर्णा जीर्णसंशीर्णसद्मसु ।
तृणपर्णवनव्यग्रा ग्राम्याधार्मिकवायवः ॥ २२ ॥
एवमुक्तेन तेनाहमिदमुक्तस्ततोऽनघ ।
मद्वाक्येन समाश्वास्य स्नातेनेवामृताम्भसा ॥ २३ ॥

पान्थ उवाच

भगवन् कोऽसि पूर्णात्मा महात्मा कथमात्मवान् ।
पश्यस्यनाकुलो लोकं ग्रामयात्रामिवाऽध्वगः ॥ २४ ॥
किं त्वया पीतममृतं किं त्वं सम्राड्विराडथ ।
सर्वार्थरिक्तोऽपि चिरं सम्पूर्ण इव राजसे ॥ २५ ॥

अच्छा है तथा मरुस्थलमें पङ्गु मृग होना अच्छा है, परन्तु ग्रामीण जनका* साथ अच्छा नहीं है ॥ २० ॥

निमेषमात्रके लिए आस्वादमें मधुर, क्षणभरमें ही बिगाड़ कर देनेवाले तथा प्राण लेनेमें सदा तैयार रहनेवाले ये ग्रामीणजन, मधुमिश्रित विषकणके समान हैं ॥ २१ ॥

धूलिधूसर, तृण, पर्ण तथा वनमें व्यग्र गांवमें होनेवाले ये अधार्मिक जनरूपी चण्डपवन जीर्ण-शीर्ण घरोंमें सञ्चार करते हैं ॥ २२ ॥

हे अनघ श्रीरामजी, इस तरह मेरे कहनेके बाद 'मेरा आशय जानकर ये मेरा अवश्य उद्धार करेंगे' इसलिए मेरे वाक्यसे भलीभांति आश्वासन पाकर अमृतरूपी जलसे स्नान किये हुएके सदृश उस मङ्किने मुझसे यह कहा ॥ २३ ॥

उस पथिकने कहा—भगवन्, आप कौन हैं ? आप पूर्णात्मा आत्मज्ञानी कोई महात्मा प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि आप अनाकुल होकर इस लोकको ऐसे देख रहे हैं, जैसे कोई पथिक ग्रामयात्राको देखता हो ॥ २४ ॥

पूर्णात्माको ही हेतुओंके वितर्क द्वारा प्रकट करते हैं—'किं त्वया' इत्यादिसे। भगवन्, क्या आपने अमृतका पान किया है या आप सम्पूर्ण लोकोंके

---

* अज्ञानी जनका—यह तात्पर्यार्थ है ।

शून्योऽसि परिपूर्णोऽसि घूर्णोऽसीव स्थिरोऽसि च।
न सर्वमपि सर्वं च न किञ्चित् किञ्चिदेवच ॥ २६ ॥
उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च।
निवृत्तं चोर्जितं तादृग्रूपं किमिति ते मुने ॥ २७ ॥
भूसंस्थोऽपि समस्तानां लोकानामुपरीव खे।
संस्थितोऽसि निरास्थोऽसि घनास्थोऽसीव लक्ष्यसे ॥ २८ ॥
प्रसृतं न पदार्थेषु न पदार्थात्मनाऽस्ति वै।
तवेन्दोरिव शुद्धस्य मनोऽमृतमयं स्थितम् ॥ २९ ॥

ईश्वर हैं अथवा विराट् पुरुष हैं ? आप सब अर्थोंसे रिक्त होते हुए भी परिपूर्ण चन्द्रमाकी नाईं शोभते हैं ॥ २५ ॥

सांसारिक दोषदुःखोंसे शून्य हैं, निरतिशयानन्द होनेसे आप जीवन्मुक्तोंके गुणोंसे परिपूर्ण हैं, देह आदिका कुछ भी अनुसन्धान न रहनेसे आप मदघूर्णित-से—मदोन्मत्तके समान हैं, आप स्थिर-से हैं, समष्टिमें अपवाद तथा अध्यारोप दृष्टिसे आप सब कुछ होते हुए भी नहीं हैं एवं व्यष्टिमें अपवाद और अध्यारोप दृष्टिसे आप सब कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ हैं ही ॥ २६ ॥

इस प्रकारका मैं हूँ, यह तुमने कैसे जाना, यदि यह कहिये, तो इसका उत्तर यह है कि 'आपके रूपके अवलोकनसे ही', यह सूचित करते हुए कहते हैं—'उपशान्तम्' इत्यादि।

हे मुने, शान्त, रमणीय, प्रदीप्त, प्रतिघातरहित, सर्वथा निवृत्त तथा समस्त सामर्थ्ययुक्त जो रूप* रहता है वैसा यह आपका रूप क्यों भासता है ? ॥२७॥

आप पृथिवीपर स्थित हुए भी समस्त लोकोंके ऊपर आकाशमें स्थित-से हैं। आस्थाशून्य रहते हुए भी आप मेरे समान लोगोंका उद्धार करनेमें सघन आस्थासे युक्त-से मुझे प्रतीत हो रहे हैं ॥ २८ ॥

चन्द्रमाकी नाईं विशुद्ध आपका अमृतमय मन चन्द्रमाकी किरणोंकी तरह पदार्थोंमें प्रसृत नहीं है और न ओषधि, वनस्पति, सोम, आज्य, पय, अन्न आदि पदार्थोंके रूपसे उपभोगके योग्य है; जिससे नष्ट हो जायगा। अतः

* इसमें यह श्रुति प्रमाण है—'रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे'।

कलावानकलङ्कोऽन्तःशीतलो भास्वरः समः ।
रसायनभरापूर्णः पूर्णेन्दुरिव राजसे ॥ ३० ॥
त्वदिच्छायां तु सदसद्भावं पश्यामि ते चिति ।
संसारमण्डलमिदं स्थितं फलमिवाङ्कुरे ॥ ३१ ॥
अहं तावदयं विप्र शाण्डिल्यकुलसम्भवः ।
मङ्किर्नाम महाभाग तीर्थयात्राप्रसङ्गतः ॥ ३२ ॥

आपका मन सदा ही परिपूर्ण स्थित है। तात्पर्य यह कि चन्द्रमासे भी बढ़कर आपका मन है ॥ २९ ॥

और दूसरा भी चन्द्रमाके साथ साम्य तथा विशेष बतलाते हैं—'कलावान्' इत्यादिसे ।

मुने, आप कलावान्, कलङ्कशून्य, भीतरसे शीतल, प्रकाशमय, समरूप तथा रसायनप्रवाहपूर्ण, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश भासते हैं* ॥ ३० ॥

इसी तरह हिरण्यगर्भके साथ आपका सादृश्य तथा उससे बढ़कर आपमें विशेष गुण है, यह कहते हैं—'त्वदिच्छायाम्' इत्यादिसे ।

अङ्कुरमें काण्ड आदि फलपर्यन्त स्थित वृक्षके रूपकी नाईं हे भगवान्, सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिता आदि गुणोंसे सम्पन्न आपकी आत्मामें ही यह संसारमण्डल सृष्टियोग्यरूपसे स्थित मैं देखता हूँ। परन्तु इस संसारमण्डलकी सृष्टिके लिए सत् और असद्भावको मैं आपकी इच्छामें ही स्थित जानता हूँ। यदि आप चाहें तो आप भी संसारकी सृष्टि अवश्य कर सकते हैं, परन्तु आप चाहते नहीं, बस यही तो आपमें हिरण्यगर्भसे बढ़कर एक विशेष गुण है ॥ ३१ ॥

इसतरह प्रशंसा द्वारा अभिमुख किये गये महाराज वसिष्ठजीको अपनी वैराग्य आदिसाधनसम्पत्तिसे उपदेशयोग्यता दर्शानेके लिए अपने गोत्र, नाम आदिका बखान करता है—'अहम्' इत्यादिसे ।

हे महाभाग, मैं शाण्डिल्यगोत्रमें उत्पन्न मङ्कि नामधारी ब्राह्मण हूँ। तीर्थयात्रा करनेकी इच्छासे बहुत दूरतक जाकर मैंने अनेक तीर्थोंके दर्शन किये । अनन्तर

* पूर्णचन्द्रमामें भी कलङ्क रहता है, परन्तु आप कलङ्कशून्य हैं, यह एक आपमें अधिक गुण है ।

गत्वा सुदूरमध्वानं दृष्ट्वा तीर्थानि संप्रति।
चिरकालेन सदनमात्मीयं गन्तुमुद्यतः ॥ ३३ ॥
न च मे गन्तुमुद्योगो विरक्तमनसो गृहम्।
दृष्ट्वा तडित्सकाशानि भूतानि भुवनोदरे ॥ ३४ ॥
भगवन्सत्यमात्मानं कथयेहानुकम्पया।
गम्भीराणि प्रसन्नानि साधुचेतःसरांसि हि ॥ ३५ ॥
दर्शनादेव मित्रत्वं कुर्वतां महतां पुरः।
कमलानीव भूतानि विकसन्त्याश्वसन्ति च ॥ ३६ ॥
ममेदं च मनो मोहात्संसारभ्रमसंभवम्।
मन्ये हातुं न समर्थं स त्वं बोधानुकम्पितैः ॥ ३७ ॥

वसिष्ठ उवाच

वसिष्ठोऽस्मि महाबुद्धे मुनिरस्मि नभोगृहः।
केनाप्यर्थेन राजर्षेरिमं मार्गमुपस्थितः ॥ ३८ ॥

अब मैं बहुत देरसे अपने घरको जानेके लिए उद्यत हूँ ॥ ३२, ३३ ॥

हे मुने, इस ब्रह्माण्डके उदरमें बिजलीकी चमकके समान क्षणभङ्गुर भूतोंको देखकर विरक्तमन मुझे घर जानेकी इच्छा नहीं होती ॥ ३४ ॥

भगवन्, इस दीनके ऊपर दया करके अपना नाम, गोत्र आदि कथनपूर्वक ठीक-ठीक इसे परिचय दीजिये, * क्योंकि महात्माओंके चित्तरूपी सरोवर गम्भीर और निर्मल रहते हैं ॥ ३५ ॥

अपने दर्शनसे ही मित्र बना लेनेवाले [आपके सदृश] महात्माओंके सामने सभी प्राणी, कमलोंकी नाईं, विकसित और आश्वसित हो जाते हैं ॥३६॥

कुछ विवेकसम्पन्न हुआ भी मेरा यह मन अज्ञानजनित प्रबल सन्देह बना रहनेसे बिना गुरूपदेशके सिर्फ एकमात्र अपने विचारकौशलसे संसारके भ्रमसे उत्पन्न दुःखको समूल नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है, यह मैंने बार-बार मनन करके निश्चय कर लिया, इसलिए पूर्ववर्णित मेरा उद्धार करनेमें सामर्थ्य रखनेवाले आप रहस्यज्ञानके अनुकूल उपदेशकी अनुकम्पाओंसे मोहजनित मेरे संशयोंका उच्छेदकर दुःखनाश करनेके योग्य इस मेरे मनको बना दीजिये ॥ ३७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महाबुद्धे, ब्रह्मलोकवासी मैं वसिष्ठमुनि

---

* कृपया सत्य आत्माका मुझे उपदेश दीजिये, यह वास्तविक अर्थ है।

मागा विषादं पन्थानमागतोऽसि मनीषिणाम् ।
प्रायः प्राप्तोऽसि संसारसागरस्य परं तटम् ॥ ३९ ॥
वैराग्यविभवोदारा मतिरुक्तिरपीदृशी ।
आकृतिः शान्तरूपा च न भवत्यमहात्मनः ॥ ४० ॥
मणिर्मधुरकाषेण यथैति विमलात्मताम् ।
तथा कषायपाकेन चित्तमेति विवेकिताम् ॥ ४१ ॥
किं ज्ञातुमिच्छसि कथं संसारं हातुमिच्छसि ।
उपदिष्टमहं मन्ये सम्पादयति कर्मभिः ॥ ४२ ॥
विमलवासन उत्तममानसः
परिविविक्तमतिर्जनतेजसा ।

हूँ। राजर्षि अजके याजनादिरूप किसी कामसे आ रहा मैं इस मार्गमें उपस्थित हूँ ॥ ३८ ॥

हे पथिक, विषाद मत करो, तुम मनीषियोंके रास्तेपर अब आ गये हो, लगभग तुम इस संसारसागरके दूसरे किनारे लग चुके हो ॥ ३९ ॥

मैं मनीषियोंके रास्तेपर आ गया हूँ, इसमें कौन-सा मेरा परिचायक चिह्न है ? इसपर कहते हैं—'वैराग्य' इत्यादिसे ।

ज्ञानाधिकारप्राप्तिके भाग्यसे हीन मनुष्यकी वैराग्यविभवसे उदार ऐसी मति, उक्ति तथा शान्तस्वरूप आकृति नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

जैसे धीरे-धीरे शाणपर घिसनेसे मणि निर्मलरूपताको प्राप्त होती है वैसे ही कषायोंके परिपाकसे चित्त विवेकताको प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥

हे विप्र, तुम क्या जानना चाहते हो और कैसे संसारको छोड़ना चाहते हो, क्योंकि शिष्य गुरुसे उपदिष्ट अर्थको बार-बार परिशीलन करके ज्ञातांशको फिर प्रश्नावधारण आदि कर्मोंसे चूँकि सफल बनाता है, वह मैं समझता हूँ, अतः तुम्हें जो अपना अज्ञात और जिज्ञासितांश हो, वह कहो ॥ ४२ ॥

चूँकि शिष्य रागादिमलशून्य वासनासे युक्त रहता है, इसीलिए वह उत्तम वैराग्य आदि तीन साधनोंसे सम्पन्न मानस तथा नित्यानित्य एवं सारासारके विवेकमें निपुण मतियुक्त होता है। वही गुरुजनोंके उपदेशरूपी तेजसे शोकशून्य आत्मतत्त्व पद प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा नहीं। इसलिए जन्मादि सम्पूर्ण

पदमशोकमलं खलु युज्यते
जनितितीर्षुमतेरिदमुच्यते ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किनिर्वाणं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतिः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

समेत्युक्तवतो मङ्किर्विनिपत्य स पादयोः ।
उवाचानन्दपूर्णाक्षमिदं मार्गे वहन्वचः ॥ १ ॥

मङ्किरुवाच

भगवन् भूरिशो भ्रान्ता दिशो दशदशो यथा ।
मया न तु पुनः साधुर्लब्धः संशयनाशकृत् ॥ २ ॥

दुःखोंसे तैर जानेकी इच्छायुक्त बुद्धिवाले तुमसे सम्भाषण आदि करके मैंने अच्छी तरह समझ लिया है कि तुम मेरे उपदेशके अधिकारी अवश्य हो, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ। अतः तुम अपना पूर्वोत्तर वृत्तान्त मुझसे बतलाओ ॥ ४३ ॥

तेईसवाँ सर्ग समाप्त

चौबीसवाँ सर्ग

[देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदिके दोषोंके सहित सांसारिक अपने दुःखसमूहका मङ्कि द्वारा वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यों मेरे कहनेपर उस ब्राह्मण मङ्किने मेरे चरणोंपर लोटकर आनन्दजलपरिपूर्ण आँखोंसे युक्त हो मुझे मार्गमें ले चलते हुए यह कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

मङ्किने कहा—हे भगवन्, संशयके उच्छेदके लिए उपदेश देनेमें कुशल साधु पुरुषके अन्वेषणमें तत्पर हो मैंने दसों दिशाओंमें, हाथियोंकी नाईं, खूब भ्रमण किया, परन्तु संशयका विनाशक कोई सज्जन पुरुष मुझे न मिला ॥ २ ॥

समस्तदेहसाराणां सारस्याद्य फलं मया ।
खिन्नोऽस्मि भगवन् पश्यन् दशाः संसारदोषदाः ॥ ३ ॥
पुनर्जातं पुनर्नष्टमेवं दुःखभ्रमः सदा ॥ ४ ॥
अवश्यं भाविपर्यंतदुःखत्वात्सकलान्यपि ।
सुखान्येवातिदुःखानि वरं दुःखान्यतो मुने ॥ ५ ॥
दृढदुःखवदन्तत्वाद् दुःखयन्ति सुखानि माम् ।
तथा राम यथा दुःखमेव मे सुखतां गतम् ।
वयोदशनलोमान्त्रैः सह जर्जरतां गतम् ॥ ६ ॥

आज आपको पा जानेसे सुर, असुर, पशु, पक्षी आदि समस्त देहोंके सारभूत ब्राह्मणदेहोंमें श्रेष्ठ अपने इस ब्राह्मणशरीरका फल ज्ञानाधिकारसम्पत्तिसे मैंने पा लिया । हे भगवन्, दोषप्रद सांसारिक दशाओंको देखते-देखते खिन्न हो गया हूँ ॥ ३ ॥

हेतुओंके साथ खेदका ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'पुनर्जातम्' इत्यादिसे ।

बार-बार जन्म और बार-बार मरणरूप संसार सदा यों दुःखके भ्रमसे युक्त है ॥ ४ ॥

सदा दुःखभ्रमयुक्त ही यह संसार है, यह कैसे ? क्योंकि सुख भी तो संसारमें अनुभूत होते हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—'अवश्यम्' इत्यादिसे ।

संसारके सभी सुख भी आखिरमें अवश्य दुःखदायी होनेसे अत्यन्त दुःसह दुःखरूप ही हैं । इसलिए हे मुने, मैं सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा दुःखोंको ही अच्छा समझता हूँ । जलचरोंसे जलकी शीतलता जैसे निरन्तर अभ्यासके कारण सह ली जाती है वैसे ही अविच्छिन्न दुःखपरम्परा भी सुखाभावके अधिक अभ्यासके कारण दुःखपूर्वक मनुष्योंसे सह ली जाती है, यह भाव है ॥ ५ ॥

अथवा अत्यन्त प्रबल दुःखका अनुबन्धी होनेके कारण कोदो खाकर जीवन धारण करनेमें मनुष्यको जो दुःख है उसकी अपेक्षा विष मिले हुए मिष्टान्न भोजनके आस्वादजनित सुखोंमें कम दुःख नहीं है । इसका विचार कर उपभोगजनित सुखोंमें बुद्धिमान्‌को अधिक द्वेषबुद्धि रखना ही उचित है, यह कहते हैं—'दृढदुःख०' इत्यादिसे ।

उच्चैःपदे पातपरा बुद्धिर्नाध्यवसायिनी ।
सुप्रवालं कुसङ्कल्पाद्गहनं न प्रकाशते ॥ ७ ॥
मनःपिप्पलपर्ण्यूलैरिव कुग्रामकोटरम् ।
वासनाङ्गवहैर्गृध्रैर्नित्यं पापीयसी स्थितिः ॥ ८ ॥
कण्टकद्रुमवल्लीव करालकुटिला मतिः ।
आयुरायासशालिन्या यामिन्येव तमोन्धया ॥ ९ ॥
अक्षीवानागतालोकं क्षीणं सन्ततचिन्तया ।
न किञ्चिद्रसमादत्ते नष्टेवापि न नश्यति ।
न पुष्पिता न फलिता तृष्णा शुष्कलतेव नः ॥ १० ॥

हे सौम्य, आखिरमें हद दुःखदायी होनेसे ये सुख ही मुझे ऐसे दुःखदायी हो रहे हैं, जैसे कि मानो मेरे लिए दुःख ही सुख हो गया हो। दांत, केश और नाड़ियोंके साथ अब मेरी अवस्था भी जीर्ण हो गई ॥ ६ ॥

उत्तरोत्तर भोगोंके उत्कर्षस्थानमें अभिलाषाएँ बांधकर बैठी हुई मेरी बुद्धि परम पुरुषार्थके साधनमें किसी तरहका अब उद्योग नहीं कर रही है तथा मेरा मन भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे रागरूपी पल्लवोंसे पल्लवित तथा अतीतकालके करोड़ों बीत चुके भोगोंके लिए शोक, मोह आदि कुत्सित सङ्कल्पोंके उपस्थित रहनेसे विवेकज्ञानशून्य हो गया है, यही कारण है कि वह अपने-अपने दोषादिके साक्षीके विवेक द्वारा प्रकाशित नहीं होता ॥ ७ ॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'मनः' इत्यादिसे ।

हे मुने, मेरा यह मन पीपल आदिके उड़ रहे सूखे पत्तों आदिके सञ्चयसे गन्दे गाँवोंके मध्य भागकी नाईं हो गया है तथा मेरी जीविका भी नानाविध भोगवासनारूपी दुर्गन्धोंको अपने अङ्गमें धारण करनेवाली गृध्रतुल्य इन इन्द्रियों द्वारा निकृष्ट गन्दे गाँवकी स्थिति-सी हो गई है ॥ ८ ॥

करञ्ज आदि काँटेदार वृक्षलताके समान मेरी बुद्धि महाभयानक तथा कुटिल है । एवं आयासयुक्त अज्ञानान्धकारसे आच्छादित निरन्तर विषयोंकी चिन्तासे ब्रह्मसाक्षात्काररूपी प्रकाशके बिना ही मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थमें ऐसे गवां दी, जैसे दीपक आदिके प्रकाशको प्राप्त किये बिना अन्धकारसे आवृत रातको आँखें व्यर्थमें गवां देती हैं । हे मुने, शुष्कलताके

कर्म कर्मणि निर्मग्नं वासनाख्यमकर्मणे ॥ ११ ॥
जीवितं च जने जीर्णं नैवोत्तीर्णो भवार्णवः ।
दिनानुदिनमुच्छूना भोगाशा भयदायिनी ॥ १२ ॥
पूर्णापूर्णात्मनि क्षीणाः श्वभ्रकण्टकवृक्षवत् ।
चिन्ताज्वरविकारिण्यो लक्ष्म्याः खलु महापदः ॥ १३ ॥
सम्पन्नमक्षतं सापि विप्रलम्भेन जृम्भते ।
अन्तःस्फुरितरत्नेहं भास्वरं वान्धकोटरम् ॥ १४ ॥

सदृश यह तृष्णा न फूलती है, न फलती है, और न विवेकरूपी रसको ही कुछ ग्रहण करती है, बार-बार व्यर्थ होनेसे यह नष्ट होकर भी नष्ट नहीं होती ॥ ९, १० ॥

तुम्हारा कर्मोंसे ही उद्धार क्यों नहीं हो सकता, इस आशङ्कापर कहते हैं—'कर्म' इत्यादिसे ।

जो कुछ मैंने नित्य-नैमित्तिक कर्म किया है वह पूर्वजन्मके दुष्कर्मकी राशिमें निमग्न हो गया तथा भोगवासनारूपी बीज तो उत्तरोत्तर अनर्थके हेतुभूत काम्यनिषिद्ध कर्ममें ही मुझे प्रवृत्त करता है ॥ ११ ॥

पुत्र, कलत्र, बान्धव, भृत्य आदिमें आसक्ति रखनेसे यह जीवन भी जीर्ण हो चला, परन्तु हे भगवन्, मैं संसारसागरके पार न पहुँचा तथा भयदायिनी मेरी भोगोंकी आशा दिनों-दिन बढ़ती ही जाती है ॥ १२ ॥

गड्ढेमें उत्पन्न हुए कण्टक वृक्षकी नाईं, पुत्र, मित्र, पशु, धन आदिसे कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण स्वरूप घरमें चिन्तारूपी ज्वरसे विकार पैदा करनेवाली लक्ष्मीसे समुत्पन्न महाविपत्तियाँ मैंने निःसन्देह गवाँ दीं ॥ १३ ॥

प्रचुर धन आदिसे सम्पन्न तथा शस्त्र आदिकोंके द्वारा घायल न हुए पुरुषको भी यह लक्ष्मी बार-बार लुभाकर बहुत दूरतक खींच ले जाकरके शत्रुओं तथा चोरों आदिके अधीनमें पहुँचाती हुई सारी सम्पत्तियोंके नाश एवं अस्त्र-शस्त्रोंके आघातादिके द्वारा आखिरमें दुःखप्रद बनकर धोखा देनेमें ऐसे समर्थ रहती है, जैसे सर्पके मस्तकमणिसे प्रकाशमय हो रहा अन्धकारयुक्त गड्ढा, हृदयके भीतर रत्न लेनेकी स्फुरित हुई अभिलाषावाले तथा अपने अन्दरस्थित सर्पको न देखनेवाले पुरुषको अपने भीतर घुसाकर साँपके डसने आदिरूप धोखा देनेमें समर्थ रहता है ॥ १४ ॥

कल्लोलकलिलं शून्यं चेतः शुष्काब्धिदुर्भगम् ।
मामिन्द्रियार्थैकपरं न स्पृशन्ति विवेकिनः ॥ १५ ॥
सकण्टकममेध्यस्थं श्लेष्मातकमिव द्रुमम् ।
असदेव महारम्भं चलदर्जुनवातवत् ।
मनो मरणमप्राप्तं शून्यं दुःखाय वल्गति ॥ १६ ॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कचन्द्रतारकधारिणी ।
अहम्भावोल्लसद्यक्षा क्षीणा नाज्ञानयामिनी ॥ १७ ॥
अज्ञानध्वान्तमत्तेभसिंहः कर्मतृणानलः ।
उदितो न विचारोऽर्को वासनारजनीक्षयः ॥ १८ ॥

यह मेरा चित्त हजारों आशारूपी तरङ्गोंसे अस्वच्छ, चारों ओर इधर-उधर खूब दौड़-धूप लगानेपर भी अर्थप्राप्तिसे शून्य है, इसीसे सूखे समुद्रके सदृश दुष्पूर होनेसे भाग्यहीन तथा एकमात्र इन्द्रियोंके वशीभूत हुए मुझे विवेकी लोग अपने समीप नहीं फटकने देते—मेरी उपेक्षा करते हैं ॥ १५ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—'सकण्टकम्' इत्यादिसे ।

कण्टकयुक्त, अपवित्र स्थानमें रहनेवाला भीलावाके वृक्षके समान असत् होनेपर भी बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ करनेवाला, अर्जुनवातके समान सदा ही भ्रमणकारी मेरा यह मन मेरे अनेक बार मर जानेपर भी मरणको प्राप्त नहीं हुआ यानी अभिलषितार्थ शून्य हो एकमात्र दुःखके लिए ही दौड़ता-फिरता है ॥१६॥

शास्त्रों तथा सज्जनोंकी सङ्गति आदि उपायोंसे मनको रोक रखो, यदि ऐसा कहें, तो इसपर मेरा यह कहना है कि ज्ञानफल विवेकरूपी सूर्यके उदयसे अज्ञानरूपी रात जबतक बीत नहीं जाती, तबतक शास्त्र तथा सज्जनोंके सम्पर्क-रूपी चन्द्रमा एवं तारें आत्यन्तिक मनका भ्रम दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, इस आशयसे कहते हैं—'शास्त्र०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे मुनिवर, शास्त्र एवं सज्जन महानुभावोंकी सङ्गतिरूप चन्द्रमा और तारोंको धारण करनेवाली, अहङ्काररूपी उल्लसित हो रहे बालकल्पित यक्षसे युक्त यह मेरी अज्ञानरूपी रात अभीतक क्षीण नहीं हुई है, क्योंकि अज्ञानान्धकाररूपी मतवाले हाथीके लिए सिंह तथा कर्मरूपी तृणके लिए अग्नि एवं वासनारूपी रातका विनाशक विवेकरूपी सूर्यका अर्थात् वासनारूपी रातके लिए सूर्यरूप विवेकका अभी उदय नहीं हो पाया है ॥ १७, १८ ॥

अवस्तु वस्तुवद्बुद्धं मत्तश्चित्तमतङ्गजः ।
इन्द्रियाणि निकृन्तन्ति न जाने किं भविष्यति ॥ १९ ॥
शास्त्रदृष्टिरपि प्राज्ञैर्नाश्रिता तरणाय या ।
साप्यदृष्टिरिवान्ध्याय वासनावेशकारिणी ॥ २० ॥
तदेवमतिसंमोहे यत्कार्यमिह दारुणे ।
उदर्कश्रेयसे तात तन्मे कथय पृच्छते ॥ २१ ॥
शाम्यन्ति मोहमिहिकाः शरदीव साधौ
प्राप्ते भवन्ति विमलाश्च तथाऽखिलाशाः ।
सत्येतिवाग्भवतु साधुजनोपगीता
मद्बोधनेन भवता भवशान्तिदेन ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्कीवैराग्यं नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥२४॥

हे भगवन्, यही कारण है कि चित्तरूपी मतवाले हाथीने अवस्तुको ही वस्तुवत् मान लिया है। हे मुने, ये इन्द्रियां मुझे काट खा रही हैं, न जाने मेरी क्या दशा होगी ? ॥ १९ ॥

सेवादिके द्वारा वशमें लाये गये प्राज्ञों या अन्यान्य उपायोंसे मैंने भवसागर तैर जानेके लिए जिस शास्त्रदृष्टिका आश्रयण नहीं किया, वह शास्त्रदृष्टि भी वासनामें आसक्त करानेवाली होकर दृष्टिविघातकी नाईं मुझे अन्धा बनानेके लिए ही है ॥ २० ॥

इसलिए इस तरह चारों ओरसे अनर्थोंके कारण भयङ्कर भारी मोहमें फँसे मेरे लिए संसारसागरसे उद्धार पानेमें कल्याणकारक जो कर्त्तव्य हो, सो कृपाकर कहिये, मैं आपसे विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ ॥ २१ ॥

हे भगवन्, शरत्कालके सदृश निर्मलस्वच्छज्ञानविवेकादि ज्योतिर्गणमण्डित साधु गुरुके प्राप्त होनेपर आकाशतुल्य शिष्यके मोहरूपी कुहरे शान्त हो जाते हैं तथा सारी दिशाएँ-जैसी आशाएँ (मनोरथ) धूलि आदि मलों-जैसे रागादि-मलोंसे रहित हो जाती हैं, यह लोकमें प्रसिद्ध साधुजनोंके द्वारा कही गई वाणी संसारके शान्तिदायक आपके उपदेशसे मेरे लिए सत्य हो ॥ २२ ॥

चौबीसवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चविंशतिः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संवेदनं भावनं च वासना कलनेति च ।
अनर्थायेह शब्दार्थौ विगतार्थौ विजृम्भते ॥ १ ॥
वेदनं भावनं विद्धि सर्वदोषसमाश्रयम् ।
तस्मिन्नेवापदः सन्ति लता मधुरसे यथा ॥ २ ॥

पचीसवाँ सर्ग

[अविद्यासे उत्पन्न संवेदन आदि चार संसारके बीज हैं और परमात्माका तत्त्वज्ञान ही संसार और उन बीजोंका विनाशक है, यह वर्णन]

इस तरह मङ्कि मुनिने अपने संसाररूपी अनर्थका वर्णनकर जब उसके निरासका उपाय पूछा तब 'उसके बीजोंको जाने बिना संसारनिरासके उपाय प्राप्त नहीं किये जा सकते' इस अभिप्रायसे संसारके चार बीजोंका महाराज वसिष्ठजी उपदेश देते हैं—'संवेदनम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे मुने, संवेदन, भावन, वासना और कलना ये चार ही इस संसारमें अनर्थ पैदा करनेवाले हैं । ये जितने शब्दोंके अर्थ हैं, वे मिथ्याभूत अर्थोंका ही अवलम्बन करते हैं और स्वयं भी मिथ्या हैं, इसलिए वे सब एकमात्र अविद्यामें ही स्फुरित होते हैं । पहले पहल इन्द्रियोंसे जो विषयोंका उपभोग होता है, यह उपभोग ही संवेदन कहलाता है, विषयोंके नष्ट हो जानेपर उनका जो बार-बार चिन्तन होता है, वह चिन्तन 'भावन' कहलाता है, बार-बार चिन्तन करनेपर चित्तमें एक तरहका जो दृढ़ विषय-लाञ्छन उत्पन्न हो जाता है, वही विषयलाञ्छन वासना कहलाती है और उस वासनासे मरणकालमें भावी शरीरके लिए जो स्मरण होता है, उसको कलना कहते हैं ॥ १ ॥

जो ये चार संसारके बीज हैं, उनमें आदिके दो तो अत्यन्त अनर्थरूप हैं और अन्तिमके दो उनके पीछे-पीछे चलनेके कारण अनर्थरूप हैं, यह कहते हैं—'वेदनम्' इत्यादिसे ।

संसारमार्गे गहने वासनावेशवाहिनः ।
उपयाति विचित्रौघैर्वृत्तवृत्तान्तसन्ततिः ॥ ३ ॥
विवेकिनो वासनया सह संसारसम्भ्रमः ।
क्षीयते माधवस्यान्ते शनैरिव धरारसः ॥ ४ ॥
अस्याः संसारसल्लक्या वासनोत्सेधकारिणी ।
कदल्या वनजालिन्या रसलेखेव माधवी ॥ ५ ॥
संसारान्ध्यतयोदेति वासनात्मा रसश्चितौ ।
यथा वनतया तस्थौ मधुमासरसः क्षितौ ॥ ६ ॥

मुनिवर, वेदन और भावन—ये दो तो समस्त दोषोंके आश्रय हैं यानी अत्यन्त ही अनर्थरूप हैं, तत्रापि भावनमें तो उस प्रकार सब आपत्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जिस प्रकार पुष्प, पल्लव आदिसे समृद्ध लताएँ मधुमासके लतारसमें विद्यमान रहती हैं ॥ २ ॥

यह अतिगहन जो संसारमार्ग है, उसपर वासनाके आवेशसे चल रहे जीवके प्रति ही चित्र-विचित्र अर्थोंके समूहसे परिपूर्ण टेढ़े-मेढ़े अनेक वृत्तान्त आते-जाते रहते हैं ॥ ३ ॥

इसीलिए विवेकी पुरुषका—विषयोंमें दोषभावना और ब्रह्मभावनासे इन बीजोंका विनाश हो जानेपर वासनाके साथ—समस्त संसार नष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—'विवेकिनः' इत्यादिसे ।

विवेकी पुरुषका संसारसम्भ्रम तो, वसन्तके अन्तमें पृथिवीके रसके सदृश, धीरे-से वासनाके साथ नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

वासना ही आगेका संसार भी बनाती है, यह कहते हैं—'अस्याः' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार वसन्त ऋतुकी रसलेखा वनमें फैलनेवाली कदलीका विस्तार करती है, उसी प्रकार इस संसाररूपी कण्टकपूर्ण गुल्मका वासना ही विस्तार करती है ॥ ५ ॥

जैसे पृथ्वीमें मधुमासका रस वन बनकर स्थित रहता है, वैसे ही चितिमें (अज्ञानाश्रय जीव-चैतन्यमें) वासनारूपी रस संसाररूप अन्धकार बनकर उदित होता है ॥ ६ ॥

चिन्मात्रादमलाच्छून्याद्दते किञ्चिन्न विद्यते ।
नाऽन्यत्किञ्चिदपर्यन्ते खे शून्यत्वेतरद्यथा ॥ ७ ॥
वेदनात्मा न सोऽस्त्यन्य इति या प्रतिभा स्थिरा ।
एषाऽविद्या भ्रमस्त्वेष स च संसार आततः ॥ ८ ॥
अनालोकनसंसिद्ध आलोकेनैव नश्यति ।
असदात्मा सदाभासो बालवेतालवत् क्षणात् ॥ ९ ॥
सर्वदृश्यदृशो बाधे बोधसारतयैकताम् ।
यान्त्यशेषमहीपीठसरित्पूरा इवाऽर्णवे ॥ १० ॥

परमार्थ वस्तुका अपलाप करनेवाले अज्ञानको बतलानेके लिए पहले परमार्थ वस्तुका कथन करते हैं—'चिन्मात्रा०' इत्यादिसे ।

द्वैतरहित, निर्मल चैतन्यमात्र वस्तुको छोड़कर दूसरा कुछ भी पदार्थ जगत्‌में नहीं है, क्योंकि चैतन्यकी सत्ता और चैतन्यप्रकाश—इन दोनोंसे ही जगत्‌की सत्ता और जगत्‌का प्रकाश होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध बात है । जैसे आकाश शून्यरूपताको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है, वैसे ही असीम आत्मामें स्वतः सत्ता-स्फूर्तिको छोड़कर दूसरी कोई चीज प्रसिद्ध नहीं है ॥ ७ ॥

इस तरह चारों ओर निरन्तर प्रकाशित हो रहा 'चिन्मात्ररूप वेदनात्मा देह-इन्द्रिय आदिसे भिन्न नहीं है, इस प्रकार उसकी सत्ताका भान न करानेवाली अनादि जो प्रतिभारूप भ्रान्ति है, वह भ्रान्ति ही आवरण-शक्तिकी प्रधानतासे अविद्या, विक्षेपशक्तिकी प्रधानतासे भ्रम और फलरूपसे वस्तुतः संसाररूप हुई है ॥ ८ ॥

अविद्यासे साधित वस्तुका परिणाम दिखलाते हैं—'अनालोकन०' इत्यादिसे ।

बालकको वेतालकी तरह, सत्‌की नाईं भासित हो रहा असद्रूप यह संसार परमात्मतत्त्वके अज्ञानसे सिद्ध है । अतः वह परमात्मतत्त्वके ज्ञानरूप प्रकाशसे ही क्षणभरमें नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियोंका बाध हो जानेपर सभी ज्ञानोंमें एकता आ जाती है, यह दिखलाते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

भेद पैदा करनेवाली दृश्यरूप उपाधियोंका आत्मतत्त्वके ज्ञानसे बाध हो

मृन्मयं तु यथाभाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयादितया चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ११ ॥
बोधावबुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते ।
नाऽबोधं बुध्यते बोधो वैरूप्याचेन नान्यता ॥ १२ ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्येषु प्रत्येकं बोधमात्रता ।
सारस्तेन तदन्यत्वं नाऽस्ति किञ्चित् खपुष्पवत् ॥ १३ ॥
सजातीयः सजातीयेनैकतामनुगच्छति ।
अन्योन्यानुभवस्तेन भवत्वेकत्वनिश्चयः ॥ १४ ॥

जानेपर सम्पूर्ण दृश्य, पदार्थोंके ज्ञान बोधरूपसे ऐसे एकताको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे धरातलके सम्पूर्ण नदियोंके प्रवाह सागरमें जाकर समुद्ररूपसे एकताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

'चिन्मात्रादमलाच्छून्याहते किञ्चिन्न विद्यते' यह जो कहा गया है इसका दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—'मृन्मयम्' इत्यादिसे ।

जैसे मिट्टीके बर्तन मिट्टीसे शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते, वैसे ही सत्-चिन्मात्रमय सांसारिक विषय भी चितिसे शून्य उपलब्ध नहीं हो सकते ॥ ११ ॥

विचार करनेपर चिन्मयरूपसे स्फुरित हो रहे पदार्थोंकी चिदेकरसता ही अन्तमें चलकर प्राप्त हो जाती है, इस आशयसे कहते हैं—'बोधा०' इत्यादि।

जो वस्तु तत्त्वज्ञानसे ज्ञात होती है वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है, क्योंकि विरुद्धरूप होनेसे ज्ञानाभाव ज्ञानरूपसे नहीं जाना जाता । इसलिए ज्ञेय और ज्ञान, ये दोनों एकरूप हैं ॥ १२ ॥

यदि द्रष्टा आदि त्रिपुटीके बोधसे आध्यासिक अभेद कोई कहे, तो उसके मिथ्याभूत होनेसे एकमात्र अधिष्ठान ज्ञानैकरसता ही उसमें सिद्ध हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'द्रष्टृ०' इत्यादि ।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इन तीनोंमें प्रत्येकमें एकमात्र बोध (ज्ञान) ही सार है, इसलिए उससे अन्य, आकाशमें फूलकी नाईं, कुछ भी नहीं है ॥ १३ ॥

जो एक जातिके पदार्थ हैं, वे ही एक दूसरेमें मिल जानेपर एकरूप हो जाते हैं, यह बात जलके साथ जलके मिल जानेपर देखी गई है, इस स्थितिमें

यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद्बोधरूपता ।
तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव ॥ १५ ॥
यदा त्वेषा तु दृश्यश्रीर्बोधमात्रैकरूपिणी ।
तदाऽन्येवाप्यनन्यैव सती बोधेन बोध्यते ॥ १६ ॥
सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्रमिदं ततम् ।
स्पन्दमात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथाऽर्णवः ॥ १७ ॥
मिश्रीभूता अपि ह्येते जतुकाष्ठादयो यथा ।
मिथोऽननुभवे मिश्रा ऐक्यं ह्यनुभवे मिथः ॥ १८ ॥

जगत् जब जगदनुभवरूप है और सभी अनुभव जब एकरूप हैं, तब तो अन्तमें चैतन्यकी एकता ही सिद्ध हुई, यह कहते हैं—'सजातीयः' इत्यादिसे ।

जल आदि एक जातिके पदार्थ अपनी जातिके दूसरे जल आदिके साथ मिल जानेपर एकताको प्राप्त करते हैं, यह बात सिद्ध है । इसलिए अनुभव भी परस्पर मिल जानेसे एकरूप हो जा सकते हैं, अतः चिदेकत्व निश्चय सिद्ध है ॥ १४ ॥

काष्ठ आदि दृश्य पदार्थोंका स्फुरणके साथ अभेद न माननेपर खरहेके सींगके समान उनका अत्यन्त असत्त्व ही हो जायगा, यह कहते हैं—'यदि' इत्यादिसे ।

यदि लकड़ी, पत्थर आदिको बोधरूप न माना जाय, तो उनका—शशशृङ्गके सदृश, कभी ज्ञान ही नहीं हो सकेगा ॥ १५ ॥

अपने सिद्धान्तमें तो दोष नहीं है, यह कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

यद्यपि अपने सिद्धान्तसे यह दृश्यप्रपञ्च एकमात्र बोधरूप अतएव बोधसे अनन्य ही सिद्ध है, तथापि अज्ञानके कारण अन्यके सदृश होकर बोधसे प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

ऐसी स्थितिमें 'जगत् बोधरूप ही है, बोधानतिरिक्त (बोधरूप) प्रकाशवाला होनेसे; जो जिससे अनतिरिक्त (अभिन्न) प्रकाशवाला होता है, वह तद्रूप ही होता है, जैसे वायुका स्पन्दन वायुरूप होता है' यह अनुमान फलित हुआ, यह कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

जैसे वायु स्पन्दनरूप है और समुद्र जलरूप है, वैसे ही समस्त जगत्में स्थित यह समस्त विस्तृत दृश्य भी बोधरूप ही है ॥ १७ ॥

यदि यह शङ्का हो कि क्रिया और क्रियावान् एवं अवयव और अवयवी—

अन्योन्यानुभवो ह्यैक्यमैक्यं त्वन्योन्यवेदनम् ।
यथाम्भसोः क्षीरयोर्वा न काष्ठजतुनोरिव ॥ १९ ॥
अहमित्येव बन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
एतावन्मात्रके बन्धे स्वायत्ते किमशक्तता ॥ २० ॥
चन्द्रद्वयप्रत्ययवन्मृगतृष्णाम्बुबुद्धिवत् ।
किमनुत्थित एवाऽयमसदेवाऽहमुत्थितः ॥ २१ ॥

इन दोनोंका तो समवायसम्बन्धसे केवल सम्मेलन ही मात्र होता है, न कि उनकी आत्यन्तिक एकता होती है, तो इसका समाधान यह है कि लाख और लकड़ीका बाहरसे मिश्रण करनेपर भी भेदके अनुभवमें मिश्रण दिखाई नहीं देता और इस स्थलमें मिश्रण दिखाई पड़ता है इसलिए दोनोंमें विषमता है, और समवायसिद्ध भी नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'मिश्रीभूताः' इत्यादिसे ।

इन लाख, लकड़ी आदिके परस्पर मिश्रित हो जानेपर भी जैसे भेदका अनुभव होनेके कारण उनकी एकता नहीं है, वैसे यहाँपर नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर ऐक्यरूप मिश्रण दिखाई देनेसे इनमें ऐक्य ही मानना चाहिए ॥ १८ ॥

दूध और जलकी नाईं अन्योन्य एक रूप बन जाना ही एकता है । द्रष्टा और दृश्य पदार्थोंका भी अन्योन्य ज्ञानरूप ऐक्य विद्यमान है ही; लाख और काठकी नाईं अन्योन्य संयोगमात्र नहीं है ॥ १९ ॥

उपर्युक्त युक्तियोंसे जब यह सिद्ध हो चुका कि सब दृश्य चिन्मात्रस्वरूप हैं और तत्पदार्थ चिति अपरिच्छिन्न (व्यापक) होनेके कारण नित्य मुक्त है, तब त्वंपदार्थकी अहंरूपसे परिच्छिन्न बुद्धि ही संसारकी कारण और परिच्छिन्न बुद्धिका परित्याग मुक्तिका कारण फलित हो जाता है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

भद्र, 'अहम्' बुद्धि ही बन्धरूप संसारको पैदा करती है और अहम्बुद्धिका अभाव मुक्तिको पैदा करता है । जब इतने बन्धनको अपने अधीन रख सकते हैं, तब भला अशक्ति ही किस बातकी ? ॥ २० ॥

इसी विषयका उपपादन करते हैं—'चन्द्र०' इत्यादिसे ।

एक चन्द्रमें दो चन्द्रमाकी बुद्धि या मृगतृष्णामें जलबुद्धिके समान यह असत् अहङ्कार क्या उत्पन्न हुआ है ? उत्पन्न हुआ ही नहीं है ॥ २१ ॥

ममेदमिति बन्धाय नाहमित्येव मुक्तये ।
एतावन्मात्रके वस्तुन्यात्मायत्ते किमज्ञता ॥ २२ ॥
यः कुण्डबदरन्यायो या घटाकाशयोः स्थितिः ।
स सम्बन्धोऽपि नैवाऽन्यमैक्यं ह्यन्योन्यवेदनम् ॥ २३ ॥
अन्योन्यावेदनं त्वैक्यं भागशो गतमप्यलम् ।
अजडं वा जडं वापि नैकं रूपं विमुञ्चति ॥ २४ ॥

अहन्ताका त्याग होनेपर ममता स्वयं ही त्यक्त हो जाती है, यह कहते हैं—'ममेद०' इत्यादिसे ।

'यह मेरा है' यह ममता ही बन्धन प्रदान करती है और 'मैं नहीं हूँ' यह ममताका अभाव मुक्ति प्रदान करता है । जब इतनी वस्तु अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान ही कहाँ रहा ॥ २२ ॥

असलमें असत्य अहङ्कार अन्दर बैठ कर सत्य आत्माको वैसे नहीं ढक सकता, जैसे कि (भीतर बैठ कर बेर) कुण्डको ढक सकता है या वैसे न परिच्छिन्न बना सकता है, जैसे कि घड़ा आकाशको परिच्छिन्न बना सकता है, इसे कहते हैं—'यः' इत्यादिसे ।

जो कुण्डबदरन्याय है यानी जैसी कुण्डेकी और बेरकी स्थिति है या जैसी घट और आकाशकी स्थिति है, तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्धसे बेर कुण्डके अन्दर प्रविष्ट होकर उसको दबा सकता है या घड़ा आकाशको छोटा बना सकता है वह सम्बन्ध भी आत्माके साथ, जो कि अत्यन्त भिन्न अहङ्कारकल्पनाकी सामर्थ्य रखता है, नहीं है, ऐसी स्थितिमें वास्तविक ऐक्य ही है, वह ऐक्य अन्योन्य वेदनरूप है यानी चन्द्रमें द्वैतपनकी नाईं भेदसे अविद्या द्वारा कल्पित भेदरूप आत्माका जो स्वप्रकाशके बलसे स्फुरण है, वह अन्योन्य वेदन-सा हो जाता है ॥ २३ ॥

जड़ और ज्ञानकी वास्तविक एकता है और वही आत्मरूप है, यों जो जैमिनिमतावलम्बी लोग मानते हैं, उनके मतमें भी वह ऐक्य जड़वस्तुगत जड़ और ज्ञानगत अजड़ होगा, यों किसी एक रूपको वह कभी छोड़ ही नहीं सकता, ऐसी स्थितिमें जड़ अंशमें उसका स्फुरण न होते हुए भी चिदंशमें स्फुरित हो रहा वह अन्योन्यवेदनरूप निर्विषयक ऐक्य आ ही जाता है ॥ २४ ॥

नाजडं जडतामेति स्वभावा ह्यनपायिनः ।
यच्चाजडं जडं दृष्टं द्वैति तत्रास्ति नैकता ॥ २५ ॥
वासनावेशवलिताः कुविकारशतात्मभिः ।
व्रजन्त्यधोधो धावन्तं शिलाः शैलच्युता इव ॥ २६ ॥
व्यूढानां वासनावातैर्नृतृणानामितस्ततः ।
तान्यापतन्ति दुःखानि तत्र वक्तुं न पार्यते ॥ २७ ॥
भ्रान्त्वा भृशं करतलाहतकन्दुकाभं
लोकाः पतन्ति निरयेषु रसेन रक्ताः ।

क्यों किसी एक रूपको नहीं छोड़ता ? इसपर कहते हैं—'नाजडम्' इत्यादिसे ।

जो अजड़ वस्तु है, वह जड़ता कभी धारण नहीं कर सकती, क्योंकि धर्म (स्वभाव) कभी भी छुटनेवाले होते नहीं । जो आत्मतत्त्व अजड़ है उसे आपने जड़रूप अंशान्तरसे देखा, पर वह तो कोई दूसरी ही चीज है, उसकी अजड़के साथ एकता है ही नहीं, ऐसी स्थितिमें अजड़ और बोधकी एकता कैसे हो सकती है ॥ २५ ॥

जब ऐसी ही स्थिति है, तब आत्मवादी लोग एक दूसरेके विरुद्ध तरह-तरहके आत्माके स्वरूप क्यों मानते हैं, इसपर कहते हैं—'वासना०' इत्यादिसे ।

सैकड़ों कुत्सित विकारोंसे, वासनाओंसे तथा अभिमानोंसे भरे लोग बाह्य-दृष्टियोंसे ही आत्मतत्त्वकी समीक्षा करते-करते ऐसे नीचेसे नीचेकी ओर दौड़ते हुए जाते हैं जैसे पर्वतसे च्युत हुई पाषाण शिला नीचेसे नीचेकी ओर दौड़ती हुई जाती है ॥ २६ ॥

इसीलिए स्व-स्व वासनारूपी वायुओं द्वारा इधर-उधर उड़ाये गये उपनिषद्-दृष्टिसे च्युत पुरुषरूपी तिनकोंके ऊपर वे सब दुःख, जो कि लोकमें तथा शास्त्रोंमें वर्णित हैं, गिरते हैं । कितने गिरते हैं, इस विषयमें कोई कह ही नहीं सकता ॥ २७ ॥

उसीका वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं—'भ्रान्त्वा०'इत्यादिसे ।

अपनी वासना और अपने-अपने अभिमानके अनुसार राग आदि रसोंसे रंगे गये लोग करतलसे ताड़ित गेंदके सदृश इधर-उधर खूब घूम-फिरकर

क्लेशेन तत्र परिजर्जरतां प्रयाताः
कालान्तरेण पुनरन्यनिभा भवन्ति ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किबोधनं नाम पञ्चविंशतिः सर्गः ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संसारमार्गगहने पतितस्याऽऽपतन्ति हि ।
वृत्तवृत्तान्तलक्षाणि कीटा इव घनागमे ॥ १ ॥
सर्व एव त्विमे भावाः परस्परमसङ्गिनः ।
अटव्यामुपलानीव भावनैतेषु शृङ्खला ॥ २ ॥

नरकोंमें गिरते हैं । वहाँपर दीर्घकाल तक तरह-तरहकी यतनाओंके क्लेशोंसे सब ओरसे जर्जर होकर कालान्तरमें स्थावर, कृमि, कीट आदि जन्म लेकर अन्य-से हो जाते हैं, फिर मनुष्यजन्म उनके लिए दुर्लभ ही बना रहता है ॥ २८ ॥

पचीसवाँ सर्ग समाप्त

छब्बीसवाँ सर्ग

[भावनाजनित रागादि दोषोंसे अनर्थोंका आना तथा विवेकजनित तत्त्वज्ञानसे रागादि दोषोंके विनाश द्वारा उनका निकल जाना—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, स्थावर आदि योनिरूप संसारमार्गमें गिरे हुए जीवके ऊपर, मेघके आनेपर लाखों कीटोंके आगमनके सदृश, छेदन, भेदन, दहन, क्षुधा आदिरूप लाखों बातें आती-रहती हैं ॥ १ ॥

इन सारे वृत्तान्तोंमें एकमात्र भावना ही मूल है, यह कहते हैं—'सर्व एव' इत्यादिसे ।

ये जितने संसारके पदार्थ हैं, वे सब एक दूसरेसे सम्बन्ध कुछ नहीं रखते, जैसे कि जङ्गलमें बिखरे हुए पत्थरके टुकड़े । परन्तु उन सबको मिलानेवाली (गूँथनेमें हेतु) सिकड़के सदृश भावना ही है ॥ २ ॥

चित्तमान्ध्याय वृत्तान्तद्रुमैर्गहनवत्स्थितम् ।
रसरञ्जनया लोके वसन्त इव काननम् ॥ ३ ॥
अहो बत विचित्राणि वासनावशतोऽवशैः ।
भूतकैरनुभयन्ते सुखदुःखानि जन्मसु ॥ ४ ॥
अहो बताऽतिविषमा वासना यद्वशाज्जनैः ।
अविद्यमानैरेवाऽयं भ्रमोऽन्तरनुभूयते ॥ ५ ॥
आह्लादिनो मृतवतः शुद्धस्याऽऽलोककारिणः ।
शीतलस्याऽखिलार्थेषु ज्ञस्येन्दोश्च किमन्तरम् ॥ ६ ॥
पूर्वापरमनालोच्य यात्किञ्चिदभिवाञ्छतः ।
निर्मर्यादस्य मूढस्य बालस्य च किमन्तरम् ॥ ७ ॥

भावनामें मूल कारण रागादि दोषोंसे दूषित, पूर्वकी वासनाओंसे भरा विवेक शून्य चित्त है, यह आशय लेकर कहते हैं—'चित०' इत्यादिसे ।

लोकमें यह चित्त एक तरहसे वासन्तकालका भयङ्कर अरण्य है, अनेक तरहके वृत्तान्तरूपी वृक्षोंको लेकर अन्धकार पैदा करनेके लिए गहन-सा बनकर स्थित है, राग आदि दोषरूपी जलसे सींचा भी गया है ॥ ३ ॥

अहो, महान् आश्चर्य है कि वासनाके बलसे पराधीन होकर ये अज्ञानी भूत सब चित्रविचित्र सुख-दुःखोंका जन्मोंमें अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

अहो, यह वासना अतिविषम है, जिसके वशसे मनुष्य मिथ्याभूत द्रष्टा आदि त्रिपुटीरूप अर्थोंसे अपने भीतर यह संसारभ्रमका अनुभव करने लग जाते हैं ॥ ५ ॥

यही कारण है कि संसार-भ्रमको तैर गये तत्त्ववित् पुरुष सुखी रहते हैं, यों उनकी प्रशंसा करते हैं—'आह्लादिनः' इत्यादिसे ।

भद्र, ज्ञानी और चन्द्र—इन दोनोंमें क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी आह्लाद देनेवाला है, अमृतसे पूर्ण है, शुद्ध है, ज्ञानरूप प्रकाश करता है और सभी अर्थोंमें शान्त है ॥ ६ ॥

अविवेकीकी निन्दा करते हैं—'पूर्वापर०' इत्यादिसे ।

अज्ञानी (मूर्ख) और बालकमें क्या अन्तर है अर्थात् कुछ भी नहीं, क्योंकि जो अज्ञानी है, वह पूर्वापरका (आगे-पीछेका) कुछ भी विचार किये बिना जिस किसीकी भी इच्छा करने लगता है, उसकी कोई मर्यादा ही नहीं है ॥ ७ ॥

लब्धमाप्राणपर्यन्तं शुभाशुभमनुञ्झतोः ।
आमिषं को विशेषोऽस्ति वद माकरमूढयोः ॥ ८ ॥
सर्वं एव त्विमे भावा देहदारधनादयः ।
क्षिप्रमाशुष्कसिकताशरावविशरारवः ॥ ९ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमपि योनिशतेषु ते ।
आकल्पं भ्रमतश्चित्त शान्तिर्नास्ति शमादृते ॥ १० ॥
पर्यालोचनमात्रेण बन्धगन्धो न बाधते ।
गच्छतो मार्गवैषम्यमिवालोकनकारिणः ॥ ११ ॥
तव नाऽवहितं चित्तं कामः कवलयिष्यति ।
सावधानस्य बुद्धस्य पिशाचः किं करिष्यति ॥ १२ ॥
यथेक्षणप्रसरणं रूपालोकनमात्रकम् ।
संवित्प्रसृतिमात्रात्म तथा साहं जगत् स्थितम् ॥ १३ ॥

भद्र, कहो मछली और मूर्ख (अज्ञानी) में क्या अन्तर है ? ये दोनों मरण-पर्यन्त पकड़े हुए आमिषरूपी विषयोंको नहीं छोड़ते, [मछलीके पक्षमें बंसीमें लगाया गया आमिष और मूर्खके पक्षमें रागादिविषयरूप आमिष समझना चाहिए] चाहे वह शुभ हो या अशुभ ॥ ८ ॥

शरीर, नारी, धन, आदि जितने ये पदार्थ हैं, वे सब शुष्क बालूसे बनाये गये कसोरेके सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाले हैं ॥ ९ ॥

अब श्रोताके चित्तको लक्ष्य कर कहते हैं—'आब्रह्म०' इत्यादिसे ।

हे चित्त, ब्रह्मासे लेकर गुल्मतक सैंकड़ों योनियोंमें कल्पपर्यन्त घूम रहे तुम्हें शमको प्राप्त किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती ॥ १० ॥

केवल विवेकमात्रसे संसारकी गन्ध ऐसे निकल नहीं सकती; जैसे केवल अपने पैर रखनेकी जगहपर दृष्टि रखनेवाला गमनकर्ता पुरुष मार्गकी विषमता नहीं निकाल सकता ॥ ११ ॥

यदि तुम्हारा चित्त विवेक और अवधानसे युक्त नहीं है, तो उसे कामरूप पिशाच अपने गालमें कर लेगा । परन्तु जो सावधान और सदा जागरूक है, उसके चित्तका वह कामरूप पिशाच क्या करेगा ? ॥ १२ ॥

अहङ्कारयुक्त जगत् केवल विवेक और अप्रमाद से शून्य ज्ञानका विस्तार-

यथाऽक्षिसंवृतिः सर्वरूपालोकशमोऽरिहन् ।
संवित्संवरणं नाम सर्वदृश्यशमस्तथा ॥ १४ ॥
असदेव जगत्साहं शुद्धा संवित्तनोति खे ।
ईषत्प्रसरणेनाऽऽशु स्पन्दनं पवनो यथा ॥ १५ ॥
सदिवाऽसत्यमेवेदमकुर्वत्यन्यमेधते ।
मृदा हेम्नेव कुम्भत्वमपृथग्लभ्यमात्मगम् ॥ १६ ॥
शून्यमात्रं यथा व्योम स्पन्दमात्रं यथाऽनिलः ।
जलमात्रं यथोर्म्यादि संविन्मात्रं तथा जगत् ॥ १७ ॥

मात्र है, दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे चक्षुका प्रसरणरूप व्यापार केवल रूपका अवलोकनमात्र ही है, इससे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है, वैसे ही अहङ्कारयुक्त जगत् अविवेक और प्रमादयुक्त संवित्‌का प्रसरणरूप व्यापारमात्र ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥ १३ ॥

हे कामादि शत्रुओंके नाशक, जैसे आँखका आवरण सभी रूपके प्रकाशकी शान्ति है, वैसे ही बहिर्मुख ज्ञानका आवरण यानी बाह्य ज्ञानोंको आत्माकी ओर लगाना समस्त दृश्योंकी शान्ति है ॥ १४ ॥

भद्र, जैसे पवन शीघ्र स्पन्दनका विस्तार करता है, वैसे ही विशुद्ध संवित् अविवेकजनित कुछ साधारण स्फुरणरूप व्यापारसे अज्ञातस्वस्वरूप चिदाकाशमें अहङ्कारयुक्त असद्रूप जगत्‌का विस्तार करती है ॥ १५ ॥

यह जगत् असलमें असत्य है, परन्तु सत्‌की नाईं प्रतीत होता है, वास्तवमें ब्रह्मचिति अन्यका निर्माण न करती हुई यों ही जगत-रूपमें स्फुरित होती है। जगत् असत्य है, इसमें दृष्टान्त यही है कि जैसे मिट्टी या सोनेमें कल्पित घड़ा या कड़ा मिट्टी या सोनेसे अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता, वैसे ही आत्मामें कल्पित यह जगत् आत्मासे अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यदि जगत् सत्य होता, तो आत्मासे अलग होकर उपलब्ध होता ॥ १६ ॥

जो अलग होकर प्राप्त नहीं होता, उसकी अलग सत्ता नहीं रहती, यह सोने आदिमें नियम बतलाते हैं—'शून्यमात्रम्' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश शून्यमात्र है, जैसे वायु स्पन्दनमात्र है, जैसे तरङ्ग आदि जलमात्र हैं, वैसे ही यह जगत् भी संविन्मात्र है ॥ १७ ॥

अव्यवच्छिन्ननिर्भागसंविन्मात्रं जगत्रयम् ।
विद्धि शान्तं तथा व्योम यथा वारिणि पर्वतम् ॥ १८ ॥
निर्वाणस्योपशान्तस्य ज्ञस्य सोदेति शीतता ।
अन्तर्यत्रेन्दवोऽप्येते दीप्तज्वलनबिन्दवः ॥ १९ ॥
किं केन कथमेकान्तशान्ताततशिवात्मनि ।
निरालोकेऽपरालोकः शून्ये जगति जन्यते ॥ २० ॥
या सत्ता ब्रह्मशब्दाख्या रूपं सर्वस्य तन्निजम् ।
न यत्र काचिद्बाधाऽस्ति सर्वं तन्मयमव्ययम् ॥ २१ ॥
यदिदं तु पदार्थत्वं यत्र बाधाऽनुभूयते ।
यद्यच्च बाधनं प्रेक्ष्य तन्न विद्मः खपुष्पवत् ॥ २२ ॥

जैसे जलमें प्रतिबिम्बित पर्वत या पर्वततुल्य तरङ्ग जलरूप ही है, वैसे ही आत्मामें प्रतीत ये तीनों जगत् शान्त, आकाशरूप तथा सभी तरहके भेदोंसे शून्य संवित्स्वरूप (आत्मस्वरूप) ही हैं ॥ १८ ॥

इस प्रकार जगत्के स्वरूपको जान रहे ज्ञानीको सांसारिक सन्तापकी प्राप्ति कभी नहीं होती, यह कहते हैं—'निर्वाणस्योप०' इत्यादिसे ।

सभी तरहके विकारोंसे निर्मुक्त अतएव परमशान्त ज्ञानी पुरुषके अन्दर ऐसी सबसे उत्तम शीतलता उत्पन्न हो जाती है, जिसकी तुलनामें ये अनेक चन्द्रमा भी प्रदीप्त अग्निके कणोंके सदृश प्रतीत होने लगते हैं ॥ १९ ॥

उसमें दूसरे किसी अन्य प्रकाशकी प्रसक्ति भी नहीं है, यह कहते हैं—'किम्' इत्यादिसे ।

जब यह जगत् अत्यन्त शान्त व्यापक प्रकाशरूप शिवस्वरूप शून्य हो गया, तब उसमें दूसरा प्रकाश ही कौन ? वह किस क्रिया या साधनसे कैसे उत्पन्न किया जा सकता है ॥ २० ॥

वही सब पदार्थोंका किसी कालमें बाधित न होनेवाला स्वरूप है, यह कहते हैं—'या' इत्यादिसे ।

ब्रह्मशब्दसे जो सत्ता कही जाती है, वह सत्ता ही सब पदार्थोंका निजी स्वरूप है, उसमें किसी तरहकी बाधा नहीं है और समस्त जगत् तन्मय है अतएव वह अव्ययरूप है ॥ २१ ॥

तब कौन स्वरूप बाधित होता है, इस शङ्कापर कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

ज्ञ एवापगतस्वान्तं शान्तमास्व महाश्मवत् ।
असौ न मननं मानमनन्तमजमव्ययम् ॥ २३ ॥
आकाशकल्पे स्वे भावे तिष्ठतोऽज्ञानिवेदनम् ।
भवत्यभ्यासदार्ढ्येन विना स्वप्नविकारवत् ॥ २४ ॥
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चेतति ।
ब्राह्मं कर्तृ जगच्चित्रं न कश्चिद्वा न किञ्चन ॥ २५ ॥

जो ये नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उनमें बाध देखा जाता है, परन्तु उनका बाध या उनकी उत्पत्ति आदि विकृतियाँ जो दिखाई देती हैं, उनके विषयमें विचार करनेपर भी आकाशपुष्पके सदृश हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे तुच्छ-हैं ॥ २२ ॥

असली बात यह है कि वह सब रूप केवल मनकी कल्पना है, अतः मनके शान्त हो जानेपर वह स्वयं अपने-आप विलीन हो जाता है, इसलिए तुम चुपचाप बैठे रहो, यह कहते हैं—'ज्ञ एवा०' इत्यादिसे ।

जैसे बड़ा पत्थर अपने स्थानमें चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठा रहता है, वैसे ही तुम भी मनको हटाकर चुपचाप शान्तिपूर्वक अपने प्रमातारूपमें स्थित रहो । मनके चले जानेपर प्रमातारूप आत्मा नहीं चला जाता, क्योंकि उस मनके चले जानेपर नामरूपात्मक मनन (विकल्प) एवं चक्षु आदि प्रमाण चले जाते हैं, परन्तु प्रमातारूप आत्मा न मनन है और न चक्षु आदि प्रमाणरूप ही है, वह तो असीम, अज और अविनाशी ब्रह्मरूप है ॥ २३ ॥

भद्र, आकाशके सदृश निर्मल आत्माके अन्दर मनको विलीन कर स्थित हुए योगीको नाम और रूपकी प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि नामरूपकी प्रतीति तो अपने स्वरूपमें स्थितिके लिए अभ्यास जब दृढ़ नहीं रहता, तब स्वप्नके सदृश मनमें उत्पन्न होती है ॥ २४ ॥

जगत् केवल मनका ही सङ्कल्प है, यह किस तरह जाना जा सकता है ? इसपर कहते हैं—'निरुपादान०' इत्यादिसे ।

भद्र, यह जो हिरण्यगर्भका मन है, वही जगद्रूपी चित्रका निर्माण करता है, इसके पास न रङ्ग हैं, न चित्रनिर्माणकी कूची है और न तो कोई चित्रका आधार ही है । इतना होनेपर भी उस चित्रको अपने-आप देखने लग जाता है । क्या कहीं किसीने स्वप्नमें मनके सिवा किसी दूसरेको कर्ता और कार्य देखा है ? ॥ २५ ॥

तनोति यत्तदात्मैव तस्य तत्र तथा स्थितम् ।
दृश्याभावादसद् दृश्यं तेन कः क करोति किम् ॥ २६ ॥
अहं सुखीति सुखिता अहं दुःखीति दुःखिता ।
सर्वं एव स्वरूपस्था व्योमात्मानोऽपि पार्थिवाः ॥ २७ ॥
सर्वेषामेव भावानां चिदाकाशात्मनामपि ।
मिथ्यैव स्वप्नशैलानामिव पार्थिवता स्थिता ॥ २८ ॥
अहन्त्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।
तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ॥ २९ ॥
हेम्नः कटकशब्दार्थो व्यतिरिक्तो यथास्ति ते ।
व्यतिरिक्ता तथा सत्या नाहन्ताऽस्ति शमात्मनः ॥ ३० ॥

मनोराज्यके सदृश मन जिस किसीका निर्माण करता है, वहाँ सर्वत्र उन-उन वस्तुओंकी प्रतीति बनकर स्वयं ही स्थित हो जाता है। इस प्रकार नामरूपात्मक प्रपञ्चके—मनसे भिन्न कोई अन्य चीज—न होनेसे कौन, कहाँ किस प्रकार जगत्का निर्माण कर सकता है ॥ २६ ॥

यों सुख-दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय कल्पनाका विनाश हो जानेपर शून्यरूप या आत्मरूप हो जाते हैं, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे।

'मैं सुखी हूँ' इस तरह भासमान सुख, 'मैं दुःखी हूँ' इस तरह भासमान दुःख या उनके साधनभूत पार्थिव आदि विषय सब मनकी कल्पनाके शान्त हो जानेपर आत्मरूप हो जाते हैं या शून्यरूप बन जाते हैं ॥ २७ ॥

स्वप्नपर्वतकी नाईं पार्थिव विषय भी पार्थिवरूप नहीं हैं, यानी मिथ्या हैं यों भावना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वेषाम्' इत्यादिसे।

जितने पदार्थ हैं, वे सब यद्यपि परमार्थमें चिदाकाशरूप ही हैं, तथापि उनमें स्वप्नशैलके सदृश पार्थिवरूपता मिथ्या ही स्थित है ॥ २८ ॥

ऐसी स्थितिमें जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं—'अहन्त्वो०' इत्यादिसे।

अहन्ताकी लकीर जब ब्रह्मसत्तामें आ जाती है, तभी वह संसारभ्रमरूप विकार पैदा करती है और जब वह लकीर हट जाती है, तभी वह शान्ति प्रदान करती है तथा अपनी स्वरूपावस्थाको प्राप्त हो जाती है ॥ २९ ॥

जैसे सुवर्णनिर्मित कटकशब्दार्थ यानी कड़ा तुम्हें सुवर्णसे पृथक् भासता है,

निर्वाणो निर्मना मौनी कर्ताऽकर्ता च शीतलः ।
ज्ञ एव शान्त एवास्ते शून्य एवाऽभिपूरितः ॥ ३१ ॥
निर्वासनास्पन्दपरो यन्त्रपुत्रकगात्रवत् ।
स यथास्थितमेवाऽऽस्ते ज्ञः संव्यवहरन्नपि ॥ ३२ ॥
यथा मञ्चकसंस्थस्य स्पन्दन्ते नैव वा शिशोः ।
अङ्गानि स्वानुसन्धानं विनैवं विदितात्मनः ॥ ३३ ॥
निःसम्बोधैकबोधस्य निराशेहैषणाशिषः ।
शान्तानन्तात्मरूपत्वादनुसन्धानता कुतः ॥ ३४ ॥

पर वह सत्य नहीं है, वैसे ही आत्मासे जनित अहन्ता शान्तात्मा परमात्मासे पृथक् भले ही भासे, पर वह सत्य नहीं है ॥ ३० ॥

कर्तारूप आत्मा वास्तवमें चारों ओरसे जब परिपूर्णभावसे लक्षित हो जाता है, तब शान्त ही रहता है । उसमें किसी प्रकारका उपद्रव नहीं है वह शून्य, मोक्षरूप, मनरहित, मौनी, अकर्तारूप और शीतल है ॥ ३१ ॥

जैसे किसी यन्त्रसे बनाई गयी प्रतिमा वासनाशून्य होनेके कारण स्पन्दनशून्य है, यानी स्पन्दनके अभिमानसे रहित है, वैसे ही आत्मा भी वास्तवमें वासनाशून्य होनेके कारण स्पन्दनशून्य ही है । अतः व्यवहार कर रहा भी ज्ञानी अपने असलरूपमें ही स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

शरीरकी चहल-पहल दशामें भी आत्मामें चहल-पहल नहीं होती, इस बातकी संभावनामें दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे झूलेमें सोये हुए बालकके अङ्ग चहल-पहल करते ही नहीं, वैसे ही आत्मतत्त्वदर्शी विद्वान्में अपने स्वरूपानुभवके सिवा चहल-पहल कोई है ही नहीं ॥ ३३ ॥

ज्ञानीका निरन्तर चल रहा जो स्व-स्वरूप ज्ञान है, वही देह आदिका ज्ञान है, यह क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—'निःसम्बोधैक०' इत्यादिसे ।

मद्र, आशा, चेष्टा, स्नेह और प्रार्थना आदिसे शून्य तथा बाह्यवृत्तियोंसे रहित जो अखण्ड स्व-स्वरूप परिज्ञान है, वह शान्त अनन्त आत्मस्वरूप ही है, अतः उसे शरीर आदिका परिज्ञान कहना कैसे संभव है ॥ ३४ ॥

अद्रष्टुरपदृश्यस्याऽदृग्रूपस्याऽपरूपिणः ।
कुतः किलानुसन्धानमनपेक्षस्य पश्यतः ॥ ३५ ॥
अपेक्षैव घनो बन्ध उपेक्षैव विमुक्तता ।
सर्वशब्दान्विता तस्यां विश्रान्तेन किमीप्स्यते ॥ ३६ ॥
पार्थिवत्वे शरीरेऽस्मिन्स्वस्वप्नाङ्ग इवाऽसति ।
भ्रममात्रात्मनि कुतः क्व कस्य किमपेक्षणम् ॥ ३७ ॥
उपशान्तसमस्तेहं विगताखिलकौतुकम् ।
निरस्तवेदनं ज्ञेन विदा केवलमास्यते ॥ ३८ ॥
भृङ्गिनेति श्रुतवता ततो मोहो महानपि ।
अशेषेण परित्यक्तस्तत्रैव त्वगिवाऽहिना ॥ ३९ ॥

अपि च, उक्त स्वस्वरूपानुसन्धानमें द्रष्टा, दृश्य आदि त्रिपुटी रहती ही नहीं, इसलिए भी उसको शरीरका परिज्ञान नहीं होता, यह कहते हैं—'अद्रष्टु०' इत्यादिसे ।

समस्त अभिलाषाओंसे मुक्त ज्ञानी पुरुषको, जो द्रष्टा, दृश्य और ज्ञानरूप त्रिपुटीरहित निराकार वस्तुको देख रहा है, शरीरका अनुसन्धान कैसे हो सकता है ॥ ३५ ॥

सर्वान्वित अपेक्षा यानी सभी विषयोंकी अभिलाषा ही दृढ़ बन्धन है और सभी तरहकी इच्छाओंका परित्याग ही मुक्ति है । ऐसी स्थितिमें जो पूर्णकामतामें विश्रान्त हो चुका है, वह क्या चाहेगा ॥ ३६ ॥

इस शरीरकी पार्थिवरूपता होनेपर भी यह अपने स्वप्नमें शरीराङ्गोंके सदृश असत् और केवल भ्रममात्रस्वरूप ही है, अतः अपने शरीरके लिए भी किस बुद्धिमान्‌को कहाँ, किससे, किसकी इच्छा हो सकती है ? ॥ ३७ ॥

अब उपसंहार करते हैं—'उपशान्त०' इत्यादिसे ।

ज्ञानी पुरुष केवल अपने स्वरूपमें ही स्थिति रखता है, इस स्थितिमें उसकी सारी इच्छाएँ विलीन हुई रहती हैं, सारी उत्कण्ठाएँ चली गई रहती है और शरीरका भान भी नहीं रहता ॥ ३८ ॥

मुख्य अधिकारी होनेके कारण सिर्फ एक बार उपर्युक्त विषयोंके श्रवणसे ही भृङ्गिकी मोहनिवृत्ति हो गई, यह कहते हैं—'भृङ्गिनेति' इत्यादिसे ।

प्रवाहापतितं कार्यं कुर्वताऽपास्तवासनम् ।
तेन वर्षशतस्याऽन्ते स्थितमद्रौ समाधिना ॥ ४० ॥

तत्राऽद्ययावत्पाषाणसमधर्मा स तिष्ठति ।
स शान्तकरणो योगी बोध्यमानः प्रबुध्यते ॥ ४१ ॥

एतेन राघव विवेकपदेन शान्ति-
मासादयोदयवता मनसा विहर्तुम् ।
मा दीनतां व्रजतु रागमयी मतिस्ते
क्षीणा क्षणादसलिलेव शरद्घनाली ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मङ्क्युपाख्याने मङ्किनिर्वाणसमाप्तिर्नाम षड्विंशः सर्गः ॥२६॥

इस तरहके मेरे उपदेशको सुनते ही उस मङ्कि ब्राह्मणने अपने असीम महान् मोहको भी उसी समय, पूर्णरूपसे ऐसे छोड़ दिया, जैसे सर्प अपनी केंचुलको छोड़ देता है ॥ ३९ ॥

प्रारब्धवशसे जो कुछ भी समय-समयपर कर्तव्य आ जाता था, उसे वह वासना छोड़कर करता हुआ सौ वर्षोंके बाद उसी पर्वतपर समाधिमें स्थित हो गया ॥ ४० ॥

आज भी उस पर्वतपर पाषाणके सदृश निश्चल होकर वह स्थित है । उसके चक्षु आदि समस्त करण शान्त हो चुके हैं । कदाचित् दूसरों द्वारा जगाये जानेपर वह योगी समाधिसे बाहर भी हो जाता है ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामभद्र, आप इस मङ्कि ब्राह्मण द्वारा स्वीकृत उपायका अवलम्बन कर ज्ञानमें उन्नतिशील विवेकी मनसे स्वात्मानन्दमें विहार करनेके लिए शान्ति प्राप्त कीजिए । आपकी बुद्धि रागयुक्त बनकर, जलरहित शरत्के मेघोंके सदृश, विवेक रहित हो दीन न बन जाय ॥ ४२ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त

सप्तविंशतिः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

निर्वाणो भव शान्तात्मा यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
सन्नेवासत्समः सौम्य स्फटिकादिव निर्मितः ॥ १ ॥
एकस्मिन्नेव सर्वस्मिन्संस्थिते विततात्मनि ।
नैकस्मिन्न च सर्वस्मिन्नानाताकलना कुतः ॥ २ ॥
आद्यन्तरहितं सर्वं व्योम चित्तत्वनिर्भरम् ।
शरीरोत्पत्तिनाशेषु का चित्तत्त्वस्य खण्डना ॥ ३ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग

[चित्तका स्पन्दन होनेपर आत्मामें स्पन्दनका भ्रम हो जाता है, इससे जगत्‌की सारी विभूतियाँ उत्पन्न होती हैं, चित्तकी शान्तिसे आत्मामें स्पन्दनभ्रमकी शान्ति होती है और इससे अपने असली स्वरूपमें अवस्थान होता है—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, आप लौकिक पचड़ोंसे परे हो जाइए, अपनी आत्माको शान्त बनाइए और जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसका अनुसरण करते चलिए। हे सौम्य, जैसे स्फटिक पत्थरसे बनाया गया चाँदनीमें स्थित प्रतिमापुरुष सत् है तो भी उसमें दृष्टिका निरोध न होनेसे असत्‌के तुल्य ही रहता है वैसे ही आप सत् होते हुए भी आत्माकी अद्वैतदृष्टिका निरोध न करनेके कारण असत्‌के सदृश ही बने रहिए ॥ १ ॥

यह जो असीम आत्मा है, वह जबतक ज्ञान नहीं रहता, तबतक स्वयं एक होता हुआ भी सबके रूपमें यानी अनेक रूपोंमें स्थित है, परन्तु ज्ञान हो जानेपर न तो वह एक है और न सर्वात्मक—अनेक है यानी न वह व्यष्टिरूप है और न समष्टिरूप ही है, क्योंकि ज्ञानकालमें सभी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थितिमें उसमें अनेकरूपताकी कल्पना ही कहाँ रही ॥ २ ॥

प्रत्येक शरीरकी उत्पत्ति और विनाश तथा सात बित्तेके नापसे आत्माका नाप अनुभवमें आता है, अतः आत्माकी नानारूपता मान ली जाय, इसमें कौन-सी आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—'आद्यन्त०' इत्यादिसे।

जो चेतन आत्मवस्तु है, वह परिपूर्ण, आदि-अन्तसे रहित, व्यापक तथा

स्फुरन्ति हि जडक्रीडाश्चिच्चमत्कारचापलात् ।
अचापलात्प्रतीयन्ते तरङ्गा इव वारिणि ॥ ४ ॥
यथा शुभ्राम्बुदे वस्त्रशङ्का न फलभागिनी ।
देहोऽयमहमित्येषा तथा शङ्का न वास्तवी ॥ ५ ॥
मा वस्तुनि निमग्नस्त्वं भव भूरिभवप्रदे ।
वस्त्वनन्तसुखायाद्यं भव्यं भावय भूतये ॥ ६ ॥
चिद्व्योमानन्तमेवास्मिन्नेयत्ताऽस्ति समात्मनः ।
इत्येव परमं वस्तु वस्तु तत्परमस्तु ते ॥ ७ ॥
एवं निश्चयवान्नाम त्वमेवासि निरञ्जनः ।
ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं सत्यं चापि न किञ्चन ॥ ८ ॥

आकाशके तुल्य निर्मल है, इसलिए शरीरकी उत्पत्ति एवं नाश होनेपर उसकी उत्पत्ति या विनाश कैसे हो सकता है—उसका क्या बन-बिगड़ सकता है ? ॥३॥

भद्र, चितिके चमत्काररूप इस चञ्चल मनकी एकमात्र चपलताके कारण ही ये सब जड़ संसारके खेल स्फुरित होते हैं और उसकी चञ्चलता न रहनेसे आत्मामें ऐसे दिखाई पड़ते हैं, जैसे जलमें तरङ्ग ॥ ४ ॥

भद्र, शुभ्र मेघोंमें कल्पित वस्त्ररूपता वस्तुतः जैसे पहननेके काममें नहीं आती, वैसे ही इस देहमें कल्पित आत्मरूपता भी वस्तुतः कुछ काममें नहीं आती ॥ ५ ॥

श्रीरामजी, आप अनेक तरहके प्रपञ्चको देनेवाली अवस्तुमें यानी मिथ्या पदार्थोंमें डूबिये मत । मुख्य भव्य अनन्त वस्तुकी मुक्तिरूप अनन्तसुखके लिए उपासना कीजिए ॥ ६ ॥

वह कौन वस्तु है, जिसकी भावना करनी चाहिए, इसपर कहते हैं—'चिद्व्योमा०' इत्यादिसे ।

चित्-रूपी अनन्त आकाश ही असली वस्तु है, उसका किसी तरह नाप नहीं हो सकता । जिनका आत्मा एकरूप बन गया है, उनके लिए यही सबसे बढ़-चढ़कर उत्तम वस्तु है । श्रीरामजी, इसी एक वस्तुमें आपका चित्त सदा रमण करे ॥ ७ ॥

उसका क्या फल है, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस प्रकारके निश्चयसे युक्त हुए आप ही अज्ञानरूप बन्धनसे निर्मुक्त निरञ्जन

द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च चित्त एव विभूतयः ।
अतत्त्वसंविदो नान्यद्‌ध्यानं ध्येयमस्ति च ॥ ९ ॥
उद्यति प्रतिपच्चन्द्रे वहति प्रलयानिले ।
आत्मतत्त्वं समं सौम्यं न क्षुभ्यति न शाम्यति ॥ १० ॥
यथा नौयायिनः स्थाणुतरुशैलादिवेपनम् ।
यथा शुक्तौ रजतधीस्तथा देहादि चेतसः ॥ ११ ॥

हैं । उक्तनिश्चय ध्याता, ध्यान और ध्येयसे शून्य (त्रिपुटीशून्य) है, त्रिकालमें बाधित होनेवाला नहीं है । ध्याता, ध्यान और ध्येय—इनमें कोई भी सत्य नहीं है यानी त्रिकालाबाधित नहीं है ॥ ८ ॥

दर्शनादि त्रिपुटी उसकी बाधक कैसे ? क्योंकि वह त्रिपुटी भी ध्यान-त्रिपुटीके ही समान है, इस शङ्कापर कुछ विशेष कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

द्रष्टा, दृश्य और दर्शन चित्‌की ही विभूतियाँ हैं, तात्पर्य यह कि दर्शन प्रमाणसे उत्पन्न तथा वस्तुके अधीन है, पुरुषके अधीन नहीं, इसलिए वृत्तिसे अभिव्यक्त परमार्थ चितिकी उसमें प्रधानता तथा अज्ञानकी बाधकता (निवर्तकता) ही विद्यमान है, इस परिस्थितिमें द्रष्टा आदि परमार्थ चैतन्यकी ही विभूति ठहरी । ध्यान न तो प्रमाणजन्य है और न वस्तुके ही अधीन है, किन्तु पुरुषकी इच्छाका अनुसरण करनेवाला है । इस स्थितिमें ध्यान आदि क्रियाविशेषरूप होनेके कारण अविद्याकी विभूतिरूप ही हैं, अतः ध्याता आदि बाधित हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि जो जो जड़ वस्तु है, वह सब ज्ञानसे भिन्न (पृथक्) दिखाई नहीं देती, अतः जितने दृश्य हैं, वे सब दर्शनका ही अनुसरण करनेवाले हैं। ध्येय तो ध्यानके बिना भी अलग रहता है, अतः वह ध्यानानुसारी नहीं होता, यह विशेष है ॥९॥

सबसे विशेष तो यह है कि ज्ञान निर्विकारी है, यह कहते हैं—'उद्यति' इत्यादिसे ।

जैसे प्रतिपदाके चन्द्रमाके उदित होनेपर समुद्र क्षुब्ध होता है और जैसे प्रलयकालकी वायु बहनेपर समुद्र सूख जाता है, वैसे आत्मतत्व न क्षुब्ध होता है और न सूख जाता है, वह सदा एकरूप और सौम्य रहता है ॥ १० ॥

तब चितिकी विभूति द्रष्टा आदि त्रिपुटी कैसे ? इस प्रश्नपर 'एकमात्र विवर्त-मावसे' यह उत्तर देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

यथा देहादि चित्तस्य तथा देहस्य चित्तकम् ।
तथैव जीवः परमे पदे द्वैतमतः कुतः ॥ १२ ॥
सर्वमेकमिदं शान्तं ब्रह्म बृंहितवेदनात् ।
न किञ्चिज्जगदाद्यस्ति भ्रान्तिरन्या न विद्यते ॥ १३ ॥
न विद्यते यथा व्योम्नि वनं स्नेहश्च सैकते ।
विद्युच्छशाङ्कबिम्बे च तथा देहादि चेतसि ॥ १४ ॥
अविद्यमान एवाऽस्मिन्मा बिभीहि जगद्भ्रमे ।
एतदेव परं सत्यं विद्धि सत्यविदांवर ॥ १५ ॥
जगदस्ति न सचेति याऽऽसीद्भ्रान्तिस्तवाद्य सा ।
शान्ता मदुपदेशेन किमन्यद्बन्धकारणम् ॥ १६ ॥

जैसे नावपर यात्रा कर रहे पुरुषको तीरस्थ स्थिर वृक्ष, पर्वत आदि कम्पित हो रहे-से प्रतीत होते हैं अथवा जैसे शुक्तिमें रजत-बुद्धि होती है, वैसे ही चितिमें यह देह आदि अन्तःकरणको प्रतीत होते हैं ॥ ११ ॥

इस रीतिसे देहदृष्टि चित्तकी कल्पना करती है, देह और चित्तकी दृष्टि जीवकी कल्पना करती है और जीवदृष्टि देह-चित्तकी कल्पना करती है, यों सभी शुद्ध चैतन्यमें ही विवर्त हैं, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे देह आदि चित्तके हैं वैसे ही चित्त भी देहादिका है, इसी तरह जीव भी है, इस परिस्थितिमें परम ब्रह्मपदमें द्वैत ही कहाँ रहा ॥ १२ ॥

ब्रह्मदृष्टिसे तो सब एक ही हैं, यह कहते हैं—'सर्वमेक०' इत्यादिसे ।

आत्मतत्त्वके ज्ञानसे तो यह सब केवल शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है, दूसरा जगत् आदि पदार्थ कुछ भी नहीं है, और न कोई दूसरी भ्रान्ति ही है ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे आकाशमें अरण्य नहीं रहता अथवा जैसे बालूमें तेल नहीं रहता या जैसे चन्द्रबिम्बमें बिजली नहीं रहती, वैसे ही चित्तमें देह आदि कुछ नहीं रहते ॥ १४ ॥

हे सत्यज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी, यह जगत्की भ्रान्ति अविद्यमान ही है, अतः इससे आप भय मत कीजिये । यही बात परम सत्य है, यह आप जानिये ॥ १५ ॥

भद्र, अभीतक जो आपको भ्रम रहा कि जगत्-वस्तुकी ही सत्ता है और

स्थाल्युदञ्चनकुम्भादि यथा मृन्मात्रकं तथा।
चित्तमात्रं जगदिदं क्षीणं तच्च विचारणात् ॥ १७ ॥

आपत्सु सम्पत्सु भवाभवेषु
शान्तैषणाहर्षविषादसंवित्।
सौम्यादहम्भावविदा विमुक्तो
यथास्थितं तिष्ठ विलीयमास्स्व ॥ १८ ॥

यथास्थितं वस्त्वधिगम्य राम
स्थितोऽसि चेद्वा स्वकुलाम्बरेन्दो।
तद्धर्षशोकैषणदूषणादि
विमुच्य वा तिष्ठ यथेच्छमास्स्व ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुख्ययोगोपदेशो नाम सप्तविंशतिः सर्गः ॥ २७ ॥



ब्रह्मकी सत्ता है ही नहीं, वह आज ही मेरे उपदेशसे शान्त हो गया। अब दूसरा बन्धन देनेवाला क्या रहा अर्थात् कुछ नहीं ॥ १६ ॥

थाली, पुरवा, घड़ा आदि जैसे केवल मिट्टी ही है, वैसे ही यह जगत् केवल चित्त ही है। यह विचारसे तो क्षीण हो चुका है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामजी, अब आप मेरे सौम्य उपदेशसे अहङ्कारसे पहले अलग हो जाइए, फिर सम्पत्तियोंमें इच्छा, हर्ष और आपत्तियोंमें विषादसे रहित हो जाइए, वैभवोंके उत्कर्ष और अपकर्षमें (बढ़ने-घटनेपर) भी एक-से रहिए। कभी भी मेरे उपदेशका विस्मरण कर यानी अपने स्वरूपस्थितिकी दृढ़ताका परित्याग कर स्थिर मत बैठिये ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानके बाद यदि प्रमाद हो जाय या प्रबल प्रारब्ध रह जाय, तो उससे हर्ष-शोक भी होते रहेंगे और उनके कारण फिर संसार भी होगा ही ? इसपर नहीं, यह उत्तर देते हैं—'यथास्थितम्' इत्यादिसे।

हे अपने कुलरूप आकाशके चन्द्रमा श्रीरामजी, यदि आप ब्रह्मात्माकी एकतारूप वस्तुको भलीभाँति जानकर अवस्थित हैं, तो चित्तमें सन्ताप पहुँचानेवाले

अष्टाविंशतिः सर्गः

श्रीराम उवाच

बीजाङ्कुराणां पुरुषकर्मणां जन्मकारिणाम् ।
दैवशब्दार्थयुक्तानां तत्त्वं वद विभो पुनः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

दैवकर्मादिपर्यायं घटादि घटतावधि ।
संवित्स्पन्दनमेवेदं लोके पुरुषतां गतम् ॥ २ ॥

हर्ष शोक, इच्छा आदि दोषोंको छोड़कर रहिये या उनका अनुसरण करते रहिये, आपको फिर संसार आ ही नहीं सकता ॥ १९ ॥

सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त

अट्ठाईसवाँ सर्ग

[बीजरूप और कार्यरूप तथा जन्मके हेतुभूत पुरुषकर्मोंके, जो अदृष्टरूप निमित्तसे सम्बद्ध हैं, स्वरूपका पुनः वर्णन]

श्रीरामभद्रने कहा—हे विभो, बीजरूप तथा कार्यरूप पुरुषके कर्मोंका—जो जन्मरूप संसारानर्थके उत्पादक तथा दैवसे (अदृष्टसे) सम्बद्ध हैं—स्वरूप मुझसे फिर कहिए यानी यद्यपि आपने इन कर्मोंका तत्त्व पहले यत्रतत्र कहा है, परन्तु फिर भी एक साथ मिलाकर कहिए ॥ १ ॥

सबसे पहले दैवका तत्त्व कर्म है, कर्मका तत्त्व पुरुष है, पुरुषका तत्त्व मनोरूप चितिस्पन्दन है और चितिस्पन्दनका तत्त्व चिदात्मा है । यही चिदात्मा प्राथमिक सङ्कल्परूप चितिस्पन्दनसे समष्टि-व्यष्टि मनरूप बन जाता है, जिसका कि 'बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिमें उल्लेख है । इसके बाद लोकमें देहाकारके अध्याससे (भ्रमसे) पुरुष हो जाता है । फिर कर्म करते-करते पुण्य-पापरूप अदृष्टात्मक दैवरूपता प्राप्तकर पुण्य-पापका भोग करनेके लिए घट आदिरूप एवं घटादिगत गुण-क्रियारूपसे घटत्वादिसामान्यरूप बन जाता है, इसीसे जगत्-रूप विवर्तमें आ जाता है, इन सब बातोंसे सार यह निकला कि दैव, कर्म आदि कारणशब्दरूप और घटसे लेकर घटत्वधर्मपर्यन्त कार्यरूप जो कुछ है, वह सब तत्त्वदृष्टिसे चितिस्पन्दके ही

संवित्स्पन्दादृते पुंस्त्वं कर्म वा कीदृशं भवेत् ।
घटावटपटाद्यात्मा ह्येतेनैव जगत्कृतम् ॥ ३ ॥
प्रवर्तते जगल्लक्ष्मीः संवित्स्पन्दात्सवासनात् ।
निवर्तते हि संसारः संवित्स्पन्दादवासनात् ॥ ४ ॥
अवासनं हि संविचेः स्पन्दमस्पन्दनं विदुः ।
सस्पन्दोऽप्यस्फुरत्स्पन्दो येनाऽऽवर्त्तादिनोह्यते ॥ ५ ॥

अलग-अलग नाम हैं, इस अभिप्रायको लेकर भगवान् वसिष्ठजी कहते हैं—'दैव०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, घटसे लेकर घटत्वतक कार्यरूप और दैव, कर्म आदि कारणरूप जो कुछ भी है वह सब चितिका स्पन्दन ही है, और यही लोकमें पुरुषरूप बन गया है ॥ २ ॥

भद्र, संवित्के (चितिके) स्पन्दनके बिना पुरुषका रूप और कर्म कैसे हो सकता है। संवित्का स्पन्दन ही घट, पट, वट आदिका स्वरूप है। इसीने समस्त जगत्को उत्पन्न किया है। यही कारण है कि पुरुषके कर्म आदि और घट-पटादिके अस्तित्व या परिज्ञान आदि चितिके अस्तित्व और प्रकाशके ही बदौलत होते हैं, यह सभीको विदित है। यदि इन सबको संवित्का यानी चितिका विवर्त न माना जाय, तो न उनका अस्तित्व मालूम पड़ सकता है और न उनका प्रकाश ही हो सकता है, ऐसी स्थितिमें उनका स्वरूप कैसा होगा ? अर्थात् असत् ही होगा, यह भाव है ॥ ३ ॥

यद्यपि सभी पदार्थ चितिके स्पन्दनरूप ही हैं तथापि उनके वैचित्र्यमें और विनाशमें कारण कहते हैं—'प्रवर्तते' इत्यादिसे।

सारे जगत्की यह विचित्र शोभा वासनायुक्त संवित्के स्पन्दनसे उत्पन्न होती है और वासनासे निर्मुक्त हुए संवित्के स्पन्दनसे निवृत्त होती है ॥ ४ ॥

महात्माओंका यह निश्चय है कि संविच्चिका (चितिका) स्पन्दन यदि वासनारहित है, तो वह अस्पन्दन ही है। लोकमें स्पन्दनशील भी तरङ्ग आदि जब भँवर आदिके द्वारा अपने अन्दर समाविष्ट कर लिये जाते हैं, तब उनमें स्पन्दनका परिज्ञान नहीं होता, फलतः उनकी अस्पन्दनशीलता ही तर्कित होती है ॥ ५ ॥

मनागपि न भेदोऽस्ति संवित्स्पन्दमयात्मनोः ।
कल्पनांशादृते राम सृष्टौ पुरुषकर्मणोः ॥ ६ ॥
जलवीच्योर्यथा द्वित्वं सङ्कल्पोत्थं न वास्तवम् ।
तथेह चित्परिस्पन्दरूपयोर्जन्तुकर्मणोः ॥ ७ ॥
कर्मैव पुरुषो राम पुरुषस्यैव कर्मता ।
एते ह्यभिन्ने विद्धि त्वं यथा तुहिनशीतते ॥ ८ ॥
हिमं यत्तद्यथा शैत्यं यच्छैत्यं तद्यथा हिमम् ।
यत्कर्मासौ तथा जन्तुर्यो जन्तुः कर्म तत्तथा ॥ ९ ॥
संवित्स्पन्दरसस्यैव दैवकर्मनरादयः ।
पर्यायशब्दा न पुनः पृथक्कर्मादयः स्थिताः ॥ १० ॥

अतएव चितिका स्पन्दन ही पुरुष आदि आकाररूप है और चितिके स्पन्दनकी निवृत्ति ही निराकारता है, ऐसी स्थितिमें विमर्श करनेपर स्पन्द और पुरुषमें कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'मनागपि' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, इस सृष्टिमें संवित् और संवित्-स्पन्दमय पुरुष एवं कर्म (स्पन्द) दोनोंमें कल्पनांशको छोड़कर तनिक भी भेद नहीं है ॥ ६ ॥

भद्र, जैसे सङ्कल्पसे जनित जल और तरङ्गका भेद वास्तविक नहीं है, वैसे ही सङ्कल्पजनित पुरुष और कर्मका (संवित्स्पन्दनका) भेद नहीं है ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी, कर्म ही पुरुष है और पुरुषमें ही कर्मरूपता है, आप इन दोनोंकी हिम और शीतताकी नाईं अभिन्नरूपता ही जानिए ॥ ८ ॥

भद्र, जो हिम है वही जैसे शीतता है और जो शीतता है, वही जैसे हिम है, वैसे ही जो कर्म है वही पुरुष है और जो पुरुष है वही कर्म है, इसलिए किये जानेवाले पुण्य-पाप भाविदेह और उस देहसे जो भोग्य होनेवाला है इन दोनोंकी पूर्वावस्था है ॥ ९ ॥

एवञ्च, यह जो कहा गया था कि दैव, कर्म आदि एक ही वस्तुके भिन्न नाम हैं, यह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

दैव, कर्म, पुरुष आदि संवित्के स्पन्दनरूप रसके ही पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिए संवित्स्पन्दनसे पृथक् कर्म आदि तनिक भी अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते ॥ १० ॥

स्पन्दात्संविज्जगद्बीजमस्पन्दाद्यात्यबीजताम् ।
अङ्कुरश्च तदेवाऽन्तःस्थितत्वादङ्कुरश्रियः ॥ ११ ॥
चित्त्वं च क्वचिदस्पन्दं क्वचित्स्पन्दं स्वभावतः ।
अनन्तमेकार्णववद्दिक्कालक्रमसंस्थितम् ॥ १२ ॥
संवित्स्पन्दो वासनावानिह बीजमकारणम् ।
भूत्वा कारणतामेति देहादेरङ्कुरावलेः ॥ १३ ॥
तृणवल्लीलतागुल्मबीजान्तरगतेरपि ।
बीजं संवित्स्पन्द एव तस्य बीजं न विद्यते ॥ १४ ॥
न बीजाङ्कुरयोर्भेदो विद्यतेऽग्न्यौष्ण्ययोरिव ।
बीजमेवाऽङ्कुरं विद्धि विद्धि कर्मैव मानवम् ॥ १५ ॥

'बीजाङ्कुराणाम्' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'स्पन्दात्' इत्यादिसे ।

स्पन्दनके कारण ही संवित् जगतकी बीज हो जाती है और स्पन्दनके अभावसे अबीजरूप हो जाती है। उसीके अन्दर सूक्ष्मरूपसे अङ्कुर श्री भी स्थित है, अतः वही बाहर निकलकर स्थूल अङ्कुररूप हो जाती है ॥ ११ ॥

असीम चित्स्वभाव ही ऐसा है कि कहींपर अपने स्वभाववश देश-काल क्रममें स्थित स्पन्दनसे शून्य हो जाता है और कहींपर स्पन्दनरूप बन जाता है ॥ १२ ॥

यद्यपि संवित्का स्पन्दन वास्तवमें अकारण है, तथापि यहां वासनासे युक्त होकर देह आदि अङ्कुरोंका वह कारणरूप बीज बन जाता है ॥ १३ ॥

अवान्तर बीजोंके रूपमें स्थित वही संवित्-स्पन्दन सर्वत्र कारण है, उसी स्पन्दनकी विशेष-विशेष कार्योंकी व्यवस्थाके लिए अवान्तर बीजोंके रूपोंमें स्थिति है, इस आशयसे कहते हैं—'तृण०' इत्यादिसे ।

अन्यान्य अवान्तर तृण, वल्ली, लता, गुल्म आदिके बीजोंकी जो व्यवस्थित अङ्कुर आदि कार्य करनेकी प्रवृत्ति है, उसमें भी वही संवित्स्पन्द कारण है, उसका अन्य कोई बीज नहीं है ॥ १४ ॥

यदि बीजके अन्दर रहनेवाली शक्ति ही अङ्कुर है, यों मानें, तो भी शक्ति और शक्तिमान्में कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

बीज और अङ्कुरमें, अग्नि और उष्णताके सदृश, कोई भेद नहीं है। हे श्रीरामजी, आप बीजको ही अङ्कुर जानिये और कर्म हीको मानव जानिये ॥१५॥

चित्स्फुरन्ती भूमिकोशे करोति स्थावराङ्कुरम् ।
स्थूलान् सूक्ष्मान् मृदून्क्रूरान् पयोबुद्बुदकानिव ॥ १६ ॥
चिता विना धराकोशादत्यन्तपरिपेलवात् ।
अङ्कुराद् वज्रसारांश्च क उल्लासयितुं क्षमः ॥ १७ ॥
प्राणिवीर्यरसान्तःस्था संविज्जङ्गममाततम् ।
तनोति लतिकान्तःस्थो रसः पुष्पफलं यथा ॥ १८ ॥
यदि सर्वगता संविद्भवेन्नातिबलीयसी ।
तत्क उल्लासने शक्तः स्याद्देवासुरभूभृताम् ॥ १९ ॥
जङ्गमानां स्थावराणामेतदाद्यं च बीजकम् ।
संविद्विस्फुरणमात्रमस्य बीजं न विद्यते ॥ २० ॥
बीजाङ्कुरविकल्पानां क्रियापुरुषकर्मणाम् ।
ऊर्मिवीचितरङ्गाणां नास्ति भेदो न वस्तुनि ॥ २१ ॥

स्पन्दनशील हो रही चिति ही भूमिमें वट आदि वृक्षोंके अङ्कुरको स्थूल पदार्थ, सूक्ष्म पदार्थ, कठिन पदार्थ एवं मृदु पदार्थ—जलमें बुल्लोंकी नाईं—बनाती है ॥ १६ ॥

चितिके बिना ऐसा कौन शक्तिमान् है, जो इस पृथ्वीतलसे, अत्यन्त मृदु अङ्कुरसे वज्रके सदृश दृढ़ प्रवाल आदिको निकाल सके ॥ १७ ॥

यही न्याय रजवीर्यसे शरीरसम्पादनमें भी लगाना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'प्राणि०' इत्यादि ।

जैसे लतिकामें स्थित रस पुष्प और फलका विस्तार करता है, वैसे ही यह चिति प्राणियोंके वीर्यरसमें स्थित होकर इन असीम जङ्गम वस्तुओंका विस्तार करती है ॥ १८ ॥

श्रीरामजी, भला, बतलाइये तो सही कि यदि सर्वत्रस्थित यह संवित् अत्यन्त बलवती न होती तो, इन देव, असुर एवं राजाओंके निर्माणमें कौन शक्तिशाली होता ॥ १९ ॥

भद्र, स्थावर तथा जङ्गम पदार्थोंका यही एक आदिम संवित्स्फुरण कारण है। और इसका कोई कारण नहीं है ॥ २० ॥

बीज, अङ्कुर आदि विकल्पोंका परस्पर; क्रिया, पुरुष एवं दैवका परस्पर

द्वित्वं नृकर्मणोर्यस्य बीजाङ्कुरतया तयोः ।
विपश्चित्पशवे तस्मै महतेऽस्तु सदा नमः ॥ २२ ॥
संवित्तेर्जन्मबीजस्य योऽन्तःस्थो वासनारसः ।
स करोत्यङ्कुरोल्लासं तमसङ्गाग्निना दह ॥ २३ ॥
कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जनम् ।
शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥
अथवा वासनोत्साद एवाऽसङ्ग इति स्मृतः ।
यया कयाचिद्युक्त्याऽन्तः सम्पादय तमेव हि ॥ २५ ॥

तथा ऊर्मि, वीचि और तरङ्गोंका परस्पर तनिक भी भेद नहीं है एवं अधिष्ठानमें भी कुछ भेद नहीं है ॥ २१ ॥

इस तरहके वेदसंमत अभेदको जो पुरुष नहीं देखता, उसकी निन्दा करते हैं—'द्वित्वम्' इत्यादिसे ।

भद्र, ऐसा होनेपर भी पुरुष और कर्ममें तथा बीज और अङ्कुरमें जिस पुरुषको भेद वास्तविक भासता हो, उस महान् पण्डितपशुको निरन्तर नमस्कार ही करना चाहिए ॥ २२ ॥

वासनाके सम्बन्धसे जनित संसारबीजता वासनाके विनाशसे नष्ट हो जाती है, यह कहते हैं—'संवित्ते०' इत्यादिसे ।

जन्मके कारण संवित्स्पन्दनमें जो भीतरका वासनारस है, वही बाहर अङ्कुर फेंकता है, इसलिए उस वासनारसको असङ्गरूप अग्निसे आप जला दीजिये ॥२३॥

पण्डित लोग कहते हैं कि पुरुष कुछ करे चाहे कुछ भी न करे, परन्तु उसका शुभ-अशुभ कार्योंमें मनसे जो आसक्त न होना है, वही असङ्ग है ॥२४॥

यदि वासना ही सङ्ग है और वासनाका उच्छेद ही असङ्ग है, यह मानें, तो तत्त्वज्ञानके अभ्याससे ही वासनाको जला दीजिए, यह कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे ।

भद्र, अथवा वासनाका उच्छेद ही असङ्ग है, यह भी पण्डितोंका मत है, इसलिए आप उसीका (वासनोच्छेदरूप असङ्गका ही) जिस किसी युक्तिसे भीतर सम्पादन कीजिए ॥ २५ ॥

यथैव वेत्सि ततया युक्त्या पुरुषयत्नतः ।
वासनाङ्कुरनिर्मूलमेतदेव परं शिवम् ॥ २६ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन यथा जानासि वा तथा ।
निवारयाहंभावांशमेषोऽसौ वासनाक्षयः ॥ २७ ॥
नास्त्येव पौरुषादन्या संसारोत्तरणे गतिः ।
निरहंभावरूपेऽस्मिन्वासनाक्षयनामनि ॥ २८ ॥
आद्यैव संविदस्तीह सोऽङ्कुरो बीजमस्ति तत् ।
तत्कर्म तच्च पुरुषस्तद्दैवं तच्छुभाशुभम् ॥ २९ ॥
न बीजमादावस्त्यन्यन्नाङ्कुरो न च वा नरः ।
न कर्म न च दैवादि केवलं चिदुदेति हि ॥ ३० ॥

वह युक्ति चाहे पहले कही गई राज-योगरूपा हो या हठयोगरूपा हो, परन्तु पुरुषप्रयत्नसे दीर्घकालतक वह अभ्यस्त होनी चाहिए। आप अपनी वासनाका उच्छेद जिस युक्तिसे सुकर समझते हों, उसीसे उसका उच्छेद कर डालिए; क्योंकि यह वासनाङ्कुरका उच्छेद ही परम कल्याण है ॥ २६ ॥

समस्त वासनाओंका चिद्ग्रन्थिरूप अहङ्कार ही मूल है, अतः उसीका आप विनाश कीजिए, यह कहते हैं—'पौरुषेण' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, पुरुषप्रयत्नसे आप जिस तरहकी युक्ति जानते हों, उस तरहकी दृढ़ अभ्रान्त युक्तिसे अहङ्काररूपी अंशका त्याग कर दीजिए, क्योंकि यह अहङ्कारांशका त्याग ही वासनाका क्षय है ॥ २७ ॥

वासनाक्षयनामक इस निरहङ्काररूप संसारतरणमें अपने पुरुषार्थके सिवा दूसरी कोई गति है ही नहीं ॥ २८ ॥

अनादि अनन्त प्रत्यगात्मरूप चैतन्यकी सत्तासे ही बीज, अङ्कुर आदिकी सत्ता है, स्वतः नहीं, यह कहते हैं—'आद्यैव' इत्यादिसे ।

असलमें यहाँ सबसे मुख्य तो संवित्की ही एकमात्र सत्ता है, वही अङ्कुर है, वही बीज है, वही कर्म है, वही पुरुष है और वही पुण्यपापरूप दैव है ॥२९॥

सबसे प्रथम न तो कोई चितिके सिवा दूसरा बीज है, न अङ्कुर है, न पुरुष है, न कर्म है और न दैव आदि ही कुछ है, केवल चितिका ही यह सब कुछ विलास है ॥ ३० ॥

नो बीजमस्ति न किलाङ्कुरकोऽपि वाऽस्ति
नाप्यस्ति कर्म पुरुषश्च न वास्ति साधो ।
एकं तु चित्त्वमुदितं ह्यनयाऽभिधान-
लक्ष्म्या नटः सुरनरासुरशोभयेव ॥ ३१ ॥
इत्येव निश्चयमनामय भावयित्वा
त्यक्त्वा भृशं पुरुषकर्म विचारशङ्काम् ।
निर्वासनः सकलसङ्कलनाविमुक्तः
संविद्वपुर्ननु यथाभिमतेच्छमास्स्व ॥ ३२ ॥
प्रशान्तसर्वेच्छमशङ्कमच्छ-
चिन्मात्रसंस्थोऽखिलकार्यकारी ।
आत्मैकरामः परिपूर्णकामो
भवामयो राम शमाभिरामः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे शङ्कातत्त्वसिद्धान्तप्रतिपादनं नामाऽष्टाविंशतिः सर्गः ॥ २८ ॥



जब बीज आदिकी स्वतः सत्ता स्थिर नहीं होती, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि एकमात्र चिदात्मा ही असत्यभूत बीजादिके आकारोंमें जगद्रूप बनकर विलास करता है, यह कहते हैं—'नो' इत्यादिसे ।

हे साधो, न तो कोई बीज है और न कोई अङ्कुर ही है। इसी तरह न तो कोई कर्म है और न कोई पुरुष ही है । जैसे नाटकका पात्र समय-समय पर देव, नर, दानव आदि नामोंकी शोभा धारण कर नृत्य करता है, वैसे ही एकमात्र चित्स्वभाव ही इन बीज, अङ्कुर आदि नामोंकी शोभा धारण कर विलास करता है ॥३१॥

हे अविकार श्रीरामचन्द्रजी, उक्त प्रकारके निश्चयको अपने मनमें स्थिर कर पुरुष, कर्म आदि मिथ्या विचार-जनित शङ्काका बिलकुल परित्याग कर वासनाशून्य, समस्त विकल्पोंसे रहित एवं चैतन्यमय बन जाइए । फिर आप अपनी अभिमत इच्छाके अनुसार समाधिस्थ होकर या व्यवहाररत होकर स्थित रहिए । इससे आपका कुछ भी बिगड़ेगा नहीं, यह सार है ॥ ३२ ॥

इसीका स्पष्टीकरण करते हुए उपसंहार करते हैं—'प्रकाशान्त०' इत्यादिसे।

एकोनत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

नित्यमन्तर्मुखस्तिष्ठ वीतरागो विवासनः ।
चिन्मात्रममलं शान्तं कर्म सर्वत्र भावयन् ॥ १ ॥
आकाशविशदः प्राज्ञश्चिन्मात्रैकघनस्थितिः ।
समः सौम्यः समानन्दः सब्रह्माबृंहिताशयः ॥ २ ॥
शोकेष्वापत्सु घोरेषु सङ्कटेष्ववटेषु च ।
यथाप्राप्तेषु सर्वेषु स्वर्वेषून्नतिमत्सु च ॥ ३ ॥

हे रामभद्र, सब इच्छाओंसे निर्मुक्त एवं अशेष शङ्कासे रहित होकर सब कर्म करते हुए भी आप चैतन्यमात्रमें स्थित रहिए । एकमात्र अपनी आत्मामें ही रमण कीजिए । समस्त कामनाओंसे परिपूर्ण होकर आप निर्भय हो जाइए और परम शान्तिका अवलम्बन कर सब ओर चमकने लग जाइये ॥ ३३ ॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त

उन्तीसवाँ सर्ग

[व्यवहारकालमें जो भी कुछ कर्तव्य आ जाय उसे निभाते हुए अपने स्वरूपमें सदा स्थिर रहना चाहिए, यों रामजीके प्रति महाराज वसिष्ठजीका उपदेश ।]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, शत्रु, मित्र आदि सबके लिए प्रारब्धसे जो कुछ कार्य आ जाय, उसे यथायोग्य करते हुए भी आप निरन्तर अन्तर्मुख ही रहिए । राग छोड़ दीजिए । वासनाओंसे परे हो जाइए और सर्वत्र निर्मल, शान्त चैतन्यमात्रकी भावना कीजिए ॥ १ ॥

भद्र, आकाशके सदृश विशद हो जाइए । प्राज्ञ बनिए । एक चिन्मात्रमें अपनी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) बनाइए । सम, सौम्य एवं पूर्णानन्दसे युक्त हो जाइए तथा अपने अन्तःकरणको ब्रह्मसदृश आनन्दरसमें सराबोर कीजिए ॥ २ ॥

रामजी, प्रारब्धवश प्राप्त हुए छोटे-बड़े शोक, आपत्ति, घोर सङ्कट, अवट (गर्त) आदि सभी प्रसङ्गोंमें भीतर दुःखी न होकर देशधर्मोंके अनुसार एवं

यथाक्रमं यथादेशं कुरु दुःखमदुःखितः ।
बाष्पक्रन्दादिपर्यन्तं द्वन्द्वयुक्तसुखानि च ॥ ४ ॥
समागमेषु कान्तानामुत्सवेषूदयेषु च ।
आनन्दं भज सौम्यात्मा वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ५ ॥
भूतानि मृत्युकार्येषु सङ्ग्रामादिषु निर्दह ।
दावानलस्तृणानीव वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ६ ॥
क्रमागतेष्वखिन्नोऽर्थं बकवच्चिन्तयार्जय ।
अर्थोपार्जनकार्येषु वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ७ ॥
बलाद्विदलयाशेषानरीनरिनिषूदन ।
वातो रिक्तानिवाम्भोदान्वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ८ ॥
जनेषु करुणार्हेषु धैर्यं कुरु महात्मसु ।
आत्मारामममना मौनी वासनाक्रान्तमूढवत् ॥ ९ ॥

क्रमानुसार रुदन-अश्रुपात आदि पर्यन्त दुःखोंका और शीतोष्ण आदिसे युक्त वस्त्रादिभोगरूप सुखोंका अनुभव करते चलिए ॥ ३, ४ ॥

संक्षेपसे जिस अर्थको कहा, उसीको विस्तारपूर्वक कहते हैं—'समागमेषु' इत्यादिसे ।

कमनीय (रमणीय) विषयोंकी प्राप्तिके अवसरोंमें, उत्सवोंमें एवं उदयकालमें आप सौम्य (शान्त) मूर्ति होकर ऐसे आनन्द मनाइए, जैसे कि भोगवासनाओंसे आक्रान्त कर्मठ मूढ पुरुष ॥ ५ ॥

वासनाओंसे आक्रान्त मूढ़ पुरुषोंके सदृश अधार्मिक प्राणियोंको मृत्युके हेतु संग्राम आदिमें डालकर—जैसे तृणको अग्नि जला डालती है वैसे—जला दीजिए ॥ ६ ॥

प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए धर्माविरोधी धन आदिके उपार्जन आदि कार्योंका बगुलेके सदृश ऐसे अखिन्न होकर चिन्तन और अर्जन कीजिए, जैसे वासनायुक्त कर्मठ पुरुष ॥ ७ ॥

हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, वासनायुक्त मूढ जनके सदृश आप बलपूर्वक समस्त शत्रुओंका ऐसे विनाश कर दीजिए, जैसे वायु जलशून्य बादलोंका विनाश कर देती है ॥ ८ ॥

वासनासे आक्रान्त कर्मकुशल मनुष्योंके सदृश करुणापात्र जनोंमें उदारताका

मुदितो भव हर्षेषु दुःखेषु भव दुःखितः ।
करुणां कुरु दीनेषु भव वीरेषु वीर्यवान् ॥ १० ॥
अन्तर्मुखः सदानन्दः स्वात्मारामतयाऽन्वितः ।
यः करोति शमोदारस्तत्र कर्तासि नाऽनघ ॥ ११ ॥
आत्मभावनया साधो नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ।
वज्रधाराऽपि ते राम पतिता याति कुण्ठताम् ॥ १२ ॥
सङ्कल्पकलनोन्मुक्ते स्वसंविन्मात्रकोटरे ।
यस्तिष्ठत्यात्मनि स्वैरमात्मारामो महेश्वरः ॥ १३ ॥
न तं भिन्दन्ति शस्त्राणि न दहन्ति हुताशनाः ।
न क्लेदयन्ति वारीणि शोषयन्ति न मारुताः ॥ १४ ॥

और महात्माओंके विषयमें निन्दा न करनेका अवलम्बन कीजिए तथा अपनी आत्मामें मनको रमने दीजिए ॥ ९ ॥

हर्ष करनेयोग्य स्थानोंमें हर्षित होइए, दुःख करने योग्य स्थानोंमें दुःखी बनिये, दीनोंपर दया कीजिए और वीरोंमें वीर बनकर रहिए ॥ १० ॥

कुछ करनेपर मूढजनोंको तो दोष लगता है, परन्तु ज्ञानी पुरुषको कुछ करनेपर दोष नहीं लगता, यह कहते हैं—'अन्तर्मुखः' इत्यादिसे ।

हे अनघ, जो पुरुष अपनी वृत्तियोंको आत्माके अन्दर लगाकर स्थित रहता है, सदा आनन्दमें मग्न रहता है, अपनी आत्मामें ही आराम करता है, तथा जो शान्ति और औदार्यसे युक्त है, वह कर्ता नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त विषयोंमें आप कभी कर्ता नहीं होंगे और न उनसे आपको दोष ही लगेगा ॥ ११ ॥

हे साधो श्रीरामजी, आत्माकी भावनासे निरन्तर अन्तर्मुख वृत्ति बना कर स्थित हुए आपके ऊपर यदि इन्द्रकी भी वज्रधारा गिर जाय, तो भी वह व्यर्थ हो जायगी ॥ १२ ॥

समस्त सङ्कल्प-विकल्पोंसे निर्मुक्त अपनी संविन्मात्ररूप अन्तरात्मामें, स्वेच्छासे जो स्थित रहता है, वह आत्मारामी महान् ईश्वर ही है ॥ १३ ॥

ऐसे पुरुषको शस्त्र छेदते नहीं, अग्नि जलाती नहीं, जल भीगाते नहीं और पवन सुखाते नहीं ॥ १४ ॥

सुस्तम्भमजमालिङ्ग्य स्वात्मानमजरामरम् ।
तिष्ठाऽवष्टभ्य धीरात्मा सुस्तम्भमिव मन्दिरम् ॥ १५ ॥
जगद्वृक्षपदार्थौघपुष्पामोदश्रियं पराम् ।
संविदं संविदः स्वस्थामास्वान्तर्मुखमच्युतम् ॥ १६ ॥
अन्तर्मुखतया नित्यं कार्यमाहरतां बहिः ।
जीवतामपि नोदेति वासना दृषदामिव ॥ १७ ॥
पुनःप्रसरणोन्मुक्तमन्तःसुप्तं मनः कुरु ।
कुर्वन्सर्वाणि कर्माणि कूर्माङ्गवदवृत्तिमान् ॥ १८ ॥
अन्तर्वृत्तिविहीनेन बहिर्वृत्तिमतेव च ।
सुप्तप्रबुद्धप्रायेण कार्यमाचर चेतसा ॥ १९ ॥
बालमूकादिविज्ञानवदन्तस्त्यक्तवासनम् ।
भवतः कुर्वतः कार्यं खवच्चितं न लिप्यते ॥ २० ॥

जिसमें चित्त भलीभाँति प्रकाशित होता है, ऐसे नित्यनिरतिशयानन्दरूप, जन्मशून्य, जरा-मरणरहित, स्वात्माका—दृढ़ खम्भोंवाले मन्दिरकी नाईं—अवलम्बन कर निश्चल होकर स्थित रहिए ॥ १५ ॥

हे रामभद्र, जगद्रूपी वृक्षके पदार्थरूपी पुष्पोंकी सुगन्धशोभाके सदृश सारभूत स्वस्थ ब्रह्मसंवित्तिका (आत्मज्ञानका) अवलम्बन कर समस्त बाह्यवृत्तियोंको सदा अन्तर्मुख बनाकर स्थित रहिए ॥ १६ ॥

अन्तर्मुखतासे निरन्तर बाहरके कार्योंका सम्पादन कर रहे भी प्राणियोंमें वासना ऐसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि पत्थरोंमें नहीं होती ॥ १७ ॥

भद्र, कछुएके अङ्गोंके सदृश भीतर और बाहरके सब वृत्तियोंसे विरत होकर सारे कर्म करते हुए भी आप अपने मनको भीतर लीनकर दीजिए, ताकि फिर वह बाहर न निकलने पावे ॥ १८ ॥

अन्दरकी सुख-दुःखादिवृत्तिसे शून्य, बाहरकी घटादिवृत्तिसे युक्त-से तथा प्रायः आधे जगे हुए चित्तसे आप कार्य करते चलिए ॥ १९ ॥

जैसे बालक एवं मूक आदिका विज्ञान अन्दरकी वासनासे रहित होता है, वैसे ही अन्दरकी वासनासे शून्य अतएव आकाशके सदृश निर्मल हुआ चित्त कार्य कर रहे आपको बन्धनकारक नहीं होगा ॥ २० ॥

वृत्तित्यागविलीनेन किञ्चित्प्रसरता बहिः ।
अन्तरत्यन्तसुप्तेन चेतसा तिष्ठ विज्वरः ॥ २१ ॥
असङ्कल्पकलङ्कायां ज्ञानाच्चित्तक्षयोदये ।
शुद्धायां संविदि स्थित्वा कुरु मा कुरु वाऽनघ ॥ २२ ॥
सुषुप्तसमया वृत्त्या जाग्रद्व्यवहरन् व्रजन् ।
गृहाण मा किञ्चिदपि मा वा किञ्चित्परित्यज ॥ २३ ॥
जाग्रत्यपि सुषुप्तश्चेज्जागर्षि च सुषुप्तके ।
जाग्रत्सुषुप्तयोरैक्यात्तदस्त्यसि निरामयः ॥ २४ ॥
एवमाद्यन्तरहितमभ्यासेन शनैः शनैः ।
पदमासादयाद्वन्द्वमतीतं सर्ववस्तुतः ॥ २५ ॥

भद्र, आप समस्त चिन्ताओंको तिलाञ्जलि देकर ऐसे चित्तसे युक्त रहिए, जो कि निर्विकल्पक समाधिके अभ्याससे बाधित हो चुका हो, कुछ कुछ बाहरकी ओर प्रतिभासरूपसे निकल सकता हो तथा भीतरसे मर गया हो ॥ २१ ॥

हे निष्पाप रामजी, ज्ञानसे चित्तका विनाश हो जानेपर बची हुई सङ्कल्परूपी कलङ्कसे निर्मुक्त विशुद्ध ब्रह्मचितिमें बैठकर आप कुछ कीजिये या न कीजिये—दोनों एक-से हैं ॥ २२ ॥

जागते हुए, व्यवहार करते हुए या जाते हुए भी आप सोये हुए पुरुषके सदृश वृत्तिके कारण न तो अभीष्टका ग्रहण करें या न अनिष्टका परिहार ही करें ॥ २३ ॥

जागरणकी अवस्थामें भी यदि आप सब प्रकारकी उपाधियोंका विलयकर सुषुप्ति अवस्थावाले हो जाते हैं; तो सुषुप्ति अवस्थामें भी आप जागरण अवस्थावाले ही हैं; क्योंकि अज्ञान आवरण उस समय रहेगा ही नहीं । जागरण और सुषुप्तिको अलग करनेवाले अज्ञान और अज्ञानकार्यका बाध हो जानेपर ये दोनों अवस्थाएँ एक हो जाती हैं और एकता हो जानेपर जो सन्मात्ररूप बच जायगा, वही निर्विकार सन्मात्र-स्वरूप आप हैं ॥ २४ ॥

इस तरह धीरे-धीरे अभ्यासके द्वारा आप आदि-अन्तसे रहित ऐसा पद प्राप्त कीजिए, जो समस्त शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित तथा सब वस्तुओंसे परे है ॥ २५ ॥

न च द्वैतं न चैवैक्यं जगदित्येव निश्चयी ।
परमामेहि विश्रान्तिमाकाशविशदाशयः ॥ २६ ॥

श्रीराम उवाच

यद्येवं मुनिशार्दूल तदहंप्रत्ययात्मकः ।
भवानेवेह किं तावद्वसिष्ठाख्यः स्थितो वद ॥ २७ ॥

वाल्मीकिरुवाच

राघवे गदति त्वेवं वसिष्ठो वदतां वरः ।
तूष्णीमेव मुहूर्तार्द्धमतिष्ठत्स्पष्टचेष्टितः ॥ २८ ॥
तस्मिन्तूष्णीं स्थिते किं स्यादिति सभ्ये महाजने ।
पतिते संशयाम्भोधौ रामः पुनरुवाच ह ॥ २९ ॥

न तो द्वैतात्मक जगत् है और न एकात्मक ही जगत् है, इस तरहके निश्चयसे युक्त होकर आप आकाशके सदृश विशद आशय (मन) वाले होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कीजिए ॥ २६ ॥

समस्त द्वैतका अपलाप हो जानेपर तो आपका भी अहङ्कार (वसिष्ठजीका अहम्भाव) रहेगा नहीं, इस स्थितिमें आपके वक्तापन आदि व्यवहार कैसे, इस आशयसे श्रीरामभद्र पूछते हैं—'यद्येवम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिशार्दूल गुरुवर, यदि ऐसी बात है, तो अहम्भावरूप वसिष्ठनामके आप ही यहां स्थित हैं क्या ? यानी आपके व्यवहार कैसे, यह कहिये, क्योंकि द्वैतके अपलापसे आपमें भी अहम्भाव तो रहा नहीं ॥ २७ ॥

वसिष्ठजीको तो अहम्भाव आदि हैं ही नहीं, परन्तु हमारी और श्रोताओंकी अज्ञान-दृष्टिके ही कारण उन्होंने उसका अवलम्बन किया था, जब सबको तत्त्वज्ञान हो चुका तब तो मेरे प्रश्नका मौन ही उत्तर है, इस आशयसे वसिष्ठजीकी चुपचाप स्थिति कहते हैं—'राघवे' इत्यादिसे ।

वाल्मीकि मुनिने कहा—जब श्रीरामजीने ऐसा प्रश्न किया, तब वक्ताओंमें अग्रणी महाराज वसिष्ठजी आधे मुहूर्ततक चुपचाप स्थित रहे । उनकी ऐसी चेष्टा स्पष्ट विदित हो रही थी ॥ २८ ॥

महाराज वसिष्ठजी तो मौन धारणकर स्थित रहे और इधर सभ्य महाजन अब क्या होगा, इस संशय-सागरमें पड़ गये, यह देखकर श्रीरामभद्र फिर कहने लगे ॥ २९ ॥

किमर्थं भगवन्स्तूष्णीं भवानहमिव स्थितः ।
न सोऽस्ति जगतां न्यायः सतां यो नोत्तरक्षमः ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

न मे वक्तुमशक्तत्वाद्युक्तिक्षय उपस्थितः ।
किन्तु प्रश्नस्य कोट्यास्य तूष्णीमेवाऽनघोत्तरम् ॥ ३१ ॥
द्विविधो भवति प्रष्टा तत्त्वज्ञोऽज्ञोऽथवापि च ।
अज्ञस्याऽज्ञतया देयो ज्ञस्य तु ज्ञतयोत्तरः ॥ ३२ ॥
एतावन्तमभूत्कालं भवानज्ञाततत्पदः ।
भाजनं सविकल्पानामुत्तराणां महामते ॥ ३३ ॥
तत्त्वज्ञस्त्वधुना जातो विश्रान्तः परमे पदे ।
योग्यो न सविकल्पानामुत्तराणामसि स्फुटम् ॥ ३४ ॥
यावान्कश्चित्किलोल्लेखो वाङ्मयो वदतां वर ।
सूक्ष्मार्थः परमार्थो वा बहुरल्पतरोऽपि वा ॥ ३५ ॥

अब गुरुजीके पास उत्तर देनेकी युक्ति रही ही नहीं, यों मान रहे श्रीरामभद्र कहते हैं—'किमर्थम्' इत्यादिसे ।

भगवन्, मेरे-जैसे आप चुपचाप क्यों स्थित हैं ? जगत्में शिष्योंका ऐसा कोई तर्क ही नहीं है, जो विद्वान् गुरुओंके लिए उत्तरयोग्य न हो ॥ ३० ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे अनघ, मुझमें कहनेकी शक्ति नहीं है, इसलिए उत्तर-युक्ति न रही, यह बात नहीं है, किन्तु यह प्रश्न चरम सीमाका होनेके कारण चुपचाप स्थित रहना ही इसका उत्तर है ॥ ३१ ॥

प्रश्नकी चरम सीमा बतलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'द्विविधो' इत्यादिसे ।

भद्र, प्रश्नकर्ता दो तरहके होते हैं—एक तो तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी । इनमें अज्ञानी प्रश्नकर्ताको अज्ञ बनकर उत्तर देना पड़ता है और ज्ञानीको ज्ञानी बनकर ॥ ३२ ॥

हे महामते, इतने समयतक तो आप तत्पदको (ब्रह्मात्माको) जानते ही नहीं थे, इसलिए आप सविकल्पक उत्तरोंके ही पात्र रहे ॥ ३३ ॥

अब तो आप तत्त्वज्ञ बन गये और परम पदमें स्थिति भी आपने प्राप्त कर ली, इसलिए स्पष्ट है कि विकल्पवाले उत्तरोंके योग्य नहीं रहे ॥ ३४ ॥

हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यह जितना वाणीरूप भाषण है, वह चाहे

प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यातीतादिभिर्भ्रमैः ।
स च सर्वोऽन्वितः साधो भा इव त्रसरेणुभिः ॥ ३६ ॥
उत्तरं सकलङ्कं च तज्ज्ञो नार्हति सुन्दर ।
नाकलङ्का च वागस्ति त्वं च तज्ज्ञतरः स्थितः ॥ ३७ ॥
यथाभूतं च वक्तव्यं ज्ञस्याऽन्तेवासिनो मया ।
यथाभूतं विदुः काष्ठमौनमन्तविवर्जितम् ॥ ३८ ॥
अविचारात्ससङ्कल्पं मौनमाहुः परं पदम् ।
तदेव तव तज्ज्ञस्य दत्तः सुन्दर उत्तरः ॥ ३९ ॥
यन्मयो हि भवत्यङ्ग पुरुषो वक्ति तादृशम् ।
ज्ञेयमात्रमयश्चाहं वागतीते पदे स्थितः ॥ ४० ॥

सूक्ष्म अर्थवाला हो, चाहे परम अर्थवाला हो, चाहे थोड़ा हो अथवा अधिक हो, परन्तु हे साधो, वह सब प्रतियोगी, भेद, संख्या, मुख्यभूत अर्थ, साधन, बाधन, बोध, प्रमाण आदिकी कल्पनाओंसे ऐसे मिला-जुला रहता है, जैसे जालोंके अन्दर सूर्य किरणें त्रसरेणुओंसे (सूक्ष्म रजकणोंसे) मिली-जुली रहती है ॥ ३५,३६ ॥

हे मनोरम, जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसके लिए कलङ्कपूर्ण उत्तर होता नहीं, क्योंकि जितनी वाणियाँ हैं, वे सब कलङ्कपूर्ण ही हैं, आप तो तत्त्वज्ञ बनकर स्थित हैं ॥ ३७ ॥

हे भद्र, ज्ञानी शिष्यके सम्मुख मुझे जो यथावत् सत्य है, उसे ही कहना चाहिए, परन्तु समस्त कलङ्कोंसे निर्मुक्त यथावत् सत्य तो काठकी तरह मौन ही है ॥ ३८ ॥

भद्र, जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञानके पूर्व अज्ञानसे उपदेशवाणीके योग्य है, वह कल्पनाकर ससङ्कल्प बनता है यानी वाणीके व्यवहाररूप सङ्कल्पका विषय हो जाता है और विचारसे ज्ञात हो जानेपर मौन यानी वाणीका अविषय हो जाता है, यों विद्वानोंका निश्चय है, इसलिए तत्त्वज्ञानी हुए आपको अब यह मौन ही मैंने सुन्दर उत्तर दिया ॥ ३९ ॥

हे प्रिय, वक्ता पुरुष जिस रूपका होता है, उसी रूपका कथन करता है, मैं तो तत्त्वसाक्षात्कारसे बाधित होनेवाली जो वस्तु (भ्रमरूप) है, तन्मय बनकर वाणीसे परे परमपदमें स्थित हूँ ॥ ४० ॥

वागतीतपदस्थोऽहि कथं गृह्णाति वाङ्मलम् ।
अवाच्यं वच्मि नो तेन वाग्घि सङ्कल्पनाङ्किता ॥ ४१ ॥

श्रीराम उवाच

वाचि ये ये प्रवर्तन्तेताननादृत्य दोषकान् ।
प्रतियोगिव्यवच्छेदिपूर्वकान् वद को भवान् ॥ ४२ ॥

वसिष्ठ उवाच

एवं स्थिते राघव हे यथाभूतमिदं शृणु ।
कस्त्वं कोऽहं जगद्वा किमिति तत्त्वविदां वर ॥ ४३ ॥
अहं तावदयं तात चिदाकाशो निरामयः ।
चेत्यसंवेद्यरहितः सर्वसङ्कल्पनातिगः ॥ ४४ ॥
स्वच्छं चिदाकाशमहं भवानाकाशमेव च ।
जगच्चाकाशमखिलं सर्वमाकाशमात्रकम् ॥ ४५ ॥
शुद्धज्ञानैकरूपात्मा शुद्धज्ञानमयात्मनि ।
अन्यसंविदृशोन्मुक्तः स्वान्यद्वक्तुं न वेद्म्यहम् ॥ ४६ ॥

जो वाणीसे अतीत पदमें बैठा है, वह वाणीरूप मलको कैसे ग्रहण करेगा ? इसलिए मैं अवाच्य (कहनेके अयोग्य) वस्तु नहीं कहता, क्योंकि वाणी सङ्कल्परूप कलङ्कसे युक्त ही रहती है ॥ ४१ ॥

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, वाणीमें जो-जो भिन्नता, विरोधिता आदिसे होनेवाले दोष प्रवृत्त होते हैं, उनका अनादरकर यानी उनमें तात्पर्य न रखकर भागत्यागलक्षणा द्वारा मुझसे कहिए कि आप कौन हैं ॥ ४२ ॥

हे राघव, हे तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ, जब आप भागत्यागलक्षणासे कुछ कहलानेके लिए उद्यत हैं, तब आप यथार्थरूपसे स्थित इस विषयको सुनिये कि आप कौन हैं ? मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है ॥ ४३ ॥

हे तात, जो 'अहम्' वस्तु है, वह यह निरामय (विकारशून्य) चैतन्याकाश ही है। वह बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयोंसे रहित है और समस्त कल्पनाओंसे परे है ॥ ४४ ॥

मैं स्वच्छ चिदाकाशरूप हूँ, आप चिदाकाशरूप हैं और सम्पूर्ण यह जगत् भी आकाशरूप ही है, अधिक क्या कहें, समस्त केवल आकाश ही है ॥ ४५ ॥

विशुद्ध ज्ञानमय आत्मामें मैं विशुद्ध साक्षीरूप आत्मा ही हूँ, मुझमें

स्वपक्षोद्भावनपरा अहन्तात्मैकवर्द्धनम् ।
मोक्षार्थमप्युद्यमिनो नयन्ति शतशाखताम् ॥ ४७ ॥
जीवतोऽप्युपशान्तस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
शववद्यदवस्थानं तदाहुः परमं पदम् ॥ ४८ ॥
अबहिःसाधनं शान्तमनन्तं साधनं समम् ।
न सुखं नासुखं नाहं नान्यदित्यादि तं शिवम् ॥ ४९ ॥
सुक्तताया अहन्तेयमभावो भावनं क्व च ।
तथैवाऽन्विष्यते सेति जात्यन्धश्चित्रमीक्षते ॥ ५० ॥

भेदज्ञानकी दृष्टि ही नहीं है और न प्रत्यगात्मासे भिन्न कुछ अणुमात्र भी कहनेकी इच्छा रखता हूँ ॥ ४६ ॥

तब अज्ञानियोंको बोध देनेके लिए तथा प्रतिवादियोंपर विजय पानेके लिए निरहङ्कारी विद्वानोंकी प्रवृत्ति कैसे होगी, इसपर कहते हैं—'स्वपक्षो०' इत्यादिसे।

शिष्योंका सन्देह दूर करनेके लिए या प्रतिवादियोंपर विजय पानेके लिए उद्यमशील विद्वान् श्रुति, युक्ति आदि प्रमाणोंके द्वारा अपने पक्षके समर्थनमें तत्पर होकर बाधितका भी आहार्यारोप कर अहन्तारूप एक ही आत्माको बढ़ाते हैं और उसका अनेक शाखाओंमें विस्तार करते हैं, परन्तु अज्ञानीके सदृश मोहित नहीं होते ॥ ४७ ॥

इतनी बातसे विद्वानोंका पाण्डित्य बतलाना ही परमपद है, यह नहीं जानना चाहिए, किन्तु कोई दूसरा ही है, यह कहते हैं—'जीवतः' इत्यादिसे।

यद्यपि जी रहा है और यद्यपि व्यवहार भी कर रहा है, तथापि परम शान्तिरूप पदमें विश्रान्त पुरुषकी मुर्देके सदृश जो स्थिति है, वही परमपद कहलाती है ॥ ४८ ॥

परमपदका ही विशेषरूपसे वर्णन करते हैं—'अबहिः' इत्यादिसे।

भद्र, जो बाहरके साधनोंसे निर्मुक्त है, जो अन्दरके साधनोंसे शून्य है, जो कर्तापन एवं भोक्तापनसे रहित है, जो सुखरूप नहीं है, जो दुःखरूप नहीं है, जो अन्यरूप नहीं है, जो शान्त और सम है तथा जो सबका आदि है, वही स्वप्रकाश-निरतिशय आनन्दरूप शिवपद है ॥ ४९ ॥

परमपदको स्वप्रकाशस्वरूप क्यों मानना चाहिए, उसे विषयसुखके सदृश

स्पन्दनेऽस्पन्दने चैव यत्पाषाणवदासितम् ।
अजडस्यैव तद्विद्धि निर्वाणमजरं पदम् ॥ ५१ ॥
तच्च नान्यो विजानाति स्वयमेवानुभूयते ।
लोकैषणाविरक्तेन ज्ञेन ज्ञत्वमिवात्मनि ॥ ५२ ॥
तत्राऽहन्ता न च त्वत्ता नानहन्ता न चाऽन्यता ।
केवलं केवलीभावो निर्वाणममलं शिवम् ॥ ५३ ॥

भोग्य ही क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—'मुक्ततायाः' इत्यादिसे ।

यह जो अहम्भाव है, वह मुक्तिका अभाव है अर्थात् मुक्तिका पूर्वकालिक अभाव है । इसलिए अहम्भावसे मुक्तिकी भावना कहाँ होगी ? अभावसे किसी प्रतियोगीका अनुभव तो हो नहीं सकता । मुक्तरूपता द्वारा भी मुक्तिकी भावना नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्तरूपता और मुक्ति तो एक ही है, इसलिए दोनों पक्षोंमें जन्मान्ध पुरुष चित्र देखता है, यही न्याय आ जाता है ॥ ५० ॥

वृक्ष, मृग आदिमें चहल-पहल हो या न हो, पर पर्वतकी शिला निश्चल स्थित होनेसे जैसे जड़ है, वैसे ही अहङ्कार प्राण आदिमें चहल-पहल हो या न हो, पर परमपद निश्चल स्थित है, अतः उसे जड़ क्यों न माना जाय, इसपर कहते हैं—'स्पन्दने' इत्यादिसे ।

अहङ्कारादिका स्पन्दन (चहल-पहल) या अस्पन्दन होनेपर भी जो पाषाणके सदृश जिसका निश्चल अवस्थान है, वह अजड़का ही है, जड़का नहीं है, यह आप जानिए । वही परमपद, अजर (क्षीणता आदि दोषोंसे रहित) मोक्ष है ॥ ५१ ॥

अतः अन्तिम स्थितिमें वह स्वप्रकाशरूप ही फलित होता है, यह कहते हैं—'तच्च' इत्यादिसे ।

जैसे लौकिक आत्मामें प्रसिद्ध ज्ञातापन लोकैषणावर्जित ज्ञातापुरुषके द्वारा स्वयं ही अनुभूत होता है, वैसे ही परमप्रकाशरूप निर्वाणपद स्वतः ही अनुभूत होता है, दूसरे द्वारा नहीं ॥ ५२ ॥

वहाँपर (परमपदमें) न अहन्ता है, न त्वत्ता है, न अहन्ताका अभाव है, न अन्यरूपता है । वह निर्वाणपद केवल विशुद्ध शिवरूप कैवल्य ही है ॥ ५३ ॥

चेत्योन्मुखत्वमेवाऽऽहुश्चेतनस्याऽस्य चेतनम् ।
एष एव च संसारो बन्धः क्लेशाय भूयसे ॥ ५४ ॥
चेतनस्याऽचेतनत्वमचेत्योन्मुखतात्मकम् ।
मोक्षं विद्धि परं शान्तं पदमव्ययमेव च ॥ ५५ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने शान्ते शान्तात्मनि स्थिते ।
चेत्यं न सम्भवत्येव कः किं चेतयते कथम् ॥ ५६ ॥
सङ्कल्पः स्वप्नदृश्येऽन्तः संविन्मात्रात्मतां विना ।
यथाऽन्यवज्जडवद्रूपास्तथैवाऽस्मिन् बहिर्गते ॥ ५७ ॥

उसका दूसरेसे प्रकाश होना ही संसार है, यह कहते हैं—'चेत्योन्मुख०' इत्यादिसे ।

इस चेतनका यानी निर्वाणरूप स्वप्रकाशपदका विषयोंकी ओर झुक जाना ही परप्रकाश (विषयसम्बन्धरूप क्रिया) कहा गया है और यही संसार है, यह भयानक महान् कष्टको देनेवाला बन्धन है ॥ ५४ ॥

विषयसम्बन्धके अभावसे प्राप्त अचेतनता तो मोक्षमें इष्ट ही है, यह कहते हैं—'चेतनस्या०' इत्यादिसे ।

चेतनकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति न होना ही अचेतनता है, इसीको आप मोक्ष जानिए । मोक्ष ही अविनाशी शान्त परमपद है ॥ ५५ ॥

मोक्षमें विषयोंकी स्थितिका निवारण करते हैं—'दिक्काला०' इत्यादिसे ।

भद्र, देश, काल आदिसे अपरिच्छिन्न, शान्तस्वरूप ही जब मोक्ष स्थित है, तब उस शान्तरूपमें चेत्यकी सम्भावना ही नहीं हो सकती, ऐसी स्थितिमें कौन किसका, किस तरह प्रकाश करेगा ॥ ५६ ॥

इस तरह केवल अन्तर्मुखतामात्रसे स्वतःसिद्ध मुक्तिका उपपादन कर अब बहिर्मुखतामात्रसे ही जगत्का विस्तार होता है, इसका उपपादन करते हैं—'सङ्कल्पः' इत्यादिसे ।

हे श्रोतृगण भूपसमूह, जैसे स्वप्नके संसारमें चेतनगत तत्-तत् वासनानुसारी सङ्कल्प चेतनरूप होता हुआ भी चेतनरूपताका परित्याग कर चेतनभिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही यह आत्मा जब बहिर्मुख होता है, तब वही प्रपञ्चरूप होकर अन्य जड़के सदृश भासने लग जाता है ॥ ५७ ॥

मनोबुद्ध्यादयश्चैते संविन्मात्रानुरूपिणः ।
मनोबुद्ध्यादिशब्दार्थभाविवास्तु जडात्मकाः ॥ ५८ ॥
संविन्मात्रे समे स्वच्छे सबाह्याभ्यन्तरे तते ।
अभिन्ने भेदबुद्धिर्वा किमनर्थाय जृम्भते ॥ ५९ ॥
संविन्मात्रस्य शुद्धस्य शून्यस्य च किमन्तरम् ।
यच्चान्तरं तद्विबुधा विदन्त्येति न वाग्गतिम् ॥ ६० ॥
सदसद्रूप आभासो यथा किमपि लक्ष्यते ।
तमसीक्षितयत्नेन ब्रह्मणीदं तथा जगत् ॥ ६१ ॥

इसी तरह ये जो मन, बुद्धि, अहंकार आदि हैं, वे सब अन्तर्मुखदशामें चेतनरूप हैं और मन, बुद्धि आदि शब्दार्थोंमें भावना करनेपर यानी बहिर्मुख-दशामें चेतनभिन्न जड़रूप हैं ॥ ५८ ॥

इसी रीतिसे आन्तर और बाह्य जितना जगत् है, वह सब चैतन्यैकरस ही सिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थितिमें चितिकी बहिर्मुखतारूप जो भेदबुद्धि है, वही केवल व्यर्थ और अनर्थकी हेतु है, इसे कहते हैं—'संविन्मात्रे' इत्यादिसे ।

यह विस्तृत जितना बाह्य-आभ्यन्तर जगत् है, वह सब सम, स्वच्छ एवं अभिन्न संविद्रूप ही है, इसमें जो भेदबुद्धि की जाती है, वह अनर्थके लिए ही विकसित होती है ॥ ५८ ॥

समस्त दृश्योंका विनाश हो जानेपर अन्तमें बच जानेवाला संविन्मात्रस्वरूप जो आत्मा है, वह शून्यरूप नहीं है, किन्तु निरतिशयानन्दरूप ही है, यह विद्वानोंका अनुभव है, यह कहते हैं—'संविन्मात्रस्य' इत्यादिसे ।

अन्तमें अवशिष्ट विशुद्ध संविन्मात्रस्वरूप आत्मामें और शून्यमें क्या अन्तर है, यह हम लोग नहीं जान सकते । जो अन्तर है, उसे तो विद्वान् कहते हैं कि वह वाणीका विषय नहीं है, स्वानुभववेद्य है अर्थात् निरतिशया-नन्दरूप है, उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ॥ ६० ॥

तब विवेकियोंकी यौक्तिक दृष्टिसे जगत् कैसा है ? इसे कहते हैं—'सदसद्रूपः' इत्यादिसे ।

जैसे आँखके प्रणिधानरूप (एकाग्रता) प्रयत्नसे अन्धकारमें कुछ सद्-असद्रूप आभास दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्ममें जो आभास दिखाई देता है, वह आभास ही यह जगत है ॥ ६१ ॥

अयमाकाशमेवाऽहं यदि शाम्याम्यवासनम् ।
वासनां तु न बध्नासि स्थित एवाऽसि चिन्नभः ॥ ६२ ॥
इति निश्चयवानन्यस्तज्ज्ञोऽज्ञ इव संज्ञया ।
चिद्वपुर्विद्यमानोऽपि शाम्यत्यसदिव स्वयम् ॥ ६३ ॥
जीवानां ज्ञप्तिगुप्तेन ज्वलन्नज्ञानवायुना ।
अविद्याग्निः प्रबुद्धानां पुनस्तेनैव शाम्यति ॥ ६४ ॥
अजडानां यदज्ञानं स्थाणूनामिव शाम्यताम् ।
तमाहुर्मोक्षमक्षुब्धमासितं पदमक्षयम् ॥ ६५ ॥

यह मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकार निश्चयकर वासनानिर्मुक्त हो उत्तमशान्तिसे सम्पन्न हो गया हूँ। आप भी यदि वासनाको कहीं न बाँध लें, तो चिदाकाशरूप ही होकर स्थित हैं ॥ ६२ ॥

यह चिदाकाशरूप ही मैं हूँ, इस प्रकारके निश्चयसे युक्त जो भी दूसरा पुरुष है वह तत्त्वज्ञ ही है। वह व्यवहारसे अज्ञानीके सदृश विद्यमान होता हुआ भी चैतन्यस्वरूप ही है और देहादिकी स्थिति होनेपर भी उन्हें असत्-सा मानकर स्वयं शान्त ही रहता है ॥ ६३ ॥

क्या जीवोंकी अविद्याको चिदात्मा नष्ट कर देता है या जड़? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि चिदात्मा तो अविद्याका साधक है, इसलिए उससे विरोध ही नहीं। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारा जड़ अविद्याका कार्य है, इसलिए अविद्याका जड़ भी विरोधी नहीं है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'जीवानाम्' इत्यादिसे।

मैं अज्ञानी हूँ, इस प्रकारका साक्षी ज्ञान ही अज्ञानकी सिद्धि करता है। यद्यपि जीवोंकी संसाररूप अविद्यात्मक अग्नि 'मैं संसारी हूँ' इस तरहके साक्षि-ज्ञानसे रक्षित अज्ञानरूप वायुसे जलती रहती है तथापि 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस तरहके प्रबुद्ध जीवोंकी अन्तिम साक्षात्कार वृत्तिरूपमें परिणत साक्षि-रक्षित अज्ञान-वायुसे मानो नष्ट हो जाती है, तीसरे किसीकी अपेक्षा नहीं करती ॥ ६४ ॥

क्या मुक्त पुरुष जगत्को जानते हैं या नहीं? यदि जानते हैं, तो संसारी और मुक्त दोनोंमें कोई विशेष नहीं रहा। दूसरे पक्षमें यानी नहीं जानते हैं, इस पक्षमें तो एक आत्माके अज्ञानका परिहार करते हुए आपने जगत्के अनन्त

ज्ञत्वेन ज्ञत्वमासाद्य मुनिर्भवति मानवः ।
अज्ञत्वादज्ञतामेत्य प्रयाति पशुवृक्षताम् ॥ ६६ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेदमित्यविद्यामयो भ्रमः ।
असत्यः प्रेक्षया ध्वान्तं दीपेनेव न लभ्यते ॥ ६७ ॥
समग्रकरणग्रामोऽप्यसङ्कल्पो विवेदनः ।
न किञ्चिदप्यनुभवत्यन्तर्बाह्ये च शान्तधीः ॥ ६८ ॥

अज्ञान स्वीकृत कर लिये । सूखे काठके-जैसे स्थित उन पुरुषोंमें मुक्तत्व ही कैसा ? इसपर कहते हैं—'अजडानाम्' इत्यादिसे ।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्द आत्माके स्वरूपभूत हुए उन मुक्त पुरुषोंकी सांसारिक ज्ञानोंसे रहित दुःखरूप क्षोभसे शून्य जो स्थिति है वही मोक्ष है और वही अविनाशी पद है । इनमें अनन्त अज्ञानोंकी आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि एक हीके विज्ञानसे सभीका ज्ञान हो जानेके कारण उनमें किसी तरहके अज्ञानकी प्राप्ति ही नहीं है । अपि च, भ्रमात्मक ज्ञानका अभाव भी आत्मरूप ही है, इसलिए उसमें तत्त्वज्ञानसे कोई विलक्षणता ही नहीं रही ॥ ६५ ॥

किञ्च, जब मूलाज्ञान रहता है तभी उसके बलसे बाह्य अर्थोंके अज्ञान मूर्खताके सम्पादक होते हैं । मूलाज्ञानका नाश हो जानेपर तो बाह्य अर्थोंके अज्ञान मुनित्वके सम्पादक हो जाते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'ज्ञत्वेन' इत्यादि ।

आत्मज्ञानके द्वारा सांसारिक पदार्थोंका अज्ञान प्राप्तकर पुरुष मुनि बन जाता है, परन्तु आत्माके अज्ञान द्वारा सांसारिक पदार्थोंका अज्ञान प्राप्तकर पुरुष पशु तथा वृक्ष बन जाता है ॥ ६६ ॥

किञ्च, ब्रह्मज्ञान और जगद्भ्रम सभी अज्ञानरूप ही हैं, परन्तु अज्ञाननिवृत्ति तो अज्ञान नहीं है, जिससे मुक्ति न हो, इस आशयसे कहते हैं—'अहम्' इत्यादि ।

'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारका ब्रह्मज्ञान तथा यह जगत् सब अविद्यामय असत्य भ्रम है । यह ब्रह्माकार अखण्डवृत्तिसे, दीपकसे अन्धकारकी नाईं, निकल जाता है ॥ ६७ ॥

तब जीवन्मुक्तोंकी मुक्तता ही न रही, क्योंकि उन्हें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे

सुषुप्तत्व इव स्वप्नः समाधौ प्रविलीयते ।
दृश्यं सर्वं ज्ञबोधेऽन्तः पुनः स्वात्मैव लक्ष्यते ॥ ६९ ॥
नीलत्वं च यथा व्योम्नि तथा पृथ्व्यादिता शिवे ।
भ्रान्तिमात्रादृते नान्यद्यथा व्योम तथा शिवः ॥ ७० ॥
वासनाभिरुपेतोऽपि समस्ताभिरवासनः ।
भवत्यसावसत्सर्वमिदमित्येव यस्य धीः ॥ ७१ ॥
सङ्कल्पेष्वद्भुतं भव्य स्वप्नमायेन्द्रजालकम् ।
यद्वत्संस्तुतयस्तद्वद् दृष्टेऽप्यास्था किमत्र वै ॥ ७२ ॥

बाह्य पदार्थोंका विज्ञान होता है, यही दृष्ट है, इसपर कहते हैं—'समग्र०' इत्यादिसे ।

जो तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष है उसकी समस्त इन्द्रियाँ हैं पर वे सङ्कल्प-शून्य हैं और सविकल्पक ज्ञानसे रहित हैं । इसलिए शान्तबुद्धि यह महात्मा बाह्य और आन्तर किसीका अनुभव नहीं करता । जिस तरह सुषुप्ति अवस्थामें स्वप्नका विलय हो जाता है उसी तरह तत्त्वज्ञान होनेपर समाधिमें समस्त दृश्य विलीन हो जाता है और भीतर केवल आत्मा ही लक्षित होता है ॥ ६९ ॥

समस्त दृश्य क्यों विलीन हो जाता है, इस प्रश्नपर वे भ्रान्तिरूप हैं, यह उत्तर देते हैं—'नीलत्वम्' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें नीलरूप विलीन हो जाता है वैसे ही पृथिवी आदिरूप समस्त दृश्य आत्मामें विलीन हो जाता है । जैसे आकाशमें नीलरूप केवल भ्रान्ति छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है उसी तरह आत्मामें पृथिवी आदिरूप भ्रान्ति छोड़कर और कुछ नहीं है, इसलिए नीलरूप जैसे आकाश है वैसे ही पृथिवी आदिरूपके प्रति आत्मा है ॥ ७० ॥

अतएव बाधित अर्थकी वासना वासना ही नहीं है, ऐसी स्थितिमें ज्ञानी वासनारहित ही है, यह कहते हैं—'वासनाभिः' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषको यह बुद्धि रहती है कि यह सब असत् ही है वह वासनासे युक्त होता हुआ भी समस्त वासनाओंसे रहित ही है ॥ ७१ ॥

चित्र-विचित्र भुवन, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी ; विहित निषिद्ध अनेक कर्म ; एवं विहित निषिद्ध कर्मफलोंकी भोगस्थिति तथा ईश्वर—इन सबका जहाँपर

न दुःखमस्ति न सुखं न पुण्यं न च पातकम् ।
न किञ्चित्कस्यचिन्नष्टं कर्तुर्भोक्तुरसम्भवात् ॥ ७३ ॥
सर्वं शून्यं निरालम्बं ममताप्रत्ययोऽप्ययम् ।
द्विचन्द्रस्वप्नपुरवद्यस्यासौ सोऽपि नास्ति नः ॥ ७४ ॥
केवलो व्यवहारस्थः काष्ठमौनगतोऽथवा ।
काष्ठपाषाणवत्तिष्ठन् ब्रह्मतामधिगच्छति ॥ ७५ ॥
शान्तत्वे चित्तत्वे नानानानात्मनीह शिवे ।
अवयविनोऽवयवित्वे त्विह युक्तिर्विद्यते नान्या ॥ ७६ ॥

अस्तित्व है ऐसे इस अद्भुत जगत्को आप कैसे असत्, अनृत और सङ्कल्पस्वरूप पूर्वोक्त युक्तियोंसे मानकर खण्डित करते हैं ? सङ्कल्प, मनोरथ आदि स्थलोंमें तो उस तरहके पदार्थ हैं नहीं, ऐसी आशङ्काकर वहाँपर भी (सङ्कल्प आदि स्थलोंमें भी) अद्भुत अर्थसत्ताका दिग्दर्शन कराते हैं—'सङ्कल्पेष्व०' इत्यादिसे ।

हे भव्य श्रीरामजी, सङ्कल्पजनित पदार्थोंमें स्वप्न, माया, इन्द्रजाल जैसे चित्रविचित्र अद्भुत अर्थ विद्यमान हैं, वैसे ही ये सब संसार अद्भुत ही हैं। प्रत्यक्षतः दिखाई देनेवाले स्वप्न आदि अर्थोंमें क्या आस्था बाँधकर बैठे रहना अच्छा है ? एवं संसारमें भी आस्था बाँधकर बैठे रहना क्या अच्छा है ? ॥७२॥

जब आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी सत्ता हो, तब तो समस्त सुख-दुःखके भोगके लिए पुण्य-पापकी व्यवस्था हो सकती है । आत्मामें जब कर्तृत्व-भोक्तृत्वका संभव ही नहीं, तब पुण्य-पापकी व्यवस्था ही क्या ? इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

कर्तृत्व और भोक्तृत्वका ही जब आत्मामें असम्भव है तब न दुःख है, न सुख है, न पुण्य है, न पाप है और न किसीका कुछ बिगड़ा ही है ॥ ७३ ॥

जिस अहङ्कारमें हम लोगोंको यह ममताबुद्धि होती है उसका भी कहीं अस्तित्व नहीं है । इसलिए समस्त शून्यरूप अवलम्बनरहित एवं दो चन्द्रमा या स्वप्ननगरके सदृश मिथ्या है ॥ ७४ ॥

भद्र, समस्त द्वैतसे शून्य तत्त्ववित् पुरुष चाहे व्यवहारमें रहे या काष्ठ-पाषाणके सदृश निश्चल होकर समाधिमें स्थित रहते हुए चाहे लकड़ीके सदृश मौन धारण करे । सभी स्थितिमें वह ब्रह्मरूपता प्राप्त करता ही है ॥ ७५ ॥

इस तरह मायिक विवर्तवादके सिद्धान्तको लेकर आरोपित जगत्के

अर्थागतस्वभावस्य च नैव च सम्भवादमले ।
एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि नास्ति स्वभावोक्तिः ॥ ७७ ॥

अपवादसे तत्त्ववित् पुरुषकी परम पुरुषार्थमें निष्ठा बतलाई, परन्तु दूसरे तार्किक जो जुदे-जुदे सिद्धान्तकी कल्पना करते हैं उनके पास जगत्के उत्पत्ति आदि व्यवहारमें एवं परम पुरुषार्थरूप परमार्थमें कोई युक्ति नहीं है, यह कहते हैं—'शान्तत्वे' इत्यादिसे ।

भद्र, यह शिवस्वरूप जो अन्तरात्मा है वह प्राण, बुद्धि, मन, देह आदिके साथ एकरूप बनकर अनेकरूप भिन्नस्वभाव तथा संसारके अनेक अर्थोंसे आक्रान्त प्रत्यक्षतः दिखाई देता है, इस आत्मामें दिखाई दे रही अनेकरूपता, भिन्न-स्वभावता आदिका निराकरणकर दुःखरहित निरतिशय अद्वितीय आत्मामें आनन्दरूपता बचानी है । इसमें अध्यारोपापवादप्रणालीको छोड़कर दूसरी कोई युक्ति है नहीं । अपि च, कल्याणरूप अन्तरात्माको सदा शान्तस्वरूप माना जाय, तो भी निर्विकार अन्तरात्माका—संचलन एवं परिच्छिन्न स्वभावयुक्त चित्त-स्वरूपता धारणकर देह, इन्द्रिय आदि अनेक-अनेक तरहके भावों द्वारा—जो संसारमें आना है, इसमें अध्यारोपापवादप्रणालीको छोड़कर किसीके पास और कोई युक्ति नहीं है । अपि च, इन सब बातोंको सिद्ध करनेके लिए आत्माको परिच्छिन्न, परिणामी एवं सावयव मान लिया जाय, तो भी इस आत्माको जिन अवयवोंको लेकर सावयव स्वीकार करेंगे, इसमें कोई युक्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि यदि अवयवोंको चेतनरूप मानेंगे, तो कभी उनका एकमत न होगा, ऐसी स्थितिमें अवयवोंका विच्छेद हो जानेके कारण अवयवीका विनाश ही प्राप्त है । यदि अवयवोंको जड़ मानेंगे, तो अवयवी भी जड़ हो जायगा । ऐसी स्थितिमें अनित्य आत्मा पूर्वके पुण्य-पापोंका भोग कैसे करेगा ? इसी तरह आत्माको जगत्का कारण मानकर शान्त एवं निर्विकार कोई मान ले, तो भी इसकी जगत् बनानेमें अनुकूल संकल्पात्मक चित्तरूपता आदिमें अध्यारोपापवादको छोड़कर और कौन-सी युक्ति हो सकती है ? इसलिए विवर्तदृष्टि ही एकमात्र सब वादियोंके लिए शरण है ॥ ७६ ॥

यद्यपि स्वभावतः आत्मा शान्त ही है तथापि प्रलयके बाद चित्तत्व, एकत्व, अनेकत्व, सावयवत्व आदि विलक्षण-विलक्षण धर्मोंसे युक्त पदार्थोंका आविर्भाव

न च नास्तिकोपलम्भात्संवित्तेरस्तिता च नैवाज्ञे ।
ग्राह्यग्राहकदृष्टेरसम्भवादस्ति किञ्चिदपि ॥ ७८ ॥

होगा ही, क्योंकि प्रलयके समय ब्रह्ममें सारे पदार्थ लीन होकर बैठे हैं; इसलिए उन पदार्थोंका अपना-अपना जो विचित्र स्वभाव है वह तो ब्रह्ममेंसे कहीं गया नहीं, इसपर कहते हैं—'अर्थागत०' इत्यादिसे ।

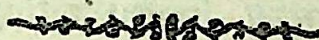
श्रीरामजी, अर्थोंकी विचित्रताका कारणभूत जो स्वभाव है वह परमात्मामें अर्थोंके कारण आया है या स्वतःसिद्ध है ? अर्थोंके कारण आया है, यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि दूसरे स्थानसे आनेवाले अन्याधीन धर्मको दूसरेका स्वभाव माना नहीं जा सकता । दूसरी बात यह है कि जो स्वभावतः असङ्ग और अद्वय है, ऐसे निर्मल परमात्मामें दूसरेका विचित्र स्वभावरूप मल किसी तरह सम्बद्ध हो ही नहीं सकता । अपि च, जितने ये पदार्थ हैं वे प्रलयकालमें स्वतन्त्ररूपसे अपना अस्तित्व नहीं रखते, जिससे कि प्रलयके बाद अपने-अपने स्वभावके बलसे ही चित्र-विचित्ररूपमें आविर्भूत हो सकें, इसलिए इस स्वभावको अनागन्तुक ही कहना चाहिए । परन्तु यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्षमें ब्रह्मके सर्वगत होनेके कारण सब पदार्थ सभी तरहकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण होने लगेंगे । ब्रह्मके सर्वगत होनेपर 'इस वस्तुका यही स्वभाव है' इसकी व्यवस्था करनेवाला कौन रहेगा ? प्रत्येक वस्तुमें सभी तरहकी विचित्रताओंको मान लेंगे, तो इस संसारसे विचित्रताका नाम ही उठ जायगा । सर्वसाधारण धर्ममें न तो विचित्रता रहती है और न वह किसीका पार्थक्यकारक ही होता है । ऐसी स्थितिमें सम्पूर्ण जगत्की एकरूपता हो जायगी ॥ ७७ ॥

सबके अनुभवपर चढ़ी हुई जगत्-विचित्रताका यदि युक्तिके अभावमें आप खण्डन करते हैं, तो ज्ञानका भी आप खण्डन क्यों नहीं करते, क्योंकि ज्ञेयके बिना ज्ञान तो कहीं होता नहीं । ऐसी स्थितिमें शून्यवाद ही आ गया, इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

विषयोंके खण्डनके प्रसङ्गमें जो पुरुष यह कहता है कि ज्ञानका भी अस्तित्व नहीं है, वह अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ज्ञानके अस्तित्वका खण्डन करनेवाला जो पुरुष है, वह अपने आपका ज्ञान रखता है, इसलिये ज्ञानकी सत्ता नहीं है, यह कैसे कह सकते हैं । अपि च, खण्डन करनेवाला पुरुष अपनेसे भिन्न ज्ञान

शममममलमहार्यमार्यजुष्टं
शिवमजमक्षयमासितं समं यत् ।
तदवितथपदं तदास्व शान्तं
पिब लल भुङ्क्ष्व भवानयं हि नास्ति ॥ ७९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे भावनाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥



और विषयका खण्डन करेगा, अपना तो करेगा नहीं, जब सभी ज्ञान उसीकी आत्मा है, तब स्वभिन्न विषयका खण्डन करते हुये वह ज्ञानको आखिर बचा ही लेता है । किञ्च, जो निषेध किया जाता है वह किसी आधारपर ही किया जाता है, निराधार निषेध नहीं किया जाता । इससे ज्ञान करनेवाला एवं जानने योग्य विषय दोनोंका स्वयंप्रकाश, ज्ञाता और ज्ञेयसे शून्य आधारभूत आत्मामें ही निषेध करना चाहिए, यही उसकी आत्मा है । ऐसी स्थितिमें अविनाशी स्वात्मामें ही ग्राह्य-ग्राहकदृष्टिके असम्भवप्रतिपादनमें पर्यवसानसे खण्डनकर्ताके मतमें समस्त प्रतिषेधोंके आधारभूत कोई अज वस्तु सिद्ध हो गई और यही वस्तु परब्रह्म है ॥ ७८ ॥

हे श्रीरामजी, आप ब्रह्मज्ञानियों द्वारा प्रेमपूर्वक सेवित तथा छोड़ने लायक नहीं जो अज, अविनाशी, कल्याणरूप, परमार्थसत्यभूत, नित्यसिद्ध, निर्मल, शान्त, सम शिव पद है, तद्रूप ही बनकर स्थित हो जाइये । व्यवहारमें साधारण जनोंके सदृश यद्यपि आप खाइये, पीजिये, खेलिये, तो भी आप मुक्त ही हैं, क्योंकि आपको दृश्य प्रपञ्चरूप बन्धन है ही नहीं ॥ ७९ ॥

उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त

त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अहन्तैव पराऽविद्या निर्वाणपदरोधिनी ।
तयैवान्विष्यते मूढैस्तदित्युन्मत्तचेष्टितम् ॥ १ ॥
अहन्तैवाऽलमज्ञानादज्ञत्वस्य निदर्शनम् ।
न हि तज्ज्ञस्य शान्तस्य ममाऽहमिति विद्यते ॥ २ ॥
अहन्तामलमुत्सृज्य निर्वाणः खमिवाऽमलः ।
सदेहमपदेहं वा ज्ञस्तिष्ठति गतज्वरः ॥ ३ ॥
न तथा शरदाकाशं न तथा स्तिमितोर्णवः ।
पूर्णेन्दुमध्यं न तथा यथा ज्ञः परिराजते ॥ ४ ॥

तीसवाँ सर्ग

[जिस दृष्टिसे अविद्याजनित नानात्वभ्रान्तिकी शान्ति द्वारा धीर पुरुष परमब्रह्ममें स्थिर हो जाता है, उस दृष्टिका वर्णन]

जबतक अहम्भाव परित्यक्त नहीं होता, तबतक ब्रह्मविचार भी नहीं हो सकता, फिर ब्रह्मलाभ तो दूर ही है, इस आशयसे कहते हैं—'अहन्तैव' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अहम्भाव ही सब अविद्याओंकी मूलभूत अविद्या है, यही मोक्षस्थानको आवृत करनेवाली है। जो मूढ पुरुष हैं, वे उसी अविद्यासे परमपदकी अन्वेषणा करते हैं, यही उनकी उन्मत्तोंकी-सी चेष्टा है ॥१॥

भद्र, जैसे धूमज्ञान अग्निज्ञानका हेतु पर्याप्त है, वैसे ही अज्ञानसे उत्पन्न अहन्ता ही अज्ञानकी सत्तामें हेतु पर्याप्त है, जो तत्त्वज्ञानी शान्तपुरुष है, उसे ममता या अहन्ता नहीं रहती ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, इस अहन्तारूपी मलका सर्वथा त्यागकर निर्मल हो चिदाकाशकी नाईं मोक्षस्वरूप ज्ञानी पुरुष सांसारिक सर्वविध सन्तापोंसे शून्य स्थित रहता है। चाहे वह सदेह रहे या बिना देहका ॥ ३ ॥

अहन्ताके दूर चले जानेसे ज्ञानी पुरुष निर्मल और विक्षेपशून्य परिपूर्ण हो जाता है, यह वर्णन करते हैं—'न तथा' इत्यादिसे।

जैसा अहन्तासे रहित ज्ञानीपुरुष सुशोभित होता है वैसा न तो शरत्कालका

चित्रसङ्गरयुद्धस्य सैन्यस्याऽक्षुब्धता यथा ।
तथैव समता ज्ञस्य व्यवहारवतोऽपि च ॥ ५ ॥
निर्वाणैकतया ज्ञस्य वासनैव न वासना ।
लेखादामोपमा स्वब्धेरूर्म्यादि न जलेतरत् ॥ ६ ॥
तरत्तरङ्गो जलधिर्जलमेव यथाऽखिलम् ।
दृश्योच्छूनमपि ब्रह्म तथा ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ७ ॥
अन्तस्तरङ्गतोऽक्षुब्धो बहिरस्तङ्गतः शमी ।
विद्यते चोदितो यस्य स मुक्त इति कथ्यते ॥ ८ ॥
अहन्त्वसर्गरूपेण संवित्संविन्मये परे ।
स्फुरत्यम्भोम्भसीवातो नानातेयं किमात्मिका ॥ ९ ॥

आकाश, न प्रशान्त सागर और न परिपूर्ण चन्द्रमाका मध्यभाग ही शोभित होता है ॥ ४ ॥

जैसे चित्रलिखित युद्धमें परस्पर प्रहार कर रही भी सेनाएँ क्षुब्ध-सी प्रतीत होनेपर भी अक्षुब्ध ही रहती है, वैसे ही व्यवहारमें निरत भी ज्ञानी पुरुषमें समता (अक्षुब्धता) ही रहती है ॥ ५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है उसकी वासना वासना ही नहीं है, क्योंकि वह निर्वाण-स्वरूप बन गया है । जैसे जले हुए वस्त्रमें तन्तुओंकी रेखाएँ प्रतीत होती हैं, परन्तु असलमें तन्तुओंकी रेखाएँ हैं ही नहीं, वैसे ही व्यवहारसे ज्ञानीमें अनुमित-वासना बाधित होनेके कारण वासनारूप नहीं है । जैसे समुद्रके तरङ्ग जलसे अन्य कुछ नहीं हैं वैसे ही परमात्मासे इतर कुछ भी नहीं है ॥ ६ ॥

जैसे तैर रहे तरङ्गोंसे युक्त समुद्र पूर्णरूपसे जल ही है, वैसे ही दृश्यसे वर्द्धित ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं ॥ ७ ॥

ज्ञानी पुरुषमें भीतर-बाहर सबकी वासनाएँ बाधित हो चुकी हैं, इसमें क्या प्रमाण ? इस शङ्कापर अक्षोभ, शम आदि ही प्रमाण हैं, इस आशयसे कहते हैं—'तरत्तरङ्गो' इत्यादि ।

जो पुरुष भीतरके मानसिक तरङ्गोंसे क्षुब्ध नहीं होता और बाहरके तरङ्गोंसे भी क्षुब्ध नहीं होता, जो शान्तिसे शोभित है और जो सदा प्रसन्न रहता है, वह मुक्त कहा जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञानस्वरूप अज्ञात आत्मामें अहन्ताकी सृष्टिके रूपसे ज्ञानरूप आत्मा ही

धूमस्य स्फुरतो व्योम्नि यथा गजरथादयः ।
व्यूहा धूमान्न ते भिन्नास्तथा सर्गाः परे पदे ॥ १० ॥
संविद्भ्रान्तिविचारेण भ्रान्त्यलाभविलासिनः ।
विजयध्वं विषादमागता ज्ञास्तज्ज्ञता हि वः ॥ ११ ॥
अङ्कुरोऽनुभवत्यन्तर्वृक्षपत्रफलं यथा ।
तथा जगदहन्त्वे ज्ञः स्वात्मखमप्यलम् ॥ १२ ॥
रूपालोकमनःसत्ताज्वालार्चिष्विव दण्डता ।
सत्योऽपि च न सन्त्येता भ्रान्तेश्चित्ताबला इव ॥ १३ ॥

ऐसे भासित होता है जैसे जलमें जल तरङ्गरूपसे भासित होता है, इसलिए इस अनेकताका रूप ही क्या ॥ ९ ॥

जैसे आकाशमें स्फुरित हो रहे नीहारधूम्रके हाथी, रथ आदि आकार दिखाई देते हैं, परन्तु वे आकार नीहारधूमसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमपदमें ये सर्ग भी हैं अर्थात् परमपदसे भिन्न यह सृष्टि नहीं है ॥ १० ॥

अब महाराज वसिष्ठजी सभी श्रोताओंको सम्बोधित कर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

हे उपस्थित विद्वानो, आप लोग किसी तरहका विषाद न करें, किन्तु मेरे कथनके अनुसार विषादके हेतु सम्पूर्ण प्रपञ्च संवितकी एकमात्र भ्रान्ति (विवर्त) है, यों विचारकर—भ्रान्ति और उसके विषयकी तत्त्वतः परीक्षा करनेपर निःस्वरूप सिद्ध होनेके कारण उनकी किसी तरह प्राप्ति न हो सकनेसे—विलसनशील होते हुए आप लोग सबके ऊपर अपना स्थान जमाइये । क्योंकि मेरे उपदेशसे सचमुच आप लोग वस्तुतत्त्वको जान गये हैं । तात्पर्य यह है कि आप लोगोंमें अब अज्ञता नहीं रही ॥ ११ ॥

किस तरहकी वह संविद्-भ्रान्ति अज्ञानियों द्वारा अनुभूत होती है, यह कहते हैं—'अङ्कुरो०' इत्यादिसे ।

जैसे अङ्कुर अपनी आत्मामें ही वासनात्मक वृक्ष, पत्र, फल आदिका अनुभव करता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष वस्तुतः आत्मस्वरूप होता हुआ भी आकाशके सदृश स्वच्छ और विशाल अपनी आत्माका जगत और अहङ्काररूपसे भलीभाँति अनुभव करता है ॥ १२ ॥

उसमें किस तरहका विचार होता है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

यथासुखं यथारम्भं यथानाशं यथोदयम् ।
यथादेशं यथाकालमजराः शान्तमास्यताम् ॥ १४ ॥
इष्टानिष्टोपलम्भेषु शान्तो व्यवहरन्नपि ।
शववन्नान्यतामन्तर्निर्वाणोऽनुभवत्यलम् ॥ १५ ॥
अमनोवासनाहन्ता धत्ते यच्च जगच्चिरम् ।
जीवतो जीवतश्चैव चिज्जीवः स परं पदम् ॥ १६ ॥
सत्तैव जडवाहेन दुःखभाराय केवलम् ।
नृणां पाशावबद्धानां पोतकानामिवार्णवे ॥ १७ ॥

बाह्य रूपालोककी सत्ता तथा आन्तरिक मनकी सत्ता ये सब अधिष्ठानरूपसे सत्य होती हुई भी अपने स्वरूपसे ऐसे सत्य नहीं हैं, जैसे भ्रमणशील हो रहे आलातकी ज्वालार्चिमें दण्डचक्रादिरूपता या विधुर पुरुषोंके चित्तमें कल्पित कामिनी महिलाएँ अपने स्वरूपसे सत्य नहीं हैं ॥ १३ ॥

इसलिए हे श्रोताओ, यह सारा संसार जैसे उत्पन्न होता है, जैसे स्थित है, जैसे अपने कार्योंका आरम्भ करता है, जैसे सुख-दुःखका अनुभव करता है, जैसे नष्ट होता है और जिस तरहके इसके देश-काल हैं—इन सब बातोंका उत्पत्ति-स्थिति आदि प्रकरणोंमें कही गई युक्तियोंसे निश्चय कर यानी ये सब मिथ्या हैं, यह निश्चय कर अजर होते हुए शान्तरूपसे आप लोग स्थित रहिये ॥ १४ ॥

इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए व्यवहार कर रहा भी मुक्त पुरुष मुर्देके सदृश अन्यताका अनुभव नहीं करता, किन्तु अपनी आत्मामें चित्तका समर्पण कर स्वस्वरूपका ही अनुभव करता है ॥ १५ ॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं उनकी अहन्ता मनोजनित वासनासे रहित ही है। वह अहन्ता देहनाश-पर्यन्त जो जगत् धारण करती है और उसका भोक्ता जबतक जीवन धारण करता है, वह सब चिद्रूप जीव ही है उसमें तनिक भी जड़ता नहीं है, यही परमपद है ॥ १६ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यही निकला कि जीव जगत्की जड़रूपसे सत्ता मान लेना ही अनर्थ है, इस आशयसे कहते हैं—'सत्तैव' इत्यादि।

जैसे समुद्रमें जहाजोंके भार-वहनके लिए आधारभूत जलसत्ता ही केवल कारण है वैसे ही संसाररूपी फन्देसे बँधे गये मनुष्योंको दुःखरूपी भार ढोनेके लिए जीव-जगत्की जड़रूपसत्ता ही कारण है ॥ १७ ॥

मोक्षसत्ताऽऽश्रयति तं नाज्ञानानुभवादिव ।
मृतेन यत्किल प्राप्यं जीवन्प्राप्नोति तत्कथम् ॥ १८ ॥
यद्यत्सङ्कल्प्यते तत्तत्सङ्कल्पादेव नाशभाक् ।
न सम्भवति यत्रैतत्तत्सत्यं पदमक्षयम् ॥ १९ ॥
नान्यो न चाहमस्मीति भावनान्निर्भयो भव ।
सत्यं युक्तं भवत्येतद्विषमप्यमृतं यथा ॥ २० ॥
जडं देहादि चितान्तं विचार्य सकलं वपुः ।
लभ्यते नाहमस्मीति तस्मान्नास्मीति सत्यता ॥ २१ ॥
शान्ताशेषविशेषाणामहन्तान्ताविचारणात् ।
केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति ॥ २२ ॥

जो मृत पुरुषके द्वारा प्राप्त किया जानेवाला स्वर्ग है, वह क्या जीवित पुरुष द्वारा किसी तरह प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् मृतपुरुष लभ्य स्वर्ग जैसे जीवित पुरुषका जीवनापराधसे मानो आश्रयण नहीं करता, वैसे ही मोक्ष-सत्ता अज्ञानी पुरुषका अज्ञानगत जड़तानुभवके अपराधसे मानो आश्रयण नहीं करती ॥ १८ ॥

मोक्षरूप परमपुरुषार्थ माननेकी आवश्यकता क्या है ? साङ्कल्पिक स्वर्ग आदि फलोंमें से किसी एकको नित्य पुरुषार्थरूप मान लीजिये, इसपर कहते हैं—'यद्यपि' इत्यादिसे ।

जो-जो पदार्थ सङ्कल्पसे सिद्ध होता है, वह सब सङ्कल्पसे ही नष्ट भी होता है । इसलिए जहां इस सङ्कल्पका सम्भव नहीं है, वही अक्षय पद मोक्ष सत्य है ॥१९॥

न तो अन्य कोई है और न मैं ही हूँ, इस तरहकी अनहंभावनासे आप निर्भय हो जाइये । अज्ञदृष्टि यद्यपि इस अनहंभावनाको भयावह समझकर ग्रहण नहीं कर सकती, तथापि परमार्थ दृष्टि उसे सत्य अमृतरूप समझकर ग्रहण ऐसे कर सकती है, जैसे अज्ञदृष्टिसे भयङ्कर विष समझकर छोड़े गये अमृतको परमार्थ दृष्टि ग्रहण करती है ॥२०॥

इसमें सत्यताका उपपादन करते हैं—'जडम्' इत्यादिसे ।

जड-देहादिसे लेकर चित्तपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर विचारकर देखनेसे अहंरूप उपलब्ध नहीं होता । अतः जड देहादिरूप 'मैं नहीं हूँ' एकमात्र यही सत्यता है ॥ २१ ॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण शान्तिकी सीमारूपी मोक्षता अहङ्कारकी शान्ति

भोगत्यागविचारात्मपौरुषान्नान्यदत्र हि ।
उपयुज्यत इत्यज्ञाः स्वात्मैवाशु प्रणम्यताम् ॥ २३ ॥
निर्वासनं मननमेवमुदाहरन्ति
मोक्षं विना भवति तन्न च जातु बोधात् ।
सन्नो जगद्भ्रम इतीह परः प्रबोधो
न प्रत्ययोऽत्र यदतः सुचिराय बन्धः ॥ २४ ॥
जगदहमसदित्यवेत्य सम्यग्-
जनधनदारशरीरनिर्व्यपेक्षः ।

ही है । जैसे जमे हुए घीके पिघल जानेपर घीका कुछ नाश नहीं होता, वैसे ही अहन्ताका नाश होनेपर आत्माका अणुमात्र भी कुछ नाश नहीं होता । अहन्ताके नाशसे सर्वनाश हो जायगा, यों विचारकर भय नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'शान्ता०' इत्यादिसे ।

विचार करनेसे जिन पुरुषोंके सम्पूर्ण विशेष शान्त हो चुके हैं उनके लिए अहन्ताका नाश करनेवाली केवल मुक्तता उदित होती है । उनका वस्तुतः कुछ भी नष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

इस मुक्तिमें, भोगोंका त्याग, विचार इन्द्रिय, तथा मनका निग्रहरूप पौरुष—इन तीनोंके सिवा और कोई दूसरा उपयोगी नहीं है, यह निश्चय करके हे अज्ञ, मुमुक्षुओ, आत्मभिन्न सबका त्यागकर शीघ्र अपनी आत्माकी ही शरणमें जाओ ॥ २३ ॥

इस प्रकार अहन्ताके नाशक सम्पूर्ण द्वैतनाशपूर्वक जो ब्रह्मभावसे मनकी स्थिति है, उसीको श्रुतियाँ और विद्वान् लोग मोक्ष कहते हैं । और वह मोक्ष बिना तत्त्वज्ञानके कभी भी नहीं होता । सर्वोत्तम ज्ञान भी यही है कि यह जगद्भ्रम परमार्थ कभी नहीं हो सकता, यह मोक्षशास्त्रमें प्रसिद्ध है । तात्पर्य यह कि यह जगत् तो एकमात्र भ्रम है, सद्रूप आत्मा ही परमार्थ है । चूँकि इस ज्ञानमें 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि श्रुतिसे कराया जा रहा भी विश्वास पुरुषके प्रबल रागादि दोषके कारण तथा जगत्में दृढ़ सत्यत्वभ्रम हो जानेके कारण जम नहीं पाता, इसीलिए चिरकालतक जीवको संसारबन्धन बार-बार हुआ करता है ॥ २४ ॥

इसलिए शास्त्रोंमें दृढ़ विश्वास करके 'जगत् और अहन्ता—ये दोनों असत्

भवति हि स च चेतनस्वरूपः
परिमितखं खलु नान्यथास्ति मुक्तिः ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थोपन्यासयोगो नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

—०—

एकत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वात्मनि चिदाभासे तदेवाश्वनुभूयते ।
संवेद्यते यदेवान्तरसत्यं वस्त्ववस्तु वा ॥ १ ॥

हैं, इसको' श्रवण, मनन आदिके अभ्यास द्वारा भलीभाँति जानकर अपने धन, जन, स्त्री तथा शरीर आदिमें आसक्तिशून्य हो परमार्थ तत्त्वको जानकर उपाधिसे परिच्छिन्न चिदाकाश जीव और जगत् चिन्मात्रस्वरूप हो जाता है। वही इस जीवकी मुक्ति है, यही इसका उपाय है। इस ज्ञानसे भिन्न किसी दूसरे ज्ञानसे इसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती ॥ २५ ॥

तीसवां सर्ग समाप्त

—०—

इकतीसवां सर्ग

[अचिद्रूप वस्तु असत् हो या सत्, सभी चितिसे भरत है, इसलिए कुछ भी नष्ट नहीं होता, इस विषयमें निर्वाणकी स्थितिका वर्णन]

नित्य निरतिशयानन्दसे पूर्ण अद्वय चिदाकाशरूप निर्वाणस्थितिका अनुभव करानेके लिए दृश्यानुभव दृश्यभावनाके अभ्यासके अधीन है, इस पूर्वोक्तका स्मरण कराते हैं—'सर्वात्मनि' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, अपने भीतर जिस किसी असद्रूप वस्तु या अवस्तुकी भावना की जाती है, तत्काल उसीका सर्वात्मक चिदाभासमें अनुभव होने लग जाता है ॥ १ ॥

तदेवाभ्यासतः पूर्वं बाह्यार्थानुभवात्मना ।
स्फुरतीव बहिष्ट्वेन स्वस्वप्नोऽत्र निदर्शनम् ॥ २ ॥
चिद्रूपं सर्वमेतच्च चिदच्छा गगनादपि ।
चिच्चिनोति चिदेवाऽतो नैतत्किञ्चन कुत्रचित् ॥ ३ ॥
न नाशो नास्ति नानर्थो न जन्ममरणे न खम् ।
न शून्यता न नानास्ति सर्वं ब्रह्मैव नैव च ॥ ४ ॥
नाशे जगदहन्त्वादेर्न किञ्चिदपि नश्यति ।
असतः किल नाशोऽपि स्वप्नादेः किं नु नश्यति ॥ ५ ॥

वही बाह्य पदार्थोंके अनुभवरूपसे दृढ़ अभ्यास होनेके पहले बाहरमें जगत्के रूपसे मानो स्फुरित होता है, इस विषयमें अपना स्वप्न ही दृष्टान्त है ॥ २ ॥

ठीक है, ऐसा ही रहे, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं— 'चिद्रूपम्' इत्यादिसे ।

यह सारा संसार चितिका ही रूप (कल्पित आकार) है । वह चिति आकाशसे भी स्वच्छ है । चूँकि घृत जैसे अपनी आत्मामें ही काठिन्यको धारण करता है वैसे ही चिति जगत्-रूप आकारको धारण करती है, इसलिए यह सब चिद्रूप ही है । चितिसे भिन्न और कुछ भी कहीं नहीं है ॥ ३ ॥

ऐसा ही सही, इससे भी प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं— 'न' इत्यादिसे ।

न तो नाश है, न अस्तिता है, न अनर्थ है, न जन्म है, न मरण है, न आकाश है, न शून्यता है और न अनेकता ही है, किन्तु अधिष्ठानरूपसे सब कुछ एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

जगत् तथा अहङ्कार आदिके जड़ांशका तत्त्वज्ञान द्वारा हुआ नाश तो सभीको इष्ट है ही, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इसपर कहते हैं— 'नाशे' इत्यादिसे ।

इस जगत् और अहन्ता आदिका नाश इष्ट होनेपर भी वस्तुतः कुछ भी नहीं बिगड़ता, क्योंकि असद्रूप स्वप्नादिका भी तो नाश इष्ट है, उससे क्या बिगड़ सकता है ? क्योंकि नाशका स्वरूप ही क्या रहा ॥ ५ ॥

मिथ्यावभासे सङ्कल्पनगरे केव नष्टता ।
तथा जगदहन्त्वादौ नाशो नाऽसति विद्यते ॥ ६ ॥
कुतो जगदुपालम्भ इति चेत्तदवस्तुनि ।
न निर्णयः सम्भवति खपुष्पाणां किमुच्यते ॥ ७ ॥
निर्णय एष एवात्र यदशेषमभावयन् ।
यथास्थितं यदाचारं पाषाण इव तिष्ठसि ॥ ८ ॥
जगत्सङ्कल्पमात्रात्म तत्र तेऽर्थयुतं क्षणात् ।
शाम्यत्यशेषेणेत्येव निर्णयः सर्गविभ्रमे ॥ ९ ॥

मिथ्या अवभासित हो रहे असत् सङ्कल्पनगरका नाश ही क्या (मिथ्या) है, ठीक, इसी तरह असद्रूप जगत् और अहङ्कार आदिका नाश ही क्या ? असत्का वस्तुतः नाश ही नहीं है ॥ ६ ॥

यदि यह जगत् असद्रूप है, तो फिर अनर्थरूपसे इसका वर्णन करके इसकी निन्दा तथा हेयरूपसे इसका निर्णय शास्त्रोंमें क्यों किया जाता है ? यदि यह आप आशङ्का करें, तो यह आपकी आशङ्का एक तरहसे ठीक ही है, क्योंकि अवस्तुभूत पदार्थोंके विषयमें न तो किसी प्रकारकी निन्दाकी और न उनके फल, विचार या किसी तरहके निर्णयकी ही सम्भावना है । कहिये, आकाशके फलोंकी कोई कभी निन्दा या उसके विषयमें किसी तरहका निर्णय करता है ? बस, ठीक इसी तरह इसे भी जान लीजिये ॥ ७ ॥

तब क्या वे शास्त्र सब व्यर्थ है ? इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'निर्णयः' इत्यादिसे ।

स्वाभाविक स्वरूपस्थितिकी सिद्धिके लिए असद्रूप होते हुए भी सत्की नाईं कल्पना करके निन्दा आदिके द्वारा शास्त्रोंमें वैराग्य एवं विवेकसे लेकर तत्त्व-साक्षात्कार पर्यन्त उपायोंकी कल्पना की गई है—यही सब शास्त्रोंमें निर्णय है, इसलिए हे श्रीरामजी, जो ये सब वस्तुएँ सत्-सी प्रतीत हो रही हैं, इन्हें सद्रूपसे भावना न करते हुए यानी इन्हें आप मिथ्या समझते हुए शास्त्र और सम्प्रदायके अनुसार भूमिकाओंके क्रमका अभ्यास करके पाषाणके समान स्थित रहिये ॥ ८ ॥

ठीक है, आत्मतत्त्वके विषयमें यह निर्णय ऐसा ही रहे, किन्तु स्वर्गादि जगत्के स्वरूपके विषयमें कौन-सा सफल निर्णय हुआ है ? उसे कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

सर्गोऽनर्गल एवाऽयं ब्रह्मात्मकतया क्षयः ।
अन्यथा तु न सर्गोऽयमस्ति नास्ति च सन्ति वा ॥ १० ॥
येषां च विद्यते सर्गः स्वप्नपुंसामिवाऽऽसताम् ।
स सर्गः पुरुषास्ते च मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ११ ॥
असतामेव सद्भावमिव येषाञ्चुपेयुषाम् ।
न वयं निर्णयं विद्मो वन्ध्यापुत्रगिरामिव ॥ १२ ॥
परिपूर्णार्णवप्रख्या काप्यपूर्वैव पूर्णता ।
तज्ज्ञानां द्रष्टृदृश्यांशदृष्टौ न हि पतन्ति ते ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, पूर्वोक्त स्थितिमें सांसारिक पुरुषार्थाभासयुक्त आपका एकमात्र सङ्कल्पस्वरूप यह जगत् एक क्षणमें ही पूर्णतः नष्ट हो जाय, बस, इतना ही इस सृष्टिके विलासमें सफल निर्णय हुआ है ॥ ९ ॥

सुषुप्ति और प्रलयमें सर्ग तो अपने आप ही नष्ट हो जाता है, अतः उसमें ब्रह्मरूपताके परिज्ञानसे कौन-सा लाभ हुआ ? इस शङ्कापर कहते हैं—'सर्गो' इत्यादिसे ।

जगत्‌में ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे उसका मूलोच्छेदपूर्वक अर्थात् पुनः उत्पन्न न होना, क्षय है। इसके विपरीत कोई दूसरे मार्गसे वैसा क्षय नहीं होता, क्योंकि प्रलय और सुषुप्ति आदिमें जो क्षय होता है उसमें यह सृष्टि बीजरूपसे रहती है, कार्यरूपसे नहीं रहती अथवा ऐन्दव आख्यानकी रीतिसे प्रलयमें भी कार्य बने ही रहते हैं ॥१०॥

तब सृष्टिके रहते भला प्रलयव्यवहार कैसे ? इसपर कहते हैं—'येषाम्' इत्यादिसे ।

स्वप्नपुरुषके तुल्य जिन असत् पुरुषोंकी दृष्टिमें यह सृष्टि है, वह सृष्टि तथा वे पुरुष मृगतृष्णाजलके तरङ्गके समान हैं। तात्पर्य यह है कि प्रलयका सङ्कल्प करनेवालेकी दृष्टिसे उन सबकी सत्ता न होनेके कारण अपने सङ्कल्पित सम्पूर्ण जगत्‌के नाशसे ही उसका प्रलय व्यवहार होता है ॥ ११ ॥

यही कारण है कि जीव और जगद्रूपोंके विषयमें कोई निर्णय न हो सकनेसे अनिर्वचनीयता कही गई है, यह कहते हैं—'असतामेव' इत्यादिसे ।

जो लोग असत्पदार्थोंका ही सद्भाव-सा मानते हैं, वन्ध्या-पुत्रकी वाणीकी तरह हम लोग उनका कोई निर्णय नहीं जानते। कहनेका तात्पर्य यह है कि जीव और जगद्रूप अनिर्वचनीय ही है ॥ १२ ॥

इसीलिए तो तत्त्वज्ञानी पुरुष सदा ही अद्वितीय चिदानन्दसे परिपूर्ण रहते हैं, यह कहते हैं—'परिपूर्णा०' इत्यादिसे ।

अचला इव निर्वाता दीपा इव समत्विषः ।
साचारा वा निराचारास्तिष्ठन्ति स्वस्थमेव ते ॥ १४ ॥
आपूर्णैकार्णवप्रख्या काप्यन्तः पूर्णतोदिता ।
अन्तः शीतलता ज्ञप्तिर्ज्ञस्याऽपूर्वैव लक्ष्यते ॥ १५ ॥
वासनैवेह पुरुषः प्रेक्षिता सा न विद्यते ।
तां च न प्रेक्षते कश्चित्ततः संसार आगतः ॥ १६ ॥
अनालोकनसिद्धं यत्तदालोकान्न विद्यते ।
कृष्णाद्यनुपलम्भोऽत्र दृष्टान्तः स्पष्टचेष्टितः ॥ १७ ॥
भूतानि देहमांसादि तत्राऽसद्विभ्रमो जडः ।
बुद्ध्यहङ्कारचेतांसि तन्मयान्येव नेतरत् ॥ १८ ॥

परिपूर्ण समुद्रके समान तत्त्वज्ञानियोंमें कोई अपूर्व ही अद्वितीय चिदानन्दकी परिपूर्णता रहती है, क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांशकी दृष्टिमें गिरते नहीं ॥ १३ ॥

वे ज्ञानी लोग पर्वतके समान अकम्पनीय, वातरहित स्थानमें स्थापित दीपककी नाईं सदा समप्रकाशयुक्त तथा आचारशून्य होते हुए भी आचारयुक्त स्वस्थ ही बने रहते हैं ॥ १४ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुषके हृदयके भीतर उदित हुई परिपूर्ण समुद्रके समान कोई अनिर्वचनीय ही पूर्णता रहती है तथा ज्ञानरूपा भीतरी शीतलता भी कोई अपूर्व ही लक्षित होती है ॥ १५ ॥

तब अज्ञपुरुषका स्वरूप क्या है, इसपर कहते हैं—'वासनैव' इत्यादिसे ।

इस संसारमें अज्ञानी पुरुष तो वासनारूप ही है । तत्त्वदृष्टिसे विचार कर देखनेपर तो वह वासना कुछ है ही नहीं । कोई भी विचार कर उसे देखता नहीं है और इसीसे यह संसार उपस्थित हुआ है ॥ १६ ॥

जिस पदार्थकी प्रतीति प्रकाशास्फूर्तिसे सिद्ध है यानी प्रकाशके बिना जिस पदार्थकी प्रतीति होती है वह पदार्थ प्रकाशसे विद्यमान नहीं रहता । इस विषयमें बिलकुल स्पष्ट दृष्टान्त तो प्रकाशकी उपस्थितिमें अन्धकार और उसमें अपना काम करनेवाले चोर आदिकी उपलब्धिका अभाव ही है ॥ १७ ॥

प्रकाशके बिना प्रतीत हो रहे पदार्थोंकी स्थिति किस तरहके प्रकाशसे विद्यमान नहीं रहती ? इसपर वह कहते हैं—'भूतानि' इत्यादिसे ।

भूतादिमयतां त्यक्त्वा बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
अत्यन्तस्थितिरभ्येति यदि तन्मुक्ततोदिता ॥ १९ ॥
चिद्विलिष्टा चेत्यनिष्ठत्वात्ताद्दश्येवाऽत्र काऽस्तिता ।
तस्मात्क्वेव कुतः कुत्र वासना किंस्वरूपिणी ॥ २० ॥
यस्य चैष भ्रमः सोऽसन्प्रेक्षयासन्न लक्ष्यते ।
मृगतृष्णाम्बुवत्तेन संसारः कस्य कः कुतः ॥ २१ ॥

देह, मांस आदि स्थूल शरीर पञ्चीकृत भूतमय, असद्विभ्रमसे युक्त एवं जड़रूप हैं तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीर भी अपञ्चीकृत भूतोंके विकारभूत ही हैं, अन्य नहीं ॥ १८ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, परन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'भूतादिमयताम्' इत्यादिसे ।

उस बुद्ध्यादिघटित सूक्ष्म शरीरमें अहंभावसे प्रविष्ट हुआ चिदात्मा तद्द्वारा स्थूलदेहको भी अविद्याके कारण 'यह मैं ही हूँ' ऐसा मानता है । विवेक द्वारा बुद्धि, अहङ्कार और चित्तकी भूतादिरूपताको 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इस श्रुतिमें दिखलाये गये उपायसे छोड़कर यदि उसकी स्वप्रकाश चिन्मात्रस्वभावसे स्थिति हो जाय, तो फिर मुक्तता भी आविर्भूत हो ही गई, यह समझ लेना चाहिए । उसीको मैंने आलोक कहा है, यह तात्पर्य है ॥ १९ ॥

इस प्रकार आत्मप्रकाशके प्रसृत होनेपर वासना भी बाधित ही हो जाती है, इसलिए उस वासनासे भी संसारबन्धकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

विषयोंकी ओर उन्मुख होनेके कारण चिति लिङ्ग शरीररूपी उपाधिमें यदि मिलित है, तो उसकी वासना भी उस लिङ्ग शरीरके सदृश ही मिथ्या है, अतः मुक्तता-अवस्थामें उसका बाध होनेसे वह वासना कैसी, कहांसे, कहांपर और किस स्वरूपकी हो सकती है ? ॥ २० ॥

किञ्च, तत्त्वज्ञान होनेपर बद्ध जीवकी ही जब उपलब्धि नहीं होती, तब भला किसके द्वारा किसको बन्धनकी प्रसक्ति ? यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिस जीवको इस संसारका भ्रम है, वह असत् ही है जो असत् होता है, वह तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर मृगतृष्णा जलकी नाईं लक्षित ही नहीं होता, इससे किसको कहांसे कौन-सा संसार ? ॥ २१ ॥

तदेवं तर्हि तस्य स्यादिति चित्तोदयो हि यः ।
पुनः स एव संसारविभ्रमः सम्प्रवर्तते ॥ २२ ॥
तस्मात्सर्वमनाश्रित्य व्योमवत्समुपास्यताम् ।
अपुनःस्मरणं श्रेय इह विस्मरणं परम् ॥ २३ ॥
नेह द्रष्टा न भोक्ताऽस्ति नास्तिता न च नास्तिता ।
यथास्थितमिदं शान्तमेकं स्पन्दि सदाब्धिवत् ॥ २४ ॥
सर्वं दृश्यं जगद्ब्रह्म सदित्यवगते स्फुटम् ।
जलशोषादिवोदेति बिम्बबिम्बिक्षये शिवम् ॥ २५ ॥

आत्मप्रकाशके मन्द पड़ जानेपर तो फिर चित्तका उदय हो जानेसे संसार हो ही सकता है, इसलिए आत्मप्रकाशको तबतक दृढ़ बनाये रखना चाहिए, जबतक कि संसारकी बिलकुल विस्मृति न हो जाय यानी उसकी पुनःस्मृतिका अवसर न आने पावे, यह कहते हैं—'तदेवम्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

इससे इस तरह आत्मतत्त्वज्ञानके लिए प्रवृत्त हुए पुरुषके विषयोंका स्मरण करनेसे जो पुनः चित्तका उदय होगा, वही फिर संसाररूपसे प्रवृत्त हो जायगा ॥ २२ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, सबको छोड़-छाड़कर आकाशके समान निर्मल आत्माकी ही एकमात्र आप उपासना कीजिये । विषयोंका पुनःस्मरण न होना ही श्रेय है, अतः भूमिकाओंके अभ्यास द्वारा एकमात्र सांसारिक विषयोंकी विस्मृतिको ही इस व्यावहारिक जगतमें सिद्ध करना मुमुक्षु पुरुषोंका परम कर्तव्य है ॥ २३ ॥

भूमिकाओंके अभ्यासमें तत्पर मुमुक्षु किस तरह देखे, यह बतलाते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

न द्रष्टा है, न भोक्ता है, न अस्तिता है और न नास्तिता है, किन्तु सदा समुद्रके समान परिपूर्ण, प्रारब्ध प्राप्त बाधित व्यवहारके निमित्तभूत, एक, शान्त-स्वरूप यथास्थित यह सब ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥

यह सारा दृश्य जगत् सद्रूप ब्रह्म ही है, ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जानेपर बिम्ब और बिम्बी यानी चिदाभास और उसकी उपाधि दोनोंके नाशसे, जल सूखनेसे बिम्बरूपताकी नाईं, एकमात्र शिवस्वरूपता ही उदित होती है ॥ २५ ॥

शान्तता व्यवहारो वा रागद्वेषविवर्जितः ।
विश्रान्तस्य परे तत्त्वे दृश्यते समदर्शिनः ॥ २६ ॥
अथवा शान्ततैवाऽस्य निर्वाणस्याऽवशिष्यते ।
निर्वासनः किल मुनिः कथं व्यवहरत्यसौ ॥ २७ ॥
यावत्त्वस्य न निर्वाणं परिपोषमुपागतम् ।
तावद्व्यवहरत्यस्तरागद्वेषभयोदयः ॥ २८ ॥
वीतरागभयक्रोधो निर्वाणः शान्तमानसः ।
शिलेवाप्यशिलीभूतो मुनिस्तिष्ठति नित्यशः ॥ २९ ॥
कोशेऽस्ति पद्मबीजस्य यथा सर्वाब्जिनी तथा ।
अनन्या स्वप्नविभ्रान्तिरात्मन्यस्ति न बाह्यता ॥ ३० ॥

परम पदमें विश्रान्त समदर्शी तत्त्वज्ञानीकी समाधि या राग-द्वेषसे शून्य व्यवहार दोनों ही प्रतीत होते हैं ॥ २६ ॥

अथवा निर्वाणरूप सप्तम भूमिकामें प्राप्त इस ज्ञानीकी शान्तरूपता ही अवशिष्ट रहती है, क्योंकि वासनारहित मुनि कैसे व्यवहार कर सकता है ॥२७॥

जबतक उस ज्ञानीकी सप्तम भूमिकामें विश्रान्ति परिपोषताको यानी दृढ़ताको प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक राग-द्वेष और भयके उदयसे रहित हो वह व्यवहार करता है ॥ २८ ॥

सप्तम भूमिकामें प्राप्त ज्ञानी राग-द्वेष भय और क्रोधसे शून्य, निर्वाणरूप, शान्तमन पर पत्थररूप न बना हुआ भी पत्थरकी नाईं नित्य निश्चल स्थित रहता है ॥ २९ ॥

इस तरह ब्रह्ममें स्वाभाविक भावनाके अनुसार जगद्रूप है तथा शास्त्रीय तत्त्व-भावनाके अनुसार तात्त्विकरूप भी है, इसलिए अपनी इच्छाके अनुसार मनुष्य अनर्थ या पुरुषार्थ दोनों प्राप्त कर सकता है, उसके लिए दोनों ही सुलभ हैं, इस आशयसे कहते हैं—'कोशे' इत्यादिसे ।

जैसे कमलके बीजकोशके अन्दर ही अभिन्नरूपसे सम्पूर्ण कमलिनियाँ स्थित हैं, वैसे आत्मामें ही स्वप्नभ्रान्तिरूप यह जगत् अनन्य होकर स्थित है, आत्माको छोड़कर अन्यत्र नहीं ॥ ३० ॥

बाह्यताभावनाद्बाह्यमात्मैवाऽऽत्मत्वभावनात् ।
भवतीदं परे तत्त्वे भावनं तत्तदेव हि ॥ ३१ ॥
याऽन्तः स्वप्नादिविश्रान्तिः सैवेयं बाह्यतोदिता ।
मनागप्यन्यता नात्र द्विभाण्डपयसोरिव ॥ ३२ ॥
स्थैर्यास्थैर्ये तथैवात्र भ्रान्तिमात्रमये तते ।
आधाराधेयते ते द्वे यथाजलतरङ्गते ॥ ३३ ॥
स्वप्नादावात्मनोऽन्यत्वज्ञानादन्यत्ववेदनम् ।
अनन्यतावबोधे तु तदनन्यन्न चोदयि ॥ ३४ ॥

'बाहर है' यह प्रतीति आत्मामें बाह्यरूपताकी भावनासे ही है, न कि इसका दूसरा कोई आधार होनेसे, यह कहते हैं—'बाह्यता०' इत्यादिसे ।

आत्मा ही बाह्यरूपताकी भावनासे बाह्यरूप हो जाता है तथा आत्मत्वकी भावना करते रहनेसे आत्मरूप ही रहता है, इसलिए परब्रह्मतत्त्वमें तत्-तत् भावना ही बाह्यत्व और आभ्यन्तरत्व है ॥ ३१ ॥

यही कारण है कि स्वप्न और जाग्रदवस्थामें प्रतीतिसे कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'यान्तः' इत्यादिसे ।

जो अन्तःकरणमें भीतर स्वप्नकी विश्रान्ति है वही यह बाह्य-जगद्रूपसे उदित हुई है । दो पात्रोंमें स्थित दूधके समान स्वप्न तथा जाग्रदवस्थामें तनिक भी भेद नहीं है ॥ ३२ ॥

जाग्रत् और स्वप्नावस्थाके पदार्थोंमें स्थिरता और चञ्चलतारूप भेद तो प्रत्यक्ष ही उपलब्ध होता है, उसकी क्या दशा होगी, यदि यह आशङ्का करें, तो उसपर कहते हैं—'स्थैर्यास्थैर्ये' इत्यादिसे ।

एवं जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें स्थिरता तथा स्वाप्निक पदार्थोंमें जो अस्थिरता प्रतीत होती है वह भी एकमात्र विस्तृत भ्रान्ति ही है तथा जाग्रत्कालीन शरीरमें आधारता और स्वप्नमें आधेयताकी जो प्रतीति होती है वह भी जल और तरङ्गके तुल्य ही है ॥ ३३ ॥

जैसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें जबतक एकमात्र आत्मरूपताका अनुसन्धान नहीं होता, तभीतक उनका भान होता है। आत्ममात्रस्वरूपताका अनुसन्धान होनेपर तो जागरणरूप बाधसे आत्मैक्यता ही सिद्ध होती है, वैसे ही जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें भी समझना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'स्वप्नादा०' इत्यादिसे ।

कलनारहितं शान्तं यद्रूपं परमात्मनः ।
भवत्यसौ तत्तद्भावादतद्भावान्न तद्भवेत् ॥ ३५ ॥
स्वप्नादिज्ञानसंशान्तौ यद्रूपं शुद्धमैश्वरम् ।
न तदस्ति न तन्नास्ति न वाग्गोचरमेव तत् ॥ ३६ ॥
आत्यन्तिकभ्रान्तिलये युक्त एवाऽवगच्छति ।
स्वरूपं नोपदेशस्य विषयो विदुषो हि तत् ॥ ३७ ॥

जैसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें आत्माके अन्यत्वज्ञानसे अन्यरूपताका भान होता है । आत्मैक्यताका अवबोध होनेपर तो उससे अन्य कुछ भी नहीं भासित होता, वैसे ही जाग्रदवस्थाके पदार्थोंमें भी जबतक शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं होता तभीतक पदार्थोंमें अन्यत्व भासता है । शुद्ध आत्माका ज्ञान हो जानेपर तो वे सबके सब पृथक् आविर्भाववाले ही नहीं होते—एकरूप ही अवभासित होते हैं ॥ ३४ ॥

इसीलिए वास्तविक भी ब्रह्मभाव अपनी भावनाके अधीन ही है, यह जो कहा गया है वह सिद्ध हो गया, यह कहते हैं—'कलना०' इत्यादिसे ।

कल्पनाओंसे रहित, शान्त जो परमात्माका रूप है वह तत्-तत् पदार्थोंकी भावना करनेसे तत्-तत् रूपोंमें परिणत हो जाता है तथा भावना न करनेसे तत्-तत् रूपोंमें परिणत नहीं होता ॥ ३५ ॥

स्वप्नादि ज्ञानके शान्त होनेपर जो विशुद्ध ईश्वरका रूप अवशिष्ट रहता है वह 'अस्तिता'के निरूपक काल और देश आदिके आधारका अभाव रहनेसे 'वह है' यह नहीं कहा जा सकता तथा स्वरूपका बाध न रहनेसे 'वह नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता । इसलिए वह वाणीका विषय कदापि नहीं है ॥ ३६ ॥

तब वाणीके द्वारा गुरु लोग उसका उपदेश कैसे देते हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—'आत्यन्तिक०' इत्यादिसे ।

भ्रमका आत्यन्तिक लय हो जानेपर समाधिमें स्थित योगी लोग ही अपने एकमात्र अनुभवसे उसका स्वरूप जान पाते हैं । कान्तासम्भोगसुखकी नाईं, दूसरेके प्रति वह उपदेशका विषय नहीं है । वह विद्वानोंके अनुभवका ही विषय है । उसमें श्रोताकी बुद्धिको प्रवृत्त करना ही उपदेशका फल है ॥ ३७ ॥

शान्तं निरस्तभयमानविषादलोभ-
मोहात्मदेहमननेन्द्रियचित्तजाड्यम् ।
त्यक्त्वाऽहमक्षयमपास्तसमस्तभेदं
निर्वाणमेकमजमासितुमेव युक्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणयुक्त्युपदेशवर्णनं नाम एकत्रिंशत्तमः सर्गः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

यदा चितिः प्रसरति तदाऽहन्ता जगद्भ्रमः ।
असदेवाभ्युदेतीव स्पन्दादपि च वायुता ॥ १ ॥

इसलिए हे श्रीरामजी, अहङ्कार छोड़कर भय, मान, विषाद, लोभ, मोह, आत्मा, देह, मन, इन्द्रिय, चित्त, जड़तासे शून्य, शान्त, समस्त भेदोंसे रहित, अविनाशी, निर्वाणस्वरूप एकमात्र ब्रह्म होकर सर्वदा ही समाधिमें स्थित रहना ही युक्त है, व्यवहारविषयोंमें पड़ना उचित नहीं है ॥ ३८ ॥

इकतीसवाँ सर्ग समाप्त

बत्तीसवाँ सर्ग

[साधुओंके समागम और सत् शास्त्रोंका विचार करनेवाले पुरुषको मोक्ष अवश्य ही होता है, इसलिए मोक्ष स्वाधीन है, इसका युक्तिपूर्वक कथन]

यदि मनुष्यके पास विद्या या अविद्या है, तो उसके लिए मोक्ष या संसार स्वाधीन है, यह वर्णन करनेकी इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पहले अविद्यासे चित्तका विस्तार और फिर उससे स्वाधीन संसारको दिखलाते हैं— 'यदा' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जब यह चितिशक्ति स्पन्दित होती है, यानी अविद्यासे विषयोंकी ओर झुकनेके लिए उसमें हलचल पैदा होती है, तब

उदितोऽपि न खेदाय ब्रह्मरूपत्ववेदनात् ।
परमाय त्वनर्थाय जगच्छब्दार्थभावनात् ॥ २ ॥
रूपानुभवमादत्ते चक्षुःप्रसरणाद्यथा ।
चितिःप्रसरणात्तद्वज्जगद्विभ्रममास्थिता ॥ ३ ॥
याऽसौ प्रसरति व्यर्थं चेत्याभावान्न सा सती ।
असत्कथं प्रसरति वन्ध्यापुत्रः क्व नृत्यति ॥ ४ ॥
अयं त्वनुभवादेव मुधैवानुभवन् स्थितः ।
असदेवाननुभवन्स्वयमर्भकयक्षवत् ॥ ५ ॥

अहम्भावरूप जगत्का भ्रम उत्पन्न-सा हो जाता है, जो कि असद्रूप ही है। स्पन्दनसे भी तो वायुरूपता उत्पन्न-सी हो जाती है, यद्यपि वह कुछ भिन्न नहीं है ॥ १ ॥

श्रीरामजी, भले ही वह जगद्भ्रम उत्पन्न-सा हो जाय, परन्तु उसमें ब्रह्मरूपताका ज्ञान यदि कर लिया जाय, तो किसी तरहसे भी वह खेदका कारण नहीं होगा। यदि उसमें जगद्रूपताका ही ज्ञान कर लिया जाय, तो अवश्य ही वह महान् खेदका कारण होगा ॥ २ ॥

जैसे चक्षु अपनी चहल-पहलसे रूपका अनुभव प्राप्त करती है, वैसे ही चिति चहल-पहलसे ही जगत्का भ्रम प्राप्त करती है ॥ ३ ॥

उत्पन्न होते हुए भी संसारभ्रम खेदका कारण नहीं है, यह जो कहा गया है, उसका उपपादन करते हैं—'याऽसौ' इत्यादिसे ।

भद्र, जो यह चितिशक्ति है, वह तो स्वभावतः ही सत्यरूप है, अतः वह विषयोंकी ओर जो झुकती है, वह व्यर्थ ही है, क्योंकि विषयोंकी सत्यरूपता तो है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें असत् विषयोंकी ओर वह झुकती है, यह कैसे हो सकता है, क्या कहीं वन्ध्याका पुत्र नृत्य करता है ! निष्कर्ष यह निकला कि विषयोंकी तीनों कालमें सत्ता न होनेके कारण अज्ञानसे ही चितिकी विषयोंकी ओर प्रवृत्ति है, वह जब ज्ञानसे बाधित हो जाती है, तब विषय खेदके कारण हो ही नहीं सकते ॥ ४ ॥

यह जो चितिका बाह्य पदार्थोंकी ओर प्रसरण है, वह तो अनुभवसे ही सिद्ध है, विद्यासे जब उसका बाध हो जाता है, तब असत्य अर्थका पुरुषको

अहम्भावोऽपि दुःखार्थमहमित्येव वेदनात् ।
अवेदनान्नाहमतः स्वायत्ते बन्धमुक्तते ॥ ६ ॥
तद्ध्यानं समाधिर्वा यदवेदनमासितम् ।
अजडानां जडमिव समं शान्तमनामयम् ॥ ७ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्वाक्यसन्दर्भविभ्रमैः ।
मा विषीदत दुःखाय विबुधा अबुधा इव ॥ ८ ॥

अनुभव नहीं होता, उस समय यह अनुभव करता है कि इतने कालतक मैं व्यर्थ ही, बालक जैसे असत्य यक्षका अनुभव कर स्थित रहता है वैसे ही, असत् अर्थका अनुभव कर स्थित रहा ॥ ५ ॥

कथित न्याय भीतरके अहम्भावमें भी समान ही है, यह दिखलाते हुए बन्ध और मोक्षमें स्वाधीनता सिद्ध हो गई, यह कहते हैं—'अहम्भावोऽपि' इत्यादिसे ।

भद्र, जब भीतर अहम्भावका ज्ञान होने लग जाता है, तब उससे अहंभाव भी दुःखका ही कारण होता है और जब अहम्भावका परिज्ञान नहीं होता तब वह दुःखका कारण नहीं होता, अतः बन्धन और मुक्ति अपने ही अधीन है ॥६॥

अब मोक्षमें स्वाधीनताका उपपादन करते हैं—'तद्ध्यानम्' इत्यादिसे ।

वही ध्यान और समाधि है, जो कि विद्यासे मूलभूत जड़ताके हट जानेके बाद चिदात्माके साथ एकरस हो जानेके कारण अजड़ मन, बुद्धि आदि पदार्थोंकी पत्थरके सदृश निश्चल वेद्यवेदननिर्मुक्त स्थिति है । सम, शान्त और निर्विकार यही स्थिति मुक्ति है ॥ ७ ॥

यही सिद्धान्त एकमात्र शान्तिका कारण है, दूसरी-दूसरी कल्पनाओंमें तो केवल वादियोंका कलहमात्र होनेके कारण मिथ्या कण्ठशोषण ही है, इस आशयसे उन वादियोंको लक्ष्य कर कहते हैं—'द्वैता०' इत्यादि ।

हे पण्डितमानी वादिगण, आप मूर्खोंके सदृश द्वैत, अद्वैत आदि अनेक तरहके सङ्कल्पोंसे तरह-तरहके कलहरूप वचनोंका विचार कर दुःखके लिए व्यर्थके कण्ठशोषणरूप विषादको मत प्राप्त कीजिये । परम पुरुषार्थके हेतुभूत इसी सिद्धान्तका आप अवलम्बन कीजिए ॥ ८ ॥

असदाश्रयते दुःखं स्वप्नवद्घनवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परचितानिव ॥ ९ ॥
दुःखं सदेव नाश्नाति सुप्तवत्तनुवासनः ।
रूपालोकमनस्कारान् सङ्कल्परहितानिव ॥ १० ॥
अत्यन्ततनुतामेत्य वासनैवेति मुक्तताम् ।
देशकालक्रियायोगात्पदार्थे भावनामिव ॥ ११ ॥
अत्यन्ततनुतां याता वासनैवेति मुक्तताम् ।
पराणुपरिणामेन खतां खेऽभ्रादिका यथा ॥ १२ ॥

जिस पुरुषकी वृत्ति बहिर्मुख है, वह पुरुष उस तरह असत् भी दुःखका निवारण नहीं कर सकता, जिस तरह असत् रूपादिके अनुभवका निवारण नहीं कर सकता अर्थात् उस पुरुषके लिए दुःख दुर्निवार ही है, परन्तु जिस पुरुषकी अन्तर्मुख वृत्ति है, वह पुरुष तो प्रारब्धप्राप्त दुःखका अनुभव करते हुए भी अपने आत्मानन्दमें ही मस्त रहता है, अतः आत्मानन्दके अनुभवसे आच्छादित हुआ दुःख भोगा जा रहा भी उसके लिए अभुक्त-सा ही रहता है, यह कहते हैं—'असदाश्रयते' इत्यादिसे ।

भद्र, दृढ़ वासनासे युक्त पुरुष स्वप्नके सदृश असत् दुःखका उस तरह अनुभव करता है, जिस तरह सङ्कल्पसे रचित असत् रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदिका यानी बाह्य एवं आभ्यन्तरिक पदार्थोंका अनुभव करता है ॥ ९ ॥

जिस पुरुषकी वासना हट गई है, वह पुरुष तो नींद ले रहे पुरुषके सदृश प्रारब्धप्राप्त दुःखका भी अनुभव उस तरह नहीं करता, जिस तरह सङ्कल्पशून्य रूपालोक तथा मानसिक दुःख आदिका अनुभव नहीं करता ॥ १० ॥

उपर्युक्त सिद्धान्तसे यही झलका कि वासनाओंकी वृद्धिसे जैसे संसारका अनुभव होता है, वैसे ही वासनाओंका ह्रास ही देशकालके क्रमसे मुक्तिका अनुभव सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'अत्यन्त०' इत्यादिसे ।

अत्यन्त ह्रासको प्राप्त हुई वासना ही देश, काल और क्रियाके सम्बन्धसे मुक्तिको ऐसे प्राप्त होती है, जैसे पदार्थमें भावना पदार्थरूपताको प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

अत्यन्त तनुताको (क्षीणताको) प्राप्त वासना ही ऐसे मुक्तिरूप बन जाती है, जैसे आकाशमें मेघ, कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म बनकर आकाशरूप बन जाते हैं ॥ १२ ॥

अहंभावनया बोधे वासना घनतानवा ।
विपश्चित्सङ्गमाभ्यासात्पाण्डित्यमिव मूढता ॥ १३ ॥
नाहमस्तीह मद्युक्त्या निश्चयोऽन्तः शमात्मकः ।
जीवतोऽजीवतश्चास्ति रूढबोध इति स्मृतः ॥ १४ ॥
वायौ द्रव्यमिवात्रेदं जगदादि च भासते ।
कोऽहं कथमिदं चेति विचारेणैव शाम्यति ॥ १५ ॥
नाहमित्येव निर्वाणं किमेतावति मूढता ।
सत्सङ्गमविचाराभ्यामेतदाश्ववगम्यते ॥ १६ ॥
क्षीयते तत्त्ववित्सङ्गादहमित्येव बन्धनम् ।
आलोकेनेव तिमिरं दिवसेनेव यामिनी ॥ १७ ॥

वासनाके उच्छेदमें कौन उपाय है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'अहम्भावनया' इत्यादिसे ।

जैसे पण्डितोंके संसर्गसे बढ़े हुए अभ्याससे मूढ़ता क्षीण होकर विद्वत्ताके रूपमें परिणत हो जाती है, वैसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावनासे दिनपर-दिन अत्यन्त क्षीणताको प्राप्त हुई वासना ही मुक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है ॥१३॥

कहाँतक आत्माके ज्ञानको बढ़ाना चाहिए ? इस प्रश्नका उत्तर यही है कि जबतक आत्माका ज्ञान दृढ़ न बन जाय, तबतक, इस अभिप्रायको लेकर दृढ़ बोधका (दृढ़ आत्मज्ञानका) लक्षण कहते हैं—'नाहमस्तीह' इत्यादिसे ।

भद्र, मेरी युक्तिका अवलम्बनकर यानी 'मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकारकी दृढ़ अभ्यस्त ब्रह्मभावनाका अवलम्बनकर इस संसारमें जीवित या परलोकगत योगीके अन्दर 'अहंशब्दार्थ जीव नहीं है' यह जो शमात्मक निश्चय उत्पन्न होता है, वही रूढ़ बोध कहा गया है ॥ १४ ॥

वायुमें कल्पित द्रव्य और क्रियाकी नाईं इस आत्मामें यह सब जगत् जीव आदि कल्पित ही है। वह सब 'मैं कौन हूँ' 'यह कैसे उत्पन्न हुआ' इस विचारसे नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अहंकार आदिकी सत्ताका त्रैकालिक अभाव ही मोक्ष है, अतः इतनेको लेकर मूढ़ताका अवलम्बन क्यों किया जाय ? इसका परिज्ञान सत्संग और अभ्याससे तत्काल ही किया जा सकता है ॥ १६ ॥

जैसे प्रकाशसे अन्धकार नष्ट हो जाता है, जैसे दिवससे रात्रि नष्ट हो

कोऽहं कथमिदं दृश्यं को जीवः किं च जीवनम्।
इति तत्त्वज्ञसंयोगाद्यावज्जीवं विचारयेत् ॥ १८ ॥
जीवितं भुवनं भाति ततोऽहमिति नश्यति।
तत्त्वमेकेन तज्ज्ञार्कसेवनात्स निषेव्यताम् ॥ १९ ॥
यो यो बोधातिशयवांस्तं तं पृथगुपास्व भो।
सङ्गमे कथयोदेति तेषां वादपिशाचिका ॥ २० ॥
वादयक्षेऽप्यभ्युदिते बालस्येव विपश्चितः।
युक्तियुक्तमलं मुख्यमुदेत्यहमिति भ्रमः ॥ २१ ॥

जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके सत्सङ्गसे अहम्भावरूपी बन्धन तत्काल ही नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

भद्र, मैं कौन हूँ, यह प्रपञ्च किस तरह आया, जीव कौन है, प्राणधारणरूप जीवनका क्या स्वरूप है—इन सबका तत्त्वज्ञके सङ्गसे जीवनपर्यन्त विचार करना चाहिए ॥ १८ ॥

वह विचार गुरुजीकी सेवा करनेसे सफल हो जाता है, यह कहते हैं—'जीवितम्' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, जो तत्त्वज्ञरूपी सूर्य है उसका सेवन (सङ्ग) करनेसे यह सारा ही जगत् ज्ञानसे प्रकाशमान हो जाता है, सब पदार्थोंका स्वरूप ढँक देनेवाला अहम्भावरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है, वस्तुका असली स्वरूप एक ही क्षणमें भासने लग जाता है, अतः तत्त्वज्ञरूपी सूर्यकी आप सेवा (सङ्गति) करें ॥१९॥

जब अनेक विद्वान् और अनेक तार्किक पुरुषोंकी मण्डली जुट जाय, तब मैं यह कैसे जान सकता हूँ कि यह विद्वान् है और यह तार्किक है ? इसपर कहते हैं—'यो यो' इत्यादिसे।

हे भद्र, जो-जो अपनेसे अधिक ज्ञानवान् हों उन-सबकी अलग-अलग सङ्गति कीजिये। उनका सङ्गम होनेपर परस्पर विरुद्ध युक्तिका जब कथन होगा, तब उससे वादरूपी पिशाचिनी उत्पन्न होगी ॥ २० ॥

भले ही वादरूप पिशाचिका उत्पन्न हो, इसमें क्या दोष है ? इसपर कहते हैं—'वाद०' इत्यादिसे।

जब वादरूपी यक्ष उत्पन्न होगा, तब बालकके सदृश ज्ञानी श्रोताको भी

अतः प्रत्येकमेकान्ते प्राज्ञः सेवेत पण्डितम् ।
एकीकृत्य तदुक्तांस्तानर्थान् बुद्ध्या विचारयेत् ॥ २२ ॥
विचारयेत्तदुक्त्यर्थं बुद्ध्या बुद्धिविवृद्धये ।
सर्वसङ्कल्पमुक्तं यत्तत्सत्तन्मयतां व्रजेत् ॥ २३ ॥
विपश्चित्सङ्गमैर्बुद्धिं नीत्वा परमतीक्ष्णताम् ।
अज्ञानलतिका सैका कणशः क्रियतामलम् ॥ २४ ॥
एषोऽर्थः सम्भवत्येव तेनेदं कथयाम्यहम् ।
स्वानुभूतं वयं बाला नासमञ्जसवादिनः ॥ २५ ॥

तर्कयुक्त यानी तार्किकोंके द्वारा प्रतिपादित हो रहा आत्माका स्वरूप ही मुख्य है और वही मुख्य मेरे लिए पर्याप्त है, ऐसा भ्रम हो जाता है, अन्धगोलाङ्गूल न्यायसे उसका अवलम्बन करना अनर्थका ही कारण होगा ॥ २१ ॥

इसलिए प्रत्येक पण्डितके पास जाकर एकान्तमें बुद्धिमान् पुरुषको उसकी सेवा करनी चाहिए, प्रश्न करना चाहिए और फिर उनके द्वारा कथित अर्थोंको मिलाकर अपनी बुद्धिसे विचार करना चाहिए ॥ २२ ॥

उन पण्डितोंकी उक्तियोंके (वचनोंके) अर्थोंकी अपनी बुद्धि द्वारा श्रुति, युक्ति, स्वानुभव एवं अन्य विद्वानोंके अनुभवोंको मिलाकर बुद्धिकी शुद्धिके लिए खूब बार-बार परीक्षा करनी चाहिए । अनन्तर समस्त सङ्कल्पोंसे निर्मुक्त जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीका अवलम्बनकर तन्मय बन जाना चाहिए ॥ २३ ॥

इसीसे तत्त्वज्ञानका उदय और उससे अज्ञानका उच्छेद हो जाता है, यह कहते हैं—'विपश्चित्' इत्यादिसे ।

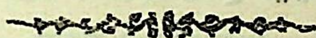
पण्डितोंके सम्बन्धसे बुद्धिको अत्यन्त तीक्ष्ण बनाकर केवल उस अज्ञानरूपी लताको खूब छोटे-छोटे कणोंमें बना दीजिए ॥ २४ ॥

मेरे कहे गये वचनोंमें आप कभी असम्भवकी शङ्का न करें, यह कहते हैं—'एषोऽर्थः' इत्यादिसे ।

हे रामभद्र, मैंने जो कुछ अर्थ कहा है, वह सब सम्भव ही है, असम्भव नहीं, इसीलिए मैंने इस अपने अनुभूत अर्थका आपसे वर्णन किया है । यह आप ध्यान रखिए कि हम लोग असम्बद्ध कहनेवाले बालक नहीं हैं ॥ २५ ॥

व्योम्नोऽम्बुवाहादिविजृम्भयेव
तरङ्गभङ्ग्येव महाजलस्य ।
न युज्यते नापि च नश्यतीह
नाशोदयौ निर्मननस्य किञ्चित् ॥ २६ ॥
इदं हि सर्वं मृगतृष्णिकाम्बुवन्
निरामये ब्रह्मणि शान्त आतते ।
विचारिते नाहमितीह विद्यते
कुतः क्व कस्मान्मननादिविभ्रमः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यावबोधनोपदेशो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥



जो समस्त कल्पनाओंसे परे है, वही असली तत्त्व है, असली वस्तुकी तन्मयता बन जानेपर सारे जगत्का व्यवहार करें, तो भी उससे ज्ञानीके लिए किसी इष्ट वस्तुकी क्षति या अनिष्टवस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, यह कहते हैं—'व्योम्नः' इत्यादिसे ।

हे राघव, जैसे आकाशमें मेघ या कुहरे आदिका ढेर हो जाय अथवा जलमें अनेक तरहके तरङ्गोंका आविर्भाव हो जाय, तो भी उनसे आकाश या जलमें किसी इष्टकी क्षति या अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती, ठीक इसी तरह सम्पूर्ण सङ्कल्पोंसे निर्मुक्त हुए ज्ञानी पुरुषको, सभी तरहके व्यवहारोंसे, न तो किसी इष्टकी क्षति होती है और न किसी अनिष्टकी प्राप्ति ही होती है ॥ २६ ॥

आकाश एवं समुद्र स्थलमें द्वैतपन रहता है, इसलिए उनमें इष्टक्षति एवं अनिष्टप्राप्तिकी किसी तरह शङ्का हो भी सकती है, परन्तु विद्वान् पुरुष तो कूटस्थ अद्वय परमात्मरूप हो गया है, अतः उसमें इन भ्रमात्मक पदार्थोंसे इष्टक्षति एवं अनिष्टप्राप्तिकी शङ्का ही नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'इदम्' इत्यादि ।

समस्त विकारोंसे शून्य एवं परिपूर्णस्वरूप आत्माका जब विचार कर लिया यानी तत्त्वज्ञान हो गया, तब यह सारा जगत और अहम्भाव मृगतृष्णाजलके

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वपौरुषेण स्वधिया सत्सङ्गमविकासया ।
यदि ना नीयते ज्ञत्वं तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ १ ॥
स्वं कल्पितं कल्पितं च प्रतिकल्पनया स्वया ।
तदेवान्यत्वमादत्ते विषत्वममृतं यथा ॥ २ ॥
कल्पना चाकल्पनान्ता मुक्तता यदकल्पनम् ।
एतच्च भोगसन्त्यागपूर्वं सिध्यति नान्यथा ॥ ३ ॥

सदृश पृथक् अस्तित्व रख ही नहीं सकता, ऐसी स्थितिमें इस तत्त्वज्ञ पुरुषमें मनन आदि भ्रान्ति कहाँसे आ सकती है या कहींपर क्यों रह सकती है ॥ २७ ॥

बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

—०—

तेंतीसवाँ सर्ग

[संवित्की बाह्यमुखताके कारणसे भ्रान्तिरूप कल्पनाकी प्रतिकल्पना (भ्रान्तिकल्पनाके निवर्तक शास्त्रीय उपाय) और परलोककी चिकित्साका वर्णन]

सबसे पहले प्रतिकल्पनाको बतलानेके लिए उपक्रम करते हैं—'स्वपौरुषेण' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, सत्समागमसे विकासको प्राप्त स्वबुद्धिरूप अपना ही पुरुषार्थ यदि पुरुषको तत्त्वज्ञान प्राप्त करा दे, तो फिर भिन्नतारूप कोई संसारका कारण रहता ही नहीं ॥ १ ॥

ये जितने कल्पनासे बने हुए तथा कल्पनाके कारण अविद्या, वासना आदि अशास्त्रीय पदार्थ हैं, वे सब अपनी शास्त्रीय प्रतिकल्पनासे बन्धनहेतुता छोड़कर मोक्षोपयोगी ऐसे बन जाते हैं; जैसे कि स्वभावतः मरणहेतु विष रसायनशास्त्रोंमें दर्शित उपायरूप प्रतिकल्पनासे विषपनेको छोड़कर अमृतरूप बन जाता है ॥ २ ॥

कबतक प्रतिकल्पना करनी चाहिए, इसपर 'समस्त कल्पनाओंकी निवृत्ति जबतक न हो, तबतक' यह कहते हैं—'कल्पना' इत्यादिसे ।

यतः आत्माकी मुक्तता कल्पनासे शून्य है, अतः सब कल्पनाओंकी निवृत्ति जबतक न हो जाय, तबतक प्रतिकल्पना करनी चाहिए । यह कल्पनाशून्य मुक्तता

वचसा मनसा चान्तः शब्दार्थाविविभावयन् ।
य आस्ते वर्द्धते तस्य कल्पनोपशमः शनैः ॥ ४ ॥
वर्जयित्वाऽहमित्येव नाविद्यास्तीतरात्मिका ।
शान्ते स्वभावनादस्मिन्नान्यो मोक्षोऽस्ति कश्चन ॥ ५ ॥
अहंभावमथादेहं किञ्चिच्छ्रयसि नश्यसि ।
जगदादिरुचिस्तस्मिंस्त्यक्ते शाम्यसि सिध्यसि ॥ ६ ॥
अचेतनादिदं सर्वं सदेवासदिव स्थितम् ।
शान्तं यस्योपलस्येव नमस्तस्मै महात्मने ॥ ७ ॥

पहले तो भोगत्यागसे यानी वैराग्य और संन्याससे ही सिद्ध होती है, दूसरे किसी अन्य उपायसे नहीं । इससे वैराग्यरूप और संन्यासरूप प्राथमिक प्रतिकल्पना अत्यन्त आवश्यक है ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रवण, मननसे आत्मतत्त्वका निश्चयकर वाणी और मनका निरोधरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'वचसा' इत्यादिसे ।

अनन्तर वाणी और मनसे शब्द और शब्दार्थोंकी भीतर भावना न करते हुए जो स्थित रहता है, उसकी धीरे-धीरे कल्पनाशान्ति बढ़ती जाती है ॥ ४ ॥

अनन्तर अनहम्भावरूप प्रतिकल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'वर्जयित्वा' इत्यादिसे ।

एकमात्र अहम्भावको छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं, इसलिए समस्त भावनाओंको दूर कर देनेवाले तत्त्वसाक्षात्कारसे इस अहम्भावके बाधित हो जानेपर दूसरा कोई मोक्षनामक पदार्थ प्राप्त करने लायक रहता ही नहीं यानी अहम्भावका नाश ही मोक्ष है ॥ ५ ॥

भद्र, तत्त्वसाक्षात्कार हो जानेके बाद भी यदि आप पहलेके जगत्-जीवरूप संसारमें रुचि रखकर स्थूलदेहके विनाशकालतक कुछ थोड़े-से अहम्भावका आश्रयण करेंगे, तो अपरिच्छिन्न आत्माके विस्मरणसे संसारतापसे अवश्य तपेंगे और यदि अहम्भावका त्याग कर देंगे, तो समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जायँगे तथा नित्यनिरतिशयानन्द स्वभावसे सिद्ध हो जायँगे ॥ ६ ॥

पत्थरके सदृश अचल जिसको बहिर्मुखवृत्तिके अज्ञानसे यह सब जगत् असद्रूप होता हुआ भी शान्त सत्की नाईं स्थित है, उस महात्माको प्रणाम है ॥७॥

अचेतनादिदं सर्वमुपलस्येव शाम्यति ।
शून्याख्यातः परालीनचित्तस्य चित्त्वभावनात् ॥ ८ ॥
इदमस्त्वथवा मास्तु चेतितं दुःखवृद्धये ।
अचेतितं सुखायान्तरचेतनमचेतनात् ॥ ९ ॥
द्वौ व्याधी देहिनो घोरावयं लोकस्तथा परः ।
याभ्यां घोराणि दुःखानि भुङ्क्ते सर्वैर्हि पीडितः ॥ १० ॥
इह लोके यतन्तेऽज्ञा व्याधौ भोगैर्दुरौषधैः ।
आजीवितं यथाशक्ति चिकित्सा नापरामये ॥ ११ ॥

परब्रह्ममें अशेषरूपसे विलीनचित्तका—पत्थरके सदृश बाहरका परिज्ञान न होनेसे और भीतर चितिरूपताकी भावना होनेसे शून्यरूप संज्ञाको प्राप्तकर—यह सब दृश्य प्रपञ्च शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सुख और दुःखके लिए विषयोंकी सत्ता या असत्ता उपयोगी नहीं है, किन्तु विषयोंका दर्शन या अदर्शन उपयोगी है, इसलिए विषयप्रकाशके लिए प्रवृत्ति करनेवाले चित्तका ही प्रथम निरोध करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'इदम०' इत्यादि ।

यह दृश्य रहे चाहे न रहे, परन्तु प्रकाशित दृश्य यानी दृश्यदर्शन ही दुःखकी वृद्धिका कारण है । अचेतित दृश्य यानी विषयका अदर्शन तो सुखका कारण है । पर विषयोंका अदर्शन चित्तक्रियाके निरोधसे जबतक ब्रह्माकारताकी सिद्धि न हो जाय, तबतककी प्रतिकल्पनासे होता है ॥ ९ ॥

परलोककी चिकित्साका वर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—'द्वौ' इत्यादिसे ।

शरीरधारियोंके लिए महाभयङ्कर दो व्याधियाँ हैं—'एक तो यह लोक और दूसरा परलोक । क्योंकि इन्हीं दोनोंके कारण पीड़ित होकर मनुष्य आध्यात्मिक आदि भावोंसे अनेक दुःख भोगता है ॥ १० ॥

इस लोकमें अज्ञानी पुरुष क्षुधा, तृषा आदि व्याधियोंके लिए अन्न, पान आदि भोगरूप निकृष्ट औषधियोंका अवलम्बनकर जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, परन्तु परलोकमें नरक आदि व्याधियोंके लिए भोगोंसे कुछ भी चिकित्सा नहीं होती ॥ ११ ॥

परलोकमहाव्याधौ प्रयतन्ते चिकित्सनम् ।
शमसत्सङ्गबोधाख्यैरमृतैः पुरुषोत्तमाः ॥ १२ ॥
परलोकचिकित्सायां सावधाना भवन्ति ये ।
मोक्षमार्गमहेच्छायां शमशक्त्या जयन्ति ते ॥ १३ ॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ १४ ॥
इहलोकचिकित्साभिर्जीवितं यातु मा क्षयम् ।
आत्मज्ञानौषधैरज्ञाः परलोकश्चिकित्स्यताम् ॥ १५ ॥
आयुर्वायुचलत्पत्रलवाम्बुकणभङ्गुरम् ।
परलोकमहाव्याधिर्यत्नेनाऽऽशु चिकित्स्यताम् ॥ १६ ॥
परलोकमहाव्याधौ यत्नेनाऽऽशु चिकित्सिते ।
इहलोकमयो व्याधिः स्वयमाशूपशाम्यति ॥ १७ ॥

जो उत्तमपुरुष हैं, वे परलोककी महाव्याधिमें चिकित्साके लिए शान्ति, सत्सङ्गति तथा आत्मविचाररूप अमृततुल्य उपायोंसे प्रयत्न करते हैं ॥ १२ ॥

जो पुरुष परलोककी चिकित्साके लिए सावधान यानी अपथ्य भोगोंके त्याग और सत्समागम आदि औषधके सेवनमें सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्गकी महती इच्छामें अपने शमगुणकी बड़ी शक्तिके कारण सर्वदा विजयी होते हैं ॥१३॥

परलोककी चिकित्सा परलोकमें जाकर ही करेंगे, यहांपर उसकी चिन्ता करनेसे क्या फल ? इसपर कहते हैं—'इहैव' इत्यादिसे ।

जो पुरुष यहींपर नरकरूप व्याधिकी चिकित्सा नहीं करता, वह व्याधिग्रस्त पुरुष औषधरहित नरक आदि प्रदेशमें जाकर क्या चिकित्सा करेगा ॥ १४ ॥

हे अज्ञानीजनो, तुम लोग इस लोककी चिकित्सामें निरत होकर अपना जीवन क्षीण मत करो, परन्तु आत्मज्ञानके औषधोंसे परलोककी चिकित्सा करो ॥ १५ ॥

आयु तो ऐसी क्षणभङ्गुर (एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाली) है जैसा कि वायुसे कम्पित हो रहा पत्तेका छोटा टुकड़ा और जलकण । इसलिए बड़े यत्नसे परलोकरूप महाव्याधिकी शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करनेमें तत्पर हो जाओ ॥ १६ ॥

इस लोककी व्याधिकी चिकित्साके लिए दूसरे यत्नकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'परलोक०' इत्यादिसे ।

संविन्मात्रं विदुर्जन्तुं तस्य प्रसरणं जगत् ।
परमाणूदरेऽप्यस्ति तच्छैलशतविस्तरम् ॥ १८ ॥
यत्संविदः प्रसरणं रूपालोकमनांसि तत् ।
व्योमन्येवानुभूयन्ते नातः सत्यो जगद्भ्रमः ॥ १९ ॥
प्रलयेष्वपि दृष्टेषु जगद्दृश्याख्यविभ्रमः ।
न नश्यति न जायेत भ्रान्तिमात्रैकरूपिणः ॥ २० ॥
भोगपङ्कार्णवे मग्न आत्मा नोत्तार्यते यदि ।
स्वपौरुषचमत्कृत्या तदुपायोऽस्ति नेतरः ॥ २१ ॥

परलोकरूप व्याधिकी यत्नपूर्वक तत्काल ही चिकित्सा करनेपर इस लोककी व्याधि स्वयं अपने-आप ही शान्त होने लग जाती है ॥ १७ ॥

परलोककी व्याधिके लिए यद्यपि तपश्चर्या, तीर्थाटन, यज्ञ आदि चिकित्साएँ बतलाई गई हैं, तथापि उनसे उक्त व्याधि निर्मूल नष्ट नहीं होती, किन्तु आत्मज्ञानसे ही निर्मूल नष्ट होती है । आत्मज्ञान तो श्रवणादिपूर्वक समाधिके अभ्याससे यानी चितिकी बहिर्मुखताके निरोधसे ही होता है, इस आशयसे आत्मज्ञानका उपाय बतलानेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'संविन्मात्रम्' इत्यादिसे।

जितने जन्तु हैं, वे सब संविन्मात्ररूप (आत्माके ही स्वरूप) हैं, इस संवित्की बहिर्मुखता ही जगत् है। यह सारा जगत् एक छोटेसे परमाणुके उदरमें भी सैकड़ों पर्वतोंके विस्तारमें विद्यमान है, क्योंकि वहाँपर भी संवित् बैठी ही है ॥ १८ ॥

जो आत्मचितिका बहिर्मुखतासे विस्तार है, वही बाह्यविषय और भीतरी विषय (काम, सङ्कल्प आदि) हैं। ये चिदाकाशमें ही अनुभूत होते हैं, इसलिए जगत्का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

जगत्का रूप मिथ्या ही है, इसलिए हजारों प्रलयोंसे भी वह नष्ट नहीं होता या हजारों सृष्टियोंसे अपना अस्तित्व भी नहीं रखता । यदि नष्ट होता है, तो आत्माके ज्ञानसे ही, इस आशयसे कहते हैं—'प्रलयेष्वपि' इत्यादि ।

देखे गये प्रलयोंमें भी जगत्-भ्रमका न विनाश ही होता है या न देखी गई सृष्टियोंमें उसकी उत्पत्ति ही होती है, क्योंकि उसका असली रूप एकमात्र भ्रान्ति ही है ॥ २० ॥

आत्मज्ञान सम्पादनमें कौन-कौन उपाय है ? इस प्रश्नपर वैराग्य ही पहला उपाय है, यह कहते हैं—'भोग०' इत्यादिसे ।

अजितात्मा जनो मूढो रूढो भोगैककर्दमे ।
आपदां पात्रतामेति पयसामिव सागरः ॥ २२ ॥
जीवितस्य यथा बाल्यं दृष्टं प्राथमकल्पिकम् ।
निर्वाणस्य तथा भोगसन्त्यागो रागशान्तिदः ॥ २३ ॥
तज्ज्ञस्य जीवितनदी सकल्लोलाप्यसम्भ्रमा ।
समं वहति सौम्येव चित्रसंस्थेव नीरसा ॥ २४ ॥
अज्ञजीवितनद्यास्तु रसनात्यन्तभीषणाः ।
आवर्त्ता वृत्तिविक्षोभकल्लोलाः सहवाहिनः ॥ २५ ॥
सर्गवर्गाः प्रवल्गन्ति संवित्प्रसरलेशकाः ।
द्विचन्द्रबालवेतालमृगाम्बुस्वप्नमोहवत् ॥ २६ ॥

यदि पुरुष अपने पौरुषरूप चमत्कारसे भोगरूप कीचड़में फँसी हुई अपनी आत्माका उद्धार नहीं करता, तो फिर दूसरा कोई भी उपाय उसके उद्धारका रहता ही नहीं ॥ २१ ॥

जिसने अपने मनके ऊपर विजय पाई नहीं है, भोगरूपी कीचड़में फँसा हुआ वह मूढ़ पुरुष आपत्तियोंका ऐसे पात्र बन जाता है, जैसे जलोंका समुद्र ॥ २२ ॥

जैसे आयुकी सबसे पहली सीढ़ी बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है, वैसे ही मोक्षकी पहली सीढ़ी रागोंसे शान्ति देनेवाला भोगत्याग ही है ॥ २३ ॥

'रागसे शान्ति देनेवाला' यह जो विशेषण कहा गया है, उसका तात्पर्य—ज्ञानी और अज्ञानीकी आयुरूप नदीका वैलक्षण्य वर्णनसे—दिखलाते हैं—'तज्ज्ञस्य' इत्यादि ।

जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, उसकी आयुरूप नदी कल-कल ध्वनि करती हुई (प्रारब्धप्राप्त अनेक प्रवृत्तिरूप तरङ्गोंसे युक्त होती हुई) भी जगत्भ्रमोंसे शून्य है । अतएव चित्रमें चित्रित जलशून्य नदीके सदृश एकरूप एवं सौम्य (उपद्रव-रहित) होकर बहती-रहती है ॥ २४ ॥

और जो अज्ञानी हैं, उनकी आयुरूप नदियां तो अनेक तरहकी दुःख-क्रन्दनोंकी ध्वनियोंसे अत्यन्त भयङ्कर रहती हैं । बाह्यवृत्तियोंसे उत्पन्न अनेक विक्षोभरूप कल्लोल ही उनके साथ-साथ बहनेवाले आवर्त रहते हैं ॥ २५ ॥

अज्ञानियोंको अविचारसे ही सृष्टिके प्रतिभासरूप विक्षेप उत्पन्न होते हैं, यही संवित्तिकी एक बहिर्मुखता है, यह कहते हैं—'सर्ग०' इत्यादिसे ।

संविद्वारितरङ्गौघा भान्ति सर्गाः सहस्रशः ।
विचारितास्त्वसत्यास्ते सत्यास्त्वनुभवभ्रमात् ॥ २७ ॥

जगन्त्याकाशकोशेऽपि संवित्प्रसरणभ्रमात् ।
सन्तीवाऽप्यनुभूयन्ते न तु सत्यानि तानि तु ॥ २८ ॥

संविद्विकासपयसो बुद्बुदः सर्गविभ्रमः ।
अहमित्यादिसद्भावविकाराकाररूपवान् ॥ २९ ॥

संविन्निर्वाणमजगत्संविदुन्मीलनं जगत् ।
नान्तर्न बाह्यं नासत्यं न सत्यं सर्वमेव तत् ॥ ३० ॥

चिद्रूपमजमव्यक्तमेकमव्ययमीश्वरः ।
स्वत्वभावत्वरहितं ब्रह्म शान्तात्म खादपि ॥ ३१ ॥

अज्ञानियोंके लिए चितिकी बहिर्मुखताके एकलेशमात्ररूप अनेक तरहके सर्ग ऐसे निकलते-रहते हैं, जैसे दो चन्द्रमा, बालवेताल, मृगतृष्णाके जल तथा स्वप्नमोह—ये अज्ञानसे निकलते-रहते हैं ॥ २६ ॥

भद्र, संवित-रूपी जलके तरङ्ग ही हजारों सृष्टियोंके रूपोंमें भासते हैं । जब उनके विषयमें विचार किया जाता है, तब वे असत्य बन जाते हैं, और जब विचारित नहीं होते तब अज्ञानियोंके अनुभवसे सत्य भासने लग जाते हैं ॥२७॥

आत्माकी बहिर्मुखताके भ्रमसे ही आकाशमें भी अनेक तरहके गन्धर्वनगर आदि जगत् सत्य-से भासने लगते हैं, परन्तु विचार करनेपर वे सत्य नहीं ठहरते ॥ २८ ॥

आत्माकी बहिर्मुखतारूप जो जल है, उसीका यह जगद्भ्रम एक तरहके बुद्बुद् है और उसमें जो रूप है, वह अहङ्कार आदि सद्रूप भावविकारोंके आधारोंसे ही आया है ॥ २९ ॥

आत्माकी बहिर्मुखताका न होना ही समस्त जगत्की निवृत्ति है और आत्माकी बहिर्मुखता ही सम्पूर्ण जगत् है । वास्तवमें न कुछ भीतर है, न बाहर है, न असत्य है, न सत्य है । जो कुछ है, वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है ॥ ३० ॥

चिद्रूप, अज, अव्यक्त, एक, अविकार, ईश्वर, स्वत्व और भावत्वसे रहित ब्रह्म ही सर्वत्र है, वह आकाशसे भी अत्यन्त शान्त है ॥ ३१ ॥

ब्रह्मणो निःस्वभावस्य सर्गसंवेदने स्वतः ।
स्पन्दने पवनस्येव कारणं नोपयुज्यते ॥ ३२ ॥

स्वप्नानुभववद्भ्रान्तिर्ब्रह्माब्धौ ब्रह्मवीचयः ।
सर्गता वस्तुतस्त्वत्र न स्वप्नो न च सर्गता ॥ ३३ ॥

एकमेव निराभासमचित्त्वमजडं समम् ।
न सन्नासन्न सदसदिदमव्ययमद्वयम् ॥ ३४ ॥

यथास्थितस्यैव सतो यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।
संवित्प्रशमनं जातं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३५ ॥

आत्माकी जो बहिर्मुखता है, वह मिथ्याभूत अविद्याका ही विलास है, न कि सत्यरूप ब्रह्मके स्वभावसे उत्पन्न है, यह कहते हैं—'ब्रह्मणः' इत्यादिसे ।

हे भद्र, जिसमें किसी तरहका कोई स्वभाव ही नहीं है, उस ब्रह्ममें अपनेको सृष्टिका जो ज्ञान होता है, उसमें पवनके स्पन्दनकी नाईं, कोई कारण ही नहीं है, केवल अज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

जैसे आत्मामें स्वप्नका अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्रमें अविद्याजनित सर्गरूपता ब्रह्मकी तरङ्गें भी भ्रान्तिरूप ही हैं, और कुछ नहीं । वस्तुतस्तु आत्मामें न स्वप्न है एवं न सर्गरूपता ही है ॥ ३३ ॥

परमार्थदशामें ब्रह्मका स्वरूप क्या है ? इसे कहते हैं—'एकमेव' इत्यादिसे ।

ब्रह्म एक ही है, उसमें न कोई आभास है, न कोई चित्त्वरूप दूसरा धर्म है, न जडता है, किन्तु समता है । वह न सत् है, न असत् है, न सद्-असत् उभयरूप है । केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह अविकार है और दूसरेसे रहित है ॥ ३४ ॥

इस प्रकारके ब्रह्मरूपकी प्राप्तिकर स्थित रहना ही योगियोंके लिए बहिर्मुखताका अभाव और मौन (मुनित्व) है, यह कहते हैं—'यथास्थित०' इत्यादिसे ।

भद्र, जिस तरहकी मैंने स्थिति बतलाई, उस तरहकी स्थितिसे ही स्थित रहे जिस महामतिको बाह्यविषयोंका अज्ञानरूप आत्मशमन उत्पन्न हो गया है, उसीको सब मनुष्योंमें उत्तम मुनि कहते हैं ॥ ३५ ॥

सतोऽपि मृन्मयस्येव यस्याऽसंवेदनात्मकम् ।
साहं जगद्विगलितं तमाहुर्मुनिसत्तमम् ॥ ३६ ॥
यथा शाम्यत्यसङ्कल्पा सङ्कल्पनगरं तथा ।
वेदनोत्थं जगदहं चिति शाम्यत्यवेदनात् ॥ ३७ ॥
स्वभाववर्जं शब्दार्थाः सर्वं एव सहेतुकाः ।
स्वभावस्य तु यो हेतुर्मुक्तिस्तदनुभावनम् ॥ ३८ ॥
न कस्यचित्पदार्थस्य स्वभावोऽस्तीह कश्चन ।
महाचिदम्बुद्रवताः सर्वा एवाऽनुभूतयः ॥ ३९ ॥
महाचिदनिलस्पन्दा एता एवाऽनुभूतयः ।
एतास्ता ब्रह्मगगनशून्यता इति बुध्यताम् ॥ ४० ॥
वातस्पन्दाविवाऽभिन्नौ ब्रह्मसर्गौ विभिन्नता ।
तयोस्त्वसत्या स्वभ्रान्तौ स्वप्ने स्वमरणोपमा ॥ ४१ ॥

उसी महात्माको उत्तम मुनि कहते हैं, मिट्टीके मूर्तिके सदृश जिसका शरीर रहते भी विषयवेदनाशून्यरूप जीवभावके साथ जगत् नष्ट हो गया है ॥ ३६ ॥

असङ्कल्प ही जैसे सङ्कल्परूप सृष्टिका निवारण है, वैसे ही अदृष्टि ही दृष्ट सृष्टिका निवारण है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सङ्कल्पजनित नगरसृष्टि असङ्कल्पसे लीन हो जाती है, वैसे ही विषयवेदनसे जनित अहङ्काररूप समस्त जगत्-सृष्टि अवेदनसे चितिमें लीन हो जाती है ॥ ३७ ॥

स्वभावको छोड़कर यानी सब जड़ वस्तुओंमें अनुगत जड़तारूप मूल अविद्याको छोड़कर जितने नाम-रूपात्मक पदार्थ हैं, उन सभीके प्रति वह मूल अविद्या ही कारण है, परन्तु मूल अविद्याका जो साक्षीरूपसे कारण है, उसका अनुभव करना यानी अपनेमें तद्रूपताका अनुसन्धान करना ही मुक्ति है ॥ ३८ ॥

परमार्थमें तो किसी पदार्थका यहाँ कोई स्वभाव ही नहीं है, जितने ये अनुभव हैं, वे सब महाचितिरूप जलके द्रवस्वरूप हैं ॥ ३९ ॥

ये सभी अनुभव महाचितिरूपी वायुके स्पन्दन ही हैं, इसलिए वे सब अनुभव ब्रह्मरूप गगनकी शून्यरूपताका ही सेवन करते हैं, यह आप जानिये ॥ ४० ॥

भद्र, जैसे वायु और वायुके स्पन्दनमें कोई भिन्नता विद्यमान नहीं है, वैसे ही

भ्रान्तिस्तु तावत्तत्त्वार्थविचारो यावदस्फुटः ।
विचारे तु स्फुटे भ्रान्तिर्ब्रह्मतामेव गच्छति ॥ ४२ ॥
भ्रान्तिस्त्ववसत्या वस्त्वेव प्रेक्षयाऽतो न लभ्यते ।
शशशृङ्गवदत्यच्छमतो ब्रह्मैव शिष्यते ॥ ४३ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तमच्छं
समं शिवं शाश्वतमेकमेव ।
सर्वां जरामोहविकारभार-
भ्रान्तिं विमुच्याम्बरभावमेहि ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सत्यार्थोपन्यासयोगो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥



ब्रह्म और ब्रह्मकी सृष्टिमें भी कोई भिन्नता नहीं है। अपने स्वरूपकी भ्रान्ति हो जानेपर ही उनमें विभिन्नता भासती है, पर वह स्वप्नमें स्वमरणके सदृश असत्यरूप है ॥ ४१ ॥

कबतक वह भ्रान्ति रहती है, इसपर कहते हैं—'भ्रान्तिस्तु' इत्यादिसे।

जबतक तत्त्वार्थका विचार विस्पष्ट नहीं हो जाता, तबतक ही यह भ्रान्ति रहती है और जब विचार स्पष्ट हो जाता है, तब तो यह सारी भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको ही प्राप्त कर लेती है ॥ ४२ ॥

भ्रान्ति कैसे ब्रह्मरूपताको प्राप्त कर लेती है, इसपर कहते हैं—'भ्रान्ति०' इत्यादिसे।

भ्रान्ति तो असत्य और अवस्तुरूप ही है, अतः विचार करनेपर भी शशशृङ्गकी नाईं वह प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसी स्थितिमें अतिनिर्मल ब्रह्म ही बच जाता है। तात्पर्य यह निकला कि भ्रान्तिमें जो सत्तास्फूर्तिरूप अंश है, वही ब्रह्मरूपताको प्राप्त करता है, दूसरी चीज तो कोई है नहीं, अतः दूसरे अंशके अभिप्रायसे भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको प्राप्त करती है, यह नहीं कहा जा सकता है ॥४३॥

समस्त भ्रमोंका जब बाध हो चुका, तब आखिरमें बचे हुए ब्रह्मरूपको बतला रहे श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजीको ब्रह्मरूपताकी स्थितिमें स्थापित करते हैं—'अनादि०' इत्यादिसे।

चतुस्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

प्राप्तेषु सुखदुःखेषु यो नश्यति स नश्यति ।
यो न नश्यत्यनाशोऽसावलं शास्त्रोपदेशनैः ॥ १ ॥
यस्य चेच्छोदयस्तस्य सन्त्यवश्यं सुखादयः ।
ते चेत्सम्यक् चिकित्स्यन्ते पूर्वमिच्छैव मुच्यताम् ॥ २ ॥

हे श्रीरामजी, देहके सम्बन्धसे प्राप्त हुई सभी जरा, मोह, विकार आदि भारस्वरूप भ्रान्तियोंको छोड़कर आप अब उस ब्रह्माकाशरूपताको प्राप्त कर लीजिए, जो आदि, मध्य और अन्तसे शून्य है, अनन्त, स्वच्छ, सम, शिव, नित्य एवं अद्वितीय ही है ॥ ४४ ॥

तेंतीसवाँ सर्ग समाप्त

चौंतीसवाँ सर्ग

[दृष्ट पदार्थोंकी सृष्टि ही जगत् है, यह जगत् अदर्शनसे ही नष्ट हो जाता है, इस प्रस्तुत विषयमें युक्तियोंका वर्णन]

'यह अहङ्कारात्मक जगत् दृष्टिरूप वेदनसे उत्पन्न हुआ है, अतः अदृष्टिरूप अवेदनसे ब्रह्मचितिमें लीन हो जाता है, यों जो पहले कहा गया था, उसमें युक्तियोंको दिखलानेकी इच्छासे महाराज वसिष्ठजी सबसे पहले विनाशशील दुःखादि त्रिपुटियोंसे अलगकर अविनाशशील आत्माको दिखलाते हुए 'सम्पूर्ण शास्त्रोंकी सफलता आत्माके दर्शनसे ही है' यह कहते हैं—'प्राप्तेषु' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, सुख-दुःखोंके आनेपर जो नष्ट हो जाता है वही नष्ट होता है और जो नष्ट नहीं होता, वही यह अविनाशी आत्मा है, बस, इससे और अधिक शास्त्रोंका उपदेश करना व्यर्थ ही है ॥ १ ॥

जो इच्छावाला है, वह नित्य दुःखी है और न वह आत्मा ही है, किन्तु इच्छात्याग आदि उपायोंका अवलम्बनकर प्रतिकार करने योग्य संसाररूपी रोगकी कोटिमें प्रविष्ट कोई दूसरा ही है, इस आशयसे कहते हैं—'यस्य' इत्यादि।

अहं जगदिदं भ्रान्तिर्नास्त्येव परमे पदे ।
इदं शान्तमनालम्बं सर्वं निर्वाणमव्ययम् ॥ ३ ॥
अहं ब्रह्म जगच्चेति शब्दसंभ्रमविभ्रमः ।
सर्वस्मिञ्छान्त आकाशे केन नामोपकल्पितः ॥ ४ ॥
नेहास्त्यहं न च जगन्न च ब्रह्मादिशब्दकाः ।
शान्तस्यैकस्य सर्वत्वात्कर्ता भोक्तेह कः कुतः ॥ ५ ॥
उपदेश्याऽतिशायित्वात्सर्वापह्नव एव च ।
कुतोऽयं स च सत्यात्मा त एवाऽहं विशिष्यते ॥ ६ ॥

जिस प्राणीको इच्छा आदि विद्यमान हैं, उसीको सुख आदि अवश्य होते-रहते हैं । यदि सुख आदि रोगोंकी भलीभाँति चिकित्सा करना अभीष्ट है, तो सबसे पहले इच्छाका ही परित्याग कर देना चाहिए ॥ २ ॥

जो अविनाशी आत्मा है, उसमें इच्छा आदिका अभिमानी और अभिमानका विषय जगत् दोनोंकी सम्भावना नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

अहङ्कार और यह जगत् दोनों तरहकी भ्रान्ति परमपद परमात्मामें है ही नहीं, यह तो शान्त, निरालम्बन (आश्रयरहित), सर्वात्मक विनाशशून्य मोक्षरूप ही है ॥ ३ ॥

ऐसी स्थितिमें वह 'अहम्' आदि शब्दोंका विषय ही नहीं है, यह कहते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, 'अहम् , ब्रह्म और जगत्' यह जो शब्दजालरूप भ्रम है, इसकी सर्वात्मक, शान्त चिदाकाशमें किसने कल्पना की ? यह बड़ा मारी आश्चर्य है ॥४॥

जब शब्दकी गति ही नहीं है, तब कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिकी तो कथा ही क्या ! यह कहते हैं—'नेहा०' इत्यादिसे ।

परमार्थमें तो, न अहम् है, न जगत् है और न ब्रह्म आदि शब्द ही हैं, क्योंकि जो शान्त अद्वितीय वस्तु है, वह तो सर्वात्मकरूप है । ऐसी स्थितिमें उसमें कर्तृता और भोक्तृता कैसी और कहाँसे रह सकती है ॥ ५ ॥

सब कुछका बाध करनेपर उपदेश आदिका भी बाध हो ही जायगा, इस परिस्थितिमें आपत्ति यह आ जायगी कि आत्मज्ञानका कोई उपाय ही न बच

अग्रस्थसिद्धसञ्चारो ज्ञायते नापि दारुणः ।
यथैकपार्श्वसंसुप्तनरः स्वप्नाभ्रगर्जितम् ॥ ७ ॥
ज्ञप्तौ नास्ति यतस्तेन सिद्धाचारो न लक्ष्यते ।
स्वभाव इति सर्वेण ज्ञप्तिस्थो ह्यनुभूयते ॥ ८ ॥
ज्ञप्तिरप्यात्मभूतैव सर्वं भाति हि तन्मयम् ।
तस्मात्साहं जगत्सर्वमभिन्नं परमात्मनः ॥ ९ ॥

पायगा, यह शङ्का यदि हो, तो भले ही हो, इससे कुछ बिगड़ेगा नहीं, क्योंकि एक तो जिसका हमें उपदेश करना है, उस ब्रह्मका तो बाध होता ही नहीं, दूसरी बात यह है कि ब्रह्ममें बाधित होनेवाले समस्त अनर्थोंकी अपेक्षा त्रिकाला-बाधित सत्य प्रत्यगात्मरूप अतिशय है और तीसरी बात यह है कि बाधोपायसे आत्मज्ञान हो जानेके बाद उपदेश आदिकी आवश्यकता ही नहीं रहती, इस आशयसे कहते हैं—'उपदेश्या०' इत्यादि ।

उपदेश्य ब्रह्ममें दूसरे अर्थोंकी अपेक्षा त्रिकालाबाधितत्वरूप अतिशय है, इससे सबका बाध होनेपर यह आत्मा सत्यस्वरूप ही किया जाता है, ऐसी स्थितिमें बाधसे वही तुम्हारा यह अहंरूप आत्मा विशिष्टरूप (परिशिष्टरूप) एवं सर्वातिशायी ही सिद्ध किया जाता है ॥ ६ ॥

यह ठीक है, परन्तु अदर्शनमात्रसे दृश्यकी शान्ति कैसे हो सकती है, इसपर कहते हैं—'अग्रस्थ०' इत्यादिसे ।

जैसे सामने ही रहनेवाले, परन्तु अन्तर्धानशक्तिसे अदृष्ट बड़े-बड़े सिद्ध पुरुषोंका एवं पिशाचोंका व्यवहार अतिभयङ्कर होता हुआ भी दिखाई नहीं पड़ता अथवा जैसे एक ही शयनपर सोये हुए दो पुरुषोंमें एकको स्वप्नमें जोरसे हुए मेघगर्जनको दूसरा पुरुष नहीं जान पाता यानी वह हम लोगोंकी दृष्टिसे है ही नहीं, वैसे ही यहाँपर भी जान लीजिये। अर्थात् चूँकि अपनी दृष्टिमें नहीं आता, इसलिए पुरुष सामने स्थित सिद्धव्यवहारको नहीं देख पाता, क्योंकि सभीका यह स्वभाव है कि अपनी ही दृष्टिमें आनेवाले पदार्थका सब अनुभव करते हैं ॥ ७, ८ ॥

इससे अपनी इन बातोंमें क्या आया, इस प्रश्नपर कहते हैं—'ज्ञप्ति०' इत्यादिसे ।

ज्ञप्तिर्जगत्तया भाति सङ्कल्पस्वप्नयोरिव ।
अनानावयवोदेति जलमूर्मितया यथा ॥ १० ॥
एकात्मैवोदयो ज्ञप्तेर्नानातामिव चाऽऽगतः ।
अज्ञानात्स त्ववस्तुत्वात्प्रेक्षितो नोपलभ्यते ॥ ११ ॥
यथा स्वावयवानेव सर्वानवयवी भवेत् ।
नित्यानवयवं शान्तं ब्रह्मैवेदं तथा जगत् ॥ १२ ॥
भाण्डलक्षाणि धत्तेऽन्तश्चिद्रूपकनकेष्टिका ।
यदेव सा चेतयते जगदादीव वेत्ति तत् ॥ १३ ॥
ब्रह्मैव कचतीवेदं सत्तयाऽच्छजगत्तया ।
चिद्रूपत्वाद्द्रवात्मत्वात्तरङ्गादितयाऽब्धिवत् ॥ १४ ॥

ज्ञप्तिपदार्थ भी आत्मरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह तद्रूप ही दीखता है । इससे अहङ्कारके सहित सम्पूर्ण जगत् परमात्मासे अभिन्न है ॥ ९ ॥

सङ्कल्प और स्वप्नके सदृश ही ज्ञप्ति जगत्के रूपसे भासती है । और वह यद्यपि अनेक अवयवोंवाली नहीं है, परन्तु जल ऊर्मियोंके रूपसे जैसे अनेक अवयववाला भासता है, वैसे ही अनेक अवयवोंवाली भासती है ॥ १० ॥

अनेकरूप-सा होकर आया हुआ एक आत्मा ही दृष्टिके अज्ञानसे विवर्तरूप उदय है यानी संसार है । यह संसार स्वयं अवस्तुरूप होनेके कारण तत्त्वदृष्टिसे भलीभाँति देखा गया भी प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ ११ ॥

जैसे यह जीव अवयवरहित होता हुआ भी हाथ, पैर आदि अपने अवयवोंकी कल्पना कर स्वप्नमनोरथ आदिमें अवयववाला हो जाता है, वैसे ही सदासे अवयवशून्य, स्वभावतः शान्त यह ब्रह्म ही जगद्रूप अवयवसे अवयववाला बन जाता है ॥ १२ ॥

यह चितिरूपी कुलाली जब स्मरण करती है, तभी जगत्को देखने लगती है और अपने भीतर लाखोंकी संख्यामें बड़े-बड़े बर्तन धारण करने लग जाती है ॥ १३ ॥

भद्र, चितिरूप होनेके कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्तासे सुन्दर जगत्के रूपमें ऐसे भासता है, जैसे द्रवरूप होनेके कारण सागर तरङ्गोंके रूपमें भासता है ॥ १४ ॥

यद्यच्चेतयतेऽन्तस्तु जगदादीव पश्यति ।
अरूपमपि रूपं स्वं यन्न चेतयते न तत् ॥ १५ ॥
चेतनाचेतनत्वोक्ती तस्येशत्वात्स्वदेहगे ।
उपदेशार्थमेवोक्ते न सद्विषयमर्थतः ॥ १६ ॥
न जगत्सन्न चैवाऽसद्भासते चेतनाच्चिति ।
अचेतनान्न कचति क इवाऽर्थग्रहोऽत्र नः ॥ १७ ॥
अचेतनं चेतनं च स्पन्दास्पन्दवदात्मनः ।
स्वायत्ते न कदर्थस्थे स्वस्थपाषाणवत्स्थिते ॥ १८ ॥
यस्येक्षितस्य नो सत्ता नाऽऽधारो न च कारणम् ।
सोऽहमित्येव यो यक्षो न जाने कुत उत्थितः ॥ १९ ॥

जिस-जिसका अपने अन्दर अध्याससे प्रकाश करता है, उस उसको ब्रह्म मानो देखता है। यद्यपि ब्रह्म अरूप है, तथापि उसे अपना रूप मान बैठता है और अपने अन्दर जिसका अध्यास नहीं करता उसे नहीं देखता ॥ १५ ॥

ब्रह्ममें चेतनता और अचेनताको लेकर जो कुछ वचन प्रयोग किया जाता है, वह तो मायाशबल होनेसे सर्वशक्ति सम्पन्न होनेके कारण ब्रह्मके विषयमें नहीं है, किन्तु स्वदेहभूत मायाके ही विषयमें है यानी चेतनत्व अचेनत्व मायागत ही है। वह वचन केवल उपदेश देनेके लिए ही कहा जाता है, वह वस्तुतः परमार्थ विषयक नहीं है—ब्रह्मका कुछ भी स्पर्श नहीं करता ॥ १६ ॥

भद्र, जगत् न सत् है और न असत् है, केवल चितिशक्तिमें बहिर्मुखवृत्तिके कारण भासता है। यदि बहिर्मुखवृत्तिका त्याग हो जाय, तो वह भासता ही नहीं, इसलिए हम लोगोंको इन विषयोंके लिए आग्रह ही क्या ॥ १७ ॥

ऐसा भले ही हो, इससे हुआ क्या, इसपर कहते हैं —'अचेतनम्' इत्यादिसे।

आत्माका चेतनत्व और अचेतनत्व स्वाधीन है, इसमें किसी यत्नकी आवश्यकता नहीं है, जैसे अपने स्वरूपमें स्थित स्फटिक पत्थरके सैकड़ों बिम्ब प्रतिबिम्बरूप स्पन्दन और अस्पन्दन स्वाधीन हैं, इनमें किसी दूसरे प्रयत्न या श्रमकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही आत्माके चेतनाचेतनके विषयमें भी जानना चाहिए ॥ १८ ॥

समस्त कल्पनाओंके मूलभूत एक अहङ्कारकी ही परीक्षा कर लेनेसे

यस्याऽहमिति यक्षस्य सत्तैवाऽस्ति न सत्यतः ।
अहो नु चित्रं तेनेमे भवन्तो विवशीकृताः ॥ २० ॥

काकतालीयवद्भ्रान्तमहं ब्रह्मणि भासते ।
स्वमेव रूपं दृग्भ्रान्तौ केशोण्डूकमिवाम्बरे ॥ २१ ॥

ब्रह्मैवाऽहं जगच्चात्र कुतो नाशसमुद्भवौ ।
अतो हर्षविषादानां किन्त्वेव कथमास्पदम् ॥ २२ ॥

सर्वेश्वरत्वादीशस्य विभातीदं प्रचेतितम् ।
अचेतितं च नो भाति तेनाचेतितमस्तु ते ॥ २३ ॥

मिथ्यात्वका निश्चय हो जानेपर समस्त जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'यस्ये०' इत्यादि ।

ठीक-ठीक देखनेपर जिसकी सत्ता नहीं मिलती, जिसका आधारभूत कोई नहीं है और जिसका कोई कारण नहीं है, वह 'अहम्' रूप यक्ष कहाँसे उत्पन्न हुआ, यह जाना नहीं जा सकता ॥ १९ ॥

जिस अहङ्काररूप यक्षकी वस्तुतः सत्ता ही नहीं है, उसीने इन आप सब लोगोंको पराधीन बना डाला है, यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥ २० ॥

ब्रह्ममें काकतालीय न्यायसे अकस्मात् ही भ्रान्त यह अहङ्कार ऐसे भासता है, जैसे कि दृष्टिकी भ्रान्ति होनेपर आकाशमें अपना ही रूप केशोण्डूकके रूपमें भासता है ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त वचनोंसे जो निष्कर्ष निकला, उसे बतलाते हैं—'ब्रह्मैव' इत्यादिसे ।

मैं और यह जगत् दोनों ब्रह्मरूप ही हैं, अतः इस दशामें जगत्की उत्पत्ति एवं नाश दोनों कहाँसे । इससे हर्ष और विषादका स्थान ही क्या और किस तरहसे ॥ २२ ॥

वर्णित दृष्टिसृष्टि कल्पनाओंका अनुवादकर फलित कहते हैं—'सर्वेश्वर०' इत्यादिसे ।

सर्वेश्वर होनेके कारण यानी मायाशबल होनेके कारण ही ईशमें प्रचेतित (दृष्ट) हुआ यह संसार भासता है और अचेतित (दृष्ट न हुआ) नहीं भासता है । इसलिए आपको यह जगत् सदा अचेतित ही रहे ॥ २३ ॥

काकतालीयवच्चिच्चाञ्जगतो भाति ब्रह्म खम् ।
स्वप्नसङ्कल्पपुरवत्तस्माद्भिद्यते कथम् ॥ २४ ॥
यथोर्म्यादि जले वृक्षे यथा वा शालभञ्जिका ।
यथा घटादयो भूमौ तथा ब्रह्मणि सर्गता ॥ २५ ॥
अनाकृतावसंस्थाने स्वच्छे यदनुभूयते ।
तत्तदेवात उदितं किंनामाहं जगन्ति किम् ॥ २६ ॥
मरुतः स्पन्दवैचित्र्यं सत्तयैव यथा तथा ।
ब्रह्मणो निःस्वभावस्य जगदाद्यहमादि च ॥ २७ ॥
यथऽभ्रे लक्ष्यते वृक्षगजवाजिमृगादिता ।
असन्निवेशाकृतिनि सर्गाहन्ते तथा परे ॥ २८ ॥

बतलाई गई रीतिसे यह जगत् भी चिद्रूप है, अतः ब्रह्माकाश ही उस रूपसे स्वप्नगर या सङ्कल्पनगरके सदृश अकस्मात् काकतालीयकी नाईं भासता है। वस्तुतस्तु वह जगत् ब्रह्मसे किस तरह अलग हो सकता है ? यदि ब्रह्मसे अलग मान लिया जाय, तो सत्ताका लाभ न होनेसे अलीक (अत्यन्त असत्) ही हो जायगा ॥ २४ ॥

जैसे शान्त जलमें अप्रकाश्य तरङ्ग आदि हैं, या न खोदे गये काठमें अदृश्य कठपुतलियाँ हैं अथवा भूमिमें अदृश्य घट आदि हैं, वैसे ही ब्रह्ममें यह सृष्टिका रूप है ॥ २५ ॥

जिसका कोई आकार नहीं है, जो अवयवोंसे रहित है और स्वच्छ है, उसमें जो कुछ दिखाई देता है, वह तद्रूप ही होता है, इसलिए यह उत्पन्न हुआ अहङ्कार क्या है और ये जगत् ही क्या हैं ॥ २६ ॥

अलग सत्ता न होनेसे भी वह वही है, यह कहते हैं—'मरुतः' इत्यादिसे। जैसे पवनका स्पन्दवैचित्र्य पवनसत्ताके ही अधीन है, वैसे ही अविचारहित ब्रह्मके अहम् आदि और जगत् आदि उसकी सत्ताके अधीन हैं ॥ २७ ॥

जैसे आकाशमें वृक्ष, हाथी, घोड़े आदिका रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित ब्रह्ममें सृष्टि एवं अहङ्कारका रूप दिखाई पड़ता है ॥ २८ ॥

सर्गोऽवयववद्भाति सर्व एव परे शिवे ।
एवं तदुपमां विद्धि कार्यकारणवद्यथा ॥ २९ ॥
अन्तःशान्तमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
जगत्यसम्भवादेव व्योमवत्सममास्यताम् ॥ ३० ॥
न भवन्तो न च वयं न जगन्ति न खादयः ।
सन्ति शान्तमशेषेण ब्रह्मेदं निर्भरं स्थितम् ॥ ३१ ॥
अशेषेष्वविशेषेषु शान्ताशेषविशेषता ।
सत्या सैवाहमित्याशु त्यक्त्वा मोक्षाय भाव्यताम् ॥ ३२ ॥
वेदनं बन्धनं विद्धि विद्धि मोक्षमवेदनम् ।
यथास्थितं यथाचारं भव शान्तमवेदनम् ॥ ३३ ॥
द्रष्टा न दृश्यतां याति चितिर्नायाति चेत्यताम् ।
चेत्याभावादजगति कः किं चेतयते कथम् ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामभद्र, परब्रह्ममें यह सारा जगत् वृक्षशाखाके सदृश भासता है। वट आदि वृक्षरूप कार्य एवं उसके बीज आदि कारणके सदृश जैसे लोकमें सूक्ष्म अर्थोंके लिए सादृश्य प्रसिद्ध हैं वैसे ही संसार और ब्रह्मका सादृश्य जानिये ॥२९॥

हे श्रीरामजी, आप भीतरसे शान्त, प्रयत्नोंसे निर्मुक्त, उपाधिसे रहित भ्रमसे शून्य होकर आकाशके समान निर्विक्षेप हो स्थित रहिये, क्योंकि वर्णित रीतिसे आपसे भिन्न कोई दूसरा जगत् है ही नहीं ॥ ३० ॥

न आप हैं, न हम हैं, न जगत् हैं, न आकाश आदि हैं, किन्तु अशेषरूपसे परिपूर्ण सर्वोपद्रववर्जित अपरोक्ष ब्रह्म ही स्थित है ॥ ३१ ॥

हे भद्र, चैतन्यसे अतिरिक्त किसी भी अन्य स्वरूपका निरूपण न हो सकनेसे सभी पदार्थ जब एकरूप ही सिद्ध हुए, तब विशेष विभ्रमको छोड़कर उक्त परमार्थसत्यस्वरूप चितिशक्ति ही मैं हूँ, ऐसी मोक्षके लिए तत्काल ही भावना करनी चाहिए ॥ ३२ ॥

भद्र, बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको बन्धन और बाह्य पदार्थोंके अज्ञानको मोक्ष जानिये। इसलिए आप भूमिकाभ्यासरूप विद्वानोंके आचरणका उल्लंघन न कर यथास्थित शान्त अवेदनरूप हो जाइये ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञानकी दृढ़ता होनेपर जड़ अर्थ चेतनरूप ही नहीं होते, यह कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

द्रष्टृदृश्यदशाभावाज्जाग्रत्येव सुषुप्तिवत् ।
शरदाकाशकोशाभमसत्तोपममास्यताम् ॥ ३५ ॥
तथैकब्रह्मचिद्रूपे पवनस्पन्दने यथा ।
अत्राचिद्बोधता सर्गो मोक्षो ब्रह्मैकबोधता ॥ ३६ ॥
चित्स्पन्दो ब्रह्ममरुतो यत्र सर्ग इति स्मृतः ।
नात्र चित्स्पन्दनं यत्स्यान्निर्वाणं तदुदाहृतम् ॥ ३७ ॥
बीजमन्तर्यथा वेत्ति स्वरूपं पल्लवादिकम् ।
तथा महाचिदन्तस्थं स्वरूपं वेत्ति सर्गताम् ॥ ३८ ॥
पत्रादिवेदनाद्बीजं यथा पत्रादि तिष्ठति ।
परा चित्सर्गसंवित्तिस्तथा भवति सर्गता ॥ ३९ ॥

द्रष्टा कभी दृश्यरूप नहीं होता और चितिशक्ति चेत्यरूप नहीं होती। चेत्यके अभावसे जगत्-शून्य ब्रह्ममें कौन, क्या और किस प्रकार चेतित (प्रकाशित) होगा ॥ ३४ ॥

हे भद्र, द्रष्टा, दृश्यकी दशा न रहनेसे जाग्रदवस्थामें ही सुषुप्तिके सदृश तथा शरदाकाशके सदृश शून्यकी तरह आप स्थित रहिये ॥ ३५ ॥

जैसे अज्ञानसे पवन और स्पन्दनमें भेदप्रतीति होती है वैसे ही अद्वितीय ब्रह्मचैतन्यमें अज्ञानसे भेद प्रतीत होता है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि चिति और अचितिका भेददर्शन ही सृष्टि है तथा ब्रह्मैक्यदर्शन मोक्ष है ॥ ३६ ॥

जहाँ ब्रह्मरूप वायुसे चितिका स्पन्दन है होता वहींपर सर्गनाम पड़ जाता है, अतः यहाँ जब चितिका स्पन्दन नहीं होगा, तभी वह निर्वाण कहा जायगा ॥ ३७ ॥

द्वैतदर्शन ही सृष्टिरूप है, यह दृष्टान्तोंसे प्रतिपादन करते हैं—'बीज०' इत्यादिसे।

जैसे बीज अपने भीतर पल्लव आदि स्वरूपका परिज्ञान करता है, वैसे ही महाचैतन्यरूप ब्रह्म अपने भीतर सृष्टिरूप स्वरूपका अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

ज्ञानकालमें ही ब्रह्मभावनिष्ठा हो जाती है, इसमें भी ये ही दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'पत्रादि०' इत्यादिसे।

जैसे पत्र आदिके ज्ञानसे बीज पत्र आदिरूपसे स्थित हो जाता है, वैसे ही परमचैतन्यरूप ब्रह्म सृष्टिज्ञानसे सृष्टिरूप हो जाता है ॥ ३९ ॥

यथा भावविकाशमाश्रित्पराः सर्गतास्तथा ।
सर्वे बीजानि दृष्टान्ताः तद्रूपा एव तन्मयाः ॥ ४० ॥
निर्विकारपरब्रह्ममयं सर्वमिदं जगत् ।
निर्विकारमनाद्यन्तमेवं विद्धि निरामयम् ॥ ४१ ॥
निजसङ्कल्पमात्रात्मा निजसङ्कल्पनात्क्षयी ।
द्वैताद्वैतविकाशोऽयं सङ्कल्पनगरं यथा ॥ ४२ ॥
शून्यत्वाकाशयोर्भेदो यादृशोऽवगतस्त्वया ।
भेदं निरात्मकं विद्धि तादृशं ब्रह्मसर्गयोः ॥ ४३ ॥
महाचिद्रूपिणी शान्ता या सत्ता ब्रह्मणः पुरा ।
स्वतः सेयमहं त्वं च मानवोऽस्मीत्यबोधतः ॥ ४४ ॥
ब्रह्मण्यस्मिन् जगद्रूपे न किञ्चिदपि जायते ।
जातमप्यथ नष्टं च न नश्यत्यम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥

वृक्षके छः भावविकार भी यहां दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे चैतन्यके आश्रित भावविकारोंके क्रमिक प्रतिभास ही सृष्टिरूप हैं, वैसे ही सभी बीज दृष्टान्त हैं, अतः बीज आदिरूपसे स्थित चैतन्यके ही विकाररूप होनेके कारण सृष्टियां तन्मय हैं ॥ ४० ॥

हे श्रीरामजी, निर्विकार परब्रह्ममय ही यह सब जगत् है, अतः विकाररहित, आदि-अन्तशून्य निरामय चिति ही सब कुछ है, यह आप जानिये ॥ ४१ ॥

सङ्कल्पनगरके सदृश यह द्वैताद्वैतात्मक जगत केवल अपना सङ्कल्परूप ही है, अतः अपना सङ्कल्प जब नष्ट हो जाता है, तब यह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

भद्र, शून्यता और आकाशका भेद जैसा आपने तुच्छ जाना, ब्रह्म और जगत्का भी भेद वैसा ही तुच्छरूप जानिये ॥ ४३ ॥

पूर्वसिद्ध महाचैतन्यरूप जो ब्रह्मकी सत्ता है, वही अज्ञानसे 'मैं मनुष्य हूँ' इस आकारको धारण कर अहङ्कारके रूपसे एवं जगतके रूपसे विवर्तित हो जाती है ॥ ४४ ॥

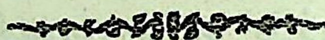
इस जगत्-रूप ब्रह्ममें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता । जलतरङ्गके सदृश उत्पन्न हुआ भी वास्तवमें उत्पन्न नहीं होता है और नष्ट हुआ भी वास्तवमें वह नष्ट नहीं होता है ॥ ४५ ॥

पदार्थब्रह्मरूपेण ब्रह्मैवात्मनि तिष्ठति ।
अवयवीवावयवे खे खं वारीव वारिणि ॥ ४६ ॥

निमेषादर्धभागेन देशाद्देशान्तरस्थितौ ।
यद्रूपं संविदो मध्ये स स्वभाव उपास्यताम् ॥ ४७ ॥

संक्षुब्धमक्षुब्धमिति द्विरूपं
संवित्स्वरूपं प्रवदन्ति सन्तः ।
श्रेयः परं येन समीहसे त्वं
तदेकनिष्ठो भव माऽमतिर्भूः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थयोगोपदेशो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥



पदार्थोंके रूपसे या ब्रह्मरूपसे अपने स्वरूपमें ब्रह्म ही स्थित है । जैसे कि अपने अवयवोंमें अवयवी (वृक्ष आदि), आकाशमें आकाश और जलमें जल स्थित रहता है ॥ ४६ ॥

चितिकी वास्तविक स्थिति तो निर्विषयक ही है, यह कहते हैं—'निमेषा०' इत्यादिसे ।

एक निमेषके अर्धभागसे एकदेशसे देशान्तरकी स्थितिमें जो मध्यमें ज्ञानकी स्थिति है, उस स्वभावकी ही आप उपासना कीजिए ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामजी, शास्त्रज्ञ विद्वान् संवित्का एकरूप तो संक्षुब्ध यानी अज्ञानियोंके अनुभवसे सिद्ध विवर्तवाला है, यह कहते हैं और दूसरा अक्षुब्ध यानी विवर्त-रहित कूटस्थ पूर्णानन्दैकरस है, यों कहते हैं । इन दोनों रूपोंमें आप अपना कल्याण जिससे चाहते हों, उसमें एकनिष्ठ हो जाइए । बिना परीक्षा किये किसीका ग्रहण कर अविवेकी मत बन जाइए ॥ ४८ ॥

चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त



पञ्चत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदः क्षणात् ।
यद्रूपममलं मध्ये परं तद्रूपमात्मनः ॥ १ ॥
गच्छंस्तिष्ठञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नुन्मिषन्निमिषन्हसन् ।
नूनं निरामयत्वाय नित्यमेतन्मयो भव ॥ २ ॥
तत एव निराभासात्सत्यान्निर्वासनैषणात् ।
यथास्थितं यथाचारमचलामरशैलवत् ॥ ३ ॥
एतद्रूपमविद्यायाः प्रेक्षिता यन्न लभ्यते ।
प्रेक्षिता लभ्यते चेत्सा तद्विद्यैव पराऽभवत् ॥ ४ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग

[प्रपञ्चसहित तथा प्रपञ्चरहित ब्रह्मतत्त्वकी अखण्ड एक दृष्टिके लिए सत्य और असत्य दोनों तरहसे भासमान ब्रह्मके स्वरूपका विस्तारपूर्वक वर्णन]

विरोधाभासोक्तियोंसे संक्षुब्ध और अक्षुब्ध दो रूपोंसे युक्त ब्रह्मका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी इच्छा रखनेवाले महाराज वसिष्ठजी पूर्वोक्त उपायसे परिचित अक्षुब्धरूपका उसमें अपनी दृढ़ स्थिति बनानेके लिए पहले स्मरण कराते हैं—'देशाद्देशान्तरम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, क्षणभरमें ही क्रमशः एक देशसे दूसरे अत्यन्त दूर देशतक प्राप्त संवित्का (ज्ञानका) दोनों देशोंके बीचमें जो निर्मल निर्विषयकरूप है वही परब्रह्म परमात्माका सर्वोत्कृष्ट अक्षुब्धरूप है ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, निरामय होनेके लिए यानी निर्वाणपदकी प्राप्तिके लिए चलते, सुनते, स्पर्श करते, सूँघते, जागते, तथा हँसते हुए आप इसी निर्विषय नित्य चिद्रूपमें अवश्य तन्मय हो जाइये ॥ २ ॥

जीवन्मुक्तोंकी स्थिति तथा अपने कुलके आचारके अनुसार सब व्यवहार करते हुए उसी निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छादिसे शून्य चितिस्वरूपसे, सुमेरु पर्वतके समान, कदापि चलायमान न होना ही अर्थात् उसमें दृढ़ स्थित रहना ही विद्या है ॥ ३ ॥

आगे कही जानेवाली बातोंमें उपयोगी होनेके कारण उस विद्याके विरुद्ध अविद्याका निरूपण करते हैं—'एतद्रूपम०' इत्यादिसे ।

अविद्यासम्भवाच्चेत्यचित्त्वे सम्भवतः क्व किम् ।
चेत्यते कथमेवान्तः शान्तिरेव बलोदिता ॥ ५ ॥
सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत् ।
सर्वं वा सर्ववद्भाति शुद्धं चाऽशुद्धवच्चतम् ॥ ६ ॥
अशून्यं शून्यमिव च शून्यं वा शून्यवत्स्फुटम् ।
स्फारमस्फारमिव तदस्फारं स्फारसन्निभम् ॥ ७ ॥
अविकारं विकारीव समं शान्तमशान्तवत् ।
सदेवाऽसदिवादृश्यं तदेवाऽतदिवोदितम् ॥ ८ ॥

हे श्रीरामजी, अविद्याका एकमात्र यही स्वरूप है कि प्रमाणों द्वारा भलीभांति विचारपूर्वक देखनेसे वह कहीं उपलब्ध न हो और विचारपूर्वक देखनेसे यदि उपलब्ध हो, तो फिर वह परा विद्या ही है ॥ ४ ॥

अविद्याके न रहनेसे चिति और चेत्य (विषय) के भेदका संभव कहां ! और भेद न रहनेसे वह चिति अपने भीतर किसको कैसे प्रकाशित करे ? इसलिए विचारकर देखनेसे यही प्रतीत होता है कि शान्त, विषयशून्य चिन्मात्रस्थिति ही बलात् उदित है ॥ ५ ॥

विद्या और अविद्या दोनोंसे मिले-जुले रहनेके कारण मध्यकी भूमिकामें आरूढ विवेकी पुरुषकी दृष्टिसे नियत एक रूपवाला होते हुए भी वह ब्रह्म अनियत-विरुद्ध नाना स्वभावसे युक्त-सा स्थित रहता है, इस तरहके अनेक विरोधाभासों तथा प्रमाण, युक्ति और अनुभव आदिसे सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसका विस्तृत वर्णन करते हैं—'सत्यम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्म और जगत् परमार्थतः एक ही है, परन्तु अज्ञानके कारण अनेक-सा यानी विरुद्धरूपसे स्थित भासता है । एवं सर्वत्रव्याप्त, परिपूर्ण और शुद्ध होनेपर भी ब्रह्म अपूर्ण और अशुद्ध-सा अज्ञानके कारण ही भासता है ॥ ६ ॥

अशून्य होनेपर भी प्रलयमें शून्यके समान तथा शून्य होनेपर भी सृष्टिकालमें अशून्यके समान वह स्पष्ट भासता है । देश और कालसे अपरिच्छिन्न होनेपर भी वह परिच्छिन्नके सदृश तथा अस्फार (विशाल देश, काल आदिसे शून्य) होनेपर भी वह स्फार (विशाल देशकालादि) के समान सद्रूप स्थित है ॥ ७ ॥

विकारशून्य होनेपर भी वह विकारीके समान, शान्त और समरूप होनेपर भी

अविभागं विभागीव निर्जाड्यं जडवद्गतम् ।
अचेत्यं चेत्यभावीव निरंशं सांशशोभनम् ॥ ९ ॥
अनहं सोऽहमिव तदनाशमिव नाशवत् ।
अकलङ्कं कलङ्कीव निर्वेद्यं वेद्यवाहिवत् ॥ १० ॥
आलोकिध्वान्तघनवन्नववच्च पुरातनम् ।
परमाणोरपि तनु गर्भीकृतजगद्गणम् ॥ ११ ॥
सर्वात्मकमपि त्यक्तदृष्टं कष्टेन भूयसा ।
अजालमपि जालाढ्यं चाशेषवदनेकधा ॥ १२ ॥
निर्मायमपि मायांशुमण्डलामलभास्करम् ।
ब्रह्म विद्धि विदांनाथमपामिव महोदधिम् ॥ १३ ॥

वह अज्ञानके कारण अशान्त तथा असमके समान, सत् होनेपर भी वह चक्षु आदिसे देखनेके अयोग्य होनेके कारण असत्के सदृश एवं तद्रूप होनेपर भी वही ब्रह्म अतद्-रूप-सा उदित जान पड़ता है ॥ ८ ॥

विभागशून्य होनेपर भी वह भागसहितके तुल्य, जाड्यरूपताको न प्राप्त होनेपर भी वह जड़के समान, विषयोंसे शून्य होनेपर भी वह विषयभावको प्राप्त हुएके समान, अंशशून्य होनेपर भी वह अंशयुक्तके समान सुशोभित दीखता है ॥ ९ ॥

अहङ्काररहित होनेपर भी अहङ्कारसहितके समान, अविनाशी होनेपर भी नाशवान्‌के सदृश, कलङ्कशून्य होनेपर भी कलङ्कयुक्तके समान, विषयरहित होनेपर भी विषयसहितके तुल्य वह ब्रह्म भासता है ॥ १० ॥

स्वप्रकाश होनेपर भी सघन अन्धकारयुक्तके समान, पुरातन होनेपर भी नवीनके समान, परमाणुसे भी सूक्ष्म तथा अनेक जगत्‌को अपने उदरके भीतर धारण किये हुए वह ब्रह्म स्थित है ॥ ११ ॥

सर्वात्मक होनेपर भी जिसने यज्ञ, दान, तप, चित्तशुद्धि, वैराग्य, श्रवण, मनन आदि महान् कष्टस्वरूप अपने पुरुषप्रयत्नसे सम्पूर्ण दृश्यसमूहका त्याग कर दिया है तथा सांसारिक प्रपञ्चजालसे शून्य होनेपर भी जो सांसारिक प्रपञ्चजालसे बँधे हुएके समान है एवं अनेक तरहसे स्थित होनेपर भी जो द्वितीय परिशेषशून्य है ॥ १२ ॥

मायारहित होनेपर भी जो मायारूपी किरणसमूहका निर्मल सूर्य है। जलोंके

जगद्रत्नमहाकोशं तुलायां तूलकाल्लघु ।
मायामरीचिशशिनमपि नेक्षणगोचरम् ॥ १४ ॥
अनन्तमपि निष्पारं न च क्वचिदपि स्थितम् ।
आकाशे वनविन्यासनगनिर्माणतत्परम् ॥ १५ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ १६ ॥
अकर्तृकर्मकरणमकारणमकारकम् ।
अन्तःशून्यतयैवैतच्चिराय परिपूरितम् ॥ १७ ॥
जगत्समुद्गकमपि नित्यं शून्यमरण्यवत् ।
अनन्तशैलकठिनमप्याकाशलवान्मृदु ॥ १८ ॥
प्रत्येकं प्रत्यहं प्रायः पुराणं पेलवं नवम् ।
आलोकमन्धकाराभं तमस्त्वालोकमाततम् ॥ १९ ॥

स्वामी सागरकी नाईं, वेदनमात्रस्वरूप होनेपर भी जो सम्पूर्ण वेदनोंका मानो स्वामी है—सर्वज्ञ है। हे श्रीरामजी, उसीको आप ब्रह्म जानिये ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डात्मना जगद्रूप रत्नोंका महाकोश अर्थात् अत्यन्त वजनदार होनेपर भी विवेककी तराजूपर तौलनेसे रूईसे भी अत्यन्त लघु (हलका) तथा मायारूपी किरणजालका चन्द्रमा होनेपर भी वह ब्रह्म ईक्षणगोचर (दृष्टिका विषय) नहीं है ॥१४॥

काल और देशसे अनन्त तथा अपार होनेपर भी कहीं एक नियत स्थानपर न स्थित न रहनेवाला एवं शून्यस्थानमें भी वनविन्यास तथा पर्वत आदिकी रचनामें तत्पर वह ब्रह्म है ॥ १५ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थोंमें वह अत्यन्तसूक्ष्म है, स्थूल पदार्थोंमें वह सबसे अत्यन्तस्थूल है, वजनदार पदार्थोंमें वह सबसे बढ़कर वजनदार है तथा श्रेष्ठ जितने पदार्थ हैं उन सबमें भी वह सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

कर्ता, कर्म और करणसे रहित, कारणशून्य, अकारक तथा अन्तःशून्य होनेके कारण ही यह ब्रह्म चिरकालसे कर्ता आदिसे परिपूर्ण स्थित है ॥ १७ ॥

जगद्रूपी रत्नोंकी पेटारी होनेपर भी नित्य जंगलके समान शून्य तथा अनन्त पर्वतोंके तुल्य कठिन होनेपर भी आकाशके लेशसे भी बढ़कर कोमल वह ब्रह्म स्थित है ॥ १८ ॥

प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येककालस्वरूप होनेपर भी प्रायः सबसे रहित, पुराण

प्रत्यक्षमपि दुर्लक्ष्यं परोक्षमपि चाग्रगम् ।
चिद्रूपमेव च जडं जडमेव चिदात्मकम् ॥ २० ॥
अहमेवाऽनहंभावमनहं वाऽहमेव च ।
अन्यदेव तदेवाऽहमहमेवान्यदेव तत् ॥ २१ ॥
अस्य पूर्णार्णवस्यान्तरिमे त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त इव तिष्ठन्ति स्वभावद्रवतात्मकाः ॥ २२ ॥
बिभर्ति सर्वमङ्गस्थं तुषारमिव शुक्लताम् ।
भाति सर्गस्त्वनेनैव तुषारेणेव शुक्लता ॥ २३ ॥
अदेशकालावयवोऽप्येष देवो दिवानिशम् ।
असज्जगत्तनोतीव यथा वारि तरङ्गकम् ॥ २४ ॥

होनेपर भी कोमल और नूतन, स्वयंप्रकाशस्वरूप होनेपर भी अन्धकारके सदृश तथा जगत्का तिरोभाव करनेवाला होनेके कारण अन्धकारस्वरूप होनेपर भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्त वह ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

प्रत्यक्ष होनेपर भी वह इन आँखोंसे दुर्लक्ष्य तथा परोक्ष होनेपर भी वह साक्षीरूपसे सामने स्थित है । चिद्रूप भी जड़ यानी जगद्-रूपसे विवर्तित तथा जड़ जगत् आदिके रूपसे भासित हो रहा भी वह ब्रह्म वस्तुतः शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप ही स्थित है ॥ २० ॥

अनहंभाव (युष्मदर्थका विषय) होनेपर भी अहंभावरूप, तथा अहंभाव-रूपसे भासित होनेपर भी वह अनहंभावरूप एवं इदमर्थका विषय अन्यरूप होनेपर भी वह आत्मरूप ही है तथा अहंरूप (आत्मरूप) होनेपर भी वह ब्रह्म अन्यके समान स्थित है ॥ २१ ॥

इस परिपूर्ण चिद्-रूप सागरके भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरङ्गें द्रवतारूप स्वभावसे स्फुरित हो रहीं-सी अवस्थित हैं ॥ २२ ॥

जैसे तुषार अपने अङ्गमें शुक्लता धारण करता है, वैसे ही यह चेतन स्थावर-जङ्गमात्मक सारी सृष्टिको अपने भीतर धारण करता है । जैसे तुषारसे शुक्लता सुशोभित होती है, वैसे ही इस चेतनसे ही यह सारी सृष्टि शोभित हो रही है ॥ २३ ॥

देश-कालादिके अवयवोंसे रहित भी यह चिद्रूप देव रात-दिन असद्रूप जगत्का ऐसे विस्तर करता-रहता है, जैसे कि जल तरङ्गोंका ॥ २४ ॥

एतस्मिन्विकसन्तीमा विपुलाकाशकानने ।
जगज्जरठमञ्जर्यः प्रसरत्पत्रपञ्चकाः ॥ २५ ॥

एष स्वप्रतिबिम्बस्य स्वयमालोकनेच्छया ।
अत्यन्तनिर्मलाकारः स्वयं मुकुरतां गतः ॥ २६ ॥

व्योमवृक्षफलस्याऽस्य स्वेच्छावयव उज्ज्वलाः ।
सर्गोपलम्भ उद्यच्च चमत्कुर्वन्ति संविदि ॥ २७ ॥

अन्तस्थेन बहिष्ठेन नानानानातयाऽऽत्मनि ।
एष सोऽन्तर्बहिर्भाति भावाभावविभावया ॥ २८ ॥

एतद्रूपा पदार्थश्रीरेतस्मिन्नेतदिच्छया ।
चमत्करोत्येतदर्थं जिह्वेव स्वास्यकोटरे ॥ २९ ॥

इस विस्तृत आकाशरूपी जंगलमें प्रसारको प्राप्त हो रहे पञ्चभूतरूप पत्तोंके सहित ये जगद्रूपी पुरानी मञ्जरियां विकसित हो रही हैं ॥ २५ ॥

अत्यन्त निर्मल आकारवाला चिद्रूप यह परमात्मा स्वयं अपना प्रतिबिम्ब (वर्णित जीवजगत्स्वरूप दूसरा आकार) देखनेकी इच्छासे दर्पणरूपताको प्राप्त हो गया है ॥ २६ ॥

अपरिच्छिन्न ब्रह्मसंवित्में आकाशरूपी गूलरके वृक्षके फलके सदृश इस ब्रह्माण्डके—अपनी इच्छासे कल्पित तीनों लोकके अवयवमें देदीप्यमान—सूर्य-चन्द्र आदि अपनेसे उदित हो रहे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा किरणजालको जीवभूत आत्माके रूपादिदर्शनमें उपकरण बनकर चमत्कृत करते हैं ॥ २७ ॥

वह परमात्मा ही भीतर स्थित वासनामय प्रपञ्चसे, बाहर स्थित जगत्स्वरूपसे, जाग्रत्-स्वप्नमें नानारूपसे और सुषुप्तिमें एकरूपसे भाव और अभावकी यानी आविर्भाव और तिरोभावकी भावना करके स्वयं अपनी आत्मामें ही बाहर और भीतर भासता है, इससे भिन्न अणुमात्र भी दूसरा कुछ नहीं भासता ॥ २८ ॥

अब इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'एतद्रूपा' इत्यादिसे ।

इस चितिरूप आत्मामें इस चितिकी ही इच्छासे चितिरूप पदार्थोंकी शोभा अपने ही लिए ऐसे चमत्कार कर रही है, जैसे जीभ अपने मुखरूप कोटरमें ॥ २९ ॥

अस्याम्भसो द्रवत्वं यत्तदिदं जगदुच्यते ।
संवित्स्वादूपलम्भाङ्गं भुवनावर्तवृत्तिमत् ॥ ३० ॥
शाम्यत्यत्र पदार्थश्रीः सर्वासामेव भास्वति ।
एतस्मादेव चोदेति स्वालोक इव तेजसः ॥ ३१ ॥
इदमेव जगत्सर्वं शुक्लत्वं तुहिने यथा ।
अत एताः प्रवर्तन्ते विद इन्दोरिवांशवः ॥ ३२ ॥
एतस्माद्रञ्जतोऽनङ्गाज्जगच्चित्रमिदं स्थितम् ।
विद्धि भावविकारादि शान्तमेतन्मयं ततम् ॥ ३३ ॥
अस्माद्वनतरोरेताः स्वरूढा गगनाङ्गणे ।
दृश्यशाखाः प्रवर्तन्ते जगज्जालगुलुच्छकाः ॥ ३४ ॥
व्ययोदयवती नूनमत्र दृश्यतरङ्गिणी ।
नानातानन्तकुसुमा वहत्यविचलाचले ॥ ३५ ॥

इस चितिरूपी जलका जो द्रवत्व है वही यह जगत् है, जिस जगत्के— संवित्से ही स्वादपूर्वक उपलब्ध हो रहे रूप, रस आदि—एक अङ्ग हैं तथा भुवन-रूप आवर्तकी जिसमें अनेक वृत्तियाँ हैं ॥ ३० ॥

सूर्य, चन्द्र, अग्निकण आदि सभी प्रकाशोंकी रूपादिपदार्थशोभा इसी चितिरूपी सूर्यमें सुषुप्ति और प्रलयमें शान्त हो जाती है तथा जाग्रत् और स्वप्नमें, सूर्य आदिके तेजसे अपने प्रभामण्डलकी नाईं, इसीसे उदित होती है ॥ ३१ ॥

तुषारमें शुक्लताकी नाईं यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है । अतः इसी चिति-रूपी ब्रह्मसे ये समस्त पदार्थोंकी शोभाएँ, चन्द्रमासे किरणोंकी नाईं, प्रवृत्त होती हैं—विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ३२ ॥

इसी निरवयव चितिरूप रञ्जकद्रव्यसे चित्रित यह सम्पूर्ण जगत्स्वरूप चित्र स्थित है । इसलिए हे श्रीरामजी, इस जगत्को आप जन्मादि भावविकारों तथा स्वगत विचित्रताओंसे शून्य एवं शान्त चिन्मय ही जानिये ॥ ३३ ॥

इसी चितिरूप जङ्गलीवृक्षसे आकाशरूप आँगनमें उत्पन्न तथा अनेक जगज्जालरूपी गुच्छोंसे सुशोभित ये सब दृश्यप्रपञ्चरूपी शाखाएँ प्रसृत हो रही हैं ॥ ३४ ॥

इसी चितिरूपी अचल पर्वतके ऊपर वृद्धि तथा ह्राससे युक्त एवं नाना-

अस्मिन्व्योमात्मके रङ्गे भुवनाभिनयभ्रमैः ।
नृत्यत्यविरतारम्भं वारैर्नियतिनर्तकी ॥ ३६ ॥
जगत्कोटिमहाकल्पकल्पोन्मेषनिमेषणः ।
विताने नाश्यते भूयो जन्यते कालबालकः ॥ ३७ ॥
उद्यत्स्वपि जगत्स्वेष शान्तमेवाऽवतिष्ठते ।
अनिच्छ एव मुकुरः प्रतिबिम्बशतेष्विव ॥ ३८ ॥
भूतानां वर्तमानानां सर्गाणां सम्भविष्यताम् ।
एषोऽकारणकं बीजं सर्गाणामिव कारणम् ॥ ३९ ॥
अस्योन्मेषो जगल्लक्ष्मीर्निमेषः प्रलयागमः ।
अनुन्मेषनिमेषोऽसावात्मन्येवाऽवतिष्ठते ॥ ४० ॥

प्रकारके भिन्नतारूपी अनन्त फूलोंसे सुशोभित दृश्यरूपी नदी बह रही है । हे श्रीरामजी, आप इसमें तनिक भी सन्देह न कीजिये ॥ ३५ ॥

इसी चिदाकाशरूपी रङ्गभूमिमें भुवनकी रचनारूप अभिनयके भ्रमोंसे युक्त निरन्तर कार्यारम्भ कर रही नियतिरूपी नर्तकी कल्पभेदरूप वासरों तथा नित्य महोत्सवके दिनोंसे नृत्य कर रही है ॥ ३६ ॥

जिसके नेत्रोंके उन्मेष और निमेषमें अनेक ब्रह्माण्डोंके महाप्रलय और अवान्तर प्रलय हुआ करते हैं ऐसे कालरूपी अपने बालकको ब्रह्मरूपी रङ्गभूमिके मायामण्डपके भीतर यही नियतिरूपी नर्तकी बार-बार उपसंहृत तथा पुनः-पुनः उत्पन्न कर नाच रही है ॥ ३७ ॥

उत्पन्न हो रहे अनेक ब्रह्माण्डोंके रहते हुए भी यह चिद्-रूपी परमात्मा इच्छादि विकारोंसे शून्य शान्त ही ऐसे स्थित रहता है, जैसे सैकड़ों प्रतिबिम्बोंके उदित होते हुए भी दर्पण ॥ ३८ ॥

जैसे भौतिक सृष्टियोंके कारण पञ्चभूत हैं, वैसे ही स्वयंकारणशून्य यह चिद्-रूप परमात्मा भूत, भविष्य एवं वर्तमान सृष्टियोंका कारण है ॥ ३९ ॥

इस परब्रह्म परमात्माका उन्मेष ही जगत्का सौन्दर्य है तथा निमेष ही प्रलयका आगम है । हे श्रीरामजी, सच पूछिये तो, जिसके उन्मेष और निमेष वस्तुतः एक-से हैं वह परब्रह्म परमात्मा अपने स्वरूपमें ही अवस्थित रहता है ॥ ४० ॥

उद्यन्त्यमूनि सुबहूनि महामहान्ति
सर्गागमप्रलयजन्मदशा जगन्ति ।
सर्वाणि तान्ययमपारस्वरूप एव
प्रस्पन्दनानि मरुदेव यथाऽऽस्स्व शान्तम् ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥



षट्त्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चमत्कुर्वन्त्यथानर्था आवर्ता इव वारिणि ।
एकस्वभावाः सकला यथा वारितरङ्गकाः ॥ १ ॥

परिणामतः महान् होते हुए भी जो काल, देश और वैभव आदिसे भी महान् हैं उन अनेक महामहाब्रह्माण्डोंके तथा उनके भीतर अनेक तरहके पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय एवं उनके भीतर प्राणियोंके जन्म बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जाग्रदादि दशाएँ तथा उत्कर्ष और अपकर्षकी दशाएँ—ये सबके सब इस चिदाकाशमें उदित होते-रहते हैं। वे सभी अपरिच्छिन्नस्वरूप इस चिदाकाशके ही रूप हैं, जैसे कि वायुके सभी स्पन्दन वायुरूप ही हैं, वायुसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुके स्वरूप नहीं हैं। हे श्रीरामजी, ऐसा समझकर आप शान्त स्थित रहिये ॥ ४१ ॥

पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त



छत्तीसवाँ सर्ग

[इच्छारहित तुच्छ पुरुषका भोग बन्धनके लिए नहीं होता, एकमात्र इच्छा ही बन्धन है तथा इसका त्याग मुक्ति है, इन सबका वर्णन]

इस संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सभी एक दूसरेसे विरुद्ध और अनेक रूपवाले हैं, परन्तु अविरुद्ध और एकरूपसे भासित होते हैं। इनमें इनका प्रथम

सर्वस्यैवाऽस्य विश्वस्य निर्ज्ञेयज्ञेयरूपिणी ।
परमाकाशतारूपं परोपशमसंश्रया ॥ २ ॥
बालचिन्ता पुरो व्योम्नि न किञ्चिदपि मे यथा ।
तथेदं तत्त्वतो विश्वं सत्यं तु शिशुचेतसि ॥ ३ ॥

रूप तो राग-द्वेष आदिके उदयसे दुःखका हेतु होनेके कारण अनर्थरूप है। परन्तु द्वितीय रूप राग-द्वेष आदिके उपशम द्वारा मोक्षमें अत्यन्त उपयोगी है, यह दिखलाते हैं—'चमत्कुर्वन्त्य०' इत्यादिसे ।

सांसारिक जितने पदार्थ हैं, वे सबके सब, जलमें आवर्तकी नाईं, भिन्न-भिन्न स्वरूपके होकर पहले चमत्कार पैदा करते हैं यानी इच्छाओंके उत्पादन द्वारा चित्तको भ्रममें डाल देते हैं। उसके बाद वे राग-द्वेष आदिकी उत्पत्ति होनेसे नरक आदिके रूपमें पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे सभी तरङ्ग एकमात्र जलस्वरूप हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः एक स्वभावके हैं। और एकरूपके होते हुए ये न तो किसी तरहका भ्रम पैदा करते हैं और न किसी तरहका अनर्थ ही पैदा करते हैं ॥ १ ॥

उनका वह अविरुद्ध रूप क्या है, जिस रूपसे वे एकस्वभावके होते हैं, यह दिखलाते हैं—'सर्वस्यैव' इत्यादिसे ।

इस सम्पूर्ण विश्वकी सत्तामात्ररूप परमाकाशता ही उनका रूप है। और वह सम्पूर्ण विषयरूप ज्ञेय पदार्थोंसे निचोड़कर जो सन्मात्र ज्ञेय वस्तु रहती है उसी रूपकी है। यही कारण है कि वह परम समाधिरूपी उपशमसे ही लक्षित होती है ॥ २ ॥

प्रसिद्ध आकाशमें बालबुद्धिवेद्य यक्ष, पिशाच आदिका भीषणरूप तथा बुद्धिमान् पुरुषोंकी बुद्धिसे वेद्य शुद्धरूप दृष्टान्तरूपसे प्रसिद्ध ही है, यह कहते हैं—'बाल०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, बालककी चिन्तासे कल्पित यक्ष, पिशाच आदिका रूप जैसे सामने आकाशमें प्रौढ़ विद्वान्की दृष्टिमें कुछ भी नहीं है वैसे ही मुझ विद्वान्की दृष्टिमें तत्त्वतः यह सारा विश्व कुछ भी नहीं है। परन्तु यही संसार अज्ञानियोंकी दृष्टिमें सत्य प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

अरूपालोकमननं शिलापुत्रकसैन्यवत् ।
रूपालोकमनस्कारा भान्ति केवाऽत्र विश्वता ॥ ४ ॥
रूपालोकमनस्कारसारश्चिन्मात्रतां विना ।
न लभ्यतेऽसावपरं व्योमेवाऽत्र क्व विश्वता ॥ ५ ॥
विदो विश्वं जगद्भ्रान्तिरविश्वं तु न विभ्रमः ।
विश्वाविश्वे त्वदायत्ते चित्ताचित्ते यथा तव ॥ ६ ॥
परमाकाशरूपत्वाच्चिद्व्योम्नो विततकृतेः ।
न स्वभावविपर्यासः कश्चित्सम्भवति क्वचित् ॥ ७ ॥

पत्थरमें खुदी गई चित्रगत सेनाकी नाईं यह सारा विश्व बाह्य आन्तर विषयसे रहित है। अतः विद्वानोंकी दृष्टिसे यहां विश्वता कैसी ? परन्तु अज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो यहां रूपालोक, मनन आदि सब कुछ भासते ही हैं ॥४॥

रूपालोक और मनन आदिका यानी बाह्य और आभ्यन्तर सबका तत्त्वतः विचार करनेपर जब चिन्मात्रसे अतिरिक्त रूप ही दुर्लभ है तब इनसे विश्वताकी सिद्धि तो बहुत दूर ही है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

विचार कर देखनेसे रूपालोक और मनस्कार अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थोंका सार चिन्मात्र ही है। क्योंकि चिन्मात्रसे अतिरिक्त, द्वितीय आकाशकी नाईं, वह उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यहां विश्वता (संसारता) रही कहां ॥ ५ ॥

इसलिए ज्ञाता पुरुषका जगत्को जगद्रूपसे जानना ही जगत्की भ्रान्ति है तथा जगत्को जगद्रूपसे न जानना ही सारे भ्रमोंकी शान्ति है। अतः हे श्रीरामजी, स्मृति और विस्मृति जैसे आपके अधीन हैं, वैसे ही इस संसारको जानना और न जानना भी आपके अधीन है ॥ ६ ॥

'अपरं व्योमेवा०' यह जो ऊपर कहा गया है, इसको विशदरूपसे कहते हैं—'परमाकाश०' इत्यादिसे ।

विस्तृत आकारवाले चिदाकाशके परमाकाशरूप होनेसे उसके स्वभावमें किसी तरहका कोई परिवर्तन कहींपर भी संभव नहीं है। इसमें कारण यह है कि चिति कदापि जड़ नहीं हो सकती और न आकाश ही मूर्तिमान् हो सकता है ॥ ७ ॥

तन्मयस्याऽस्य विश्वस्य न स्वभावविकारिता ।
विद्यते प्रेक्ष्यमाणाऽपि किमु साऽस्य भविष्यति ॥ ८ ॥
सर्वं चिद्व्योम चैवेदं न स्वमहमित्यपि ।
विकाराद्यस्ति न ज्ञप्ताज्ञप्ति न लभेत् क्वचित् ॥ ९ ॥
सर्वं शान्तं शिवं शुद्धं त्वमहन्तादिविभ्रमम् ।
न किञ्चिदपि पश्यामि व्योमजं काननं यथा ॥ १० ॥
संविदाकाशशून्यत्वं यत्तद्विद्धि वचो मम ।
इदं त्वत्संविदाकाशे स्वयमात्मनि तिष्ठति ॥ ११ ॥
पदमाहुः परं सद्यदनिच्छोदयभासितम् ।
पाषाणपुरुषस्येव चित्रस्थस्येव चाऽऽसनम् ॥ १२ ॥

चूँकि यह जगत् ब्रह्मसाक्षात्कारसे बाध्य है, इसलिए भी यह ब्रह्मका विकार नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'तन्मयस्या०' इत्यादिसे ।

चिन्मय इस विश्वकी स्वभावविकारिता कुछ भी नहीं है, क्योंकि जो विकारिता विचारदृष्टिसे देखनेपर भी दिखाई नहीं पड़ती, वह इसकी क्या हो सकती है ॥ ८ ॥

जिस न्यायसे अभिमन्तव्यके विकारका निरास किया गया है, उसी न्यायसे अभिमन्ताके विकारका भी निरास करना चाहिए, यह कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे ।

जो कुछ 'तुम, मैं' इत्यादिरूप यह संसार दिखाई दे रहा है, वह सब सद्रूप चिदाकाश ही है । इस चिदात्मामें अहङ्कार आदि विकार और बाध कुछ भी नहीं है, इसलिए चितिसे व्यतिरिक्त कोई पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

त्वचा और अहन्तादि सब विभ्रम शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मरूप ही है। अतः आकाशमें उत्पन्न जंगलकी तरह उन्हें मैं कुछ भी नहीं देखता ॥ १० ॥

हे श्रीरामजी, इस तरह जो मेरा उपदेशवचन है उसे भी आप संविदाकाशरूप शून्य ही समझिये, क्योंकि यह मेरा वचन आपकी संविदाकाशरूप आत्मामें ही स्वयं स्थित रहता है, जड़स्वरूपमें नहीं ॥ ११ ॥

इस तरह प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता—इन तीनोंके चिन्मात्ररूप सिद्ध

स विश्रान्तमना मौनी यस्य प्रकृतकर्मसु ।
स्पन्दो दारुनरस्येव विगतेच्छमनाकुलम् ॥ १३ ॥
अन्तःशून्यं बहिःशून्यं विरसं गतवासनम् ।
जगद्वेणोरिव ज्ञस्य जीवतो भाति जीवनम् ॥ १४ ॥
यस्य न स्वदते दृश्यमदृश्यं स्वदते हृदि ।
स बाह्याभ्यन्तरं शान्तः स वितीर्णो भवार्णवात् ॥ १५ ॥
उच्यन्तां शब्दजालानि वंशवद्गतवासनम् ।
रसेनाऽनङ्कुलत्वेन प्रकृतानन्यचोदनैः ॥ १६ ॥
स्पृश्यतां स्पर्शनीयानि यथाप्राप्तान्यवासनम् ।
कूटागारवदक्षुब्धमनिच्छमसनोदयम् ॥ १७ ॥

होनेपर, चित्रमें स्थित पुरुषके तथा पाषाणके भीतर खुदे गये पुरुषके आसनकी तरह, इच्छा और विषय आदिके अभावसे इच्छाके उदयके बिना जो अवस्थान है उसीको ब्रह्मरूप परमपद कहते हैं ॥ १२ ॥

इच्छाके अभावमें भी जीवनके हेतुभूत व्यवहारकी सिद्धि बतलाते हैं—'स' इत्यादिसे ।

वही विश्रान्तचित्त जीवन्मुक्त मुनि है, जिसकी चेष्टा प्रारब्धप्राप्त कर्मोंमें इच्छाशून्य तथा बिना व्याकुलताके, कठपुतलीके समान, होती रहती है ॥१३॥

इस तरहके व्यवहारसे जीवन-धारण कर रहे ज्ञानी पुरुषको जगत्‌की प्रतीति कैसे होती है, यह कहते हैं—'अन्तःशून्यम्' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त ज्ञानीको बाहर और भीतरसे शून्य, रसहीन, वासनारहित; बाँसकी नलीके सदृश, इस जगत्‌का जीवन भासता है ॥ १४ ॥

जिसे यह दृश्यप्रपञ्च नहीं रुचता और चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अपने हृदयके भीतर रुचता है वह बाह्य और आभ्यन्तरसे शान्तमुनि संसारसागरसे मानो पार हो गया ॥ १५ ॥

प्रस्तुत प्रारब्धशेषक्षयके अनुपयोगी शब्दोंके उच्चारणसे रहित, व्यवहारोंमें तथा उन व्यवहारोंके अङ्गभूत देहादिमें अहन्ता, ममताके सम्बन्धसे रहित, माधुर्यरससे परिपूर्ण, बाँसुरीकी ध्वनिके समान, वासनात्यागपूर्वक आप लोग वाणीसे शब्दोंका उच्चारण करते रहें ॥ १६ ॥

नट, भट, वेश्या आदिकोंके निवासगृहके समान इच्छारहित, मनके उदयसे

स्वाद्यन्तां रसजालानि विगतेच्छाभयैषणम् ।
अपरागाभिलषणं यथाप्राप्तानि दर्विवत् ॥ १८ ॥
दृश्यन्तां रूपजालानि पुनः प्राप्तान्यवासनम् ।
अरसं निर्मनो मानमगर्वं चित्रनेत्रवत् ॥ १९ ॥
जिघ्रयन्तां गन्धपुष्पाणि विगतेच्छमवासनम् ।
स्पन्दबन्धोपलग्नानि त्यागाय वनवातवत् ॥ २० ॥
इति चेद्धिरसत्वेन बोधयित्वा चिकित्सिताः ।
न भोगरोगास्तद्दुःख शान्त्यै नास्ति कथैव च ॥ २१ ॥
यः स्वादयन् भोगविषं रतिमेति दिनेदिने ।
सोऽग्नौ स्वमूर्तिं ज्वलिते कक्षमक्षयमुज्झति ॥ २२ ॥

शून्य, वासनारहित तथा अक्षुब्ध हो आप लोग प्रारब्धप्राप्त स्रक्, चन्दन, वनिता आदि स्पर्शनीय विषयोंका स्पर्श करते चलें ॥ १७ ॥

इच्छा, भय और एषणाओंसे शून्य तथा राग और अभिलाषाओंसे रहित हो आप लोग दर्वीके (करछी) के तुल्य अनेक तरहके प्रारब्धप्राप्त रसोंका आस्वाद लेते रहें ॥ १८

पुनः हे श्रोताओं, आप लोग इच्छारहित, वासनाओंसे शून्य तथा अभिमानसे रहित हो, वासनाशून्य चित्रगत नेत्रके सदृश, प्राप्त रूपसमूहोंका अवलोकन करते रहें ॥ १९ ॥

इच्छा और वासनाओंसे रहित होकर घ्राणेन्द्रियके नजदीक ले जाकर गन्धप्रचुर पुष्पोंको, वनवायुके सदृश, त्यागके लिए सूँघते रहें ॥ २० ॥

इस रीतिसे न कहे गये भी कर्मेन्द्रियोंसे प्राप्त विषयोंमें पहलेकी नाईं निःसाररूपसे मनको बोधित करके भोगरूपी रोगोंकी यदि चिकित्सा न की गई, तो फिर दुःख-निवृत्तिकी कथा ही क्या है ! बल्कि अनर्थपरम्पराकी उत्पत्ति होती ही रहेगी ॥ २१ ॥

किञ्च, जो मनुष्य भोगरूपी विषका आस्वाद लेते हुए प्रसन्नताको प्रतिदिन प्राप्त होता है वह प्रज्वलित हो रही अग्निमें अपनी मूर्तिरूपी तृणपुञ्जको निरन्तर फेंकते रहता है ॥ २२ ॥

निरिच्छत्वं समाधानमाहुरागमभूषणाः ।
यथा शाम्येन्मनोऽनिच्छं नोपदेशशतैस्तथा ॥ २३ ॥
इच्छोदयो यथा दुःखमिच्छाशान्तिर्यथा सुखम् ।
तथा न नरके नाऽपि ब्रह्मलोकेऽनुभूयते ॥ २४ ॥
इच्छामात्रं विदुश्चित्तं तच्छान्तिर्मोक्ष उच्यते ।
एतावन्त्येव शास्त्राणि तपांसि नियमा यमाः ॥ २५ ॥
यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथायथा ।
तावती तावती दुःखबीजमुष्टिः प्ररोहति ॥ २६ ॥
यथायथेच्छा तनुतां याति जन्तोर्विवेकतः ।
तथातथोपशाम्यन्ति दुःखचिन्ताविषूचिकाः ॥ २७ ॥

अतः भोगेच्छाका त्याग ही मनकी शान्तिमें मुख्य हेतु है, यह कहते हैं—'निरिच्छत्वम्' इत्यादिसे ।

भोगोंकी इच्छाके त्यागको ही आगमालङ्कारोंने (वेदान्तवेत्ताओंने) समाधि कही है । इच्छाके त्यागसे जैसा मन शान्त होता है वैसा सैकड़ों उपदेशोंसे भी शान्त नहीं होता ॥ २३ ॥

इच्छाके उदयसे जैसा दुःख होता है वैसा दुःख नरकमें भी प्राणीको नहीं होता और इच्छाकी शान्तिसे जैसा सुख मिलता है वैसा ब्रह्मलोकमें भी अनुभूत नहीं होता * ॥ २४ ॥

इच्छामात्रको दुःखदायक चित्त कहते हैं और इच्छाकी शान्ति ही मोक्ष कहलाता है । एकमात्र इसीमें सकल शास्त्र, तप, नियम और यम पर्यवसित हैं ॥ २५ ॥

जितनी-जितनी और जैसे-जैसे जन्तुको इच्छा उदित होती है, उतनी ही उतनी दुःखोंकी बीजमुष्टि बढ़ती जाती है ॥ २६ ॥

जैसे-जैसे विवेकज्ञान द्वारा जन्तुकी इच्छा सूक्ष्म होती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखोंकी चिन्तारूप विषूचिका (हैजा) भी शान्त होती-जाती है ॥ २७ ॥

---

* सुनिये, इस विषयमें ययातिने क्या कहा है—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"

यथायथेच्छा घनतां याति लोकस्य रागतः ।
तथातथा विवर्धन्ते दुःखचिन्ताविषोर्मयः ॥ २८ ॥
इच्छा चिकित्स्यते व्याधिर्न स्वयत्नौषधेन चेत् ।
तदत्र बलवन्मन्ये विद्यते नौषधान्तरम् ॥ २९ ॥
इच्छोपशमनं कर्तुं यदि कृत्स्नं न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥ ३० ॥
यस्त्विच्छातानवे यत्नं न करोति नराधमः ।
सोऽन्धकूपे स्वमात्मानं दिनानुदिनमुज्झति ॥ ३१ ॥
दुःखप्रसवशालिन्या बीजमिच्छैव संसृतेः ।
सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धा सा न भूयः परिरोहति ॥ ३२ ॥

और जैसे-जैसे मनुष्यकी भोगोंमें इच्छा रागतः सघन बनती-जाती है, वैसे-वैसे दुःखोंकी चिन्तारूपी विषैली तरंगें बढ़ती ही जाती हैं ॥ २८ ॥

उसकी चिकित्साके लिए धैर्यरूपी पुरुषप्रयत्न ही एकमात्र औषध है, और दूसरा कुछ नहीं, यह कहते हैं—'इच्छा' इत्यादिसे ।

यदि अपने पौरुषप्रयत्नरूपी औषधसे धैर्यपूर्वक इच्छारूपी व्याधिकी चिकित्सा न की जा सकी, तो यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि व्याधिसे छुटकारा पानेके लिए दूसरा कोई भी उत्तम औषध इस संसारमें विद्यमान नहीं है ॥ २९ ॥

यदि एक ही कालमें सभी इच्छाओंका पूर्णरूपसे त्याग न किया जा सके, तो फिर थोड़ा-थोड़ा करके उसका धीरे-धीरे त्याग करना चाहिए, क्योंकि सन्मार्गका पथिक कभी दुःख नहीं पाता ॥ ३० ॥

जो नराधम, अपनी भोगोंकी इच्छाको सूक्ष्म बनानेमें यत्न नहीं करता, वह प्रतिदिन मानो अपनी आत्माको अन्धकूपमें फेंकता है ॥ ३१ ॥

भोगोंकी इच्छाका आत्यन्तिक नाश तो ज्ञानद्वारा उसके मूलका नाश होनेसे ही हो सकता है, यह कहते हैं—'दुःख०' इत्यादिसे ।

दुःखरूपी पुष्प और फूल आदिसे सुशोभित संसाररूपी लताका बीज इच्छा ही है। वह आत्मज्ञानरूपी अग्निसे भलीभाँति दग्ध हो जानेपर फिर नहीं अङ्कुरित होती ॥ ३२ ॥

इच्छामात्रं हि संसारो निर्वाणं तदवेदनम् ।
इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियतां किं वृथा भ्रमैः ॥ ३३ ॥
शास्त्रोपदेशगुरवः प्रेक्ष्यन्ते किमनर्थकम् ।
किमिच्छाननुसन्धानसमाधिर्नाधिगम्यते ॥ ३४ ॥
यस्येच्छाननुसन्धानमात्रे दुःसाध्यता मतेः ।
गुरूपदेशशास्त्रादि तस्य नूनं निरर्थकम् ॥ ३५ ॥
इच्छाविषविकारिण्यामन्त एव नृणामलम् ।
दुःखप्रसरकारिण्यां हरिण्या जन्मजङ्गले ॥ ३६ ॥
न बालीक्रियते त्वीषदात्मज्ञानाय चेदसौ ।
इच्छोपशान्तिः क्रियतां तयाऽलं तदवाप्यते ॥ ३७ ॥

इच्छामात्र ही यह संसार है और इच्छाका अवेदन—असत्त्वापादन यानी अभाव ही निर्वाण है। इसलिए भोगोंकी इच्छा उत्पन्न न हो, इसमें आप लोग यत्न करें, और दूसरे नानाविध यत्नोंसे क्या मतलब—इधर-उधर भटकते-फिरना बेकार है ॥ ३३ ॥

इच्छाकी शान्तिमें यत्न न होनेपर शास्त्रादिके उपदेश भी सब व्यर्थ ही हैं, यह कहते हैं—'शास्त्रोपदेश०' इत्यादिसे ।

यदि आपकी इच्छाकी शान्ति नहीं हुई है, तो फिर शास्त्रोंके उपदेश और गुरुओंकी प्रतीक्षा निरर्थक क्यों कर रहे हैं ? इच्छाके अभावरूप चित्तको शान्त करनेके उपायका आश्रयण आप लोग क्यों नहीं कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

जिसको अपने विवेकसे सिर्फ इच्छाका अनुसन्धान न करना दुःसाध्य हो रहा है, उसके लिए गुरुओंके उपदेश तथा शास्त्र आदि सब निरर्थक हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ३५ ॥

जैसे व्याघ्र आदिसे भरे जंगलमें हरिणीकी मृत्यु निश्चित है वैसे ही नानाविध दुःखोंका विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकारसे युक्त इस संसारमें मनुष्योंकी मृत्यु बिलकुल निश्चित है ॥ ३६ ॥

यदि इच्छासे यह मनुष्य लड़कों-जैसा चञ्चल न बना दिया जाय, तो उसे आत्मज्ञानके लिए बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए आप लोग भलीभाँति इच्छाकी उपशान्ति ही कर डालें, उसीसे वह परमपद ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

निरिच्छतैव निर्वाणं सेच्छतैव हि बन्धनम् ।
यथाशक्ति जयेदिच्छां किमेतावति दुष्करम् ॥ ३८ ॥

जरामरणजन्मादि करञ्जखदिरावलेः ।
बीजमिच्छासदैवान्तर्दह्यतां शमवह्निना ॥ ३९ ॥

यतो यतो निरिच्छत्वं मुक्ततैव ततस्ततः ।
यावद्गति यथाप्राणं हन्यादिच्छां समुत्थिताम् ॥ ४० ॥

यतो यतश्च सेच्छत्वं बन्धपाशास्ततस्ततः ।
पुण्यपापमया दुःखराशयो विततार्तयः ॥ ४१ ॥

इच्छानिरासरहिते गते साधोः क्षणेऽपि च ।
दस्युभिर्मुषितस्येव युक्तमाक्रन्दितुं चिरम् ॥ ४२ ॥

यथायथाऽस्य पुंसोऽन्तरिच्छा समुपशाम्यति ।
तथातथाऽस्य कल्याणं मोक्षाय परिवर्धते ॥ ४३ ॥

इच्छाका न होना ही निर्वाण है और इच्छासहित रहना ही मनुष्यके लिए बन्धन है, इसलिए यथाशक्ति इच्छाके ऊपर आप लोग विजय प्राप्त करें । सिर्फ इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है ? ॥ ३८ ॥

जरा, मरण, जन्मादिरूप करञ्ज और खैरकी पङ्क्तियोंका बीज इच्छा ही है। उसको अपने भीतर अभ्यस्त शमरूपी अग्निसे आप लोग जला डालें ॥ ३९ ॥

जहाँ-जहाँ इच्छाका अभाव है वहाँ-वहाँ मुक्ति है ही । जबतक विवेक-वैराग्य आदि उपायोंकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक अपनेमें जितना धैर्य और बल हो, उसके अनुसार उठी हुई इच्छाका नाश करते चलें ॥ ४० ॥

जहाँ-जहाँ इच्छा है वहाँ-वहाँ पुण्य-पापमय दुःखोंकी राशि तथा निरन्तर फैल रहे करुण क्रन्दनसे युक्त बन्धनके पाश हैं ही ॥ ४१ ॥

यदि साधु पुरुषका एक क्षण भी भोगोंकी इच्छाके अभावके बिना बीत गया, तो चोरोंसे जिसका सर्वस्व अपहृत हो गया है ऐसे मनुष्यके समान, उसे चिरकालतक रोते रहना ठीक ही है ॥ ४२ ॥

जैसे-जैसे इस पुरुषकी वाञ्छा शान्त होती-जाती है, वैसे-वैसे मोक्षके लिए कल्याणदायक साधनचतुष्टय उसका बढ़ता ही जाता है ॥ ४३ ॥

आत्मनो निर्विवेकस्य यदिच्छापरिपूरणम् ।
संसारविषवृक्षस्य तदेव परिषेचनम् ॥ ४४ ॥
हृद्वृक्षजाः स्वसुखदुःखकुबीजकोशौ
वैरादिवाश्रयकृतादशुभाच्छुभाच्च ।
आसाद्य दुष्कृतकृशानुशिखाः शितान्ता
इच्छाच्छमच्छमिति पुंस्पशुमादहन्ति ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे संसारबीजकथनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इच्छाविषविकारस्य वियोगं योगनामकम् ।
शान्तये शृणु भूयोऽपि पूर्वमुक्तमपि स्फुटम् ॥ १ ॥

विवेकशून्य आत्माकी इच्छाको भलीभाँति भोगोंके द्वारा जो पूरण करना है, वही संसाररूपी विषैले वृक्षको सींचना है ॥ ४४ ॥

हृदयरूपी वृक्षसे यानी आश्रयभूत लकड़ीसे उत्पन्न तीक्ष्ण अग्रभागवाली इच्छारूप दुष्कृत अग्निकी शिखाएँ हृदयके अन्दर स्थित चिदाभासस्वरूप जीवरूप पशुको, उनके आश्रयभूत हृदयमें किये गये पुण्य-पापसे अर्थात् उनके आश्रयमें किये गये दोषापराधसे ही उत्पन्न हुए मानो वैरके कारण, मोहरूपी धुमसे अन्धा बनाकर तथा स्नेहपाशोंसे खूब बाँधकर नीचे पटक करके उसके सुख-दुःखोंके कुत्सित बीजोंके पात्रभूत अण्डकोशोंको—चारो ओरसे बैंगनकी तरह खूब पकाती हैं । पकाते समय उससे छाँय-छाँय शब्द निकलता है ॥ ४५ ॥

छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त

सैंतीसवाँ सर्ग

[भोगोंकी इच्छा जिससे उत्पन्न ही न हो या उत्पन्न होनेपर भी वह केवल भ्रमरूप ही समझी जाय, उस ज्ञानयोगका युक्तियोंसे वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, इच्छारूपी विषका विकार दूर

आत्मनो व्यतिरिक्तं चेद्विद्यते तदिहेच्छया ।
इष्यतामसति त्वेतत्स्वात्मान्यत्वं किमिष्यते ॥ २ ॥
निर्भागावयवा सूक्ष्मा व्योम्नः शून्यतरैव चित् ।
सैवाहं जगदाकारा सती किं तत्तयेष्यते ॥ ३ ॥
सा व्योमरूपा व्योमैव व्योमात्मवेद्यवेदिका ।
व्योमात्मजगदाभासमत्रेच्छाविषयोऽस्ति कः ॥ ४ ॥
ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः कुतश्चिदिति तन्न नः ।
विद्यतेऽसौ प्रशान्तानां येषामस्ति न वेद्मि तान् ॥ ५ ॥

करनेवाले स्पष्टरूपसे पहले वर्णित हुए भी योगनामक उपायको इच्छामूलक सम्पूर्ण अनर्थोंकी शान्तिके लिए आप फिर सुनिये ॥ १ ॥

हे श्रीरामजी, यदि आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ यहाँ हो, तो आप उसकी बे-रोक-टोक इच्छा कीजिये, [उसके लिए हम आपको कुछ नहीं कहते] परन्तु आत्मासे भिन्न जब किसी दूसरे पदार्थकी सत्ता ही नहीं है, तो भला बतलाइये तो सही] आप अपनी इस आत्मासे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ? कहनेका तात्पर्य यह कि जबतक आत्मतत्त्वका भलीभाँति ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक द्वितीय वस्तुमें सत्यताकी भ्रान्तिसे इच्छाका उदय होता है, इसलिए हे श्रीरामजी, आत्मज्ञानयोग ही उसकी निवृत्तिमें एकमात्र उपाय है ॥ २ ॥

यह जगत् सत्य ब्रह्मरूप ही है, मिथ्या नहीं है, यदि ज्ञानसे आप ऐसा मानते हों, तो भी ब्रह्म और जगत्—इन दोनोंमें अत्यन्त अभेद होनेसे त्रिपुटीघटित इच्छाकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती, यह कहते हैं—'निर्भागावयवा' इत्यादिसे ।

त्रिपुटीके विभाजक उपाधियोंके भेद तथा विभक्त होनेवाले अवयवोंके भेदसे रहित, सूक्ष्म और आकाशसे भी अत्यन्त शून्यरूप जो चिति है, सत्यस्वरूप वही अहमाकार तथा जगदाकारसे स्थित है । तो फिर आप उससे भिन्न किसकी इच्छा कर रहे हैं ॥ ३ ॥

वह चिति आकाशरूप है । आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है । यह जगत्का आभास भी आकाशरूप ही है, तब भला इसमें इच्छाका विषय ही कौन है ॥ ४ ॥

ज्ञानसे विषयोंके गृहीत न होनेपर इच्छाका उदय न होनेके कारण,

ग्राह्यग्राहकसम्बन्धः स्वनिष्ठोऽपि न लभ्यते ।
असतस्तु कथं लाभः केन लब्धोऽसितः शशी ॥ ६ ॥
एषैव ग्राहकादीनां सत्ता यन्नात्मनिष्ठता ।
स्वभावावेक्षया सत्या न जाने क्व प्रयान्ति ते ॥ ७ ॥
एष एव स्वभावो यद्द्रष्टृदृश्यक्षयोऽखिलः ।
ज्ञात्वाऽसत्या विनिर्वाणमहन्ताऽऽत्मनि गच्छति ॥ ८ ॥
निर्वाणे नास्ति दृश्यादि दृश्यादौ नास्ति निर्वृतिः ।
मिथोऽनयोरनुभवो न च्छायातपयोरिव ॥ ९ ॥

ग्राह्य और ग्राहकके सम्बन्धाभावमें ग्रहणकी भी सिद्धि न हो सकनेसे ज्ञानियोंको इच्छा होती ही नहीं, यह कहते हैं—'ग्राह्यग्राहक०' इत्यादिसे ।

अज्ञानियोंकी दृष्टिमें प्रसिद्ध ग्राह्य और ग्राहकका सम्बन्ध प्रशान्तचित्त हम लोगोंकी दृष्टिमें किसी भी निमित्त या प्रमाणसे विद्यमान नहीं है । इसलिए भी हे श्रीरामजी, बतलाइये आप किसकी इच्छा कर रहे हैं? जिन अज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह है, उन्हें भी मैं आत्मासे अलग नहीं जानता, तात्पर्य यह कि सत्त्वदृष्टिसे वे भी अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं ॥ ५ ॥

यदि किसी तरह ग्राह्य-ग्राहकसम्बन्धको स्वनिष्ठ (आत्मनिष्ठ) भी मान लिया जाय, तो भी वह उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि असत्का लाभ कैसे हो? आजतक किसने चन्द्रमाको काले वर्णका देखा है ॥ ६ ॥

तात्त्विक आत्मामें जो अविश्रान्ति है यानी आत्मामें परायण न होना है, बस यही एकमात्र ग्राह्य-ग्राहक आदि त्रिपुटियोंकी सत्ता है । अशास्त्रीय दृष्टिकी अपेक्षासे वे ग्राह्य-ग्राहक आदि सत्य होते हुए भी शास्त्रीयतत्त्वदृष्टिका उदय होनेपर न जाने कहाँ चले जाते हैं ॥ ७ ॥

और तत्त्वज्ञानका भी यही स्वभाव है कि असत्यरूप अहन्ता आदि अपना तत्त्व जानकर उस आत्मामें ही चले जाते हैं—लीन हो जाते है । द्रष्टा और दृश्यका वह सम्पूर्ण नाश ही विशिष्ट निर्वाण है ॥ ८ ॥

दृश्यादि और निर्वाण—इन दोनोंका परस्पर असहभाव भी स्वभावतः ही है, यह कहते हैं—'निर्वाणे' इत्यादिसे ।

उभे एते मिथोऽसत्ये असत्ये च न निर्वृतिः ।
यतो निर्वाणमजरमदुःखमनुभूयते ॥ १० ॥
भ्रमभूतं च दृश्यादि नित्यं नात्र सुखप्रदम् ।
असच्च तद्भाव्यतां मा निर्वाणे स्थीयतामजे ॥ ११ ॥
शुक्तिकारूप्यसदृशं प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
अर्थकार्यपि तन्नास्ति किमत्रापह्नवेन च ॥ १२ ॥
तत्सद्भावान्महद् दुःखमसद्भावान्महत्सुखम् ।
अभावः सोपपत्तिस्तु दृढतां याति भावनात् ॥ १३ ॥
तत्किमात्मनि बन्धाय विदग्धं न सुधाधमाः ।
स्पष्ट एवोपचयादेर्वस्तुन्यस्तमिताऽपदे ॥ १४ ॥

निर्वाणमें दृश्य आदि नहीं हैं और दृश्य आदिमें निर्वाण नहीं है। छाया और आतपकी नाईं इन दोनोंका परस्पर अनुभव यानी सहानुभव नहीं है ॥ ९ ॥

क्यों सहानुभव भी नहीं है ? इसपर कहते हैं—'उभे' इत्यादिसे ।

यदि ये दोनों साथ होते, तो परस्पर द्वारा बाधित हो जानेसे दोनों असत्य हो जाते। असत्यमें निर्वृति नहीं है, क्योंकि विद्वानोंको निर्वाण अजर, अमर तथा दुःखशून्य अनुभूत होता है ॥ १० ॥

तब तो सर्वजनप्रसिद्ध दृश्यादि महाकौतुक निर्वाणमें दुर्लभ ही होगा, इसका परिहार करते हुए कहते हैं—'भ्रमभूतम्' इत्यादिसे ।

दृश्य आदि भ्रमभूत है एवं यहां वह कभी सुखप्रद नहीं है। इसलिए हे श्रीरामजी, असत् और अनर्थरूप दृश्यादिकी आप भावना न कीजिये, अज निर्वाणमें स्थित रहिये ॥ ११ ॥

शुक्तिकामें चांदीके समान, विचारकर देखनेसे जो कुछ उपलब्ध नहीं होता, वह पुरुषार्थका सम्पादक कभी नहीं है। इस तरहके दृश्यमें अपह्नवसे क्या हुआ ॥ १२ ॥

दृश्यके सद्भावमें महादुःख है और असद्भावमें महान् सुख है। निदिध्यासनसे मननसहित अभाव—शाब्दज्ञानकृत बाध दृढताको प्राप्त हो जाता है ॥ १३ ॥

अब परम कारुणिक भगवान् वसिष्ठजी दृश्यकौतुकमें आसक्त अधम अधिकारियोंकी, जो श्रोता हैं, बलात् निर्भर्त्सना कर उनकी दृश्यासक्तिका त्याग करानेकी इच्छासे कहते हैं—'तत्किमा०' इत्यादिसे ।

कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा तु ब्रह्मता ह्यस्मिन्संविन्मात्रात्मके तते ॥ १५ ॥
मार्गयन्ति प्रबोधाय तैर्मृगैरलमस्तु नः ।
व्योमरूपे किलैकस्मिन् सर्वात्मनि तते सति ॥ १६ ॥
कार्यकारणताढ्यानामुक्तीनामेव कः क्रमः ।
यो हेतुः स्पन्दने वायोर्द्रवत्वे सलिलस्य च ।
शून्यत्वे नभसः सौम्य सर्गादित्वे चिदात्मनः ॥ १७ ॥
कार्यकारणभावादि ब्रह्मैव सकलं यदा ।
तदा ब्रह्मणि सर्गाणां कारणार्था विलज्जता ॥१८॥

हे अधम प्राणियो, सम्पूर्ण विकारोंकी अनाश्रयरूप परमार्थ वस्तुके—स्वप्रकाश-स्वरूप होनेके कारण शास्त्रों एवं आचार्योंके उपदेशसे करतलमें स्थित आमलकके समान स्पष्ट स्फुरित रहते—उसका अदर्शन क्यों पाते हो—दर्शन क्यों नहीं करते ? क्या अपनी आत्माको बन्धनमें डालनेके लिए ही उस दृश्यसमूहको भस्मीभूत नहीं करते ॥ १४ ॥

जब कार्यकारणभावादि सब ब्रह्म ही है, तभी तो देहादिपरिच्छिन्न पदार्थोंके बाधसे विस्तारको प्राप्त चिन्मात्रात्मक प्रत्यगात्मामें ब्रह्मता सिद्ध होती है ॥ १५ ॥

अतएव आकाशस्वरूप सर्वात्मक परिपूर्ण ब्रह्ममें कार्य-कारण आदि दृश्य-सत्ताको स्वीकार कर जो लोग ब्रह्मज्ञानके लिए अनेक साधन ढूँढ़ते-फिरते हैं उन तार्किक मृगों या शिष्यमृगोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है ॥ १६ ॥

तथा कार्यकारणसे परिपूर्ण उक्तियोंमें ही सर्वस्वभावस्वरूप अविद्याके सिवा और दूसरा क्या हेतु है ? जो वायुके स्पन्दनमें हेतु है तथा जो हेतु जलके स्पन्दनमें तथा आकाशकी शून्यतामें है वही हेतु, हे सौम्य, चिदात्माके सृष्टि आदिरूप होनेमें है ॥ १७ ॥

यही कारण है कि विद्वान् महानुभावोंको, आगे चलकर उसका बाध हो जानेसे, सृष्टि आदिके हेतुके निरूपणमें निर्लज्ज बनना पड़ता है, यह कहते हैं—'कार्यकारणभावादि' इत्यादिसे ।

जब कार्यकारणभावादिरूप सब ब्रह्म ही है, तो फिर ब्रह्ममें सृष्टियोंकी कारणताका प्रतिपादन करना निर्लज्जता है ॥ १८ ॥

न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमयं जगत् ।
नास्ति चिन्मात्रतान्यत्वमत इच्छोदयः कुतः ॥ १९ ॥
मृद्देहयोधसेनायां न मृन्मात्रेतरद्यथा ।
न सज्जगदहन्तादौ दृश्ये ब्रह्मेतरत्तथा ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तदुदेत्विच्छा मा वोदेतु मुनीश्वर ।
सा तु ब्रह्मैव कोऽर्थः स्यादस्या विधिनिषेधने ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

ज्ञातायां सम्प्रबुद्धायामिच्छा ब्रह्मैव नेतरत् ।
यथा सम्बुद्धवान् राम तत्सत्यं किन्त्विदं शृणु ॥२२॥

न तो दुःख है और न सुख है, किन्तु शान्त शिवमय यह जगत् है। जब चिन्मात्रतासे भिन्न कुछ है ही नहीं, तब भला इच्छाका उदय कहाँसे ॥ १९ ॥

जैसे मिट्टीकी देहवाली योधाओंकी सेनामें एकमात्र मिट्टीसे अन्य कुछ नहीं है वैसे ही सदात्मक जगत् और अहन्तादिरूप दृश्यमें सत् ब्रह्मसे इतर और कुछ नहीं है ॥ २० ॥

यदि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर उसकी इच्छा भी तो ब्रह्म ही ठहरी, उसकी उत्पत्ति माननेमें क्षति क्या है, यों विद्वानोंकी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'एवं चेत्त०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनीश्वर, यदि बात ऐसी है, तो फिर इच्छाका उदय हो या न हो, [कोई हानि नहीं है,] क्योंकि वह भी तो ब्रह्म ही ठहरी। इसकी विधि और निषेधमें कौन-सा मतलब सिद्ध होगा, [यह कहिये] ॥ २१ ॥

'इच्छानुत्पादने यत्नः क्रियताम् किं वृथा श्रमैः' (इच्छा उत्पन्न न हो, इसीमें यत्न कीजिये, व्यर्थके श्रमोंसे कौन-सा मतलब है, इस पूर्वोक्त यत्नमें विधि और निषेधका निवारण रहते हुए भी सचमुच विद्वानोंकी इच्छाका उदय होनेपर भी कोई हानि नहीं है। परन्तु विद्यासे बाधित उस इच्छाका उदय होना ही दुर्लभ है, यह कहते हैं—'ज्ञातायाम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, आत्मतत्त्वके ज्ञात हो जानेपर—

यदा यदा ज्ञतोदेति शाम्यतीच्छा तदा तदा ॥ २३ ॥

वस्तुस्वभावादुदयत्यादित्ये यामिनी यथा ।
शाम्यत्येव न तूदेति ज्ञप्ताविच्छादि तत्तथा ॥ २४ ॥

यथायथोदयो ज्ञप्तेर्द्वैतशान्तिस्तथातथा ।
वासनाविलयश्चैव कथमिच्छोदयो भवेत् ॥ २५ ॥

तस्याविद्योपशान्तेयं निर्मला मुक्ततोदिता ।
अशेषदृश्यवैरस्याद्यस्येच्छोदेति न क्वचित् ॥ २६ ॥

विरक्तताऽस्य नो दृश्ये नोदेत्यत्रास्य रक्तता ।
केवलं द्रष्टृदृश्यश्रीः स्वदते न स्वभावतः ॥ २७ ॥

संप्रबुद्ध हो जानेपर इच्छा ब्रह्मस्वरूप ही ठहरती है, ब्रह्मसे अन्य नहीं। जैसा आपने समझा है, वह सब बिलकुल सत्य है, किन्तु फिर भी आप यह सुन लीजिये कि—॥ २२ ॥

जब-जब आत्मतत्त्वज्ञान उदित होता है तबतब सांसारिक विषयोपभोगकी इच्छा शान्त हो जाती है ॥ २३ ॥

क्योंकि यही वस्तुका स्वभाव है। सूर्यके उदित होनेपर जैसे रात बिलकुल शान्त हो जाती है, उदित नहीं होती, वैसे ही ज्ञानका उदय होनेपर इच्छा आदि सब शान्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

जैसे-जैसे ज्ञानका उदय होता है, वैसे-वैसे द्वैतकी शान्ति और वासनाका विलय होता है, तब भला इच्छाका उदय कैसे हो ॥ २५ ॥

मूलका उच्छेद होनेसे भी विद्वानोंकी इच्छाके उदयका संभव नहीं है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'तस्या०' इत्यादिसे।

सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें वैराग्य आ जानेसे जिस पुरुषको इच्छा कहीं उदित नहीं होती, उसकी यह सांसारिक अविद्या शान्त हो गयी और निर्मल मुक्ति उदित हो गयी ॥ २६ ॥

इस पुरुषको न तो इन दृश्य पदार्थोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है और न इसको राग ही उदित होता है। केवल स्वभावसे ही द्रष्टा और दृश्यकी शोभा इसे नहीं रुचती ॥ २७ ॥

काकतालीययोगेन परप्रेरणयाऽनया ।
यदि किञ्चित्कदाचिच्च सम्यगिच्छति वा न वा ॥ २८ ॥
तदस्य सेच्छा नेच्छा वा ब्रह्मैवात्र न संशयः ।
इच्छा न जायते ज्ञस्यावश्यमेवानु वा न वा ॥ २९ ॥
ज्ञता चेदुदिता जन्तोस्तदिच्छाऽस्योपशाम्यति ।
नैतयोः स्थितिरेकत्र प्रकाशतमसोरिव ॥ ३० ॥
प्रतिषेधविधीनां तु तज्ज्ञो न विषयः क्वचित् ।
शान्तसर्वैषणेच्छस्य कोऽस्य किं वक्ति किंकृते ॥ ३१ ॥
एतदेव ज्ञताचिह्नं यदिच्छास्ववितानवम् ।
ह्लादनं सर्वलोकानामथानुभव एव वा ॥ ३२ ॥

काकतालीय योगसे यानी आकस्मिक घटनासे या अन्य किसीकी प्रेरणासे यदि कदाचित् कुछ इच्छा करता भी है, तो फिर वह देहमात्रधारणमें साधनभूत शास्त्रोंसे अनिषिद्ध अन्न आदिकी कुछ इच्छा करता है या नहीं भी करता है ॥ २८ ॥

ऐसी परिस्थितिमें इस आत्मतत्त्वदर्शीकी वह इच्छा या अनिच्छा दोनों ब्रह्मस्वरूप ही हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अथवा बात यह है कि इस तत्त्वज्ञानीको अभिनवभोगचमत्कारविषयक इच्छा अवश्य नहीं उदित होती या पूर्वकालमें अभ्यस्त हुए भोगोंका अनुसरण करनेके कारण उसकी स्थिति अनियत है ॥ २९ ॥

भद्र, यदि किसी जीवको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसकी इच्छा तत्काल ही निवृत्त हो जाती है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकारके सदृश तत्त्वज्ञान और इच्छा दोनोंकी स्थिति एक जगह हो नहीं सकती ॥ ३० ॥

इसीलिए रागप्राप्त विधिनिषेध शास्त्रोंमें वह इच्छाशून्य तत्त्वज्ञानी अधिकृत नहीं होता, यह कहते हैं—'प्रतिषेध०' इत्यादिसे।

भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष कहींपर भी विधि-निषेध शास्त्रोंका अधिकारी नहीं है, क्योंकि समस्त इच्छाओंसे शून्य इस तत्त्वदर्शीको किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए कौन क्या उपदेश दे सकता है ? क्या कहीं अन्ध पुरुष देखनेवालेको 'कूपमें नहीं गिरना चाहिए', ऐसा उपदेश दे सकता है ॥ ३१ ॥

बाह्य इच्छाकी निवृत्ति और स्वात्मानन्दानुभवमें तृप्ति—ये दोनों

इत्थं विरसतां यातं यदा न स्वदते क्वचित् ।
तदा नेच्छा प्रसरति तदेव च विमुक्तता ॥ ३३ ॥

बोधादनैक्यमद्वैतं यः शान्तमवतिष्ठते ।
इच्छानिच्छादयः सर्वे भावास्तस्य शिवात्मकाः ॥ ३४ ॥

बोधादस्तमितद्वैतमद्वैतैक्यविवर्जितम् ।
यः स्वच्छो विगतव्यग्रः शान्त आत्मन्यवस्थितः ॥ ३५ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३६ ॥

नानिच्छयाऽनेच्छयाऽथ न सता नाऽसता सदा ।
नैवात्मना न चान्येन नैतैर्मरणजीवितैः ॥ ३७ ॥

आत्मज्ञानकी प्राप्तिके चिह्न हैं, यह कहते हैं—'एतदेव' इत्यादिसे ।

सब इच्छाओंका सर्वथा निरास होना और सब लोगोंको अभयदान द्वारा प्रसन्न रखना एवं अपने आत्मानन्दानुभवमें स्थित रहना तत्त्वज्ञानका चिह्न है ॥ ३२ ॥

जब सारा प्रपञ्च नीरस हो जाता है तब कहींपर भी तत्त्वदर्शी स्वाद नहीं लेता, तब इच्छा भी बढ़ती नहीं और तभी उसकी मुक्ति भी रहती है ॥ ३३ ॥

तत्त्वज्ञानसे एकता और अनेकताके झगड़ेको छोड़कर जो पुरुष चुपचाप स्थित हो जाता है उस पुरुषके इच्छा, अनिच्छा आदि सभी भाव परब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

तत्त्वज्ञानसे जिसकी द्वैतबुद्धि नष्ट हो गई है एवं द्वैतनाशरूप वस्तु तथा एकत्वसंख्यासे रहित होकर जो पुरुष स्वच्छ, व्यग्रतारहित और शान्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है उस पुरुषको यहाँ न तो किसी कर्तव्यसे प्रयोजन है और न अकर्तव्यसे ही प्रयोजन है एवं न तो सब भूतोंमें किसी प्रयोजनकी प्राप्ति ही है ॥ ३५, ३६ ॥

न तो इच्छासे, न अनिच्छासे, न सद्वस्तुसे, न असद्वस्तुसे, न अपनेसे, न दूसरेसे और न इन जीवन-मरणोंसे तत्त्वदर्शीको किसी भी समय अर्थका लाभ होता है ॥ ३७ ॥

इच्छा च तस्य नोदेति निर्वाणस्य प्रबोधिनः ।
यदि चोदेति तस्येच्छा ब्रह्म शाश्वतमेव सा ॥ ३८ ॥

न दुःखमस्ति न सुखं शान्तं शिवमजं जगत् ।
इति योऽन्तः शिलेवास्ते तं प्रबुद्धं विदुर्बुधाः ॥ ३९ ॥

दुःखं सुखं भावनया कुर्वन् विषमिवामृतम् ।
इति निश्चित्य धीरात्मा प्रबुद्ध इति कथ्यते ॥ ४० ॥

तत्स्थितं व्योमनि व्योम शान्ते शान्तं शिवे शिवम् ।
शून्ये शून्यं सति च सद्यद्ब्रह्मणि जगत्स्थितम् ॥ ४१ ॥

असंवेदनसंवित्खे ततेऽविश्वमिति स्थिते ।
सौम्ये समसमे शान्ते शिवेऽहन्ताभ्रमः क्षयी ॥ ४२ ॥

अपना मुक्तस्वरूप जाननेवाले तत्त्वदर्शीको कभी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती। यदि उत्पन्न होती है, तो उसकी वह इच्छा अविनाशी ब्रह्मरूपिणी ही रहती है ॥ ३८ ॥

न दुःख है और न सुख ही है, किन्तु यह सारा जगत् अज, आनन्दस्वरूप, शान्त परब्रह्म ही है, इस तरहके निश्चयसे जो अपने भीतर पत्थरके सदृश अटल रूपसे रहता है उसीको पण्डित लोग विद्वान् कहते हैं ॥ ३९ ॥

भद्र, पूर्ववर्णित आत्मतत्त्वका निश्चय कर दुःखको निरतिशयानन्दरूप आत्माकी भावनासे, विषको अमृतकी नाईं, सुखस्वरूप बना रहा धीरात्मा योगी ही प्रबुद्ध कहा जाता है ॥ ४० ॥

तत्त्वबोधके अनुसार जो स्थिति है वही समस्त वस्तुओंकी अभ्रान्त स्थिति है, ऐसी स्थिति अज्ञानियोंमें प्रसिद्ध नहीं हैं, यह कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे।

जब ब्रह्ममें जगत् स्थित हो जाता है, तब आकाशमें आकाश, शान्तमें शान्त, शिवमें शिव, शून्यमें शून्य, और सतमें सत् स्थित हो जाता है, विपरीतरूपसे कोई पदार्थ किसीमें स्थित नहीं रहता ॥ ४१ ॥

उक्त रीतिसे जगत् नहीं है, इस भावनासे जब व्यापक विषयशून्य संविद्-रूप आकाश स्थित हो जाता है, तब सबमें एकरूपसे रहनेवाला सौम्य शान्त आनन्दमय आत्मामें अहन्ताभ्रम नष्ट हो जाता है ॥ ४२ ॥

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सर्वं शान्तमाकाशं परचिन्तापुरोपमम् ॥ ४३ ॥
परचिन्तापुरोमध्ये गतविघ्नं गमागमौ ।
यथाऽन्तस्तव शून्यत्वात्तथैवास्मिन् जगद्भ्रमे ॥ ४४ ॥
अब्धिद्यूर्वीनदीशैलशोभाशून्यतरात्मनि ।
जृम्भते द्रष्टृकरणं मृगतृष्णाम्बुवीचिवत् ॥ ४५ ॥
स्वप्ननिर्माणपुरवद्बालवेतालतालवत् ।
यदिदं दृश्यते तत्र किं किलासत्यतेतरत् ॥ ४६ ॥
असत्यमेवाहमिति भासते सत्यमेव च ।
भ्रान्तिभाजं विनैवेयं भ्रान्तिः स्फुरति साऽसती ॥ ४७ ॥

भद्र, जो यह कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् दिखाई दे रहा है वह सब शान्त, आकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है और जो कुछ दिखाई दे रहा है वह दूसरेके मनोराज्य-नगरके सदृश तुच्छ है ॥ ४३ ॥

अन्य पुरुषके मनोराज्यके कल्पित नगरमें तुम्हें भीतर जाने-आनेमें जैसे किसी प्रकारकी रुकावट नहीं होती, वैसे ही इस जगद्रूप भ्रममें किसी प्रकारकी रुकावट विद्वान्को नहीं होती ॥ ४४ ॥

चूँकि समुद्र, आकाश, पृथिवी, नदी, पर्वत, आदिसे शून्य आत्मामें द्रष्टाका अन्तःकरण ही समुद्र आदिकी शोभाके रूपमें परिणत हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त बात सिद्ध है । [इस विषयमें दृष्टान्त है—मृगतृष्णाजलतरङ्ग] क्योंकि तृषार्त एवं श्रान्त पुरुषका नेत्ररूप करण ही जलशून्य सामनेके प्रदेशमें मृगतृष्णा-जलतरङ्गरूपमें परिणत हो जाता है ॥ ४५ ॥

जो कुछ यह दिखाई दे रहा है वह स्वप्नमें बने हुए नगरके सदृश एवं बालक द्वारा कल्पित उन्नत वेतालके सदृश मिथ्या ही है । ऐसी स्थितिमें उसमें असत्यत्वको छोड़कर दूसरा सत्यत्व ही क्या है ? ॥ ४६ ॥

भ्रान्तिग्रस्त पुरुष स्वयं मिथ्या है, इससे भी भ्रान्तिमें मिथ्यात्व है, यह कहते हैं—'असत्य०' इत्यादिसे ।

चूँकि सत्यभूत ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' इत्यादिरूपसे असत्य होकर ही भासता है, इसलिए भ्रान्तिग्रस्त पुरुषके बिना ही यह भ्रान्ति भासती है, अतः भ्रान्ति असत्य (मिथ्या) है ॥ ४७ ॥

न सन्नासन्न सदसत्किमपीदमतीन्द्रियम् ।
अवाच्यं जगदित्येव भात्यवक्षुभितं खवत् ॥ ४८ ॥
इहेच्छानिच्छते ज्ञस्य शाम्यतां यदलं समे ।
तथापि श्रेयसे मन्ये नन्वनिच्छोदयं स्फुटम् ॥ ४९ ॥
अहं जगदिति ज्ञप्तिः खे खस्येवेयमास्थिता ।
चिदात्मनो यथा वायोः स्पन्दो नात्रास्ति कारणम् ॥ ५० ॥
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तच्चित्तं सैव संसृतिः ।
सेच्छा तन्मुक्ततामुक्तिर्युक्तिं ज्ञात्वेति शाम्यताम् ॥ ५१ ॥

यह जो जगत् है, वह न सत् है और न असत् तथा न तो सत्-असत् उभयरूप है, इसका तत्त्व भी किसी इन्द्रियसे निर्धारित नहीं किया जा सकता, यह अनिर्वचनीय ही है, इस रूपका होनेपर भी गन्धर्वनगर आदिसे क्षुब्ध आकाशके सदृश प्रतीत होता है। सारांश यह है कि यदि जगत्को अत्यन्त ही असत् मान लिया जाय, तो शून्यवादियोंके मतमें ही अपनी गिनती होने लगेगी, यदि अत्यन्त सत् मान लिया जाय, तो श्रुति और तत्त्ववेत्ताओंके अनुभवके साथ विरोध होगा। यदि सत्-असत् उभयरूप मान लें, तो विरोध होनेके कारण एक वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म कैसे रह सकते हैं, इन सब बातोंसे अन्तमें यही निष्कर्ष निकलता है कि जगत्का स्वरूप अनिर्वचनीय ही मानना होगा ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामभद्र, यद्यपि तत्त्वबोधके बलसे ही भलीभाँति शान्त हो रहे विषयोंकी इच्छा या अनिच्छा दोनों तत्त्वज्ञानीके लिए समान हैं यानी दोनोंका फल समान है, तथापि अनिच्छाका उदय ही विक्षेपशून्य सुखाभिव्यक्तिका हेतु होनेसे कल्याणकारक है, यह मेरा मन्तव्य है ॥ ४९ ॥

भद्र, आकाशमें आकाशकी नाईं अविकृत चिदाकाशमें ही 'आकाशाद् वायुः' (आकाशसे वायु) इत्यादि श्रुति-दर्शित क्रमके अनुसार 'अहं जगत्' इत्याकारक चिदात्माकी कलना स्थित है, इसमें वायुमें स्पन्दनकी नाईं दूसरे किसी कारणकी अन्वेषणा नहीं करनी चाहिए ॥ ५० ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि चितिकी बहिर्मुखता ही इच्छा, चित्त और संसार है तथा अन्तर्मुखता ही मुक्ति है, यह कहते हैं— 'चित०' इत्यादिसे ।

इच्छा भवत्वनिच्छा वा सर्गो वा प्रलयोऽथवा ।
क्षतिर्न कस्यचित्काचिन्न च किञ्चिदिहास्ति हि ॥ ५२ ॥
इच्छानिच्छे सदसती भावाभावौ सुखासुखे ।
इत्यत्र कलना व्योम्नि सम्भवन्ति न काश्चन ॥ ५३ ॥
इच्छानां तानवं यस्य दिनानुदिनमागतम् ।
विवेकशमतृप्तस्य तमाहुर्मोक्षभागिनम् ॥ ५४ ॥
इच्छाक्षुरिकया विद्धे हृदि शूलं प्रवर्त्तते ।
जयन्ति यत्र नैतानि मणिमन्त्रौषधानि च ॥ ५५ ॥
यान्कार्यकरणव्यूहान् कृतवान् पूर्वमेव तान् ।
संप्रेक्षया न पश्यामि मिथ्याभ्रमभराद्दते ॥ ५६ ॥

भद्र, चितिकी जो बाह्यविषयोंकी ओर उन्मुखता है, वही चित्त है, वही संसार है और वही इच्छा है तथा बाह्य विषयोंकी ओरसे उन्मुखताको जो हटा देना है, वही मुक्ति है, इस युक्तिको जानकर आप शान्त हो जाइए ॥ ५१ ॥

इस स्थितिमें सृष्टि या प्रलय दोनों अवस्थाओंमें जैसे ईश्वरको कोई हानि या लाभ नहीं होता, वैसे इच्छा या अनिच्छा दोनों अवस्थाओंमें विद्वान्‌को कोई हानि या लाभ नहीं होता, यह कहते हैं—'इच्छा' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, इच्छा हो या अनिच्छा हो, सृष्टि हो या प्रलय हो, इससे यहां किसीकी कुछ भी न क्षति है या न कुछ फल है ॥ ५२ ॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं—'इच्छानिच्छे' इत्यादिसे ।

इच्छा-अनिच्छा, सत्-असत्, भाव-अभाव तथा सुख-दुःख—ये सब कल्पनाएँ इस तत्त्ववेत्ताके स्वरूपभूत चिदाकाशमें कुछ हो ही नहीं सकतीं ॥ ५३ ॥

भद्र, जिस महामतिको दिन-पर-दिन समस्त इच्छाओंकी कमी होती जाती है, विवेक-शमसे सन्तुष्ट उस महामतिको ही विद्वान् लोग मोक्षभागी कहते हैं ॥५४॥

इच्छारूपी छुरीसे विद्ध हुए हृदयमें ऐसी वेदना उत्पन्न होती है कि जिसके लिए ये प्रसिद्ध मणि-मन्त्र आदि महौषध सब कुण्ठित हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

ब्रह्माजीने प्राणियोंके दुःखोंकी चिकित्सा करनेके लिए जिन औषध, मन्त्र, यन्त्र आदि कार्य-करणोंका निर्माण किया है उनकी परीक्षाके लिए पहले ही मैंने विचारपूर्वक प्रयत्न किया, परन्तु उनको मैंने मिथ्याभ्रान्तिके भारसे आक्रान्त पुरुषमें चिकित्सासमर्थ नहीं पाया ॥ ५६ ॥

भ्रमभूतेन कुर्मश्चेद्व्यवहारमवस्तुना ।
तत्कस्मात्परचित्ताद्रिः कवलत्वं न नीयते ॥ ५७ ॥
असता व्यवहारश्चेत्प्रेक्षामात्रविनाशिना ।
क्रियते शशशृङ्गेण तत्कथं छाद्यते न खम् ॥ ५८ ॥
अहम्भावाच्चिदाकाशो जाड्यातिशयतः क्षणात् ।
पाषाणतां जलमिव मनस्त्वाद्याति देहताम् ॥ ५९ ॥
चित्त्वादनुभवत्येतामसत्यामेव देहिताम् ।
अविनष्टैव चिच्छक्तिः स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ६० ॥

यदि शङ्का हो कि भ्रमसिद्ध किसी उपायसे ही भ्रमकी चिकित्सा करेंगे, तो इसपर कहते हैं—'भ्रमभूतेन' इत्यादिसे ।

यदि यह कहिये कि भ्रान्तिसिद्ध यानी हमारी भ्रान्तिसे सिद्ध अवस्तुरूप किसी उपायसे अन्य भ्रान्तिसिद्ध दुःख आदिका निवारण आदि व्यवहार हम कर लेंगे, तो इसपर हमारा यही उत्तर है कि हम लोगोंके मनोरथसे सिद्ध अत्यन्त विस्तृत मुखसे दूसरेके स्वप्नमें सिद्ध विस्तृत पर्वत क्यों नहीं निगला जाता ॥५७॥

भ्रान्तिसिद्ध वस्तु असलमें असत् होनेके कारण पारमार्थिक दुःखनिवारणमें सामर्थ्य नहीं रखती, यह कहते हैं—'असता' इत्यादिसे ।

जिसका विचारमात्रसे विनाश हो जाता है, ऐसे भ्रान्तिसिद्ध असत् पदार्थसे यदि व्यवहार मान लें, तो शशशृङ्गसे आकाश क्यों नहीं आच्छादित होता, इससे तत्त्वज्ञानाभिव्यक्त पारमार्थिक ब्रह्म ही सर्वविध भ्रमोंके निवारणका उपाय है, दूसरा नहीं, यह भाव है ॥ ५८ ॥

अमूर्त मनकी भ्रान्तिमात्र यह जगत् मूर्तदेहादिभावको कैसे प्राप्त हो जाता है, इसपर कहते हैं—'अहंभावात्' इत्यादिसे ।

जिस प्रकार जाड्यातिशयके कारण यानी अत्यन्त शीतलताके कारण जल पाषाणरूपताको प्राप्त हो जाता है वैसे ही चिदाकाश मनके कारण देहाकाराहंभावसे अर्थात् देहादिमें अहन्ताके अभिमानसे देहाकारताको प्राप्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

जड देहरूप होनेपर भी वस्तुतः चितिशक्ति अक्षत ही रहती है, विनष्ट नहीं होती, यही कारण है कि चिद्रूप होनेसे इस असत्य ही देहिताका वह ऐसे अनुभव करती है, जैसे स्वप्नमें अपनी मृत्युका ॥ ६० ॥

व्योम्न्यसत्यमवस्तुत्वात्सत्यं चानुभवाद्यथा ।
नीलत्वं तद्वदीशेऽस्मिन् सर्गो नासन्न सन्मयः ॥ ६१ ॥
यथा शून्यत्वनभसोर्यथास्पन्दनभस्वतोः ।
भेदो नास्ति तथा सर्गब्रह्मणोरेकरूपयोः ॥ ६२ ॥
नेह सञ्जायते किञ्चिज्जगदादि न नश्यति ।
स्वप्नो निद्रागतस्येव केवलं प्रतिभासते ॥ ६३ ॥
अविद्यमाने पृथ्व्यादौ प्रतिभामात्ररूपिणि ।
सर्गे क इव संरम्भस्त्यागादानैश्चिदम्बरे ॥ ६४ ॥
न देहः प्रतिभातोऽस्ति पृथ्व्यादिकारणान्वितः ।
केवलं ब्रह्मचिन्मात्रमेवात्मन्येव संस्थितम् ॥ ६५ ॥

प्रातिभासिक जड़ताका अस्तित्व प्रतिभासके अधीन है, इसलिए प्रातिभासिक जड़ता अनिर्वचनीय है, यह कहते हैं—'व्योम्न्य०' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें नीलत्व अवस्तुरूप होनेसे असत् है, प्रतिभासके कारण सत्य-सा भासता है, परन्तु वस्तुतः सत्य ही नहीं है वैसे ही इस परमात्मामें यह सृष्टि सत्य-सी भासती है, वस्तुतः वह न तो सत्य है और न असत्य ही है, किन्तु अनिर्वचनीय है ॥ ६१ ॥

यही कारण है कि जगत् और ब्रह्मसत्ताके एकरूप होनेसे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे आकाश और शून्यतामें एवं जैसे स्पन्दन और वायुमें कोई भेद नहीं है वैसे ही एकरूप ब्रह्म और सृष्टिमें भी कोई भेद नहीं है ॥ ६२ ॥

स्वप्नादिक पदार्थोंकी नाईं प्रतिभाससे अतिरिक्त प्रातिभासिक पदार्थोंकी उत्पत्ति आदि कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

इस परमात्मामें वस्तुतः जगत् आदि कुछ भी न तो उत्पन्न होता और न नष्ट ही होता है । किन्तु केवल निद्राग्रस्त प्राणीके स्वप्नके सदृश भासता है ॥ ६३ ॥

इसलिए इसके त्याग और ग्रहणमें मनुष्यको अभिनिवेश रखना युक्त नहीं है, यह कहते हैं—'अविद्यमाने' इत्यादिसे ।

चिदाकाशमें पृथिवी आदिके अविद्यमान रहते तथा सृष्टिके एकमात्र प्रतिभास-स्वरूप सिद्ध होनेपर मनुष्यको उसके त्याग और ग्रहणमें भला कौन-सा आग्रह ? ॥ ६४ ॥

देहके लिए तो पृथिवी आदिका त्याग और ग्रहण हो सकता है, परन्तु

बुद्ध्यादेः कारणत्वं च द्वैतैक्यासम्भवान्न सत् ।
अनेनेदं क्रियत इत्यस्यार्थं याति सम्भवात् ॥ ६६ ॥
अहेतुरक्रमं भाति चिति कल्पक्रियागणः ।
क्षणेनैव यथा स्वप्ने मृतिजन्मादि सत्वशः ॥ ६७ ॥
खमेव पृथ्वी खं शैलाः खमेव दृढभित्तयः ।
खमेव लोका स्पन्दः खं संसर्गसंवेदनं चितेः ॥ ६८ ॥
व्योमभित्तौ जगच्चित्रं चिद्रङ्गमयमाततम् ।
नोदेति नास्तमायाति न शाम्यति न ताम्यति ॥ ६९ ॥

जब वे ही दोनों (पृथ्व्यादि और देह) एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होनेसे असत् हैं, तब तो वे त्याग और ग्रहण भी असत् ही ठहरे, इस आशयसे कहते हैं—'न देहः' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदि कारणसहित यह देह भी एकमात्र प्रतिभासस्वरूप होनेसे नहीं ही है; केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही अपनी आत्मामें स्थित है ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार बुद्धि आदिमें अपने प्रतिभासक चैतन्यात्माकी अपेक्षासे भेद और अभेदका संभव न होनेके कारण 'इससे यह किया जाता है' इस तरहके व्यवहारकी असत् भी कारणता आखिरमें परमार्थ वस्तुको ही प्राप्त करती है, क्योंकि एकमात्र उसीका संभव है ॥ ६६ ॥

इस चितिमें कल्प, महाकल्प एवं उनमें होनेवाली सब क्रियाएँ अहेतुक तथा अक्रमिक हैं और वे ऐसे भासित होते हैं, जैसे स्वप्नमें क्षणभरमें ही अहेतुक तथा अक्रमिक जन्म-मरण आदि शीघ्र भासित होते हैं ॥ ६७ ॥

इसका फलितार्थ यह हुआ कि सब चिदाकाश ही है, यह कहते हैं—'खमेव' इत्यादिसे ।

चूँकि चितिको सृष्टिका संवेदन अपनी ही आत्मामें होता है, और दूसरी जगह नहीं, इसलिए यह सारी पृथिवी चिदाकाशस्वरूप ही है, ये पर्वत सब चिदाकाशरूप हैं, ये अत्यन्त दृढ़ भित्तियाँ और ये सब लोक चिदाकाशरूप ही हैं एवं स्पन्द भी चिदाकाश ही है ॥ ६८ ॥

चिदाकाशरूप भित्तिमें जगद्रूपी महान् चित्र चितिरूपी रङ्गसे ही व्याप्त है। न तो यह चित्र उदयको प्राप्त होता है, न अस्तको प्राप्त होता है, न तो शान्त होता है और न म्लानिको ही प्राप्त होता है ॥ ६९ ॥

चिद्वारिणि जगत्तुङ्गतरङ्गद्रवरूपिणि ।
किं नु वा कथमुत्पन्नं किं शान्तं च कदा कथम् ॥ ७० ॥
शान्ते महाचिदाकाशे जगच्छून्यत्वशालिनि ।
चेत्यासम्भवतः सन्ति नोदयास्तमयौ कुतः ॥ ७१ ॥
पर्वता गगनायन्ते गगनं पर्वतायते ।
संवेदनप्रयोगेण ब्रह्मणः सर्गतास्थितौ ॥ ७२ ॥
संविच्चूर्णप्रयोगेण निमेषार्द्धेन योगिनः ।
कुर्वन्ति जगदाकाशमाकाशं त्रिजगन्ति च ॥ ७३ ॥
सिद्धसङ्कल्पनगराण्यसंख्यानि यथाऽम्बरे ।
तथा सर्गसहस्राणि सन्ति तानि तु चिन्नभः ॥ ७४ ॥
महार्णवे यथाऽऽवर्ता अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते पयसोऽन्ये च नैव ते ॥ ७५ ॥

जगद्रूपी महातरङ्गोंसे युक्त द्रवशील चितिरूपी जलमें कौन-सा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुआ या कौन-सा पदार्थ कब कैसे शान्त ही हुआ ॥ ७० ॥

तब तो जगद्-रूपसे चितिके ही उदय और अस्त होते रहें, हानि क्या है, इसपर 'नहीं' ऐसा कहते हैं—'शान्ते' इत्यादिसे ।

जब विषयोंका सर्वथा असंभव होनेसे जगत् ही नहीं है, तो फिर जगत्की शून्यतासे शोभित, शान्त, महाचिदाकाशमें जगद्रूपसे चितिके उदय और अस्त ही कैसे सिद्ध हो सकते हैं ॥ ७१ ॥

परन्तु यदि मायाविलासदृष्टिसे देखते हैं, तो फिर सभी पदार्थोंमें सर्वरूपताकी यथेच्छ उपपत्ति हो जाती है, यह कहते हैं—'पर्वताः' इत्यादिसे ।

ब्रह्मके सृष्टिरूपमें विवर्तित होनेपर संवेदनके प्रयोगसे यानी विचित्र वासनाओंके अनुसार उत्पन्न संकल्पसे तो पर्वत भी आकाशरूपमें परिणत हो सकते हैं और आकाश भी पर्वत बन सकते हैं ॥ ७२ ॥

संविद्रूप सिद्धौषधचूर्णके प्रयोगसे तो योगीजन आधे निमेषमें जगत्को आकाशरूप और आकाशको तीनों जगत्के रूपमें कर डालते हैं ॥ ७३ ॥

जैसे इस प्रसिद्ध आकाशमें असंख्य सिद्धसङ्कल्पोंसे कल्पित नगर परस्पर असंलग्न एवं अन्तर्हित हैं, वैसे ही चिदाकाशमें (ब्रह्ममें) हजारों वे सृष्टियाँ हैं ॥ ७४ ॥

इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं—'महार्णवे' इत्यादिसे ।

महाचिति महासर्गा अन्योन्यमपि मिश्रिताः ।
पृथगेवावतिष्ठन्ते व्यतिरिक्ता न ते ततः ॥ ७६ ॥
सर्गात्सर्गान्तरालोके या प्रबुद्धस्य योगिनः ।
सिद्धलोकान्तरे प्राप्तिः सैवेति विबुधोक्तयः ॥ ७७ ॥
अविनाशिनि भूतानि स्थितानि परमे शिवे ।
व्योम्नीव शून्यतोल्लासाः सर्गवर्गा निरर्गलम् ॥ ७८ ॥
परमार्थनिजामोदाः सहजाः सर्गविभ्रमाः ।
नोद्यन्ति नोपशाम्यन्ति लेखा इव शिलोदरे ॥ ७९ ॥
अन्योन्यं कुसुमामोदा मिलिता अप्यमीलिताः ।
व्योमरूपास्तथा सर्गा अन्योन्यं सिद्धभूमयः ॥ ८० ॥

जैसे महासमुद्रमें अनेक आवर्त परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं, वास्तवमें वे जलसे अतिरिक्त नहीं हैं, वैसे ही महाचितिमें असंख्य बड़ी-बड़ी सृष्टियां यानी ब्रह्माण्ड परस्पर मिले हुए भी पृथक्-से अवस्थित हैं। पर वास्तवमें वे उससे अलग नहीं हैं ॥ ७५, ७६ ॥

परस्पर छिपे हुए सिद्धोंके भिन्न-भिन्न लोकोंके अवलोकनके लिए इच्छासे प्रबुद्ध योगीकी—पहले अपनी उपाधिका मूल चेतनमें प्रविलापनकर फिर दूसरेके चित्तमें प्रवेश कर उसके लोकमें—जो अनुप्रवेशरूप प्राप्ति है, वही एक सृष्टिसे दूसरी सृष्टिके अवलोकनके लिए भी है, यह विद्वान् लोग * बतलाते हैं ॥ ७७ ॥

इस तरह सम्पूर्ण प्राणियों एवं उनके भोग्य सृष्टियोंकी विवर्तरूप स्थिति शाश्वत ब्रह्ममें ही है, यह कहते हैं—'अविनाशिनि' इत्यादिसे ।

अविनाशी परम शिवमें ये सभी भूत स्थित हैं। उसीमें ये सारी सृष्टियां बेरोक-टोक ऐसे स्थित हैं, जैसे आकाशमें शून्यताके उल्लास ॥ ७८ ॥

परमार्थ चिदाकाशके अपने आमोदरूप स्वाभाविक ये सृष्टिके विभ्रम हैं। ये स्फटिकमणिके भीतर दिखाई दे रही रेखाओंकी नाईं न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं ॥ ७९ ॥

पुष्पोंकी गन्ध और सिद्धोंकी भूमि जैसे परस्पर मिली हुई रहनेपर भी मिली हुई नहीं रहती, वैसे ही चिदाकाशरूप ये सृष्टियां भी हैं ॥ ८० ॥

* इस तरहका वर्णन लीलोपाख्यानमें हो चुका है।

सङ्कल्पाकाशरूपत्वात्सर्वानुभववत्स्थितेः ।
तनुसङ्कल्पमोहानां सत्याश्च मननोक्तयः ॥ ८१ ॥
न ज्ञानवादिता सत्या न बाह्यानर्थवादिता ।
यथा वेदनमेतानि वेदनानि फलन्ति वः ॥ ८२ ॥
चिति चित्त्वं यदस्त्यन्तर्जगदित्येव भाविते ।
भेदो द्रवत्वपयसोरिव नात्रोपपद्यते ॥ ८३ ॥

यही कारण है कि स्थूल सङ्कल्प और मोहवाले पामरजनोंकी दृष्टिसे इस प्रपञ्चकी स्थूल अनुभवके समान स्थिति है तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियोंकी दृष्टिसे सूक्ष्मादिभावसे इस प्रपञ्चकी स्थिति है। ऐसी स्थितिमें सबको अनुभव एक-सा न होनेके कारण अपने-अपने अनुभवके अनुसार सबकी उक्तियां सत्य ही हैं, यह कहते हैं—'सङ्कल्पाकाश०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रपञ्चकी स्थिति सङ्कल्पाकाशरूप होनेसे जिसका जैसा अनुभव है वैसी ही है। इसलिए सूक्ष्म सङ्कल्प एवं मोहवाले योगियोंकी मननपूर्वक जगत्के विषयमें जो कुछ उक्तियां हैं, वे बिलकुल सत्य हैं ॥ ८१ ॥

अतएव भिन्न-भिन्न वादियोंकी जो नाना प्रकारकी कल्पनाएँ हैं वे भी तत्-तत् वासनाओंसे परिपूर्ण सङ्कल्पोंके अनुसार ही सत्य हैं, सबके सङ्कल्पोंके अनुसार या परमार्थरूपसे वे सत्य नहीं हैं, यह भिन्न-भिन्न वादियोंको सम्बोधित कर कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

न तो विज्ञानवादी बौद्धोंकी आन्तर विज्ञानमात्र परमार्थवादिता * सत्य है और न वैशेषिकोंकी बाह्यानर्थवादिता † ही सत्य है, किन्तु आप लोगोंके सङ्कल्पके अनुसार ये सभी ज्ञान फलीभूत होते हैं ॥ ८२ ॥

तब इनमें कौन-सा पक्ष प्रामाणिक है, उसको बतलाते हैं—'चिति' इत्यादिसे।

वस्तुतः चितिमें जो चित्त्व है यानी त्रिपुटीप्रकाशनकी ‡ शक्ति है, वही

---

* विज्ञानवादी बौद्धोंका सिद्धान्त है कि एकमात्र आन्तर विज्ञान ही परमार्थ वस्तु है और कुछ नहीं।

† वैशेषिकोंका मत है कि दुःखके हेतुभूत द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात बाह्य ही सत्य हैं।

‡ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयके प्रकाशनकी।

कालो जगन्ति भुवनान्यहमक्षवर्ग-
स्त्वं तानि तत्र च तथेति च सर्वमेकम् ।
चिद्व्योम शान्तमजमव्ययमीश्वरात्म-
रागादयः खलु न केचन सम्भवन्ति ॥ ८४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे दृश्योपदेशयोगो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

—०—

अष्टत्रिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्पश्यति जगन्मिथ्यास्ववेदनविबोधिता ।
व्योम्नि मायाञ्जनासिक्ता दृगिवाचलान्तरम् ॥ १ ॥

भीतर भावित होनेपर 'जगत्' रूपसे भासती है । इसलिए चिति और जगत्में भेद ऐसे उपपन्न नहीं होता, जैसे जल और द्रवत्वमें ॥ ८३ ॥

कहे हुए का अनुवाद कर प्रकृतमें उसकी योजना करते हुए उपसंहार करते हैं—'कालो' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वाधारकाल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चौदह भुवन, उन भुवनोंके अन्तर्गत अहम् तथा त्वम् आदि भोक्ता, भोक्ताओंके भोगोंके उपकरणभूत इन्द्रियसमूह, शब्द, स्पर्श आदि भोग्य विषय और उनमें विचित्र भोग—यह सब कुछ ईश्वरात्मक यानी मायिक सर्वज्ञता, सर्वशक्ति आदिसे सम्पन्न और परमार्थतः शान्त, एक, अज, अविनाशी चिदाकाशरूप ही है । ऐसा निश्चय होनेपर राग आदि किसीका भी सम्भव नहीं है ॥ ८४ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग

[चित् और चेत्य (विषय)—दोनोंके सम्बन्धभ्रमके निरास द्वारा उत्तम युक्तियोंसे चेतन ही जगत् है—यह वर्णन]

चेत्यरूप समस्त जगत् चेतनस्वरूप ही है, इस विषयका उपपादन करनेवाले महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'चित्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मसर्गश्चित्तसर्गो द्वावेतौ सदृशौ मतौ ।
परमार्थस्वरूपत्वादक्षुब्धत्वात्सदैव च ॥ २ ॥
ज्ञानरूपतया बाह्यं बाह्यं चानुभवात्तथा ।
सत्यरूपमतः सत्यां विद्धि बाह्यार्थरूपताम् ॥ ३ ॥
बाह्यार्थवादविज्ञानवादयोरैक्यमेव नः ।
वेदनात्मैकरूपत्वात्सर्वदाऽसदसंस्थितेः ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, अपनेमें मिथ्या ज्ञानसे यानी अब्रह्मरूपता-भ्रमसे विक्षिप्त हुई चिति जगत्‌को उस प्रकार देखती है, जिस प्रकार मायादर्शन-हेतु अञ्जनसे युक्त आँख आकाशमें पर्वतरूपताको और पर्वतके शिखर वन, हाथी आदिको देखती है ॥ १ ॥

भ्रान्तिसे कल्पा गया यह संसार चित्रसृष्टिके सदृश केवल मनकी कल्पनासे ही क्षुब्ध-सा भासता है, वस्तुतः नहीं, यह कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, ब्रह्मसृष्टि और चित्तसृष्टि दोनों समान ही मानी जाती हैं, क्योंकि दोनों सृष्टियां असलमें परमार्थ ब्रह्मसे न भिन्न हैं और न उनमें किसी तरहका क्षोभ ही है ॥ २ ॥

वैसा भले ही हो, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'ज्ञान०' इत्यादिसे ।

जैसे भीतमें रहनेवाला चित्र वास्तवमें भीतसे अलग नहीं है, परन्तु भ्रान्त-पुरुषोंके अनुभवसे भीतसे अलग-सा भासता है, वैसे ही ज्ञानमें कल्पा गया संसार वास्तवमें ज्ञानरूप होनेके कारण ज्ञानसे अलग नहीं है, किन्तु भ्रान्त पुरुषोंके अनुभवरूपसे अलग-सा भासता है । जब यही असली स्थिति है, तब बाह्य-अर्थरूपताको भी, ज्ञानकी सत्यताके कारण, ज्ञानरूपसे सत्यरूप ही मानना चाहिए, यह आप जानिये ॥ ३ ॥

ऐसी स्थितिमें हम लोगोंके मतसे बाह्य अर्थवाद और विज्ञानवादमें कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनोंकी उक्तरीतिसे एकता ही है । किसी भी समय चेतनसे भिन्न असत् बाह्य प्रपञ्चकी सत्ता हो ही नहीं सकती, यह अकाट्य सिद्धान्त है ॥ ४ ॥

अक्षुब्धखानिलालोकजलभूशान्तिशालिनी ।
तता शून्या महारम्भा ब्रह्मसत्तैव सर्वतः ॥ ५ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च तत् ।
तच्च सर्वमयं नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ६ ॥
चिन्मयत्वाद्यदा चेत्यमेति द्रष्टृचितैकताम् ।
तदा दृश्याङ्ग्यैवैतच्चेत्यते नान्यथा चिता ॥ ७ ॥
यदा चिन्मात्रमेवेयं द्रष्टृदर्शनदृश्यदृक् ।
तदाऽनुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥ ८ ॥

जब सम्पूर्ण प्रपञ्च चिदेकरस है, चिति निरन्तर ही अक्षुब्ध है और समस्त विशेषणोंसे निर्मुक्त है, तब क्षुब्ध हुए आकाश आदि पञ्चभूतोंकी भी शान्ति अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इससे अन्तमें पूर्णब्रह्मरूपता ही बच गई, यह कहते हैं—'अक्षुब्ध०' इत्यादिसे ।

क्षोभशून्य, तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीसे शून्य एवं पूर्णशान्तिसे विराजमान, बड़े-बड़े आरम्भोंसे युक्त, वास्तवमें शून्यरूप ब्रह्मसत्ता ही चारों ओर विस्तृत है ॥ ५ ॥

यों समस्त क्रियाकारकफलरूप ब्रह्मीभूत जगत्को ही प्रणाम करते हैं—'तस्मै' इत्यादिसे ।

यह सब कुछ ब्रह्मके लिए ही है, उसीसे सब कुछ उत्पन्न हुआ है, वही सर्वरूप है, वही चारों ओर व्याप्त होता है, वही सबमें ओत-प्रोत है, नित्य भी वही है, ऐसे सर्वात्मक ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ६ ॥

व्यवहारकालमें भी चितिके साथ ऐक्यप्राप्तिके बलसे ही विषयोंका अस्तित्व और प्रकाशन होता है, किसी दूसरे तरीकेसे नहीं, यह कहते हैं—'चिन्मयत्वात्' इत्यादिसे ।

चिन्मय होनेके ही कारण घटादिरूप विषय जब प्रमातारूप चैतन्यके साथ वृत्ति द्वारा एक हो जाते हैं, तभी दृश्यरूप देहवाली उस चितिके बलसे ही इन घट आदि पदार्थोंका प्रकाशन होता है, अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

इस तरह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये सभी, चितिकी एकताके बलसे ही जब सिद्ध होते हैं, तब वे चिन्मात्रस्वरूप ही हैं, ऐसी स्थितिमें सब

द्रष्टृदृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके ।
तद् दृश्यास्वादमज्ञः स्यान्ना दृष्टेक्षुमिवोपलः ॥ ९ ॥
चिन्मयत्वाच्चितौ चेत्यं जलमप्स्विव मज्जति ।
तेनानुभूतिर्भवति नान्यथा काष्ठयोरिव ॥ १० ॥
सजातीयैकताभावाद् यद्वत्काष्ठं न चेतते ।
दारु तद्वदपि द्रष्टा दृश्यं नाज्ञास्यदाजडम् ॥ ११ ॥
यादृक्सत्तानि काष्ठानि तादृग्रूपं त्वचेतनम् ।
जानन्ति नेतरत्तस्माद्दृश्यं चिद्दृश्यचेतनम् ॥ १२ ॥

जगत्का स्वरूप केवल अनुभवमात्र ही परमार्थसे सिद्ध होता है, यह अर्थतः निकलता है ॥ ८ ॥

द्रष्टा और दृश्यकी एकतामें अनुकूल तर्क बतलाते हैं—'द्रष्टृदृश्ये' इत्यादिसे ।

द्रष्टा और दृश्य यदि चिदात्मक साक्षीमें एकता प्राप्त नहीं करते, तो ईख खानेमें प्रवृत्त पुरुष ईख देखकर और चूसकर भी पत्थरके सदृश उसके स्वाद या माधुर्यका अनुभव नहीं करता, क्योंकि जड़ तो रसका अनुभव कर नहीं सकता और न जड़ रस ही उसके प्रति प्रकाशित हो सकता है ॥ ९ ॥

जब दृश्य और द्रष्टाको चिन्मय मानते हैं, तब अनुभव करनेवाली चितिमें ही चेत्यका (विषयका) अनुभव होगा । जलमें गिरा हुआ जलबिन्दु जैसे जलमें प्रवेशकर डूब जाता है, वैसे ही चितिमें विषय प्रवेश कर डूब जाता है, इसीसे 'ईखका माधुर्य चखता हूँ' इस त्रिपुटीका चेतनमें प्रवेश होकर ही अनुभव होता है—इस प्रकारको छोड़कर दूसरा प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि जड़ होनेपर दो काठके सदृश अनुभव नहीं होगा ॥ १० ॥

'दो काठके सदृश' यह जो व्यतिरेक दृष्टान्त दिया है, उसकी समानता दार्ष्टान्तिकमें बतलाते हैं—'सजातीय०' इत्यादिसे ।

एक काठ दूसरे काठको, अपना जातीय होनेपर भी, चेतनकी एकता न होनेपर जैसे नहीं जान सकता, वैसे ही द्रष्टा भी चेतनकी एकतासे शून्य दृश्यको नहीं जान सकता ॥ ११ ॥

द्रष्टा और दृश्यकी जड़ता मान लेनेपर कोई भी दो काठकी अपेक्षा उनमें कुछ अधिकता नहीं जान सकते, यह कहते हैं—'यादृक्' इत्यादिसे ।

काठकी जैसी स्थिति अपने सामने है, वही उनका जड़ रूप है, इससे

महाचिदात्मनैवास्ति जलानिलधराश्मतम् ।
नैतेषु स्पन्दबुद्ध्यादि प्राणजीवाद्यभावतः ॥ १३ ॥
प्राणबुद्ध्यादयः संत्तां भावनावशतो गताः ।
भावना चिच्चमत्कारः स यथेच्छमुदेति च ॥ १४ ॥
जगत्तया शान्ततया ब्रह्मसत्ताऽवतिष्ठते ।
पुंस्तया गत एवात्मा रेतो वटकबीजयोः ॥ १५ ॥
सर्वाग्राणुमये बीजे योऽस्मादग्रगतोऽणुकः ।
स स तच्चाद्भुवत्यग्रं बीजं स्वात्मनि संस्थितः ॥ १६ ॥

अतिरिक्त दूसरे किसी रूपको कोई नहीं जानते । अतः कथित तर्कके आधारपर समस्त दृश्य और द्रष्टा चिद्रूपसे ही चिदभिन्न है, यह सिद्ध हो गया ॥ १२ ॥

यों द्रष्टा और दृश्य जब चेतनरूप सिद्ध हुए, तब दृश्यात्मक जगत्में पृथिवी, वायु, जल आदिका भेद निकल गया और द्रष्टामें स्पन्दन, बुद्धि आदिका भेद निकल गया, इस स्थितिमें समस्त जगत्की ब्रह्मके साथ एकता ही सिद्ध हो गई, यह कहते हैं—'महा०' इत्यादिसे ।

दृश्योंमें जल, वायु, पृथ्वी, पत्थर आदि तथा द्रष्टामें जो स्पन्दन, बुद्धि आदि एवं प्राण जीव आदि भेद हैं, वह महाचेतनरूपसे है ही नहीं, क्योंकि महाचेतनमें उनका तीनों कालमें अस्तित्व नहीं है ॥ १३ ॥

भावनामात्रसे कल्पित होनेके कारण प्राण आदि भेद मिथ्या हैं, यह कहते हैं—'प्राण०' इत्यादिसे ।

भद्र, प्राण, बुद्धि आदि जो कुछ अपना अस्तित्व रखते हैं, वह केवल भावनाके बलपर ही । भावना तो एक चितिका चमत्कार है, वह इच्छाके अनुसार उदित होता है, अतः भावनामूलक प्राण आदि मिथ्या हैं ॥ १४ ॥

जगत्-रूपसे एवं सुषुप्ति-प्रलयरूपसे ब्रह्मसत्ता ही स्थित है । आत्मा ही प्रसवशक्तिसे आक्रान्त होकर वीर्य और वटबीजरूपमें मानो बन गया है अर्थात् सभी भेद ब्रह्मके विवर्तरूप ही हैं, अतः वे मिथ्या हैं ॥ १५ ॥

वटके बीजमें प्रसवशक्तिसे युक्त सूक्ष्म अविकृत ब्रह्मसत्तावाला भाग और उसमें वटादिविवर्त दिखलाते हैं—'सर्वाग्रा०' इत्यादिसे ।

सबके सारभूत अत्यन्त सूक्ष्म भागसे सम्पन्न बीजमें जो-जो सारभूत अति-

ब्रह्म सर्वपराण्वात्मा यो यस्मादर्थतोऽणुकः ।
स स तचद्भवेद्वस्तु वस्तु ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ १७ ॥
द्रव्यमेव यथा द्रव्यं तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सर्वमेव तथा ब्रह्म येन तेन यथा तथा ॥ १८ ॥
हेमत्वमेव नान्यत्वं हेमरूपशते यथा ।
शान्तत्वमेव शान्तस्य सर्गाहन्त्वगणे तथा ॥ १९ ॥
पार्श्वस्थस्वप्नमेघौघा यथा तव न काश्चन ।
सर्गप्रलयसंरम्भास्तथा खात्मान एव मे ॥ २० ॥

सूक्ष्म वस्तु है, वह सब परमात्मा ही है। इसी सारभूत वस्तुसे शाखा आदिमें तत्-तत् उत्तरोत्तर कार्यमें अग्रस्थानीय बीज होता है और वह अपने स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १६ ॥

जो-जो जिससे सूक्ष्म होकर कारणरूपसे प्रसिद्ध है, वह सब तो ब्रह्मकोटिमें है और जो स्थूल होकर कार्यरूपसे प्रसिद्ध है, वह मायाकोटिमें है तथा मिथ्या है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे ।

ब्रह्म ही सबसे परम अणुरूप है, इसलिए जो-जो जिस-जिस अर्थसे अत्यन्त अणु है, वह सब तत्-तत् सूक्ष्मभूत ब्रह्मवस्तु है, ऐसी स्थितिमें सर्वत्र ब्रह्मवस्तु ही स्थित है ॥ १७ ॥

जैसे घट आदि एक-एक द्रव्य अगल-बगलसे, ऊपरसे-नीचेसे यानी सभी ओरसे द्रव्यरूप ही है, उससे तनिक भी भिन्न पदार्थ नहीं है, वैसे ही सभी पदार्थ यानी जगत् जिस पुरुषके द्वारा जिस किसी रीतिसे परीक्षा द्वारा देखा गया वह सब सन्मात्ररूप ब्रह्मरूप ही देखा गया, दूसरे रूपका नहीं ॥ १८ ॥

अविकारितामें दृष्टान्त कहते हैं—'हेमत्व०' इत्यादिसे ।

सैकड़ों सुवर्णके रूपोंमें जैसे सुवर्णत्व ही रहता है, दूसरा नहीं, वैसे ही शान्तब्रह्मके सैकड़ों जगद्भाव और जीवभावोंमें शान्तब्रह्मरूपत्व ही रहता है ॥१९॥

सत् ब्रह्मका सर्गरूप विवर्तोंसे अलोप नहीं होता, यह बतलाते हैं—'पार्श्व०' इत्यादिसे ।

समीपस्थ पुरुषके स्वप्नके मेघ जैसे आपके कुछ नहीं हैं यानी उनसे आपका कुछ लोप नहीं होता, वैसे ही चिदाकाशरूप मेरे सृष्टि, प्रलय आदि

पङ्कता कल्पिता व्योम्नो या पुत्रकपताकिनी ।
सा यथा शान्ततामात्रं खमेवेदं तथा जगत् ॥ २१ ॥
सङ्कल्पभ्रम एवान्तः पुष्पीभूय जगत्स्थितम् ।
जलावनितलक्लिन्नबीजं कल्प इव द्रुमः ॥ २२ ॥
अनहन्तात्मनो ज्ञस्य सत एकत्वमासतः ।
जरत्तृणलवायन्ते ननु नामाणिमादयः ॥ २३ ॥
त्रैलोक्ये तन्न पश्यामि देवासुरमानुषम् ।
एकरोमांशविश्वस्य यत्क्षोभाय महात्मनः ॥ २४ ॥
यथा तथा स्थितस्यापि यत्र तत्र गतस्य च ।
द्वैतसङ्कल्पसंदोहा न सन्त्यधिगतात्मनः ॥ २५ ॥

महारम्भ कुछ भी नहीं हैं, यानी आत्मामें कुछ भी उनसे नहीं होता ॥ २० ॥

आकाशमें कल्पित मलिनता और उसीमें कल्पित गन्धर्वपुत्रोंकी सेना जैसे आकाशरूप ही है, वैसे ही ब्रह्ममें कल्पित यह सारा जगत् एकमात्र शान्त ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

जैसे जलसे भूमितलमें आर्द्र वट आदिका बीज महान् वट आदिके वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही हृदयके भीतर सङ्कल्परूप भ्रम ही पहले पुष्प बनकर फिर बाहर जगत्-रूप फल बनकर स्थित हो जाता है ॥ २२ ॥

यदि परम सूक्ष्म ब्रह्म है और ब्रह्मभावमें स्थिति ही मोक्ष है, तो अणिमा आदि सिद्धियोंके सदृश ही मोक्ष हुआ, इस शङ्कापर कहते हैं—'अनहन्ता०' इत्यादिसे ।

अहन्ता आदि प्रतिबन्धकोंके दूर हो जानेपर आविर्भूत हुए निरतिशयानन्दरूप, एकत्वभावापन्न, सत् ज्ञानीकी दृष्टिमें ये सब अणिमा आदि सिद्धियाँ जीर्ण-शीर्ण तृणके टुकड़ेके सदृश तुच्छ भासती हैं ॥ २३ ॥

तीनों लोकोंमें देवता, असुर और मनुष्यसे युक्त ऐसी किसी वस्तुको मैं नहीं देखता, जो एक रोमांशके सदृश सारे विश्वको समझनेवाले महात्माके क्षोभके लिए होवे ॥ २४ ॥

जिस किसी तरहकी स्थिति करनेवाले तथा जहाँ कहीं जानेवाले आत्मतत्त्वविद् पुरुषको किसी तरहके द्वैतसङ्कल्प होते ही नहीं ॥ २५ ॥

विश्वमेव नभो यस्य शून्यं सर्वं महात्मनः ।
कुतः कस्य कथं तस्य भवत्विच्छा निरात्मनः ॥ २६ ॥
शान्ताशेषविशेषस्य निरेषणविशेषतः ।
सत्तामसत्तां सदृशौ क आकलयितुं क्षमः ॥ २७ ॥
मारैर्न किञ्चिन्म्रियते जीवैः किञ्चिन्न जीवति ।
शुद्धसंविन्मयस्यास्य समालोकस्य खस्य च ॥ २८ ॥
मिथ्यालोकस्य कचतो भ्रान्त्या मरणजन्मनी ।
असत्यपि भ्रान्तिभाजि मृगतृष्णानदीतटे ॥ २९ ॥
सम्यक्परीक्षितं यावन्न भ्रान्तिर्न परीक्षकाः ।
न नाम जन्ममरणे केवलं शान्तमव्ययम् ॥ ३० ॥
इत्याद्यो विरतिं यात आत्मारामः शमं गतः ।
स सन्नेवासदाभासः परितीर्णभवार्णवः ॥ ३१ ॥

जिस महामतिकी दृष्टिमें सारा विश्व ही चिदाकाशरूप तथा शून्यात्मक है, ऐसे भोगादिनिमित्तसे शून्य विद्वान्‌को किस निमित्तसे किसकी इच्छा उत्पन्न होगी ॥ २६ ॥

जिसको अशेष विशेषोंसे शान्ति हो चुकी है, तथा जो इच्छाओंसे रहित हो गया है, ऐसे वैभव एवं दरिद्रता—दोनोंको समान देखनेवाले पण्डितराजकी महिमा कौन जान सकता है ॥ २७ ॥

भाई, पुत्र आदिके मरणजीवनसे इसको हर्ष या शोक नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'मारै०' इत्यादिसे ।

विद्वान् न मरण-साधनोंसे मरता है और न जीवन-साधनोंसे कुछ जीता है। परन्तु विशुद्ध संवित्स्वरूप, आत्मप्रकाशसम्पन्न तथा चिदाकाशस्वरूप हुए इस महात्माके असत् भी मरण-जनन अज्ञानी जनोंकी ही भ्रान्तिसे मृगतृष्णानदीके तटोंके सदृश भ्रान्त आत्मामें भासते हैं ॥ २८, २९ ॥

उत्तम परीक्षा कर लेनेके बाद, न तो भ्रान्ति रहती है, न परीक्षक रहते हैं और न जन्म-मरण ही रहते हैं, केवल कुछ रहता है, तो वह अविनाशी प्रशान्त ब्रह्म ही रहता है ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञानी परीक्षकके उपस्थित रहते आप कैसे कहते हैं कि परीक्षक नहीं रहते ? इसपर कहते हैं—'इत्याद्यो' इत्यादिसे ।

दीपनिर्वाणनिर्वाणमस्तङ्गतमनोगतिम् ।
आत्मन्येव शमं यातं सन्तमेवामलं विदुः ॥ ३२ ॥
आबुध्यादि जगद्दृश्यं यस्मै न स्वदते स्वतः ।
आकाशस्येव शान्तस्य तमाहुर्मुक्तमुत्तमाः ॥ ३३ ॥
अहमस्त्यविचारेण विचारेणाहमस्ति नो ।
अभावादहमर्थस्य क्व जगत् क्व च संसृतिः ॥ ३४ ॥
संवित्संवेदनादेव बुद्ध्याद्याकारवत् स्थितम् ।
रूपालोकमनोरूपं जगद्वेत्ति चिदम्बरम् ॥ ३५ ॥

जो शान्त आत्माराम सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चसे वैराग्यको प्राप्त होकर उपशमको प्राप्त हो गया है, संसारसागरसे पार हुआ वह ब्रह्मभावसे विद्यमान भी देह, इन्द्रिय आदिसे युक्त परीक्षकरूपसे असत्‌के ही (अविद्यमानके ही) समान भासता है ॥ ३१ ॥

जिसके मनकी गति अस्त हो चुकी है और जो आत्मामें शान्त है उसके ब्रह्मरूपसे विद्यमान रहते हुए भी विद्वान् लोग दीपनिर्वाणकी नाईं उसको निर्मल निर्वाण समझते हैं ॥ ३२ ॥

इसीलिए उसको यह संसार नहीं रुचता, यह कहते हैं—'आबुध्यादि' इत्यादिसे ।

बुद्धि आदिसे लेकर सम्पूर्ण यह जगद्दृश्य जिसे स्वतः नहीं रुचता, आकाशके सदृश शान्त उस पुरुषको उत्तम लोग मुक्त कहते हैं ॥ ३३ ॥

यदि आप तत्त्वज्ञ हैं, तो दीपनिर्वाणके सदृश आप निर्वाणस्वरूप हैं, आप वसिष्ठरूपसे कैसे हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'अहमस्त्य' इत्यादिसे ।

अविचारसे अहं है, विचारसे अहं नहीं है । तात्पर्य यह कि अविचारसे ही मैं वसिष्ठरूपसे प्रतीत हो रहा हूँ, विचारसे कदापि नहीं । अहंभावके अर्थका अभाव होनेसे कहाँ यह जगत् और कहाँ जन्ममरण आदिरूप संसृति ? ॥ ३४ ॥

अहमर्थका अभाव कैसे ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

वस्तुतः चिदाकाश ही अपने स्वरूपके अन्यथाज्ञानसे ही बुद्धि आदिके आकारसे युक्त हो स्थित है और वही रूपालोकमनोरूप (बाह्य एवं आभ्यन्तर) जगत्‌को जानता है ॥ ३५ ॥

सर्वार्थरिक्तमनसः सतः सर्वात्मनस्तव ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वमाचरणं शिवम् ॥ ३६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि हंस्येषि तत्सर्वं शिवमव्ययम् ॥ ३७ ॥
यदहं यत्त्वमाशा यद्यत्क्रियाकालखादयः ।
यल्लोकालोकगिरयस्तच्चिद्व्योम शिवं ततम् ॥ ३८ ॥
यद्रूपालोकमननं यत्कालत्रितयं जगत् ।
यज्जरामरणार्त्यादि तन्महाचिन्नभः शिवम् ॥ ३९ ॥
निश्चिकित्सो निराभासो निरिच्छो निर्मना मुनिः ।
भूत्वा निरात्मा निर्वाणस्तिष्ठ संतिष्ठसे यथा ॥ ४० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे ही समान यथार्थवस्तुके ज्ञानसे भ्रान्तिका नाश हो जानेपर आपका मन भी जब सम्पूर्ण पदार्थोंसे शून्य हो जायगा, तब सद्रूप सर्वात्मक आपको भी यह सम्पूर्ण आचरण सर्वात्मक शिवस्वरूप ही (निर्वाणरूप ही) अवभासित होगा ॥ ३६ ॥

समस्त आचरणका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'यत्करोषि' इत्यादिसे ।

जो कुछ आप कर्म करते हैं, जो कुछ भक्षण करते हैं, जो कुछ हवन करते हैं, जो दान देते हैं, जो तप करते हैं और जो हनन-गमन करते हैं, उन सबको आप अविनाशी शिवरूप ही समझिये ॥ ३७ ॥

आचारग्रहण समस्त जगत्‌का उपलक्षण है, यह कहते हैं—'यद्' इत्यादिसे ।

जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ और दिशाएँ हैं, जो जो काल, क्रिया और आकाश आदि हैं तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, वे सब शिवस्वरूप चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ३८ ॥

जो कुछ बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीन काल हैं तथा जो ज़रा, मरण, पीडा आदि हैं, वे सब महाचैतन्यरूप शिवमय आकाशरूप ही हैं ॥ ३९ ॥

दुःखशान्तिके उपायोंकी अन्वेषणासे रहित, भ्रमशून्य, इच्छारहित, मनवर्जित, मुनि एवं अहंभावरहित होकर जिस प्रकारसे मोक्षरूप बनकर आपसे स्थित रहा जा सकता है, उस तरहसे स्थित रहिए ॥ ४० ॥

गतेच्छमननं शान्तमनन्तस्थमभावनम् ।
व्यवहारोऽस्तु ते मा वा स्पन्दास्पन्दैर्यथाऽनिलः ॥ ४१ ॥
निर्वासना निष्कलना शान्ता पुरुषताऽस्तु ते ।
शास्त्रेण यन्त्रवाहेन वाह्या दारुमयी यथा ॥ ४२ ॥
भूतालोकस्तु मा स्नेहो मा वा स्नेहश्च बाह्यगः ।
अनिर्देश्यधरालोकश्चित्रदीपवदास्यताम् ॥ ४३ ॥
निर्वासनस्य विरसस्य निरेषणस्य
शास्त्रादृते क इव तत्त्वविनोदहेतुः ।

हे श्रीरामभद्र, जिस तरह पवनका स्पन्दन और अस्पन्दनके द्वारा व्यवहार या अव्यवहार होता है, उसी तरह आपका भी इच्छा-मननसे रहित, शान्त, अनन्त ब्रह्ममें स्थित तथा भावनारहित ही व्यवहार हो या न हो ॥ ४१ ॥

भद्र, जैसे काठकी पुरुषोचित चेष्टाका यन्त्ररूपी घोड़ेसे निर्वाह होता है और वह जैसे वासनाशून्य, सङ्कल्पशून्य एवं उपद्रवरहित होती है, उसी तरह शास्त्ररूपी घोड़ेसे आपकी वैसी ही पुरुषोचित चेष्टाका निर्वाह होवे ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामजी, माता, पिता, बन्धुजन आदिके साथ होनेवाला आपका बाह्य-व्यवहार न तो अत्यन्त स्नेहसे पूर्ण हो या न एकदम स्नेहसे रहित ही हो, किन्तु वह व्यवहार ऐसा हो कि देखनेवालोंको यह पता न लगे—है या नहीं, यानी अनिर्वचनीय हो। आप चित्रदीपके सदृश रहिए। चित्रगत दीप चित्रगत तेलसे पूर्ण है, परन्तु परमार्थतः तेलसे पूर्ण नहीं है, अतः उसका प्रकाश स्नेह (तेल) से पूर्ण है या नहीं, इसका निर्वचन नहीं किया जा सकता ॥ ४३ ॥

'निर्वासना निष्कलना' इस श्लोकसे पहले जो कहा गया है, उसीको अनुवाद द्वारा दृढ़ कर रहे महाराजवसिष्ठजी उपसंहारके रूपमें दर्शाते हैं—'निर्वासनस्य' इत्यादिसे।

भद्र, जिसकी वासना मिट चुकी है, जिसको वर्तमान भोगोंमें कुछ रस नहीं रहा और जिससे भावी भोगोंकी तृष्णा भी निकल गई—ऐसे विद्वान्‌के लिए उत्तम शास्त्रके सिवा दूसरा कौन-सा पदार्थ आत्मसुखमें विश्रान्ति देनेवाला हो सकता है? अर्थात् कोई नहीं। शरीरधारणतक अगत्या प्राप्त होनेवाले तथा आवश्यक व्यवहार-कालमें उत्तम शास्त्रोंका अनुसरण ही चित्तदोषनिवारण

शास्त्रार्थसञ्जनमतोऽप्यमलस्य तस्य
संवेदनेष्वनभिसन्धिमतः स्वरूपम् ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संजाताकृत्रिमक्षीणसंसृतिप्रत्ययः पुमान् ।
असङ्कल्पो न सङ्कल्पं वेत्ति तेनासदेव सः ॥ १ ॥

विवेकादिके उद्बोध द्वारा तत्त्वज्ञानमें प्रतिष्ठाकारक है। इसलिए इच्छाशून्य निर्मल तत्त्ववेत्ताका प्रारब्धप्राप्त व्यवहारिक प्रसंगोंमें वर्णाश्रमोचित आचरण करना एवं शम-दमादि साधनोंमें भलीभाँति लगा रहना ही—असाधारण चिह्न है, न कि यथेष्टाचरण ॥ ४४ ॥

अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त

उनतालीसवाँ सर्ग

[प्रबुद्ध आत्मामें विश्रान्त तत्त्वज्ञानीका जो स्वरूप रहता है उसका तथा जगत् जिस रूपका रहता है, उसका वर्णन]

यदि विद्वान्‌के ऊपर शास्त्रानुसरणका नियन्त्रण रक्खा जाय, तो उसमें शास्त्रानुसरणका सङ्कल्प भी उठने लगेगा, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—'संजात०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जिसे संसारको क्षीण कर देनेवाला सत्य अर्थका स्वाभाविक प्रत्यक्ष हो गया है, वह पुरुष शास्त्रीय व्यवहारमें भी सङ्कल्परहित होकर ही स्थित रहता है, क्योंकि तत्-तत् व्यवहारोंको अपनी आत्मा समझकर यह विद्वान् सङ्कल्पको पृथक् जानता ही नहीं, ज्ञानके बिना तो किसीका अस्तित्व माना नहीं जा सकता, अतः सङ्कल्पाभास असत् ही है ॥१॥

श्वासान्म्लानिरिवादर्शे कुतोऽप्यहमिति स्थिता ।
विदि साऽकारणं दृष्टा नश्यन्त्याशु न लभ्यते ॥ २ ॥
यस्य क्षीणावरणता शान्तसर्वेहतोदिता ।
परमामृतपूर्णात्मा सत्तयैव स राजते ॥ ३ ॥
सर्वसन्देहदुर्ध्वान्तमिहिकामातरिश्वना ।
भाति भास्वद्धिया देशस्तेन पूर्णेन्दुनेव खम् ॥ ४ ॥
विसंसृतिर्विसन्देहो लब्धज्योतिर्निरावृतिः ।
शरदाकाशविशदो ज्ञेयो विज्ञायते बुधः ॥ ५ ॥

'विद्वान् सङ्कल्प नहीं जानता' इस उक्तिका विवरण करनेके लिए 'तत्त्वदर्शीमें समस्त सङ्कल्पका बीजभूत अहन्ताध्यास भी बाधित हो गया है, इससे भी उसको सङ्कल्प नहीं उठता', यह कहते हैं—'श्वासान्' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानके पहले किसी अनिर्वचनीय कारणसे (अविद्यासे), दर्पणमें श्वाससे उत्पन्न मलिनताके सदृश, आत्मामें अहन्ता स्थित थी, परन्तु वह तत्त्वज्ञानीमें बिना कारण ही नाशको प्राप्त हो गई । बहुत अन्वेषण करनेपर भी वह कहीं प्राप्त नहीं हो रही है ॥ २ ॥

दूसरी बात यह है कि कामनासे सङ्कल्प उठते-रहते हैं, वह तो तत्त्वदर्शीमें है नहीं, क्योंकि उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिसके आवरणका स्वरूप क्षीण हो चुका है तथा जिसकी समस्त इच्छाएँ नष्ट हो गई हैं, निरतिशय आनन्दामृतसे पूर्ण स्वरूपवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष केवल निरतिशय आनन्दस्वरूपकी सत्तासे ही शोभित होता है ॥ ३ ॥

जैसे एक वस्तुके लाभसे सब वस्तुओंका लाभ हो जानेसे फिर लाभयोग्य वस्तुसङ्कल्प नहीं होता, वैसे ही एक वस्तुके विज्ञानसे सब वस्तुओंका विज्ञान हो जानेसे ज्ञातव्य विषयमें भ्रम आदि दोष रहते नहीं हैं, इससे भी तन्निमित्तक सङ्कल्प विद्वानको नहीं होता, यह कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

जैसे पूर्णचन्द्रसे आकाश जगमगाता-रहता है, वैसे ही सर्वविध आवरणोंसे रहित प्रकाशमय बुद्धिवाले तथा समस्त सन्देहरूप कुटिल अन्धकारात्मक ओसके लिए वायुस्वरूप उक्त विद्वान्से सारा देश जगमगाता-रहता है ॥ ४ ॥

संसारशून्य, सन्देहनिर्मुक्त, आत्मप्रकाश प्राप्त कर लेनेवाला, आवरणोंसे

निःसङ्कल्पो निराधारः शान्तः स्पर्शात्पवित्रताम् ।
अन्तःशीतल आधत्ते ब्रह्मलोकादिवानिलः ॥ ६ ॥
असद्रूपोपलम्भानामियं वस्तुस्वभावता ।
यत्स्वर्गवेदनं स्वप्नवन्ध्यापुत्रोपलम्भवत् ॥ ७ ॥
अविद्यमानमेवेदं जगद्‌यदनुभूयते ।
असद्रूपोपलम्भस्य सैषा वस्तुस्वभावता ॥ ८ ॥
असत्येष्वेव संसारेष्वास्तामर्थः कुतो भवेत् ।
सर्गापवर्गयोः शब्दादेव वन्ध्यासुतोपमौ ॥ ९ ॥

अज्ञानसे शून्य तथा शरदाकाशके सदृश अत्यन्त विशद तत्त्वज्ञ ज्ञेयरूप आत्मा ही है, यह श्रुतियोंमें जाना जाता है ॥ ५ ॥

सङ्कल्पमुक्त, पराधीनतासे रहित, भीतरी शीतलतासे युक्त शान्त तत्त्वदर्शीकी प्रणति, शुश्रूषा आदि द्वारा सङ्गति करनेसे वह पुरुषोंको ऐसे पवित्र (निष्पाप) कर देता है जैसे ब्रह्मलोकसे आया हुआ पवन ॥ ६ ॥

'विद्वान् सङ्कल्प नहीं जानता' इस पूर्वोक्त अंशका स्पष्टीकरण करके अब 'तेनासदेव सः' इस बचे अंशका स्पष्टीकरण करनेके लिए असद् वस्तुकी प्राप्तिका स्वरूप बतलाते हैं—'असद्रूपो०' इत्यादि चार श्लोकोंसे ।

प्रत्येक पुरुषमें जो सद्रूप वस्तुके अज्ञान हैं, उनके स्वभावका वास्तविक स्वरूप स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञानकी तरह असत् सृष्टिके ज्ञानको उत्पन्न कर देना ही है ॥ ७ ॥

यह जगत् तो वास्तवमें असत् ही है, परन्तु उसकी जो उपलब्धि होती है, यही सद् आत्मस्वरूपके अज्ञानका असली स्वभाव है ॥ ८ ॥

'स्वप्नज्ञान और वन्ध्यापुत्रज्ञानकी तरह' यह जो दृष्टान्त दिया गया है, इसकी समानता बतलाते हैं—'असत्ये०' इत्यादिसे ।

असत्यरूप ही संसारमें अर्थ रहे, यदि यह मान लिया जाय, तो इसपर प्रश्न यह है कि वह किससे उत्पन्न होगा ? अर्थात् क्या सत्य वस्तुसे या असत्य वस्तुसे । पहला पक्ष तो युक्त नहीं, क्योंकि सत्य वस्तु कूटस्थ है, अतः उससे अर्थकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। यदि असत्य वस्तुसे मान लिया जाय, तो असत्यसे जो असत्यकी उत्पत्ति होगी, वह भी असत्य ही होगी। इस स्थितिमें उक्त अर्थका

जगद्ब्रह्मतया सत्यमनिर्मितमभावितम् ।
अनिष्ठितं चान्यथा तु नाहं नावगतं च तत् ॥ १० ॥
आत्मस्वभावविश्रान्तेरियं वस्तुस्वभावता ।
यदहन्तादिसर्गादि दुःखाद्यनुपलम्भता ॥ ११ ॥
क्षणाद्योजनलक्षान्तं प्राप्ते देशान्तरं चितः ।
चेतने यस्य यद्रूपं मार्गमध्ये निरञ्जनम् ॥ १२ ॥
अस्पन्दवातसदृशं खकोशाभासचिन्मयम् ।
अचेत्यं शान्तमुदितं लताविकसनोपमम् ॥ १३ ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य तत्स्वभावं विदुर्बुधाः ।
सर्गोपलम्भो गलति तत्रस्थस्य विवेकिनः ॥ १४ ॥

आधार कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि सत्य कूटस्थ है और असत् आश्रय नहीं है। इससे संसारके असत्यभूत होनेसे जब बन्ध और मोक्ष शब्द ही वन्ध्या-पुत्रके-सदृश हैं, तब उनके अर्थोंकी सिद्धिकी तो कथा ही क्या ? ॥ ९ ॥

भद्र, यह जगत् ब्रह्मरूपसे सत्य है, वह न तो उत्पन्न हुआ है, न भावनाका विषय है और न किसी आधारमें स्थित ही है। जगत्‌को यदि ब्रह्मरूपसे सत्य न माना जाय, तो न मैं ही सत्य ठहर सकता हूँ और न देखा गया यह जगत् ही सत्य ठहर सकता है ॥ १० ॥

सत-रूप वस्तुके अज्ञानका स्वभाव बतलाकर अब आत्मज्ञानमें प्राप्त विश्रान्तिका जो असली चिह्न है, उसे बतलाते हैं—'आत्म०' इत्यादिसे।

अहम्भाव आदि, सृष्टि आदि तथा दुःख आदिका ज्ञान न होना ही यानी अहम्भाव आदिकी निर्विषय चैतन्यमात्ररूपता ही आत्माके स्वभावमें प्राप्त हुई विश्रान्तिका असली चिह्न है ॥ ११ ॥

चितिकी निर्विषयता प्रसिद्ध नहीं है, यों शङ्का करनेवालेके प्रति 'देशाद् देशान्तरप्राप्तौ' इत्यादि श्लोकमें बतलाई गई चितिकी निर्विषयताप्रसिद्धिका स्मरण कराते हैं—'क्षणाद्' इत्यादिसे।

शाखा आदि प्रदेशसे लेकर चन्द्रप्रदेश तकके लाखों योजनपर्यन्त विस्तृत प्रदेशमें जब चक्षुके द्वारा चाक्षुष वृत्तिका चैतन्य क्षणभरमें चला जाता है तब मार्गके बीचमें व्याप्त चितिका—अनावृत, स्पन्दशून्य वायुकी तरह निष्क्रिय, आकाशको जगमगानेवाला, चिन्मय, शान्त, लताविकासके सदृश सुन्दर जो सभी प्राणियोंके

सुषुप्ते स्वप्नधीर्नास्ति स्वप्ने नास्ति सुषुप्तधीः ।
सर्गनिर्वाणयोर्भ्रान्ती सुषुप्तस्वप्नयोरिव ॥ १५ ॥
भ्रान्तिवस्तुस्वभावोऽसौ न स्वप्नो न सुषुप्तता ।
न सर्गो न च निर्वाणं सत्यं शान्तमशेषतः ॥ १६ ॥
भ्रान्तिस्त्वसन्मात्रमयी प्रेक्षिता चेन्न लभ्यते ।
शुक्तिरूप्यमिवासत्यं किल सम्प्राप्यते कथम् ॥ १७ ॥
यन्न लब्धं च तन्नास्ति तेन भ्रान्तेरसंभवः ।
स्वभावादुपलम्भोऽन्यो नास्ति कस्य न कस्यचित् ॥ १८ ॥

अनुभवसे सिद्ध—विषयशून्य स्वभाव है, उस स्वभावको, पण्डित लोग जानते ही हैं, उस स्वभावमें स्थित विवेकीका सृष्टिज्ञान चूर-चूर हो जाता है ॥ १२-१४ ॥

सुषुप्ति और स्वप्नमें जैसे एक दूसरेकी विषयता नहीं है, वैसे ही तुरीयमें भी जाग्रत् आदिकी विषयता नहीं है, ऐसी सम्भावना की जा सकती है, यह कहते हैं—'सुषुप्ते' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिमें स्वप्नकी बुद्धि नहीं है और स्वप्नमें सुषुप्तिकी बुद्धि नहीं है, यह जैसे सबको ज्ञात है, वैसे ही सृष्टिमें मोक्षबुद्धि और मोक्षमें सृष्टिबुद्धि नहीं है यानी सुषुप्ति और स्वप्नकी बुद्धिके सदृश सर्ग और मोक्षकी बुद्धि है अर्थात् तुरीय मोक्षमें चितिकी सर्गादिविषयता रह ही नहीं सकती ॥ १५ ॥

सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिमूलक ही है, इसलिए वह परमार्थ नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'भ्रान्ति०' इत्यादिसे ।

यह स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभाग भी भ्रान्तिका ही एक स्वभाव है, इसलिए न तो स्वप्न, न सुषुप्ति, न सृष्टि और न मुक्ति ही है, किन्तु अशेष विभागोंसे शान्त परब्रह्म ही असली तत्त्व है ॥ १६ ॥

स्वप्नादि क्यों नहीं हैं, इसपर कहते हैं—'भ्रान्तिस्त्व०' इत्यादिसे ।

जो भ्रान्ति है उसका असली स्वरूप असदात्मक ही है, विचार करनेपर यदि उसका शुक्तिरूप्यके सदृश लाभ नहीं होता, तो स्वप्नादि असत्य पदार्थ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ १७ ॥

भ्रान्तिका अर्थ यद्यपि भ्रान्तिसे भले ही न प्राप्त किया जा सकता हो, परन्तु

स्वभाव एव सर्वस्मै स्वदते किल सर्वदा ।
अनानैव हि नानेव किं वादैः संविभाव्यताम् ॥ १९ ॥
अस्वभावे महद्दुःखं स्वभावे केवलं शमः ।
इति बुद्ध्या विचार्यान्तर्यदिष्टं तद्विधीयताम् ॥ २० ॥
सूक्ष्मे बीजेऽस्त्यगः स्थूलो दृष्टमित्युपपद्यते ।
शिवे मूर्ते जगन्मूर्तमस्तीत्युत्तमसंकथा ॥ २१ ॥

दूसरे किसी उपलम्भसे तो प्राप्त किया जा सकता है, इसपर कहते हैं—'यस्य०' इत्यादिसे ।

जो किसी कालमें लब्ध नहीं होता वह है ही नहीं, इसलिए भ्रान्तिका तीनों कालमें अस्तित्व नहीं है । भ्रान्तिका अर्थ भ्रान्तिभिन्न किसी अन्य उपलम्भ (ज्ञान) से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा उपलम्भ प्रमारूप ही होगा, परन्तु वह किसी भ्रान्तिविषय अर्थके साक्षीके स्वभावको छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

ऐसी स्थितिमें खूब विचार करनेपर अकेला साक्षिस्वभाव ही अपनेमें त्रिपुटीकी कल्पना कर प्रकाशित होता है दूसरा कुछ भी नहीं, यह कहते हैं—'स्वभाव' इत्यादिसे ।

सबके लिए उसका स्वभाव ही निरन्तर उत्तम प्रेमका भाजन बनकर प्रकाशित होता है । इसीसे एक ही वस्तु वह अनेक-सी भासती है। इसलिए अनेक वादोंसे समर्थन ही क्या किया जाय ॥ १९ ॥

उसको स्वभावभिन्न मानना ही संसाररूप दुःख है और कल्पनारहित अपनी आत्मामें स्थित रहना मोक्षरूप सुख है, यह कहते हैं—'अस्वभावे' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, साक्षिस्वभावसे अतिरिक्तकी कल्पना करनेपर ही संसारात्मक महान् दुःख है और साक्षिस्वभावमें निरन्तर स्थिति रखना मोक्षरूप सुख है । इसलिए आप अपनी बुद्धिसे अपनी आत्मामें विचारकर जिसे अपना इष्ट समझें, उसे ग्रहण करें ॥ २० ॥

इष्ट वस्तुके ग्रहणमें उपाय क्या है ? इस प्रश्नपर अध्यस्त संसारमें आत्मरूपताका अवलोकन ही उपाय है, इस आशयसे सृष्टिके आरम्भसे ही सृष्टि और आत्माकी अभिन्न सत्ता बतलाते हैं—'सूक्ष्मे' इत्यादि ।

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यहन्तादयः परे ।
स्वरूपभूताः सलिले द्रवत्वमिव स्वात्मकाः ॥ २२ ॥
मूर्तो यथा स्वसदृशैः करोत्यवयवैः क्रियाः ।
आत्मभूतैस्तथा भूतैश्चिदाकाशमकर्तृ सत् ॥ २३ ॥
आत्मस्थादहमित्यादिरस्मदादेरसंसृतेः ।
शब्दोऽर्थभावयुक्तो यः पटहादिषु जायते ॥ २४ ॥
यज्जातं प्रेक्षया नास्ति तन्नास्त्येव निरन्तरम् ।
जगद्रूपमरूपात्म ब्रह्म ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ २५ ॥

बाहर बड़ा जो वृक्ष दिखाई पड़ता है, वह सूक्ष्मभूत बीजमें है, ऐसा माननेमें जैसे प्रत्यक्षतः युक्ति है, ठीक इसी तरह अमूर्तिमान् शिवरूप आत्मामें भी मूर्त जगत् है, ऐसा माननेमें वेदादि शास्त्र और मुनियोंकी उक्ति है ॥ २१ ॥

इस तरह प्रत्यगात्मामें विद्यमान आध्यात्मिक भावोंकी भी पृथक् सत्ता नहीं है, इसका अपनेमें ही सब अनुभव करते हैं, यों कहते हैं—'रूपा०' इत्यादिसे।

जैसे जलमें विद्यमान जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही परब्रह्ममें विद्यमान बुद्धि अहन्ता आदि विषय जो हैं, वे सब आत्मरूप तथा चिदाकाशस्वरूप ही हैं ॥२२॥

जैसे अवयवी (घटादि) अपने सदृश यानी अपने अस्तित्वसे अलग अस्तित्व न रखनेवाले अवयवोंसे ही क्रिया करता है, वैसे ही स्वरूपभूत पृथ्वी आदि भूतोंसे ही यानी अपनी सत्तासे अलग सत्ता न रखनेवाले भूतोंसे ही चिदाकाश यह सब कुछ करता है, वास्तवमें तो वह सत् और अकर्ता ही है ॥ २३ ॥

अर्थव्यवहारके सदृश शब्दप्रयोग आदि व्यवहार भी आत्मसत्तासे पृथक् सत्ता न रखकर ही चेतनाधिष्ठित देह, वाक् आदिसे होता है, यह कहते हैं—'आत्मस्थात्' इत्यादिसे।

हम लोगोंके शरीर, जीभ आदि जड़ होनेके कारण किसी तरहका व्यवहार करनेके समर्थ नहीं हो सकते, इसलिए उनसे 'अहमादि' अर्थोंका प्रकाशक जो शब्द जीभ आदिके व्यापारसे होगा, वह चेतनसे अधिष्ठित जीभ आदिसे ही होगा, यह उस तरह मानना चाहिए; जिस तरह नर्तकीके पैरोंका संचालन एवं तालोंके ज्ञाता वादक पुरुषसे अधिष्ठित मृदङ्ग आदिमेंसे शब्द होता है ॥ २४ ॥

उक्त रीतिसे सम्पूर्ण व्यवहारका चैतन्यके साथ अभिन्नतासे जब निर्वाह

येषामस्ति जगत्स्वप्नस्ते स्वप्नपुरुषा मिथः ।
न सन्ति ह्यात्मनि मिथो नास्मास्वम्बरपुष्पवत् ॥ २६ ॥
मयि ब्रह्मैकरूपं ते शान्तमाकाशकोशवत् ।
वायोः स्पन्दैरिवाभिन्नैर्व्यवहारैश्च तन्मयि ॥ २७ ॥
अहं तु सन्मयस्तेषां स्वप्नः स्वप्नवतामिव ।
ते तु नूनमसन्तो मे सुषुप्तस्वप्नका इव ॥ २८ ॥

किया जा सकता है, तब वह अभेद आत्यन्तिक ही मानना चाहिए; अविचारसिद्ध अर्धजरतीय जड़तारूपभेद माननेसे फायदा ही क्या, यह कहते हैं—'यज्ज्ञातम्' इत्यादिसे ।

जो यह आपाततः देखा जाता है, वह विचारसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे निरन्तरके लिए अस्तित्व ही खो देता है । इसलिए जड़तारूप जो जगत्‌का रूप है, वह स्वरूपरहित है, इस स्थितिमें ब्रह्म आत्मा ही अपने स्वरूपमें स्थित है, यही स्वरूपावस्थिति है ॥ २५ ॥

असंसारी ब्रह्म अपने स्वभावमें भले ही रहे, इससे संसारियोंको क्या लाभ पहुँचा; इस तरहकी आशङ्का कर उनकी पुरुषार्थचिन्ता, वन्ध्याको अपने पुत्रके लिए राज्यप्राप्तिकी चिन्ता करनेके सदृश मिथ्या है, इस आशयसे कहते हैं—'येषाम०' इत्यादिसे ।

जिनकी दृष्टिमें जगत्-रूप स्वप्न भासता है, उन पुरुषोंका एक दूसरेकी भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिसे भी, जागरण और स्वप्नमें तत्-तत् स्वरूपमें अस्तित्व रहता ही नहीं और एक दूसरेके आत्मस्वरूप हुए हम लोगोंमें तो आकाशकुसुमके सदृश उनका सर्वथा अस्तित्व नहीं है ॥ २६ ॥

हम लोगोंमें ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार जड़ अंशको लेकर तो आकाश-पुष्पके सदृश हैं और सच्चिद् अंशको लेकर तो हम लोगोंमें ब्रह्मस्वभावतासे विद्यमान हैं, यह कहते हैं—'मयि' इत्यादिसे ।

वायुके स्पन्दनके सदृश अपनेसे अभिन्न उन-उन स्वकीय व्यवहारोंके साथ वे स्वप्नपुरुष हममें विद्यमान हैं, क्योंकि ऐसे पुरुष और उनके व्यवहार—वे दोनों शान्त परब्रह्मैकरूप ही हैं और वह ब्रह्म प्रत्यगात्म-स्वभाव मुझमें है ॥२७॥

दूसरा विशेष बतलाते हैं—'अहम्' इत्यादिसे ।

तैस्तु यो व्यवहारो मे तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ।
ते यत्पश्यन्ति पश्यन्तु तत्तैरलमलं मम ॥ २९ ॥
अहमात्मनि नैवास्मि ब्रह्मसत्तेयमातता ।
त्वदर्थं सम्मुदेतीव तथारूपैव वागियम् ॥ ३० ॥
अविरुद्धविरुद्धस्य शुद्धसंविन्मयात्मनः ।
न भोगेच्छा न मोक्षेच्छा हृदि स्फुरति तद्विदः ॥ ३१ ॥
स्वभावमात्रायत्तेऽस्मिन् बन्धमोक्षक्रमे नृणाम् ।
कदर्थनेत्यहो मोहाद्गोष्पदेऽप्युदधिभ्रमः ॥ ३२ ॥
स्वभावसाधने मोक्षेऽभावोपशमरूपिणि ।
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न च क्रियाः ॥ ३३ ॥

जैसे स्वप्नवालोंको स्वप्न सन्मय प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे मेरी देह भी सन्मय प्रतीत होती है । परन्तु ज्ञानियोंकी दृष्टिसे वे उस प्रकार असद्रूप हैं, जिस प्रकार सुषुप्तिस्थ पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्न ॥ २८ ॥

अनुग्रह, उपदेश आदि जो मेरा व्यवहार उनके साथ होता है, वह मेरी दृष्टिमें स्वस्वरूपमें स्थित परब्रह्मस्वरूप ही है । वे जो कुछ देखते हैं, उसे भले ही देखें, उनसे हमें किसी तरहके प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ॥ २९ ॥

भद्र, मैं वसिष्ठादिभावमें नहीं हूँ, किन्तु स्वस्वरूपसे परब्रह्म परमात्मामें ही हूँ । आपके लिए यह वसिष्ठ आदिके आकारसे व्यापक ब्रह्मसत्ता मानो उदित हुई है । यह मेरी वाणी आदि भी आपके लिए ब्रह्मसत्ताविवर्तरूप ही है, परन्तु मेरी दृष्टिसे तो बिलकुल कुछ है ही नहीं ॥ ३० ॥

सभी वस्तुओंमें आनन्दैकरसात्मताके दर्शनसे विरुद्ध दुःखादि पदार्थ भी जिसको अविरुद्ध प्रतीत होते हैं ऐसे शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानीके हृदयमें न तो भोगोंकी इच्छा उठती है और न मोक्ष ही स्फुरित होता है ॥ ३१ ॥

मनुष्योंका बन्धनसे जो यह मुक्तिक्रम है वह तो केवल अपने अधीन है, फिर भी मोहसे (अविरुद्ध निरतिशयानन्दात्माके अपरिज्ञानसे ही) यह संसारपीड़ा उत्पन्न हुई है । आश्चर्य है कि गौके खुरमें ही समुद्रका भ्रम हो रहा है ॥ ३२ ॥

असत् दुःखोंके उपशमरूप तथा सुखरूप आत्मसाधनभूत मोक्षमें न तो धन

तैलबिन्दुर्भवत्युच्चैश्चक्रमप्पतितो यथा ।
तथाऽऽशु चेत्यसङ्कल्पे स्थिता भवति चिज्जगत् ॥ ३४ ॥
जाग्रति स्वप्नवृत्तान्तस्थितिर्यादृग्रसा स्मृतौ ।
तादृग्रसाहंत्वजगज्जालसंस्था विवेकिनः ॥ ३५ ॥
तेनैवाभ्यासयोगेन याति तत्तनुतां तथा ।
यथा नाहं न संसारः शान्तमेवाऽवशिष्यते ॥ ३६ ॥
यदा यदा स्वभावार्कः स्थितिमेति तदा तदा ।
भोगान्धकारो गलति न सन्नप्यनुभूयते ॥ ३७ ॥
मोहमहत्तारहितः
स्फुरति मृतौ भवति भासते च तथा ।

उपकार कर सकते हैं और न मित्र एवं न क्रियाएँ ही कुछ उपकार कर सकती हैं ॥ ३३ ॥

जैसे तेलका बिन्दु जलमें गिरकर नाना वर्णोंके चक्ररूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही विषयोंके संकल्पमें स्थित चिति तत्काल ही जगद्रूपमें परिणत हो जाती है ॥ ३४ ॥

ज्ञानसे बाधित हुआ संसार तो स्वप्नकी तरह स्मृतिकी एकमात्र लकीर बन जाता है, यह कहते हैं—'जाग्रति' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालमें स्वप्नमें भासित वृत्तान्तकी स्थिति जिस तरहकी स्मृतिमें रहती है, उसी तरहकी स्थिति विवेकीको भी अज्ञानकालमें भासित अहङ्कारके साथ समस्त जगत्की ज्ञानदशामें होती है ॥ ३५ ॥

उक्त भूमिकाके अभ्यासरूप योगसे वह जगत्-जाल ऐसे क्षीणताको प्राप्त करता है, जैसे कि फिर न अहंकार और न संसार ही उत्पन्न हो सकता है, केवल शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ ३६ ॥

तत्त्वदृष्टिसे परीक्षा करनेपर इस समय भी उसका विनाश और बाध जाना जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'यदा यदा' इत्यादिसे ।

जब-जब आत्मारूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशरूपमें स्थिति करता है, तब-तब यह संसाररूप अन्धकार बाधित हो जाता है, उसका अस्तित्व रहनेपर भी परिज्ञान नहीं होता ॥ ३७ ॥

भोगान्धकारकी (संसारान्धकारकी) निवृत्ति हो जानेपर बुद्धि आदि करणोंका

बुद्ध्यादिकरणनिकरो
यस्माद्दीपादिवालोकः ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासुखभावविश्रान्तियोगोपदेशोनाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥३९॥

—०—

चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्कारबुद्ध्यादीन्द्रियवेदनम् ।
स्वरूपं विदुरम्लानमस्वभावस्य वस्तुनः ॥ १ ॥
अस्वभावतनुत्वेन स्वभावस्थितिरातता ।
यदोदेति तदा सर्गो भ्रमाभः प्रतिभासते ॥ २ ॥

दल अज्ञानरूप आवरणसे एवं स्थूल अध्याससे (भ्रान्तिसे) रहित बन जाता है तथा ब्रह्माकारवृत्तिसे चमके हुए बोधसे चमकिला बन जाता है। यही कारण है कि उस समय स्फुरणसे, दीपके प्रकाशके सदृश, चारों ओर व्याप्त होकर ब्रह्मभूत होकर भासने लग जाता है ॥ ३८ ॥

उनतालीसवां सर्ग समाप्त

चालीसवां सर्ग

[न तो संसारदशामें ब्रह्मका भान होता है और न ब्रह्मदशामें संसारका ही भान होता है, परन्तु जीवन्मुक्तिमें क्रमशः दोनोंका भान होता है, यह वर्णन]

विद्वानोंका यह अनुभव है कि स्वतः स्वरूपसे शून्य बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओंका वास्तविक स्वरूप उसका साक्षिचैतन्य ही है, यह कहते हैं— 'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, बाह्य और आभ्यन्तर विषय तथा बुद्धि आदि इन्द्रियोंके प्रकाशक निर्मल साक्षी चैतन्यको ही विद्वान् लोग स्वरूपशून्य जगद्-वस्तुका स्वरूप समझते हैं ॥ १ ॥

उसमें अन्वय-व्यतिरेकरूप युक्ति बतलाते हैं—'अस्वभाव०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

यदा स्वभावविश्रान्तिः स्थितिमेति शमात्मिका ।
जगद्दृश्यं तदा स्वप्नः सुषुप्त इव शाम्यति ॥ ३ ॥
भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम् ।
अनर्थायार्थसम्पत्तिरात्मनाऽऽत्मनि शाम्यताम् ॥ ४ ॥
अस्वभावात्मता सर्गः स्वभावैकात्मता शिवः ।
भूयतां परमव्योम्ना शाम्यतां मेह ताम्यताम् ॥ ५ ॥
नात्मानमवगच्छामि न दृश्यं च जगद्भ्रमम् ।
ब्रह्म शान्तं प्रविष्टोऽस्मि ब्रह्मैवाऽस्मि निरामयः ॥ ६ ॥

जब अपरिच्छिन्न वस्तु (ब्रह्म) स्वभावकी स्थिति अविद्याकृत परिच्छेदसे तथा उसके शरीररूपसे उदित हो जाती है, तब* यह सृष्टि भ्रमके सदृश प्रतिभासित होने लग जाती है ॥ २ ॥

व्यतिरेक दिखलाते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शान्तिरूप आत्म-विश्रान्ति अपनी स्थिति प्राप्त करती है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपमें जब शान्तिरूप विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है, तब यह जगद्-रूप दृश्य ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे सुषुप्तिमें स्वप्न ॥ ३ ॥

यही कारण है कि ब्रह्मस्वरूपमें विश्रान्तिके विरोधी भोग आदि सबके सब अनर्थरूप ही हैं, यह, कहते हैं—'भोगा' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ये जितने भोग हैं वे सबके सब संसाररूप महारोग हैं, बन्धु लोग दृढ़ बन्धन हैं तथा यह सारी अर्थसम्पत्ति तो महान् अनर्थकी कारण है । इसलिए अपने-हीसे अपनी आत्मामें शान्ति लीजिये ॥ ४ ॥

ब्रह्मस्वरूपसे विरुद्ध भावना करना सृष्टि है तथा स्वभावात्मक ब्रह्मरूपकी प्राप्ति कल्याण है । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप परम चिदाकाशरूप हो जाइये, शान्ति प्राप्त कीजिये ॥५॥

अब महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभवका अभिनयकर पुरुषकी स्वायत्तता दिखलाते हैं—'नात्मानम०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैं अपनेको यानी द्रष्टा आदि त्रिपुटीके भीतर सर्वप्रथम वसिष्ठसंज्ञक जीवको नहीं जानता और न दृश्य तथा इस जगत्के भ्रमको ही

* यह अन्वयोक्ति है ।

त्वमेव पश्यसि त्वन्त्वं स त्वंशब्दार्थजृम्भितम् ।
पश्यामि शान्तमेवाऽहं केवलं परमं नभः ॥ ७ ॥
ब्रह्मण्येव पराकाशे रूपालोकमनोमयाः ।
विभ्रमास्तव संजातकल्पाः स्पन्दा इवानिले ॥ ८ ॥
ब्रह्मात्मा वेत्ति नो सर्गं सर्गात्मा ब्रह्म वेत्ति नो ।
सुषुप्तो वेत्ति नो स्वप्नं स्वप्नस्थो न सुषुप्तकम् ॥ ९ ॥
प्रबुद्धो ब्रह्मजगतोर्जाग्रत्स्वप्नदृशोरिव ।
रूपं जानाति भारूपं जीवन्मुक्तः प्रशान्तधीः ॥ १० ॥

जानता हूँ। मैं शान्त ब्रह्ममें प्रविष्ट हो चुका हूँ। हे श्रीरामजी, मैं निर्विकार ब्रह्म ही हूँ ॥ ६ ॥

हे श्रीरामजी, 'तुम वसिष्ठ हो' इस 'त्वम्' शब्दके अर्थसे घटित त्वन्ताको भी 'त्वम्' शब्दार्थघटित आप ही देख रहे हैं, और मैं तो सबको केवल शान्त, परम चिदाकाशरूप ही देख रहा हूँ ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वायुमें स्पन्दनकी नाईं, परम चिदाकाशरूप ही ब्रह्ममें ये शब्दार्थादिरूप बाह्य एवं आभ्यन्तर सब पदार्थ आपमें भी विभ्रमस्वरूप ही उत्पन्न हैं, परमार्थतः वे उत्पन्न नहीं हुए हैं, किन्तु उत्पन्न हुए-से प्रतीत हो रहे हैं ॥ ८ ॥

द्वैतके साथ विद्वेष होनेके कारण मुझे द्वैतका अदर्शन है, ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु द्वैतदर्शन और द्वैतादर्शन दो एक साथ नहीं हो सकते, यह कहते हैं—'ब्रह्मात्मा' इत्यादिसे।

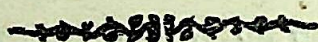
हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मस्वरूपमें स्थित पुरुष सृष्टिको नहीं जानता और सृष्टिमें स्थित पुरुष ब्रह्मस्वरूपको नहीं जानता। जैसे कि सुषुप्त पुरुष स्वप्नको नहीं जानता तथा स्वप्नमें स्थित पुरुष सुषुप्तिको नहीं जानता ॥ ९ ॥

जिसका कभी दर्शन नहीं होता, ऐसे पदार्थके विषयमें उपदेशकी प्रसिद्धि कैसे? इस शङ्कापर कहते हैं—'प्रबुद्धो' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी प्रशान्तचित्त जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्म और जगत्के प्रकाशस्वरूप रूपको क्रमशः ऐसे जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नके द्रष्टा पुरुष क्रमशः उनका रूप जानते हैं, इसीलिए वह उपदेष्टा होता है ॥ १० ॥

यथाभूतमिदं सर्वं परिजानाति बोधवान् ।
संशाम्यति च शुद्धात्मा शरदीव पयोधरः ॥ ११ ॥
स्मृतिस्थः कल्पनस्थो वा यथाख्यातश्च सङ्गरः ।
सदसद्भ्रान्ततामात्रस्तथाहन्त्वजगद्भ्रमः ॥ १२ ॥
आत्मन्यपि नास्ति हि या
द्रष्टा यस्या न विद्यते कश्चित् ।
न च शून्यं नाशून्यं
भ्रान्तिरियं भासते सेति ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वसिष्ठगीतासु आत्मविश्रान्तिकथनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥



वह भी उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें क्रमशः द्वैतादर्शनसे आगे चलकर बिल्कुल प्रशान्त हो जाता है, यह कहते हैं—'यथाभूतम्' इत्यादिसे ।

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सम्पूर्णजगत्को यथास्थित ही जानता है । तथा शरत्कालके मेघके तुल्य शुद्धात्मा हो बिलकुल शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीकी दृष्टिसे द्वैत उत्तरोत्तर निर्बल होता जाता है, यह दो दृष्टान्तोंसे कहते हैं—'स्मृतिस्थः' इत्यादिसे ।

जैसे किसीके कहनेपर स्मृति या कल्पनामें स्थित युद्ध भासता है वैसे ही विवेकी पुरुषको सत् और असत्की एकमात्र भ्रान्तिरूप अहन्ता आदि जगद्-भ्रम भासता है ॥ १२ ॥

जो भलीभाँति दिखाई दे रही जगत्की माया परमार्थसत्यरूप आत्मामें तथा अत्यन्त असद्रूप शून्यमें नहीं है एवं जिसका द्रष्टा कोई जीव भी नहीं है, ऐसी शून्य और अशून्यसे विलक्षण यह भ्रान्ति अनिर्वचनीय ही भासती है ॥ १३ ॥

चालीसवाँ सर्ग समाप्त



एकचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अस्वभावस्वभावोऽयं सर्वोहन्तादिवेदनः ।
स्वभावैकस्वभावेन निर्वाणीक्रियतां स्वयम् ॥ १ ॥
यत्रादित्यो भवेत्तत्र यथाऽऽलोकस्तथा भवेत् ।
परं विषयवैरस्यं तत्र यत्र प्रबुद्धधीः ॥ २ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
जगद्ग्राह्यसंभारमभित्तौ चित्तमुत्थितम् ॥ ३ ॥

इकतालीसवाँ सर्ग

[अविद्याके स्वभावसे त्रिलोकीरूपी कठपुतलीके नृत्य तथा एकमात्र आत्मस्वभावसे निर्वाणकी प्राप्तिका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अविद्या-स्वभावसे युक्त हुआ यह आत्मा ही सम्पूर्ण जगत्‌का रूप धरकर अहंकार आदिको जाननेवाला बन जाता है । इस तरह अनिर्वाण-स्वरूप हुए इस आत्माको आप स्वयं ही शास्त्रीय उपायों द्वारा उत्पन्न हुई विद्यासे आविर्भूत अद्वितीय, स्वप्रकाश पूर्णानन्दस्वरूप आत्माके स्वभावसे निर्वाण-स्वरूप बना दीजिये ॥ १ ॥

वह विद्या तो विद्वानोंके साथ निरन्तर समागम रखनेसे उत्पन्न विवेकज्ञान जनित वैराग्यसे ही सिद्ध होती है, इस आशयसे कहते हैं—'यत्र' इत्यादि ।

जैसे जहाँ सूर्य होंगे वहाँ प्रकाश अवश्य होगा, यह जैसे अकाट्य सिद्धान्त है, वैसे ही जहाँ विषयोंसे पूर्णतया वैराग्य होगा, वहाँ अवश्य तत्त्वज्ञान-रूप प्रकाश होगा ॥ २ ॥

वैराग्यसिद्धिके लिए 'अविद्यास्वभावसे ही शुद्ध ब्रह्ममें जगत्-रूपी चित्रका अध्यास होता है', यह वर्णन करते हैं—'अकर्तृ०' इत्यादिसे ।

कर्ता, कर्म तथा करण आदि सामग्रीसे शून्य ; द्रष्टा, दर्शन एवं दृश्य आदिसे रहित और उपादेय पदार्थोंसे शून्य यह जगत्-रूपी चित्र बिना भित्ति आदि आधारके ही आविर्भूत है ॥ ३ ॥

न चोत्थितं किञ्च न वा शान्ते शान्तं यथास्थितम् ।
अनामयं परं ब्रह्म सत्यमव्ययमेव तत् ॥ ४ ॥
चिच्चमत्कारमात्रात्मकल्पनारङ्गरञ्जनाः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते खे जगच्चित्रपुत्रिकाः ॥ ५ ॥
रसभावविकाराढ्यं नृत्यन्त्यभिनयैर्नवैः ।
परमाणुप्रतिप्रायः खे स्फुरन्त्यम्बरात्मिकाः ॥ ६ ॥
सर्वर्तुशेखरधरा दिग्बाहुलतिकाकुलाः ।
पातालपादलतिका ब्रह्मलोकशिरोधराः ॥ ७ ॥
चन्द्रार्कलोलनयनास्तारोत्करतनूरुहाः ।
सप्तलोकाङ्गलतिकाः परितोऽच्छाम्बराम्बराः ॥ ८ ॥

विद्या-स्वभावसे उस जगत्-रूपी चित्रका खण्डन करके अब निर्वाणका स्वरूप दिखलाते हैं—'न चो॰' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस रूपसे स्थित यह दृश्य चित्र है, वह ब्रह्ममें न तो कभी कुछ उत्पन्न ही हुआ और न शान्त ब्रह्ममें शान्त ही हुआ । असलमें वह निर्विकार सत्य, अविनाशी परब्रह्मरूप ही है ॥ ४ ॥

त्रिजगत्-रूपी नाच रही पुतलियोंके रूपमें मुख्य अविद्या-स्वभावका वर्णन करते हैं—'चिच्चमत्कार॰' इत्यादिसे ।

चितिके एकमात्र चमत्कारस्वरूप जीवोंके सङ्कल्पात्मक नृत्यमण्डपमें शृङ्गार आदि नाना रसोंसे परिपूर्ण जगत्-चित्रकी पुतलियाँ चिदाकाशमें नाच रही हैं । हे श्रीरामजी, इनकी गणना कौन कर सकता है ॥ ५ ॥

शृङ्गार आदि रसों, रति आदि स्थायिभावों तथा कम्प, स्वेद आदि सञ्चारिभावोंसे परिपूर्ण नये-नये अभिनयोंसे परमाणुकी मात्राओंके भी अन्दर विद्यमान चिदाकाशमें चिदाकाशरूप पुतलियाँ प्रायः नृत्य कर रही हैं ॥ ६ ॥

सभी ऋतुएँ इनके सिरके आभूषण हैं, जिन्हें ये धारण किये हुई हैं, दिशारूपी बाहुलतिकाओंसे वे सुशोभित हैं, पाताल इनकी पादलतिका हैं, ब्रह्मलोक इनकी कन्धराएँ हैं, चन्द्र और सूर्य इनकी चञ्चल आँखें हैं, तारोंके समूह इनके रोमसमूह हैं, सातों लोक इनकी अङ्गलतिका है, सभी ओरसे अत्यन्त निर्मल आकाश ही तो इनकी सफेद साड़ी है, सभी द्वीप तथा समुद्र ही इनके हाथके

द्वीपाम्बुराशिवलया लोकालोकाद्रिमेखलाः ।
भूतभारचलज्जीवप्रवहत्प्राणमारुताः ॥ ९ ॥
वनोपवनविन्यासहारकेयूरभूषिताः ।
पुराणवेदवचनाः क्रियाफलविनोदनाः ॥ १० ॥
त्रिजगत्पुत्रिकानृत्यं यदिदं दृश्यते पुरः ।
ब्रह्मवारिद्रवत्वं तत्तद्ब्रह्मानिलवेपनम् ॥ ११ ॥
अस्वभावस्थितैवास्य कारणं कारणात्मकम् ।
असुषुप्तस्थिता स्वापे स्वाप्नस्येव सतीव सा ॥ १२ ॥
असुप्तसुप्तस्थः स्वभावं भावयन् भव ।
जाग्रत्यपि गतव्यग्रो मा स्वप्नमिदमाश्रय ॥ १३ ॥

सुन्दर कंकण हैं, लोकालोक पर्वत इनकी करधनी है, भौतिक शरीरोंके धारण-पोषण आदि निमित्तसे चल-फिर रहे जीव ही इनके बह रहे प्राणमारुत हैं, वन तथा उपवनोंकी विचित्र रचनारूपी हारों और केयूरोंसे ये खूब भूषित हैं, पुराण और वेद ही तो इनके वचन हैं तथा तत्-तत् क्रियाओंके फलरूप सुख और नानाविध दुःख ही इनके विलास हैं। हे श्रीरामजी, इस तरहकी त्रिलोकी-रूपी पुतलियोंका जो नृत्य आपके सामने दिखाई दे रहा है वह ब्रह्मरूपी जलका द्रवत्व या ब्रह्मरूपी वायुका संचलन ही है ॥ ७—११ ॥

सुषुप्तिके अवसरमें सुषुप्ति-स्वभावमें स्थित न हुई चिति स्वप्नकी जैसे कारण बन जाती है वैसे ही अस्वभावमें (अविद्यामें) स्थित हुई यह चिति ही इस नृत्यकी कारण बन गयी है। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी तरहका कारणात्मक ब्रह्म श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है ॥ १२ ॥

इस तरह अविद्याके स्वभावका वर्णन करके अब ब्रह्मात्मैक्यस्वभावसे निर्वाण-रूप बनानेमें उपाय बतलाते हैं—'असुषुप्त०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सांसारिक व्याकुलता छोड़कर आप पारमार्थिक स्वभावकी भावना करते हुए, जाग्रत्कालमें भी असुषुप्त-सुषुप्त पदमें यानी अज्ञानके नाशसे असुषुप्तरूप तथा सम्पूर्ण द्वैतका उपसंहारसे सुषुप्तरूप जो तुर्यपद है उसमें स्थित हो जाइये, इस जगद्रूपी स्वप्नका आश्रय मत कीजिये ॥ १३ ॥

यज्जाग्रति सुषुप्तत्वं बोधादरसवासनम् ।
तं स्वभावं विदुस्तज्ज्ञा मुक्तिस्तत्परिणामिता ॥ १४ ॥
अकर्तृकर्मकरणमदृश्यद्रष्टृदर्शनम् ।
अरूपालोकमननं स्थितं ब्रह्म जगत्तया ॥ १५ ॥
कान्ते कान्तं प्रकचति पूर्णे पूर्णं व्यवस्थितम् ।
द्वित्वैक्यरहिते भाति द्वित्वैक्यपरिवर्जितम् ॥ १६ ॥
सत्यं सत्ये स्थितं शान्तं सर्वात्मन्यात्मनि स्वयम् ।
आकाशकोशसदृशं शिलाजठरसंनिभम् ॥ १७ ॥
सुरत्नजठराकारं घनमप्यम्बरोपमम् ।
प्रतिबिम्बमिव क्षुब्धमप्यक्षुब्धमसच्च सत् ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानसे जाग्रत् कालमें जो राग तथा वासनासे शून्य सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, उसीको तत्त्वज्ञानी लोग ब्रह्मस्वभाव कहते हैं तथा उसी स्वरूपमें भलीभाँति परिनिष्ठित हो जानेको मुक्ति कहते हैं ॥ १४ ॥

ब्रह्मस्वरूपमें निष्ठा होनेपर व्यवहारकालमें भी ज्ञानी पुरुषको यह सारा जगत् चिदेकरसरूप ही भासता है, यह कहते हैं—'अकर्तृकर्म०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्मरूपमें भलीभाँति निष्ठा प्राप्त हो जानेपर ज्ञानी पुरुषको व्यवहारकालमें जगत्-रूपसे स्थित कर्ता, कर्म और करणसे शून्य; दृश्य, दर्शन, और द्रष्टासे रहित तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे रहित ब्रह्मरूप ही है ॥ १५ ॥

उस अवस्थामें ज्ञानीको प्रकाशमान वस्तुमें स्थित प्रकाशमान ही वस्तु, पूर्णमें स्थित पूर्ण ही वस्तु तथा द्वित्व और एकत्वसे रहित (शोधित) प्रत्यगात्मामें द्वित्व-एकत्व रहित (शोधित) ब्रह्मरूप वस्तु ही अखण्ड एकरसरूपसे ही भासित होती है ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः सृष्टिरूपमें स्थित होनेपर भी आकाशकोशके सदृश शान्त एवं सत्य आत्मा ही अपने सत्यस्वरूपमें पत्थरके उदरके सदृश स्वयं स्थित है ॥ १७ ॥

पत्थरके उदरके सदृश, ऐसा कहनेसे उसमें अप्रकाशस्वभावताकी जो भ्रान्ति हो रही है, उसका खण्डन करते हैं—'सुरत्न०' इत्यादिसे ।

भविष्यन्नवनिर्माणं चेतसीव स्थितं पुरम् ।
ब्रह्म बृंहितभारूपमभेदीकृतमानसम् ॥ १९ ॥
यथा सङ्कल्पनगरं सङ्कल्पान्नैव भिद्यते ।
तथाऽयं जगदाभासः परमार्थान्न भिद्यते ॥ २० ॥
हेमपीठमिवाऽनेकभविष्यत्सन्निवेशवत् ।
लक्ष्यमाणमपि स्फारं शान्तमव्ययमास्थितम् ॥ २१ ॥
अजस्रनाशोत्पादाढ्यमेकरूपमनामयम् ।
अनाशोत्पादमजरमनेकमिव कान्तिमत् ॥ २२ ॥
ब्रह्मैव शान्तिघनभावगतं विभाति
सर्गोदयेन विगतास्तमयोदयेन ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सुन्दर रत्नशिलाके उदराकृतिके सदृश प्रकाशमय है, घन होनेपर भी आकाशकी तरह है, जगत्-प्रतिबिम्बको पाकर क्षुब्ध-सा स्थित होनेपर भी वस्तुतः वह अक्षुब्ध है तथा जगद्-रूपसे असत् प्रतीत होनेपर भी वह सत्स्वरूप ही स्थित रहता है ॥ १८ ॥

भविष्यमें जिस नगरका नवीन निर्माण करना होता है, उसका पहले चित्तमें ही कल्पनारूपसे अस्तित्व रहता है, इस तरहका नगर जैसे चित्तस्वरूप है, वैसे ही सामने स्थित यह जगत् पूर्ण प्रकाशात्मक अपने स्वरूपमें ब्रह्मरूप ही है, जिसमें कि मनको एकरस बना दिया गया है ॥ १९ ॥

जैसे सङ्कल्पका नगर सङ्कल्पसे भिन्न नहीं है, वैसे ही यह जगत्का आभास भी परमार्थरूप परब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ २० ॥

भविष्यमें होनेवाली अनेक तरहकी जिसमें नूतन-नूतन रचनाएँ विद्यमान हैं ऐसे चौकोण सुवर्णपिण्डके समान अनेक तरहके विस्तारोंसे परिपूर्ण दिखाई दे रहा भी यह जगत् शान्त अविनाशी ब्रह्मरूप ही है ॥ २१ ॥

यह निरन्तर नाश और उत्पत्तिसे पूर्ण रहते हुए भी नाश और उत्पत्तिसे वर्जित है, अनेक-सा भासित हो रहा भी एकरूप है यानी अजर, भास्वर तथा परब्रह्म परमात्मरूपसे स्थित है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब यह उदित सृष्टिरूप वस्तु

व्योमेव शून्यविभवेन गलत्स्वभाव-
लाभं प्रति प्रसभमेव ननु प्रबुद्धे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे स्वरूपविश्रान्त्यर्थमुपदेशकरणं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

—०—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चित्तवत्कचनं शान्ते यत्तत्तस्मान्न भिद्यते ।
अव्याकृतामलतया क्वातः सर्गादिसम्भवः ॥ १ ॥

उत्पत्ति-विनाशसे रहित हो जाती है यानी तत्त्वज्ञको उस समय यह भान होता है कि सृष्टि न तो कभी उत्पन्न हुई और न नष्ट ही हुई । उस दशामें उसे पूर्ण स्वराज्यकी प्राप्ति हो जाती है और अकेला आनन्दघन ब्रह्म ही अपने अद्वैतस्वभावके प्रभावसे भासने लग जाता है । जैसे आकाशमें भ्रमवश प्रतीत हो रहे केशोण्डूक, गन्धर्वनगर, तलमलिनता आदिके स्वभावका जब बाध हो जाता है, तब पुरुषको हठात् वह शून्यस्वभावसे भासने लग जाता है, ऐसे ही यहांपर भी समझना चाहिए ॥ २३ ॥

इकतालीसवां सर्ग समाप्त



बयालीसवां सर्ग

[पुनः विश्व और विश्वेश्वरकी एकताका विस्तारपूर्वक वर्णन तथा स्वात्मभूत परमेश्वर ही विवेक द्वारा पूजनीय हैं, यह कथन]

'जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, इस पूर्वोक्तका अनुभव करानेके लिए जगत्की भिन्नता-प्रतीतिमें हेतुभूत चित्त तथा चितिके भेदका निरास करते हैं—'चित्तवत्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शान्त कूटस्थ आत्मामें जो चित्त-सा प्रकाश होता है वह उस प्रकाशरूप चिदात्मासे भिन्न नहीं है, अतः

चित्तदीपे गते यान्ति भ्रान्तिवद्भ्रान्तिखे स्थिते ।
रूपालोकमनस्कारसंविदोऽम्बुद्रवोर्मयः ॥ २ ॥
निरस्तकरणापेक्षं मरुतः स्पन्दनं यथा ।
यथा विसरणं भासस्तथा जगदिदं परे ॥ ३ ॥
द्रवत्वमिव कीलाले शून्यत्वमिव चाम्बरे ।
स्पन्दत्वं मरुतीवेदं किमप्यात्ममयं परे ॥ ४ ॥

जगत् आदि किसीका कहीं संभव नहीं है। यदि कहिये क्यों ? तो इसका उत्तर यही है कि वह अव्याकृत और निर्मल है। सार यह है—नाम और रूपोंके भेदसे ही तो इस संसारमें भेदकी प्रसिद्धि है। परन्तु यह भेद नाम और रूपोंके निर्माणके पहले ही उत्पन्न हुए जीवभावके उपाधिभूत चित्तमें हो नहीं सकता, क्योंकि वह उस समय बना ही नहीं है। सूक्ष्म तेज, जल, तथा पृथ्वीरूप लिङ्ग-सृष्टिके अनन्तर 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुतिमें उसका निर्माण सुना जाता है। अपिच, चित्तके निर्मल होनेके कारण भी उसका चितिसे भेद नहीं है। चिदात्मा और चित्त दोनों निर्मल हैं। प्रभा और आकाशमें जैसे कोई प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, वैसे ही निर्मल इन दोनोंमें कोई भी प्राणी भेद नहीं दिखा सकता, ऐसी स्थितिमें चिति एवं चित्तका भेद ही कहां ॥ १ ॥

इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'चित्तदीपे' इत्यादिसे ।

कूटस्थ प्रत्यगात्मारूप आकाशमें जो बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका प्रकाशन होता है, वह एक तरहसे मानो जलरूप द्रवकी लहरें हैं, वे मृगतृष्णाजलकी नाईं मिथ्या ही भासित होती हैं। चित्तरूपी सूर्यके अस्त हो जानेपर वे भी विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

जगत्को अपनी सत्तामें चितिसे अतिरिक्त दूसरे किसी कारणकी अपेक्षा ही नहीं है, इससे भी यह जगत् चितिरूप ही है, इसका दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

किसी कारणकी अपेक्षा किये बिना जैसे वायुमें स्पन्दन होता है या जैसे सूर्यमें प्रभाका प्रसार होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें यह जगत है ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे जलमें द्रवत्व, आकाशमें शून्यता और वायुमें स्पन्दता

महाचिति महाकाशे यदिदं भासते जगत् ।
तच्चित्त्वमेव कचति निर्मलत्वं मणाविव ॥ ५ ॥
यथा द्रवत्वं पयसि यथा शून्यत्वमम्बरे ।
यथा प्रस्पन्दनं वायौ महाचिति तथा जगत् ॥ ६ ॥
वेत्ति वायुर्यथा स्पन्दं तथा वेत्ति जगच्चितिः ।
न द्वैतैक्यादिभेदानां मनागप्यत्र सम्भवः ॥ ७ ॥
अविवेकविवेकाभ्यां भासुरं भङ्गुरं जगत् ।
बोधे सदैव सद्रूपमभासुरमभङ्गुरम् ॥ ८ ॥

है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें यह कोई अनिर्वचनीय आत्माका विवर्तरूप जगत् है ॥ ४ ॥

जाग्रत् और स्वप्न अवस्थामें जैसे चित्त आदिका आत्मामें हुआ प्रकाश आत्मासे अभिन्न है, वैसे ब्रह्ममें मायाधीन आकाशादिका हुआ प्रकाश भी ब्रह्मसे अभिन्न है, इस आशयसे उन्हीं उपर्युक्त दृष्टान्तोंके द्वारा फिर अभेदका उपपादन करते हैं—'महाचिति' इत्यादिसे ।

महाचिद्रूप महाकाशमें जो यह जगत् भासता है वह चिद्रूप ही, मणिमें निर्मलताकी नाईं, स्फुरित होता है ॥ ५ ॥

जैसे जलमें द्रवता, आकाशमें शून्यता, वायुमें स्पन्दता है, वैसे ही महाचितिमें यह जगत् है ॥ ६ ॥

स्फुरणमें भी चितिसे अतिरिक्त किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, इसलिए भी उसका चितिसे अभेद है, इस आशयसे कहते हैं—'वेत्ति' इत्यादिसे ।

जैसे वायु स्पन्दनको स्वस्वरूप जानती है वैसे ही चिति भी जगत्को अपना स्वरूप ही समझती है । इसलिए द्वैत और ऐक्य आदि भेदोंका यहाँ तनिक भी अवसर नहीं है ॥ ७ ॥

हे श्रीरामजी; यह सारा संसार अविवेकसे चमकीला तथा विवेकसे नश्वर है । परमार्थ वस्तुका बोध हो जानेपर तो न यह चमकीला दीखता है और न विनश्वर ही प्रतीत होता है । उस समय तो यह एकमात्र सद्रूप परब्रह्म ही बनकर अवशिष्ट रह जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञप्तिमात्रादृते शुद्धादादिमध्यान्तवर्जितात् ।
नान्यदस्तीह निर्णीतं महाचिन्मात्ररूपिणः ॥ ९ ॥

तत्कस्य चिच्छिवं शान्तं कस्यचिद्ब्रह्म शाश्वतम् ।
कस्यचिच्छून्यतामात्रं कस्यचिज्ज्ञप्तिमात्रकम् ॥ १० ॥

तदनन्तात्म चिद्रूपं चेत्यतामिव भावयत् ।
स्वसंस्थमेव ज्ञेयत्वमज्ञत्वमिव गच्छति ॥ ११ ॥

चित्तया नास्ति सत्ता च चित्तता नास्ति तां विना ।
विना विना यथा वायोर्यथा स्पन्देषु कारणम् ॥ १२ ॥

तत्त्वज्ञानसे जो निर्णीत हुआ, उसका वर्णन करते हैं—'ज्ञप्तिमात्रा०' इत्यादिसे ।

ज्ञानमात्र, शुद्ध, आदि-मध्य और अन्तसे रहित महाचिन्मात्ररूपी परब्रह्मके सिवा और कुछ दूसरा रहता ही नहीं, यह तत्त्वज्ञानसे निर्णीत हुआ है ॥ ९ ॥

उस स्वरूपके विषयमें वेदोंका अनुसरण करनेवाले और न करनेवाले विचारशील वादियोंकी यथार्थ और अयथार्थरूपोंसे अनेक कल्पनाएँ हैं, यह कहते हैं—'तत्कस्यचिच्छिवम्' इत्यादिसे ।

वह किसीके मतमें शान्त शिव, किसीके मतमें शाश्वत ब्रह्म, किसीके मतमें शून्यतारूप और किसीके मतमें वह ज्ञानरूप है ॥ १० ॥

उसीमें अनादि अविद्या आदि दृश्यप्रपञ्चका अध्यास होता है, यह कहते हैं—'तदनन्ता०' इत्यादिसे ।

अनन्तस्वरूप चेतनात्मक वही अपने आपको विषयस्वरूप-सा समझता हुआ यानी भावना करता हुआ स्वस्वरूपमें स्थित ही विषयरूप एवं अज्ञानी-सा बन जाता है ॥ ११ ॥

जितने पदार्थ अध्याससे प्रतीत होते हैं उनका प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्यके बलसे ही होता है, इसलिए विषयोंकी सत्ता अधिष्ठानभूत चेतनके बिना नहीं हो सकती और सत्ताके बिना विषयात्मक चित्तरूपता नहीं हो सकती, जैसे शून्यस्वरूप कूटस्थ आकाशके बिना दूसरा कोई वायुका कारण नहीं है और वायुके बिना स्पन्दनोंका दूसरा कोई कारण नहीं है, ठीक ऐसे ही यहां भी बात है ॥ १२ ॥

तथा महाचितीच्छायाः सर्गसंविचिवृचिषु ।
नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥ १३ ॥

इत्यत्रार्थो भविष्यत्सद् द्वित्वैकत्वास्तितावशात् ।
कोऽत्र कल्पयिता द्वित्वमेकत्वं वा महाम्बरे ।
विष्वग्विश्वमपारैकपरमाकाशकोशता ॥ १४ ॥

यथा स्पन्दानिलद्वित्वं शाब्दमेव न वास्तवम् ।
विश्वविश्वेश्वरद्वित्वं तथैवासन्मयात्मकम् ॥ १५ ॥

सदेवासम्भवद्द्वित्वं महाचिन्मात्रकं च यत् ।
विश्वाभासं तदेवेदं न विश्वं सन्न विश्वता ॥ १६ ॥

तथा महाचैतन्यके सङ्कल्पसे जायमान एवं निरन्तर ब्रह्मसत्ताके बलपर अपनी सत्ता रखनेवाले सृष्टि-भ्रमोंमें महाधिष्ठानभूत ब्रह्मकी अपेक्षासे सदा सत्ता है, और स्वरूपतः असत्ता है। इस तरहका निरूपण 'सदेव सोम्येदम०' इत्यादि श्रुतिमें है। इस विषयमें दूसरे किसी तर्ककी अपेक्षा नहीं है ॥ १३ ॥

चित् और जड़का द्वैत एवं द्वैतका कारण एकत्व—इनका स्वतः अस्तित्व तथा इसी अस्तित्वके आधारपर सृष्टि-भ्रमोंका अस्तित्व मानना चाहिए, यह बात मानी जा सकती है, परन्तु इसमें कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाशमें द्वित्व-एकत्वका कोई समर्थन करनेवाला नहीं है और जड़ वस्तुओंमें तो वैसा समर्थन करनेवाला कोई हो ही नहीं सकता। [इन सब तर्कोंसे निचोड़ यह निकला कि आकाशके द्वैतकी अप्रसिद्धिके सदृश तथा स्पन्दन एवं वायुके भेदकी अप्रसिद्धिके सदृश विश्व और विश्वेश्वरके भेदकी भी अप्रसिद्धि है, यह कहते हैं—'विष्वक्'से] सम्पूर्ण विश्व असीम, एक परमात्माका स्वरूपभूत ही है ॥ १४ ॥

जैसे वायु और स्पन्दनका भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं है, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वरका भेद शब्दमात्र है, वास्तविक नहीं, असलमें असदात्मक ही है ॥ १५ ॥

जिसमें द्वैतकी संभावना नहीं है, जो तीनों कालमें सत्स्वरूप ही है और महाचेतनरूप है, वही विश्वके रूपमें भासता है, असलमें न विश्व है और न विश्वका कोई स्वरूप ही है ॥ १६ ॥

देशकालादिमत्त्वेन कदाचिद्धेम्नि सत्यता ।
कटकत्वस्य भिन्नस्य विश्वस्य च तथा परे ॥ १७ ॥
द्वित्वैक्यासम्भवे चात्र कार्यकारणता कुतः ।
स्याच्चेत्तत्कल्पनामात्रमेवैतन्नान्यवस्तुता ॥ १८ ॥
शून्यता नभसीवात्र द्रवत्वमिव चाम्भसि ।
खे खलेखाप्यभिन्नेव किलास्ति जगदादिता ॥ १९ ॥
यद्रूपं ब्रह्म तद्रूपं जगत्काऽत्र द्वितैकते ।
यद्रूपं व्योम तद्रूपमेवं शून्यं किलाखिलम् ॥ २० ॥

अथवा ब्रह्मदृष्टिसे असत्य भी विश्वकी उसके कार्यभूत छोटे-छोटे देश-कालकी अपेक्षा बड़े-बड़े देश-कालके सम्बन्धसे सत्ता है, इस आशङ्काका परिहार करते हैं—'देशकालादि०' इत्यादिसे ।

कोई लोग कहते हैं कि कार्यरूपसे भिन्न कटकरूपकी अपेक्षा अधिक देश-कालके सम्बन्धसे सुवर्णमें जैसे कादाचित्क सत्यता है, वैसे ही कार्यकी अपेक्षा अधिक देशकालके सम्बन्धसे विश्वमें भी सत्यता हो सकती है ॥ १७ ॥

परन्तु यह तब होता, जब कि कार्य और कारणका भेद सिद्ध होता, लेकिन वही सिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'द्वित्वैक्या०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, द्वित्व और ऐक्यके ही असम्भवसे यहाँ न कोई कार्यरूप है और न कोई कारणरूप ही है । [यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लिया जाय, तो भी काल्पनिक भेदसे सत्यताका निर्वाह नहीं हो सकता, यह कहते हैं—'स्याच्चेत्त'से ।] यदि काल्पनिक कार्यकारणभेद मान लें तो भी परमात्मासे भिन्न यह संसार एकमात्र काल्पनिक ही सिद्ध होगा; इससे उस परमात्मासे भिन्न दूसरी वस्तु सिद्ध नहीं होगी ॥ १८ ॥

जैसे कि आकाशमें शून्यता है और जैसे जलमें द्रवत्व है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मामें विश्व है । [अत्यन्त अभेदमें भी जैसे 'आकाशमें आकाशकी रेखा है' इस तरहकी भेदकल्पना देखी जाती है वैसे ही इस जगत्के विषयमें भी होगी, यह कहते हैं—'खे खलेखा०' से ।] अत्यन्त अभेद होनेपर भी जैसे आकाशमें आकाशकी रेखा अज्ञानदृष्टिसे देखी जाती है वैसे ही इस परब्रह्म परमात्मामें जगदादिका रूप अज्ञानियोंकी दृष्टिसे देखा जाता है ॥ १९ ॥

ब्रह्मका जो रूप है वही रूप जगत्का भी है, इससे द्वैत और ऐक्यकी यहाँ

एकात्मनि तते स्वच्छे चिन्मात्रे सर्वरूपिणि ।
शिलापुत्रकसेनायां पाषाणत्व इवास्थिते ॥ २१ ॥
कार्यकारणवैचित्र्यं कथं सम्भवति क्व वा ।
कथमव्योमता व्योम्नि द्वितीयासम्भवाद्भवेत् ॥ २२ ॥
प्रतिभात्मैव भारूपो भाति सर्गो महाचिति ।
पुत्रिकेवोपलोत्कीर्णा तन्मयत्वात्तदात्मिका ॥ २३ ॥
साधो यथास्थितस्यैवं बुद्ध्वा विश्वं प्रलीयते ।
काष्ठमौनदशाभासं संसारमवशिष्यते ॥ २४ ॥
यथा निमीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २५ ॥

आपत्ति ही नहीं हो सकती । आकाशसे भिन्न-सी कल्पित शून्य आकाशकी रेखा जिस रूपकी रहती है यानी रेखाशब्दसे वाच्य आकाश जिस रूपका रहता है, ठीक उसी रूपका यह सारा जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न-सा कल्पित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थितिमें एकात्मा, व्यापक, स्वच्छ, चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्माके, पत्थरमें खुदी गई सेनाके सदृश पत्थर-रूपसे स्थित रहते, कार्य-कारणकी विचित्रता कहाँ कैसे संभव हो सकती है। द्वितीयका संभव न होनेसे चिदाकाशमें उससे पृथक् किसी दूसरी वस्तुकी संभावना नहीं हो सकती ॥ २०-२२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रतिभारूप ही यह सृष्टि प्रतिभारूपसे महाचेतनमें ऐसे भासती है, जैसे पाषाणमें खुदी हुई प्रतिमा पाषाणरूप होनेके कारण पाषाणमय भासती है । हे साधो, यथार्थभूत वास्तविक ब्रह्मका तत्त्वज्ञान हो जानेसे इस विश्वका विलय हो जाता है और बाह्य तथा आभ्यन्तर सब चेष्टाओंसे शून्य अवस्थाके द्वारा स्फुरित हो रहा ब्रह्म ही सम्पूर्ण संसारभ्रमको नष्ट करके अवशिष्ट रह जाता है ॥२३,२४ ॥

भावनारूप मनकी एकमात्र कल्पनासे उत्पन्न संसारभ्रम भावनात्याग एवं कल्पनारहित स्थितिसे ही विनष्ट हो जाता है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

यद्यपि न तो कुछ वस्तु है और न कोई सामने पदार्थ ही है, तथापि एकमात्र

तथैवोन्मीलिताक्षस्य रूपालोकमनोभ्रमः ।
स्वप्ने जाग्रत्यनग्रस्थोऽप्यसन्नेवास्ति भावनात् ॥ २६ ॥

भावनोपशमं कृत्वा शिलीभूय यथास्थितम् ।
अशिलीभूतमेवान्तः स्वभावं समभ्यास्यताम् ॥ २७ ॥

आविवेकोपहारेण यथाप्राप्तार्थपूजनैः ।
बोधाय पूज्यतां बुद्ध्या स्वभावः परमेश्वरः ॥ २८ ॥

विवेकपूजितः स्वात्मा सद्यः स्फारवरप्रदः ।
रुद्रोपेन्द्रादिपूजाऽत्र जरत्तृणलवायते ॥ २९ ॥

विचारशमसत्सङ्गबलिपुष्पैकपूजितः ।
सद्यो मोक्षफलः साधो स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ ३० ॥

भावनाके बलपर आँखें बन्द कर पड़े हुए पुरुषको स्वप्नके जाग्रत्कालमें जैसे बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका भ्रम होता है वैसे ही यद्यपि न कुछ वस्तु है न सामने कोई पदार्थ ही है तथापि भावनाके बलपर आँखें खुली रखकर बैठे हुए पुरुषको जाग्रद्रूप स्वप्नमें बाह्य एवं आभ्यन्तर विषयोंका भ्रम होता है ॥२५,२६॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भावनाको शान्त करके पाषाणके समान निश्चल होकर तथा चिदेकरस होनेसे शिलासे विलक्षण भीतरके अशिलाभूत यथास्थित आत्म-स्वभावका अवलम्बन करके एकरूपसे स्थित रहिये ॥ २७ ॥

उस तरहकी स्थिति बनानेके लिए अनुकूल विवेक-वैराग्य आदि साधनोंका अभ्यास ही आत्मरूप परमेश्वरकी सर्वश्रेष्ठ पूजा है, यह कहते हैं—'आविवेको-पहारेण' इत्यादिसे।

हे श्रीरामभद्र, पूर्णविवेकरूप उपहारसे पूजनसाधन प्रारब्धप्राप्त अर्थोंके द्वारा बोधके लिए बुद्धिपूर्वक आत्मस्वभावरूप परमेश्वरकी पूजा कीजिये ॥ २८ ॥

विवेकसे पूजित स्वात्मभूत परमात्मा तुरत ही पूजा करनेवालेको निरतिशय आनन्दरूप वर प्रदान करता है। इस पूजामें रुद्र, उपेन्द्र आदिकी पूजा तो, जीर्ण-शीर्ण तिनकेके टुकड़ेके सदृश, हलकी पड़ जाती है ॥ २९ ॥

विचार, शम और सत्संगरूपी बलिदान-पुष्पोंसे पूजित हुआ परमेश्वर शीघ्र मोक्षफल प्रदान करता है। हे साधो, यह स्वात्मा ही परमेश्वर है ॥ ३० ॥

सत्यालोकनमात्रैकपूजितोऽनुत्तमार्थदः ।
यत्राऽस्त्यात्मेश्वरस्तत्र मूढः कोऽन्यं समाश्रयेत् ॥ ३१ ॥
सत्सङ्गशमसन्तोषविवेकापूजितात्मनः ।
शिरीषकुसुमायन्ते शस्त्राहिविषवह्नयः ॥ ३२ ॥
देवार्चनतपस्तीर्थदानान्यतिकृतान्यपि ।
भस्मायन्ते निरर्थत्वादविवेकामहात्मनाम् ॥ ३३ ॥
एतान्यपि विवेकेन क्रियन्ते सफलानि चेत् ।
विवेक एव तत्कस्मात्स्फुटमन्तर्न साध्यते ॥ ३४ ॥

केवल यथार्थ अवलोकनरूप अकेली पूजन सामग्रीसे जिसकी पूजा की गई हो, ऐसे सर्वोत्तम फलप्रदान करनेवाला यह ईश्वररूप आत्मा जहां उपस्थित हो, वहां भला ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो किसी दूसरेका (अनात्मभूत तटस्थ ईश्वरका*) आश्रयण करेगा ॥ ३१ ॥

पूजन द्वारा प्रसन्न हुआ तटस्थ ईश्वर तो इस जीवकी शस्त्र, सर्प, अग्नि आदिसे भलीभांति रक्षा कर सकता है, परन्तु कूटस्थ आत्मा भला क्या कर सकता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'सत्सङ्ग०' इत्यादिसे ।

सत्संग, शम, सन्तोष और विवेक द्वारा जिसने आत्माकी पूर्ण रीतिसे पूजा की है ऐसे पुरुषके लिए शस्त्र, सर्प, विष और अग्नि—ये सब शिरीष (सिरस) के फूल बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

किञ्च, अविवेकियों द्वारा किये गये देवतापूजन आदि सत्कर्मोंमें अपराध होनेकी अवश्य संभावना है, ऐसी स्थितिमें वे निष्फल या अनर्थ देनेवाले हो जाते हैं । दूसरी बात यह है कि उन कर्मोंमें देश, काल, पात्र, द्रव्य, कर्ता आदिकी विशुद्धि तथा उनके परिज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, शान्ति आदिकी यदि आवश्यकता पड़ जाती है, तो सर्वविध क्लेशोंसे रहित महाफलवाले आत्मदर्शनमें ही उनका उपयोग क्यों न किया जाय ? यह कहते हैं—'देवार्चन०' इत्यादिसे ।

जिनको देश, काल, पात्र आदिका विवेक नहीं है, ऐसे दुरात्माओं द्वारा अत्यधिक किये गये देवपूजन, तप, तीर्थाटन, दान आदि सबके सब

* देखिये श्रुति क्या कहती है—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' ।

यथाभूतार्थविज्ञानाद्वासनोपरमे परे ।
यत्नो विवेकशब्दाख्यो भवत्यात्मप्रसादतः ॥ ३५ ॥
तथातथा विवेकोऽन्तर्वृद्धिं नेयः शमामृतैः ।
यथायथा पुनः शोषमुपयाति न विभ्रमैः ॥ ३६ ॥
देहसत्तामनादृत्य यथाभूतार्थदर्शनात् ।
लज्जां भयं विषादेर्ष्ये सुखं दुःखं जयेत्समम् ॥ ३७ ॥
जगदादि शरीरादि नास्त्येवादौ कुतोऽद्य तत् ।
कार्यं चेत्कारणस्यैतत्तथापि ब्रह्ममात्रकम् ॥ ३८ ॥

तत्त्वशून्य होनेके कारण भस्मीभूत हो जाते हैं। इसलिए यदि सब विवेकसे सफल किये जायँ, तो अपने अन्तःकरणमें विवेककी ही स्पष्टरूपसे साधना क्यों नहीं की जाय ? ॥ ३३, ३४ ॥

वह कौन-सा विवेक है, जिसकी आप साधना बतला रहे हैं, इसपर उसे कहते हैं—'यथाभूतार्थ०' इत्यादिसे ।

वास्तविक पदार्थके विज्ञानके अनन्तर वासनाके आत्यन्तिक उच्छेदमें जो प्रयत्न है, वही विवेकशब्दका अर्थ है, यह निष्काम यज्ञ तथा दान किया गया आदि कर्मोंसे जनित चित्तकी प्रसन्नतासे ही होता है। वैराग्य आदि सब साधन-रूप ही यह यत्न है ॥ ३५ ॥

अपने भीतर शमरूपी अमृतसे विवेकको ऐसे धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए, जैसे कि विषयभ्रान्तियोंसे वह फिर नष्ट न होने पावे ॥ ३६ ॥

मनुष्य देहकी सत्ताका अनादर कर उसमें स्थित तात्त्विक वस्तुका प्रत्यक्ष करे, फिर उससे होनेवाले लज्जा, भय, विषाद, ईर्ष्या, सुख, दुःख आदिके ऊपर बराबर विजय प्राप्त करे ॥ ३७ ॥

देहकी सत्ताके अनादरमें उपायभूत विचार दिखलाते हैं—'जगदादि' इत्यादिसे ।

शरीरका कारण जगत् और जगत्का भी कारण पहले ही नहीं रहा, फिर आज वह कहाँसे रहेगा। यदि कहो कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिमें बतलाया गया ब्रह्मात्मक कारण तो पहलेसे ही है, तो यह भी युक्त नहीं है,

प्रतिभामात्रमेवाच्छं न तु ज्ञप्तेर्घटादि सत् ।
ज्ञानात्मिकैव प्रतिभा ज्ञप्तिरेवाखिलं जगत् ॥ ३९ ॥
ज्ञप्तिरप्यात्मतत्त्वश्रीः परिज्ञातोपशाम्यति ।
ज्ञेयाभावे त्वनिर्वाच्या शिष्यते शाश्वतं शिवम् ॥ ४० ॥
अशरीराद्यविश्वात्म सर्वं शान्तमिदं ततम् ।
ज्ञानज्ञेयज्ञप्तिमुक्तं दृषन्मौनमिव स्थितम् ॥ ४१ ॥
शान्तान्तःकरणाः स्वस्थाः शिलापुत्रककोशवत् ।
चलन्तश्चालयन्तश्च ज्ञरूपा एव तिष्ठत ॥ ४२ ॥

क्योंकि ऐसा माननेपर कार्य यदि कारणका ही रूप है, तो आखिरमें वह ब्रह्मरूप ही सिद्ध होता है, अन्यरूप नहीं ॥ ३८ ॥

समस्त विकल्पोंसे निर्मुक्त विशुद्ध प्रतिभामात्र ही ब्रह्मका स्वरूप है । विकल्प-प्रतिभा भी चिदाभासरूप ज्ञानरूपा ही है, इसलिए ज्ञानसे पृथक् घट आदिका अस्तित्व नहीं है, किन्तु समस्त जगत् ज्ञानरूप ही है ॥ ३९ ॥

जिसमें आत्मतत्त्वरूप श्री प्रतिबिम्बित है ऐसी ज्ञप्ति यानी चिदाभासरूप ज्ञान तब होता है, जब कि आत्माका तत्त्वज्ञान पहले नहीं रहता, इसलिए उसको प्रत्यगात्ममात्रस्वरूप जान लेनेपर वह स्वयं नष्ट हो जायगी, क्योंकि उस समय आत्मतत्त्वसे अलग करनेवाली कोई उपाधिभूत वस्तु अलग नहीं रहेगी । ठीक ही है, दर्पणमें देखी गई मुखशोभा दर्पणके हट जानेपर स्वयं ही शान्त हो जाती है । जब उपाधि शान्त हो जाती है तब ज्ञप्तिका स्वरूप नहीं कहा जाता । उस समय सदा स्थायी शिवस्वरूप एकमात्र आत्मा ही अवशिष्ट रहता है । यह शिवस्वरूप वस्तु शरीर आदि अवयवोंसे रहित जगद्रूपसे निर्मुक्त पूर्ण, शान्त, ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञप्तिरूप त्रिपुटीसे शून्य, पत्थरकी चट्टानोंके सदृश वाणीके व्यापारोंसे वर्जित है । और यह सारा प्रपञ्च तद्रूप ही है ॥ ४०, ४१ ॥

आप सब लोगोंको वह शिवस्वरूप स्थिति ही प्राप्त करनी चाहिये, यह कहते हैं—'शान्ता०' इत्यादिसे ।

इसलिए आप लोग, जैसे पाषाण-प्रतिमाएँ शान्त रहती हैं, वैसे ही अपने अन्तःकरणको शान्त बनाकर स्वस्थ होइए एवं सांसारिक सब व्यवहारोंको करते तथा कराते हुए भी ज्ञानीके रूपमें ही स्थित रहिये ॥ ४२ ॥

अज्ञेयज्ञत्वसद्रूपाः सदसत्सारूपिणः ।
आकाशकोशविशदा भवताऽभवभूमयः ॥ ४३ ॥
यथास्थितं च तिष्ठन्ति गच्छन्तश्च यथागतम् ।
यथाप्राप्तैककर्माणः सम्पद्यन्ते बुधाः परम् ॥ ४४ ॥
अथवा सर्वसंत्यागशान्तान्तःकरणोज्ज्वलाः ।
एकान्तेष्वेव तिष्ठन्तु चित्रकर्मार्पिता इव ॥ ४५ ॥
सङ्कल्पशान्तौ सङ्कल्पपुरवत् सर्वदाऽखिलम् ।
स्वप्नवच्च प्रबुद्धस्य सदैवास्तं गतं जगत् ॥ ४६ ॥
सनेत्ररूपानुभवं जातितोऽन्ध इव भ्रमैः ।
निर्वाणं वर्णयन्नज्ञस्ताप्यतेऽन्तर्न शाम्यति ॥ ४७ ॥

ज्ञेय और ज्ञानसे शून्य सद्रूप, सत् और असत्के सारभूत, आकाशगोलकके समान विशद तथा संसारके अकारणभूत आप लोग हो जाइये ॥ ४३ ॥

ज्ञानी पुरुष अपनी इच्छाके अनुसार जहाँ चाहे स्थित रहते हैं और जहाँ जानेकी इच्छा होती है, बड़े आनन्दसे वहाँ चले जाते हैं। वे एकमात्र प्रारब्ध-प्राप्त अपना कर्म करते हुए परब्रह्म परमात्माके स्वरूपभूत बन जाते हैं ॥ ४४ ॥

अथवा निरन्तर समाधिमें ही स्थित रहिये, यह कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे।

अथवा समस्त इच्छाओंके उत्तम त्यागसे शान्त हुए अन्तःकरणसे युक्त होकर आप लोग, चित्रकर्ममें लिखित मूर्तियोंके सदृश, निश्चलवृत्ति हो एकान्त स्थानोंमें ही स्थित रहिये ॥ ४५ ॥

भद्र, सङ्कल्पकी शान्ति हो जानेपर जैसे सङ्कल्पनगर शान्त हो जाता है अथवा जाग्रत्-पुरुषके लिए स्वप्न नष्ट हो जाता है वैसे ही समाधि और व्यवहार दशामें निरन्तर आत्मज्ञानसे सम्पन्न पुरुषके लिए सम्पूर्ण जगत् सदाके लिए ही विनष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥

वही तत्त्वज्ञान निर्वाणमें उपयोगी है, जो नेत्रवाले पुरुषको हुए रूपानुभवके सदृश प्रत्यक्ष एवं पूर्णानन्दानुभवतक स्थिर रह सकता है, जन्मान्ध पुरुषकी रूप-कल्पनाके सदृश परोक्ष-सा तत्त्वज्ञान निर्वाणमें उपयोगी नहीं है, यह कहते हैं—'सनेत्र०' इत्यादिसे।

कुछ वेदान्तवाक्योंके श्रवणसे ही 'मैं तत्त्वज्ञ हो गया'—इस प्रकारके भ्रममें

कल्पनांशोपदेशेन लोकोऽविद्यामयात्मना ।
येन केनचिदज्ञत्वात्कृतार्थोऽस्मीति मन्यते ॥ ४८ ॥
अकृतार्थः कृतार्थत्वं जानन् मौर्ख्यविमोहितः ।
विज्ञास्यत्यकृतार्थत्वं क्षणान्तरकदर्थनैः ॥ ४९ ॥
उपायं कल्पनात्मानमनुपायं विदुर्बुधाः ।
दुःखदत्वान्निमेषेण भावाभावैषणभ्रमैः ॥ ५० ॥
जगद्भ्रमं परिज्ञाय यदवासनमासितम् ।
विरसाशेषविषयं तद्धि निर्वाणमुच्यते ॥ ५१ ॥

पढ़कर मोक्षका वर्णन कर रहा अज्ञानी पुरुष, देखनेवाले पुरुषको हुए रूपानुभवका वर्णन कर रहे जन्मान्ध पुरुषके सदृश, अपने भीतर मान-अपमान आदि दुःखोंसे सन्तप्त रहता है। तत्त्वज्ञके सदृश भीतर सुखका अनुभव नहीं करता ॥ ४७ ॥

अन्धगोलाङ्गूल न्यायसे असत् उपदेशसे ठगे गये पुरुषोंमें भी कृतार्थताकी भ्रान्ति होती है, यह लोकमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'कल्पनांशो०' इत्यादिसे।

अविद्यास्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेशसे कोई पुरुष 'मैं कृतार्थ हूँ' यों यदि मानता है, तो वह अज्ञानी होनेके कारण असलमें अकृतार्थ ही है। अपनेमें कृतार्थता जान रहा वह मूर्खतासे अत्यन्त मोहित है। ऐसा पुरुष दूसरे क्षणमें अनेकविध यातनाओंके कारण अपनी अकृतार्थता ही जान पायेगा ॥ ४८,४९ ॥

इससे कल्पनात्मक ज्ञान मोक्षका उपाय नहीं है, पण्डितोंके इस अनुभवको लेकर उपसंहार करते हैं—'उपायम्' इत्यादिसे।

जो काल्पनिक उपाय है वह निमेषभरमें ही भाव, अभाव तथा इच्छा भ्रमोंसे दुःखदायी होनेके कारण मोक्षका उपाय नहीं है, यह विद्वानोंका मत है ॥५०॥

इसलिए पूर्वोक्त तत्त्वज्ञानको ही वासनाविनाशपर्यन्त दृढ़ करना चाहिये। वही तत्त्वज्ञान निर्वाणरूप बन जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'जगद्भ्रमम्' इत्यादिसे।

जगद्रूप भ्रमका अच्छी तरह ज्ञानकर जो वासनाशून्य स्थिति होती है वही, हिरण्यगर्भस्थानतकके समस्त विषय जिसकी अपेक्षा नीरस हैं, निर्वाण कहा जाता है ॥ ५१ ॥

आख्यायिकार्थप्रतिभानमेत्य
संवेत्स्यचिद्वारि भराद्द्रवात्म ।
अवेद्यचिद्रूपमशेषमच्छं
पश्यन्विनिर्वासि जगत्स्वरूपम् ॥ ५२ ॥

जात्यन्धरूपानुभवानुरूपं
यदागमैर्बुद्धमबोधरूपम् ।
अधस्पदीकृत्य तदन्तरेऽस्मिन्
बोधे निपत्याऽनुभवो भवाभूः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणोपदेशो नाम द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इसलिए हे श्रीरामभद्र, मैंने जिस अर्थका उपदेश दिया है उसे लौकिक या पौराणिक कथार्थके सदृश कल्पनामात्ररूप बहिर्मुखवृत्तिसे जानकर आप कृतार्थ मत होंगे, किन्तु एकमात्र वासनाओंके भयंकर बाढ़से चारों ओर बह रहे जगद्रूपी अचित् जलको ही देखेंगे, अतः जब आप आत्मदृष्टिसे समस्त जगत्स्वरूपको पूर्ण शुद्ध अवेद्य चिद्रूप, प्रत्यक्ष करेंगे तभी मोक्षमें स्थित रहेंगे यानी कृतार्थ होंगे ॥५२॥

उसीको दृढ़ करते हुए कहते हैं—'जात्यन्ध०' इत्यादिसे ।

हे भद्र, उपदेशवचनोंसे जन्मान्ध पुरुषके रूपानुभवके सदृश परोक्षरूप यदि आपने जाना, तो वह आपका न जानना ही है यानी अज्ञान ही है, क्योंकि अपरोक्ष वस्तुके विषयमें हुआ परोक्षज्ञान केवल भ्रमात्मक ही होता है। इसलिए ऐसे ज्ञानको तिरस्कृत कर प्रत्यगात्मस्वरूप इस नित्य अपरोक्ष आत्मज्ञानमें पड़कर आप जन्मादिशून्य आत्मानुभवरूप ही बन जाइये, यही निर्वाण है ॥ ५३ ॥

बयालीसवाँ सर्ग समाप्त



त्रिचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अहन्तादि जगच्चेदं परिज्ञानादसत्यताम् ।
याति सानुभवो मोहात्सत्यमेवाऽन्यथाधियाम् ॥ १ ॥
अज्ञानज्वरमुक्तस्य बोधशीतलितात्मनः ।
एतदेव भवेच्चिह्नं यद्भोगाम्बु न रोचते ॥ २ ॥
अलमन्यैः परिज्ञानैर्वाच्यवाचकविभ्रमैः ।
अनहंवेदनामात्रं निर्वाणं तद्विभाव्यताम् ॥ ३ ॥

तेंतालिसवाँ सर्ग

[अज्ञानकल्पित मनरूप यक्षनगर-जैसे इस जगत्का शुद्ध तत्त्वज्ञानसे विनाश हो जानेपर एकमात्र ब्रह्ममें ही स्थिति हो जाती है—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, भोक्ता और भोग्यरूप यह जो सम्पूर्ण आन्तर अहन्तादि और बाह्य जगत् है वह सब तत्त्वज्ञानसे (जगदनुभवरूप भोगके स्वरूपज्ञानसे) असत्य बन जाता है। जो भोग होता है उसका अवसान चितिसे ही होता है। वह भोक्ता और भोग्यके सम्बन्धका अनुभव है। उसी अनुभवसे मोहके द्वारा आत्मा और अनात्माके धर्मोंको एक दूसरेमें समझनेवाले यानी भोक्तामें ही आत्मबुद्धि रखनेवाले मूढ़ोंको बाह्य जगत्का भोग होता है, स्वतः नहीं। इसलिए परमार्थदशामें बाह्य और आभ्यन्तर जगत्का अनुभव ब्रह्मरूप ही है ॥ १ ॥

इसीलिए तत्त्वज्ञानियोंको भोग्यवर्गोंमें रुचि नहीं होती, यह कहते हैं—'अज्ञान०' इत्यादिसे ।

जो पुरुष अज्ञानसे भलीभाँति मुक्त हो गया है तथा जिसकी आत्मा बोधसे शीतल हो चुकी है, ऐसे महानुभावका यही चिह्न है कि उसे भोगजल रुचता नहीं ॥ २ ॥

इस प्रकार भोग्यवस्तुओंसे जो विरक्त हो गये हैं उनके लिए भोक्तामें अहंकाररूपी अंशका एकमात्र त्याग कर देनेसे विशुद्ध चिन्मात्ररूपसे अवशिष्ट निर्वाण सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'अलम०' इत्यादिसे ।

परिज्ञाता यथा स्वप्ने पदार्था रसयन्ति नो ।
न च सन्ति तथैवास्मिन्नहं जगदिदं भ्रमे ॥ ४ ॥
यथा स्वभावनाद्यक्षस्तरौ सस्वजनं पुरम् ।
पश्यत्यसत्यमेवैवं जीवः पश्यति संसृतिम् ॥ ५ ॥
विभ्रमात्मा यथा यक्षो यक्षलोकश्च ते मिथः ।
सद्रूपौ सुस्थितौ मिथ्या तथाऽहन्त्वजगद्भ्रमौ ॥ ६ ॥
अनावरणतोऽरण्ये यक्षा विभ्रमरूपिणः ।
यथा स्फुरन्ति भूतानि तथेमानि चतुर्दश ॥ ७ ॥

भद्र, नामरूपात्मक विषयोंके भ्रमस्वरूप दूसरे-दूसरे ज्ञानोंका सम्पादन करना निरर्थक ही है । केवल अहंबुद्धिका अभाव ही मोक्ष है, यह आप जानिये ॥ ३ ॥

भोगजल नहीं रुचता, यह जो कहा गया है, उसीको पुनः विशदरूपसे कहते हैं—'परिज्ञाता' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जगे हुए पुरुषको किसी तरहका आनन्द प्रदान नहीं करते और न उसकी दृष्टिमें वे अपना अस्तित्व ही रखते हैं वैसे ही 'मैं' 'यह जगत्' इत्यादि भ्रममें देखे गये पदार्थ न तो तत्त्वज्ञानीको आनन्द प्रदान करते हैं और न उसकी दृष्टिमें अपना अस्तित्व ही रखते हैं ॥ ४ ॥

इस विषयमें गन्धर्व-मायाकल्पित नगर दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे यक्ष अपनी भावनासे वृक्षमें अपने स्वजनसे युक्त असत्य नगरको देखता है वैसे ही जीव अपनी अविद्यासे असत्य ही इस विशाल संसारको देखता है ॥५॥

यद्यपि भ्रान्तिकल्पित भोक्तारूप होनेसे विभ्रमरूप यक्ष तथा भ्रान्तिकल्पित भोग्यस्वरूप होनेसे उसका नगर भी नहीं है, तथापि परस्पर उपभोगरूप अर्थ-क्रियाकारी होनेसे जैसे वे दोनों सद्रूपकी तरह स्थित हैं वैसे ही मिथ्या अहन्ता और जगत्का भ्रम भी स्थित है ॥ ६ ॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनोंमें असत्के भी सत्यरूपसे प्रतिभासमें आवरण-शून्य साक्षीका अध्यास ही निमित्त है, इस आशयसे कहते हैं—'अनावरणतो' इत्यादिसे ।

जैसे जंगलमें यक्ष आदि विभ्रमरूप ही स्फुरित होते हैं वैसे ही आवरण न

भ्रममात्रमहं मिथ्यैवेति बुद्‌ध्वा विभावयन् ।
यक्षोऽयक्षत्वमायाति चित्तं चित्तत्त्वतामिदम् ॥ ८ ॥
निरस्तकलनाशङ्कं त्यागग्रहणवर्जितम् ।
अविसारिसमस्तेच्छं शान्तमास्व यथास्थितम् ॥ ९ ॥
असत्तासम्भवं दृश्यं द्रष्ट्रात्मकमिदं ततम् ।
अथवा नैव द्रष्ट्रात्म सदवाच्यं किमास्यते ॥ १० ॥
वसन्तरसपूरस्य यथा विटपगुल्मता ।
स्वरूपमात्रभरितसंविदः सर्गता तथा ॥ ११ ॥

रहनेसे ये चौदह भुवन भी स्फुरित होते हैं। तात्पर्य यह कि आवरणरहित साक्षीमें अध्यासके कारण ही ये चौदह भुवन स्फुरित होते हैं ॥ ७ ॥

यक्षके अपने कल्पित देह, नगर आदिके उपसंहारकी तरह जगद्भ्रमके बाधमें भी उसे एकमात्र मिथ्यारूप देखना ही हेतु है, यह कहते हैं—'भ्रममात्रम०' इत्यादिसे ।

जैसे यह सब कुछ एकमात्र मेरा भ्रम है, और कुछ नहीं—यों विचार करता हुआ यक्ष अयक्ष हो जाता है वैसे ही अहमादि सब जगत् मिथ्या ही है—यों जानकर यह चित्त चिद्रूप तात्त्विकभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण कल्पनाओं तथा आशङ्काओंसे रहित, त्याग तथा ग्रहणसे शून्य, बहुत दूरतक जानेवाली समस्त इच्छाओंसे रहित तथा शान्त होकर हे श्रीरामजी, जैसे आप स्थित हैं स्थित रहिये ॥ ९ ॥

विचारपूर्वक देखनेसे यह दृश्य एकमात्र द्रष्टारूप या तुच्छरूप ही पर्यवसित होता है, यह कहते हैं—'असत्ता०' इत्यादिसे ।

यह सब दृश्य द्रष्टारूप ही व्याप्त है अथवा सत्ताकी उत्पत्तिसे शून्य द्रष्टारूप भी यह नहीं है, क्योंकि सत् परमार्थ चिद्रूप द्रष्टृतत्त्व जो अवाच्य है वह क्या तुच्छ दृश्यरूप स्थापित हो सकता है ? कदापि नहीं । कोई भी सत्‌को असत्-रूप नहीं बना सकता, यह तात्पर्य है ॥ १० ॥

द्रष्टाके दृश्यस्वरूप न होनेपर भी व्यवहारमें दृश्यसत्ताकी स्फूर्तिका निर्वाहक द्रष्टा हो सकता है, यह दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं—'वसन्तरसपूरस्य' इत्यादिसे।

जैसे वसन्त ऋतुके रसका प्रवाह ही वृक्ष, गुल्म आदिरूप है वैसे ही एकमात्र अपने स्वरूपसे ही परिपूर्ण बना देनेवाली आत्मसंवित् ही सृष्टि है ॥ ११ ॥

यदिदं जगदाभासं शुद्धं चिन्मात्रवेदनम् ।
काऽत्रैकता द्विता का वा निर्वाणमलमास्यताम् ॥ १२ ॥
भूयतां चिन्मयव्योम्ना पीयतां परमो रसः ।
स्थीयतां विगताशङ्कं निर्वाणानन्दनन्दने ॥ १३ ॥
किमेतास्वतिशून्यासु संसारारण्यभूमिषु ।
मानवा वातहरिणा भ्रमथो भ्रान्तबुद्धयः ॥ १४ ॥
जगत्त्रयमरीच्यम्बुविप्रलब्धान्धबुद्धयः ।
मा धावत गतव्यग्रमाशयोपहताशयाः ॥ १५ ॥
रूपालोकमनस्कारमृगतृष्णाम्बुपायिनः ।
व्यर्थमायाससमायूंषि मा मा क्षपयतैणकाः ॥ १६ ॥
जगद्गन्धर्वनगरगुरुगर्वेण नश्यथ ।
सुखरूपाणि दुःखानि नाशनायैव पश्यथ ॥ १७ ॥

परन्तु परमार्थमें तो द्रष्टाके साथ ऐक्यकी सम्भावना भी नहीं है, यह कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

जो यह जगत्का आभास है वह सब विशुद्ध चिन्मात्र वेदनरूप ही है। इसमें क्या एकत्व या क्या द्वित्व हो सकता है। इसलिए हे श्रीरामजी, आप पूर्णरूपसे निर्वाणस्वरूपसे स्थित रहिये ॥ १२ ॥

अब भगवान् वसिष्ठजी सबके प्रति दयासे हितकारक बातें उद्घोषित करते हुए उपदेश देते हैं—'भूयताम्' इत्यादिसे ।

हे सज्जनो, आप सबके सब चिन्मय आकाश हो जाइये, परम रसका—निरतिशयानन्दका पान कीजिये तथा निर्वाणरूप नन्दन वनमें सभी आशङ्काओंसे शून्य हो स्थित रहिये ॥ १३ ॥

हे मनुष्यो, आप सबके सब बिलकुल शून्य इस संसाररूपी महाजंगलकी मरुभूमियोंमें भ्रान्तचित्त मृगोंकी नाईं क्यों भटकते-फिरते हैं ॥ १४ ॥

हे त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णाजलसे ठगे गये अतएव नष्टबुद्धि जीवो, आप लोग तृष्णासे चञ्चलहृदय होकर व्यग्रतापूर्वक इधर-उधर मत दौड़ते फिरें ॥१५॥

हे बाह्य तथा आभिमानिक भोगरूपी मृगतृष्णाजलका पान करनेवाले मृगो, तुम लोग व्यर्थका परिश्रम उठाकर अपनी आयु मत गवाओ, मत गवाओ ॥१६॥

हे सभ्यपुरुषो, जगद्रूपी गन्धर्वनगरमें विवेकको नष्ट कर देनेवाले गर्वसे

जगत्केशोण्ड्रकभ्रान्त्यै मा महाम्बरमध्यगम् ।
अवलोकयताभ्रान्ते स्वरूपे परिणम्यताम् ॥ १८ ॥
मानवा वातलोलोच्चपत्रप्राप्ताम्बुभङ्गुर- ।
मानवासु न चाऽऽस्वन्धगर्भशय्यासु सुप्यताम् ॥ १९ ॥
अविराममनाद्यन्ते स्वभावे शान्तमास्यताम् ।
दृष्टृदृश्यदशादोषादस्वभावाद्विनश्यताम् ॥ २० ॥
अज्ञावबुद्धः संसारः स हि नास्ति मनागपि ।
अवशिष्टं च यत्सत्यं तस्य नाम न विद्यते ॥ २१ ॥
त्रोटयित्वा तु तृष्णायःशृङ्खलावलितं बलात् ।
संसारपञ्जरं तिष्ठ सर्वस्योर्ध्वं मृगेन्द्रवत् ॥ २२ ॥
आत्मात्मीयग्रहभ्रान्तिशान्तिमात्रा विमुक्तता ।
यथातथा स्थितस्यापि सा स्वसत्तैव योगिनः ॥ २३ ॥

आप लोग नष्ट न हो जायँ। अपनेको नष्ट कर देनेके लिए ही स्थित इन सुख-स्वरूप सांसारिक पदार्थोंको आप लोग दुःखरूप ही देखें ॥ १७ ॥

जगद्-रूपी केशोण्ड्रककी भ्रान्तिके लिए ब्रह्माकाशके मध्यमें अज्ञानरूपी नीलिमाका आप लोग अवलोकन न करें, किन्तु अभ्रान्त अपने स्वरूपमें परिणत हो जायँ—विश्राम करें ॥ १८ ॥

हे मनुष्यो, ऊँची शाखाओंमें स्थित पीपलके पत्तोंपर गिरे तथा वायुद्वारा कम्पित हुई ओसकी बूँदोंके सदृश क्षणभंगुर मनुष्यशरीरोंवाली इन संसाररूपी अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओंपर आप शयन मत करें ॥ १९ ॥

आदि और अन्तसे शून्य पारमार्थिक ब्रह्मभावमें आप लोग शान्त हो निरन्तर स्थित रहें। द्रष्टा और दृश्य इत्यादि विरुद्धस्वभावरूपी दोषसे नष्ट न हो जायँ ॥ २० ॥

अज्ञानीजन ही इस संसारको सत्य समझते हैं। वस्तुतः वह कुछ भी नहीं है। अवशिष्ट जो सत्यवस्तु है उसका तो नाम भी नहीं है ॥ २१ ॥

तृष्णारूपी लोहेकी शृङ्खलासे वेष्टित संसाररूपी पिंजरेको आत्मज्ञानबलसे जबर्दस्ती तोड़कर सिंहके समान सबके ऊपर स्थित रहिये ॥ २२ ॥

'मैं' और 'मेरा' इस अभिमानरूपी भ्रान्तिकी एकमात्र शान्ति ही मुक्ति है।

निर्वाणताऽवासनता पराऽपतापताज्ञता ।
संसाराध्वनि खिन्नस्य शान्ता विश्रामभूमयः ॥ २४ ॥

तज्ज्ञज्ञातो न मूर्खाणां मूर्खज्ञातो न तद्विदाम् ।
विद्यते जगदर्थोऽसाववाच्यार्थमयो मिथः ॥ २५ ॥

विश्वता भ्रान्तिसंशान्तौ संस्थितैव न लभ्यते ।
महार्णवाम्बुवलिता पुत्रिकेव पयोमयी ॥ २६ ॥

भ्रान्तिशान्तौ प्रबुद्धस्य विनिर्वाणस्य विश्वता ।
यथास्थितैव गलिता विद्यते च यथास्थितम् ॥ २७ ॥

इसके सिवा और कोई दूसरी वस्तु मुक्ति नहीं है । तथा जिस किसीरूपसे स्थित योगीकी वह अपनी सत्ता ही है ॥ २३ ॥

अपार संसारमार्गमें निरन्तर चलते रहनेके कारण खिन्न हुए पथिकोंके लिए वही विश्रान्तिका एक अलग स्थान है, वह विश्रान्तिका स्थान है, यों उसीकी कल्पनाकर कहते हैं—'निर्वाणता' इत्यादिसे ।

इस संसाररूपी मार्गमें लगातार चलते रहनेसे खिन्न हुए पथिकके लिए निर्वाणता, वासनाशून्यता और उत्कृष्ट त्रिविधतापशून्यता—ये तीनों ही शान्त विश्रामकी भूमिका हैं ॥ २४ ॥

परस्पर कथनके अयोग्य अर्थोंसे भरे ये जगत्के पदार्थ हैं । इन्हें तत्त्वज्ञ जैसा समझते हैं वैसा मूर्ख नहीं समझते और मूर्ख जैसा समझते हैं वैसा तत्त्वज्ञ नहीं समझते ॥ २५ ॥

जैसे महासमुद्रसे वेष्टित हो समुद्ररूपसे स्थित हुई गङ्गा, गोदावरी और नर्मदा आदि नदीरूप आकृति समुद्रवासियोंको उपलब्ध नहीं होती, वैसे ही भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जानेपर यह संसारकी आकृति भी ज्ञानियोंको उपलब्ध नहीं होती ॥ २६ ॥

फिर इसीको स्पष्टरूपसे कहते हैं—'भ्रान्तिशान्तौ' इत्यादिसे ।

भ्रमके शान्त हो जानेपर सांसारिक स्वरूपसे स्थित ही जीवन्मुक्त ज्ञानीके लिए यह संसाररूप भी उपलब्ध नहीं होता । उसके लिए तो अपने स्वरूपमें स्थित एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान रहता है ॥ २७ ॥

निर्दग्धतृणभस्माली क्वापि याति यथाऽनिलैः ।
सतां स्वभावविश्रामैः क्वापि याति तथा जगत् ॥ २८ ॥
जगद्ब्रह्मपदार्थस्य सन्निवेशः स तूत्तमः ।
ब्रह्मशब्दार्थरूपात्मा न जगच्छब्दकार्यभाक् ॥ २९ ॥
अविज्ञातस्य बालस्य पदार्था यादृशा इमे ।
विदुषस्तादृशा एव तिष्ठतः क्षीणवासनम् ॥ ३० ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ३१ ॥

जैसे खूब जला दिये गये तृणोंके भस्मका ढेर वायुसे उड़कर न जाने किस जगहपर चला जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूपमें विश्राम करनेवालोंकी संगतिसे ज्ञान प्राप्तकर सज्जन पुरुषोंका यह जगत् न जाने कहाँ चला जाता है ॥ २८ ॥

ब्रह्मपदका जो बृंहणरूप (वर्द्धनशील) अर्थ है उसीका आकारविशेष जगत् है। वह आकारविशेष यदि ब्रह्मशब्दका मुख्यार्थरूप आत्मा ही यानी निर्विकल्प-स्वप्रकाश-निरतिशयानन्द प्रत्यगात्मा ही है, तब तो वह 'जगत्' शब्दका अर्थ बहुत उत्तम है। किन्तु 'गच्छति—षड्विधविकारैः परिवर्तते—इति जगत्' यानी छः तरहके विकारोंसे जो सदा परिवर्तित होता है उसे जगत् कहते हैं। इस तरहकी व्युत्पत्तिसे 'जगत्' शब्दका अर्थ यदि विकारात्मक कार्योंका भागी किया जाता है, तो फिर वह अर्थ उत्तम नहीं है ॥ २९ ॥

इस संसारमें निर्विकल्पका अनुभव बच्चेको भी होता है, उसका साम्य दिखलाते हैं—'अविज्ञातस्य' इत्यादिसे ।

जिस बच्चेको अभी विशेष ज्ञान नहीं हुआ है उसको ये संसारके पदार्थ जिस तरहके भासते हैं, ठीक उसी तरहके वासनाशून्य स्थित विद्वान्‌को ये सभी संसारके पदार्थ भासते हैं ॥ ३० ॥

इन सांसारिक पदार्थोंका अनुभव तत्त्वज्ञानियोंको जैसा होता है वैसा मूर्खोंको नहीं और मूर्खोंको जैसा होता है वैसा तत्त्वज्ञानियोंको नहीं' यह जो ऊपर कहा गया है, उसका गीतामें प्रतिपादित भगवान् श्रीकृष्णके वचनसे मेल दिखलाते हैं—'या निशा' इत्यादिसे ।

भद्र, आत्माका यथार्थज्ञान अज्ञानियोंके लिए एक तरहकी रात ही है,

स्थितमेवाऽविरामी यज्जाग्रदस्य सुषुप्तवत् ।
चित्रावलोकित इव जाग्रत्योऽस्य रसैषणाः ॥ ३२ ॥
जात्यन्धरूपानुभवसमं भुवनवेदनम् ।
भ्रान्तप्रायमसद्रूपं ज्ञस्य भाति न भाति च ॥ ३३ ॥
विमूढदुःखं त्रिजगद्विमूढविषयं न सत् ।
स्वप्ने स्वप्नतया ज्ञाते रूपालोकमनःक्रियाः ॥ ३४ ॥

क्योंकि जैसे अन्धेरी रात प्रकाशरूप नहीं रहती, वैसे ही अज्ञानियोंके प्रति आत्माका ज्ञान भी प्रकाशरूप नहीं रहता। इस तरहकी जो आत्मविद्यारूपी रात है उसमें जितेन्द्रिय तत्त्वज्ञ पुरुष जागता रहता है यानी आत्मविद्याके लिए तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर ऐसे सावधान रहता है कि उसमेंसे क्षणभरके लिए भी च्युत नहीं होता। और जिस द्वैतबुद्धिरूप अज्ञानदशामें प्राणी व्यवहार करते हैं वह तत्त्वज्ञ मुनिके लिए रात है, क्योंकि ज्ञानीके प्रति उसका प्रकाश ही नहीं रहता ॥३१॥

इसीकी व्याख्या करते हैं—'स्थितमेवा०' इत्यादिसे।

चूँकि अज्ञानरूप अन्धकारसे सभी प्राणी आवृत हैं, इसलिए सुषुप्तकी तरह स्थित आत्मतत्त्व ही इस तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए अविरत जागरणरूप है, इसी दृष्टिसे 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' यह कहा गया है। और चूँकि मूढ़ जनोंमें जाग्रद्रूपसे प्रसिद्ध शब्दादिविषयास्वाद चित्रमें देखे गये युद्धादिकी तरह सामने स्थित रहते हुए भी इस तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें नहीं रहते, इसलिए 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः' यह कहा गया है ॥ ३२ ॥

उत्तरार्धकी पुनः व्याख्या करते हैं—'जात्यन्ध०' इत्यादिसे।

जन्मान्ध पुरुषको हुए रूपोंके अनुभवके सदृश ज्ञानी पुरुषको जगत्‌का अनुभव यदि होता है, तो वह रात्रिस्वप्नवत् होता है और यदि नहीं होता, तो निशासुषुप्तके समान होता है ॥ ३३ ॥

मूढ़ पुरुषोंको दुःखरूपसे प्रसिद्ध ये तीनों जगत् उन्हींके लिए हैं, तत्त्वज्ञानीके लिए नहीं, क्योंकि ये सत् नहीं हैं। [यदि ज्ञानीके लिए विषयोपभोग नहीं है, तो फिर वह ज्ञानी किससे तृप्त होकर जीवित रहता है, इसपर कहते हैं—'स्वप्ने'से] स्वप्नरूपसे स्वप्नका ज्ञान हो जानेपर स्वप्नके बाह्य और आभ्यन्तर विषय जागे हुए पुरुषको जैसे नहीं रुचते, वैसे ही यद्यपि जाग्रत्-स्वप्नके भोग नहीं रुचते,

न स्वदन्ते यथा तद्वज्जाग्रत्स्वप्ने स्फुरन्तु मा ।
निर्विभागः समाश्वस्तोऽविरोधं परमागतः ॥ ३५ ॥
आशीतलान्तःकरणो निर्वाणो ज्ञोऽवतिष्ठते ।
तज्ज्ञस्याकृष्टमुक्तस्य समं ध्यानं विना स्थितिः ।
निम्नं विनैव तोयस्य न सम्भवति काचन ॥ ३६ ॥
अर्थ एव मनस्कारो मन एवार्थरञ्जनम् ॥ ३७ ॥
एष एवैष आभासः सबाह्याभ्यन्तरात्मकः ।
आसमुद्रं नदीवाहशतसंघमयात्मकम् ॥ ३८ ॥
यथैकश्लेषपिण्डात्म वहत्यम्बु तरङ्गिणाम् ।
सबाह्याभ्यन्तराकारमर्थानर्थमयात्मकम् ॥ ३९ ॥
मन एव स्फुरत्यर्थनिर्भासं व्याततं तथा ।
नास्त्यर्थमनसोर्द्वित्वं यथा जलतरङ्गयोः ॥ ४० ॥

फिर भी वह सारे भेदोंसे रहित, सबके विश्वासके—श्रद्धाके भाजन परम ऐक्यको प्राप्त, निर्वाणस्वरूप होकर सर्वदा मनमें पूर्ण शान्तिका अवलम्बन कर ही अवस्थित रहता है। भोगोंकी वासनाओंद्वारा चित्तका बाहर आकर्षण न होनेके कारण ज्ञानीकी स्थिति ध्यानके (चित्तनिरोधके लिए किये जानेवाले प्रयत्नके) बिना भी समान ही रहती है [इसका दृष्टान्तद्वारा उपपादन करते हैं—'निम्नम्' से] ठीक ही है—नाली आदि निम्नमार्गके बिना तालाब आदिके जलकी प्रवाह आदि क्रिया कुछ हो नहीं सकती ॥ ३४–३६ ॥

बाह्य अर्थोंका बाध होनेपर बाह्य इन्द्रियोंका निरोध हो सकता है, परन्तु मनका निरोध कैसे हो सकता है, यह कहते हैं—'अर्थः' इत्यादिसे ।

अर्थ (विषय) ही मन है और मन ही अर्थ है। जो बाह्य और आभ्यन्तररूप विषयाभास है, वह मन ही है ॥ ३७ ॥

जैसे नदियोंके जल जबतक समुद्रमें नहीं पहुँचते तबतक नदी, प्रवाह आदि नानाविध आकारोंमें भासित होते हैं, किन्तु जब वे समुद्रमें जाकर मिल जाते हैं तब तो एकमात्र जलरूप ही भासते हैं, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण अर्थ तथा अनर्थोंका समुदाय जो स्फुरित होता है वह सब सर्वत्र व्याप्त मन ही स्फुरित होता है, उसीसे अर्थोंका निर्भास होता है। मन तथा संसारके पदार्थोंमें भेद ऐसे

एकाभावे द्वयोः शान्तिः पवनस्पन्दयोरिव ।
नूनमेकोपशान्त्यैव निःसारे परमार्थतः ।
एकत्वादर्थमनसी सममेवाऽऽशु शाम्यतः ॥ ४१ ॥
अर्थः सङ्कल्परूपात्मा नेहितव्यो विजानता ।
मनश्च सम्यग्ज्ञानेन शान्तिरेवं भवेत्तयोः ॥ ४२ ॥
अनष्टे नश्यतश्चैते ज्ञस्यार्थमनसी स्वतः ।
मृन्मये द्विषति ज्ञानात् द्विषद्भावमये यथा ॥ ४३ ॥
यथासंस्थं स्थिते एव ज्ञस्यार्थमनसी सदा ।
किमप्यपूर्वमेवान्यत्तत्सम्पन्ने भावरूपिणि ॥ ४४ ॥

नहीं है, जैसे जल और तरङ्गमें भेद नहीं है । [ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'एकाभावे' से ।] इसलिए मन तथा सांसारिक पदार्थ—इन दोनोंमेंसे किसी एकका बाध हो जानेपर दोनोंका ही बाध हो जाता है, जैसे कि पवन तथा उसके स्पन्दनका । इसलिए इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि परमार्थदृष्टिसे निःसार इस जगत्‌में एकरूप होनेके कारण अर्थ और मन दोनों ही किसी एककी शान्तिसे शान्त हो जाते हैं । इससे तत्त्वज्ञानसे जब अर्थका बाध हो जाता है तब मन भी बाधित हो ही जाता है ॥ ३८–४१ ॥

संसारके सब अर्थ सङ्कल्परूप ही हैं, बुद्धिमान् व्यक्तिको उसकी कभी भी इच्छा नहीं करनी चाहिए, मनकी भी यही स्थिति है, इसलिए तत्त्वज्ञानसे अर्थोंकी एवं मनकी निवृत्ति अवश्य हो जायगी ॥ ४२ ॥

संसारके पदार्थों और मनका जो यह बाध है वह स्वप्नमें हुए व्याघ्रनाशके समान अनष्टका ही नाश है, यह कहते हैं—'अनष्टे' इत्यादिसे ।

भद्र, ज्ञानी पुरुषके अर्थ और मन अनष्ट ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब अर्थ और मनकी कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई, तब उनका नाश ही क्या ? इसलिए वे अनष्ट ही हैं । जैसे कि किसी एक मिट्टीकी मूर्तिमें भ्रान्तिसे कोई एक पुरुष अपने शत्रुकी कल्पना कर लेता है, किन्तु ज्ञानसे जब उसको मिट्टीकी मूर्ति मालूम पड़ जाती है, तब वह मूर्ति न शत्रुरूप ही रहती है और न शत्रु-जनित भयकी कारण ही होती है, बस वही स्थिति यहाँपर भी है ॥ ४३ ॥

ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें अर्थ और मन दोनों पारमार्थिक ब्रह्म-स्वभावसे ही

संहितार्थजगत्कालोऽप्यज्ञो ज्ञविषयोऽप्यसत् ।
पार्श्वसुप्तनरस्वप्न इव क्लीबाग्रयक्षवत् ॥ ४५ ॥
ज्ञस्य साज्ञं जगन्नास्ति वीरस्येव पिशाचधीः ।
ज्ञमज्ञो भावयत्यज्ञं चिरं वन्ध्याऽपि वर्द्धते ॥ ४६ ॥
विनैव ज्ञातशब्दार्थमर्थभावमिवागतम् ।
स्थितं बोधमनाद्यन्तं स्वभावं सर्गगं विदुः ॥ ४७ ॥
मनःशब्दार्थरहितं विभागान्तविवर्जितम् ।
बोधवारिमनोबुद्धितरङ्गमिव निर्मलम् ॥ ४८ ॥

स्थित हैं। वे जिस सांसारिक मिथ्यारूपसे स्थित थे उस रूपसे विलक्षण पूर्णानन्दात्मक पारमार्थिक सत्स्वरूपसे ही स्थित हैं ॥ ४४ ॥

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे सुखादि भोग एवं जगत्‌को कार्य-कारणरूपसे जुटा देनेमें समर्थ काल, कालकृत जन्मादिविकार, भोगकर्ता एवं अज्ञोंके शब्दादि विषय—ये सब ऐसे असत् हैं, जैसे समीपमें सोये हुए पुरुषका स्वप्न और अधीर बालकके सामने भास रहा यक्ष ॥ ४५ ॥

जैसे धीर-वीर पुरुषकी दृष्टिमें पिशाचबुद्धि अस्तित्व नहीं रखती, वैसे ही ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें अज्ञानियोंके समस्त जगत् भी अस्तित्व नहीं रखते। अज्ञानी पुरुष ज्ञानीको भी बहुतकालतक अज्ञानी समझता है। ठीक ही है, अज्ञानीकी दृष्टिसे तो वन्ध्या भी पुत्र-पौत्र आदि परम्परासे बढ़ती-रहती है ॥ ४६ ॥

तब तत्त्वज्ञानी पुरुष जगत्‌का स्वभाव कैसा मानते हैं, इसपर कहते हैं—'विनैव' इत्यादिसे।

तत्त्वज्ञानी लोग तो ज्ञेयरूप न होते हुए भी स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे ही अर्थाभासकी तरह स्थित यानी भासमान (ज्ञेयरूप) तथा आदि और अन्तसे शून्य ब्रह्मरूप बोधको संसारका असली स्वभाव कहते हैं ॥ ४७ ॥

बाह्य अर्थोंमें कहे गये जाननेके प्रकारको आभ्यन्तर मानसिक अर्थोंमें भी समझना चाहिए, यह कहते हैं—'मनःशब्दार्थरहितम्' इत्यादिसे।

और मनके शब्दार्थसे रहित (मानसिक ज्ञानके अविषय) कालादि विभागकृत परिच्छिन्नतासे वर्जित बोधरूपी जल मन एवं बुद्धिरूपी तरङ्गोंसे युक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु वह निर्मल ही है और इसीको प्रपञ्चगत स्वभाव समझते हैं ॥ ४८ ॥

क्व सम्भवत एवान्तः के वार्थमनसी किल ।
निरर्थिकैव विभ्रान्तिः स्वभावमयमास्यताम् ॥ ४९ ॥
शुद्धबोधस्वभावस्थैराकाशमिव शारदैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तान्तैर्मनस्त्वं नानुभूयते ॥ ५० ॥
विधूयानन्तनानात्वमसद्भावमनामये ।
ज्ञेयं रज्जुरिवाशेषं स्वभावे तिष्ठ चिद्घने ॥ ५१ ॥
ज्ञप्तिरेवान्तरं बाह्यं चार्थत्वमधितिष्ठति ।
बीजं शाखाफलानीव क्वातोऽर्थमनसी वद ॥ ५२ ॥

इस तरह विस्तारके साथ अज्ञानी और तत्त्वज्ञानियोंके जगत्-ज्ञानके जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, उनमें यथार्थरूप होनेके कारण द्वितीय प्रकार ही उपादेय है, यह कहते हैं—'क्व सम्भवत०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, शुद्ध आत्माके भीतर संसारके पदार्थों तथा मनका संभव कहाँ है अथवा वे ही क्या हैं ? इस मन तथा जगत्के विषयमें उत्पन्न हुई भ्रान्ति बिलकुल निरर्थक है । इसलिए आपसे यही कहना है कि आप ब्रह्मस्वभावमें स्थित रहिये ॥ ४९ ॥

अपनी असली स्थिति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ एकमात्र तुरीय बोधरूप बन जाती हैं तदनन्तर मनको मनन करनेका कोई विषय ही नहीं रह जाता, इससे मन भी शान्त हो जाता है, यह कहते हैं—'शुद्धबोध०' इत्यादिसे ।

शरत्कालके कमलों, तारों या मनुष्योंको आकाशकी नाईं शुद्धज्ञानस्वरूप ब्रह्मस्वभावमें स्थित पुरुषोंको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे मनका अनुभव नहीं होता ॥ ५० ॥

जिसमें अनन्त नानात्व (भेद) उपस्थित है, ऐसे सम्पूर्ण ज्ञेयका विधूनन करके हे श्रीरामचन्द्रजी, रज्जुमें अध्यस्त सर्पका विधूनन कर अपने स्वरूपमें स्थित रज्जुकी नाईं आप भी अपने चिद्घन स्वभावमें स्थित हो जाइये ॥ ५१ ॥

बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंके स्वरूपको ज्ञप्ति ही धारण करती है, जैसे कि बीज शाखा तथा फल आदिके स्वरूपको धारण करता है । अतः हे श्रीरामचन्द्रजी, बतलाइये तो सही, ऐसी स्थितिमें अर्थ और मन कहाँ रहे ॥ ५२ ॥

ज्ञेयासम्भतो ज्ञप्तिरप्यनाख्यं पदं गता ।
शान्ताशेषविशेषात्मा तेन शेषोऽस्ति सत्स्वभाः ॥ ५३ ॥
अर्थ एव मनस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ।
मन एवार्थसंस्कारः स चाभावात्मको भ्रमः ॥ ५४ ॥
सर्वात्मत्वादजस्यैतदप्यकारणकं मनः ।
भ्रमानुभवतोऽर्थश्च मिथ्यैवास्तीव भासते ॥ ५५ ॥
अकारणकमेवार्थनिर्भासं भासते मनः ।
विद्युद्विलसिताकारमस्थिरं तरलायते ॥ ५६ ॥
त्वं मनस्कारमात्रात्मा संसृतौ विभ्रमायसे ।
स्वभावैकपरिज्ञानान्नासि नापि भ्रमायसे ॥ ५७ ॥

ज्ञेय पदार्थोंके अभावसे ज्ञप्ति (बुद्धि या वृत्ति) भी अनिर्वचनीय पदको प्राप्त हो चुकी है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सम्पूर्ण विशेषोंसे शून्य स्वयंप्रकाश सद्रूप आत्मा ही शेष है ॥ ५३ ॥

पदार्थ और मन दोनोंका निरूपण एक-दूसरेके अधीन होनेसे इनमें कोई भेद न रहनेपर आखिरमें एकमात्र भ्रान्ति ही इनमें सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'अर्थ एव' इत्यादिसे ।

अर्थ ही मन है और वह अभावरूप भ्रम है तथा मन ही जगत्के पदार्थरूपसे परिणत होता है और वह भी अभावरूप भ्रम ही है ॥ ५४ ॥

तब ऐसी दशामें जगत्के पदार्थ और मन—वे दोनों तत्त्वतः क्या हैं ? इसपर कहते हैं—'सर्वात्मत्वात्' इत्यादिसे ।

ब्रह्मके सम्पूर्ण वस्तुओंकी आत्मा होनेसे कारणशून्य इस मनरूपसे वही भासता है। और भ्रमके अनुभवसे पदार्थ भी मिथ्या ही भासता है ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे कारणरहित अर्थोंका प्रकाश होता है वैसे ही कारणरहित ही मन भी भासता है । बिजलीकी चमकके तुल्य अस्थिर यह मन इधर-उधर अपनी चंचलता प्रकट करता है ॥ ५६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र मनका स्वरूप होकर आप भी इस संसारमें भ्रान्त-से हो रहे हैं। एक आत्मस्वभावका यदि आप परिज्ञान कर लेते हैं, तब तो आप न मनरूप हैं और न भ्रान्त-से ही हो रहे हैं ॥ ५७ ॥

मनसैव हि संसार आत्मबोधेन शाम्यति ।
शुक्तिरूप्यभ्रमाकारो जनो मिथ्यैव ताम्यति ॥ ५८ ॥
अभावभावस्तु परं बोधरूपमसंसृतिः ।
निर्वाणादितरा सत्ता दुःखायाहमिति भ्रमः ॥ ५९ ॥
मृगतृष्णाम्बुरूपोऽहमसच्छून्यस्वरूपकः ।
इत्येवात्मपरिज्ञानादहमित्येव शाम्यति ॥ ६० ॥
ज्ञात्वा ज्ञानमयो भूत्वा सबाह्याभ्यन्तरार्थताम् ।
गतं स्वमत्यजद्रूपं तरङ्गत्वं यथा पयः ॥ ६१ ॥
मूलशाखाग्रपर्यन्ता सत्ता विटपिनो यथा ।
निर्विकारमलं ज्ञप्तेर्ज्ञेयान्तैकैव भासते ॥ ६२ ॥

यह निश्चित है कि मनसे ही यह संसार उत्पन्न होता है और आत्मज्ञानसे शान्त हो जाता है। सीपमें चाँदीके भ्रमके आकारका मनुष्य झूठ-मूठमें दुःख उठाता है ॥ ५८ ॥

परन्तु ज्ञान ही परमात्माका असली स्वरूप है और संसारका अभाव भी ज्ञानरूप ही है। निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता तो एकमात्र दुःखके लिए ही है ॥ ५९ ॥

तब निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' यह भ्रमरूप सत्ता किस उपायसे शान्त होती है, वह उपाय बतलाते हैं—'मृगतृष्णा०' इत्यादिसे।

मृगतृष्णाजलके सदृश इस अहङ्कारका रूप असत् और शून्य ही है, इस तरहके आत्माके परिज्ञानसे यह अहङ्कार बिलकुल शान्त हो जाता है ॥ ६० ॥

ऐसा कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—'ज्ञात्वा' इत्यादिसे।

सृष्टिके प्रारम्भमें ज्ञानमय ब्रह्मा सर्वज्ञ होनेके कारण सृष्टि करने योग्य सभी पदार्थोंको आत्मस्वरूप ही जानकर स्वयं उस तरहके ज्ञानसे युक्त हिरण्यगर्भ होकर उसके सङ्कल्पके अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थरूपताको अपने शुद्ध आत्मस्वरूपका परित्याग न करते हुए ही ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तरङ्ग-रूपताको जल ॥ ६१ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, किन्तु इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'मूलशाखा०' इत्यादिसे।

यथा योजनलक्षाभमेकमेवामलं नभः ।
एकमेव तथा ज्ञानं ज्ञेयान्तं भात्यखण्डितम् ॥ ६३ ॥
शून्यत्वादेकममलं यथा सर्वगमेव खम् ।
तथैकममलं ज्ञात्वा ज्ञानज्ञेयदशास्वपि ॥ ६४ ॥
घृतेनात्मा घनीभूय पाषाणीक्रियते यथा ।
चिता चेत्यतयाऽऽत्मैव स्वचित्तीक्रियते तथा ॥ ६५ ॥
देशकालं विनैवाऽऽत्मा बोधाबोधेन चित्तताम् ।
अबुद्धो नीयते न्यायैरेकमेवैष सुस्थितः ॥ ६६ ॥
अत्र यद्यप्यबोधादेः सम्भवो नास्ति कश्चन ।
तथापि कल्प्यतेऽत्रैव बोधनाय परस्परम् ॥ ६७ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि मूलसे लेकर शाखाके अग्रभाग तक वृक्षकी जैसे एक ही सत्ता है वैसे ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप जगत्में भी अत्यन्त निर्विकारभावको प्राप्त ज्ञेयपर्यन्त एक ही ज्ञप्तिकी (ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी) सत्ता सर्वत्र भास रही है, दूसरी सत्ता नहीं है ॥ ६२ ॥

सत्ताकी एकतामें दूसरा दृष्टान्त देकर उसका उपपादन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे लाखों योजनपर्यन्त दूर एक ही निर्मल आकाश भासता है, वैसे ही ज्ञेयपर्यन्त एक ही अखण्डित निर्मल ज्ञान भासता है ॥ ६३ ॥

ज्ञानकी निर्मलतामें भी यही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'शून्यत्वा०' इत्यादिसे।

जैसे सर्वत्र विद्यमान एक आकाश शून्यरूप होनेसे निर्मल है, वैसे ज्ञान-ज्ञेयदशामें भी विद्यमान ब्रह्म निर्मल है, यह जानकर स्थित रहिये ॥ ६४ ॥

जैसे शरीरको आत्मा घीके साथ मिलकर पाषाण-सा बना देता है, वैसे ही चेत्यरूप बनकर चिति ही आत्माको स्वचित्तरूप बना देती है ॥ ६५ ॥

बोधरूप आत्माके अज्ञानसे ही देश, काल आदि सामग्रीके बिना यह अज्ञानी आत्मा चित्तरूप बन गया है। वस्तुतः उक्त तर्कोंसे यह आत्मा एक ही स्थित है ॥ ६६ ॥

शुद्ध चिदात्मामें यद्यपि अज्ञान आदिका कोई संभव नहीं है, तथापि अज्ञानकालमें एक दूसरोंको बोध देनेके लिए यह सब कल्पना की जाती है ॥ ६७ ॥

महानुभावा विगताभिमाना
विमूढभावोपशमे गलन्ति।
निर्भ्रान्तयोऽनन्ततयैव शान्ता
नित्यं समाधानमया भवन्ति ॥ ६८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मैकतानतोपदेशो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

श्रीराम उवाच

क्रमात्समाधानतरोराजीवफलशालिनीम् ।
सलताकुसुमां ब्रूहि सत्तां विश्रान्तिदां मुने ॥ १ ॥

चूँकि अविद्या आदिका स्वरूप सर्वथा असंभव है, इसलिए तत्त्वज्ञानका उदय हो जानेपर अविद्याके साथ सब पदार्थ गल जाते हैं। इस तरह उपसंहार करते हैं—'महानुभावा' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वज्ञानसे मूलाज्ञानके शान्त हो जानेपर महानुभाव लोग अभिमानरहित हो घीकी तरह अपने स्वरूपमें ही गलित हो जाते हैं तथा गल जानेसे वे निरतिशयानन्दपूर्णभावसे शान्त होते हुए विक्षेपरहित हो निरन्तर समाधिरूपी विश्रान्तिमें तत्पर होते हैं ॥ ६८ ॥

तेंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

चौवालीसवाँ सर्ग

[समाधिरूपी कल्पद्रुमको हरतरहसे बढ़ाना चाहिये, ताकि उसके नीचे जीवका श्रान्त मनरूपी मृग अच्छी तरह विश्रान्ति पा सके, यह वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, समाधिरूपी वृक्षकी सत्ताका (स्थितिका) क्रमशः वर्णन कीजिये, जो विवेकी पुरुषोंके जीवनके उपयोगी सब तरहके फलोंसे

वसिष्ठ उवाच

आजीवमुद्यदुत्सेधं विवेकिजनकानने ।
पत्रपुष्पफलोपेतं समाधानतरुं शृणु ॥ २ ॥
यथाकथंचिदुदितं दुःखेन स्वयमेव च ।
संसारवननिर्वेदं बीजमस्य विदुर्बुधाः ॥ ३ ॥
शुभजालहलाकृष्टं रसासिक्तमहर्निशम् ।
प्रवहच्छ्वसनाकुल्यं क्षेत्रमस्य विदुर्बुधाः ॥ ४ ॥
समाधिबीजं संसारनिर्वेदः पतति स्वयम् ।
चित्तभूमौ विविक्तायां विवेकिजनकानने ॥ ५ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं ध्यानबीजं महाधिया ।
सेकैरमीभिर्यत्नेन संसेक्तव्यमखेदिना ॥ ६ ॥

सुशोभित है तथा जो लता, पुष्प आदिसे युक्त मनरूपी मृगको विश्रान्ति प्रदान करनेवाली है ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, सुनिये, मैं आपसे ऐसे समाधिरूपी वृक्षका वर्णन कर रहा हूँ, जो विवेकीजनरूपी जङ्गलमें पैदा हुआ है, जिसकी ऊँचाई अभी भी बढ़ती ही जा रही है, जो अपने पत्र, पुष्प एवं फलोंसे खूब लदा है और जो विवेकी पुरुषोंको सब तरहसे जीवन प्रदान करनेवाला है ॥२॥

शत्रुओं तथा सगे-सम्बन्धियों द्वारा हुए अपमान आदिसे जन्य दुःखसे या भाग्यवशात् अपने-आप अथवा साधुओं या मित्रों आदिके उपदेशसे या और किसी दूसरे निमित्तसे तात्पर्य यह कि जिस किसी तरहसे उत्पन्न हुआ जो संसाररूपी वनमें परम वैराग्य है, उसीको विद्वान् लोग समाधिरूपी वृक्षका बीज कहते हैं ॥३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तको ही विद्वान् लोग इस बीजका खेत बतलाते हैं, जो शुभकर्मसमूहरूपी हलोंसे खूब जोता गया है, शान्ति आदि जलसे रात-दिन खूब सींचा गया है तथा निरन्तर बह रहे प्राणायामरूपी नहरसे जो युक्त है ॥ ४ ॥

यह संसारका परम वैराग्यरूप समाधिका बीज विवेकीजनरूपी जंगलमें विवेकज्ञानसे परिष्कृत चित्तरूपी भूमिमें अपने ही जाकर गिरता है ॥ ५ ॥

अपनी चित्तरूप भूमिमें गिरे हुए पूर्वोक्त वैराग्यरूपी समाधिबीजको

शुद्धैः स्निग्धैः पवित्रैश्च मधुरैरात्मनो हितैः ।
सत्सङ्गमनवक्षीरैरैन्दवैरमृतैरिव ॥ ७ ॥
अन्तःशून्यप्रदैः पूर्णैः स्वच्छैरमृतशीतलैः ।
विसृतैरमृताकुल्याशास्त्रार्थवरवारिभिः ॥ ८ ॥
स्वचित्तभूमौ पतितं परिज्ञाय महाधिया ।
बीजं संसारनिर्वेदो रक्ष्यं ध्यानस्य यत्नतः ॥ ९ ॥
तपःप्रकारदानेन पदार्थघटनेशितैः ।
तीर्थायतनविश्रान्तिवृत्तिविस्तारकल्पनैः ॥ १० ॥

बढ़ानेकी इच्छासे दृढ़बुद्धि रखनेवाले खेदशून्य पुरुषको निम्नलिखित जलोंसे यत्नपूर्वक निरन्तर उसे सींचते रहना चाहिये ॥ ६ ॥

सर्वप्रथम बुद्धिमान् पुरुषको सज्जनोंकी सङ्गतिरूपी नवीन क्षीरसे, तदनन्तर शास्त्ररूपी अमृतसे उसे सींचना चाहिये, यह कहते हैं—'शुद्धैः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शुद्ध, स्नेहयुक्त, पवित्र, मधुर और आत्माके लिए हितकारक, चन्द्रमाके अमृतके सदृश सत्संगमरूपी नूतन क्षीरसे समाधिके बीजको सबसे पहले सिक्त करे । उसके बाद 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा सम्पूर्ण द्वैतके निषेधसे अन्तःकरणको सांसारिक पदार्थोंसे शून्य बना देनेवाले, पूर्ण, स्वच्छ, सब तरहके तापोंकी शान्ति हो जानेसे अमृतकी तरह स्वादु और शीतल तथा अमृतप्रवाहके नहरके तुल्य तत्त्वज्ञानके द्वारभूत श्रवण-मननादिरूप शास्त्रार्थोंके निर्मल जलोंसे समाधिके बीजको सिक्त करे ॥ ७, ८ ॥

संसारको त्याग देनेकी प्रबल इच्छारूप समाधिबीजको अपनी चित्तरूपी भूमिमें गिरे जानकर बुद्धिमान् पुरुषको उसकी अनेक यत्नोंसे रक्षा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

वे यत्न कौन हैं, इसपर कहते हैं—'तपःप्रकारदानेन' इत्यादिसे ।

कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप एवं दानसे और अभिमान आदिसे शून्य पदार्थोंके संघटनसे समर्थित—पुण्यमय तीर्थ स्थानोंमें निवासरूपी वृत्तिके विस्तारकी नानाविध—कल्पनाओंसे इस बीजकी रक्षा करनी चाहिए ॥ १० ॥

कर्तव्योऽङ्कुरितस्यास्य रक्षिता शिक्षिताशयः ।
सन्तोषनामा प्रियया नित्यं मुदितयाऽन्वितः ॥ ११ ॥
पश्चात्स्थिताशाविहगान्परप्रणयपक्षिणः ।
अस्मादापततः कामगर्वगृध्रान्निवारयेत् ॥ १२ ॥
मृदुभिः सत्क्रियाकुन्तैर्विवेकाक्रांतपैरपि ।
अचिन्त्यालोकदैरस्मान्मार्जितव्यं रजस्तमः ॥ १३ ॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गाभोगभङ्गुराः ।
पतन्त्यशनयस्तस्मिन् दुष्कृताभ्रसमीरिताः ॥ १४ ॥
धैर्यौदार्यदयामन्त्रैर्जपस्नानतपोदमैः ।
विनिवारयितव्यास्ताः प्रणवार्थत्रिशूलिना ॥ १५ ॥
इति संरक्षितादस्माद्ध्यानबीजात्प्रवर्तते ।
आभिजात्योन्नतः श्रीमान्विवेकाख्यो नवाङ्कुरः ॥ १६ ॥

इस तरह सींचने आदिके बाद बीजमें जब अङ्कुर पैदा हो जाय, तब इसकी रक्षाके लिए अत्यन्त निपुण सन्तोषनामक पुरुषको उसकी मुदितानामक प्रियपत्नीके साथ संरक्षक बना देना चाहिये ॥ ११ ॥

तदनन्तर पूर्ववासनाओंमें स्थित आशारूपी विहगों, आत्मासे भिन्न पुत्र, मित्र, आदिमें अनुरागरूपी पक्षियों तथा ध्यानाङ्कुरके नाशके लिए झपट रहे काम, गर्व घन आदिरूप गृध्रोंको इसी सन्तोषनामक रक्षक द्वारा दूर भगा देना चाहिए ॥१२॥

अहिंसाप्रधान होनेसे अत्यन्त कोमल, यम, नियम, प्राणायाम, ईश्वरोपासनादि सत्क्रियारूपी झाडुओंसे इस अंकुरके खेतसे रजको (रजोगुणको) दूर फेंक देना चाहिये तथा इसी तरह अचिन्त्य ब्रह्मलोकपद विवेकरूपी धूपसे अज्ञानके अन्धकारको भी दूर भगा देना चाहिये ॥ १३ ॥

भोगों द्वारा क्षणभंगुर तथा तरङ्गोंके समान चंचल, दुष्कृतरूपी मेघोंसे प्रेरित सम्पत्ति और प्रमदारूपी अनेक वज्र इस अंकुरके ऊपर गिरते हैं ॥ १४ ॥

इसलिए धैर्य, औदार्य तथा दया आदि यत्नोंसे एवं जप, स्नान, तप और दम आदिके द्वारा प्रणवके अर्थरूप त्रिशूलको धारण करके उन वज्रपातोंका निवारण करना चाहिए ॥ १५ ॥

इस तरहसे रक्षित इस ध्यानके बीजसे विवेकनामक नवीन अंकुर उत्पन्न

तेन सा चित्तभूर्भाति सप्रकाशा विकासिनी ।
भवत्यालोकरम्या च खं यथाऽभिनवेन्दुना ॥ १७ ॥

तस्मादङ्कुरतः पत्रे उभौ विकसतः स्वयम् ।
एकं शास्त्राभिगमनं द्वितीयं साधुसङ्गमः ॥ १८ ॥

स्तम्भमेष निबध्नाति स्थैर्यं नाम समुन्नतिम् ।
सन्तोषत्वग्विवलितं वैराग्यरसरञ्जितम् ॥ १९ ॥

वैराग्यरसपुष्टात्मा शास्त्रार्थप्रावृषान्वितः ।
स्वल्पेनैव स्वकालेन परामेति समुन्नतिम् ॥ २० ॥

शास्त्रार्थसाधुसम्पर्कवैराग्यरसपीवरः ।
रागद्वेषकपिक्षोभैर्न मनागपि कम्पते ॥ २१ ॥

अथ तस्मात्प्रजायन्ते विज्ञानालङ्कृताकृतेः ।
लता रसविलासिन्य इमा विततदेशगाः ॥ २२ ॥

होता है, जो अत्यन्त पुष्ट और सौन्दर्यकी अधिकतासे उन्नत एवं श्रीसम्पन्न रहता है ॥ १६ ॥

जैसे अभिनव चन्द्रमासे आकाश सुन्दर प्रतीत होता है वैसे ही उस विवेक-नामक नवीन अंकुरसे आत्मप्रकाशयुक्त विकासशालिनी चित्तभूमि आलोक रहनेसे सुन्दर प्रतीत होती है ॥ १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस अंकुरसे दो पत्ते अपने-आप निकलते हैं। जिनमें एकका नाम तो वेदान्तशास्त्रोंका विचार और दूसरेका साधुपुरुषोंका समागम है ॥१८॥

आगे चलकर यह अंकुर सन्तोषरूपी त्वचासे वेष्टित तथा वैराग्यरूपी रससे रञ्जित हो काण्ड, दृढ़मूलता और अपनी ऊँचाईको ग्रहण करता है ॥ १९ ॥

शास्त्रार्थरूपी वर्षाका जल पाकर वैराग्यरूपी रससे जब इसकी आत्मा खूब पुष्ट हो जाती है तब यह अंकुर अपने थोड़ेसे ही समयमें परम उन्नतिको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

वेदान्तशास्त्रोंके विचार, साधुओंकी सङ्गति तथा वैराग्यरूपी रससे जब यह खूब मोटा हो जाता है तब राग-द्वेषरूपी बन्दरोंके हिलाने-डुलानेसे तनिक भी कम्पित नहीं होता ॥ २१ ॥

तदनन्तर विज्ञानसे अलंकृत आकारवाले उस विवेकसे आत्मरससे

स्फुटता सत्यता सत्ता धीरता निर्विकल्पता ।
समता शान्तता मैत्री करुणा कीर्तिरार्यता ॥ २३ ॥
लताभिर्गुणपत्राभिः स ध्यानतरुरूर्जितः ।
यशःपुष्पाभिरेताभिः पारिजातायते यतेः ॥ २४ ॥
इत्यसौ ज्ञानविटपी लतापल्लवपुष्पवान् ।
भविष्यज्ज्ञानफलदो दिनानुदिनमुत्तमः ॥ २५ ॥
यशःकुसुमगुच्छाढ्यो गुणपल्लवलासवान् ।
वैराग्यरसविस्तारी प्रज्ञामञ्जरिताकृतिः ॥ २६ ॥
सर्वाः शीतलयत्याशाः प्रावृषीव पयोधरः ।
सर्वातपं शमयति सूर्यतापमिवोडुपः ॥ २७ ॥

विलास करनेवाली एवं बहुत दूर देशतक जानेवाली * ये लताएँ प्रादुर्भूत होती हैं—॥ २२ ॥

स्वात्मतत्त्वका स्पष्ट आविर्भाव, एकमात्र उसीकी सत्यता, आत्मस्वरूपमें स्थिति, धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता—ये सब लताएँ उसी एक विवेकरूपी अंकुरसे निकलती हैं ॥ २३ ॥

यशरूपी पुष्पों तथा शान्ति आदि गुणरूपी पत्तोंसे शोभित इन लताओंसे परिपुष्ट ध्यानरूपी वृक्ष संन्यासीके लिए पारिजात-सा बन जाता है—कल्पवृक्ष हो जाता है ॥ २४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, लता, पल्लव तथा पुष्पोंसे सुशोभित इस तरहका यह उत्तम ज्ञानरूपी वृक्ष (समाधिरूपी वृक्ष) दिन-पर-दिन भविष्यत् कालमें मूलाज्ञानके उच्छेदक ब्रह्मसाक्षात्काररूपी ज्ञानका प्रदाता होता है, जिससे कि सप्तम भूमिकामें विश्रान्ति प्राप्त हो जाय ॥ २५ ॥

यशरूपी पुष्पोंके गुच्छोंसे भरा, गुणरूपी पत्तोंके विलाससे भूषित, वैराग्यरूपी रससे विस्तारको प्राप्त तथा प्रज्ञारूपी मञ्जरियोंसे अलंकृत यह समाधिरूपी वृक्ष सारी दिशाओंको ऐसे शीतल कर देता है; जैसे कि वर्षा ऋतुमें मेघ एवं सांसारिक तापको ऐसे शान्त कर देता है, जैसे कि सूर्यके तापको चन्द्रमा ॥ २६,२७ ॥

---

* शाखा-प्रशाखाओंके रूपमें फैलकर बहुत दूर देशतक जानेवाली—यह साधारण अर्थ है । इसका विशेष अर्थ 'अपरिच्छिन्न आत्म-प्रदेशमें जानेवाली' है ।

प्रतनोति शमच्छायां छायामिव घनागमः ।
निरोधमास्फारयति शमोऽनिल इवाम्बुदम् ॥ २८ ॥
निबध्नात्यात्मना पीठं कुलाचल इव स्थितम् ।
फलस्य रचयत्यूर्ध्वं घटिकामङ्गलादिताम् ॥ २९ ॥
विवेककल्पवृक्षे तु वर्द्धमाने दिनेदिने ।
छायावितानवलिते पुंसो हृदयकानने ॥ ३० ॥
प्रवर्तते शीतलता तलतापापहारिणी ।
अभ्युल्लसन्मतिलता तुषारोदरसुन्दरी ॥ ३१ ॥
यस्यामवान्तरश्रान्तो विश्राम्यति मनोमृगः ।
आजन्मजीर्णपथिकः पथि कोलाहलाकुलः ॥ ३२ ॥
सत्तामात्रात्मशरीरचर्मार्थं प्रेक्षितोऽरिभिः ।
नानातासारसाकारगोपयज्जर्जरोन्मुखः ॥ ३३ ॥

जैसे मेघ छायाका विस्तार करता है वैसे ही यह भी शमतारूपी छायाका विस्तार करता है और शम भी चित्तकी स्थिरताको ऐसे बढ़ाता है, जैसे पूर्वी हवा बादलको ॥ २८ ॥

आत्मज्ञानके मूलबन्धको यह अपनेसे ही ऐसे बाँध देता है, जैसे कुलाचल-पर्वत स्थित अपने मूलको। हे श्रीरामजी, यह वृक्ष, अपने ऊपर कैवल्यनामक फल देनेवाले शान्ति आदि माङ्गलिक गुच्छोंकी शोभा रचता है ॥ २९ ॥

पुरुषके हृदयरूपी जंगलमें छायाके वितानसे वेष्टित इस विवेकरूपी कल्प-वृक्षके दिन-दिन बढ़नेपर हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्तरूपी भूमिके आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक तापोंका हरण करनेवाली उल्लसित हो रही बुद्धिरूपी लतासे तुषारगर्भके समान एक सुन्दर शीतलता प्रवृत्त होती है ॥ ३०,३१ ॥

अनेक जन्मोंके नानाविध दुःखोंसे जीर्ण, दैवात् सन्मार्ग प्राप्त हो जानेपर भी नानावादियोंके कोलाहलसे व्यग्र होकर उस मार्गसे भ्रष्ट एवं विभिन्न संसार-प्रान्तोंमें घूमते रहनेसे श्रान्त यह मनरूपी पथिक मृग इसी वृक्षकी शीतल छायामें आकर विश्राम करता है ॥ ३२ ॥

एकमात्र सत्ता ही जिसकी आत्मा है ऐसे पुरुषरूपी चमड़ेका अपहरण करनेके लिए काम, क्रोध आदि छः व्याध इसके पीछे पड़े हैं। अनेक प्रकारके

संसारारण्यविसरद्वासनापवनेरितः ।
अहन्तातापसरिता सर्वदा विप्रदारदी ॥ ३४ ॥
दीर्घादरीदूरचितसारसंचारजर्जरः ।
पुत्रपौत्रपरामर्शप्रतापात्पतितोऽवटे ॥ ३५ ॥
लक्ष्मीलताविलुठनात्सङ्कटैः कुण्ठिताङ्गकः ।
तृष्णाश्रीसरितं गृह्णन् कल्लोलैर्दूरमाहतः ॥ ३६ ॥
व्याधिदुर्व्याधवैधुर्यपलायनपरायणः ।
अशङ्कितविधिव्याधपातादिव कृताकृतिः ॥ ३७ ॥

असार शरीर आदिरूप कण्टकोंके कुञ्जोंमें बार-बार छिपकर यह अपनेको बचानेकी चेष्टा करता है। यहाँतक कि उन कुञ्जोंमें बार-बार छिपनेकी कोशिश करनेसे इस मृगका मुख उस शरीरके अन्दर वर्तमान नाना प्रकारके दोषरूपी काँटोंसे जर्जर हो गया है ॥ ३३ ॥

वासनारूपी पवनसे प्रेरित संसाररूपी जंगलमें दौड़ रहा यह मृग अहन्तारूपी मृगतृष्णाकी ओर सदा दौड़ते रहनेसे अन्तःकरणके तृष्णारूपी विषके दाहसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है ॥ ३४ ॥

यह मनरूपी मृग अनेक प्रकारके भोगोंमें आदर रखनेवाला है—थोड़ेमें कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। यही कारण है कि चाहे कितना ही दूर क्यों न हो, लेकिन वहाँ भी उपजे हुए हरे-हरे तृणरूपी विषयोंमें बराबर दौड़ते रहनेसे इसका शरीर बिलकुल जर्जर हो गया है। [क्या कहा जाय !] यह तो पुत्र, पौत्र आदिकोंके रात-दिन परिपालनकी चिन्तामें ही व्यस्त रहनेके कारण आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीन तरहके तापोंसे अनर्थरूपी गड्ढेमें आ गिरा है ॥ ३५ ॥

सम्पत्तिरूपी लताओंमें पैर फँस जानेसे जब यह उठकर भागना चाहता है तब पुनः लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, शत्रु, चोर तथा राजा आदि इसे शीघ्र पकड़कर बाँध ले जाते हैं, खूब पीटते हैं तथा नाना प्रकारके दण्ड लगाते हैं। इन सब संकटोंसे इसका शरीर अत्यन्त कुण्ठित हो गया है—किसी कामका नहीं रह गया है। तृष्णारूपी सुन्दर नदीका अवगाहन करनेवाला यह, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह आदिरूप तरङ्गोंसे दूर फेंक दिया जाता है ॥ ३६ ॥

अनेक व्याधिरूपी दुष्ट व्याधोंके दुःखोंसे पलायनमें तत्पर यह मृग दैवकी

ज्ञेयास्पदसमायातदुःखसायकशङ्कितः ।
वैरिविद्रवणव्यग्रो दृषदाहरणाङ्कितः ॥ ३८ ॥
उन्नतानतसम्पातनिपातेनातिघूर्णितः ।
विकारोपलनिर्घातैः पारम्पर्येण चूर्णितः ॥ ३९ ॥
तृष्णाचारुलताजालप्रवेशवशविक्षतः ।
स्वप्रज्ञारचिताचारः परमायास्वशिक्षितः ॥ ४० ॥
इन्द्रियग्राममागत्य प्रपलायनतत्परः ।
सुदुर्ग्रहगजेन्द्रोग्रविस्फूर्जनविमर्दितः ॥ ४१ ॥
विषयाजगरोदारविषफूत्कारमूर्च्छितः ।
कामुकः कामिनीभूमौ रसात्प्रायो विपोथितः ॥ ४२ ॥

संभावनासे रहित है । व्याधोंके आगमनसे मानो इसने अपने आकारको संकुचित कर लिया है ॥ ३७ ॥

नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके आस्वादके विषय गीतों, घण्टाके शब्दों तथा यव आदि अङ्कुरोंके निमित्तभूत व्याधोंके खेत आदिसे उत्पन्न दुःखरूपी बाणोंसे शङ्कित, काम, क्रोध आदि शत्रुओंके आक्रमणसे व्यग्र तथा पत्थरोंके प्रहारोंके तुल्य पूर्व-पूर्वकालके दुःखोंके अनुभवरूप संस्कारोंसे युक्त यह मनरूपी मृग है ॥ ३८ ॥

स्वर्ग, नरक आदिरूप ऊँचे-नीचे स्थानोंमें क्रमशः चढ़ने-गिरनेसे इसके मस्तकमें चक्कर आ गया है तथा काम, क्रोध आदिरूप पत्थरोंकी निरन्तर चोट खानेसे यह चूर्ण-चूर्ण हो गया है ॥ ३९ ॥

तृष्णारूपी सुन्दर लताओंमें छिपते रहनेसे इसका शरीर घावयुक्त हो गया है । इसने अपनी बुद्धिसे अनेक तरहके आचारोंकी कल्पना कर रक्खी है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह परमात्माकी मायाके विषयमें अशिक्षित है ॥ ४० ॥

यह इन्द्रियरूपी गाँवमें आकर भागनेमें तत्पर है । जिसको वशमें कर लेना कोई लड़कोंका खेल नहीं है ऐसे कामरूपी गजेन्द्रकी भयानक गर्जनासे यह मर्दित हो चुका है ॥ ४१ ॥

विषयरूपी अजगरोंके भयानक विषरूपी फुफकारसे यह मूर्च्छित हो गया है तथा कामिनीरूपी भूमिमें कामुक यह मनरूपी मृग विषयरससे प्रायः मर्दित हो गया है ॥ ४२ ॥

कोपदावानलप्लुष्टपृष्ठविस्फोटदाहवान् ।
सदा गतागतानेकदीर्घदुःखप्रदाहवान् ॥ ४३ ॥
स्वात्मलग्नाभिलाषांशदंशदोषैरुपद्रुतः ।
भोगलोभलसन्मोदशृगालचिरविद्रुतः ॥ ४४ ॥
स्वकर्मकर्तृतोद्भ्रान्तदारिद्र्यद्वीप्यनुद्रुतः ।
व्यामोहमिहिकान्धत्वकूटावटलुठत्तनुः ॥ ४५ ॥
मानसिंहसमुल्लासहृदयोत्कम्पनातुरः ।
मरणेन रणे येन वृकपुष्पमिवेक्षितः ॥ ४६ ॥
गर्वेण गिरणायाशु दूरतो जनसेवितः ।
कामैः समन्ततो दन्तवितानितयवाङ्कुरः ॥ ४७ ॥

क्रोधरूपी दावाग्निसे यह जल गया है। यही कारण है कि इसके पीठपर मानो फोड़ा हो जानेसे इसे बाहर दाह हो रहा है। और हे श्रीरामजी, विषयोंमें बार-बार भ्रमण करते रहनेसे अनेक तरहके चिन्तारूपी दुःखोंसे इसके भीतर भी भारी दाह उठ रहा है ॥ ४३ ॥

अपनी आत्मामें संलग्न अनेक अभिलाषारूपी मच्छर इसे काट-खाये डालते हैं। भोगोंके लोभमें मनोहर प्रमोदरूपी सियार इसके पीछे चिरकालसे दौड़ रहे हैं और यह भी उनके भयसे वेगपूर्वक आगे भाग रहा है ॥ ४४ ॥

यह तो अपने ही कर्म और कर्तृताके फेरमें पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, फिर भी एक दारिद्र्यरूपी व्याघ्र इसके पीछे लगा है। स्त्री, पुत्र आदिमें आसक्तिरूपी व्यामोहमिहिकासे—अन्धा बना देनेवाले कुहरेसे अन्धा होकर कपटरूपी पर्वतकी चोटियोंपर चढ़ते समय नीचकृत्यरूपी गड्ढोंमें गिर जानेसे इसका शरीर भग्न हो गया है ॥ ४५ ॥

मानरूपी सिंहके समुल्लाससे इसके हृदयमें उत्कम्पन हो रहा है—इसकी छाती धड़क रही है, उससे यह आतुर हो गया है। तथा प्रसिद्ध मृत्युरूपी व्याघ्रसे प्रहार करते समय अगस्त वृक्षके पुष्पकी नाईं सुखपूर्वक विदीर्ण करने योग्य यह दृष्ट है ॥ ४६ ॥

निर्जन जंगलमें गर्वरूपी अजगर इसको शीघ्र निगल जानेके लिए चिरकालसे प्रतीक्षा कर बैठा है। नानाविध कामनाओंकी सिद्धिके लिए चारो ओर अपनी

तारुण्यनारीसुहृदा क्षणमालिङ्ग्यवर्जितः ।
दुःसञ्चारेषु पवनैः कुपितैरिव वर्जितः ॥ ४८ ॥
कदाचिन्निर्वृतिं याति स शमं च तरौ क्वचित् ।
मनोहरिणको राजन्नाजीवमिव भास्वति ॥ ४९ ॥
तालीतमालबकुलादिकवृक्षगुल्म-
विश्रान्तिषु प्रचुरपुष्पविलासहासैः ।
नामापि यस्य न विदन्ति सुखस्य मूढाः
प्राप्नोति तच्छमतरोः स्वमनोमृगो वः ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोमृगविपद्वर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

दीनता प्रकटकर भीख माँगनेके निमित्त इसने दाँतोंरूपी मानो यवके अंकुर फैला रक्खे हैं ॥ ४७ ॥

'स्त्रीके लिए बने हुए युवावस्थारूपी प्रियमित्रने क्षणभर इसका आलिङ्गन कर इसे फिर छोड़ दिया है। झंझावातके सदृश कुपित इन्द्रियोंने दुर्गम नरक लोक तथा स्थावर आदि योनिरूप अनेक जंगलोंमें ले जाकर इसे बार-बार फेंक दिया है ॥४८॥

हे राजन्, इस तरहका यह मनरूपी मृग अनेक जन्मोंके संचित पुण्यके उदयसे कभी अधिकारी शरीरमें शम आदि साधनोंसे युक्त होनेपर इस पूर्वोक्त समाधिरूपी वृक्षके नीचे विश्रान्तिसुखको ऐसे प्राप्त करता है, जैसे रातमें शीत तथा अन्धकारसे पीड़ित प्राणी सूर्यका उदय होनेपर ॥ ४९ ॥

हे श्रोताओ, ताली, तमाल, बकुल आदि वृक्षोंके मूलके नीचे प्राप्त होनेवाले विश्रामोंके सदृश भूलोकसे लेकर सत्यलोकपर्यन्तके निवासोंमें प्रचुर फूलोंके विकासरूपी हासोंके सदृश अनित्य भोगाभासोंके निमित्त यानी उनमें फँसे रहनेके कारण जिस निरतिशय भूमानामक सुखका नाम भी आत्मज्ञान-शून्य लोग नहीं जानते, ऐसे पुनर्जन्मसे शून्य मोक्षनामक विश्रान्तिसुखको आपका अपना मनरूपी मृग उस ध्यानरूपी कल्पवृक्षके ही नीचे आकर प्राप्त कर सकता है, जिसका मैंने अभी आप लोगोंसे वर्णन किया है ॥ ५० ॥

चौवालीसवां सर्ग समाप्त

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति विश्रान्तवानेष मनोहरिणकोऽरिहन् ।
तत्रैव रतिमायाति न याति विटपान्तरम् ॥ १ ॥
एतावताऽथ कालेन स विवेकद्रुमः फलम् ।
अन्तस्थं परमार्थात्म शनैः प्रकटयत्यलम् ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलं पुण्यं तदसौ स्वमनोमृगः ।
अधःस्थितः प्रान्तगतं तस्य पश्यति सत्तरोः ॥ ३ ॥
आरोहति नरो वृक्षं तदास्वादयितुं फलम् ।
अन्यवर्गपरित्यागो विततोऽध्यवसायवान् ॥ ४ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग

[ध्यानरूपी वृक्षके ऊपर मनको चढ़नेका क्रम तथा उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें आरूढ़ हो रहे मनका सुखोत्कर्ष—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे शत्रुनाशक श्रीरामजी, इस तरह ध्यानरूप कल्पतरुवृक्षके ऊपर विश्रान्ति ले रहा मनरूपी हरिण उसी वृक्षपर प्रेम करने लग जाता है, दूसरे वृक्षपर नहीं जाता ॥ १ ॥

अनन्तर—कुछ समयके बाद वह विवेकपूर्ण ध्यानवृक्ष पाँच कोशोंके भीतर स्थित पारमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफलको धीरे-धीरे पूर्णरूपसे प्रकट करता है यानी प्रत्यक्ष कराता है ॥ २ ॥

चतुर्थ भूमिकामें असंभावनादोषका थोड़ा विनाश रहता है और मन्द अन्धकारमें घट आदिकी जैसी संभावना होती है, वैसी उसमें भी आत्मतत्त्वकी संभावना होती है, इससे अब पहले चतुर्थ भूमिकाका द्वार बतलाते हैं—'ध्यान०' इत्यादिसे ।

उस उत्तम ध्यानरूपी वृक्षके नीचे विश्रान्ति ले रहा यह अपना मनरूपी मृग उस मोक्षरूप ध्यानवृक्षफलको, जो शाखाके आगे लगा हुआ है, देखता है ॥ ३ ॥

बड़े भारी अध्यवसाय (प्रयत्न) से भरा तथा अपने सब धर्मोंको छोड़ देनेवाला यानी परमविरक्त पुरुष उक्त फलका स्वाद लेनेके लिए उस वृक्षपर चढ़ता है ॥ ४ ॥

विवेकवृक्षपान्नास वृत्तीस्त्यजति भूगताः ।
उन्नतं पदमासाद्य भूयो नाधः समीहते ॥ ५ ॥
तेनोत्तमफलार्थेन संस्कारान्प्राक्तनानसौ ।
विवेकपादपारूढस्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥ ६ ॥
हसत्युच्चैः पदारूढमात्मानमवलोकयन् ।
एतावन्तमहं कालं कृपणः कोऽभवं त्विति ॥ ७ ॥
करुणादिषु तेष्वस्य भ्रमञ्छाखान्तरेषु सः ।
लोभव्यालमधः कुर्वन् सम्राडिव विराजते ॥ ८ ॥
हृदयेन्दोर्गलश्रेणीदुःखाञ्जतिमिरावलिः ।
कृष्णायःश्रृङ्खलातृष्णा दिनानुदिनमुज्झति ॥ ९ ॥

कैसे चढ़ता है, इसे कहते हैं—'विवेक०' इत्यादिसे ।

जो अध्यवसायी चढ़ता है, वह सबसे पहले विवेक वृक्षके ऊपर अपना पैर दृढ़ जमा लेता है, फिर पहलेकी संसारवृत्तियोंका एकदम त्याग कर देता है। ऐसा करनेपर वह ऐसे ऊँचे स्थानपर अपना स्थान बना लेता है कि फिर कभी नीचे नहीं गिरता ॥ ५ ॥

उक्त उत्तम फलकी इच्छासे विवेकरूपी वृक्षपर चढ़ा हुआ पुरुष अपने पहलेके संस्कारोंको उस तरह छोड़ देता है, जिस तरह साँप अपनी केंचुलको छोड़ देता है। संस्कारोंका त्याग कर देनेसे पहलेका कुछ भी स्मरण नहीं होता, यह भाव है ॥ ६ ॥

यदि उसे कुछ पहलेका स्मरण हुआ, तो भी वह जोरसे हँसने लग जाता है और अपनेको ऊँचे विवेकवृक्षके ऊपर चढ़ा देखकर विचारता है कि इतने समयतक मैं विषय-सुखोंकी लालचसे कितना दीन बना था ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण भूतोंपर करुणा आदिरूप* इस वृक्षकी शाखाओंमें भ्रमण कर रहा यानी व्युत्थानकालमें विहार कर रहा यह मनरूपी मृग लोभ आदिरूप व्यालोंको नीचे करके पूर्णकाम सम्राट्‌की तरह शोभित होता है ॥ ८ ॥

सद्‌बुद्धिरूपी चन्द्रमाको निगल जानेवाली अमावस्याकी पङ्क्तिभूत तथा

---

* आदिपदसे यहाँ 'अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितः' इत्यादि दैवी सम्पत्तियोंका ग्रहण है।

उपेक्षते न सम्प्राप्तं नाप्राप्तमभिवाञ्छति ।
सोमसौम्यो भवत्यन्तःशीतलः सर्ववृत्तिषु ॥ १० ॥
शास्त्रार्थपल्लवेष्वेव निषण्णात्माऽवतिष्ठते ।
उन्नतावनतायाता अधः पश्यञ्जगद्गतीः ॥ ११ ॥
भीमद्रुमलतोत्कीर्णपुष्पप्रकरदन्तुराः ।
प्राक्तनीः स्वाः स्थलीः पश्यन् हसत्यन्तर्वराकताम् ॥ १२ ॥
तेषु तत्स्कन्धदेशेषु तथोड्डीनविडीनया ।
हारिण्या विहरज्ञात्या राजेव परिराजते ॥ १३ ॥

दुःखरूपी चन्द्रमामें अनेकत्वकी भ्रान्ति पैदा कर देनेवाली तिमिररोगकी पङ्क्तिरूप लोहेकी निर्मित शृंखला-सी प्राणियोंके बन्धनकी हेतु तृष्णा दिनपर दिन † इसको छोड़ती जाती है ॥ ९ ॥

यह न तो प्राप्त वस्तुओंकी उपेक्षा करता है और न अप्राप्त वस्तुओंकी अभिलाषा करता है, बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियोंमें चन्द्रमाकी नाईं सौम्य तथा शीतल अन्तःकरणसे युक्त होकर स्थित रहता है ॥ १० ॥

अध्यात्मशास्त्रसे अतिरिक्त शास्त्रोंके अनुसार प्रवृत्ति होनेपर प्राणियोंको ब्रह्म-लोकपर्यन्त उन्नत स्थान प्राप्त होते हैं तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेपर नरकपर्यन्त निम्न श्रेणीके स्थान लब्ध होते हैं—इस तरह संसारकी उन्नत और अवनत दशाओंको अज्ञानावस्थामें देख रहा यह अध्यात्मशास्त्रके विषय शम, दम, सन्तोष आदि रूप पल्लवोंमें ही अपने स्वरूपको छिपाकर अवस्थित रहता है ॥ ११ ॥

भयंकर विषवृक्षलताओंमें विकसित विषमय पुष्पसमूहरूपी दाँतोंसे युक्त अपनी पूर्वोक्त सातों अज्ञानकी भूमिकाओंको भीतर देख रहा यह, उस हीन अवस्थाको हँसता है ॥ १२ ॥

उस ध्यानरूपी वृक्षके उन स्कन्धप्रदेशोंमें यानी उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमिकाओंमें आरूढ़ हो रही ‡ मनोहारिणी चित्तवृत्तिसे यह राजाकी तरह शोभता है ॥ १३ ॥

† जिस दिन शुभेच्छा उत्पन्न होती है उस दिनसे लेकर प्रतिदिन निरन्तर क्षीण होती हुई रही यह तृष्णा चतुर्थभूमिकामें पहुँच कर बिल्कुल साथ छोड़ देती है। 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' ऐसा भगवान्‌ने भी कहा है।

‡ अर्थात् चिड़ियोंकी नाईं एक शाखासे उड़कर दूसरीपर जा बैठ रही।

पुत्रदारसमग्राणि मित्राणि च धनानि च ।
जन्मान्तरकृतानीव स्वप्नजानीव पश्यति ॥ १४ ॥
रागद्वेषभयोन्मादमानमोहमहचया ।
नटस्येवास्य दृश्यन्ते शीतलामलचेतसः ॥ १५ ॥
उन्मत्तचेष्टिताकारा हसत्यपि पुरोगताः ।
तरङ्गभङ्गुराधाराः संसारसरितो गतीः ॥ १६ ॥
न स चेतयते काश्चिल्लोकदारधनैषणाः ।
अपूर्वपदविश्रान्तो जीवन्नेव यथा शवः ॥ १७ ॥
केवलं केवले शुद्धे बोधात्मनि महोन्नते ।
दत्तदृष्टिः फले तस्मिन्परं समधिरोहति ॥ १८ ॥
स्मृत्वा स्मृत्वा पदः पूर्वं सन्तोषामृतपोषितः ।
अर्थानामप्यनर्थानां नाशेषु परितुष्यति ॥ १९ ॥
व्यवहारेषु कार्येषु भोगसम्पादकेष्वपि ।
परमुद्वेगमायाति सनिद्र इव बोधितः ॥ २० ॥

पुत्र, स्त्री, मित्र तथा धन आदि सभी पदार्थोंको यह जन्मान्तरमें प्राप्त किये गये या स्वप्नमें पैदा हुएके समान देखता है ॥ १४ ॥

दूसरोंको खुश करना ही जिसमें प्रधान कार्य है ऐसी राग, द्वेष, भय, उन्माद, मान तथा मोहकी महत्तासे नटके व्यवहारकी नाईं शीतल तथा निर्मल चित्त इस ज्ञानीके सब व्यवहार दिखाई देते हैं ॥ १५ ॥

उन्मत्तके चेष्टितके समान आकारवाली, सामने स्थित भी तरङ्गके समान क्षणभङ्गुर आधारवाली संसाररूपी मृगतृष्णाकी नदीकी गतिको मिथ्या समझकर वह हँसता है ॥ १६ ॥

अपूर्व पदमें विश्रान्त जीवन धारण कर रहा भी मृतकके सदृश वह योगी स्त्री, पुत्र आदि सांसारिक किसी पदार्थकी चिन्ता नहीं करता ॥ १७ ॥

किन्तु केवल शुद्ध बोधमय, महा उन्नत उस एक आत्मज्ञानरूप फलमें ही एकमात्र अपने चित्तको लगाकर पञ्चमभूमिकादि स्थानोंमें आरूढ़ होता है ॥१८॥

अपनी पूर्वावस्थाकी आपत्तियोंका बार-बार स्मरण करके सन्तोषरूपी अमृतसे परिपुष्ट होकर अनर्थरूपी अर्थोंके (धनोंके) नाशमें भी सन्तुष्ट ही होता है ॥१९॥

जैसे सोया हुआ पुरुष किसीसे जगा दिये जानेपर निद्रासुखके विच्छेदसे

दीर्घाध्वग इवोदारामनारतमबाधिताम् ।
चिरं मौर्ख्यश्रमाक्रान्तो विश्रान्तिमभिवाञ्छति ॥ २१ ॥
निःश्वासबोधितोऽप्यग्निरनिन्धन इवात्मनि ।
श्वासमात्रसमोऽप्यन्तरतिष्ठन्नेव शाम्यति ॥ २२ ॥
आपतन्तीं बलादेव पदार्थेष्वरतिं शनैः ।
न शक्नोति निराकर्तुं दृष्टिमत्र च्युतामिव ॥ २३ ॥
तां महापदवीं गच्छन्परमार्थफलप्रदाम् ।
भूमिकामप्युपायाति वचसामप्यगोचराम् ॥ २४ ॥
कुतोऽप्यचेष्टितेष्वेव सम्प्राप्तेषु विधेर्वशात् ।
भोगेष्वरतिमायाति पान्थो मरुमहीष्विव ॥ २५ ॥
घूर्णः क्षीण इवानन्दी सुप्तः संसारवृत्तिषु ।
अन्तःपूर्णमना मौनी कामपि स्थितिमृच्छति ॥ २६ ॥

उद्वेगको प्राप्त हो जाता है वैसे ही भोगदायक अवश्य कर्तव्य व्यवहारोंमें भी वह योगी दूसरोंके द्वारा समाधिरूपी निद्रासे जगा दिये जानेपर समाधिसुखके विच्छेद-से अत्यन्त उद्वेगको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

बहुत दूरका रास्ता तय करनेवाले बटोहीकी तरह चिरकालतकके मौर्ख्य-प्रयुक्त अनेक जन्म-मरण-परम्पराओंमें चक्कर लगाते रहनेसे उत्पन्न श्रमके कारण अत्यन्त थका हुआ यह पुरुष अति उदार निरन्तर अबाधित आत्मविश्रान्ति चाहता है ॥ २१ ॥

प्राणधारणमात्रसे अन्य पुरुषोंके समान भी यह अपने भीतर अहंभावके अभिमानसे बिलकुल शून्य हो पूर्ण आत्मामें ऐसे शान्त हो जाता है, जैसे निःश्वास-से बोधित होनेपर भी बिना इन्धनकी अग्नि ॥ २२ ॥

पूर्वाभ्यासके बलसे धीरे-धीरे बाह्य पदार्थोंमें हो रही विरक्तिका, यथाप्राप्त भोगोंपर पड़ी दृष्टिकी नाईं, यह निराकरण नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

परमार्थरूप फलप्रदान करनेवाली उस महापदवीके ऊपर चल रहा यह ज्ञानी पुरुष वाणीके भी अगोचर छठी भूमिकामें प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

बिना प्रयत्न किये ही कहींसे यानी दूसरोंके प्रयत्नसे दैववशात् प्राप्त हुए भोगोंमें यह ऐसे विरक्त हो जाता है, जैसे मरुभूमिमें पथिक ॥ २५ ॥

संसारकी वृत्तियोंमें सुप्त, क्षीण उन्मत्तकी तरह आनन्दयुक्त तथा भीतरसे

स ताहग्रूपतामेत्य परमार्थफलस्य तत् ।
क्रमान्निकटमाप्नोति खगोऽगपदवीमिव ॥ २७ ॥
ततस्तदखिलां बुद्धिं विहाय वियता समः ।
गृह्णात्यथास्वादयति भुङ्क्तेऽथ परितृप्यति ॥ २८ ॥
सङ्कल्पार्थपरित्यागाद्दिनानुदिनमाततां ।
शुद्धस्वभावविश्रान्तिः परमार्थाप्तिरुच्यते ॥ २९ ॥
भेदबुद्धिर्विलीनार्थाऽभेद एवावशिष्यते ।
शुद्धमेकमनाद्यन्तं तद्ब्रह्मेति विदुर्बुधाः ॥ ३० ॥

पूर्ण मनवाला यह मौनी पुरुष किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो जाता है ॥२६॥

वह ज्ञानी पुरुष उस तरहके स्वरूपमें पहुँचकर क्रमशः मोक्षरूप परमार्थफलके निकट ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे सिद्धयोगी मेरुके शिखरपर ॥ २७ ॥

उस योगीकी सप्तमभूमिकामें कैसी स्थिति रहती है, यह बतलाते हैं—'ततस्तद०' इत्यादिसे ।

तदनन्तर सप्तमभूमिकामें प्राप्त आकाशके सदृश वह योगी सम्पूर्ण बुद्धिका * परित्याग कर निरतिशय भूमानन्द ब्रह्मभावरूप फल ग्रहण करता है, उसका स्वाद चखता है, उसका भोग लगाता है और उसीसे तृप्त होता है † ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सङ्कल्पित पदार्थोंके परित्यागसे दिन-पर-दिन जो विस्तृत शुद्ध आत्मस्वभावमें विश्रान्ति होती है वही परमार्थकी प्राप्ति कही जाती है ॥२९॥

त्रिपुटीरूपी अपने अर्थको विलीन कर भेदबुद्धि अभेदरूपमें ही जो अवशिष्ट रह जाती है यानी त्रिपुटीभेदका साक्षी चेतन ही अपने अर्थोंका विलय कर जो शेष रह जाता है, उसीको विद्वान् लोग आदि और अन्तसे रहित शुद्ध एक ब्रह्म कहते हैं ॥ ३० ॥

---

* 'अखिलां बुद्धिं विहाय' इससे इस योगीकी आत्यन्तिक वासनाका क्षय और मनका नाश दिखलाया गया है ।

† आवरणका भङ्ग होनेसे ग्रहण करता है, विक्षेपशून्य स्फुरण होनेसे स्वाद चखता है, एकमात्र उसीमें वृत्तिके स्थित रहनेसे उसका भोग लगाता है और पूर्णस्थिति होनेसे तृप्त होता है—इस तरह चतुर्थी आदि भूमिकाओंके फलोंका 'गृह्णाति' इत्यादि पदोंसे लाभ दिखलाया गया है ।

लोकैषणाविरक्तेन त्यक्तदारैषणेन च ।
धनैषणाविमुक्तेन तस्मिन् विश्रम्यते पदे ॥ ३१ ॥
परेण परिणामेन मिथश्चित्परमार्थयोः ।
तापेन हिमलेखेव भेदबुद्धिर्विलीयते ॥ ३२ ॥
तज्ज्ञस्याऽऽकृष्टमुक्तस्य स्वभावेषूपमां विना ।
स्थितिः स्रग्दामकस्येव न सम्भवति काचन ॥ ३३ ॥
यथाऽप्रकटिताङ्गान्तः संस्थिता शालभञ्जिका ।
न सती नासती स्तम्भे तथा विश्वस्थितिः परे ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी लोक-एषणा, स्त्री-एषणा और धन-एषणा‡ से शून्य जो पुरुष है वही उस ब्रह्मपदमें विश्राम पाता है ॥ ३१ ॥

दृश्य तत्त्वके शोधनसे सन्मात्र परमार्थ और द्रष्टाके तत्त्वके शोधनसे चिन्मात्र परमार्थके—अखण्डैक्यरूप निरतिशयानन्दात्मभूत परमसाक्षात्कारवृत्तिरूप—परिणामसे अभेदबुद्धि ऐसे नष्ट हो जाती है, जैसे तापसे हिमकी लेखा ॥ ३२ ॥

खींचकर छोड़ देनेके पश्चात् धनुषकी स्थितिकी तरह चित्तकी अखण्डाकार-वृत्तिका उपरम हो जानेपर पुनः उसकी पूर्वावस्थाकी स्थिति कदापि नहीं आ सकती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'तज्ज्ञस्य' इत्यादिसे ।

आत्मसाक्षात्कार कर चुके योगीके चित्तकी स्थिति, खींचकर छोड़ देनेके बाद धनुष आदि कठोर वस्तुओंकी उपमासे रहित अत्यन्त कोमल फूलोंकी मालाकी तरह होती है, किसी दूसरी स्थितिका संभव नहीं है । पृथ्वीपर पड़ी फूलकी माला सीधी-टेढ़ी चाहे जिस किसी तरहसे स्थापित हो जानेपर वह वैसी ही ज्यों-की-त्यों स्थित रहती है । धनुषकी तरह उसकी पूर्वावस्था नहीं आती । धनुष तो खींचकर छोड़ देनेके बाद ज्यों-का-त्यों हो जाता है, यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

जैसे पत्थर या काठके स्तम्भमें स्थित अप्रकटित अङ्गोंवाली मूर्ति न तो सद्रूप है और न असद्रूप ही है वैसे ही परमात्मामें इस विश्वकी स्थिति है ॥ ३४ ॥

‡ जनतामें प्रसिद्धि प्राप्त करनेकी अभिलाषाका नाम लोकैषणा है, मुझे सुन्दर स्त्री प्राप्त होवे—इस इच्छाका नाम दारैषणा है तथा मैं इस संसारमें खूब धनी हो जाऊँ—इस अभिलाषाका नाम धनैषणा है । पुत्रप्राप्तिकी अभिलाषा स्त्रीप्राप्तिके अधीन है, अतः उसका पृथक् ग्रहण नहीं है । यहाँ कहनेका तात्पर्य यह कि स्त्री-अभिलाषाके परित्यागसे पुत्रप्राप्तिकी अभिलाषाका त्याग तो अर्थतः लब्ध है । इन तीन एषणाओंमें ही सबका अन्तर्भाव है ।

ध्यानं न शक्यते कर्तुं न चैतदुपयुज्यते।
अबोधेन विबुद्धस्तु स्वयमत्रैव तिष्ठति ॥ ३५ ॥
आत्यन्तिकी विरसता यस्य दृश्येषु दृश्यते।
स बुद्धो नाप्रबुद्धस्य दृश्यत्यागे हि शक्तता ॥ ३६ ॥
दृश्यस्य बोधताबोधो यो बोधादपरिक्षयः।
स समाधानशब्देन प्रोच्यते सुसमाहितैः ॥ ३७ ॥

इस तरह यह निश्चित है कि बोध होनेके पहले यानी अज्ञानदशामें प्रपञ्च-सहित ब्रह्ममें निष्प्रपञ्च ब्रह्मस्वभावका अज्ञान होनेसे उसका ध्यान नहीं किया जा सकता। और यह उपयुक्त है भी नहीं। ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर तो स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होकर तत्त्वज्ञानी पुरुष इस ब्रह्ममें ही अवस्थित रहता है [तब भला उसका ध्यान वह कैसे कर सकता है ?] कहनेका तात्पर्य यह कि सोता या जागता हुआ कोई भी पुरुष अपनेमें यह ध्यान नहीं करता कि—मैं सो रहा हूँ या मैं सुषुप्त हूँ ॥ ३५ ॥

सोकर उठनेके बाद जैसे पुरुषको स्वाप्निक पदार्थोंमें तुच्छ बुद्धि होनेसे आत्यन्तिक विरक्ति रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सांसारिक प्रपञ्चोंमें आत्यन्तिक विरक्ति कर सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'आत्यन्तिकी' इत्यादिसे।

दृश्य पदार्थोंमें जिस पुरुषकी आत्यन्तिक विरक्ति देखी जाती है वही तत्त्व-ज्ञानी है, क्योंकि दृश्य प्रपञ्चोंके त्यागमें अज्ञानी समर्थ नहीं है ॥ ३६ ॥

यदि ध्यान नहीं है, तो फिर ध्यानके अविषय ब्रह्ममें समाधि कैसे ? क्योंकि धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका विषय एक ही निश्चित है। देखिये भगवान् पतञ्जलिके सूत्र—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा', 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्', 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' 'त्रयमेकत्र संयमः'। इसपर कहते हैं—'दृश्यस्य बोधता' इत्यादिसे।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण स्वरूप या ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानस्वरूप जगत्का एकमात्र साक्षिस्वरूपज्ञानरूपसे जो बोध है वही यथार्थस्वभावमें उत्तम स्थितिका कारण होनेसे 'सुष्ठु-सम्यग् आधानं समाधिः'—ऐसा विग्रह करनेसे 'समाधान' शब्दसे कहा जाता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस तरहके बोधस्वभावसे ही यह सारा प्रपञ्च शाश्वत होता है ॥ ३७ ॥

द्रष्टृदृश्यैकतारूपः प्रत्ययो मनसो यदा।
स तदेकसमाधाने तदा विश्राम्यति स्वयम् ॥ ३८ ॥
स्वभावो दृश्यवैरस्यमेव तत्त्वविदो निजः।
दृश्यस्पन्दनमेवाहुरतत्त्वज्ञत्वमुत्तमाः ॥ ३९ ॥
अतज्ज्ञायैव विषयाः स्वदन्ते न तु तद्विदः।
न हि पीतामृतायान्तः स्वदते कटु काञ्जिकम् ॥ ४० ॥
वितृष्णस्यात्मनिष्ठत्वादेषणात्रयमुज्झतः।
ज्ञस्याप्यनिच्छतो ध्यानमर्थायातं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥
बोधः स्फुरति तृष्णायाः सैव यस्य न विद्यते।
तस्य स्वरूपमुत्सृज्य क्वासौ तिष्ठति कः कथम् ॥ ४२ ॥

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यं समाधिः' भगवान् पतञ्जलिके इस वचनका भी—द्रष्टा और दृश्यको एक बनाकर उसके द्वारा मनके विलयमें ही—तात्पर्य है, इस आशयसे कहते हैं—'द्रष्टृदृश्यैकतारूपः' इत्यादि।

द्रष्टा आदि त्रिपुटीका लय होनेसे अखण्ड एक आत्माकारमें जब मनकी वृत्ति स्थित हो जाती है, तब वह ज्ञानी एक आत्मसमाधिमें स्वयं विश्रान्त हो जाता है ॥ ३८ ॥

दृश्य पदार्थोंमें जो विरक्तिभाव है यानी जड़ता आदि दुःखोंके त्यागपूर्वक एकमात्र चिदानन्दैकरसकी स्थिति है वही तत्त्वज्ञानीका अपना ब्रह्मस्वभाव है। दृश्य पदार्थोंके स्पन्दनको ही—दृश्य पदार्थोंकी ओर चेष्टाशील बननेको ही—ज्ञानी महानुभाव लोग अतत्त्वज्ञता (अज्ञान) कहते हैं ॥ ३९ ॥

अज्ञानीको ही संसारके पदार्थ रुचिकर प्रतीत होते हैं, तत्त्वज्ञानीको नहीं। क्योंकि जो अमृतपान कर चुका है, उस प्राणीको कटु मद्य नहीं रुचता ॥ ४० ॥

यदि बार-बार अपने स्वरूपके अनुसन्धानको (स्मरणको) ही आप ध्यान समझते हैं, तो वह जागरूक पुरुषके जाग्रदात्मामें हुए स्वरूपानुसन्धानकी तरह विद्वान् महानुभावोंको सहज-सिद्ध है, यह कहते हैं—'वितृष्णस्य' इत्यादिसे।

तृष्णारहित, आत्मनिष्ठ होनेके कारण तीनों एषणाओंका त्याग कर चुके तत्त्वज्ञानी योगीका ध्यान इच्छा न रहनेपर भी अपने-आप स्वयं होता रहता है ॥ ४१ ॥

'वितृष्णस्य' (तृष्णारहित) इस विशेषणका तात्पर्य खोलते हैं—'बोधः' इत्यादिसे।

ज्ञस्यानाराधको ध्येयबोधो नयतु यो भवेत् ।
अनन्ता सा वितृष्णस्य निर्विभागोदितः स्वयम् ॥ ४३ ॥
अनन्तमपतृष्णस्य स्वयमेव प्रवर्तते ।
ध्यानं गलितपक्षस्य संस्थानमिव भूभृतः ॥ ४४ ॥
शुद्धबोधात्मनि ज्ञत्वादसमाहिततोदिता ।
न जातु सुसमिद्धेऽग्नौ घृतबिन्दोरवस्थितिः ॥ ४५ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।
आहृतं येन तन्नूनं तस्मै नृब्रह्मणे नमः ॥ ४६ ॥

आत्मस्वरूपानुसन्धानरूपी ध्यान तो तृष्णादिविक्षेपके कारण ही स्फुरित होता है—यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । किन्तु जिस तत्त्वज्ञानीको तृष्णा ही नहीं है उसके स्वरूपको छोड़कर उसका वह कौन ध्यान कैसे कहां रहता है ॥ ४२ ॥

अथवा ज्ञानीकी तृष्णा भी अनन्त है, क्योंकि यह स्वयं विभागरहित अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूपसे ही उदित है । इसलिए चिन्तनीय बाह्य पदार्थका जैसा बोध हो, उसे वह चाहे समाधिमें लगावे या व्यवहारमें, किन्तु उसकी तृष्णाकी पूर्तिमें वह समर्थ नहीं है ॥ ४३ ॥

पक्षरहित पर्वतकी स्थितिकी तरह बाह्य पदार्थोंमें तृष्णारहित उस ज्ञानीका अनुभवरूप अनन्त ध्यान स्वयं प्रवृत्त होता है, किसी यत्नकी उसे अपेक्षा नहीं होती ॥ ४४ ॥

एकमात्र यही कारण है कि जबतक शुद्ध बोधस्वरूप आत्माका उदय नहीं हो पाता, तभीतक समाधिके लिए यत्नकी अपेक्षा रहती है । शुद्धबोधस्वरूप आत्माके साक्षात् अनुभूत होनेपर तो ज्ञानी हो जानेसे समाधिके यत्नकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, यह तत्त्वज्ञानी महानुभावोंकी उक्ति है । ठीक ही है, अग्निके प्रज्वलित हो जानेपर उसमें घृतबिन्दुकी स्थिति कभी नहीं रह सकती ॥ ४५ ॥

विक्षेप पैदा करनेवाले रागादि दोषोंका जो आत्यन्तिक विनाश है, उसीको समाधि कहते हैं, यह तो विद्वान् पुरुषोंमें ही संभव है, अतः उन विद्वान् महानुभावोंको नमस्कार करना चाहिए, यह कहते हैं—'परम्' इत्यादिसे ।

विषयोंसे जो आत्यन्तिक विरक्ति है, अर्थात् बाह्यपदार्थोंकी तृष्णाका जो

नूनं विषयवैतृष्ण्ये परिप्रौढिमुपागते ।
न शक्नुवन्ति निर्हर्तुं ध्यानं सेन्द्राः सुरासुराः ॥ ४७ ॥
परं विषयवैतृष्ण्यं वज्रध्यानं प्रसाध्यताम् ।
भेदे विगलिते ज्ञानादन्यध्यानतृणेन किम् ॥ ४८ ॥
मूर्खस्थो विश्वशब्दार्थो नामूर्खविषयस्तथा ।
तज्ज्ञाज्ञयोस्तयोश्चैव विश्वविश्वेशयोस्तथा ।
यत्रैकीभूय कचनं तत्र विश्राम्यतां बुधाः ॥ ४९ ॥
बोधभूमिषु सिद्धानामर्थानां वा विवेकिनाम् ।
सत्तासत्ते द्वयैक्ये च निर्णीते नेह केनचित् ॥ ५० ॥

आत्यन्तिक विनाश है, वही समाधि कही गई है। जिसको सांसारिक पदार्थोंमें अत्यन्त वैराग्य हो गया है, उस ब्रह्मरूपी मनुष्यको नमस्कार है ॥ ४६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विषयोंसे वैराग्यके अत्यन्त दृढ़ हो जानेपर मनुष्यके आत्मध्यानको इन्द्रके सहित सुर और असुर भी नहीं हटा सकते ॥ ४७ ॥

वज्रके समान दृढ़ विषयोंसे विरक्ति भी ध्यान ही है, अतः उसकी प्रशंसा करते हैं—'परम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विषयोंमें उत्पन्न हुए अत्यन्त दृढ़ वैराग्यको ही आप वज्रके समान दृढ़ ध्यानरूप बना लीजिये, क्योंकि आत्मज्ञानसे भेदके नष्ट हो जानेपर तृणके तुल्य दूसरे पदार्थोंके ध्यानसे कौन-सा मतलब सिद्ध होगा ॥४८॥

यही कारण है कि विद्वान् पुरुषोंके लिए विश्वशब्द किसी अर्थको नहीं रखता—इसका अर्थ बाधित है, यह कहते हैं—'मूर्खस्थो' इत्यादिसे ।

संसारशब्दका अर्थ मूर्खोंके लिए ही है, तत्त्वज्ञानियोंके लिए नहीं। इसलिए हे पण्डितो, जिस भूमानन्द ब्रह्ममें संसारके विशेषज्ञान और अज्ञान, तत्त्वज्ञानी और मूर्ख एवं संसार और संसारके प्रभु परमेश्वर का अभेदरूपसे भान होता है उसीमें आप लोग विश्राम करें ॥ ४९ ॥

क्योंकि मनन आदि बोधरूप भूमियोंमें आरूढ़ हो रहे विवेकियों या आत्म-साक्षात्कारादि भूमियोंमें आरूढ़ हो चुके सिद्ध महानुभावोंमेंसे किसीने भी पदार्थोंमें आत्मासे अतिरिक्त सत्ता या असत्ता या द्वैतता या एकताका इस संसारमें आजतक निर्णय नहीं किया है ॥ ५० ॥

उपाय एकः शास्त्रार्थो द्वितीयो ज्ञसमागमः ।
ध्यानं तृतीयं निर्वाणे श्रेष्ठस्तत्रोत्तरोत्तरः ॥ ५१ ॥
जीवादर्शान् मिथोरूपं गृह्णात्येषा महद्वपुः ।
जगत्युदेति संघट्टाद्दाविशेषं समेऽसमे ॥ ५२ ॥
ज्ञातपूर्वापराशेषजगदष्टापदस्थितेः ।
एकसिद्धौ द्वयोः सिद्धिर्बोधवैतृष्ण्यदीपयोः ॥ ५३ ॥
मतिवात्याधुतो व्योम्नि दग्धो ज्ञानाग्निनाऽखिलः ।
जगत्तूलः परे शान्ते न जाने क्वाऽऽशु गच्छति ॥ ५४ ॥

आत्मस्वरूपमें विश्रान्त होनेके उपाय बतलाते हैं—'उपाय' इत्यादिसे ।

इस आत्मस्वरूपमें विश्रान्ति पानेका प्रथम उपाय निरन्तर अध्यात्मशास्त्रका अभ्यास और दूसरा साधु पुरुषोंकी सङ्गति है तथा तीसरा उपाय इस निर्वाणमें ध्यान है । सज्जनो, इनमें उत्तरोत्तर उपाय श्रेष्ठ हैं ॥ ५१ ॥

नित्य अपरोक्ष, अपरिच्छिन्न यही ब्रह्मचिति जीव नामक अपने प्रतिबिम्बके दर्पणस्वरूप अन्तःकरणभूत उपाधिके कारण परस्पर भिन्न-भिन्नरूपको ग्रहण करती है । प्रिय तथा अप्रिय विषयोंका संघटन करनेवाले ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त शेष विशेष पदार्थोंसे सम्बन्ध पाकर अपने-अपने कर्मोंकी विचित्रताके कारण सम और विषम भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उदित होती है ॥ ५२ ॥

इस तरह अनादि कालसे इस संसारमें चक्कर लगा रहे जीवोंके बीचमें भाग्य-वशात् किसी एकको ज्ञान प्राप्त करने योग्य जन्म मिल जानेपर शास्त्रोंके निरन्तर अभ्यास तथा महात्माओंकी सङ्गतिसे उपायप्राप्ति द्वारा पूर्वापर सम्पूर्ण जन्म-भ्रमणरूप जगद्रूपी शतरंज खेलनेकी बिसातकी* जानकारी हो जानेसे उस पुरुषश्रेष्ठको ज्ञान और वैराग्यरूपी दो दीपकोंमेंसे किसी एककी सिद्धि हो जानेपर दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तब ज्ञानरूपी अग्निसे भस्मीभूत हुई जगत्-रूपी सब रूई बुद्धिरूपी झंझा-वातसे शीघ्र उड़कर परम शान्त चिदाकाशमें न जाने कहाँ चली जाती है ॥ ५४ ॥

---

* शतरंज या चौपड़ आदि खेलनेके कपड़े या बिछौनेकी, जिसपर खाने बने रहते हैं ।

चित्राग्निनेव बोधेन तेन जाड्यं न शाम्यति ।
निर्मूलाऽपि जगद्भ्रान्तिर्येनाऽऽशु न विलीयते ॥ ५५ ॥
यथाऽज्ञस्य जगज्ज्ञप्तिरपज्ञानात्प्रदीप्यते ।
तथा ज्ञस्य परिज्ञानात्तदज्ञप्तिः प्रदीप्यते ॥ ५६ ॥
तज्ज्ञस्याज्ञजगज्ज्ञप्तिशब्दार्थरहिता स्थिता ।
यथास्थितैव त्रिजगज्ज्ञप्तिश्चित्र इवोदिता ॥ ५७ ॥
शून्यत्वेनैव रचिता सुप्तत्वेनेव निर्मिता ॥ ५८ ॥
भासते भामयी वाञ्छा जगज्ज्ञप्तिर्ज्ञचेतसि ।
नूनं बोधेऽविमूढस्य नाहन्ता न जगत्स्थितिः ॥ ५९ ॥

भ्रान्तिके निवारणमें समर्थ जो बोध है वही मूलाज्ञानरूप जड़ताके विनाशमें हेतु है, न कि ऊपरी ज्ञान, यह कहते हैं—'चित्राग्निनेव' इत्यादिसे ।

जिस ऊपरी ज्ञानसे निर्मूल भी जगत्की भ्रान्ति शीघ्र नष्ट नहीं हो जाती उस ज्ञानसे मनुष्यका अज्ञान ऐसे शान्त नहीं होता, जैसे कि चित्रलिखित अग्निसे मनुष्यका जाड़ा ॥ ५५ ॥

अज्ञानीके अभिनिवेशरूपी अज्ञानसे जैसे संसारकी भ्रान्ति प्रतिदिनकी अभिवृद्धिसे बढ़ती ही जाती है वैसे ही तत्त्वज्ञानीके परिज्ञानकी दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धिसे उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें अज्ञान भी नित्यप्रति अधिक दग्ध होता जाता है ॥ ५६ ॥

अज्ञानके दग्ध होते समय तत्त्वज्ञानीको जगत्का भान कैसा होता है ? यह कहते हैं 'तज्ज्ञस्य' इत्यादिसे ।

अज्ञानीको जैसा जगत्का ज्ञान स्थित रहता है उस अज्ञानीके जगत्-ज्ञान शब्दार्थसे रहित ही, स्वस्वरूपमें स्थित, चित्रमें लिखित-जैसा, सुप्त पुरुषके द्वारा निर्मितके सदृश एकमात्र शून्यरूपसे विरचित ही तीनों जगत्का भान तत्त्वज्ञानी पुरुषको होता है ॥ ५७,५८ ॥

ज्ञानी पुरुषके चित्तमें जगत्की ज्ञप्ति तथा अभिलाषा आदि चित्प्रकाशस्वरूप ही भासता है । इसमें सन्देह नहीं कि बोध होनेपर ज्ञानीका न तो अहङ्कार रहता है और न जगत्की स्थिति ही रहती है ॥ ५९ ॥

भासते परमाभासरूपिणः काऽप्यवस्थितिः ।
बोधाबोधात्मकं चित्तं भाति शुष्कार्द्रकाष्ठवत् ॥ ६० ॥
बोधादेकं जगद्भावैर्जाड्यान्नात्मत्वमागतम् ।
मिथोऽबोधाद्विवदति मैत्रीं भजति बोधतः ॥ ६१ ॥
य एवास्याधिको भागस्तन्मयत्वेन तिष्ठति ।
बुधः सतत्त्वं नावैति जगतोऽभावभावयोः ॥ ६२ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां स्वभावमिव तुर्यगः ।
वासनैव मनः सेयं स्वविचारेण नश्यति ॥ ६३ ॥

ज्ञानीको तो परमप्रकाशस्वरूप इस संसारकी कोई अपूर्व स्थिति भासती है। और अर्धज्ञानी पुरुषका चित्त सूखे तथा गीले काठके तुल्य बोध और अबोधरूपसे स्थित रहता है ॥ ६० ॥

बोध होनेके कारण वह अर्धज्ञानी पुरुष नानाविध भावपदार्थोंसे परिपूर्ण इस जगत्को एक आत्मतत्त्वरूप समझता है। तथा जड़ताके विद्यमान रहनेसे वह इस जगत्को एक आत्मरूपसे स्थित नहीं भी देखता है। चूँकि उसमें दोनों स्वभाव उपस्थित रहते हैं, इसलिए जब उसमें बोधकी अधिकता होती है तब वह सभी प्राणियोंमें अत्यन्त मित्रताका बर्ताव करने लग जाता है—अपने ही समान उन्हें भी सुख-दुःखसे युक्त समझने लगता है। और जब उसमें अज्ञानांशकी अधिकता होती है तब वह परस्पर विवाद करने लगता है ॥ ६१ ॥

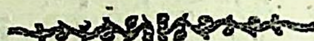
ज्ञान और अज्ञान—इन दोनोंमें जो भाग इसका प्रबल पड़ता है तद्रूप होकर वह रहता है, किन्तु जिसका ज्ञान परिपक्व हो चुका है वह तो जगत्की सत्ता और असत्ताकी यथार्थता बिलकुल ऐसे नहीं जानता ॥ ६२ ॥

जैसे कि सप्तम भूमिकामें आरूढ़ पुरुष जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिको नहीं देखता। [ध्यानरूपी वृक्षके नीचे मनरूपी हरिणको विश्रान्ति प्राप्त होती है, इसीको दूसरे रूपसे परम पुरुषार्थफलकी प्राप्ति बतलानी चाहिए, लेकिन यह न कहकर मनके नाशको ही मोक्षरूपी पुरुषार्थ कैसे कहते हैं, यदि यह कोई आशङ्का करे, तो इसपर कहते हैं—'वासनैव' से] हे श्रीरामचन्द्रजी, वह वासना ही मनरूपी मृग है और यह अपने विचारसे ही नष्ट होता है ॥ ६३ ॥

अवस्तुत्वादतो मोक्षो नात्मनाशे प्रवर्तते ॥ ६४ ॥

ध्यानद्रुमात्स्वयमुपोढमनल्पपाकात्
कालेन बोधमुपयातवतः क्रमेण ।
भुक्त्वा रसायनफलं परबोधमाद्य-
मिच्छन् मनोहरिणको निगडाद्विमुक्तः ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मनोहरिणकोपाख्यानं नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥



इस मनके अवस्तुरूप होनेसे इसके विद्यमान रहते मोक्ष नहीं होता, किन्तु इसके स्वरूपका नाश होते ही वह प्राप्त होता है* ॥ ६४ ॥

इसका सारांश यह निकला कि यह मनका नाश ही मनरूपी मृगके बहाने वर्णित हुए आत्माका मोक्ष है। अब इस वर्णनका उपसंहार करते हैं—'ध्यान०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, अङ्कुर, काण्ड, शाखा, पल्लव, पुष्प, तथा फलपर्यन्त परिणाम-रूप अनल्प (खूब) परिपाक होनेसे अपने समयसे स्वयं बढ़े हुए ज्ञानरूपी फलको प्राप्त किये हुए इस ध्यानरूपी वृक्षसे दूसरे सर्वप्रथम परम रसायन अखण्डाकार वृत्त्यभिव्यक्त परमानन्दरूपी बोधफलका—भुक्त होनेकी चाह कर रहा यह मनरूपी मृग—आस्वाद लेकर इस संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ६५ ॥

पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

---

* इससे सिद्ध है कि कल्पित मनरूपी मृगके बहाने आत्माकी ही अनर्थनिवृत्तिरूपी विश्रान्ति-का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

षट्चत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परमार्थफले ज्ञाते मुक्तौ परिणतिं गते ।
बोधोऽप्यसद्भवत्याशु परमार्थो मनोमृगः ॥ १ ॥
क्वापि सा मृगता याति प्रक्षीणस्नेहदीपवत् ।
परमार्थदशैवास्ते तत्रानन्तावभासिनी ॥ २ ॥
ध्यानद्रुमफलप्राप्तौ बोधतामागतं मनः ।
वज्रसारां स्थितिं धत्ते छिन्नपक्ष इवाचलः ॥ ३ ॥
मनस्ता क्वापि संयाति तिष्ठत्यच्छैव बोधता ।
निर्बाधा निर्विभागा च सर्वाऽखर्वात्मिका सती ॥ ४ ॥

छियालीसवाँ सर्ग

[ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलका आस्वाद लेनेपर मनकी जैसी स्थिति होती है तथा विषयोंसे जैसा दृढ़ वैराग्य उत्पन्न होता है वह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, परमार्थफलके साक्षात् अनुभूत होने तथा मुक्तिकी दृढ़ स्थिति होनेपर परम साक्षात्कारवृत्तिरूप बोध भी अपने उपादानभूत अज्ञानके बाधसे शीघ्र असद्रूप हो जाता है तथा मनरूपी यह मृग भी परमपुरुषार्थरूप—आत्मारूप ही हो जाता है ॥ १ ॥

तेलरहित दीपकके तुल्य पूर्वकालकी इसकी मृगता यानी विषयरूपी तृणोंके अन्वेषणकी स्वभावता न जाने कहाँ चली जाती है। उस समय तो हे श्रीरामचन्द्रजी, अनन्त आत्मस्वरूपका प्रकाश करनेवाली एकमात्र परमार्थदशा ही अवशेष रह जाती है ॥ २ ॥

ध्यानरूपी वृक्षको परमार्थरूप फलकी प्राप्ति हो जानेपर बोधरूपताको प्राप्त यह मन वज्रके समान दृढ़ स्थिति ऐसे धारण कर लेता है, जैसे पंखशून्य पर्वत ॥३॥

बाह्य पदार्थोंके विषयमें मननस्वभावता न मालूम कहाँ चली जाती है और निर्बाध, विभागशून्य, परिपूर्ण अखर्वात्मक सद्रूप एकमात्र स्वच्छ चिन्मात्रता ही अवशिष्ट रह जाती है ॥ ४ ॥

सुविविक्ततया चित्तसत्ता बोधतयोदिता ।
अनाद्यन्ता भवत्यच्छप्रकाशफलदायिनी ॥ ५ ॥
स्वयमेव ततस्तत्र निरस्तसकलेषणम् ।
अनाद्यन्तमनायासं ध्यानमेवावशिष्यते ॥ ६ ॥
यावन्नाधिगतं ब्रह्म न विश्रान्तं परे पदे ।
तावत्तन्मननत्वेन न ध्यानमवगम्यते ॥ ७ ॥
परमार्थैकतामेत्य न जाने क्व मनो गतम् ।
क्व वासना क्व कर्माणि क्व हर्षामर्षसंविदः ॥ ८ ॥
केवलं दृश्यते योगी गतो ध्यानैकनिष्ठताम् ।
स्थितो वज्रसमाधाने विपक्ष इव पर्वतः ॥ ९ ॥
विरसाखिलभोगस्य प्रशान्तेन्द्रियसंविदः ।
नीरसाशेषदृश्यस्य स्वात्मारामस्य योगिनः ॥ १० ॥

जड़ देहादिके अविवेकसे जड़ बनी हुई-सी जो चित्तकी पहले सत्ता थी, वही अब देहादिका ठीक-ठीक परिज्ञान हो जानेके कारण निर्मलस्वरूपसे स्थित हो मानो बोधरूपसे उदित हुई है, क्योंकि वह आदि और अन्तसे शून्य, स्वच्छ आत्मप्रकाशरूपी फल प्रदान करनेवाली है ॥ ५ ॥

उस समय समस्त इच्छाओंसे शून्य रहनेके कारण कोई दूसरी गति न होनेसे वह आदि-अन्तशून्य आत्म-ध्यान ही परिशेषमें अवगत होता है ॥ ६ ॥

कबतक वह ध्यानरूपसे अवगत नहीं होता, यह कहते हैं—'यावद्' इत्यादिसे ।

जबतक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता तथा जबतक वह परम पदमें विश्रान्त नहीं हो जाता, तबतक विषयोंके मननरूपसे वह मन आत्मध्यानरूपसे अवगत नहीं होता ॥ ७ ॥

परमार्थ स्वरूपताको प्राप्त करके तो वह मन न जाने कहाँ चला जाता है। उस समय वासना कहाँ रहती है, कर्म कहाँ रहते हैं तथा हर्ष और क्रोध आदिकी वृत्तियाँ कहाँ रहती हैं—इसका कुछ भी पता नहीं चलता ॥ ८ ॥

ऐसी दशामें योगी एकमात्र ध्यानैकनिष्ठ दिखाई देता है। वज्रके तुल्य दृढ़ समाधिमें वह ऐसे स्थिर हो जाता है, जैसे पक्षशून्य पर्वत ॥ ९ ॥

ध्यानके समान ही उस योगीकी समाधि भी अनायास सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'विरसाखिल०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

क्रमेण विगलद्वृत्तेर्बलाद्विश्रान्तिमीयुषः ।
अर्थायातं समाधानं केन नाम विचार्यते ॥ ११ ॥
तावद्विषयवैरस्यं भावयन्त्युचिताशयाः ।
न पश्यन्त्येव तान्यावद्भोगांश्चित्रनरो यथा ॥ १२ ॥
अपश्यञ्जागतानर्थान्निर्वासनतयाऽऽत्मवान् ।
बलाद्वज्रसमाधाने त्वन्येनेव निवेश्यते ॥ १३ ॥
प्रावृषीव नदीपूरो यः समाधिरुपस्थितः ।
बलादेव तमाधातं भूयश्चलति नो मनः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण भोगोंसे शून्य, इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको शान्त किये हुए, सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें अभिरुचि न रखनेवाले, एकमात्र अपनी आत्मामें ही रमण करनेवाले, क्रमशः अपनी वृत्तियोंको गलाये हुए तथा बिना किसी प्रयासके विश्रान्ति प्राप्त कर चुके योगीकी समाधि अर्थतः सिद्ध हो जाती है, इस विषयमें जब वह ब्रह्मस्वरूप हो गया तब विचार ही करने कौन चलता है ॥ १०,११ ॥

उस योगीको परम वैराग्य भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'तावद्विषय०' इत्यादिसे ।

निर्मल अन्तःकरणवाले योगी लोग विषयोंमें नीरसताकी अनायास ही भावना करने लग जाते हैं। वे उन सभी सांसारिक भोगोंको ऐसे नहीं देखते, जैसे कि चित्रगत मनुष्य चित्रमें लिखित पुरुषोंको ॥ १२ ॥

वासनाशून्य होनेके कारण सांसारिक पदार्थोंको न देख रहा आत्मज्ञानी योगी तो वज्रके तुल्य अभेद्य समाधिमें अन्य पुरुषके द्वारा मानो जबर्दस्ती नियुक्त किया जाता है ॥ १३ ॥

वर्षाकालमें नदीके प्रवाहके तुल्य एकमात्र आनन्दरसका आविर्भाव करानेवाली जो समाधि प्रथम वृत्तिमें उपस्थित होती है उसका—गुडपिपीलिका न्यायके द्वारा * वस्तुस्वभावबलसे ही एकाग्रताको प्राप्त हो—अस्वाद लेता हुआ मन उससे फिर इधर-उधर चलायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

* मिठासके लोभसे जब चींटी गुड़में जाकर चिपट जाती है तब फिर उससे अलग नहीं होती। ठीक वही दशा योगीके मनकी है। आनन्दैकरसका आविर्भाव करानेवाली समाधिका आस्वाद लेकर योगीका मन पुनः उससे पृथक् नहीं होता—यह तात्पर्य है।

सर्वार्थशीतलत्वेन बलाद्ध्याने यदागतम् ।
ज्ञानाद्विषयवैरस्यं स समाधिर्हि नेतरः ॥ १५ ॥
दृढं विषयवैरस्यमेव ध्यानमुदाहृतम् ।
तदेव परिपाकेन वज्रसारं भवत्यलम् ॥ १६ ॥
तदेतद्भोगवैतृष्ण्यं ध्यानमङ्कुरितं हि तत् ।
तदेव पीठबन्धेन बद्धं भवति बन्धुरम् ॥ १७ ॥
सम्यग्ज्ञानं समुच्छूनं सदैवोज्झितवासनम् ।
ध्यानं भवति निर्वाणमानन्दपदमागतम् ॥ १८ ॥

सम्पूर्ण अर्थोंकी शान्ति देनेवाली हठात् प्राप्त हुई ध्यानदशामें ज्ञानबलसे जबर्दस्ती जो विषयोंके भीतर वैराग्य आ जाता है वही समाधि है, दूसरी नहीं। रागादिके कारण खूब जल रहे चित्तमें तो कभी भी किसीकी समाधि नहीं देखी गयी है ॥ १५ ॥

इस तरह ध्यानकी उपपत्ति भी विषयोंसे विरक्ति होनेपर ही होती है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं—'दृढम्' इत्यादिसे ।

विषयोंसे जो दृढ़ वैराग्य है वही ध्यान कहा गया है और खूब परिपक्व हो जानेसे वही वज्रके तुल्य अत्यन्त दृढ़ हो जाता है ॥ १६ ॥

ऐसी स्थितिमें वैराग्यरूपी बीज ही जब अङ्कुरितावस्थामें स्थित रहता है तब ध्यान और जब प्ररूढ़ हो जाता है तब समाधिनामसे कहा जाता है, यों अभेदमें भी भेद-व्यवहार हो सकता है, यह कथन फलित हुआ, यह कहते हैं—'तदेतत्' इत्यादिसे ।

भद्र, विषयोंसे जो वैराग्य है वह अङ्कुरित होनेपर ध्यान कहा जाता है और जब पीठबन्धसे यानी काण्डजनन आदि द्वारा दृढ़ बन्धसे सुन्दर बद्ध हो जाता है तब वही समाधि नामसे कहा जाता है ॥ १७ ॥

साक्षात्कारात्मक वृत्तिसे आविर्भूत ब्रह्म ही अविद्याका उच्छेदक होनेके कारण ज्ञान कहा जाता है, वासनाका उच्छेदक होनेके कारण ध्यान कहा जाता है और सर्वदुःखविच्छेदात्मक आनन्दस्वरूप होनेके कारण निर्वाण कहा जाता है, यह कहते हैं—'सम्यक्' इत्यादिसे ।

साक्षात्कारात्मक वृत्तिमें प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही अविद्योच्छेदकरूप होनेसे

अस्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्‌ध्यानदुर्धिया ।
नास्ति चेद्भोगवैतृष्ण्यं किमन्यद्‌ध्यानदुर्धिया ॥ १९ ॥
दृश्यस्वदनमुक्तस्य सम्यग्ज्ञानवतो मुनेः ।
निर्विकल्पं समाधानमविरामं प्रवर्तते ॥ २० ॥
यस्मै न स्वदते दृश्यं स सम्बुद्ध इति स्मृतः ।
न स्वदन्ते यदा भोगाः सम्यग्बोधस्तथोदितः ॥ २१ ॥
यस्य स्वभावविश्रान्तिः कथं तस्यास्ति भोगिता ।
अस्वभावो हि भोगित्वं तत्क्षये तत्कथं कुतः ॥ २२ ॥

निरन्तर परित्यक्त वासनारूप होनेसे तथा आनन्दपदको प्राप्त होनेसे सम्यक् ज्ञान, ध्यान और निर्वाण रूप कहा जाता है ॥ १८ ॥

यह जो कुछ कहा वह सब विषय-वैराग्यसे ही हो सकता है, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं, इसलिए विषय-वैराग्यको दृढ़ करनेके लिए कहते हैं— 'अस्ति' इत्यादिसे ।

यदि पुरुषमें भोगोंके प्रति विराग विद्यमान है, तो ध्यानरूप दुःखसाध्य बुद्धिसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा । और यदि विराग नहीं है, तो भी ध्यानात्मक दुःखसाध्य बुद्धिसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥ १९ ॥

भद्र, जो पुरुष विषयोंके स्वादसे मुक्त है एवं विवेकज्ञानसे सम्पन्न है उस महामुनिको निर्विकल्पक समाधि निरन्तर लगी रहती है ॥ २० ॥

जिसको विषय नहीं रुचता, उसीको तत्त्वज्ञ लोग ज्ञानी कहते हैं । जब पुरुषको भोग नहीं रुचते तभी उसे सम्यक् ज्ञान उदित होता है ॥ २१ ॥

पूर्ण अद्वय स्वभावसे विरुद्ध भोग उसी समयमें हो सकता है, जिस समयमें अज्ञानके कारण आत्माका असली स्वरूप विपरीत प्रतीत होता है । जब अज्ञानका नाश हो जाता है तब, यह बात नहीं रहती, यह कहते हैं—'यस्य' इत्यादिसे ।

जिस महामुनिकी अपने आत्मस्वभावसे स्थिति हो चुकी उसे भोग कैसे, क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, वह विरुद्धस्वभावके क्षीण हो जानेपर कैसे रह सकता है ॥ २२ ॥

श्रुतपाठजपान्तेषु समाधिनिरतो भवेत् ।
समाधिविरतः श्रान्तः श्रुतपाठजपाञ्छ्रयेत् ॥ २३ ॥
निर्वाणमासीत निरस्तखेदं
समस्तशङ्कास्तमयाभिरामम् ।
सुषुप्तसौम्यं समशान्तचित्तं
शरद्घनाभोगविशुद्धमन्तः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे साम्यावबोधनो नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

—o—

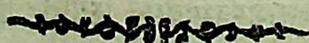
अभ्यासकालमें समाधिसे उठे हुए पुरुषको क्या करना चाहिए और कब समाधि लगानी चाहिए, इस विषयमें क्रम बतलाते हैं—'श्रुत०' इत्यादिसे ।

भद्र, पहले गुरु, सहपाठी आदिके साथ वेदान्तश्रवण करे, उपनिषदोंकी आवृत्ति करे, फिर प्रणवजप करे, इतना सब कर लेनेके बाद समाधिमें तत्पर हो जावे और समाधि टूट जानेपर समाधिश्रान्त वह पुरुष फिर श्रवण, आवर्तन एवं प्रणवजप करे ॥ २३ ॥

यह सब होनेपर भी समाधिकी ओर प्रधान लक्ष्य रखना चाहिए, इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'निर्वाणम्' इत्यादि ।

हे श्रीरामजी, अपने भीतर एकमात्र निर्वाणरूप समाधिकी ओर लक्ष्य रख करके स्थित रहना चाहिए, किसी प्रकारका खेद नहीं करना चाहिए, सारी शङ्काओंको तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए । यही समाधि अतिरमणीय, सुषुप्तिके सदृश परमशान्त, शरत्कालीन विस्तृत बादलोंके सदृश निर्मल है । इसी अवस्थामें चित्त एकरूप और प्रशान्त रहता है ॥ २४ ॥

छियालीसवाँ सर्ग समाप्त



सप्तचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संसारभारसुश्रान्तः संकटेषु लुठत्तनुः ।
योऽभिवाञ्छति विश्रान्तिं तस्य क्रममिमं शृणु ॥ १ ॥
पूर्वं विवेककणिका यदा स्वहृदि जायते ।
संसारनिर्वेदमयी कारणाद्वाप्यकारणात् ॥ २ ॥
तदा श्रयन्ति सच्छायान् साधुत्वसुविशालिनः ।
अध्वश्रमहरांस्तापतप्ता मार्गतरूनिव ॥ ३ ॥
दूरे परिहरत्यज्ञान्यज्ञयूपानिवाध्वगः ।
स्नानदानतपोयज्ञान् करोति विबुधानुगः ॥ ४ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग

[विस्तारसे प्रस्तुत मुक्तिके साधनोंके क्रममें दृढ़ वैराग्यकी प्राप्ति तकके जितने साधन हैं, उन सबका पुनः वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, जो जीव इस संसारके भारको ढोते-ढोते थक गया है तथा मरण, मूर्च्छा आदि सङ्कट-समयको झेलकर जिसका शरीर जर्जर हो गया है, वह विश्रान्ति अवश्य चाहता है। परन्तु उसके लिए जो खास क्रम है यानी विश्रान्ति पानेके लिए प्राप्त किये जानेवाले उन-उन साधनोंसे उत्तम गुणोंके लाभका जो क्रम है, उसे आप सुनिये ॥ १ ॥

सबसे पहले विवेकरूपी अङ्कुरका उदय होनेपर जिन गुणोंकी प्राप्ति होती है, उन्हें बतलाते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे।

कारणविशेषसे यानी ऐहिक यज्ञ, दान, तप आदि पापक्षयके हेतुभूत सत्कर्मोंसे या अकारणसे यानी पूर्वजन्मार्जित यज्ञ आदि सत्कर्मोंसे जभी अपने हृदयमें पहले संसारसे विरक्ति पैदा करनेवाली विवेककी मात्रा उत्पन्न हो जाती है, तभी उत्तम छाया देनेवाले तथा साधुताके रूपसे चारों ओर फैले हुए गुणोंको संसार-तापतप्त पुरुष ऐसे आश्रयण करते हैं, जैसे सूर्यके तापसे तपे हुए पुरुष मार्गकी थकावट हरनेवाले मार्गके वृक्षोंका आश्रयण करते हैं ॥ २–३ ॥

ऐसा होनेपर पहले अज्ञानियोंके संसर्गका त्याग, यज्ञ-दान आदिमें तत्परता तथा देवताराधन आदि गुण उत्पन्न होते हैं, यह कहते हैं—'दूरे' इत्यादिसे।

पेशलं चानुरूपं च व्यवहारमकृत्रिमम् ।
लोकयमाह्लादनं धत्ते चन्द्रबिम्बमिवामृतम् ॥ ५ ॥
परप्रज्ञानुगो भव्यः परार्थपरिपूरकः ।
पवित्रकर्मरसिकः कोऽपि सौम्यः प्रवर्तते ॥ ६ ॥
नवनीतस्थलीवाच्छा स्निग्धा मृद्वी मनोहरा ।
जनं सुखयति स्वाद्वी तदीया नवसङ्गतिः ॥ ७ ॥
शीतलानि पवित्राणि चरितानि विवेकिनः ।
इन्दोरिवांशुजालानि जनं शीतलयन्त्यलम् ॥ ८ ॥
न तथोद्यानखण्डेषु पुष्पप्रकरहारिषु ।
विश्राम्यते वीतभयं यथा साधुसमागमे ॥ ९ ॥

ऐसा पुरुष पहले तो अज्ञानियोंको उस तरह दूरसे ही छोड़ देता है, जैसे पथिक यज्ञयूपको दूरसे ही छोड़ देता है। ज्ञान, दान, तप, यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है और निरन्तर तत्त्वज्ञोंका पदानुसरण करता है ॥ ४ ॥

जिस तरह चन्द्रमाका बिम्ब लोगोंको आनन्द देनेवाला अमृत धारण करता है, उसी तरह विद्वान् कोमल, अनुरूप, परिणाममें लोगोंके लिए हितकारक तथा आनन्ददायी अकृत्रिम व्यवहार धारण करता है ॥ ५ ॥

ऐसा विद्वान् अपने पक्षमें न अनुराग रखता है और न लोभ या अभिमान ही रखता है, सदा परके हितमें निरत रहता है, इसीसे परप्रज्ञानुग कहा जाता है। वह सभी जनोंका प्रिय होता है, पवित्र शास्त्रानुकूल कर्मोंमें रसिक बना रहता है तथा इन सब गुणोंके कारण सबसे ऊँचा होकर वह विचरण करता रहता है ॥६॥

ऐसे महापुरुषकी पहली सङ्गति ही पुरुषको सुख पहुँचाती है, उसकी सङ्गति मक्खनके आश्रय दहीके सदृश स्वच्छ होती है तथा स्नेहसे भरपूर, कोमल, मनोहर और स्वादु रहती है ॥ ७ ॥

विवेकी पुरुषोंके चन्द्रमाकी किरणोंके सदृश चरित्र अत्यन्त पवित्र और शीतल रहते हैं, इसलिए प्रत्येक पुरुषके भीतर अत्यन्त ठंढक पहुँचाते हैं ॥ ८ ॥

जैसी साधु पुरुषके समागमसे निर्भय शान्ति मिलती है, वैसी शान्ति मनोहर पुष्पोंके ढेरोंसे भरे उद्यानखण्डोंमें भी नहीं मिलती है ॥ ९ ॥

मन्दाकिनीपयांसीव संगतानि विवेकिनाम् ।
प्रक्षालयन्ति पापानि प्रयच्छन्ति विशुद्धताम् ॥ १० ॥
विवेकिषु विरक्तेषु संसारोत्तरणार्थिषु ।
जनः शीतलतामेति हिमहारगृहेष्विव ॥ ११ ॥
ननु नाम रतोदारा या विवेकिनि विद्यते ।
सुरगन्धर्वकन्यासु मानवीषु न विद्यते ॥ १२ ॥
प्रज्ञा प्रसादमायाति क्रमादुचितकर्मणः ।
अन्तःकरोति शास्त्रार्थमर्थं मुकुरभूरिव ॥ १३ ॥
सत्प्रज्ञोन्नतिमायाति शास्त्रार्थरसशालिनी ।
विवेकिनि विलासेन कदलीव महावने ॥ १४ ॥
अन्तरेवानुभवति सर्वार्थान्प्रतिबिम्बितान् ।
आदर्शवदशेषेण प्रज्ञा नैर्मल्यशालिनी ॥ १५ ॥

जैसे भगवती भागीरथीके निर्मल जल पाप धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं, वैसे ही विवेकियोंके समागम भी पुरुषोंके पाप धो डालते और शुद्धता प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

संसार पार पानेकी इच्छा रखनेवाले विरक्त विवेकी पुरुषोंका समागम होनेपर पुरुष ऐसी शीतलता प्राप्त करता है, जैसी हिम एवं पुष्पहारोंसे निर्मित घरोंमें वास करनेपर ॥ ११ ॥

भद्र, जैसी उदार प्रीति विवेकी पुरुषमें रहती है, वैसी उदार प्रीति देवता, गन्धर्व और मानवकी कन्याओंमें भी नहीं रहती ॥१२ ॥

क्रमसे किये गये उचित निष्काम कर्मसे बुद्धिका मल हट जाता है, बुद्धिका मल हट जानेपर आत्मजिज्ञासाका आविर्भाव हो जाता है और गुरुजीके मुखसे सुना गया शास्त्रका अर्थ मनुष्यके हृदयके भीतर ऐसे पैठ जाता है, जैसे दर्पणतलके भीतर प्रतिबिम्ब पैठ जाता है ॥ १३ ॥

विवेकसे पूर्ण हृदयमें शास्त्रार्थरससे पूर्ण होकर उत्तम प्रज्ञा ऐसे बढ़ने लग जाती है, जैसे महावनमें मूलप्ररोहादिके विस्तारसे कदली बढ़ने लग जाती है ॥१४॥

आदर्शके सदृश, निर्मलतासे शोभित बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित समस्त वस्तुओंका अपने अन्दर ही मनके विलासके रूपमें पूर्ण अनुभव करती है ॥ १५ ॥

साधुसंगमशुद्धात्मा शास्त्रार्थपरिमार्जितः ।
प्राज्ञो भात्युद्धृतं वह्वेरग्निशौचमिवांशुकम् ॥ १६ ॥
क्वचत्काञ्चनकान्तेन विमलालोककारिणा ।
भुवनं भास्करेणेव भाति साधुः स्वतेजसा ॥ १७ ॥
तथाऽनुगच्छति प्राज्ञः शास्त्रसाधुसमागमौ ।
यथाऽत्यन्तानुषङ्गेण तावेवानुभवत्यसौ ॥ १८ ॥
क्रमात्सज्जनतामेत्य शास्त्रार्थभरभावितः ।
भाति भोगानधःकुर्वन्पञ्जरादिव निर्गतः ॥ १९ ॥
भोगाभिगमदौर्भाग्यं तेनानुदिनमुज्झता ।
तेन तत्कुलमाभाति ताराचक्रमिवेन्दुना ॥ २० ॥

साधुओंके समागमसे शुद्धबुद्धि हुआ तथा शास्त्रके अर्थोंसे परिमार्जित हुआ प्राज्ञ (विवेकी) पुरुष अग्निसे निकाले गये विद्युत्पुञ्जके सदृश चमकदार वस्त्ररत्नकी नाईं भासता है ॥ १६ ॥

विवेकी पुरुष चमकीले सुवर्णके सदृश चमक रहे तथा निर्मल आलोक करनेवाले अपने आत्मप्रकाशसे सूर्यकी नाईं समस्त भुवनको प्रकाशित कर देता है ॥ १७ ॥

विवेकसम्पन्न तत्त्वज्ञ पुरुष अभ्यास द्वारा शास्त्रका और सेवा आदिवृत्तिसे गुरुसमागमका वैसा निरन्तर अनुसरण करता है, जिससे कि गुरुके उपदिष्ट अर्थमें अत्यन्त आसक्तिके कारण स्वप्नमें भी शास्त्र एवं गुरुके चिन्तन तथा सेवनमें निरत होकर उन्हीं दोनोंका (शास्त्र और गुरुसमागमका) अनुभव करता है ॥ १८ ॥

क्रमशः राग आदि दोषोंका विनाश एवं मैत्री आदि गुणोंका संचय कर वह निर्दोष और गुणवान् बनकर शास्त्रमें—उपनिषत्‌में—कहे गये अर्थोंकी भावनासे पूर्ण भावुक बन जाता है। फिर पिंजड़ेसे छुटकारा पाये हुएके सदृश स्वतन्त्र होकर तथा भोगोंका तिरस्कार कर प्रकाशने लग जाता है ॥ १९ ॥

भद्र, व्यसनी बनकर विषयोंके प्रति दौड़ना बड़ा भारी दौर्भाग्य है, इस दौर्भाग्यका दिनपर दिन त्यागकर रहे उस विवेकशील पुरुषके द्वारा उसका वंश उस तरह चमकने लग जाता है, जिस तरह चन्द्रमाके द्वारा तारोंका समूह चमकने लग जाता है ॥ २० ॥

अभोगकृपणा कापि नवैवास्य प्रवर्तते ।
मुखे कान्तिरपूर्वेव चन्द्रे राहुमृते यथा ॥ २१ ॥
तृणीकृतत्रिजगतां महतामभिधेयताम् ।
स याति कल्पविटपी नभसीव दिवौकसाम् ॥ २२ ॥
भोगानां द्वेषणेनान्तर्लज्जमानो मनस्यपि ।
भोगानामप्यसंपत्त्या परमं परितुष्यति ॥ २३ ॥
स्वा एवोपहसत्यन्तस्तरुणीस्तरलक्रियाः ।
खेदस्मेरमुखो जातीर्जातिस्मर इवाधमः ॥ २४ ॥
अथ तं द्रष्टुमायान्ति सौहार्देनैव साधवः ।
भूमाविवोदितं चन्द्रं विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥ २५ ॥

इस विवेकीके मुखमें भोगलम्पटतासे निर्मुक्त कोई अनिर्वचनीय अपूर्व ही कान्ति ऐसे जगमगाने लग जाती है, जैसे राहुसे छुटकारा पा जानेपर चन्द्रमामें कान्ति जगमगाने लग जाती है ॥ २१ ॥

जिन लोगोंने तीनों जगत्‌को भी तृणरूप समझ लिया है, उन महान् आत्माओं द्वारा यह ऐसे प्रशंसापदको प्राप्त होता है, जैसे स्वर्गमें देवताओं द्वारा कल्पवृक्ष ॥ २२ ॥

भद्र, विवेकीको जो कुछ भोगसाधन प्राप्त होते हैं, उनका परित्याग कर वह सन्तुष्ट तो होता है, परन्तु कुछ लज्जाग्रस्त बना रहता है, क्योंकि उसके मनमें इस बातकी शर्म रहती है कि मैंने सभीसे जब द्वेष छोड़ दिया तब भोगोंके प्रति द्वेष क्यों कर रहा हूँ। और यदि भोगसाधन विषय उसे प्राप्त ही नहीं हुए, तो वह अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि इस अवस्थामें उसे द्वेष करनेका मौका ही नहीं मिलता ॥ २३ ॥

यदि अधम चाण्डाल आदिको दैववशात् अपनी पूर्वजन्मकी उच्च—जातिका स्मरण हो गया, तो वह अपनी इस जन्मकी जातिको जैसे मनमें धिक्कारता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी पहलेकी राग आदिसे प्रौढ तथा भोगकी उत्कण्ठासे तरल हुई अपनी क्रियाओंका स्मरण कर खेदसे कुछ हसमुख होकर अपने भीतर उनको धिक्कारता है ॥ २४ ॥

इस तरहके पुरुषको एक तरहसे पृथ्वीमें उदयको प्राप्त चन्द्रमा ही समझना

नित्यानादृतभोगोऽसौ ततोऽप्युचितया धिया।
प्राप्तमप्युचितारम्भं भोगं न बहु मन्यते ॥ २६ ॥
पूर्वं संसृतिवैरस्यमन्तरेवोदितात्मनः।
जायते जीर्णजाड्यस्य पाकादिव शरत्तरोः ॥ २७ ॥
ततः सज्जनसम्पर्कमुदर्कश्रेयसे स्वयम्।
करोति स्वस्थतागृध्नुर्भिषगाश्रयणं यथा ॥ २८ ॥
तेनोदारमतिर्भूत्वा शास्त्रार्थेषु निमज्जति।
महान्महाप्रसन्नेषु सरःस्विव महागजः ॥ २९ ॥
सज्जनो हि समुत्तार्य विपद्भ्यो निकटस्थितम्।
नियोजयति संपत्सु स्वालोकेष्विव भास्करः ॥ ३० ॥

चाहिए, इसे देखनेके लिए केवल परम प्रेमसे ही विस्मयसे प्रफुल्ल नेत्रोंवाले सिद्ध पुरुष आते हैं ॥ २५ ॥

सदा ही भोगोंके प्रति यह आदर नहीं रखता, इसीलिए उन सिद्ध महात्माओंके द्वारा अत्यन्त प्रसन्नतासे दिये गये अनिषिद्ध सिद्धि आदि विषयोंको भी श्रेष्ठ नहीं समझता—उनकी ओर कुछ भी अधिक आस्था नहीं रखता ॥२६॥

उन भोगोंके प्रति उसे जो अधिक आदर नहीं होता, इसमें कारण यह है कि गुरु और शास्त्रके समागमसे भोगोंके प्रति पहलेसे ही उसके मनमें नीरसता पैदा हो जाती है तथा उसकी जड़ता भी जीर्ण-शीर्ण ऐसे हो जाती है, जैसे शरद् ऋतुका पौधा पाकसे जीर्ण-शीर्ण हो जाता है ॥ २७ ॥

अनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला पुरुष वैद्यकी शरण लेता है, वैसे ही अपने भावी अधिक कल्याणके लिए स्वयं ही वह सज्जनोंकी शरण लेता है ॥२८॥

सज्जनोंके समागमसे उसकी बुद्धि बड़ी उदार हो जाती है, उदारबुद्धि होकर वह उपनिषद्के महावाक्यार्थोंके विचारमें ऐसे डूब जाता है, जैसे अत्यन्त प्रसन्न सरोवरोंमें महान् हाथी डूब जाता है ॥ २९ ॥

क्योंकि सज्जनका यह स्वभाव है कि वह अपने पास स्थित प्राणीको बड़ी बड़ी आपत्तियोंसे उबार कर सम्पत्तियोंमें ऐसे सम्बन्ध करा देता है, जैसे सूर्य अन्धकारसे उबारकर अपनी प्रकाशमय दीप्तियोंमें सम्बन्ध करा देता है ॥ ३० ॥

परस्वादानविरतिः पूर्वमेव प्रवर्तते ।
विवेकिनो निजार्थेषु सन्तोषश्चोपजायते ॥ ३१ ॥

परस्वादानविरतः सन्तोषामृतनिर्भरः ।
विवेकी क्रमशः स्वार्थानप्युपेक्षितुमिच्छति ॥ ३२ ॥

ददाति कणपिण्याकशाकाद्यपि हि याचते ।
तेनैवाभ्यासयोगेन स्वमांसानि ददात्यसौ ॥ ३३ ॥

नूनं विलयचित्तानां विवेकमनुधावताम् ।
मौर्ख्यं लघुत्वमायाति धावतामिव गोष्पदम् ॥ ३४ ॥

परार्थादानविरतिं पूर्वमभ्यस्य यत्नतः ।
आहर्तव्या विवेकेन ततः स्वार्थेष्वरक्तता ॥ ३५ ॥

जो विवेकी है उसकी बुद्धि पहलेसे ही दूसरेका धन लेनेसे विरत बनी रहती है और अपने ही अर्थोंसे उसे सन्तोष बना रहता है ॥ ३१ ॥

दूसरेके धनग्रहणसे विरत तथा सन्तोषरूपी अमृतसे निर्भर विवेकी पुरुष क्रमसे उत्तरोत्तर अपने स्वार्थोंकी भी उपेक्षा करनेकी इच्छा करता है, ऐसी स्थितिमें वह दूसरेका अर्थ तो चाहेगा ही कैसे ? ॥ ३२ ॥

उसके पास जो कोई याचक आ जाय, उसे कण, पिण्याक (तिल या सरसोंकी खली), शाक आदि जो कुछ भी हो दे देता है, उसी अभ्यासयोगके प्रभावसे याचकोंको अपना मांस भी दे डालता है ॥ ३३ ॥

विवेकके अनुसरणसे जिनका चित्त लीन हो गया है उनका दिनपर दिन ज्ञान बढ़ता ही जाता है और अज्ञान क्षीण होता जाता है, यह कहते हैं— 'नूनम्' इत्यादिसे ।

विवेकके पीछे-पीछे दौड़ रहे तथा चित्तकी विलयदशाको प्राप्त हुए पुरुषोंका अज्ञान ऐसे तुच्छ हो जाता है, जैसे दौड़ रहे घोड़ोंके लिए बड़ा भारी गड्ढा भी गोष्पदकी नाईं तुच्छ यानी अनायास उल्लङ्घनयोग्य हो जाता है ॥ ३४ ॥

विवेकीको सबसे पहले प्रयत्नपूर्वक दूसरेका धन लेनेसे निवृत्त हो जाना चाहिए और इसका भली प्रकार अभ्यास कर फिर अपने विवेकसे स्वार्थोंसे भी विरक्ति ग्रहण करनी चाहिए ॥ ३५ ॥

ततो भोगनिरासेन सह स्वार्थनिराकृतिः ।
परमायै सुविश्रान्त्यै क्रियते कृतिभिः क्रमात् ॥ ३६ ॥
न तादृशं जगत्यस्मिन् दुःखं नरककोटिषु ।
यादृशं यावदायुष्कमर्थोपार्जनशासनम् ॥ ३७ ॥
आसने शयने याने गमने रमणे जने ।
आधिचिन्तापरा एव ननु मूढा विदन्तु ताम् ॥ ३८ ॥
नन्वर्था विततानर्थाः सम्पदः सन्ततापदः ।
भोगा भवमहारोगा विपरीतेन भाविताः ॥ ३९ ॥
तावन्नायाति वैरस्यं चिन्ताविषयजृम्भणैः ।
यावदर्थमहानर्थो न कदर्थार्थमर्थ्यते ॥ ४० ॥

इसके बाद भोगनिवृत्तिके साथ-साथ अपने स्वार्थोंको भी क्रमशः तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, क्योंकि तत्त्वज्ञ लोग उत्तम शान्तिके लिए यही काम किया करते हैं ॥ ३६ ॥

श्रीरामजी, यह बात आप निश्चित मानिये कि जीवनपर्यन्त जैसा अर्थोपार्जनके लिए झेला गया दण्डरूप ऐहिक पारलौकिक दुःख है, वैसा दूसरा दुःख इस जगत्में करोड़ों नरकोंमें भी विद्यमान नहीं है ॥ ३७ ॥

जो मूढ़ पुरुष हैं, उनको पारलौकिक दुःखोंका स्मरण भले ही न हो, पर ऐहिक दुःखोंका तो उन्हें स्मरण करना ही चाहिए, यह कहते हैं—'आसने' इत्यादिसे ।

भद्र, आसनके लिए, शयनके लिए, सवारीके लिए, जानेके लिए, आनन्द मनानेके लिए तथा अपने जनके लिए कितनी बड़ी पुरुषोंको मानसिक चिन्ता बनी रहती है, इसलिए अज्ञानियोंको उसे अवश्य स्मरण करना चाहिए कि अर्थोपार्जनके लिए यहाँ कितना दुःख है ॥ ३८ ॥

भद्र, यदि विवेकसे विचारा जाय, तो ये अर्थ बड़े भारी अनर्थरूप, सम्पत्तियाँ महान् विपत्तिरूप और भोग संसारके महान् रोगरूप ही सिद्ध होते हैं। परन्तु मोहके कारण प्राणी उनको वैसा नहीं समझता ॥ ३९ ॥

जबतक पुरुष निन्दनीय ऐहिक या पारलौकिक अर्थोंके लिए महान् दुःखरूप अनर्थ झेलनेकी इच्छा नहीं करता, तभीतक पुरुष चिन्तित अर्थोंके कारण उत्पन्न सन्तापोंसे नहीं सूखता ॥ ४० ॥

अनुत्तमसुखं यस्मै चिराय परिरोचते ।
जगत्तृणशिखादृष्ट्या सोऽर्थं पश्यतु शाम्यतु ॥ ४१ ॥
भूरिभावविकाराणां जरामरणकर्मणाम् ।
दैन्यदौरात्म्यदाहानामर्थः सार्थ इति स्मृतः ॥ ४२ ॥
अस्मिन् जगति जन्तूनां जरामरणशालिनाम् ।
अजरामरणं कर्तुं सन्तोषोऽस्ति रसायनम् ॥ ४३ ॥
वसन्तो नन्दनोद्यानमिन्दुरप्सरसः स्मृताः ।
इत्येकतः समुदितं सन्तोषामृतमेकतः ॥ ४४ ॥

जिस पुरुषको मोक्षका सुख ही सदाके लिए सबसे बढ़-चढ़कर जँचता हो, वह पुरुष धनको यह समझे कि वह जगत् रूपी तिनकेके अग्रिम हिस्सेके सदृश अत्यन्त तुच्छ है और यह समझकर उससे शान्ति ग्रहण करे यानी उसे प्राप्त करनेके लिए अनर्थके फन्देमें न फँसे ॥ ४१ ॥

धनमें तुच्छता दृढ़ करनेके लिए बार-बार उसकी निन्दा करते हैं—'भूरि०' इत्यादिसे ।

भद्र, यह जो धन है, उसको मुनियोंने यह कहकर याद किया है कि वह चिन्ता, शोक आदि भावविकारोंका, जरा, मरणके जनक दुष्ट कर्मोंका तथा दीनता, दुष्टता, जलन आदिका ढेर है ॥ ४२ ॥

सन्तोष ही वैराग्यमें बैठाकर पुरुषको सब दुःखोंसे छुटकारा दिलाता है, इसलिए अब सन्तोषकी स्तुति करते हैं—'अस्मिन्' इत्यादिसे ।

इस जगत्में बुढ़ौती और मरणसे आक्रान्त जन्तुओंको अजर और अमर बनानेके लिए सन्तोष ही एक रसायन (अमृत) है ॥ ४३ ॥

सभी प्रकारके सुखोंका कारण भी वही है, यह कहते हैं—'वसन्तो' इत्यादिसे ।

सुखके साधन एक ओर तो वसन्त, नन्दनवन, चन्द्रमा और अप्सराएँ कही गई हैं और एक ओर पूर्ण सन्तोषरूपी अमृत कहा गया है यानी अकेला सन्तोषरूपी अमृत सुख देनेकी जितनी सामर्थ्य रखता है उतनी वसन्त आदि सब मिलकर भी नहीं रखते ॥ ४४ ॥

सरसः प्रावृषेवान्तःसन्तोषेणैव पूर्णता ।
गम्भीरां शीतलां हृद्यां प्रसन्नां रसशालिनीम् ॥ ४५ ॥
साधुरोजस्वितामेत्य सन्तोषेणैव राजते ।
सुपुष्पितवनाकारो वसन्तेनेव पादपः ॥ ४६ ॥
पादपीठपरामर्शपिष्टकीटवदीहते ।
दीनप्रकृतिरर्थार्थी दुःखाद्दुःखान्तरं व्रजेत् ॥ ४७ ॥
कल्लोलविकलाः क्षुब्धसमुद्रपतिता इव ।
नाप्नुवन्ति स्थितिं स्वस्थां विकृताकृतयोऽर्थिनः ॥ ४८ ॥
सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्तुङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ४९ ॥
अर्थोपार्जनरक्षाणां जानन्नपि कदर्थनाम् ।
यः करोति स्पृहां मूढो नृपशुं तं न संस्पृशेत् ॥ ५० ॥

जैसे सरोवर अपने भीतरकी परिपूर्णता वृष्टिसे कर सकता है, वैसे ही पुरुष भी अपने भीतर परिपूर्णता सन्तोषसे ही कर सकता है । सज्जन पुरुष गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसपूर्ण ओजस्विताको सन्तोषके ही द्वारा प्राप्त कर सुन्दर पुष्पोंसे युक्त वन के सदृश होकर ऐसे शोभित होने लगता है, जैसे बसन्तसे वृक्ष ॥ ४५, ४६ ॥

जो पुरुष सन्तोष धारण नहीं करता और अर्थोंके लिए लालायित रहता है, उसकी प्रकृति ठीक उस कीटकी तरह दीन बन जाती है, जो कीट जूतोंसे पहले आहत होकर रगड़ खा गया है । इस तरहका असन्तुष्ट जीव एक दुःखसे दूसरे दुःखकी ओर जाता ही है, दुःखोंसे छुटकारा नहीं पाता ॥ ४७ ॥

धनके लोभी जीवोंकी आकृतियाँ (आकार) विकृत ही रहा करती हैं और वे अपनी स्वस्थ स्थिति ऐसे प्राप्त नहीं कर सकते, जैसे कि क्षुब्ध समुद्रमें गिरे हुए तथा तरङ्गोंसे विकल हो उठे पुरुष ॥ ४८ ॥

अर्थसम्पत्ति और प्रमदा—ये दोनों वस्तुएँ तरङ्गोंके सदृश थोड़ी ही देरमें नष्ट हो जानेवाली हैं और वे सर्पके फनरूप छत्रकी छाया ही हैं, अतः कौन विद्वान् उनसे खेल करेगा ? ॥ ४९ ॥

धनके उपार्जन और रक्षणमें जो भारी यातनाएँ होती हैं, उनको जानकर

मनसो बाह्यमारम्भमान्तरं च लुनाति यः ।
समं वैतृष्ण्यदात्रेण तस्य क्षेत्रं प्रकाशते ॥ ५१ ॥
जगत्त्वमज्ञसंबुद्धं ज्ञो विदन्नसदेव यत् ।
सतीव तत्र स्फुरति तदनभ्यासजृम्भितम् ॥ ५२ ॥
संसारनिर्वेददशामुपेत्य
सत्सङ्गमं शास्त्रमुपेत्य तेन ।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान्
वैतृष्ण्यदार्ढ्यात्परमार्थमेति ॥५३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे मुमुक्षुप्रथमोपक्रमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

भी जो धनकी इच्छा करता है, वह मूढ़ और नरपशु है उसे छूनातक नहीं चाहिए ॥ ५० ॥

जो पुरुष सन्तोषरूपी हँसुआसे एक साथ बाहरकी इन्द्रियोंके वर्तनको और भीतरके सङ्कल्प आदिको काट डालता है, उसका खेत यानी ज्ञानबीजकी उत्पत्तिका स्थान हृदय प्रकाशने लगता है ॥ ५१ ॥

दृढ़ वैराग्यकी प्राप्तितकके जितने गुण अभी-अभी पीछे बतलाये गये हैं वे भलीभाँति अभ्यस्त होनेपर ही ज्ञानकी स्थिति बना देते हैं, ऊपर-ऊपरसे अभ्यस्त होनेपर नहीं, इस आशयको लेकर उपसंहारकी इच्छासे कहते हैं—'जगत्त्व०' इत्यादिसे ।

भद्र, अज्ञानियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली जगत्‌की जो विचित्रता है, वह साक्षी आत्मामें सत्यता रखती ही नहीं, यों जान रहा भी ज्ञानी जगत्‌में सत्य अर्थ समझनेवाले अज्ञके सदृश जो अपरिपक्व ज्ञानके कारण व्यवहार करता है, वह प्रस्तुत वैराग्यादिके अनभ्यासका ही परिणाम है ॥ ५२ ॥

पुरुषको सबसे पहले संसारमें विरागदशा प्राप्त करनी चाहिए, फिर सत्समागम और शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिए, अनन्तर 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रोंके अर्थोंकी दृढ़ भावना कर भोगोंसे विरक्त हो जाना चाहिए, इतना करनेके अनन्तर अभी कहे गये वैतृष्ण्यकी यानी सन्तोषकी दृढ़ता बन जायगी और फिर अपने असली स्वरूपको वह अवश्य प्राप्त हो जायगा ॥ ५३ ॥

सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

रूढे संसारनिर्वेदे स्थिते साधुसमागमे ।
शास्त्रार्थे भाविते बुद्ध्या भोगवैतृष्ण्य आगते ॥ १ ॥
जाते विषयवैरस्ये सज्जनत्वे तथोदिते ।
प्रकाशे सोन्मुखीभूते हृदये कलितोदये ॥ २ ॥
धनानि नाभिवाञ्छयन्ते तमांसीव विवेकिना ।
त्यज्यन्ते विद्यमानानि संशुष्कामेध्यपर्णवत् ॥ ३ ॥
भाराय पान्थदृष्ट्येव दृश्यन्ते दारबन्धवः ।
यथाशक्ति यथाकालमुपचर्यन्त एव च ॥ ४ ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग

[उत्तम वैराग्यके दृढ हो जानेपर पुरुषकी जिन लक्षणोंसे स्थिति होती है तथा ज्ञानमें निष्ठा हो जानेपर जिन लक्षणोंसे स्थिति होती है, उनका वर्णन]

सबसे पहले वैराग्यकी दृढ़ता हो जानेपर पुरुषके जो चिह्न होते हैं, उन्हें बतलाते हैं—'रूढे' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जब पुरुषको संसारसे विरक्ति उत्पन्न हो जाती है, जब साधु पुरुषोंका समागम प्राप्त हो जाता है, जब 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका अर्थ बुद्धिद्वारा भावित हो जाता है, जब भोगोंकी तृष्णा चली जाती है, जब विषय नीरस बन जाते हैं, जब साधुताका उदय हो जाता है, जब प्रकाशमय आत्मा सामने आ जाता है तथा जब हृदयमें अपने उदयकी पूर्ण भावना हो जाती है, तब वह विवेकी पुरुष धनोंको ऐसे नहीं चाहता, जैसे अन्धकारोंको । और यदि वे पासमें विद्यमान हों, तो उनका ऐसे त्याग कर देता है, जैसे घरमेंसे एकदम सूखे उच्छिष्ट पत्तलोंका ॥ १-३ ॥

उपयोगी भी बर्तन आदि ढो ले जानेमें असामर्थ्य रखनेके कारण जैसे पथिकोंकी दृष्टिसे वे केवल भारभूत ही देखे जाते हैं, वैसे ही विवेकी पुरुषकी दृष्टिसे स्त्री, बन्धु आदि भी भारभूत देखे जाते हैं । परन्तु सहसा उनका त्याग वह नहीं करता, यथाशक्ति और यथासमय धीरे-धीरे उनका उपचार करता ही जाता है यानी छोड़ता जाता है ॥ ४ ॥

इन्द्रियेष्वपि संलग्ना इन्द्रियार्थाः पुनः पुनः ।
न भोगा अनुभूयन्ते नूनं शान्तमनस्तया ॥ ५ ॥
एकान्तेषु दिगन्तेषु सरःसु विपिनेषु च ।
उद्याने पुण्यदेशेषु निजेष्वेव गृहेषु वा ॥ ६ ॥
सुहृत्केलिविलासेषु शुभोद्यानाशनादिषु ।
शास्त्रतर्कविचारेषु न तथा स्थीयते चिरम् ॥ ७ ॥
उपशान्तेन दान्तेन स्वात्मारामेण मौनिना ।
ज्ञातैवान्विष्यते ज्ञेन विज्ञानैकान्तवादिना ॥ ८ ॥
एवमभ्यासवशतः परे विश्रम्यते पदे ।
निम्नेवाम्भसि शान्तेन स्वयमेव विवेकिना ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं शान्ताऽज्ञतैवार्थतयोदिता ।
न संभवति भिन्नोऽर्थ इत्येव परमं पदम् ॥ १० ॥

इन्द्रियोंमें बार-बार लगे हुए भी भोगरूप इन्द्रियोंके विषयोंका वह अनुभव नहीं करता, क्योंकि उसका मन अत्यन्त शान्त हो चुका रहता है ॥ ५ ॥

उसीका विस्तार करते हैं—'एकान्तेषु' इत्यादिसे ।

विवेकी जीव, एकान्त स्थानोंमें, दिगन्तोंमें, सरोवरोंमें, जङ्गलोंमें, उद्यानोंमें, पवित्र देशोंमें, अपने ही घरोंमें, मित्रोंकी विलासपूर्ण क्रीड़ाओंमें, सुन्दर बाग आदिके भोजनोंमें, शास्त्रोंके तर्कपूर्ण विचारोंमें अज्ञानीके-जैसे दीर्घकालतक आस्था बाँधकर नहीं रहता या आसक्ति न होनेके कारण दीर्घकालतक स्थित नहीं रहता ॥ ६, ७ ॥

अथवा कदाचित् प्रारब्धवश उन स्थानोंमें रह गया, तो भी वहां रहकर तत्त्ववित् पुरुषकी ही अन्वेषणा करता है, क्योंकि वह पूर्णशान्त, दान्त, अपनी आत्मामें रमनेवाला, मौनी और एकमात्र विज्ञानरूप ब्रह्मकी कथामें निरत रहता है ॥ ८ ॥

यों निरन्तर अन्वेषण करनेपर अवश्य आत्माका दर्शन होता है और इससे शान्ति मिलती है, यह कहते हैं—'एवम०' इत्यादिसे ।

इस तरह अभ्यासके बलसे शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही जलमें निम्न (नीचेके) भागके सदृश—परम पदमें विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

वह परमपद कैसा है ? जहांपर विवेकी विश्रान्ति पाता है और किस

नार्थोपलब्धिर्नो शून्यमस्ति बोधात्मतां विना ।
इत्यन्तरनुभूतिस्थमाहुस्तत्परमं पदम् ॥ ११ ॥
एकबोधातिसम्बन्धपरिणामान्न बोधता ।
न शून्यता नार्थतेति विद्धि तत्परमं पदम् ॥ १२ ॥
स्वसंविन्मात्रविश्रामवतामंमनसां सताम् ।
न स्वदन्ते हि विषयाः पयांसि दृषदामिव ॥ १३ ॥

तरहका निश्चय विश्रान्तिरूप बन जाता है ? इसपर कहते हैं—'सबाह्य०' इत्यादिसे ।

एकमात्र अज्ञान ही इन बाह्य और आभ्यन्तर दृश्य पदार्थोंके रूपमें परिणत हो गया है, अज्ञान कोई अलग पदार्थ है नहीं, इसलिए अज्ञानकी शान्ति ही परमपद है, यह आप जानिए । अथवा बाह्य और आभ्यन्तर जितने अर्थ दिखाई पड़ते हैं, वे आत्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, इस प्रकारका अन्तिम साक्षात्कारात्मक जो निश्चय है, वह यदि अपने स्वरूपभूत आत्मामें—दग्ध लकड़ीकी आगके सदृश—शान्त हो गया, तो वही परमपद है ॥ १० ॥

बोधरूप आत्माके सिवा न तो अर्थोंका ज्ञान हो सकता है और न शून्य ही सिद्ध हो सकता है, इस प्रकारके भीतरी अनुभवमें विद्यमान सर्वबाधोंकी अवधिभूत जो वस्तु है, वही परमपद है ॥ ११ ॥

परमपदरूप जो वस्तु है, वह न बोधरूप है, न शून्यरूप है और न तो अर्थरूप ही है, यह आप जान लीजिए, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अद्वय बोधके साथ एकरस होकर ही परिणत हैं । तात्पर्य यह निकला कि यदि बोधके विषय पदार्थ होते, तो उनको लेकर बोधरूपता कह सकते, परन्तु बोधविषय कोई पदार्थ तो त्रिकालमें भी नहीं है, इसी तरह अर्थ न होनेके कारण अर्थरूपता भी नहीं है । अर्थोंकी शून्यताको लेकर परमपदमें शून्यता कैसे हो सकती है ॥ १२ ॥

परमपदमें विश्रान्ति पा जानेपर विषयोंकी विरक्ति सिद्ध हो जाती है, यह कहते हैं—'स्व०' इत्यादिसे ।

मनशून्य (मनकी विलयदशाको प्राप्त) तथा आत्मतत्त्वसाक्षात्कारका परमपदमें विश्राम किये हुए महात्माओंको विषय ऐसे अच्छे नहीं लगते, जैसे मनशून्य पत्थरोंको दूध ॥ १३ ॥

निरोधपदमापन्नो निर्मना मौनमन्थरः ।
स्वभावे स्थित एवास्ते चित्रे कृत इवात्मवान् ॥ १४ ॥
सर्वार्थमर्थरहितं महदेव पराणुवत् ।
अशून्यमेव शून्यात्मा हृदयं वेद्यवेदिनः ॥ १५ ॥
अहन्त्वं जगदीहादि दिक्कालकलनादि च ।
ज्ञस्य ज्ञानादि शून्यादि स्थितमेव न विद्यते ॥ १६ ॥
ज्ञेनामलपदस्थेन दीपेनेव निरस्यते ।
तमो हार्दं तथा बाह्यं रागद्वेषभयादि च ॥ १७ ॥
रजोरहितसर्वांशं सत्त्वात्पारमुपागतम् ।
असंभवत्तमोरूपं प्रणमेत्तं नृभास्करम् ॥ १८ ॥

निरोधपदको प्राप्त यानी बहिर्मुख पुरुषोंको आत्मनिष्ठामें रुकावट डालनेवाले तथा अन्तर्मुख पुरुषोंको बाह्यनिष्ठामें रुकावट डालनेवाले परमपदमें प्राप्त हुआ, मनसे रहित, मुनिके धर्मोंसे पूर्ण शारीरिक कार्योंमें शिथिल आत्मज्ञानी महात्मा अपने स्वभावमें ऐसे निश्चल होकर स्थित रहता है, जैसे चित्रमें अङ्कित पुरुष ॥ १४ ॥

उस समय उसका मन किस तरहका रहता है ? इसपर कहते हैं—'सर्वार्थम्' इत्यादिसे ।

भद्र, अवश्य जानने लायक आत्मवस्तुको जाननेवाले उस महात्माका मन अर्थरहित है, और सम्पूर्ण अर्थोंसे पूर्ण भी है, क्योंकि तत्त्वतः सभी तद्रूप हो गये हैं । अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप हो जानेके कारण महान् ही है और दुर्लक्ष्य होनेके कारण परमाणुरूप भी है, अशून्यरूप होता हुआ भी शून्यात्मक है, कारण कि अहन्ता, जगत्‌की इच्छा आदि, दिशा और कालकी कल्पना आदि तथा ज्ञाताके ज्ञान आदि जितने पदार्थ हैं, वे सब उसीसे तो हुए हैं, अतः तद्रूप होनेके कारण शून्यरूप नहीं हो सकता और शून्य आदि भी उसीसे हुए हैं, अतः अशून्यरूप भी नहीं है । ऐसी स्थितिमें तत्-तद्रूपसे स्थित हुआ भी नहीं है, यह कहा जा सकता है ॥ १५, १६ ॥

सम्पूर्ण मलोंसे रहित आत्मपदमें स्थिति करनेवाला ज्ञानी अपने हृदयमें स्थित अज्ञानरूपी अन्धकारको तथा बाहरके अन्धकारको एवं राग, द्वेष, भय आदिको, दीपककी तरह निकाल देता है ॥ १७ ॥

भद्र, ऐसे पुरुषरूपी भास्करको (सूर्यको) प्रणाम करना चाहिए, जिसका

भेदप्रविलये जाते चित्ते चादृश्यतां गते ।
या स्थितिः प्राप्तबोधस्य न वाग्गोचरमेति सा ॥ १९ ॥
ददात्येतन्महाबुद्धे निर्वाणं परमेश्वरः ।
अहर्निशं परमया चिरं भक्त्या प्रसादितः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

ईश्वरः को मुनिश्रेष्ठ कथं भक्त्या प्रसाद्यते ।
एतन्मे तत्त्वतो ब्रूहि सर्वतत्त्वविदांवर ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः ।
महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः ॥ २२ ॥
तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः ।
सोऽन्तः सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ २३ ॥

कि समस्त अंश रजोगुणसे शून्य है, सत्त्वगुणके प्रभावसे जो अज्ञानसागरसे पार पा चुका है और जिसमें तमोगुणका सर्वथा अभाव है ॥ १८ ॥

श्रीरामजी, मैं आपसे क्या कहूँ, जब भेद हट जाता है, चित्त अदृश्य बन जाता है, तब ज्ञानीकी जो स्थिति हो जाती है उसका वाणीसे कथन हो ही नहीं सकता ॥ १९ ॥

हे महाबुद्धे, रात-दिनकी उत्तम भक्तिसे चिरकालके बाद प्रसन्न किया गया परमात्मा वर्णित परमपदरूप निर्वाण देता है, दूसरा नहीं। तपके प्रभावसे या ईश्वरके प्रसादसे मोक्ष मिलता है, ऐसी श्रुतिकी उक्ति भी है ॥ २० ॥

श्रीरामजीने कहा—हे समस्त तत्त्वज्ञोंमें श्रेष्ठ मुनिवर, कौन ईश्वर है! और वह भक्तिसे कैसे प्रसन्न किया जाता है, यह बात मुझसे आप ठीक ठीक कहिए ॥ २१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे महामते, ईश्वर न तो दूरीपर ही है और न अत्यन्त दुर्लभ ही है, महाबोधरूप, एकरस अपनी आत्मा ही परमेश्वर है ॥२२॥

ईश्वर उसे कहते हैं, जो सबका नियन्त्रण करनेमें स्वतन्त्र हो, इस तरह स्वतन्त्र सबके प्रति सभी प्रकारसे अपनी आत्मा ही है, इस विषयमें युक्ति कहते हैं—'तस्मै' इत्यादिसे ।

तस्मादिमाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
अकारणं कारणतो गतयः पवनादिव ॥ २४ ॥
अनिशं पूजयन्त्येताः सर्वाः स्थावरजङ्गमाः ।
यथाभिमतदानेन सर्वे ते भूतजातयः ॥ २५ ॥
सुबहुन्येष जन्मानि यथाभिमतयेच्छया ।
यदा संपूजितस्तेन प्रसादमधिगच्छति ॥ २६ ॥
प्रसन्नः स महादेवः स्वयमात्मा महेश्वरः
बोधाय प्रेरयत्याशु दूतं पूतं शुभेहितैः ॥ २७ ॥

सब कुछ आत्माके लिए ही है । रथ, घर, महल आदि जितने अचेतन पदार्थ हैं, वे सब चेतनके लिए ही हैं, आत्मासे अतिरिक्त कोई चेतनवस्तु है नहीं, इसलिए सर्वभोक्तृतारूप स्वतन्त्रता आत्मामें ही आ गई । उसीसे सब कुछ हुआ है यानी सबका कर्ता वही है, वही सब कुछ है यानी आत्मा ही सबका उपादान और अधिष्ठान है, सभी ओर जहां दृष्टि डालें वहांपर वही नजरमें आता है यानी सम्पूर्ण शक्तियां उसीमें हैं । वही भीतर है यानी सूक्ष्म है, वही सर्वमय-सर्वगत है, वही सनातन है, उस आत्मरूप परमात्माको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

इसीलिए श्रुतिमें बतलाई गई जन्मादिकारणता उसमें है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

यद्यपि वास्तवमें आत्मा कारण नहीं है, तथापि कारणरूप हुए उसी आत्मासे, पवनसे पवन-गतियोंकी नाईं, ये सृष्टि, प्रलय आदि विकार उत्पन्न होते हैं ॥२४॥

सबका आराध्य भी आत्मा ही है, यह कहते हैं—'अनिशम्' इत्यादिसे ।

ये जितने स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं और ये जितने प्राणी हैं, वे सब अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार उपहारसामग्री प्रदानकर उसी आत्माका निरन्तर पूजन करते हैं ॥ २५ ॥

जब अनेक जन्मों तक यह आत्मा यथाभिमत इच्छासे पूजित होता है, तब वह उससे प्रसन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

जब अनेक सत्कर्मोंसे वह महादेव, महेश्वररूप आत्मा स्वयं प्रसन्न हो जाता है, तब पूजकके पास बोध देनेके लिए अपना पवित्र दूत तत्काल भेजता है ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

आत्मना परमेशेन को दूतः प्रेर्यते मुने।
स दूतो बोधनं वाऽपि करोति वद मे कथम् ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

आत्मसंप्रेरितो दूतो विवेको नाम नामतः।
हृद्गुहायां सदानन्दस्तिष्ठतीन्दुरिवाम्बरे ॥ २९ ॥
स एष वासनात्मानं जन्तुं बोधयति क्रमात्।
संसारसागरादस्मात्तारयत्यविवेकिनम् ॥ ३० ॥
बोधात्मैषोऽन्तरात्मैव परमः परमेश्वरः।
अस्यैव वाचको नाम प्रणवो वेदसंमतः ॥ ३१ ॥
जपहोमतपोदानपाठयज्ञक्रियाक्रमैः।
एष प्रसाद्यते नित्यं नरनागसुरासुरैः ॥ ३२ ॥
द्यौर्मूर्द्धा पृथिवी पादौ तारका रोमराजयः।
भूतान्यस्थीनि हृदयं व्योमाऽस्य परमेश्वरः ॥ ३३ ॥

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, परमेश्वररूपी आत्मा कौन दूत भेजता है, और वह आकर बोध कैसे देता है, इसको मुझसे कहिए ॥ २८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, आत्मदेवके द्वारा भेजा गया दूत, जिसका शब्दतः नाम विवेक है और सदा आनन्द देनेवाला है, उक्त पुण्यवान् अधिकारीके हृदयगुहामें आकर, आकाशमें चन्द्रमाकी नाईं, स्थिर हो जाता है ॥ २९ ॥

यही विवेक नामक दूत क्रमशः वासनारूप प्राणीको बोध देता है और अविवेकीको इस संसार-सागरसे पार कर देता है ३० ॥

समस्त जगत्का प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप अन्दरका आत्मा ही सबसे बड़ा परमेश्वर है, वासनारूप आत्मा नहीं। इसी परम परमेश्वरका बोधक वेदसम्मत प्रणव (ॐ कार) है ॥ ३१ ॥

जप, होम, तप, दान वेदपाठ, यज्ञ और क्रियाकर्मोंसे निरन्तर इसी आत्माको नर, नाग, देवता और दानव प्रसन्न करते हैं ॥ ३२ ॥

इसी परमपिता परमात्माका द्यौ मस्तक है, पृथ्वी पैर है, तारे रोम हैं भूत अस्थि हैं, आकाश हृदय है और यही सबका अन्तरात्मा है ॥ ३३ ॥

सर्वत्रैष चिदात्मत्वाद्याति जागर्ति पश्यति ।
तेनैष सर्वतो लक्षकरकर्णाक्षिपादभृत् ॥ ३४ ॥
विवेकदूतमुद्बोध्य हत्वा चित्तपिशाचकम् ।
आत्मनः पदवीं स्फारां जीवः कामपि नीयते ॥ ३५ ॥
त्यक्त्वा सर्वविकल्पौघान्विकारानर्थसङ्कटान् ।
पौरुषेणात्मनैवात्मा स्वयमेव प्रसाद्यताम् ॥ ३६ ॥
भ्रमन्मनःपिशाचेऽस्मिन् कल्लोलजलदाकुले ।
संसाररात्रितिमिरे स्वात्मैवापूर्णचन्द्रमाः ॥ ३७ ॥
अगाधमरणावर्तकल्लोलाकुलकोटरे ।
तृष्णातरङ्गतरले स्वमनश्चण्डमारुते ॥ ३८ ॥
महाजडलनाधरे संसारविषमार्णवे ।
इन्द्रियग्राहगहने विवेकः पोतको महान् ॥ ३९ ॥

चैतन्यात्मा होनेसे यही सब जगह जाता है, जागता है और देखता है, इसलिए यही आत्मा लाखों, हाथ, पैर, कर्ण, चक्षु और पैरोंका चारों ओरसे धारण करता है ॥ ३४ ॥

विवेकरूपी दूतको जगाकर और चित्तरूपी पिशाचका विनाशकर यही चिदात्मा जीवको अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थिति पैदा करा देता है ॥ ३५ ॥

भद्र, समस्त सङ्कल्प-विकल्पोंका, विकारोंका और अर्थसङ्कटोंका परित्याग कर अपने ही पुरुषार्थसे अपनी आत्माको स्वयं ही प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥ ३६ ॥

जिसमें मनरूप पिशाच घूम रहा है, काम, क्रोधरूप काले मेघोंसे जो सदा व्याकुल रहता है, ऐसे संसार रात्रिके घने अन्धकारमें अपना आत्मा ही पूर्ण चन्द्रमा है ॥ ३७ ॥

विवेक ही पार कर देनेवाला है, इस बातको बतलानेके लिए संसारका समुद्ररूपसे वर्णन करते हैं—'अगाध०' इत्यादिसे ।

अगाध, एवं मरणरूप भँवरोंके कल्लोलोंसे व्याकुल कोटरोंसे युक्त, तृष्णारूपी तरङ्गोंसे तरल, अपने मनरूपी झंझावातोंसे युक्त, स्थावर आदि बड़े-बड़े भूतरूप जलकणोंसे व्याप्त, संसाररूपी बड़े विषम सागरको पार करनेमें, जो कि इन्द्रियरूप मकरोंसे अतिगहन है, विवेक ही एक बड़ा भारी जहाज है ॥३८,३९॥

पूर्वं यथाभिमतपूजनसुप्रसन्नो
दत्वा विवेकमिह पावनदूतमात्मा ।
जीवं पदं नयति निर्मलमेकमाद्यं
सत्सङ्गशास्त्रपरमार्थपरावबोधैः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विवेकमाहात्म्यं नामाष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

परिपुष्टविवेकानां वासनामलमुज्झताम् ।
महत्ता महतामन्तः काप्यपूर्वैव जायते ॥ १ ॥
औदार्योदारमर्यादां मतिं गाम्भीर्यसुन्दरीम् ।
महतां नावगाहन्ते भुवनानि चतुर्दश ॥ २ ॥

कहे गये प्रश्न-उत्तरोंका संक्षेपकर उपसंहार करते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे।

पूर्व वर्णित शास्त्रविहित पूजनसे प्रसन्न हुआ आत्मा परम विवेकरूप परम-पवित्र दूत भेजकर सत्सङ्ग, शास्त्र और परमार्थ वस्तुके उत्तम बोधन द्वारा जीवको अद्वितीय, निर्मल और सर्वोच्च पद प्राप्त कराता है ॥ ४० ॥

अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त

—o—

उनचासवाँ सर्ग

[दृढविवेकज्ञानसम्पन्न पुरुषोंकी जैसी महिमा होती है तथा जैसा उनको संसार भासता है, उन सबका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जिनका विवेकज्ञान परिपुष्ट हो गया है ऐसे वासनारूपी मलका परित्याग कर रहे महात्माओंके अन्दर कोई अपूर्व ही महत्ता उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

उसी महत्ताका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'औदार्यो०' इत्यादिसे।

औदार्यकी सर्वश्रेष्ठ अवधिभूत तथा गाम्भीर्यगुणसे अतिसुन्दर महात्माओंकी

चित्तभ्रान्तिर्जगदिति प्ररूढे प्रत्यये सताम् ।
बाह्यश्चान्तश्चरन्नक्रग्रहो मोहश्च शाम्यति ॥ ३ ॥
द्वीन्दुवत्तापजलवत्केशोण्ड्रकवदम्बरे ।
विस्फुरन्त्यां जगद्भ्रान्तौ वासनाप्रत्ययः कुतः ॥ ४ ॥
वासनाप्रत्यये शून्ये शून्यं व्योमैव शिष्यते ।
साऽप्यवस्था मनोऽस्त्वे कुतस्त्याज्या विवेकिना ॥ ५ ॥

बुद्धिको चौदह भुवन तथा उनके सभी प्राणी एवं वहाँकी सारी सम्पत्तियाँ भी लुब्ध नहीं कर सकतीं ॥ २ ॥

यह सारा संसार चित्तकी एकमात्र भ्रान्ति है, ऐसी सज्जनोंको दृढ़ प्रतीति हो जानेपर बाहर शब्दादि विषयोंके लिए उत्पन्न होनेवाला तथा भीतर सङ्कल्प-विकल्पादि रूपोंसे भ्रमण करनेवाला अतएव हृदयके भीतर और बाहर दोनों जगह संचार करनेमें समर्थ मनसहित इन्द्रियोंका समूहरूपी एक तरहका नक्र तथा उसका मूलभूत अज्ञान एवं वासना, काम, कर्म आदि—ये सबके सब शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

जबतक भ्रान्तियोंमें सत्यत्वका अभिमान रहता है तभीतक भोगोंकी वासनाकी वृद्धि भी रहती है। भ्रान्तियोंका भ्रान्तिरूपसे स्फुरण होनेपर यानी ये जगत्‌की सारी भ्रान्तियाँ वस्तुतः भ्रान्तिरूप ही हैं, ऐसा ज्ञान हो जानेपर तो मूलका उच्छेद हो जानेके कारण उन वासनाओंका भी उच्छेद लोकमें प्रसिद्ध ही है, यह दृष्टान्त देकर दिखलाते हैं—'द्वीन्दुवत्' इत्यादिसे ।

दो चन्द्रमाके तुल्य, मृगतृष्णाके जलके समान तथा आकाशमें केशोण्ड्रकके सदृश जगत्‌की भ्रान्ति वस्तुतः भ्रान्ति है, ऐसा तत्त्वबोध द्वारा स्फुरित हो जानेपर तत्त्वज्ञानी पुरुषको वासनाकी प्रतीति भला कहाँसे हो सकती है ॥ ४ ॥

वासनाकी प्रतीति (वृत्ति) का नाश होनेपर शून्य चिदाकाश ही शेष रह जाता है और वह वासनाकी शून्यावस्था भी मनके न रहनेपर ही सिद्ध होती है। अतः वासनाशून्य मनरहित जो अवस्था सप्तम भूमिकामें विवेकी पुरुषसे प्राप्त है उसका भला त्याग कैसे किया जा सकता है ? उसके त्यागमें कोई हेतु नहीं दीखता, यह भाव है ॥ ५ ॥

त्रयमेतत्तु याऽवस्था त्रयेणानेन वर्जिता ।
पश्यन्तीवाप्यपश्यन्ती साऽवस्था परमोच्यते ॥ ६ ॥
विचित्ररत्नरश्म्योघ इव नानात्मकं जगत् ।
आभासमात्रं न त्वात्मा न घनं न च पार्थिवम् ॥ ७ ॥
रूपालोकनमात्रं हि शून्यमेव जगत्स्थितम् ।
खे विचित्रमणिव्यूहकरजालमिवोत्थितम् ॥ ८ ॥
नेह सत्यानि भूतानि न जगत्ता न शून्यता ।
इदं ब्रह्माख्यरत्नेशप्रभाजालं विजृम्भितम् ॥ ९ ॥
सृष्टयोऽसृष्टयो ब्राह्मयो नानाता च न नाशताः ।
अमूर्ता एव भासन्ते कल्पनार्कगणा घनाः ॥ १० ॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये जो तीन अवस्थाएँ हैं ये तो सभीको भलीभाँति ज्ञात हैं। परन्तु इन तीनोंसे शून्य जो चौथी अवस्था है वह तो दर्शन आदि व्यवहारोंके मूलका बाध हो जानेपर सांसारिक पदार्थोंको न देखती हुई भी एकमात्र जीवनके हेतुभूत प्रारब्धके शेष रह जानेसे देखती हुई-सी अन्यकी दृष्टिमें अवभासती है। तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें तो वह परमावस्था ही कहलाती है ॥ ६ ॥

सप्तम भूमिकामें स्थित तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें यह जगत् व्युत्थानकालमें भी नहीं भासता और न आत्मा, न घन तथा पृथिवी आदिसे घटित कोई पदार्थ ही भासता है, बल्कि विचित्र तरहका एक रत्नोंका किरण-जाल-सा—निबिड़ित प्रभा-पुञ्ज-सा आभासमात्र भासता है ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञानी महानुभावोंकी दृष्टिमें यह सारा जगत् रूपोंका आलोकमात्र, आकाशमें विचित्र मणिसमूहके किरणजाल-सा उत्थित, एकमात्र शून्यस्वरूप ही स्थित है ॥ ८ ॥

इस संसारमें न तो ये सब नाना प्रकारके जीव सत्य हैं, न यह जगत्-रूप सत्य है और न कहीं शून्यता ही है, किन्तु ब्रह्मनामक रत्नेशका प्रभाजाल ही वह सर्वत्र विजृम्भित है—उसीका चारों ओर विलास हो रहा है ॥ ९ ॥

चूँकि अनेकता नहीं है, अतः ब्रह्मकी सृष्टियाँ भी नहीं हैं। चूँकि नाशता नहीं है, अतः प्रलय भी नहीं हैं, किन्तु मूर्तिशून्य कल्पनारूपी अनेक सूर्योंकी ही किरणें एकत्रित होकर यहाँ भासित हो रही हैं ॥ १० ॥

एवं तावद्घनीभूतः पिण्डग्राहो न विद्यते ।
सङ्कल्पिते च व्योम्नीव शून्यतैवावगम्यते ॥ ११ ॥
तस्यामवस्तुभूतायां कथं भावनिबन्धनम् ।
भविष्यदाकाशतरौ विश्रान्तः को विहङ्गमः ॥ १२ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यता च न विद्यते ।
चित्तमप्यत एवास्तं शेषं सत्तन्न चास्थिति ॥ १३ ॥
अनाना सममेवास्ते नानारूपं विबोधवान् ।
अन्तरालीननानार्थो यथा कनकपिण्डकः ॥ १४ ॥

मनोराज्य आदिमें सङ्कल्पकल्पित मूर्ताकार पदार्थोंकी तो शून्यता ही प्रसिद्ध है, पिण्डरूपसे उनका ग्रहण प्रसिद्ध नहीं है, यह कहते हैं—'एवं तावत्' इत्यादिसे ।

सच पूछिये तो इस प्रकार कल्पना ही मूर्तिमान् जगद्रूपसे भासती है । वास्तवमें यहां घनीभूत कोई पिण्डग्रहण नहीं है, क्योंकि जैसे आकाशमें एकमात्र शून्यता अवगत होती है वैसे ही सङ्कल्पकल्पित मनोराज्य आदिमें एकमात्र शून्यता ही अवगत होती है ॥ ११ ॥

शून्यताप्रसाधनका फल कहते हैं—'तस्याम०' इत्यादिसे ।

अवस्तुभूत उस शून्यतामें विवेकी पुरुषको अहन्ता, ममता, राग-द्वेष आदि भावोंका बन्धन भला कैसे हो, क्योंकि भविष्यत् आकाशरूपी वृक्षमें किस पक्षीने विश्रान्ति प्राप्त की है ॥ १२ ॥

इस तरह संसारमें पिण्डत्वादिका खण्डन हो जानेपर साररूपसे सन्मात्र ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं—'पिण्डत्वम्' इत्यादिसे ।

इन सांसारिक जीवोंकी कोई पिण्डता नहीं है—वस्तुतः कोई मूर्ति नहीं है और न शून्यता ही विद्यमान है । यही कारण है कि चित्त भी अस्त हो चुका है और एकमात्र सद्रूप ही शेष रह गया है, उसका किसी तरह अपलाप नहीं हो सकता—वह सदा स्थित है ॥ १३ ॥

यही कारण है कि तत्त्वज्ञानी पुरुष जाग्रदवस्थामें भी सुषुप्तिमें ही स्थित रहता है, क्योंकि उस समय भी उसे भासित हो रहे पदार्थोंकी अनेकता सन्मात्र आत्मामें ही लीन हुई रहती है, यह दृष्टान्त देकर बतलाते हैं—'अनाना' इत्यादिसे ।

यथास्थितस्य साहन्त्वं विश्वं चित्तं विलीयते ।
ज्ञस्याऽजाड्यमचित्त्वं सत्स्वरूपमवशिष्यते ॥ १५ ॥
क्लिश्यते केवलं बुद्धिरुत्तराधरदर्शनैः ।
स्तोकयाऽभ्यस्तया युक्त्या सत्योऽर्थो ह्यवगम्यते ॥ १६ ॥
विराडोजोविरहितं कार्यकारणतादिभिः ।
भूतभव्यभविष्यस्य जगदङ्गस्य सम्भवम् ॥ १७ ॥

जाग्रदवस्थामें नाना प्रकारके रूपोंसे सम्पन्न होनेपर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष एकरूप हो समानभावसे सुषुप्तिमें ही स्थित रहता है, क्योंकि उसकी अनेकता सन्मात्र आत्मामें ऐसे लीन हुई रहती है, जैसे नाना प्रकारके सुवर्णके आभूषण सुवर्णके पिण्डमें ॥ १४ ॥

ज्ञानीका वह अवशिष्ट सन्मात्र चित्तरूप ही क्यों नहीं होगा, क्योंकि चित्तके रहनेपर ही चितिकी अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है, चित्तका नाश होनेपर उसकी स्थिति नहीं रहती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'यथास्थितस्य' इत्यादिसे।

यदि अयथास्वभाव जाड्यमें स्थित ज्ञानीका अहङ्कारसहित सारा विश्व और चित्त विलीन हो जाता, तब तो वह ज्ञानी जड़सन्मात्ररूपसे अवशिष्ट रह जाता, किन्तु यह बात नहीं है। यहाँ तो बात यह है कि यथाभूत चिदेकस्वभावमें स्थित ज्ञानीका अहङ्कारसहित सारा संसार और चित्त तत्त्वज्ञानसे विलीन हो जाता है इसलिए वह सत्स्वरूपसे ही अवशिष्ट रह जाता है। उस समय ज्ञानीका परिशिष्ट चिदेकरस अचिद्रूप है, यह नहीं कहा जा सकता अतः उस समय चिदेकरस सन्मात्रके परिशेषकी ही सिद्धि हो जाती है ॥ १५ ॥

यदि सन्मात्ररूप सबका स्वरूप है, तो फिर वह सबको सुलभ क्यों नहीं है ? यदि यह आशङ्का हो, तो उसका उत्तर यही है कि ऊँच-नीच विषयोंमें बुद्धिकी चंचलताके कारण स्थिरताका अभाव होनेसे ही वह स्वरूप सबको सुलभ नहीं है, यह कहते हैं—'क्लिश्यते' इत्यादिसे।

ऊँच-नीच विषयोंकी ओर दौड़नेसे बुद्धि क्लेश पाती है, इसलिए वह सन्मात्र-स्वरूप सबको सुलभ नहीं है। हाँ, धीरे-धीरे युक्तिका अभ्यास करनेसे सत्य अर्थ अवगत हो जाता है ॥ १६ ॥

वह कौन-सी युक्ति है, यह दिखलाते हुए उस युक्तिका फल ज्ञान है, यह बतलाते हैं—'विराडोजो०' इत्यादिसे।

येन बोधात्मना बुद्धं स ज्ञ इत्यभिधीयते ।
अद्वैतस्योपशान्तस्य तस्य विश्वं न विद्यते ॥ १८ ॥
पूर्वोक्ताः सर्व एवैते उपदेशा विशेषणाः ।
ज्ञस्यानुभवमायान्ति सतः साधुकथा इव ॥ १९ ॥
पिण्डत्वं नास्ति भूतानां शून्यत्वं चाप्यसम्भवात् ।
अत एव मनो नास्ति शेषं सत्तत्व स्थितिः ॥ २० ॥
चेत्योन्मुखत्वमेवान्तश्चेतनस्यास्य चेतनम् ।
उदितं तदनर्थाय श्रेयसेऽनुदितं भवेत् ॥ २१ ॥

जिस अधिकारी पुरुषने भूत, भविष्य और वर्तमान इस जगद्रूपी भङ्गके जन्मको कार्य-कारणता आदिसे विचार कर वाचारम्भण श्रुतिमें दिखलाये न्याय द्वारा स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चसे रहित परिशिष्ट सन्मात्र अखण्ड बोधरूपसे जान लिया है वही सचमुच तत्त्वज्ञानी है तथा उस द्वैतशून्य उपशान्त ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें यह संसार है ही नहीं ॥ १७, १८ ॥

सभी उपदेशोंका, जो तत्-तत् असंभावनांशके व्यावर्तक हैं, उस तरहके अनुभवमें ही पर्यवसान है, यह कहते हैं—'पूर्वोक्ताः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, पूर्वोक्त ये सभी मेरे विशेष रूपके उपदेश, साधु पुरुषोंकी कथाकी तरह, ज्ञानीके अनुभवमें स्वतः आ जाते हैं ॥ १९ ॥

दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'पिण्डत्वम्' इत्यादिसे ।

चार तरहके प्राणिसमूहों तथा पृथिवी आदि महाभूतोंका एक-एक अवयव तथा एक-एक गुणसे विवेचन करके देखनेपर इन पदार्थोंकी, जो दिखाई दे रहे हैं, परमाणुभावमें भी विश्रान्ति न होनेसे इन सभी जीवोंमें न तो पिण्डता है और न प्रत्यक्षादिके असंभवसे शून्यता ही है अर्थात् न तो इन सब जीवोंकी कोई मूर्ति है और न ये सब शून्यरूप ही हैं। इन दोनोंके न रहनेसे सम्पूर्ण विकल्पोंका नाश हो जानेके कारण विकल्पोंके अधीन स्थितिवाला मन भी नहीं है। इसलिए निर्विकल्पक सन्मात्ररूप स्फुरण ही अवशेष है। हे श्रीरामचन्द्रजी, वही आपका पारमार्थिक रूप है और वही आपकी अन्तिम स्थिति है ॥ २० ॥

अन्य युक्ति बतलाते हैं—'चेत्योन्मुखत्वम्' इत्यादिसे ।

इस प्रत्यगात्माका (साक्षी चेतनका) विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही

उदितं बाह्यतामेति तत्र गच्छति पिण्डताम् ।
स्वयं संवेदनादेव जाड्यादम्भ्विव शैलताम् ॥ २२ ॥
स्वप्नाद्यर्थवदादत्ते बोधोऽबोधेन पिण्डताम् ।
तद्ग्राहकतया चित्तं भूत्वा बध्नाति देहकम् ॥ २३ ॥
एतावतीष्ववस्थासु बोधस्योदेति नान्यता ।
शब्दकल्पनया भेदः केवलं परिकल्पितः ॥ २४ ॥
बहिरन्तश्च बोधस्य भात्यात्मैवार्थदृष्टिभिः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन नैवास्य मनसो यथा ॥ २५ ॥
बोधस्याऽऽकाशकल्पत्वात् कालाकाशादि तद्वपुः ।
पदार्थश्चैव खात्मानः स्वप्नवन्नार्थरूपि खम् ॥ २६ ॥

संसाररूपसे बोध है। यह अनर्थके लिए ही उदित होता है, कल्याणके लिए उदित नहीं होता ॥ २१ ॥

यह अनर्थके लिए कैसे उदित होता है, यह कहते हैं—'उदितम्' इत्यादिसे।

संसाररूपसे उदित हुआ वह बोध बाह्यरूपताको प्राप्त करता है और बादमें स्वयं संवेदनके कारण वह साकारपिण्डरूपताको ऐसे प्राप्त हो जाता है, जैसे जड़ताके कारण जल ही जम करके पत्थररूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २२ ॥

वह चिदात्मा ही अपने स्वरूपके अज्ञानसे स्वप्नकालके पदार्थोंके समान पिण्डरूपताको यानी पदार्थोंके मूर्तिमान् आकारको धारण करता है तथा उसके ग्राहकरूपसे चित्त बनकर फिर शरीर धारण कर लेता है ॥ २३ ॥

इस तरहके हजारों विवर्तोंसे भी चितिमें अणुमात्र भी विकार नहीं आता, क्योंकि वे सभी नाममात्रके ही रहते हैं, यह कहते हैं—'एतावतीष्व०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन सभी अवस्थाओंमें चिदात्मा अपने स्वरूपसे अन्य-भावको तनिक भी प्राप्त नहीं होता। शब्दमात्रकी केवल कल्पनासे ही भेदकी कल्पना की गई है ॥ २४ ॥

स्वप्नमें मनसे पदार्थोंका अवलोकन होनेपर मनके ही बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान रहनेसे एकमात्र मन ही जैसा विकृतरूपसे भासता है, वैसा विकृतरूपसे यह बोधात्मा अर्थदृष्टियोंसे बाहर-भीतर भासमान होनेपर नहीं भासता ॥ २५ ॥

आत्मा विकृत क्यों नहीं होता, इसपर कहते हैं—'बोधस्य' इत्यादिसे।

बाह्यार्थता नान्तरत्वं तद्वद्बोधवशाद्व्रजेत् ।
नासादृश्यं हि बोधत्वं गन्तुं शक्तं जडं क्वचित् ॥ २७ ॥
बोधो दृश्यदशां नैति प्राप्तो वापि च तां स्थितिम् ।
स यथास्थितमेवास्ते मनागप्येति नान्यताम् ॥ २८ ॥
अत्यर्थं शुद्धबोधैकपरिणामे कृतोदये ।
बोधाबोधार्थशब्दानां श्रुतिरप्यस्तमेष्यति ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहानां चित्तानामेव जायते ।
आधिभौतिकताबोधो दृढभावनया स्वया ॥ ३० ॥

आकाशके सदृश होनेसे चिदात्मा भी आकाश और कालके समान अविकृत ही रहता है तथा उसका शरीर भी काल और आकाशरूप ही है। सभी पदार्थ चिदाकाशस्वरूप हैं। वह चिदाकाश स्वप्नके समान अर्थाकारसे परिणत नहीं होता ॥२६॥

जड़स्वरूप बाह्य पदार्थोंके आकारसे चिति भले ही विकृत न हो सके, किन्तु जड़का तो विकार हो सकता है। तत्त्वबोधके वश भीतर स्थित चिदाकाररूपसे वह विकृत क्यों न हो जाय, इसपर कहते हैं—'बाह्यार्थता' इत्यादिसे।

जैसे जड़ बाह्य पदार्थोंके आकारसे चिति विकृत नहीं हो सकती वैसे ही जड़ बाह्य पदार्थता भी तत्त्वबोधवश भीतर स्थित चिदाकाररूपसे विकृत नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा असदृश जड़ पदार्थ कहीं भी बोधरूप नहीं हो सकता ॥२७॥

चिदात्मा दृश्यदशाको प्राप्त नहीं होता। अथवा विवर्तवश उस दृश्य स्थितिको यदि प्राप्त हो जाता है, तो भी वह अविकृत ही बना रहता है। तनिक भी अन्यरूपताको नहीं प्राप्त होता ॥ २८ ॥

सर्वथा शुद्धबोधस्वरूप एक आत्माका सप्तम भूमिकामें परिणतिरूप उदय हो जानेपर बोध और अबोधरूपी अर्थ और शब्दका भी श्रवण समाप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

जिस मनकी भावनासे यह सारा दृश्यप्रपञ्च दृढ़ हो जाता है उसी मनकी भावनासे यह सारा दृश्यप्रपञ्च शिथिल भी हो जाता है, यह कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे।

मनकी दृढ़ भावनासे ही चित्तस्वरूप सूक्ष्म शरीरोंकी स्थूलदशा प्राप्त हो जाती है यानी दृढ़भावनासे ही चित्तरूप लिङ्ग शरीरोंमें आधिभौतिकरूपताका बोध होता है ॥ ३० ॥

आकाशविशदैश्चित्तैर्भावितैषाऽऽतिवाहिकैः ।
आधिभौतिकता मिथ्या नटैरिव पिशाचता ॥ ३१ ॥
भ्रान्तिरभ्रमणाभ्यासात्प्रज्ञातैषोपशाम्यति ।
नोन्मत्तोऽस्मीति सम्बोधाच्छाम्यत्युन्मत्तता किल ॥ ३२ ॥
भ्रान्तिः स्वयं परिज्ञानाद्वासना विनिवर्तते ।
स्वप्ने स्वप्नतया बुद्धे कस्य स्यात्किल भावना ॥ ३३ ॥
वासना तानवेनैव संसार उपशाम्यति ।
वासनैव महायक्षिण्येतच्छेदपरा बुधाः ॥ ३४ ॥
अज्ञानोन्मत्तता पुंसां यथाऽभ्यासेन भाविता ।
तथैव बोधात्स्वभ्यासात्सा कालेनोपशाम्यति ॥ ३५ ॥

आकाशके सदृश विशद इन सूक्ष्म चित्तोंके द्वारा यह मिथ्या आधिभौतिकरूपता ऐसे भावित हुई है, जैसे कि पिशाचवेषका अभिनय करनेके लिए नटों द्वारा मिथ्या पिशाचरूपता भावित होती है। तात्पर्य यह कि पिशाचवेषका अभिनय करनेके लिए जैसे मिथ्या पिशाचवेषको नट धारण करते हैं वैसे ही इन चित्तोंने यह मिथ्या भौतिकरूप धारण किया है ॥ ३१ ॥

अभ्रमताके अभ्याससे यानी सत्यस्वरूपके अभ्याससे भलीभाँति स्वरूपतः ज्ञात हुई यह सांसारिक भ्रान्ति ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि 'मैं उन्मत्त नहीं हूँ' इस दृढ़ ज्ञानसे उन्मत्त पुरुषकी निःसन्देह उन्मत्तता शान्त हो जाती है ॥३२॥

भ्रान्तिका परिज्ञान होनेसे वासना स्वयं निवृत्त हो जाती है। ठीक ही है, स्वप्नका स्वप्नरूपसे ज्ञान हो जानेपर भला किस पुरुषको स्वाप्निक पदार्थोंमें सत्यत्वकी वासना हो सकती है ॥ ३३ ॥

एकमात्र वासनाके क्षयसे ही यह संसार उपशान्त हो जाता है। यह वासना ही महायक्षिणी है। विवेकी महानुभाव लोग इसके नाशमें लगे हुए रहते हैं ॥ ३४ ॥

पुरुषोंके अभ्याससे अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता जैसे उत्पन्न हुई रहती है वैसे ही ज्ञान हो जानेपर अपने उस ज्ञानके अभ्याससे धीरे-धीरे समय पाकर वह नष्ट भी हो जाती है ॥ ३५ ॥

आतिवाहिकदेहोऽयमाधिभौतिकतां यथा ।
नीयते भावना तज्ज्ञैर्बोधसत्ताप्रसादतः ॥ ३६ ॥
आतिवाहिकदेहोऽपि नीत्वा जीवपदं तथा ।
दृढेन बोधाभ्यासेन नेतव्यो ब्रह्मतामपि ॥ ३७ ॥
स्ववस्तुवच्चेदुत्पत्तिर्बुध्यते बोधरूपिणी ।
तदाऽऽतिवाहिकी बुद्धिः कथमित्यपि बुध्यते ॥ ३८ ॥

जैसे भावनाके बलसे यह सूक्ष्म शरीर स्थूलरूपताको प्राप्त होता है वैसे ही विवेकी पुरुष लोग अभ्यास द्वारा दृढ़ की गई स्थितिके प्रसादसे इस सूक्ष्मशरीरको ब्रह्माहंभावकी एकमात्र वासनामें पहुँचा देते हैं ॥ ३६ ॥

तथा इस सूक्ष्म शरीरको भी ब्रह्माहंभावकी एकमात्र वासनामें ले जा करके वहाँसे जीवरूपताको प्राप्त करा देते हैं और फिर उस जीवको भी अपने दृढ़बोधके अभ्याससे ब्रह्मस्वरूपमें पहुँचा देते हैं ॥ ३७ ॥

ज्ञानी महानुभाव लोग कैसे इस सूक्ष्म शरीरको जीवरूपता तथा ब्रह्मरूपता प्राप्त करा देते हैं, यह कहते हैं—'स्ववस्तुवत्' इत्यादिसे ।

उत्पन्न हुए बाह्य तथा आध्यात्मिक भावोंके प्रति जो आत्माका अतिवहन करता है उस वासनासमूहका नाम अतिवाह है तथा उससे उत्पन्न हुआ जो लिङ्गशरीर है उसको 'आतिवाहिक' कहते हैं । समस्तभाव पदार्थोंके प्रथम विकार-का नाम उत्पत्ति है । वह यदि विचारके बाद कूटस्थ बोधमात्रस्वरूपिणी ज्ञात हो जाय, तो फिर वह सूक्ष्मशरीरविषयक बुद्धि कैसी है, यह भी ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय * ॥ ३८ ॥

---

* परन्तु कूटस्थ बोधस्वभावसे अलग किसी भावपदार्थकी उत्पत्तिका निरूपण हो नहीं सकता । देखिये, विचार कीजिये—क्या वह उत्पत्ति पहले स्वयं उत्पन्न होकर भावोंको अपनेसे विशिष्ट बनाकर स्थित होती है या बिना स्वयं उत्पन्न हुए ही ? इसमें यदि आप दूसरा पक्ष स्वीकार करते हैं, तो उस पक्षमें हमारा आपसे यह कहना है कि तब तो सींग भी खरहेको अपनेसे विशिष्ट बना सकता है । रह गया पहला पक्ष । इसमें तो यह समझ लीजिये कि स्वयं उत्पत्त्यादिसे विशिष्ट हुई वह भावपदार्थरूप ही होगी, न कि भावविकार । इसी तरह उसकी उत्पत्ति भी समझ लीजिये । इस रीतिसे अनवस्थादोष माननेपर तो निर्विकार भावोंकी अनवस्था ही बनी रहेगी, अतः यह निश्चित है कि किसीके उत्पत्ति आदि विकारोंका कोई भी विद्वान् किसी तरहसे निरूपण नहीं कर सकता । इसलिए जब यों ज्ञान हो गया कि जितने भाव-

नो चेत्तत्प्रतिवाक्यार्थात्तद्ग्रन्थिर्विनिवर्तते ।
भूतोत्सादनमन्त्रस्य प्रतिपत्तृपदं यथा ॥ ३९ ॥
जगद्बोधैकतां बुद्ध्वा बोद्धव्या तावदव्रणम् ।
अत्यन्तपरिणामेन यावत्साऽपि न बुध्यते ॥ ४० ॥
स बाह्याभ्यन्तरे चित्ते शान्ते भाति स्वभावता ।
शीतलां व्योमनिर्भासां तामेवाश्रित्य शाम्यताम् ॥ ४१ ॥

इसी रीतिसे 'तत्' और 'त्वं' पदार्थका शोधन होनेपर सम्पूर्ण महावाक्य अखण्ड अर्थके बोधन द्वारा सम्पूर्ण सन्देहोंके ग्रन्थिभेदनमें समर्थ होते हैं। अन्यथा वे भूत-प्रेतोंको भगाते समय पढ़े जा रहे मन्त्रोंके भीतर आये हुए 'हुं' 'फट्' आदि पदोंकी तरह बिलकुल अनर्थक सिद्ध होंगे। वे सभी महावाक्य एकमात्र श्रवणके बलसे प्राणीको इस संसारसे छुटकारा दिला देते हैं, ऐसी हमें कल्पना करनी चाहिए, यह कहते हैं—'नो चेत्तत्' इत्यादिसे।

यदि ऐसी बात न हो, तो फिर ब्रह्मप्रतिपादक महावाक्योंके अर्थसे संसारकी ग्रन्थि निवृत्त हो जाती है, यह कहना भी वैसे ही बिना अर्थका सिद्ध होगा, जैसे कि भूत-प्रेतादिको दूर भगानेवाले मन्त्रोंके अन्तर्गत 'हुं', 'फट्' आदि पद ॥३९॥

'तत्' पदार्थके शोधनके लिए पहले 'वाचारम्भण' न्यायसे जगत् तथा इसके कारणभूत ईश्वरके स्वरूपकी एकता जान करके उसके बाद 'त्वं' पदार्थके शोधनके लिए 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इस श्रुति द्वारा दिखलाये गये मार्गसे प्रत्यक् चैतन्यको भी असङ्ग अद्वय समझना चाहिए [कबतक इन दोनों पदार्थोंके शोधनमें मनुष्यको लगे रहना चाहिए, इसपर कहते हैं—'अत्यन्त०' से] जबतक इन दोनों पदार्थोंके अखण्डैकरसवाक्यार्थरूप अत्यन्तपरिणाम द्वारा वह अखण्डाकारवृत्ति भी नहीं जान ली जाती, तबतक साधक मनुष्यको इन दोनों पदार्थोंके शोधनमें तत्पर रहना चाहिए ॥ ४० ॥

बाह्य तथा आभ्यन्तर चित्तके बिलकुल शान्त हो जानेपर अपनी चित्स्वभावता प्रकाशित होती है, इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रत्येक पुरुषको चाहिए कि वह

पदार्थ हैं वे सबके सब कूटस्थ बोधरूप ही हैं तब कहिये ! कौन किसके लिए किसका अतिवहन करे या वह अतिवहन भी किस रूपका हो अथवा कौन-सी उसकी अन्य बुद्धि है। वह भी तत्त्वतः ज्ञात हो ही जाती है, यह तात्पर्य है।

ज्ञानवान् ज्ञानयज्ञस्थो ध्यानयूपं विरोपयन् ।
जगद्विजित्य जयति सर्वत्यागैकदक्षिणः ॥ ४२ ॥
पतत्यङ्गारवर्षे च वाति वा प्रलयानिले ।
भूतले व्रजति व्योम्नि सममास्ते ज्ञ आत्मनि ॥ ४३ ॥
वैतृष्ण्यशान्तमनसो निरोधमलमीयुषः ।
स्थितिर्वज्रसमाधानं विना नान्योपपद्यते ॥ ४४ ॥
यथा बाह्यार्थवैतृष्ण्येनोपशाम्यत्यलं मनः ।
न तथा शास्त्रसन्दर्भैर्नोपदेशतपोदमैः ॥ ४५ ॥

आकाशकी नाईं पूर्ण स्वच्छ तथा शीतल उसी चित्स्वभावताका आश्रयण कर शान्त होवे ॥ ४१ ॥

वही मुख्य 'विश्वजित्' नामक ज्ञानयज्ञ है, यह कहते हैं—'ज्ञानवान्' इत्यादिसे ।

ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूपी यज्ञशालामें उपस्थित होकर ध्यानरूपी अत्यन्त दृढ़ और लम्बे यज्ञस्तम्भको नीचे दूरतक जमीन खोदकर गाड़ता है तथा सारे संसारको जीतकर सर्वत्यागरूप मुख्य दक्षिणा दे करके सबसे उत्कृष्ट बनकर विराजता है ॥ ४२ ॥

उसके सर्वोत्कर्षका—'समस्त विपत्तियोंमें अकम्पितरूपसे'—पहले वर्णन करते हैं—'पतत्य०' इत्यादिसे ।

चाहे भले ही अङ्गारोंकी वृष्टि हो, प्रलयकालकी वायु बहे, या यह भूतल आकाशमें उड़कर चला जाय, किन्तु हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमें ही समरूपसे स्थित रहता है ॥ ४३ ॥

वज्रकी तरह दृढ़ वैराग्य एवं शान्ति सुखोत्कर्षकी स्थिरतासे भी उसका वर्णन करते हैं—'वैतृष्ण्य०' इत्यादिसे ।

पूर्ण वैराग्यसे सर्वथा शान्त मन तथा पूर्ण निरोधको प्राप्त पुरुषकी वज्रतुल्य, दृढ़ समाधिके अतिरिक्त कोई दूसरी स्थिति नहीं उपपन्न होती ॥ ४४ ॥

शान्ति आदि साधनोंमें वैराग्यको ही सर्वोत्कृष्ट साधन बतलाते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

बाह्य पदार्थोंसे वैराग्य होनेपर जैसा मन पूर्णरूपसे शान्त होता है, वैसा वह शास्त्रोंके विचार, उपदेश, तप या इन्द्रियोंके निग्रहसे भी नहीं होता ॥ ४५ ॥

मनस्तृणस्य सर्वार्थवैतृष्ण्याग्निर्विबोधितः ।
सर्वत्यागानिलैः सम्पदत्यापदिति भावनात् ॥ ४६ ॥
बहिरन्तश्च मोहश्च पिण्डग्राहोऽर्थवेदनम् ।
ज्ञप्तिरेवेति कचति ज्ञात्वा मणिरिवाऽऽत्मनि ॥ ४७ ॥
नरनागासुरागारगिरिगह्वरदृष्टिभिः ।
चितिरेवेति विसृता धूमोऽम्बुदतयेव खे ॥ ४८ ॥
वेपन्ते चिद्द्रवत्वेन ब्रह्माण्डजडभाण्डगाः ।
स्वविवर्ततरङ्गिण्यो जीवशक्त्या पतद्रसाः ॥ ४९ ॥
जीवकाजीर्णशफरी व्योमवारिविहारिणी ।
मोहजालेन वलिता न स्मरत्यात्मनि स्थितिम् ॥ ५० ॥

'सारी सम्पत्तियाँ आपत्तिरूप हैं'—इस तरहकी भावनासे मनरूपी महा-तृष्णाके बीचमें सर्वत्यागरूप अनिलसे विबोधित सब पदार्थोंसे उत्पन्न वैराग्यरूपी अग्नि परमब्रह्मसाक्षात्कारज्वालारूपसे प्रज्वलित होकर—बाहर और भीतर सर्वत्र प्रसिद्ध जो मोहान्धकार तथा मोहान्धकारप्रयुक्त जो चोर, यक्ष आदिकी कल्पनाके तुल्य ब्रह्माण्डका भूत-भौतिक मूर्तरूपी पिण्ड है यानी ब्रह्माण्डका साकार ज्ञान है एवं चक्षु आदि इन्द्रियोंसे रूप, रस आदि पदार्थोंका जो अनुभव है, वह सब चिदात्मा ही है—यों एकमात्र अखण्ड-अद्वय स्वभाव सबको बनाकर—ऐसे देदीप्यमान होती है, जैसे कि वज्रादिमणि अपनेमें प्रतिबिम्बित हुई वस्तुओंको अपने स्वरूपमें बिलकुल मिलाकर उन्हें प्रकाशित करते हुए स्वयं देदीप्यमान होते हैं ॥ ४६, ४७ ॥

मनुष्य, नाग तथा असुर एवं उनके स्थान पर्वत तथा गुफा आदिके रूपोंसे वह चिति ही नाना प्रकारके वैचित्र्यको वैसे प्राप्त है, जैसे आकाशमें मेघोंके रूपसे धूम ॥ ४८ ॥

ब्रह्माण्डके भाण्डके अन्तर्गत सभी वस्तुओंमें—चिद्व्याप्तिके अधीन स्पन्दन होनेसे—चिद्विवर्तमात्रता है, इस आशयसे कहते हैं—'वेपन्ते' इत्यादिसे। चित्-रूप द्रवताके कारण ब्रह्माण्डरूपी जडपात्रके अन्दर चली गई तथा जीवरूप प्राणशक्तिसे सरस बनी हुई ये चिद्विवर्तस्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंकी देहरूपी नदियाँ निरन्तर बह रही हैं ॥ ४९ ॥

इन चार प्रकारके शरीररूपी चितिके विवर्तस्वरूप नदियोंके अन्दर रहने-

घनीभूता घनत्वेन चिद्घना गगनाङ्गणे ।
नानापदार्थरूपेण स्फुरति स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ५१ ॥
सर्वं एव समा जीवा वासनामन्तरेण च ।
शुष्कपर्णवदुड्डीना जडाः श्वसनवेणवः ॥ ५२ ॥
आहृत्य पौरुषबलान्यवजित्य तन्द्री-
मुत्थाय तर्जितसमर्जितवासनौघम् ।

वाली जीवरूपी मछलियां मोहजालमें फँस जानेके कारण स्वतत्त्वका स्मरण नहीं करतीं, यह कहते हैं—'जीवका०' इत्यादिसे ।

चिदाकाशरूपी जलमें विहार करनेवाली बेचारी जीवरूपी जीर्ण मछली मोह-जालमें फँस जानेके कारण अपनी आत्मामें स्थितिका स्मरण नहीं करती ॥ ५० ॥

अपने स्वरूपभूत आकाशरूपी आँगनमें अपनेसे ही घनीभूत हुई यह चिति मानो मेघ बनकर स्थित हो पृथिवी आदि मूर्ताकार नाना पदार्थोंके रूपसे स्फुरित हो रही है ॥ ५१ ॥

सभी जीवोंका स्वभाव एक-सा रहनेपर भी वासनाकी विचित्रतासे उन्हें सांसारिक दुःख भी विचित्र प्रकारके ही प्राप्त होते हैं, और कोई दूसरा कारण नहीं है, यह कहते हैं—'सर्वं एव' इत्यादिसे ।

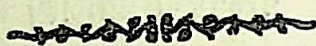
वासनावैचित्र्यके सिवा, अन्य अंशमें सभी जीव समान हैं । विषयवासना रहनेसे ही सूखे पत्तोंकी नाईं उड़-उड़कर वे विचित्र तरहकी स्वर्ग, नरक आदि भोगभूमियोंमें जा गिरते हैं, स्वतः नहीं । क्योंकि वायुभरे बाँस जैसे अङ्गुलि व्यापारके बिना भी विचित्र ध्वनि पैदा करनेमें समर्थ होते हैं वैसे ही सबमें बराबर वहोपाधिके कारण वासनाके बिना भी जड़ पदार्थ प्राणयुक्त रहनेपर विचित्र तरहके शब्द करनेमें समर्थ होते ही हैं ॥ ५२ ॥

इसीलिए वज्रतुल्य वासनारूपी पिंजड़ेको तोड़ देनेके लिए मनुष्यको आलस्य-शून्य होकर अपने पौरुषप्रयत्नको बढ़ाना चाहिए, उसीसे परमपुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इसी अभिप्रायसे अब उपसंहार करते हैं—'आहृत्य०' इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, सर्वप्रथम अपने पौरुषबलका यानी श्रवण, मनन आदिरूप साधनचतुष्टयका सम्पादनकर तदनन्तर ध्यानमें विघ्नस्वरूप तन्द्राको आसन, प्राणायाम आदिके अभ्यास द्वारा जीतकर संप्रज्ञात समाधिसे उठ करके

संसारपाशघनपञ्जरमञ्जसैव
भङ्क्त्वाऽभ्युदेयमभितो ज्ञसमेन भाव्यम् ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सर्वोपशान्तिनामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥



पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इमे ये जीवसंघाता दृश्यन्ते दशदिग्गताः ।
नरनागसुरागेन्द्रगन्धर्वाद्यभिधानकाः ॥ १ ॥
ते स्वप्नजागरा केचित्केचित्सङ्कल्पजागराः ।
केचित्केवलजाग्रस्थाश्चिराज्जाग्रत्स्थिताः परे ॥ २ ॥

निर्विकल्पक असंप्रज्ञात समाधिमें प्रवेशके बाद अपने पूर्वजन्मके संचित वासनासमूह-भूत संसारपाशरूपी मजबूत पिंजड़ेको तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा शीघ्र ही तोड़कर चारों ओरसे पूर्णानन्दैकरस ब्रह्मरूपसे आपको उदित होना चाहिए, अज्ञानीके समान संसारके भीतर आपको पड़े नहीं रहना चाहिए ॥ ५३ ॥

उनचासवाँ सर्ग समाप्त



पचासवाँ सर्ग

[वासनाकी दृढ़ता और शिथिलताके कारण जीव सात प्रकारके हो जाते हैं, यह बोधार्थ वर्णन]

'वासना यदि न रहे तो सब जीव एक ही हैं' इस उक्तिसे अन्तमें जो एक-मात्र विचित्रवासनाके प्रभावसे जीवोंके सात प्रकार बतलाये गये हैं, उनका लक्षणोंसे निरूपण करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'इमे' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ये जो दसों दिशाओंमें नर, हाथी, देवता, वृक्ष, इन्द्र, गन्धर्व आदि नाम धारणकर तत्-तत् विचित्र देहवाले जीव दिखाई पड़ते हैं, वे कोई तो स्वप्नजागर (स्वप्नको जाग्रत् समझनेवाले), कोई

घनजाग्रत्स्थिताश्चान्ये जाग्रत्स्वप्नास्तथेतरे ।
क्षीणजागरकाः केचिज्जीवाः सप्तविधाः स्मृताः ॥ ३ ॥

श्रीराम उवाच

एतेषां भगवन् भेदो बोधाय मम कथ्यताम् ।
जीवानां सप्तरूपाणां जलानामर्णवेष्विव ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
केचित्सुप्ताः स्थिता देहैर्जीवा जीवितधर्मिणः ॥ ५ ॥
ये स्वप्नमभिपश्यन्ति तेषां स्वप्नमिदं जगत् ।
विद्धि ते हि खलूच्यन्ते जीवकाः स्वप्नजागराः ॥ ६ ॥
क्वचिदेव प्रसुप्तानां यः स्वप्नः स्वयमुत्थितः ।
विषयः सोऽयमस्माकं तेषां स्वप्ननरा वयम् ॥ ७ ॥

सङ्कल्पको जाग्रत् समझनेवाले, कोई केवल जाग्रत्में स्थिति रखनेवाले और कोई दीर्घकालिकी जाग्रत्में स्थिति रखनेवाले हैं। कोई घनीभूत जाग्रत्में स्थित हैं, कोई जाग्रत् और स्वप्नमें स्थित हैं, कोई क्षीण जाग्रत् अवस्थामें स्थित हैं, यों सात तरहके विभागोंसे उनका परिगणन किया गया है ॥ १-३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जैसे क्षीरसागर आदि सात समुद्रोंमें क्षीर आदिके रससे युक्त जल ही सात तरहके हैं, वैसे ही सात प्रकारके रूपोंको धारण कर रहे इन जीवोंका जो स्वरूप है, वह जाननेके लिए मुझसे कहिए ॥४॥

पहले जीवटकी आख्यायिकामें प्रदर्शित रीतिको लेकर उनका लक्षण करते हैं—'कस्मिंश्चित्' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, किसी एक पूर्वकल्पमें किसी एक जगत्में कहींपर कोई जीव सुषुप्ति अवस्थामें ही स्थित थे, वे जीव अपनी-अपनी देहोंके कारण जीवित ही रहे, मरे हुए नहीं थे ॥ ५ ॥

गाढ़ी नींदमें सोये हुए उन जीवोंमें जो जीव स्वप्न देखते हैं, उन्हींका स्वप्न यह जगत् है, यह आप जानिए। उन्हींका नाम स्वप्नजागर कहा जाता है ॥६॥

कहींपर सोये हुए उन जीवोंको जो स्वप्न हुआ है, वही जब समान-कर्मवासनाके कारण हम लोगोंका विषय बन जाता है, तब हम उनके स्वप्ननर बन जाते हैं ॥ ७ ॥

तेषां चिरतया स्वप्नः स जाग्रत्त्वमुपागतः ।
स्वप्नजागरकास्ते तु जीवास्ते तद्गताः स्थिताः ॥ ८ ॥
सर्वज्ञत्वात्सर्वगस्य सर्वं सर्वत्र विद्यते ।
येन स्वप्नवतां तेषां वयं स्वप्ननराः स्थिताः ॥ ९ ॥
श्रीराम उवाच
येषु कल्पेषु ते जाताः क्षीयन्ते कल्पकल्पनाः ।
यदि तास्तत्कथं तेषां प्रबुद्धानामवस्थितिः ॥ १० ॥

दीर्घकालके प्रभावसे जब उनका स्वप्न जाग्रत्-रूप बन जाता है, तब उनके स्वप्नके वे जीव स्वप्नजाग्रत् कहे जाते हैं, वास्तवमें वे उन्हींके स्वप्नमें ही स्थित हैं ॥ ८ ॥

'उनके हम स्वप्ननर हैं' यह जो बात कही गई, इसका उपपादन करते हैं—'सर्वज्ञत्वात्' इत्यादिसे ।

हमारा देह आदि प्रपञ्च यदि वासनारूपसे उस सोये हुएके चित्तमें होता, तो हमारा देहादिप्रपञ्च उसके चित्तमें उत्पन्न हो जाता और हम लोग उसके स्वप्नके मनुष्य होते, परन्तु यह तो कभी संभव नहीं है, इस तरहका कोई यदि प्रश्न करे, तो उसका वैसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि सबको सत्ता देनेवाला मायाशबल ब्रह्म सर्वत्र रहता है और वह सर्वज्ञ है, इसी हेतुसे सब जगह रह सकता है, अतः हमलोग उनके स्वप्ननर हैं यानी वासनारूपसे उन्हींके अन्तःकरणमें स्थित हैं और वासनाकी समानताके कारण उनके स्वप्नमें एक साथ अभिव्यक्त हो गये हैं ॥ ९ ॥

महाराज, ठीक है, देशको लेकर सब वस्तुओंकी सर्वत्र स्थिति भले ही हो जाय, पर कालको लेकर नहीं हो सकती, क्योंकि भूतकालकी वस्तु वर्तमानकालमें कैसे रह सकती है, यदि भिन्न-भिन्नकालकी वस्तुओंकी स्थिति एक कालमें मानी जाय, तो सब कल्प एक साथ ही होने लग जायँगे और उनका पार्थक्य भी नहीं रह जायगा, इस आशयसे श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'येषु' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—गुरुवर, जिन कल्पोंमें हम लोगोंके प्रपञ्चोंके स्वप्नोंके द्रष्टा उन जीवोंने जन्मधारण किया था, उन कल्पोंकी कल्पनाएँ यदि उनके शरीरोंके साथ इस समय नष्ट हो चुकीं, तो इस वर्तमान स्वप्नसे जागे हुए उन लोगोंकी

वसिष्ठ उवाच

इह स्वप्नभ्रमान्ते ते मुच्यन्ते वा विनिद्रताम् ।
प्राप्य सङ्कल्पतो देहांस्तथैवान्यान् श्रयन्त्यलम् ॥ ११ ॥
तथैवान्यं प्रपश्यन्ति जगत्कल्पं च कल्पितम् ।
कल्पनाभासनभसो नहि सङ्कटता भवेत् ॥ १२ ॥
सङ्कल्पनात्मकजगज्जीर्णोदुम्बरकीटकाः ।
स्वप्नजागरकाः प्रोक्ताः शृणु सङ्कल्पजागरान् ॥ १३ ॥
कस्मिंश्चित्प्राक्तने कल्पे कस्मिंश्चिज्जगति क्वचित् ।
अनिद्रालव एवान्तः सङ्कल्पैकपराः स्थिताः ॥ १४ ॥

मृतकालके कल्पमें स्थिति नहीं हो सकती। जो आज नींदसे जागा है, वह पूर्व दिनका जागरण जब नहीं जान सकता, तब पूर्वकल्पकी तो बात ही क्या ! ॥१०॥

यदि वे जीव प्रपञ्चात्मक स्वप्नमें दैववश तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लें, तो वे मुक्त हो ही जायँगे, ऐसी स्थितिमें आपका दोष नहीं हो सकता। यदि उन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया, तो उनका अवशिष्ट कल्प तो व्यतीत हुआ है नहीं, इसलिए कुछ समयके बाद तत्त्वज्ञान हो ही जायगा। जो व्यतीत हो चुके हैं, वे तो दूसरेकी कल्पनासे कल्पित पदार्थ हैं। उसके मनमें तो प्रत्येकका कल्पशेष ऐन्दव आख्यानकी पद्धतिसे विद्यमान ही है, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'इह' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इसी स्वप्नके प्रपञ्चमें यदि ज्ञान हुआ तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं। यदि न हुआ, तो निद्रा प्राप्त कर वे सङ्कल्पानुसार उसी प्रकारकी दूसरी ही देह प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

उसी प्रकारका कल्पित दूसरा जगत्-कल्प देखते हैं, क्योंकि कल्पनाभास-रूपी आकाशकी कहीं निरवकाशता नहीं रहती ॥ १२ ॥

स्वप्नजागर जीवोंका उपसंहार करते हुए अब सङ्कल्पजागरोंका निरूपण करते हैं—'सङ्कल्प०' इत्यादिसे।

भद्र, यह तो मैंने स्वप्नजागर जीवोंका, जो सङ्कल्परूप जगदात्मक जीर्ण उदुम्बर वृक्षके कीट हैं, निरूपण आपसे किया, अब आप सङ्कल्पजागर जीवोंके विषयमें सुनिये। इस प्रकारके जीव किसी एक पूर्वकल्पमें किसी एक जगत्में

ध्यानाद्विलुठिता वाऽथ मनोराज्यवशानुगाः ।
सङ्कल्पदार्ढ्यमापन्ना गलिताग्रानुभूतयः ॥ १५ ॥
सङ्कल्प एव जाग्रत्त्वं येषां चिरतयांशतः ।
तत्रास्तमितचेष्टानां ते हि सङ्कल्पजागराः ॥ १६ ॥
सङ्कल्पोपशमे भूयस्तमन्यं वा श्रयन्ति ते ।
देहे तेषां वयमिमे सङ्कल्पपुरुषाः स्थिताः ॥ १७ ॥
सङ्कल्पजागराः प्रोक्ता एते सङ्कल्पशायिनः ।
जीवा जीवितगा लोकाः शृणु केवलजागरान् ॥ १८ ॥
प्राथम्येनावतीर्णास्ते ब्रह्मणो बृंहितात्मनः ।
प्रोक्ताः केवलजागर्याः प्रागुत्पत्त्यविकासिनः ॥ १९ ॥

कहींपर अपने भीतर तनिक भी निद्रा न लेकर एकमात्र सङ्कल्पमें तत्पर होकर स्थित हैं ॥ १३–१४ ॥

जीवट आख्यानमें वर्णित भिक्षुके समान ये जीव ध्यानसे विचलित होकर स्थित हैं । मनोराज्यके वशमें पड़कर उसके पीछे दौड़ते हैं । दृढ़ सङ्कल्प धारण करते हैं और पूर्वावस्थाकी स्मृतिसे शून्य हैं ॥ १५ ॥

जिन जीवोंका जागराभिमान दीर्घकालके अभ्याससे घनीभूत सङ्कल्पमें है और जिनकी सङ्कल्पजनित अर्थोंमें ही पूर्वापरस्मरणसे रहित मनकी चेष्टा है, ये ही स्वप्नजागर जीव कहलाते हैं ॥ १६ ॥

वे सङ्कल्पका विनाश हो जानेपर फिर पूर्वके व्यवहारको उससे विलक्षण बनाकर करने लग जाते हैं । उनकी दृष्टिसे ये हम उन्हींके शरीरमें सङ्कल्पपुरुष ही स्थित हैं, क्योंकि समानसङ्कल्पसे उत्पन्न हैं ॥ १७ ॥

भद्र, सङ्कल्पके ऊपर निर्भर रहनेवाले ये सङ्कल्पजागर जीव हमने आपसे कहे । ये दृश्यमान जीव उन्हींके सङ्कल्पजीवनमें प्रवेश करते हैं और हम लोगोंके लोक भी ऐसे ही हैं । यानी उनका यदि सङ्कल्प है, तो दृश्यमान जीव हैं और हम लोगोंके लोक भी हैं । अब आप केवलजागर जीवोंको सुनिए ॥ १८ ॥

सृष्टिका सङ्कल्प करनेके कारण हलचलसे युक्त हुए, आगे कहे जानेवाले ब्रह्माके रूपसे वे जीव इस कल्पमें पहलेसे ही शरीरधारी होकर रहते हैं और उस जन्ममें स्वप्न न होनेके कारण केवल जागर कहे जाते हैं । चूँकि वे पहलेके उत्पत्तिविकासरूप स्वप्नसे रहित हैं और पहलेका जाग्रत्संस्कार भी जाग्रत्-

भूयो जन्मान्तरगतास्त एव चिरजागराः ।
कथ्यन्ते प्रौढिमायाताः कार्यकारणचारिणः ॥ २० ॥
त एव दुष्कृतावेशाज्जडस्थावरतां गताः ।
घनजाग्रत्तया प्रोक्ता जाग्रत्सु घनतां गताः ॥ २१ ॥
ये तु शास्त्रार्थतत्सङ्गबोधिता बोधमागताः ।
पश्यन्ति स्वप्नवज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्ना भवन्ति ते ॥ २२ ॥
ते तु सम्प्राप्तसम्बोधा विश्रान्ताः परमे पदे ।
क्षीणजाग्रत्प्रभृतयस्ते तुर्यां भूमिकां गताः ॥ २३ ॥
इति सप्तविधो भेदो जीवानां कथितस्तव ।
समुद्राणामिव मया बुद्ध्वा श्रेयःपरो भव ॥ २४ ॥

स्थितिको उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो गया है, इसलिए इस कल्पमें वह स्वप्नका कारण हो भी नहीं सकता ॥ १९ ॥

फिर ये जीव जब उत्तरोत्तर जन्मपरम्परा लेते-जाते हैं और जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिमें विचरण करते-रहते हैं, तब वे ही चिरजागर कहे जाते हैं ॥ २० ॥

पांचवें प्रकारके जीवोंको कहते हैं—'त एव' इत्यादिसे ।

पापरूप दुष्कर्मोंके आवेशसे जड़-स्थावररूप होकर तथा जाग्रत् अवस्थाओंमें भी घन अज्ञानसे पूर्ण होकर वे चिरजागर जीव ही घनजाग्रत् कहे जाते हैं। श्लोकमें 'जाग्रत्सु' इस विशेषणसे यह भाव व्यक्त किया है कि स्थावर जीवोंको भी स्वप्न आदिमें मनुष्यभाव आदिका अपनेमें परिज्ञान होता है ॥ २१ ॥

अब अवशिष्ट जो दो प्रकार हैं, वे दोनों ही जीवन्मुक्तोंमें हैं, यह बतलानेकी इच्छा रख रहे महाराजवसिष्ठजी, छठे प्रकारके जीवोंका उल्लेख करते हैं—'ये तु' इत्यादिसे।

चतुर्थ, पञ्चम और छठी भूमिकामें अवस्थित जो जीव हैं, वे शास्त्रार्थ एवं सत्सङ्गके द्वारा उपदेश ग्रहणकर तत्त्वज्ञानको प्राप्त करके जाग्रत्को स्वप्नके सदृश देखते हैं, वे जाग्रत्स्वप्न कहलाते हैं ॥ २२ ॥

सातवीं भूमिकामें आरूढ़ हुए पुरुष ही सातवें प्रकारके जीव हैं, यह कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

जिन महापुरुषोंको ज्ञान प्राप्त हो चुका है और परमपदमें विश्रान्ति ले रहे हैं, वे क्षीणजाग्रतजीव कहलाते हैं, ये जीव सप्तम भूमिकामें स्थित हैं ॥ २३ ॥

भद्र, समुद्रोंकी तरह सात प्रकारके जीवोंका भेद मैंने आपसे कहा। आप

भ्रान्तिं परित्यज जगद्गणनात्मिकां त्वं
बोधैकरूपघनतामलमागतोऽसि ।
शून्यत्ववर्जितमशून्यतया च मुक्तं
तेन द्वयैक्यकविमुक्तवपुस्त्वमाद्यम् ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जीवसप्तकप्रकारवर्णनं नाम पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

कथं केवलजाग्रत्त्वमकारणमनर्थकम् ।
पराद्विकसति ब्रह्मन्गगनादिव पादपः ॥ १ ॥

इनका भलीभाँति परिज्ञान करके कल्याणरूप वस्तुमें तत्पर हो जाइए ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, आप सब भ्रम छोड़ दीजिए, यही भ्रम जगत्‌का द्वैतादि-वस्तुबुद्धिसे ज्ञान कराता है; क्योंकि अब आप ज्ञानरूप आत्मभावसे एकरस बन गये हैं, द्वैत और ऐक्यसे मुक्तशरीर होकर आप शून्यत्व और अशून्यत्व धर्मोंसे रहित हो गये हैं तथा सब कल्पनाओंके पूर्ववर्ती अधिष्ठानभूत हो गये हैं ॥२५॥

पचासवाँ सर्ग समाप्त

इक्यावनवाँ सर्ग

[ब्रह्मदृष्टिमें कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ और आत्मदृष्टिमें मिथ्या उत्पन्न जगत् तत्त्वज्ञानसे जिस तरह निवृत्त हो जाता है, उस तरहका वर्णन]

पहलेके सर्गमें १९वें श्लोकसे एक यह बात कही गई है कि ब्रह्मसे पहले उत्पन्न जीव केवलजागर जीव हैं। इस विषयमें यह शङ्का होती है—वैसा कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कूटस्थ अद्वय ब्रह्म पहले जीवभाव धारण कर उत्पन्न हो ही नहीं सकता, ऐसा करनेमें न तो उसको कोई प्रयोजन है और न कोई बीज है; अपिच, काम, कर्म आदिकी वासनाएँ जीवभावके बाद ही होती हैं, इस प्रकारकी आशङ्का श्रीरामभद्र करते हैं—'कथम्' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

अकारणं महाबुद्धे न कार्यमुपलभ्यते ।
तज्जाग्रतः केवलस्य न कश्चिदिह सम्भवः ॥ २ ॥
तस्यातो सम्भवादन्ये जीवभेदाः सजीवकाः ।
सर्वे न सम्भवन्त्येव कारणाभावविक्षताः ॥ ३ ॥
नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चन नश्यति ।
उपदेश्योपदेशार्थं शब्दार्थकलनोदयः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

कः करोति शरीराणि मनोबुद्ध्यादिचेतनैः ।
को मोहयति भूतानि स्नेहरागादिबन्धनैः ॥ ५ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—ब्रह्मन्, कूटस्थ अद्वय परब्रह्मसे केवलजागर नामके जीव अर्थ और बीजके बिना, आकाशसे वृक्षकी नाईं, कैसे उत्पन्न होते हैं ॥१॥

श्रीरामजी, आपकी शङ्का तो बहुत ही साधारण है कि कूटस्थ अद्वय ब्रह्मसे केवलजागर जीव तो उत्पन्न हो नहीं सकते, क्योंकि अन्य जीवोंकी और जगतकी भी उत्पत्ति तन्मूलक नहीं हो सकेगी, इसलिए कूटस्थ ब्रह्ममें जीव और जगद्भावका अपलाप किये बिना ठीक-ठीक उपदेश नहीं हो सकता, अतः उपदेशार्थ ही ब्रह्ममें जीव-जगद्भावकी कल्पना श्रुति, स्मृति आदिमें की गई है, ऐसा उत्तर महाराज वसिष्ठजी देते हैं—'अकारणम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—महामते, कोई भी कार्य किसी कारणके बिना उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है, इसलिए केवल जगत्का यहाँ कोई संभव ही नहीं है ॥ २ ॥

कूटस्थसे उसका यदि संभव है, तो उससे अन्य जीव सजीव हो सकते हैं, परन्तु कारणके अभावसे वे सब निरस्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

भद्र, यहाँ न तो कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट ही होता है, केवल उपदेश और उपदेशयोग्य वस्तुके लिए शब्दार्थकी एकमात्र कल्पना की गई है ॥ ४ ॥

यह बात आपकी हम मानते हैं, पर भोगके आधार शरीर आदिका कर्म आदि द्वारा या साक्षात् कोई निर्माण करनेवाला तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्य कर्ता द्वारा ही बनता है । अतः उस देहमें जीवको बैठाकर विषयोंसे मोहित करनेवाला कोई दूसरा रहना ही चाहिए, क्योंकि मोहित करनेवालेको

वसिष्ठ उवाच

न कश्चिदेव कुरुते शरीराणि कदाचन ।
न मोहयति भूतानि कश्चिदेव कदाचन ॥ ६ ॥
अनाद्यन्तावभासात्मा बोध आत्मनि संस्थितः ।
नानापदार्थरूपेण कमूर्म्यादितया यथा ॥ ७ ॥
बाह्यं न विद्यते किञ्चिद्बोधः स्फुरति बाह्यवत् ।
उदेति बोधहृदयाद्बीजादिव वरद्रुमः ॥ ८ ॥

छोड़कर चेतनमें मोह हो नहीं सकता । ऐसी स्थितिमें मोहित होनेवाला और मोहित करनेवाला—यों दो भिन्न-भिन्न जीव एवं ईश्वरनामक चेतन सृष्टि आदिकी प्रतिपादक श्रुतियोंके आधारपर मानना चाहिए—इस प्रकार फिर रामजी शङ्का करते हैं—'क करोति' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—भगवन् , मन, बुद्धि, चेतन आदिसे युक्त इन शरीरोंकी रचना करनेवाला कौन है और प्राणियोंको स्नेह, राग आदि बन्धनोंके द्वारा कौन मोहित करता है ? यह हमसे कहिए ॥ ५ ॥

हाँ, यह बात ठीक होती, यदि शरीरादिका कर्ता, मोहित होनेवाला, मोह आदि—ये सब श्रुति आदि प्रमाणोंसे सत्यरूप ठहरते, परन्तु 'वाचारम्भणम्' आदि श्रुतियोंके द्वारा वे सब मिथ्या ही सिद्ध होते हैं, ऐसी स्थितिमें प्रतिभासमात्रस्वरूप उन सबका कूटस्थ ब्रह्मके द्वारा विवर्तमात्रसे भी निर्वाह हो सकता है इसलिए उनकी आवश्यकता नहीं है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, कोई कभी भी शरीर आदिकी रचना नहीं करता और न कभी कोई प्राणियोंको मोहित ही करता है ॥ ६ ॥

अनादि, अनन्त अवभासस्वरूप जो बोधात्मा है, वह अपने ही स्वरूपमें स्थित होकर ऐसे नाना पदार्थोंके रूपमें भासता है, जैसे अपने स्वरूपमें स्थित जल तरङ्ग आदिके रूपोंमें ॥ ७ ॥

बाह्य पदार्थ कैसे भीतरी चेतनके विवर्त हो सकते हैं, क्योंकि दोनोंके आधार अलग-अलग हैं, इस शङ्कापर कहते हैं—'बाह्यम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, असलमें तो बाहरके कोई पदार्थ ही नहीं हैं, ज्ञानरूप आत्मा ही बाहरके सदृश भासता है, वह बोधरूप हृदयसे ही बाहर ऐसे उदयको प्राप्त होता है, जैसे बीजसे बड़ा वृक्ष ॥ ८ ॥

बोधस्यान्तरिदं विश्वं स्थितमेव रघूद्वह ।
स्तम्भस्यान्तर्यथा शालभञ्जिका प्रकटीकृता ॥ ९ ॥
सबाह्याभ्यन्तरात्मैकमनन्तं देशकालतः ।
बोधामोदप्रसरणं जगदेव प्रबुध्यताम् ॥ १० ॥
अयमेव परो लोको भाव्यतां वासनाक्षयः ।
शाम्यतां परलोकस्थं काः किलाऽऽयान्ति वासनाः ॥ ११ ॥

बीजसे वृक्ष बाहर निकलता है, यह दृष्टान्त विषम है, इस प्रकारकी आशङ्का-कर समान दृष्टान्त बतलाते हैं । अथवा यदि विश्व भीतर ही उत्पन्न होता, तो वह भीतर ही रहता, पर वह तो बाहर रहता है, इसपर कहते हैं—'बोधस्या०' इत्यादिसे ।

रघुकुलको ढोनेवाले (रघुश्रेष्ठ) हे श्रीरामजी, बोधात्माके भीतर स्थित ही यह विश्व बाहरके रूपमें ऐसे प्रकट हुआ है, जैसे खंभेके भीतर ही स्थित कठपुतली ॥९॥

वस्तुतस्तु चेतन नामकी वस्तु न भीतर है और न बाहर है, किन्तु अनन्त है, उसीके भीतर आमोद और पुष्पकी नाईं बाह्य-आभ्यन्तरकी एकमात्र कल्पना की गई है, यों कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादिसे ।

बाह्य और आभ्यन्तर जिसमें विद्यमान है और जो देश एवं कालके परिच्छेद-से अलग है, उस बोधस्वरूप आत्माका ही यह जगत् एक तरहसे सुगन्ध-विस्तार है, यह आप जानिए ॥ १० ॥

यदि शङ्का हो कि समस्त जगत्की कल्पना यहींपर है, तो ब्रह्मलोक आदि परलोक, जिसमें अर्चि आदि मार्गोंसे गमन किया जाता है, दूर क्यों माने जाते हैं, इसका समाधान यह है कि वैसी ही लोगोंकी अनादिकालसे वासना है, इसलिए जब वासनाका विनाश हो जायगा, तो सभी लोग एकमात्र अपने आत्मरूपसे अत्यन्त निकट हो जायँगे, इस आशयसे कहते हैं—'अयमेव' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजी, वासनाका विनाश हो जानेपर यह आत्मा ही परलोक है, दूसरा नहीं, यह आप जानिए । जो महापुरुष सब उपद्रवोंसे निर्मुक्त होकर शान्त हो रहे हैं, उनके—परलोकके रूपमें यहींपर स्थित—आत्माकी ओर दूरत्वादि-वासनाएँ आ ही नहीं सकतीं ॥ ११ ॥

देशकालक्रियालोकरूपचित्तात्मसत्पदम् ।
देशकालादिशब्दार्थरहितं न च शून्यकम् ॥ १२ ॥
पदे पदविदामेव तस्मिन् बोधगतिर्भवेत् ।
द्रष्टॄणां शान्तदृश्यानामेवान्येषां न राघव ॥ १३ ॥
ये वै तरलगम्भीरमहन्तागर्तमाश्रिताः ।
पश्यन्ति ते तमालोकं न कदाचन केचन ॥ १४ ॥
चतुर्दशविधानन्तभूतजातघुघुंघुमा ।
जगद्दृष्टिरियं ज्ञस्य शरीरावयवोपमा ॥ १५ ॥

यदि प्रत्यगात्मा ही परलोक देश, काल आदिरूप है, तो देश, काल आदिका बाध हो जानेपर वह शून्यरूप ही क्यों न हो जायगा ? इसपर कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

चूँकि देश, काल, क्रिया, आलोक, रूप, चित्त, आत्मा, सत्—इन सबका अधिष्ठान तथा इन शब्दोंसे बोधित होनेवाला ब्रह्म देश, काल आदि शब्दार्थोंसे रहित है, इसलिए वह शून्यरूप नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

यदि वह शून्यरूप नहीं है, तो दूसरे लोग भी एकमात्र प्रपञ्चका अपलाप कर उस पदमें अपनी बोधगति क्यों नहीं कर लेते, इसपर कहते हैं—'पदे' इत्यादिसे ।

हे राघव, जो तत्त्वद्रष्टा हैं और जो विषयोंसे मुक्त हो गये हैं, ऐसे आत्मपदको जाननेवाले मुनियोंको ही उस पदमें ज्ञानगति होगी, दूसरों को नहीं ॥ १३ ॥

भद्र, जो पुरुष तरल और गम्भीर अहन्तारूप गड्ढेमें गिरे हुए हैं, वे कोई भी उस आत्मपदरूप प्रकाशको कभी देख नहीं सकते ॥ १४ ॥

आत्मप्रकाश देखनेवालोंको जगत्का ज्ञान कैसा रहता है, इसपर कहते हैं—'चतुर्दश०' इत्यादिसे ।

चौदह प्रकारके ये जो भूतसमूह हैं, उनके घुंघुं शब्दोंसे परिपूर्ण जगत्-दृष्टि ज्ञानीके लिए तो देहावयव-जैसी है, यानी अपनेसे भिन्न उसे भासती ही नहीं ॥ १५ ॥

कारणाभावतः सृष्टिर्नोदिता न च शाम्यति ।
यादृशं कारणं वा स्यात्तादृग्भवति कार्यकम् ॥ १६ ॥
यदि स्यात्कारणे कार्यं स्थितं कारणताऽस्य का ।
कार्यमेवोपलम्भात्तदसद्द्वयमवेदनात् ॥ १७ ॥
सौम्यस्यान्तर्यथाम्भोधेरूर्म्यावर्तादयः स्थिताः ।
ब्रह्मण्यसम्भवक्षोभे जगच्चित्तादयस्तथा ॥ १८ ॥
सर्वात्मैवामलं ब्रह्म पिण्ड एक इव स्थितम् ।
नानाभाण्डात्म हेमैव यथाऽन्तःस्थितरूपकम् ॥ १९ ॥
स्वप्नकाले स्वप्न एव जाग्रद्दृग्ग्रापरिग्रहात् ।
जाग्रत्काले जाग्रदेव स्वप्नः सत्यावबोधतः ॥ २० ॥

ज्ञानीको समाहितदृष्टि और व्यवहारदृष्टिसे जगत् जैसा भासता है, उसे बतलाते हैं—'कारणा०' इत्यादिसे ।

सृष्टिका असलमें तो कोई कारण नहीं है, इसीलिए न तो सृष्टि उत्पन्न होती है और न वह नष्ट ही होती है, यह ज्ञान ज्ञानीको समाहितदृष्टिसे है। और व्यवहारदृष्टिसे तो जैसा कारणका स्वरूप होगा, वैसा ही कार्य भी होगा यानी जैसा कारण कल्पित अतएव मिथ्या है, वैसा ही उससे जनित कार्य भी कल्पित और मिथ्या है, ऐसा ज्ञान व्यवहारदृष्टिसे भी उसे रहता है ॥ १६ ॥

यदि कारणमें कार्यकी स्थिति होगी, तो उसकी कारणता ही कैसी, क्योंकि वह तो कार्यरूप ही ज्ञात होता है, अतः कार्य और कारण दोनों ही असत् हैं, कारण कि दोनोंका ही अलग-अलग ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

प्रशान्त महासमुद्रमें जैसे तरङ्ग, भँवरे आदि स्थित हैं, वैसे ही क्षोभशून्य परब्रह्ममें ये सब आपके बाह्य जगत् और भीतरके चित्त आदि स्थित हैं ॥१८॥

जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनोंको रखनेवाला एक ही मृत्पिण्ड रहता है, ठीक वैसे ही अनेक ब्रह्माण्डोंको अपने उदरमें रखनेवाला सबका स्वरूपभूत निर्मल ब्रह्म भी एक पिण्ड ही है। जैसे अपने भीतर कटक, कुण्डल आदि आकारोंसे युक्त तथा नाना बर्तनोंका स्वरूपभूत सुवर्ण स्थित है, वैसे ही सुवर्णरूप ब्रह्म स्थित है ॥ १९ ॥

पिण्डदशामें घट पिण्डरूप और घटदशामें पिण्ड घटरूप है, यों घटके स्वरूप-

चित्तमात्रतया बुद्धं मृगतृष्णाम्बुवत् स्थितम् ।
जाग्रत्स्वप्नत्वमायाति विचारविकलीकृतम् ॥ २१ ॥
सम्यग्ज्ञानेन भूतानि ज्ञस्य देहतया सह ।
पीठबन्धं विमुञ्चन्ति गतकाल इवाऽम्बुदाः ॥ २२ ॥
यथा गलितुमारब्धो घनो गगनतामियात् ।
तथा सत्यावबोधेन शाम्येत्सात्मग्रहं जगत् ॥ २३ ॥
शरदभ्रवदालूना मृगतृष्णाम्बुवत्तथा ।
पुनः संस्पृश्यमानैव बोधाद्गलति दृश्यता ॥ २४ ॥

वेत्ताओंको जैसे एकका ही व्यवस्थित ज्ञान होता है, वैसे ही प्रपञ्चमें भी स्वप्नदशामें जाग्रत् स्वप्नरूप और जाग्रत्कालमें स्वप्न जाग्रद्रूप व्यवस्थित जगत्के एकरूपका ही तत्त्वज्ञोंको ज्ञान होता है, यह कहते हैं—'स्वप्नः' इत्यादिसे।

स्वप्नकालमें स्वप्न ही जाग्रद्रूप ज्ञानियों द्वारा जाना जाता है, क्योंकि वासनाओंके विस्तारसे व्यग्र मन उनके पास नहीं है, और जाग्रत्कालमें जाग्रत्को स्वप्नरूप जानते हैं, क्योंकि उनको सत्य आत्माका परिज्ञान हो चुका है ॥२०॥

जाग्रत्-दशामें यदि हम लोग यह विचार करें कि यह जगत् केवल चित्तमात्र ही है, तो वह स्वप्नतुल्य ही बन जायगा । इसी वास्तविकताको लेकर विद्वानोंकी सृष्टिको उसके शरीरके अवयवोंकी उपमा दी गई है, यों उपसंहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जानेपर उसका भी समूल बाध हो जाता है, यह कहते हैं—'चित्त०' इत्यादिसे ।

भद्र, वास्तवमें मृगतृष्णाके जलके सदृश असद्रूपसे स्थित तथा विचारसे विकल किया गया—यह जाग्रत् जगत् केवल चित्तरूप यदि समझ लिया जाता है, तो फिर वह स्वप्नरूप बन जाता है ॥ २१ ॥

सम्यक् ज्ञानसे यानी आत्माके सत्यज्ञानसे देहरूपके साथ ये सब भूत ज्ञानीके पिण्डको समूल ऐसे छोड़ देते हैं, जैसे वर्षाकालके जानेपर मेघ ॥ २२ ॥

जैसे विनाशकी ओर उन्मुख हुआ मेघ तत्काल ही गगनरूप बन जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानसे यह अहङ्कारसहित जगत् शान्त हो जाता है यानी तत्काल आत्मरूप बन जाता है ॥ २३ ॥

शरत्कालके मेघके सदृश चारों ओरसे छिन्न-भिन्न हुआ मृगतृष्णाजलके सदृश

यथा दीप्तानले लीनं सुवर्णं घृतमिन्धनम् ।
एकतां याति विज्ञाने तथा भुवनचित्तदृक् ॥ २५ ॥
बोधेन तनुतामेति पिण्डबन्धो जगत्त्रये ।
पिशाचबुद्धिः सदने बोधितस्य यथा शिशोः ॥ २६ ॥
बोधस्याऽनन्तरूपस्य स्वयमेवात्मनाऽऽत्मनि ।
जगच्चित्तादिता भाता पिण्डबन्धः किलात्र कः ॥ २७ ॥
बोधाबोधनमेवेदं जगच्चित्तमिवोदितम् ।
तदेवास्तं गतं बोधात्पिण्डबन्धस्य काऽस्तिता ॥ २८ ॥

मिथ्या प्रतीयमान तथा बार-बार स्पर्श आदिसे जाना गया भी जगत् आत्मज्ञानसे तत्काल जल जाता है ॥ २४ ॥

जैसे धधक रही अग्निमें विलीन सोना, घी और इन्धन एकरूप बन जाता है, वैसे ही विज्ञानकालमें भी जगत्-चित्त द्रष्टा आदि सब एकरूप बन जाते हैं ॥ २५ ॥

तीनों जगत्में जो एक प्रकारका रूप कल्पित किया गया है, वह तत्त्वज्ञानसे धीरे-धीरे ऐसे विलीन होता जाता है, जैसे घरमें समझाये गये बालकका वृक्षादिमेंसे पिशाचज्ञान धीरे-धीरे विलीन होता जाता है ॥ २६ ॥

अग्नि आदि कारण जबतक लाखके पास रहते हैं, तबतक उसमेंकी कठिनताका विलय रहता है। यदि अग्नि आदि पासमें न रहते, तो कठिनताका विलय भी हट जाता है, क्या इसी तरहका यह जगद्विलय तत्त्वज्ञानसे होता है, यदि ऐसा विलय हुआ, तो निमित्तके हट जानेपर फिर जगत् ज्योंका त्यों बना रहेगा, ऐसी आशङ्कापर कहते हैं कि तत्त्वज्ञान असत्पक्षका विरोधी होनेके कारण उससे हुआ विलय फिर लौटकर नहीं आता, जैसे कि शुक्तिके तत्त्वज्ञानसे बाधित शुक्तिरूप-ज्ञान फिर नहीं होता, इस आशयसे कहते हैं—'बोधस्या०' इत्यादि।

देश, काल और वस्तुकी परिच्छिन्नता (स्वल्परूपता) से रहित साक्षी चेतनमें किसी कारणके बिना ही जगत्, सङ्कल्पकारक चित्त, अज्ञान आदि भासते हैं, अतः साक्षी चेतनमें रूपादिका अवसर ही कैसे ॥ २७ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्याभूत जगत्, चित्त आदिके रूपमें मिथ्या अज्ञान ही नृत्य करता है, यह कहते हैं—'बोधा०' इत्यादिसे।

जहाति पिण्डकाठिन्यं जाग्रत्स्वप्नावबोधतः ।
परां पेलवतामेति हेमवद्द्रुतमिवाग्निना ॥ २९ ॥
यथास्थितं बोध एव घनतामिव गच्छति ।
विनैव देशकलाभ्यां तौ विनिर्माय हेमवत् ॥ ३० ॥
जाग्रत्येवं विचारेण स्वप्नाभे पेलवे स्थिते ।
क्षीयमाणे शरत्काल इवैति तनुतां रसः ॥ ३१ ॥
परां पेलवतां याता दृश्यलक्ष्म्यः स्थिता अपि ।
स्वप्ना इव परिज्ञाता न स्वदन्ते विवेकिनः ॥ ३२ ॥
क्व किल स्वात्मविश्रान्तिः क्वैतद्विषयवेदनम् ।
सुषुप्तजाग्रतोरैक्यं भ्रान्ताभ्रान्तात्मनोर्भवेत् ॥ ३३ ॥

साक्षी चेतनके अज्ञानसे ही यह जगत् और चित्त उत्पन्न हुआ है, ज्ञानसे जब अज्ञान नष्ट हो गया, तब निर्मल चेतनमें जगत् आदि स्वरूपोंका अस्तित्व ही क्या रहा ॥ २८ ॥

इससे पहलेकी बात सिद्ध हो गई कि जाग्रत्प्रपञ्च ही स्वप्नदशामें अपनी स्थूलता छोड़कर सूक्ष्म प्रपञ्चरूप बन जाता है और स्वप्नभ्रान्ति ही चिरकालके अभ्याससे घनीभूत होकर जाग्रत्-रूप बन जाती है, यह कहते हैं—'जहाति' इत्यादिसे ।

स्वप्नके अवभाससे जाग्रत्-प्रपञ्च अपनी कठिनता छोड़ देता है और ऐसे अत्यन्त नरम (सूक्ष्म) हो जाता है, जैसे कि अग्निसे पिघला हुआ सुवर्ण ॥२९॥

देश-कालरूप निमित्तके बिना जाग्रत्-स्वप्नका निर्माणकर यथास्थित बोधरूप साक्षी चेतन ही घनस्वरूप जगदाकार-सा सुवर्णके सदृश बन जाता है ॥ ३० ॥

शरत्कालके क्षीण हो जानेपर जैसे जल स्वल्प हो जाता है, वैसे ही स्वप्नके सदृश अत्यन्त तुच्छ जाग्रत् वस्तुके उक्त विचारसे क्षीण हो जानेपर भोगका अनुराग भी स्वल्प यानी क्षीण हो जाता है ॥ ३१ ॥

दृश्यवस्तुओंकी कान्ति जब अत्यन्त तुच्छरूप भासने लग जाती है, तब उनकी स्थिति होनेपर भी विवेकीको वे अच्छी नहीं लगतीं, क्योंकि वह स्वप्नके सदृश उन्हें मिथ्या ही समझता है ॥ ३२ ॥

आत्मसुखसे अत्यन्त तृप्त होनेके कारण ज्ञानी भी विषयोंमें आदर नहीं करता, यह कहते हैं—'क्व' इत्यादिसे ।

चित्तमात्रे भ्रान्तिमात्रे स्वप्नमात्रात्मनि स्थिते ।
जगतीह पदार्थेभ्यः सत्यबुद्धिर्निवर्तते ॥ ३४ ॥
कस्य स्वदन्तेऽसत्यानि कथमेव महामते ।
मृगतृष्णाजलानीव दृश्यान्यपि पुरःस्थितैः ॥ ३५ ॥
सत्यबुद्धौ विलीनायां जगत्पश्यति शान्तधीः ।
जालदीपांशुजालाभ्रपिण्डात्माम्बरात्मकम् ॥ ३६ ॥
जाग्रतो वस्तुतः शून्यात्परिज्ञातान्निवर्तते ।
चित्तभ्रमात्मनो भ्रान्तिरूपास्वादनभावना ॥ ३७ ॥
यदवस्त्विति विज्ञातं तत्रोपादेयता कुतः ।
केन स्वप्नं परिज्ञाय स्वप्नहेमाभिगम्यते ॥ ३८ ॥

कहाँ अपनी आत्मामें विश्रान्ति और कहाँ यह विषयोंका परिज्ञान । यदि ज्ञानीको भी विषय भले प्रतीत होने लगें, तो सुषुप्त और जाग्रत्‌की एकता और मूढ और तत्त्वज्ञकी एकता हो जायगी यानी दोनोंमें कोई पार्थक्य ही नहीं रह जायगा ॥ ३३ ॥

श्रीरामजी, चित्तमात्रस्वरूप यह जगत् जब यहाँ भ्रान्तिरूप और स्वप्नमात्र स्वरूप बनकर स्थित हो जाता है यानी जो पुरुष जगत्‌को स्वप्नके सदृश मिथ्या समझ लेता है, तब पदार्थोंसे सत्यत्वबुद्धि अपने आप हट जाती है ॥ ३४ ॥

असत्य भी ज्ञानीको यदि रुचते हों, तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं— 'कस्य' इत्यादिसे ।

हे महामते, समीपमें स्थित पुरुषों द्वारा असत्यरूपसे देखे गये मृगतृष्णा-जल आदि क्या किसीको भी रुचते हैं ? अर्थात् वे किसी ज्ञानीको किसी तरह भी अच्छे नहीं लगते ॥ ३५ ॥

जगत्‌में सत्यत्व बुद्धिके बिलीन हो जानेपर शान्तबुद्धि ज्ञानी जगत्‌को अपिण्डात्मक आकाशरूप, जो कि वातायनमें प्रविष्ट हुए दीपकिरणोंकी प्रभाके सदृश प्रकाशमान भी है, देखता है ॥ ३६ ॥

केवल चित्तके ही विलासस्वरूप स्वप्नात्मक फूल-माला, चन्दन आदिकी भोगभावना जाग्रत् पुरुषकी निकल जाती है, क्योंकि वस्तुतः उसने उन पदार्थोंको शून्यरूप जान लिया है ॥ ३७ ॥

हे श्रीरामजी, जिसको अवस्तुरूप समझ लिया, फिर उसकी ग्राह्यता कैसी ?

स्वप्नादिव परिज्ञाताद्रसो दृश्यान्निवर्तते ।
द्रष्टृदृश्यदशादोषग्रन्थिच्छेदः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥
नीरसः शान्तमननो निर्वाणाहंकृतिः कृती ।
वीतरागो निरायासः शान्तस्तिष्ठति शुद्धधीः ॥ ४० ॥
रसे नीरसतां याते वासना प्रविलीयते ।
शिखायां प्रविलीनायां प्रदीपस्यांशवो यथा ॥ ४१ ॥
बोधाद्दीपांशुजालाभमघनं व्योम दृश्यते ।
भ्रान्तिरूपं जगत् कृत्स्नं गन्धर्वनगरं यथा ॥ ४२ ॥
नैवात्मानं न चाकाशं न शून्यं न च वेदनम् ।
अत्यन्तपरिणामेन पश्यन् पश्यति तत्पदम् ॥ ४३ ॥

भला ऐसा कौन पुरुष है, जो स्वप्न जानकर भी स्वप्न-सुवर्णको लेनेके लिए उसकी ओर दौड़ता हो ॥ ३८ ॥

भद्र, स्वप्नके सदृश दृश्य पदार्थोंको जब जान लिया जाता है, तब उससे प्रेम मनुष्यका निकल जाता है और द्रष्टा, दृश्यकी अवस्थाओंके दोषसे जनित जो बड़ी भारी गाँठ है, वह विच्छिन्न हो जाती है ॥ ३९ ॥

इसकी निवृत्ति हो जानेपर यह कैसे स्थित रहता है ? यह कहते हैं—'नीरसः' इत्यादिसे ।

दृश्यपदार्थ जिसको नीरस हो गये हैं या बन्धु आदिमें जिसको प्रेम नहीं रह गया है, जिसकी मननशक्ति शान्त हो गई है, जिसका अहङ्कार चला गया है, जो तत्त्वविद्यासे परिपूर्ण वीतराग, प्रयासरहित और निर्मलबुद्धि हो चुका है, वह सदा शान्त ही रहता है ॥ ४० ॥

दीपकी शिखा (लौ) जब नष्ट हो जाती है, तब उसकी किरणें जैसे नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही जब रस नीरसरूप बन जाता है, तब ज्ञानीकी वासना नष्ट हो जाती है ॥ ४१ ॥

ज्ञानसे पूर्व गन्धर्वनगरके सदृश प्रतीत हो रहा सम्पूर्ण जगत् तत्त्वज्ञानसे दीपककी किरणोंके सदृश एकमात्र प्रकाशरूप एवं अघन होकर आकाशके सदृश भासने लगता है ॥ ४२ ॥

तब सप्तम भूमिकाकी स्थितिसे वह किस तरहका होता है, इसे बतलाते हैं—'नैव' इत्यादिसे ।

यत्र नात्मा न शून्यं च न जगत्कलना न च ।
न चित्तदृश्योदयधीः सर्वं चास्ति यथास्थितम् ॥ ४४ ॥

भूम्यादिताऽज्ञसंबुद्धा ज्ञानादस्तत्वमुपागता ।
ज्ञस्य शून्यैव सम्पन्ना संस्थिताऽपि न विद्यते ॥ ४५ ॥

भवत्येकसमाधानसौम्यात्मा व्योमनिर्मलः ।
तिष्ठत्यपगतासङ्गः स्थित एवाप्यसत्समः ॥ ४६ ॥

अस्तङ्गतमना मौनी निरोधपदवीं गतः ।
तीर्णः संसारजलधेः कर्मणामन्तमागतः ॥ ४७ ॥

तनुभुवनगगनगिरिगणकरणपरम्परममज्ञानम् ।
विगलति गलिते तस्मिन् सकलमिदं विद्यमानमपि ॥ ४८ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष सप्तम भूमिकामें स्थितिकर न आत्माको, न आकाशको न शून्यको, न वृत्तिको देखता है, किन्तु केवल आत्मपदको ही (ब्रह्मरूपताको ही) देखता है ॥ ४३ ॥

भद्र, जो तत्पद वस्तु है, उसमें न आत्मा है, न शून्य है और न जगत्की कल्पना ही है, अधिक क्या कहें, उसमें न चित्त है, न दृश्यबुद्धि है और न यह यथास्थित सब कुछ ही है ॥ ४४ ॥

अज्ञानियोंके द्वारा पिण्डरूपसे जाना गया जो यह पृथ्वी आदिका स्वरूप है, वह ज्ञानीके प्रति तो ज्ञानसे अस्त हो जाता है और शून्यरूप बन जाता है, अतः विद्यमान रहते भी नहीं ही है ॥ ४५ ॥

ज्ञानी पुरुष एकमात्र आत्मसमाधिमें चित्तको लगाकर आकाशके सदृश निर्मल बन जाता है, सब आसक्तियोंसे रहित होकर ही अपनी स्थिति बनाता है और स्थित रहकर भी असत्के तुल्य बना रहता है ॥ ४६ ॥

श्रीरामजी, जिसका मन मर गया है और जो सर्वबाधावधि आत्मपदको प्राप्त हुआ है, ऐसा मननशील मौनी संसाररूपी समुद्रको तैर गया है और सब कर्मोंके अन्तको भी प्राप्त हो गया है, यह अवश्य जानिए ॥ ४७ ॥

राघव, चूँकि जो सम्पूर्ण शरीर, शरीरोंके आधार भुवन, भुवनाधार गगन तथा विहारस्थान पर्वत हैं, उनके साधन और करणोंका एकमात्र कारण मूल अज्ञान ही

संशान्तान्तःकरणो
गलितविकल्पः स्वरूपसारमयः ।
परमशमामृततृप्त-
स्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे विश्रान्तियोगोपदेशो नामैकपञ्चाशः सर्गः ॥५१॥

——०——

द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

बोधो जगदिवाऽऽभाति मुने येन क्रमेण ह ।
तं क्रमेण क्रमं ब्रूहि भूयो भेदनिवृत्तये ॥ १ ॥

है, दूसरा नहीं, इसलिए ज्ञान द्वारा अन्तःकरणसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर यह शरीर आदि जगत्, अज्ञानियोंकी दृष्टिसे विद्यमान रहते भी, विनष्ट हो जाता है यानी असद्रूप बन जाता है ॥ ४८ ॥

विद्वान् पुरुषका अन्तःकरण शान्त रहता है, उसके विकल्प विनष्ट हुए रहते हैं, वह अपने स्वरूपभूत आत्मरसमें तन्मय रहता है, परम शान्तिरूपी अमृतरससे तृप्त रहता है, उसको आवरण (अज्ञान) भी नहीं रहता । इस प्रकार उसकी उत्तम स्थिति होती है ॥ ४९ ॥

इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त



बावनवाँ सर्ग

[तार्किकोंके तर्कोंसे उत्पन्न हुईं अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका खण्डन कर कूटस्थ परमात्माके अनिर्वाच्य जगद्भावका समर्थन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, कूटस्थ चिदात्मा जिस क्रमसे जगत्-सा भासता है, वह क्रम—भेदकी निवृत्तिके लिए अन्य वादियोंकी कल्पनाओंका खण्डनकर अपने मतके समर्थनक्रमसे—फिर कहिये ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वृक्षस्येव विमूढस्य यद्दृष्टौ तत्स्वचेतसि ।
यन्न दृष्टौ न तच्चित्ते भवत्यल्पतरस्मृतेः ॥ २ ॥
भव्यः पश्यति शास्त्रार्थमेव पूर्वापरान्वितम् ।
न दृष्टिविषयं वस्तु यत्पश्यति करोति तत् ॥ ३ ॥
भावानुष्ठाननिष्ठः सन् शास्त्रार्थैकमना मुनिः ।
श्रुत्वोपदेशं त्वमिमं शृणु श्रवणभूषणम् ॥ ४ ॥

'चिदात्माका यह जगद्भाव अनिर्वचनीय ही है' इस अपने मतका समर्थन करनेके लिए पहले दृष्टिसृष्टिपक्षका अवलम्बन करके दृष्टिके अन्वय और व्यतिरेकके अनुसार उसकी स्थिति दिखलाते हैं—'वृक्षस्येव' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, शाखा, पत्र, पुष्प, पल्लव आदि नाना प्रकारके आकारोंसे युक्तके समान अज्ञ आत्माकी दृष्टिमें जो जगद्भाव है वही उसके चित्तमें भी है और जो उसकी दृष्टिमें नहीं है वह उसके चित्तमें भी नहीं है । यही कारण है कि देखी गई अत्यन्त छोटी भी वस्तुका स्मरण होता है, किन्तु न देखी गई बड़ी भी वस्तुका स्मरण नहीं होता ॥ २ ॥

शास्त्र और अशास्त्रके अनुसार सम्पादित हुई विद्वान् और अविद्वान्की क्रियाओंमें भी वैलक्षण्य दिखाई देता ही है, अतः जगत्की सत्ता भी भिन्न-भिन्न दृष्टिके अनुसार ही व्यवस्थित प्रतीत होती है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'भव्यः' इत्यादिसे ।

जो विवेकी पुरुष है वह पूर्वापर शास्त्रके अनुसार ही देखता और करता है । आँखोंके सामने पड़ी भी शास्त्रनिषिद्ध वस्तुको भोग्यरूपसे नहीं देखता और न तो उसके लिए कुछ करता ही है ॥ ३ ॥

यही कारण है कि मैं भी शास्त्रीय दृष्टिका व्यवस्थापन करते हुए ही श्रवण आदिमें आपको नियुक्त कर रहा हूँ, इस आशयसे कहते हैं—'भावा०' इत्यादि ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए आपसे मैं कहता हूँ कि आप भी अपने चित्तकी शुद्धिके अनुकूल कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर हो शास्त्रानुकूल अर्थोंमें अपने चित्तको लगाकर श्रवणभूषण मेरे इस उपदेशका श्रवण कीजिये ॥ ४ ॥

इयं दृश्यभरभ्रान्तिर्नन्वविद्येति चोच्यते ।
वस्तुतो विद्यते नैषा तापनद्यां यथा पयः ॥ ५ ॥
उपदेश्योपदेशार्थमेनां मदुपरोधतः ।
सत्यामिव क्षणं तावदाश्रित्य श्रूयतामिदम् ॥ ६ ॥
कुत एषा कथं चेति विकल्पाननुदाहरन् ।
नेदमेषा न चास्तीति स्वयं ज्ञास्यसि बोधतः ॥ ७ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति ॥ ८ ॥
अस्य भागविभागात्मा नाशोऽवश्यमवारितः ।
बिन्दुना बिन्दुना बोधे उद्धृतस्याऽस्ति हि क्षयः ॥९॥

यह दृश्यसमूहकी भ्रान्ति ही अविद्या कही जाती है । वास्तवमें तो यह अविद्या भी ऐसे नहीं है, जैसे मृगतृष्णा नदीमें जल ॥ ५ ॥

जब ऐसी बात है, तब कैसे शास्त्रोंके उपदेश तथा उनकी फलसिद्धि होगी, इसपर कहते हैं—'उपदेश्यो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उपदेशयोग्य वस्तुके उपदेशके निमित्त मेरे अनुरोधसे क्षण भरके लिए आप इसे सत्य-सा मानकर यह मेरा कथन सुनिये ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह अविद्यानामक भ्रान्ति कैसी है और कहांसे आई—इस तरहके विकल्प न करते हुए आप मेरे इस उपदेशको सुनिये । फिर तो पीछे ज्ञान हो जानेसे आप स्वयं जान जायँगे कि न तो यह जगत् है और न यह अविद्या ही है ॥ ७ ॥

अनुभवमें आरूढ़ इस विवर्त पक्षको दिखलाकर अन्य पक्षोंमें दोष बतलानेकी अभिलाषा कर रहे महाराज वसिष्ठजी 'सत्य प्रपञ्चका ही ब्रह्मके साथ वृक्षशाखा-न्यायसे अभेद माननेवाले महानुभावोंके पक्षमें'—ब्रह्मकी अविनाशिता नष्ट होगी—यह दोष दिखलानेके लिए जगत्में विनश्वरत्वकी प्रतिज्ञा करते हैं—'यदिदं' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक यह सब तरहसे परिपूर्ण जगत दिखाई देता है वह सब कल्पके अन्तमें नष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

जिसकी महाराज वसिष्ठजीने प्रतिज्ञा की है, उसका अब साधन करते हैं—'अस्य' इत्यादिसे ।

एवं स्थिते द्रव्यनाशे ब्रह्मणस्तन्मयत्वतः ।
नानन्तत्वं न चास्तित्वं न च वै सम्भवत्यलम् ॥ १० ॥
मदशक्तिरिव ज्ञानमिति नास्मासु सिध्यति ।
देहो विज्ञानतोऽस्माकं स्वप्नवन्न तु तत्त्वतः ॥ ११ ॥

विचार कर देखनेसे यह निश्चित होता है कि इस जगत्का विनाश, जो कि पृथिवी आदि अवयवोंका विभागस्वरूप है, अवश्य होगा, क्योंकि पृथि आदि सावयव है, अतः उनके विनाशका कोई प्रतीकार नहीं कर सकता । यही कारण है कि एक-एक बूंद निकाल लेनेसे घड़ेके जलका नाश अवश्य ही हो जाता है ॥ ९ ॥

ठीक है, नाश हो जाय, क्या दोष है, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी स्थितिमें तो द्रव्यका नाश होनेपर ब्रह्मकी अनन्तता और अस्तिता भी नहीं रह सकती, क्योंकि ब्रह्म जगन्मय ही तो ठहरा और चिदेकरस निरवयव ब्रह्मका जगत् अवयव नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि जैसे शाखा आदि अवयवोंका नाश होनेपर वृक्षका भी नाश हो जाता है, वैसे ही यदि पृथिवी आदि द्रव्यका नाश होनेपर ब्रह्मके नाशका प्रसङ्ग माना जाय, तो श्रुतिमें कहे गये ब्रह्मके अनन्तत्वकी सिद्धि न हो सकेगी । इतना ही नहीं और भी सुनिये—विचारकर देखनेपर तो अवयवोंसे पृथक् किये गये अवयवीकी सत्ता न रहनेसे उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता और चिदेकरस निरवयव ब्रह्मका यह जगत् अवयव भी नहीं बन सकता ॥ १० ॥

चिदात्माका अवयव जड़ जगत् न हो, किन्तु मदिराके अवयवोंमें स्थित मदशक्तिकी तरह शरीररूपमें परिणत पृथिवी आदि पञ्चभूतरूप जड़ोंका ही धर्म चैतन्य क्यों न हो, इस चार्वाक मतको उठाकर उसमें दोष दिखलाते हैं—'मदशक्तिरिव' इत्यादिसे ।

मदिराकी शक्तिके समान ज्ञानरूप धर्म हम आस्तिकोंमें नहीं सिद्ध हो सकता—पृथिवी आदिरूप हम लोगोंकी देहमें ही चार्वाक ज्ञान नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि हम लोगोंके मतमें इस देहकी सिद्धि विज्ञानके ही अधीन होनेसे यह देह स्वप्नके समान है, तात्त्विक नहीं है । तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक लोगोंके मतमें देहकी सत्ताका साधक विज्ञानके सिवा और कोई दूसरा नहीं है । यह तो कोई नहीं कह सकता कि, मदशक्तिकी तरह देह न रहनेपर भी विज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥ ११ ॥

नश्यत्येव च दृश्यश्रीः सैव नान्यैव नैव च ।
इत्थं भवेत्समुचितं कृतं शास्त्रं च नान्यथा ॥ १२ ॥
सैवेतीत्यसमुल्लेखं कथं नष्टस्य संभवः ।
तद्रूपान्येति युक्तं स्यादनुभूतानुगा वयम् ॥ १३ ॥
सैव व्योमतयैवाऽऽसीदित्यसत्सैव सा कथम् ।
तथैव व्योमसंस्था चेन्नाशं तर्हि न सा गता ॥ १४ ॥

किञ्च, जगत् और ब्रह्मका अभेद स्वीकार करनेसे तो दृश्यप्रपञ्चका नाश होनेपर ब्रह्मके नाशकी भी शङ्का हो सकती है। यदि वह भेद आध्यासिक मान लिया जाय, तब तो प्रतियोगीकी तरह उसके नाशका भी वस्तुतः ब्रह्मके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण यह दोष नहीं आता और शास्त्र भी सफल हो जाते हैं, इसी आशयसे कहते हैं—'नश्यत्येव' इत्यादिसे।

यह दृश्यकी शोभा बार-बार नष्ट होती और उत्पन्न होती ही रहती है, अतः यह कोई नहीं कह सकता कि यह वही है या दूसरी। इस तरह अनिर्वचनीय अविद्यामात्रसिद्ध यह दृश्यश्री नष्ट अवश्य ही होती है। ऐसी स्थितिमें अविद्याके बाध द्वारा जगत्‌का बाध होनेपर शास्त्र सफल होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १२ ॥

प्रलयकालमें जगत्-रचनाके नष्ट हो जानेपर उसके बाद पुनः उत्पन्न हो रही जगत्‌की शोभाका यह कभी निश्चय नहीं किया जा सकता कि यह वही है या दूसरी, इस तरह भी इसमें अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है, यह कहते हैं—'सैव' इत्यादिसे।

इस सृष्टिसे पहले जो संसारकी शोभा नष्ट हो चुकी थी, वही पुनः आविर्भूत हो रही है, इसका उल्लेख करना अशक्य है। हां, यदि वही पुनः आविर्भूत होती, तो वही यह है या अन्य, यह कहा जा सकता था, किन्तु नष्टकी उत्पत्ति केवल अनुभवके अनुगामी हम अनुभवविरुद्ध अणुमात्र भी नहीं मान सकते, क्योंकि नष्टकी उत्पत्ति हो कैसे सकती है ॥ १३ ॥

यह अनुभवमें आरूढ़ नहीं है, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—'सैव' इत्यादिसे।

मूर्तरूपा जगत्‌की शोभा प्रलयमें आकाशरूपसे—अमूर्तरूपसे ही विद्यमान

कार्यकारणयोरेकरूपतैवं यदा तदा ।
कार्यकारणताभावादैक्यमेवास्मदागमः ॥ १५ ॥
शून्यत्वमुपलम्भत्वं यद्गतं नष्टमेव तत् ।
अन्यस्तर्हि भवेन्नाशः कीदृशः किल कथ्यताम् ॥ १६ ॥
नष्टं भूयस्तदुत्पन्नमिति यत्प्रत्ययेति कः ।
नश्यत्यवश्यं तेनेदं पुनरन्यत्प्रवर्तते ॥ १७ ॥

थी, यह कहना बिलकुल असत् है, क्योंकि जो मूर्तरूप ही थी, वह भला अमूर्तरूप कैसे हो सकती है । यदि यह कहिये कि आकाशमें स्थित ही वह अपनी पूर्वावस्थाको प्राप्त हुई, तो आपसे हमें यही कहना पड़ेगा कि वह फिर प्रलयमें भी नष्ट नहीं हुई । कहनेका तात्पर्य यह है कि इस तरह आपका प्रलयवाद उच्छिन्न हो गया ॥ १४ ॥

इस तरह तो सृष्टिमें भी प्रलयावस्थाकी भी तुल्यन्यायसे प्रसक्ति हो सकती है । ऐसी स्थितिमें तो प्रलयावस्थामें स्थित अव्याकृतसे कार्यरूप सृष्टिकी एकता होनेपर कूटस्थवादके ऊपर आपत्ति आने लगेगी, यह कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे ।

और इस तरह जब सृष्टिमें भी प्रलयावस्थाकी प्रसक्ति हो सकती है, तब तो कार्यरूप सृष्टिकी प्रलयावस्थामें स्थित उस अव्याकृत कारणके साथ एकरूपता ही सिद्ध हो गई, क्योंकि कार्य और कारणभावसे ऐक्य बतलाना ही तो हमारा सिद्धान्त है, सो इस तरह सिद्ध हो गया ॥ १५ ॥

जो वस्तु उपलब्ध होकर भी शून्यदशाको प्राप्त हो जाती है वह नष्ट ही है, क्योंकि उपलब्धिकालमें भी उसकी असत्ता मानी जा चुकी है । हे श्रीरामजी, असत्त्वापत्तिका ही नाम तो नाश है । हां, आपके मतमें किसी दूसरे तरहका नाश होता हो, तो फिर निःसन्देह बतलाइये वह कैसा है ? ॥ १६ ॥

पुनः उत्पत्तिके अवलोकनसे यदि मध्यमें नष्ट हुएकी सत्ताकी जो कल्पना करते हैं, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेदसे भी तो उत्पत्तिकी सिद्धि हो जाती है और प्रत्यभिज्ञा आदिका भी तो अवलोकन नहीं होता, यह कहते हैं—'नष्टं भूय०' इत्यादिसे ।

जो नष्ट हुआ है वही पुनः उत्पन्न हुआ है, यह प्रत्यभिज्ञा किसको होती

मध्ये मध्ये यदुत्सेधफलाद्यवयवैकिका ।
आदेहं बीजसत्ताऽस्ति कार्यकारणता कुतः ॥ १८ ॥
देशकालक्रियात्मैकं यथादृष्टमिह स्थितम् ।
बीजमेवैककर्मातो न घटः पटकार्यकृत् ॥ १९ ॥

है, इसलिए नष्ट अवश्य होता है तथा पुनः पुनः दूसरा ही प्रवृत्त भी होता है, यही कहना उचित होगा ॥ १७ ॥

जैसे एक ही वृक्षके ऊपर बीच-बीचमें कोटर, स्कन्ध, शाखा आदिका विचित्रभेद रहनेपर भी मूलसे लेकर शाखापर्यन्त वृक्षशरीरकी तो सत्ता एक ही है। हाँ, शाखा आदि उस वृक्षके कार्य हैं उनमें भेद अवश्य है; वैसे ही उत्पत्ति आदि विकारोंका भेद होनेपर भी प्रलयके बाद पुनः उत्पन्न होनेसे इस दृश्यप्रपञ्चकी भी सत्ता एक ही क्यों न हो, इस शङ्कापर कहते हैं—'मध्ये' इत्यादिसे ।

वृक्षके बीच-बीचमें स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिका जो अवयव हैं उनमें सारे वृक्षरूपी शरीरको व्याप्त करके स्थित बीजसत्ता तो अखण्ड एकरूप ही है। अतः जब सर्वत्र एक ही सत्ता दृष्टिगोचर हो रही है तब शाखा आदिकी पृथक् सत्ता सिद्ध न होनेसे कार्यकारणभाव कैसे हो सकता है ? ॥ १८ ॥

दृष्टान्तमें कहे गये कार्यकारणभावोच्छेदको दार्ष्टान्तिकमें दिखलाते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

यदि प्रलय, सृष्टि आदि तथा देशकाल एवं क्रियात्मक यथादृष्ट एक सन्मात्र ही बीजको स्वस्वरूपमें स्थित स्वीकार करेंगे, तब तो वह एक स्वयं ही क्रिया और उसका फल होता हुआ कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करनेमें वह असमर्थ है—पटकार्य करनेमें असमर्थ घट पटरूप कार्य नहीं करता* ॥ १९ ॥

* अथवा देशात्मक, कालात्मक या क्रियात्मक तत्-तत् पदार्थोंमें अनुगत बीजको एकस्वभाव ही बतलाना उचित है, यह संभव नहीं है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न स्वभाववाली हो। यदि स्वभावभेद स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर एकत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती। यह भी देखिये—यदि वस्तु देशैकस्वभाव है, तो फिर वह कालका कार्य नहीं कर सकती। यह कहीं नहीं देखा गया कि घटस्वभाव वस्तु पटका कार्य करती हो।

सर्वदर्शनसिद्धान्ते नास्ति भेदो न वस्तुनि ।
परमार्थमये तेन विवादेन किमत्र नः ॥ २० ॥
इदं शान्तमनाद्यन्तं तद्रूपत्वाद्विचारतः ।
व्योमाभं बोधतामात्रमनुभूतिप्रमाणतः ॥ २१ ॥
यथैतन्नानुभूतं सद्यथैतदनुभूयते ।
यथैतत्सिद्धिमाप्नोति तदिदं कथ्यते क्रमात् ॥ २२ ॥
महाकल्पान्त उन्नष्टे सर्वस्मिन् दृश्यमण्डले ।
आमहादेवपर्यन्तं समनोबुद्धिकर्मणि ॥ २३ ॥

नाना स्वभावकी एक ही वस्तु है, यह कहनेवाला तो सभी दर्शनोंके सिद्धान्तका उल्लंघनकारी होनेसे वितण्डा करनेवाला ही होगा, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वदर्शन०' इत्यादि ।

सभी दर्शनोंके सिद्धान्तमें यह निश्चय किया गया है कि वस्तुके एक रहते हुए कार्योंका भेद नहीं है तथा परमार्थमय वस्तुस्वभावमें भी नानात्व नहीं है । इसलिए सभी दर्शनोंसे विरुद्ध बोलनेवालेके साथ विवाद करनेसे हमें मतलब ही क्या ॥ २० ॥

परिशेषात् वस्तु एकस्वभाव है, यह मान लेनेपर तो उपजीव्य एक चित्स्वभावका ही शेष रह जाता है, यह कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाणसे यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाशके सदृश निर्मल केवल बोधमात्र परमात्मा ही अवशेष रहता है। अनुभवरूप प्रमाण ही सभी कल्पनाओंका सार (बल) है, अतः उस बोधमात्र परमात्मवस्तुके स्वभावका अपलाप न हो सकनेसे परिशेषात् जड़ स्वभावकी ही हानि है, यह भाव है ॥ २१ ॥

अब एकस्वभाव उस परमात्मवस्तुके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा करते हैं—'यथैतत्' इत्यादिसे ।

यह परमात्मस्वरूप जिस रीतिसे अनुभूत नहीं होता और अनुभूत न होता हुआ भी जैसे अनुभूत होता है तथा जिस रीतिसे मनुष्यको इस परमात्मस्वरूपानुभवकी सिद्धि प्राप्त होती है, हे श्रीरामचन्द्रजी, वह सब मैं आपसे क्रमशः कहता हूँ ॥ २२ ॥

एकमात्र यही कारण है कि महाकल्पके अन्तमें समस्त भेदोंका लय हो

व्योमन्यपि शमं याते कालेऽप्यकलितस्थितौ ।
वायावपि त्वपगते तेजस्यत्यन्तमस्थिते ॥ २४ ॥
तेजस्यपि गते ध्वंसं वार्यादौ सुचिरं क्षते ।
अलमन्तमनुप्राप्ते सर्वशब्दार्थसञ्चये ॥ २५ ॥
शिष्यते शान्तबोधात्म सदच्छं बाच्यवर्जितम् ।
अनादिनिधनं सौम्यं किमप्यमलमव्ययम् ॥ २६ ॥
अवाच्यमनभिव्यक्तमतीन्द्रियमनामकम् ।
सर्वभूतात्मकं शून्यं सदसच्च परं पदम् ॥ २७ ॥
तन्न वायुर्न चाऽऽकाशं न बुद्ध्यादि न शून्यकम् ।
न किञ्चिदपि सर्वात्म किमप्यन्यत्परं नमः ॥ २८ ॥

जानेपर भी लयको प्राप्त न हुआ अनुभवात्मा ही अवशेष रह जाता है, यह कहते हैं—महाकल्पान्त०' इत्यादि पांच श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, महाकल्पके अन्तमें महादेवपर्यन्त मन, बुद्धि और समस्त कर्मोंके साथ जब यह सम्पूर्ण दृश्यमण्डल नष्ट हो जाता है, आकाश तथा अकलित स्थिति काल भी शान्त हो जाता है, वायु चली जाती है तथा तेजकी स्थिति बिलकुल डँवाँडोल हो जाती है एवं तेज भी जब ध्वस्त हो जाता है, जल, पृथिवी आदिका भी दीर्घकालके लिए नाश हो जाता है, जब कि सम्पूर्ण शब्दार्थसमूह बिलकुल अन्तदशाको प्राप्त हो जाता है, तब आदि और अन्तसे रहित सौम्य, अविनाशी, बाच्यशून्य, वाणीका अविषय, स्वच्छ सन्मात्र, केवल निर्मल शान्त बोधस्वरूप कोई अनिर्वचनीय आत्मा ही शेष रह जाता है ॥ २३–२६ ॥

वह परमपद वाणीका अविषय, अनभिव्यक्त, इन्द्रियोंका अविषय, नामरूपशून्य, सर्वभूतस्वरूप, शून्यरूप, सत् एवं असत् भी है ॥ २७ ॥

महाकल्पके अन्तमें अवशिष्ट वह सद्रूप परमात्मवस्तु वायु आदिस्वरूप ही क्यों न हो, इसपर कहते हैं—'तन्न' इत्यादिसे ।

सद्रूप वह परमात्मवस्तु न वायुस्वरूप है, न आकाशरूप है, न मन, बुद्धि आदिरूप है, न शून्यरूप है, वह कुछ भी नहीं है, सर्वस्वरूप वह अनिर्वचनीय चिदाकाश है ॥ २८ ॥

तद्विदा तत्पदस्थेन तन्मुक्तेनाऽनुभूयते ।
अन्यैः केवलमाम्नातैरागमैरेव वर्ण्यते ॥ २९ ॥
न कालो न मनो नात्मा न सन्नासन्न देशदिक् ।
न मध्यमेतयोर्नान्तं न बोधो नाप्यबोधितम् ॥ ३० ॥
किमप्येव तदत्यच्छं बुध्यते बोधपारगैः ।
शान्तसंसारविसरैः परां भूमिमुपागतैः ॥ ३१ ॥
प्रतिषिद्धा मयैते तु येऽर्थाः सर्वत्र ते स्थिताः ।
अस्मद्बुद्ध्या परिच्छेद्याः सौम्याम्भोधेरिवोर्मयः ॥ ३२ ॥

उस समय भी वह विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है, यह कहते हैं—'तद्विदा' इत्यादिसे ।

उस परमपदमें स्थित समस्त कल्पनाओंसे निर्मुक्त तत्त्वज्ञानी ही इस परमात्म-वस्तुका अनुभव करता है, और दूसरे तो केवल वर्णित आगमोंसे इसका वर्णन-मात्र करते हैं ॥ २९ ॥

उन आगमोंमें 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इत्यादि आगमका अर्थरूपसे अवलोकन कराते हैं—'न कालो' इत्यादिसे ।

यह आत्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है, न देश और कालका मध्य है, न अन्त है, न बोध-स्वरूप है और न बोधाभावरूप ही है ॥ ३० ॥

एवं 'तद्यथात्मविदो विदुः' इस आगमको भी उद्धृत करते हैं—'किम-प्येव' इत्यादिसे ।

किन्तु बोधपारङ्गत, संसारविस्तारसे शून्य तथा पञ्चम एवं षष्ठ भूमिकाओंको प्राप्त हो चुके महानुभाव लोग इस अनिर्वचनीय अतिस्वच्छ आत्माका स्वयं अनुभव करते हैं ॥ ३१ ॥

श्रुतिके अनुकूल अनुभवका आश्रयण करके मैंने भी उन पदार्थोंका बार-बार निषेध किया है, यह कहते हैं—'प्रतिषिद्धाः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने आत्मबोधके लिए आपसे उन्हीं पदार्थोंका निषेध किया है, जो सर्वत्र श्रुतियोंमें प्रतिषेध्यरूपसे स्थित, हमारी बुद्धिसे परिच्छिन्न एवं शान्त समुद्रके तरङ्गोंके सदृश हैं ॥ ३२ ॥

यथास्थितं स्थिताः सर्वे भावास्तत्र यथा तथा ।
अनुत्कीर्णा महास्तम्भे विविधाः शालभञ्जिकाः ॥ ३३ ॥
एवं तत्र स्थिताः सर्वे भावा एवं च न स्थिताः ।
असर्वात्मैव सर्वात्म तदेव न तदेव च ॥ ३४ ॥
पदं यथैतत्सर्वात्म सर्वार्थपरिवर्जितम् ।
यथा तत्र च पश्यन्ति तत्रैकपरिणामिनः ॥ ३५ ॥
सर्वं सर्वात्मकं चैव सर्वार्थरहितं पदम् ।
सर्वार्थपरिपूर्णं च तदाद्यं परिदृश्यते ॥ ३६ ॥

तब 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सत्कार्यवादी श्रुतियोंका क्या अभिप्राय है, उसे कहते हैं—'यथास्थितम्' इत्यादिसे ।

जैसे महास्तम्भमें (बड़े खम्भेमें) बिना खुदी हुई अनेक तरहकी प्रतिमाएँ स्थित हैं वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, स्वस्वरूपमें स्थित परमात्मामें सभी पदार्थ स्थित हैं * ॥ ३३ ॥

इसीलिए 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियोंके अविरोधसे एक ही का दोनों तरहसे कथन होता है, इस आशयसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादि ।

इस तरह सभी पदार्थ उस परमात्मामें अधिष्ठानरूपसे स्थित हैं तथा अपने स्वरूपसे नहीं भी स्थित हैं । वह परमात्मा असर्वात्मक होता हुआ भी सर्वस्वरूप है । वह परमार्थरूप भी है और परमार्थरूप नहीं भी है ॥ ३४ ॥

पत्थरमें न खुदी गई नाना प्रकारकी प्रतिमाओंकी तरह योगियोंको अपनी इच्छाके अनुसार स्वस्वरूपमें स्थित उस परमपदमें 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनों तरहसे जगत्का दर्शन होता है, यह कहते हैं—'पदम्' इत्यादिसे ।

योगी लोग अपनी इच्छानुसार सर्वात्मक वह परमपद जैसे समस्त अर्थोंसे युक्त है तथा जैसे समस्त अर्थोंसे रहित है, वैसे उसे देखते हैं ॥ ३५ ॥

उस आद्य पदको योगी लोग सर्वरूप, सर्वात्मक, सम्पूर्ण अर्थोंसे रहित तथा सम्पूर्ण अर्थोंसे परिपूर्ण भी देखते हैं ॥ ३६ ॥

---

* ब्रह्मस्वभावस्थिति ही अविकल्पित जगत्की भी सत्ता है, यही उन श्रुतियोंका अभिप्राय है ।

तवैतावन्महाबुद्धे सर्वार्थोपशमात्मकम् ।
न सम्यग्ज्ञानमुत्पन्नं संशयोऽत्र निदर्शनम् ॥ ३७ ॥
यः प्रबुद्धो निराभासं परमाभासमागतः ।
स्वच्छान्तःकरणः शान्तस्तं स्वभावं स पश्यति ॥ ३८ ॥
अयं त्वमहमित्यादित्रिकालगजगद्भ्रमः ।
तत्रास्ति हेमपिण्डान्तरिव रूपकजालकम् ॥ ३९ ॥
हेमपिण्डाद्यथा भाण्डजालं नानोपलभ्यते ।
तथा न लभ्यते भिन्नं परमार्थघनाज्जगत् ॥ ४० ॥
सर्वदैव हि भिन्नात्मा स्वाङ्गभूतोपलम्भदृक् ।
स जगद् द्वैतमेवेदं हेमेवाङ्गदरूपकम् ॥ ४१ ॥

हे महाबुद्धे, पूर्वोक्त समाधिकालपर्यन्त सम्पूर्ण अर्थोंका उपशमरूप वह सम्यग् ज्ञान आपको नहीं उत्पन्न हुआ । इसमें सन्देह होना ही सबसे जबर्दस्त प्रमाण है * ॥ ३७ ॥

जो ज्ञानी पुरुष सब दृश्योंके आभाससे निर्मुक्त, परम प्रकाशरूपको (परम साक्षात्कारको) प्राप्त है तथा स्वच्छ अन्तःकरण एवं शान्त है, वह उस प्रकाश-स्वरूप शान्तस्वभावको देखता है ॥ ३८ ॥

जैसे सुवर्णपिण्डके भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदिका समूह कल्पनासे स्थित है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अयं, त्वम्, अहम् इत्यादि त्रैकालिक जगत्-भ्रम भी उस परमात्मामें कल्पनासे स्थित है ॥ ३९ ॥

तब क्या अलङ्कारोंकी तरह भेदसे भी जगत् सत् है ? इसका 'नहीं' यह उत्तर देते हैं—'हेमपिण्डा०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जिस तरह सुवर्णके आभूषण तथा पात्र आदि सुवर्ण-पिण्डसे पृथक्-भिन्नसद्रूपसे उपलब्ध होते हैं, उस तरह यह जगत् परमार्थघन परमात्मासे भिन्न सद्रूपसे उपलब्ध नहीं होता ॥ ४० ॥

अपने अङ्गरूप जगतसे द्रष्टा परमात्मा मिथ्या नाम-रूपात्मक द्वैत जगतसे सर्वदा ऐसे भिन्न है, जैसे कल्पित अङ्गदादि आभूषणात्मक मिथ्या नाम-रूपसे सुवर्ण ॥ ४१ ॥

---

* यदि आपको निश्चित तत्त्वज्ञान हो गया होता, तो आपके मनमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं उठता । सन्देहका होना ही बतलाता है कि अभी आपको निश्चित तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है । देखिये, 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इत्यादि श्रुतियाँ क्या कहती हैं ।

रिक्तं देशादिशब्दार्थैर्देशकालक्रियात्मकम् ।
यथास्थितमिदं तत्र सर्वमस्ति न वाऽस्ति च ॥ ४२ ॥
यथोर्म्यादि समे तोये चित्रं चित्रकृदीहते ।
भाण्डवृन्दं मृदः पिण्डे तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ ४३ ॥
तथैतदत्र नो भिन्नं नाभिन्नं नास्ति चास्ति च ।
नित्यं तन्मयमेवाच्छं शान्ते शान्तमिदं तथा ॥ ४४ ॥
अनिखातैव भातीयं त्रिजगच्छालभञ्जिका ।
स्वरसस्येव दृश्यत्वमिता ब्रह्मणि दारुणि ॥ ४५ ॥
निखाता दृश्यतां यान्ति स्तम्भस्थाः शालभञ्जिकाः ।
अस्मिन्नक्षोभ्य एवान्तस्तरङ्गाः सृष्टिदृष्टयः ॥ ४६ ॥
सरस्यतिरसे भान्ति चिद्घनामृतवृष्टयः ।
अविभागे विभागस्था अक्षोभे क्षुभिता इव ।
अविभाता विभान्तीव चिद्घने सृष्टिदृष्टयः ॥ ४७ ॥

देश, काल, क्रिया आदि शब्दोंके अर्थोंसे यानी प्रवृत्तिनिमित्तसे (जाति, गुण, क्रिया आदिसे) रहित तथा देश, काल एवं क्रियामय वह आत्मा है। यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानसे उसमें है और स्वस्वरूपसे नहीं भी है ॥४२॥

जैसे चित्रकार शान्त जलमें तरङ्ग आदिरूप चित्र बनानेकी इच्छा करता है वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, शान्तब्रह्ममें स्थित इस जगत्‌की आप भी इच्छा कीजिये। तथा जैसे मिट्टीके पिण्डमें मिट्टीके बने अनेक पात्रोंका समूह स्थित है वैसे ही ब्रह्ममें यह जगत् स्थित है ॥ ४३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मिट्टीके पिण्डमें जैसे अभिन्नरूपसे ये सब पात्र हैं और भिन्नरूपसे नहीं भी हैं, वैसे ही तत्त्वज्ञानसे शान्त, नित्य आत्मामें तन्मय शान्त यह जगत् अभिन्नरूपसे है और भिन्नरूपसे नहीं भी है ॥ ४४ ॥

महास्तम्भमें अनुत्कीर्ण प्रतिमाकी नाईं, ब्रह्मरूपी काठमें यह त्रिलोकीरूपी प्रतिमा साक्षीरूपी शिल्पीकी आँखोंमें प्राप्त हुई-सी है ॥ ४५ ॥

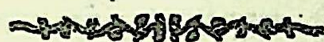
स्तम्भमें स्थित जो प्रतिमाएँ उत्कीर्ण होती हैं वे ही दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु ब्रह्ममें तो उसके शान्त क्षोभरहित स्थित रहनेपर ही उसके भीतर सृष्टिके विवर्तरूप तरङ्गें दृष्टिगोचर होती हैं ॥ ४६ ॥

नित्य निरतिशयानद जलपरिपूर्ण चितिरूपी सरोवरमें चिन्मय मेघकी अमृतमय

परमाणौ परमाणावत्र संसारमण्डलम् ।
विभाति भासुरारम्भं न विभाति च किञ्चन ॥ ४८ ॥

आकाशकालपवनादिपदार्थजात-
मस्याऽङ्गमङ्गरहितस्य तदप्यनङ्गम् ।
सर्वात्मकं सकलभावविकारशून्य-
मप्येतदाहुरजरं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे ब्रह्मस्वरूपवर्णनं नाम द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥



दृष्टिके सदृश ये सृष्टिकी दृष्टियाँ भासित हो रही हैं । हे श्रीरामचन्द्रजी, विभाजक धर्मोंसे शून्य रहनेपर भी उस चिद्घन ब्रह्ममें ये सबके सब विभक्त तथा क्षोभ-रहित रहनेपर भी क्षुभितके समान, भासित न हुई भी ये सब अविद्याके कारण एक तरहसे भासित हो रही हैं ॥ ४७ ॥

इस चिद्घन ब्रह्ममें परमाणु–परमाणुमें चमकीले समारोहोंसे युक्त यह संसार-मण्डल भासता है और वास्तवमें कुछ भी नहीं भासता ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, निरवयव इस परमात्माके जिस आकाश, काल, पवन आदि पदार्थसमूहरूप अङ्गका मैंने आपसे वर्णन किया है, वह भी मिथ्या तथा अधिष्ठान-मात्र शेष होनेसे अवयवशून्य ही है । इस प्रकार यद्यपि सम्पूर्ण भावविकारोंसे शून्य यह अजर, परमार्थभूत आत्मतत्त्व है तथापि इसको सभी श्रुतियाँ सम्पूर्ण पदार्थोंके अध्यारोपसे सर्वस्वरूप बतलाती हैं ॥ ४९ ॥

बावनवाँ सर्ग समाप्त

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

यथा चेत्ये चेतनता यथाकाले च कालता ।
यथा च व्यौमता व्योम्नि यथा च जडता जडे ॥ १ ॥
यथा वायौ च वायुत्वमभूतादावभूतता ।
यथा स्पन्दात्मनि स्पन्दो यथा मूर्ते च मूर्तता ॥ २ ॥
यथा भिन्ने च भिन्नत्वं यथाऽनन्ते ह्यनन्तता ।
यथा दृश्ये च दृश्यत्वं यथा सर्गेषु सर्गता ॥ ३ ॥
एतत्क्रमेण हे ब्रह्मन् वद मे वदतां वर ।
आदितः प्रतिपाद्यैव बोध्यन्ते ह्यल्पबोधिनः ॥ ४ ॥

तिरपनवाँ सर्ग

[अपनी-अपनी अलग-अलग भिन्नताको लिये हुए ये जो आत्मामें आरोपित विषय हैं, इनकी सत्ता यानी त्व, तल् आदि प्रत्ययोंका अर्थ साक्षात् ब्रह्मरूप ही है—यह वर्णन]

अभीतक यह क्रम बतलाया कि ब्रह्म ही आरोपित अनिर्वचनीय जगत्के रूपमें विवर्तित होता है, अब इस विषयमें रामजी यह जानना चाहते हैं कि त्व, तल् आदि प्रत्ययोंसे बोधित होनेवाली पृथक्-पृथक् जो घटत्व, मनुष्यत्व आदि जातियाँ हैं, उनका तात्त्विक स्वरूप क्या है, इसलिए यह प्रश्न करते हैं—'यथा' इत्यादि ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, जैसे स्मरणके योग्य विषयोंमें स्मरणकी विषयता, जैसे कालमें कालता, जैसे आकाशमें आकाशता, जैसे जड़में जड़ता, जैसे वायुमें वायुता, जैसे वर्तमानमें या भविष्यत्में वर्तमानता या भविष्यता, जैसे स्पन्दात्मामें स्पन्दात्मता (स्पन्द), जैसे मूर्तमें मूर्तता, जैसे भिन्नमें भिन्नता, जैसे अनन्तमें अनन्तता, जैसे दृश्यमें दृश्यता और जैसे सर्गमें सर्गता असाधारण धर्म है, ऐसे ही सब वस्तुओंमें भावरूप धर्म हैं । अतः इनका परिज्ञान करनेके लिए जो बोधक उपाय हों, उनको क्रमशः मुझसे कहिए, क्योंकि हे उपदेश देनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मन्, जो अल्पज्ञ शिष्य हैं, उनको आरम्भसे ही प्रतिपादनकर समझाना चाहिए ॥१-४॥

वसिष्ठ उवाच

तदनन्तं महाकाशं महाचिद्घनमुच्यते ।
अवेद्यचिद्रूपमयं शान्तमेकं समस्थिति ॥ ५ ॥
ब्रह्मविष्ण्वीश्वराद्यन्ते महाप्रलयनामनि ।
शब्दार्थेऽरूढिमापन्ने यच्छुद्धमवशिष्यते ॥ ६ ॥
सर्गस्य कारणं तत्र न किञ्चिदुपपद्यते ।
मलमाकारबीजादि मायामोहभ्रमादिकम् ॥ ७ ॥
केवलं शान्तमत्यच्छमाद्यन्तपरिवार्जितम् ।
तद्विद्यते यत्र किल खमपि स्थूलमश्मवत् ॥ ८ ॥

आपने जिन वस्तुओंका भाव (सत्त्व) पूछा है, वह चिदात्मा ही है, क्योंकि वही अपनेमें अध्यस्त पदार्थोंमें अन्योन्य तादात्म्याध्यास होनेपर तत्-तत् भावरूप बन जाता है, यों उत्तर देनेकी अभिलाषाकर उन भावोंकी नित्यसद्रूपता बतलानेके लिए कहते हैं—'तदनन्तम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, जो चीज आपने पूछी है, वह चीज तो अनन्त, महाकाश, महा चेतनघन, अवेद्य चिद्रूपमय, शान्त, अद्वितीय और एकरूपसे स्थित रहनेवाली ब्रह्म ही है, यही मुनि लोग कहते हैं ॥ ५ ॥

सबका विनाश हो जानेपर जो वस्तु अन्तमें बच जाती है, वही सब वस्तुओंकी भावरूप सत्ता है, क्योंकि भूधातुसे बना हुआ भावशब्द उसी अर्थका बोधक है, इस आशयसे कहते हैं—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

चूँकि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदिका भी जिसमें अन्त हो जाता है, ऐसे महाप्रलयमें नामरूपात्मक सृष्टिका तिरोभाव हो जानेपर वही एकमात्र शुद्ध बच जाता है, इसलिए वही सबकी सत्ता है, दूसरी नहीं ॥ ६ ॥

वह वस्तु भी अपने कारणमें लीन हो जायगी, इससे वह भी तो असत् ही ठहरेगी, इसपर कहते हैं—'सर्गस्य' इत्यादिसे ।

सत् ही जिसका स्वरूप है, ऐसे शान्त महाचिद्घन वस्तुकी उत्पत्तिका कोई भी कारण युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि मल, आकार, बीज आदि तथा माया, मोह, भ्रम आदि सबकी सिद्धि उसीके अधीन है ॥ ७ ॥

अतः जिसमें आकाश भी स्थूल पत्थरके सदृश है और जो केवल, शान्त,

न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा ।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा ॥ ९ ॥
निमेषे योजनशते प्राप्तायामात्मसंविदि ।
मध्ये तस्यास्तु यद्रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १० ॥
सबाह्याभ्यन्तरे शान्ते वासनाविषयभ्रमे ।
सर्वचिन्ताविहीनस्य प्रबुद्धस्यार्द्धशान्ततः ॥ ११ ॥

निर्मल, आदि-अन्तसे शून्य है, वही सत्तार्थक भावशब्दका अर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

वह जब चेतन शरीररूपसे भासने लग जाता है, तब उसकी चारों ओर सत्ता होनेके कारण 'नहीं है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, और जब शान्तमल (अज्ञान मलादिसे वर्जित) होकर अनुभवमें आता है, तब 'वह है' यों भी वाच्यवृत्तिसे नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥

ऐसे निर्विषय चित्-स्वभावकी अत्यन्त अप्रसिद्धि है, इस शङ्काका अनुभवसे निवारण करते हैं—'निमेषे' इत्यादिसे ।

उस निर्विषय आत्मपदका स्वरूप वही है, जो कि निमेषमात्रमें सैकड़ों योजनतक प्रमातृज्ञानके पहुँच जानेपर उस ज्ञानके बीचका रूप है। [इस विषयका पहले भी अनेक स्थानोंमें निरूपण किया गया है—शाखाओंके अग्रभागमें चन्द्रदर्शनके समय एक निमिषमात्रमें चक्षुकी वृत्तिके द्वारा प्रमातृचैतन्य ऊपर प्रदेशमें सैकड़ों कोश चन्द्रदेश तक दूर चला जाता है, वह गया हुआ प्रमातृचैतन्य बीचके प्रदेशमें यानी शाखाग्रप्रदेश और ऊपरका जो चन्द्रदेश है—इन दो प्रदेशोंके मध्यप्रदेशमें एकदम विशुद्ध रहता है, उसमें कोई भी विषय रहता ही नहीं, अतः मध्यप्रदेशके चेतनका जो भी रूप आप जानिये, वही रूप निर्विषय आत्मपदका स्वरूप है] ॥ १० ॥

आधी राततक गाढ़ी नींदसे सो जानेपर मनकी निद्राकालिमा दूर हो जाती है, इस कालिमाके निकल जानेपर समाधिमें स्थित हुए योगियोंको उक्त स्वरूपका अनुभव होने लग जाता है, यह कहते हैं—'सबाह्या०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

बाहरी और भीतरी जितने वासनाके विषय भ्रमरूप पदार्थ हैं, उनके

शान्तनिःसुखदुःखस्य पुरुषस्यैव तिष्ठतः ।
यदस्पन्दि मनोरूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १२ ॥
तृणगुल्माङ्कुरादीनां सत्ता सामान्यमाततम् ।
यदुद्भवोद्भवं रूपं रूपं तस्य पदस्य तत् ॥ १३ ॥
तस्मिन् पदे जगद्रूपं यदिदं दृश्यते स्फुटम् ।
सकारणमिवाकारं करालमिव भेदवत् ॥ १४ ॥
तत्सर्वं कारणाभावान्न जातं न च विद्यते ।
नाकारयुक्तं न जगन्न च द्वैतैक्यसंयुतम् ॥ १५ ॥
यदकारणकं तस्य सत्ता नेहोपपद्यते ।
स्वयं नित्यानुभूतेऽर्थे कोऽत्रापह्नवशक्तिमान् ॥ १६ ॥

विनाश हो जानेपर सब प्रकारकी चिन्ताओंसे निर्मुक्त हुए तथा आधी रातमें निद्रासे जगे, सुख-दुःखकी वृत्तियोंसे रहित तथा शान्तिपूर्वक समाधि लगाकर बैठे हुए पुरुषका जो स्पन्दनशून्य (निश्चल) मनोरूप है, वही रूप उस पदका स्वरूप है। इस रूपका समाधिविष्ट पुरुष ही अनुभव करते हैं ॥ ११, १२ ॥

श्रीरामजी, तृण, गुल्म, अङ्कुर, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति होनेपर साथ-साथ प्रकट हुआ जो एकरूपसे सबमें रहनेवाला अनुगत सत्ता-सामान्य रूप है यानी तृणत्व, गुल्मत्व आदि है, वही त्व, तल् आदि प्रत्ययोंका अर्थ है ॥ १३ ॥

उसी सत्ता-सामान्यके स्वरूपमें तादात्म्यरूपसे मिला हुआ तथा दूसरेसे भिन्न-सा जो घट, पट आदि जगत्का स्पष्ट रूप दीखता है, वह आगन्तुक होनेसे सकारण-सा तथा कम्बुग्रीव आदि विचित्र आकृतियोंसे कराल-सा भासता है, परन्तु है वह सब अनृत यानी मिथ्या ही। इसीलिए वह सब कारणके अभावसे न तो उत्पन्न हुआ है और न अपना अस्तित्व ही रखता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वह पद न तो आकारयुक्त है, न जगत्-रूप है और न द्वैत एवं ऐक्यसे मिला हुआ ही है ॥ १४,१५ ॥

जो कारणसे शून्य है यानी जिसके कारणकी सत्ता ही नहीं है, उस वस्तुकी सत्ता यहाँ कैसे युक्तियुक्त मानी जा सकती है। जो स्वयं सदा अनुभूत ही वस्तु है, उसका अपलाप करनेकी शक्ति कौन रख सकता है ॥ १६ ॥

न च शून्यमनाद्यन्तं जगतः कारणं भवेत् ।
ब्रह्मामूर्तं समूर्तस्य दृश्यस्याब्रह्मरूपिणः ॥ १७ ॥
तस्मात् तत्र जगद्रूपं यदाभातं तदेव तत् ।
स्वयमेव तदाभाति चिदाकाशमिति स्थितम् ॥ १८ ॥
जगच्चिद्ब्रह्मभावाच्च तथा भावो भ्रमादिव ।
सर्वमेकमजं शान्तमद्वैतैक्यमनामयम् ॥ १९ ॥
पूर्णात्पूर्णं विसरति पूर्णे पूर्णं विराजते ।
पूर्णमेवोदितं पूर्णे पूर्णमेव व्यवस्थितम् ॥ २० ॥

तब यह मानिये कि असत् जगत्का शून्य ही कारण है ! इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

हे राघव, शून्य तो अनादि और अनन्त है, वह जगत्का कारण नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो आदि और अन्तसे रहित होता है, वह सब तरहकी अल्पतासे निर्मुक्त ही रहता है, इस स्थितिमें सभी सब जगह सभी समयमें रहने लग जायँगे । ब्रह्म तो अमूर्त है यानी आकारसे शून्य है, अतः ब्रह्मस्वभावसे भिन्न साकार जगत्का वह ब्रह्म भी कारण नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

इसलिए ब्रह्ममें जो जगत्-रूप भासित हो रहा है, वह ब्रह्मरूप ही है, दूसरा नहीं । ऐसी स्थितिमें त्व, तल् आदि प्रत्ययोंके अर्थके रूपमें भी जो स्वरूप भासता है, स्वयं वह चिदाकाशरूप ब्रह्म ही स्थित है ॥ १८ ॥

इस तरह यद्यपि असलमें जगत चिद्-ब्रह्मरूप ही है, तथापि जो घट, पट आदि आकार आपाततः (ऊपर-ऊपरसे) प्रतीत होते हैं, वे सब भ्रमसे ही सिद्ध होते हैं । ऐसी स्थितिमें हे श्रीरामचन्द्रजी सब कुछ एक, अज, शान्त, द्वैत-ऐक्यसे रहित- निरामय ब्रह्मरूप ही है, यह आप जानिए ॥ १९ ॥

भ्रान्तिसे जीव और जगत्के रूपमें ब्रह्म ही है और भ्रान्तिका विनाश हो जानेपर वास्तव ब्रह्मस्वरूप ही रहता है, इसमें पूर्वदर्शित 'पूर्णमदः' इत्यादि श्रुतिका अनुवाद करते हैं—'पूर्णात्' इत्यादिसे ।

पूर्णरूप ब्रह्मसे पूर्णरूप ही जगत् विस्तारको प्राप्त होता है, उसी पूर्णमें पूर्णात्म जगत् विराजित है, पूर्ण ही पूर्णमें प्रकाशित होता है, अतः पूर्णमें पूर्णात्मक ब्रह्म ही ठीक-ठीक रूपसे अन्तमें व्यवस्थित है ॥ २० ॥

शान्तं समं समुदयास्तमयैर्विहीन-
माकारमुक्तमजमम्बरमच्छमेकम् ॥
सर्वं सदा सदसदेकतयोदितात्म
निर्वाणमाद्यमिदमुत्तमबोधरूपम् ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे निर्वाणवर्णनं नाम त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जगन्नाम नभः स्वच्छं सद्ब्रह्म नभसि स्थितम् ।
नभो नभसि भातीदं जगच्छब्दार्थ इत्यजम् ॥ १ ॥

श्रीरामभद्र, भावप्रत्ययोंका अर्थ यानी त्व, तल् आदिका अर्थ वही है, जो निर्वाणशब्दसे कहलानेवाला विशुद्ध आत्मा है। वह शान्त, एकरूप, उदय-अस्तसे रहित, आकारोंसे शून्य, अज, आकाशवत् व्यापक, स्वच्छ और अद्वितीय है। वह सर्वात्मक है, इसका रूप सत्-असत्‌की एकता लेकर ही निरन्तर उदित है; सबका आदि है और उत्तम बोधरूप (आत्मज्ञानरूप) है ॥ २१ ॥

तिरपनवाँ सर्ग समाप्त

चौवनवाँ सर्ग

[सभी वस्तुएँ अपने स्वभावमें ही रहती हैं, स्वभावमें न तो कोई क्रिया है और न कोई भेद ही है, अतः स्वभावभूत सन्मात्रवस्तु अविकारी एवं अद्वितीय है, यह वर्णन]

घट, पट आदिका स्वरूप या भेद घटत्व, पटत्व आदिका उल्लेख किये बिना हो नहीं सकता। घट और घटत्वका परस्पर जो भेद है, उसका भी निरूपण किसी विशेषणको लिये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उनके पृथक्करणके लिए धर्म और धर्मीका जो कुछ विभाग आप मानेंगे, वह केवल कल्पनारूप ही होगा, क्योंकि निर्विकल्परूपसे एक-सी भासमान वस्तुओंमें असली विभाग तो होगा ही नहीं। ये जितनी वस्तुएँ हैं, वे सभी भावरूप (सत्तामात्र ब्रह्मरूप) ही हैं, यह तो अनेक युक्ति, श्रुति आदिका दिग्दर्शन कराकर सिद्ध कर दिया है। ऐसी स्थितिमें 'घटे घटत्वम्' (घटमें घटत्व है) इत्यादि शब्दोंका निचोड़ अर्थ

त्वमहं जगदित्यादि शब्दार्थौ ब्रह्म ब्रह्मणि ।
शान्तं समसमाभासं स्थितमस्थितमेव सत् ॥ २ ॥
समुद्रगिरिमेघोर्वीविस्फोटमयमप्यजम् ।
काष्ठमौनवदेवेदं जगद्ब्रह्मावतिष्ठते ॥ ३ ॥
द्रष्टा द्रष्टैव दृश्यस्य स्वभावात्स्वात्मनि स्थितः ।
कर्ता कर्तैव कर्तव्याभावतः कारणादृते ॥ ४ ॥

यही होगा कि 'ब्रह्ममें ब्रह्म है'—यों जो पहले भाव प्रत्ययोंके अर्थका निष्कर्ष सिद्ध किया गया है, उनके फलका उपपादन करनेके लिए आरम्भ करते हैं—'जगन्नाम' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, घटत्व, पटत्व आदि भावोंसे जगत्का स्वरूप यदि निचोड़कर सिद्ध किया जाय, तो वह आकाशके सदृश स्वच्छ एवं भेदरूप कलङ्कसे निर्मुक्त ही सिद्ध होता है । घटत्व आदि भाव तो ब्रह्मरूप ही स्थित हैं, यह पहले ही बतला चुके हैं, इस दृष्टिको लेकर देखा जाय, तो घट, पट आदि भावोंमें किसीमें किसीके प्रति कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि उस दृष्टिमें यही ज्ञान रहता है कि आकाश ही आकाशमें भासता है, वही (नभोरूप ब्रह्म ही) जगत्-शब्द और घटादि शब्दोंका अर्थ है, वह तो जन्म आदि विकारोंसे शून्य ही है ॥ १ ॥

इसी अर्थका फिर स्पष्टीकरण करते हैं—'त्वमहम्' इत्यादिसे ।

त्वम् (तूं), अहम् (मैं)' जगत्—इत्यादि जो शब्द हैं, उनका अर्थ ब्रह्म ही है, शान्त ब्रह्म सबमें एकरूपसे ही भासनेवाला है, इसलिए अलग स्थित न होकर ही वह शब्दार्थरूप ब्रह्म अपने ही स्वरूपमें स्थित है ॥ २ ॥

समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी, विस्फोट आदि पदार्थोंसे भरा जगत् भी ब्रह्म है यानी समुद्र आदि अनेक विभागोंसे युक्त तथा विचित्र कारक, क्रिया, फल आदिसे भासमान तत्-तत् धर्म और धर्मियोंका तात्त्विक स्वरूप भी निष्कर्षमें ब्रह्मरूप ही है, अतः यह समस्त जगत् काष्ठमौनके सदृश निष्क्रिय ब्रह्मरूप ही ठहरता है ॥ ३ ॥

अब वह द्रष्टा आदि विभागोंसे भरपूर है, इसका विचित्र कारकोंमें तत्-तत् भावोंका निष्कर्ष निकालकर निरूपण करते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

दृश्यवस्तुके स्वभावसे पृथक् किया गया द्रष्टा चिन्मात्रस्वभावमें स्थित होकर द्रष्टा होता है, इसी प्रकारका कर्ता भी है । इसका कोई वास्तवमें तो कर्तव्य ही नहीं है,

न ज्ञत्वं न च कर्तृत्वं न जडत्वं न भोक्तृता।
न शून्यता न चार्थत्वमिह नापि नभोर्थता ॥ ५ ॥
शिलाजठरवत्सत्यं घनमेकमजं ततम्।
सर्वं शान्तमनाद्यन्तमेकं विधिनिषेधयोः ॥ ६ ॥
मरणं जीवितं सत्यमसत्यं च शुभाशुभम्।
सर्वमेकमजं व्योम वीचिजालं जलं यथा ॥ ७ ॥
विभाग एव दृश्यत्वं द्रष्टृत्वं चैव गच्छति।
एतच्च कल्पनं स्वप्नपुरादिष्वनुभूयते ॥ ८ ॥
एवमच्छं पराकाशे स्वप्नपत्तनवज्जगत्।
भाति प्रथममेवेदं ब्रह्मैवेत्थमतः स्थितम् ॥ ९ ॥

क्योंकि जब कारण हो, तो कर्तव्य निर्धारण किया जाय, पर कारण ही कोई नहीं है ॥ ४ ॥

इसी दृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्‌की विचित्रता हटाई जा सकती है, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे।

न तो ज्ञातापन, न कर्तापन, न जडपन, न भोक्तापन, न शून्यपन, न अर्थपन और न आकाशपन ही इस ब्रह्ममें रहता है ॥ ५ ॥

यदि कोई है, तो वह शिलाके उदरके सदृश अत्यन्त घन, बाधवर्जित, अद्वितीय, जन्मरहित, सर्वात्मक, शान्त, आदि अन्तसे मुक्त तथा विधि एवं निषेधमें एकरूप ब्रह्म ही है, यही सर्वत्र विस्तृत है ॥ ६ ॥

जीवन, मरण, सत्य, असत्य, शुभ, अशुभ जो कुछ है वह सब एक, अज निर्मल चिदाकाशरूप ऐसे है, जैसे तरङ्गोंका समूह जलरूप ॥ ७ ॥

ब्रह्मका जीवरूपसे विभाग कल्पित होनेपर वह एक ही वस्तु चिदंशकी प्रधानतासे द्रष्टापन और सदंशकी प्रधानतासे चिदंशको तिरोहित (छिपा) कर दृश्यपन धारण करती है। इस प्रकारकी कल्पना स्वप्ननगर आदिमें अनुभूत होती है, वहांपर व्यावहारिक जीवसे प्रातिभासिक जीवका विभाग करनेपर निद्रासे तिरोहित हुआ व्यावहारिक जीव स्वप्नका जीव, दृश्य, नगर आदिरूप बन जाता है ॥ ८ ॥

इस तरह जगत् स्वच्छ ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ, वही स्वप्ननगरके सदृश

तदिदं तादृशं विद्धि सर्वं सर्वात्मकं च यत् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यमनङ्कितम् ॥ १० ॥
चिद्व्योम्नः शान्तशान्तस्य मध्यमे चैवमास्थितम् ।
जगत्तथैव सलिलमेवोर्म्यादितया यथा ॥ ११ ॥
यदुदेत्युदितं यच्च यच्च नोदेति नोदितम् ।
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्यान्न भेदितम् ॥ १२ ॥
अतः किलास्य सर्गस्य कारणं शशशृङ्गवत् ।
प्रयत्नेनापि चान्विष्टं न किञ्चिदुपलभ्यते ॥ १३ ॥
यदकारणकं भाति तदभातं भ्रमात्मकम् ।
भ्रमस्यासत्यरूपस्य सत्यता कथमुच्यते ॥ १४ ॥

परम चिदात्मरूप निर्मल आकाशमें भासता है, अतः प्रथम निष्प्रपञ्च जो ब्रह्म है, वही जीवात्मक विभागसे इस जगद्रूपसे स्थित है, हे श्रीरामजी, यह आप अवश्य जान लें ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, इन सब बातोंसे यह आप अच्छी तरह जान लीजिए कि यह सर्वात्म जगत्स्वरूप पहले जैसा निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप था, वैसा ही सदा रहेगा। इस तरह निष्प्रपञ्चस्वरूप शाखा और चन्द्र—दोनोंके दर्शनकालमें इनके मध्यमें दर्शनसे अभिव्यक्त चेतन प्रसिद्ध ही है ॥ १० ॥

शान्तोंमें परम शान्त चेतनाकाशका मध्यमें उक्त रीतिसे प्रसिद्ध जो निर्विषय रूप है, वही जगत्के रूपसे ऐसे भासता है; जैसे तरङ्गादिके रूपसे जल भासता है ॥ ११ ॥

सारा जगत् निर्विषय चैतन्यसे अभिन्न है; यह कहते हैं—'यदु०' इत्यादिसे।

जो कार्यरूपसे उदित होता है और कार्यरूपसे उदित नहीं भी होता है। जो कारणरूपसे उदित है और कारणरूपसे उदित नहीं भी है, वह जगत् प्रमाता चैतन्यके एक देशसे दूसरे देशतक जानेपर जो उसका विषयशून्य मध्यमभाग है उससे भिन्न नहीं है ॥ १२ ॥

इसलिए इस सृष्टिका शशशृङ्गके सदृश कोई कारण है ही नहीं, प्रयत्नसे अन्वेषण करनेपर भी इसका कोई कारण नहीं मिलता ॥ १३ ॥

जो किसी कारणके बिना भासित होता है, वह भासित न हुआ ही

कारणेन विना कार्यं किल किं नाम विद्यते ।
यदपुत्रस्य सत्पुत्रदर्शनं स भ्रमो न सत् ॥ १५ ॥
यस्त्वकारणको भाति स स्वभावो विजृम्भते ।
सर्वरूपेण सङ्कल्पगन्धर्वनगरादिवत् ॥ १६ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्यं विदो वपुः ।
स्वरूपमजहच्चैव राजतेऽर्थविवर्तवत् ॥ १७ ॥
बोध एव कचत्यर्थरूपेण स च खादणुः ।
दृष्टान्तोऽत्रानुभूतोऽन्तः स्वप्नसङ्कल्पपर्वतः ॥ १८ ॥

भासित होता है, वह भ्रमात्मक है, यह समझना चाहिए । भ्रम तो असत्यरूप है, अतः उसकी सत्यता कैसे कही जा सकती है ॥ १४ ॥

कारणके बिना कार्य ही कैसे और उसकी सत्ता ही क्या, यदि दिखाई पड़ा तो वह भ्रम ही है । पुत्ररहितको—वन्ध्यापतिको स्वप्नमें अपने अच्छे पुत्रका जो दर्शन है; वह भ्रम ही है; सत्य नहीं है ॥ १५ ॥

जो अकारण भासता है, वह द्रष्टारूप चैतन्य ही अपने स्वरूपका त्यागकर सवरूपसे उस प्रकार भासता है, जिस प्रकार सङ्कल्पसे गन्धर्वनगर आदि भासते हैं ॥ १६ ॥

द्रष्टारूप चेतन कहाँ अपने स्वरूपको छोड़कर प्रकाशता है, इसपर कहते हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

क्षणभरमें शाखाप्रदेशसे चन्द्रमाके प्रदेशतक गये हुए प्रमातारूप चेतनके मध्यका जो स्वरूप है, वही अपने निष्प्रपञ्च स्वरूपको न छोड़कर ही प्रकाशता है, क्योंकि वहाँ बीचमें परमार्थरूप और आद्यन्त भागमें विवर्तरूप—दोनों प्रकाशते हैं ॥ १७ ॥

अर्थसत्ता न रहनेपर भी बोध अर्थाकारसे प्रकाशित होता है, इस विषयमें भी दृष्टान्त देते हैं—'बोध एव' इत्यादिसे ।

बोध ही अर्थके रूपमें स्फुरित होता है, वह आकाशसे भी अतिसूक्ष्म है, इस विषयमें स्वप्न और सङ्कल्पका पर्वत दृष्टान्त है, जिसका सभीने भीतर अनुभव किया है ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

विद्यते वटबीजान्तर्यथा भावि महाद्रुमः ।
परमाणौ तथा सर्गो ब्रह्मन् कस्मान्न विद्यते ॥ १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

यत्रास्ति बीजं तत्र स्याच्छाखा विततरूपिणी ।
जन्यते कारणैः सा च वितता सहकारिभिः ॥ २० ॥
समस्तभूतप्रलये बीजमाकारि किं भवेत् ।
सहकार्यथ किं तस्य जायते यद्वशाज्जगत् ॥ २१ ॥
यत्तु ब्रह्मपरं शान्तं का तत्राऽऽकारकल्पना ।
परमाणुत्वयोगोऽपि नात्र केनाऽत्र बीजता ॥ २२ ॥

बोध ही अर्थोंके रूपमें विकसित होता है, ऐसी कल्पना क्यों करते हैं, वटबीजके भीतर सूक्ष्मरूपसे स्थित वृक्षके सदृश बोधके अन्दर स्थित जड़ात्मक प्रप[ञ्च] पहलेसे ही बोधमें रहता है, ऐसी कल्पना क्यों नहीं करते, यों श्रीरामभद्र श[ङ्का] करते हैं—'विद्यते' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्रने कहा—ब्रह्मन्, जैसे वटबीजके भीतर भावी महावृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही बोधात्मक परमाणुमें भी यह सारी सृष्टि क्यों नहीं रह सकेगी ॥१९॥

साकार बीजमें पहले भीतर निराकार वट था, इसलिए वह पृथ्वी, ज[ल] आदि सहकारी कारणोंकी पासमें स्थिति हो जानेपर अङ्कुर आदि क्रमसे उत्पन्न हुआ, यह बात तो मानी जा सकती है, परन्तु जगत्का जब महाप्रलय हो जाता है, तब न तो कोई साकार वस्तु रहती है और न सहकारी कारण ही प्रतीत होते हैं, इसलिए आपका दृष्टान्त नहीं घटता, यों महाराज वसिष्ठजी समाधान करते हैं—'यत्रास्ति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जहाँ बीज है, वहाँपर तो बड़ी-बड़ी लम्बी शाखाएँ हो सकती हैं, क्योंकि वे विस्तृत शाखाएँ सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होती है ॥ २० ॥

परन्तु सम्पूर्ण भूतोंका जब प्रलय हो जाता है, तब कौन-सा साकार बीज होगा और उसका सहकारी कारण कौन होगा, जिसके प्रभावसे जगत् उत्पन्न हो ॥२१॥

जगत्-शक्तिसे युक्त ब्रह्म ही बीज होगा, इसपर कहते हैं—'यत्तु' इत्यादिसे

कारणस्येति बीजस्य सत्यासत्यैककारिणः ।
असम्भवाज्जगत्सत्ता कथं केन कुतः क्व का ॥ २३ ॥
जगदास्ते परस्याणोरन्तरित्यपि नोचितम् ।
सार्षपे कणके मेरुरास्त इत्यज्ञकल्पना ॥ २४ ॥
सति बीजे प्रवर्तन्ते कार्यकारणदृष्टयः ।
निराकारस्य किं बीजं क्व जन्यजनकक्रमः ॥ २५ ॥
अतो यत्परमं तत्त्वं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
नेह प्रथयते किञ्चिन्न च किञ्चिद्विनश्यति ॥ २६ ॥

जो ब्रह्मवस्तु है, वह तो असलमें परमशान्त है, उसमें आकारकी कल्पना ही कैसी ! उसमें परमाणुत्वका भी जब योग (सम्बन्ध) नहीं हो सकता, तब आकारकी कल्पना तो दूर ही चली गई, इसलिए ऐसी वस्तुमें बीजरूपता आ ही नहीं सकती ॥ २२ ॥

इसीलिए कारणका असंभव है, यह पहले कहा गया है, यों कहते हैं—'कारणस्येति' इत्यादिसे ।

इस रीतिसे सत्य और मिथ्याको एकरूप बनानेवाले बीजरूप कारणका सर्वथा असंभव है, इससे जगत्की सत्ता किस प्रकारकी, किससे, कहाँ और क्या होगी, क्योंकि उसको करनेवाला तो कोई है नहीं ॥ २३ ॥

'अणुः पन्थाः विततः' इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे ईश्वरमें अणुत्वकी कल्पना यद्यपि हो सकती है, तथापि उसमें जगत्की स्थिति मानना अनुचित है, यह कहते हैं—'जगदास्ते' इत्यादिसे ।

परमाणुरूप आत्माके अन्दर सूक्ष्मरूपसे जगत् है, यह कहना अनुचित ही है, क्योंकि सरसोंके कणके अन्दर सुमेरु पर्वत है, यह अज्ञानियोंकी ही कल्पना है ॥ २४ ॥

यदि यह कहिए कि जगत् भी निराकार है, तब तो बीज आदिका अभाव होनेसे अनायास ब्रह्मरूपता ही फलित हो जाती है, यह कहते हैं—'सति' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

बीजकी सत्ता होनेपर ही कार्य, कारण आदिके ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु निराकार वस्तुका कौन-सा बीज और कहाँ उसमें जन्य-जनकका क्रम ॥ २५ ॥

इसलिए जो परम ब्रह्मतत्त्व है, वही यह जगद्रूप बनकर स्थित है, यह आविर्भूत

चिदाकाशश्चिदाकाशे हृदि चित्त्वाज्जगद्भ्रमम् ।
अशुद्धवदिवाशुद्धे शुद्धं शुद्धे प्रपश्यति ॥ २७ ॥
खमेवाभासते तस्य रूपं स्पन्द इवानिले ।
सर्गशब्दार्थकलना नेह काश्चन सन्ति नः ॥ २८ ॥
यथा शून्यत्वमाकाशे द्रवत्वं च यथा जले ।
अन्यतात्ममयी शुद्धा सर्गतेयं तथाऽऽत्मनि ॥ २९ ॥
भारूपमिदमाशान्तं जगद्ब्रह्मैव नस्ततम् ।
अनादिनिधनं सत्यं नोदेति न च शाम्यति ॥ ३० ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ क्षणान्मध्ये चिदो वपुः ।
यत्तज्जगदितीवेदं व्योमात्मनि व्यवस्थितम् ॥ ३१ ॥

होकर न तो कुछ स्वरूप बतलाता है और न कुछ नष्ट ही होता है ॥ २६ ॥

तब वह क्या चीज है, उसे कहते हैं—'चिदाकाश०' इत्यादिसे ।

चिदाकाश ही (आकाशवत् निर्मल चिति ही) चिदाकाशरूप हृदयमें चितिरूप होनेके कारण जगद्भ्रमको अशुद्धमें अशुद्ध-सा और शुद्धमें शुद्ध-सा देखता है ॥ २७ ॥

वायुमें स्पन्दकी नाईं चिदाकाशमें उसका स्वरूप चिदाकाशरूप ही भासित होता है, अतः हम लोगोंकी कोई भी सृष्टिशब्दार्थकी कल्पनाएँ यहाँ अपना अस्तित्व नहीं रखतीं ॥ २८ ॥

जैसे आकाशमें आकाशरूप शून्यता अथवा जैसे जलमें जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही आत्मामें आत्ममय स्वविवर्तरूप यह विशुद्ध सर्गता (सृष्टिरूप) है ॥२९॥

तब अविवर्त कैसा है, इसे कहते हैं—'भारूपम्' इत्यादिसे ।

भद्र, हम लोगोंका विस्तृत यह जो जगत् है, वह प्रकाशमय, अपरिच्छिन्न शान्त ब्रह्म ही है, वह आदि और अन्तसे शून्य और त्रिकालमें भी बाधित नहीं है, न तो उसका उदय होता और न अस्त ही होता है ॥ ३० ॥

ऐसे प्रपञ्चरहित वस्तुकी अप्रसिद्धिशङ्का तो बहुत स्थानोंमें निवृत्त की है, इसका स्मरण कराते हैं—'देशा०' इत्यादिसे ।

क्षणभरमें शाखादेशसे चन्द्रप्रदेशतक प्रमातृचैतन्यके जानेपर उसका बीच

यथा स्पन्दोऽनिले तोये द्रवत्वं व्योम्नि शून्यता ।
तथा जगदिदं भातमनन्याश्लेषमात्मनि ॥ ३२ ॥
संविन्नभो ननु जगन्नभ इत्यनर्क-
मात्मन्यवस्थितमनस्तमयोदयं क्व ।
तत्त्वङ्गभूतमखिलं तदनन्यदेव
दृश्यं निरस्तकलनोऽम्बरमात्रमास्व ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अद्वैतैक्यप्रतिपादनं नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥५४॥

वाला जो सर्वोपद्रवशून्य निर्विषय स्वरूप है, वही यह जगत्सा बन गया है। इससे चिदाकाशमें वह व्यवस्थित है ॥ ३१ ॥

जैसे वायुमें स्पन्दन, जैसे जलमें द्रवत्व है और आकाशमें शून्यत्व प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत आत्मामें प्रतीत होता है, इसका किसी अन्य पदार्थसे सम्बन्ध नहीं है, यह असङ्ग अद्वय आत्मरूप ही है ॥ ३२ ॥

जगत चिन्मात्रस्वभाव है, यह जो सब तरहसे कहा गया है, उसे एकट्ठा करके उपदेश देते हुए उपसंहार करते हैं—'संविन्नभो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, अपने परमार्थस्वभावमें स्थित हुआ जगत् सत्-स्वरूप है। चिदाकाश शून्यभावापन्न प्रसिद्ध आकाशस्वरूप ही है, यह तो किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्य-रहित यानी सूर्यके उदय और अस्तसे निर्मुक्त तथा अपने स्वरूपमें अवस्थित आकाश कहाँ प्रसिद्ध है, सच्चित्स्वभाववाला या सूर्य आदिसे रहित आकाश प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि जड़ ही आकाश प्रसिद्ध है। अपिच सच्चित्स्वभावभूत जो तत्त्व है, उससे सम्बद्ध ही सम्पूर्ण दृश्योंका भान होता है, अतः सम्पूर्ण जगत् उस तत्त्वका ही अङ्गभूत है, शून्यात्मक आकाशका अङ्ग नहीं है, इसलिए सच्चिदात्मासे अनन्य है। इन सब बातोंसे आप समस्त कल्पनाओंका परित्यागकर एकमात्र आकाशस्वरूप होकर ही स्थित रहिए ॥३३॥

चौवनवां सर्ग समाप्त

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ।
आदावेव हि नोत्पन्नाः सर्गादौ कारणं विना ॥ १ ॥
न त्वमूर्तो हि चिद्धातुः कारणं भवितुं क्वचित् ।
स्वात्मा शक्तः स मूर्तानां बीजस्तुवींरुहामिव ॥ २ ॥
स्वभावमेव सततं भावयन् भावनात्मकम् ।
आत्मन्येव हि चिद्धातुः सर्वोऽनुभववान् स्थितः ॥ ३ ॥

पचपनवाँ सर्ग

[अन्यकी भावनासे अपनेको अन्यरूप देखती हुई जगत्‌के रूपमें स्थित चिति स्वभावतः तो अनन्यरूप ही है, अतः जगत् वास्तवमें परमार्थमय है, यह वर्णन]

पूर्वोक्त युक्तियोंसे जगत् ब्रह्मसे जब अत्यन्त अभिन्न है, तब फलित यह हुआ कि उसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह कहते हैं—'भावा०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदिसे युक्त यह जगत् सृष्टिके आदिमें पहले ही उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि इनको पैदा करनेवाला कोई कारण उस समय रहता ही नहीं ॥ १ ॥

उत्पत्तिवादमें तो अवश्य ही बीज बतलाना चाहिए, परन्तु वह बतलाया जा ही नहीं सकता, यों जो बार-बार कहा गया है, उसीका स्मरण कराते हैं—'न त्व०' इत्यादिसे।

आकारके बिना चितितत्त्व कहींपर भी कारणरूप नहीं हो सकता, जैसे साकार वृक्षोंको साकार बीज उत्पन्न करता है, वैसे ही साकार स्वात्मा ही मूर्त पदार्थोंको उत्पन्न कर सकता है, परन्तु वह साकार तो है नहीं ॥ २ ॥

इसीलिए ज्ञानी पुरुष 'सब जगत् चित्स्वभाव ही है' ऐसी भावना करता हुआ स्थित रहता है, यह कहते हैं—'स्वभावमेव' इत्यादिसे।

जितने तत्त्वज्ञानी हैं, चितितत्त्वरूप वे सब अपनी आत्मामें ही सब कल्पनात्मक जगतमें आत्मरूपताकी निरन्तर भावना करते हुए स्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

आस्वादयति यं भावं चिद्धातुर्गगनात्मकः ।
लब्धः सर्गः प्रलापेन क्षीबः क्षुब्धतया यथा ॥ ४ ॥
यदा सर्वमनुत्पन्नं नास्त्येवापि च दृश्यते ।
तदा ब्रह्मैव विद्धीदं समं शान्तमसत्समम् ॥ ५ ॥
चिन्नभश्चिन्नभस्येव पयसीव पयोद्रवः ।
चित्त्वात्कचति यत्तेन तदेवेदं जगत् कृतम् ॥ ६ ॥
स्वप्ने तदेव जगदित्युदेति विमला यथा ।
काचकस्येव कचति तथेत्थं सादि सर्गखे ॥ ७ ॥

अतएव अज्ञानी पुरुषने भी स्वभावकल्पनारूप ही संसारको प्राप्त किया है, यह कहते हैं—'आस्वादयति' इत्यादिसे ।

चिदाकाशरूप आत्मा जिस भावका स्वाद लेता है, वही उस प्रकार सृष्टि प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार मद्यकी क्षुब्धतासे प्रलाप द्वारा अपनी आत्मासे ही मद्य पीनेवाला पुरुष अपना स्वरूप प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

अतएव अनुत्पन्न अन्य वस्तुके स्वभावका साक्षात्कार हो जानेपर उसीके रूपमें स्थिति होती है, यह कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

जब यह सब अनुत्पन्न ही है, है ही नहीं, और दिखाई भी देता है, तब इसे आप शान्त, एकरूप ब्रह्म ही समझिए, जो अज्ञानदशामें असत्-सा है ॥ ५ ॥

तब उसीने यह जगत् उत्पन्न किया है, यह श्रुतियोंका कथन कैसे युक्तिपूर्ण हो सकेगा, इसपर कहते हैं—'चित्र०' इत्यादिसे ।

जैसे जलमें जलरूप द्रवत्व है, वैसे ही चिदाकाशमें चिदाकाशरूप जगत् है । चूँकि उस चिदात्माके कारण यह अध्यस्त समस्त प्रपञ्च प्रकाशित होता है, इसीलिए जगत् ब्रह्मरूप ही है और इसका निर्माण भी जगदाकार उस ब्रह्मने ही किया है, यह श्रुतियोंमें प्रवाद है ॥ ६ ॥

इस प्रवादको 'अथ रथान् रथयोगान्' इत्यादि श्रुतिमें स्वप्नद्रष्टामें रथादि-सृष्टिकर्तृताके प्रवादके सदृश ही समझना चाहिए, यह कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें विमल चेतन ही जगत्के रूपमें उदित होता है, अथवा जैसे काचदोषसे दूषित नेत्रवाले पुरुषके प्रति आकाशमें केशोण्डूक आदि प्रतीत

चित्काचकस्य कचनं यथा स्वप्ने जगद्भवेत् ।
तथैव जाग्रदविधं तत्खमात्रमिदं स्थितम् ॥ ८ ॥
आदिसर्गे हि चित्स्वप्नो जाग्रदित्यभिशब्द्यते ।
आद्यरात्रौ चितेः स्वप्नः स्वप्न इत्यपि शब्द्यते ॥ ९ ॥
पूर्वप्रवृत्ता सरितां रूढाद्यापि यथास्थिता ।
तरङ्गलेखा दृष्टीनां पदार्थरचना तथा ॥ १० ॥
यथा वारितरङ्गश्रीः सरितां रचनामिता ।
तथा चिद्व्योम्नि चिद्बीजसत्तान्तः सृष्टितामिता ॥ ११ ॥

होते हैं, वैसे ही सृष्टिरूपसे भावित चिदाकाशमें इस तरहका विचित्र सादिरूप जगत् प्रकाशित होता है ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्नमें जगत् चितिरूप काचका प्रकाश ही है, वैसे ही जाग्रदवस्थामें भी विचित्र जगत् भी चितिरूप काचका प्रकाश 'स्फुरण' ही है, इसलिए यह जगत् चिदाकाशमात्ररूप स्थित है ॥ ८ ॥

ऐसा माननेपर जाग्रत् और स्वप्नमें क्या भेद रहा—इसपर कहते हैं—'आदि०' इत्यादिसे ।

पहले-पहल प्रवृत्त हुए हिरण्यगर्भकी सृष्टिमें जो चितिका स्वप्न है वह जाग्रत्-शब्दसे कहा जाता है और प्रवल रात्रिमें प्रवृत्त स्वव्यष्टि-अन्तःकरणमात्रके परिणामरूप सृष्टिमें जो चितिका स्वप्न है वह स्वप्नशब्दसे कहा जाता है ॥ ९ ॥

प्रथम सङ्कल्प ही महाप्रलयतक समस्त पदार्थोंके स्वभावकी व्यवस्थापक नियति है । उसीके अनुसार आज भी सुव्यवस्थित पदार्थोंकी रचना एक तरहसे पहलेकी नाईं वह रही नदियोंकी तरङ्गरेखा है वही प्रत्यक्ष सिद्ध होती है ॥१०॥

ऐसी स्थितिमें जैसे तरङ्गोंकी सत्ता जलसत्तासे भिन्न दूसरी नहीं है, वैसे ही जगत्की सत्ता भी चितिकी सत्तासे भिन्न दूसरी नहीं है, इस आशयसे ब्रह्मोपादानत्वका प्रवाद है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे जलतरङ्गोंकी शोभा ही नदियोंकी रचनाको प्राप्त हुई है यानी नदियोंकी सत्ता जलतरङ्गशोभाकी सत्तासे पृथक् नहीं है, वैसे ही चिदाकाशके भीतर विद्यमान चितिरूप बीजसत्ता ही सृष्टिरूपताको प्राप्त हो गई है यानी सृष्टिकी सत्ता चितिसत्तासे अतिरिक्त नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ ११ ॥

मृतस्यात्यन्तनाशश्चेत्तन्निद्रासु खमेव तत् ।
भूयश्चोदेति संसारस्तत्सुखं नवमेव तत् ॥ १२ ॥
कुकर्मभ्यस्तु चेद्भीतिः सा समेह परत्र च ।
तस्मादेते समसुखे सर्वेषां मृतिजन्मनी ॥ १३ ॥
मरणं जीवितं वाऽस्तु सहजे वासने तयोः ।
इति विश्रान्तचित्तो यः सोऽन्तःशीतल उच्यते ॥ १४ ॥
सर्वसंवित्तिविगमे संविद्रोहति यादृशी ।
भूयते तन्मयेनैव तेनासौ मुक्त उच्यते ॥ १५ ॥

इस तरह जगत्‌की अलग सत्ता न होनेके कारण जन्म-मरणकी भीति आ ही नहीं सकती, किन्तु दोनों प्रसङ्गोंमें सुख ही सुख है, ऐसा कहते हैं—'मृतस्या०' इत्यादिसे ।

यदि मृत व्यक्तिकी आत्यन्तिक असत्ता मान ली जाय, तो भी ब्रह्मानन्दकी सत्ताके ही व्यक्ति और व्यक्तिनाशकी सत्ताके रूपसे अवशिष्ट होनेसे सुषुप्ति अवस्थामें प्रसिद्ध निरतिशयानन्दरूप सुख ही उसे प्राप्त हुआ और मर जानेके बाद फिर जो देहादिरूप संसार प्राप्त होता है, वह उसका नवीन संसाररूप सुख भी ब्रह्म-सुखरूप ही है, इसलिए सुखसत्तासे अतिरिक्त किसी सत्ताके न रहनेसे भयकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

मर जानेवाले व्यक्तिको कुकर्मजनित नरकप्राप्तिकी संभावनासे भय क्यों नहीं होगा ? इस आशङ्काको उठाकर कहते हैं—'कुकर्मभ्यः' इत्यादिसे ।

कुकर्मोंके कारण नरक आदिका जो भय है, वह तो यहाँ जीनेवालेको और परलोकमें मरनेवालेको समान ही है, नरक आदि दुःख और जीवनकी ब्रह्मसुख सत्तासे अतिरिक्त भिन्न सत्ता न होनेके कारण दुःखकी स्थिति भी सुखसत्तासे है, इसलिए उनमें विशेष (भेद) नहीं है । अतः सभीके मरण और जन्म समान-सुखवाले हैं ॥ १३ ॥

भले ही मरण हो या भले ही जीवन हो—इन दोनोंकी जो वासनाएँ हैं यानी उनकी सूक्ष्मरूपसे विद्यमान जो सत्ता है, वह ब्रह्मसुखरूप ही है, अतः वे भी ब्रह्मसुखरूप ही हैं । इसलिए ब्रह्मसुखमें विश्रान्ति पानेवाला जो धीर वीर है, वह अन्दरसे शीतलात्मा है, यह कहा जाता है ॥ १४ ॥

जितने प्रकारके भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका अस्त हो जानेपर पुरुषको

अत्यन्ताभावसंवित्त्या सर्वदृश्यस्य वेदनम् ।
उदेत्यपास्तसंवेद्यं सति वाऽसति सर्गके ॥ १६ ॥
यन्न चेत्यं न चिद्रूपं यच्चितेरप्यचेतितम् ।
तद्भावैक्यं गतास्तज्ज्ञाः शान्ता व्यवहृतौ स्थिताः ॥ १७ ॥
चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते ।
अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदृशः कुतः ॥ १८ ॥
चिन्नभःस्पन्दमात्रात्म सङ्कल्पात्मतया जगत् ।
सद्भूतमयमेवेदं न पृथव्यादिमयं क्वचित् ॥ १९ ॥
नेह देशो न कालोऽस्ति न द्रव्यं न क्रिया न खम् ।
सदिवाखिलमुच्छूनं वाऽप्यनुच्छूनमप्यसत् ॥ २० ॥

जो एकरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है, इससे दृश्य पदार्थों की पृथक् सत्ताका विनाश हो जाता है और पुरुष मुक्त कहा जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह पुरुषको जब यह ज्ञान हो जाता है कि विषयोंकी सत्ता त्रिकालमें है ही नहीं, तब उसकी दृष्टिमें ब्रह्मरूपसे सृष्टिकी पारमार्थिक सत्ता और स्वतः असत्ता बन जाती है। उस समय सब दृश्यका ज्ञान निर्विषयक ही उदित होता है, इसलिए ऐसे पुरुषमें मुक्तरूपता भलीभाँति आ जाती है ॥ १६ ॥

जो स्वयं चेत्यरूप (विषयरूप) नहीं है, जो चितिक्रियारूप नहीं है, जो चितिक्रियासे प्रकाशित भी नहीं होता, ऐसे ब्रह्मरूपताके साथ एकरूप बन गये तत्त्वज्ञानी पुरुष परमशान्तिसे युक्त होकर व्यवहारमें विद्यमान रहते हैं ॥ १७ ॥

अतिस्वच्छ चिदाकाशमें जो चितिका निरन्तर प्रकाशन होता है, वही तो जगत-शब्दसे कहा जाता है, इसलिए उसमें बन्धन और मुक्तिकी दृष्टियाँ ही कैसे ॥ १८ ॥

भद्र, सङ्कल्पके स्वरूपसे बना हुआ यह जगत् केवल चिदाकाशका स्पन्दन स्वरूप ही है, अतः वह त्रिकालबाधित ब्रह्ममय है, न कि कहीं पृथ्वी आदिमय है ॥ १९ ॥

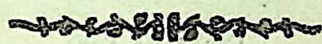
यहाँ न देश है, न काल है, न द्रव्य है, न क्रिया है, न आकाश है, किन्तु प्रतिभासरूपसे ही यह सब उत्पन्न है, इसलिए सत्-सा प्रतीत होता है। प्रतिभास-रूपसे उत्पन्न भी वास्तवमें यह अनुत्पन्न है, अतः असत्य ही है ॥ २० ॥

भाति केवलमेवेत्थं परमार्थघनं घनम् ।
यन्न शून्यं न वाऽशून्यमत्यच्छं गगनादपि ॥ २१ ॥

साकारमप्यनाकारमसदेवातिभास्वरम् ।
अतिशुद्धैकचिन्मात्रस्फारं स्वप्नपुरं यथा ॥ २२ ॥

निर्वाणमेवमिदमाततमित्थमन्त-
श्चिद्व्योम्न आविलमनाविलरूपमेव ।
नानेव न क्वचिदपि प्रसृतं न नाना
शून्यत्वमम्बर इवाम्बुनिधौ द्रवत्वम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगतः परमार्थमयत्ववर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥



इस प्रकार परमार्थघनरूप केवल ब्रह्म ही इस जगत्‌के रूपमें भासता है, ब्रह्म न शून्यरूप है और न अशून्यरूप है, वह आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ है ॥ २१ ॥

स्वप्ननगरके सदृश साकार होता हुआ भी ब्रह्मचैतन्य वास्तवमें निराकार है, निराकार होता हुआ ही अतिभास्वर यानी प्रकाशमय है और अतिस्वच्छ एकमात्र चितिस्वरूप होनेके कारण अतिविस्पष्ट है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, चिदाकाशके अन्दर जगदात्मक जो कलुषित स्वरूप है, वह कहे गये मार्गसे अकलुषित होकर व्यापक निर्वाणरूप ही बन जाता है। यह निर्वाणरूप आत्मतत्त्व कहींपर उपलब्ध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है, किन्तु सर्वत्र उपलब्ध होता ही है। यह जगत् नाना (भिन्न) नहीं है, किन्तु आकाशमें शून्यरूपके सदृश तथा समुद्रमें द्रवत्वके सदृश अभिन्न है यानी ब्रह्मरूप ही है ॥२३॥

पचपनवाँ सर्ग समाप्त

षट्पञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वथा सर्वं सर्वदा व्योम्नि चिन्मये ।
साधु सम्भवति स्वच्छशून्यत्वं ख इवाखिले ॥ १ ॥
यत्र चित्तत्र सर्गश्रीरव्योम्नि व्योम्निवाऽस्ति चित् ।
चिन्मयत्वात्पदार्थानां सर्वेषां नास्त्यचित् क्वचित् ॥ २ ॥
पदार्थजातं शैलादि यथा स्वप्ने पुरादि च ।
चिदेवैकं परं व्योम तथा जाग्रत्पदार्थभूः ॥ ३ ॥
पाषाणाख्यानमत्रेदं शृणु राम रसायनम् ।
पूर्वं मयैव यद्दृष्टं चित्रं प्रकृतमेव च ॥ ४ ॥

छप्पनवाँ सर्ग

[चिति ही सब कुछ है, और सर्वत्र ही सर्वात्मक चिति है, इस निश्चयको दृढ बनानेके लिए पाषाणाख्यायिकाका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, चिन्मय आकाशमें सर्वत्र और सदा सब कुछ किसी प्रकारके सङ्कोचके बिना विद्यमान है ही, परन्तु वह है सर्वथा स्वच्छ । ब्रह्म जगत्के मलसे ऐसे दूषित नहीं होता, जैसे नीलरूपसे भासमान शून्यता अपने मलसे आकाशमें मलिनता पैदाकर उसे दूषित नहीं करती ॥ १ ॥

इस अर्थमें युक्ति दिखलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

भद्र, जहाँ चिति है, वहाँपर ही जगत्की शोभा है, चाहे पृथ्वी आदि पदार्थ हों, चाहे आकाश हो सर्वत्र चित् विद्यमान है, क्योंकि सभी पदार्थ तो चितिरूप हैं, अतः कहींपर चित् नहीं है, यह नहीं हो सकता ॥ २ ॥

सबकी चिन्मात्रता स्वप्नमें प्रसिद्ध है, इसलिए उसको दृष्टान्त बनाकर जाग्रत्में भी पदार्थोंकी चिन्मात्रता सिद्ध करते हैं—'पदार्थजातम्' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें पर्वत आदि तथा नगर आदि पदार्थ केवल चिदात्मरूप हैं, वैसे ही जाग्रत्में भी ये पृथ्वी आदि पदार्थ परम चिदात्मरूप ही हैं ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, इस विषयमें प्रथम मुझसे ही दृष्ट एक पाषाणाख्यायिका है, वह सब रसोंसे पूर्ण और भ्रान्तिरूप रोगकी तो बड़ी भारी ओषधि है, बड़ी ही विचित्र तथा प्रस्तुतोपयोगी है, उसे आप सुनिए ॥ ४ ॥

अहं विदितवेद्यत्वात्कदाचित्पूर्णमानसः ।
त्यक्तुमिच्छुरिमं लोकव्यवहारं घनभ्रमम् ॥ ५ ॥
ध्यानैकतानतामेत्य शनैर्विश्रान्तये चिरम् ।
त्यक्ताजवं जवीभाव एकान्तार्थी शमं व्रजन् ॥ ६ ॥
इदं चिन्तितवानस्मि कस्मिंश्चिदमरालये ।
संस्थितो विविधाः पश्यन् भङ्गुरा जागतीर्गतीः ॥ ७ ॥
विरसा खल्वियं लोकस्थितिरापातसुन्दरी ।
न जातु सुखदा मन्ये कस्यचित्केनचित् क्वचित् ॥ ८ ॥
उद्वेगं जनयन्त्यन्तस्तीव्रसंवेगखेदतः ।
इमा दृश्यदृशो द्रष्टुरिष्टानिष्टफलप्रदाः ॥ ९ ॥
किमिदं दृश्यते किं वा प्रेक्ष्यते कोऽहमेव वा ।
सर्वं शान्तमजं व्योम चिन्मात्रात्मनि रिङ्गकम् ॥ १० ॥

श्रीरामभद्र, किसी समयकी बात है—मैंने ज्ञानयोग्य वस्तुका ज्ञान कर लिया था और मेरा मन भी पूर्ण हो चुका था, अतः उस समय मैंने घने भ्रमसे भरे इस लोकव्यवहारको छोड़ देनेकी इच्छा की ॥ ५ ॥

तदनन्तर समाधिमें एकनिष्ठा प्राप्त कर धीरे-धीरे दीर्घकाल तक विश्रान्ति पानेके निमित्त मैंने सब प्रकारकी चञ्चलताका त्यागकर एकान्त स्थानकी अभिलाषा की और शान्तिकी ओर जाने लगा ॥ ६ ॥

शान्तिकी ओर गमन कर रहा किसी देवताके स्थानमें स्थित मैं जगत्की विलक्षण भङ्गुर गतियोंको देखते हुए यह सोचने लगा ॥ ७ ॥

यह जो लोकोंकी अवस्था है, वह वस्तुतः नीरस ही है, केवल ऊपर-ऊपरसे सुन्दर लगती है, इसलिए मैं मानता हूँ कि यह किसीको, कहीं, किसी हेतुसे किसी समय भी सुखकारक नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

लोकस्थिति सुखद नहीं है, इतनी ही बात नहीं है, किन्तु असीम दुःखदायी भी है, यह कहते हैं—'उद्वेगम्' इत्यादिसे ।

तीव्र खलबली और खेद उत्पन्नकर ये इष्ट-अनिष्ट फल देनेवाली दृश्यदृष्टियाँ द्रष्टाके भीतर उद्वेग ही उत्पन्न करती हैं ॥ ९ ॥

यह क्या दिखाई देता है, कौन देखनेवाला है और मैं ही कौन हूँ अर्थात्

तस्मात्समस्तसिद्धेन्द्रदेवदैत्यादिदुर्गमम् ।
सुप्रदेशमितो गत्वा संगोप्यात्मानमात्मना ॥ ११ ॥
अदृश्यः सर्वभूतानां निर्विकल्पसमाधिगः ।
समे स्वच्छे पदे शान्ते आसे विगतवेदनम् ॥ १२ ॥
तस्मात्को नु प्रदेशः स्यादत्यन्तं शून्यतां गतः ।
यत्रैता नानुभूयन्ते पञ्च बाह्यार्थवेदनाः ॥ १३ ॥
शब्दकाननवार्यब्दभूतौघाभिसमाकुलाः ।
क्षोभयन्त्यथ संक्षुब्धास्तस्मान्मे गिरयोऽरयः ॥ १४ ॥
नानाविधा नगेन्द्राणामन्तरा वलिता जनैः ।
देशा विषमया एव निःशेषा विषयाहिभिः ॥ १५ ॥

ये सब तुच्छ हैं । कोई नहीं है, सब कुछ शान्त, अज चिदाकाशरूप ही है, केवल चिदाकाशमें थोड़ा-सा रेंगनेवाला विवर्त बन गया है ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्रजी, यह सब विचारकर अन्तमें उसीके कारण समस्त सिद्ध, इन्द्र, देव, दैत्य आदि द्वारा दुर्गम एक अच्छे प्रदेशमें जाकर अपनी देहको अपने आप ही अन्तर्धानके उपायोंसे छिपाकर (सुरक्षित बनाकर) मैं सब प्राणियोंकी आँखोंसे ओझल हो जाऊँ और निर्विकल्पक समाधि लगाकर एकरूप अद्वितीय स्वच्छ शान्त पदमें सब विकल्पोंसे निर्मुक्त हो स्थित हो जाऊँ ॥ ११, १२ ॥

मुझे जहाँ समाधि लगानी है; वह उत्तम प्रदेश कौन हो सकता है, क्योंकि वह प्रदेश अत्यन्त शून्यरूप और समाधिके लिए उपयोगी होना ही चाहिए। उस प्रदेशमें बाह्य अर्थोंके विज्ञान, जो पाँच इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेके कारण पाँच प्रकारके हैं, रहने भी नहीं चाहिएँ ॥ १३ ॥

पर्वत, शिखर आदि अनेक एकान्त प्रदेश समाधिके लिए हैं ही, फिर उनमें ही वास क्यों न किया जाय, इसपर कहते हैं—'शब्द०' इत्यादिसे।

विक्षेप पैदा करनेवाले शब्दोंसे आक्रान्त अरण्य, जल, मेघ एवं सिंह आदि प्राणियोंसे चारों ओर व्याकुल पर्वतोंको मैं अपना शत्रु ही समझता हूँ, क्योंकि वे उनसे स्वयं ही क्षुब्ध होकर दूसरोंको क्षुब्ध कर देते हैं, अतः वे प्रतिकूल हैं ॥ १४ ॥

बड़े-बड़े पर्वतोंके अनेक तरहके बीचवाले प्रदेश तो भील आदि जनोंसे

जनैर्जलचरैर्व्याप्ताः सागरा नीरकुक्षयः ।
विविधारम्भसंक्षुब्धैर्नगराणीव नागरैः ॥ १६ ॥
तटान्यद्र्यम्बुराशीनां लोकपालपुराणि च ।
भूताकुलानि शृङ्गाणि पातालकुहराणि च ॥ १७ ॥
गायन्त्यनिलझाङ्कारैर्नृत्यन्ति लतिकाः करैः ।
पुष्पैर्हसन्त्यगेन्द्राणां गुहा गहनकोटराः ॥ १८ ॥
मौनिमीनमुनिस्पर्शकम्पिनालचलाम्बुजाः ।
सरस्यो विरसा एव वार्यावर्तविराविताः ॥ १९ ॥

वेष्टित हैं और वे सब विषयरूप सर्पोंसे दूषित होनेके कारण विषमय ही हैं ॥ १५ ॥

अनेक तरहके बड़े-बड़े समारोहोंसे क्षुब्ध नागरिक जनोंसे युक्त नगर जैसे समाधिके प्रतिकूल हैं, वैसे ही विविध समारम्भोंसे पूर्ण (व्याप्त) जलचरोंसे जलाधार सागर भी समाधिके प्रतिकूल हैं ॥ १६ ॥

पर्वततट, जलतट, लोकपालोंके नगर, शिखर, पातालोंके कुहर आदि सब अनेकविध प्राणियोंसे व्याकुल ही हैं ॥ १७ ॥

पर्वतोंकी गुफाओंका तब सेवन करना चाहिए, इसपर कहते हैं—'गायन्ति' इत्यादिसे ।

बड़े-बड़े पर्वतोंकी गहनछिद्रवाली गुफाएँ तो वायुओंके झाङ्कारशब्दोंसे गान करती हैं, लतिकारूपी हाथोंसे नृत्य करती हैं और वनवृक्षोंके फूलोंसे हँसती हैं, अतः वे भी विक्षेपकारक ही हैं ॥ १८ ॥

तब बड़े-बड़े सरोवर ही, जिनको दक्षिणपथमें सरसी कहते हैं, अपने तटपर समाधिके कारण होंगे ? इसपर कहते हैं—'मौनि०' इत्यादिसे ।

दर्प और भयसे व्याकुल मौनी मीन एवं मुनियोंके स्पर्शसे यानी क्रीड़ा, स्नान आदिके अभिघातसे कम्पनशील नालदण्डोंके कारण चञ्चल हुए कमलोंसे युक्त सरोवर तो जलावर्तोंके द्वारा शब्द (कल्लोल) करते रहते हैं, अतः वे समाधिके भङ्गमें ही कारण हो जाते हैं, इसलिए मैं उन्हें भी नीरस ही समझता हूँ ॥ १९ ॥

पवनस्पर्शसंक्षुब्धतृणपांसुपताकिनी ।
रटत्यनिलभाङ्कारैर्निर्झरोर्व्यंप्यसंयता ॥ २० ॥
तस्मादाकाशमाशून्यं कस्मिंश्चिद्दूरकोणके ।
अत्र तिष्ठाम्यवष्टभ्य योगयुक्तिमनिन्दिताम् ॥ २१ ॥
कस्मिंश्चिदेककोणेऽत्र कृत्वा कल्पनया कुटीम् ।
वज्रोदरदृढं तस्यामन्तस्तिष्ठाम्यवासनम् ॥ २२ ॥
इति सञ्चिन्त्य यातोऽहमाकाशमसिनिर्मलम् ।
यावत्तदपि पश्यामि सकलं विततान्तरम् ॥ २३ ॥
क्वचित् भ्रमतिसिद्धगणं क्वचिदुद्गर्जदम्बुदम् ।
क्वचिद्विद्याधराधारं यक्षोत्क्षिप्तक्षयं क्वचित् ॥ २४ ॥

तब झरनेकी भूमि आपकी समाधिमें उपयोगी होगी, इसपर कहते हैं—'पवन०' इत्यादिसे।

भद्र, जिसमें वायुके स्पर्शसे क्षुब्ध हुए तृण और धूलिरूपी पताकाएँ विद्यमान हैं, ऐसा झरनेका प्रदेश भी विक्षेपका निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रदेश वायुके भाङ्कारशब्दोंसे निरन्तर 'झाँयू-झाँयू' शब्दका रटन करता रहता है ॥ २० ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यह निकला कि आकाश ही सब विक्षेपोंके उत्पादक हेतुओंसे रहित है, इसलिए वही शरण है, ऐसा कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए मैंने सोचा कि यह चारों ओरसे विक्षेपकारणोंसे रहित आकाश ही मेरी समाधिके लिए परम उपयोगी है, इस आकाशके किसी दूरवर्ती कोनेमें परम विशुद्ध आनन्दित योगयुक्तिका अवलम्बन कर मैं यहाँ स्थित रहूँ ॥ २१ ॥

इसके किसी एक कोनेमें कल्पनासे एक कुटियाका निर्माणकर उसके भीतर वासनारहित तथा वज्रके उदरके सदृश दृढ़ होकर मैं बैठूँ ॥ २२ ॥

इस प्रकार विचारकर तलवारकी धारके समान निर्मल आकाशकी ओर मैं जब बढ़ा, तब क्या देखता हूँ कि यह भी पूर्णरूपसे हजारों विक्षेपके कारणोंसे व्याप्त पेटवाला ही है ॥ २३ ॥

कहीं तो सिद्धोंका गण घूम रहा है, कहींपर तो बड़ी-बड़ी भयङ्कर

क्वचिद्भ्रमत्पुरवरं प्रारब्धसमरं क्वचित् ।
क्वचिद्द्रवज्जलधरं क्वचिदुद्वृत्तयोगिनि ॥ २५ ॥
क्वचिद्दैत्यपुरोड्डीनसगन्धर्वपुरं क्वचित् ।
क्वचिद्भ्रमद्ग्रहगणं तारकाकुलितं क्वचित् ॥ २६ ॥
क्वचित्खे खगसंघृष्टं क्वचित् क्रुद्धमहानिलम् ।
क्वचिदुत्पातवलितं क्वचिन्मण्डलमण्डितम् ॥ २७ ॥
क्वचिदपूर्वभूतौघं नागरावलितं क्वचित् ।
क्वचिदर्करथाक्रान्तं क्वचिदन्यरथोद्धुरम् ॥ २८ ॥
क्वचिदादित्यदाहान्तं शशिशैत्यान्वितं क्वचित् ।
क्वचित्क्षुद्रजनासह्यं क्वचिदग्न्यौष्ण्यदुर्गमम् ॥ २९ ॥

गर्जनाओंसे युक्त मेघमण्डल है, कहीं पर तो विद्याधारोंकी बैठक जमी है, कहीं-पर यक्षोंके द्वारा विशिष्ट स्थान पड़ा है ॥ २४ ॥

कहींपर सुन्दर नगरोंके नगर ही घूम रहे हैं, कहींपर युद्धका ही आरम्भ हो गया है, कहींपर मेघ ही बरस रहे हैं, कहींपर तो रौद्ररूप धारण की हुई योगिनियाँ विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

कहीं-कहींपर आसन्न दैत्यनगरोंके कारण गन्धर्वयुक्त देवनगर उड़ रहे हैं, कहींपर ग्रहमण्डल घूम रहा है, कहींपर तो वह तारोंसे व्याकुल हो रहा है ॥ २६ ॥

कहींपर तो आकाशमें पक्षियों द्वारा आक्रान्त स्थान है, कहींपर क्रुद्ध भयङ्कर झंझावात है, कहींपर उत्पातयुक्त स्थान है, कहींपर मेघादिमण्डलोंसे व्याप्त है ॥ २७ ॥

कहींपर अपूर्व चित्रविचित्र भूतोंका समूह (पिशाचसंघ) पड़ा है, कहींपर नगरोंके समूहके समूह पड़े हैं, कहींपर सूर्यके रथोंसे आक्रान्त है, कहींपर तो चन्द्र आदिके रथोंके कारण आक्रान्त बना है ॥ २८ ॥

कहींपर तो सूर्यकी सन्निधिके कारण दाहसे प्राणी मर रहे हैं, कहींपर तो शिशिर ऋतुकी शीतताके कारण लोग आक्रान्त हैं, कहींपर भूत-प्रेत आदिके कारण बीभत्स प्रतीत हो रहा है, कहींपर अग्निकी उष्णतासे दुर्गम है ॥ २९ ॥

क्वचिदुत्तालवेतालं गरुडोड्डामरं क्वचित् ।
क्वचित्सप्रलयाम्भोदं क्वचित्सप्रलयानिलम् ॥ ३० ॥
ततो भूतगणांस्त्यक्त्वा दूराद्दूरतरं गतः ।
प्राप्तवानहमेकान्तं शून्यमत्यन्तं विस्तृतम् ॥ ३१ ॥
अत्यन्तमन्दपवनं स्वप्नेऽप्यप्राप्यभूतकम् ।
मङ्गलोत्पातरहितमगम्यं विद्धि संसृतेः ॥ ३२ ॥
कल्पिताऽथ मया तत्र कुटी प्रकटकोटरा ।
नीरन्ध्रकुड्यनिबिडा पद्मकुड्मलसुन्दरी ॥ ३३ ॥
घुणक्षुण्णाङ्गपूर्णेन्दुबिम्बोदरमनोहरा ।
कह्लारकुन्दमन्दारपुष्पश्रीकोशशोभिता ॥ ३४ ॥
समस्तभूतागम्यत्वं तत्र सङ्कल्प्य चेतसा ।
अगम्ये सर्वभूतानामहमासं तदा ततः ॥ ३५ ॥
बद्धपद्मासनः शान्तमनाः परममौनवान् ।
संवत्सरशतान्तेन निर्णायोत्थानमात्मनः ॥ ३६ ॥

कहींपर भयङ्कर लम्बे लम्बे वेताल हैं, कहींपर गरुडोंसे भयङ्कर है, कहींपर प्रलय लिये मेघ बरस रहे हैं, कहींपर प्रलय लिये पवन बह रहे हैं ॥ ३० ॥

भद्र, यह सब तमाशा देखकर उन भूतगणोंको छोड़कर मैं दूरातिदूर एकान्त स्थानमें पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत तथा शून्य था ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, उस प्रदेशमें अत्यन्त मन्द पवन बह रहा था, स्वप्नमें भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे, शुभचिह्न और अशुभ चिह्नोंसे रहित तथा संसारियोंसे वह अगम्य था, यह जान लीजिये ॥ ३२ ॥

राघव, उस शून्य प्रदेशमें मैंने अपने सत्य सङ्कल्पसे एक कुटीका निर्माण किया, उसकी कोठरियाँ बड़ी ही स्वच्छ बनी थीं, छिद्ररहित भीतोंके कारण निबिड़ तथा कमलकी कलीके सदृश वह सुन्दर लगती थी ॥ ३३ ॥

वह मनोहर तो ऐसी लगती थी मानो पूर्णचन्द्रबिम्बमें घुनने छेद बना दिया हो, उसे कह्लार, कुन्द और मन्दारके फूलोंकी शोभाओंसे सजाया ॥ ३४ ॥

पहले तो मैंने अपने अन्तःकरणसे उसकी समस्त भूतों द्वारा अगम्यता बना दी, फिर सब भूतोंकी अगम्य उस कुटियामें मैं प्रविष्ट हो गया ॥ ३५ ॥

तदनन्तर वहाँ मैंने पद्मासन बाँध लिया, मनको शान्त कर लिया और

निर्विकल्पसमाधिस्थो निद्रामुद्रामिवागतः ।
समः सौम्यनभः स्वस्थः समुत्कीर्ण इवाम्बरात् ॥ ३७ ॥
चिरं यदनुसंधत्ते चेतः पश्यति तत्क्षणात् ।
चिरेण चाशापवनव्यक्तिवद्विततं यदा ॥ ३८ ॥
तदा वर्षशतेनात्र बोधबीजं वृतान्तरम् ।
आसीन्मे हृदयक्षेत्रे कालमेकं विकासतः ॥ ३९ ॥
संप्रबुद्धोऽभवन्मेऽथ जीवः सम्बुद्धवेदनः ।
शिशिरक्षीणगात्रस्य मधाविव रसस्तरोः ॥ ४० ॥
तच्छतं तत्र वर्षाणां निमेषमिव मे गतम् ।
बह्व्योऽपि कालगतयो भवन्त्येकधियो मनाक् ॥ ४१ ॥
विकासमागतो बाह्यं गतो बुद्धीन्द्रियक्रमः ।
वासन्तः पुष्परूपेण मदस्येव रसो मम ॥ ४२ ॥

उत्तम मौनव्रत धारण किया । फिर यह निश्चय किया कि मैं एक सौ वर्षोंके बाद अपनी समाधिसे उठूंगा । यह निश्चय कर निद्राकी मुद्राके सदृश निर्विकल्पक समाधिमें स्थित हो गया, उस समय मेरी वृत्ति एक थी, निर्मल आकाशके सदृश मैं अपने स्वरूपमें था और ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मैं आकाशसे ही चित्रित हो गया हूँ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

सौ वर्षोंके बाद समाधिसे व्युत्थानका कारण बतलाते हैं—'चिरम्' इत्यादिसे। भद्र, दीर्घकाल तक मन जिसका स्मरण करता है, उसको वह तत्काल ही देखता है, इस अकाट्य नियमके अनुसार सौ वर्षके दीर्घकालके बाद जब चित आशा (दिशा) और पवन व्यक्तिके सदृश विशाल हुआ, तब समाधि टूटनेमें कारणभूत कर्म हृदयमें एक समय पैदा हो गया, उस बीजरूप कर्मका भीतरी भाग ढका हुआ था । अनन्तर ज्ञातव्य वस्तु जानकर मेरा जीव समाधिसे ऐसे प्रबुद्ध हो गया, जैसे शिशिरमें क्षीणशरीर हुए वृक्षका रस चैत्र मासमें (वसन्तमें) प्रबुद्ध हो जाता है ॥ ३८–४० ॥

वहाँपर वे मेरे सौ वर्ष एक निमेषमात्रके सदृश व्यतीत हो गये, क्योंकि एकाग्रचित्तवाले पुरुषके लिए बहुत भी कालकी गतियाँ अत्यन्त स्वल्प हो जाती हैं ॥ ४१ ॥

उसके बाद क्या हुआ, इसे बतलाते हैं—'विकास०' इत्यादिसे ।

मां प्राणपूरितमुपागतसंविदंश-
मभ्यागतं त्वहमिति प्रसृतः पिशाचः ।
इच्छाङ्गनाविवलितोऽथ कुतोऽपि सद्यः
प्रोन्नामसन्नमनवायुरिवोग्रवृक्षम् ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने आकाशमन्दिरे वसिष्ठसमाधानवर्णनं नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

त्वामप्युदितनिर्वाणमहङ्कारपिशाचकः ।
बाधते किमिति ब्रूहि मुने सन्देहशान्तये ॥ १ ॥

जैसे वृक्षोंके मदका यानी पल्लव आदिकी पुष्टिके हेतुभूत हर्षका कारणभूत भीतरी वसन्तकालका रस पुष्परूपसे बाहर आता है, वैसे ही धीरे धीरे विकास प्राप्त कर बुद्धि-इन्द्रियोंकी परम्परा बाहरकी ओर प्रवृत्त हो गई ॥ ४२ ॥

उसके बाद क्या हुआ, यह कहते हैं—'माम्' इत्यादिसे ।

तदनन्तर पाँच वृत्तिवाले प्राणवायुसे तथा इन्द्रियोंसे पूर्ण अतएव आविर्भूत जीवरूप चिति-अंशसे युक्त देहवाले अभ्यागत मुझको देखकर 'त्वम्' 'अहम्' रूपसे प्रसिद्ध अहङ्काररूप पिशाच, इच्छारूप अपनी पत्नी पिशाचीके साथ, किसी भी अतर्कित प्रदेशसे मेरी सन्निधिमें ऐसे शीघ्र आ धमका, जैसे उग्र शालमली आदि वृक्षोंकी सन्निधिमें ऊँचे वृक्षोंको नमन करानेवाला प्रचण्ड पवन आ धमकता है ॥ ४३ ॥

छप्पनवाँ सर्ग समाप्त

सत्तावनवाँ सर्ग

[ज्ञानी और अज्ञानीके अहङ्कारके विशेष ज्ञानके लिए ज्ञानसे बाधित हुए दृश्यप्रपञ्चकी चिन्मात्रताका समर्थन]

'मां……अहमिति प्रसृतः पिशाचः' इस कथन तथा 'प्रोन्नामसन्नमन

वसिष्ठ उवाच

अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञाज्ञयोरिह ।
आधेयस्य निराधारा न संस्थेहोपपद्यते ॥ २ ॥
अयं त्वत्र विशेषस्तं शृणु विश्रान्तचेतसः ।
श्रुतेन येनाहंभावपिशाचः शान्तिमेति ते ॥ ३ ॥
अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुनाऽमुना ।
अविद्यमान एवान्तःकल्पितस्तेन संस्थितः ॥ ४ ॥

वायुरिवोग्रवृक्षम्' इस दृष्टान्तोक्तिसे महाराज वसिष्ठको भी अहङ्काररूपी पिशाच द्वारा बाधा पहुँचायी गई, ऐसा ज्ञात हो जानेसे ज्ञानफलकी अनित्यताकी संभावना करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'त्वाम०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, निर्वाण प्राप्त किये हुए आपको भी क्या अहङ्काररूपी पिशाच बाधा पहुँचाता है, मेरे सन्देहकी निवृत्तिके लिए यह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

एकमात्र प्रारब्धशेषका भोग ही प्रयोजन होनेसे जले हुए वस्त्र-जैसे देह-धारणके निमित्त केवल अहङ्काराभासकी प्रतीति होनेसे अज्ञानियोंकी तरह ज्ञानियोंको संसारबन्धनकी प्राप्ति नहीं होती, यह दिखलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी अज्ञानीके अहङ्कारकी अपेक्षा तत्त्वज्ञानीके अहङ्कारमें निर्दोषता बतलाते हुए उत्तर देते हैं—'अहंभाव०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस संसारमें अहंभावके बिना तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी देह-स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि हे श्रीरामचन्द्रजी, आधेय पदार्थकी निराधार स्थिति कभी नहीं उपपन्न हो सकती ॥ २ ॥

किन्तु इसमें शान्त चित्तवाले ज्ञानी पुरुषके लिए जो यह विशेष बात है, उसे आप सुनिये, जिसके सुननेसे आपका अहंभावरूपी पिशाच शान्त हो जायगा ॥ ३ ॥

इस अज्ञानरूपी बालकने अपने अन्तःकरणमें अविद्यमान ही अहंभावरूपी पिशाचकी कल्पना कर रक्खी है, अतः इसीसे यानी एकमात्र अज्ञानके वशसे ही यह स्थित है ॥ ४ ॥

अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ।
विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ॥ ५ ॥
यथायथा विलोक्यते तथातथा विलीयते ।
इहाज्ञता पिशाचिका तथा विचारिता सती ॥ ६ ॥
किल सत्यामविद्यायामज्ञतोदेति शाश्वती ।
बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ॥ ७ ॥
सति सर्गे त्वविद्यायाः सम्भवो नान्यतः क्वचित् ।
सति द्वितीये शशिनि द्वितीयो विद्यते शशः ॥ ८ ॥
सर्गस्त्वयमजातत्वादज्ञज्ञातो न विद्यते ।
न जातः कारणाभावात्पूर्वमेव खवृक्षवत् ॥ ९ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'अज्ञानमपि' इत्यादिसे ।

तत्त्वज्ञानी यदि विचारकर देखे तो अज्ञान भी उसे बिलकुल ऐसे नहीं उपलब्ध होता, जैसे दीपधारी पुरुषको अन्धकारका स्वरूप ॥ ५ ॥

तथा विद्वानोंको ज्यों-ज्यों अपना अनुभव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों क्रमशः अज्ञानका नाश भी होता जाता है, यह कहते हैं—'यथायथा' इत्यादिसे ।

जैसे-जैसे यह अज्ञतारूपी पिशाचिका अनुभवमें आरूढ़ होती जाती है वैसे-वैसे विचारित होकर नष्ट होती जाती है ॥ ६ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अविद्या रहनेपर ऐसे बारबार अज्ञता उदित होती है, जैसे रातमें बुद्धिविभ्रमस्वरूप देहशून्य यक्षी ॥ ७ ॥

अविद्याकी सृष्टि रहनेपर ही उसका अस्तित्व भी है, अन्य किसी दूसरे कारणसे कहीं नहीं है । द्वितीय चन्द्रमाके रहनेपर ही द्वितीय खरगोश दीख पड़ता है ॥ ८ ॥

ऐसा ही सही, पर इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'सर्ग' इत्यादिसे ।

अज्ञानी द्वारा ज्ञात यह संसार उत्पन्न न होनेसे नहीं है, क्योंकि आकाश-वृक्षके समान कारण न रहनेसे यह पहलेसे ही उत्पन्न नहीं हुआ है ॥ ९ ॥

परमाकाशकोशान्तरादिसर्गे निरामये ।
पृथ्व्यादेरुपलम्भस्य भवेत् किमिव कारणम् ॥ १० ॥
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं मनःषष्ठेन्द्रियात्मनः ।
साकारस्य निराकारं कथं भवति कारणम् ॥ ११ ॥
बीजात्कारणतः कार्यमङ्कुरः किल जायते ।
न बीजमपि यत्रास्ति तत्र स्यादङ्कुरः कुतः ॥ १२ ॥
कारणेन विना कार्यं न च नामोपपद्यते ।
कदा क इव खे केन दृष्टो लब्धः स्फुटो द्रुमः ॥ १३ ॥
सङ्कल्पेनाम्बरे यद्वद्दृश्यते विटपादिकम् ।
स सङ्कल्पस्तथाभूतो न तत्रास्ति पदार्थता ॥ १४ ॥
एवं येयं चिदाकाशे सर्गादावनुभूयते ।
शून्यरूप इवाकाशे सर्गस्थितिरनर्गला ॥ १५ ॥

कारणके अभावका उपपादन करते हैं—'परमाकाश०' इत्यादिसे । जब चिदाकाशकोशके भीतर स्थित आदि सृष्टि ही निर्विकार ब्रह्मरूप है तब पृथिवी आदिकी प्राप्तिका कौन-सा कारण हो सकता है ? ॥ १० ॥

मनको लेकर छः इन्द्रियोंसे ज्ञात न होनेवाला निराकार ब्रह्म मनयुक्त छः इन्द्रियोंसे ज्ञात होनेवाले साकार जगत्का कारण कैसे हो सकता है ॥ ११ ॥

बीजरूप कारणसे अङ्कुररूप कार्य उत्पन्न होता है, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है । फिर जहाँपर बीजरूप कारण है ही नहीं, वहाँपर अङ्कुर कैसे उत्पन्न होगा ? ॥ १२ ॥

कारणके विना कार्य नहीं होता, यह तो सभीको विदित है । आकाशमें लहलहा रहे प्रत्यक्ष वृक्षका किसने कब अवलोकन या ग्रहण किया है ? ॥ १३ ॥

यदि वह सृष्टि उत्पन्न ही नहीं है, तो फिर कौन उस रूपसे भासता है, उसको दृष्टान्तपूर्वक बतलाते हैं—'सङ्कल्पेन' इत्यादिसे । जैसे सङ्कल्प द्वारा आकाशमें वृक्ष आदि दिखाई देते हैं, वैसे ही सङ्कल्पमय यह संसार भी है । इसमें वस्तुतः पदार्थता नहीं है ॥ १४ ॥

एवं सृष्टिके आरम्भकालमें जो यह अर्गलाशून्य सृष्टिकी स्थिति चिदाकाशमें अनुभूत होती है, वह भी आकाशमें शून्यरूप वृक्षादिके सदृश ही है ॥ १५ ॥

सम एव चिदाकाशः कचत्यात्मनि तत्तथा ।
स्वभाव एव सर्गाख्यश्चित्त्वाच्चैतन्यमीश्वरः ॥ १६ ॥
स्वप्नसर्गोऽत्र दृष्टान्तः प्रत्यहं योऽनुभूयते ।
स्वयं संवेदने स्वप्ने स्फुरत्यद्रिपुराकृतिः ॥ १७ ॥
चित्स्वभावे यथा स्वप्ने आस्ते सर्ग इवेह यः ।
असर्गे सर्गवद्भाति तथा पूर्वं महाम्बरे ॥ १८ ॥
अवेद्यवेदनं शुद्धमेकं भात्यजमव्ययम् ।
सर्गादौ यदनाद्यन्तं स्थितः सर्गः स एव नः ॥ १९ ॥
नेह सर्गोऽस्ति नैवायं पृथ्व्यादिगणगोलकः ।
सर्वं शान्तमनालम्बं ब्रह्मैव ब्रह्मणि स्थितम् ॥ २० ॥

तब क्या एकमात्र शून्य ही सृष्टिरूपसे भासित होता है, इसपर 'नहीं' यह उत्तर देते हैं—'सम एव' इत्यादिसे ।

विषयसृष्टिके आकारसे रहित चिदाकाश ईश्वर ही अपने स्वभावमें सृष्टि-रूपसे स्फुरित होता है । सर्गनामक चितिस्वभाव ही चिद्रूप होनेके कारण ईश्वर चैतन्य है, इसलिए चिति ही सृष्टिरूपसे भासित होती है, न कि शून्य ॥ १६ ॥

अविकृत ब्रह्म ही विकृत जगद्रूपसे जो स्फुरित होता है उसमें, स्वप्न स्वात्मा ही दृष्टान्त है, यह कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

प्रतिदिन जो अनुभूत होता है वह स्वप्न-सर्ग ही इस विषयमें दृष्टान्त है क्योंकि स्वप्नके विषयोंमें स्वयं आत्मा ही पर्वत, नगर आदिकी आकृतियोंमें स्फुरित होता है ॥ १७ ॥

जैसे यहां स्वप्नमें जो सृष्टि-सा प्रतीत होता है वह चित्स्वभाव सृष्टिरहित स्वात्मामें ही विद्यमान है वैसे ही यहां ज्ञानसे पूर्व सर्ग-सा जो प्रतीत होता है वह सर्गशून्य चित्स्वभाव महाचिदाकाशमें ही प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें विषयज्ञानशून्य, शुद्ध, एक, अज, अव्यय आदि और अन्तसे शून्य जो परमात्मा स्थित है वही हमारा सर्गरूपसे स्थित है ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, परब्रह्म परमात्मामें यह सृष्टि नहीं है और न ये पृथिवी आदि लोक ही हैं । सब शान्त, अवलम्बनशून्य एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्थित है ॥ २० ॥

सर्वशक्त्यात्म तद्ब्रह्म यथा कचति यादृशम् ।
रूपमत्यजदेवाच्छं तथा भवति तादृशम् ॥ २१ ॥
यथा स्वप्नपुरं जन्तोश्चिन्मात्रप्रविजृम्भितम् ।
तथैव सर्गः सर्गादौ शुद्धचिन्मात्रजृम्भितम् ॥ २२ ॥
स्वच्छे चित्परमाकाशे चिदाकाशो य आस्थितः ।
स्वभाव एव सर्गोऽसाविति तेनैव भावितः ॥ २३ ॥
भाव्यभावकभावादिभूमीनां भावनं भृशम् ।
सर्वं चिन्नभ एवाच्छमात्मनात्मनि संस्थितम् ॥ २४ ॥
एवं स्थिते कुतः सर्गः कुतो विद्या क चाज्ञता ।
ब्रह्म शान्तं घनं सर्वं काहङ्कारादयः स्थिताः ॥ २५ ॥
अहंभावस्य संशान्तिरेषाऽसौ कथिता तव ।
अहंभावः परिज्ञातः पिशाच इव शाम्यति ॥ २६ ॥

सर्वशक्तिसम्पन्न वह ब्रह्म जैसे जिस तरहका स्फुरित होता है, वह अपने स्वच्छरूपका परित्याग न करते हुए वैसे उस तरहका हो जाता है ॥ २१ ॥

जैसे स्वप्नका नगर प्राणीके लिए चिन्मात्रका केवल विलास है, वैसे ही सृष्टिके प्रारम्भमें यह सृष्टि भी शुद्ध चिन्मात्रका विलास ही है ॥ २२ ॥

स्वच्छ चिद्रूप परमाकाशमें जो चिदाकाश स्थित है उसीने अपने स्वभावकी सृष्टिरूपमें भावना की है वही यह सृष्टि है अर्थात् चिद्रूप जो ब्रह्म है उसका स्वभाव ही यह सृष्टि है ॥ २३ ॥

भाव्य, भावक आदि त्रिपुटीभूमियोंकी एक रसमें उत्पत्ति कैसे, इसपर कहते हैं—'भाव्य०' इत्यादिसे ।

भाव्य, भावक और भाव आदि भूमियोंकी जो निरन्तर उत्पत्ति है, वह सब स्वच्छ चिदाकाश ही अपनी आत्मामें स्थित है ॥ २४ ॥

ऐसा स्थित होनेपर कहांसे सृष्टि, कहांसे अविद्या, कहां अज्ञता और कहां अहङ्कार आदि स्थित हैं सब शान्त चिद्घन ब्रह्म ही स्थित है ॥ २५ ॥

अज्ञान रहनेपर ही अहंभाव बाधा पहुँचाता है, ज्ञान होनेपर नहीं, यह कहते हैं—'अहंभावस्य' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने आपसे यह अहङ्कारकी शान्ति कही ।

मया त्वेवमहंभावः परिज्ञातो यदाऽखिलः ।
तदा मे विद्यमानोऽपि निष्फलः शरदभ्रवत् ॥ २७ ॥
चित्राग्निदाहो विज्ञातो यथा दाह्येषु निष्फलः ।
तथाऽहंभावसर्गादि ज्ञातं निष्फलतामियात् ॥ २८ ॥
इति मेऽहंकृतेस्त्यागे रागे च समता यदा ।
तदा व्योम्न इवाव्योम्नः सर्गेऽसर्गे च मे स्थितिः ॥ २९ ॥
अहंभावस्य नैवाहं नाहंभावो ममेति च ।
तेन विद्धि चिदाकाशमेवेदमिति निर्घनम् ॥ ३० ॥
यथा मम तथान्येषामपि बोधवतामिह ।
अग्नित्वमिव चित्राग्नेर्नास्त्ययं बोधविभ्रमः ॥ ३१ ॥

यह अहङ्कार भलीभाँति ज्ञात होनेसे बालकल्पित पिशाचकी तरह शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

इससे आपके प्रश्नका समाधान हो गया, यह दिखलाते हैं—'मया त्वेवम०' इत्यादिसे ।

इस तरह जब इस अहङ्कारको मैं पूर्णतया जानता हूँ, तब हे श्रीरामचन्द्रजी, यह रहनेपर भी मेरे लिए शरत्कालके मेघके सदृश निष्फल ही रहता है ॥ २७ ॥

चित्रलिखित अग्निमें अध्यस्त दहनक्रिया जैसे दाह्य वस्तुओंमें निष्फल होती है, वैसे ही अहंभावकी सृष्टि आदि भी पूर्णरूपसे ज्ञात होनेपर निष्फलताको प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार समाधिकालमें अहंकारके त्याग तथा व्यवहारकालमें उसके रागमें जब मेरी समता है तब सृष्टिकी विद्यमान तथा अविद्यमान दशामें मेरी स्थिति ऐसी है, जैसी मेघ, वायु तथा आतप आदिसे अवकाशशून्य आकाशकी ॥ २९ ॥

एकमात्र सम्बन्धत्यागसे भी यह अहम्भाव पीड़ा नहीं पहुँचाता, फिर ज्ञानसे बाधित हो जानेपर तो पूछना ही क्या, इस आशयसे कहते हैं—'अहंभावस्य' इत्यादि ।

न तो कोई मैं अहङ्कारका हूँ और न यह अहङ्कार ही मेरा कुछ लगता है—यों जानकर हे श्रीरामचन्द्रजी, इस सम्पूर्ण संसारको आप निर्घन चिदाकाश ही जानिये ॥ ३० ॥

यह अहंभावादि बोधविभ्रम जिस तरह मेरी दृष्टिमें नहीं है, वैसे ही तत्त्व-

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति सर्वं नास्तीति निश्चये ।
प्रकृतव्यवहारस्त्वं शिलामौनमयो भव ॥ ३२ ॥

आकाशकोशविशदाकृतिरेव तिष्ठ
निर्देशवच्चिरमपह्नुतसर्वभावः ।
अद्यादितश्च किल चिन्मयमेव सर्वं
नो दृश्यमस्ति शिवमेवमशेषमित्थम् ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विदितवेद्याहङ्कारविचारो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥



ज्ञानी और महानुभावोंकी दृष्टिमें भी यह नहीं है, जैसे कि चित्रगत अग्निमें दाहक्रिया किसी भी विद्वान् पुरुषकी दृष्टिमें नहीं है ॥ ३१ ॥

आप भी मेरे समान ही भीतरसे सबका बाध करके अद्वितीय बन जाइये, यह कहते हैं—'नाहम०' इत्यादिसे ।

वास्तवमें तो न मैं हूँ, न कोई अन्य है और न यह सब दृश्य प्रपञ्च ही है, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप भी प्रकृत व्यवहारका सम्पादन करते हुए पत्थरके समान मौनमय हो जाइये ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकालके लिए सम्पूर्ण भावोंका अपह्नव करके अवकाश-रहित पत्थरके सदृश बनकर आकाशकोशकी तरह निर्मल-आकारसे ही आप अपने स्वरूपमें स्थित रहिये, क्योंकि इस तरह निश्चित है कि इस सृष्टिकालमें तथा इस सृष्टिके पूर्वकालमें सब कुछ चिन्मय शिव ही स्थित है । इस प्रकारसे जो दृश्यप्रपञ्च दिखाई दे रहा है वह सब कुछ नहीं है ॥ ३३ ॥

सत्तावनवां सर्ग समाप्त

अष्टपञ्चाशः सर्गः

श्रीराम उवाच

अहो न विततोदारा विमला विपुलाचला ।
भवता भगवन् भूत्यै भूयो दृष्टिरुदाहृता ॥ १ ॥
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वं सर्वत्र सर्वदा ।
सदित्येव स्थितं सत्यं समं समनुभूतितः ॥ २ ॥
अयमस्ति मम ब्रह्मन् संशयस्तं निवारय ।
किमिदं भगवन्नाम पाषाणाख्यानमुच्यते ॥ ३ ॥

अठावनवाँ सर्ग

[सम्पूर्ण सृष्टिकी शोभा सभी जगह है और नहीं भी है, इस प्रकारका जो पाषाणाख्यायिकाका अर्थ है, उसका दृष्टिभेदसे वर्णन]

प्रासङ्गिक जो जीवन्मुक्त पुरुषके अहङ्कारकी अबाधकता थी, उसका समर्थन किया गया, अब प्रकृत 'सर्वत्र सर्वथा सर्वम्' (सब जगह सब प्रकारसे सब कुछ है) इस अर्थकी पाषाणाख्यायिका द्वारा जो प्रतिज्ञा की थी, उसे पूछनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, अहो, आपने मेरे उत्कर्षके लिए फिर एक दृष्टिका (विज्ञानका) उपदेश दिया, यह विज्ञान व्यापक और महान् उदार है, विमल है, विपुल और अचल है ॥ १ ॥

भगवन्, सब कुछ सब जगह सभी प्रकारसे सत् है और सब कुछ सब जगह सदा ही सत् है—यह जो विषय प्रस्तुत हुआ था उसका अच्छे अनुभवसे यदि विचार किया जाय, तो सम, अविषम एवं एकरस ही पर्यवसित (सिद्ध) होता है, अतः सत्यस्वरूप ही है, क्योंकि जितने धर्म या धर्मी हैं, उनका देश, काल और वस्तुरूपसे यदि सर्वात्मकता बन जाय, तो भेद और भेदकत्व आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २ ॥

ब्रह्मन्, अब इस विषयमें मुझे जो यह सन्देह है, इसका निवारण कीजिए। भगवन्, यह पाषाणाख्यान किस अंशकी समानता लेकर कहा गया है । व्यावर्तक यानी भेदके हेतु धर्मोंसे युक्त पदार्थोंका ही साधारणधर्मसे सादृश्य माना जाता है, यह प्रसिद्धि है, अतः सन्देहका होना स्वाभाविक है ॥ ३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वत्र सर्वदा सर्वमस्तीति प्रतिपादने ।
पाषाणाख्यानदृष्टान्तो मयाऽयं तत्र कथ्यते ॥ ४ ॥
नीरन्ध्रैकघनाङ्गस्य पाषाणस्यापि कोटरे ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ५ ॥
भूताकाशे महत्यस्मिन् खशून्यत्वमनुज्झति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ६ ॥
अन्तर्गुल्माङ्कुरादीनां प्राणवाय्यम्बुतेजसाम् ।
सन्ति सर्गसहस्राणि कथयेति प्रदर्श्यते ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, 'सब कुछ सर्वदा सभी जगह है', यह जो प्रतिपादन करना है, इसी अर्थमें पाषाणाख्यायिकाका दृष्टान्त दिया गया है, इसका किस तरह सादृश्य घटता है, इसे मैं आपसे कहता हूँ ॥ ४ ॥

पाषाणाख्यायिकाका मैंने इसलिए आरम्भ नहीं किया है कि हमको पाषाणकी समानता या सब धर्मोंका सङ्कर कहना है, किन्तु पाषाण-उदरके अध्यासका अधिष्ठानभूत जो ब्रह्म है, उसमें असंकीर्णरूपसे सब जगत्‌का अध्यास हो सकता है, यों संभावना बतलानेके लिए उक्त दृष्टान्तका उपन्यास है, यह कहते हैं—'नीरन्ध्र०' इत्यादिसे ।

छिद्रोंसे रहित, अत्यन्त घनीभूत अवयवोंवाले पाषाणोदरमें (पाषाणोदराध्यासके अधिष्ठान चेतनमें) भी हजारों सृष्टियां हैं, यह प्रस्तुत पाषाणाख्यानके द्वारा बतलाया गया है ॥ ५ ॥

अथवा भावपदार्थोंके उदराधिष्ठानभूत चेतनमें जिस तरह हजारों सृष्टियोंका सम्भव है, उसी तरह शून्यात्मक आकाशरूप अभावाधिष्ठान चेतनमें भी असंकीर्ण रूपसे समस्त जगत्‌का आरोप संभव है, इस आशयसे कहते हैं—'भूताकाशे' इत्यादिसे ।

आकाशकी शून्यताको न छोड़नेवाले महान् भूताकाशमें यानी अभावाधिष्ठानभूत चेतनमें भी हजारों सर्गोंका आरोप हो सकता है, यह बतलानेके लिए प्रस्तुत कथा कही गई है ॥ ६ ॥

इस न्यायकी सर्वत्र योजना करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'अन्त०' इत्यादि ।

श्रीराम उवाच

कुड्यादौ सन्ति सर्गौघा इति चेत्कथ्यते मुने।
तत्खे विभान्ति सर्गौघा इति किं न प्रदर्श्यते ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

एतत्ते वर्णितं राम मुख्यमेव यथाऽखिलम्।
योऽयमालक्ष्यते सर्गः स ख एव समास्थितम् ॥ ९ ॥

गुल्म, अङ्कुर आदि तथा प्राण, वायु, जल, तेज आदिके उदरमें (अधिष्ठान आत्मामें) हजारों सर्ग हो सकते हैं, इस अर्थको बतलानेके लिए पाषाणाख्यान कहा गया है ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, भीत, पाषाण आदिके उदर चेतनमें अनेक सर्गोंका आरोप है, यही अभिप्राय यदि पाषाणाख्यायिकासे बतलाया जाता है, तो मैं कहता हूँ कि इसकी अपेक्षा यही अभिप्राय क्यों नहीं बतलाया जाता कि शुद्ध चिदाकाशमें हजारों सृष्टियोंका आरोप है। तात्पर्य यह है कि भीत आदि भाव और शून्यात्मक आकाशादि अभाव पदार्थोंसे युक्त चेतनमें सभी सर्गोंका आरोप असङ्कीर्णरूपसे हो सकता है, यह यदि आपकी आख्यायिकाका अभीष्ट अर्थ है, तब शुद्ध चिदाकाशमें सब जगत्‌का अध्यास है, यही पक्ष क्यों मान न लिया जाय, जिससे कि अध्यस्त जगत्‌का बाध हो जानेपर शुद्ध ही बच जाता है, यह दूसरी बात भी अनुकूल हो, इस प्रकारकी श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का है ॥ ८ ॥

ठीक है, आपने जिस पक्षका शङ्कामें उल्लेख किया है, ठीक यही पक्ष मुख्यरूपसे मुझे भी अभिप्रेत है, परन्तु विशुद्ध चिदाकाशका सहसा परिचय हो नहीं सकता, इसलिए परिचयोपायरूपसे प्रत्येक भावादि-उपहित चेतनमें भी समस्त जगत्‌का अध्यास (आरोप) है, यह मैंने बतलाया है, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'एतत्' इत्यादि।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्-तत् पदार्थोंसे उपहित प्रत्येक चेतनमें समस्त जगत्‌का आरोप है, यों कहते हुए मैंने आपसे वस्तुतः मुख्य चेतनमें समस्त जगत्‌का आरोप है, इसीका वर्णन किया है, इसलिए जो यह सृष्टि दिखाई पड़ती है, वह चिदाकाशमें चिदाकाशात्मक ही स्थित है ॥ ९ ॥

आदावेव हि नोत्पन्नमद्यापि न च विद्यते ।
दृश्यं यच्चावभातीदं तद्ब्रह्म ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १० ॥
नास्ति भूरणुमात्रापि सर्गैर्निर्विवरा न या ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव ते ॥ ११ ॥
न तेजसोऽणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १२ ॥
न वायोरणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः ।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १३ ॥
खं नाणुमात्रमप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरं न यत् ।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १४ ॥

यों जब ब्रह्ममात्रता ही है, तब दृश्यकी अनुत्पत्ति ही फलित हुई, यह कहते हैं—'आदावेव' इत्यादिसे ।

श्रीरामभद्र, परमार्थदृष्टिसे दृश्य पहले ही उत्पन्न नहीं हुआ है और आज भी नहीं है, परन्तु जो इसका अवभास होता है, वह ब्रह्ममें स्थित ब्रह्म ही है ॥ १० ॥

आरोपदृष्टिसे भूतोंके प्रत्येक परमाणुमें सबका आरोप कर सब कुछ देखा जा सकता है और अपवाददृष्टिमें उससे विपरीत भी देखा जा सकता है, इस आशयसे कहते हैं—'नास्ति' इत्यादि ।

जो पृथ्वी सृष्टियोंसे गाढ़भरित (खूब भरी हुई) न हो, ऐसी अणुमात्र भी नहीं है यानी सारी पृथ्वी सृष्टियोंसे एकदम खचाखच भरी हुई ही है और सृष्टि भी कहीं नहीं है, किन्तु जो है, वे सब ब्रह्माकाशरूप ही है । आरोपदृष्टिसे पृथ्वीके प्रत्येक परमाणुमें सर्गके सर्ग भरे पड़े हैं तथा अपवाददृष्टिमें न कोई परमाणु है और न उसमें सर्ग ही भरे पड़े हैं, केवल ब्रह्माकाशमात्र है ॥ ११ ॥

ऐसे तेजका कोई भी अणु नहीं है, जिसमें सर्गोंकी स्थिति न हो। और वास्तवमें तो कहींपर भी सर्ग नहीं है, किन्तु सर्गरूपसे भासमान सब ब्रह्माकाशमात्र है ॥ १२ ॥

ऐसा वायुका कोई भी परमाणु नहीं है, जो सर्गोंसे भरा न हो और वे सर्ग भी वास्तवमें नहीं हैं, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्र ही हैं ॥ १३ ॥

अणुमात्र भी आकाश सृष्टियोंसे रहित हो, ऐसा नहीं है, किन्तु सब

न सा महाभूतताऽस्ति सर्गैर्निर्विवरा न या।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १५ ॥
शैलानां नाणुरप्यस्ति स सर्गैर्यो न निर्घनः।
न च क्वचन विद्यन्ते सर्गा ब्रह्मखमेव तत् ॥ १६ ॥
ब्रह्मणो नाणुरप्यस्ति सर्गैर्निर्विवरो न यः।
न च क्वचन सर्गास्ते सन्ति ब्रह्मखमेव तत् ॥ १७ ॥
सर्गेषु नाणुरप्यस्ति न ब्रह्मात्मैव यः सदा।
ब्रह्मसर्गास्तथेत्येष वाचि भेदो न वस्तुनि ॥ १८ ॥
सर्गा एव परं ब्रह्म परं ब्रह्मैव सर्गता।
मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राग्न्यर्कौष्ण्ययोरिव ॥ १९ ॥

सृष्टियोंसे परिपूर्ण है और वे सृष्टियां भी नहीं है, किन्तु वे ब्रह्माकाशमात्ररूप ही हैं ॥ १४ ॥

ऐसे मिले हुए पञ्चमहाभूत भी नहीं हैं, जो सर्गोंसे परिपूर्ण न हों, किन्तु वे सर्गोंसे परिपूर्ण हैं और कहीं सर्ग भी नहीं हैं, किन्तु वे केवल चिदाकाशरूप ही हैं ॥ १५ ॥

पर्वतोंका भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सर्गोंसे भरा पड़ा न हो, किन्तु सभी परमाणु सर्गोंसे भरे पड़े हैं, और उनमें कहीं सर्ग भी वास्तवमें नहीं है, केवल ब्रह्मरूप ही वे हैं ॥ १६ ॥

सूक्ष्मभूतरूप उपाधिसे युक्त हिरण्यगर्भका भी ऐसा कोई अणु नहीं है, जो सृष्टियोंसे भरा हुआ न हो, लेकिन उसमें भी वही स्थिति है। वास्तवमें तो उनमें कहीं वे भी सर्ग नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही ब्रह्म है ॥ १७ ॥

हिरण्यगर्भके निर्मित संसारोंमें ऐसे कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग नहीं हैं, जो सदा ब्रह्मरूप ही न हो, किन्तु सदासे ही वे सब ब्रह्मस्वरूप है, इसलिए ब्रह्म तथा सर्ग—यह केवल वाणीमें ही भेद है, वस्तुमें भेद नहीं है ॥ १८ ॥

जैसे अग्नि एवं सूर्यकी उष्णतामें कोई परस्पर भेद नहीं है, किन्तु उष्णता और अग्नि या सूर्य एकरूप ही हैं, वैसे ही जो सर्ग हैं, वे परब्रह्म ही हैं और परब्रह्म ही सर्ग हैं, इनमें तनिक भी भेद नहीं है, किन्तु एकरूप ही हैं ॥ १९ ॥

इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तावाच्यदृष्टयः ।
विदार्यदारुरवबद्धान्त्यर्थपरिवर्जिताः ॥ २० ॥
द्वैतमैक्यं च यन्नास्ति न मनागपि तत्र ते ।
सर्गब्रह्मादिशब्दार्थाः कथं कस्येव भान्तु के ॥ २१ ॥

भद्र, ये सर्ग और ब्रह्म आदि जो शब्द हैं, उनके विषयमें यदि विचारा जाय, तो वे अर्थसे शून्य होकर अत्यन्त अनिर्वचनीय वस्तुका बोध करानेवाले उस तरह दिखाई देते हैं, जिस तरह कुठारसे चिरे जानेवाले काठमें उसके बोधक जो भिन्न भिन्न शब्द हैं, वे पृथक् अर्थशून्य होकर केवल काठ वस्तुका बोध कराते दिखाई देते हैं। इसका गम्भीर भाव यह है कि पहले सर्गशब्द और ब्रह्मशब्दके ऊपर विचार कर लेना चाहिए कि असलमें उनसे क्या अर्थ निकलता है, सर्जन क्रियाके कारण सर्गशब्द है और बृंहण यानी वर्धन क्रियाके कारण ब्रह्मशब्द है, सर्जन और वर्धनमें तो कोई परस्पर भेद नहीं है, अतः ब्रह्म और सर्ग आदिमें भी भेद कैसे हो सकता है, अब इन सर्ग और ब्रह्मशब्दमें भेद करनेवाला जो आनुपूर्वी आदि धर्म है, वह भी असलमें तो कोई चीज है नहीं, अतः उससे रहित सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द लक्षणासे किसी अनिर्वचनीय अर्थका ही बोध कराते हैं। अपिच क्रिया भी क्रियावान्‌के स्वरूपसे अलग नहीं है, यदि कहें कि क्रिया और क्रियावान् एक नहीं हैं, किन्तु एक आधार और दूसरा आधेय है, अतः उनका भेद है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इनके आधाराधेय-भावका निरूपण आप कर ही नहीं सकते। ऐसी परिस्थितिमें कुठारसे विदीर्ण होनेवाले काठमें जो-जो काठके लिए प्रसिद्ध शब्द हैं, वे सब पृथक् अर्थसे शून्य होकर जैसे एक ही अर्थके प्रतिपादक भासते हैं अथवा विदार्य (विदीर्ण करने योग्य) और दारु (विदीर्ण होनेवाला) ये दो शब्द जैसे पृथक् अर्थसे शून्य होकर अभेदार्थके ही प्रतिपादक हैं, वैसे ही सर्ग और ब्रह्म आदि शब्द भी एकार्थके यानी ब्रह्मार्थके ही प्रतिपादक हैं ॥ २० ॥

परमार्थदशामें सर्ग और ब्रह्म आदि शब्दार्थोंका भेद भले ही न हो, क्योंकि उस दशामें द्वैत और ऐक्य रहता ही नहीं। परन्तु व्यवहारदशामें तो ब्रह्म एक है और सर्ग अनेक हैं, अतः ब्रह्म और सर्गशब्दोंका भिन्न अर्थ होनेके कारण वे भिन्नार्थक क्यों नहीं होंगे, इसपर कहते हैं—'द्वैत०' इत्यादिसे।

शान्तमेकमनाद्यन्तमिदमच्छमनामयम् ।
व्यवहारवतोऽप्यङ्ग ज्ञस्य मौनं शिलाघनम् ॥ २२ ॥

निर्वाणमेवमखिलं नभ एव दृश्यं
त्वं चाहमद्रिनिचयाश्च सुरासुराश्च ।
तादृग्जगत्समवलोकय यादृगङ्ग
स्वप्नेऽथ जन्तुमनसि व्यवहारजालम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादनं नाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥



भद्र, जिस व्यवहारदशामें द्वैत और एकत्व विद्यमान है, उस दशामें भी सर्ग और ब्रह्मशब्दके अर्थ तो तनिक भी नहीं भासते, क्योंकि इसपर प्रश्न यह होगा कि क्या द्वैतात्मक द्रष्टाको वे अर्थ भासते हैं, या अद्वैतात्मक द्रष्टाको ? प्रथमपक्ष तो अयुक्त है, क्योंकि अज्ञानी द्वैतात्मक द्रष्टाको वे किसी हालतमें भी नहीं दीख पड़ेंगे। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पक्षमें अद्वैतात्मक वस्तुको वे किसकी तरह दीख पड़ेंगे, कौन किस स्वभावके मालूम पड़ेंगे, यह कहना होगा, परन्तु यह कह नहीं सकते, क्योंकि अद्वैतस्थितिमें भान और भासित होनेवालेमें कोई भेद नहीं कहा जा सकता ॥ २१ ॥

अतएव तत्त्ववेत्ताओंके लिए व्यवहारकालमें भी वह वैसा ही रहता है, यह कहते हैं—'शान्त०' इत्यादिसे।

हे प्रिय श्रीरामजी, व्यवहार कर रहे ज्ञानीके लिए भी यह सब कुछ शान्त, एक, आदि-अन्तरहित, स्वच्छ, निर्विकार, शिलाके सदृश अतिघन, मौन ब्रह्मरूप ही रहता है, तनिक भी उससे पृथक् या भिन्न नहीं रहता ॥ २२ ॥

वर्णित पाषाणाख्यायिकाका जो तात्पर्य है, उसका उपसंहार करते हैं—'निर्वाण०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, यह समस्त दृश्य निर्वाणरूप एवं चिदाकाशरूप ही है। आप, हम, पर्वत, सुर, असुर आदि भी तद्रूप ही हैं। भद्र, जगत् भी आप

एकोनषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं नभःकोशकुटीकोटरतो मुने ।
तव ध्यानात्प्रबुद्धस्य वृत्तं वर्षशतेन किम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

ततो ध्यानात्प्रबुद्धोऽहं श्रुतवांस्तत्र निःस्वनम् ।
मृदु व्यक्तपदं हृद्यं न च वाच्यानुगो यतः ॥ २ ॥
स्त्रीस्वभावादिव मृदु मधुरं वा निनादि वा ।
स्वल्पाङ्गस्वादनिर्ह्रादि मया तद्वाक्यमूहितम् ॥ ३ ॥

वैसा ही आत्मरूप समझिए, जैसा जागनेके बाद जन्तुके मनमें स्वप्नमें देखा गया व्यवहार, स्मृतिमें आनेपर भी, आत्मरूप है ॥ २३ ॥

उनसठवाँ सर्ग

[उक्त एकान्तशून्य प्रदेशमें समाधि टूट जानेपर वसिष्ठजीको सूक्ष्म ध्वनिका श्रवण और ध्वनिश्रवणके कारणकी अन्वेषणाके लिए ध्यान करनेपर अनन्तकोटि जगत्‌का ज्ञान होना—यह वर्णन]

इस तरह पिछलेके दो सर्गोंसे प्रासङ्गिक प्रश्नविषयका निरूपण हो जानेपर अब श्रीरामजी आख्यायिकाका अवशिष्ट भाग सुननेके लिए पूछते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे मुने, उस आकाशकोशकी कुटियासे सौ वर्षके बाद आपका ध्यान टूट जानेके अनन्तर कौन-सी जानने लायक बात हुई, यह मुझसे कहिए ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, उस ध्यानसे जब मैं जग गया, तब मैंने वहाँ एक ध्वनि सुनी, वह अत्यन्त लुभावनी थी, उसके शब्द अत्यन्त विस्पष्ट नहीं थे, क्योंकि उसमें न तो कोई पदार्थप्रतिपादनकी सामर्थ्य थी और न वाक्यार्थ-प्रतिपादनकी ही सामर्थ्य थी ॥ २ ॥

किसी स्त्रीके कण्ठसे उत्पत्तिजनित स्वभावविशेषसे मानो यह ध्वनि मृदु,

इन्दिन्दिररुताकारं तन्त्रीरणितरञ्जनम् ।
न रोदनं च पठनं बिसकोशसमस्वनम् ॥ ४ ॥
तदाकर्ण्याऽऽशु तत्रेदमहं चिन्तितवानथ ।
शाब्दिकान्वीक्षणात्पश्यन् दिशो दश सविस्मयः ॥ ५ ॥
व्योम्नोऽयं सिद्धसञ्चारमार्गशून्यान्यनन्तरम् ।
भागो योजनलक्षाणि समतिक्रम्य संस्थितः ॥ ६ ॥
तदिहेदृग्विधस्य स्यात्कुतः शब्दस्य सम्भवः ।
शाब्दिकं न च पश्यामि यत्नेनापि विलोकयन् ॥ ७ ॥
अनन्तमिदमाशून्यं पुरो मे निर्मलं नभः ।
इह भूतं प्रयत्नेन प्रेक्ष्यमाणं न दृश्यते ॥ ८ ॥

मधुर और अनुरणनशील प्रतीत हो रही है, ऊँची भी नहीं है, अतएव वह कहीं दूरसे नहीं सुनाई देती अर्थात् पासकी ही है, यों उस ध्वनिके विषयमें मैंने अनुमान किया ॥ ३ ॥

भद्र, वह भ्रमरकी ध्वनिके सदृश थी, वीणाके झंकारके सदृश मनुष्यको लुभावनेवाली थी। वह शब्द न तो कोई बालकका रुदन था और न कोई प्रौढ़व्यक्तिका पठन ही था। हां, कमलके बिसकोशमें प्रसिद्ध भ्रमरोंके गुञ्जनके सदृश वह अवश्य था ॥ ४ ॥

उसे सुनकर वहां मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ। उक्त शब्दकर्ताके अन्वेषणके निमित्तसे मैंने दसों दिशाएँ देख डालीं बादमें मैं यह सोचने लगा—॥ ५ ॥

जिन मार्गोंमें सिद्ध पुरुष ही संचरण कर सकते हैं, उनसे भी शून्य जो लाखों योजन दूर हैं, उनको भी लांघकर यह आकाशका ऊर्ध्वतम भाग स्थित है ॥ ६ ॥

इसलिए इस एकान्तस्थानमें स्त्रीवाक्यके सदृश ऐसे शब्दका संभव कैसे होगा और बड़े यत्नसे देखता हूँ, तो भी मैं शब्द करनेवालेको नहीं देख पाता ॥ ७ ॥

मेरे सामने विद्यमान यह जो निर्मल आकाश है, वह तो असीम और चारों ओरसे शून्यरूप ही है। बड़े यत्नसे मैं देख रहा हूँ, तो भी कोई प्राणी दिखाई नहीं देता ॥ ८ ॥

यदेति चिन्तयित्वाऽहं भूयोभूयो विलोकयन् ।
शब्देश्वरं न पश्यामि तदा चिन्तितवानिदम् ॥ ९ ॥
आकाश एव भूत्वाऽहमाकाशेनैकतां गतः ।
आकाशगुणशब्दार्थान् करोम्याकाशकोशके ॥ १० ॥
देहाकाशमिह स्थाप्य ध्यानेनेह यथास्थितम् ।
चिदाकाशवपुर्व्योम्ना याम्यैक्यं वारिवाम्बुना ॥ ११ ॥
चिन्तयित्वेत्यहं त्यक्तुं देहं पद्मासनस्थितः ।
आसं समाधिमाधातुं पुनरामीलितेक्षणः ॥ १२ ॥
त्यक्त्वा बाह्यार्थसंस्पर्शानैन्द्रियानान्तरानपि ।
चित्ताकाशोऽहमभवं संवित्स्पन्दमयात्मकः ॥ १३ ॥
क्रमात्तदपि सन्त्यज्य बुद्धितत्त्वपदं गतः ।
सम्पन्नोऽहं चिदाकाशे जगज्जालैकदर्पणः ॥ १४ ॥

उस तरह विचारकर बार-बार चारों ओर खूब देखा, परन्तु जब शब्द करनेवालेका दर्शन नहीं हुआ, तब इस तरह विचारने लगा—॥ ९ ॥

मैं सबसे पहले उपाधिका परित्यागकर चिदाकाशरूप हो जाऊँ, तदनन्तर चिदाकाशमें अध्यस्त अव्याकृत आकाशके साथ एकरूप बन जाऊँ, फिर अव्याकृत आकाशके कार्य भूताकाशके गुण शब्दों और उनके अर्थोंका उसीमें अनुभव करूँ ॥ १० ॥

अभी मैं ध्यानके प्रभावसे यहांपर यथास्थित देहाकाशको यहीं आकाशमें छोड़कर और चिदाकाशरूपी शरीर धारण कर वैसे अव्याकृत आकाशके साथ एकरूप बन जाता हूँ, जैसे जलबिन्दु साधारण जलके साथ एकरूप बन जाता है ॥ ११ ॥

भद्र, उस तरह विचारकर पद्मासनपर स्थित हुआ और शरीरको छोड़नेके निमित्त समाधि लगानेके लिए मैंने फिर अपनी आँखें मूँद लीं ॥ १२ ॥

अनन्तर इन्द्रियोंके सम्बन्धी बाह्य अर्थोंका स्पर्श तथा अन्तःकरणके विषयोंका स्पर्श त्याग दिया, अधिक क्या कहें, मन्तव्य आदिका भी परित्याग कर दिया, फिर मैं एकमात्र संवित्स्पन्दनरूप चित्ताकाश बन गया ॥ १३ ॥

इसके बाद उनका भी क्रमशः परित्यागकर बुद्धितत्त्वके स्थानमें पहुँच गया,

ततस्तेन स्वभावेन भूतव्योमैकतामहम् ।
सम्प्रयातोऽम्बुनैवाम्बु सौरभं सौरभेन वा ॥ १५ ॥
सम्पन्नोऽथ महाकाशं व्याप्यानन्तोऽथ सर्वगः ।
अनाकारोऽप्यनाधारः सर्वार्थाधारतां गतः ॥ १६ ॥
अहं त्रैलोक्यवृन्दानि संसाराणां शतानि च ।
तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि पश्याम्यगणितान्यपि ॥ १७ ॥
परस्परमदृष्टानि मिथः खान्यमलानि च ।
नानाचारविचाराणि शून्यान्येव परस्परम् ॥ १८ ॥
स्वप्नरूपाणि सुप्तानां तुल्यकालं नृणामिव ।
महारम्भानुसृष्टानि शून्यानि च परस्परम् ॥ १९ ॥

फिर उसका भी त्यागकर चिदाकाशरूप वास्तविक स्वरूपमें पहुँच गया और वहाँ पहुँचकर अपनी आत्मामें अध्यस्त समस्त जगत्के प्रतिबिम्बोंका एकदर्पणरूप बन गया ॥ १४ ॥

भद्र, इसके बाद उसी चित्स्वभावसे मैं भूताकाशके साथ एकरूप ऐसे बन गया, जैसे सामान्य जलके साथ समुद्रादिजल या सामान्य सौरभके साथ कमलादि-सौरभ एकरूप बन जाता है ॥ १५ ॥

उस भूताकाशमें भूताकाशके कार्यभूत समस्त सृष्टियोंका अवलोकन करनेके लिए चिदाकाशके साथ अभेदकल्पना कहते हैं—'सम्पन्नोऽथ' इत्यादिसे ।

तदनन्तर मैं चितिरूप महाकाशके साथ अभेदसम्बन्धकी कल्पनाकर असीम और सर्वगामी बन गया । असङ्ग-अद्वयरूप होनेके कारण अनाकार और अनाधार होता हुआ भी सर्वाधारयोग्य भूताकाशके साथ अभिन्नतासे सब पदार्थोंका आधारभूत बन गया ॥ १६ ॥

भूताकाशकी अवस्थाको प्राप्त चिदाकाशमें मैं तीनों लोकोंके झुण्डोंको, सैकड़ों संसारोंको और लाखों अगणित ब्रह्माण्डोंको देखने लगा ॥ १७ ॥

ये सब सर्ग अव्याकृत निर्मल आकाशमात्ररूप थे, इसलिए एक दूसरेकी दृष्टिसे छिपे थे । उनमें अनेक तरहके आचार और अनेक तरहके विचार थे एवं परस्पर वे शून्यरूप थे ॥ १८ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जायमानानि नश्यन्ति वर्द्धमानानि भूरिशः ।
वर्तमानान्यतीतानि भविष्यन्ति च सर्वशः ॥ २० ॥
अनेकचित्रजालानि महाभित्तीनि खानि च ।
मनसैवोग्रराज्यानि कृतानि विविधैर्जनैः ॥ २१ ॥
निरावरणरूपाणि तथैकावरणानि च ।
पञ्चावरणयुक्तानि षडेकावरणानि च ॥ २२ ॥
दशावरणचित्राणि षोडशावरणानि च ।
चतुर्विंशत्यावृतीनि षट्त्रिंशत्खावृतानि च ॥ २३ ॥
शून्यानि भूतपूर्णानि पञ्चभूतमयान्यपि ।
एकपृथ्व्यादिभूतानि चतुःपृथ्व्यादिकानि च ॥ २४ ॥

एक समय सोये हुए पुरुषोंके लिए वे सृष्टियाँ स्वप्नरूप थीं, एककी दृष्टिसे वे बड़े-बड़े समारोहोंसे पूर्ण थीं, तो दूसरेकी दृष्टिसे उत्तरोत्तर विमर्दित थीं अतएव परस्पर शून्य-अशून्यरूप थीं ॥ १९ ॥

उनमें कुछ तो उत्पन्न हो रही थीं, कुछ नष्ट हो रही थीं, कुछ तेजीसे बढ़ रही थीं, कुछ विद्यमान थीं, कुछ अतीत थीं और बहुत-सी भविष्यकालके गर्भमें थीं ॥ २० ॥

श्रीरामजी, उनके विषयमें क्या वर्णन करूँ, कुछ तो अनेक चित्रोंसे शोभित, कुछ बड़ी-बड़ी भित्तियोंसे युक्त, कुछ भित्तियोंसे रहित और कुछ मनुष्यों द्वारा अपने मनसे ही उग्र राजोंसे आक्रान्त बनाई गई थीं ॥ २१ ॥

स्वप्नमें देखी गई सृष्टियोंमें तो ब्रह्माण्डोंके आवरण और उनकी संख्याका कोई नियम ही नहीं है, क्योंकि जिसको जितनी वासना हुई, उसके प्रति उतनी ही सृष्टि कल्पित होती है, इस आशयसे कहते हैं—'निरावरण०' इत्यादि।

कुछ सृष्टियाँ तो आवरणात्मक पदार्थोंसे रहित थीं, तथा कुछ एक आवरणवाली ही थीं। किन्हींमें पाँच आवरण थे, किन्हींमें सात आवरण थे, किन्हींमें दस आवरण थे, किन्हींमें सोलह आवरण थे, किन्हींमें चौबीस आवरण थे, किन्हींमें छत्तीस आवरण थे, कुछ आकाशरूप आवरणसे आवृत थीं* ॥२२,२३॥

कुछ शून्य-आकाशरूप ही थीं, कुछ भूतोंसे भरी थीं, कुछ पाँच भूतरूप

* एक पदार्थवादी आदियोंके मतोंसे कहा गया है।

त्रिःपृथ्व्यादीनि चान्यानि द्विःपृथ्व्यादीन्यथापि च।
तथा सप्तमहाभूतान्येकजातिमयानि च ॥ २५ ॥
त्वादृशानुभवाभोगविरुद्धातिदशानि तु ।
तथा नित्यान्धकाराणि सूर्यादिरहितानि च ॥ २६ ॥
तथा मीलितसर्गाणि एकनाथावृतानि च।
विलक्षणप्रजेशांशविचित्राचारवन्ति च ॥ २७ ॥
तथा निर्वेदशास्त्राणि निःशास्त्राणि तथैव च।
कृमिक्रमसमारम्भदेवादिप्राणिमन्ति च ॥ २८ ॥
जात्या तु पारम्पर्येण संकेताचारवन्ति च।
तथा नित्यप्रकाशानि ज्वलिताग्निमयानि च ॥ २९ ॥

ही थीं, कुछ तो एक-एक पृथ्वी आदि भूतवाली थीं, कुछ पृथ्वी आदि चार भूतोंवाली ही थीं ॥ २४ ॥

किन्हींमें पृथ्वी, जल, तेज—ये तीन ही थे, किन्हींमें कोई और ही भूत थे, किन्हींमें तो पृथ्वी एवं जल—ये दो ही थे, किन्हींमें सात भूत (काल और दिशाको भूत मानकर) थे तथा किन्हींमें एकजातिके ही सब पदार्थ थे ॥ २५ ॥

सिद्ध, विद्याधर आदिकी जो चित्र-विचित्र कल्पनाएँ हैं, उनकी तो मनुष्यकी बुद्धिसे संभावना भी नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'त्वादृशा०' इत्यादि।

भद्र, कुछ तो मैंने ऐसे सूक्ष्म चित्र-विचित्र परिणामवाले भूतोंसे युक्त संसार देखे कि उन परिणामोंकी आप अपने अनुभवके विस्तारसे संभावना भी नहीं कर सकते। कुछ तो निरन्तर अन्धकारसे व्याप्त और सूर्य आदिसे रहित थे ॥२६॥

कुछ सर्ग तो सुषुप्ति और प्रलयोंसे ही भरपूर थे यानी सुषुप्ति-प्रलयमय थे, किन्हींमें केवल हिरण्यगर्भ ही विराजमान थे, और कुछमें प्रजापति और उनके अंशभूत देवताओंका चित्र-विचित्र आचरण देखते ही बनता था ॥ २७ ॥

इसी अर्थका विस्तार करते हैं—'तथा' इत्यादिसे।

किन्हींमें विराग पैदा करनेवाले वेदादि शास्त्र थे और किन्हींमें वेदादि शास्त्र नहीं भी थे तथा किन्हींमें उदुम्बरके कीटके सदृश समारम्भवाले देवता ही प्राणी थे ॥ २८ ॥

कहींपर कलिका आरम्भ हो जानेके कारण वेदादि शास्त्रोंका उच्छेद हो

तथा जलैकपूर्णानि पवनैकमयानि च ।
स्तब्धानि परमाकाशे वहन्ति च तथाऽनिशम् ॥ ३० ॥
जायमानानि पुष्यन्ति परिपुष्टानि चाभ्रितः ।
तिर्यग्गच्छन्ति चान्यानि पूर्णसर्वमयान्यपि ॥ ३१ ॥
देवमात्रैकसर्गाणि नरमात्रमयानि च ।
दैत्यवृन्दमयान्येव कृमिनिर्विवराणि च ॥ ३२ ॥
अन्तरन्तस्तदन्तश्च स्वकोशेऽप्यणुकं प्रति ।
जातानि जायमानानि कदलीदलपीठवत् ॥ ३३ ॥
परस्परमदृष्टानि नानुभूतानि वै मिथः ।
सैनिकस्वप्नजालानि जातानीव महान्त्यपि ॥ ३४ ॥
विविधान्यप्यनन्तानि स्वच्छाकाशात्मकान्यलम् ।
अन्योऽन्यमन्यवृत्तीनि न मिथोऽन्यस्थितीनि च ॥ ३५ ॥

गया था, इसलिए ब्राह्मण आदि जातियाँ अपनी केवल परम्परासे ही कुछ संकेतोंसे अपना आचरण करती थीं। कुछ निरन्तर प्रकाशमय थे और कुछ प्रज्वलित अग्नियोंसे पूर्ण थे ॥ २९ ॥

कुछ सृष्टियाँ केवल जलसे ही भरी थीं, कुछ केवल वायुसे ही भरपूर थीं, कुछ परमाकाशमें निश्चल थीं, कुछ रात-दिन चलती-फिरती थीं ॥ ३० ॥

कुछ उत्पन्न हो रही थीं, कुछ वृद्धि प्राप्त कर रही थीं, कुछ चारों ओरसे खूब पुष्ट हो रही थीं, कुछ टेढ़ी जा रही थीं और कुछ अन्य परिपूर्ण भोग्य पदार्थोंसे भरी थीं ॥ ३१ ॥

किन्हींमें केवल देवताओंकी ही सृष्टि थी, किन्हींमें अधिक केवल मनुष्य ही थे, किन्हींमें अधिकता दैत्योंके समूहोंकी थी और कुछ तो कीटोंसे ही नीरन्ध्र थीं ॥ ३२ ॥

कहींपर कदलीस्तम्भके दलके सदृश प्रत्येक परमाणुके भीतर, उसके भीतरके भी भीतर कल्पित अपने कोशमें अनेक जगत् उत्पन्न हो रहे थे, और कुछ उत्पन्न भी हो चुके थे ॥ ३३ ॥

सैनिकोंके स्वप्नोंके सदृश उत्पन्न हुए बड़े भी कुछ सर्ग एक दूसरेसे छिपे थे और किन्हींका परस्पर अनुभव भी नहीं हो रहा था ॥ ३४ ॥

कुछ तो भिन्न-भिन्न तरहकी सृष्टियाँ थीं, कुछ असीम थीं, कुछ स्वच्छ

मिथश्चान्यान्यशास्त्राणि मिथोऽनन्तानि यानि च ।
अन्योन्यसन्निवेशानि मिथोऽन्योन्यानि यानि च ॥ ३६ ॥
अन्योन्यं परलोकानि मिथः सिद्धपुराणि च ।
अन्यादृशमहाभूतान्यन्यादृग्दिग्गिरीणि च ॥ ३७ ॥
त्वादृशानुभवेहानामगम्यान्यागतानि च ।
असमञ्जसरूपाणि कथ्यमानानि मादृशैः ॥ ३८ ॥
अणुवत्सेव्यमाणानि चिदादित्यांशुमण्डले ।
परमार्थश्रियो व्योम्नि रश्मिजालानि कुण्डले ॥ ३९ ॥

आकाशके सदृश निर्मल थीं, किन्हींमें भिन्न-भिन्न क्रिया-कर्म थे और कुछ विषम स्थितिवाली थीं ॥ ३५ ॥

कुछ सर्ग ऐसे थे, जिनमें दूसरेसे मेल न खानेवाले भिन्न-भिन्न शास्त्र थे, कुछ परस्पर अनन्त अवयव एक-से थे, कुछका स्मरण होनेपर एक दूसरे एकरूप ही मालूम होते थे ॥ ३६ ॥

कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी एक दूसरी सृष्टिके लिए परलोक बन जाती थी यानी एकमें मरकर पुरुष दूसरी सृष्टिमें जाता था । कुछ सृष्टियाँ ऐसी थीं, जिनमें एक दूसरी सृष्टिके प्रति दूसरी सृष्टि सिद्ध नगररूप बन जाती थी । किन्हीं सृष्टियोंमें अलग-अलग स्वरूपके महाभूत थे और कहींपर दिशाएँ एवं पर्वत भिन्न-भिन्न रूपके थे ॥ ३७ ॥

इसीलिए अन्य वस्तुका अन्यत्र वर्णन करनेपर अपरिनिष्ठित बुद्धिवालोंकी दृष्टिमें ये अगम्यताके कारण असमञ्जसरूप भासते हैं, यह कहते हैं—'त्वादृशा०' इत्यादिसे ।

आपके-जैसे पुरुषोंके अनुभव और प्रयत्नके अविषय जो पदार्थ हैं, वे यदि सामने आ जायँ और मेरे-जैसे पुरुष उनका वर्णन करें, तो भी उनका स्वरूप असमञ्जस ही लगेगा, यानी उनके स्वरूपका ज्ञान अननुभवी पुरुषको हो ही नहीं सकता, ऐसे भी पदार्थ कहींपर थे ॥ ३८ ॥

तब तो ऐसे पदार्थ आपके सदृश पुरुषोंके उपदेशसे ज्ञात हो जायँगे, इसपर कहते हैं—'अणुवत्' इत्यादिसे ।

भद्र, चैतन्यरूपी सूर्यके किरणमण्डलमें परमाणुओंके सदृश अत्यन्त सूक्ष्मरूप

कानिचित्तानि तान्येव भूत्वा भूत्वा भवन्त्यलम् ।
कानिचित्तादृशान्येव जातानि वनपर्णवत् ॥ ४० ॥

अन्योन्यत्वाच्च सदृशान्यन्यानि सदृशान्यपि ।
कञ्चित्कालं सुसदृशान्यन्यान्येव च कानिचित् ॥ ४१ ॥

फलानि तान्यनन्तानि परमार्थमहातरोः ।
अनन्यान्येव चान्यानि तन्मयान्येव वै ततः ॥ ४२ ॥

कानिचित्स्वल्पकल्पानि दीर्घकल्पानि कानिचित् ।
अन्यान्यनियतं भूरि नियतं भूरि कानिचित् ॥ ४३ ॥

वाले कहींपर सर्ग प्रसिद्धिको प्राप्त किये हुए थे * तथा कहींपर तो मोक्षलक्ष्मीके कुण्डलरूप अव्याकृत आकाश और भूताकाशमें चित्र-विचित्र रत्नरश्मिजालकी अधिकतासे चमकीले सर्ग थे, इसलिए उपदेशसे भी उनका ज्ञान होना कठिन ही समझिए ॥ ३९ ॥

कुछ सर्ग तो ऐसे देखे कि वनके पत्तोंके सदृश वे ही फिर तद्रूप उत्पन्न हो होकर नष्ट होते जाते थे और फिर उत्पन्न होते जाते थे एवं कुछ उन्हींके सदृश ही उत्पन्न होते थे ॥ ४० ॥

भद्र, कुछ सर्ग ऐसे थे कि एक ही चितिमें सबका अध्यास होनेके कारण पृथक् अस्तित्व न रखनेसे सदृश होते हुए भी असदृश ही थे और सदृश भी होते हुए कुछ समयतक अत्यन्त सदृश एवं कुछ कालके लिए अत्यन्त विसदृश भी रहते थे ॥ ४१ ॥

अथवा वृक्ष और फलके सदृश उनमें भेद और अभेदकी कल्पना है, यह कहते हैं—'फलानि' इत्यादिसे ।

परमार्थ चैतन्यरूप महावृक्षके वे अनन्त फल थे, वे अनन्य ही होते हुए भी उससे भिन्न-से थे ॥ ४२ ॥

किन्हीं सर्गोंमें स्वल्प ही कल्पका काल था, तो किन्हीं सर्गोंमें बड़ा लम्बा कल्पका काल था, दूसरे बहुतोंमें तो नियम ही न था यानी देश, काल,

---

* कहींपर 'शेष्यमानानि' यह भी पाठ मिलता है, उसका 'परिशेषरूपताको प्राप्त किये हुए थे'—यह अर्थ होगा ।

अन्यान्यज्ञातकालानि यदृच्छावशतः स्वयम् ।
जायमानानि पुष्टानि सुस्थिराणि स्थितानि च ॥ ४४ ॥
तानि शून्यत्वजालानि परमाकाशकोशके ।
अपरिज्ञातकालानि रूढान्यज्ञातदोषके ॥ ४५ ॥
अब्ध्यर्काकाशमेर्वादिशतैराकलितान्यलम् ।
चिच्चमत्कारखे स्वप्नजालान्याभान्ति चाऽऽविलम् ॥ ४६ ॥
अनुभूतेर्भ्रमात्मत्वात्कारणानामभावतः ।
पृथ्व्यादीनामहेतूनामत्यन्तं सन्त्यसन्ति च ॥ ४७ ॥
मृगतृष्णाम्बुभरवद्द्विचन्द्रव्योमवर्णवत् ।
सम्पन्नानि न सत्यानि सत्यान्यप्यनुभूतितः ॥ ४८ ॥

वस्तु आदिके स्वभावका नियम ही नहीं था और दूसरे बहुतोंमें उनका नियम था भी ॥ ४३ ॥

सूर्यका अभाव होनेसे किन्हींमें कालज्ञान ही न हो पाता था, कुछ तो काकतालीय न्यायसे अकस्मात् ही स्वयं उत्पन्न, पुष्ट और सुदृढ़ स्थिति बनाकर स्थित थे ॥ ४४ ॥

वे क्या सत्य हैं, इस प्रश्नका 'नहीं' उत्तर देते हैं—'तानि' इत्यादिसे। परमचिदाकाशके कोशमें वे शून्यरूप ही हैं, सत्यरूप नहीं। वे कबसे उत्पन्न हैं, यह उनके विषयमें नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि वे अज्ञानरूप दोषसे युक्त प्रत्यगात्मामें अनादिकालसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ४५ ॥

चितिके चमत्काररूप आकाशमें यानी चिदाकाशमें सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश, मेरु आदि पदार्थोंसे भलीभाँति आक्रान्त स्वप्नजालके सदृश रजोगुण एवं तमोगुणसे कलुषित होकर वे अनेक जगत् भासित हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

वास्तवमें कारणोंके अभावसे कारणरहित पृथ्वी आदिका अनुभव तो भ्रमात्मक है, इसलिए ब्रह्मरूप अधिष्ठानकी सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान हैं, उसे न लेकर वे अपने स्वरूपसे तो नहीं ही हैं ॥ ४७ ॥

मृगतृष्णाजलके प्रवाहके सदृश अथवा दो चन्द्रयुक्त आकाशके वर्णके सदृश ये जगत् भ्रमरूप अनुभवसे ही उत्पन्न हुए हैं, अतः वे सत्यरूप अधिष्ठान-की सत्तासे सत्यरूप हैं, अपने स्वरूपसे वे सत्यरूप नहीं हैं ॥ ४८ ॥

चित्सङ्कल्पनभस्येव भासमानानि भूरिशः ।
वासनावाततुन्नानि विलुठन्त्यात्मचेष्टितैः ॥ ४९ ॥

सुरासुरादिमशका बहुशोदुम्बरद्रुमे ।
फलानि रसपूर्णानि घूर्णमानानि मारुतैः ॥ ५० ॥

अभिजातस्वभावस्य सर्गारम्भकरस्य च ।
शुद्धचित्तत्त्वबालस्य सङ्कल्पनगराणि खे ॥ ५१ ॥

त्वमहं स इदं चेति धिया बलदृढान्यलम् ।
सम्पन्नान्यर्कदीप्त्येव पङ्कक्रीडनकानि च ॥ ५२ ॥

वृत्तानि रसशालिन्या नियत्या नित्यतृप्तया ।
वनान्युग्रफलानीव वसन्तरसलेखया ॥ ५३ ॥

चितिके सङ्कल्परूप आकाशमें ही ऐसे-ऐसे असंख्य जगत् भासित हो रहे हैं, वे सबके सब वासनारूपी वायुसे उड़ाये जा रहे अपनी चेष्टाओंसे विलुण्ठित हो रहे हैं—इधर-उधर लुढ़क रहे हैं ॥ ४९ ॥

परब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्षके अन्दर असंख्य देव, दानव आदि तो मच्छड़ हैं, और वे ब्रह्माण्ड पवनोंसे झूम रहे, भोगादि विचित्र रसोंसे परिपूर्ण उसके फल हैं अर्थात् ब्रह्मरूपी उदुम्बरवृक्षके ब्रह्माण्डरूपी फलके भीतर ये देव, दानव आदिरूप अनेक मच्छड़ विद्यमान हैं ॥ ५० ॥

चिदाकाशमें ये सब जगत् सुन्दर स्वभाववाले तथा सृष्टिरूप खेलवाड़ करनेवाले विशुद्ध चितितत्त्वरूप बालकके सङ्कल्पनगर हैं ॥ ५१ ॥

ये जगत् सङ्कल्पनगर हैं, इस बातको दृढ़ करनेमें कौन-सा हेतु है, इसे बतलाते हैं—'त्वमहम्' इत्यादिसे ।

वे सब जगत् 'तुम', 'मैं', 'यह' आदि अभिमानबुद्धिबलसे, सूर्यके दीप्तिबलसे मिट्टीके खिलौनोंके सदृश, अत्यन्त दृढ़ बनाये गये हैं ॥ ५२ ॥

निरन्तर तृप्तिसे भरी हुई तथा रागरूपी रससे परिपूर्ण कर्मोंके फलोंको अवश्य प्रदान करनेवाली नियतिने उनकी शाखोपशाखा द्वारा ऐसे वृद्धि की है, जैसे वसन्त ऋतुकी रसरेखा बड़े-बड़े फल लगनेवाले वनोंकी शाखोपशाखा द्वारा वृद्धि करती है ॥ ५३ ॥

महाकर्तृण्यकर्तृणि न कृतान्येव खानि वा ।
स्वयं सम्पन्नरूपाणि चिद्व्योम्न्येव कृतानि वा ॥ ५४ ॥
परमार्थमयान्येव तदन्यद्वोदितान्यपि ।
अलब्धान्येव लब्धानि सदाऽसन्त्येव सन्ति च ॥ ५५ ॥
चतुर्दशदशैकादिविधभूतगणानि च ।
पुनस्तान्येव तान्यन्तरन्यान्यन्यान्यथो बहिः ॥ ५६ ॥
नरकस्वर्गपातालबन्धुमित्रमयान्यपि ।
महारम्भमयान्येव शून्यानि परमार्थतः ॥ ५७ ॥
क्षीराम्बुधेर्जलानीव स्नेहसाराणि सर्वतः ।
तरङ्गभङ्गुराण्यन्तर्बहिश्चावृत्तिमन्ति च ॥ ५८ ॥

सृष्टिको बतलानेवाली श्रुतिकी दृष्टिसे तो उन सबका कर्ता ब्रह्म ही है और 'अपूर्वमनपरम्' इत्यादि श्रुतियोंकी दृष्टिसे उनका कर्ता ब्रह्म नहीं भी है। वास्तवमें तो वे किसीके निर्मित हैं ही नहीं, किन्तु आकाशरूप (शून्यरूप) ही हैं। यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है, तो भी महाचितिरूप आकाशमें स्वयं ही अपने रूपको धारण कर वे स्थित हैं, परन्तु किसीके द्वारा सम्पादित भी प्रतीत होते हैं ॥ ५४ ॥

वस्तुतः ये जगत् परमार्थचिद्रूप ही हैं, फिर भी अन्यसे उत्पन्न मालूम पड़ते हैं, वस्तुतः अप्राप्त ही हैं, फिर भी प्राप्त-से प्रतीत होते हैं, सदा असद्रूप ही हैं, फिर भी सद्रूपसे भासते हैं ॥ ५५ ॥

भुवनोंकी संख्यासे चौदह, केवल देवयोनियोंकी संख्यासे दश, मनुष्य आदि एक-एक जातिको लेकर एक, यों भिन्न-भिन्न तरहके भूतसमूहोंसे युक्त वे अनेक होते हुए भी जगत् फिर एक ही रूपके हैं, किन्तु दूसरे ही लगते भीतर और बाहर उत्पन्न होते-रहते हैं ॥ ५६ ॥

यद्यपि ये सब जगत् नरक, स्वर्ग, पाताल, बान्धव और मित्ररूप बड़े-बड़े समारोहोंसे आक्रान्त हैं, फिर भी परमार्थदृष्टिसे शून्यरूप ही हैं ॥ ५७ ॥

ये सब क्षीरसागरके जलके सदृश चारों ओर स्नेह (प्रीति) रूपसारसे पूर्ण, तरङ्गोंके सदृश भङ्गुर तथा भीतर और बाहरसे परिवर्तनशील हैं ॥ ५८ ॥

आभासमात्ररूपाणि तेजस्यात्मविवस्वतः ।
जातानीव स्वतस्तानि स्पन्दनानि नभस्वतः ॥ ५९ ॥
वृक्षरूपाणि पत्राणां बुद्ध्यहङ्कारचेतसाम् ।
असतामप्यसन्त्येव स्वप्ने न्यस्तनृणामिव ॥ ६० ॥
पुराणवेदसिद्धान्तकल्पनातल्पपालिषु ।
घननिद्राणि सुप्तानि बिभ्रन्ति शवतामिव ॥ ६१ ॥
परमार्थमहारण्ये चिद्गन्धर्वकृतानि वै ।
सूर्यदीपकदीप्तानि गृहाणि गहनात्मनि ॥ ६२ ॥
प्रजायमानानि नभस्यनन्ते
विशीर्यमाणानि च निर्निमित्तम् ।
तदा त्वहं वै तिमिराक्षदृष्ट-
केशोण्डुकानीव जगन्त्यपश्यम् ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥५९॥

आत्मारूपी सूर्यके तेजके अन्दर वे केवल आभासरूप हैं और वायुसे स्पन्दनकी तरह वे सब स्वतः उत्पन्न हुए हैं ॥ ५९ ॥

ये जगत् बुद्धि, अहङ्कार और चित्तरूपी पत्तोंके लिए एक तरहसे पेड़ ही हैं। तथा जैसे स्वप्नमें निरन्तर अस्त स्वभिन्न मनुष्योंके दृश्य असत्य हैं, वैसे ही स्वभिन्नरूपसे देखनेवालोंको भी साधारणरूप होनेके कारण वे असत्यरूप ही हैं ॥ ६० ॥

पुराण, वेदके सिद्धान्तरूप कल्पनाओंके स्वप्नोंमें दृढ़विश्वासरूपी गाढ निद्रा लेकर सोये हुए ये जगत् तत्त्वज्ञानका अत्यन्त ही अभाव होनेके कारण मानो मृतकोंका स्वरूप धारण किये हुए हैं ॥ ६१ ॥

भद्र, परमार्थभूत ब्रह्मरूपी महान् जङ्गलमें मायोपहित चितिरूप गन्धर्वके द्वारा बनाये गये तथा सूर्यरूपी दीपकोंसे प्रकाशित वे जगत्-रूपी घर महान् गहन हैं यानी उनका असली स्वरूप जानना बड़ा ही कठिन है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने उस समयकी समाधिमें अनन्त चिदाकाशमें किसी

षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततोऽहमभितो भ्रान्तस्तादृशं प्रविचारयन् ।
बहुकालमसंरुद्धसंविदाकाशतां गतः ॥ १ ॥
शब्दं पश्चात्तमश्रौषमहं वीणास्वनोपमम् ।
क्रमात्स्फुटपदं जातं तत आर्यात्वमागतम् ॥ २ ॥
शब्ददेशपतद्दृष्टिर्दृष्टवान्वनितामहम् ।
पार्श्वे कनकनिस्पन्दप्रभया भासिताम्बराम् ॥ ३ ॥
आलोलमाल्यवसनामलकाकुललोचनाम् ।
लोलद्धम्मिल्लवलनामन्यां श्रियमिवागताम् ॥ ४ ॥

कारणके बिना उत्पन्न हुए तथा किसी कारणके बिना ही जीर्ण-शीर्ण हो जानेवाले अनन्त जगत्, जो तिमिर रोगयुक्त आँखोंसे दिखाई पड़नेवाले केशोण्डूकके सदृश भ्रान्तिमात्रसे सिद्ध थे, देखे ॥ ६३ ॥

उनसठवाँ सर्ग समाप्त

साठवाँ सर्ग

[वसिष्ठजीको समाधिमें शब्द करनेवाली स्त्रीका अवलोकन तथा उसकी उपेक्षा करनेपर फिर अनेक विचित्र जगत्का दर्शन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, इतने असंख्य संसार देखनेके बाद मैंने शब्दके कारणको ढूँढ़ता-ढूँढ़ता चारों ओर बहुत कालतक खूब भ्रमण किया। तदनन्तर मैं आवरणरहित संविदाकाशरूप बन गया ॥ १ ॥

जब मैं उक्त आकाशरूप बन गया, तब मैंने वीणाके शब्दके सदृश शब्द सुना, क्रमशः उसके पद भी स्फुट हो गये, फिर मुझे यह भी मालूम होने लगा कि ये शब्द आर्या छन्दके हैं ॥ २ ॥

अनन्तर मेरी योगदृष्टि पासमें ही, जहाँसे शब्द हो रहा था, उस देशमें पड़ गई । मैंने वहाँ एक स्त्री देखी, उसने अपनी कनक-जैसी स्पन्दनशील प्रभासे चारों ओरके आकाशमण्डलको प्रकाशित कर दिया था ॥ ३ ॥

उसके गलेकी माला और पहिने हुए वस्त्र खूब फरफरा रहे थे, उसके

कान्तकाश्चनगौराङ्गीं मार्गस्थनवयौवनाम् ।
वनदेवीमिवामोदिसर्वावयवसुन्दरीम् ॥ ५ ॥
सा पूर्णचन्द्रवदना पुष्पप्रकरहासिनी ।
यौवनोद्दामवदना पक्ष्मलक्षणशालिनी ॥ ६ ॥
आकाशकोशसदना शशाङ्ककरसुन्दरी ।
मुक्ताकलापरचना कान्ता मदनुसारिणी ॥ ७ ॥
स्वरेण मधुरेणैवमार्यामार्यविलासिनी ।
पपाठाकठिनं वामा मत्पार्श्वे मृदुहासिनी ॥ ८ ॥
असदुचितरिक्तचेतन-
संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम् ।
अवलम्बनतटविटपिन-
मभिनौमि भवन्तमेव मुने ॥ ९ ॥

लोचन कानोंके केशोंको भी व्याकुल किये थे उसके माथेकी वेणी बड़ी ही चञ्चल थी, मालूम ऐसा होता था, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही आई हुई हैं ॥ ४ ॥

उसके अङ्ग कमनीय सुवर्णके सदृश गौरवर्णके थे, मार्गस्थ पथिकके सदृश उसका नवीन यौवन धीरे-धीरे जा रहा था, वनदेवीके सदृश चारों ओर सुगन्ध भर देनेवाले सम्पूर्ण नखशिखान्त अवयवोंके कारण वह बड़ी ही आंखोंको सुन्दर लग रही थी ॥ ५ ॥

उसका मुख तो पूर्णचन्द्रके सदृश था, उसका हास्य फूलके ढेर-सा लुभावना था, यौवनके कारण उसका आनन कुछ उद्दण्ड-सा लगता था, बरौनीके उत्तम लक्षणोंसे (चिह्नोंसे) उसकी शोभा देखते ही बनती थी ॥ ६ ॥

आकाशका कोश ही उसके रहनेका घर था, वह सुन्दर तो इतनी थी कि जितनी शशाङ्क—चन्द्रमाकी किरणें । उसने मोतियोंका बनाया गया अर्धचन्द्राकार हार पहना था और उसकी चेष्टा मेरी ओर आनेकी मालूम होती थी ॥ ७ ॥

भद्र, उस वामाने मेरे पासमें आकर अत्यन्त मधुर स्वरसे मृदु एक आर्या पढ़ी, उस स्त्रीका विलास आर्योंके जैसा ही था, उस समय उसके मुखमें कोमल हास्य निखर रहा था ॥ ८ ॥

उसी आर्या छन्दको बतलाते हैं—'असदु०' इत्यादिसे ।

इत्याकर्ण्याहमालोक्य तां चारुवदनस्वनाम् ।
ललनेयं किमनयेत्यनादृत्यैव तां गतः ॥ १० ॥
ततो जगद्-वृन्दमयीं मायां संप्रेक्ष्य विस्मितः ।
अनादृत्यैव तां व्योम्नि विहर्तुमहमुद्यतः ॥ ११ ॥
ततस्तां तत्कृतां चिन्तामलमुत्सृज्य खे स्थिताम् ।
जगन्मायां कलयितुं व्योमात्माऽहं प्रवृत्तवान् ॥ १२ ॥
यावत्तानि तथोग्राणि जगन्ति सकलानि खम् ।
शून्यमेव यथा स्वप्ने सङ्कल्पे कथने तथा ॥ १३ ॥
न पश्यन्ति न शृण्वन्ति कदाचित्कानिचित्क्वचित् ।
तानि कल्पमहाकल्पमहाजन्मैकतान्यथ ॥ १४ ॥

'हे मुने, खल पुरुषोंके लिए ही अपनी योग्यता रखनेवाले काम, क्रोध आदि जितने दोष हैं, उनसे आपका अन्तःकरण सर्वथा अलिप्त है, आप संसार-रूपी नदीमें डूब जानेवाले जीवोंके लिए तीरस्थ आश्रयरूप वृक्ष हैं, अतः मैं आपको ही चारों ओरसे प्रणाम करती हूँ' ॥ ९ ॥

वह सुनकर आपने क्या किया, इस प्रश्नपर कहते हैं—'इत्या०' इत्यादिसे।

भद्र, यह सुनकर और उस सुन्दरमुखी एवं मधुरशब्दवाली रमणीको देखकर मैंने सोचा—यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। यों उसके प्रति उपेक्षाकर वहाँसे मैं आगे बढ़ा ॥ १० ॥

उसके बाद मैंने असंख्य जगत्से युक्त माया देखी, उसे देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, उसका भी अनादर ही कर आकाशमण्डलमें विहार करनेके लिए मैं उद्यत हो गया ॥ ११ ॥

तदनन्तर मायाजनित उस चिन्ताको छोड़कर शून्यस्वभाव आकाशमें स्थित जगन्मायाको चिदाकाशरूप होकर जाननेके लिए मैंने ज्योंही प्रवृत्ति की, त्योंही वे सब जगत् उस तरह शून्यरूप हो गये, जिस तरह स्वप्न, मनोराज्य और कथार्थप्रकाशनमें जगत् शून्यरूप हो जाते हैं ॥ १२,१३ ॥

भद्र, यतः ये सब शून्यरूप हैं, इसलिए परमार्थदशामें ये कोई जगत् कहीं किसी समय न तो देखते हैं और न सुनते ही हैं। अतएव वे सब कल्प, महाकल्प और सर्गमें एकरूप ही हैं यानी उन सब सृष्टियोंकी उन कल्पादिमें समानरूपता ही है ॥ १४ ॥

प्रमत्तपुष्करावर्तानुन्मत्तोत्पातमारुतान् ।
स्फुटिताद्रीन्द्रढाकारघटितब्रह्ममण्डपान् ॥ १५ ॥
ज्वलत्कल्पाग्निविस्फोटचटदैडविडारपदान् ।
प्रतपद्द्वादशाकारकन्दुमार्तण्डमण्डलान् ॥ १६ ॥
लुठत्सुरपुरव्रातविततास्क्रन्दघर्घरान् ।
रणत्सर्वाद्रिकटकश्रेणीनिगिरणोद्भटान् ॥ १७ ॥
कल्पाग्निज्वलनोल्लासपठत्पटपटारवान् ।
आत्मभ्रंशबृहत्क्षोभक्षुब्धाम्बरमहार्णवान् ॥ १८ ॥
देवासुरनरागारघर्घराक्रन्दकर्कशान् ।
सप्तार्णवमहापूरपूरितार्केन्दुमण्डलान् ॥ १९ ॥

भद्र, जिनमें उन्मत्त पुष्करावर्त नामके प्रलयकारी मेघ बरसते हैं, उन्मत्त उत्पातकारी वायु बहती है तथा तोड़े गये बड़े-बड़े पर्वतोंके भयङ्कर शब्दोंसे ब्रह्माण्डमण्डपको जिन्होंने व्याप्त कर दिया है, ऐसे तत्-तत् जगत्के अन्दर प्रवृत्त हुए भी कल्पान्तोंको, ये जगत् परस्पर नहीं जान पाते ॥ १५ ॥

धधक रही प्रलयाग्निके विस्फोटोंसे कुबेरके भवन जिनमें चट-चट शब्द कर रहे हैं, जिनमें आकारमें गेंदके सदृश बारह आदित्य मण्डल आकाशमें चक्कर काटते रहते हैं, ऐसे कल्पान्तोंको वे परस्पर नहीं देख पाते ॥ १६ ॥

इधर-उधर लुढकते हुए देवनगरोंके समूहोंके व्यापक क्रन्दनोंके कारण घर्घर शब्द कर रहे समस्त पर्वतोंकी नितम्बश्रेणियोंको निगल जानेमें अतिउद्भट कल्पान्त कालोंको वे जगत् परस्पर नहीं जानते ॥ १७ ॥

प्रलयकालकी भयङ्कर अग्निकी ज्वालाओंके विलासोंसे विस्पष्टरूपसे पट-पट शब्द कर रहे तथा आत्माके असली स्वभावके ध्वंससे (अज्ञानसे) उत्पन्न बड़े क्षोभोंके सदृश जलचरोंके क्षोभसे क्षुब्ध हुए आकाशरूपी महासमुद्रसे युक्त कल्पान्तोंको वे परस्पर नहीं जानते ॥ १८ ॥

देवता, दानव और मनुष्योंके घरोंके घर्घर क्रन्दनध्वनियोंसे, जो अतिकर्कश हैं तथा द्युलोक तक सात समुद्रोंको बढ़ाकर उनकी महाबाढसे जो सूर्य एवं चन्द्रके मण्डलोंको भी जलसे भर देते हैं, उन कल्पान्तोंको वे जगत् परस्पर नहीं देखते ॥ १९ ॥

न विचेतन्ति कल्पान्तान् सर्वाण्येव परस्परम् ।
एकमन्दिरसंसुप्ताः स्वप्ने रणरयानिव ॥ २० ॥
तत्र रुद्रसहस्राणि ब्रह्मकोटिशतानि च ।
दृष्टानि विष्णुलक्षाणि कल्पवृन्दान्यलं मया ॥ २१ ॥
तत्र क्वचिदनादित्ये निरहोरात्रभूतले ।
अकल्पयुगवर्षान्ते जगत्यूहैः क्षयोदयः ॥ २२ ॥
चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित् ।
चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतद्दृष्टं तत्र मयाऽखिलम् ॥ २३ ॥
त्वं किञ्चिदिति चेद्वक्षि तत्र किञ्चिदिवाङ्ग चित् ।
सा हि शून्यतमा व्योम्नो न च नाम न किञ्चन ॥ २४ ॥

भद्र, उन वर्णित जगतोंमें एक दूसरेके भीतर इस तरहके कल्पान्तकाल प्रवृत्त हुए रहते हैं, परन्तु वे सभी जगत् एक दूसरेमें प्रवृत्त कल्पान्तोंको उस तरह नहीं जान पाते, जिस तरह एक मकानमें सोये हुए पुरुष स्वप्नमें एक दूसरेके रणशब्दको ॥ २० ॥

इस प्रकार जगत्की प्रासङ्गिक परस्पर शून्यताका वर्णनकर अब प्रस्तुत विषय कहते हैं—'तत्र०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डोंमें मैंने हजारों रुद्र, सैकड़ों करोड़ ब्रह्मा, लाखों विष्णु और असंख्य कल्प देखे ॥ २१ ॥

भद्र, उस तरह अनेक प्रकारके जो ब्रह्माण्ड आपको बतलाये, उनमें जो चितिरूप वस्तु है, उसीमें तर्कोंसे यानी सङ्कल्पोंसे उनका विनाश और उदय मैंने देखा । चिद्वस्तुमें न तो आदित्यमण्डल है, न दिन, रात या भूतल है और न कल्प, युग और वर्षोंकी समाप्ति ही है ॥ २२ ॥

अस्तु, कल्पनासे ही उदय और अस्त है, इससे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—'चिति०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, सब कुछ चेतनमें ही है, सब कुछ चेतनसे ही है, चेतन ही सब कुछ है, चारों ओरसे चेतन ही चेतन है, चेतन ही सत् है, सर्वात्मक भी चेतन ही है—यही मैंने अन्वय-व्यतिरेकसे परीक्षाकर वहाँ देखा ॥ २३ ॥

किस प्रकारके तर्कसे चेतनमें किस तरहका उदय है और किस तरहका क्षय है, इसका उदाहरण देते हैं—'त्वम्' इत्यादिसे ।

तदाकाशमिदं भाति जगदित्यभिशब्दितम् ।
तेनैव शब्दनभसा सर्वं हि परमं नभः ॥ २५ ॥
दृश्यदृष्टिरियं भ्रान्तिराकाशतरुमञ्जरी ।
चिद्व्योमाङ्ग कमैवेति तत्राहमनुभूतवान् ॥ २६ ॥
बुद्ध्याकाशैकरूपेण व्यापिना बोधरूपिणा ।
तत्रानन्तेन सङ्कल्पमनुभूतमिदं मया ॥ २७ ॥
ब्रह्मव्योम जगज्जालं ब्रह्मव्योम दिशो दश ।
ब्रह्मव्योम कलाकालदेशद्रव्यक्रियादिकम् ॥ २८ ॥

हे श्रीरामजी, यदि आप किसी भी दशामें किसी रूपकी कल्पनाकर नामसे यह कहते हैं कि यह घट है, यह पट है, तो उस दशामें आपके द्वारा प्रयुक्त तत्-तत् नामरूपसे युक्त चिति ही हो जाती है, यही उदय है। यही चिति आकाशसे भी शून्यतम जब विवक्षित होती है, तब किसी नाम या रूपसे युक्त नहीं होती—यही उसका विनाश है ॥ २४ ॥

किञ्च, यह सारा नामरूपात्मक जो जगत् है, वह नामरूपात्मक कल्पनाके द्वारा आकाश ही भासता है, क्योंकि आकाश ही वायु आदि क्रमसे जगत्के आकारमें बन जाता है, यह बात श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है और वही शब्द-तन्मात्ररूप होनेके कारण सब वस्तुओंके लिए साधारण नामात्मक भी बन जाता है। अतः 'तत्त्वमसि' आदि शब्दरूपसे परिणत आकाशके कारण सब जगत् परम चिदाकाशरूप ही है, वही इसका आत्यन्तिक क्षय है ॥ २५ ॥

यों विचार करनेपर अपनेको जो अनुभव हुआ, उसे महाराज वसिष्ठजी बतलाते हैं—'दृश्य०' इत्यादिसे।

हे प्रिय श्रीरामजी, यह जो दृश्योंका ज्ञान होता है, वह भ्रम ही भ्रम है, यह आकाशवृक्षकी मञ्जरी ही है यानी असत् है, इसलिए जगत्में परिशिष्ट जो चिदाकाश है, वही सुख यानी निरतिशयानन्दरूप है—इसका मैंने अनुभव किया ॥ २६ ॥

अन्तिम साक्षात्कारकी जो वृत्ति है, तद्रूप आकाशमें आविर्भाव हो जानेके कारण एकरूप, पूर्णात्मक, अनन्त तथा बोधस्वरूप हुए मैंने उक्त समाधिमें यह सङ्कल्पशून्य अनुभव किया ॥ २७ ॥

यह सम्पूर्ण जगत्का बिछा हुआ जाल ब्रह्मरूप निर्मल आकाश ही है,

तत्राऽहमिव संसारशते भाते मुनीश्वराः ।
दृष्टा वसिष्ठनामानो ब्रह्मपुत्राः सदुत्तमाः ॥ २९ ॥
ब्रह्मन् द्वासप्ततिस्त्रेताः सर्वा एव सराघवाः ।
तत्र दृष्टं कृतशतं द्वापराणां शतं तथा ॥ ३० ॥
भेदोदयेन वै दृष्टास्तास्ताः सर्गदशास्तथा ।
बोधेन चेत्तदत्यच्छमेकं ब्रह्म नभस्ततम् ॥ ३१ ॥
नेदं ब्रह्मणि नामास्ति जगद्ब्रह्मण्यथ त्विदम् ।
ब्रह्मैवाजमनाद्यन्तं तत्सर्वं तत्पदादिकम् ॥ ३२ ॥
पाषाणमौनप्रतिमं न किञ्चिदभिशब्दितम् ।
यत्तत्किञ्चिदिति द्योतरूपं ब्रह्म जगत्स्मृतम् ॥ ३३ ॥
विभात्यचेत्यं चिद्व्योम्नि स्वसत्तैव जगत्तया ।
निराकारे निराकारा स्वप्नानुभवसंनिभा ॥ ३४ ॥

जगत्‌के अन्तर्गत दसों दिशाएँ, तदन्तर्गत कला, काल, देश, द्रव्य, क्रिया आदि सब कुछ चिदाकाश ब्रह्मरूप ही है, यह मैंने देखा ॥ २८ ॥

श्रीरामजी, वासनानुसार अनेक तरहकी भिन्नताको लिये हुए जो संसार मुझे दिखाई दिये, उनमें आकारोंमें मेरे सदृश वसिष्ठ नामके बड़े उत्तम-उत्तम, ब्रह्माके पुत्र अनेक मुनीश्वर देखे ॥ २९ ॥

हे ब्रह्मन्, वहाँ मैंने बहत्तर त्रेतायुग देखे। वे सभी रामावतारसे युक्त थे, सैकड़ों सत्ययुग देखे और सैकड़ों द्वापर देखे ॥ ३० ॥

भेदवासनाकी प्रबलतासे तत्-तत् सर्गोंकी अवस्थाएँ अनेक तरहकी मैंने देखीं और तत्त्वदृष्टिसे तो उन सबको व्यापक ब्रह्मरूप आकाश ही देखा ॥३१॥

इस स्थितिमें दृष्टिभेदसे ब्रह्म सप्रपञ्च और निष्प्रपञ्च हो सकता है, इस विषयमें विरोध हो ही नहीं सकता, यह कहते हैं—'नेदम्' इत्यादिसे।

न तो ब्रह्ममें यह जगद्रूप नाम है और न उसमें जगद्रूप वस्तु ही है, किन्तु वह सब अन्तिम प्राप्य तत्पदादिरूप, अज, आदि-अन्तशून्य ब्रह्मरूप ही है ॥३२॥

जो ब्रह्मरूप पाषाणके सदृश सब तरहके वाणीके व्यापारोंसे रहित है, समस्त नाम और रूपोंसे शून्य है और प्रकाशरूप है, वही कुछ नामरूपात्मक बन जाता है, और वही जगत्‌के वेषमें स्मृत है ॥ ३३ ॥

वास्तवमें चेत्य तो चिदाकाशमें है नहीं, परन्तु चितिकी अपनी सत्ता ही

अनन्यमात्मनो ब्रह्म सर्वं भामात्ररूपकम् ।
प्रकाशनमिवालोकः करोति न करोति च ॥ ३५ ॥
तेषु नामानुभूयन्ते जगल्लक्षेषु तत्र वै ।
उष्णानि चन्द्रबिम्बानि सूर्याः शीतलमूर्तयः ॥ ३६ ॥
प्रजास्तमसि पश्यन्ति पश्यन्त्येव न तेजसि ।
उलूकस्य समाचारास्तस्यैव सदृशस्वराः ॥ ३७ ॥
इतः शुभेन नश्यन्ति यान्ति पापैस्तथा दिवम् ।
विषाशनेन जीवन्ति म्रियन्तेऽमृतभोजनैः ॥ ३८ ॥
यद्यथा बुध्यते बोधे यथोदेत्यथवा स्वतः ।
तथाऽऽशु स्फुटतामेति सद्वाऽसद्वा तदेव तत् ॥ ३९ ॥

जगत्के रूपमें भासती है। वह स्वप्नके अनुभवके सदृश भ्रान्तिरूप है, अतः निराकार ब्रह्ममें भास रही सृष्टि वास्तवमें निराकाररूप ही है ॥ ३४ ॥

एकमात्र प्रकाशरूप ब्रह्म अपने अनन्य (अभिन्न) सब कुछ उस तरह करता है और नहीं भी करता, जिस तरह आलोक प्रकाश करता है और नहीं भी करता। आलोक अपनेसे अतिरिक्त प्रकाश न होनेके कारण प्रकाशको नहीं करता, यह कहना वास्तवमें ठीक ही है ॥ ३५ ॥

जगत् चिद्रूप ही है, तब चन्द्र शीतल और सूर्य गरम क्यों। उलटा भी हो सकता है, यदि यह कहें, तो यह इष्ट ही है, क्योंकि किसी ब्रह्माण्डमें वैसा भी देखनेमें आया है, यों कहते हैं—'तेषु' इत्यादिसे।

भद्र, जो लाखों जगत् समाधिमें अनुभूत होते हैं, उनमें कहींपर चन्द्रबिम्ब गरम और सूर्यबिम्ब ठण्डे भी अनुभूत होते हैं और इसी तरहके हैं भी ॥ ३६ ॥

कहींपर अन्धकारमें प्रजाएँ देखती हैं और कहीं प्रकाशमें भी नहीं देखतीं। ठीक उल्लुओंके जैसा उनका व्यवहार है और उन्हींके जैसा वे शब्द भी करती हैं ॥ ३७ ॥

कहीं तो प्राणी पुण्यसे नष्ट हो जाते हैं और कहीं पापोंसे स्वर्ग जाते हैं, कहींपर विषभोजनसे दीर्घकालतक जीते हैं, तो कहींपर अमृतपानसे मर जाते हैं [यह मनकी अनियन्त्रित कल्पना होनेके कारण कहा गया है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इससे तो वेदमें भी अप्रामाण्य आ सकता है] ॥ ३८ ॥

ऐसा क्यों, इसपर कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे।

विटपाकारमूलौघदर्शनाद्वज्रशोभिभिः ।
घूर्णते पत्रपुष्पाभैः पादपैर्व्योम्नि काननम् ॥ ४० ॥
सिकताः पीडिताः सत्यः स्रवन्ति स्नेहजं रसम् ।
शिलाफलककेभ्यश्च जायन्ते कमलान्यलम् ॥ ४१ ॥
दारुण्यश्मनि भित्तौ च चञ्चलाः शालभञ्जिकाः ।
देवाङ्गनाभिः सहितं गायन्ति कथयन्ति च ॥ ४२ ॥
मेघान्परिदधत्युच्चैर्भूतान्युच्चैः पटानिव ।
प्रतिवर्षं विजातीयान्युत्पद्यन्ते फलान्यगे ॥ ४३ ॥

भद्र, दीर्घकालके अभ्याससे दृढ़ किये गये बोधमें जो वस्तु जैसी हित-साधन या अहितसाधनके रूपमें समझ ली जाती है, वह वैसी ही स्वयं अपने भोग-हेतु अदृष्टके कारण बन जाती है। जैसी बनती है, ठीक वैसी ही भोगकालमें विस्पष्ट बन जाती है। वह वस्तु दूसरी जगह सत् हो या असत् हो, इस विषयमें कुछ भी विशेषता नहीं रखती, क्योंकि वह ब्रह्मरूप ही है और वह ब्रह्म ही वासनानुसार वैसा विवर्तित हो जाता है ॥ ३९ ॥

इस ब्रह्माण्डमें प्रसिद्ध जो अरण्य है, उससे विपरीत पत्र, पुष्प आदिसे सम्पन्न अरण्य अन्य ब्रह्माण्डमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'विटपा०' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, कहींपर तो चिदाकाशमें शाखाओंके सदृश वृक्षोंके मूल दिखाई देते हैं, इसलिए वज्रमणिके सदृश अत्यन्त दृढ़, पत्र, पुष्प आदिसे सुशोभित वृक्षोंसे युक्त अरण्य विद्यमान है ॥ ४० ॥

इसी तरह हजारों असम्भावित वस्तुओंका अन्यत्र सम्भव है, यह कहते हैं—'सिकताः' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, कहीं पर तो कोल्हूमें पीसे जानेपर बालूसे भी स्नेहजनित रस यानी तेल चूता है और कहींपर शिलाओंके ऊपरी हिस्सोंमें अनेक सुन्दर कमल उगते है ॥ ४१ ॥

कहीं लकड़ी, पत्थर और भीतके ऊपर निर्मित पुतलियाँ देवाङ्गनाओंके साथ गान और वार्ता करती हैं ॥ ४२ ॥

भद्र, कहींपर लम्बे-लम्बे प्राणी लम्बे वस्त्रोंके सदृश मेघोंको बड़े चावसे पहिनते हैं और कहींपर एक ही वृक्षके ऊपर प्रत्येक वर्षमें भिन्न-भिन्न आकृतिके फल लगते हैं ॥ ४३ ॥

सन्निवेशैर्न नियतैरङ्गानां विविधाङ्ककैः ।
शिरोभिः सर्वभूतानि परिक्रामन्ति भूमिगैः ॥ ४४ ॥
शास्त्रवेदविहीनानि निर्धर्माण्येव कानिचित् ।
यत्किञ्चनैककारीणि तिर्यग्वन्ति जगन्त्यधः ॥ ४५ ॥
कामसंविचिहीनानि निःस्त्रीजातानि कानिचित् ।
भूतैः संशुष्कहृदयैर्व्याप्तान्यश्ममयैरिव ॥ ४६ ॥
पवनाशनभूतानि समरत्नाश्मकानि च ।
अजातार्थान्यलुब्धानि निगर्वाणीव कानि च ॥ ४७ ॥
क्वचित्प्रत्येकमात्मानं पश्यत्याप्नोति नेतरत् ।
बहुभूतकमप्यस्ति जगदित्येकभूतकम् ॥ ४८ ॥

कहींपर एक जातिके प्राणियोंके अङ्गोंकी गठन ही अलग-अलग प्रकारकी है, कहींपर एक जातिके प्राणियोंके अङ्ग जुदे-जुदे आकारके दिखाई पड़ते हैं, कहींपर सिर ऊपरकी ओर नहीं है, किन्तु भूमितलपर है, इस तरह चित्र-विचित्र प्राणी घूमते दिखाई देते हैं ॥ ४४ ॥

कहींपर भूमि आदि लोकोंके नीचेके जगत् केवल पशु आदि प्राणियोंसे ही भरे हैं, उनमें मनुष्योंका नाम ही नहीं है, न तो इनमें वेद और शास्त्रका प्रचार है, न कोई धर्म है, न इनका कोई उत्तम आचरण है यानी यथेष्टाचरण करनेवाले हैं ॥ ४५ ॥

यतः कोई तो प्राणी कामसंवित्तिसे हीन हैं, अतः वे स्त्रीके बिना यों ही कहींपर पैदा हो गये हैं। कहींपरके जगत् तो पत्थरमय शुष्क हृदयवाले प्राणियोंसे भरे पड़े हैं ॥ ४६ ॥

कहींपर तो केवल सर्प ही सर्प हैं, कहींपर तो सभी रत्न ही रत्न हैं या तो पत्थर ही पत्थर हैं, कहींपर तो धन आदिका व्यवहार ही नहीं है, अतएव लोभरहित हैं और कहींपर प्राणियोंमें अहङ्कारकी मात्रा ही नहीं है ॥ ४७ ॥

कहींपर व्यष्टि-अहम्भाव नहीं है, केवल समष्टि-अहम्भावरूप एकात्मभावसे ही सब शरीरोंमें भेदव्यवहार होता है, यह कहते हैं—'क्वचित्' इत्यादिसे ।

कहींपर प्रत्येक प्राणी अपनी समष्टि आत्माको देखता है और दूसरे

नखकेशादिके यद्वत्तद्वदन्यत्र संस्थितः ।
आत्मवत्सर्वभूतानामेकीभूतात्मभावना ॥ ४९ ॥
अनन्तापारपर्यन्तं शून्यमेव बहु क्वचित् ।
यत्नतः संविदाप्नोति तस्यान्तेन जगत्पुनः ॥ ५० ॥
अत्यन्ताबुद्धबुद्धानि मोक्षशब्दार्थदृष्टिषु ।
दारुयन्त्रमयाशेषभूतौघानीव कानिचित् ॥ ५१ ॥
ऋक्षचक्रविहीनानि निष्कालकलनानि च ।
मूकसङ्केतसाराणि भूतजालानि कानिचित् ॥ ५२ ॥

व्यक्तिको देखता या पाता ही नहीं । ऐसा होनेपर भी वह लोक योनिज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे युक्त है और एक-एक तरहके प्राणियोंसे भी युक्त है ॥ ४८ ॥

देहोंका भेद होनेपर भी एकीभूत आत्माकी भावना किस तरहकी है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'नख०' इत्यादिसे ।

भद्र, कोई पुरुष अपने नख, केश आदिके उतारने और उत्पन्न होनेपर अपना निजी छेदन और जनम देखता है, इसलिए वह अपनी अन्यत्र स्थिति मानता है । परन्तु उसके सौन्दर्यादि सुखभोगमें उसकी एकीभूत आत्मभावना ही जैसे देखी जाती है, ठीक ऐसे ही सब भूतोंमें उनकी एकीभूत आत्मभावना ही देखी जाती है ॥ ४९ ॥

कहींपर तो सृष्टिभेदकी वासना ही नहीं रहती, इसलिए अव्याकृत आकाशमात्ररूपतासे ही वहां भावना होती है, यह कहते हैं—'अनन्ता०' इत्यादिसे।

कहींपर तो अधिकतर चारों ओर अनन्त अपारशून्य ही शून्य है। कहीं पर प्राणी यत्नसे आत्मचिति प्राप्त करता है, तो शून्यके तिरस्कारसे फिर जगत् देखता है ॥ ५० ॥

भद्र, कुछ जगत् निर्विशेष परब्रह्मकी दृष्टि हो जानेपर वे अलीककी तरह ज्ञात होते हैं, कहींपर चितिका पृथक्करण कर देखनेपर काष्ठयन्त्रमय (हाथी, घोड़े आदिरूप) सब प्राणी देखे गये हैं ॥ ५१ ॥

कुछ जगत् तो नक्षत्रचक्रसे ही रहित हैं, अतएव कालगतिका ही वहां पता नहीं लगता । कुछ तो शब्द, श्रोत्र आदिके अभावके कारण मूक पुतलीकी

कानिचिद्वर्जितान्येव नेत्रशब्दार्थसंविदा ।
व्यर्थदीप्तात्मतेजांसि भूतानीत्येकचिन्तया ॥ ५३ ॥
घ्राणसंविद्विहीनानि व्यर्थामोदानि कानिचित् ।
मूकानि शब्दवैयर्थ्याच्छ्रुतिहीनानि कानिचित् ॥ ५४ ॥
वाक्यसंविद्विहीनत्वान्मूकान्यन्यानि कानिचित् ।
स्पर्शसंविद्विहीनत्वादश्माङ्गानीव कानिचित् ॥ ५५ ॥
संविन्मात्रमयान्येव दृष्टान्यपि च कानिचित् ।
व्यवहारीण्यव्यग्राह्याण्येव नित्यं पिशाचवत् ॥ ५६ ॥
भूमयान्येकनिष्ठानि निष्पिण्डान्येव कानिचित् ।
कानिचिद्वारिपूर्णानि वह्निपूर्णानि कानिचित् ॥ ५७ ॥
कानिचिद्वातपूर्णानि सर्वाकाराणि कानिचित् ।
जगन्ति व्योमरूपाणि बत तत्र कचन्ति खे ॥ ५८ ॥

सदृश हाथ आदिके संकेतोंके बलपर ही अपना सारा व्यवहार निभाते हैं ॥५२॥

कहींपर ऐसे प्राणी देखे कि नेत्रशब्द, नेत्ररूप इन्द्रिय और नेत्रजनित रूप आदिका दर्शन—इन सबसे वे वञ्चित थे, अतएव उनके लिए सूर्य और चन्द्र आदिके प्रकाश निरर्थक ही रहे। भद्र, इस प्रकारकी जो जगत्‌की रचना है, वह एकाग्रचित्त योगीके मनकी कल्पनासे मैंने आपसे कही ॥ ५३ ॥

भद्र, कुछ तो प्राणी घ्राणेन्द्रिय और इससे होनेवाले गन्धज्ञानसे रहित हैं, कुछ निरर्थक ही आमोद-प्रमोद करनेवाले हैं, कुछ शब्देन्द्रियकी शक्तिसे रहित होनेके कारण मूक हैं और कुछ श्रोत्रेन्द्रियसे रहित हैं ॥ ५४ ॥

कुछ दूसरे वाक्यार्थबोध न होनेके कारण मूक हैं, कुछ स्पर्शज्ञानशून्य होनेके कारण पत्थरके अङ्गोंके सदृश त्वगिन्द्रियरहित हैं ॥ ५५ ॥

कुछ तो मनोराज्यके सदृश विचित्र ही देखे गये, कुछ तो व्यवहार करनेवाले हैं, परन्तु पिशाचोंके सदृश उद्भूत गुणोंसे उनकी रचना न होनेके कारण सदा इन्द्रियवेद्य ही नहीं हैं अर्थात् केवल साक्षीसे ही उनका ग्रहण होता है ॥५६॥

कुछ तो जगत् केवल भूमिमय हैं, उनकी स्थिति एक-सी है, कुछ घनतासे रहित हैं, कुछ केवल जलसे भरे हैं और कुछ अग्निसे पूर्ण हैं ॥ ५७ ॥

कुछ जगत् वायुओंसे परिपूर्ण हैं, कुछ सभी तरहके आकारोंसे परिपूर्ण हैं,

धरापीठैकपूर्णेषु तिष्ठन्त्यन्येषु देहिनः ।
भेका इव शिलाकोशे कीटा इव धरोदरे ॥ ५९ ॥
जलैकपरिपूर्णेषु तिष्ठन्त्युर्वीवनाद्रिषु ।
भ्रमन्त्यन्येषु भूतानि नित्यमेवोग्रमीनवत् ॥ ६० ॥
अन्येष्वग्न्येकपूर्णेषु जलादिरहितान्यपि ।
भूतान्यग्निमयान्येव स्फुरन्त्यलमलातवत् ॥ ६१ ॥
अन्येष्वनिलपूर्णेषु भूतान्यस्तेतराण्यपि ।
वातमात्रमयाङ्गानि स्फुरन्त्यर्जुनवातवत् ॥ ६२ ॥
अन्येषु व्योममात्रात्मदेहेषु व्योमरूपिणः ।
प्राणिनः सन्ति सर्गेषु दर्शनव्यवहारिणः ॥ ६३ ॥

यानी समस्त कार्योंमें समर्थ समस्त वस्तुओंसे परिपूर्ण हैं । आश्चर्य है कि कुछ तो आकाशरूप ही हैं, फिर भी चिद्रूप आकाशमें वे स्फुरित होते हैं ॥ ५८ ॥

'कुछ जगत् केवल पृथ्वीमय हैं' यह जो कहा गया है, इस विषयमें मृत जीवोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार होनेवाली शङ्काका परिहार करते हैं—'धरा०' इत्यादिसे ।

कुछ जो केवल भूमिपृष्ठपूर्ण अन्य जगत् हैं, उनमें जीव उस तरह निवास करते हैं, जिस तरह शिलाकोशके भीतर मेढ़क या भूमिके उदरमें कीड़े ॥ ५९ ॥

जो कुछ दूसरे केवल जलसे ही परिपूर्ण पृथ्वी, वन, पर्वत आदि हैं; उनमें भी प्राणी, मगरके सदृश, निरन्तर ही घूमा करते हैं ॥ ६० ॥

दूसरे जो जगत् केवल अग्निसे ही पूर्ण हैं, उनमें जल आदिसे रहित भी प्राणी, अलातचक्रके सदृश यानी भ्रमण कर रहे उल्मुककी नाईं, केवल अग्निरूप होकर ही खूब चलते फिरते हैं ॥ ६१ ॥

अन्य जो केवल वायुसे पूर्ण जगत् हैं, उनमें जो भूत हैं वे जल, अग्नि आदिसे यद्यपि रहित हैं, तथापि केवल वायुरूप होकर ही, अर्जुनामक वायुके (रोगविशेषके) सदृश, घूमते फिरते हैं [अर्जुनवायुसे ग्रस्त लोक आकाशमें घूमते हैं, यह कहींपर प्रसिद्ध हैं]॥ ६२ ॥

जो दूसरे केवल आकाशरूप अपनी देहसे युक्त लोक हैं, उनमें भी आकाशरूप ही प्राणी हैं और वे सबके सब दर्शनव्यवहार करनेवाले हैं ॥ ६३ ॥

पातालपातिषु तथाऽम्बरमुत्पतत्सु
तिष्ठत्सु विभ्रमपदेष्वथ दिङ्मुखेषु ।
नाना जगत्सु किमिवास्ति मया न दृष्टं
यन्नाम चिज्जलधिचञ्चलबुद्बुदेषु ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगज्जालवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिदाकाशाच्चिदाकाशे पयसीव पयोरयाः ।
चित्त्वाज्जीवाः स्फुरन्त्येते एत एव मनांसि नः ॥ १ ॥

उस चिदाकाशमें नीचे, ऊपर एवं चारों ओर कल्पित दिशाओंमें उड़ रहे चित्रविचित्र सब जगत् और उनमें रहनेवाली अनेक तरहकी वस्तुएँ मैंने देखीं, यों उपसंहार करते हैं—'पाताल०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामभद्र, कोई पातालमें गिर रही हैं, कोई आकाशमें उड़ रही हैं, और कोई दिशाओंके मुखमें स्थित हैं—इस तरहकी केवल विभ्रमके कारण ज्ञात होनेवाली अनेक तरहकी सृष्टियोंमें, जो कि चितिरूप समुद्रके बुदबुदोंके ही स्वरूपमें हैं, मैंने जो न देखी हो, वह वस्तु ही कौन-सी है, अर्थात् कोई नहीं। सभी तरहकी असम्भव वस्तुएँ मैंने उनमें देखीं, यह भाव है ॥ ६४ ॥

साठवाँ सर्ग समाप्त

एकसठवाँ सर्ग

[कल्पान्तमें जगत्का नाश होनेपर भी अज्ञात ब्रह्मका हृदय जगत् अविनाशी है, ब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर तो तीनों कालमें जगत्की सत्ता ही नहीं रहती—यह वर्णन]

अनादि अविद्याके कारण अज्ञात हुआ ब्रह्म ही अपने असली कूटस्थ पूर्णानन्द स्वभावको भूलकर यह कल्पना करता है कि मैं चलनस्वभाव, स्वल्पस्वभाव

विशदाकाशरूपाणि तान्येव च मनांसि नः ।
जगन्ति तान्यनन्तानि सम्पन्नान्यभितः स्वयम् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

सर्वभूतगणे मोक्षं महाकल्पक्षये गते ।
पुनः कस्य कथं सर्गसंवित्तिरुपजायते ॥ ३ ॥

आदिरूप हूँ, इस तरहकी कल्पनाकर मन, प्राण आदिके क्रमसे भोक्तारूप और भोग्यरूप होकर सदा सब तरहसे उत्तरोत्तर संसारी ही बनता जाता है, इसलिए जब तक अविद्या है, तब तक संसारकी स्थिति सदा ही बनी रहेगी। यदि शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, तब तो वह सदा, सब ओरसे तथा सभी प्रकारसे पूर्णानन्द चिदेकरसमात्ररूप ही बन जाता है, इसलिए किसी समय, कहींपर, कोई भी और किसी व्यक्तिमें भी संसारकी संभावना नहीं की जा सकती, अतः ब्रह्म नित्यमुक्तस्वभाव ही है, यह बतलानेके लिए महाराज वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'चिदाकाशा०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जैसे जलमें जलसे ही जलरूप वेग-तरङ्ग आदिस्फुरित होते हैं, वैसे ही चिदाकाशमें चिदाकाशसे ही ये सब—अज्ञात आत्माके स्वभावसे प्राण आदि उपाधियोंसे परिच्छिन्न—जीव स्फुरित होते हैं, और वे ही जीव उत्तरोत्तर हजारों सङ्कल्प-विकल्पोंके कारण संसारके बीजरूप होकर कारण बन जाते हैं, और हम लोगोंके मन कहे जाते हैं ॥ १ ॥

वे ही मन अपने अन्दर रहनेवाली भोग्यवासनाओंको जगत्के आकारमें विकसित करनेके कारण अनन्त जगद्रूप बन गये हैं, यह कहते हैं—'विशदा०' इत्यादिसे।

विशद आकाशरूप वे ही हम लोगोंके मन हैं और वे ही स्वयं चारों ओरसे अनन्त जगत्के रूपमें परिणत हो गये हैं ॥ २ ॥

इन सब बातोंसे निष्कर्ष यही निकला कि अपनी अविद्यासे अकेला ब्रह्म ही अनेक जीवोंके आकारोंमें और अनेक सृष्टिके रूपोंमें संसार धारण करता है तथा अकेला वही अपनी विद्यासे सब जीवभाव एवं संसारसे मुक्त हो जाता है। परन्तु यह निष्कर्ष ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पहलेके प्राकृत प्रलय हो जानेके बाद सम्पूर्ण जीवोंकी समष्टि हिरण्यगर्भके तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति

वसिष्ठ उवाच

महाप्रलयपर्यन्ते क्षितिजलपवनहुताशाकाशाशेषविशेषविनाशे आब्रह्म-स्थावरान्तेषु मुक्तौ परिणतेषु भूयो यथेदं जगदनुभूयते तथा शृणु ।

अव्यपदेश्यं यत्परमार्थघनं ब्रह्म चिन्मात्रमित्याचक्षते मुनयः तस्य हृदयमिदं जगत्तस्माद्व्यतिरिक्तमेव, स एव च देवस्तदात्मीयं हृदयं स्वभावं जगदित्यवगच्छति च विनोदेनैव न तु वास्तवेन रूपेण जगदिति किंचिदुपलभामहे विचारयन्तस्तस्मात्किमिव नश्यति किमिव जायते

हो जानेपर उसके निमित्त इस सब जीव और जगत्का बाध अवश्य हो जायगा, ऐसी स्थितिमें सभीकी मुक्ति अवश्य माननी चाहिए, जब यह बात माननेको हम बाधित हो जाते हैं, तब यह शङ्का रह जाती है कि एकबार जो ब्रह्म मुक्त हो चुका, उसका जीवादिरूप संसार फिर कैसे हुआ, इस आशयसे श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'सर्वं०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रने कहा—भगवन्, ये जितने प्राणी हैं, वे सब महाकल्पके विनाशमें मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं, इस स्थितिमें फिर किसको किस तरह सृष्टि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥ ३ ॥

प्रश्नका अनुवादकर गद्य और पद्योंसे उसका उत्तर देनेके लिए महाराज वसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'महाप्रलय०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, महाप्रलयपर्यन्त पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थोंका विनाश हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर स्थावरतकके सभी जीव-जगत् मुक्तिमें परिणत हो जाते हैं, वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी यह जगत् फिर जिस रीतिसे अनुभूत होता है, वह सानन्द आप सुनिये—यद्यपि यह मुनि लोग कहते हैं कि आकाशतकके समस्त विशेषोंका विनाश हो जानेपर जीवजगत् मुक्तिमें परिणत हो जाता है और केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही, जो अव्यपदेश्य (शब्दसे कहने अयोग्य) परमार्थ चेतनघन है, अवशिष्ट रह जाता है, तथापि समझनेकी बात यह है कि चिन्मात्र ब्रह्म जो बच जाता है, उसका यह जगत् एक तरहका हृदय है और उससे अभिन्न है । सारांश यह निकला कि—[यद्यपि मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिसे] सभी जीवोंकी मुक्ति ही है, किसीके लिए कुछ भी बाकी

यथा परमकारणमविनाशि तथा तद्धृदयमविनाश्यं च। महाकल्पादयश्च तदवयवा एव, अपरिज्ञानमात्रमत्र केवलं भेदायैव तदपि प्रेक्ष्यमाणं न लभ्यत एव ॥ ४ ॥

नहीं बचता, तथापि दूसरे जो जीव हैं, उनमें हर-एकको तो तत्त्वज्ञान हुआ है नहीं, इसलिए उनकी दृष्टिसे अपनी-अपनी अविद्या तो नष्ट हुई नहीं, अतः बन्धका अनुभव होता है। जैसे चन्द्रलोकमें जो मूलतः रहनेवाले हैं अथवा अभी-अभी जो चन्द्रलोकमें जा पहुँचे हैं, उनकी दृष्टिमें चन्द्रलोककी स्वरूपस्वरूपता अत्यन्त असत् ही है, परन्तु भूमिपर स्थित पुरुषोंकी दृष्टिसे तो चन्द्र स्वरूप ही है, ऐसे ही यहाँपर भी जानना चाहिए। इसी बातको स्पष्ट करते हैं कि] वही देव बद्धदृष्टिसे जगत्को अपना स्वभाव और हृदय समझता है तथा मुक्तदृष्टिसे वैसा नहीं भी समझता। आत्माके विषयमें तात्त्विक विचार करके स्थित मुक्तस्वभाव हम लोग तो जगत्को विनोदसे यानी यह जगत् बाधित हो चुका है, पर उसका केवल जले हुए वस्त्रके सदृश भास होता है—इस प्रकारके कौतुकसे, कुछ है, यों देखते हैं, उसे वास्तविकरूपसे नहीं देखते। इससे तीनों दृष्टियोंमें जगत् आत्मासे अभिन्न ही ठहरता है, इसलिए इसका क्या विनाश और क्या उत्पत्ति। जैसे इसका परमकारण विशुद्ध आत्मा अविनाशी है, वैसे ही उस आत्माका हृदयभूत यह जगत् अविनाशी ही है। जगत् अविनाशी है, तो महाकल्प, अवान्तर कल्प आदि कैसे हो सकेंगे, क्योंकि जगत्का नाश होनेपर ही तो महाकल्प आदिका व्यवहार हो सकता है, इस प्रकारकी यदि कोई शङ्का उठाये, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि महाकल्प आदि भी तो जगत्के अवयव हैं। जब उक्त रीतिसे जगत् नित्य और स्थायी है तब उसके अङ्गभूत महाकल्प आदि अनित्य और अस्थायी कैसे हो सकता है। और यह तो कहा नहीं जा सकता कि कारण एक समयमें नष्ट होकर फिर दूसरे समयमें आ जाते हैं। इसलिए यही मानना होगा कि सत्यस्वरूप जो कल्प, सृष्टि आदि हैं, वे ही जपमालाके अङ्गभूत मणियोंके सदृश बार-बार कालचक्ररूपसे घूम फिरकर आते जाते रहते हैं। अतीत, भविष्यत् आदि कल्प और सृष्टि आदिको लेकर कल्पादिमें परस्पर जो भेदबुद्धि हो जाती है उसका एकमात्र कारण इस विषयका व्यापक अज्ञान ही है; परन्तु इस अज्ञानको यदि हम देखते हैं, तो हाथ लगता नहीं, अतः भेदबुद्धि कल्पादिकी अस्थायिता आदिमें हेतु नहीं हो सकती ॥ ४ ॥

तस्मान्न कस्यचित्कदाचिन्नश्यति क्वचित् ।
न चैव जायते ब्रह्म शान्तं दृश्यमजं स्थितम् ॥ ५ ॥
आकाशपरमाणुसहस्रांशमात्रेपि या
शुद्धचिन्मात्रसत्ता विद्यते ॥ ६ ॥
वपुर्जगदिदं तस्या ननु नाम महाचितेः ।
कथं नश्यत्यनष्टायां तस्यां सा च न नश्यति ॥ ७ ॥
संविदो हृदयं स्वप्ने यथा भाति जगत्तथा ।
व्योमात्मैव तथैवादिसर्गात्प्रभृति भासते ॥ ८ ॥
चिद्व्योमावयवः सर्गः सर्गस्यैतादृशाः क्षयाः ।
उदयाश्चेति खं सर्वं किंनाशि किमनाशि च ॥ ९ ॥

गद्यभागसे जिस अर्थकी सिद्धि की गई है, उस अर्थका अब पद्यसे उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ,

हे श्रीरामजी, इसलिए किसीकी न तो कुछ सृष्टि होती है, न किसी समय कुछ नष्ट होता है और न कभी कुछ उत्पन्न होता है, यह जो कुछ दृश्य है, वह सब शान्त, अज ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ५ ॥

जगत्का विनाश नहीं होता, इसमें दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

जो असंख्य बड़ेसे बड़े आकाशतकके और छोटेसे छोटे परमाणुतकके पदार्थ हैं, उन सबमें भी जो सत्ता है, वह विशुद्ध चिन्मात्रकी ही सत्ता है ॥ ६ ॥

यह जगत् उस महाचितिका शरीर है, महाचिति तो नष्ट होती नहीं, इसलिए उसके विनाशके बिना जगत् कैसे नष्ट हो सकता है ॥ ७ ॥

जगत् संवित्का हृदय है, यह तो स्वप्नमें भी, जिसका सार ज्ञानभाव है, प्रसिद्ध है, यों कहते हैं—'संविदो' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें जगत्के रूपसे संवित्का (ज्ञानका) हृदय ही भासता है, वैसे ही आदि सर्गसे लेकर यह सब जो कुछ भासता है, वह ज्ञानरूप आत्माका ही हृदय है, और असलमें यह सब है—चिदाकाशरूप ॥ ८ ॥

भद्र, यह सृष्टि चिदाकाशका काल्पनिक अवयव (अङ्ग) है और अङ्गभूत

एषा हि परमार्थसंविदच्छेद्या अदाह्याऽक्लेद्याऽशोष्या, सा ह्यतद्विदामदृश्या तस्या यच्चहृदयं तत्तदेव भवति यथाऽसौ न नश्यति तदन्तर्वर्तीजगदाद्यनुभवो न जायते न नश्यत्येवेति केवलं स्मरणविस्मरणवशेन स्वभावरूपेणानुभवाननुभवौ कल्पयतीव ॥ १० ॥

यद्यद्यदात्मकं तत्त्वं तद्विनाशं विनाऽक्षयि ।
तस्माद्ब्रह्मात्मकं दृश्यं विद्धि ब्रह्मवदक्षयम् ॥ ११ ॥
महाप्रलयादयस्तदवयवा एव ॥ १२ ॥

कल्पित इस सृष्टिके उदय तथा क्षय भी ऐसे ही कल्पित अङ्ग हैं, अतः जो कुछ है वह सब चेतनरूप आकाश है, ऐसी स्थितिमें कौन नाशवान् और कौन अनाशवान् हो सकता है ॥ ९ ॥

तब संवित्का भी विनाश मान लीजिये, इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'एषा०' इत्यादिसे ।

यह जो परमार्थ ज्ञानरूप आत्मा है, वह काटनेके अयोग्य, जलानेके अयोग्य, गीला करनेके अयोग्य और सुखानेके अयोग्य है । वह परमार्थचिति (ब्रह्म) अज्ञानियोंको दीखाई नहीं पड़ती, उसका जो कल्पित हृदय है, वह जगत् ही है । जैसे उस परमार्थ चेतनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता, वैसे ही उसके हृदयभूत जगत् एवं जगत्के हेतु अज्ञानके अनुभवकी भी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता । केवल स्मरण और विस्मरणवश स्वभावरूपसे अनुभव और अननुभवकी वह कल्पना करती है ॥ १० ॥

जगत्की आत्मा भी अविनाशी आत्माको लेकर ही है, इससे भी जगत् विनश्वर नहीं है, यह कहते हैं—'यद्य०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह आप जान लीजिये कि जो जो पदार्थ जिस जिस वस्तुके स्वरूपभूत हैं, वे उस उस वस्तुके विनाशके बिना विनष्ट नहीं हो सकते, इस नियमके आधारपर ब्रह्मरूप दृश्य ब्रह्मके सदृश अविनाशी ही है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप जगत्का विनाश, ब्रह्मविनाश जब होगा, तभी होगा, परन्तु ब्रह्म तो शाश्वत है, इसलिए जगत् नष्ट नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

यदि शङ्का हो कि ब्रह्मरूप विश्व है, तब तो ब्रह्म भी अनेक तरहका होना चाहिए, क्योंकि विश्व अनेक तरहका है, तो इस शङ्कापर कहते हैं—'महाप्रलयादयः' इत्यादिसे ।

चिन्मात्रे परमे व्योम्नि कुत एव भवाभवौ ।
कुतो भावविकारादिः कथं व्योम्नि निराकृते ॥ १३ ॥
महाकल्पादयो भावा नामैतानि जगन्ति च ।
ब्रह्मात्मकतयैवास्मिन् संविद्ब्रह्मणि संस्थितम् ॥ १४ ॥
निराकृत्यच्छचिन्मात्रं दृश्यं सङ्कल्प्य तद्वशम् ।
याति येनैव घटितो यक्षस्तद्धृदये किल ॥ १५ ॥

यथाऽवयविनो वृक्षस्य शाखाविटपफलपल्लवपुष्पादयोऽवयवास्तथा

महाप्रलय आदि भी उस महाकालरूप परमात्माके कल्पित अवयव ही हैं, इसलिए विश्वकी अनेकतासे ब्रह्ममें, अनेकता नहीं आ सकती, जैसे कि तरङ्गोंकी अनेकतासे जलमें ॥ १२ ॥

यदि शङ्का हो कि सृष्टि, प्रलय आदि असंख्य अचेतन अवयवोंसे युक्त आत्मा विशुद्ध चिदेकरस कैसे हो सकता है, तो यह शङ्का योग्य नहीं है, क्योंकि वृक्ष, नगर आदि अनेक प्रतिबिम्बोंसे युक्त स्फटिकशिला जैसे विशुद्ध शिलैकरस-रूप है, वैसे ही आत्मा अनेक प्रतिबिम्बघटित होनेपर भी विशुद्ध चिदेकरसरूप हो सकता है, इस आशयसे उत्तर देते हैं—'चिन्मात्रे' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र परम ब्रह्मरूप आकाशमें किस हेतुसे सृष्टि और प्रलय हो सकते हैं तथा किस हेतुसे किस तरह भावविकार आदि धर्म भी निराकार चिदाकाशमें हो सकते हैं अर्थात् किसी तरह भी नहीं हो सकते ॥ १३ ॥

जैसे स्फटिकमें पड़े हुए चित्र-विचित्र प्रतिबिम्ब स्फटिकरूपसे ही स्थित हैं, वैसे ही इस संविदेकरस ब्रह्ममें पड़े हुए ये जगत्, महाप्रलय आदि चित्रविचित्र प्रतिबिम्बरूप भाव भी ब्रह्मरूपसे ही स्थित हैं ॥ १४ ॥

जैसे मनके सङ्कल्पसे जनित यक्षनगर आदि केवल मनोरूप हैं, वैसे ही विशुद्ध चितिके सङ्कल्पसे जनित ये भाव भी विशुद्ध चितिरूप ही हैं, इस आशयसे कहते हैं—'निराकृत्य०' इत्यादिसे ।

समस्त आकारोंसे रहित स्वच्छ चितिमात्ररूप आत्मा दृश्यकी कल्पनाकर उसके अधीन हो जाता है । ठीक ही है, जो बालक अपने हृदयमें मनसे जिस यक्षकी कल्पना करता है, वह उसके अधीन हो ही जाता है ॥ १५ ॥

यह सब तो ठीक है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि जगत् अविनाशी

परमार्थघनस्याकाशादप्यच्छरूपस्याव्यपदेश्यस्य प्रलयमहाप्रलयनाशोद्भवभावाभावसुखदुःखजननमरणसाकारनिराकारत्वादयोऽवयवाः ॥ यथैव चासावयवव्यनाशोऽव्यपदेश्यश्च तथैव त इति ॥ १६ ॥

अवयवावयविनोर्दृश्ययोर्वाप्यदृश्ययोः ।
एकात्मनोरेव सदा भेदोऽस्ति न कदाचन ॥ १७ ॥

यथा तरोः संविन्मूलं तथा परमार्थघनस्य क्वचित् किञ्चित्त्वं क्वचित् सर्गस्तम्बः क्वचिल्लोकान्तरविटपाः क्वचिद्व्यवस्थाः शाखाः क्वचित्पदार्थपल्लवाः क्वचित्प्रकाशकुसुमम् क्वचिदन्धकारकार्ष्ण्यं क्वचिन्नभःकोटरम् क्वचित्प्रलयगुल्माः क्वचिन्महाप्रलयगुल्माः क्वचिद्धरिहरादिगुलुच्छकाः क्वचिज्जाड्यत्वक् एवमनाकारं व्योमरूपमेव संविदात्मनि ब्रह्मणि ब्रह्मसदृशभावाद्व्यतिरिक्तमेवैतत्स्थितम् ॥ १८ ॥

कैसे ? इसका उत्तर यह है—अविनाशी ब्रह्मका वह अवयव है, इससे; इस आशयको लेकर वृक्षशाखाके दृष्टान्तसे वर्णन करते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

भद्र, जैसे अवयवोंसे युक्त वृक्षके शाखा, स्कन्ध, फल, पल्लव, पुष्प आदि अवयव (अङ्ग) हैं वैसे ही आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ व्यपदेशके अयोग्य परमार्थघन चेतनरूप आत्माके प्रलय, महाप्रलय, नाश, उत्पत्ति, भाव, अभाव, सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार आदि अवयव हैं। अतः जैसे वह आत्मारूपी अवयवी अविनाशी और व्यपदेशके अयोग्य है, वैसे ही सर्ग, प्रलय आदि अवयव भी अविनाशी एवं व्यपदेशके अयोग्य हैं ॥ १६ ॥

दृश्य और अदृश्यका भेद कैसे है ? इसपर कहते हैं—'अवयवा' इत्यादिसे।

निरन्तर ही एकस्वरूपवाले अवयव और अवयवियोंमें, चाहे वे दृश्यरूप हों या अदृश्यरूप, किसी समय भी भेद नहीं रहता ॥ १७ ॥

अवयव और अवयवीके अभेदका, वृक्ष और वृक्षके अवयवोंकी समानता बतलाकर, निरूपण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे वृक्षके अस्तित्वमें मूलभूत कारण वृक्षज्ञान है, वैसे ही परमार्थघन आत्माके जगत्के अस्तित्वमें ज्ञान ही मूलभूत कारण है, [इसलिए समानता प्रसिद्ध ही है। ऐसी स्थितिमें ज्ञानरूप मूलके आधारपर ही किसी किसी प्रदेशमें

इतो भाव्य इतो भाव इतः सर्ग इतः क्षयः ।
स्वभाव एवानुभव इति ब्रह्माऽचलं स्थितम् ॥ १९ ॥
एवंमयेऽपि परमे ब्रह्माकाशे न रञ्जनाः ।
काश्चिदेवाङ्ग सन्तीन्दुबिम्बे विमलता यथा ॥ २० ॥
निर्मले परमाकाशे क्व भावाभावरञ्जनाः ।
क्वादिमध्यान्तकलनाः क्व लोकान्तरविभ्रमाः ॥ २१ ॥

जो कुछ विचित्रता है, उसका वृक्षके सदृश परिज्ञान करना चाहिए। जैसे—] परमार्थघन परमात्म वृक्षका कहींपर सृष्टिरूप मध्यकाष्ठ है, कहींपर लोकान्तररूप तने हैं, कहींपर जम्बूद्वीप आदि व्यवस्थात्मक शाखाएँ हैं, कहींपर पदार्थरूप पल्लव हैं, कहींपर प्रकाशरूप फूल हैं, कहींपर अन्धकाररूप हरित पत्तोंकी हरियाली है, कहींपर आकाशरूप कोटर हैं, कहींपर प्रलयरूप गुल्म (गाँठे) हैं, कहींपर हरिहर आदि उत्तम देवतारूप गुच्छे हैं, कहींपर जडत्वरूप छिलके हैं। इस प्रकार निराकार आकाशरूप ही आकारविशेषोंसे संविदात्मक ब्रह्ममें प्रतीत होता है और वह ब्रह्मके सदृश स्वच्छस्वभाव होनेके कारण उससे अभिन्न बनकर ही स्थित है ॥ १८ ॥

इसी अर्थको फिर कहते हैं—'इतः' इत्यादिसे ।

भद्र, जितने भविष्यकालके पदार्थ हैं, जितने भूतकालके पदार्थ हैं, जितने वर्तमानकालके पदार्थ हैं, जितने सर्ग हैं, जितने प्रलय हैं, वे सब अनुभवसे ही सिद्ध होते हैं, अतः अनुभवरूप हैं और अनुभव स्वसत्तात्मक आत्मा ही है, इसलिए यों सब कुछ ब्रह्मरूप ही अचल स्थित है ॥ १९ ॥

तब क्या ब्रह्ममें कल्पित सृष्टि, प्रलय आदि सत्य हैं ? इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'एवंमयेऽपि' इत्यादिसे ।

यद्यपि ऐसा (सृष्टिकी ब्रह्ममयता) है, तथापि परम ब्रह्मरूप आकाशमें सृष्टि, महाप्रलय आदि कोई भी रङ्ग ऐसे नहीं हैं, जैसे चन्द्रबिम्बमें कलङ्कशून्यता ॥ २० ॥

श्रीरामजी, सम्पूर्ण मलोंसे रहित परम चिदाकाशमें कहां सृष्टि-प्रलयके कलङ्क, कहां आदि, मध्य और अन्तकी कल्पना तथा कहां लोकान्तरोंके विभ्रम ॥ २१ ॥

अपरिज्ञानमेवैकं तत्र दोषवदुत्थितम् ।
केवलं तत्पराावृत्य प्रेक्षणात्परिशाम्यति ॥ २२ ॥
अज्ञानं ज्ञप्तिबोधेन परामृष्टं प्रणश्यति ।
येनैवाभ्युदितस्तेन पवनेनेव दीपकः ॥ २३ ॥
अज्ञानं संपरिज्ञातं नासीदेवेति बुध्यते ।
अबन्धमोक्षं ब्रह्मैव सर्वमित्यवगम्यते ॥ २४ ॥
एवं बोधादयो राम मोक्ष उक्ताः स्वसंविदा ।
विचारयत्नो लभते नात्र कश्चन संशयः ॥ २५ ॥
इदं जगज्जालमनाद्यजातं
ब्रह्मार्थमाभातमितीह दृष्ट्वा ।

तब उस प्रकारके विभ्रममें कौन हेतु है और उसकी शान्ति कैसे होती है, इसपर कहते हैं—'अपरि०' इत्यादिसे ।

आत्माके तात्त्विक स्वरूपका अपरिज्ञान ही उसमें दोष-सा बनकर स्थित हो गया है, इसलिए बाह्यदृष्टिको हटाकर केवल प्रत्यगात्माकी ओर लगाई गयी बुद्धिसे यदि विचार किया जाता है, तो उसी विचारसे वह नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

जो आत्मा अज्ञानका साधक है, वह जब चरम (अन्तिम) आत्मसाक्षात्कार-वृत्तिसे प्रकाशित हो जाता है, तब वही अज्ञानका बाधक बन जाता है, इस विषयमें युक्ति बतलाते हैं—'अज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यदि विचारा जाय, तो वह अज्ञान जिस ज्ञानरूप आत्मासे सिद्ध हुआ है, उसीसे वह उस प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार पवनसे ही जनित अग्निका दीपक पवनसे नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

ज्ञान अज्ञान और अज्ञानके कार्यका निवर्तक है, यह कहते हैं—'अज्ञानं' इत्यादिसे ।

अज्ञान भलीभाँति परिज्ञात हो जानेपर 'वह नहीं ही था' इस रूपसे जाना जाता है तथा बन्ध और मोक्षसे रहित ब्रह्म ही सब कुछ है, यों बोध होता है ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, मोक्षके लिए ये ही वर्णित बोध आदि उपाय मैंने आपसे बतलाये । जिस पुरुषका सतत प्रयत्न आत्माके विचारमें चालू रहता है, वही अधिकारी पुरुष इन उपायोंको प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २५ ॥

श्रीरामजी, यह अनादि जगत्-रूपी जाल कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं है,

विचारदृष्ट्याऽष्टगुणेश्वरत्वं
पश्यंस्तृणं स्वात्मनि जीव आस्ते ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगदाकाशैकबोधो नामैकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

यदेतद्भवता दृष्टं चिद्व्योमवपुषा तदा ।
तदेकदेशसंस्थेन किमुत भ्रमताऽम्बरे ॥ १ ॥

परन्तु जो यह कुछ वर्णित जीव आदिरूप जगत् भासता है, वह तो भोग और मोक्ष चाहनेवाला यानी अपने तात्त्विक स्वरूपको न जाननेवाला ब्रह्म ही है। वर्णित विचारदृष्टिसे अणिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त सर्वेश्वर भी मायारूप होनेसे असार है—इस प्रकारके ऊँचे वैराग्यसे ईश्वररूपताको तृणरूप समझ रहा कोई अधिकारी पुरुष अपनेमें निरतिशयानन्दरूप ब्रह्मरूपताका निश्चयकर अपनी आत्मामें ही पूर्ण सन्तुष्ट हो स्थित रहता है ॥ २६ ॥

इकसठवाँ सर्ग समाप्त

बासठवाँ सर्ग

[आकाशरूप मुनिकी अनेक ब्रह्माण्ड देखनेकी इच्छा तथा स्वप्नके सदृश आकाशरूप स्त्रीके साथ बातचीत का वर्णन]

भगवन्, पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ते हुए आपने क्या उस जगत्-समूहको परिच्छिन्नभावसे स्थित होकर देखा या अपरिच्छिन्न चिदाकाशभावसे ? यों सन्देह करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'यदेतद्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, पक्षियोंकी नाईं आकाशमें उड़ते हुए आपने उस समय उस जगत्-समूहका जो अवलोकन किया, वह क्या एकदेशमें स्थित होकर किया या चिदाकाशरूप शरीरसे किया ? [यह कहनेकी कृपा कीजिये] ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

सम्पन्नोऽहमनन्तात्मा व्यापी व्योम तदा किल ।
स्यातां तस्यामवस्थायां कीदृशौ तौ गमागमौ ॥ २ ॥
नैकस्थानस्थितमयो नाहं गतिमयोऽभवम् ।
तदनेन स्व एवास्मिन् दृष्टमेतन्मयात्मनि ॥ ३ ॥
यथाऽङ्गानि शरीरत्वे पश्याम्यापादमस्तकम् ।
चिन्नेत्रेणाप्यनेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ४ ॥
अनाकृतेर्निरवयवस्थितेस्तदा
तथाऽभवद्विमलचिदम्बरात्मनः ।
जगन्ति तान्यवयवजालकानि मे
यथा स्वतो न विगलिता न वस्तुता ॥ ५ ॥

इनमें दूसरे विकल्पका अवलम्बनकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'सम्पन्नोऽहम०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब मैं अनन्तात्मा, सर्वव्यापक चिदाकाशरूप हो गया, तब उस आनन्त्यावस्थामें मेरे कैसे हो सकते हैं गमन और आगमन ॥ २ ॥

न तो उस समय मैं एक स्थानमें स्थित हो रहा था और न था मैं हो रहा गतिमय, इसलिए इस अपरोक्ष आत्मस्वरूप चिदाकाशमें ही अपने इसी अपरिच्छिन्नरूपसे मैंने यह सब जगत्-समूह देखा ॥ ३ ॥

एकदेशस्थिति आदिकी कल्पनाके बिना स्वात्मरूपसे अनात्मदर्शनकी असिद्धिका दृष्टान्त देकर निराकरण करते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे देहमें आत्मत्वबुद्धि होनेसे मैं पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त सभी अङ्गोंको देखता हूँ, वैसे ही मैंने इस चर्मचक्षुके बिना भी चिद्रूपी चक्षुसे जगत्समूह देखा ॥ ४ ॥

असङ्ग, उदासीन और अवयवशून्य ब्रह्मभूतका अवयव जगत् कैसे हुआ, इसपर कहते हैं—'अनाकृते०' इत्यादिसे ।

उस समाधिकालमें आकृतिशून्य निरवयवस्थितिसम्पन्न निर्मल चिदाकाशरूप हुए भी मेरे वे जगत् मेरी सत्ता ही से सत्तावान् होनेसे अवयवसमूह हो गये थे, जिससे कि मेरी वस्तुस्वभावता स्वतः नष्ट न हो सकी थी तथा स्वतः सत्ताशून्य होनेसे उनमें वस्तुता भी न थी । कहनेका तात्पर्य यह कि उस समय वास्तविक अवयवता न हुई ॥ ५ ॥

प्रमाणमत्र ते स्वप्नदृष्टो भुवनविभ्रमः ।
स्वप्नेऽनुभूयते दृश्यं न च किञ्चित्खमेव तत् ॥ ६ ॥
यथा पश्यति वृक्षः स्वं पत्रपुष्पफलादिकम् ।
स्वसंवेदननेत्रेण तथैतद्दृष्टवानहम् ॥ ७ ॥
यथाऽम्बुधिरनन्तात्मा वेत्ति सर्वान् जलेचरान् ।
तरङ्गावर्तफेनांश्च तथैतद्बुद्धवानहम् ॥ ८ ॥
अवयवान्स्वानवयवी यथा वेत्ति निजात्मनि ।
अनन्यानात्मनः सर्गास्तथैतान् बुद्धवानहम् ॥ ९ ॥
अद्यापि तानहं देहे व्योम्नि शैले जले स्थले ।
तथैव सर्गान्पश्यामि राम बोधैकतां गतः ॥ १० ॥

उक्त अर्थमें स्वाप्निक जगत्के उस तरहके रूपको प्रमाणरूपसे उपस्थित करते हैं—'प्रमाणमत्र' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें आपको प्रमाण तो स्वप्नमें देखा गया भुवनका विभ्रम ही है, क्योंकि स्वप्नमें जो दृश्य अनुभूत होता है वह चिदाकाश ही है, उसके सिवा और कुछ नहीं ॥ ६ ॥

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि श्रुति तो निर्विकल्पक समाधिमें ही जगत्के दर्शनाभावका वर्णन करती है, सविकल्पक समाधिमें जगत्के दर्शनाभावका वर्णन नहीं करती, इस अभिप्रायसे नेत्र आदि इन्द्रियोंके बिना भी जगत्के अवलोकनमें दूसरा दृष्टान्त देते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वृक्षदेहात्मभूत—वृक्षका अभिमानी जीव पत्र, पुष्प, फलादिसे सम्पन्न अपनेको ही देखता है, वैसे ही अपने ज्ञानरूपी नेत्रसे मैंने इस सारे जगत्को देखा ॥ ७ ॥

अनन्त-समुद्राभिमानी जीव समस्त जलचरों, तरङ्गों, आवर्तों एवं फेनको जैसे जानता है, वैसे ही मैंने नानाविध अनेक संसारोंको जाना ॥ ८ ॥

जैसे अवयवी अपने अवयवोंको अपने स्वरूपके अन्दर अपनेसे अनन्य ही समझता है, वैसे ही इन सृष्टियोंको मैंने समझा ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बोधस्वरूप आत्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हुआ मैं अब भी उन नानाविध अनेक सृष्टियोंको वैसे ही देह, आकाश, शैल, जल और स्थलमें भी देख रहा हूँ ॥ १० ॥

पुरोऽस्माकमिदं विश्वं गृहस्यान्तर्बहिस्तथा ।
पूर्णमेतज्जगद्वृन्दैर्वेद्मि बोधैकतां गतः ॥ ११ ॥
यथाम्भो रसतां वेत्ति शैत्यं वेत्ति यथा हिमम् ।
स्पन्दं वेत्ति यथा वायुस्तथैतद्वेद्मि शुद्धधीः ॥ १२ ॥
यो यो नाम विवेकात्मा शुद्धबोधैकतां गतः ।
सम एव मयैकात्मा वेद्मि स्वात्मानमीदृशम् ॥ १३ ॥
अस्या दृष्टेः परिणतेर्वेत्तृवेदनवेद्यधीः ।
न काचिदस्त्यभ्युदिता विज्ञानात्मैकता यतः ॥ १४ ॥
दिव्या दृगद्रिसंस्थस्य यथा योजनकोटिगान् ।
भावान्वेत्ति बहिश्चान्तरेवं तद्बुद्धवानहम् ॥ १५ ॥

यह सारा विश्व हमारे सामने उपस्थित है। बोधस्वरूप आत्माके साथ एकताको प्राप्त हुआ मैं घरके भीतर और बाहरके देशको इन नाना जगत्-समूहोंसे परिपूर्ण समझता हूँ ॥ ११ ॥

जैसे जल रसताको जानता है, जैसे हिम शैत्यको जानता है, जैसे स्पन्दनको हवा जानती है, वैसे ही शुद्धबुद्धि ज्ञानी पुरुष इस संसारको भी जानता है ॥१२॥

क्या अकेले आप ही जानते हैं ? इसपर 'नहीं' यह कहते हैं—'यो यो' इत्यादिसे।

जो-जो विवेकी पुरुष शुद्ध बोधात्माके साथ ऐक्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे सबके सब मेरे साथ एकरूप हो गये हैं, इसलिए मैं उन सबका एक आत्मा होकर अपने आत्माको इस तरह देखता हूँ ॥ १३ ॥

इस सर्वात्मस्वरूप दृष्टिका परिपाक हो जानेपर वेत्ता, वेदन और वेद्यरूप त्रिपुटीबुद्धि स्वात्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तुके रूपमें नहीं रह पाती, क्योंकि विज्ञानरूप आत्माके साथ सबकी एकरूपता उदित हो जाती है ॥ १४ ॥

एक ही ज्ञानसे व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थोंका दर्शन आपको कैसे हुआ, इस आशङ्कापर दृष्टान्त द्वारा इसका संभव बतलाते हैं—'दिव्या' इत्यादिसे।

पर्वतपर स्थित पुरुषकी दिव्य दृष्टि जैसे करोड़ों योजनपर स्थित बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थोंको देखती है, वैसे ही मैंने भी ये सब जगत् देखे ॥ १५ ॥

यथा भूमण्डलं भावान्निधिधातुरसादिकान् ।
वेत्त्येवं तन्मया बुद्धमनन्यद्दृश्यमात्मनः ॥ १६ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्ननुभवत्येवं त्वयि तामरसेक्षण ।
सा किं कृतवती ब्रूहि कान्ताऽऽर्यापाठपाठिनी ॥ १७ ॥

वसिष्ठ उवाच

तामेवार्यां पठन्ती सा तथैवाऽनुनयाऽन्विता ।
मत्समीपे नभोदेहा व्योम्नि देवीव संस्थिता ॥ १८ ॥
यथाऽहमाकाशवपुस्तथैवासौ खरूपिणी ।
तेन दृष्टा न सा पूर्वदेहेन ललना मया ॥ १९ ॥
अहमाकाशमात्रात्मा सा खमात्रशरीरिणी ।
जगज्जालं खमात्रं तदिति तत्र तदा स्थितम् ॥ २० ॥

जैसे पृथिवीमण्डलका अभिमानी जीव पृथिवीपरके निधि, धातु, रस आदि सभी पदार्थोंको जानता है, वैसे ही मैंने भी अपनेसे अभिन्न सम्पूर्ण दृश्य-समूहको जाना ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे कमललोचन ब्रह्मन्, जब आप इस तरह अनुभव कर रहे थे, तब आर्या छन्द पढ़नेवाली उस कान्ताने क्या किया, यह कहिये ॥ १७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस आर्या छन्दका पाठ करती हुई उसी प्रकार प्रशंसादि प्रीतिजनक व्यापारसे युक्त, चिदाकाशशरीरधारिणी वह कान्ता आकाशमें देवीकी तरह मेरे समीपमें स्थित हुई ॥ १८ ॥

यदि वह आपके समीप स्थित थी, तो फिर आपने बिना समाधिके ही पहले ही उसे क्यों नहीं देखा, इसपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसा मैं आकाशमयशरीर था वैसी ही वह ललना भी आकाशमयशरीर थी, अतः समाधिके पहले उस शरीरसे मैं उसे न देख सका ॥ १९ ॥

आकाशस्वरूप मैं था, आकाशमय शरीरधारिणी वह थी तथा आकाशमय वह सारा संसारसमूह भी उस समय चिदाकाशमें ही स्थित था ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

शरीरस्थानकरणप्रयत्नप्राणसम्भवैः ।
यदुदेति वचो वर्णैस्तत्कुतस्त्वादृशाकृतेः ॥ २१ ॥
रूपालोकमनस्काराः कुतो नाभात्मनामिति ।
ब्रूहि मे भगवंस्तत्त्वं यथावृत्तस्य निश्चयम् ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

रूपालोकमनस्काराः शब्दपाठवचांसि च ।
यथा स्वप्ने नभस्येव सन्ति तत्र तथाऽम्बरे ॥ २३ ॥
रूपालोकमनस्कारैः स्वप्ने चिन्नभ एव ते ।
यथोदेति तथा तत्र तदुद्दश्यं खात्मकं स्थितम् ॥ २४ ॥

यदि वह कान्ता आकाशरूप ही थी, तो फिर जीभ, तालु, ओठ एवं प्राणवायुके न रहनेसे कैसे वह आर्याका पाठ कर सकी, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'शरीर०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, शरीरमें स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुए वर्णोंसे जो वाक्य उत्पन्न होता है वह आकाश-शरीरधारिणी उस, स्त्रीसे कैसे उत्पन्न हुआ ॥ २१ ॥

एवं आकाशस्वरूप आपके लिए भी उसके रूपदर्शनका पर्यालोचन करना कोई सरल काम नहीं है, यह कहते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

भगवन्, बाह्यरूप आदिका दर्शन तथा आभ्यन्तर मनका अनुभव शुद्ध चिदाकाशरूप आत्माओंको कैसे हो सकता है, इसलिए उस समय आपने जो जगत्‌के दर्शन तथा सम्भाषण आदि व्यवहार किये, उसका जो निचोड़ हो, वह मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ॥ २२ ॥

कल्पनासे यह सब कुछ उपपन्न है, इसमें स्वप्नदृष्टान्त ही प्रमाण है, यह उत्तर देते हैं—'रूपालोक०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नमें बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञान, शब्दपाठ तथा वचन आकाशमें ही स्थित रहते हैं वैसे ही ये सभी पदार्थ उस चिदाकाशमें ही रह रहे हैं ॥ २३ ॥

हे श्रीरामजी, जैसे आपके स्वप्नमें चिदाकाश ही बाह्य तथा आभ्यन्तर

न केवलं तु तद्दृश्यं यावत्तु विषयं वयम् ।
जगच्चेदं खमेवाच्छं यथा तन्नस्तथाऽखिलम् ॥ २५ ॥
परमार्थमहाधातुर्वेद्यनिर्मुक्तचिद्वपुः ।
एवं नाम स्वयं भाति स्वभावस्यैव निश्चयः ॥ २६ ॥
शरीरस्थानकरणसत्तायां का तव प्रमा ।
यथैव तेषां देहादि तथाऽस्माकमिदं स्थितम् ॥ २७ ॥
यथैव तत्तथैवेदं तथैवेदं यथैव तत् ।
असत्सत्तामिव गतं सद्वासदिव च स्थितम् ॥ २८ ॥

पदार्थोंके रूपसे उदित होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकालमें भी वह सारा दृश्य-प्रपञ्च चिदाकाशरूप ही स्थित था ॥ २४ ॥

यह तो मैं बहुत ही कम कह रहा हूँ कि वह सारा दृश्य प्रपञ्च चिदाकाशरूप ही स्थित था। तत्त्वतः विचार करनेपर तो इस समय यह सम्पूर्ण संसार भी चिदाकाशरूप ही है। यहाँ भी शरीरादि भ्रान्तिसे ही व्यवहारभ्रम हो रहा है, यह महाराज वसिष्ठजी कहते हैं—'न केवलम्' इत्यादिसे।

हमारे लिए केवल वही दृश्य चिदाकाशरूप था, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ये जितने पदार्थ हम लोगोंकी बुद्धिके विषय हैं वे सबके सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिदाकाशरूप ही इस समय भी ऐसे विद्यमान हैं, जैसे कि हमारे उस समाधिकालमें विद्यमान थे ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जगत्की वासनासे उपहित चितिस्वभावका जो निश्चय है वह एक परमार्थ महाधातु (परमार्थरूपी श्रेष्ठमणि) है, जिसका विषयनिर्मुक्त एकमात्र चिति ही शरीर है, वही स्वयं भासता है, यह सर्वत्र श्रुति तथा विद्वानोंके अनुभव आदिसे प्रसिद्ध है ॥ २६ ॥

भद्र, शरीरस्थान करणों (जीभ आदि इन्द्रियों) की सत्तामें आपको कौन-सी प्रमा है ? जैसे उनके देहादि स्थित हैं वैसे ही हमारा भी यह स्थित है ॥ २७ ॥

जैसे स्वमादि देहोंकी सत्ता है, वैसे ही यह भी है; जैसे यह है, वैसे ही वह भी है। असत् यह जगत् सद्रूपताको मानो प्राप्त है तथा निर्विशेष आत्मतत्त्वरूप जो सत् है वह भी आवृत होनेके कारण असत्ता—अत्यन्त अप्रसिद्ध-

यथा स्वप्ने धराध्वाद्रिपृष्ठव्यवहृतिर्नभः ।
तदा ह्यहं च त्वं सा च तदिदं च तथा नभः ॥ २९ ॥
यथा स्वप्ने नृभिर्युद्धकोलाहलगमागमाः ।
असन्तोऽप्यनुभूयन्ते संसारनिकरास्तथा ॥ ३० ॥
वक्षि चेत्स्वप्नदृश्यश्रीः कस्मात्तदसमञ्जसम् ।
अवाच्यमेतद्धेतुर्हि नान्योऽस्त्यनुभवस्थितेः ॥ ३१ ॥
कथमालक्ष्यते स्वप्न इति प्रष्टुः प्रकथ्यते ।
यथैवं पश्यसीत्येव हेतुरत्रास्ति नेतरः ॥ ३२ ॥
स्वप्नजन्तुरिव व्योम्नि भाति प्रथमसर्गतः ।
प्रभृत्येव विराडात्मा खे खमेव परस्परे ॥ ३३ ॥

सा—स्थित है। इतना ही नहीं और सुनिये—चिदानन्दस्वभावका जो व्यत्यास (उलट-फेर है) वह भी ऐसा ही है ॥ २८ ॥

जैसे स्वप्नमें पृथिवीके ऊपर खेती आदि, रास्तोंपर यातायात आदि तथा प्रासाद आदिके ऊपर शयन आदिका जो व्यवहार होता है वह भी स[ब] चिदाकाशरूप ही है। वैसे ही उस समय मैं, आप, वह स्त्री तथा वह और य[ह] सब कुछ चिदाकाशरूप ही था ॥ २९ ॥

जैसे स्वप्नमें न रहते हुए भी युद्धके कोलाहल तथा यातायातका मनुष्य अनुभव करते हैं, वैसे ही ये जगत्‌के समूह मनुष्यों द्वारा अनुभूत हो रहे हैं ॥३०॥

स्वप्नके वैचित्र्यमें भी किसी अन्य हेतुकी संभावनाका तो अवकाश ही नहीं है, क्योंकि अनवस्था आदि दोष आ जानेके भयसे सभी वादियोंके इ[illegible] हो जानेके कारण 'एकमात्र अविद्योपहित चिदात्माका ही यह स्वभाव है' इ[illegible] मेरे पक्षकी ही अन्तमें सिद्धि है, यह कहते हैं—'वक्षि' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यदि आप यह कहें कि यह स्वप्नदृश्यश्री कैसे हुई, तो आपका वह कहना असंगत होगा। यह अवाच्य है, क्योंकि स्वप्नानुभवस्थितिके अन्य कोई दूसरा हेतु ही नहीं है ॥ ३१ ॥

स्वप्न कैसे दिखाई देता है, यह पूछनेवालेको सभी लोग यही उत्तर देते हैं कि—जैसे तुम देखते हो। तात्पर्य यह कि उसका अनुभव ही उसके प्रश्नका एकमात्र उत्तर है। यहाँपर उसका साधक कोई दूसरा हेतु नहीं है ॥ ३२ ॥

सुषुप्तिसदृश प्रलयके अनन्तर प्रथम सर्गसे ही स्वप्नजन्तुकी तरह आकाश

स्वप्नशब्देन बोधार्थं तव व्यवहराम्यहम् ।
दृश्यं त्विदं न सन्नासन्न स्वप्नो ब्रह्म केवलम् ॥ ३४ ॥
अथ राघव सा कान्ता मया कान्तानुषङ्गिणी ।
संविदं तन्मयीं कृत्वा पृष्टेदं दृश्यरूपिणी ॥ ३५ ॥
व्यवहारो यथोदेति स्वप्ने स्वप्नजनैः सह ।
तथा तदा तया सार्द्धं व्यवहारो ममोदितः ॥ ३६ ॥
यथैव स्वप्नसंकाशो व्यवहारः खमेव सः ।
तथैव त्वमिमं विद्धि मामात्मानं जगच्च खम् ॥ ३७ ॥

रूप विराडात्मा चिदाकाशमें चिदाकाशका ही विस्तार करता है, यह कहते हैं—'स्वप्न०' इत्यादिसे ।

सुषुप्तिसदृश प्रलयके अनन्तर आकाशमें स्वप्नके जीवके सदृश प्रथम सर्गसे ही विराट्-रूप चिदाकाश ही चिदाकाशमें परस्पर विषय-विषयीरूपसे सापेक्ष होकर भासता है ॥ ३३ ॥

तब क्या दृष्टान्तभूत स्वप्नस्वभाव ही जगत् है, 'नहीं' यह कहते हैं—'स्वप्नशब्देन' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, मैं आपके बोधके लिए स्वप्नशब्दसे व्यवहार करता हूँ । वस्तुतः यह दृश्यप्रपञ्च तथा स्वप्न भी न तो सत् है और न असत् ही है, किन्तु केवल ब्रह्म ही है ॥ ३४ ॥

इस तरह अवान्तर प्रश्नका उत्तर देकर पूर्वमें पूछी गयी कथाके शेष अंशको कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

तदनन्तर हे राघव, कान्तमें अनुरागवती उस दृश्यरूप कान्तासे—उसके अभिप्रायका विशेष ज्ञान रखनेवाली संवित्का सङ्कल्प करके—मैंने यह पूछा— ॥ ३५ ॥

भगवन्, शरीररहित आपका उसके साथ प्रश्नादि व्यवहार कैसे हुआ, इसपर कहते हैं—'व्यवहारो' इत्यादिसे ।

स्वप्नमें स्वप्नजनोंके साथ जैसा व्यवहारप्रवृत्त होता है, वैसा ही उस समय मेरा भी व्यवहार उस स्त्रीके साथ प्रवृत्त हुआ ॥ ३६ ॥

उसके साथ इस समयका व्यवहार भी मेरा वैसा ही था, यह कहते हैं—'यथैव' इत्यादिसे ।

यथा स्वप्नजगद्रूपं खमेवैवमिदं जगत् ।
जाग्रदादौ स हि स्वप्नः सर्गादौ जगदुद्भवः ॥ ३८ ॥
स्वप्नोऽयं जगदाभोगो न किंचिद्वा खमेव च ।
निर्मलं ज्ञप्तिमात्रमित्थं सन्मात्रसंस्थितम् ॥ ३९ ॥
स्वप्नस्य विद्यते द्रष्टा साकारो युष्मदादिकः ।
द्रष्टा तु सर्गस्वप्नस्य चिद्व्योमैवामलं स्वतः ॥ ४० ॥
यथा द्रष्टाऽमलं व्योम दृश्यं तद्वद्गतं तथा ।
स्वप्नरूपजगत्युच्चैर्जगत्त्वेनामलं नभः ॥ ४१ ॥
चिद्व्योम्नोऽनाकृतेः स्वप्नो हृदि स्फुरति यः स्वतः ।
सर्गस्तस्य कुतस्तेन साकृतित्वं कथं भवेत् ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्न सदृश वह व्यवहार आकाशरूप ही था, वैसे ही यह आत्मा, मैं तथा जगत् भी चिदाकाशरूप ही है, यह आप जान लीजिये ॥ ३७ ॥

तब कहिये, जगत् और स्वप्न, ये दो नाम क्यों पड़े, इसपर कहते हैं— 'यथा स्वप्न०' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नका जगत् चिदाकाशरूप ही है वैसे ही यह जगत् भी चिदाकाशरूप ही है अर्थात् दोनों एक-से हैं, केवल भेद इतना ही है कि जाग्रत् कालके प्रारम्भमें जो जगत्का भान होता है उसे स्वप्न कहते हैं और सृष्टिके प्रारम्भमें जिसका उद्भव होता है उसे जगत् कहते हैं ॥ ३८ ॥

यह जो जगत्का आभोग है वह स्वप्न ही है अथवा कुछ नहीं है, वह एकमात्र चिदाकाश ही है । क्योंकि इस तरह जो कुछ दिखाई देता है वह सब निर्मल सत् तथा ज्ञप्तिमात्र ब्रह्म ही जगत्के रूपसे स्थित है ॥ ३९ ॥

अथवा हे श्रीरामचन्द्रजी, यह विशेष कह सकते हैं कि आप लोगोंकी वासनाके आकारसे स्वप्नका द्रष्टा साकार है, लेकिन सृष्टिरूप स्वप्नका द्रष्टा तो स्वतः चिदाकाश ही है ॥ ४० ॥

जैसे द्रष्टा और दृश्य दोनों निर्मल चिदाकाश ही हैं, वैसे ही द्रष्टा और दृश्यके मध्यमें पड़ा दर्शन भी चिदाकाशरूप ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस महान् स्वप्नरूप जगत्में जगत्-रूपसे निर्मल चिदाकाश ही स्थित है ॥ ४१ ॥

निराकार चिदाकाशका जो हृदयके भीतर स्वतः जगद्रूप स्वप्न स्फुरित

साकारस्यैव यत्स्वप्नजगत्तद्व्योम निर्मलम् ।
निराकारस्य चिद्व्योम्नः सर्गः स्वप्नः कथं न खम् ॥ ४३ ॥
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव चिन्नभः ।
पश्यत्यकृतमेवेमं जगत्स्वप्नं कृतं यथा ॥ ४४ ॥
मृद्व्या चिदाकाशमृदा ब्रह्मणा ब्राह्मणेन खे ।
कृतोऽपि न कृतः सर्गमण्डपोऽक्षगवाक्षकः ॥ ४५ ॥
नो कर्तृता न च जगन्ति न भोक्तृताऽस्ति
नास्तीति नास्ति न च किञ्चिदतोऽबुधः सन् ।
पाषाणमौनमवलम्ब्य यथाप्रवाह-
माचारमाचर शरीरमिहास्तु मा वा ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० चिदैक्यं नाम द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

होता है उस स्वप्नका जन्म कैसे हो तथा वन्ध्यापुत्रके सदृश उस जगत्से वह चिदाकाश साकार कैसे होगा ॥ ४२ ॥

साकार आप लोगोंका जो स्वप्न-जगत् है जब वह निर्मल चिदाकाशरूप है तब मेरा निराकार ब्रह्मका स्वरूप जगत् निर्मल चिदाकाशरूप क्यों न हो ॥४३॥

उपादान आदि सामग्रीके बिना अभित्तिमें ही चिदाकाश इस जगद्रूपी स्वप्नको बिना निर्मित हुए ही निर्मित-सा देखता है ॥ ४४ ॥

कोमल चिदाकाशरूप मिट्टीसे हिरण्यगर्भनामक ब्राह्मणने इन्द्रियरूपी झरोखोंसे युक्त देहादि सृष्टिरूप मण्डपका यद्यपि निर्माण किया है, फिर भी उसका वह निर्माण नहींके बराबर है ॥ ४५ ॥

न तो कर्तृता है, न ये जगत् हैं, न भोक्तृता है, न अस्तिता है और न कुछ नास्तिता ही है, अतः सम्पूर्ण दृश्योंका परिमार्जन हो जानेसे उनका एकमात्र साक्षी ही परमार्थ है। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, आप अपने भीतर पाषाणतुल्य मौनताका अवलम्बन करके बाहर यथाप्राप्त प्रवाहपतित व्यवहार करते चलिये। जबतक प्रारब्ध कर्मका शेष है तबतक यह शरीर रहे या इसके बाद न रहे—इसमें कोई विशेष नहीं है ॥ ४६ ॥

बासठवाँ सर्ग समाप्त

त्रिषष्टितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

तव स्त्रियाऽस्वरूपेण देहेनाभूतया कथम् ।
कथमुच्चारितास्तत्र वर्णाः कचटतादयः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

वर्णेषु खशरीराणां वर्णाः कचटतादयः ।
कदाचनापि नोद्यन्ति शवानामिव केचन ॥ २ ॥

तिरसठवाँ सर्ग

[अज्ञानीकी दृष्टिमें भीतर ही भीतर अनन्त सर्गसम्पत्तियाँ हैं, लेकिन ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें एकमात्र चिद्घन ब्रह्म ही सब कुछ है, यह वर्णन]

स्वप्नव्यवहारका दृष्टान्त देकर पूर्वमें समर्थित हुए भी शरीररहित पुरुषके संभाषण आदिरूप व्यवहारको मन्दबुद्धि पुरुषोंके स्पष्ट बोधके लिए श्रीरामचन्द्रजी पुनः पूछते हैं—'तव' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, उस स्त्रीके साथ मुख, जीभ आदि अवयवोंसे रहित एकमात्र वासनारूप देहसे आपका संभाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशामें आपने क च ट त प आदि वर्णोंका बिना जीभके कैसे उच्चारण किया ॥ १ ॥

वर्णोंका जो उच्चारण आदि व्यवहार है उसमें शरीरकी कारणता नहीं है, क्योंकि मृतक शरीरके रहते हुए भी वैसा व्यवहार नहीं दीखता तथा शरीरके न रहनेपर भी स्वप्नमें उस तरहका अनेक व्यवहार दीखता है, अतः अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचार है तथा व्यवहारको सहेतुक माननेपर सत्यतापत्ति भी है। इसलिए जो कुछ व्यवहार है वह सब सिर्फ कल्पनामात्र है। उस तरहका व्यवहार तो उस समय भी दुर्लभ ही था, इस आशयसे महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'वर्णेषु' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चिदाकाशस्वरूप तत्त्वज्ञानियोंके मतमें वर्णोंके बीचमें जो क च ट त प आदि वर्ण हैं उनके किसी कालमें

वर्णोच्चारो भविष्यच्चेत्प्रकटार्थस्ततः क्वचित् ।
स्वप्नेऽन्वभविष्यत्तं विनिद्रः पार्श्वगो जनः ॥ ३ ॥
तस्मान्न किञ्चित्स्वप्नेषु तत्सत्यं भ्रान्तिरेव सा ।
चिन्मात्राकाशकचनं तत्तथा खे स्वभावजम् ॥ ४ ॥
तदेन्दुकार्ष्ण्यखतनुशिलागेयादितां गताः ।
इवाभान्ति चिदाकाशास्तथा देहरवादयः ॥ ५ ॥
तच्चिदाकाशकचनं यन्नाम स्वप्नवेदने ।
आकाशमेव नभसः कचनं विद्धि नेतरत् ॥ ६ ॥
यथा स्वप्नस्तथैवेदं जाग्रदग्रे व्यवस्थितम् ।
आकाशमप्यनाकाशं यथैवेदं तथैव तत् ॥ ७ ॥

भी उच्चारण ऐसे नहीं होते, जैसे मृतकोंके मुखसे किसी वर्णके उच्चारण नहीं होते, क्योंकि वे सभी कल्पनामात्ररूप ही हैं ॥ २ ॥

उक्त अर्थमें अनुकूल तथा विपक्षमें प्रतिकूल तर्क उपस्थित करते हैं—'वर्णोच्चारो' इत्यादिसे ।

यदि कहीं स्वप्नोंमें वर्णोंका उच्चारण परमार्थ होता, तो फिर पासमें स्थित जागे हुए पुरुषको भी उसका अनुभव होता अर्थात् समीपस्थ जाग्रत् पुरुष भी उसे सुन पाता ॥ ३ ॥

इसलिए स्वप्नमें उसकी सत्यता कुछ भी नहीं है, वह एकमात्र भ्रान्ति ही है । निद्रास्वभावबलसे कल्पित चिदाकाशमात्रका वह स्फुरण चिदाकाशमें ही है ॥ ४ ॥

जैसे नेत्र रोगके कारण चन्द्रमामें कालापन, आकाशमें साकारता, पत्थरकी मूर्ति आदिमें गीत आदि ये सब प्रातिभासिक अर्थताको प्राप्त चिदाकाशरूप ही हैं, वैसे ही स्वाप्निक देह तथा शब्द आदि भी तत्तत् ज्ञात वस्तुके संस्कारोंसे उपहित चिदाकाशरूप ही होकर अवभासते हैं ॥ ५ ॥

जैसे आकाशका मूर्तरूपसे स्फुरण आकाशसे भिन्न नहीं है, वैसे ही वह चिदाकाशका स्फुरण आदि भी, जो स्वप्नज्ञानमें जगदाकारसे प्रसिद्ध है, उस चिदाकाशसे भिन्न नहीं है । हे श्रीरामजी, उसे आप चिदाकाशरूप ही समझिये ॥ ६ ॥

इस तरह स्वप्नके पदार्थोंमें चिदाकाशमात्रता सिद्ध करके उसीके साम्यसे

यथा कचति तच्चारु चेतनं चतुरं तथा।
यथास्थितं तदेवेदं सत्यं स्थिरमिव स्फुरत् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन्स्वप्न एवेदं कथं जाग्रदवस्थितम्।
असत्यमेव सत्यत्वमिव यातं कथं भवेत् ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु स्वप्नमयान्येव कथं सन्ति जगन्त्यलम्।
नान्यानि न च सत्यानि न स्थिराणि स्थितानि च ॥ १० ॥

सामने स्थित तथा समाधिमें दृष्ट हुए पदार्थोंमें भी चिदाकाशमात्रता सिद्ध ही है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे स्वप्नकालका जगत् चिदाकाशरूप है, वैसे ही हम लोगोंके सामने स्थित यह जाग्रत् कालका जगत् भी चिदाकाशरूप ही व्यवस्थित है। तथा जैसे यह जगत् चिदाकाशरूप होते हुए भी चिदाकाशरूप नहीं है, वैसे ही समाधिकालका भी मेरा वह जगत् है ॥ ७ ॥

इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ दीखता है वह सब चितिका ही स्फुरणरूप चमत्कार है, अणुमात्र भी अचिद्रूप कुछ नहीं है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जिस रीतिसे यह सब सौन्दर्यपूर्ण जगत् स्फुरित हो रहा है उस रीतिसे तो वह चतुर ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। जैसा यह जगत् सत्य और स्थिर-सा स्फुरित हो रहा है वैसा तो वह चतुर ब्रह्म ही स्थित है ॥ ८ ॥

प्रमाणगम्य जगत्प्रपञ्चकी तुलना प्रमाणागम्य स्वप्नसे करना अयुक्त है, यह श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'भगवन्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, स्वप्नरूप ही यह जगत् जाग्रत्रूपसे कैसे व्यवस्थित है तथा असत्य ही यह सत्य-सा कैसे हो गया, यह कैसे सम्भव है ॥ ९ ॥

ठीक है, आपाततः यह भले ही आँखोंका विषय हो जाय, फिर भी तत्त्वतः विमर्शका सहन न कर सकने तथा अस्थिर होनेसे स्वप्नका साम्य है ही, इस आशयसे कहते हैं—'शृणु' इत्यादिसे।

अनुभूतानि बीजानि बीजराशाविवाम्बरे ।
अन्यान्यन्यानि तान्येव समानि न समानि च ॥ ११ ॥
प्रत्येकमन्तरन्यानि तथैवाभ्युदितानि च ।
परस्परमदृष्टानि बहूनि विविधानि च ॥ १२ ॥
अन्योन्यं तानि सर्वाणि न पश्यन्त्येव किञ्चन ।
जडानीवैकराशीनि बीजानीव गलन्त्यपि ॥ १३ ॥
व्योमात्मत्वान्न गगनं न विदन्ति परस्परम् ।
अपि चेतनरूपाणि सुप्तानीव निरन्तरम् ॥ १४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जगत् कैसे स्वप्नमय ही है, यह आप अच्छी तरह सुनिये । स्वप्नके समान ही ये जगत् न तो आत्मासे भिन्नरूप हैं और न आत्माके समान ये सत्यरूप और स्थिर ही हैं । ये सबके सब अनिर्वचनीय ही एकमात्र आत्मसत्तासे स्थित हैं ॥ १० ॥

इस तरह परस्पर एक दूसरेका बीज होनेसे तथा विरुद्ध भेद और अभेदरूप एवं सम और असमरूप होनेसे इनका स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं—'अनुभूतानि' इत्यादिसे ।

जैसे बीजकी राशिमें अनुभूत हुए बीज स्वप्नमें कोई अन्य-अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम होते हैं और कोई विषम भी होते हैं; वैसे ही चिदाकाशमें सब जगत् कोई पहलेसे अन्य होते हैं, कोई ठीक वे ही उत्पन्न होते हैं, कोई सम और कोई विषम भी होते हैं ॥ ११ ॥

केलेकी छालकी रचनाकी तरह परस्पर भीतर-ही-भीतर अनन्तरूपमें इनकी स्थितिका अनुभव होनेसे भी ये सभी मिथ्या हैं, इसलिए स्वप्नसाम्य है ही, यह कहते हैं—'प्रत्येकम०' इत्यादिसे ।

प्रत्येक जगत्के भीतर परस्पर एक दूसरेसे न देखे गये अनेक भिन्न-भिन्न स्वरूपके ये जगत् वैसे ही उदित हुए हैं, जैसे केलेकी छाल ॥ १२ ॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं—'अन्योन्यम्' इत्यादिसे ।

वे सब जगत् परस्पर एक दूसरेको कदापि कुछ नहीं देख पाते तथा कोठीके भीतर रखे गये जड़ बीजोंकी एक राशिकी तरह भीतर ही भीतर नष्ट भी हो जाते हैं ॥ १३ ॥

नष्ट हो जानेपर भी वे चेतनरूप ही रहते हैं, तपे हुए खर्परमें गिरे हुए

सुप्ताः स्वप्नजगज्जालमहनि व्यवहारिणः ।
असुरा निहता देवैस्ते स्वप्नजगति स्थिताः ॥ १५ ॥
अज्ञानान्न गता मुक्तिं न जाड्याज्जडतामिताः ।
न देहवन्तः किं सन्तु विना स्वप्नजगत्स्थितेः ॥ १६ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जाले स्वाचारव्यवहारिणः ।
पुरुषा निहताः पुंभिस्ते तथैव व्यवस्थिताः ॥ १७ ॥
निर्मोक्षा निःशरीरास्ते चेतनावासनान्विताः ।
दृष्टं स्वप्नजगज्जालं विना च क्व वसन्तु ते ॥ १८ ॥
सुप्ताः स्वप्नजगज्जालव्यवस्थाचारचारिणः ।
ये हता राक्षसा देवैस्ते यथैव व्यवस्थिताः ॥ १९ ॥

जलबिन्दुके सदृश शून्यरूपता प्राप्त कर शून्यस्वरूप ही नहीं हो जाते। हम लोगोंकी तरह वे परस्पर देखते भी नहीं, किन्तु अज्ञानसे इनका चेतनरूप ढक जानेके कारण निरन्तर सोये हुए-जैसे स्वप्नका हीअनुभव करते हैं ॥ १४ ॥

सोये हुए वे जीव स्वप्नजगज्जालको प्राप्त कर वहींपर कल्पित दिनोंमें अपना सब व्यवहार करते हैं। स्वप्न-जगत्‌में स्थित वे असुर देवताओंसे निहत होकर अपने अज्ञानके कारण न तो मुक्ति प्राप्त करते हैं, न जड़ताके कारण जड़भावको प्राप्त होते हैं और न देहसहित ही वे रहते हैं। ऐसी दशामें इस तरहके वे स्वप्नजगत्स्थितिके सिवा हो ही क्या सकते हैं ? ॥ १५,१६ ॥

इसी तरह मनुष्य भी अपने स्वप्नरूप जगत्-समूहमें वासनाओंके कारण अपना-अपना आचार और व्यवहार करते हैं तथा वे स्वप्नके मनुष्य स्वप्नके अन्य पुरुषोंसे मार दिये जानेपर पूर्वोक्त असुर जीवोंके सदृश स्वप्नपरम्परामें ही स्थित रहते हैं ॥ १७ ॥

चूँकि वे भी ज्ञान न होनेके कारण मोक्षरहित और शरीरशून्य ही रहते हैं, अतः इसलिए वे जागरमें समर्थ और वासनाओंसे व्यवहारशील नहीं होते। अतः चेतना और वासनासे युक्त ऐसे मनुष्य दृष्टस्वप्नरूप जगत्समूहके सिवा कहाँ निवास करें ? स्वप्नके सिवा उनकी कोई दूसरी गति नहीं है, यह तात्पर्य है ॥ १८ ॥

यह असुर और मनुष्योंमें जो दिखलाया गया न्याय है, उसे राक्षस आदिमें भी लगाना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'सुप्ताः' इन दो श्लोकोंसे।

एवं ये निहता राम किं ते कुर्वन्ति कथ्यताम् ।
अज्ञत्वान्न गता मुक्तिं चेतनान्न दृषत्स्थिताः ॥ २० ॥
साद्र्यब्ध्युर्वीजनं दृश्यमिदं सर्वं यथास्थितम् ।
चिरायानुभवन्त्येते यथेमे वयमादृताः ॥ २१ ॥
तेषां कल्पजगत्संस्था यथाऽस्माकं तथैव ताः ।
अस्माकं जगतीसंस्था यथा तेषां तथैव च ॥ २२ ॥
एतेषां स्वप्नपुरुषास्त एवेमे वयं स्थिताः ।
ये च ते नाम संसारास्तेभ्य एकमिमं विदुः ॥ २३ ॥

सोये हुए, स्वप्नरूप जगज्जालकी व्यवस्थाके अनुसार आचार करनेवाले जो राक्षस स्वप्नके देवताओंसे मारे गये, वे असुरोंके सदृश उसी स्वप्नमें ही व्यवस्थित हैं ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जो स्वप्नमें मारे गये, कहिये वे क्या करते हैं। अज्ञानके कारण वे मुक्तिको नहीं प्राप्त हुए तथा चेतन होनेके कारण पत्थरके सदृश भी वे स्थित न रहे ॥ २० ॥

पर्वत, सागर, पृथिवी तथा अनेकजनोंसे भरे यथास्थित इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको वे लोग चिरकालतक ऐसे अनुभव करते हैं, जैसे ये सत्यत्वाभिमानी हम लोग अनुभव करते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, इसीलिए उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकालकी अनुवृत्तिसे हम लोगोंके अनुभवकी तरह जाग्रदवस्थारूप ही हो जाता है ॥ २१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके कल्प और जगत्की स्थिति, जैसी हम लोगोंकी है वैसी ही है और हम लोगोंके जगत्की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी उन लोगोंकी है ॥ २२ ॥

ऐसी स्थितिमें हम लोगोंसे अनुभूत हो रहा यह जगत् तथा इसके भीतर रहनेवाले हम लोग यदि उनसे देख लिये जाते हैं, तब तो हे श्रीरामजी, इनके स्वप्नके जो पुरुष हैं वे ही हम लोग ये स्थित हैं और उनके जो स्वप्नके संसार हैं, उनमेंसे कोई यह एक हमारा संसार है—ऐसा वे लोग अवश्य समझते होंगे ॥ २३ ॥

ते स्वप्नपुरुषास्तेषां सत्या एवानुभूतितः ।
आत्मनोऽपि परस्यापि सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ २४ ॥
यथा ते स्वप्नपुरुषाः सत्यमात्मन्यथाऽपरे ।
तथापि स्वप्नपुरुषाः सत्यमेव तथैव ते ॥ २५ ॥
स्वस्वप्नपुरपौरा ये त्वया दृष्टा यथैव ते ।
स्थितास्तत्र तथाऽद्यापि ब्रह्म सर्वात्मकं यतः ॥ २६ ॥
प्रबोधेऽपि हि भिद्यन्ते स्वप्नभावा यथास्थिताः ।
तथा स्थित्याऽनुभूयन्ते परब्रह्मतयाऽथवा ॥ २७ ॥
सर्वं सर्वात्म सर्वत्र सर्वदाऽस्ति तथा परे ।
यथा न किञ्चिन्नाकाशं न क्वचिन्न च हन्यते ॥ २८ ॥
निरन्तरे पराकाशे निरन्ते च विनोदये ।
निरन्ते चित्तसंघाते निरन्ते जगतां गणे ॥ २९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उनके स्वप्नके वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुषके भी अनुभवसे चूँकि तुल्य हैं अतः वे सत्य ही हैं, क्योंकि उनकी सत्ताके निमित्तभूत अधिष्ठानचिदात्मा सर्वगामी होनेसे तुल्य है ॥ २४ ॥

जैसे आत्मामें वे स्वप्नके पुरुष सत्य हैं वैसे ही दूसरे भी पुरुष, जिनका प्रत्येक स्वप्नमें मुझे अनुभव होता है, सत्य ही हैं। हे श्रीरामजी, आप भी उन्हें वैसा ही समझिये ॥ २५ ॥

जैसे आपने उस अपने स्वप्नमें अनेक नगर तथा अनेक नागरिक देखे, वैसे ही वे सब अब भी स्थित हैं, क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वात्मक है ॥ २६ ॥

तत्-तत् स्वाप्निक पदार्थ जाग्रदवस्थामें विशीर्ण हो जाते हैं, यह जैसे अनुभव होता है, वैसे ही वे स्वप्नकालमें स्थित भी रहते हैं, यह भी अनुभव होता है। अथवा सबकी सत्ता ब्रह्मसत्तारूप है, इसलिए किसीकी सत्ताका कदापि अपलाप नहीं किया जा सकता अतः सर्वात्मक सभी सर्वत्र सदा परब्रह्म परमात्माके उसीके रूपसे स्थित हैं। जैसे यह सारा संसार आकाशका कार्य होनेसे आकाशरूप ही है। आकाशरूपसे स्थित इसका कुछ भी कहीं नाश नहीं होता, वैसे ही उत्पत्ति-शून्य, निरन्तर और निरन्त परमाकाश ब्रह्ममें अन्तशून्य—अनेक चित्तसमूह हैं, उनमें अन्तशून्य (असीम) अनेक जगत्‌के गण हैं, उनमें भी प्रत्येक संसारके अनेक

प्रत्याकाशकलाकोशं प्रतिसंसारमण्डलम् ।
प्रतिलोकान्तराकारं प्रतिद्वीपं गिरिं प्रति ॥ ३० ॥
प्रतिमण्डलविस्तारं प्रतिग्रामं पुरं प्रति ।
प्रतिजन्तु प्रतिगृहं प्रतिवर्षं युगं प्रति ॥ ३१ ॥
यावन्तो ये मृताः केचिज्जीवा मोक्षविवर्जिताः ।
स्थितास्ते तत्र तावन्तः संसाराः पृथगक्षयाः ॥ ३२ ॥
तेषामन्तर्जनाः सन्ति जनं प्रति पुनर्मनः ।
पुनर्मनः प्रति जगज्जगत्प्रति पुनर्जनः ॥ ३३ ॥
इत्थमाद्यन्तरहित एष दृश्यमयो भ्रमः ।
ब्रह्मैव ब्रह्मवित्पक्षे नान्येयत्ताऽस्ति काचन ॥ ३४ ॥

आकाशकलाकोश हैं, उनमें भी प्रत्येकके अनेक संसारमण्डल हैं, उनमें भी प्रत्येक संसारमण्डलके पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न आकारके अनेक लोक हैं, उन लोकोंके अन्दर अनेक द्वीप हैं, उनमें भी प्रत्येक द्वीपके भीतर अनेक पर्वत हैं, उन पर्वतोंमें भी प्रत्येक पर्वतमें अनेक मण्डलोंका विस्तार है, उनमें भी प्रत्येक मण्डलके अनेक ग्राम हैं, उनमें भी प्रत्येक गांवके अन्दर अनेक छोटे-छोटे गांव हैं, उन छोटे-छोटे गांवोंके भीतर अनेक घर हैं, उनके भी प्रत्येक घरके अन्दर अनेक प्राणी रहते हैं। उन सब प्राणियोंके भी अनेक युगादिकाल हैं। जितने जो जीव मर चुके हैं और जो मोक्षरहित स्थित हैं उतने ही उनके अनेक अक्षय संसार पृथक्-पृथक् स्थित हैं ॥ २७–३२ ॥

उतनी संख्यासे भी संसारकी संख्या समाप्त नहीं हो जाती, इसलिए अनवस्था बराबर बनी हुई है, जो एकमात्र मायाका ही अलङ्कार है, इस आशयसे कहते हैं—'तेषा०' इत्यादिसे।

तथा उन जीवोंके वासनाके अन्दर अनेक जीव हैं और उन अनन्त जीवोंके अनन्त मन हैं। उनमें भी प्रत्येक मनके भीतर असंख्य संसारमण्डल हैं, पुनः उन संसारमण्डलोंके अनेक संसार हैं, फिर उन संसारोंमें भी प्रत्येक संसारमें अनेक जीव हैं, पुनः उन जीवोंके अनेक मन हैं और उन मनोंके भी अनेक संसार हैं ॥ ३३ ॥

इस तरह आदि और अन्तसे शून्य यह दृश्यमय भ्रम बराबर चला ही जा

कुड्ये नभस्युपलके सलिले स्थलेऽन्त-
श्चिन्मात्रमस्ति हि यतस्तदशेषविश्वम् ।
तद्यत्र तत्र जगदस्ति कुतोऽत्र संख्या
तज्ज्ञेषु तत्परमथाज्ञमनःसु दृश्यम् ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने जगत्तत्त्वैक्यप्रतिपादनं नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

रहा है । इसका कहींपर ओर-छोर नहीं है । लेकिन हाँ, ब्रह्मज्ञानीके पक्षमें यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही स्थित है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, भीतमें, आकाशमें, पाषाणमें, जलमें और स्थलमें सर्वत्र तत्-तत् पदार्थोंके अन्दर चूँकि चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है, अतः वही सम्पूर्ण विश्वरूप स्थित है, 'जगत्' इस नामकी कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें चिन्मात्र परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे जहाँ-तहाँ सर्वत्र जगत् है ही । अब आप ही सोच लीजिये कि इनकी संख्या कैसे बतलायी जा सकती है! वह सारा विश्व तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें निर्विशेष निरतिशयानन्दैकरस ब्रह्म ही है; परन्तु वही विश्व अज्ञानियोंके मनमें दृश्यप्रपञ्चरूपसे स्थित है यानी अनर्थरूप ही है * ॥ ३५ ॥

तिरसठवाँ सर्ग समाप्त

---

* देखिये यह श्रुति—'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' [तैत्ति० २।७]।

चतुःषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततस्तत्कुवलोल्लासिमालतीमाल्यलोचना ।
ललना ललिताऽऽलोक्य लीलयाऽऽलपिता मया ॥ १ ॥
का त्वं कमलगर्भाभे किमर्थं मामुपागता ।
कस्यासि किं प्रार्थयसे क्व गतासि किमास्पदा ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने शृणु यथावृत्तमात्मोदन्तं वदाम्यहम् ।
प्रष्टुमर्हसि विस्रब्धमार्तां करुणयाऽर्थिनीम् ॥ ३ ॥
परमाकाशकोशस्य कस्मिंश्चित्कोणकोटरे ।
युष्माकं संस्थितं किञ्चिदिदं तावज्जगद्गृहम् ॥ ४ ॥

चौसठवाँ सर्ग

[वसिष्ठजीके प्रश्न करनेपर विद्याधरी द्वारा विस्तारके साथ वैराग्यपर्यन्त अपने घरमें जन्म आदिका निरूपण]

प्रासङ्गिक विषयका निरूपण कर अब महाराज वसिष्ठजी प्रस्तुत कथाका अवशिष्ट भाग कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर उस ललित ललनाको देखकर मैंने कौतुकसे उससे पूछा, उसके नेत्र कमलके सदृश उल्लाससे भरे थे और कटाक्षमालाओंसे मालती मालाके सदृश भले लगते थे ॥ १ ॥

कमलके गर्भके सदृश कोमल तथा सुन्दर रूपवाली हे ललने, तुम कौन हो, मेरे पास क्यों आई हो, तुम किसकी लड़की और किसकी भार्या हो, क्या चाहती हो, कहाँ गई रहीं, तुम कहाँकी रहनेवाली हो ॥ २ ॥

विद्याधरीने कहा—हे मुने, आप सुनिये, मैं अपना वृत्तान्त जैसा है, वैसा आपसे कहती हूँ । यद्यपि एकान्तमें परस्त्रीसे सम्भाषण नहीं करना चाहिए, तथापि दुःखशान्तिके लिए प्रार्थना करनेवाली मुझसे तो आप एकान्तमें दयासे पूछ सकते हैं, क्योंकि दुःखियोंका आश्वासन देना सज्जनोंका धर्म है ॥ ३ ॥

पहले अपने घरको बतलानेके लिए उपक्रम करती है–'परमा०' इत्यादिसे ।

पातालभूतलस्वर्गा इहापवरकास्त्रयः ।
कल्पनैका कुमार्यत्र कृता धातृत्वमायया ॥ ५ ॥
तत्र द्वीपैः समुद्रैश्च वलितं वलयैरिव ।
पाटलोत्थं जगल्लक्ष्म्याः प्रकोष्ठमिव भूतलम् ॥ ६ ॥
अन्ते द्वीपसमुद्राणां सर्वदिक्कमवस्थिता ।
योजनानां सहस्राणि दश हेममयी मही ॥ ७ ॥
स्वयंप्रकाशसङ्कल्पफलदाम्बरनिर्मला ।
चिन्तामणिमयी स्वच्छा स्वच्छायाजितविष्टपा ॥ ८ ॥
साऽप्सरोमरसिद्धानां लीलाविहरणावनिः ।
सङ्कल्पमात्रसम्पन्नसर्वसम्भोगसुन्दरी ॥ ९ ॥

महाराज, परमाकाशरूप चिदाकाशके कोशके किसी एक कोनेमें कोई यह आपका जगद्रूपी घर स्थित है ॥ ४ ॥

इस आपके जगद्रूपी घरके अन्दर पाताल, भूतल और स्वर्ग—ये तीन घरके अन्दरके प्रकोष्ठ हैं, इन तीनों प्रकोष्ठोंमें हिरण्यगर्भके आकारमें स्थित मायाने चित्र-विचित्र कल्पनारूप एक कुमारीका (गृहस्वामिनीका) क्रीडार्थ निर्माण किया है ॥ ५ ॥

उन तीनोंमें जो भूतल है, वह कङ्कणोंके सदृश द्वीपों और समुद्रोंसे वलित है यानी चारों ओरसे घिरा हुआ है, इसलिए उनके रङ्गसे पाटल वर्णका बना हुआ उन्नत वह जगत्-लक्ष्मीका करमूल एक तरहसे बनकर स्थित है ॥ ६ ॥

सातों द्वीप और समुद्रोंके अन्तमें चारों ओरसे दस हजार योजनोंतक लम्बी-चौड़ी सुवर्णमयी पृथ्वी स्थित है ॥ ७ ॥

उसी पृथ्वीका वर्णन करते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

महाराज यह पृथ्वी बड़ी ही विचित्र है, यह रातमें भी स्वयं प्रकाशवती रहती है यानी इसमें रातको भी प्रकाशके लिए किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती, इसमें सभी तरहकी इच्छाएँ सफल हो जाती हैं, आकाशके सदृश यह निर्मल है, इसमें चिन्तामणियोंकी अधिकता काफी है, धूलीका तो इसमें नाम-निशान नहीं है, अपनी अपूर्व छटासे इसने स्वर्गादि लोकोंको भी तुच्छ बना दिया है ॥ ८ ॥

यह अप्सराओंको साथ लिये हुए देवताओं एवं सिद्धोंकी लीलाविहारभूमि

अन्ते तस्या भुवः शैलो लोकालोकोऽस्ति विश्रुतः ।
भूपीठस्य प्रकोष्ठस्य वलयावलनां दधत् ॥ १० ॥
क्वचिन्नित्यं तमोव्याप्तो मूढबुद्धेरिवाशयः ।
क्वचिन्नित्यं प्रकाशात्मा मनःसत्त्ववतामिव ॥ ११ ॥
क्वचिदाह्लादजनकः साधूनामिव सङ्गमः ।
क्वचिदुद्वेगजनको मूर्खैरिव समागमः ॥ १२ ॥
क्वचित्प्रकटसर्वार्थो मनो मतिमतामिव ।
क्वचिदत्यन्तगहनो मूर्खश्रोत्रियचित्तवत् ॥ १३ ॥
क्वचिदप्राप्तसोमांशुः क्वचिदप्राप्तसूर्यभाः ।
क्वचिल्लोकमयस्तेन क्वचिदाशून्यदिक्तटः ॥ १४ ॥

है। ज्यों ही केवल संकल्प किया, त्यों ही सब तरहके भोग प्राप्त हो गये—इसलिए अर्थात् सङ्कल्पमात्रसे सब तरहका भोग दिखानेवाली होनेके कारण वह अत्यन्त सुन्दर है ॥ ९ ॥

उस महीके अन्तमें (बाहरी प्रान्तमें) एक लोकालोक नामका अत्यन्त विख्यात पर्वत है। जगत्-लक्ष्मीके उन्नत करमूलभूत इस भूपीठको उसने कङ्कणके सदृश चारों ओरसे घेर दिया है ॥ १० ॥

अब उस पर्वतका वर्णन करती है—'क्वचित्' इत्यादिसे।

भगवन्, यह पर्वत कहींपर तो मूढ़मति पुरुषोंके अन्तःकरणके सदृश सदा अन्धकारसे व्याप्त है और कहींपर तो सात्त्विक पुरुषोंके अन्तःकरणके सदृश सदा प्रकाशमय है ॥ ११ ॥

जैसे सज्जनोंकी सङ्गति आह्लादको पैदा करती है, वैसे ही यह कहींपर अत्यन्त ही आह्लादको पैदा करता है तथा जैसे मूर्खोंके साथका समागम उद्वेग पैदा करता है, वैसे ही यह कहींपर उद्वेगको भी पैदा करनेवाला है ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् पुरुषोंके मनमें जैसे सभी अर्थ विस्पष्ट रहते हैं, वैसे ही इसमें कहींपर तो सभी अर्थ विस्पष्ट हैं और कहींपर तो यह इतना अतिगहन है, जैसे मूर्ख श्रोत्रिय पुरुषका चित्त ॥ १३ ॥

कहींपर तो इसमें चन्द्रमाकी किरणें ही जाने नहीं पातीं, कहींपर सूर्यकी ही किरणें नहीं जाने पातीं, कहींपर तो इसमें मनुष्य ही मनुष्य भरे पड़े हैं और कहींपर इसकी दिशाएँ जनोंसे एकदम शून्य हैं ॥ १४ ॥

क्वचिद्देवपुरव्याप्तः क्वचिद्दैत्यपुरान्वितः ।
क्वचित्पातालगहनः क्वचिच्छृङ्गोर्ध्वकन्धरः ॥ १५ ॥
क्वचिच्छ्वभ्रभ्रमद्गृध्रः क्वचित्सानुमनोहरः ।
क्वचिच्छृङ्गशिखाक्रान्तवैरिञ्चनगरान्तरः ॥ १६ ॥
क्वचिच्छून्यमहारण्यवहत्कल्पान्तमारुतः ।
क्वचित्पुष्पवनोद्यानगायद्विद्याधरीगणः ॥ १७ ॥
क्वचित्पातालगम्भीरगुहाकुम्भाण्डभीषणः ।
क्वचिन्नन्दनसोदर्यमुन्याश्रममनोरमः ॥ १८ ॥
क्वचिदक्षयमत्ताभ्रः क्वचिद्दुर्लभवारिदः ।
क्वचिद्दूर्भगुहाश्वभ्रगहनोपान्तमण्डलः ॥ १९ ॥
क्वचित्क्षुब्धजनाक्षेपसमुत्सादितभूतभूः ।
क्वचिद्वास्तव्यजनतासौजन्यजितविष्टपः ॥ २० ॥

कहींपर तो देवताओंके नगरके-नगर हैं, कहींपर दैत्योंके बड़े-बड़े नगर विद्यमान हैं, कहींपर पातालके सदृश गहरा है यानी वहां प्रवेश ही होना कठिन है, तो कहींपर अपने शिखरोंसे उन्नत कन्धा किये हुए है ॥ १५ ॥

कहींपर तो उसके गड्ढोंमें गीध घूम रहे हैं, कहींपर तो समान भूभागके कारण वह बड़ा ही लुभावना लगता है, कहींपर तो उसके भीतरी भागमें शिखरकी चोटीसे आक्रान्त ब्रह्माजीका नगर बसा है ॥ १६ ॥

कहींपर तो उसमें जनोंसे शून्य बड़े-बड़े जंगल हैं, कहींपर कल्पान्तकी वायु बह रही है, कहींपर फुलवारियोंमें विद्याधरियोंके गान हो रहे हैं ॥ १७ ॥

कहींपर पातालके सदृश अत्यन्त गहरी गुफाओंमें कुम्भाण्ड पिशाचोंका वास होनेके कारण बड़ा भयङ्कर है, कहींपर नन्दनवनके दूसरे भाईके सदृश सुन्दर मुनि-आश्रमोंसे बड़ा लुभावना लगता है ॥ १८ ॥

कहींपर निरन्तर ही स्थित रहनेवाले मतवालोंकी नाईं गर्जनमें निरत मेघमण्डल है, तो कहींपर मेघोंका दर्शन ही दुर्लभ है, कहींपर उसकी सीमाके समीपका मण्डल भीतरी गुहाच्छिद्रके कारण अतिगहन है ॥ १९ ॥

कहींपर जनपदके विक्षुब्ध हो जानेके कारण विचलित हुए मनुष्योंके कुठार आदि प्रहारोंसे राक्षस-पिशाच आदिका निवास (पिप्पल आदि) उच्छिन्न हो गया

क्वचिन्नित्यं वहद्वाताजातस्थावरजङ्गमः ।
क्वचित्सर्वक्षयोन्मुक्तस्थिरस्थावरजङ्गमः ॥ २१ ॥
क्वचिन्महामरुमरुन्मुक्तभाङ्कारभीषणः ।
क्वचित्कणत्कमलिनीमत्तसारसभूषणः ॥ २२ ॥
क्वचित्सलिलकल्लोलजलदोल्लासघर्घरः ।
क्वचिन्मत्ताप्सरोदोलाविलासजनितस्मरः ॥ २३ ॥
क्वचित्पिशाचकुम्भाण्डवेष्टिताचेष्टदिक्तटः ।
क्वचिद्विद्याधरीसिद्धनृत्यगीतसरित्तटः ॥ २४ ॥
क्वचिदुद्धर्षदम्भोदसरिद्बाहुलुठत्तटः ।
क्वचित्सततगानीतनीतनानाभ्रसत्पटः ॥ २५ ॥
क्वचित्कमलिनीकोशवक्त्रस्थाध्यानमण्डलः ।
क्वचित्स्वर्गाङ्गनासिद्धसुन्दरीदन्तमण्डनः ॥ २६ ॥

है और कहींपर रहनेवाले मनुष्योंकी सज्जनताके कारण उसने स्वर्गपर भी विजय पा ली है ॥ २० ॥

कहींपर तो निरन्तर बह रही वायुओंके द्वारा ही स्थावर और जङ्गम भूत उत्पन्न ही नहीं हुए हैं, तो कहींपर विषादि रोगोंके न रहनेके कारण सर्वविनाशसे निर्मुक्त स्थावरजङ्गम भूत स्थिर हैं ॥ २१ ॥

कहींपर मरुस्थलीके बड़े-बड़े झंझावातोंके द्वारा उत्पन्न झङ्कारध्वनिसे महान् भयङ्कर लगता है, तो कहींपर वह कमलयुक्त तालाबोंमें कल-कल ध्वनि कर रहे सारसोंके कारण मनोरम है ॥ २२ ॥

कहींपर जलोंका सुन्दर विलास है, कहींपर मेघोंके गर्जनसे घर्घरध्वनियुक्त है और कहींपर प्रमत्त अप्सराओंके दोलाविलासोंसे काम पैदा करनेवाला है ॥ २३ ॥

कहींपर तो उसके दिशातट पिशाचों एवं कुम्भाण्डोंसे वेष्टित होनेके कारण स्तब्ध हैं और कहींपर तो उसके नदीतटपर विद्याधरी और सिद्ध नृत्य कर रहे और गीत गा रहे हैं ॥ २४ ॥

कहींपर बरस रहे मेघोंकी नदीरूप बाहुओंसे उसका कुछ तटभाग तोड़ दिये जानेके कारण भयावह लगता है, तो कहींपर निरन्तर चलनेवाली वायुके द्वारा लाये गये अनेक मेघरूप सुन्दर वस्त्रोंके कारण भला भी लगता है ॥ २५ ॥

कहींपर अपने कोशरूपी मुखपर स्थित भ्रमरभूत नेत्रोंसे ध्यान कर रही

क्वचित्तपद्दिनकरजनताचारसुन्दरः ।
क्वचिन्नैशतमोगेहनृत्यन्मत्तनिशाचरः ॥ २७ ॥
क्वचिदुत्पतदुत्पाततया नश्यज्जनावनिः ।
क्वचित्सौराज्यसम्पत्त्या प्रोद्भवत्पुरमण्डलः ॥ २८ ॥
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यः क्वचिज्जनपदावृतः ।
क्वचिच्छ्वभ्रान्तगम्भीरः क्वचित्पातालभीषणः ॥ २९ ॥
क्वचिद्बृहत्कल्पतरुः क्वचिन्निर्जलजङ्गमः ।
क्वचिन्महाकरिकुलः क्वचिन्मत्तहरिव्रजः ॥ ३० ॥
क्वचिन्निर्भूतमुद्यातः क्वचिदुन्मत्तराक्षसः ।
क्वचित्करञ्जगहनः क्वचित्तालमहावनः ॥ ३१ ॥
क्वचिद्व्योमोपमसराः क्वचिद्दीर्घमरुस्थलः ।
क्वचिन्नित्यभ्रमत्पांसुः क्वचित्सर्वर्तुकाननः ॥ ३२ ॥

कमलिनियोंका समूह भरा पड़ा है, तो कहींपर अप्सराओं और सिद्धोंकी रम-णियोंके दाँतोंको सुशोभित करनेवाले ताम्बूलोंका वन अतिरमणीय लगता है ॥ २६ ॥

कहींपर तप रहे सूर्य और जनताके आचरणसे सुन्दर है, तो कहींपर रातके अन्धकाररूप घरमें मत्त निशाचर नृत्य कर रहे हैं, अतएव बीभत्स भी है ॥ २७ ॥

कहींपर उत्पन्न हो रहे बड़े-बड़े उत्पातोंके कारण उसकी भूमि मनुष्योंके विनाशसे भयप्रद है, तो कहींपर उत्तम राज्य-सम्पत्तिसे बसाये जा रहे नगरोंके कारण हर्षप्रद भी है ॥ २८ ॥

कहींपर अत्यन्तशून्य ही है, कहींपर जनपदोंसे आक्रान्त है; कहींपर जलपूर्ण महाह्रदोंके कारण गम्भीर है, तो कहींपर शुष्क पातालोंके कारण भीषण है ॥ २९ ॥

कहींपर उसमें बड़े-बड़े कल्पतरु वृक्ष हैं, कहींपर वह जलरहित है, कहींपर चलने-फिरनेवाले प्राणी भरे पड़े हैं, कहींपर बड़े-बड़े हाथियोंके झुण्डके झुण्ड हैं, कहींपर प्रमत्त सिंह, वानर आदि हैं ॥ ३० ॥

कहींपर तो प्राणियोंसे शून्य होकर ही व्यर्थका उन्नत बना है, कहींपर लम्बी मरुभूमि ही पड़ी है, कहींपर करञ्ज वृक्षोंके कारण वह अतिगहन है, कहींपर तालके ही बड़े बड़े वन उसमें विद्यमान हैं ॥ ३१ ॥

कहींपर उसमें आकाशके सदृश निर्मल और विस्तृत बड़े-बड़े सरोवर हैं,

शिखरेषु शिलास्तस्य सामान्याचलसन्निभाः ।
सन्ति सुस्थितकल्पाभ्रा रत्नमय्योऽम्बरामलाः ॥ ३३ ॥
क्षीरोदकार्कगौरीणां वनस्कन्धौकसामिव ।
विश्राम्यन्त्यनिशं यासु हरयो हरियोनयः ॥ ३४ ॥
तासामुत्तरदिग्भागे पूर्वशृङ्गशिलोदरे ।
निवसाम्यहमक्षीणवज्रसारसमत्वचि ॥ ३५ ॥
विधिना तत्र बद्धाऽस्मि वसाम्युपलयन्त्रके ।
अत्रासंख्या मुने याता मन्ये युगगणा मम ॥ ३६ ॥
न केवलमहं बद्धा यावद्भर्तापि तत्र मे ।
बद्धः सायंतने पद्मकुड्मले षट्पदो यथा ॥ ३७ ॥

कहींपर महामरुस्थल हैं, तो कहींपर निरन्तर उड़ रही धूलिसे वह पूर्ण है, कहींपर तो उसमें ऐसे अरण्य हैं कि उनमें बारहों मासोंकी ऋतुएँ रहती हैं यानी एक साथ सभी ऋतुओंका उनमें आनन्द मिलता है ॥ ३२ ॥

अधिक क्या कहूँ, महाराज, उसके शिखरोंपर ऐसी रत्नमयी बड़ी बड़ी शिलाएँ हैं, जो कि छोटे-मोटे पर्वतोंके समान यानी सह्य, मलय आदि पर्वतोंके सदृश लगती हैं, उनको देखकर सुस्थिर मेघका ही स्मरण हो उठता है और वे एकदम आकाशके सदृश निर्मल हैं ॥ ३३ ॥

हे मुने, क्षीरसागर और सूर्यके सदृश गौरवर्ण उन शिखरस्थ शिलाओंके ऊपर पुत्र, पौत्र आदि परिवारके साथ सिंह, वानर आदि ऐसे रात-दिन विश्राम करते हैं, जैसे जङ्गलके बड़े वृक्षोंकी शाखाओंपर ॥ ३४ ॥

भगवन्, उन शिलाओंके मध्यमें उस पर्वतके उत्तर दिशाके भागमें पूर्व दिशाकी ओर स्थित शिखरकी जो शिला है, उसके अन्दर में निवास करती हूँ, विनष्ट न होनेवाले वज्रसारमणिके सदृश उसका अविनाशी त्वचाभाग है ॥३५॥

हे मुने, हमको नियतिने ही बाँध दिया है, जिससे कि मैं उस पत्थरके यन्त्रमें बस रही हूँ । मैं मानती हूँ कि इस प्रकार उसमें रहते-रहते मेरे असंख्य युगसमूह बीत चुके ॥ ३६ ॥

अब 'किसकी स्त्री हो' इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए उपक्रम करती है—'न केवलम०' इत्यादिसे ।

न केवल मैं ही ऐसी हूँ, किन्तु सब तरहसे भरणपोषण करनेवाला

तेन सार्द्धं मया भर्त्रा शिलाकोटरसङ्कटे ।
अनुभूताश्चिरं कालमत्र वर्षगणा गताः ॥ ३८ ॥
अद्याप्यात्मैकदोषेण नहि मोक्षं लभावहे ।
चिरं तत्रैव तिष्ठावस्तथैवाबद्धभावनौ ॥ ३९ ॥
पाषाणसङ्कटे तस्मिन् बद्धावावां न केवलम् ।
बद्धो यावदशेषेण परिवारोऽपि तत्र नौ ॥ ४० ॥
पुराणपुरुषो बद्धो द्विजस्तत्रास्ति मे पतिः ।
एकस्थानान्न चलति जीवन्युगशतान्यसौ ॥ ४१ ॥
आबाल्याद्ब्रह्मचारी च श्रोत्रियः पाठकोऽलसः ।
एकान्त एक एवास्तेऽजिह्मवृत्तिरचापलः ॥ ४२ ॥
अहं व्यसनिनी भार्या तस्य वेदविदांवर ।
न निमेषं समर्थाऽस्मि तं विना देहधारणे ॥ ४३ ॥

मेरा पति भी उसमें उस प्रकार बद्ध हो गया है, जिस प्रकार भ्रमर कमल-की कलीमें ॥ ३७ ॥

उस शिलाके कोटरके सङ्कटमें फँसकर मैंने उस अपने पतिके साथ दीर्घ-कालतक अनुभव किया और अनेक वर्ष व्यतीत किये ॥ ३८ ॥

आज भी हम दोनों अपने एकमात्र कामरूप दोषसे मोक्ष प्राप्त नहीं कर रहे हैं और उसी तरह एक दूसरेमें ममता बांधे हुए दीर्घकालसे बस रहे हैं ॥ ३९ ॥

महाराज, उस पाषाणके सङ्कटमें हम दोनों ही बद्ध नहीं हैं, किन्तु हम लोगोंका पुत्र, पौत्र आदि परिवार भी उसमें पूर्णरूपसे बँधा हुआ है ॥ ४० ॥

भगवन्, उसमें बँधा हुआ मेरा पति द्विजकुलोत्पन्न और बड़ा ही प्राचीन पुरुष है। यह यद्यपि सैंकड़ों वर्षोंसे जी रहा है, तथापि अपने आसनसे उठता ही नहीं ॥ ४१ ॥

मेरे पति बाल्यकालसे ही ब्रह्मचारी हैं, अपने वेदाध्ययनमें परायण रहते हैं, अन्यको पढ़ाते हैं, आलसी हैं, उनका व्यवहार बड़ा ही कोमल है, उनकी इन्द्रियोंकी चञ्चलताका नामनिशान नहीं है, एकान्तमें ही सदा रहते हैं ॥ ४२ ॥

हे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, ऐसे पुरुषकी मैं पत्नी बड़ी ही व्यसनिनी हूँ, एक क्षणमात्र भी उनके बिना देहधारणमें शक्ति नहीं रखती ॥ ४३ ॥

शृणु तेन कथं ब्रह्मन् भार्याऽहं समुपार्जिता ।
कथं वृद्धिमयं यातः स्नेहोऽस्माकमकृत्रिमः ॥ ४४ ॥
तेन जातेन मद्भर्त्रा बालेनैव सता पुरा ।
किञ्चिज्ज्ञेन सतैकेन तिष्ठतात्मालयेऽमले ॥ ४५ ॥
श्रोत्रियत्वानुरूपेण जाया मे जन्मशालिनी ।
कुतः सम्भवतीत्येव निर्णीय चिरचिन्तया ॥ ४६ ॥
स्वयमेवानवद्याङ्गी तेन तामरसेक्षण ।
उत्पादिताऽस्मि नाथेन ज्योत्स्नेव शशिनाऽमला ॥४७॥
मनसा मानसी भार्या मन्दारोत्तमसुन्दरी ।
ततो वृद्धिं प्रयाताऽस्मि वसन्त इव मञ्जरी ॥ ४८ ॥
सहजाम्बरसंछन्ना भूतानां चित्तहारिणी ।
पूर्णेन्दुबिम्बवदना द्यौरिवामलतारका ॥ ४९ ॥

ब्रह्मन्, आप सुनिये—उन्होंने मुझको भार्यारूपमें कैसे प्राप्त किया और हम लोगोंका यह स्वाभाविक प्रेम कैसे बढ़ा ॥ ४४ ॥

भगवन्, पहलेकी बात है जिस समय उत्पन्न हुए मेरे स्वामीकी अभी बाल्यावस्था ही थी, कुछ ज्ञान भी उनको था, वे सज्जन थे, अपने निर्मल स्थानमें अकेले ही रहते थे, उस समय उन्होंने विचार किया—मैं जैसा स्वाध्यायनिष्ठ हूँ, वैसी ही अनुरूप मेरी भार्या कैसे उत्पन्न हो सकती है। यों दीर्घकालतक विचार करके उन्होंने कुछ निश्चय किया, फिर हे कमलके सदृश नेत्रोंवाले मुने, उन मेरे पतिने स्वयं ही अनिन्दित अङ्गोंवाली मेरा ऐसे निर्माण किया, जैसे निर्मल ज्योत्स्नाका चन्द्रमा करता है ॥ ४५–४७ ॥

अनन्तर, अपने पतिके द्वारा मनसे निर्मित अतएव मानसी भार्या मैं मन्दार-वृक्षकी लताके समान, उत्तम सौन्दर्यसे पूर्ण ऐसे वृद्धिको प्राप्त होने लगी, जैसे वसन्तमें पुष्पमञ्जरी ॥ ४८ ॥

मैंने साथ-साथ उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम वस्त्र धारण किये। सभी प्राणियोंके चित्त मेरी ओर आकृष्ट होने लगे। मेरा वदन पूर्णचन्द्रबिम्बके सदृश अत्यन्त ही मनोरम हो गया। मैं निर्मल तारोंसे युक्त आकाशके सदृश चमकदार क्रमशः बन गई ॥ ४९ ॥

कोरकोच्चस्तनभरा समग्ररसशालिनी ।
लता वरवनेनेव करपल्लवशालिनी ॥ ५० ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य नित्यं हृदयहारिणी ।
हरिणी तारनयना मदनोन्माददायिनी ॥ ५१ ॥
लीलाविलासैकरता हेलावलितलोचना ।
गेयवाद्यप्रिया नित्यं न च तृप्तानुरागिणी ॥ ५२ ॥
सौभाग्यभोगपरमा लक्ष्म्यलक्ष्म्योः प्रिया सखी ।
अनन्या मोहजालानामखिन्ना सम्पदापदोः ॥ ५३ ॥
न केवलमहं गेहं धारयामि द्विजन्मनः ।
यावत्त्रैलोक्यसदनमिदमङ्ग बिभर्म्यहम् ॥ ५४ ॥
अहं कुलकरी भार्या कलत्रभरणक्षमा ।
त्रैलोक्यगृहसम्भारधारणैकभरोद्वहा ॥ ५५ ॥

फूलोंके मुकुलोंके सदृश उन्नत स्तनोंवाली मैं समग्र गुणोंसे धीरे-धीरे ऐसे सुशोभित होने लगी, जैसे पल्लवरूप करसे युक्त लता वर-श्रेष्ठ वनसे सुशोभित होने लगती है ॥ ५० ॥

मैं सदा ही सभी तरहके जन्तुओंके हृदयोंका अपहरण करनेवाली हो गई, हिरनके जैसे बड़े-बड़े नेत्रोंवाली मुझे देखकर कामदेवको भी मुझसे उन्माद होने लग गया ॥ ५१ ॥

मैं निरन्तर केवल लीलाविलासोंमें ही निरत रहने लगी, कौतुकसे तिरछे कटाक्ष मेरे होने लगे, मैं सदा गान और वाद्यमें प्रेम करने लगी, भोगोंमें कभी तृप्त न हुई, मेरा दिनपर दिन भोगोंमें अनुराग बढ़ता ही गया ॥ ५२ ॥

मैं अपने उत्तम भाग्यको ही मुख्य भोग समझने लगी, समदर्शी भर्ता पतिके मनसे उत्पादित (मनकी कल्पनारूप) मैं लक्ष्मी, अलक्ष्मी—दोनोंकी मानो प्रिय सखी बन गई यानी मैं भी समदर्शी हो गई, अतएव मोहजालोंसे अभिन्न होती हुई भी मैं सम्पत्ति और विपत्तिमें एकरूप रहती हूँ ॥ ५३ ॥

प्रिय मुने, मैं केवल अपने ब्राह्मण पतिके घरको ही धारण नहीं करती, पति पतिके मनोमयरूप मैं उनके मनसे कल्पित समस्त त्रिलोकीको धारण करती हूँ ॥ ५४ ॥

मुनिवर, मैं पुत्र, पौत्र आदिसे कुलको बढ़ानेवाली भार्या हूँ, मैं पोषणकर्त्री

अथाऽहं तरुणी जाता समुद्भिन्नोन्नतस्तनी ।
लतोल्लसद्गुलुच्छेव विलासरसशालिनी ॥ ५६ ॥
पतिर्मां दीर्घसूत्रत्वाच्छ्रोत्रियत्वात्तपोरतः ।
कयाप्यपेक्षयाऽद्यापि न विवाहितवानिमाम् ॥ ५७ ॥
तेन यौवनसम्पन्नविलासरसशालिनी ।
तं विना व्यसनेनाहं दह्येऽग्नाविव पद्मिनी ॥ ५८ ॥
शीतानिलविलोलासु नलिनीषु निरन्तरम् ।
अङ्गदाहमवाप्नोमि पूताङ्गारस्थलीष्विव ॥ ५९ ॥
उद्यानावनयः सर्वाः पूर्णाः कुसुमवर्षणैः ।
सम्पन्नास्तप्तसिकताः शून्या मे मरुभूमयः ॥ ६० ॥
जलकल्लोलकह्लारकमलोत्करकोमलाः ।
सरस्यः सारसारावसरसा मम नीरसाः ॥ ६१ ॥

पालन करती हूँ और मुझमें त्रिलोकीरूप घरकी सर्वविध सामग्रीके भारको ढोनेकी पूर्ण सामर्थ्य है ॥ ५५ ॥

तदनन्तर मैं पूर्ण युवती हो गई, मेरे वक्षःस्थलपर महान् उन्नत स्तन हो आये । अब मैं अपने विलासरूप रससे ऐसे शोभित हूँ, जैसे कि उल्लसित हो रहे फल-पुष्पोंके गुच्छोंसे लता ॥ ५६ ॥

मेरे पतिदेव तो दीर्घसूत्री (आलसी), स्वाध्यायमें निरत और बड़े तपस्वी हैं, किसी अज्ञात अपेक्षासे आजतक भी इस गुणसम्पन्न रमणीके साथ उन्होंने विवाह नहीं किया ॥ ५७ ॥

महाराज, मैं अधिक क्या कहूँ, पतिके साथ मैं यौवनसे प्राप्त हुए भोग-विलासकी इच्छा रखती हूँ यानी अपने मनोरथसे ही उन्हें पति मान चुकी हूँ । इसलिए उनको भोगोंके व्यसनसे रहित देखकर मैं ऐसे जल रही हूँ, जैसे अग्निमें कमलिनी ॥ ५८ ॥

मैं शीतपवनके कारण चञ्चल हुई कमलिनियोंमें भी रात-दिन ऐसे अङ्ग-दाहका अनुभव करती हूँ, जैसे कि राख आदिको हटाकर तेज किये गये अङ्गारोंके स्थानोंमें ॥ ५९ ॥

कुसुमोंकी वृष्टियोंसे पूर्ण समस्त उद्यानभूमि भी मुझे तपी हुई बालूसे युक्त शून्य मरुभूमि ही प्रतीत होती है ॥ ६० ॥

महाराज, जलकल्लोल, कह्लार और कमलोंके ढेरसे कोमल स्पर्शयुक्त एवं

अहं पुष्करमन्दारकुमुदोत्करमालिता ।
भृशं दाहमवाप्नोमि कण्टकेष्विव दोलिता ॥ ६२ ॥
कुमुदोत्पलकह्लारकदलीतल्पपालयः ।
मदङ्गसङ्गमाद्ग्रीष्ममर्मरा यान्ति भस्मताम् ॥ ६३ ॥
यत्कान्तमुचितं स्वादु विचित्रं चित्तहारि च ।
तदालोक्य भवाम्यन्तर्बाष्पपूर्णायतेक्षणा ॥ ६४ ॥
व्यसनानलसन्तप्ताः पतन्तो बाष्पबिन्दवः ।
छमच्छमिति मज्जन्ती कमलोत्पलपङ्क्तिषु ॥ ६५ ॥
कदलीकन्दलीस्कन्धदोलान्दोलनलीलया ।
लालितोद्यानखण्डेषु मुखमाच्छाद्य रोदिमि ॥ ६६ ॥
तुषारनिकराकीर्णकन्दलीदलमण्डपम् ।
पश्याम्यूष्माणमुज्झन्तं खदिराङ्गारभीषणम् ॥ ६७ ॥

सारसपक्षियोंकी मधुर ध्वनिसे सरस तालाब भी मुझे नीरस लग रहे हैं ॥ ६१ ॥

मेरे शरीरके दाहकी शान्तिके लिए सखियाँ मुझे पुष्कर, मन्दार, कुईं आदि फूलोंकी शय्यापर सुला देती हैं, परन्तु मैं इसपर भी खूब दाहका अनुभव करती हूँ, जिस तरह काँटोंपर लुढ़कती हुई रमणी ॥ ६२ ॥

कुईं, नीलरक्त कमल, कह्लार, कदली आदिकी शय्याएँ मेरे अङ्गके स्पर्श-मात्रसे जनित तापसे—गर्मीसे पहले तो सूख जाती हैं, फिर मर्मर होकर भस्म बन जाती हैं ॥ ६३ ॥

ब्रह्मन्, जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु, विचित्र और मनोहर हैं, उन्हें देखकर मैं अपने भीतरसे अश्रुपूर्णनेत्र हो जाती हूँ—मेरी वे बड़ी-बड़ी आँखें आँसुओंसे भर जाती हैं ॥ ६४ ॥

मुनिवर, कामरूपी अग्निसे सन्तप्त, मेरे नयनाश्रु छम-छम शब्दपूर्वक कमलो-त्पलोंकी पंक्तियोंके ऊपर गिरकर उनके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं और अपने तापसे उन्हें सुखाकर स्वयं भी सूख जाते हैं ॥ ६५ ॥

उद्यानभागोंमें सखियों द्वारा कदली, कन्दली आदिके कन्धोंपर विरचित हिंडोलोंपर दोलनलीलासे जब मैं झुलाई जाती हूँ, तब मैं लज्जासे मुख छिपाकर रोती हूँ ॥ ६६ ॥

हिमकणोंके निकरसे आकीर्ण केलेके पत्तोंसे बनाये गये मण्डपको मैं गर्मी उगलनेवाले खैरके अङ्गारके सदृश भीषण ही देखती हूँ ॥ ६७ ॥

नलिनीनालदोलासु सारसीं सारसाश्रिताम् ।
दीनानना विलोक्यान्तर्निन्दामि निजयौवनम् ॥ ६८ ॥
रम्ये रोदिमि मध्यस्थे पदार्थे यामि सौम्यताम् ।
हृष्याम्यशोभने दीना न जाने किमहं स्थिता ॥ ६९ ॥
दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च ।
मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति ॥ ७० ॥
आनीलपल्लवमृणाललतोत्पलानां
कह्लारकुन्दकदलीदलमालतीनाम् ।
शय्या समाङ्गचलनेन विशोषयन्त्या
व्यर्थं गतानि नवयौवनवासराणि ॥ ७१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीव्यसनवर्णनं नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

कमलिनीके नालरूप हिंडोलेपर जब मैं सारसके साथ सारसीको देखती हूँ, तब मैं दीनवदन होकर अपने यौवनकी निन्दा करती हूँ ॥ ६८ ॥

मैं रम्य पदार्थमें रोती हूँ, मध्यवर्ती (न रम्य और न अरम्य ऐसे बीचके) पदार्थमें सौम्य हो जाती हूँ, अरम्य प्रसङ्गमें यानी मूर्छा, जड़ता आदि अवस्थामें प्रसन्न रहती हूँ, क्योंकि उस समय दीन हुई मैं क्या हूँ, यह नहीं जानती, उस स्थितिमें अहङ्कारका विलय हो जानेसे उसमेंका दुःख जाना नहीं जा सकता ॥ ६९ ॥

हे मुने, प्रत्येक दिशामें कुन्द, मन्दार, कुमुद और हिम मैंने कामाग्निसे दग्ध हुए जीवोंकी राखके सदृश ही देखे ॥ ७० ॥

भगवन्, अत्यन्त नीलवर्ण तमालके कोमल पल्लव, बिसतन्तुओंकी लता, नील-रक्त कमल, कह्लार, कुन्द, कदलीपत्र, और मालतीके फूलोंकी बनाई गई शय्याओंको अङ्गोंके संचालनसे सुखा रही मैं अपने यौवनके अनेक दिन निरर्थक ही गँवा दिये ॥ ७१ ॥

चौसठवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

अथ कालेन महता सोऽनुरागो विरागताम् ।
प्राप्तो मम शरच्छान्तौ विरसः पल्लवो यथा ॥ १ ॥
वृद्ध एकान्तरसिको नीरसः स्नेहवर्जितः ।
भर्ताऽजिह्ममतिर्मौनी किं मन्ये जीवितेन मे ॥ २ ॥
वरं वैधव्यमाबाल्याद्वरं मरणमेव च ।
वरं व्याधिरथापद्वा नाहृद्यप्रकृतिः पतिः ॥ ३ ॥
एतावज्जन्मसाफल्यं सौभाग्यमविखण्डितम् ।
रसिकः पेशलाचारो यन्नार्यास्तरुणः पतिः ॥ ४ ॥

पैंसठवाँ सर्ग

[धारणाके अभ्याससे प्राणोंपर विजय पाकर सिद्ध हुई उस विद्याधरीके द्वारा महाराज वसिष्ठजीके प्रति 'समयसे मेरा वह विषयानुराग वैराग्यमें परिणत हो गया'—यह वर्णन]

विद्याधरीने कहा—महाराज, तदनन्तर दीर्घ समय बीत जानेपर मेरा वह विषयप्रेम उस प्रकार वैराग्यमें परिणत हो गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतुके प्रारम्भमें पल्लव रसरहित होकर विरागभावमें परिणत हो जाता है ॥ १ ॥

कैसी विचारधारासे अनुराग विरागभावमें परिवर्तित हो गया ! इसे कहती है—'वृद्धः' इत्यादिसे ।

पहले तो मैंने यह विचारा—मेरा स्वामी अब बूढ़ा हो गया, एकान्तमें ही उसे सदा प्रेम है, नीरस है, मेरी ओर उसको तनिक भी स्नेह नहीं, मौनव्रतधारी है, उसका चित्त अति कोमल है, अतः अब मैं अपने जीवनसे क्या फल मानूँ ॥ २ ॥

बाल्यकालसे ही यदि वैधव्य हो गया हो, तो वह भी अच्छा, या मरण भी अच्छा, व्याधि भी अच्छी, आपत्ति भी अच्छी, परन्तु अपने मनके अनुकूल यदि पति न हो, तो वह कभी भी अच्छा नहीं है ॥ ३ ॥

स्त्रियोंका सफल जन्म और अविखण्डित सौभाग्य यही है कि तरुण, रसिक और कोमल बर्ताव करनेवाला पति हो ॥ ४ ॥

हता नीरसनाथा स्त्री हताऽसंस्कारिणी च धीः ।
हता दुर्जनभुक्ता श्रीर्हता वेश्याहृता च ह्रीः ॥ ५ ॥
सा स्त्री याऽनुगता भर्त्रा सा श्रीर्याऽनुगता सता ।
सा धीर्या मधुरोदारा साधुता समदृष्टिता ॥ ६ ॥
नाधयो व्याधयो नैव नापदो न दुरीतयः ।
कुर्वन्ति मनसो बाधां दम्पत्योरनुरक्तयोः ॥ ७ ॥
उत्फुल्लाः कुसुमस्थल्यो नन्दनोद्यानभूमयः ।
धन्वायन्ते कुनाथानां विनाथानां च योषिताम् ॥ ८ ॥
सर्वं एव जगद्भावा यथेच्छं गुणलेशतः ।
सन्त्यज्यन्ते प्रमादात्तु वर्जयित्वा पतिं स्त्रिया ॥ ९ ॥

जिसका नीरस पति हो, वह स्त्री विनष्ट ही समझनी चाहिए, जो बुद्धि संस्कारयुक्त न हो, वह नष्ट ही समझनी चाहिए, जो श्री (लक्ष्मी) दुर्जनोंसे उपभुक्त यानी दुर्जनोंके पास हो वह नष्ट ही समझनी चाहिए और जो लज्जा वेश्या द्वारा हर ली गई हो वह भी नष्ट ही समझनी चाहिए ॥ ५ ॥

वही स्त्री स्त्री है, जो अपने पतिसे अनुगत हो, वही श्री श्री है, जो सज्जनोंसे अनुगत हो तथा वही बुद्धि बुद्धि, वही साधुता साधुता और वही सम-दृष्टिता समदृष्टिता है, जो शान्ति आदि गुणोंसे मधुर और उदार हो ॥ ६ ॥

महाराज, यदि पति और पत्नी निरन्तर एक दूसरेके प्रति प्रेम करते हों, तो न मानसिक पीड़ा, न शारीरिक पीड़ा, न आपदा और न दुष्ट ईतियाँ (सस्यातहेतु अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डियाँ, मूसे, पक्षी तथा आसन्न राजे) ही बाधा पहुँचाती हैं ॥ ७ ॥

विकसित फूलोंके स्थान तथा नन्दन वनकी उद्यानभूमियाँ उन स्त्रियोंको मरुभूमिके सदृश संताप पहुँचाती हैं, जिन स्त्रियोंका पति प्रतिकूल है अथवा है ही नहीं ॥ ८ ॥

इसलिए स्त्रियोंके लिए सभी वस्तुओंका त्याग सुकर है, परन्तु एक पतिका त्याग दुष्कर है, यह कहती है—'सर्वः' इत्यादिसे ।

भगवन्, इस जगत्में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभीको अपनी इच्छाके अनुसार गुणकी अल्पतासे या प्रमादसे स्त्री छोड़ सकती है, परन्तु पतिको

स्थिरयौवनया दुःखान्येतानि मुनिनायक ।
भुक्तानि वर्षवृन्दानि पश्य दौर्भाग्यजृम्भितम् ॥ १० ॥
अथ क्रमेण तेनैव सरागो मे विरागताम् ।
आययौ हिमदग्धाया नलिन्या इव नीरसः ॥ ११ ॥
विरागवासनास्तेन सर्वभावानुरञ्जना ।
तवोपदेशेनेच्छामि मुने निर्वाणमात्मनः ॥ १२ ॥
अप्राप्ताभिमतार्थानामविश्रान्तधियां परे ।
मरणैरुह्यमानानां जीवितान्मरणं वरम् ॥ १३ ॥
स मद्भर्ताऽद्य निर्वाणमीहमानो दिवानिशम् ।
राजा राज्ञेव मनसा मनो जेतुं प्रबुध्यते ॥ १४ ॥

छोड़कर, यानी स्त्री पतिको छोड़कर सभी वस्तुओंका परित्याग अनायास कर सकती है ॥ ९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, स्थिर यौवनयुक्त मैंने अनेक वर्षोंतक ये दुःख भोगे, मेरे दौर्भाग्यका विस्तार तो जरा देखिए ॥ १० ॥

अथवा मेरा यह भाग्योदय ही है, इस आशयसे कहती है—'अथ' इत्यादिसे ।

अनन्तर, उसी परितापके कारण मेरे पतिकी ओर जो मेरा अनुराग था, वह क्रमसे नीरस होकर विरागके रूपमें उस प्रकार परिवर्तित हो गया, जिस प्रकार हिमसे दग्ध कमलिनीका राग क्रमशः नीरस होकर विरागके रूपमें परिवर्तित हो जाता है ॥ ११ ॥

हे मुने, उक्त क्रमसे विरागकी वासनाएँ प्राप्त कर सभी पदार्थोंमें उन्हींको लगा रही हूँ, अब मैं आपके उपदेशसे अपनी मुक्ति चाहती हूँ ॥ १२ ॥

इस समयमें भी, जब कि आप-जैसे उपदेश कर्ताका मुझे लाभ भी हो गया है तब, मैं यदि विश्रान्तिकी इच्छा न करूँ, तो मरण होना ही अच्छा है, इस आशयसे कहती है—'अप्राप्ता०' इत्यादिसे ।

महाराज, जिन्होंने अपने अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं किये हैं और परम आत्म-पदमें जिनकी बुद्धि विश्रान्त नहीं हुई है, ऐसे मरणतुल्य दुःखोंके प्रवाहमें बह रहे मनुष्योंका जीनेकी अपेक्षा मरण ही अच्छा है ॥ १३ ॥

सहधर्मचारिणी स्त्रियोंका पतिके समान ही स्वभाव रहना उचित है,

ब्रह्मंस्तस्य च मद्भर्तुर्मम चाज्ञानशान्तये ।
न्यायोपपन्नया वाचा कुरु स्मरणमात्मनः ॥ १५ ॥
यदा मामनपेक्ष्यैव स मद्भर्ताऽऽत्मनि स्थितः ।
तदा विरागो वैरस्यमनयन्मे जगत्स्थितिम् ॥ १६ ॥
संसारवासनावेशवर्जिताऽस्मि ततोऽवसम् ।
निबध्याभिमतां तीव्रां व्योमसञ्चारधारणाम् ॥ १७ ॥
अर्जयित्वा तथा व्योम्नि गतिं धारणया मया ।
अभ्यस्ता धारणा भूयः सिद्धसङ्गफलप्रदा ॥ १८ ॥
ततः स्वजगदाधारपूर्वापरनिरीक्षया ।
स्थिताऽहं धारणां बद्ध्वा साऽपि सिद्धिं समागता ॥ १९ ॥

इसलिए पतिके साथमें ही हमको उपदेश देना चाहिए, ऐसा कहती है—'सः' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

आज भी मुक्तिकी इच्छा कर रहे वह मेरे पति रात-दिन मनसे मनपर विजय पानेके लिए उस प्रकार तैयार हैं, जिस प्रकार राजा राजाकी सहायतासे, दूसरे राजाके ऊपर विजय पानेके लिए तैयार रहता है ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मन्, उस मेरे पतिका और मेरा जो अज्ञान है, उसका विनाश करनेके लिए आप न्याययुक्त उपदेशवाणीसे, विस्मृत कण्ठहारके सदृश, आत्माका बोधन कीजिये ॥ १५ ॥

जब मेरी परवाह ही न कर मेरे पति अपनी आत्मामें अवस्थित हुए, तभी जगत्स्थितिमें वैराग्यने मुझे नीरसता पैदा कर दी ॥ १६ ॥

अब धारणाके अभ्यासमें दीर्घकालसे स्थिति होनेके कारण उपदेशग्रहणके लिए मैं पात्र हूँ, यह कहती है—'संसार०' इत्यादिसे ।

जगत्स्थितिमें नीरसता हो जानेसे अब मैं अभीष्ट, तीव्र, आकाशमें संचरण करनेकी सामर्थ्य देनेवाली खेचरी मुद्रारूप धारणाको बाँधकर समस्त संसारकी वासनाओंसे रहित होकर स्थित हूँ ॥ १७ ॥

उस प्रकार धारणासे मैंने आकाशमें गमन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर फिर मैंने सिद्धोंके साथ संवादफल देनेवाली धारणाका अभ्यास किया । इसीसे सिद्धोंके एकान्त स्थानमें आकर आपके साथ संवाद कर रही हूँ ॥ १८ ॥

उसके बाद मैंने अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डके पूर्वापरघटित आकारको

अथ स्वजगतो दृष्ट्वा हृदयं तस्य बाह्यगा ।
अहं दृष्टवती स्थूलां लोकालोकगिरेः शिलाम् ॥ २० ॥
एतावताऽपि कालेन दम्पत्योरावयोर्मुने ।
परं द्रष्टुमभूदिच्छा न काचन कदाचन ॥ २१ ॥
मद्भर्ता केवलं शुद्धवेदार्थैकान्तचिन्तया ।
न च यातं न चायातं वेत्त्यहो विगतैषणः ॥ २२ ॥
तेनासौ मत्पतिर्विद्वानपि न प्राप्तवान्पदम् ।
अद्य सोऽहं च वाञ्छावः प्रयत्नेन परं पदम् ॥ २३ ॥
तदेतामर्थितां ब्रह्मन् सफलां कर्तुमर्हसि ।
महतामर्थिनो व्यर्था न कदाचन केचन ॥ २४ ॥

शास्त्र और योगदृष्टिसे देखनेके निमित्त तदाकार (अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डाकार) भावनारूप धारणा बांधकर स्थित हुई और वह धारणा भी मुझे सिद्ध हो गई ॥ १९ ॥

ब्रह्मन्, तदनन्तर अपने वासस्थानभूत ब्रह्माण्डके अन्दरकी सभी वस्तुओंको देखकर बाहर निकली और निकलकर मैंने पूर्ववर्णित अपने ही जगत्के अन्दरकी इस ब्रह्माण्डके लोकालोक पर्वतके ऊपर स्थित एक स्थूल शिला देखी ॥ २० ॥

इससे पहले कभी भी इस ब्रह्माण्डको मैंने या मेरे पतिने नहीं देखा था, क्योंकि उसे देखनेकी कभी इच्छा ही नहीं हुई, यह कहती है—'एतावताऽपि' इत्यादिसे ।

हे मुने, इतना समय बीत जानेपर भी पहले हम दोनों पति-पत्नीको इसे देखनेकी कभी कुछ इच्छा ही नहीं हुई ॥ २१ ॥

मेरे स्वामी तो केवल वेदोंके अर्थके विचारमें ही सदा मग्न रहते हैं, इससे वे यह जानते ही नहीं कि कितना समय बीत गया, कितना वर्तमान है, कितना भविष्यत् है, क्या ब्रह्मतत्त्व है । अहो, वे कितने निःस्पृह हैं ॥ २२ ॥

इसीलिए मेरे पति विद्वान् होते हुए भी आत्मपदको प्राप्त नहीं कर सके, आज वे और हम—दोनों ही प्रयत्नपूर्वक (आपके उपदेश-श्रवण, मनन आदि प्रयत्नपूर्वक) आत्मवस्तुकी चाह कर रहे हैं ॥ २३ ॥

अतः हे ब्रह्मन्, आप हम लोगोंकी प्रार्थनाको सफल करनेके लिए सर्वथा

भ्रमन्ती सिद्धसेनासु सदा नभसि मानद ।
त्वदृते नेह पश्यामि घनाज्ञानदवानलम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मन् विनैव करुणाकरकारणेन
सन्तो यतोऽर्थिजनवाञ्छितपूरणानि ।
कुर्वन्ति तेन शरणागततामुपेतां
मामर्हसीह न तिरस्करणेन योक्तुम् ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विद्याधरीजन्मकथव्यवहारवर्णनं नाम
पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

समर्थ हैं, बड़े लोगोंके सम्मुख आये हुए कोई भी प्रार्थी कभी निष्फल होकर नहीं जाते ॥ २४ ॥

इस अर्थके निमित्त तुमने दूसरे सिद्धोंसे प्रार्थना क्यों नहीं की, इसपर कहती है—'भ्रमन्ती०' इत्यादिसे ।

हे मानद, आकाशमण्डलमें सिद्धसमूहोंमें निरन्तर घूम-फिर रही मैं आपके सिवा दूसरे किसीको भी अज्ञानरूपी वनका दावानल नहीं देखती ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण वृत्तान्तको बतलाकर 'शरणागत मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए' यों महाराज वसिष्ठजीसे प्रार्थना करती है—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, हे करुणाके सागर, चूँकि सज्जन पुरुष किसी कारणके बिना ही अर्थी जनोंकी अभिलाषाएँ पूर्ण कर देते हैं, इसलिए आपकी शरणमें आई हुई मुझ अबलाका तिरस्कार (उपेक्षा) आप नहीं कर सकते । उपेक्षा ही प्रार्थी-जनोंका तिरस्कार है ॥ २६ ॥

पैंसठवाँ सर्ग समाप्त

षट्षष्टितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथेत्युक्तवती पृष्टा सा मया कल्पितासना ।
सङ्कल्पितासनस्थेन स्थितेन नभसि स्थिता ॥ १ ॥
कथं शिलोदरे बाले त्वद्विधानां भवेत् स्थितिः ।
कथं सञ्चलनं तत्र किमर्थं तत्र चास्पदम् ॥ २ ॥

विद्याधर्युवाच

मुने यथेदं भवतां जगत्स्फारं विराजते ।
तथाऽस्माकं जगत्तत्र सर्गसंसारयुक् स्थितम् ॥ ३ ॥

छाछठवाँ सर्ग

[अपनी स्थिति और अपना घर तुमने अवकाशरहित शिलाके पेटमें कैसे किया, इस प्रकार पूछी गई विद्याधरी द्वारा जगत्के विस्तारका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माण्डके पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाशमें अवस्थित तथा कल्पित आसनपर बैठे हुए मैंने उस रमणीसे, जो उसी आकाशमें स्थित तथा कल्पित आसनपर बैठी हुई थी, जिसने वर्णित अपना वृत्तान्त कहा, फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

मैंने पूछा कि हे बाले, बिलकुल अवकाशसे रहित शिलापेटमें तुम्हारे-जैसे शरीरधारियोंकी स्थिति कैसे होगी, उसमें हिलना-डोलना कैसे होगा और उसमें घरसे भी तुम्हें लाभ क्या होगा ? सारांश यह कि जहाँ प्रवेश ही असम्भव है, वहाँ ये सब बातें हो ही नहीं सकतीं ॥ २ ॥

आपने जितनेकी असंभावना की है, उतना ही उसमें है, यह बात नहीं है, किन्तु ऐसा दूसरा भी जगत् उसमें है, यों विद्याधरी प्रश्नका उत्तर देती है—'मुने' इत्यादिसे ।

विद्याधरीने कहा—हे मुने, जैसे आपका यह जगत् विस्पष्टरूपसे विराजमान है, वैसे ही हमारा भी जगत् उस शिलापेटमें विराजमान है, वह भी सृष्टिरूप संसारसे युक्त है ॥ ३ ॥

स्फुरन्ति नागाः पाताले तिष्ठन्ति भुवि पर्वताः ।
आपश्छलच्छलायन्ते वहन्ति व्योम्नि वायवः ॥ ४ ॥
अर्णवा अर्णसा भान्ति यान्त्यन्तः शनकैः प्रजाः ।
भूतान्यजस्रं जायन्ते म्रियन्तेऽविरतं यथा ॥ ५ ॥
वान्ति वाता वहन्त्यापो भान्ति चाभान्ति खे सुराः ।
तिष्ठन्त्यगाः सम्रुद्यन्ति ग्रहा यान्ति महीं नृपाः ॥ ६ ॥
देवासुरमनुष्याणां व्यवहारपरम्पराः ।
लोलाः प्रवृत्ता आकल्पमासमुद्रमिवापगाः ॥ ७ ॥
दिनपद्मानि भूलोकसरस्याकल्पमानभः ।
लोलाभ्रालीनि फुल्लानि मीलितोन्मीलितान्यलम् ॥ ८ ॥
चन्द्रश्चर्चश्चतुर्दिक्कं चन्दनेनात्मतेजसा ।
रचयन्रात्रिरोहिण्योस्तमो हन्त्यपि हृद्गतम् ॥ ९ ॥

वहाँ भी पातालमें नाग रहते हैं, पृथ्वीपर पर्वत स्थित हैं, जल भी लबालब भरे हैं और आकाशमें हवा भी चलती है ॥ ४ ॥

उसके भीतर यहाँके ही-जैसे जलसे समुद्र सुशोभित हैं, प्रजावर्ग भी धीरे-धीरे गमन आदि व्यवहार करते हैं, निरन्तर भूत उत्पन्न होते हैं और निरन्तर मरते भी हैं ॥ ५ ॥

यहाँके समान ही वहाँपर भी वायु चलती है, जल बहते हैं, आकाशमें नक्षत्र आदिके रूपोंमें तथा अपने-अपने शरीर आदिके रूपमें देवता भासते हैं, पर्वत स्थित हैं, गुणोंका उदय होता है और पृथ्वीमें राजे भी चलते-फिरते हैं ॥ ६ ॥

वहाँ देवता, असुर और मनुष्योंकी चञ्चल व्यवहारपरम्परा यहाँके सदृश कल्पतक उस तरह विद्यमान रहती है, जिस तरह समुद्रतक नदीधारा विद्यमान रहती है ॥ ७ ॥

भूलोकरूपी तालतलमें कल्पपर्यन्त और आकाशतक रहनेवाले दिनरूपी कमल भी वहाँ हुए हैं, दिनरूप कमलोंमें लोल (चञ्चल) अभ्र ही भ्रमर हैं, वे विकसित और निमीलित भी होते हैं ॥ ८ ॥

जैसा कि इस जगत्में है, ठीक वैसा ही उस जगत्में भी चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्नारूपी चन्दनसे चारों दिशाओंमें लेपनकर रात्रिमें रोहिणीका भीतरी और बाहरी अन्धकार निवृत्त कर देता है ॥ ९ ॥

स्वदशास्वादनरता वातयन्त्रसुचारिता ।
रोदःसद्मनि सूर्याख्या दीप्यते दिवि दीपिका ॥ १० ॥
ब्रह्मसङ्कल्पितो रुद्धो वातसञ्चारचारिभिः ।
खेऽनिशं चक्रमृक्षाणां गुणावर्तो विवर्तते ॥ ११ ॥
भूततण्डुलमासृष्टेः, पिनष्टि ध्रुवकीलकः ।
नियत्या चलितो रोदःकपाटाम्भोदघर्घरः ॥ १२ ॥
द्वीपाब्धिशैलैर्भूपीठं विमाननगरैर्नभः ।
दैत्यदानवनागौघैः पूर्णं पातालमण्डलम् ॥ १३ ॥
कुण्डलं त्रिजगल्लक्ष्म्या नीलं भूतलमण्डलम् ।
स्थितं चञ्चलमाचारचञ्चलायाः स्फुरन्मणि ॥ १४ ॥

वहाँ भी सूर्यनामकी दीपिका, जो कि दसों दिशारूपी बत्तियोंका स्वाद लेनेमें (यानी द्रवात्मक स्नेहका भोग करनेमें) रत और वातरूपी यन्त्रसे चालित है, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीरूप घरके अन्दर जगमगाती है ॥ १० ॥

द्यावापृथ्वीका अब घूम रहे नक्षत्रमण्डलके कारण घरट्टके स्वरूपसे वर्णन करती है—'ब्रह्म०' इत्यादिसे ।

आकाशमण्डलमें वहाँपर भी नक्षत्रोंका चक्ररूप घरट्ट (चक्की) घूमता है और अण्डज आदि चार प्रकारके भूतोंको, जो एक तरहसे तण्डुलरूप हैं, सृष्टिके आरम्भसे लेकर बराबर पीसती रहती है, यह घरट्ट यन्त्र ब्रह्माने अपने संकल्पसे बनाया है, वायुसंचारचारियोंसे यानी वातरश्मियोंसे यह अवष्टब्ध है, ध्रुवरूप खूँटेके ऊपर थमा हुआ है तथा अन्तरिक्ष एवं पृथ्वीमें कपाटके सदृश बन्द करने और खोलनेका स्वभाव रखनेवाले मेघोंसे घर्घर ध्वनि करता रहता है, यह नियतिसे संचालित है ॥ ११, १२ ॥

वहाँपर भी यहाँके सदृश ही पृथ्वी आदि लोक द्वीप, पर्वत आदिसे भरे हैं, यह कहती है—'द्वीपा०' इत्यादिसे ।

वहाँपर भी यहाँके सदृश भूमि द्वीप, सागर और पर्वतोंसे, आकाश विमानोंके संनिवेश-जैसे रचित नगरोंसे तथा पातालमण्डल दैत्य, दानव एवं नागोंके समूहोंसे पूर्ण है ॥ १३ ॥

वहाँपर भी नीला भूतलमण्डल स्थित है । वह ठीक आचरणोंसे चंचल त्रिजगतीरूप लक्ष्मीका चमक रहे मणियोंसे युक्त चञ्चल कुण्डल-सा लगता है ॥ १४ ॥

बुद्ध्यादिरहितां स्पन्दसंविदं वायवीमिव ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सूक्ष्ममादाय जायते ॥ १५ ॥
मुनिमौनैर्धरावार्भिर्मारुतैः - कपिचापलम् ।
आकाशैरवकाशित्वं तेजोभिर्भासनं श्रितम् ॥ १६ ॥
वृक्षोर्व्यब्ध्यद्रिखचराः प्राणिनोऽन्तः स्फुरन्त्यलम् ।
मृतिजन्मोन्मुखाः कीटसुरासुरजलौकसः ॥ १७ ॥
ससुरासुरगन्धर्वाः कालः कलयति प्रजाः ।
दोर्भिः कल्पयुगाब्दैश्च स्वपशूनिव पालकः ॥ १८ ॥
अनन्तविपुलागाधगम्भीरे कालसागरे ।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते ते स्वावर्तविवर्तया ॥ १९ ॥
चतुर्दशविधा वातवेल्लिता भूतपांसवः ।
नाशाकाशे विलीयन्ते शरदम्भोदलीलया ॥ २० ॥

वहाँपर भी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियोंका दल—बुद्धि आदिसे शून्य बाह्य वायुकी क्रियाके सदृश—भीतरी सूक्ष्म प्राणनामकी स्पन्दसंवित्‌को लेकर जन्म आदि विकार प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

वहाँपर भी यहकि सदृश मुनि लोगोंका मुनिक्रियाओंने, पृथ्वीका समुद्र आदि जलोंने, वायुओंने बन्दरके सदृश चपलताका, आकाशने अवकाशपनका और सूर्यादि प्रकाशोंने प्रकाशनका अवलम्बन किया है यानी सब वस्तुओंके स्वभाव यहकि सदृश ही हैं ॥ १६ ॥

वहाँपर भी जनम और मरणके भागी बन्दर आदि वृक्षचर, मनुष्य आदि भूचर, मत्स्य आदि जलचर, मृग आदि पर्वतचर, पक्षी, देवता आदि आकाशचर, कीट, सुर, असुर और जलनिवासी बीच-बीचमें खूब घूमते फिरते हैं ॥ १७ ॥

यहकि सदृश वहाँ भी देवता, असुर और गन्धर्वोंके सहित समस्त प्रजाको काल कल्प, युग एवं वर्षरूपी अपने हाथोंसे उस प्रकार पालन आदिसे भोगता है, जिस प्रकार पशुपालक अपने पशुओंको ॥ १८ ॥

अनन्त, अगाध, पुष्कल एवं गम्भीर कालरूपी महासागरमें आवर्त और विवर्तरूप कालगतिसे वे सुरासुर आदि जलजन्तु उत्पन्न हो होकर लीन हो जाते हैं ॥ १९ ॥

जिसमें सभी वस्तुओंका विनाश हो जाता है, ऐसे अव्याकृत आकाशमें

भुवनं बोधयन्ती द्यौश्चन्द्रार्ककरचामरैः ।
स्थिताऽऽकाशांशुकाऽऽकल्पतारकोत्करशेखरा ॥ २१ ॥
स्थिताः पवनभूकम्पमेघतापसहिष्णवः ।
स्वं प्रदेशमनुज्झन्त्यः ककुभः स्तम्भिता इव ॥ २२ ॥
उत्पातमेघनिर्ह्रादभूमिकम्पग्रहग्रहैः ।
अज्ञातैरपि विज्ञातैर्भूतानां जायते गतिः ॥ २३ ॥
सप्तानां जलमब्धीनामौर्वाग्निः पिबति ज्वलन् ।
लोकान्तराणामाकल्पं कालो भूतगणं यथा ॥ २४ ॥
पातालमाविशति याति नभोबिलं च
दिग्मण्डलं भ्रमति भूतगणः समन्तात् ।
पर्येति पर्वतमहार्णवमण्डलानि
द्वीपान्तराणि च मरुत्सरणक्रमेण ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिलान्तरवर्णनं नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

वायुसे उड़ाये गये चौदह प्रकारके प्राणीरूपी रजकण, शरत्कालके मेघोंके सदृश, विलीन हो जाते हैं ॥ २० ॥

यहाँके सदृश वहाँपर भी द्यु शुभ्र आकाशरूप वस्त्र धारणकर तथा मस्तकमें कल्पपर्यन्त तारोंका समूह धारणकर चन्द्र-सूर्यरूपी दो चामरोंको मानो डुलाती हुई सातों भुवनोंको जाग्रत करती है ॥ २१ ॥

वहाँपर भी यहाँकी नाईं स्थावर प्राणियोंके सदृश पवन, भूकम्प, वृष्टि और घाम सहनेवाली दिशाएँ स्थित हैं ॥ २२ ॥

ज्योतिषियों द्वारा और अन्यों द्वारा अज्ञात उत्पातके हेतु मेघ, विद्युत्पतन, भूकम्प तथा ग्रह आदिसे प्राणियोंकी इष्टानिष्टरूप गति वहाँपर भी होती है ॥२३॥

जैसे चौदह भुवनोंके प्राणियोंको काल कल्प तक पीता है, वैसे ही वहाँ भी सात समुद्रोंका जल जलती हुई और्वाग्नि (वड़वानल) पीती है ॥ २४ ॥

कथित सब वार्ताका संक्षेपसे उपसंहार करते हैं—'पाताल०' इत्यादिसे ।

सप्तषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

यावत्त्वं सर्गमागच्छ प्रसादः क्रियतां मुने ।
आश्चर्येषूपपन्नेषु महान्तो ह्यतिकौतुकाः ॥ १ ॥
तथेत्युक्ते मया सार्धं गन्तुमारब्धमम्बरे ।
वात्यया सौरभेणेव शून्ये शून्येन शून्यया ॥ २ ॥
अथाऽहं दूरमध्वानं शून्यमुल्लंघ्य नाभसम् ।
नभःस्थं भूतसङ्घातं तया सार्धमवाप्तवान् ॥ ३ ॥

वहाँपर भी पातालयोग्य प्राणी पातालमें प्रवेश करता है, आकाशविलमें विलास करने योग्य प्राणी आकाशमें जाता है, दिशाओंमें भ्रमण करने योग्य प्राणी दिशाओंमें भ्रमण करता है । संक्षेपसे चारों ओर प्राणीसमूह वायुके संचारके सदृश, पर्वत, महासमुद्रमण्डल तथा अन्यान्य द्वीपान्तरोंमें भ्रमण करते हैं, इसलिए यहाँ जितना व्यवहार है, वह सब वहाँ पाषाणकी शिलामें भी है, यह आप जानिये ॥ २५ ॥

छाछठवाँ सर्ग समाप्त

सड़सठवाँ सर्ग

[कौतुकसे महाराज वसिष्ठजीका शिलाके पास जाना, वहाँ जगत् न देखना और उनके पूछनेपर विद्याधरीका अभ्यासकी महिमा कहना—यह वर्णन]

विद्याधरीने कहा—हे मुने, यदि आप मेरी बातको असंभव मानते हों, तो स्वयं ही सम्पूर्ण उस शिलोदर सृष्टिको देखनेके लिए कृपा कीजिए और वहाँ चलिए, क्योंकि बड़े लोगोंको प्राप्त आश्चर्यकारक घटनाओंमें बड़ा ही कौतुक होता है ॥१॥

भद्र श्रीरामजी, उस तरह उसके कहनेपर मैंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात स्वीकार कर ली और आकाशरूपिणी उस रमणीके साथ शून्यात्मक आकाशमण्डलमें जानेके लिए शून्यरूप मैं ऐसे उद्यत हुआ, जैसे वात्याके (झंझावातके) साथ चम्पकादि पुष्पोंकी सुगन्ध ॥ २ ॥

तदनन्तर उसके साथ मैं दूरके शून्यरूप आकाशमार्गको लाँघकर आकाशमण्डलमें स्थित देवता आदि प्राणियोंके समीप जा पहुँचा ॥ ३ ॥

तमुल्लंघ्य चिरेणात्र भूतसञ्चारमम्बरे ।
लोकालोकशिरोव्योम प्राप्तोऽस्मि धवलाम्बुदम् ॥ ४ ॥
उत्तरांशेन्दुशुभ्राभ्रपीठान्निर्गत्य तां शिलाम् ।
आनीतोऽस्मि तयोत्तुङ्गां तप्तकाञ्चनकल्पिताम् ॥ ५ ॥
यावत्पश्याम्यहं शुभ्रां शिलां तां न च तज्जगत् ।
कलधौतमयीमुच्चैरग्निलोकतटीमिव ॥ ६ ॥
तदा मयोक्ता सा कान्ता क्व भवत्सर्गभूरिति ।
क्व रुद्रार्काग्नितारादि क्व लोकान्तरसप्तकम् ॥ ७ ॥
क्वाऽर्णवाकाशककुभः क्वोन्मज्जननिमज्जने ।
क्व महाम्भोदसम्भारः क्व ताराम्बरडम्बरम् ॥ ८ ॥
क्व शैलशिखरश्रेण्यः क्व महार्णवलेखिकाः ।
क्व द्वीपवलयाः सप्त क्व तप्तकनकावनिः ॥ ९ ॥

कुछ समय बाद इसी आकाशमें उस देवादि प्राणियोंके संचरण मार्गको भी पारकर मैं उसके साथ श्वेत मेघके सदृश अतिनिर्मल लोकालोक पर्वतके शिखरके आकाशभागमें पहुँच गया ॥ ४ ॥

उत्तर दिशाके पूर्वभागपर स्थित चन्द्रसदृश अतिधवल आकाश पीठसे नीचे आकर मैं उसके द्वारा उस शिलाके पास ले जाया गया। वह शिला बड़ी ही ऊँची और रूप-रङ्गमें ठीक तपे सोनेके सदृश कल्पित थी ॥ ५ ॥

सुवर्णमयी सुमेरुतटीके सदृश वह बहुत बड़ी ऊँची शुभ्र शिला मैंने चारों ओरसे खूब देखी, परन्तु उसमें जगत् नहीं दीख पड़ा ॥ ६ ॥

श्रीरामजी, जगत्को न देखकर मैंने उस सुन्दरी बालासे पूछा कि यहां कहांपर वे जगत् हैं, जिनका तुमने मुझसे वर्णन किया था, कहां रुद्र, सूर्य, अग्नि, तारा आदि हैं तथा कहां यहां सात दूसरे-दूसरे लोक हैं ॥ ७ ॥

हे रमणि, यहां कहांपर समुद्र, आकाश एवं दिशाएँ हैं, कहां प्राणियोंके जन्म और विनाश हो रहे हैं, कहां बड़े-बड़े मेघमण्डल हैं और है कहां तारोंसे युक्त चमकिले आकाशमण्डलका आडम्बर ॥ ८ ॥

कहां पर्वतोंके शिखरोंकी श्रेणियां हैं, कहां बड़े-बड़े लवण-समुद्रोंकी पंक्तियां हैं, कहां सात द्वीपरूपी कङ्कण हैं और है कहां तपे सोनेके सदृश भूमि ॥ ९ ॥

क्व कार्यकालकलनाः क्व भूतभुवनभ्रमः ।
क्व विद्याधरगन्धर्वाः क्व नरामरदानवाः ॥ १० ॥
क्वर्षिभूपालमुनयः क्व नयापनयक्रमः ।
क्व पश्चयामयामिन्यः क्व स्वर्गनरकभ्रमः ॥ ११ ॥
क्व पुण्यपापकलनाः क्व कलाकालकेलयः ।
क्व सुरासुरवैराणि क्व द्वेषस्नेहरीतयः ॥ १२ ॥
वदत्येवं मयि वचः सोवाच वरवर्णिनी ।
विस्मयाकुलमालोक्य शिलामलविलोचना ॥ १३ ॥

विद्याधर्युवाच

पश्याम्यखिलमात्मीयमहं सर्वमिहोपले ।
मुकुरप्रतिबिम्बस्थपुरान्यपुरवज्जनम् ॥ १४ ॥
नित्यानुभव एवात्र दर्शने कारणं मम ।
तदभावो मुने मन्ये ते कारणमदर्शने ॥ १५ ॥

कहां क्रिया, काल और कल्पनाएँ हैं, कहां भूतोंके (देवता आदिके) निवासस्थान भ्रम हैं, कहां विद्याधर एवं गन्धर्व हैं तथा कहां मनुष्य, देव और दानव हैं ॥ १० ॥

कहां ऋषि और राजा हैं, कहां उनमें मुनि हैं, कहां नीति-अनीतिकी रीति है, कहां हेमन्तकी रात्रियां हैं और कहां हैं—स्वर्ग-नरकके विभ्रम ॥ ११ ॥

कहां पुण्य-पापकी गतियां हैं, कहां कालकी कलाओंका विलास है, कहां सुर और असुरोंका युद्ध है और यहां कहां हैं—द्वेष एवं स्नेहकी पद्धतियां ॥१२॥

श्रीरामजी, ज्योंही मैं इस तरहसे उससे प्रश्न कर रहा था त्योंही आश्चर्यसे व्याकुल मुझको देखकर शिलाके सदृश निर्मल नेत्रवाली एवं सुन्दर रूपवाली उस रमणीने कहना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

विद्याधरीने कहा—भगवन्, मैं भी अब पहलेके सदृश अपना सब कुछ इस पत्थरकी शिलामें नहीं देख रही हूँ। पर मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदिका पूर्वमें वर्णन किया है, उन सबको मुकुरमें (दर्पणमें) प्रतिबिम्बिरूपसे स्थित जो प्रसिद्ध नगरसे दूसरा नगर है, उसके सदृश प्रतिबिम्बरूपसे स्थित देखती हूँ ॥ १४ ॥

हे मुने, हमको जो उन लोगोंका दर्शन हो रहा है, उसमें कारण नित्यका

अन्यच्च चिरकालैकद्वैतसंकथयाऽनया ।
शुद्धाऽऽतिवाहिकैकात्मदेहता विस्मृताऽऽवयोः ॥ १६ ॥
ममातिसुचिराभ्यस्तमपि व्योमलतामिव ।
गतं निजं जगदिदं यतः पश्यामि न स्फुटम् ॥ १७ ॥
अभूद्यत्स्वजगत्पूर्वमतिप्रकटमेव मे ।
तत्पश्यामीदमादर्श इव बिम्बितमस्फुटम् ॥ १८ ॥
चिरव्यर्थोत्थया नाथ संकथाव्यथया मिथः ।
स्वास्थ्यं विस्मृतमात्मीयमवदाततमं ततम् ॥ १९ ॥
योऽभ्यासः प्रकचत्यन्तः शुद्धचिन्नभसो रसात् ।
भवेत्तन्मयमेवान्तराबालमिव लक्ष्यते ॥ २० ॥

अनुभव ही है, वह नित्यका अनुभव आपको है नहीं, इसलिए उसका अभाव ही जगत्‌के न दीखनेमें कारण है ॥ १५ ॥

समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंके अवलोकनमें समर्थ विशुद्ध मनोरूप देहके विस्मरणसे भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और हमको दीखता है, पर अस्फुट, यह कहती है—'अन्यच्च' इत्यादिसे ।

मुने, दूसरी बात यह कि चिरकालतक अपने लोगोंकी यह जो एक-द्वैत विषयकी कथा चली, उससे विशुद्ध सूक्ष्म मनोमात्ररूप देहका हम लोगोंको विस्मरण हो गया है, इसलिए आपको जगत् नहीं दीखता और हमको अस्फुट दीखता है ॥ १६ ॥

मेरा भी यहाँ जो जगत् था, वह प्रायः नष्ट ही हो चुका है, क्योंकि यद्यपि उसका मैंने चिरकाल तक अभ्यास किया है, फिर भी अब आकाशलताके सदृश स्पष्ट नहीं दीखता ॥ १७ ॥

जो जगत् मेरे लिए पहले अत्यन्त विस्पष्ट था, उसको मैं अब दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश अस्पष्ट देखती हूँ ॥ १८ ॥

हे नाथ, अपने लोगोंका परस्पर जो दीर्घकाल तक निरर्थक संभाषण हुआ, उससे उत्पन्न व्यथासे अपना अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य (धारणाके अभ्याससे जनित अपनी मनोरूप देहरूपता) विस्मृत हो गया ॥ १९ ॥

भगवन्, जो भी अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चिदाकाशके रससे उद्बुद्ध

न सच्छास्त्रेण सा विद्धि न सन्न्यायेन सा कला ।
अस्ति नास्त्यमितोद्योगाद्यदभ्यासान्न सिद्ध्यति ॥ २१ ॥
स्वजगत्सन्तताभ्यासवशतो मां कथाभ्रमः ।
नूनमाक्रान्तवानेष द्वयोर्हि बलवान् जयी ॥ २२ ॥
इष्टवस्त्वर्थिनां तज्ज्ञसूपदिष्टेन कर्मणा ।
पौनःपुन्येन करणान्नेतरच्छरणं मुने ॥ २३ ॥

होकर प्रकट होता है, उसी रूपका भीतरी अन्तःकरण मानो हो ही जाता है, यही बाल्य अवस्थासे लेकर वस्तुस्थिति है ॥ २० ॥

अतएव अभ्यासके विना पुरुषके श्रवण-मनन निष्फल हैं, यह कहती है—'न' इत्यादिसे ।

भद्र, वह कला न उत्तम शास्त्रोंसे सिद्ध होती है, न उत्तम न्यायसे सिद्ध होती है, किन्तु अपरिमित उद्योगसे युक्त अभ्याससे ही सिद्ध होती है, अभ्याससे वह सिद्ध नहीं होती, यह बात नहीं, किन्तु अवश्य सिद्ध होती है, यह आप जानिए ॥ २१ ॥

सतत अभ्यासके लिए तो कोई असाध्य वस्तु है ही नहीं, यह कहती है—'स्वजगत्' इत्यादिसे ।

भगवन्, यह जो आपके साथ संवादात्मक कथाभ्रम हुआ, उसने अपने जगत्के निरन्तर अभ्यासके वशसे पूर्वजगत्के भ्रमसे ग्रस्त मुझको वशमें कर दिया, इसलिए वह संस्कार तिरोहित हो गया, क्योंकि भूतकालका भ्रम और वर्तमानकालका भ्रम—इन दोनोंमें वर्तमानकालका भ्रम बलवान् होनेके कारण विजयी हुआ ॥ २२ ॥

अतएव लौकिक या वैदिक शिल्पविद्या आदि फलोंकी इच्छा कर रहे पुरुषोंको गुरुजी द्वारा उपदिष्ट पद्धतिसे बार-बार किया गया उसका अभ्यास ही शरण है, दूसरा नहीं, यह कहती है—'इष्ट०' इत्यादिसे ।

हे मुने, अपनी-अपनी मनपसन्द वस्तु चाहनेवालोंके लिए गुरुओं द्वारा उत्तम रीतिसे उपदिष्ट कर्म करनेकी पद्धतिसे बार-बार जो किया जाता है, उसीसे अभीष्ट वस्तु उन्हें मिलती है, दूसरे किसी प्रकारसे नहीं—अन्य शरण है नहीं ॥ २३ ॥

अयमित्थमिहाज्ञानभ्रमः प्रौढोऽहमात्मकः ।
शाम्यति ज्ञानचर्चाभिः पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ २४ ॥
अहं शिलाबला बाला पश्यामि त्वं न पश्यसि ।
सर्वज्ञोऽपि शिलासर्गं पश्याभ्यासविजृम्भितम् ॥ २५ ॥
अज्ञोऽपि तज्ज्ञतामेति शनैः शैलोऽपि चूर्ण्यते ।
बाणोऽप्येति महालक्ष्यं पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ २६ ॥
इत्थं नाम परिप्रौढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
शाम्यत्येव विचारेण पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ २७ ॥
अभ्यासेन कटु द्रव्यं भवत्यभिमतं मुने ।
अन्यस्मै रोचते निम्बस्त्वन्यस्मै मधु रोचते ॥ २८ ॥

जब अनादि अनन्त संसाररूप अनर्थ भी ज्ञानके अभ्याससे नष्ट हो जाता है तब ऐसा कौन अनर्थ बचने पाता है, जो अभ्याससे उसकी चिकित्सा न हो सके, यह कहती है—'अयमित्थ०' इत्यादिसे ।

हे मुने, यह इस प्रकारका प्रौढ़ अहंरूप जो बड़ा अज्ञानभ्रम विद्यमान है, वह ज्ञानकी चर्चासे यानी श्रवणादिके अभ्याससे ही निवृत्त हो जाता है, भला देखिये तो सही अभ्यासका फल ॥ २४ ॥

अभ्यासमें उत्तमता होनेपर बालकोंमें भी प्रौढता देखी जाती है और अभ्यासके छूट जानेपर बड़े लोगोंको भी व्यामोह होने लगता है, इस विषयमें हम दोनों ही दृष्टान्त हैं, यह कहती है—'अहम्' इत्यादिसे ।

मै एक शिलाकी अबला हूँ, उसमें भी बाला और आपकी शिष्या हूँ, फिर भी शिलाकी सृष्टिको देखती हूँ, आप सर्वज्ञ और गुरु हैं तो भी नहीं देखते, यह बड़ा आश्चर्य है, देखिए तो यह अभ्यासका विजृम्भण ॥ २५ ॥

अभ्याससे धीरे धीरे अज्ञानी भी ज्ञानी बन जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है, अचेतन बाण भी सूक्ष्मतम लक्ष्यको प्राप्त करता है, देखिए अभ्यासकी कितनी महत्ता है ॥ २६ ॥

इस तरह मिथ्याभूत जो चारों ओरसे प्रौढ़ अज्ञानरूपी महामारी है, वह विचाररूप अभ्याससे ही शान्त हो जाती है, देखिए अभ्यासका माहात्म्य ॥२७॥

मुने, अभ्याससे ही कटु पदार्थ अभीष्ट हो जाता है, अभ्याससे ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मधु अच्छा लगता है ॥ २८ ॥

अबन्धुर्बन्धुतामेति नैकट्यास्यासयोगतः ।
यात्यनभ्यासतो दूरात्स्नेहो बन्धुषु तानवम् ॥ २९ ॥
आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलम् ।
आधिभौतिकतामेति भावनाभ्यासयोगतः ॥ ३० ॥
आधिभौतिकदेहोऽसौ धारणाभ्यासभावनात् ।
विहङ्गवत् खमभ्येति पश्याऽभ्यासविजृम्भितम् ॥ ३१ ॥
पुण्यानि यान्ति वैफल्यं वैफल्यं यान्ति मातरः ।
भाग्यानि यान्ति वैफल्यं नाऽभ्यासस्तु कदाचन ॥ ३२ ॥
दुःसाध्याः सिद्धिमायान्ति रिपवो यान्ति मित्रताम् ।
विषाण्यमृततां यान्ति सन्तताभ्यासयोगतः ॥ ३३ ॥
येनाऽभ्यासः परित्यक्त इष्टे वस्तुनि सोऽधमः ।
कदाचिन्न तदाऽप्नोति वन्ध्या स्वतनयं यथा ॥ ३४ ॥

समीपके कारण अभ्यासयोगसे ही अबन्धु बन्धुरूप बन जाता है और दूरीके कारण अनभ्याससे बन्धुओंमें भी स्नेह थोड़ा हो जाता है ॥ २९ ॥

देहमें भौतिकताकी भ्रान्ति भी स्वाभाविक भौतिकताके अभ्याससे ही होती है, यह कहती है—'आतिवाहिक०' इत्यादिसे ।

भावनाभ्यासयोगसे ही केवल विशुद्ध चिदाकाशरूप आतिवाहिक यह देह आधिभौतिक रूप बन जाती है ॥ ३० ॥

यह आधिभौतिक देह धारणाके अभ्यासकी भावनासे ही पक्षियोंके सदृश आकाशमें उड़नेकी सिद्धि प्राप्त करती है, देखिए यह भी अभ्यासका ही प्रमाव है ॥ ३१ ॥

कदाचित् श्लाघारूप थोड़ेसे अपराधसे पुण्य भी विफल बन जाते हैं, माताएँ विफल बन जाती हैं और धन भी विफल बन जाता है, परन्तु कभी अभ्यास विफल नहीं होता ॥ ३२ ॥

निरन्तरके अभ्याससे दुःसाध्य पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, शत्रु मित्र बन जाते हैं तथा औषधके निमित्त अभ्याससे विष भी अमृत बन जाते हैं ॥ ३३ ॥

अतएव शास्त्रीय शुभाभ्यास कदापि नहीं छोड़ना चाहिए, यह कहती है—'येन' इत्यादिसे ।

इष्ट वस्तुके विषयमें जिसने अपना अभ्यास छोड़ दिया, वह मनुष्योंमें अधम

यदप्यभिमतं वस्तु स्वभ्यासेन तदर्जनात् ।
तद्युक्तिपूर्वकं त्याज्यमामृत्योर्जीवितं यथा ॥ ३५ ॥
इष्टे वस्तुनि नाभ्यासं यः करोति नराधमः ।
सोऽनिष्टेऽनिष्टमाप्नोति नरकान्नरकान्तरम् ॥ ३६ ॥
तरन्ति सरितं स्फीतां संसारासारसेविनः ।
त एवात्मविचाराख्यमभ्यासं न त्यजन्ति ये ॥ ३७ ॥
अभ्यासभासोऽभिमतं वस्तु प्रकटयन्त्यलम् ।
प्रापयन्ति च निर्विघ्नं घटं दीपप्रभा यथा ॥ ३८ ॥

है, वह उस वस्तुको ऐसे प्राप्त नहीं कर सकता, जैसे 'वन्ध्या अपने पुत्रको ॥३४॥

तब क्या शास्त्रविहित होनेसे स्त्री, पुत्र, धन, सत्कर्मानुष्ठान आदि अभिमत वस्तुका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देती है—'यद्०' इत्यादिसे ।

स्त्री, पुत्र आदि जो अभिमत वस्तुएँ हैं, उनका उपार्जन हजारों यत्नोंसे किया जाता है। इससे उनका भी परित्याग सहसा नहीं करना चाहिए, किन्तु वैराग्यके अभ्यास द्वारा ऐसे युक्तिसे परित्याग करना चाहिए, जैसे मृत्युपर्यन्त अत्यन्त अभीष्ट जीवन वस्तुका योगी युक्तिपूर्वक त्याग करता है ॥ ३५ ॥

तत्त्वज्ञानार्थ जो अभ्यास है, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके त्यागसे तो देह आदिमें अहम्भावादिका अभ्यास अवश्य होने लग जायगा, फिर इसका निवारण असंभव हो जानेपर अनिर्मोक्षकी आपत्ति हो जायगी, इस आशयसे कहती है—'इष्टे' इत्यादिसे ।

जो नराधम अपनी इष्ट वस्तुके लिए (मोक्षहेतु तत्त्वज्ञानके लिए) अभ्यास नहीं करता, वह अनिष्टमें यानी देह आदिमें अहम्भावरूप अनर्थमें ही रत रहेगा, इस स्थितिमें अपने अभ्यासस्वभावसे अनिष्ट ही प्राप्त करता रहेगा और तदनन्तर एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता रहेगा, उससे छुटकारा कभी उसका नहीं होगा ॥ ३६ ॥

जिससे संसार असार बन जाता है, ऐसे विवेककी सेवामें सदा निरत रहनेवाले जो उत्तम पुरुष आत्मविचाररूप अभ्यासको नहीं छोड़ते, वे ही इस महाविस्तृत मायारूपी नदीको तैर जाते हैं ॥ ३७ ॥

हे मुने, जैसे घड़ा चाहनेवाले पुरुषके लिए दीपककी प्रभाएँ घड़ेको

यथा कल्पद्रुमलताः सचिन्तामणयो यथा ।
फलन्ति शरदश्चैतास्तथैवाऽभ्यासभूमयः ॥ ३९ ॥
इष्टवस्तु चिराभ्यासभास्वान् भासयति प्रजाः ।
तथेन्द्रियाख्यां देहोर्व्यां रात्रिं पश्यन्ति नो यथा ॥ ४० ॥
सर्वस्य जन्तुजातस्य सर्ववस्त्ववभासने ।
सर्वदैवैक एवोच्चैर्जयत्यभ्यासभास्करः ॥ ४१ ॥
चतुर्दशविधायास्तु भूतजातेर्न कस्यचित् ।
सिद्ध्यन्त्यभिमतं वस्तु विनाभ्यासमकृत्रिमम् ॥ ४२ ॥
पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
पुरुषार्थः स एवेह तेनाऽस्ति न विना गतिः ॥ ४३ ॥

प्रकाशित करती हैं और निर्विघ्न उसे प्राप्त करा देती हैं, वैसे ही आत्मवस्तु चाहनेवाले पुरुषके लिए श्रवणादि अभ्यासरूपी प्रभाएँ आत्माको प्रकाशित करती हैं और उसे प्राप्त भी करा देती हैं। उसमें श्रवण-मननका अभ्यास असंभावना-रूप अन्धकार हटाकर वस्तुको प्रकाशित कर देता है और निदिध्यासनका अभ्यास विपरीत भावनारूप विघ्न विनाशकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करा देता है, यह तात्पर्य है ॥ ३८ ॥

जैसे कल्पवृक्षकी लता, जैसे उत्तम चिन्तामणि अथवा जैसे शरद ऋतु तत्-तत् अभिमत फल प्रदान करती हैं, वैसे ही ये श्रवण आदिके अभ्यासकी भूमियां भी अभिमत मोक्षवस्तु प्रदान करती हैं ॥ ३९ ॥

देहरूपी पृथ्वीपर चिरकालिक आत्मविचाराभ्यासरूपी सूर्य अपनी अभीष्ट वस्तुको (परम प्रेमके विषय आत्माको) उस तरीकेसे दिखलाता है, जिस तरीकेसे कि उत्तम जन्म लेनेवाले अधिकारीजन राग, द्वेष, जन्म, मरण आदि हजारों अनर्थोंको पैदा करनेवाली इन्द्रियरूप रात्रिको न देख पावें ॥ ४० ॥

जितने प्राणी हैं, उन सबके लिए सदा ही सब वस्तुओंका प्रकाश करनेवाला एक अभ्यासरूपी सूर्य सर्वोच्च है ॥ ४१ ॥

चौदह भुवनोंमें स्थित चौदह प्रकारकी जो प्राणियोंकी जातियां हैं, उनमें किसी भी प्राणीकी स्वाभाविक अभीष्ट वस्तु अभ्यासके बिना सिद्ध नहीं होती ॥ ४२ ॥

अब अभ्यासका स्वरूप बतलाती हैं—'पौनःपुन्येन' इत्यादिसे ।

दृढाभ्यासाभिधानेन यत्ननाम्ना स्वकर्मणा ।
निजवेदनजेनेव सिद्धिर्भवति नाऽन्यथा ॥ ४४ ॥

अभ्यासभास्वति तपत्यवनौ वने च
वीरस्य सिद्ध्यति न यन्न तदस्ति किञ्चित् ।
अभ्यासतो भुवि भयान्यभयीभवन्ति
सर्वासु पर्वतगुहास्वपि निर्जनासु ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने अभ्यासप्रशंसा नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

महाराज, किसी एकका बार-बार करना ही अभ्यास कहा जाता है। उसीका इस शास्त्रमें पुरुषार्थशब्दसे पहले अनेक बार वर्णन किया गया है, पुरुषप्रयत्न और परमपुरुषार्थरूप फल भी वास्तवमें वही है, इसलिए अभ्यासके बिना यहाँ किसीकी गति हो ही नहीं सकती ॥ ४३ ॥

दृढ़ अभ्यास शब्दसे कहा जानेवाला प्रयत्ननामक जो अपना कर्म है, उसीसे सिद्धि मिलती है, दूसरेसे नहीं, यही सत्कर्म अपने विवेकके कारण मानो उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

इन्द्रियोंपर विजय पानेमें समर्थ वीर पुरुषके लिए अभ्यासरूपी सूर्यके तपते रहनेपर भूमिमें, जलमें या आकाशमें ऐसी कोई अभिलषित वस्तु नहीं है जो सिद्ध नहीं हो सकती। भूमण्डलपर तथा समस्त निर्जन पर्वतकी गुहाओंमें जितने भयके कारण बाघ, साँप आदि हैं, वे सब अभ्यासवान् पुरुषके लिए अभयहेतु बन जाते हैं यानी अभ्यासीको उनसे तनिक भी भय नहीं होता। वे अभयरूप बन जाते हैं ॥ ४५ ॥

सड़सठवाँ सर्ग समाप्त

अष्टषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

ततः प्राचीनमभ्यासं बोधधारणयाऽमले ।
कुर्वः प्रकटतां तेन जगद्द्रक्ष्यति शैलगम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

युक्तियुक्ते तयेत्युक्ते विद्याधर्या धरोरसि ।
बद्धपद्मासनोऽथाहं समाधावुदितोऽभवम् ॥ २ ॥
सर्वार्थभावनात्यागे चिन्मात्रैकान्तभावितः ।
अत्यजं तमहं पूर्वकथार्थकलनामलम् ॥ ३ ॥
अथ चिद्व्योमतां प्राप्तः परां दृष्टिमहं गतः ।
शरत्समयसम्प्राप्तौ व्योम निर्मलतामिव ॥ ४ ॥

अड़सठवाँ सर्ग

[आधिभौतिक भ्रान्तिका निरास करके समाधिसे जो आतिवाहिक भावकी स्थिति होती है, वह सत्य है, यह वर्णन]

विद्याधरीने कहा—हे भगवन्, चूँकि दृढ़ाभ्यासनामक समाधिरूप यत्नके बिना देहादिमें आधिभौतिकताकी (स्थूलताकी) भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो सकती और आतिवाहिक भावका भी (सूक्ष्मभावका भी) आविर्भाव नहीं हो सकता । आतिवाहिक भावके बिना दूसरे सर्गकी स्थिति भी साक्षिप्रत्यक्षसे नहीं देखी जा सकती, इसलिए निर्मल परमात्मामें सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणासे अपना हम प्राचीन आतिवाहिक भावका अभ्यास पुनः करें, उसी उपायसे शिलाके अन्तर्गत जगत् प्रकट होगा, जिसका मैंने आपसे वर्णन किया है ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—इस तरह उस पर्वतके ऊपर उस विद्याधरीके युक्तियुक्त वचन कहनेपर मैं पद्मासन जमाकर समाधिके लिए उद्यत हो गया ॥२॥

और उस समाधिमें सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंकी कल्पनाका त्याग हो जानेपर चिन्मात्र एकरूप होकर मैंने उस पूर्वकथार्थकी—आधिभौतिक देहादिकी भावना और उसके संस्कारमलका भी बिलकुल त्याग कर दिया ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर चिदाकाशरूपताको प्राप्त होकर मैं दिव्य दृष्टिको ऐसे प्राप्त हुआ, जैसे शरत्कालमें आकाश निर्मलताको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ततः सत्यावधानैकघनाभ्यासेन देहके ।
ममाधिभौतिकभ्रान्तिर्नूनमस्तमुपागता ॥ ५ ॥
उदयास्तमयोन्मुक्ता सततोदयमप्यपि ।
महाचिद्व्योमता स्वच्छा प्रोदितेव तदाऽभवत् ॥ ६ ॥
अथ पश्याम्यहं यावत्स्वस्यैवामलतेजसा ।
वस्तुतस्तु न चाकाशं नोपलः परमेव तत् ॥ ७ ॥
परमार्थघनं स्वच्छं तत्तथा भाति तादृशम् ।
तथा भावनया ह्यात्मा मदीयो दृष्टवांस्तथा ॥ ८ ॥
यथा स्वप्ने सुमहती दृष्टा गेहगता शिला ।
व्योमैव केवलं तद्वत्सुशुद्धं चिन्नभःशिला ॥ ९ ॥
स्वयं स्वप्नान्वितोऽन्यस्य स्वप्नपुंस्त्वं गतो नरः ।
स्वप्नेऽज्ञानप्रबुद्धस्य यादृक्तादृकस्वरूपतः ॥ १० ॥

इसके अनन्तर सत्य परमात्माके दृढ़ अभ्याससे देहमें मेरी आधिभौतिकता-भ्रान्ति निश्चितरूपसे अस्त हो गई ॥ ५ ॥

और उस समय उदय एवं अस्तसे रहित, नित्य अनावृत स्वप्रकाशरूप, अतिनिर्मल, महाचिदाकाशरूपता एक तरहसे प्रकट हो गई ॥ ६ ॥

इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेजसे देखने लगा, तो मुझे वस्तुतः न तो वह आकाश दीख पड़ा, और न वह पत्थर ही वहां दीख पड़ा। उस समय सब कुछ मुझे परमार्थमय ही दीख पड़ा ॥ ७ ॥

उस तरहका वह परमार्थघन स्वच्छ परतत्त्व ही भासित हो रहा है। तथा वह परमतत्त्व ही मेरा आत्मा है—स्वरूप है। उसीने पत्थरकी भावनासे वह पत्थर देखा ॥ ८ ॥

जैसे स्वप्नमें अपने घरके भीतर विशाल एक पत्थरके रूपसे देखी गई शिला केवल चिदाकाशरूप ही है, वैसे ही विशुद्ध केवल चिदाकाश ही वहां पत्थर शिलाके रूपसे स्फुरित हो रहा था ॥ ९ ॥

यदि यह व्यवहार स्वप्नरूप ही है, तो फिर वहाँ अपनी या दूसरे किसीकी जाग्रदवस्थारूपताका प्रतिभास कैसे होता है? इसपर कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

स्वप्नस्थानां शिरश्छिन्नं येषां ते संसृतौ स्थिताः ।
कालेन ज्ञानलाभेन विना कुर्वन्तु किं किल ॥ ११ ॥
बोधः कालेन भवति महामोहवतामपि ।
यस्मान्न किञ्चनाप्यस्ति ब्रह्म तत्त्वादृतेऽक्षयम् ॥ १२ ॥
अतस्तच्चिद्घनं स्वच्छं ब्रह्माकाशं शिलाकृति ।
दृष्टं मया तथा तत्र न तु पृथ्व्यादि सत् क्वचित् ॥ १३ ॥
भूतानामादिसर्गे यच्छुद्धं यत्पारमार्थिकम् ।
वपुस्तदेव ह्येतेषां ध्यानलभ्यमवस्थितम् ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नमें ही, अज्ञानवश 'मैं स्वप्नसे जग गया' ऐसा मान रहे किसी अन्य पुरुषके स्वप्नदृश्य पुरुषरूपताको प्राप्त हुआ स्वप्नयुक्त पुरुष स्वयं अपनेको स्वरूपतः जैसा 'मैं प्रबुद्ध हूँ' ऐसा प्रतिभासित होता है, ठीक वैसा ही वह व्यवहार है ॥१०॥

स्वप्नमें स्थित जिन पुरुषोंका सिर कट चुका है वे स्वप्न-संसारमें स्थित होकर ज्ञानके बिना क्या कर सकते हैं, ऐसे ही संसारमें स्थित जीव कालवश ज्ञानप्राप्तिके बिना क्या कर सकते हैं अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके पहले क्या कर सकते हैं, इसलिए स्वप्नमें आहत हुए पुरुषोंका जागरणके उपायभूत देहके न रहनेसे अगत्या यही कहना पड़ता है कि स्वप्नमें ही उनकी जागरणता है ॥ ११ ॥

इसलिए मूलाज्ञानरूपी निद्राके उच्छेदसे स्वरूपका प्रतिबोध ही इस जीवका मुख्य प्रतिबोध है । इसके विपरीत तो यही कहना पड़ेगा कि स्वप्नमें ही व्यर्थ जागरणका अभिमान है, यह कहते हैं—'बोधः' इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, महामोहशाली (अज्ञानरूपी निद्रायुक्त) पुरुषोंको जो समय पाकर बोध होता है यानी ज्ञानरूप जागरण होता है वही उनका मुख्य प्रबोध है—जागरण है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्वके सिवा अक्षय कोई दूसरा पदार्थ जागरण या स्वप्नमें नहीं है ॥ १२ ॥

यही कारण है कि मैंने स्वरूपबोधके पहले जिसकी आकृति शिलामय देखी थी, उस स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाशको मैंने चेतनघन सद्रूप देखा, पृथ्वी आदिके विकारके रूपसे कहीं नहीं देखा ॥ १३ ॥

भूतोंकी आदि सृष्टिमें स्थित जो शुद्ध और जो पारमार्थिक ब्रह्मरूप है वही तत्त्वज्ञानियोंके ध्यानसे लभ्य इन सभी प्राणियोंका शरीर स्थित है ॥ १४ ॥

ब्राह्मं वपुर्हि भूतानामात्मीयं यत्पुरातनम् ।
तदेवाद्य मनोराज्यं सङ्कल्प इति कथ्यते ॥ १५ ॥
सत्तातिवाहिको देहस्तत्परं परमार्थतः ।
प्रत्यक्षं परमं यत्तत्तदाद्यं कचनं चितः ॥ १६ ॥
उद्यत्प्रथममध्यक्षं जीवस्य प्रथमं वपुः ।
मनःप्रत्यक्षमित्युक्तं तच्चेनाद्यैव दुर्धिया ॥ १७ ॥
योगिप्रत्यक्षमित्युक्तं मनःप्रत्यक्षमित्यपि ।
तत्स्वमेव चितो रूपं गतमेवाऽन्यतां मुधा ॥ १८ ॥

जो ब्रह्मका आत्मीय पुरातनरूप है वही भूतोंका अपना पारमार्थिकरूप है वह मनोराज्य या सङ्कल्प तुल्य ही है। उसीको इस समय मूढ़ लोग जगतके नामसे कहते हैं ॥ १५ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, लेकिन वह आतिवाहिक देह कौन है, जिसके सद्भावमें सम्पूर्ण जगत्का दर्शन और चित्स्वभावका स्फुरण होता है, उसको कहते हैं—'सत्ता०' इत्यादिसे।

वह मायाशबल ब्रह्म ही सत् कहा जाता है। उसमें चितिकी जो जगतके संस्कारसे युक्त अंशकी सत्ता है, उसीको आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर कहते हैं। और उसका जो वह नित्य अपरोक्ष शुद्ध चिदंश है वही उसका स्वरूप-स्फुरण है ॥ १६ ॥

तब आपने यह पहले कैसे कहा है कि मन जीवका आतिवाहिक शरीर है, इसपर कहते हैं—'उद्यत्' इत्यादिसे।

सृष्टिके आकारसे उदित हो रहा वही चित्सत्तारूप प्रथम प्रत्यक्ष चिदाभासात्मक जीवका हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टिरूप आतिवाहिक शरीर होता है और वही फिर समष्टिभावको अपनी दुर्बुद्धिसे भूलकर शीघ्र ही जब व्यष्टिभावको प्राप्त कर लेता है तब सर्वजनप्रत्यक्ष मन, इस नामसे कहा जाता है। इसीलिए तो हमने आपसे पहले यह कहा है कि जीवका आतिवाहिक शरीर मन है ॥ १७ ॥

इस प्रकार स्वयं वही चितिका रूप अज्ञानके कारण व्यर्थ ही अन्यरूपताको प्राप्त हो गया है। समष्टिरूपसे वह योगियोंको प्रत्यक्ष है, इसलिए वह योगि-

इदमद्यतनं नाम प्रत्यक्षमसदुत्थितम् ।
असत्प्रत्यक्षमेवेति विद्धि प्रत्यक्षमङ्ग तत् ॥ १९ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं प्राक्प्रत्यक्षे परोक्षता ।
निर्णीताऽस्मिंस्त्वनध्यक्षे प्रत्यक्षकलनाऽऽगता ॥ २० ॥
आतिवाहिकदेहत्वं प्रत्यक्षं प्रथमोदितम् ।
सत्यं सर्वगतं विद्धि मायैव त्वाधिभौतिकम् ॥ २१ ॥
अनुभूतापि नास्त्येव हेम्नः कटकता यथा ।
तथाऽऽतिवाहिकस्याऽऽधिभौतिकत्वं न विद्यते ॥ २२ ॥
भ्रमभ्रमतां यातमभ्रमं भ्रमतां गतम् ।
वेत्ति जीवो विचारेण विनाऽहो नु विमूढता ॥ २३ ॥

प्रत्यक्ष और व्यष्टिरूपसे सर्वजनसाधारणको प्रत्यक्ष है, इसलिए मनःप्रत्यक्ष भी कहा गया है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय जो यह मनःप्रत्यक्ष है वह आधिभौतिक देह आदिकी कल्पना द्वारा अत्यन्त असद्रूपसे ही उदित हुआ है, अतः इसे आप असत् प्रत्यक्ष ही समझिये । और उस योगिप्रत्यक्षको आप सत् यानी याथात्म्यकी स्फूर्ति होनेसे मुख्य प्रत्यक्ष जानिये ॥ १९ ॥

तब सभी लोगोंको उस प्रत्यक्षमें परोक्षताका अनुभव तथा अन्यत्र प्रत्यक्षताका अनुभव कैसे होता है, इसपर कहते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

अहो, परमेश्वरकी यह माया विचित्र है, प्राक् प्रत्यक्षमें (साक्षी चेतनकी समष्टि मनकी प्रत्यक्षतामें) परोक्षता हो रही है और इस अनध्यक्ष (अप्रत्यक्ष) मनमें प्रत्यक्षकी कल्पना आ गई है ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्‌में सर्वप्रथम स्फुरित होनेसे सूक्ष्म शरीर ही प्रत्यक्ष होता है, उसीको आप सत्य और सर्वगत समझिये । यह आधिभौतिक स्थूल शरीर तो माया ही (मिथ्या ही) है ॥ २१ ॥

जैसे अनुभव करनेपर सुवर्णमें कटकता एकदम नहीं है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरमें आधिभौतिकता (स्थूल शरीरता) भी वस्तुतः नहीं है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, विचार न रहनेके कारण यह जीव भ्रममें अभ्रमरूपता और अभ्रममें भ्रमरूपता प्राप्त है, यह समझता है । अहो, यह कैसी मूढ़ता है ॥ २३ ॥

आधिभौतिकदेहोऽयं विचारेण न लभ्यते।
आतिवाहिकदेहस्तु किल लोकद्वयेऽक्षयः ॥ २४ ॥
आधिभौतिकचिद्रूढा ह्यातिवाहिकदेहके।
मरौ मरीचिकास्वेव यथा मिथ्यैव वारिधीः ॥ २५ ॥
जाताधिभौतिकी संविदातिवाहिकचित्क्रमे।
देहदृष्टिवशात्प्रौढा स्थाणौ पुरुषधीरिव ॥ २६ ॥
शुक्तौ रजतता तापे जलतेन्दौ यथा द्विता।
आधिभौतिकता तद्वन्माययैवातिवाहिके ॥ २७ ॥
यदसत्तत्कृतं सत्यं यत्सत्यं तदसत्कृतम्।
अहो नु मोहमाहात्म्यं जीवस्याऽस्याऽविचारजम् ॥ २८ ॥
योगिप्रत्यक्षमेवास्ति किञ्चिदस्ति तु मानसम्।
यस्माल्लोकद्वयाचारस्ताभ्यामेव प्रसिद्ध्यति ॥ २९ ॥

बहुत विचारकर देखनेसे यह आधिभौतिक स्थूल शरीर उपलब्ध नहीं होता और आतिवाहिक—सूक्ष्म शरीर तो मोक्षपर्यन्त इस लोक और परलोकमें भी समस्त व्यवहारका निर्वाहक होनेसे अक्षय है ॥ २४ ॥

सूक्ष्म शरीरोपहित चितिमें आधिभौतिकताकी प्रथा यानी स्थूल शरीर-रूपताकी बुद्धि मिथ्या ही ऐसे प्रादुर्भूत हुई है, जैसे मरुभूमिकी मृगतृष्णामें जलबुद्धि व्यर्थ ही प्रादुर्भूत होती है ॥ २५ ॥

सूक्ष्मशरीरोपहित चितिक्रममें उत्पन्न हुई आधिभौतिकी बुद्धि यानी स्थूलबुद्धि स्थूलशरीरकी दृष्टिकी वशसे ऐसे प्रौढ़ हो गई है, जैसे स्थाणुमें पुरुषबुद्धि ॥ २६ ॥

शुक्तिमें जैसे रजत, मृगतृष्णामें जैसे जल और जैसे चन्द्रमामें दो चन्द्रकी बुद्धि मिथ्या है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरमें स्थूलबुद्धि भी माया ही—मिथ्या ही है ॥ २७ ॥

अहो! इस जीवके अविचारसे उत्पन्न हुए मोहके माहात्म्यको तो जरा देखिये, उसने जो असत् है उसे सत्य और जो सत्य पदार्थ है उसे असत् बना दिया है ॥ २८ ॥

वास्तवमें तो योगियोंकी प्रत्यक्ष-भूत चिति-स्फूर्ति ही सत्य है और मानस

आद्यं प्रत्यक्षमुत्सृज्य यः सत्येऽस्मिन्कृतस्थितिः ।
प्रत्यक्षे मृगतृष्णाम्बु पीत्वा स सुखमास्थितः ॥ ३० ॥
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ।
अकृत्रिमनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ ३१ ॥
प्रत्यक्षेणैवमध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रविचार्यताम् ।
यदाद्यं तत्सदध्यक्षं तत्प्रत्यक्षेण दृश्यताम् ॥ ३२ ॥

स्पन्द तो कुछ* है, क्योंकि दोनों लोकोंका सारा व्यवहार इन्हीं दोनोंसे (स्फूर्ति और स्पन्दनसे) सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

जो सर्वसाधारणको प्रत्यक्ष है, एकमात्र उसीमें सब कुछ छोड़-छाड़कर योगसे स्थिरता सम्पादन करनी चाहिए, केवल पामरजनोंके प्रसिद्ध ऐहिक स्थूलादिके प्रत्यक्षमें नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'आद्यम्' इत्यादिसे ।

जो मनुष्य इस आद्य सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्षको छोड़कर इस स्थूल शरीर प्रत्यक्षमें सत्यबुद्धि करके स्थित है वह मानो मृगतृष्णाका जल पीकर सुखसे स्थित है ॥ ३० ॥

इसी तरह योगियोंके अनुभवसिद्ध सर्वसाधारण जो सुख है उसीमें परम-पुरुषार्थरूपता जाननी चाहिए, पामरजनप्रसिद्धमें नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'यत्सुखम्' इत्यादिसे ।

क्षणभरमें ही नाशके अनुभवसे तत्त्वज्ञानी महानुभाव लोग जो विषयसुख है उसको दुःखरूप ही कहते हैं तथा अकृत्रिम, अनादि, अनन्त जो सुख है उसीको वास्तविक सुख बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तको ही दृढ़ करनेकी इच्छा करते हुए फिर कहते हैं—'प्रत्यक्षेण' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह साक्षी चेतन द्वारा आप प्रत्यक्ष विचार कीजिये तथा स्वयं अपने अनुभवसे देखिये, जो सबका आदि साक्षीचित्‌का प्रत्यक्ष है वही वास्तविक सुख है ॥ ३२ ॥

* प्रत्यक्षचितिके अधीन इसकी सिद्धि होनेसे वह मानस स्पन्द कुछ है, अतः उसकी प्रत्यक्षचितिसमसत्ता नहीं है, इसलिए वस्तुतः वह भी मिथ्या ही है, यह तात्पर्य है ।

लोकत्रयानुभवदं त्यक्त्वा प्रत्यक्षमैहिकम् ।
मायात्मकं यो गृह्णाति नास्ति मूढतमस्ततः ॥ ३३ ॥
आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः ।
अत्राऽऽधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥ ३४ ॥
अजातसङ्कल्पमयं प्रत्यक्षं सत्कथं भवेत् ।
स्वयमेव नयत् सत्यं तत्स्यात्कार्यकरं कथम् ॥ ३५ ॥
यत्र प्रत्यक्षमेवासदन्यत् किं तत्र सद्भवेत् ।
क्व तत्सत्यं भवेद्वस्तु यदसिद्धेन साध्यते ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्ष एव भावत्वे नष्टे क्वेवानुमादयः ।
उह्यन्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा ॥ ३७ ॥

तीनों लोकके अनुभव देनेवाले सूक्ष्मचित् प्रत्यक्षको छोड़कर जो ऐहिक स्थूल प्रत्यक्षको ग्रहण करता है, उससे बढ़कर और कोई दूसरा भारी मूर्ख नहीं है ॥ ३३ ॥

सम्पूर्ण भूतोंका जो सूक्ष्म शरीर है वही वास्तवमें सत् है। इसमें जो स्थूलशरीरकी प्राप्ति है वह असत्य पिशाचिका ही है ॥ ३४ ॥

जहाँ मिथ्या सङ्कल्पमयका जन्म ही दुर्लभ है वहाँ उसकी सत्ता तो अत्यन्त दुर्लभ है ही, फिर उस असत् पदार्थमें अर्थक्रियाकी सामर्थ्य तो उससे भी और बहुत दूर है, यह कहते हैं—'अजात०' इत्यादिसे।

जो अनुत्पन्न और सङ्कल्पमय है वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है तथा जो स्वयं ही सत् नहीं है वह कार्यकारी कैसे हो सकता है ॥ ३५ ॥

नेत्र आदि प्रमाणसे जो सिद्ध हुए प्रपञ्चका (जगतका) आप कैसे अपलाप करते हैं, इसपर कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे।

जब कि प्रत्यक्षसाधक चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही योगियोंकी दृष्टिमें असत् हैं तब फिर उनसे सिद्ध अन्य पदार्थ क्या सत् हो सकते हैं। क्योंकि जिस वस्तुकी सिद्धि असत्से की जाती है वह कहाँ सत् होती है ? कहनेका तात्पर्य यह है कि असत्से सिद्ध हुए पदार्थकी सत्ता कहींपर भी देखनेमें नहीं आती ॥ ३६ ॥

जब साक्षात् अर्थोंकी साधक चक्षु आदि इन्द्रियोंकी ऐसी दशा है, तब

अतः प्रमाणसंसिद्धं दृश्यं नास्त्येव कुत्रचित् ।
अनन्यदिदमस्तीव तत्तद्ब्रह्मघनं घनम् ॥ ३८ ॥
स्वप्ने द्रष्टुः खमेवाद्रिर्गृहे नान्यस्य वै यथा ।
तथा तद्भावनवतोरावयोः सा शिलैव चित् ॥ ३९ ॥
अयं शैल इदं व्योम जगदेतदिदं त्वहम् ।
इति चिन्मय आत्मान्तः खं चमत्कुरुते स्वयम् ॥ ४० ॥
पश्यत्येतत्प्रबुद्धात्मा नाप्रबुद्धः कदाचन ।
श्रोतुः कथार्थसंवित्तिर्नाश्रोतुर्भवति क्वचित् ॥ ४१ ॥

भला तन्मूलक अनुमान आदि प्रमाणोंके विषयमें क्या पूछना ? यह कहते हैं— 'प्रत्यक्ष एव' इत्यादिसे ।

जब प्रत्यक्षमें ही भावत्व नष्ट है यानी जब प्रत्यक्षकी ही सत्ता सिद्ध नहीं है तब उसके अधीन अनुमान आदि प्रमाणोंकी कहां गति है । जहां बड़े-बड़े हाथी बह जाते हैं वहां भेड़ोंकी क्या कथा है ॥ ३७ ॥

इसलिए जो कुछ हमने कहा है उसका फलित यही है कि प्रमाणसिद्ध दृश्य प्रपञ्च कहीं भी नहीं है । जो यह सद्रूप एक 'अस्तीव' (है-जैसा) भासित हो रहा है वह सैंधव (नमक) के टुकड़ेके समान चिद्घन ब्रह्म ही है ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नमें पर्वत देखनेवालेका प्रसिद्ध स्वप्न उस समय भी शून्यरूप ही है, क्योंकि उसी घर और उसी समयमें जाग रहे या सो रहे किसी अन्य पुरुषको वह पर्वत नहीं है, वैसे ही शिलाकी भावनासे युक्त हम दोनोंको यह दृश्य भी शिला चिद्रूप ही है ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह शैल, यह आकाश, यह जगत् और यह मैं— इत्यादि सब कुछ चिन्मय आत्मा ही चिदाकाशरूपसे स्वयं अपने स्वरूपमें भासता है ॥ ४० ॥

इस तरह सब कुछ चिन्मय आत्मा ही भासता है, कोई दूसरा नहीं, यह प्रबुद्धात्मा ही देखता है, अप्रबुद्धात्मा कभी नहीं देखता । हे श्रीरामजी, महाभारत आदि कथाका अर्थज्ञान सुननेवालेको ही होता है, जो कथा नहीं सुनता उसको उसका अर्थज्ञान भी कभी नहीं होता ॥ ४१ ॥

अप्रबुद्धमिति भ्रान्तिरेवेयं सत्यतां गता ।
क्षीबस्य सुस्थिरा एव नृत्यन्ति तरुपर्वताः ॥ ४२ ॥
सर्वत्राप्रतिहतमेकरूपबोधं
प्रत्यक्षं शिवमनुबुध्य चित्स्वरूपम् ।
प्रत्यक्षान्तरमिह पेलवं श्रयन्ते
ये मूढास्तृणतनुभिः शठैरलं तैः ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने प्रमाणाप्रतिसिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जगदङ्गमनाभासमदृश्यं दृश्यवत्स्थितम् ।
परया दृश्यते दृष्ट्या तद्ब्रह्मैव निरामयम् ॥ १ ॥

अप्रबुद्धको (अज्ञानीको) ही यह जगत्‌की भ्रान्ति सत्यरूपताको प्राप्त है । हे श्रीरामजी, मदिरा पीकर मतवाले बने हुए पुरुषको ही सुस्थिर ये वृक्ष तथा पर्वत आदि नाचते दिखाई देते हैं ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग योगिप्रत्यक्ष सर्वत्र अप्रतिहत, एकबोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्स्वरूपका बोध करके भी बाधित हुए उस चक्षुः आदि अन्य प्रत्यक्षका—तुच्छ होते हुए भी प्रमाणरूपसे—आश्रय लेते हैं वे मूढ़ आत्मवञ्चक तृणके समान नगण्य हैं, उनसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ४३ ॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

[शिलाकी सृष्टिके अन्दर प्रवेश और वहाँके ब्रह्माका दर्शन तथा सत्कारपूर्वक बैठाये गये वसिष्ठमुनिसे ब्रह्माजीका सम्भाषण—यह वर्णन]

शिलाके पेटमें जगत्‌की संभावनार्थ उसकी सत्ता एवं स्फूर्ति देनेवाले अधिष्ठानभूत ब्रह्मको दिखलाते हैं—'जगदङ्ग॰' इत्यादिसे ।

तत्र शैलसरित्स्रोतोलोकालोकान्तरभ्रमाः ।
भान्ति ते परमादर्शे महाव्योमनि बिम्बिताः ॥ २ ॥
सा प्रविष्टा ततः सर्गं तमनर्गलचेष्टिता ।
अहमप्यविशं तत्र सङ्कल्पात्मा तया सह ॥ ३ ॥
यावत्सा तत्र वैरिञ्चं लोकमासाद्य सोद्यमा ।
उपविष्टा विरिञ्चस्य पुरः परमशोभना ॥ ४ ॥
वक्त्ययं मुनिशार्दूल पतिर्मे पाति मामिमाम् ।
विवाहार्थमनेनाहं जनिता मनसा पुरा ॥ ५ ॥
पुराणः पुरुषोऽप्येष मामप्यद्य जरागताम् ।
न विवाहितवांस्तेन विरागमहमागता ॥ ६ ॥
विरागमेषोऽप्यायातो गन्तुमिच्छति तत्पदम् ।
यत्र न द्रष्टृता नैव दृश्यता न तु शून्यता ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जिसके समस्त जगत् एक तरहके अवयव-से हैं, ऐसे सूर्य आदि ज्योतियोंसे अगम्य तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका अविषय परब्रह्म ही दृश्य-सा बनकर स्थित है, वह निरामय परब्रह्म समाधिकी दिव्यदृष्टिसे दीख पड़ता है [यह जगत् परब्रह्मकी ज्योतिसे ही प्रकाशित हो रहा है, अतः जगत् भी वास्तवमें निर्विकार ब्रह्मरूप ही है] ॥ १ ॥

पर्वत, नदियों, झरने तथा लोकालोकान्तर आदिके जितने भ्रम हैं वे सब उसी ब्रह्ममें दीख पड़ते हैं । ये महाकाशरूपी उत्कृष्ट दर्पणमें प्रतिबिम्बित हैं ॥२॥

श्रीरामजी, तदनन्तर अबाध गतिवाली वह विद्याधरी उस शिलाके पेटमें स्थित जगतमें प्रविष्ट हो गई, सङ्कल्परूप मैं भी उसके साथ उसके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर उद्यमशील तथा परम शोभावाली वह विद्याधरी वहाँके ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीके सम्मुख बैठ गई और बैठकर मुझसे कहने लगी—'हे मुनिश्रेष्ठ, ये मेरे पति हैं, ये मेरी रक्षा करते हैं, विवाहके लिए इन्होंने ही मेरा मनसे उत्पादन किया था, यद्यपि अब ये पुरुष बूढ़े हो गये हैं और मैं भी बूढ़ी हो गई हूँ, तथापि आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसीसे अब मुझे वैराग्य हो गया है, इन्हें भी वैराग्य आ गया है, ये उस परम पदमें जानेकी इच्छा रखते हैं, जहाँ न तो कोई द्रष्टृता है, न दृश्यत्व

महाप्रलय आसन्नो जगत्यस्मिंश्च सम्प्रति ।
ध्यानान्न च चलत्येष शैलमौनादिवाऽचलः ॥ ८ ॥
तस्मान्मामेनमपि च बोधयित्वा मुनीश्वर ।
आमहाकल्पसर्गादौ परमे पथि योजय ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा मामसौ तस्य बोधायेदमुवाच ह ।
नाथायं मुनिनाथोऽद्य सद्म सम्प्राप्तवानिदम् ॥ १० ॥
एषोऽन्यस्मिन् जगद्गेहे ब्रह्मणस्तनयो मुनिः ।
पूजयैनं गृहायातं गृहस्थगृहपूजया ॥ ११ ॥
बुद्ध्यतामर्घ्यपाद्येन पूज्यतां मुनिपुङ्गवः ।
महन्महत्सपर्याभिर्महात्मभ्यो हि रोचते ॥ १२ ॥
तयेत्युक्ते महाबुद्धिर्बुबुधे स समाधितः ।
स्वसंवित्तिद्रवात्मत्वादावर्त इव वारिधौ ॥ १३ ॥

है और न शून्यत्व ही है ।' श्रीरामजी, वह विद्याधरी जबतक यह मुझसे कह रही थी, तबतक इस जगत्में महाप्रलयकाल समीप आ रहा था। फिर उस विद्याधरीने कहना आरम्भ किया—भगवन्, अभी भी ये अपने ध्यानसे विचलित नहीं होते, पर्वतके सदृश अपनी मुनिवृत्तिसे मानो ये अचल पर्वत ही लगते हैं ॥ ४–८ ॥

हे मुनीश्वर, इसलिए मुझे और इन्हें भी बोध देकर उस परब्रह्मके मार्गमें लगानेकी कृपा कीजिये, जो वैज्ञानिक प्रलयतकके सारे संसारोंका मूलभूत कारण है ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, उस विद्याधरीने वैसा मुझसे कहकर फिर उस ब्रह्माजीको जगानेके लिए यह कहने लगी—हे स्वामिन्, आज अपने इस घरमें ये सब मुनियोंके श्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी पधारे हैं, ये मुनि दूसरे जगद्रूप घरमें रहनेवाले ब्रह्माजीके पुत्र हैं। हे नाथ, गृहस्थ पुरुषोंके घरमें होनेवाली समुचित पूजासे अपने घरपर पधारे हुए इनका सत्कार कीजिए ॥ १०, ११ ॥

हे स्वामिन्, आप यह जानिये कि ये मुनिश्रेष्ठ पूज्य हैं, इसलिए अर्घ्य, पाद्य आदिसे इनकी पूजा कीजिये। जो बड़े-बड़े आपके सदृश महात्मा हैं, उन्हें उत्तम पूजासे प्राप्त होनेवाला महाफल ही रुचता है ॥ १२ ॥

श्रीरामजी, जब उस विद्याधरीने वैसा कहा, तब महामेधावी वह मुनि

शनैरुन्मीलयामास नयने नयकोविदः ।
मधुः शिशिरसंशान्तावबनौ कुसुमे यथा ॥ १४ ॥
शनैः प्रकटयामासुस्तान्यङ्गान्यस्य संविदम् ।
मधुपल्लवजालानि नवानीव नवं रसम् ॥ १५ ॥
सुरसिद्धाप्सरःसङ्घाः समाजग्मुः समन्ततः ।
यथा हंसालयो लोलाः प्रातर्विकसितं सरः ॥ १६ ॥
ददर्शासौ पुरः प्राप्तं मां च तां च विलासिनीम् ।
उवाचाथ वचो वेधाः प्रणवस्वरसुन्दरम् ॥ १७ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

करामलकवद्दृष्टसंसारासारसार हे ।
ज्ञानामृतमहाम्भोद मुने स्वागतमस्तु ते ॥ १८ ॥

समाधिसे समुद्रमें आवर्तके समान उठे, वे अपनी आत्माके पहचाननेके निमित्त द्रवीभूत हो गये थे ॥ १३ ॥

तदनन्तर धीरेसे उस नीतिज्ञ विद्वान्ने अपने नेत्र उस तरह खोले, जैसे मधुमास (वसन्त) शिशिरमें शान्त भूमिपर पुष्परूपी अपनी आँखें खोलता है ॥ १४ ॥

बादमें धीरे-धीरे उसके वे समस्त हाथ, पैर आदि अङ्ग—अपने-अपने ज्ञानको ऐसे प्रकट करने लगे यानी अपनी-अपनी चेतनासे युक्त ऐसे होने लगे, जैसे वसन्त सम्बन्धी पल्लव नवीन रसको प्रकट करते हैं यानी नवीन रससे युक्त होने लगते हैं ॥ १५ ॥

अनन्तर, देव, सिद्ध और अप्सराएँ चारों तरफसे ऐसे आ धमकीं, जैसे प्रातःकालमें खिले हुए कमलोंसे युक्त सरोवरपर चञ्चल हंसपंक्तियाँ ॥ १६ ॥

श्रीरामजी, उस ब्रह्माने सामने उपस्थित हमको और विलासिनी उस रमणीको देखा । देखनेके बाद उन्होंने यह वचन कहा । उनका वचन ओंकार पूर्वक स्वरोचारके कारण बड़ा ही रम्य लगता था ॥ १७ ॥

शिलोदर जगत्के ब्रह्माजीने कहा—हे हाथमें आँवलेके सदृश असार संसारके तत्त्वको जाननेवाले, हे ज्ञानरूपी अमृत बरसानेवाले महामेघ, हे मुने आपका स्वागत हो ॥ १८ ॥

पदवीमसि सम्प्राप्त इमामतिदवीयसीम् ।
दूराध्वसुपरिश्रान्त इदमासनमास्यताम् ॥ १९ ॥
इत्युक्ते तेन भगवन्नभिवादय इत्यहम् ।
वदन्मणिमये पीठे निविष्टो दृष्टिदर्शिते ॥ २० ॥
अथामरर्षिगन्धर्वमुनिविद्याधरोदिताः ।
प्रस्तुताः स्तुतयः पूजा नतयः स्थितिनीतयः ॥ २१ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण सर्वभूतगणोदिते ।
शान्ते प्रणतिसंरम्भे तस्योक्तं ब्रह्मणो मया ॥ २२ ॥
किमिदं भूतभव्येश यदियं मामुपागता ।
वक्ति ज्ञानगिराऽस्मांस्त्वं बोधयेति प्रयत्नतः ॥ २३ ॥
भवान् भूतेश्वरो देव सकलज्ञानपारगः ।
इयं तु काममूर्खा किं ब्रूते ब्रूहि जगत्पते ॥ २४ ॥

हे मुने, आप इस अतिदूरातिदूरवर्ती स्थानमें पधारे हैं, अतः लम्बे मार्गके कारण खूब थक गये होंगे, आप इस आसनपर बिराजिए ॥ १९ ॥

श्रीरामजी, उस जगत्के ब्रह्माजीके वैसा कहनेपर 'हे भगवन्, आपको अभिवादन करता हूँ' यों कहते हुए मैं नेत्रके इशारेसे दर्शित मणिमय आसनपर बैठ गया ॥ २० ॥

अनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि, विद्याधर आदि द्वारा गायी गई उनकी स्तुतियाँ आरम्भ हुईं, फिर पूजा हुई और फिर नमस्कार हुए। अनन्तर यथायोग्य परस्पर व्यवहारकी नीति सम्पन्न हुई ॥ २१ ॥

अनन्तर एक मुहूर्तमात्रमें देव, गन्धर्व आदि भूतगणोंके द्वारा वाणीसे किया गया प्रणामसमारोह जब शान्त हो गया, तब मैंने उन ब्रह्माजीसे कहा ॥ २२ ॥

हे भूतभव्यके स्वामिन्, यह विद्याधरी यत्नपूर्वक मेरे पास आकर कहती है कि तुम हम लोगोंको बोध वचनोंसे उपदेश दो। क्या उसका यह कहना उचित है या अनुचित ॥ २३ ॥

हे देव, आप सब प्राणियोंके स्वामी हैं, समस्त ज्ञानोंके पारङ्गत हैं, अतः यह काममुग्धा स्त्री क्या कह रही है ? इसे हे जगत्पते, आप कहिए ॥ २४ ॥

कथमेषा त्वया देव जायार्थं जनिता सती ।
नेह जायापदं नीता नीता विरसतां कथम् ॥ २५ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

मुने शृणु यथावृत्तमिदं ते कथयाम्यहम् ।
यथावृत्तमशेषेण कथनीयं यतः सताम् ॥ २६ ॥
अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत् ।
ततश्चित्कचनैकान्तरूपिणा कचितोऽस्म्यहम् ॥ २७ ॥

हे देव, आपने अपनी भार्या बनानेके निमित्त इसे क्यों उत्पन्न किया ? उत्पन्न करके क्यों अपनी पत्नी नहीं बनायी, फिर यहाँ उसको वैराग्यकी ओर क्यों ले गये ॥ २५ ॥

आपका आशय ठीक है कि यद्यपि मैं और यह दोनों उपदेशके लिए योग्य नहीं हैं, तथापि इसने अपनी ही वासनासे मुझे अज्ञानी और अपना उपदेशाधिकार समझकर आपसे उपदेशार्थ प्रार्थना की है, तथा यद्यपि मैंने इसके जन्ममात्रका सम्पादन किया है, तथापि 'पत्नी बनानेके लिए मैं उत्पादित की गई हूँ, मैं इनकी भार्या हूँ' इत्यादि भी अपनी वासनासे ही इसने समझ रक्खा है, इसलिए वासनामात्रस्वरूप होनेके कारण अब मैं जब विदेहकैवल्यको प्राप्त करूँगा, तब उसके साथ-साथ स्वकल्पित प्रपञ्चका भी तत्काल ही प्रलय हो जायगा, यों विस्तारके साथ उत्तर देनेकी इच्छासे कहते हैं—'मुने' इत्यादिसे ।

अन्य जगत्के ब्रह्माजीने कहा—हे मुने, आप सुनिये, मैं जैसा वृत्तान्त है, वैसा ही आपसे कहता हूँ, क्योंकि सज्जनोंके सम्मुख जैसी घटना घटी हो, उसे अवश्य पूरी तरह कहनी ही चाहिए ॥ २६ ॥

सबसे पहले उपोद्घातसङ्गतिसे 'अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म—ये चारों जगदीश्वरके साथ-साथ ही सिद्ध हैं' इस पुराणप्रसिद्धिके अनुसार अपनी उत्पत्तिके सम्बन्धमें तात्त्विक परिज्ञान बतलानेके लिए तथा अपनी उत्पत्तिका स्वरूप बतलानेके लिए कहते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजी, ऐसी एक कोई मुख्य वस्तु है, जो अज, शान्त, अजर तथा त्रिकालमें बाधित नहीं होनेवाली है । इसीका नाम चिति है । इस चितिके एकमात्र प्रकाशनस्वरूपसे मैं उत्पन्न (आविर्भूत) हुआ हूँ ॥ २७ ॥

आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा ।
भविष्यति स्थिते सर्गे स्वयंभूरिति नाम मे ॥ २८ ॥
वस्तुतस्तु न जातोऽस्मि न च पश्यामि किञ्चन ।
चिदाकाशश्चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनावृतः ॥ २९ ॥
यदयं त्वं ममाहन्ते यदिदं कथनं मिथः ।
तत्तरङ्गास्तरङ्गाग्रे रणतीवेति मे मतिः ॥ ३० ॥
एवंरूपस्य मे कालवशतोऽविशदाकृतेः ।
सा कुमार्याश्चिदाभासमात्रस्यान्तः स्वभावतः ॥ ३१ ॥
ममानन्या तवान्यस्य चान्येवेह विभाति या ।
सोदितानुदितेवान्तर्ममाहमिति वासना ॥ ३२ ॥

उक्त तत्त्वज्ञानसे बाधित अपनी उत्पत्ति और अपना नाम आपके लिए कैसे सिद्ध हो सकता है, इसपर कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

भद्र, मैं चिदाकाशरूप ही हूँ, सदा अपने ही स्वरूपमें स्थित हूँ, और व्यवहार करनेवाली प्रजाके सर्गके उत्पन्न होकर स्थित हो जानेपर उनकी दृष्टिसे मेरा नाम स्वयंभू होता है ॥ २८ ॥

तात्त्विक दृष्टिसे तो न मैं उत्पन्न हुआ हूँ और न कुछ देखता ही हूँ। सभी प्रकारके आवरणोंसे निर्मुक्त होकर चिदाकाशस्वरूप मैं चिदाकाशमें ही स्थित हूँ ॥ २९ ॥

तब हम दोनों तत्त्वज्ञानियोंका परस्पर जो प्रश्नोत्तरादि व्यवहार हो रहा है, वह कैसा है, इसपर कहते हैं—'यदयम्' इत्यादिसे ।

भद्र, जो यह तुम, मेरे आगे हो और तुम्हारे आगे मैं हूँ, तथा यह जो अपना परस्पर प्रश्नोत्तररूप संभाषण है, वह तो उस तरहका है, जिस तरहका कि एक ही समुद्रमें एक तरङ्गके आगे दूसरा तरङ्ग हो और वही एक समुद्र तरङ्गों द्वारा परस्पर आघातोंसे ध्वनि करता हो, यह मेरा सिद्धान्त है ॥ ३० ॥

भद्र, इस प्रकार समुद्रसे जनित तरङ्गोंके सदृश थोड़ी मात्रामें कल्पित अपनी और दूसरेकी दृष्टिसे देखे जानेवाले भेदरूप तथा समयवश अपने स्वरूपके थोड़े-से विस्मरणके कारण अस्वच्छस्वरूप हुए चिदाभासरूपी मुझमें जो स्वभावसे 'मैं और मेरी' यों वासना हुई, वह वासना ही इस कुमारीको और तुम्हें अन्य-सी

अनाशसत्तानुदितस्त्वहमात्माऽऽत्मनि स्थितः ।
स्वभावादच्युताकारः स्वात्मारामः स्वयं प्रभुः ॥ ३३ ॥
तस्या अहमिति भ्रान्तेर्वासनाया जगत्स्थितेः ।
सम्पन्नेयमधिष्ठातृदेवता देहरूपिणी ॥ ३४ ॥
वासनाया अधिष्ठातृदेवतैवमियं स्थिता ।
न तु मे गृहिणी नापि गृहिण्यर्थेन सत्कृता ॥ ३५ ॥
स्ववासनावेशवशेन भावं
गृहिण्यहं ब्रह्मण इत्युपेत्य ।
एषा स्वयं व्यर्थमिताऽतिदुःखं
यस्मात्किलैषैव हि वासनाऽन्तः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गप्राप्तिर्नाम
एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥



भासती है, परन्तु मुझको तो अनन्य ही भासती है, वह वासना हम दोनों पुरुषोंकी दृष्टिसे उदित है और उदित नहीं भी है ॥ ३१, ३२ ॥

अपनी दृष्टिसे आप कैसे हैं, इसपर कहते हैं—'अनाश०' इत्यादिसे ।

भद्र, मैं तो अविनाशी सत्तावाला हूँ, क्योंकि मैं कभी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, आत्मरूप मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ । स्वभावसे ही मेरा आकार अविनाशी है, मैं स्वात्माराम तथा स्वयं प्रभु हूँ ॥ ३३ ॥

जब आप ऐसे विशुद्ध हैं, तब यह कैसे उत्पन्न हुई और असलमें यह है क्या ? इसपर कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

हे वसिष्ठजी, उक्त विशुद्धस्वरूप मुझको पूर्वपूर्वके अहङ्कारके संस्कारसे उत्पन्न स्मृति-जैसी जो अहम्भ्रान्ति, जगत्स्थिति और वासना हुई, उसकी अधिष्ठात्री देवता ही यह शरीररूप होकर स्थित है ॥ ३४ ॥

भद्र, यह वासनाकी अधिष्ठात्री देवी ही बैठी है, न तो यह मेरी गृहिणी है और न गृहिणीके निमित्तसे इसका मैंने उत्पादन ही किया है ॥ ३५ ॥

तब यह आपको अपना पति क्यों कहती है, इसपर कहते हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

सप्ततितमः सर्गः

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

अथाहंचिन्मयाकाशस्त्वन्याकाशमयीं स्थितिम् ।
परां ग्रहीतुमिच्छामि तेनेहोपस्थितः क्षयः ॥ १ ॥
महाप्रलयकालेऽस्मिंस्त्यक्तुमेषा मयाऽधुना ।
मुनीन्द्र नूनमारब्धा तेन वैरस्यमागता ॥ २ ॥

चूँकि यही भीतरकी समस्त जगत्की वासना है, इसलिए अपनी वासनाके आवेशवशसे यह 'मैं ब्रह्माकी पत्नी हूँ' इस तरहकी भावनाको अपने ही मनकी इच्छासे प्राप्त हुई है और उसे प्राप्त कर निरर्थक ही अत्यन्त दुःखको प्राप्त हो गई है ॥ ३६ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

[वासना देवीके वैराग्यके कारणका और जगत्के प्रलय एवं मिथ्या विभ्रमरूपत्वका वर्णन]

आपने इसका पत्नीके निमित्त निर्माण क्यों किया, इस प्रश्नका उत्तर देकर अब इसको वैराग्यकी ओर क्यों ले गये, इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आरम्भ करते हैं—'अथाहम्' इत्यादिसे ।

अन्य जगत्के ब्रह्माजीने कहा—हे वसिष्ठजी, मैंने अपने सङ्कल्पसे कल्पित दो परार्ध वर्ष आयुके बिता दिये, अब चित्ताकाशरूप मैं सबसे ऊँची निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्माकाशरूप कैवल्यस्थिति लेनेकी इच्छा कर रहा हूँ, इस कारणसे मेरी वासनासे बने इस जगत्में नित्य, नैमित्तिक, दैनंदिन और आत्यन्तिक—ये चारों तरहके प्रलय भी उपस्थित हो गये हैं ॥ १ ॥

हे मुनीन्द्र, इस महाप्रलयकालमें अब इसका मूलोच्छेद कर अपनी सत्तामें गिरानेके लिए मैंने आरम्भ किया है, इसलिए इसे वैराग्य हो गया है यानी यह विनाशोन्मुख हो गई है ॥ २ ॥

आकाशत्वाद्यदाद्योऽयं पराकाशो भवाम्यहम् ।
तदा महाप्रलयता वासनायाश्च संक्षयः ॥ ३ ॥
तेनैषा विरसीभूता मन्मार्गं परिधावति ।
नानुगच्छति को नाम निर्मातारमुदारधीः ॥ ४ ॥
इहाद्यायं कलेरन्तश्चतुर्युगविपर्ययः ।
प्रजामन्विन्द्रदेवानामद्यैवान्तोऽयमागतः ॥ ५ ॥
अद्यैव चायं कल्पान्तो महाकल्पान्त एव च ।
ममायं वासनान्तोऽद्य देहव्योमान्त एव च ॥ ६ ॥
तेनेयं वासना ब्रह्मन् क्षयं गन्तुं समुद्यता ।
क्केव पद्माकराशोषे गन्धलेखावतिष्ठताम् ॥ ७ ॥
यथा जडाब्धिलेखाया जायते लहरी चला ।
वासनायास्तथैवेच्छा मधोदेत्यपकारणम् ॥ ८ ॥



उसमें युक्ति बतलाते हैं—'आकाशत्वा०' इत्यादिसे ।

यह मैं जब कि चित्ताकाशस्वरूपका त्याग कर आद्य चिदाकाशरूप हो रहा हूँ, तब महाप्रलयका स्वरूप और वासनाका विनाश ध्रुव है ॥ ३ ॥

इसीलिए यह विरक्त होकर मेरे मार्गकी ओर दौड़ रही है, ऐसा उदारबुद्धि कौन जीव है, जो अपने जनकके पीछे दौड़ता न हो ॥ ४ ॥

भद्र, आज ही यहाँ कलिका समाप्तिकाल और चतुर्युगीका विनाश उपस्थित है एवं मनु, इन्द्र, देव आदि प्रजाका भी यह विनाश आ गया है ॥ ५ ॥

चारों प्रकारके प्रलय आज एक ही साथ प्राप्त हैं—यह कहते हैं—'अद्यैव' इत्यादिसे ।

आज ही मेरे कल्पका विनाश है, महाकल्पका भी विनाश आज ही है, वासनाविनाश आज ही है और आज ही देहाकाशका भी विनाश है ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्, इसलिए आत्मदर्शन आदि कारणोंको लेकर ही यह विद्याधरीरूप वासना विनाशकी ओर जानेके लिए उद्यत हुई है । तालाबके सूख जानेपर गन्धलेखा कहाँ स्थित रह सकती है ॥ ७ ॥

अपने विनाशके कारण आत्मदर्शनमें इसकी इच्छा क्यों हुई, इस प्रश्नका उत्तर—उसका वैसा स्वभाव ही है, यह—युक्तिपूर्वक कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

आभिमानिकदेहाया वासनायाः स्वभावतः ।
अस्या आत्मावलोकेच्छा स्वयमेवोपजायते ॥ ९ ॥
आत्मतत्त्वं तु पश्यन्त्या धारणाभ्यासयोगतः ।
दृष्टोऽनया भवत्सर्गो धर्मव्यग्रनिरर्गलः ॥ १० ॥
अनयाऽम्बरसञ्चारपरयाऽद्रिशिरःशिला ।
दृष्टा स्वजगदाधारभूताऽस्माकं तु खात्मिका ॥ ११ ॥
एतद्यस्मिन् जगद्यत्र तद्दृषत्वं जगद्गिरौ ।
अस्मज्जगत्पदार्थेषु सन्त्यन्यानि जगन्त्यपि ॥ १२ ॥

भद्र, जैसे जड़ समुद्रलेलासे चञ्चल लहरी उत्पन्न होती है, वैसे ही वासनासे भी अपने विनाशकी हेतु आत्मदर्शनेच्छा योंही स्वभाववश उत्पन्न होती है, उसमें दूसरा कोई भी बाहरी कारण नहीं है ॥ ८ ॥

केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासनाको स्वभावसे स्वयं ही आत्मदर्शनकी इच्छा उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

तब इसने हम लोगोंका जो ब्रह्माण्ड देखा, उसमें क्या कारण है, इसपर कहते हैं—'आत्म०' इत्यादिसे ।

आत्माके दर्शनके लिए किये गये धारणाभ्यासरूप योगका फल अन्यान्य ब्रह्माण्डमें गमन आदि सिद्धि है ही, इसलिए उसकी परीक्षा करनेकी इच्छा ही वहां जानेमें कारण हुई । वहां जाकर इसने आपका वह सर्ग देखा, जिसमें धर्मादिके अनुष्ठानमें व्यग्र एवं निरर्गल प्रजा रहती है ॥ १० ॥

पूर्वोक्त शिलाका दर्शन भी इसको उसी सिद्धिके बलसे हुआ, यह कहते हैं—'अनया०' इत्यादिसे ।

आकाशमें विचरण करनेमें तत्पर इस विद्याधरीने अपने जगत्की आधारभूत पर्वतके शिखरकी शिला भी उसी सिद्धिकी सामर्थ्यसे देखी, जो कि हम लोगोंकी दृष्टिसे केवल आकाशरूप ही है ॥ ११ ॥

हम लोगोंके अनेक जगद्रूप पदार्थोंके अन्दर—जिस जगद्रूप पर्वतके ऊपर यह जगत् है और जिसमें उक्त पत्थरकी शिलारूपता है—ऐसे ऐसे अनेक दूसरे भी जगत् हैं ॥ १२ ॥

वयं तानि न पश्यामो भेददृष्टौ स्थिता इमे ।
बोधैकतां गतास्त्वाशु पश्यामस्तानि वीक्षणात् ॥ १३ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये खेऽनलेऽम्भसि तेजसि ।
जगन्ति सन्ति सर्वत्र शिलायामिव सर्वदा ॥ १४ ॥
जगन्नाम मुधा भ्रान्तिः किल स्वप्नपुरोपमा ।
मिथ्यैवेयं क्व नामासौ चिद्रूपाऽस्त्यथ नास्ति च ॥ १५ ॥
परिज्ञाता सती येषामेषा चिन्नभसैकताम् ।
गता तेन विमुह्यन्ति शिष्टास्तु भ्रमभाजनम् ॥ १६ ॥
अथान्यधारणाभ्यासात्स्वविरागवशोदितम् ।
साधयन्त्यऽर्थमात्मीयं दृष्टस्त्वमनया मुने ॥ १७ ॥

परन्तु हम लोग चूंकि भेददृष्टिमें यानी व्युत्थानदशामें बैठे हैं, इसलिए उनको नहीं देखते, परन्तु समाधिसे बोधके साथ एकरूप होकर योगदृष्टिसे देखनेसे देख सकते हैं ॥ १३ ॥

मठ, घटमें, पटमें, वटमें, भीतमें, आकाशमें, वायुमें, जलमें, तेजमें, सर्वत्र—सभी जगह, शिलोदरके सदृश, अनेक जगत् विद्यमान हैं ॥ १४ ॥

जगत् नामकी तो एक निरर्थक भ्रान्ति ही है, और वह है ठीक स्वप्ननगरके जैसी। यह जगत्‌की माया भी मिथ्या है, इसलिए मिथ्या भ्रमका अस्तित्व ही कहाँ रहा। यदि उसका अस्तित्व है, तो वह अधिष्ठान चितिरूप होकर कुछ और ही है, न कि प्रतीयमान जड़रूप ॥ १५ ॥

यह मायाभ्रान्ति परिज्ञात होकर जिनकी दृष्टिमें चिदाकाशरूप बन जाती है, उनके लिए तो वह सदाके लिए चली ही गई समझनी चाहिए और बाकी जो लोग बच गये, उनको तो भ्रमके ही पात्र समझ लीजिए ॥ १६ ॥

अब 'किमिदं भूतभव्येश०' इत्यादिसे अपने पास आनेकी सामर्थ्यमें जो हेतु पूछा, उसका उत्तर कहते हैं—'अथा०' इत्यादिसे ।

हे मुने, अब आप यह सुनिये कि आपके पास यह किस कारणसे आयी। बात ऐसी है—पूर्वोक्त वैराग्यप्राप्तिके अनन्तर अपने विरागवशसे इसको आत्मीय यानी अभीष्ट आत्मज्ञानकी अनुकूल गुरूपसदन, श्रवण, मनन आदिकी इच्छा उत्पन्न हुई। और उसे आपके उपदेशसे सिद्ध करनेकी इच्छा रखकर इसने

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ॥ १८ ॥
प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते नेह कार्याणि कानिचित्।
द्रव्यकालक्रियाद्योता चितिस्तपति केवलम् ॥ १९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्ध्यादिकं त्विदम्।
चिच्छिलाङ्गकमेवैकं विद्धानस्तमयोदयम् ॥ २० ॥
चिदेवेयं शिलाकारमवतिष्ठति बिभ्रती।
अङ्गमस्या जगज्जालं मरुतः स्पन्दनं यथा ॥ २१ ॥
विज्ञानघनमात्मानं जगदित्यवबुध्यते।
अनाद्यन्तापि साद्यन्ताऽचित्त्वादिति गतापि चित् ॥ २२ ॥

दूसरे (पूर्वोक्त जगत्सृष्टिके दर्शनमें हेतुभूत धारणासे भिन्न) खेचरसिद्धि, ब्रह्माण्डान्तरमें गमन आदि सिद्धियोंकी हेतुभूत चूडालाख्यायिकामें वर्णित धारणाओंके अभ्याससे आपके सङ्कल्पसे कल्पित आपका समाधिस्थान जानकर वहाँ यह पहुँच गई और पहुँचकर अदृश्य होते हुए भी आपको इसने देख लिया ॥ १७ ॥

हे मुने, वर्णित रीतिसे जीवचितिकी शक्तिरूप अविद्या ऐन्द्रजालिक मायाके सदृश चारों ओर फैली हुई है और ब्राह्मी मायाशक्ति, जो आदि एवं अन्तसे शून्य है, इसी प्रकार चारों ओर फैली हुई है, वह विद्यारूप है, क्योंकि उसमें आवरणशक्ति न रहनेके कारण वह निरामय है ॥ १८ ॥

हे मुनिवर, यहाँ कोई भी कार्य कभी न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं, केवल चिति ही द्रव्य-सी, काल-सी एवं क्रिया-सी प्रकाशित होकर तपती है ॥ १९ ॥

भद्र, ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि आदि हैं, वे सबके-सब केवल चितिरूपी शिलाकी प्रतिकृतियाँ हैं, अतः उनका न उदय है और न अस्त ही है, यह आप जानिये ॥ २० ॥

शिलाकी आकृति धारण कर रही यह चिति ही स्थित है, इसी चितिके समस्त जगत् ऐसे अङ्ग हैं, जैसे वायुके स्पन्दन ॥ २१ ॥

चितिका यह जो उलटा ज्ञान होता है, उसमें चितिस्वभावका परिज्ञान न होना ही कारण है, यह कहते हैं—'विज्ञान०' इत्यादिसे।

चिच्छिलेयमनाद्यन्ता साद्यन्तास्तीति बोधतः ।
साकारापि निराकारा जगदङ्गेति संस्थिता ॥ २३ ॥
यद्वत्स्वप्ने चिदेव स्वं रूपं व्योमैव पत्तनम् ।
वेत्ति तद्वदिदं वेत्ति पाषाणं जगदङ्गकम् ॥ २४ ॥
न सरन्तीह सरितो न चक्रं परिवर्तते ।
नार्थाः परिणमन्त्यन्तः कचत्येतच्चिदम्बरम् ॥ २५ ॥
न महाकल्पकल्पान्तसंविदः संविदम्बरे ।
सम्भवन्ति पृथग्रूपाः पयसीव पयोन्तरम् ॥ २६ ॥
जगन्ति सन्त्येव न सन्ति शान्ते
चिदम्बरे सर्वगतैकमूर्तौ ।

विज्ञानघन आत्माको जगत् समझना चितिका ही कार्य है । स्वयं अनादि एवं अनन्त होती हुई भी असली चित्स्वभावके अपरिज्ञानसे देश-वस्तुसे जनित परिच्छिन्न भावको भी प्राप्त चिति ही हो जाती है ॥ २२ ॥

यह जो चितिरूपा शिला है, वह वास्तवमें आदि-अन्तसे रहित होती हुई भी भ्रमसे आदि-अन्तसे युक्त बन जाती है और निराकार होती हुई भी साकार होकर जगत्-रूप अङ्गोंसे युक्त बनकर स्थित हो जाती है ॥ २३ ॥

जैसे स्वप्नमें चिति अपने ही आकाशवत् निर्मल स्वरूपको नगररूप समझ लेती है, वैसे ही इस जाग्रत्-कालमें भी चिति पाषाणको अपना जगत्-रूप अङ्ग समझ लेती है ॥ २४ ॥

जागरणमें भी स्वप्नके तुल्य बाधकी समानता दिखलाते हैं—'न सरन्ति' इत्यादिसे ।

भद्र, यहाँ न नदियाँ बहती हैं, न नक्षत्रचक्र घूमता है, न अर्थोंका परिणाम हो रहा है, किन्तु अपने भीतर केवल चितिरूप आकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥ २५ ॥

जैसे जलमें विद्यमान दूसरा जल यानी समुद्रमें विद्यमान तरङ्ग आदि पृथक् स्वरूपका नहीं होता, वैसे ही संविदाकाशमें प्रतीत महाकल्प और कल्पके अन्तकी संवित् भी पृथक् स्वरूपकी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

ऐसी परिस्थितिमें अध्यारोपदृष्टिसे देखनेपर अनन्त जगत् सदा सर्वत्र

नभोन्तराणीव महानभोन्त-
श्चित् सन्ति सत्तानि पराम्बराणि ॥ २७ ॥
वसिष्ठ तद्गच्छ मुने जगत्स्वं
त्वं चासने सम्प्रति शान्तिमेहि ।
बुद्ध्यादिरूपाणि परं व्रजन्तु
वयं बृहद् ब्रह्मपदं प्रयामः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिलान्तर्जगत्पितामह-वाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

चितिसत्तासे विद्यमान हैं, थोड़ा-सा भी इनका अपलाप नहीं किया जा सकता और अपवाददृष्टिसे देखनेपर तो चितिके स्वरूपसे भिन्न कोई वस्तु कहींपर भी समर्थित नहीं हो सकती, यह बात हुई, यह कहते हैं—'जगन्ति' इत्यादिसे।

जैसे महाकाशके भीतर दूसरे दूसरे घटादि आकाश महाकाशकी सत्तासे विद्यमान हैं और स्वतः अलग विद्यमान नहीं हैं, वैसे ही ये जगत् स्वतः शून्यरूप होते हुए भी चितिकी सत्तासे विद्यमान हैं और अपनी सत्तासे अविद्यमान भी हैं ॥ २७ ॥

हे वसिष्ठमुने, अब आप अपने भुवनमें चले जाइए, और वहाँ एकान्तमें कल्पित अपने पूर्वके आसनपर समाधि लगाकर विक्षेप-रहित सुखका अनुभव कीजिये, ये मेरे कल्पित बुद्धि आदि जगत्के पदार्थ भी प्रलय प्राप्त कर परम अव्यक्तकी ओर चले जायँ। हम लोग भी हिरण्यगर्भकी उपाधिभूत मूल अज्ञानका बाधकर कैवल्यपदमें जा रहे हैं ॥ २८ ॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोकजनैः सह ।
बद्धपद्मासनोऽनन्तसमाधानगतोऽभवत् ॥ १ ॥
ओङ्कारार्धोर्धमात्रान्तः शान्तनिःशेषमानसः ।
लिपिकर्मार्पिताकार आसीदाशान्तवेदनः ॥ २ ॥
तमेवानुसरन्ती सा तथैव ध्यानगा सती ।
वासनाऽऽसीदशेषांशा शान्ता चाकाशरूपिणी ॥ ३ ॥
परमेष्ठिन्यसङ्कल्पे तस्मिंस्तानवमेयुषि ।
सर्वगानन्तचिद्व्योमरूपोऽपश्यामहं यदा ॥ ४ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग

[कल्पनाके कारणभूत ब्रह्माजीके सङ्कल्पका ज्यों-ज्यों विनाश होता गया, त्यों-त्यों उनके कल्पित समस्त पदार्थोंका प्रलय भी हो गया—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, ऐसा मुझसे कहकर भगवान् ब्रह्माजी, ब्रह्मलोकमें रहनेवाले समस्त जनोंके साथ, पहले पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधिमें तत्पर हो गये ॥ १ ॥

भद्र, ओंकारकी उत्तरार्धभूत जो आधी मात्रा है, उसमें विद्यमान नाद, बिन्दु आदि भागोंमें क्रमशः उन्होंने अपने चित्तका लय किया, इससे उनकी जितनी वासनाएँ थीं, वे सब विलीन हो गईं, जब कि उनकी समस्त वासनाएँ विनष्ट हो गईं, तब वे ऐसे मालूम पड़ने लगे, जैसे चित्रमें उनका आकार चित्रित किया गया हो यानी उस समय उनके आकारमें तनिक भी चञ्चलता नहीं थी ॥२॥

वह विद्याधरी भी ब्रह्माजीका अनुसरणकर ध्यानमग्न हो गई और फिर स्मरणहेतु समस्त बीजभूत संस्कारोंसे रहित होकर शान्तस्वभाव हो आकाशरूपिणी हो गई ॥ ३ ॥

यह उनका भीतरी रहस्य आपने कैसे जाना, इस प्रश्नपर कहते हैं—'परमेष्ठि०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप अर्थोंके साथ प्रणवकी मात्राओंके विलय-

यावत्सङ्कल्पनं तस्य विरसीभवति क्षणात् ।
तथैवाऽऽशु तथैवोर्व्याः साद्रिद्वीपपयोनिधेः ॥ ५ ॥
तृणगुल्मलताशालिसद्गुद्भवनशक्तता ।
समस्तैवास्तमागन्तुमारब्धा च शनैः शनैः ॥ ६ ॥
किल तस्य विराडात्मरूपस्याङ्गैकदेशताम् ।
सा बिभर्ति मही तेन तदसंवेदनोदयात् ॥ ७ ॥
विचेतना सा विरसा बभूव परिजर्जरा ।
मार्गशीर्षान्तवल्लीव जराविधुरतां गता ॥ ८ ॥
यथाऽस्माकमसंवित्तेरङ्गाली विरसा भवेत् ।
तथा विरिञ्चिसंवित्तेर्धरा वैधुर्यमागता ॥ ९ ॥

क्रमसे वासना-सङ्कल्पशून्य होकर जब ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्मभावको प्राप्त होने लगे, तब मैं भी समाधिसे सर्वत्रव्यापक असीम चिदाकाशरूप बन गया और ब्रह्माजीकी उस तरहकी स्थिति साक्षात् देखने लगा ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीका सङ्कल्प धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उस क्षणसे लेकर नीरस होता गया, त्यों-त्यों तत्क्षणमें ही पर्वत, द्वीप एवं समुद्रोंसे युक्त पृथ्वीकी तृण, गुल्म, लता, धान आदिकी उत्पादन-सामर्थ्य एवं सभी जल आदिकी अपनी अपनी सामर्थ्य विनाशकी ओर जाने लगी ॥ ५, ६ ॥

समस्त शरीरमें जिसको वेदना है, ऐसे मरणासन्न विद्वान्‌को सङ्कल्पके उपसंहारमें जैसे अङ्गोंमें नीरसता हो जाती है, वैसे ही विराट् पुरुषके सङ्कल्पके उपसंहारमें भी विराट्-शरीरके अवयव पृथ्वी आदिमें भी नीरसता हो जाती है, यह जानना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'किल' इत्यादि ।

पृथ्वी विराट् आत्माके स्वरूपकी एकदेशता ही धारण करती है, यानी पृथ्वी विराट् आत्माकी अङ्ग है, इसलिए जब विराट् आत्माके संवेदनका उपसंहार हो गया, तब पृथ्वी अचेतन तथा नीरस होकर चारों ओरसे ऐसे जर्जर हो गई, जैसे मार्गशीर्षके अन्तमें बल्ली जरासे अविधुर-भावको—जर्जरभावको प्राप्त होती है ॥ ७, ८ ॥

आशयस्थ दृष्टान्तको प्रकट करते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

जैसे हम लोगोंके अङ्ग संवेदनाके उपसंहारमें नीरस हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माजीकी अङ्गभूत पृथ्वी संवेदनके उपसंहारमें नीरस हो गई ॥ ९ ॥

सम्पन्ना संहतानेकमहोत्पातभरावृता ।
दुष्कृताङ्गारनिर्दग्धनरकोन्मुखमानवा ॥ १० ॥
दुर्भिक्षाकाण्डदौस्थित्यदैन्यदारिद्रचदुर्भगा ।
दुःशीलाशेषवनिता निर्मर्यादनरावृता ॥ ११ ॥
पांसुप्रमन्दनीहारधूलिधूसरसूर्यका ।
द्वन्द्विमूर्खमहादुःखिव्यसनिव्याधिताकुला ॥ १२ ॥
अग्निदाहजलापूरयुद्धप्रोच्छिन्नमण्डला ।
अवृष्ट्यवग्रहोन्नष्टकष्टचेष्टितपामरा ॥ १३ ॥
अशङ्कितमहोत्पातपतत्पर्वतपत्तना ।
शिशुश्रोत्रियमुन्यार्यगुणिनाशरुदज्जना ॥ १४ ॥
अशङ्कितस्थलीमध्यसञ्जातागाधकूपका ।
वर्णसङ्करनारीणामासक्तजनभूमिपा ॥ १५ ॥

किस किस प्रकारसे पृथ्वी जर्जर हुई, इसे बतलाते हैं—'सम्पन्ना०' इत्यादिसे ।

पहले तो वह पृथ्वी एक साथ अनेक बड़े-बड़े उत्पातोंके भारसे आक्रान्त हो गई, फिर उसमें पापरूपी अङ्गारोंसे परितप्त नरकोंकी ओर प्रवृत्तिशील मनुष्य होने लगे ॥ १० ॥

अकालके अकाण्डताण्डव, राजाओं एवं चोरोंके उपद्रवोंसे जनित दीनता तथा दरिद्रतासे उसका सारा वैभव मिट्टीमें मिल गया । उसमें समस्त स्त्रियां अपने सतीत्वसे भ्रष्ट हो गईं और मनुष्योंकी सारी मर्यादा नष्ट हो गई ॥११॥

उस समय उस पृथ्वीमें पांसुके सदृश मन्द नीहार एवं धूलिसे सूर्य भी धुँधला हो गया । शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका निराकरण करनेमें महामूर्ख अतएव महादुःखी, व्यसनी एवं व्याधियोंसे पीड़ित जनोंसे वह आक्रान्त हो गई ॥ १२ ॥

उसमें अग्निदाह, जलके पूर एवं युद्धोंसे मण्डलके मण्डल छिन्न-भिन्न हो गये । तथा वह अतिवृष्टि एवं अनावृष्टिसे कष्टपूर्वक जीवनयापनके व्यापारोंसे पामर हुए मनुष्योंसे भर गई ॥ १३ ॥

अशङ्कित महान् उत्पातोंसे उस समय वहां पर्वत, नगर अपने-आप गिरने लगे, बच्चोंके, श्रोत्रिय ब्राह्मणोंके, मुनियोंके, आर्योंके एवं गुणीजनोंके विनाशसे लोग रुदन करने लगे ॥ १४ ॥

जलकी दुर्लभताके कारण स्थलियोंके बीचमें निःशङ्क वहां जहां तहां अगाध

अट्टशूलाखिलजना शिवशूलचतुष्पथा ।
केशैकशूलवनिता पात्रशूलजनेश्वरा ॥ १६ ॥
दुःखशूलसमाचारा द्वन्द्वशूलाखिलप्रजा ।
अधर्मशूलवनिता पानशूलजनेश्वरा ॥ १७ ॥
अधर्मशूलवलिता कुशास्त्रशतशूलिनी ।
दुर्जनाखिलवित्ताढ्या विपद्विहतसज्जना ॥ १८ ॥
अनार्यवसुधापाला तदनाहतपण्डिता ।
लोभमोहभयद्वेषरागरोगरजोरता ॥ १९ ॥

कूप लोगोंने खन दिये थे। वर्णसंकरोंके निमित्त नारियोंमें वहाँ साधारणजन, एवं राजा आदि सब गोत्रादिका विचार किये बिना ही विवाहमें आसक्त होने लग गये ॥ १५ ॥

भद्र, उस समय वहाँ सम्पूर्ण मनुष्य धान आदिके क्रय-विक्रय आदि व्यवहारसे ही अपना निर्वाह करने लग गये, चौमुहानियोंपर शुल्क ही जीवन-साधन बन गया, स्त्रियोंका जीवन-साधन केश (जननेन्द्रिय) ही हो गये, और कर ही राजाओंका उपजीव्य (जीवन-साधन) बन गया अथवा अपने अपने वर्ण और आश्रमके उचित व्यवहारोंका अतिक्रमण ही सभी मनुष्योंका व्यसन बन गया चौराहोंपर श्रृगाल ही क्रन्दन करने लगे, स्त्रियोंका केशविन्यास ही व्यसन बन गया, समस्त राजे वेश्या, नर्तकी आदिमें ही अपना समय निकालने लगे ॥ १६ ॥

जनोंके आचरण दुःखरूप शूलरोगसे आक्रान्त हो गये, समस्त प्रजा शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे आक्रान्त हो गई, अधर्मरूप शूलरोगवाली स्त्रियाँ बन गईं और राजवर्ग मद्य आदिके पानमें ही नरत हो गया ॥ १७ ॥

सारी पृथ्वी अधर्मरूपी शूलरोगसे ग्रस्त जनोंसे चारों ओर व्याप्त तथा सैकड़ों कुशास्त्रोंसे यानी वेदबाह्य विचारोंसे रोगपीड़ित होकर क्रन्दन करने लग गई। उस समय वहाँ चोर आदि दुर्जन ही धनोंसे पूर्ण हो गये और सज्जन अनेकविध विपत्तियोंसे घिर गये ॥ १८ ॥

उस समय अनार्य ही समस्त पृथ्वीके रक्षक बन गये, पण्डितगण अनार्यों द्वारा विताडित होने लगे, सारी भूमिमें लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोगरूप धूलि उड़ने लगी ॥ १९ ॥

अप्यन्यगामिपुरुषा रुषाभिहतसद्द्विजा ।
अनारतपराक्रन्दपरापर्यन्तपामरा ॥ २० ॥
दस्यूत्सन्नपुरग्रामदेवद्विजसमाश्रया ।
आपातमधुरारम्भदुःखदोदरमङ्कुरा ॥ २१ ॥
आलस्योल्लासविलसत्कार्यवैधुर्यधर्मिणी ।
सर्वापदुपतापान्ता क्रमेणोत्सन्नदिग्गणा ॥ २२ ॥
भस्मशेषपुरग्रामा निर्जनाखिलमण्डला ।
रोरूयमाणभस्माभ्रकुण्डलोड्डामराम्बरा ॥ २३ ॥
दुर्भगाडम्बरारम्भरोदनोरुरवोदरी ।
मुष्टिप्रमाणजनता जनतापानुषङ्गिणी ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, क्या कहा जाय, सारी पृथ्वी परधर्ममें प्रवृत्त पुरुषोंसे व्याप्त हो गई, उसमें धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्रोधसे आक्रान्त हो गये और निरन्तर दूसरोंको दुःख देनेमें (रुलानेमें) तत्पर असीम दुष्टजनोंका उत्थान हो गया अर्थात् उस समय पृथ्वीमें सभी पुरुष अपना अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरोंके धर्म-कर्मोंमें प्रवृत्त हो गये, स्वधर्मका उपदेश देनेवाले सज्जन पुरुष क्रोधसे आक्रान्त हो गये तथा साधारण पामर पुरुष निरन्तर दूसरोंको रुलानेमें ही तत्पर हो गये ॥ २० ॥

नगर, गाँव तथा देवता और ब्राह्मणोंके मन्दिरोंको दस्युओंने छिन्न-भिन्न कर दिया एवं अन्यायोपार्जित धनसे अपना कुटुम्बपोषण करनेमें आपाततः मधुर और परिणाममें (परलोकमें) दुःखद उदरवाले अल्पायु पुरुष दिखलाई पड़ने लग गये ॥ २१ ॥

आलस्यदोषसे सब धार्मिक पुरुषोंने अपना-अपना नियमित सन्ध्यावन्दन आदि कार्य छोड़ दिया । परिणाममें सब अनेकविध आपदाओं एवं रोगोंसे घिर गये तथा क्रमसे दिशाओंके मण्डलके मण्डल छिन्न-भिन्न होने लग गये ॥ २२ ॥

नगर और गाँव केवल भस्मावशेष रह गये, सम्पूर्ण मण्डल (जिले) उजड़ गये और शब्द करनेवाले भस्म एवं मेघोंके बवण्डरोंसे आकाशमें भयङ्कर हलचल पैदा हो गई ॥ २३ ॥

सारी पृथिवीका पेट अभागी प्रजाओंके बड़े-बड़े समारोह एवं रोनेके शब्दसे

नीरसाशेषदेशान्ता सर्वर्तुगुणवर्जिता ।
इत्यस्य पार्थिवे धातौ ब्रह्मणो गतवेदने ॥ २५ ॥
पृथिवी पृथुवैधुर्यं सम्पन्नाऽऽसन्ननाशतः ।
अथ तत्संविदुन्मुक्तो जलधातुः क्षयोन्मुखः ॥ २६ ॥
यदा विक्षुभितात्मासीत्तदा नियतिलङ्घनात् ।
समुत्सार्यार्यमर्यादामर्णवा विप्लुतार्णसः ॥ २७ ॥
प्रवृत्ता विकृतिं गन्तुमुन्मत्ता इव राविणः ।
वीचिविक्षोभविन्यासैर्वेलाविपिनलावकाः ॥ २८ ॥
कल्लोलवलनावर्तविवर्तोद्वर्तिताश्रयाः ।
महाभ्रभ्रमदुत्तङ्गतरङ्गाञ्चनभोदिशः ॥ २९ ॥

युक्त बन गया, सारी जनता चोरी करनेमें प्रवीण बन गई तथा सभी मनुष्योंको प्रतिक्षण सन्तापोंका ही सामना होने लगा ॥ २४ ॥

भद्र, उस समय पृथ्वीमें ऋतुओंने अपना-अपना गुण-स्वभाव छोड़ दिया और उसके सभी प्रदेशोंकी सीमाएँ नीरस हो गयीं। इस तरह ब्रह्माजीके विराट् शरीरको बनानेवाला पार्थिव भाग जब चैतन्यमें मिल गया, तब पृथ्वीकी विशालता समीपवर्ती प्रलयके कारण विलीन हो गई, तदनन्तर चेतनरूप संविद्से निर्मुक्त जल भी विनाशकी ओर उन्मुख हो गया ॥ २५, २६ ॥

जब जलधातुका स्वरूप कुपित हो गया, तब उसने भी अपना नियम तोड़ दिया और नियम तोड़नेके कारण समुद्र अपनी प्राचीन आर्यमर्यादाको तिलाञ्जलि देकर अन्धाधुंध विस्तृत जलसे लबालब भर गये ॥ २७ ॥

फिर उन्मत्तोंके सदृश शब्द कर रहे समुद्र विकृतभाव धारण करने लग गये और अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंके नाना प्रकारके विक्षोभोंसे तटस्थ जङ्गलोंका उच्छेद करने लग गये ॥ २८ ॥

समुद्रोंमें बड़ी-बड़ी अतर्कित तरङ्गें उठने लग गयीं, मत्त और भयङ्कर महान् आवर्त भी होने लगे—इससे उसमें रहनेवाले जलचरोंमें हलचल पैदा हो गई। सारे आकाशमण्डल एवं दसों दिशाएँ ऊँचे-ऊँचे घूम रहे जलतरङ्गरूप वर्तुलाकार महामेघोंसे व्याप्त हो गई ॥ २९ ॥

बृहद्गुलुगुलावर्तगर्जनोद्भवकन्दराः ।
सीकरौघमहारम्भघनसंवलिताचलाः ॥ ३० ॥
चलचलचलद्वीरमकराघूर्णितान्तराः ।
उल्लसन्मकराक्रान्तद्रुमकाननितोदराः ॥ ३१ ॥
दरीविदारणभ्रष्टसिंहाहतजलेचराः ।
ऊर्म्युदस्तमहारत्नभरतारकिताम्बराः ॥ ३२ ॥
उत्फालमकरच्छन्नखभ्रमबृहद्घनाः ।
परस्परोर्मिसंघट्टभाङ्कारकटुटाङ्कृताः ॥ ३३ ॥
तरत्तरलमातङ्गफूत्काराधौतभास्कराः ।
अन्योन्यवेल्लनव्यग्रप्रविदीर्णाद्रिभित्तयः ॥ ३४ ॥

बड़े-बड़े गुडगुड शब्द करनेवाले आवर्तों द्वारा किये गये महान् गर्जनसे उनकी पर्वत-कन्दराएँ भयङ्कर शब्द करने लगीं और जलकणोंको (जलधाराको) बरसानेवाले महामघोंसे पर्वत भी डूबने लग गये ॥ ३० ॥

सभी समुद्रोंका भीतरी भाग अपना-अपना उत्तम वेग बतलाकर दूसरोंपर विजय पानेके निमित्त आगे-आगे दौड़ रहे वीर मगरोंसे घूर्णित (विक्षुब्ध) हो गया तथा उल्लासी मगरोंके द्वारा आक्रान्त वृक्षोंसे महारण्य-सा बना दिया गया ॥ ३१ ॥

गुफाओंको तोड़-फोड़ देनेके कारण उनमेंसे सिंह निकल भागे और भागकर उन्होंने समुद्रमें स्थित जलचरोंको हत-आहत कर दिया तथा अपनी तरङ्गों द्वारा फेंके गये महारत्नसमूहोंसे समुद्रोंने आकाशमण्डलको तारोंसे युक्त बना दिया ॥ ३२ ॥

समुद्रोंसे उछले हुए मगरोंने आकाशगामी जीवों और बड़े-बड़े मेघमण्डलोंको आच्छादित कर दिया और तरङ्गोंके परस्पर आघातोंसे समुद्रोंमें कठोर भाङ्कार शब्द होने लगा ॥ ३३ ॥

ऊँचे हाथियोंके सदृश तथा अतिचपल मगरोंके फूत्कारसे सूर्यका मण्डल भी धुल जाने लगा और परस्पर कुटिल गतिकी व्यग्रतासे समुद्रतरङ्गोंने बड़ी-बड़ी पर्वत-भित्तियोंको भी तोड़-फोड़ दिया ॥ ३४ ॥

तटपर्वतलुण्टाकतरङ्गकरमण्डलाः ।
गर्जद्गिरिदरीगेहविशदुन्मत्तवारयः ॥ ३५ ॥
भूपाः परपुराक्रान्ता लग्ना इव हतारयः ।
तारारवरणद्गेहविद्रावितनभश्वराः ॥ ३६ ॥
प्रलुण्ठितवनव्यूहलूनकाननिताम्बराः ।
सपक्षपर्वताकारतरङ्गापूरिताम्बराः ॥ ३७ ॥
महारवमरुच्छिन्नकल्लोलाचलचालिताः ।
चञ्चत्तीरगिरिव्रातपतत्तटरटज्जलाः ॥ ३८ ॥
उल्लसद्विपुलावर्तप्रोत्क्षिप्तमकरोत्कराः ।
विमज्जन्निस्तलावर्तनिगीर्णगिरिकन्दराः ॥ ३९ ॥

समुद्रोंने अपनी विशाल तरङ्गोंसे तीरस्थ पर्वतोंको चूर्णित कर दिया, गर्जना करते हुए पर्वतोंके गुफारूपी घरोंपर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया तथा उनका जल उन्मत्त-सा बन गया ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण समुद्रोंकी गतियाँ कुछ विचित्र ही हो गईं, वे शत्रुओंके नगरोंपर आक्रमण करनेवाले नष्टशत्रु राजाओंके सदृश मालूम पड़ने लग गये, क्योंकि इन्होंने भी अपनी उन्नत तरङ्गोंसे विरोधी दवाग्निको आहतकर ऊँचे स्वरसे अपने-अपने घरोंसे देवताओंको भगा दिया और उनके नगरोंपर मानो अपना अधिकार कर लिया ॥ ३६ ॥

पहले तो इन्होंने वनसमूहोंको उखाड़ फेंका, फिर उनको ऊपर उठाया, इससे आकाशमण्डल ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो उसका जङ्गल काट दिया गया हो। तथा उसे पंखयुक्त पर्वतमालाओंके सदृश अपनी तरङ्गमालाओंसे ठसाठस भर दिया ॥ ३७ ॥

भयङ्कर शब्द करनेवाले प्रचण्ड वायुओंने तरङ्गोंको विभक्त कर देनेके कारण पर्वतोंके सदृश समस्त समुद्रोंको विचलित कर दिया था तथा रत्नोंके प्रकाशसे चमकीले तीरस्थ पर्वतोंके गिरनेके कारण गिर रहे तटोंसे उनका जल भीषण ध्वनि कर रहा था ॥ ३८ ॥

उल्लासयुक्त अनेक बड़े-बड़े आवर्तोंके द्वारा समुद्र मगर आदि जलचरोंको ऊपरकी ओर फेंक रहे थे तथा अगाध आवर्तोंसे अनेक पर्वत और उनकी गुफाओंको अपने उदरमें निगल जा रहे थे ॥ ३९ ॥

दरीदलनसंप्राप्तदृषद्दशनदन्तुराः ।
शृङ्गलम्बिदरिप्रान्तमग्नवीचिजलेभकाः ॥ ४० ॥
व्यालोलवलनाक्रान्तविटपिप्रोतकच्छपाः ।
यमेन्द्रवसुधावाहैरुत्कर्णैर्भयविह्वलैः ॥ ४१ ॥
श्रूयमाणपतच्छैलतटीकटकटारवाः ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमग्नोन्मग्नद्रुताद्रयः ॥ ४२ ॥
लीलालूनवनव्यूहशीतलासारवारयः ।
प्रज्वलद्वडवावह्निज्वालावलिमिलज्जलाः ॥ ४३ ॥
सरसेन्धनविभोर्नाशैर्विशङ्कितमहानलाः ।
मिलच्छिखरिमालाग्रजलमातङ्गयोधिनः ॥ ४४ ॥

समुद्रोंने बड़ी-बड़ी गुफाओंका विदलन कर दिया था, इससे उनमेंसे निकले हुए स्फटिक आदि पत्थरोंके दाँतोंसे वे दन्तुर यानी हँसते हुए-से प्रतीत हो रहे थे और शिखरोंके ऊपर विद्यमान लम्बी-लम्बी गुफाओंके प्रान्तोंमें समुद्रोंके तरङ्ग और जलचर प्राणी घुस गये थे ॥ ४० ॥

चञ्चल वर्तुलाकार तरङ्गोंके द्वारा आक्रान्त वृक्षोंके ऊपर शाखाओंमें समुद्रोंके कछुएँ एक तरहसे गूँथ-से गये थे तथा इन्होंने यम, इन्द्र और पृथ्वीके वाहन महिष, ऐरावत एवं दिग्गजोंको भयविह्वल बनाकर उनका कान खड़ा कर दिया था यानी उनको भी चकित कर दिया था ॥ ४१ ॥

उस समय उनमें गिर रहे पर्वततटोंके कटकट शब्द सुनाई पड़ने लगे। तथा उनमें बड़े-बड़े मत्स्योंके पुच्छोंकी छाटसे ही छिन्न-भिन्न होकर पर्वत शीघ्र नीचे-ऊपर डूबने-उतराने लगे ॥ ४२ ॥

लीलासे काटे गये अरण्यसमूहोंमें समुद्रोंकी कहीं तो शीतल जलधाराएँ बहने लगीं और कहीं जल रही बड़वाग्निकी ज्वालापंक्तियोंसे मिश्रित होकर अत्यन्त ही गरम बहने लगीं ॥ ४३ ॥

भद्र, सभी समुद्रोंमें एक अजीब-सा दृश्य उपस्थित हो गया, समुद्रजलसे अपने आश्रयभूत इन्धनोंके विनाशकी आशङ्कासे महानल (बड़ावाग्नि) भयग्रस्त होकर छिप जाने लगे और पर्वतमालाओंके ऊपर जलमातङ्ग स्थलमातङ्गोंके साथ मिलकर युद्ध करनेमें व्यस्त हो गये ॥ ४४ ॥

नृत्यन्तीव तरङ्गौघैर्जलावलनवेधिनः ।
जलाचलाचलान्योन्यसंघट्टस्फोटपण्डिताः ॥ ४५ ॥
बृहद्गिरिवनव्रातप्राणिमण्डलमण्डिताः ।
उद्दामरवनेभेन्द्रभेरीवादनभासुरैः ॥ ४६ ॥
असुरैरिव पातालं कल्लोलैरलमाकुलाः ।
अथोदपतदुन्नासदिङ्नागवदनध्वनिः ॥ ४७ ॥
पातालतलताल्वन्तर्विस्फोटामोटनोत्कटः ।
चञ्चलाचलकीलोर्वी चचाल क्षणचालिता ।
लोला शैवालवल्लीव व्यालोलाम्भोधिलङ्घिता ॥ ४८ ॥
अथ दुर्वारनिर्घोषनिर्वाताडम्बरान्विता ।
पुस्फोटेव पतन्ती द्यौर्दिशां प्रतिरवारवैः ॥ ४९ ॥

अपने जलोंके द्वारा पर्वतोंको एक-दूसरे पर्वतोंके साथ टकरा देनेमें समुद्र बड़े ही कुशल हो गये और इस तरहकी कुशलता प्राप्तकर जालोंके नानाविध घुमावके द्वारा वे मानों नृत्य कर रहे थे, ऐसी प्रतीति हो रही थी ॥ ४५ ॥

समुद्रोंमें कोई अनोखी ही शोभा उस समय मालूम होने लगी थी, उनमें बड़े-बड़े पर्वत, वनोंके समूह तथा अनेक प्राणी डूब रहे थे, यानी इन सबका समुद्रोंमें जमघट हो जानेसे कुछ अपूर्व ही शोभा मालूम पड़ रही थी तथा उड़ रहे उत्तम मृत हाथियोंके फूले हुए शरीररूपी नगारे समुद्र अपनी तरङ्गोंसे बजा रहे थे ॥ ४६ ॥

असुरोंसे पातालोंके सदृश सारे समुद्र प्रलयकारी तरङ्गोंसे व्याकुल हो उठे—यों सागरोंके विक्षोभके अनन्तर उन समुद्रोंमें तैर रहे मृतक दिग्गजोंकी सूँड़के आगेके भागसे एक विलक्षण ध्वनि सुनाई पड़ने लगी ॥ ४७ ॥

वह ध्वनि विलक्षण थी, पतालतलरूप तालुके भीतर विदारण हो जानेसे वह ध्वनि मिलकर जोर पकड़ रही थी यानी घन थी, फिर पृथ्वीको बराबर जकड़ रखनेके लिए स्थापित हुए महापर्वत आदि कीले हिल गये और एक क्षणमें अपने स्थानसे च्युत हो गई। अनन्तर क्षणभरमें चञ्चल समुद्रतरङ्गोंसे हिलायी गई वह पृथ्वी ऐसे प्रतीत होने लगी, जैसे चञ्चल शैवालकी लता हो ॥ ४८ ॥

इसके बाद प्रलयकारी मेघोंके शब्दोंसे विलक्षण आडम्बरोंसे युक्त होकर

आवर्तवलनाकाराः केतवः पेतुरम्बरात् ।
हेमरत्नमया मुक्ताः सिन्दूरभुजगा इव ॥ ५० ॥
ककुब्भ्यो नभसो भूमेरुद्गुर्दग्धदिक्तटाः ।
चलज्ज्वालाजटाटोपा विविधोत्पातपङ्क्तयः ॥ ५१ ॥
पृथ्व्यादीन्यसुरादीनि ब्रह्मोन्मुक्तानि सर्वतः ।
द्विविधानि महाभूतान्यलं सङ्क्षोभमाययुः ॥ ५२ ॥
चन्द्रार्कानिलशक्राग्नियमाः कोलाहलाकुलाः ।
परिपातपरा आसन् ब्रह्मलोकगतेश्वराः ॥ ५३ ॥
कम्पैः कटकटारावपतत्पादपपङ्क्तयः ।
भूमेरन्वभवन् भूरिदोलान्दोलनमद्रयः ॥ ५४ ॥

अन्तरिक्ष मानो गिरने लगा और दिशाओंको प्रतिध्वनिके शब्दोंसे तोड़ने-फोड़ने लगा ॥ ४९ ॥

आकाशमण्डलसे आवर्तोंकी गोलाईके सदृश वर्तुलाकार उत्पातजनक धूमकेतु गिरने लगे, उनका वर्ण सुवर्ण, रत्न, मोती एवं सिन्दूर वर्णके साँपोंके सदृश था ॥ ५० ॥

दिशातटोंको दग्ध कर देनेवाली तथा चंचल ज्वालारूप जटाओंके आटोपसे युक्त अनेक प्रकारकी उत्पातोंकी पंक्तियाँ दिशाओंसे, आकाशसे एवं पृथ्वीसे आने लगीं ॥ ५१ ॥

भद्र, मैंने पहले जिन ब्रह्माजीका वर्णन किया है, उन्होंने जब अपना विधारणसङ्कल्प उपसंहृत किया, तब उपेक्षित असुर आदि एवं पृथ्वी आदि दोनों तरहके भी महाभूत सब ओर विक्षुब्ध हो उठे ॥ ५२ ॥

चन्द्र, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि एवं यम—ये सब बड़े कोलाहलसे ग्रस्त हो गये, उनका अधिकारप्रभाव ब्रह्मलोकमें मिल गया, वे अपने-अपने स्थानसे च्युत होने लग गये ॥ ५३ ॥

भू-कम्पनोंसे कटकट शब्दके साथ वृक्षोंके समूह गिरने लगे और अनेक तरहके झूलोंके सदृश आन्दोलनकी गतियाँ पर्वतोंको अनुभूत होने लगीं ॥ ५४ ॥

भूकम्पलोलकैलासमेरुमन्दरकन्दराः ।
पेतुः कल्पतरून्मुक्ता रक्तस्तबकवृष्टयः ॥ ५५ ॥

लोकान्तराद्रिपुरवारिधिकाननान्त-
मुत्पातकल्पपवनेन मिथो हतानाम् ।
कोलाहलैर्जगदभूत्प्रविकीर्णशीर्णं
पूर्णार्णवे त्रिपुरपूर इवाऽभिपाती ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने कल्पक्षोभवर्णनं नाम एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

भूकम्पके कारण कैलास, सुमेरु और मन्दरकी कन्दराओंमें भारी चञ्चलता पैदा हो गई और कल्पतरु वृक्षसे रक्तरूप पुष्पगुच्छोंकी वृष्टि होने लगी ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र, अरण्य—यह सब जगत् पूर्ण समुद्रमें उत्पातयुक्त कल्पपवनके बहनेसे एक दूसरेसे टक्कर खा रहे मनुष्योंके कोलाहलसे ऐसे शीर्ण-विशीर्ण हो गया, जैसे रुद्रबाणकी अग्निके दाहसे चारों ओरसे गिर रहा त्रिपुरनगर (दैत्यसमूह) छिन्न-भिन्न हो गया था ॥ ५६ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

द्विसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाकृष्टवति प्राणान् स्वयंभुवि नभोभवः ।
विराडात्मनि तत्याज वातस्कन्धस्थितः स्थितिम् ॥ १ ॥
ते हि तस्य किल प्राणास्तेन क्रान्तेषु तेष्वपि ।
ऋक्षचक्रे स्थितिं कोऽन्यो धत्ते भूतैकधारिणीम् ॥ २ ॥
वातस्कन्धे समाक्रान्ते ब्रह्मणा प्राणमारुते ।
समं गन्तुं परित्यज्य संस्थितिं क्षोभमागते ॥ ३ ॥
निराधाराः सवाताग्निदाहोल्मुकवदापतन् ।
व्योम्नस्तारास्तरोः पुष्पनिकरा इव भूतले ॥ ४ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग

[ब्रह्माजीके प्राणनिरोधसे वायुके क्षयका और प्रसङ्गवश पूछी गई विराट्की स्थितिका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर जब विराट्स्वरूप ब्रह्माजीने अपनी प्राणवायुओंका निरोध किया, तब वातस्कन्धनामसे स्थित आकाशमें उत्पन्न वायुने अपनी ग्रह, नक्षत्र आदिको धारण करनेकी मर्यादा छोड़ दी ॥ १ ॥

वे वातस्कन्ध नामसे स्थित वायु ही विराट्रूप ब्रह्माके प्राण हैं, इसलिए जब उनका उन्होंने उपसंहार ही कर लिया, तब उन्हें छोड़कर सूक्ष्म भूतोंको धारण करनेवाली मर्यादाको ग्रहमण्डलमें कौन रख सकता है ॥ २ ॥

इसी हेतुसे ब्रह्माजीने जब प्राणवायुरूप वातस्कन्धका अपनेमें उपसंहार करना आरम्भ किया, तभी साथ-साथ उपसंहारसे एक बन जानेके लिए पूर्वोक्त मर्यादाका त्यागकर ग्रह आदिमें क्षोभ उत्पन्न हो गया, और क्षोभके कारण—जैसे वायु बहनेके समय अग्निदाह होनेपर अङ्गारे गिरते हैं, वैसे ही—निराधार होकर आकाश-मण्डलसे तारे भूमिपर टूटकर गिरने लग गये, इनकी शोभा वृक्षसे गिरे फूलोंकी-सी प्रतीत हो रही थी ॥ ३,४ ॥

कालपाकचलन्मूला जगत्खण्डफलालयाः ।
प्रशान्तपवनाधारा विमानावलयोऽपतन् ॥ ५ ॥
प्रलयोन्मुखतां याते ब्राह्मे सङ्कल्पनेन्धने ।
सिद्धानां गतयः शेमुरिद्धानामर्चिषामिव ॥ ६ ॥
प्रभ्रमन्त्योऽम्बरे कल्पमारुतैस्तनुतूलवत् ।
स्वशक्त्यपचये मूकाः सिद्धसन्ततयोऽपतन् ॥ ७ ॥
सङ्कल्पद्रुमजालानि सेन्द्रादिनगराणि च ।
पेतुर्भूकम्पलोलस्य शिरांस्यमरभूभृतः ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

चिति सङ्कल्पमात्रात्मा विराड् ब्रह्मा जगद्वपुः ।
किमङ्ग यस्य भूलोकः किं स्वर्गः किं रसातलम् ॥ ९ ॥

इस भूखण्डमें जो पुण्यफल कमाया जाता है, उसको भोगनेके लिए स्थान एक विमान हैं। इन विमानोंका उपभोग करनेमें कारणभूत कर्मरूप मूल काल-विपाकसे कट गया और आधारभूत पवनके शान्त हो जानेसे वे टूटकर आकाशसे गिर जाने लगे ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीका सङ्कल्परूप इन्धन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब दीप्त ज्योतियोंके सदृश सिद्धोंकी गतियाँ (सिद्धियाँ) भी शान्त हो गईं ॥ ६ ॥

खेचर आदि सिद्धियाँ विनाशी एवं तुच्छ हैं, इसको सूचित करते हुए कहते हैं—प्रभ्रमन्त्यो०' इत्यादिसे ।

जब अपनी शक्तिका विनाश हो गया, तब प्रलयके पवनोंसे छोटे तूलके सदृश आकाशमण्डलमें उड़ती हुईं, शब्दोच्चारणमें भी असमर्थ सिद्धोंकी पंक्तियोंकी पंक्तियाँ आकाशसे गिरने लगीं ॥ ७ ॥

कल्पवृक्षोंके समूह, इन्द्र आदिके साथ उनके नगर और भूकम्पसे चञ्चल हुए सुमेरु पर्वतके शिखर गिरने लगे ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीकी स्थूल देह तो ब्रह्माण्डरूप विराट् है, इस विराट् शरीरके भीतर सत्यलोकनिवासी चतुर्मुखदेह तो उस विराट्के मनसे कल्पित एक प्रातिभासिक रूप है, यह चार मुखवाली देह ब्रह्माजीकी स्थूल देह नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा माननेपर तो उसकी स्थिति विराट्देहके भीतर हो नहीं

कथमेतानि चाङ्गानि ब्रह्मंस्तस्य स्थितानि च ।
कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः ॥ १० ॥
ब्रह्मा सङ्कल्पमात्रात्मा निराकृतिरिदं स्थितम् ।
जगदित्येव जातो मे निश्चयः कथयेतरत् ॥ ११ ॥

वसिष्ठ उवाच

आदौ तावदिदं नासन्न सदास्ते निरामयम् ।
चिन्मात्रपरमाकाशमाशाकोशैकपूरकम् ॥ १२ ॥

सकती, आजतक किसीकी भी स्थूल देहमें दूसरी स्थूल देह देखी या सुनी नहीं गई है। इस स्थितिमें प्रातिभासिक मानसिक चतुर्मुख देहमें, जो एक तरहसे स्वप्न-सी है, प्राणोंके उपसंहारसे विराट्‌देहके स्तम्भक प्राणस्थानीय वायु आदिका विनाश कैसे हो सकता है, क्योंकि स्वप्नदेहमें प्राणोपसंहारसे मरण दीखनेपर जाग्रत्-शरीरमें प्राणका उपसंहार होकर किसी भी मनुष्यकी स्थूलदेहका विनाश नहीं देखा जाता, इस आशयसे श्रीरामजी शङ्का करते हैं—'चिति' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, चतुर्मुख ब्रह्माजी तो चितिके सङ्कल्पस्वरूप मन हैं और वे विराट् एवं ब्रह्माण्डशरीर हैं, यह बात प्रसिद्ध है, इस सङ्कल्पस्वरूप चतुर्मुखके भूलोक आदि अवयव ही नहीं हो सकते, क्योंकि अमूर्त (निराकार) मनके साकार अङ्ग नहीं होते । यदि होते हैं, तो भूर्लोक कौन-सा अङ्ग है ? स्वर्ग कौन-सा अङ्ग है एवं रसातल कौन-सा अङ्ग है ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन्, यदि यह माना जाय कि चतुर्मुख साकार हैं, तो अल्पनापवाले ब्रह्माजीके ये अतिविस्तृत पृथ्वी आदि अङ्ग बनकर कैसे स्थित हो सकते हैं । यदि कहें कि ब्रह्मा भी अतिविस्तृत हैं, तब वे अपने ही शरीररूप इस ब्रह्माण्डके अन्दर सत्यलोकमें कैसे रह सकते हैं ॥ १० ॥

अपि च, हे भगवन्, मेरा व्यक्तिगत निश्चय तो यह है कि यह सङ्कल्पमात्रस्वरूप ब्रह्माजी निराकार हैं और यह जगत् साकार है । इसलिए यदि इस विषयमें इसमें अन्य कोई दूसरा तरीका हो, तो मुझसे कहिए ॥ ११ ॥

अब पहले जो प्रश्न किया गया है कि स्थूलदेह मनोमयदेहरूप और

तत्स्वामाकाशतां चैतच्चेत्यमित्यवबुध्यते ।
स्वरूपमत्यजन्नित्यं चित्त्वाद्भवति चेतनम् ॥ १३ ॥
विद्धि तच्चेतनं जीवं सघनत्वान्मनः स्थितम् ।
एतावति स्थितिजाले न किञ्चित्साकृति स्थितम् ॥ १४ ॥
शुद्धं व्योमैव चिद्व्योम स्थितमात्मनि पूर्ववत् ।
यदेतत्प्रतिभातं तु तदन्यन्न शिवात्ततः ॥ १५ ॥
अथ तन्मन आभोगि भाविताहंकृति स्फुरत् ।
सङ्कल्पात्मकमाकाशमास्ते स्तिमितमक्षयम् ॥ १६ ॥

पृथ्वी आदि उसके अवयव कैसे हैं ? इसका अनुभव करानेके लिए मूलवस्तुके दिग्दर्शन द्वारा भूमिका बांधते हैं—'आदौ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, पहले तो न कोई असत् वस्तु थी और न सत् वस्तु ही थी, किन्तु सभी तरहके सदादि विकारोंसे रहित चिन्मात्ररूप परमाकाश ही था, वही सब तरहकी अभिलाषाओं और दिशाओंको एकमात्र पूर्ण करनेवाला था ॥ १२ ॥

इसी परमाकाशने अपने असली स्वरूपका अपरित्यागकर यानी स्वयं विकारको न प्राप्त होकर ही अपनी अवकाशरूपताकी ऐसे कल्पना की, जैसे चन्द्रने द्वितीय चन्द्ररूपकी । इसीसे उसने चेत्यको अपनेसे भिन्न वस्तु समझी और चिद्रूप होनेसे वह चेतन भी हुआ ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, बोध्य, बोध और बोद्धारूप त्रिपुटीके मननसे घनीभूत बन जानेके कारण मनका वेष धारणकर स्थित हुआ वह चेतन जीव ही है, यह आप जानिये । त्रिपुटी तकका जितना अध्याससे उत्पन्न हुआ स्थितिजाल है, उतनेके हो जानेपर भी उनमें कुछ भी परस्पर अलग-अलग हो जानेवाला साकाररूप नहीं है, किन्तु विशुद्ध चिदाकाश ही है । यह चिदाकाश ही पहलेकी नाईं अपने स्वरूपमें ही विद्यमान है । इसलिए यह जो दिखाई पड़नेवाला जगत् है, वह शिवस्वरूप परमात्मासे अलग कुछ भी नहीं है ॥ १४, १५ ॥

तदनन्तर विशाल वह मन अहङ्कारकी भावनाकर जब स्फुरित होता है, तब 'अहम्' रूप धारण करता है, परन्तु सङ्कल्पात्मका वह भी निश्चल और अविनाशी चिदाकाश ही है ॥ १६ ॥

तत्सङ्कल्पचिदाभासनभोऽहमिति भावितम् ।
असत्तमेवानुभवत्सन्निवेशं खमेव खे ॥ १७ ॥
वेत्ति भावितमाकारं पश्यत्यनुभवत्यपि ।
सङ्कल्पकात्मकं शून्यमेव देह इति स्थितम् ॥ १८ ॥
शून्यमेव यथाकारि सङ्कल्पनगरं भवान् ।
पश्यत्येवमजो देहं खे खमेवानुभूतवान् ॥ १९ ॥
संविदो निर्मलत्वात्स यावदित्थं तथाविधम् ।
अनुभूयानुभवनं स्वेच्छयैवोपशाम्यति ॥ २० ॥
यदा तत्त्वपरिज्ञानमस्मदादेस्तदाततम् ।
इदं संवरणं विद्धि शून्यं सत्यमिव स्थितम् ॥ २१ ॥

अहङ्कारकी कल्पनाके बाद स्थूल देहकी कल्पना भी उसकी अवस्तुभूत ही है, यह कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पात्मक चिदाभासरूप आकाश, जो कि अहंरूप भावनासे भावित किया गया है, उक्त स्थूलदेहके रूपका अनुभव करता है । वास्तवमें यह असत् ही है, इसलिए इसके अवयव भी आकाशमें आकाशरूपके सदृश ही हैं ॥ १७ ॥

यही जिस आकारकी भावना करता है, उसे जानता है, देखता है और अनुभव भी करता है, वास्तवमें सङ्कल्पात्मक शून्य ही देहके रूपमें स्थित है ॥ १८ ॥

यदि देह शून्य है, तो वह साकार कैसे अनुभूत होगी, इसपर कहते हैं—'शून्य०' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आप शून्यस्वरूप सङ्कल्पनगरको साकार देखते हैं, वैसे ही ब्रह्मा भी शून्यमें शून्यरूप आकाशको देहरूप ही देखता है, क्योंकि उसने ऐसा ही अनुभव किया है ॥ १९ ॥

प्रलय और मोक्ष आदिकी कल्पना भी ऐसी ही असत् है, यह कहते हैं—'संविदः' इत्यादिसे ।

संवित् आत्मा स्वयं तो निर्मल है, इसलिए इस प्रकारके जगत्का जबतक अनुभव करनेकी इच्छा रखता है, तबतक उस प्रकारका अनुभवकर फिर उसे अपनी इच्छासे स्वयं ही शान्त कर देता है ॥ २० ॥

कब शान्त हो जाता है, उसे कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

यथाभूतपरिज्ञानादत्र शाम्यति वासना ।
अद्वैताग्निरहङ्काराचतो मोक्षोऽवशिष्यते ॥ २२ ॥
एवमेष स यो ब्रह्मा स एवेदं जगत् स्थितम् ।
विराजो ब्रह्मणो राम देहो यस्तदिदं जगत् ॥ २३ ॥
सङ्कल्पाकाशरूपस्य तस्य या भ्रान्तिरुत्थिता ।
तदिदं जगदाभाति तद्ब्रह्माण्डमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
सर्वमाकाशमेवेदं सङ्कल्पकलनात्मकम् ।
वस्तुतस्त्वस्ति न जगत् त्वत्तामत्ते च न क्वचित् ॥ २५ ॥

जब हमलोगोंको तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब विस्तृत यह प्रपञ्च, जो शून्यरूप होते हुए भी सत्य-सा बनकर स्थित है, उपसंहृत (शान्त) हो जाता है ॥ २१ ॥

असलमें जो सत्यरूप ब्रह्म वस्तु है, उसका ठीक ठीक परिज्ञान हो जाने-पर इसी जन्ममें मिथ्या वासना नष्ट हो जाती है । फिर अद्वैतभावकी प्राप्ति और अहङ्कारका विलय हो जाता है, इसके बाद केवल मोक्ष ही मोक्ष बच जाता है ॥ २२ ॥

ठीक यही बात रहे, परन्तु इससे क्या मेरे प्रश्नका उत्तर हो गया, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

भद्र, श्रीरामजी, इस रीतिसे जो यह ब्रह्मा है, वही यह स्थित जगत् है। सारांश यह कि विराट् ब्रह्माका जो देह है, वही यह जगत् है ॥ २३ ॥

सङ्कल्पाकाशरूपी ब्रह्माजीकी जो भ्रान्ति उठी है, वही यह जगत् भासता है और वही ब्रह्माण्ड कहा जाता है, इसलिए भ्रान्तिसे ही ब्रह्माण्डमें स्थूल देहता है । विचारसे तो उसकी मनोमयता ही है, इसलिए उसके अङ्गोंके उपसंहारसे उपसंहार हो गया, यह पूर्वोक्त बात सिद्ध हो गई ॥ २४ ॥

अथवा जाग्रदुन्मुखतामें स्वप्नके देहाङ्गोंके उपसंहारसे जैसे स्वप्नके भूमि आदि लोकोंका उपसंहार हो जाता है, वैसे ही उन पृथ्वी आदिका उपसंहार हुआ, क्योंकि दोनों ही सङ्कल्पाकाशरूप हैं, इस आशयसे कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

क्व चिन्मात्रेऽमले व्योम्नि कथं वा केन वा जगत् ।
किं जायते किमत्रास्ति कारणं सहकारि यत् ॥ २६ ॥
अतोऽलीकमिदं जातमलीकं परिदृश्यते ।
अलीकं स्वदतेऽलीकमेवं पश्यति शून्यकम् ॥ २७ ॥
जगदादिकया भासा चिन्मात्रं स्वदते स्वतः ।
आत्मनाऽऽत्माम्बरेऽद्वैते स्पन्दनेनेव मारुतः ॥ २८ ॥
इदं किञ्चिन्न किञ्चिद्वा द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।
चिदाकाशं जगद्विद्धि शून्यमच्छं निरामयम् ॥ २९ ॥
शान्ताशेषवि षोऽहं तेन राघव संस्थितः ।
सन्नेवासन्निवातस्त्वमेवमेवाऽऽस्व निर्ममः ॥ ३० ॥

सभी कल्पनात्मक यह जगत् स्वरूपाकाशस्वरूप ही है, अतः वस्तुतः कहीं न जगत्की सत्ता है और न कहीं त्वत्ता-मत्ताकी यानी अहन्ता और ममताकी ही सत्ता है ॥ २५ ॥

जगत् अवास्तव है, यह कैसे आपने जाना, इस प्रश्नपर उसकी असंभाव्यता है, इसलिए, यों उत्तर देते हैं—'क्व' इत्यादिसे ।

चैतन्यरूप जो निर्मल आकाशवस्तु है, उसमें कहाँ, कैसे और किस हेतुसे जगत्की सत्ता हो सकती है, उसमें उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और उस उत्पत्तिमें सहकारी कारण कौन हो सकते हैं यानी ब्रह्मचैतन्यमें विचारनेपर जगत्की सर्वथा ही असंभावना है ॥ २६ ॥

इसलिए यह असत् ही उत्पन्न हुआ है, असत् ही देखा जाता है और असद्रूप ही जगत प्रिय-अप्रियरूपसे प्रकाशता है। इस तरह निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही भ्रान्तिसे जगत्-रहित आकाशको असत् जगत्के रूपमें देखता है ॥ २७ ॥

इसीको विस्पष्टरूपमें कहते हैं—'जगदादि०' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र ब्रह्म ही धर्मी जगत् एवं उत्पत्ति आदि धर्मोंके भाससे स्वयं स्वतः प्रियाप्रियरूपसे प्रकाशित होता है। जैसे वायुसे स्पन्दन होता है, वैसे ही अपनेसे ही अद्वैत चिदाकाशमें जगत्के रूपमें स्पन्दित होता है ॥ २८ ॥

यह न द्वैतरहित है, न अद्वैतरहित है और न द्वैताद्वैतसे ही रहित है। उस चिदाकाशको ही आप जगत् जानिये, जो स्वयं स्वच्छ एवं विकारशून्य है ॥ २९ ॥

हे राघव, इस कारण मैं सभी तरहके विशेषणोंसे निर्मुक्त होकर स्थित हूँ ।

निर्वासनः शान्तमना मौनी विगतचापलः।
सर्वं कुरु यथाप्राप्तं कुरु मा वाऽत्र किं ग्रहः ॥ ३१ ॥
अनादिनित्यानुभवो य एकः
स एव दृश्यं न तु दृश्यमन्यत्।
सत्यानुभूतेऽननुभूतयो याः
सुविस्तृता दृश्यमहादृशस्ताः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

मैं परमार्थतः सत् हूँ और व्यवहारमें असत् देहादिरूप भी हूँ, आप भी मेरे जैसे परमार्थमें सद्रूप और व्यवहारमें असत् देहादिरूप बनकर ममताशून्य हो स्थित हो जाइए ॥ ३० ॥

श्रीरामभद्र, आप समस्त वासनाओंको छोड़ दीजिये, मनका सन्ताप छोड़िये, व्यर्थके वाग्जालमें मत फँसिये, अपनी अब सारी चपलताओंको तिलाञ्जलि दे दीजिये, यह सब करके आप जो कुछ प्रारब्धवश या शास्त्रवश प्राप्त हो जाय, उसे कीजिये या न कीजिये, इसमें किसी तरहका कोई आग्रह नहीं है अर्थात् इसके बाद समाधिसे उठकर जाग्रत्-दशामें यथाप्राप्त व्यवहारोंको कीजिये या समाधिमें स्थित हो कुछ न कीजिये, इसमें कोई आग्रह नहीं है ॥ ३१ ॥

इसलिए समस्त दृश्य ब्रह्मरूप ही है, भ्रान्तिके आकारमें परिणत हुए उसके नानाविध अज्ञान ही दृश्योंके अनुभव हैं, यह निचोड़ अबतकके वचनोंसे हाथ लगा, यों उपसंहार करते हैं—'अनादि०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, जो अद्वितीय, अनादि, अविनाशी अनुभवरूप साक्षिचेतन है, वही यह दृश्य है, इससे भिन्न दूसरा कोई भी दृश्यनामका पदार्थ नहीं है। अनुभवैकरसरूप ब्रह्ममें जो अनेक तरहके अज्ञान हैं, वे ही चित्र-विचित्र भ्रान्तियोंको पैदा कर विस्तृत दृश्यानुभवरूप बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

बन्धमोक्षजगद्बुद्धिर्न शून्या नाऽपि सन्मयी ।
नास्तमेति न चोदेति किमप्याद्यमसौ किल ॥ १ ॥
उपदिष्टमिदं ब्रह्मंस्त्वया बुद्धमलं मया ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ २ ॥
सर्गादिसम्भ्रमदृशः शून्यतादिदृशस्तथा ।
न काश्चन विभो सत्या असत्याश्च न काश्चन ॥ ३ ॥

तिहत्तरहवाँ सर्ग

[ज्ञानको दृढ़ बनानेके लिए शुद्ध ब्रह्ममें जगत्‌के आरोप-क्रमका और ब्रह्माजीके पृथ्वी आदि कौन अङ्ग हैं—इस प्रश्नके उत्तरका पुनः वर्णन]

'भूर्लोक ब्रह्माजीका कौन-सा अङ्ग है, भूर्लोक आदि उसके अङ्ग कैसे हो सकते हैं, सत्यलोकमें उसका निवास कैसे'—ये जो तीन प्रश्न किये गये हैं, उनके उत्तरके लिए उपोद्घातरूपसे वर्णित—शुद्ध ब्रह्ममें जगत्‌के अध्यारोप-प्रकारको—फिर क्रमशः और तात्पर्यसे ठीक ठीक जाननेकी इच्छासे श्रीरामजी तात्पर्यतः अपना ज्ञात अंश बतलानेके लिए सिंहावलोकन न्यायसे आगेके वचनोंसे निकले निचोड़का स्मरण दिलाते हैं—'बन्ध०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—हे पूज्यवर, बन्धबुद्धि, मोक्षबुद्धि और जगद्बुद्धि न तो शून्य है और न सन्मय ही है यानी न सत्य अर्थवाली ही है। जिसका अस्त नहीं होता और जिसका उदय भी नहीं होता, ऐसा कोई भी यह आद्य पदार्थ है, यह मैंने जाना। जो आद्य पदार्थ है, वह सबका साक्षी है, अतः उसका न तो उदय हो सकता है और न अस्त ही हो सकता है, इसलिए यह सर्वसाक्षीरूपा बुद्धि ही विषयोंका परिमार्जन करनेपर कोई भी वाणी एवं मनसे अगम्य आद्य (ब्रह्म) है, यही आपने तात्पर्यवृत्तिसे उपदेश दिया है और यह मैंने अच्छी तरह समझ भी लिया है [तब क्या अब उपदेशसे विरत हो जाऊँ ? नहीं, यह कहते हैं—'भूयः' से] भगवन्, इस विषयमें आप फिर मुझको उपदेश दीजिये, क्योंकि अमृत सुन रहे मुझको अभी तृप्ति नहीं हो रही है ॥१,२॥

हे प्रभो, सृष्टि आदिके परिज्ञान तथा शून्यता आदिके परिज्ञान न तो कोई

एवं स्थिते तु यत्सत्यं तत्सर्वं बुद्धवानहम् ।
तथापि भूयो बोधाय सर्गानुभव उच्यताम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं देशकालक्रियादिमत् ॥ ५ ॥
तस्य नाशे महानाशे महाप्रलयनामनि ।
ब्रह्मोपेन्द्रमरुद्रुद्रमहेन्द्रपरिणामिनि ॥ ६ ॥
शिष्यते शान्तमत्यच्छं किमप्यजमनादि सत् ।
यतो वाचो निवर्तन्ते किमन्यद्‌वगम्यते ॥ ७ ॥

सत्य हैं और न कोई असत्य ही हैं यानी न उनके विषय अबाधित हैं और न बाधित ही हैं, क्योंकि तत्-तत् व्यवहार करनेवाले पुरुषोंकी दृष्टिसे ब्रह्म ही उस तरहसे स्थित रहता है। उनकी अर्थक्रियाके विषयमें भी किसीको विवाद नहीं है। असत् कार्यपक्ष माना नहीं जा सकता, सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममें सर्वशून्यता बनानेकी शक्ति भी हो सकती है तथा मायासे सब तरहके विरोधोंका परिमार्जन भी हो सकता है ॥ ३ ॥

मायाशबल (युक्त) ब्रह्मकी महिमाके सदृश मैंने मायाके अधिष्ठानभूत निर्विशेष, नित्यमुक्त ब्रह्मतत्त्व भी जान लिया है, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे महाराज, यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है और जो कुछ सत्य वस्तु है उसे पूरी तरहसे मैंने जान भी लिया है, तथापि विपुल बोधार्थ फिर मुझसे सृष्टिका अनुभव (अध्यारोप) कैसे होता है, यह आप कहिए ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, यह जो कुछ स्थावर-जङ्गमरूप, नाना प्रकारके धर्मोंसे पूर्ण एवं देश, काल, क्रिया आदिसे युक्त पूरा जगत् दिखाई देता है; उसका महाप्रलयशब्दसे कहे जानेवाले महानाशमें यानी प्राकृत प्रलयमें (जब कि स्थूल भूतोंका सूक्ष्मभूतोंमें नाश हो जानेपर भूतसूक्ष्मोंके साथ अव्याकृतमें प्रवेश हो जाता है, तब) जिसमें कि ब्रह्मा, उपेन्द्र, मरुत्, रुद्र, महेन्द्र आदिके शरीरोंका अन्तिम भावविकार हो जाता है—शान्त, अतिस्वच्छ, अज, अनादि एवं सद्रूप कोई वस्तु बच जाती है। उससे सभी वाणी भी निवृत्त हो जाती

सर्षपापेक्षया मेरुर्यथाऽतिविततात्कृतिः ।
तथाऽऽकाशमपि स्थूलं शून्यं सद्यदपेक्षया ॥ ८ ॥
शैलेन्द्रापेक्षया सूक्ष्मा यथेमे त्रसरेणवः ।
तथा सूक्ष्मतरं स्थूलं ब्रह्माण्डं यदपेक्षया ॥ ९ ॥
अमानकलिते सौम्ये काले परिणते चिरम् ।
शान्ते तस्मिन् परे व्योमन्याद्ये ह्यनुभवात्मनि ॥ १० ॥
असङ्कल्पो महाशान्तो दिक्कालैरमिताकृतिः ।
अन्तर्महांश्चिदाकाशो वेत्तीव परमाणुताम् ॥ ११ ॥
असत्यामेव तामन्तर्भावयन् स्वप्नवत्स्वतः ।
ततः स ब्रह्मशब्दार्थं वेत्ति चिद्रूपतां तताम् ॥ १२ ॥

है यानी किसी तरहकी वाणी उसे कह नहीं सकती, इसे छोड़कर दूसरा कोई भी जानने लायक पदार्थ नहीं है ॥ ५–७ ॥

भद्र, जैसे सरसोंकी अपेक्षा विशाल आकारवाला सुमेरु पर्वत अति स्थूल है, वैसे ही अन्यकी अपेक्षा परमसूक्ष्म सद्रूप आकाश भी उसकी अपेक्षा अतिस्थूल है ॥ ८ ॥

पर्वतराज सुमेरुकी अपेक्षा ये त्रसरेणु जैसे सूक्ष्म हैं, वैसे ही अन्यकी अपेक्षा अतिस्थूल यह विशालतम ब्रह्माण्डमण्डल उसकी (ब्रह्मकी) अपेक्षा अतिसूक्ष्म (अणुतर) है ॥ ९ ॥

कालमानको बतलानेवाली सूर्यस्पन्दन आदि उपाधियोंका विनाश हो जानेके कारण प्रलयकाल मानकलनासे रहित हो जाता है, इस तरहका प्रलयकाल ब्रह्माजीकी जो दो परार्ध आयु निश्चित है, उसीके समान उतने समयतक रहता है। इतने लंबे समयतक प्रलय रहकर जब चला जाता है, तब साक्षीरूप परमशान्त, सबके आदि उस महा चिदाकाशमें मायारूप आवरणसे युक्त, भीतर सुषुप्त-प्राय चिदाकाश स्वप्नोन्मुखके सदृश अपने भीतर परमाणुरूपताका (अपने भीतर विलीन जगत्संस्काररूप परमाणुरूपताका) मानो अनुभव करता है अर्थात् पर्यालोचन करता है। असलमें यह तो सङ्कल्पशून्य, महाशान्त है । इसकी आकृति दिशा, एवं काल आदिसे नापी नहीं जा सकती ॥ १०, ११ ॥

वह परमाणुरूपता असत्य ही है, फिर भी उसकी अपने अन्दर स्वप्नके

चिद्भावोऽनुभवत्यन्तश्चित्त्वाच्चिदणुतां निजाम् ।
तामेव पश्यतीवाथ ततो द्रष्टेव तिष्ठति ॥ १३ ॥
यथा स्वप्ने मृतं पश्यत्येक एवात्मनाऽऽत्मनि ।
मृत एव मृतेर्द्रष्टा तथा चिदणुरात्मनि ॥ १४ ॥
ततश्चिद्भाव एषोन्तरेक एव द्वितामिव ।
पश्यन् स्वरूप एवास्ते द्रष्टृदृश्यमिव स्थितः ॥ १५ ॥
चिद्भाव शून्य एवातिनिराकारोऽप्यणुं तनुम् ।
पश्यन् दृश्यमिवोदेति द्रष्टेव च तदा द्विताम् ॥ १६ ॥

समान पहले भावना करता है, फिर अपनेमें ब्रह्मशब्दार्थकी भावना करता है यानी मैं ही सबको बढ़ानेवाला हूँ, यों भावना करता है और साथ-साथमें अपनी असीम चिद्रूपताकी भी भावना करता है ॥ १२ ॥

अपने ब्रह्मशब्दार्थकी जो भावना करता है, उसमें कारण उसकी चित्स्वभावता ही है, यह कहते हैं—'चिद्भावः' इत्यादिसे ।

चितिस्वरूप आत्मा अपने भीतर विलीन हुए अपने सूक्ष्म जगत्संस्कारका जो अनुभव करता है, इसमें कारण उसकी चितिरूपता ही है, इसीसे उसे ही मानो देखता है । इसके बाद स्वयं वह द्रष्टा-सा बनकर स्थित हो जाता है ॥१३॥

एक वस्तुमें विरुद्ध दृश्य-द्रष्टाके धर्म नहीं हो सकते, यदि यह शङ्का हो, तो इसका समाधान यह है कि स्वप्नके सदृश विरोधका पर्यालोचन न होनेसे वैसा हो सकता है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे एक ही पुरुष स्वप्नमें अपने आप अपनी आत्मामें अपनेको मृत देखता है, इससे यह बात आ गई कि मृत ही मरणका द्रष्टा है, ठीक वैसे ही अणुचित् अपनी आत्मामें उक्त अणुता देखती है यानी स्वयं दृश्य और द्रष्टा हो जाती है ॥ १४ ॥

ऐसी कल्पना करनेपर भी वास्तवमें ऐक्यकी क्षति नहीं होती, यह कहते हैं—'तत०' इत्यादिसे ।

तदनन्तर यह चिदाकाश स्वरूपतः एक होते हुए भी अपने भीतर द्वैत-सा देखता है और यों देखता हुआ द्रष्टा एवं दृश्य-सा बनकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है ॥ १५ ॥

यद्यपि यह चितिरूप आकाश शून्यरूप है यानी आकारसे एकदम ही

प्रकाशमणुमात्मानं पश्यंस्तदनुभावतः ।
उच्छूनतां चेतयते बीजमङ्कुरतामिव ॥ १७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यद्रष्टृदर्शनदृग्दृशः ।
अर्थान्तरस्वभावेन तिष्ठन्त्यनुदिताभिधाः ॥ १८ ॥
चिदणुर्यत्र भातोऽसौ देशो मितिमुपागतः ।
यदा भातस्तदा कालो यद्भानं तत्क्रिया स्मृता ॥ १९ ॥
उपलब्धं विदुर्द्रव्यं द्रष्टृताऽप्युपलब्धृता ।
आलोकनं दर्शनता दृगालोकनकारणम् ॥ २० ॥

रहित है, फिर भी अपनी अणुरूप तनुता जब देखता है, तब दृश्य-सा एवं द्रष्टा-सा बनकर द्वैतभाव धारण करता है ॥ १६ ॥

वह द्रष्टारूप आत्मा मायाके बलसे अपनेको प्रकाशस्वभाव उक्त परमाणुरूप (परिच्छिन्नस्वरूप) देखता हुआ उसका अनुभव करता है और उसीकी सामर्थ्यसे अपनी उपचयरूपताका ऐसे सङ्कल्प करता है, जैसे बीज अपनी अङ्कुरताका ॥१७॥

उसी समय यद्यपि उसमें आवश्यक देश, काल आदिके विभागोंकी कल्पना भी हो जाती है, परन्तु वाग् आदिकी अभिव्यक्ति न होनेसे उसकी अभिधा-शक्तिका अविर्भाव नहीं होता, यह कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

उसी समय देश, काल, क्रिया, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन, ज्ञान-साधन एवं ज्ञानरूप चक्षु आदि अन्य अर्थोंके स्वभावसे स्थित होते हैं, परन्तु उनकी अभिधाशक्तिका उदय नहीं रहता ॥१८॥

उसकी जो विभागकल्पना हुई, उसमें प्रकार बतलाते हैं—'चिदणु०' इत्यादिसे।

जहाँ यह चितिरूप अणु प्रतीत हुआ, वहाँ देशका भी भान हो ही गया तथा जब उसका भान हुआ, तब काल भी उसमें आ गया और जो ज्ञान हुआ, तो वह क्रिया हो गई ॥ १९ ॥

उसी समय त्रिपुटीका विभाग करनेवाली उपाधियोंकी, साक्षीकी एवं उसके प्रकाशमें हेतुभूत पदार्थकी कल्पना भी हो जाती है, यह कहते हैं—'उपलब्धम्' इत्यादिसे ।

जिसका ज्ञान होता है, वह द्रव्य कहा जाता है, जो दृष्टृता है, वह उपलब्धृता भी है, आलोकन ही दर्शन है और आलोकनमें (देखनेमें) जो कारण है, वह दृग है ॥ २० ॥

एवमुच्छूनता भाति मितानन्ताऽथ वा क्रमात् ।
असत्यैव नभस्येव नभोरूपैव निष्क्रमा ॥ २१ ॥
चिदणोर्भासनं भातं तत्प्रदेशेन देहगम् ।
येन पश्यति तच्चक्षुः सङ्गहोऽक्षदृशामिति ॥ २२ ॥
चिदणुप्रतिभासेऽन्तः प्रथमं नामवर्जितम् ।
तन्मात्रशब्दमेतेषामेतदाकाशरूपि तत् ॥ २३ ॥
चिदणुप्रतिमाकाशपिण्ड एव घनस्थितिः ।
अनुसन्धानविवशश्चेततीन्द्रियपञ्चकम् ॥ २४ ॥

इसी तरह कर्ता, कार्य, कारण, भोक्ता, भोग्य आदि त्रिपुटी-विशेष, उनके साक्षी और निमित्तोंकी भी कल्पना सर्वत्र जान लेनी चाहिये, इसे कहते हैं—'एवमु०' इत्यादिसे ।

इसी तरह उसकी विपुलता दिखाई पड़ती है, असीमरूपता या संख्यासे इयत्ता भी क्रमसे उसमें देशादि परिच्छेदोंसे जानी जाती है। वास्तवमें तो विपुलता या असीमता आदि असत्यरूप ही है। उसमें कोई क्रम नहीं है। तथापि इसे आकाशमें आकाशरूपताके सदृश जान लेना चाहिए ॥ २१ ॥

अब इसमें रूपादित्रिपुटीके सिद्ध हो जानेपर चक्षु आदि करणोंके विभाग-की भी कल्पना अगत्या सिद्ध हो जाती है, यह संक्षेपसे बतलाते हैं—'चिदणो' इत्यादिसे ।

चितिरूप अणुको यानी जीवको सूर्य आदिके प्रकाशका जिस गोलक-च्छिद्रसे भान होता है या जिस अतीन्द्रिय—करणसे वह देखता है, वे दोनों ही देहगत चक्षु हैं, यही न्याय श्रोत्र आदि सब इन्द्रियदृष्टियोंमें लागू है, यह संक्षेपसे जान लेना चाहिये २२ ॥

श्रोत्र (कान) आदि जो पांच इन्द्रियां हैं, उन्हींके विषयोंमें नामरूपभेद-कल्पनाके पहलेकी जो अवस्था है, वह तन्मात्रशब्दसे कही जाती है, यह कहते हैं—'चिदणु०' इत्यादिसे ।

चितिरूप अणुका प्रतिभास होनेपर भीतर सर्वप्रथम (पूर्वकी) जो इन श्रोत्र आदि पांचोंके शब्दादि विषयोंकी नामरूपशून्य अवस्था है, वह तन्मात्र-शब्दसे कही जाती है, उसका स्वरूप अतिसूक्ष्म है ॥ २३ ॥

उस क्रमसे चितिरूप अणुका प्रतिभारूप जो आकाश है, वही घनस्थिति

एवं चिदणुसन्धानं दृश्यपोषमुपैत्यलम् ।
तदेव ज्ञानमित्युक्तं बुद्धिरित्यभिधीयते ॥ २५ ॥
ततो मनस्तदारूढमहङ्कारपदं गतम् ।
देशकालपरिच्छेद इत्यङ्गीकृत आत्मना ॥ २६ ॥
चिदणोरस्य भावस्य प्रत्यग्रं यत्र वेदनम् ।
स तत्रोत्तरकालेन पूर्वाभिख्यां करिष्यति ॥ २७ ॥
अन्यस्मिन्नेकदेशे सा ऊर्ध्वाभिख्यां करिष्यति ।
एवं दिगभिधानादि कल्पयिष्यति स क्रमात् ॥ २८ ॥

होकर स्थूल देहरूप बन जाता है, फिर उसमें रूप आदिके अनुसन्धानवशसे पाँच इन्द्रियाँ प्रकाश करती हैं ॥ २४ ॥

अब चार अन्तःकरणोंकी कल्पनाका प्रकार दिखलाते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस तरह अणुरूप चितिका ज्ञान दृश्य पदार्थोंके बार-बार अनुभवसे खूब पुष्ट हो जाता है । फिर इसीका नाम ज्ञान एवं बुद्धि पड़ जाता है । इन्द्रियोंसे अनुभूत विषयोंका स्मृति-समयमें जो ज्ञान होता है वह चित्त कहा जाता है और अध्यवसायसमयमें जो ज्ञान होता है वह बुद्धि कही जाती है ॥ २५ ॥

तदनन्तर सङ्कल्पविकल्पदशामें वह मन बन जाता है, अभिमानसे—अहंभाव एवं ममभावसे—अभिमानी होकर अहङ्कार पदको प्राप्त हो जाता है । इस रीतिसे आत्माने देशकालका भी विभाग किया है ॥ २६ ॥

काल और देशमें पूर्ववत् जो कल्पना होती है, वह उत्तरकालकी कल्पनाको लेकर ही प्रवृत्त होती है, यह कहते हैं—'चिदणो०' इत्यादिसे ।

इन प्रसिद्ध शब्द आदि विषयोंका जिस देश या कालरूप आधारमें जो सर्वप्रथम विज्ञान होता है यानी जिस चिदणुरूप जीवको जिस देश या कालरूप आधारमें शब्दादि विषयोंका विज्ञान होता है, वही जीव देश या कालरूप आधारका उत्तरकालसे भिन्न पूर्वदेश या पूर्वकाल—यों नामकरण कर देगा, यही नियम प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीवके लिए लागू है ॥ २७ ॥

वही चितिरूप जीव दूसरे देश-कालमें ज्ञान होनेपर उनका 'ऊर्ध्व' नाम रख लेगा, इसी प्रकार दिशामें पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि नामोंकी वह क्रमशः कल्पना कर लेगा ॥ २८ ॥

देशकालक्रियाद्रव्यशब्दानामर्थवेदनम् ।
भविष्यति स्वयमसावाकाशविशदोऽपि सन् ॥ २९ ॥
इत्थं स्वानुभवेनैष व्योम्नैव व्योमरूपभृत् ।
आतिवाहिकनामान्तर्देहः सम्पद्यते चितेः ॥ ३० ॥
एष एव चिरं कालं तत्र भावनया तया ।
गृह्णाति निश्चयं पूर्णमाधिभौतिकमात्मनः ॥ ३१ ॥
व्योम्ना व्योम्न्येव रचितो निर्मलेनेति विभ्रमः ।
असता सत्समास्तीर्णस्तापनद्या जलं यथा ॥ ३२ ॥

इस तरह देश, काल और वस्तुओंकी एवं उनके नामोंकी कल्पना बतलाई गई, अब जिन्हें शब्दशक्तिका ज्ञान है, ऐसे पुरुषोंको शब्दश्रवण होनेपर तत-तत अर्थोंका जो विज्ञान होगा, उस विज्ञानके रूपमें भी वह आत्मा ही हो जायगा, यह कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

भद्र, तदनन्तर यद्यपि आकाशके सदृश अतिनिर्मल ही यह आत्मा है, तथापि सङ्कल्पवश यह आत्मा ही स्वयं देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि शब्दोंके अर्थोंके ज्ञानके रूपमें हो जायगा ॥ २९ ॥

इसी रीतिसे अपने ही सङ्कल्पके प्रभावसे यह आकाशके सदृश निर्मलरूप धारण करनेवाला चिदाकाश अपने आप ही चितिके अन्दर सर्वप्रथम आतिवाहिक शरीर, फिर देहेन्द्रियादि विभाग, फिर नाम, यों समस्त जगत्के स्वरूपमें विवर्तित हो जाता है ॥ ३० ॥

यों समस्त जगत् केवल मानसिक कल्पना स्वरूप होनेके कारण आतिवाहिक शरीरका अवयव ही सिद्ध होता है, फिर भी उसमें आधिभौतिकताकी प्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'एष' इत्यादिसे।

यही चिदणु जीव दीर्घकालकी उक्त भावनासे अपनेमें पूर्णरूपसे आधिभौतिकताका निश्चय कर लेता है ॥ ३१ ॥

निर्मल चिदाकाशने चिदाकाशमें ही अपने असत्सङ्कल्पसे उक्त प्रकारके विभ्रमकी रचना की है, यह सत्के सदृश होकर ऐसे चारों ओर फैला है, जैसे ताप-नदीका जल ॥ ३२ ॥

सङ्कल्पनाम्नुपादत्ते स्वदेहे गगनाकृतिः ।
शिरःशब्दार्थदां काञ्चित् पादशब्दार्थदां क्वचित् ॥३३॥
उरःपार्श्वादिशब्दार्थमयीं क्वचिदनाविलाम् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गशब्दाद्यर्थमयीमपि ॥ ३४ ॥
नियताकारकलनां देशकालादियन्त्रिताम् ।
विषयोन्मुखतां यातामिन्द्रियव्रातवेधिताम् ॥ ३५ ॥
सोऽणुः पश्यत्यथाकारमात्मनः स्वात्मकल्पितम् ।
हस्तपादादिकलितं चित्तादिकलनान्वितम् ॥ ३६ ॥
एवं संपद्यते ब्रह्मा तथा संपद्यते हरिः ।
एवं संपद्यते रुद्र एवं संपद्यते कृमिः ॥ ३७ ॥
न च किञ्चन संपन्नं यथास्थितमवस्थितम् ।
शून्यं शून्ये विलसितं ज्ञप्तिर्ज्ञप्तौ विजृम्भिता ॥ ३८ ॥

वह गगनरूप चिदणु—जब अपनी देहकी कल्पना करनी होती है, तब इस तरहकी कल्पना करता है—कहीं कोई कल्पनाएँ सिरशब्दके अर्थको देनेवाली, कोई पैर शब्दके अर्थको देनेवाली, कोई छाती, पसली आदि शब्दोंके अर्थोंको देनेवाली है। वह कहीं निर्मल कल्पना, कहीं भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग आदि शब्दोंके अर्थोंकी कल्पना, कहीं नियत कालकी कल्पना, कहीं देशकालसे नियन्त्रित कल्पना, कहीं विषयोन्मुख कल्पना और कहीं इन्द्रियोंसे युक्त कल्पना करता है। यों शरीरोंके अवयवोंकी एवं बाह्य अर्थोंके हानादि व्यवहारोंकी कल्पना करते रहता है ॥३३–३५॥

तदनन्तर वह चिदणु अपनी कल्पनासे ही कल्पित अपने हाथ, पैर आदिसे युक्त तथा चित्त आदिकी कल्पनासे युक्त मनुष्य आदिका आकार देखता है ॥३६॥

जब ईश्वरोंकी देहोंकी भी कल्पना उसके सङ्कल्पसे होती है, तब फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इसी तरह अपनी ही कल्पनासे चिदणु—जीव ब्रह्मा बन जाता है, नारायण बन जाता है, रुद्र बन जाता है तथा कीट भी बन जाता है ॥ ३७ ॥

सभी तरहकी यह कल्पना मिथ्या ही है, यह कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

वास्तवमें तो यह कुछ भी बना नहीं है, किन्तु वह अपने असली स्वरूपमें ही स्थित है, शून्यमें शून्यका ही विलास है और चिति चितिमें ही बढ़ी है ॥३८॥

प्रतिकन्दः शरीराणां बीजं त्रैलोक्यवीरुधाम् ।
सार्गार्गलप्रदो मुक्तेः संसारासारवारिदः ॥ ३९ ॥
कारणं सर्वकार्याणां नेता कालक्रियादिषु ।
सर्वाद्यः पुरुषः स्वैरमित्यनुत्थित उत्थितः ॥ ४० ॥
नास्य भूतमयो देहो नास्यास्थीनि शरीरके ।
अवष्टब्धुमसौ मुष्ट्या शक्यते नतु केनचित् ॥ ४१ ॥
तेनाब्धिमेघसंग्रामसिंहगर्जोर्जितात्मना ।
अपि सुप्तनरेणेव नूनं मौनवता स्थितम् ॥ ४२ ॥
जाग्रतः स्वप्नसंदृष्टयोद्धारभटिवेदनम् ।
यथास्मृति गतं नासन्न सत्तद्वदसौ स्थितः ॥ ४३ ॥
बहुयोजनलक्षौघप्रमाणोऽपि बृहद्वपुः ।
परमाण्वन्तरे भाति लोमान्तस्थजगत्त्रयः ॥ ४४ ॥

व्यष्टियोंके सदृश समष्टिरूप हिरण्यगर्भ भी उसी तरह अपनी कल्पनासे ही बना है, यह कहते हैं—'प्रतिकन्दः' इत्यादिसे ।

भद्र, व्यष्टि शरीरोंका जो नियत कन्द (मूल) है, त्रैलोक्यरूप बल्लियोंका जो बीज है, वह भी वही है । मुक्तिके द्वारकी प्रतिबन्धक विषय-सृष्टिरूप अर्गला (शृङ्खला) देनेवाला तथा संसाररूप मूसलाधार वृष्टि करनेवाला मेघ भी वही है ॥ ४० ॥

सब कार्योंका कारण, काल, क्रिया आदिका नियामक, सबका आदिभूत हिरण्यगर्भ भी अपनी इच्छासे वही बन बैठा है उत्थित न रहते हुए भी वह उत्थित है ॥ ३९ ॥

न तो इसका भौतिक शरीर है और न इसके शरीरमें हड्डियाँ ही हैं, अतः इसे कोई मुट्ठीसे नहीं पकड़ सकता ॥ ४१ ॥

जैसे स्वप्नमें मेघ, संग्राम और सिंहोंकी भीषण गर्जनासे युक्तस्वरूप रहने-पर भी सुप्त पुरुष वस्तुतः चुपचाप ही स्थित रहता है, वैसे ही विराट् पुरुष भी प्रपञ्चशून्य अपने स्वरूपमें स्थित है ॥ ४२ ॥

जैसे स्वप्नमें देखे गये योद्धाओंके कोलाहलका ज्ञान जाग्रदवस्थामें स्मृति-पथमें आया हुआ न तो अत्यन्त असत् है और न सत् ही है, वैसे ही जगत्का यह प्रपञ्च स्थित है ॥ ४३ ॥

एकमात्र मायासे उन हजारों वस्तुओंकी, जिनकी हम कभी संभावना नहीं कर

कुलशैलगुणौघात्मा जगद्वृन्दात्मकोऽपि सन् ।
कुलायं धानकामात्रमपि नो पूरयत्यजः ॥ ४५ ॥
जगत्कोटिशताभोगविस्तीर्णोऽप्यणुमात्रकम् ।
वस्तुतो व्याप्तवानेष न देशं स्वप्नशैलवत् ॥ ४६ ॥
स्वयंभूरेष कथितो विराडेष स उच्यते ।
ब्रह्माण्डात्मा जगद्देहो वस्तुतस्तु नभोमयः ॥ ४७ ॥
सनातन इति प्रोक्तो रुद्र इत्यपि संज्ञितः ।
इन्द्रोपेन्द्रमरुन्मेघशैलजालादिदेहकः ॥ ४८ ॥
तेजोऽणुमात्रं प्रथितं चेतित्वात्प्रथमं वपुः ।
क्रमेण स्फारसंवित्तिर्महानहमिति स्थितः ॥ ४९ ॥

सकते, इस संसारमें उत्पत्ति दीखती है, यह कहते हैं—'बहुयोजन०' इत्यादिसे ।

अनेक लाखों योजनके समूहोंतक विशाल प्रमाणवाला, बृहत्-शरीर भी यह त्रैलोक्य रोमके सूक्ष्म भागके अन्तमें स्थित सिर्फ एकमात्र मायासे ही परमाणुके अन्दर भी भासता है ॥ ४४ ॥

सात महाकुल पर्वतों तथा गुणोंके समूहोंका आश्रय एवं ब्रह्माण्डोंका समूहमय होकर भी ब्रह्मदेव वटके बीजमात्र छिद्रको भी नहीं पूर्ण कर सकते ॥ ४५ ॥

सैंकड़ों करोड़ लम्बे जगत्के विस्तारसे विस्तृत आकारवान् होते हुए भी ब्रह्मदेव अणुमात्रस्वरूप हैं । स्वप्नके पर्वतोंके समान वस्तुतः इन्होंने देशको व्याप्त नहीं कर रखा है ॥ ४६ ॥

यही ब्रह्माण्डात्मा स्वयंभू कहे गये हैं तथा जगत्-शरीर विराट् भी यही कहे जाते हैं । लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः ये चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ४७ ॥

सनातन पुरुष भी यही कहे गये हैं, इन्हींकी रुद्र संज्ञा पड़ी है तथा हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ तथा शैलसमूहोंकी देह भी यही हैं ॥४८॥

अब पूर्वोक्तको संक्षिप्तकर कहते हैं—'तेजः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, परम सूक्ष्म चिति पहले सबको चेतित करनेसे चित्त-शरीर हुई और वही चित्तात्मा वर्णित क्रमसे विस्पष्ट चित्ति होकर यानी महाज्ञानसम्पन्न होकर 'मैं महान् ब्रह्माण्डात्मा हूँ' इस तरह जगत्के शरीररूपसे स्थित हो गया ॥ ४९ ॥

स्पन्दसंवेदनात्तेन स्पन्द इत्यनुभूयते ।
यः स एवानिलाभिख्यो वातस्कन्धात्मना स्थितः ॥५०॥
प्राणापानपरिस्पन्दो वेदनादनुभूयते ।
तेन यः सोऽयमाकाशे वातस्कन्ध उदाहृतः ॥ ५१ ॥
चित्ताद्ये कल्पितास्तेन बालेनेव पिशाचिकाः ।
तेजःकणा असन्तोऽपि त एते धिष्ण्यतां गताः ॥५२॥
प्राणापानपरावर्तदोला तदुदरोदिता ।
वातस्कन्धाभिधां धत्ते जगत्तद्धृदयं महत् ॥ ५३ ॥
प्रतिच्छन्दशरीराणां प्रथमं बीजमेष सः ।
जगद्गतानां सर्वेषामाकल्पव्यवहारिणाम् ॥ ५४ ॥
प्रतिच्छन्द्याद्यदेतस्मादुत्थिता जगदात्मना ।
देहास्तदा यथा बाह्यमन्तरेषां तथा स्थितम् ॥ ५५ ॥

स्पन्दकी संवित्से वे स्पन्दका अनुभव करते हैं । उनके जो प्राण हैं उन्हींकी संज्ञा अनिल पड़ी हुई है । वे वातस्कन्धरूपसे स्थित हैं ॥ ५० ॥

स्पन्दकी संवित्से वे स्पन्दका अनुभव करते हैं, यह जो ऊपर कहा गया है उसका सर्वानुभवप्रसिद्धि द्वारा समर्थन करते हैं—'प्राणा०' इत्यादिसे ।

स्पन्दकी संवित्से जो वे प्राण और अपानके स्पन्दका अनुभव करते हैं उसी उनके प्राणके स्पन्दको उनके ब्रह्माण्डाकाशमें हमने वातस्कन्धके नामसे पहले कहा है ॥ ५१ ॥

विराट्ने अपने चित्तसे जिनकी कल्पना की वे ही ये तेजके कण, बालक द्वारा अपने चित्तसे कल्पित पिशाचकी नाईं, असद्रूप होते हुए भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र आदिकी स्थानताको प्राप्त हुए हैं यानी तद्रूपताको प्राप्त हुए हैं ॥५२॥

उसके उदरमें जनित जो प्राण तथा अपानके आवर्तनरूपी झूला है, वही उसकी उदरता 'वातस्कन्ध' संज्ञाको धारण करती है। महान् जगत् उसीका हृदय (हृदयगत अस्थि आदि) है ॥ ५३ ॥

जगत्के अन्दर कल्पपर्यन्त व्यवहार करनेवाले समस्त जीवोंमें प्रत्येक जीव-भेदकी इच्छासे कल्पित व्यष्टिशरीरोंके प्रथम बीज यही ब्रह्मदेव हैं ॥ ५४ ॥

इनसे उत्पन्न प्रत्येक जीवकी इच्छासे प्रकटित हुए जो जगद्रूपसे अनेक देह हैं उनके भी बाहर और भीतर ये ठीक वैसे ही स्थित हैं ॥ ५५ ॥

चितिस्तस्याऽऽद्यबीजस्य पूर्वमेव यथोदिता ।
तथैवाद्यापि जीवेऽन्तस्तथोदेति तदीहिता ॥ ५६ ॥
श्लेष्मपित्तानिलास्तस्य चन्द्रार्कपवनास्त्रयः ।
ग्रहा ऋक्षगणास्तस्य प्राणाष्ठीवनसीकराः ॥ ५७ ॥
तस्यास्थीन्यद्रिजालानि मेदसो जातिका घनाः ।
शिरः पादौ त्वचं देहान्पश्यामस्तस्य नो वयम् ॥५८॥

वपुर्विराजो जगदङ्ग विद्धि
सङ्कल्परूपस्य हि कल्पनात्म ।
आकाशशैलावनिसागरादि
सर्वं चिदाकाशमतः प्रशान्तम् ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥७३॥

जैसे आद्य बीज हिरण्यगर्भकी इच्छारूपा चिति पहले ही उत्पन्न हो गई, वैसे ही आज भी उसकी अभिलषित चिति ही प्रत्येक जीवके भीतर उदित हो रही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे एक प्रथम बीजसे अनेक वृक्ष तथा बीजोंकी परम्परा उदित होती है वैसे ही हिरण्यगर्भरूप चेतनकी इच्छासे प्रत्येक जीवसे ब्रह्माण्डपरम्परा उदित होती है ॥ ५६ ॥

चन्द्र, सूर्य और पवन—ये तीनों उस हिरण्यगर्भके कफ, पित्त और वायुरूप हैं और दूसरे जो ग्रह तथा नक्षत्र समूह हैं वे उसके प्राणष्ठीवनके सीकर हैं यानी प्राण द्वारा बाहर निकले हुए थूकके कफबिन्दु हैं ॥ ५७ ॥

पर्वतसमूह उसके अस्थि हैं, सारे मेघ उसकी चर्बीकी जाति-जैसे हैं, उसके सिर, पैर और त्वचारूप देहावयवोंको—ऊपर-नीचेके कपालों तथा ब्रह्माण्डोंके आवरणोंको—दूरीके कारण हम लोग नहीं देख पाते ॥ ५८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसारको आप विराट् पुरुषका शरीर समझिये। वह भी कल्पनात्मक उस विराट्की एकमात्र कल्पनारूप ही है। वह न तो कोई बाह्यसाधनसे साध्य है और न वस्तुतः मनकी कल्पनारूप कुछ है। इसलिए

चतुःसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तस्मिन् कल्पे तु सङ्कल्पे तस्य यद्वपुरास्थितम् ।
शृणु तत्र व्यवस्थेयं विचित्राचारहारिणी ॥ १ ॥
परमं यच्चिदाकाशं तद्विराडात्मनो वपुः ।
आद्यन्तमध्यरहितं लघुत्वस्य वपुर्जगत् ॥ २ ॥

आकाश, तथा पर्वत, पृथिवी तथा सागर आदि सबके सब प्रशान्त चिदाकाश-रूप ही हैं ॥ ५९ ॥

तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

[जो लोक उस ब्रह्माके अङ्गभूत हैं जो उसके पृथक्-पृथक् अवयव हैं तथा जिस तरह ये सब इसके अन्दर स्थित हैं—इन सबका वर्णन]

उस ब्रह्माका कौन अङ्ग यह भूलोक है और कौन अङ्ग स्वर्ग अथवा पाताल है ? इस विभागप्रश्नका, 'कथं वासोऽन्तरे तस्य' इस प्रश्नका तथा 'कथं वा तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इस प्रश्नका भी विस्तारके साथ उत्तर देनेके लिए अब महाराज वसिष्ठजी श्रोताको सावधान कर रहे हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस शिलाके उदरमें देखे गये ब्रह्मकल्पात्मक उस विराट्के सङ्कल्पमें जो ब्रह्माण्डात्मक शरीर स्थित है उसकी विचित्र आचारोंसे चित्तको हर लेनेवाली जो यह जन्म, कर्म, अवयव आदिकी व्यवस्था है, वह आप सुनिये ॥ १ ॥

उस विराट्का ब्रह्म ही वास्तविक स्वरूप प्राथमिक और अकल्पित है। उस विराट्का शरीर तो उसकी दृष्टिसे अत्यन्त ही लघुतर है, यह कहते हैं—'परमम्' इत्यादिसे।

आदि, अन्त और मध्यसे रहित जो परम चिदाकाश है, वही विराडात्माका प्रथम कल्पनारहित शरीर है तथा उसका कल्पित यह जगद्रूप शरीर तो अत्यन्त ही लघु है ॥ २ ॥

सङ्कल्परहितो ब्रह्मा स्वाण्डं सङ्कल्पनात्मकम् ।
वपुषः परितो भास्वत्पश्यत्याकाशमेव तत् ॥ ३ ॥
ब्रह्मात्मैष स्वसङ्कल्पं स्वमण्डमकरोद्द्विधा ।
तैजसं तैजसाकारः पुष्टः पुष्टं विहङ्गवत् ॥ ४ ॥
अण्डस्यैकं नभोदूरं गतं संबुद्धवानसौ ।
भुवोऽधःसंस्थितं भागं व्यतिरिक्तं च नात्मना ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभाग ऊर्ध्वस्थो विराजः शिर उच्यते ।
अधोभागोऽस्य पादाख्यो नितम्बो मध्यमात्रखम् ॥ ६ ॥

आदि, मध्य और अन्तसे रहित चिदाकाश ही उसका स्वरूप है, यह आप कैसे जानते हैं, इसपर कहते हैं—'सङ्कल्परहितो' इत्यादिसे ।

चूँकि वह ब्रह्मा अपने सङ्कल्पित ब्रह्माण्ड-शरीरसे बाहर सङ्कल्परहित होकर यानी सङ्कल्प-शून्य साक्षी चिदाकाशमात्र होकर सङ्कल्पनात्मक अपने अण्डको चारों तरफ देखता है । वास्तवमें 'तो वह ब्रह्माण्ड भी प्रकाशमय चिदाकाश-रूप ही है ॥ ३ ॥

उस विराडात्माका सिर, पैर और नितम्ब बतलानेके लिए सर्वप्रथम ब्रह्माण्डके ऊपर तथा नीचेके भागको उसका कपाल (खोपड़ी) तथा पैर बतलाते हैं—'ब्रह्मात्मैव' इत्यादिसे ।

लिङ्गसमष्टिके अभिमानी चिदाकार पुष्ट उस ब्रह्मात्माने अपने सङ्कल्परूप सुवर्णमय अण्डका ऐसे दो भाग किया, जैसे अपने पुष्ट अण्डका पक्षी दो भाग करता है ॥ ४ ॥

उस अणुके ऊपरके एक भागको उसने ऊर्ध्वगत आकाश समझ लिया तथा नीचेका भाग जो स्थित था उसे उसने भूलोक मान लिया । अर्थात् उस अणुके दोनों भागमें जो ऊपरका भाग था वही आकाश तथा नीचेका जो भाग था वह पृथ्वी आदि लोक कल्पित हुआ । यद्यपि उस विराट् पुरुषने उन दोनोंमें आकाश तथा भूलोक आदिकी कल्पना की, लेकिन फिर भी अपनेसे अतिरिक्त न तो उसने आकाशकी कल्पना की और न इस भूलोककी ही कल्पना की । ब्रह्माण्डके सबसे ऊपरका जो हिस्सा है वह उस विराट् पुरुषका सिर कहलाता है तथा नीचेका जो हिस्सा है वह उसका पैर कहा जाता है एवं इन दोनोंके

दूरं विमुक्तयोः सन्धिः खण्डयोरिति विस्तृता ।
अनन्ता व्योमलेखा सा श्यामा शून्येति दृश्यते ॥ ७ ॥
द्यौस्तालुविपुलं तस्य ताराुधिरबिन्दवः ।
संविद्वातलवा देहे सुरासुरनरादयः ॥ ८ ॥
देहान्तःकृमयस्तस्य भूतप्रेतपिशाचकाः ।
लोकान्तराणि रन्ध्राणि सुषिराण्यस्य देहके ॥ ९ ॥
ब्रह्माण्डखण्डमस्याधो विस्तृतं पादयोस्तलम् ।
जानुमण्डलरन्ध्राणि पातालकुहराण्यधः ॥ १० ॥
जलैश्चलचलायन्ती सुषिरानेकरन्ध्रिका ।
भूरन्तर्मण्डली लोला समुद्रद्वीपवेष्टना ॥ ११ ॥

बीचका जो अन्तरिक्ष—आकाश है, वह उस विराट् पुरुषका नितम्ब कहलाता है ॥ ५,६ ॥

बहुत दूर विभक्त हुए उन कपालखण्डोंकी अति विस्तृत जो मध्य सन्धि है वह अनन्त—शून्य श्यामवर्ण आकाशकी रेखाके रूपमें लोगोंको दिखाई देती है ॥ ७ ॥

अन्तरिक्ष उस विराट् पुरुषका विशाल तालु है, तारागण रुधिरके बिन्दु हैं तथा देहमें सुर, असुर और नर आदि बुद्धि तथा प्राणकी वृत्तियोंके भेद हैं ॥८॥

भूत, प्रेत, पिशाच आदि उसके शरीरके भीतर रहनेवाले रक्त-मांस आदि अपवित्र पदार्थों के लोलुप ये कीड़े हैं, सूर्य और चन्द्र आदि लोक उसके शरीरके छिद्र हैं तथा याम्यादि नरकके लोकान्तर उसके चक्षु आदि शरीर के नीचेके सूराख हैं ॥ ९ ॥

इस भूमण्डलके नीचेका ब्रह्माण्डखण्ड उसके पैरका विस्तृत तलवा है और नीचे जो पाताल गर्त हैं वे उसके जानुमण्डलके छिद्र हैं ॥ १० ॥

जलोंसे चलायमान सूराखोंसे पूर्ण, अनेक छिद्रोंवाली, काम, रोग, जरा, मरण आदिसे व्याकुल तथा सातों समुद्र एवं सभी द्वीप जिसके वेष्टन हैं—करधनी एवं कटिसूत्रकी जगहपर हैं, ऐसी पृथिवी उस विराट् पुरुषकी मध्यस्थ वस्ति, आँत एवं नितम्बमण्डली है ॥ ११ ॥

जलैर्गुडगुडायन्त्यो नद्यो नाड्यः सरिद्रसः ।
जम्बूद्वीपं हृदम्भोजमस्य हेमाद्रिकर्णिकम् ॥ १२ ॥
कुक्षयः ककुभः शून्या यकृत्प्लीहादयोऽचलाः ।
मृद्व्यः स्निग्धाः पटाकारा मेदसो जालिका घनाः ॥ १३ ॥
चन्द्रार्कौ लोचने तस्य ब्रह्मलोको मुखं स्मृतम् ।
तेजः सोमोऽस्य कथितः श्लेष्मा प्रालेयपर्वतः ॥ १४ ॥
अग्निलोकस्तथौर्वाग्निः पित्तमस्यातिदुःसहम् ।
वातस्कन्धमहावाताः प्राणापाना हृदि स्थिताः ॥ १५ ॥
कल्पद्रुमवनान्यस्य सर्पवृन्दानि च क्वचित् ।
लोमजालान्यनन्तानि वनान्युपवनानि च ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डं तु समस्तमुरुमस्तकम् ।
ब्रह्माण्डप्रान्तरन्ध्रार्चिरस्य दीप्ता शिखोत्थिता ॥ १७ ॥

जलोंसे गुड़-गुड़ शब्द करनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ी हैं तथा नदियोंका जल उसके शरीरका रस है और हेमाद्रिकर्णिकासहित जम्बूद्वीप उसका हृदयकमल है ॥ १२ ॥

शून्य दिशाएँ उसके कुक्षिभाग हैं, सभी पर्वत उसके-यकृत्-प्लीहादि हैं और मेघसमूह उसके कोमल तथा चिकने पटाकार चर्बीके समूह हैं ॥ १३ ॥

चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं, ब्रह्मलोक उसका मुख कहा गया है, सोम उसका वीर्य तथा हिमालयपर्वत श्लेष्मा (कफ) कहा गया है ॥ १४ ॥

अग्निलोक तथा पृथिवीके अन्दरकी अग्नि इसका अतिदुःसह पित्त है। वातस्कन्धोंमें प्रसिद्ध जो आवह, निवह, प्रवह आदि महावात हैं वे इसके हृदयमें स्थित प्राण और अपान हैं ॥ १५ ॥

कल्पवृक्षोंके वन, पाताल आदिमें प्रसिद्ध साँपोंके झुण्ड तथा वन एवं उपवन इस विराट् पुरुषके अनन्त रोम हैं ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डके खण्डका सम्पूर्ण ऊर्ध्वभाग इसका विशाल मस्तक है। ब्रह्माण्डके ऊर्ध्वप्रान्तके छिद्र प्रसिद्ध दीप्त ज्योति ही इसकी प्रदीप्त शिखा खड़ी है* ॥१७॥

---

* देखिये यह श्रुति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु'।

स्वयमेष मनस्तेन मनो नास्योपयुज्यते ।
आत्मैव भोक्तृतामेति किल कस्य कथं कुतः ॥ १८ ॥
स्वयमेवेन्द्रियाण्येष तेनान्यत्राऽस्तिता कृता ।
यतस्तत्कल्पनामात्रमेवेन्द्रियगणः किल ॥ १९ ॥
अवयवावयविनोरिवेहेन्द्रियचित्तयोः ।
न मनागपि भेदोऽस्ति चैक्यमेकशरीरयोः ॥ २० ॥
तस्य तान्येव कार्याणि जगतां यानि कानिचित् ।
सङ्कल्पा एव पुंवृत्त्या चलन्त्यारुपिताद्विताः ॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने विराट् शरीरकी कल्पना करनेवाले उस विराट् पुरुषका कौन मन और कौन इन्द्रियाँ हैं, इसपर कहते हैं—'स्वयमेष' इत्यादिसे।

चूँकि समस्त समष्टि मनके आत्मा ये विधाता स्वयं मनरूप ही हैं, इसलिए इनकी सभी कल्पनाओंमें किसी दूसरे मनका इन्हें उपयोग नहीं करना पड़ता। मनरूप विधाताको भी किसी दूसरे मनकी आवश्यकता होनेपर अनवस्था हो जायगी। जब यह निश्चित है कि एकमात्र आत्मा ही भोक्तृताको प्राप्त होता है तब भला किसका * कहाँसे कैसे संभव हो ॥ १८ ॥

इसी तरह इन्हें इन्द्रियोंका भी उपयोग नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे स्वयं इन्द्रियरूप हैं। इसलिए इन इन्द्रियोंकी अस्तिता इनसे अन्योंमें—हम लोगोंमें कल्पित है। और वे सब इन्द्रियाँ वस्तुतः एकमात्र कल्पनारूप ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है † ॥ १९ ॥

तब इन्द्रिय और मनमें भेदव्यवहार क्यों होता है, इसपर कहते हैं—'अवयवा०' इत्यादिसे।

अवयव और अवयवीके सदृश एक शरीरधारी इन्द्रिय और चित्त (मन) में तनिक भी भेद नहीं है, इन दोनोंमें एकता ही है ॥ २० ॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण जगत्की क्रिया भी उसीकी क्रिया है, इसलिए क्रियाके विषयमें अलग प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे।

---

* अर्थात् मनका।

† इन्द्रियोंकी कल्पनामें इन्द्रिय ही निमित्त हैं, ऐसा तो कभी कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसा माननेपर अनवस्था होने लगेगी, यह तात्पर्य है।

जागते तस्य विज्ञेये नान्येऽस्य मृतिजन्मनी ।
स एवेदं जगत्यस्मत्सङ्कल्पात्मास्य नेतरत् ॥ २२ ॥
तत्सत्तया जगत्सत्ता तन्मृत्यैव जगत्मृतम् ।
यादृशी स्पन्दमरुतोः सत्तैका तादृशी तयोः ॥ २३ ॥
जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव ।
जगद्यत्स विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम् ॥ २४ ॥
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ।
सङ्कल्पमात्रमेवैते शुद्धचिद्व्योमरूपिणः ॥ २५ ॥

संसारके जो कुछ कार्य हैं वे सबके सब एकमात्र उसीके कार्य हैं अर्थात् संसारकी सम्पूर्ण क्रियाएँ उसीकी क्रिया हैं, क्योंकि ब्रह्मके सङ्कल्प ही सब जीवोंके रूपसे अपनेमें भेदका आरोप करके जगत्‌के समस्त व्यवहारके रूपमें चलते हैं ॥ २१ ॥

तब तो हम लोगोंका मरण और जन्म भी उसीका मरण और जन्म है। ऐसी स्थितिमें द्विपरार्ध कालतक उसके जीवनकी जो प्रसिद्धि है, उसमें विरोध होने लगेगा, इस आशङ्कापर कहते हैं—'जागते' इत्यादिसे ।

समष्टि जगत्‌के यानी समस्त जगत्‌के जन्म और मरणको ही उस ब्रह्मका जन्म और मरण समझना चाहिए, हमारे-जैसे व्यक्तिविशेषके जन्म और मरणको उस ब्रह्मका जन्म और मरण नहीं जानना चाहिए, क्योंकि जगत्‌में समष्टिरूप वही है तथा हम लोगोंका जो सङ्कल्प है तद्रूप भी वही है। उस ब्रह्मका समष्टि तथा व्यष्टिसे अतिरिक्त और कोई दूसरा रूप ही नहीं है ॥ २२ ॥

क्यों यह सब कुछ ब्रह्म ही है ? इसपर कहते हैं—'तत्सत्तया' इत्यादिसे।

उसकी सत्तासे जगत्‌की सत्ता तथा उसके मरणसे यानी अभावसे जगत्‌का मरण यानी अभाव है। जैसी स्पन्द और वायुकी सत्ता एक है वैसी ही ब्रह्म और जगत्‌की सत्ता एक है ॥ २३ ॥

वायु और उसके स्पन्दके समान जगत् और विराट् पुरुषकी सत्ता एक ही है। जो जगत् है वही विराट् है और जो विराट् है वही जगत् कहा गया है ॥ २४ ॥

जगत्, ब्रह्मा और विराट्—ये तीनों एक अर्थके वाचक शब्द हैं तथा

श्रीराम उवाच

सङ्कल्पात्स विराडेव खमेवाकृतिमागतम् ।
अस्तु नाम स्वदेहान्तः कथं ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथा ध्यानेन देहान्तस्तिष्ठसि त्वं यथा स्थितम् ।
तथास्ते निजदेहेऽन्तः सङ्कल्पात्मा पितामहः ॥ २७ ॥
नृणां तथा च मुख्यानां जीवो ब्रह्मपुरोदरे ।
उत्पत्तिपुत्रिकादेहः प्रतिबिम्बोपमोऽस्ति सः ॥ २८ ॥

ये दोनों यानी विराट् और जगत् शुद्ध चिदाकाशरूप परमात्माके सङ्कल्पमात्र ही हैं * ॥ २५ ॥

'अस्तु नाम' यहाँतकके पदसे महाराज वसिष्ठजीका कथन स्वीकार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अवशिष्ट प्रश्नका स्मरण कराते हैं—'सङ्कल्पात्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सङ्कल्पसे चिदाकाशरूप वह विराट् ही साकारताको प्राप्त हुआ, यह तो मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु कृपाकर यह कहिये कि वह ब्रह्मा अपने शरीरके भीतर रहते कैसे हैं * ॥ २६ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मानसपूजा करते समय ध्यान लगाकर हृदयमें कल्पित रत्नमण्डपके भीतर स्थित देवमें प्रविष्ट होकर उस देवताकी छत्र, चामर, व्यजन, दर्पण, ताम्बूल आदिसे परिचर्या कर रहे अपनेको उस देवताके समीपमें स्थित जैसे आप अनुभव करते हैं, वैसे ही सङ्कल्पस्वरूप पितामह भी अपने शरीरके भीतर स्थित रहते हैं ॥ २७ ॥

किंच, स्थूल देहात्मक अपने हृदयपुण्डरीकमें लिङ्गदेहात्मक अपनी अवस्थिति सभी विवेकियोंको अनुभवसिद्ध है, यह कहते हैं—'नृणाम्' इत्यादिसे।

विवेकी पुरुषोंका जीव अपने स्थूल शरीरके भीतर हृदयपुण्डरीकमें अवस्थित रहता है। वह सबकी देह उत्पन्न हुई प्रतिमा-जैसी है, यही कारण है कि दर्पणके अन्तर्गत प्रतिबिम्बके सदृश वे ब्रह्माजी हैं ॥ २८ ॥

* 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध जो सङ्कल्प है वह भी तो निःस्वरूप ही है, इसलिए बहुत छान-बीन करनेपर भी हमें एकमात्र ब्रह्म ही शेष मिलता है।

* अर्थात् 'कथं वासोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः' इस मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये।

यत्र त्वमपि देहान्तः कर्तुं शक्तोऽस्यलं स्थितम् ।
सङ्कल्पात्मा विभुस्तत्र ब्रह्मा किं न करिष्यति ॥ २९ ॥
बीजान्तः स्थावरं ह्यास्ते पदार्थे यत्र जङ्गमः ।
किं नास्ते तत्र देहेन्तर्निजचित्कल्पनात्मिका ॥ ३० ॥
साकारो गगनात्माऽस्तु निराकारं खमस्तु वा ।
आस्ते बहिरथान्तश्च भिन्ने बाह्यान्तरे बहिः ॥ ३१ ॥
आत्मारामः काष्ठमौनी न जडोऽपि दृषज्जडः ।
अहं त्वमित्यादिमयो विराडात्मनि तिष्ठति ॥ ३२ ॥

कैमुतिक न्यायसे अपने शरीरके अन्दर विधाताकी स्थिति बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जब कि आप भी अपने स्थूल शरीरके भीतर अपनी स्थिति भलीभाँति कर सकते हैं, तब भला सर्वसमर्थ सङ्कल्पात्मा ब्रह्मदेव अपनी स्थिति क्यों नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

जब स्थावरोंमें भी अपने बीजसे अन्य शरीर धारण करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है, तब भला सर्वशक्तिसम्पन्न चितिकी कल्पनारूप ब्रह्ममूर्तिके विषयमें क्या कहना है, यह कहते हैं—'बीजान्तः' इत्यादिसे ।

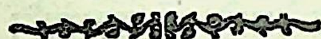
जब स्थावर पदार्थ भी बीजके भीतर स्थित रहते हैं तब भला जंगम सर्वशक्तिमान् ब्रह्माजी अपनी देहके भीतर क्यों नहीं स्थित रह सकते, जो स्वयं चितिकी कल्पनारूप हैं ॥ ३० ॥

ऐसी स्थितिमें ब्रह्माजी चाहे ब्रह्माण्डाकारसे साकार होते हुए भी चिदाकाशस्वरूप बने रहें अथवा समष्टि मनके रूपसे निराकार चिदाकाशस्वरूप स्थित रहें, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि वे दोनों पक्षमें बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं । बाह्य तथा आभ्यन्तर जो कल्पनाएँ हैं वे दोनों ही स्वरूपसे बाहर स्थित हैं अतः वे भिन्न हैं अर्थात् इन्हींका भेद होता है, आन्तर सद्रूपकी जो आपने कल्पनाकर रखी है उसका भेद नहीं होता ॥ ३१ ॥

अच्छा तो वह विराट् पुरुष बाहर और भीतर किस प्रकारका है और वस्तुतः किस स्वभावमें वह स्थित रहता है, यह कहते हैं—'आत्मारामः' इत्यादिसे ।

आवेष्टितोज्झितलतातृणदारुपुंव-
दुच्छब्दमम्बुरयवच्च विरोपिताङ्गः ।
नानाविधेऽपि विहरन्नपि कार्यजाले
तज्ज्ञः शिलाजठरशान्तमनस्क एव ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥



वही विराट् पुरुष बाहर ब्रह्माण्डरूपसे स्थित है तथा भीतर 'अहं, त्वम्' इत्यादि व्यष्टि एवं समष्टिभूतभौतिकमय है। लेकिन अपने स्वरूपमें तो आत्माराम होकर भी वह काष्ठवत् मौनी तथा पत्थरके समान जड़ होकर भी वस्तुतः वहे चिदेकरसरूप होनेके कारण जडरूपसे स्थित नहीं है ॥ ३२ ॥

केवल ऐसी स्थिति विराट् पुरुषकी ही है, यह बात नहीं है, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानियोंकी भी ऐसी ही स्थिति है, यह दिखलानेके लिए उसी स्थितिका दृष्टान्तों द्वारा साफ-साफ वर्णन करते हैं—'आवेष्टित०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, न केवल विराट् पुरुष, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानी पुरुष लता, तृण, काष्ठपुरुष या प्रतिमाके समान पहले रज्जु आदिसे आबद्ध हो पुनः मुक्त हो जानेपर भी कुपित नहीं होते, बल्कि चुपचाप स्थित रहते हैं तथा जलके प्रवाहके सदृश अवरुद्ध और छिन्न-भिन्न अङ्ग होनेपर भी अपनी प्राक्तन शान्त स्थितिको नहीं छोड़ते एवं नाना प्रकारके कार्यसमूहमें विहार करते हुए भी शिलाके उदरके समान क्रोधादिरहित शान्तचित्त ही स्थित रहते हैं—क्रोध, हर्ष, विषाद आदिसे तनिक भी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥ ३३ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाग्रस्थब्रह्मलोको ब्रह्मणि ध्यानशालिनि ।
निक्षिप्ताक्षः शनैर्दिक्षु दृष्टवानहमग्रतः ॥ १ ॥
द्वितीयमर्कं मध्याह्ने पश्चादभ्युदितं स्फुटम् ।
दिग्दाहमिव दिग्वक्त्रे वनदाहमिवाचले ॥ २ ॥
वह्निलोकमिव व्योम्नि वडवाग्निमिवार्णवे ।
ततोऽपश्यमहं दीप्तं सूर्यं नैर्ऋतदिङ्मुखे ॥ ३ ॥
सूर्यं याम्ये ककुब्भागे सूर्यमग्निककुब्मुखे ।
सूर्यमैन्द्रककुब्भागे सूर्यमीशानदिङ्मुखे ॥ ४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

[ब्रह्माके ध्यानमें तत्पर होनेपर बारह सूर्योंकी उत्पत्ति तथा सारे संसारको जला रही प्रलयाग्निका वर्णन]

प्रासङ्गिक प्रश्नको समाप्तकर अब एकमात्र प्रस्तुत आख्यायिकाका अनुसन्धान करते हैं—'अथा०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब ब्रह्मदेव ध्यानमें तल्लीन हो गये तब इन्द्रके सहित उनके नगर तथा सुमेरु पर्वतके शिखरपत्तन देखनेके बाद मैंने धीरेसे दिशाओंकी ओर अपनी आँखें दौड़ायीं, तब मैंने अपने सामने पश्चिम दिशाकी ओर साफ उदित हुए—दिशाओंके मुंहमें दाहके सदृश तथा पर्वतके ऊपर वनदाहके समान, मध्याह्नकालके सूर्यसे भिन्न एक दूसरे ही सूर्य भगवान्‌को देखा ॥ १, २ ॥

इसके बाद आकाशमें अग्निलोकके तुल्य तथा सागरमें वडवानलके समान प्रदीप्त हुए एक और सूर्यको मैंने नैर्ऋत्यदिशामें उदित देखा ॥ ३ ॥

तदनन्तर दक्षिण दिशामें, उसके बाद अग्निकोणमें, फिर पूर्वदिशाकी ओर, उसके बाद पुनः मैंने ईशानकोणमें उदित हुए—इस तरह भिन्न-भिन्न सूर्य मैंने देखे ॥ ४ ॥

कुबेरककुभि सूर्यं सूर्यं वायव्यदिक्तटे ।
सूर्यं वरुणदिग्भागे तेन विस्मयवानहम् ॥ ५ ॥
यावद्विचारयाम्याशु विधिवैधुर्यमाकुलम् ।
उदभूद्भूतलात्तावदर्कं और्व इवार्णवात् ॥ ६ ॥
एकादशेऽखिलार्काणां प्रतिबिम्बमिवोत्थितम् ।
उदभूत्त्रयमर्काणामन्तरे दिगङ्गणाम्बरे ॥ ७ ॥
तद्धि रौद्रं वपुस्तत्र तन्मध्ये लोचनत्रयम् ।
तद्द्वादशपरीमाणं दीप्तं वृन्दं विवस्वताम् ॥ ८ ॥
सर्वदिक्कं ददाहोच्चैः शुष्कं वनमिवाऽनलः ।
अथोदभूज्जगत्खण्डशोषणग्रीष्मवासरः ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद उत्तरदिशामें, वायव्यकोणमें तथा पश्चिम-दिशामें भिन्न-भिन्न सूर्यदेव भगवान्‌को देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया ॥ ५ ॥

इतनेमें व्याकुल होकर ज्यों ही मैं दैवकी प्रतिकूलताको विचारने लगा त्यों ही झट भूतलसे सूर्य ऐसे प्रादुर्भूत हुआ, जैसे सागरसे और्व—वड़वानल ॥ ६ ॥

दिग्गणोंके मध्याकाशमें ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ । उस ग्यारहवें सूर्यमें, दर्पणमें प्रादुर्भूत हुए प्रतिबिम्बकी तरह, तीन अन्य सूर्य उदित हुए * ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस ग्यारहवें सूर्यमें वे तीनों सूर्य भगवान् रुद्रके शरीर हैं । उस भगवान् रुद्रके शरीरके मध्यमें तीन नेत्र हैं । बारह सूर्योंके आकारके बराबर परिमाणवाला प्रदीप्त सूर्योंका समूह होकर वह रौद्र शरीर सभी दिशाओंको खूब जोरसे ऐसे जलाने लगा, जैसे सूखे जंगलको अग्नि । तदनन्तर जगत्खण्डको शुष्क बना देनेवाला ग्रीष्म ऋतुका दिन प्रकट हुआ ॥ ८, ९ ॥

* दसों दिशाओंके बीचमें उदित हुए सूर्यके अन्दर उदित तीन सूर्यस्वरूप एक ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक रुद्रका यह एक रौद्र शरीर है । वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः' इस गायत्रीसे प्रकाशित होता है । एकमात्र यही कारण है कि वह चौबीस अक्षरोंसे प्रथत चौबीस हजार श्लोकोंके पूर्वरामायणके सारसंग्रहस्वरूप आदित्यहृदयमें 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः' इस श्लोकसे तीन मूर्तियोंके मूलभूत परमशिवके रूपसे नमस्कृत हुआ है, सभी विद्वान् लोग उसीको सर्वोत्कृष्ट उपास्य देव कहते हैं, यह एक ज्ञातव्यविषय है ।

अनग्निरग्निदाहो द्रागदृश्योल्मुकगुल्मकः ।
अनग्निनाऽग्निदाहेन तेन तामरसेक्षण ॥ १० ॥

अङ्गानि दावदग्धानि खिन्नानीव ममाभवन् ।
प्रदेशं तमथ त्यक्त्वा दूरमारूढवानहम् ॥ ११ ॥

दृढहस्ततलाघातहतकन्दुकवन्नभः ।
अपश्यं गगनस्थोऽहमुदितं चण्डतेजसम् ॥ १२ ॥

तपन्तं द्वादशादित्यगणं दिक्षु दशस्वपि ।
बृहच्चक्र सताराबज्वालेव भगणं चलम् ॥ १३ ॥

महाकुहकुहाशब्दं क्वथत्सप्ताब्धिडम्बरम् ।
सज्वालोल्मुकनीरन्ध्रलोकान्तरपुरान्तरम् ॥ १४ ॥

ज्वालाघनपटाटोपसिन्दूरीकृतपर्वतम् ।
दीप्यमानमहागारस्थिरविद्युल्लकुत्पटम् ॥ १५ ॥

हे कमलनयन, इसके बाद झट बिना अग्निके ही अग्निका दाह तथा अदृश्य उल्मुकोंके गुल्मक उत्पन्न हुए। अग्निरहित उस सौराग्निके दाहसे मेरे सभी अङ्ग दावाग्निसे दग्ध अतएव खिन्न-से हो गये। उसके बाद उस- प्रदेशको छोड़कर मैं बहुत दूर आकाशमें आरूढ़ हो गया ॥ १०, ११ ॥

और प्रबल हथेलीके आघातसे मारे जा रहे गेंदकी तरह आकाशमें जाकर वहाँ स्थित हो मैंने उदित हुए प्रचण्डतेजयुक्त तप रहे बारह सूर्यसमूहको दसों दिशाओंमें भी देखा। तथा उन दिशाओंमें तारोंके सहित आकाशको व्याप्त कर देनेवाली ज्वालाके समान चंचल वर्तुलाकार बृहत् नक्षत्रचक्र देखा ॥१२,१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ मैंने महाकुहकुह शब्दोंसे युक्त सातों समुद्रको खूब खौलाकर काढ़ा बना रहे तथा ज्वालासहित उल्मुकोंसे सारे लोक और समस्त नगरोंके भीतरी भागको अच्छी तरह परिपूर्ण कर देनेवाले बारह सूर्य-समूहको देखा ॥ १४ ॥

उस सूर्यमण्डलने ज्वालासदृश घन रक्तवस्त्राडम्बरोंसे सारे पर्वतोंको सिन्दूरी रंगका कर दिया था तथा देदीप्यमान लोकपालोंके घरोंमें स्थिर बिजलीकी तरह उसने समस्त दिशामण्डलको बना दिया था ॥ १५ ॥

स्फुरत्कटकटाटोपचटत्पत्तनमण्डलम् ।
विदधद् भूतलोद्भूतधूमदण्डैः शिलाघनैः ॥ १६ ॥
काचस्तम्भसहस्राढ्यं भुवनस्थानमण्डपम् ।
क्वथद्भूतमहाभूतताराक्रन्दातिघर्घरम् ॥ १७ ॥
भूतलोकपुरापातस्फुटच्चटचटोद्भटम् ।
ताराविसरणोद्घातघृष्टरत्नधरातलम् ॥ १८ ॥
सर्वस्थलालयचलद्दह्यमानजनव्रजम् ।
क्षीणाक्रन्दक्वथद्भूतगणदुर्वासदिक्तटम् ॥ १९ ॥
उत्तप्ताम्बूदराखिन्नजलेचरमहार्णवम् ।
सर्वदिक्कानलप्लोषक्षीणाक्रन्दपुरान्तरम् ॥ २० ॥

चट-चट शब्द करते हुए नगरोंके मण्डलको उसने स्फुरित हो रहे कट-कट शब्दोंके आडम्बरोंसे युक्त कर दिया था। शिलाके समान घनीभूत, भूतलपर उद्भूत हुए दण्डाकार धूमोंसे भुवनस्थानमण्डलको हजारों काचके खम्भोंसे वह परिपूर्ण बना रहा था। काढ़ारूपमें परिणत हो रहे समस्त प्राणियों तथा पृथिवी आदि महाभूतोंके ऊँचे आक्रन्दनसे उसमें अतिघर्घर शब्द हो रहा था ॥ १६, १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह बारह आदित्योंका मण्डल, जिसका मैंने अवलोकन किया, चारों ओरसे समस्त प्राणियोंके लोकों एवं उनके अन्तर्गत नगरोंके पतनसे फट रहे पदार्थोंके चटचटाशब्दोंसे उद्भट—प्रचण्ड था। अश्विनी आदि तारा-समूहोंके पतनके अभिघातोंसे धरातलके रत्नोंको वह घिस रहा था ॥ १८ ॥

सभी स्थानोंमें अपने-अपने घरोंके भीतर उसके तापसे जल रहा जन-समुदाय इधर-उधर जोरोंसे भाग रहा था। मरे हुए तथा आक्रन्दनपूर्वक खूब पकाये जा रहे प्राणिसमुदायसे वह सारे दिक्तटोंको दुर्गन्धयुक्त बना रहा था ॥ १९ ॥

सारे महासागरोंके जलजन्तुओंको, जो उनके उदरमें रह रहे थे, सन्तप्त हुए जलोंसे व्याकुल कर रहा था। सारी दिशाओंमें व्याप्त अग्निके दाहसे उसने भिन्न-भिन्न अनेक नगरोंके प्राणियोंको मारकर उन्हें रोदनसे शून्य बना रहा था—उनमें रोनेवाला कोई एक भी प्राणी न रह जाय, ऐसा उन्हें कर रहा था ॥ २० ॥

विदलद्दग्धदिग्दन्तिदन्तोत्तम्भितभूधरम् ।
धराधरदरीरन्ध्रधूममण्डलकुण्डलम् ॥ २१ ॥
पतत्पर्वतनिष्पिष्टप्लुष्टपत्तनमण्डलम् ।
पचत्पचपचाशब्दशब्दिताद्रीन्द्रकुञ्जरम् ॥ २२ ॥
तापतप्तोन्नमद्भूतज्वरितार्णवपर्वतम् ।
हृदयस्फोटनिःसारपतद्विद्याधराङ्गनम् ॥ २३ ॥
आक्रन्दरोदनश्रान्तमूर्द्धनिःसरणामरम् ।
नाकलोकज्वलज्ज्वालापातालोत्तप्तभूतलम् ॥ २४ ॥
शुष्कार्णवसदापक्वविवर्तोग्रजलेचरम् ।
और्वेणाबिन्धनाभावात्प्रोड्डीयेव सहस्रधा ।
गतेन नृत्यतोत्थाय गृहीतगगनाङ्गनम् ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने बारह आदित्योंका वह समुदाय देखा, जो विदलित हो रहे तथा दग्ध हो चुके दिग्गजोंके दाँतोंरूपी खम्भोंसे दिगन्तपर्वतोंको अधो भागमें धारण करा रहा था तथा पर्वतोंकी कन्दराओंके छिद्रोंको धूममण्डलोंसे कुण्डलमय बना रहा था यानी परिपूर्ण कर रहा था ॥ २१ ॥

वह जले हुए नगरोंके मण्डलोंको गिर रहे पर्वतोंके द्वारा पीस-पीसकर खूब चूर्णरूपमें परिणत कर रहा था और पचपच शब्दोंसे शब्दमय हो रहे महापर्वतोंके हाथियोंको वह खूब पकानेमें संलग्न था ॥ २२ ॥

सन्तापसे सन्तप्त होकर उछलते हुए प्राणियों द्वारा सभी सागरों एवं पर्वतोंको वह ऐसा बना रहा था, मानो उन्हें ज्वर आ गया हो । हृदय फटनेसे सारहीन हो जानेके कारण विद्याधरों एवं उनकी अङ्गनाओंको गिरानेमें वह बराबर तत्पर हो रहा था ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय कुछ लोग जोर-शोरसे खूब चिल्लाने तथा रोनेसे थक गये थे एवं कुछ योगी लोग उस समय ब्रह्मरन्ध्रको फाड़कर उसके द्वारा अपने प्राणोंको निकाल देनेसे अमर भी हो चुके थे । स्वर्गलोकमें जलती हुई ज्वालाओं द्वारा पातालपर्यन्त सारा भूतल उस समय खूब सन्तप्त हो रहा था ॥ २४ ॥

सूखे समुद्रोंमें उसके द्वारा लगातार सदा पकते रहनेके कारण नक्र आदि

अथोद्भूज्ज्वलज्ज्वालाकिंशुकांशुकशोभितः ॥ २६ ॥
ताण्डवायेव कल्पाग्निस्तरलोल्मुकमाल्यवान् ।
तारं पटपटाटोपी रटद्भट इवोद्भटः ॥ २७ ॥
ज्वालोद्भुजो धूमकचो जगज्जीर्णकुटीनटः ।
जज्वलुर्वनजालानि पुराणि नगराणि च ॥ २८ ॥
मण्डलद्वीपदुर्गाणि जङ्गलानि स्थलानि च ।
सर्वखानि महाकाशमाशा दश दिवः शिरः ॥ २९ ॥
श्वभ्ररूपारघट्टाट्टपट्टनोदारदिक्तटः ।
शृङ्गाणि सिद्धवृन्दानि गिरयः सागरार्णवाः ॥ ३० ॥

जल-जन्तु परस्पर खूब टक्कर खा रहे थे, इसलिए वे सबके सब देखनेमें उस समय बड़े भीषण प्रतीत हो रहे थे। जलरूपी इन्धन न मिलनेसे बड़वानल मानो उड़कर स्वयं आकाशमें चला गया। वहाँ पहुँचते ही हजारों तरहसे नृत्य करते हुए उसने अप्सराओंको जिससे उछलकर पकड़ लिया, वह बारह आदित्योंका मण्डल मैंने वहाँ देखा ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर प्रलयाग्निरूपी नट जगद्रूपी जीर्ण कुटीमें ताण्डव नृत्य करनेको तैयार हो गया वह जल रही ज्वालारूपी किंशुक पुष्पके वर्णकी तरह वस्त्रोंसे सुशोभित था, बड़े वेगसे फट रहे बाँस आदिके कारण पटपट आदि शब्दोंके आडम्बरसे युक्त था यानी वह उनसे नाना तरहके बाजोंका आडम्बर रखनेवाला था। चंचल उल्मुकरूप माला पहिने हुए था, प्रचण्ड एवं वीरोचित शब्दोच्चारण कर रहे भटकी तरह अलङ्कृत दीखता था, प्रज्वलित ज्वाला-रूपी अपनी लम्बी भुजाओंसे समन्वित तथा धूमरूपी केशोंसे वह विभूषित था। उस प्रलयकी अग्निसे वनोंके समूह, ग्राम, समस्त नगर, मण्डलोंके द्वीप-दुर्ग, जंगल, स्थल, पाताल आदि पृथिवीके समस्त छिद्र, पृथिवीके ऊपरका महाकाश, दसों दिशाएँ, भूलोकके ऊपरका हिस्सा—ये सबके सब जलने लगे ॥ २६-२९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कहीं सुन्दर गर्तोंसे शोभित, कहींपर अरघट्टयन्त्रोंसे अलंकृत तथा कहीं ऊँची अट्टालिकाओंसे युक्त अनेक नगरोंसे रमणीय दिशाओंका तट, पर्वतोंके शिखर, उन शिखरोंपर बास करनेवाले सिद्धोंके समूह, उन सिद्ध समूहोंसे युक्त अनेक पर्वत, सागर, महासागर, तालाब, तलैया, नदी, देव, असुर, नर, उरग

सरः सरस्यः सरितो देवासुरनरोरगाः ।
आशाः शनशनाशब्दैः पुरुषैश्च शिवार्चिषाम् ॥ ३१ ॥
आसन् क्ष्वेडाकुराक्षस्यो ज्वालाजालोज्ज्वलोर्ध्वजाः ।
भमद्भमिति भाङ्कारैर्भीषणैर्भूरिभस्मभिः ॥ ३२ ॥
ज्वालाः श्वभ्राद्रिभूमीनां गुहाभ्यः परिनिर्ययुः ।
ज्वालोदरस्था अरुणाः समस्ता भूतजातयः ॥ ३३ ॥
स्थलपद्मोदरालीनामाजहुः श्रियमश्रियः ।
सद्यो निःसृतरक्ताभैः सिन्दूराम्भोदसुन्दरैः ॥ ३४ ॥
धगद्धगिति गायद्भिर्ज्वालाजालैर्जगद्गतैः ।
आसीद्रक्तांशुकैः कीर्णं सन्ध्याभ्रैरिव वा नभः ॥ ३५ ॥

(सर्प) और पुरुषोंके साथ सभी दिशाएँ—ये सबके सब भगवान् रुद्रके नेत्रोंकी ज्वालाओंके शनशना शब्दोंसे जलने लगे ॥ ३०, ३१ ॥

भंभं भांकार भयंकर शब्दोंसे बहुत ज्यादा धूलि फेंकती हुई ये सभी दिशाएँ, दुष्ट राक्षसियोंकी तरह, परस्पर धूलि एवं जल फेंक-फेंककर क्रीड़ा करनेमें तत्पर हो गईं, ये सभी अपने मस्तकके ऊपर ज्वाला-समूहोंसे उज्ज्वल केश धारण किये हुए थीं यानी ज्वालाजालरूपी चमकीले केश इनके माथेपर विराजमान थे ॥ ३२ ॥

उत्तम गर्तोंसे युक्त पर्वतभूमियोंकी गुफाओंसे ज्वालाएँ खूब निकलने लगीं। उन ज्वालाओंके उदरमें स्थित समस्तभूत जातियाँ लाल रङ्गकी हो गईं ॥३३॥

सम्पत्तिरहित उन सब दिशाओंने तत्काल निकले हुए रक्तके सदृश ज्वाला-जालोंसे, जो सिन्दूरी रङ्गके मेघोंकी तरह सुन्दर थे, स्थल कमलके उदरमें लीन शोभाको धारण किया। धक्-धक् शब्दोंसे गाते हुए सारे संसारमें व्याप्त ज्वालाओंके जालोंसे आकाश मानो रक्त वस्त्रोंसे या सन्ध्याकालीन मेघोंसे आकीर्ण हो गया। अथवा यह भी कह सकते हैं कि ज्वालासमूहोंसे आवृत वह सारा आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उड़कर वहाँ चले गये विकसित किंशुकके वनोंसे ढँका हो। हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी ही दशा सम्पूर्ण सागरोंकी भी हो गई, बड़वानलसे संवृत सारे सागर भी ऐसे हो गये, मानो उनमें अशोकके वन खिल गये हों, या

उत्फुल्लकिंशुकवनैरुड्डीनैरिव वाऽऽवृतम् ।
और्वेण चाऽऽवृता आसन् फुल्लाशोकवना इव ।
इव स्थलाब्जवलिता रविरा इव चार्णवाः ॥ ३६ ॥
नानावर्णज्वलज्ज्वालाधूमविन्यास बन्धवान् ।
रूढं वह्निमिवाधातुं चित्रसौधतलाश्रयम् ॥ ३७ ॥
अनन्त इव विन्यासवनयौवनपावकः ।
उदयास्तमयादिभ्यो विन्ध्यो विधुरतामगात् ॥ ३८ ॥
अङ्गारकल्पविटपैर्ज्वालावनविवल्गनैः ।
शनैरीषदिव क्षुब्धैः सह्योऽसह्यत्वमाययौ ॥ ३९ ॥
मध्यमध्यकचत्कार्ष्ण्यभ्रमद्धूमालिमालितम् ।
चलज्ज्वालाब्जमलिनं दृष्टं सर इवाम्बरम् ॥ ४० ॥
खेऽद्रीणां शिखरे व्योम्नि शिखाशिखरशेखराः ।
ननृतुर्नीरसा नाशनर्तक्यः केतुकुन्तलाः ॥ ४१ ॥

स्थल कमलोंसे वे संवलित हो गये हैं। अथवा प्रातःकालीन सूर्यके समूहोंसे वे व्याप्त हो चुके हों ॥ ३४–३६ ॥

युवावस्थाको प्राप्त दावानल चित्रलिखित कोठोंपरकी मिथ्या अग्निको मानो यथार्थ अग्नि बनानेके लिए नाना वर्णोंकी प्रज्वलित हो रही ज्वालाओं तथा धूम-विन्यासोंकी श्रेणिवाला होता हुआ, हजार फणाओंकी श्रेणिवाले सर्पराजके समान, विस्तारको प्राप्त हो गया, अनेक सूर्योंके उदय और अस्तमय आदिसे विन्ध्याचल भी विधुरताको प्राप्त हो गया ॥ ३७, ३८ ॥

तथा दक्षिण देशमें प्रसिद्ध सह्यनामक पर्वत भी ज्वालायुक्त वनोंकी गर्जना-सहित अङ्गारके समान क्षुब्ध हुए विटपोंसे कुछ धीरेसे मानो असह्यताको प्राप्त हो गया ॥ ३९ ॥

बीच-बीचमें जिनकी कुछ कालिमा प्रकाशित हो जाती थी ऐसे धूमरूपी भ्रमरोंसे मालित तथा धूमसंवलित ज्वालारूपी कमलोंसे मलिन हुआ आकाश सरोवरके तुल्य देखा गया ॥ ४० ॥

ज्वालारूपी चूडामणिसे अलङ्कृत तथा धूमोंके आवर्त एवं धूमकेतु नामक उत्पातविशेषरूपी केशपाशोंसे भूषित मृत्युरूपी नर्तकी (वेश्याएँ) पर्वतोंकी

तलाहितानलज्वाला ब्रह्माण्डोर्ध्वैकपाटभूः ।
तर्जनप्रोत्पतद्भूतधानौघा भ्राष्ट्रभूमिका ॥ ४२ ॥
क्वणच्छ्रेणी मृज्जलाग्निर्नानावर्णाननारुणा ।
हृत्प्रकोष्ठे जगल्लक्ष्म्याः सौवर्णीवाभवत्तदा ॥ ४३ ॥
शैलाश्चटचटास्फोटैर्वृक्षाः कटकटारवैः ।
देशा हलहलोल्लासैरलं विदलनं ययुः ॥ ४४ ॥
अब्धयः क्वथिताकाराः फेनिलोल्लासमांसलाः ।
वीचीकरतलाघातांश्चक्रुरर्कमुखे मुखे ॥ ४५ ॥
अन्योन्यवेल्लितोल्लोलभूतलाकारपर्वतम् ।
जह्नुर्वीचीकरैर्देहे जडाः प्रकुपिता इव ॥ ४६ ॥

कन्दराओं तथा शिखरोंपर एवं पर्वतादिसे शून्य आकाशप्रदेशमें भी करुणादि रससे शून्य होकर नाचने लगीं ॥ ४१ ॥

ब्रह्माण्डका ऊर्ध्वभाग ही जिसका कपाट है ऐसी पृथिवी अपने अधोभागमें स्थापित अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त होती हुई भाड़की वह खपड़ी तैयार हो गई, जहाँपर भूने जा रहे दानोंकी जगह अत्यन्त क्लेशयुक्त शब्दसहित गिरते हुए एकमात्र प्राणियोंके समूह ही विद्यमान थे ॥ ४२ ॥

उस प्रलयकालमें अपनी छाती पीट-पीट कर रो रही जगत्-लक्ष्मीके हृदयपर स्थापित हुए हाथमें—अनेक द्वीपोंकी खोदी गई मृत्तिकाओं, सातों समुद्ररूपी जलों तथा उनमें व्याप्त अग्नियोंसे, काच एवं उसकी कान्तिसे युक्त सुवर्णकी जगहपर स्थित नानावर्णोंके मुखों एवं मणियोंसे लाल हुई यह पृथिवी सुवर्ण-विरचित मनोहर शब्द कर रहे—कंकणोंकी पंक्ति-सी हो गई ॥ ४३ ॥

उस समय सभी पर्वत चटचटाशब्दों, सभी वृक्ष कटकटाशब्दों तथा सभी देश हलहलाशब्दोंके साथ अच्छी तरह विदलनको प्राप्त हो गये ॥ ४४ ॥

इसी तरह सागर भी मुँह पीट-पीटकर एक तरहसे रोने लग गये, यह उत्प्रेक्षा करते हैं—'अब्धयः' इत्यादिसे ।

क्वथित आकारवाले (जिनके जल खूब खौल गये थे ऐसे) तथा फेनिल होनेके कारण उन फेनोंके उल्लाससे परिपुष्ट हुए सारे समुद्र स्वीय जलमें पड़े सूर्य-प्रतिबिम्बरूप तिलकसे समन्वित अपने मुखमें तरङ्गरूपी करतलोंसे आघात पहुँचाते हुए मानो रोने लग गये तथा पुनः वे सबके सब आपसमें सम्बद्ध होकर तरङ्गोंके

आशाकाशागिनामेषां गुहागुहगुहारवान् ।
पपाठ शब्द आग्नेयो ज्वालातटतटोद्भवः ॥ ४७ ॥
लोकपालपुरापाततप्ताङ्गारराद्रिभित्तयः ।
दिशो दशापि वैवश्यं ययुरुन्मत्तवृत्तयः ॥ ४८ ॥
काञ्चनद्रवसाद्रीन्द्रद्रुमागारगुहागृहः ।
शनैश्चार्वाकृतिर्मेरुरासीद्धिम इवातपे ॥ ४९ ॥
क्षणेनैवानलात्तस्माद्धिमवान् जतुवद्द्रुतः ।
सर्वान्तःशीतलः शुद्धो दुर्जनादिव सज्जनः ॥ ५० ॥

आघातसे मिट्टी तथा पत्थर आदिको बिलकुल बराबर कर देनेके कारण भूतल-रूपताको प्राप्त हुए पर्वतका तरङ्गरूपी अपने हाथोंसे ऐसे ग्रास करने लग गये, जैसे कि मूर्ख प्राणी देहमें प्राप्त मिट्टी तथा पत्थर आदिका ग्रास करने लग जाते हैं ॥ ४५, ४६ ॥

कहींपर सारी दिशाओं तथा सारे आकाशको ग्रास कर जानेवाले या उन्हें पूर्ण कर देनेवाले इन सागरोंके गुहामुखसे निकले हुए 'गुहगुह' इस तरहके शब्दोंका प्रदेशान्तरमें गिरितटके संघट्टनसे उत्पन्न अग्निका शब्द पाठ करने लगा यानी अपने गुरुजीके द्वारा कहे गये शब्दोंका अनुकरण जैसे शिष्यध्वनि करता है वैसे ही गुहामुखसे निःसृत 'गुहगुह' शब्दोंका अनुकरण वह आग्नेय शब्द करने लगा ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, और सुनिये—उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी निवृत्तिसे वृष्टिशून्य दसों दिशाएँ भी—लोकपालोंके नगरोंके गिरनेसे दाहमें सन्तप्त हुए अंगारोंसे परिपूर्ण पर्वतोंकी भित्तियाँ होती हुईं उन्मत्तवृत्ति होकर व्याकुलताको प्राप्त होने लगीं ॥ ४८ ॥

समीपके अनेक पर्वतों, इन्द्र, कल्पद्रुम, आगारों तथा गुहागृहोंके सहित, सुन्दर आकारवाला सुवर्णद्रवरूप सुमेरु पर्वत उस समय धीरेसे ऐसे गल गया, जैसे आतपमें हिम ॥ ४९ ॥

सम्पूर्ण शीतल अन्तःकरणसे युक्त एवं शुद्ध हिमालय पर्वत तो उस प्रलयकी आगसे एक ही क्षणमें लाहके सदृश ऐसे पिघल गया, जैसे दुर्जनसे सज्जन ॥ ५० ॥

तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः ।
आसीत्त्यजत्युदारात्मा न नाशेप्युत्तमं गुणम् ॥ ५१ ॥
नश्यन्नपि महान् ह्लादं न खेदं सम्प्रयच्छति ।
चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम् ॥ ५२ ॥
न कदाचन संयाति वस्तूत्तममवस्तुताम् ।
प्रलयानलनिर्दग्धमपि हेम न नष्टवत् ॥ ५३ ॥
द्वे हेमनभसी तस्मिन्न नष्टे प्रलयानले ।
तयोरेव वपुः श्लाघ्यं सर्वनाशेऽप्यनाशयोः ॥ ५४ ॥
नभो विभुतयाऽनाशि हेमाऽऽकृष्टतयाऽक्षयम् ।
सत्त्वमेकं सुखं मन्ये न रजो न च वा तमः ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस महाभयंकर प्रलयकालीन दशामें भी मलयाचल तो अपने निर्मल सौरभसे युक्त ही स्थित रहा। [इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है,] उदारात्मा महापुरुष तो नाशके समय भी अपने उत्तम गुणको नहीं छोड़ते ॥ ५१ ॥

महान् पुरुष तो नष्ट होते हुए भी आनन्द प्रदान करते हैं, किसीको दुःख नहीं देते, [हे श्रीरामचन्द्रजी, देखिये न,] स्वयं दग्ध होनेपर भी वह चन्दन जीवन धारण कर रहे प्राणियोंके आनन्दके लिए ही ज्यों-का-त्यों स्थित रहा ॥ ५२ ॥

उत्तम वस्तु कभी भी अवस्तुताको यानी निकृष्टताको नहीं प्राप्त होती, [देखिये न] प्रलयकालीन अग्निसे जल रहा भी सोना सर्वथा नाशको नहीं प्राप्त हुआ ॥ ५३ ॥

जो वस्तु कभी नष्ट नहीं होती वही इस जगत्में सार है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिए, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'द्वे हेमनभसी' इत्यादिसे ।

उस प्रलयकालीन अग्निमें सुवर्ण और आकाश ये दो ही नष्ट न हुए। उन्हीं दोनोंका शरीर प्रशंसनीय है, क्योंकि सबका नाश हो जानेपर भी उनका नाश नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

आकाश तो विभु यानी व्यापक होनेसे अविनाशी है और सुवर्ण दोषरहित होनेसे यानी दोषोंसे निचोड़कर शोधितरूप होनेसे अक्षय है। इसलिए हे

चलदुच्चवनानीव विकीर्णाङ्गारवर्षणः ।
दग्धाब्दाद्रिर्महाधूमज्वालोऽभूद्वह्निवारिदः ॥ ५६ ॥
रसविस्मरणार्तानां शून्यानां स्फारदेहिनाम् ।
शुष्काणां व्योमविटपिपत्राणां पात्ररूपिणाम् ॥ ५७ ॥
वारिदानां सवारीणां दग्धानां प्रलयार्चिषा ।
ज्ञस्येवाङ्ग न दोषाणां दृष्टं भस्मापि न क्वचित् ॥ ५८ ॥
न लङ्घयति कैलासं यावदुल्लसितोऽनलः ।
तावत्तं कल्पकुपितो रुद्रो नेत्राग्निनाऽदहत् ॥ ५९ ॥
दाहस्फुटद्द्रुमस्थूलशिलाचटचटारवाः ।
लकुटोपललोष्टौघैरयुध्यन्तेव भूभृतः ॥ ६० ॥

श्रीरामजी, रज और तमसे निचोड़कर निकाले गये यानी जिसमें रज और तम बिलकुल नहीं है ऐसे शुद्ध एक सत्त्वको ही ब्रह्मसुखकी अभिव्यक्ति होनेसे मैं सब सुखोंका सार समझता हूँ। मैं रज अथवा तमको सुखोंका सार नहीं समझता ॥ ५५ ॥

मेघरूपी पर्वतोंको जलानेवाला महाधूमकी ज्वालासहित प्रलयाग्निरूपी वारिद इधर-उधर चल रहे उच्च जंगलोंकी नाईं आकाशमें स्फुरित होता हुआ बिखरे हुए अङ्गारोंकी वृष्टि करनेवाला हो गया ॥ ५६ ॥

सभी तरहके जलोंके बिलकुल सूख जानेके कारण यानी संस्कारमात्र भी अवशेष न रह जानेके कारण स्मृतिके अभावसे अत्यन्त ही दुःखी, अतः शून्य-स्वरूप विशाल शरीरधारी अण्डज आदि चार तरहके जीवोंका तथा सर्वथा शुष्क हो जानेसे आकाशके वृक्षके पत्तोंके पात्रस्वरूप, प्रलयाग्निकी ज्वालासे दग्ध हुए जलसहित मेघोंका हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए तत्त्वज्ञानीके दोषोंकी नाईं, कहीं भस्म भी न दीख पड़ा ॥ ५७, ५८ ॥

जबतक उल्लसित हुई वह प्रलयाग्नि कैलास पर्वतको न लाँघ सकी, इतनेमें ही कल्पान्तके लिए कुपित हुए रुद्र भगवान्‌ने अपनी नेत्राग्निसे उस कैलासको जला दिया ॥ ५९ ॥

उस दाहका भी वर्णन करते हैं—'दाह०' इत्यादिसे।

दाहसे तड़कते हुए वृक्षोंके तथा महाशिलाओंके चटचट शब्दोंवाले उत

ज्वालाघनघटाटोपसावतंसचलान्तिमाः ।
बभूवुर्व्योमविकसत्स्थूलपद्मवना इव ॥ ६१ ॥
सर्गः कदाचिदेवासीदित्यगात्स्मरणीयताम् ।
कल्पान्तः स्मारयन्मूर्खानगादस्मरणीयताम् ॥ ६२ ॥
तापोपतापपरमाः परमारणतत्पराः ।
वह्वयोऽपह्नवं चक्रुर्जगतामसतामिव ॥ ६३ ॥
ववुरशनिनिपातपीडिताङ्गाः
कचदनलोल्मुकगुल्ममण्डलाभाः ।
प्रलयसमयवायवोऽनलान्ता-
द्दलदमरावलयो लये लिहन्तः ॥ ६४ ॥

कैलास पर्वतके नीचेके सभी पर्वत लकुटों तथा पत्थरके ढेलोंके समूहोंसे मानो युद्ध करने लगे—युद्ध करते हुएके समान प्रतीत होने लगे ॥ ६० ॥

और सुनिये—ये सभी पर्वत ज्वालाओंके घनघटाटोपोंसे अवतंससहित चंचल अग्र शिखरोंवाले होते हुए आकाशमें विकसित हो रहे महाकमलोंके अनेकों जंगल-जैसे हो गये ॥ ६१ ॥

'कभी तो सृष्टि अवश्य रही ही होगी' इस प्रकार सृष्टि स्मरणीय दशाको प्राप्त हो गई। मूर्खोंको जगत्‌की असारताका स्मरण दिलाते हुए कल्पान्त प्रत्यक्ष आ गया ॥ ६२ ॥

ताप और उपतापमें परम यानी सबसे बढ़े-चढ़े तथा दूसरोंको मारनेमें तत्पर प्रलयकालके पवनोंने सम्पूर्ण भुवनोंका, शशशृङ्ग आदि असद्रूप पदार्थोंकी तरह, सर्वथा अत्यन्ताभाव कर दिया ॥ ६३ ॥

उस प्रलयके प्रवृत्त होनेपर वज्रपातोंसे प्राणियोंके अङ्गोंको पीड़ित करनेवाले तथा प्रकाशमान अग्निके उल्मुकोंसे संयुक्त होनेके कारण गुल्म * मण्डलोंके सदृश शोभायमान प्रलयसमयके पवन—देवताओंकी पंक्तियोंको विदलित

* गुल्म—ऐसा पौधा जो एक जड़से कई होकर निकले और जिसमें कड़ी लकड़ी या डंठल न हो। जैसे—ईख, शर आदि। अर्कप्रकाशमें गुल्मगणके अन्तर्गत बरियारा, पाठा, तुलसी, काकजंघा, चिरचिरा आदि पौधे लिये गये हैं।

व्यालोलस्फुटदानलद्रुमवनप्रोद्भूतभस्मोष्मणा
दत्ताभ्राभ्रमदुल्मुकाहतिवहत्साङ्गारगौरार्चिषः ।
भ्रश्यत्पावकशृङ्गमध्यविलसज्ज्वालावलीश्यामला
निःशेषाग्निनिकाशसुस्तवजवा वेगेन वाता ववुः ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने महाकल्पान्ताग्निवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

करते हुए अग्निके बीचसे निकलकर सारी दिशाओंको चाटते हुए-से—बहने लगे ॥ ६४ ॥

चंचल ज्वालापल्लवोंसे तड़कते हुए अग्निमय वृक्षोंके वनोंमें उत्पन्न भस्म-सहित उष्णतासे आकाशको व्याप्त करनेवाले, † भ्रमण करते हुए उल्मुकोंके अभिघातसे निकल रही अङ्गारसहित पीली ज्वालाओंसे युक्त, कज्जलरूपसे गिर रही तथा पावककी शृङ्गप्राय शिखाके मध्यमें विलास करती हुई कज्जलयुक्त ज्वालाओंकी पङ्क्तियोंसे श्यामवर्ण एवं सम्पूर्ण जगत्में अग्नियोंको प्रकाशित करनेसे स्तुतियोग्य वेगवाले पवन बड़े वेगसे बहने लगे ॥ ६५ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

---

† अथवा—मेघोंको उत्पन्न करनेवाले ।

षट्सप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ कल्पान्तमरुति वहत्यवधुताचले ।
बलेनाम्भोधिकल्लोलैर्नभस्यावर्तकारिणि ॥ १ ॥
समुद्रेषु निमुद्रेषु मर्यादोल्लङ्घने घने ।
अघनेषु घनिष्वम्बुदारिद्र्योपद्रवद्रुते ॥ २ ॥
भूतले भूतलेशांशवर्जिते वह्निभर्जिते ।
पातालमपि पाताले गते किमपि कालतः ॥ ३ ॥
दिवि वा विद्यमानायां विशीर्णे सर्गवर्गके ।
लोके व्योमगतालोके शोकौकसि ककुब्गणे ॥ ४ ॥
कुतोऽप्याकाशकुहराद्रुष्टदैत्यगणा इव ।
पुष्करावर्तका मेघाश्चक्रुर्गुलुगुलारवम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मविस्फोटितब्रह्माण्डकुड्यविस्फोटनोद्भटम् ।
अन्योन्यास्फालनोत्फालमत्तार्णवरवाविलम् ॥ ६ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग

[पश्चिम दिशामें, ऊपरके भागमें पुष्करावर्तक (प्रलयमेघ) का उदय तथा आग्नेय दिशामें अग्निका उपसंहार—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर जब पर्वतोंको कम्पित कर देनेवाला तथा समुद्रतरङ्गोंके द्वारा बलपूर्वक आकाशमण्डलमें आवर्त पैदा कर देनेवाला कल्पान्त पवन वह रहा था, समुद्र अपने चिह्नोंसे रहित हो गये थे, मेघ अपनी मर्यादा एकदम नष्ट कर चुके थे, तथा जलकी दरिद्रतारूप दुःखसे जब भाग चुके थे, घनी अघनी हो गये थे, भूतल अपने अंशसे रहित हो चुका था और अग्निसे भून गया था, कालप्रभावसे पाताल भी किसी [अनिर्वचनीय] पातालको यानी विनाशको प्राप्त हो चुका था, समस्त सृष्टिवर्ग जीर्ण-शीर्ण हो गया था, विद्यमान अन्तरिक्ष लोक भी आकाशगत प्रकाशमें मिल चुका था तथा जब सारी दिशाएँ शोकसे व्याप्त हो चुकी थीं; तब किसी एक आकाशके गर्तसे क्रुद्ध दैत्यगणोंके सदृश निकलकर पुष्करावर्तक नामधारी मेघ गुलगुल ध्वनि (गर्जन) करने लग गये ॥१–५॥

यद्यपि उनकी वह ध्वनि दूरसे वैसी सुन पड़ती थी, लेकिन वस्तुतः वह

लोकार्णवपुरोद्गीर्णघनकोलाहलोल्बणम् ।
एतत्कुलाचलस्कन्धबद्धोग्ररवघर्घरम् ॥ ७ ॥
ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणावर्तमन्थरम् ।
स्वर्लोकरोदःपातालतलतोऽतिसगुल्मकम् ॥ ८ ॥
समस्तदूरदिग्भित्तिहेलाहेलनघर्घुलम् ।
महाप्रलयसम्पन्नापानकापानतर्षुलम् ॥ ९ ॥
प्रसृतप्रलयाख्येन्द्रमत्तैरावतबृंहितम् ।
आकल्पक्षुब्धमेघाब्धिनिर्ह्रादमिव संभृतम् ॥ १० ॥

अत्यन्त भयङ्कर थी, ब्रह्माजीने अपने अण्डेका जब भेदन किया था, तब ब्रह्माण्डकी भित्तिके विस्फोटसे जैसी उन्नत दहलानेवाली ऊँची ध्वनि निकली थी, ठीक वैसी ही उनकी ध्वनि थी, परस्पर आस्फालनों द्वारा उछलते हुए मत्त समुद्रोंकी ध्वनिके सदृश वह बीभत्स थी ॥ ६ ॥

लोक, समुद्र एवं नगरोंमें प्रतिध्वनिके रूपसे उत्पन्न घन कोलाहलोंके कारण वह सही नहीं जा सकती थी तथा पूर्वमें वर्णित कुलाचल पर्वतोंके कन्धोंपर सम्बद्ध दाहके उग्रशब्दोंके साथ मिल जानेके कारण वह घर्घर ध्वनि बड़ी ही भयानक लगती थी ॥ ७ ॥

भद्र, उस शब्दने समस्त ब्रह्माण्डरूपी शङ्खके उदरको भर दिया था, भरनेपर ब्रह्माण्डभित्तियोंके प्रतिरोधके कारण हुए अनेक आवर्तनोंसे वह बड़ा ही निविड़ बन गया था, इसीलिए मानो स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं पातालतलतक उसकी अनेक शाखाएँ फैल गईं ॥ ८ ॥

दूर-दूरकी सम्पूर्ण दिशारूपी असीम भित्तियोंको वह ध्वनिरूप शब्द लीलासे लेखन द्वारा मानो खोद रहा था, महाप्रलयमें मिश्रित होकर सात समुद्रोंका काढ़ा बन गया था, काढ़ा हो जानेके कारण समुद्र एक तरहसे पानक (पना) या मद्य बन गये थे, इन समुद्रोंके मद्यको वह मानो पी जानेकी ज्यादा इच्छा कर रहा था ॥ ९ ॥

वह ध्वनि क्या थी, विजय पानेके लिए प्रस्थान किये हुए महाप्रलयनामक इन्द्रके मत्त ऐरावत हाथीकी गर्जना-सी थी। और सुनिये—वह शब्द क्या था, कल्पकालतक रोके जानेसे क्षुब्ध हुए मेघरूपी समुद्रोंका दीर्घकालसे संचित एक ही समयमें निकला हुआ निर्घोष-सा था ॥ १० ॥

महाप्रलयसंक्षुब्धक्षीरोदमथनारवम् ।
ब्रह्माण्डोग्रारघट्टेऽस्मिन्वार्यन्त्रमिव सारवम् ॥ ११ ॥
अथास्मिन्सति कल्पाग्नौ स्थितिमेति कथं घनः ।
इति विस्मितवानस्मि दृशं दिग्नवकेऽत्यजम् ॥ १२ ॥
यावन्न क्वचिदेवात्र पश्याम्याशासु केवलम् ।
तरन्ति तरलास्फालक्षुल्मुकाशनिवृष्टयः ॥ १३ ॥
तेन ज्वलनतापेन बहुयोजनकोटिषु ।
पदार्था भस्मतां यान्ति दूरे दिक्षु दशस्वपि ॥ १४ ॥
अनन्तरं क्षणाद्व्योम्नि दूरेऽहमनुभूतवान् ।
ऊर्ध्वतः शीतलं वातमधस्तादनलोपमम् ॥ १५ ॥
एतावति नभोमार्गे दूरे कल्पाम्बुदाः स्थिताः ।
यस्तेषामग्नितापानां विषयो न च सद्दृशाम् ॥ १६ ॥

महाप्रलयके कारण विक्षुब्ध हुए क्षीरसागरके मथनका वह भयानक शब्द था, ब्रह्माण्डरूप जो महान् उग्र अरघट्टयन्त्र है, उसमें लगे हुए जलधारायन्त्रका एक तरहसे वह शब्द था ॥ ११ ॥

श्रीरामजी, वर्णित मेघध्वनि मैंने सुनी, सुननेके बाद मैं आश्चर्यके मारे चकित हो गया और आश्चर्यचकित होकर मैंने यह सोचा कि इस महान् कल्पाग्निमें भी मेघकी स्थिति कैसे हो सकती है। यों सोचके नीचेकी दिशाको छोड़कर बाकी नव दिशाओंकी ओर ताका ॥ १२ ॥

मैंने उन दिशाओंमें मेघ नहीं देखे, किन्तु केवल यही देखा कि उनमें तरल एवं आस्फालित उल्मुकरूपी वज्रोंकी वृष्टियाँ हो रही हैं ॥ १३ ॥

उस अग्निके तापसे दसों दिशाओंमें भी अनेक करोड़ों योजन दूरतकके सारे पदार्थ भस्म हो रहे हैं ॥ १४ ॥

तदनन्तर मैंने क्षणभरमें अतिदूर आकाशमें ऊपरसे शीतल वायुका और नीचे अग्निके सदृश गरम वायुका त्वचासे अनुभव किया ॥ १५ ॥

आकाशमार्गमें वे मेघ इतने दूर प्रदेशमें स्थित थे कि उस प्रदेशमें न तो नीचेके अग्निताप ही जा सकते थे और न उसे जीवित प्राणी ही अपनी आँखोंसे देख सकते थे ॥ १६ ॥

अथ वारुणदिग्भागादाययौ कल्पमारुतः ।
यस्मिंस्तृणवदुह्यन्ते विन्ध्यमेरुहिमालयाः ॥ १७ ॥
तेन ज्वालाचलाः प्रान्तोड्डीनाङ्गारविहङ्गमाः ।
लोलोल्मुकवनाक्रान्ता जग्मुरग्निदिशं द्रुतम् ॥ १८ ॥
सन्ध्याभ्रसदृशाकारास्तेरुरङ्गारवारिदाः ।
अभ्रुर्भस्मभराभ्राणि पूताङ्गाररजांसि खे ॥ १९ ॥
सज्वालविलसद्वातो दुष्टोऽनलदृशं व्रजन् ।
हेमाद्रीणां सपक्षाणामनीकं द्रवतामिव ॥ २० ॥
धराद्रिमण्डलाभोगे सौम्याङ्गारभरात्मनि ।
ज्वालावलिगणे जाते भाते तेजसि भास्वताम् ॥ २१ ॥
अर्णवेष्वनलार्णस्सु क्वथनोत्फालवारिषु ।
वनेष्वस्मृतपर्णेषु दीप्ताग्नितरुधारिषु ॥ २२ ॥

तदनन्तर पश्चिमदिशासे कल्पकी वायु बहने लगी, उस वायुमें विन्ध्य, मेरु, हिमालय आदि बड़े-बड़े पर्वत भी तृणके सदृश उड़े जा रहे थे ॥ १७ ॥

उस वायुके द्वारा अगल-बगल उड़ रहे अङ्गाररूपी पक्षियोंसे युक्त ज्वालारूपी पर्वत आग्नेय दिशाकी ओर तत्काल जाने लगे, चञ्चल लुआठे ही उनमें जङ्गल प्रतीत हो रहे थे ॥ १८ ॥

आकाशमण्डलमें संन्ध्याकालके अभ्रोंके सदृश आकारवाले अङ्गाररूपी मेघ बरस रहे थे तथा उसमें भस्मसमूहरूपी जलधारी मेघ एवं वायुसे शोधित अङ्गारोंकी धूलि उड़ रही थी ॥ १९ ॥

भद्र, वह ज्वाला युक्त एवं के अनेक तरहके विलासोंसे पूर्ण कुपित पवन अग्निदिशाकी ओर ऐसे जा रहा था, जैसे पंखवाले उड़ रहे हेमाद्रि आदि पर्वतोंका समूह ॥ २० ॥

श्रीरामजी, जब अतिविस्तृत भूमण्डल और पर्वतमण्डल ज्वालारहित अङ्गारोंका ढेर बन गया, तथा ज्वालाकी पंक्तियोंका समूह धूलिशून्य होनेके कारण चमकते हुए बारह सूर्योंका स्पष्ट तेजरूप बन गया [तब कल्पन्तका मेघ भी आ धमका] ॥ २१ ॥

जब समुद्र अग्निरूपी जलसे लबालब तथा काढ़ेके सदृश उछलते हुए जलसे

ब्रह्मलोकस्थनाथेषु ब्रह्मलोकपुरेषु च ।
साङ्गनाबालवृद्धेषु दग्धेषु निपतत्सु खम् ॥ २३ ॥
कल्पान्तानलपद्मिन्या ब्रह्माग्रावसरोवरे ।
ज्वालापल्लवशालिन्याः सबीजायाः सटोल्मुकैः ॥ २४ ॥
अनिलात्मसु मूलेषु नागेषु च नगेषु च ।
आपातालं निमग्नेषु महत्यङ्गारकर्दमे ॥ २५ ॥
उष्ट्रसैन्यमिवाऽऽलक्ष्य गतिमन्निकटं नभः ।
आययावञ्जनश्यामः कल्पाम्बुदगणः क्वणन् ॥ २६ ॥
स्थिरकल्पानलज्वालातुल्यविद्युन्मयाचलः ।
एककोणकविश्रान्तसप्तार्णवपयोभरः ॥ २७ ॥
भित्तिभासुरनीहारभारनिर्वारदिक्तटः ।
ब्रह्माण्डकुड्यनिबिडमण्डलास्फोटपण्डितः ॥ २८ ॥

पूर्ण हो गये और सारे जङ्गल पत्तोंके स्मरणसे शून्य (पत्रशून्य) एवं प्रदीप्त अग्निरूपी वृक्षोंके आधार बन गये [तब कल्पान्तके मेघ आने लगे] ॥ २२ ॥

जब भार्या, बालक एवं वृद्धोंके साथ ब्रह्मलोकस्थ अधिपति तथा ब्रह्मलोकके नगर जलकर आकाशमें गिरने लगे [तब कल्पान्तके मेघ आने लगे] ॥ २३ ॥

भद्र, कल्पान्तकी अग्नि एक तरहसे कमलिनी ही प्रतीत हो रही थी, उसकी ज्वालाएँ ही पल्लवोंकी शोभा धारण कर रही थीं, पत्थरोंसे शून्य ब्रह्माण्ड-रूपी सरोवर ही उसका उत्पत्तिस्थान था, इस तरहकी बीजयुक्त कमलिनीके केसर-सदृश विस्फुलिङ्गोंसे घटित उल्मुकोंके द्वारा जब वायुरूप यानी वायुप्रधान सांप एवं पर्वतरूप मूल पातालपर्यन्त अङ्गाररूपी कीचड़में फँस गये, तब मशकमें जल ढोनेवाली ऊँटोंकी सेनाके सदृश विस्पष्ट (शीघ्र) संचरणशील आकाशको देखकर कल्पान्तके मेघ, जो काजलके सदृश काले-काले थे, गरजते निकट आ धमके ॥२४–२६॥

भद्र, वह जो मेघमण्डल आया, वह सुस्थिर कल्पान्तकी अग्निकी ज्वालाओंके सदृश अतिभयानक विद्युन्मय पर्वतोंसे सुशोभित लग रहा था । उसने अपने एक कोनेमें ही सात समुद्रोंका असीम जल-भण्डार भर लिया था ॥ २७ ॥

समस्त दिशाओंके तट भासुर नीहारसमूहोंसे छिद्ररहित भित्तियोंके सदृश मालूम पड़ रहे थे, वह समस्त ब्रह्माण्डकी भित्तियोंके घनमण्डलोंको तोड़-फोड़ देनेमें अतिदक्ष मालूम हो रहा था ॥ २८ ॥

कल्पान्तक्षुभिताम्भोधिर्वर्तुलावर्तवृत्तिमान् ।
तडिज्जलचरः सारनिर्ह्रादः खमिवागतः ॥ २९ ॥
मृतो दग्धो निशानाथस्ततो द्विगुणशीतलः ।
अन्यमाकारमाश्रित्य परं लोकमिवागतः ॥ ३० ॥
हेमसम्भाररूपेण हिमालयमिवाखिलम् ।
जाड्यस्तम्भितनिःशेषजलकाष्ठाचलं दधत् ॥ ३१ ॥
अथ ब्रह्माण्डविस्फोटकठिनं घटिताम्बरम् ।
प्राग्द्रुतोद्भटतौषारकाष्ठा वृष्टिः पपात ह ॥ ३२ ॥
अग्निदाहवनाकाशविद्युदुन्मेषभीषणा ।
चटद्गडगडास्फोटस्फुटद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥ ३३ ॥
प्रथितोत्थितसीत्कारशतक्ष्वेडाक्षयारवा ।
शीतसीकरनीहारभित्तिबन्धमयाम्बरा ॥ ३४ ॥

उस मेघको देखकर यही कहना पड़ता था कि कल्पान्तसे क्षुब्ध होकर समुद्र ही आकाशमें आ धमका है। क्योंकि उसमें वर्तुलाकार द्वादश आदित्योंकी परिधि ही उसका वेष्टन-सा था, बिजली ही उसमें जलचर-सी मालूम पड़ती थी और उसमें भी गम्भीर ध्वनि हो रही थी ॥ २९ ॥

उसे देखकर यह भी मालूम पड़ रहा था कि मृत या दग्ध चन्द्रमा ही परलोकमें जाकर पुनः पहलेकी अपेक्षा द्विगुण शीतल होकर दूसरा रूप लेकर इस आकाशमण्डलमें आया है ॥ ३० ॥

सुवर्णके समूहके सदृश विद्युत्-समूहोंका रूप धर लेनेके कारण वह उस हिमालयका मानो स्वरूप धारण कर रहा था, जिस हिमालयने अपनी जड़ताके कारण काष्ठके सदृश समस्त जलको अचलरूपसे स्तम्भित कर दिया है ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, तदनन्तर वर्षा होने लगी, इसने समस्त आकाशमण्डलको ब्रह्माण्डके विस्फोटके सदृश अतिकठोर वज्रतुल्य निर्घातसे छा दिया। इसने तो अखिल दिङ्मण्डलको पहलेसे ही पिघले हुए उद्भट तुषारसे व्याप्त कर दिया था ॥ ३२ ॥

भद्र, यह वृष्टि अग्निदाहके सदृश वन तथा आकाशमण्डलमें विद्युत्के प्रकाशसे अतिभीषण लग रही थी, तथा अपनी चटचटाहट एवं गड़गड़ाहटसे सारे ब्रह्माण्डको तोड़ रही थी ॥ ३३ ॥

उत्पन्न हुए अनेक महान् सीत्कारके सैकड़ों शब्दोंसे उसने सिंहनादके शब्दोंको

रोदोमण्डपवैदूर्यस्तम्भसम्भारभासुरैः ।
धारासारैर्धराधुर्यशैलशातकशालिनी ॥ ३५ ॥
धराचटचटास्फोटस्फुटदङ्गारपत्तना ।
गर्जितोर्जितसंपातपतल्लोकान्तराकुला ॥ ३६ ॥
सा बभूवाथ साङ्गारजगद्गेहविलासिनी ।
कृतप्रत्युद्गमा बाष्पश्रियोऽज्वलनया भुवः ॥ ३७ ॥
ज्वालालवोल्लसनडम्बरमम्बरं त-
द्व्यूढस्थलाब्जदलजालमिवालमासीत् ।
ज्वालाभ्रमद्भ्रमरपङ्क्तिनिभास्तदासं-
स्तत्र स्फुरच्छिशिरसीकरपक्षपुञ्जाः ॥ ३८ ॥
उद्यद्बृहच्चटचटारवपूरिताशो
भीमोऽभवत्सलिलदानलसन्निपातः ।

भी मात कर दिया था और शीतल जलकण एवं नीहारसे उसने आकाशको भी भित्तिबन्धनमय बना दिया था ॥ ३४ ॥

भद्र, पृथ्वी एवं आकाशरूप मण्डपके लिए निर्मित वैदूर्यमणिके (लहसुनियाके) स्तम्भोंके समूहके सदृश भासुर धारासम्पातोंसे वह पृथ्वीका भार ढोनेवाले पर्वतोंको भी तोड़ देनेवाला टंक-प्रहार कर रही थी ॥ ३५ ॥

पृथ्वीको चट-चट शब्दके साथ विदारित करनेके कारण उसने अङ्गारोंके समूह भी फोड़ दिये थे । गर्जनाके साथ प्रबल जलके पातोंसे लोकान्तरोंको गिरानेमें भी वह व्याकुल हो रही थी ॥ ३६ ॥

भद्र, तदनन्तर अङ्गारोंसे युक्त जगत्-रूपी घरमें विलास करती हुई वह वृष्टि बाष्पशोभाकी सखीके सदृश ज्वलनरहित पृथ्वीपर आकर मिल गई ॥ ३७ ॥

भद्र, वह गगनमण्डल, जो कि ज्वालाओंके खण्डोंके विलासोंसे भरा था, उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे कि उसमें स्थल-कमलोंके अनेक समूह उगे हुए हों तथा उस आकाशमण्डलमें स्फुरित हो रहे, शीतल जलकणरूप पंखोंके समूहोंसे युक्त मेघ ऐसे मालूम पड़ने लगे थे, जैसे कि ज्वालाओंमें घुम रही भ्रमरपंक्तियाँ हों ॥ ३८ ॥

श्रीरामजी, उस समय बड़े भयङ्कर चटचट शब्दोंसे दिशाओंको भर

दुर्वारवैरिविषमो महतां बलानां
सङ्ग्राम उग्र इव हेतिहतोग्रहेतिः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथावनिपयस्तेजःपवनानां युगक्षये ।
जाते परमसङ्क्षोभे बभूवास्मिन् जगत्त्रयम् ॥ १ ॥
तापिच्छविपिनोड्डीतिनिभभस्माभ्रभासुरम् ।
महार्णवमहावर्तवृत्तिधूमविवर्त्तनम् ॥ २ ॥

देनेवाला जो मेघों और अग्नियोंका समागम हुआ, वह एक दूसरेसे पराजित न हो सकनेवाले वैरियोंके विषम—अतएव महान् उग्र, कुशल सेनाओंके परस्पर तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंसे विनाशित उग्र शस्त्रयुक्त यानी परस्पर घात-प्रतिघातयुक्त—संग्रामके सदृश अति भयङ्कर लगता था ॥ ३९ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

[पुष्करावर्तक मेघकी वृष्टिधारासे जर्जर एवं सात समुद्रोंके विक्षोभसे खोये गये जगत्‌का पुनः वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, युगक्षयमें जब पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु—इन चार महाभूतोंका परम विक्षोभ हो गया, तब तीनों जगत्‌की जो स्थिति हुई, उसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥ १ ॥

श्रीरामजी, उस समय तीनों जगत् उड़ रहे तमालवनके सदृश उड़ रहे भस्मरूप अभ्र-से भासुर हो गये तथा महासमुद्रोंके भ्रमणशील महावर्तोंके सदृश भ्रमणशील धूमोंसे व्याप्त हो गये ॥ २ ॥

नीलज्वालालवोल्लासं हेलाटिमिटिमारटि ।
कृतभस्माभ्रसम्भारपूर्णलोकान्तरान्तरम् ॥ ३ ॥
उच्छलद्दीर्घरुत्कारैच्छमच्छममयात्मकैः ।
तूर्यमुन्नमदासारविसारिजयघोषणम् ॥ ४ ॥
भ्रमद्भस्माभ्रधूम्राभ्रं बृहत्कल्पाभ्रसंभ्रमम् ।
बाष्पाभ्रविभ्रमोद्भ्रान्तसीकरोग्राभ्रवृन्दवत् ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभित्तिभाङ्कारभीषणैर्मातरिश्वनः ।
प्रसरैरम्बरोड्डीनदग्धेन्द्रादिपुरोत्करम् ॥ ६ ॥
जलानलानिलोल्लासस्फुटत्कोटिगताश्मनाम् ।
प्रविघट्टनटङ्कारैर्जडीभूताक्षकश्रुति ॥ ७ ॥

गीले काष्ठ आदिके जलनेसे उनमें कुछ धूम्रयुक्त नील ज्वालाएँ उठ रहीं थीं, इन नील ज्वालाओंके विलासरूपी क्रीडाओंसे उनमें टिम-टिमशब्द हो रहे थे उन्होंने अपने भस्मरूपी अभ्रोंके महान् ढेरोंसे लोकान्तरोंके मध्यको भी भर दिया था ॥ ३ ॥

भद्र, उस त्रिलोकीमें चारों ओर घनघोर वृष्टिका व्यापक जयघोष हो रहा था, वृष्टिके कारण आर्द्र लकड़ियोंसे छम-छम दीर्घ ध्वनि निकल रही थी, इससे यह प्रतीत हो रहा था कि मानो तुरही ही जयघोष कर रही हो ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त त्रिलोकीमें पांच तरहके मेघ छा गये अर्थात् वह सारी त्रिलोकी भ्रमणशील भस्मरूपी मेघोंसे युक्त तथा धूमरूपी मेघोंसे व्याप्त हो गई। उसमें महाकल्पके मेघोंका सौन्दर्य छा गया । बाष्परूपी मेघोंके विभ्रमसे वह समन्वित हो गई । उद्भ्रान्त सीकरोंरूपी मेघोंने उसमें अपना एक अच्छा स्थान बना लिया ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्डभित्तिकी अन्तिम सीमातक हो रहे भाङ्कार शब्दोंसे अति भीषण वायुके गमनोंसे आकाशमण्डलमें उड़ाये गये दग्ध इन्द्रादिनगरोंके समूहसे वह व्याप्त हो गया था ॥ ६ ॥

उस समय वहां यह हालत रही कि जल, अग्नि एवं वायुका जो विविध ताण्डव हो रहा था उससे बड़े-बड़े पत्थर ऊपरकी ओर उड़े जा रहे थे, इनका जो परस्पर आघात हो रहा था और जो उससे टङ्कारध्वनि निकल रही थी, उससे सबकी श्रोत्रेन्द्रियां (कान) जड़ हो गईं थीं ॥ ७ ॥

नभःस्तम्भनिभाबन्धधारानीरन्ध्रवर्षणैः ।
कर्षणैः कल्पवह्नीनां छमच्छमघनध्वनि ॥ ८ ॥
गङ्गा तरङ्गिका येषां तादृशैः सरितां गणैः ।
अभ्रैरिव नभोभीमैः पूर्यमाणाखिलार्णवम् ॥ ९ ॥
तापिच्छपत्रवृन्दस्थपुष्पगुच्छसमोपमैः ।
तपद्भिरर्कैरालीढपीठकल्पाभ्रमण्डलम् ॥ १० ॥
वहद्भिरिसरिद्व्यूहशिखरिद्वीपपत्तनम् ।
कल्पानिलघनक्षोभकृतपर्वतकुट्टनम् ॥ ११ ॥
ग्रहतारागणैरुग्रैर्व्यग्रैर्विग्रहदुर्ग्रहैः ।
पतद्भिर्द्विगुणालातलतामावर्तपातिभिः ॥ १२ ॥
आवहोत्थजलाद्रीन्द्रसंघट्टास्फोटघट्टितम् ।
महाप्रलयपर्यस्तपर्वतप्रान्तकुट्टिमम् ॥ १३ ॥

आकाशमें स्तम्भोंके सदृश जलकी अन्धाधुन्ध—अविच्छिन्न-धाराओंके वर्षण द्वारा जो कल्पान्त अग्नियोंका विदारण (विनाश) हो रहा था, उससे वहाँ छम-छम शब्दोंकी घन ध्वनि हो रही थी ॥ ८ ॥

भद्र, उस समय त्रिलोकीके सारे समुद्र नदियोंके समूहोंसे—जिनमें गङ्गाजी एक तरङ्ग-सी प्रतीत हो रही थीं तथा जो आकाशमण्डलके भयङ्कर मेघोंके सदृश थे—परिपूर्ण हो रहे थे ॥ ९ ॥

उस समय त्रिलोकीमें जो कल्पान्त मेघ बरस रहे थे, उन मेघोंके आधार पीठका तमालवृक्षके पत्तोंके नीचे लगनेवाले पुष्पगुच्छोंके सदृश तप रहे सूर्य मानो आस्वाद ले रहे थे ॥ १० ॥

उस समय पर्वतोंके ऊपरसे जो नदियोंके समूह बह रहे थे, उनसे बड़े-बड़े पर्वत, द्वीप एवं नगर भी बह जाने लगे और कल्पान्त पवनके भयङ्कर क्षोभसे बड़े-बड़े पर्वत चूर्णित होने लग गये ॥ ११ ॥

ग्रह और तारोंका समूह बड़ा ही उग्र एवं व्यग्र प्रतीत हो रहा था, ये एक दूसरेपर प्रहार करनेमें तुले हुए थे, अतएव ये वर्तुलाकारमें परिणत होकर अन्तमें गिर भी रहे थे, इसलिए आकाशमण्डलमें भी इन्होंने पृथ्वीकी अपेक्षा द्विगुण अलातलताको पैदा कर दिया था ॥ १२ ॥

भद्र, सारे त्रैलोक्यमें उस समय चारों ओर बहनेवाले प्रचण्ड पवनके कारण

घनसीकृतबाष्पाभ्रैः कल्पाभ्रैरपि मेदुरैः ।
अन्धीकृतार्कजालांशुतमोनिबिडमन्थरम् ॥ १४ ॥
विशीर्णवसुधापीठखण्डखण्डैर्गलत्तटैः ।
उह्यमानैर्लुठच्छैलपतनैः सङ्कटार्णवम् ॥ १५ ॥
ऊर्म्युद्यदुपलच्छिन्नघनैर्घस्मरमारुतैः ।
समुद्रघोषैर्निर्घातगम्भीरैर्भग्नदिक्तटम् ॥ १६ ॥
ब्रह्माण्डकुड्यक्रोडाग्रकुट्टकैः कटुटांकृतैः ।
कल्पाभ्रविटपास्फोटैर्धट्टितैकार्णवारटि ॥ १७ ॥
स्वर्गपातालभूलोकखण्डखण्डैर्विमिश्रितैः ।
यथास्वभावं तिष्ठद्भिर्मरुधुन्वैर्वृताम्बरम् ॥ १८ ॥

उत्पन्न हुए जलके पर्वताकार बड़े-बड़े तरङ्गोंके आघातोंसे पर्वत टूट-फूट जा रहे थे और पर्वतप्रान्तोंको कूट-कूटकर पवन प्रलयमें ले जा रहा था ॥ १३ ॥

घने जलकणोंसे युक्त बाष्पके मेघोंसे तथा कल्पकालीन नीलवर्णके मेघोंसे सारी त्रिलोकीमें सूर्योंके किरणसमूह आवृत हो गये थे, इससे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार हो गया था ॥ १४ ॥

श्रीरामभद्र, पर्वतोंका आधारपीठ जो भूतल था वह तो एकदम जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो चुका था, इसलिए पर्वततट गल रहे थे, इधर उनको प्रलय-का पवन उड़ा रहा था—इस स्थितिसे लुढ़क रहे पर्वतोंके पतनोंसे त्रिलोकीमें सारे समुद्र महान् सङ्कटमें फँसे-से मालूम हो रहे थे ॥ १५ ॥

उठ रही तरङ्गोंसे ऊपर आकाशकी ओर फेंक दिये गये पत्थरों द्वारा मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले प्रलय-पवनोंने उनकी सारी दिशाओंके तटोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डभित्तिरूपी वक्षःस्थलमें चोट पहुँचानेवाले, कठोर टंकारसहित प्रलय-कालीन मेघके समान विटपरूपी हाथोंके आस्फोटों द्वारा परस्पर एकत्रित महासागरमें छाती पीट-पीटकर वह सारा त्रैलोक्य रोने लग गया ॥ १७ ॥

जलके अभावसे मरुस्थलके समान हो गये अधोभागवाले अन्तरिक्षमें स्थित हो रहे यानी उड़ रहे स्वर्ग, पाताल और भूलोकके सम्मिलित अनेक खण्डोंसे वह तीनों लोक आकाशको ढँकने लग गया ॥ १८ ॥

मृतार्धमृतदग्धार्धदग्धाङ्गैर्देवदानवैः ।
अन्योन्यदर्शनाद्धातवेल्लितैर्भ्रामितायुधम् ॥ १९ ॥
कल्पान्तपवनोद्भ्रान्तैर्लोकान्तरजरत्तृणैः ।
आरब्धार्जुनवाताख्यास्तम्भमुद्भूतभस्मभिः ॥ २० ॥
उह्यमानशिलाजालप्रहारविलुठत्तटैः ।
पतल्लोकान्तरैः स्फारदुष्कालकटुटांकृतम् ॥ २१ ॥
वातोद्व्यूहगिरिव्रातगुहाभाङ्कारभासुरम् ।
पतद्भिर्विहितावर्तलोकपालपुरीपुरैः ॥ २२ ॥

तीनों लोकमें प्रलयकालीन वायु द्वारा वेल्लित हुए मरे, अधमरे, जले तथा अधजले अङ्गोंवाले देव और दानव, सबके ऊपर एक-सी विपत्ति आनेपर भी परस्पर वैरदृष्टि रखनेके कारण* एक दूसरेको देखकर मारनेके लिए हथियार घुमाने लगे ॥ १९ ॥

'अर्जुन वात' यह एक वातरोग विशेषका नाम है। जिसे यह रोग होता है उस रोगीको यह रोग आकाशमें ले जाकर खूब नचाता है। परन्तु उस रोगमें अर्जुनकी वर्णता नहीं है, अतः उसका नाम आलम्बनशून्य न रहे, इस मतलबसे कल्पान्त पवनोंके द्वारा उड़ाये गये लोकान्तरके जीर्णतृणोंने स्वोद्भूत भस्मों द्वारा वातको सफेद बनाकर उस त्रिलोकीमें अर्जुनवातनामक रोगका एक स्तम्भ खड़ा कर दिया यानी उसे आलम्बनयुक्त कर दिया ॥ २० ॥

कल्पान्त पवनसे उड़ाये जा रहे शिला-समूहोंसे जो प्रहार हो रहा था उससे लोकान्तरोंके तटप्रान्त लुढ़क रहे थे और वे गिर भी रहे थे, इससे महादुष्काल-जनित कठोर शब्दोंसे वह सारा त्रैलोक्य व्याप्त हो गया था ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण जगत् कल्पान्तके प्रचण्ड पवनोंके संघट्टनोंसे उत्पन्न पर्वतोंकी गुफाओंके भाङ्कार शब्दोंसे भासुर तथा गिर रहे वर्तुलाकारमें परिणत लोकपाल-नगरों एवं अन्य नगरोंसे पूर्ण हो गया ॥ २२ ॥

* ज्ञानके बिना, हजारों विपत्तियोंके उपस्थित होनेपर भी अज्ञानियोंकी वैरदृष्टि कभी शान्त नहीं होती। वह वैरदृष्टि विपत्तियोंसे भी बढ़कर महाविपत्स्वरूप है, इसलिए प्रत्येक प्राणीको चाहिए कि वह ज्ञानप्राप्तिके लिए कुछ भी उठा न रखे, यह इसका गूढ़ अभिप्राय है।

कृतकर्कशनिर्ह्रादैरसुरैरिव मारुतैः ।
उह्यमानवनव्यूहप्रोतवातायनैर्वृतम् ॥ २३ ॥
पुरमण्डलदैत्याग्निसुरनागविवस्वताम् ।
निकुरम्बं दधद्व्योम्नि मशकानामिवोच्चयम् ॥ २४ ॥
नश्यन्नगवराभोगैर्भागैर्भग्नसुरालयैः ।
आवर्तघर्घराराबैर्जलमूर्ध्वमधोऽनलम् ॥ २५ ॥
कुर्वञ्जलाद्रिनिष्पेषैर्दिक्पालपुरकुट्टनम् ।
निपतद्देवदैत्येन्द्रसिद्धगन्धर्वपत्तनम् ॥ २६ ॥
कुट्टनं पर्वतादीनां प्रशान्ताङ्गाररूपिणाम् ।
वातैः कुर्वत्पदार्थानामसारं रजसामिव ॥ २७ ॥
पुराण्यमरदैत्यानां भ्रमद्भित्तीनि शातयत् ।
रतैः खणखणायन्ति पयांसीव पयस्वताम् ॥ २८ ॥

असुरोंके समान घोर कर्कश शब्द करनेवाले वायुओंके द्वारा उड़ाये जा रहे वनसमूहमें संसृष्ट शीघ्रगति घोड़े आदिसे सारा जगत् आवृत हो गया ॥ २३ ॥

उस समय त्रैलोक्य आकाशमण्डलमें—नगर, जिले, दैत्य, अग्नि, असुर, नाग एवं आदित्योंके समूहोंको—ऐसे धारण कर रहा था, जैसे मच्छरोंके समूहको ॥ २४ ॥

भद्र, उस समय तीनों जगत्का स्वरूप इस तरह दिखाई दे रहा था—बड़े-बड़े विशाल पर्वत नष्ट हो रहे थे, और देवमन्दिर भी टूट रहे थे—इससे जो उनके अनेक विभाग निकले वे उलटे-पुलटे हो गये यानी दोने या कठवतके समान ठीक विपरीत हो गये, इसलिए घरघर शब्दोंके साथ ऊपरकी ओर तो जल भर गया और नीचेकी ओर निर्बाध अग्नि जलने लगी ॥ २५ ॥

उस समय जलके पर्वताकार तरङ्गोंके आघातोंसे दिक्पालोंके नगर कूटे जा रहे थे और देव, दैत्य, इन्द्र, सिद्ध तथा गन्धर्वोंके नगर छिन्न-भिन्न होकर पतनोन्मुख हो रहे थे ॥ २६ ॥

प्रशान्त अङ्गारोंके सदृश भासमान पर्वत आदि बड़े-बड़े पदार्थोंका वायुओंके द्वारा ऐसे निःसारतापूर्वक कुट्टन हो रहा था, जैसे कि धूलिका ॥ २७ ॥

जिनकी भित्तियाँ घूम रही थीं, ऐसे देव और दैत्योंके नगरोंको, जो मेघोंके

पूर्णाम्बरं पतल्लोकलोकसप्तकमन्दिरैः ।
चक्रावृत्त्या भ्रमद्भूपरमरैः सागरैरिव ॥ २९ ॥
डीनोड्डीनैः परिवृतं विचलद्वातवेल्लितैः ।
दग्धादग्धैः पदार्थैः खे शीर्णपर्णगणैरिव ॥ ३० ॥
हेमस्फटिकवैदूर्यसुसारमणिमन्दिरैः ।
दिवः पतद्भिराकीर्णं झणज्झणझणस्वनैः ॥ ३१ ॥
उत्पेतुर्धूमभस्माब्दाः पेतुर्वारा पुरोत्कराः ।
उन्ममज्जुस्तरङ्गौघा ममज्जुर्भूतलाद्रयः ॥ ३२ ॥
आवर्तघर्घरारावा मिथो विदलनोद्यताः ।
जुघूर्णुरर्णवाकीर्णपर्णवत्प्रौढपर्वताः ॥ ३३ ॥
क्रन्दच्छिष्टामरगणं चलत्सज्जीवभूतकम् ।
भ्रमत्केतुशतोत्पातं दुष्प्रेक्ष्यमभवज्जगत् ॥ ३४ ॥

जलके सदृश रत्नोंसे खनखन ध्वनि कर रहे थे, उस समय सारा जगत् छिन्न-भिन्न करने लग गया ॥ २८ ॥

सारा आकाशमण्डल तो गिर रहे लोगोंसे युक्त सातों लोकोंके घरोंसे तथा सागरोंके सदृश चक्रोंके आकारमें घूम रहे देवताओंसे व्याप्त हो गया ॥ २९ ॥

आकाशमण्डलमें जीर्णशीर्ण पत्तोंके समूहोंके सदृश चञ्चल वायुओंके द्वारा वेल्लित अतएव गिर रहे, उड़ रहे दग्ध, अर्धदग्ध आदि पदार्थोंसे तीनों लोक व्याप्त थे—ऐसे पदार्थोंकी उस समय जगत्‌में भरमार दिखाई दे रही थी ॥ ३० ॥

भद्र, आकाशसे झनझन शब्दपूर्वक गिर रहे सुवर्ण, स्फटिक, वैदूर्यमणि एवं नीलम आदिके मन्दिरोंसे तीनों जगत् उस समय पूर्ण हो गये ॥ ३१ ॥

उस समय धूम और भस्मके मेघ उठने लगे, वृष्टिके जलसे पुरोंके समूह आ गिरने लगे, बड़ी-बड़ी तरङ्गें उठने लगीं और भूतल, पर्वत आदि डूबने लगे ॥३२॥

आवर्तके सदृश घरघर ध्वनि करनेवाले और परस्पर विदलन करनेमें उद्यत प्रौढ पर्वत, समुद्रमें बिखरे पत्तोंके सदृश, घूणित हो रहे थे ॥ ३३ ॥

भद्र, शिष्ट और देव गण उसमें क्रन्दन कर रहे थे, थोड़े-से जीवनसे युक्त दयाके पात्र प्राणी रेंग रहे थे, सैकड़ों धूमकेतुओंके उत्पात उठ रहे थे, इससे जगत् अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो रहा था ॥ ३४ ॥

मृतार्धमृतया भूतसन्तत्याऽनिललोलया ।
अभून्नीरन्ध्रमाकाशं जीर्णपर्णसवर्णया ॥ ३५ ॥
जगदासीत्पतच्छृङ्गस्थूलधारौघनिर्भरम् ।
वहद्वहद्गिरिपुरव्रातपूर्णसरिच्छतम् ॥ ३६ ॥
शाम्यच्छमशमाशब्दशतशाखहुताशनम् ।
चलाब्धिवलनान्दोललोलशैललसत्तटम् ॥ ३७ ॥
तृणराशिसरिन्न्यायमिश्रद्वीपार्णवोत्कटम् ।
अत्यन्तदूरचिद्व्योमक्षणज्वालासहावनम् ॥ ३८ ॥
वर्षशाम्यद्धुताशोत्थभस्मामोदपतत्सुरम् ।
भूतपूर्वजगद्भूतं परिविस्मृतसर्गकम् ॥ ३९ ॥

पवनोंके द्वारा उड़ाये गये मृत और अर्धमृत जीव-समूहोंसे, जो ठीक जीर्ण पत्तोंके समान थे, सारा आकाशमण्डल पूर्ण हो गया ॥ ३५ ॥

उस समय सम्पूर्ण त्रैलोक्य पर्वतशिखरोंके सदृश मोटी-मोटी गिर रही जल-धाराओंके निर्भरोंसे आक्रान्त होकर पर्वतों तथा नगरोंके समूहोंको भी बहा देनेवाली परिपूर्ण सैकड़ों नदियोंसे बहने लग गया ॥ ३६ ॥

उस समय जगत्‌में अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त अग्नि शमशम शब्द-पूर्वक शान्त हो रही थी और चञ्चल समुद्रोंके विविध विचलन-आन्दोलनोंसे लोल हुए पर्वतोंके कारण जगत्‌के तट सुशोभित हो रहे थे ॥ ३७ ॥

उस कालमें समस्त जगत् नदियोंमें मिली हुई तृणराशिके सदृश समुद्रमें मिले हुए बड़े-बड़े द्वीपोंके कारण बड़ा ही विकट लग रहा था। [तत्त्व-ज्ञानसे प्रदीप्त चिदाकाशरूप अग्निसे एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाले जगत्‌का प्रलयकालमें जो देरसे दाह हुआ, इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'अत्यन्त'से] तत्त्वज्ञानकी दुर्लभताके कारण अत्यन्त दूर चिदाकाशमें सारे जगत्‌की स्थिति क्षणभर भी ज्वाला सहनेमें समर्थ नहीं थी ॥ ३८ ॥

भद्र, उस समय त्रिलोकीमें वृष्टि शान्त हो जानेके कारण अग्निसे उत्पन्न भस्मकी गन्धसे देवगण गिरने लग गये और पहले उसमें जो चराचर भूतगण थे उनकी इस समय तो विस्मृति ही होने लगी ॥ ३९ ॥

निरर्गलोल्लसन्नादं सर्गलोपशमक्रमम् ।
सर्गलोपोल्लसच्छेषं सर्गलोपविवर्जितम् ॥ ४० ॥
अनारतविपर्यासकारिमारुतनिर्वृतम् ।
बीजराशिरिवाजस्रं पूर्यमाणं पुनःपुनः ॥ ४१ ॥
उल्मुकान्योन्यनिष्पेषवह्निचूर्णसुवर्णजैः ।
रजोभिर्विवृतैर्हेमकुट्टिमाकाशकोटरम् ॥ ४२ ॥
भूमण्डलबृहत्खण्डैर्भ्रष्टैः सद्वीपसागरैः ।
पूर्णसप्तमपातालं लुठत्पातालमण्डलैः ॥ ४३ ॥
आसप्तमसुतालान्तमामहीतलपर्वतम् ।
आव्योमैकार्णवीभूतं पूर्णं प्रलयवायुभिः ॥ ४४ ॥

भद्र, उस समय निरर्गल नादका उल्लास हो रहा था, त्रिलोकीमें सृष्टिका लोप हो जानेसे क्रमशः उसमें शान्ति मालूम पड़ने लगी, वास्तवमें सृष्टिके लोपसे परमात्माका ही विलास होने लगा। यदि तत्त्वदृष्टिसे देखें तो सारा जगत् उत्पत्ति एवं विनाशसे शून्य ही है ॥ ४० ॥

अथवा सदा ही सृष्टि और सृष्टिलोपसे युक्त है, इस आशयसे कहते हैं— 'अनारत०' इत्यादिसे।

भद्र, अथवा यह जगत् निरन्तर परिवर्तनकारी वायुसे निर्वृत है एवं निरन्तर बीजराशिके सदृश बार-बार पूरा हो जानेवाला है ॥ ४१ ॥

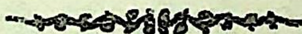
भद्र, अधिक क्या कहें, सारे जगत्‌में लुआठोंके एक दूसरेके साथ हुए आघातोंसे अग्निचूर्ण और सुवर्णजनित फैली हुई अपार धूलियोंसे आकाशका कोटर सुवर्णकुट्टिम-सा बन गया ॥ ४२ ॥

उस समय सातवें पातालतक जगत् अपने स्थानसे च्युत द्वीप एवं सागरोंसे युक्त भूमण्डलके बड़े-बड़े खण्डोंसे एवं लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डलोंसे पूर्ण हो गया ॥ ४३ ॥

नीचे सातवें पातालतक, मध्यमें भूमण्डल एवं पर्वततक और ऊपर आकाश-मण्डलतक प्रलयवायुओंके द्वारा सारा जगत् पूर्णरूपसे एक समुद्राकार हो गया ॥ ४४ ॥

एकार्णवोऽथ ववृधे शनैः शीघ्रं सरिच्छतैः ।
भुवने जलकल्लोलैः कोपो मूर्खाशये यथा ॥ ४५ ॥
मुसलोपमया पूर्वं ततः स्तम्भनिभाङ्गया ।
ततस्तालद्रुमाकारधारयाऽऽसारसारया ॥ ४६ ॥
ततो नदीप्रवाहोग्रजलपातैकपातया ।
सप्तद्वीपमहीपीठसममेदुरमेघया ॥ ४७ ॥
वह्निर्निर्दाहकृद्वृष्ट्या शममभ्याययौ तथा ।
शास्त्रसज्जनसङ्गत्या गाढमापत्पदं यथा ॥ ४८ ॥
ऊर्ध्वाधरस्थपरिवृत्तपदार्थजात-
मन्तःकणैः खणखणायितशैलमज्जम् ।
ब्रह्माण्डकोटरमभूद्विधुरं कुबाल-
लीलाविलोलमिव बिल्वफलं विशुद्धम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्त्तवृष्टिविसंष्ठुलजगद्वर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥



हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह अकेला महासमुद्र धीरे-धीरे शीघ्रगामी सैकड़ों नदियोंके द्वारा जलकल्लोलोंसे भुवनमें ऐसे बढ़ने लगा, जैसे मूर्खके चित्तमें कोप ॥४५॥

भद्र, तदनन्तर पहले तो मुसलके आकारमें, फिर खम्भेके आकारमें और फिर तालवृक्षके आकारमें उत्तरोत्तर अतिस्थूल घनघोर वृष्टिकी धाराएँ गिरने लगीं ॥ ४६ ॥

तदनन्तर नदीप्रवाहके उग्र जलपातके सदृश जलपात करनेवाली तथा सातों द्वीपोंसे युक्त भूपीठके सदृश महास्थूल धाराओंसे वृष्टि होने लगी ॥ ४७ ॥

उक्त महावृष्टिसे दाह करनेवाली अग्नि ऐसे शान्त हो गई, जैसे शास्त्र एवं सज्जनोंकी सङ्गतिसे करोड़ों दुःखोंसे निबिड़ आपदाओंका स्थान (अज्ञान) शान्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी, जिसमें ऊपर और नीचेके भ्रमणशील अनेक पदार्थ थे, भीतर जलकणोंके कारण शैलरूपी मज्जा खनखन ध्वनि कर रही थी, ऐसा समस्त

अष्टसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

वातवर्षहिमोत्पातपातभग्ने धरातले ।
जडवेगोऽगमद्वृद्धिं कलाविव महीपतिः ॥ १ ॥
गङ्गाप्रवाहपतितधारापातविवर्धितः ।
सरित्सहस्रैः सहसा मेरुमन्दरभासुरैः ॥ २ ॥
आदित्यपथसम्प्राप्तकन्दरो जडमन्थरः ।
एकार्णवः समुच्छून आसीन्मूर्ख इवेश्वरः ॥ ३ ॥
विपुलावर्तवृत्तयाऽऽत्तविवृत्ताद्रिजरत्तृणः ।
स्फुरत्तुङ्गतरङ्गाग्रनिगीर्णादित्यमण्डलः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डरूपी कोटर इस प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार बालकोंकी कुत्सित (तोड़-फोड़ कारक) क्रीड़ाओंसे चञ्चल हुआ विशुद्ध बिल्वफल विनष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

[नदीके रूपमें गिरनेवाली घनघोर वृष्टिधाराओंसे चारों ओरसे आकाशको पूर्ण कर रहा जो एक महासमुद्र बढ़ा, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जब धरातल वायु, वर्षा, हिम और अनेक तरहके उत्पातोंके आगमनसे नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्रका जलवेग ऐसे वृद्धिको प्राप्त हुआ, जैसे कलिमें राजा ॥ १ ॥

वह समुद्र आकाशगङ्गाके प्रवाहोंमें पतित मेघधाराओंके गिरनेसे खूब बढ़ा या उस तरहकी मेघधाराओंसे जनित हजारों नदीधाराओंसे खूब बढ़ा। अकस्मात् उत्पन्न हुई मेरु एवं मन्दर पर्वतके सदृश भासुर तरङ्गोंसे बहाये जा रहे पर्वत-कन्दराओंको उसने आदित्यके मार्गमें पहुँचा दिया। थोड़ेमें यही कहना है कि मूर्ख राजाके सदृश जलसे मन्थर वह समुद्र बहुत ही उन्नत हो गया ॥ २, ३ ॥

सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसी एकार्णवका वर्णन करते हैं—'विपुला०' इत्यादिसे।

मेरुमन्दरकैलासविन्ध्यसह्यजलेचरः ।
गलितावनिपङ्कान्तर्लीनव्यालमृणालकः ॥ ५ ॥
अर्धदग्धद्रुमवनव्यूहशैवलसङ्कटः ।
त्रैलोक्यभस्मसंसृष्ट आसीत् कर्दमकुत्सितः ॥ ६ ॥
नभःस्तम्बबृहद्घ्राणोत्तालभास्करपुष्करः ।
धाराजालमहाम्भोदविलीननलिनीदलः ॥ ७ ॥
डिण्डीरपर्वतप्रान्तनदद्‌दुन्मत्तवारिदः ।
भ्रमदिन्द्रानिलार्केन्दुपुरपत्तनपूरणैः ॥ ८ ॥
काष्ठवत्प्रोह्यमाणोग्रसुरासुरजनोत्करः ।
शनैः क्रमोच्छूनतया लिहन्नादित्यमण्डलम् ॥ ९ ॥

इस बढ़े हुए समुद्रने अपने आवर्तस्वभावके कारण बड़े-बड़े पर्वतोंको जीर्ण तृणके समान पकड़कर चक्करमें डाल दिया तथा चंचल उत्तुङ्ग तरङ्गोंके अग्रभागोंसे वह आदित्यमण्डलको भी निगल गया ॥ ४ ॥

उसमें मेरु, मन्दर, कैलास, विन्ध्य और सह्य पर्वत तो जल-चर-से हो गये और उसमें जो पृथ्वी गल गई थी, उसके कीचड़में भीतर लीन शेषादि सर्प कमलदण्डसे मालूम हो रहे थे ॥ ५ ॥

उस समुद्रमें अर्धदग्ध वृक्षोंसे युक्त वनसमूह तो शैवाल-सा लग रहा था और त्रिलोकीके भस्मसे उत्पन्न कीचड़से वह कुत्सित भी प्रतीत हो रहा था ॥६॥

आकाश तो ठहरे कमलनाल। इन नालोंमें जो बड़ी कर्णिकाएँ थीं उनमें बीजभूत किरणोंके द्वारा उत्ताल हुए बारह आदित्य ही उसमें कमल-से प्रतीत हो रहे थे और धारासमूहरूपी महामेघ ही उसमें जलके ऊपर संलग्न होनेके कारण विलीनप्राय कमलिनीके पत्ते थे ॥ ७ ॥

उसमें उत्पन्न झरनोंके बड़े-बड़े पर्वतोंके प्रान्तभागमें उन्मत्त मेघ शब्द कर रहे थे और घूम रहे इन्द्र, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्राम एवं नगरोंके समूहोंसे वह भर गया था ॥ ८ ॥

उसमें उग्र सुर, असुर और मनुष्योंके समूह काठके सदृश बह रहे थे। वह समुद्र धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ता हुआ आदित्यमण्डलको एक तरहसे चाटने लग गया ॥ ९ ॥

तरत्तारतरारावघाराधरसमुद्भवैः ।
बुद्बुदैः परिसंदिग्धप्रोह्यमाणमहाचलः ॥ १० ॥
भ्रमद्बुद्बुदविश्रान्तभ्रान्तकल्पान्तवारिदः ।
उत्तालैस्तैरनाधारैः पश्यन्नपरवारिदम् ॥ ११ ॥
महाप्रवाहवार्योघघोषघुङ्घुमिताम्बरः ।
एकप्रवाहसहितसव्योमकुलपर्वतः ॥ १२ ॥
चण्डवातकृतापूर्वजलौघकुलपर्वतैः ।
महाघुरघुरारावघर्घरोग्रमहारयः ॥ १३ ॥
ब्रह्माण्डखण्डसंघट्टपरावृत्तिभिरुद्धतः ।
कुर्वन्योजनलक्षाणि विततान्युन्नतानि च ॥ १४ ॥

भद्र, उस समय समुद्रमें जो महागर्जना कर रहे मेघोंसे बुल्ले उठ रहे थे, उनको देखकर यह सन्देह हो रहा था कि ये महापर्वत तो नहीं बह रहे हैं ॥ १० ॥

उस समुद्रमें इधर-उधर नाँच रहे बुल्लोंपर कल्पान्तके महामेघ विश्राम कर रहे थे और स्वयं नाँच भी रहे थे, वे बुल्ले एक तरहसे आँखोंकी पुतली-से प्रतीत हो रहे थे। हाँ, प्रसिद्ध पुतलियोंसे इनमें विलक्षणता अवश्य थी, क्योंकि इनका आधारभूत मुख ही यहाँ नहीं था, इन पुतलियोंसे समुद्र समीपके दूसरे मेघको मानो देख रहा हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥ ११ ॥

भारी प्रवाहसे युक्त जलके ओघसे जो भयङ्कर घोष हो रहा था, उससे आकाशको भी वह सावधान कर रहा था। अपने एक ही प्रवाहमें उसने आकाश-सहित सातों कुलपर्वतोंको अपने उदरमें कर लिया ॥ १२ ॥

प्रचण्ड पवनके द्वारा उत्पन्न जो अपूर्व जलौघ थे, उनसे उसने अपने अन्दर सातों कुलपर्वतोंकी मानो रचना कर दी थी, इन रचित कुल-पर्वतोंसे उदित हुए घुरघुर महाध्वनिसे घर्घर उग्रमहाध्वनिपूर्वक उसका वेग असीम हो गया था ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डखण्डोंके परस्पर संघट्टनोंका जो पुनः-पुनः आवर्तन हो रहा था, उससे उसकी उद्धता क्षण-क्षणमें बढ़ती ही जा रही थी, और ऊपर-नीचे लाखों योजनों तक विस्तारवाले पदार्थोंको अपने उदरमें वह निगलता जा रहा था ॥१४॥

तृणैरिव तरङ्गेषु दोलान्दोलनमद्रिभिः ।
कुर्वङ्भ्रिरुपलाघातभग्नभास्करमण्डलः ॥ १५ ॥
शून्यब्रह्माण्डविपुलजलघातकुलायके ।
नीलानचलकाकोलान् जहन्सलिलजालकैः ॥ १६ ॥
मृतामृतमहद्भूतमज्जनोन्मज्जनाकुलान् ।
तरङ्गमकरावर्तप्रतिबिम्बान्वितानिव ॥ १७ ॥
मृतशिष्टान् पुरभ्रष्टान्फेनाद्रितटिकोटिषु ।
दधज्जलबलश्रान्तांस्त्रिदशान् मशकानिव ॥ १८ ॥
विपुलायतनाकाशविपुलानम्बुबुद्बुदान् ।
सहस्रसंख्यान् कलयन् लोचनानीव वासवः ॥ १९ ॥

तरङ्गोंपर जैसे तृण झूलते हैं, वैसे ही उसकी तरङ्गोंपर महान् पर्वत झूल रहे थे, इन झूला झूल रहे पर्वतोंके द्वारा पत्थरोंको फेंककर वह सूर्य-मण्डलको भी नष्ट कर रहा था ॥ १५ ॥

भद्र, उस शून्य ब्रह्माण्डरूप घोंसलेके भीतर, जो कि एकमात्र विपुल जल-समूहसे ही बना था, विद्यमान नील-पर्वतरूप महान् द्रोणकाक-पक्षियोंका (डोम कौओंका) वह समुद्र अपने जलरूपी जालोंसे आहरण कर रहा-सा मालूम पड़ता था ॥ १६ ॥

नील-पर्वतरूपी द्रोणकाकोंका ही दो विशेषणोंसे वर्णन करते हैं—'मृत०' इत्यादिसे ।

मृतक एवं जीवित प्राणियोंके, मज्जन और उन्मज्जनोंसे व्याकुल तथा तरङ्ग और मकराकार आवर्तोंमें प्रतिबिम्बित हुए-जैसे नील-पर्वतरूपी डोमकौओंका जल-रूपी जालोंसे मानो वह हरण कर रहा था ॥ १७ ॥

भद्र, जो मरनेसे बच गये थे और अपने-अपने नगरोंसे च्युत हो गये थे, ऐसे जलके बलपर विश्राम किये हुए देवताओंको—मच्छरोंके सदृश—फेनरूपी पर्वतोंकी तटी और कोटियोंपर (शिखरोंपर) धारण कर रहा था ॥ १८ ॥

उस समुद्रमें जो बुल्ले उठ रहे थे, वे उनके भीतर स्थित प्राणियोंकी

शरद्व्योमसमाभोगैर्वलद्भिर्बुद्बुदेक्षणैः ।
पश्यन्निव नदीधारान्मेघानाताम्रपूरकान् ॥ २० ॥
पुष्करावर्तकाभ्राणां बहुभिर्वीचिमण्डलैः ।
कुर्वन्नालिङ्गनानीव सपक्षाद्रिवदुत्थितैः ॥ २१ ॥
त्रिजगद्ग्राससंतृप्तः प्रगायन्निव घर्घरैः ।
स्वैर्नृत्यन्निव चोग्राद्रिकटकैर्वीचिदोर्द्रुमैः ॥ २२ ॥
नदीधाराधरैरूर्ध्वं मध्ये दग्धैर्धराधरैः ।
अधो धराधरैर्नागैरधरः पङ्कगैर्वृतः ॥ २३ ॥
धारात्रिपथगापूरैर्निपतद्भिर्निरन्तरम् ।
मग्नोन्मग्नोह्यमानाद्रिश्रृङ्गडिण्डीरबुद्बुदः ॥ २४ ॥

दृष्टिसे चाँदीके कड़ाहेके सदृश प्रतीत हो रहे थे, ये इतने विपुल थे कि इस प्रसिद्ध आकाशके सदृश थे, और ये ठीक समुद्रके नेत्रोंके सदृश प्रतीत हो रहे थे, इन सहस्र नेत्रोंसे वह ऐसे देख रहा था, जैसे इन्द्र ॥ १९ ॥

शरत्कालके आकाशके सदृश विशाल उठ रहे बुद्बुदोंरूपी नेत्रोंसे वह नदियोंके समान धारावाले चारों ओर लालिमासे व्याप्त मेघोंको मानो देख रहा था ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी, यह प्रलयकालका समुद्र पक्षसहित पर्वतोंके तुल्य आविर्भूत हुए अनेक तरङ्गमण्डलोंसे पुष्करावर्तक आदि मेघोंका मानो आलिङ्गन कर रहा था ॥ २१ ॥

तीनों लोकके ग्राससे संतृप्त हुआ वह प्रलयकालीन महासागर घर्घरशब्दोंसे एक तरहका गीत गा रहा था और उग्र पर्वतरूपी कंकणोंसे अलंकृत 'तरङ्गरूपी भुजाओंसे वह मानो नाच कर रहा था ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, धरासे शून्य वह सागर ऊपर नदीके सदृश धाराओंवाले मेघोंसे, मध्यमें दग्ध पर्वतोंसे तथा नीचे पङ्कमें रहनेवाले नागोंसे आवृत था ॥ २३ ॥

निरन्तर गिर रही धाराओंसे सुशोभित गङ्गाजीकी बाढ़से वह परिपूर्ण था। उसमें पर्वतशिखरोंके डूबने और उतरानेसे पानीके झाग और बुले उठ रहे थे ॥ २४ ॥

उह्यमानदलत्स्वर्गखण्डक्रन्दन्नभश्चरः ।
वहद्विद्याधरीवृन्दपद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥ २५ ॥
एकार्णवपयःपूरैर्घर्घरारावरंहसि ।
त्रैलोक्यखण्डसंहारे प्रोह्यमाणे महाम्भसि ॥ २६ ॥
नासीत्कश्चित्परित्राता हन्ताऽवीचिवशोऽपि च ।
शक्नोति कः परित्रातुं कालेन कवलीकृतम् ॥ २७ ॥
नाकाशमासीन्न दिगन्त
आसीदधोऽपि नासीन्न तदूर्ध्वमासीत् ।
भूतं न आसीन्न च सर्ग आसी-
दासीत्परं केवलमेव वारि ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने एकार्णववर्णनं नाम
अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

उसमें बहते हुए छिन्न-भिन्न स्वर्गके अनेक खण्डोंमें देवतारूपी अनेक हंस विद्यमान थे। एकमात्र यही कारण था कि उसका आभ्यन्तर बहती हुई विद्याधरियोंकी पङ्क्तिरूपी पद्मिनीसे बहुत ही सुन्दर दीख रहा था ॥ २५ ॥

एकमात्र समुद्रोंके जलोंकी उस बाढ़से घर्घरशब्दयुक्त, अतिवेगशाली सम्पूर्ण त्रैलोक्यके खण्डोंके संहारक, बेटोक-रोक बहाये जा रहे उस महासागरमें उस समय कोई संरक्षक नहीं था और ऐसा भी कोई प्राणी या पदार्थ न था, जो कि उसकी तरङ्गोंकी चपेटमें न आ गया हो, यह दुःखकी बात है। हे श्रीरामजी, इस संसारमें कालके गालमें पड़े हुए प्राणीकी कौन रक्षा कर सकता है ॥ २६, २७ ॥

हे श्रीरामजी, और अधिक हम क्या कहें, सिर्फ यही कह देना पर्याप्त है कि उस समय आकाश नहीं था, दिगन्त नहीं था, ऊपर नहीं था, नीचा नहीं था, भूत नहीं था और न सर्ग था, किन्तु एकमात्र केवल जल ही जल विद्यमान था ॥ २८ ॥

अठहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकोनाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे चक्षुर्व्योमस्थोऽहमथात्यजम् ।
ब्रह्मलोके महालोके प्रभातेऽर्कः प्रभामिव ॥ १ ॥
यावद्दृष्टो मया तत्र शैलादिव विनिर्मितः ।
परमेष्ठी समाधिस्थः प्रधानपरिवारवान् ॥ २ ॥
समूहश्चैव देवानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ ३ ॥
सोमोऽथ वरुणोऽग्निश्च तथाऽन्येऽपि सुरर्षयः ।
देवगन्धर्वसिद्धानां साध्यानां च विनायकाः ॥ ४ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग

[प्रबोध द्वारा स्वप्नके बाधके समान, ऋषियों तथा देवताओंके समूहके सहित विधाताके निर्वाणका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तपोलोकपर्यन्त जब समूचा प्रदेश प्रलयकालीन एक महासागरके जलमें डूब गया तब सत्यलोकके निकट आकाशमें स्थित मैंने अपनी दृष्टि ऐसी फेंकी, जैसे प्रातःकालमें सूर्यदेव अपनी प्रभा फेंकते हैं ॥ १ ॥

इतनेमें मैंने प्राणादि-उपासनाओंके द्वारा सालोक्यादि मुक्तिको प्राप्त हुए तथा ब्रह्माजीके साथ विदेहकैवल्यको प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहे जीवन्मुक्त परिवारके * सहित ब्रह्माजीको शैलसे विनिर्मित हुए-सा देखा ॥ २ ॥

वहाँ मैंने अधिकारी देवों तथा भावितात्मा मुनियोंके समूहको देखा। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समूहके भीतर मैंने शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण और अग्निको देखा तथा इनके अतिरिक्त वहाँ मैंने और भी अनेक देवताओं और ऋषियोंको देखा। इतना ही नहीं और सुनिये—वहाँ देव, गन्धर्व,

* इस विषयमें सुनिये क्या कहा है—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

लिपिकर्मार्पिताकाराः सर्वे ध्यानपरायणाः ।
बद्धपद्मासनास्तत्र निर्जीवा इव संस्थिताः ॥ ५ ॥
अथ ते द्वादशादित्यास्तमेवोद्देशमागताः ।
बद्धपद्मासनास्तस्थुस्तथैवाऽऽशु यथैव ते ॥ ६ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण दृष्टवानहमब्जजम् ।
पुरो विनिद्रतां यातः स्वप्नदृष्टमिवाग्रगम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मलोकजनं सर्वं महतामिव वासनाम् ।
नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम् ॥ ८ ॥
अरण्यशून्यमेवासीत्तद्ब्रह्ममननं तदा ।
कठिनाकाण्डविध्वस्तं पृथिव्यामिव पत्तनम् ॥ ९ ॥

सिद्ध और साध्योंके नायक भी उपस्थित थे, मैंने उन्हें भी देखा। हे श्रीरामचन्द्रजी, पद्मासन लगाकर बैठे हुए, चित्रलिखित-जैसे, ध्यानमें परायण वे सबकेसब निर्जीवके समान वहाँ स्थित थे ॥ ३–५ ॥

उसके बादकी घटना बतलाते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसी स्थानपर वे प्रलयके बारह सूर्य भी आये और पद्मासन लगाकर वे भी सब तुरत उन्हींकी तरह बैठ गये, जिस तरह ये देवता और ऋषि बैठे हुए थे ॥ ६ ॥

इसके बाद मुहूर्तमात्रमें मैंने सामने ब्रह्माजीको ऐसे देखा, जैसे सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्नमें देखे गये पदार्थोंको अपने सम्मुख उपस्थित देखता है। कहनेका तात्पर्य यह कि जाग्रदवस्थामें स्वाप्निक पदार्थोंका जैसे बाध होकर केवल आत्ममात्र परिशेष रह जाता है वैसे ही मैंने ब्रह्माजीको आत्ममात्रपरिशेष ही देखा वही विधाताका विदेहकैवल्य है ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त विधाताके पारिवारिक लोगोंमें भी ऐसा ही कैवल्य हुआ, यह कहते हैं—'ब्रह्मलोकजनम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्माजीके परिवारके जितने लोग थे, उन सबको भी मैंने अपने सामने तत्त्वज्ञानियोंकी ज्ञानसे बाधित पूर्ववासनाकी तरह बिलकुल ऐसे नहीं देखा, जैसे सोकर उठता हुआ पुरुष स्वप्नकालमें देखे गये नगरको अपने सामने उपस्थित नहीं देखता ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माजीके चरम-साक्षात्कारके समय सबके विदेह-

सर्व एव न च क्वापि ते तथा तादृशास्तदा ।
ऋषयो मुनयो देवा सिद्धा विद्याधरादयः ॥ १० ॥
ज्ञातं ततोऽवधानेन मया नभसि तिष्ठता ।
यावन्निर्वाणमापन्ना ब्रह्मवत्सर्व एव ते ॥ ११ ॥
वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः ।
स्वप्नलोकाः प्रबुद्धानामिव स्वं रूपमागताः ॥ १२ ॥
आकाशात्मैव देहोऽयं भाति वासनया स्फुटः ।
तदभावात्तु नो भाति स्वप्नो बोधवतो यथा ॥ १३ ॥

कैवल्यको प्राप्त हो जानेसे उन ब्रह्मदेवका वह सारा ब्रह्माण्ड, जो उनके सङ्कल्पसे सिद्ध था, शून्य अरण्यकी नाईं ऐसे हो गया, जैसे किसी भयङ्कर आकस्मिक नाशके हेतुसे विध्वस्त हुआ पृथिवीमें नगर ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऋषि, मुनि, देव, सिद्ध तथा विद्याधर आदि वे सभी वैसे ही उस समय शून्यरूप हो गये, क्योंकि वे सब वहाँसे कहीं भी अन्यत्र नहीं गये ॥ १० ॥

नामरूपसे शून्यभावको प्राप्त होनेपर भी स्वरूपसे तो वे सबके सब निर्वाणरूपसे ही स्थित थे, यह महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभवसे दिखलाते हैं—'ज्ञातम्' इत्यादिसे ।

इसके बाद आकाशमें स्थित मैंने ध्यानसे जाना कि वे सभी लोग तो ब्रह्माजीके समान ही नामरूपका परित्यागकर निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं ॥ ११ ॥

वासनाकल्पित रूपका नाश हो जानेसे वही उनकी वास्तवस्वरूपकी प्राप्ति है, इस आशयसे कहते हैं—'वासनायाम्' इत्यादिसे ।

वासनाके विलीन हो जानेपर वे अदर्शनको प्राप्त होकर अपने विशुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें ऐसे आ गये, जैसे प्रबुद्ध—जागे हुए प्राणियोंके स्वप्नकालके लोक ॥ १२ ॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं—'आकाशा०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चिदाकाशरूप यह शरीर वासनाके कारण ही स्पष्ट भासित हो रहा है । वासनाके अभावमें तो यह ऐसे नहीं भासता, जैसे कि बोधवान् प्राणीको यानी जागे हुए जीवको स्वप्न नहीं भासता ॥ १३ ॥

अन्तरिक्षगतो देहो यथा स्वप्ने विलोक्यते ।
बोधे तद्वासनाशान्तौ न किञ्चिदपि लक्ष्यते ॥ १४ ॥
जाग्रत्यपि तथैवायं वासनायाः परिक्षये ।
नैवातिवाहिको नैव लक्ष्यतेऽत्राऽऽधिभौतिकः ॥ १५ ॥
स्वप्नानुभव एषोऽत्र दृष्टान्तत्वेन लक्ष्यते ।
आबालमेतत्संसिद्धमनुभूतं श्रुतं स्मृतम् ॥ १६ ॥
अपह्नुते च वा योऽपि स्वमेवानुभवं शठः ।
स त्याज्यः को ह्यलीकेन सुप्तमुद्बोधयेत्किल ॥ १७ ॥

जैसे स्वप्नमें आकाशगामी यह शरीर दीखता है, किन्तु जाग्रत्कालमें नहीं दीखता, वैसे ही वासना रहनेपर ही यह शरीर दीखता है तत्त्वज्ञान होनेपर जब प्राणीकी वासना बिलकुल शान्त हो जाती है तब कुछ भी नहीं दीखता ॥ १४ ॥

स्वप्नसे उठनेपर जाग्रत्कालमें एकमात्र स्वाप्निक भौतिक पदार्थोंका बाध होता है, लेकिन तत्त्वज्ञान होनेपर तो आधिभौतिक आदि तीनों शरीरका बाध होता है, इतना विशेष है, इस आशयसे कहते हैं—'जाग्रत्यपि' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालमें भी, वासनाका सर्वथा नाश हो जानेसे न तो आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर भासता है और न आधिभौतिक शरीर ही दीखता है अर्थात् वासना न रहनेसे वे दोनों नहीं भासते ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें स्वप्नका अनुभव ही दृष्टान्तरूपसे लक्षित है। यह वृद्धसे लेकर एक बच्चे तक सबको अनुभूत है, श्रुतिसिद्ध है * तथा पुराणादिमें प्रतिपादित है ॥ १६ ॥

इस तरह अपने तथा दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध स्वप्नके बाधका जो अपलाप करता है यानी स्वप्नादि सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चको सत्यस्वरूप स्वीकार करता है, उसको तत्त्वज्ञानोपदेश देनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है—वह प्रबोधके योग्य है ही नहीं, यह कहते हैं—'अपह्नुते' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो शठ स्वयं अपनेको तथा दूसरोंके अनुभवको भी स्वीकार नहीं करता अर्थात् अपने तथा दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध स्वप्नके बाधका

* देखिये यह श्रुति—'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' ।

देहकारणकः स्वप्नो देहाभावान्न दृश्यते ।
इति चेत्तददेहानां परलोकोऽपि नास्ति च ॥ १८ ॥
इत्येतदभविष्यच्चेत्तच्छरीरकसंक्षये ।
नाभविष्यदयं सर्गः स चास्त्येव च सर्वदा ॥ १९ ॥

अपलाप करता है वह त्याज्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि मिथ्या सुप्त पुरुषको यानी सचमुच न सोये हुए पुरुषको भला कौन उठा सकता है ॥१७॥

फिर भी इस विषयमें स्वप्नका दृष्टान्त तो उचित नहीं है, क्योंकि यह जो वर्तमान शरीर है इसमें पिता आदिका शरीर कारण है, परन्तु स्वप्नशरीर तो ऐसा नहीं है। स्वप्नशरीरके अत्यन्त असद्रूप होनेसे यह विषम दृष्टान्त है, यदि ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसकी वह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यज्ञ आदिके द्वारा जो स्वर्गीय शरीर प्राप्त होता है वह भी तो अत्यन्त असद्रूप ही है, ऐसी परिस्थितिमें प्रतिवादीको नास्तिक कहलानेके लिए तैयार रहना होगा, यह कहते हैं—'देहकारणकः' इत्यादिसे ।

इस शरीरका कारण पिता आदिका शरीर है, इसलिए यह दिखाई देता है, किन्तु स्वाप्निक शरीरका कारण तो पिता आदिका शरीर नहीं है, इसलिए वह नहीं दिखाई देता, यदि कोई यह शङ्का करे, तो उसकी यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो उसके मतसे इस पार्थिव शरीरसे रहित प्राणियोंका, जो यज्ञादिके द्वारा स्वर्गीय शरीर प्राप्त करनेवाले हैं, परलोक भी नहीं है। ऐसी दशामें हमें उसको नास्तिक कहनेमें तनिक भी संकोच न होगा ॥ १८ ॥

किंच, पिता आदिका शरीर जिस देहका कारण है उस देहको भी सर्वथा असद्रूप माननेपर तो सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूप हिरण्यगर्भको भी असद्रूप होनेमें कोई अड़चन न होगी और उस दशामें उनकी सर्गादि-अर्थक्रिया भी मिथ्या ही सिद्ध होगी, यह कहते हैं—'इत्येतद०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस रीतिसे यदि यह सब असद्रूप होता, तो पूर्व-सृष्टिके प्रलयके अन्तमें सब शरीरोंका सर्वथा क्षय होनेपर इस सृष्टिके आदि-कालमें शरीरहेतुक शरीर न रहनेसे यह सृष्टि भी न होती। और यह सृष्टि सबकी आंखोंके सामने सर्वदा विद्यमान है ही [इसलिए यह सृष्टि नहीं है, यह कोई कहनेका साहस नहीं कर सकता] ॥ १९ ॥

अवयवविभागात्मन्यवश्यं भाविनि क्षये ।
न कदाचिदनित्थं तज्जगदित्यप्यसंस्थितम् ॥ २० ॥
न कदाचिज्जगन्नाशो देहोद्भूतगुणादिकम् ।
मदशक्तिरिव ज्ञप्तिरुदेतीति च वक्षि चेत् ॥ २१ ॥

पृथिवी आदि पञ्चभूतोंके सावयव होनेसे विभागोंका अवसान हो जानेपर संयोगका विनाश ध्रुव है । अतः अवयवविभागस्वरूप इस जगत्का जब विनाश अवश्यंभावी है तब इस दशामें 'यह जगत् कभी इस अविच्छिन्नप्रवाहसे विपरीत नहीं है, यह जैमिनीय मत अप्रतिष्ठित है—असंगत है ॥ २० ॥

यहाँपर प्रसङ्गवश चार्वाक मतका भी खण्डन करनेके लिए अनुवाद करते हैं—'न कदाचिद्०' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदि जो चार भूत हैं वे ही चार प्रकारके देहाकारसे तथा घट, पट आदिके आकारसे सम्मिलित होकर 'जगत्' नामसे कहे जाते हैं । पृथिवी आदि भूतस्वरूप होनेके कारण इस जगत्का कभी नाश नहीं होता । जब ये चारों भूत एक जगह मिल जाते हैं तब ज्ञान तथा इच्छा आदि गुणोंवाला इन चारोंके धर्मोंका समुदायरूप एक शरीर तैयार हो जाता है, जिसमें हाथ, पैर आदि अनेक अवयव विद्यमान रहते हैं । और वह शरीर भी उन हाथ, पैर आदि अनेक अवयवोंकी नाना प्रकारकी रचनाओंके कारण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जातिका हो जाता है । यद्यपि इन चारों भूतोंके मध्यमें किसी भी एक भूतमें ज्ञप्ति नहीं दिखाई देती तथापि जिन द्रव्योंसे मदिरा तैयार की जाती है उन्हें पीसकर जल तथा नमकके साथ एकत्र मिला दिये जानेपर उन एकत्र मिले हुए द्रव्योंमें जैसे कालपाकादि द्वारा मदशक्तिरूप एक विलक्षण गुण आविर्भूत हो जाता है उसी तरह देहाकारमें परिणत हुए पृथिवी आदि इन चारों भूतोंमें ज्ञप्तिरूप गुण आविर्भूत हो जाता है । इसलिए ज्ञप्ति तथा इच्छा आदि गुणोंसे सम्पन्न यह शरीर ही आत्मा है । भाई चार्वाक, यदि यह तुम कहते हो, तो इसका उत्तर सुन लो ॥ २१ ॥

तब तो * सम्पूर्ण वस्तुओंका संक्षय † बतलानेवाले अठारह पुराण,

* अर्थात् तुम्हारे कहनेके अनुसार तो ।
† अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और वैज्ञानिक ये जो चार तरहके प्रलय होते हैं उन्हें बतलानेवाले ।

तत्पुराणेतिहासानां सर्वसंक्षयवादिनाम् ।
स्मृत्यादीनां सवेदानां वैयर्थ्यमुपजायते ॥ २२ ॥
अप्रमाणतयैतस्मिन्नर्थे तेषां महामते ।
अन्यत्रापि प्रमाणत्वं वन्ध्यादावपि किं भवेत् ॥ २३ ॥
न चैतदिष्यते लोके जगदुच्छेदकारणात् ।
अन्यच्चास्तामेतदङ्ग ममेदमपरं शृणु ॥ २४ ॥

महाभारत आदि इतिहास, ऐहिक और पारलौकिक आत्माके हित और अहित तथा धर्म और अधर्मके प्रतिपादक मनु आदि स्मृति एवं सदाचार आदि—ये सबके सब व्यर्थ हो जायँगे ॥ २२ ॥

यदि यह कहो कि हम देहात्मवादी चार्वाकोंके मतमें उन वेदादि शास्त्रोंका वैयर्थ्य और अप्रामाण्य इष्ट ही है । वे सबके सब अप्रमाण हो जायँ, इसमें हमारी हानि क्या है ? तो इसपर हमारा यह कहना है कि हे महामते चार्वाक, निर्दोष उन वेद, पुराण आदि शास्त्रोंका * इस अर्थमें † अप्रामाण्य हो जानेपर 'इस वन्ध्या स्त्रीने सौ लड़के पैदा किये' इस वाक्यके समान भोगलाम्पट्यलोभ-द्वेषादि हजारों दोषोंसे दुष्ट तुम्हारा वाक्य भी क्या प्रमाण होगा ? हमें तो उसकी सम्भावना भी दुर्लभ है ॥ २३ ॥

तुम्हारे कथनको लोकमें विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते, क्योंकि बिना कारण और प्रयोजनके सृष्टि आदिका संभव न होनेसे तुम्हारे मतके अनुसार तो जगत्का उच्छेदप्रसङ्ग अनिवार्य होगा । किंच, देहात्मवादमें क्या सभी अवयव ही आत्मा हैं या अवयवी ही ? प्रथम पक्षमें तो यह दोष आता है कि अनेक चेतनोंमें सर्वदा ऐकमत्य न होनेसे वैमत्यके कारण देहका सभी अवयव उन्मथन करने लग जायँगे । अब रह गया दूसरा पक्ष, उस पक्षमें यह दोष आता है कि हाथ आदि किसी एक अवयवके कट जानेपर अवयवीका नाश हो जानेसे 'जीवन' का ही अभाव हो जायगा—इत्यादि और भी हजारों दोष हैं ही, यह सब अलग रहे । हे चार्वाक, इस मेरे कथनसे कायाकारमें परिणत भूतसंघातमें मदशक्तिकी नाईं ज्ञप्तिगुण पैदा हो जाता है, यह जो तुमने कहा है उसका भी उत्तर हो गया और भी तुम अपने मतमें मेरा यह एक दूसरा दूषण सुन लो— ॥ २४ ॥

* जो शिष्टसम्मत हैं ।
† प्रकृत, धर्माधर्म एवं आत्मतत्त्वरूप अर्थमें ।

मदशक्त्यात्मनि ज्ञाने दृष्टा देशान्तरेषु या ।
प्रमृतानां पिशाचादिदेहता सा न सिध्यति ॥ २५ ॥
अथ सापि मृषाभ्रान्तिर्यावद्देहं प्रदृश्यते ।
इति चेत्तन्मृषा नाम सत्यमित्येव वो भवेत् ॥ २६ ॥

यदि ऐसा मान लिया जाय कि जैसे मदशक्त्यात्मक द्रव्यमें मदशक्ति विद्यमान रहती है वैसे ही भूतसंघातमें, जो कि ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानगुण रहता है तब तो गुणी देहका नाश हो जानेपर गुणका भी अवश्य नाश हो जानेसे [दूसरे देशोंमें मरे हुए जीव देहके नष्ट हो जानेपर अपने देशमें पिशाचादिका शरीर धरकर कैसे चले आते हैं तथा दूसरोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर अपने पूर्वजन्मके आत्मीयोंको पहचान कर उनके साथ बातचीत आदि कैसे करते हैं अर्थात्] प्रदेशान्तरोंमें मरे हुए व्यक्तियोंकी पिशाचादि देहता जो लोकमें प्रसिद्ध है वह सिद्ध न होगी ॥ २५ ॥

वह पिशाचादिकी कल्पना भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि पिशाचोंको हमने अपनी आँखोंके सामने उपस्थित हुए आजतक नहीं देखा और हमारे मतमें प्रत्यक्षके सिवा और कोई दूसरा प्रमाण है ही नहीं। प्रत्यक्षातिरिक्त दूसरे प्रमाणकी संभावना ही नहीं है, क्योंकि सैकड़ों बार पार्थिवत्व और लोह-लेख्यत्वादि-का सहचारग्रह होनेपर भी वज्रमणि आदिमें व्यभिचार देखा गया है। उत्पातादि अन्य समयमें गायके पेटसे गदहेकी उत्पत्ति भी देखी गई है तथा देवतादिकी प्रतिमाओंसे भी बिना अग्निके भी धूम उठते देखा गया है। तथा सर्वत्र लिङ्गोंमें देशान्तर और कालान्तरमें व्यभिचारशङ्काका निवारण नहीं किया जा सकता, इसलिए आपके अनुमान प्रमाणका तो बिलकुल योग नहीं है। सादृश्यके विषयमें यत्किञ्चित् या पूर्ण—यों विकल्प होनेसे उपमान प्रमाणकी भी सिद्धि नहीं होती। जिसके मूलमें अन्य प्रमाण नहीं है, ऐसे शब्दोंसे लोकमें अर्थसिद्धि दृष्टिगोचर न होनेसे तथा समूल शब्दोंके अनुवादक होनेसे शब्द प्रमाणका योग नहीं बैठता। इसी तरह अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी प्रमाण नहीं हो सकते। किंच, पिशाचग्रस्त पुरुषका पिशाचवाग्व्यवहार भी जबतक देह विद्यमान रहता है तभीतक दीखता है उसके मरणके बाद नहीं। इसलिए उस देहको ही सान्निपातिक भ्रान्तिकी तरह 'मैं पिशाचग्रस्त हूँ' यह व्यर्थकी भ्रान्ति है। यदि यह सब तुम कहो,

एवं चेत्तत्परो लोकः सत्स्वर्गनरकादिकम् ।
इत्येषाऽपि न संवित्किं सत्यतामुपगच्छति ॥ २७ ॥

तो तुम्हारा यह सब कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हारी ही बातोंसे इन सबका खण्डन हो जाता है। इसमें प्रबल कारण यह है—प्रत्यक्षके अतिरिक्त यदि सभी अप्रमाण हैं, तो फिर चार्वाकोंका वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रत्यक्षके अतिरिक्त है। चूँकि अनुमान प्रमाणको तुम मानते नहीं हो, इसलिए युक्तिसे तुम अपने मतका तो कदापि समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमानरूप होनेसे वे युक्तियाँ भी प्रमाण नहीं हो सकतीं। दृष्टान्त तो तुम दे ही नहीं सकते, क्योंकि सादृश्यके उपमानगम्य होनेसे वह तुम्हारे मतसे प्रमाणके बाहर है। स्वपक्षमें अनुकूल और परपक्षमें प्रतिकूल तर्क भी तुम नहीं उपस्थित कर सकते, क्योंकि तर्कके अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिघटित होनेके कारण उसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते। आपत्ति और व्यतिरेक ये दोनों अनुपपत्ति और अनुपलब्धिके अधीन रहते हैं, इसलिए यदि इनका तुम स्वीकार करते हो, तो तुम्हें अर्थापत्ति और अनुपलब्धिको प्रमाणरूपसे स्वीकार करना अनिवार्य होगा। अतः ये जो छः प्रमाण हैं, वे सबके सब सत्य हैं, यह तुम चार्वाकोंको मानना ही पड़ेगा ॥ २६ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे आपको क्या लाभ है, यह कहते हैं—‘एवं चेत्तत्परो’ इत्यादिसे।

इस तरह यदि तुम शब्द आदिका प्रामाण्य मान लेते हो, तो फिर निर्दोष श्रुतिको तुम्हें प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति न होगी। जब श्रुति प्रमाण है तब ‘परलोक, स्वर्ग, नरक आदि सब सत् है’—इत्याकारक श्रुतिजन्य संवित् भी क्यों न सत्यताको यानी प्रामाण्यको प्राप्त होगी ! कहनेका तात्पर्य यह कि यदि अन्यके बोधके लिए शब्द प्रमाण है, तो फिर परलोक, स्वर्ग, नरक तथा उनके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति आदि शब्द भी क्यों न सत्य प्रमाण होंगे ! क्योंकि जितने ज्ञान हैं उनमें स्वतः प्रामाण्य है, इसमें तो किसीको भी विवाद नहीं है, हाँ, यह बात दूसरी है कि कारणदोष तथा बाधक ज्ञानसे उसका कहींपर अपवाद हो जाता है। लेकिन यहाँपर तो न कोई कारणमें दोष है और न ‘स्वर्ग, नरक आदि नहीं है’ ऐसा बाधक प्रमाणज्ञान ही है ॥ २७ ॥

न पिशाचप्रमा सत्या मदशक्तिमतोऽपि हि ।
प्रतिभाऽस्य न सत्या स्यात् परलोकात्मिका कथम् ॥२८॥
पिशाचोऽस्तीति चेत्संवित् सत्यार्था तेन संविदः ।
मृतस्याऽस्ति परो लोक इत्यस्यां किं न सत्यता ॥ २९ ॥
काकतालीयवद्देहात्पैशाची ज्ञप्तिरस्ति चेत् ।
परलोकार्थसंवित्तिः कथं नास्ति सकारणा ॥ ३० ॥

'अथ साऽपि मुधा भ्रान्ति०' यह जो ऊपर कहा है, उसमें दोष दिखलाते हैं—'न पिशाच०' इत्यादिसे ।

अन्य शरीरमें स्थित पिशाचकी—सबके अनुभवसे सिद्ध पिशाचग्रस्त शरीरमें पिशाचविषयिणी—प्रमा ज्ञानोंके स्वतः प्रामाण्य होनेसे ही लोकमें सत्यरूपसे प्रसिद्ध है। वह भी यदि सत्य न प्रमाणित हुई, तो फिर मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए पुरुषकी प्रतिभा भी, जो मदशक्ति-समन्वित द्रव्यगत मदशक्तिविषयक है, कदापि सत्य प्रमाणित न होगी। अमत्त पुरुषोंके अनुभवसिद्ध अर्थोंका खण्डन करनेवाले तुम ठहरे, तुम्हारी प्रमत्त पुरुषकी प्रतीतिसे सिद्ध मदशक्तिका दूसरा कोई कैसे नहीं खण्डन कर सकता। ऐसी दशामें तुम्हारी दृष्टान्तासिद्धिके कारण ज्ञानमें भूतगुणत्वकी सिद्धि न हो सकनेसे परलोकात्मक स्थितिका यानी स्वर्गनरकादि स्थितिका तुम भला कैसे खण्डन कर सकते हो ॥ २८ ॥

सर्वजनप्रसिद्ध ज्ञानोंका स्वतः प्रामाण्य होनेसे 'पिशाच है' यदि यह संवित् सत्यार्थ है, तो फिर मृत प्राणीका भी परलोक है यानी कोई-न-कोई दूसरा लोक अवश्य है, यह श्रुतिजन्य प्रतीति भला सत्य क्यों न सिद्ध होगी [क्योंकि जो युक्ति तुम उपस्थित कर रहे हो उसी युक्तिके बलसे हम मृत प्राणीके परलोकका अस्तित्व सिद्ध कर रहे हैं। हमें युक्ति ढूँढ़नेके लिए कहीं और जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है] ॥ २९ ॥

और सुनो, पिशाचग्रस्तकी पैशाची ज्ञप्ति श्रुतिके समान किसी दृढ़तर प्रमाणसे जन्य नहीं है, किन्तु 'काकतालीय' न्यायवत् आकस्मिक है—अचानक उदित हुई है। ऐसी ज्ञप्ति भी यदि स्वानुभूत होनेसे प्रमा है, तो फिर श्रुति आदि दृढ़तर कारणोंके सहित विद्यमान परलोकार्थसंवित्ति भला प्रमा क्यों नहीं है ॥ ३० ॥

याऽन्तर्वेत्ति यथा संवित् सा तथाऽनुभवत्यलम् ।
अस्तु सत्यमसत्यं वा सिद्धमित्यनुभूतितः ॥ ३१ ॥
मृतस्यास्ति परो लोको विदित्येवंमयी भवेत् ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिंस्तेन किं सदसच्च किम् ॥ ३२ ॥
तस्मात्स्वभावः प्रथमं प्रस्फुरन्वेत्ति संविदम् ।
वासनाकारणं पश्चाद्बुद्ध्वा संपश्यति भ्रमम् ॥ ३३ ॥

एकमात्र अपने अनुभवके बलपर अर्थसत्ताका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि शुक्तिमें रजतका अनुभव होनेपर भी उसमें अर्थसत्ता नहीं दीखती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'याऽन्त०' इत्यादिसे ।

जो संवित् जिस पदार्थकी सत्ताको अपने भीतर जैसी जानती है उस पदार्थकी सत्ताको वह अपने भीतर वैसी ही भलीभाँति अनुभव करती है । शुक्ति-रजतसंवित् स्वप्रतिभासकालिक अर्थसत्ताका अवगाहन करती है, परन्तु पूर्व-कालकी संवित्का जब 'यह रजत नहीं है' इस उत्तरकालकी संवित्से बाध हो जाता है तब यह उत्तरकालकी बाधसंवित् सीपमें चाँदीकी त्रैकालिक असत्ता बतलाती है । ऐसी स्थितिमें प्रथम संवित्के बलसे रजतमें प्रातिभासिक सत्ता रहे या द्वितीय संवित्के बलसे असत्ता रहे, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अनुभवसे दोनों ही सिद्ध हैं [अनुभवका सहारा लिये बिना अर्थके रूपका अपलाप करना कोई बच्चोंका खेल नहीं है !] ॥ ३१ ॥

जीवितदशामें देहके उपस्थित रहनेपर श्रुति आदि प्रमाणके बलसे अथवा मृतदशामें देहके उपस्थित न रहनेपर स्वप्नवत् एकमात्र प्रतिभासके बलसे 'पर-लोक है'—इत्याकारक अनुभवस्वरूप संवित् यदि अवश्य होगी ही, तो फिर उस मृत्युसे क्या ? जीवित प्राणीके अनुभवसे सिद्ध सत् है और मृतके अनुभवसे सिद्ध असत् है अथवा इसके विपरीत प्रकारसे है, इसका अपलाप ही क्यों होगा—दोनोंमें किसीका भी अपलाप नहीं किया जा सकता । इस तरह श्रुति आदि प्रमाण हैं, यह सिद्ध हो गया ॥ ३२ ॥

यदि वह चार्वाक यह कहे कि कायाकारमें परिणत हुए भूतोंसे संवित्का उद्भव होता है, इसलिए शरीरके नष्ट हो जानेपर मृत प्राणीको पारलौकिकी बुद्धि ही न उत्पन्न होगी, तो इसपर उससे कहना यह चाहिये कि हे मित्र, संवित

तत्क्षयाच्छममायाति द्रष्टृदृश्यदृगामयः ।
तत्सत्तायामुदेतीयं संसृत्याख्या पिशाचिका ॥ ३४ ॥
उपलम्भ उदेत्यादौ ब्रह्मणो वासना ततः ।
तच्छान्तिं विद्धि निर्वाणं तत्सत्तां संसृतिभ्रमम् ॥ ३५ ॥

शाश्वत है, स्वतः सिद्ध है, प्रत्युत उसकी सिद्धिके बलसे ही वासनामय आतिवाहिक देह, तत्कल्पित स्थूल देह तथा बाह्यप्रपञ्चकी पीछे सिद्धि होती है। वासनाके सिवा कोई अन्य दृश्यप्रपञ्चकी सिद्धिमें हेतु नहीं है, इसलिए संवित्की उत्पत्ति देहके अधीन नहीं है। यह सूचित करते हुए महाराज वसिष्ठजी उस चार्वाकके प्रति वचनका उपसंहार करके 'वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः' इत्यादि श्लोकसे पहले जो यह उपक्रम किया गया है कि एकमात्र वासनाके क्षयसे ही सम्पूर्ण दृश्यका उच्छेद होता है इस उठाई गई बातका समर्थन करनेके लिए प्रस्ताव करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए * ज्ञानस्वभाव परमात्मा स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे स्फुरित होते हुए समस्त व्यवहारसे पहले निजस्वरूपभूत संवित्को, जो स्वतः नित्यसिद्ध है जानता है, जैसे अग्नि अपनी औष्ण्यप्रकाशरूपताको जानती है। उसके बाद वासनाओंकी उत्पत्तिमें उपादानकारण सर्वजगत्की वासनामय आतिवाहिक देहको जानकर फिर स्थूल देहादि संसारके भ्रमको देखता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सबसे पूर्वसिद्ध संवित्की सिद्धि देहके अधीन नहीं है ॥ ३३ ॥

अतएव एकमात्र वासनाके क्षयसे ही सूक्ष्मशरीरक्षय द्वारा सम्पूर्ण अनर्थोंका क्षय सिद्ध है, यह कहते हैं—'तत्क्षया०' इत्यादिसे।

वासनाके क्षयसे द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप रोग शान्त हो जाता है तथा वासनाकी सत्ता रहनेपर यह संसृतिनामक पिशाचिका उदित होती है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको संसार रचनेकी इच्छा * उत्पन्न होती है। तदनन्तर पूर्वकालकी जगद्वासनाओंका जगत्-रूपसे उद्भव होता है।

* अर्थात् चूँकि वेदादि प्रमाण सिद्ध हो गया है तथा ज्ञानोंमें स्वतःप्रामाण्यकी सिद्धि हो चुकी है, इसलिए।

* 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'—इत्यादि श्रुति देखिये।

उत्पन्नैव च सा नादौ परब्रह्मण्यसम्भवात् ।
उत्पन्ना समयाद्याऽसौ ब्रह्मैव परमेव सत् ॥ ३६ ॥

इसलिए वासनाकी शान्तिको आप निर्वाण समझिये और उसकी सत्ताको संसाररूप भ्रम जानिये ॥ ३५ ॥

यह कहिये कि वासना उत्पन्न कैसे हुई ? ब्रह्मसे तो वह उत्पन्न हुई नहीं, क्योंकि उसके तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे कारण होनेका निषेध है तथा असंग, कूटस्थ और अद्वय प्रतिपादक श्रुतियाँ भी इसीका समर्थन करती हैं। पूर्वकल्पीय जगत्से वह वासना उत्पन्न होती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो प्रलयकालमें स्वयं नष्ट हो जाता है उसमें दूसरेको पैदा करनेकी शक्ति ही कहाँ रह सकती है। यदि यह कहिये कि प्रलयमें जगत् नष्ट नहीं होता, वह स्वयं ही चरमभाव विकारसे सूक्ष्म होकर स्थित रहता है, इसलिए उसकी उस तरहकी स्थिति ही वासनात्मक प्रलय है, तो यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि इसपर मैं आपसे यह पूछता हूँ कि वैसी जगत्की स्थिति क्या प्रलयमें अपनी सत्तासे रहती है या ब्रह्मकी सत्तासे ? यदि आप यह कहें कि अपनी सत्तासे रहती है, तो आपके इस पक्षमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध पड़ता है। अब रहा आपका दूसरा पक्ष, इसमें हमारा यह कहना है कि जो स्वतः असत् है वह भला दूसरेकी सत्तासे स्थित रहता है यह भी कहना तो एक जबर्दस्त मिथ्या प्रलाप ही होगा न। इसलिए दोनों पक्षमें सृष्टि और प्रलयमें कोई विशेषापत्ति न होनेसे अभासमानकी सत्ताकी प्रसिद्धिके अभावमें जगत नष्ट होता है और स्थित भी रहता है, यह कहना तो 'वदतो व्याघात' दोषसे ग्रस्त ही है। ठीक है, यह सब आपका कथन हम मान रहे हैं। सुनिये, प्रलय या पूर्वसर्गमें वह वासना उत्पन्न ही है, यह आप कैसे कहते हैं, यह तो आप कह नहीं सकते कि वह वासना उत्पन्न ही है, क्योंकि असङ्ग अद्वय परब्रह्ममें अनुत्पत्ति तो आप पहले ही कह चुके हैं। फिर भी अद्वितीय ब्रह्मबोधके उपायरूपसे जबतक बोध नहीं हो जाता, तबतकके लिए आप कृपाकर 'वह वासना भी पहले किसी एक निमित्तसे अवश्य उत्पन्न हुई है, यह स्वीकार कर लीजिये, क्योंकि बिना कारणके जगत्की उत्पत्ति नहीं होती, यह शास्त्रसिद्ध है। हाँ, ब्रह्मज्ञान हो जानेके बाद तो फिर सारा संसार ही सद्रूपब्रह्म है और वह वासना भी परब्रह्मस्वरूप ही है ॥३६॥

एतावद्यत्परिज्ञानं तन्निर्वाणं विदुर्बुधाः ।
यदत्रैवापरिज्ञानं तं बन्धं विद्धि राघव ॥ ३७ ॥
विज्ञानघन एवायं कचनाकचनात्मकः ।
स्वयमेव कचत्यन्तर्न कचत्येव वा स्वयम् ॥ ३८ ॥
संविदंशपरावृत्तिमात्रे पेलवरूपिणि ।
बन्धदृङ्मोक्षदृक्चेति क्लेशस्तत्साधनं कियत् ॥ ३९ ॥
संविदुद्बोधने बन्धस्तदनुद्बोधने शिवम् ।
असत्सद्वज्जगद्भाति संविदुद्बोधनोदरम् ॥ ४० ॥

बिना असङ्ग अद्वय ब्रह्मका श्रुतियोंसे परिज्ञान किये वासनाकी अनुत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है । ब्रह्मका परिज्ञान हो जानेपर तो सम्पूर्ण संशयोंके बीजभूत अज्ञानका उच्छेद हो जानेसे निर्वाण ही सम्पन्न है । इसलिए वासनाकी उत्पत्ति आदिमें अनुपपत्तिकी शङ्का करना ठीक नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'एतावत्' इत्यादिसे ।

इतना जो यह परिज्ञान है उसीको तत्त्वज्ञानी लोग निर्वाण कहते हैं। इसलिए हे राघव, इस ब्रह्मके विषयमें जो प्राणीका अपरिज्ञान है उसीको आप बन्ध समझिये ॥ ३७ ॥

विज्ञानघन यह आत्मा ही प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक भी है । ज्ञात होनेपर यह स्वयं ही स्वप्रकाशरूपसे अन्दर स्फुरित होता है तथा ज्ञात न होनेपर यानी श्रुति आदि प्रमाणलाभके पहले यह बिलकुल स्फुरित नहीं होता ॥ ३८ ॥

'मैं बद्ध हूँ' इस भावनासे बन्धदर्शन और 'मैं नित्यमुक्त हूँ' इस भावनासे मोक्षदर्शन जब आत्माको अत्यन्त कोमलात्मा एकमात्र संविदंशके परिवर्तनमात्रसे प्राप्त होता है तब भला उसके साधनमें क्लेश ही कितना है ॥ ३९ ॥

इसको परीक्षक लोग व्युत्थान और समाधि तथा व्युत्थान और सुषुप्तिके द्वारा स्पष्ट देख सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'संविदुद्बोधने' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संवित्‌को यानी चित्तकी वृत्तिको बहिर्मुख कर देनेपर बन्ध और उसको समाधि द्वारा आत्मामें लीन कर देनेपर निर्वाण प्राप्त होता है । संवित्के उद्बोधनरूपी उदरवाला यह असत् संसार सत्‌के समान

अजडं वेदनं सुप्तं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
प्रबुद्धबन्ध इत्याहुर्यदिच्छसि तदाहर ॥ ४१ ॥

निर्वाणवासनमनन्तमनाद्यमच्छ-
बोधैकतानमपयन्त्रणमस्तशङ्कम् ।
अद्वैतमैक्यरहितं च निरस्तशून्य-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति ते सर्व आयाता ब्रह्मलोकनिवासिनः ।
अदृश्यतामेव गता दीपाः क्षीणदशा इव ॥ १ ॥

भासता है । इसका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिको बहिर्मुख कर देनेपर यह असत् संसार सत्के समान भासित होता है ॥ ४० ॥

सुप्त और अजड़ वेदन 'मोक्ष' कहलाता है तथा प्रबुद्ध वेदनको तत्त्वज्ञानी लोग बन्ध कहते हैं । इसलिए इन दोनोंमें आपको जिसकी इच्छा हो उसे चुन लीजिये ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बन्ध-मोक्ष आदिकी सारी शङ्काएँ छोड़कर आप निर्वाण-रूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, स्वच्छ बोधस्वरूप, अद्वैत और ऐक्यसे रहित, अशून्य (परिपूर्ण) ब्रह्मस्वरूप बनकर आकाशकोशके सदृश विशद अन्तःकरणसे युक्त, शान्त एवं बन्धनसे बिलकुल मुक्त होकर स्थित रहिये ॥ ४२ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सी सर्ग

[पूर्वसर्गमें वैज्ञानिक तत्त्वदृष्टिसे प्रलयक्रमका वर्णन हो चुका । अब योगिगम्य अन्य प्राकृत प्रलयक्रमका वर्णन]

विधाताकी वासनासे कल्पित उनके लोक, देव, भुवन आदि समस्त प्रपञ्चका

अथ ते द्वादशादित्या ब्रह्मणि ब्रह्मतां गते ।
जगद्वद्ब्रह्मलोकं तमदहन् भास्वरार्चिषः ॥ २ ॥
वैरिञ्चनगरं दग्ध्वा ध्यानं कृत्वा विरिञ्चिवत् ।
तेऽपि निर्वाणमाजग्मुर्निःस्नेहदशदीपवत् ॥ ३ ॥
तत एकार्णवापूरो विरिञ्चिनगरान्तरम् ।
रात्रौ भुवमिव ध्वान्तं पूरयामास सूर्मिमान् ॥ ४ ॥

जो प्रारब्धक्षयके अनन्तर क्षणभरमें ही उत्पन्न हुए साक्षात्कार द्वारा बाध है तद्रूप वैज्ञानिक प्रलयका, जो स्वप्नबाधके सदृश है, उसका मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिसे 'नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उपपत्तिपूर्वक पूर्व सर्गमें वर्णन हो चुका । अब बद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे, विधाताकी देह, उसके आरम्भक उपाधियों तथा उसके इन्द्रिय आदिकोंका अपने-अपने कारणमें लय-द्वारा मायाशबल ब्रह्ममें लयरूपी प्रलयका उपवर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—'इति' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह आये हुए वे सभी ब्रह्मलोकनिवासी अदृश्यरूपताको ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे बत्तीसे रहित दीप ॥ १ ॥

इसके अनन्तर जब विधाताकी देह मायाशबल ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो गई तब पूर्वोक्त वे उन बारह आदित्योंने, जो प्रकाशमयी ज्वालाओंसे युक्त थे, पृथिवी आदिकी तरह उस ब्रह्मलोकको भी भस्मीभूत बना डाला ॥ २ ॥

प्रारब्धवश अधिकारका अन्त हो जानेपर आदित्य आदि जितने अधिकारी जीव थे, वे भी चरमसाक्षात्कार द्वारा अपने-अपने समस्त प्रपञ्चका नाश हो जानेसे पूर्वोक्तके समान ही विदेहकैवल्यको प्राप्त हो गये, यह कहते हैं—'वैरिञ्चनगरम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, विधाताके नगरको जलाकर तथा विधाताके समान ही स्वयं ध्यान करके वे आदित्य आदि भी निर्वाणको ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तेल और बत्तीसे रहित दीप ॥ ३ ॥

उसके बादका दृश्य कैसा था, यह कहते हैं—'तत' इत्यादिसे ।

तदनन्तर सुन्दर विशाल तरङ्गोंसे युक्त एक महासागरकी बाढ़ने विधाताके

आब्रह्मलोकमभवज्जगदापूर्णमर्णसा ।
तुल्यं रसैकपूर्णेन पक्कद्राक्षाफलेन तत् ॥ ५ ॥
तत्तदूर्मिगिरिव्रातखगैरावलिताः खिलाः ।
विच्छिन्नाः कल्पजलदा जल एव निलिलियिरे ॥ ६ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र दृष्टवानहमम्बरात् ।
यावदभ्युदितं भीमं भीतः किञ्चिन्नभोन्तरात् ॥ ७ ॥
कल्पान्तजगदाकारं कृष्णमापूरिताम्बरम् ।
आकल्पं संभृतं नैशं देहेनेवोत्थितं तमः ॥ ८ ॥
तरुणादित्यलक्षाणां तेजसा आभास्वरं दधत् ।
आदित्यत्रयसङ्काशैः स्थिरविद्युच्चयोल्बणैः ॥ ९ ॥

नगरान्तरको ऐसे परिपूर्ण कर दिया, जैसे रातमें सारी पृथिवीको अन्धकार ॥४॥

ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा जगत्, केवल एकमात्र रससे परिपूर्ण पके हुए अङ्गूरके फलके सदृश, जलसे परिपूर्ण हो गया ॥ ५ ॥

उन-उन अनेक तरहके तरङ्गोंसे तैरते हुए पर्वतसमूहों तथा देवादिशरीरों से तोड़-फोड़ दिये जानेके कारण छिन्न-भिन्न हुए कल्पान्तोंके पुष्करावर्त आदि मेघ सब जलमें ही विलीन हो गये ॥ ६ ॥

इसी बीचमें वहाँ मैंने कोई एक भयङ्कररूप देखा, जो आकाशसे यानी ठीक आकाशके मध्यसे अभ्युदित हुआ था। मैं वह रूप देखते ही मारे भयके काँप गया ॥ ७ ॥

भयके कारणरूप अद्भुत विशेषणोंसे उसी रूपका वर्णन करते हैं—'कल्पान्त०' इत्यादि आठ श्लोकोंसे।

कल्पान्त जगत्के आकारके समान, आकाशको भर देनेवाला काला वह रूप देखनेमें ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो कल्पतकका प्रत्येक रातका एकत्रित हुआ सारा अन्धकार शरीर धारण करके सामने आकर खड़ा हो रहा हो ॥ ८ ॥

रङ्गमें काला होते हुए भी वह अपने तेजसे चमक रहा था, यह कहते हैं—'तरुणा०' इत्यादिसे।

लाखों तरुण आदित्योंके प्रकाशमय तेजको वह धारण कर रहा था। देदीप्यमान स्थिर बिजलीके समूह-जैसे तीन सूर्योंके सदृश नेत्रोंसे युक्त उसका

नेत्रैराभास्वरमुखं ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ।
पञ्चाननं दशभुजं त्रिनेत्रं शूलपाणिकम् ॥ १० ॥
आयान्तमन्तमुक्तेऽपि व्योम्नीव विततकृतिम् ।
खमिवासितघनश्यामं देहमासाद्य संस्थितम् ॥ ११ ॥
स्थितमेकार्णवापूर्णाद्ब्रह्माण्डाद्बहिरम्बरे ।
व्योमेव हस्तपादादिसंनिवेशेन लक्षितम् ॥ १२ ॥
घोणानिलपराघूर्चिविधूतैकमहार्णवम् ।
गोविन्दमिव दोर्दण्डक्षोभितक्षीरसागरम् ॥ १३ ॥
कल्पार्णवजलापूरं पुंस्त्वेनेव समुत्थितम् ।
मूर्तियुक्तमहङ्कारमस्तकारणमागतम् ॥ १४ ॥
कुलाचलबृहद्वृन्दमिवोड्डयनडम्बरैः ।
पक्षौघैरुत्थितं व्योम समस्तमभिपूरयत् ॥ १५ ॥
ततस्त्रिशूलनयनैर्मया रुद्रोऽयमित्यसौ ।
दूरादेव परिज्ञाय परमेशो नमस्कृतः ॥ १६ ॥

मुख तो बहुत ही ज्यादा चमकदार दीखता था। वह ज्वालाओंके पुञ्जको खूब उगिल रहा था। उसके पांच मुख थे, दस भुजाएँ थीं और तीन थे उसके नेत्र। वह अपने हाथमें शूल लिये हुए था, अन्तशून्य आकाशमें वह मानो आ रहा था, उसका आकाशकी तरह विशाल आकार था, दीप्त मेघकी तरह श्याम शरीर धारण कर वह स्थित था। एकमात्र महासागरके परिपूर्ण ब्रह्माण्डके बाहर आकाशमें वह अवस्थित था, हाथ, पैर आदिके रचनाविशेषोंसे लक्षित वह आकाश-जैसा था। अपनी नाककी श्वासवायुके गमनागमनसे वह उस एक महासागरको कम्पित कर रहा था। वह अपने भुजदण्डोंसे क्षीरसागरको क्षुभित कर देनेवाले गोविन्द भगवान्‌के सदृश था। उसे देखनेसे ऐसा मालूम हो रहा था कि महाप्रलयकालीन सभी समुद्रोंकी बाढ़ ही मानो पुरुषाकारसे स्वयं उपस्थित हो गयी हो, तथा सबका कारण होनेसे स्वयं कारणरहित सर्वसमष्टिरूप अहङ्कार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो। प्रतीत हो रहा था कि मानो उड़नेमें अत्यन्त कुशल अपने पक्षसमूहोंसे समस्त कुलपर्वतोंके महावृन्दने ही स्वयं अपने स्थानसे उड़कर सारे आकाशको पूर्ण कर दिया है। वैसा रूप देखनेके

श्रीराम उवाच

किं स तादृग्विधो रुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः ।
किं पञ्चवदनः कस्माद्दशबाहुः स तिष्ठति ॥ १७ ॥
किं त्रिनेत्रः किमुग्रात्मा किमेकः किंप्रयोजनः ।
केनेरितः किमकरोच्छायाऽऽसीद्‌द का मुने ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

काकुत्स्थरुद्रनामासावहङ्कारतयोत्थितः ।
विषमैकाभिमानात्मा मूर्तिरस्यामलं नभः ॥ १९ ॥

अनन्तर त्रिशूल तथा तीन नेत्रोंसे 'यह भगवान् जगदीश्वर रुद्र हैं' ऐसा जानकर मैंने दूरसे ही उस भगवान् परमेश्वरको नमस्कार किया ॥ ९–१६ ॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियोंमें महेश्वर नामसे प्रसिद्ध तो मायाशबल निराकार ब्रह्म ही है, फिर परमेश्वर किसलिए किन उपाधियोंसे पञ्चमुख आदिसे विशिष्ट मूर्ति धारण करता है ? अथवा सर्वात्मकका परिच्छिन्न मूर्तिभाव कैसे हो जाता है ? यों विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'किं स' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, सभी श्रुतियोंमें प्रसिद्ध वह परमेश्वर रुद्र उस तरहका—भयानक स्वरूपवाला क्यों है ? अर्थात् काले रङ्गका वह क्यों है, उसकी महा भयानक विशाल आकृति क्यों है, उसके पांच मुख कौन हैं, उसकी दस भुजाएँ कैसे हैं, वह रहता कहां है, उसकी तीन आँखें कौन हैं, वह उग्र क्यों है, उसका स्वरूप क्या है, सृष्टि आदिमें उसका प्रयोजन क्या है ? वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि वह स्वतन्त्र है, तो पूर्णकाम उसकी संहारमें प्रवृत्ति क्यों है, यदि वह परतन्त्र है, तो फिर वह किससे प्रेरित होकर कार्य करता है। उसने क्या किया, उस परमेश्वरके रुद्ररूप होनेपर उसकी इच्छारूप माया भी क्या थी, यह सब कहिये ॥ १७, १८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे काकुत्स्थ, वह परमेश्वर ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार आदिके विषयरूप सङ्कल्प, अध्यवसाय आदिके बीजभूत सर्वाभिमानात्मक मायावृत्तिरूप अहङ्कारतासे सम्पूर्ण जगत्‌के अध्यासके मूल स्तम्भभूत तथा समस्त प्राणियोंको रुलाने एवं सभी शरणागत प्राणियोंके रोगोंको

व्योमाकृतिः स भगवान् व्योमवर्णो महाद्युतिः ।
चिद्व्योममात्रसारत्वादाकाशात्मा स उच्यते ॥ २० ॥
सर्वभूतात्मभूतत्वात्सर्वगत्वान्महाकृतिः ।
यानि तस्यानुषक्तानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यलम् ॥ २१ ॥
तानि तस्य मुखान्याहुस्तपद्रूपाणि सर्वतः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयास्ते हि तस्य भुजा दश ॥ २२ ॥
सर्वभूतनरैः सार्द्धं ब्रह्मणा परमेयुषा ।
यदाऽसौ संपरित्यक्तस्तदा स्वां मूर्तिमागतः ॥ २३ ॥

दूर भगानेमें निमित्तभूत होनेके कारण रुद्रनामसे आविर्भूत है । वही प्राणियोंको रुलानेमें विषमाभिमानरूप तथा प्राणियोंके रोगोंको दूर करनेमें एकाभिमानरूप सम्पन्न होता है । इसकी जो मूर्ति मैंने देखी वह निर्मल आकाशरूप ही थी ॥१९॥

वस्तुतः महाप्रकाशस्वरूप वह भगवान् चिदाकाशमात्र सार होनेके कारण आकाशमात्र आकारवाला है, व्योमवर्ण है और वह आकाशात्मा ही कहा जाता है। सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो आत्मा है तद्रूप होनेसे तथा सर्वव्यापी होनेसे वह महान् आकारवाला है * ॥ २० ॥

उस अहङ्कारकी सम्पूर्ण जीवोंके प्रत्येक शरीरमें बिलकुल अनुषक्त जो पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं उन्हींको तत्त्वज्ञानी लोग रुद्र भगवान्के पांच मुख कहते हैं † । एकमात्र यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियां सब ओरसे प्रकाशस्वभाव हैं ॥ २१ ॥

वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ नामक जो पाँच कर्मेन्द्रियां हैं ये उसकी दाहिनी भुजाएँ हैं तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द नामक ये जो उन पांच कर्मेन्द्रियोंके पांच विषय हैं वे ही पांचों विषय उसकी बायीं भुजाएँ हैं—इस क्रमसे उसकी दस भुजाएँ हैं * ॥ २२ ॥

तब इस तरहकी मूर्तिसे वह पहले क्यों न देखा गया, यदि यह आशङ्का हो, तो इसका उत्तर यह है कि चराचर नामरूपात्मक कार्योंके आकारोंके अध्या-

---

* 'किं स तादृगविषोरुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः'—इन तीन प्रश्नोंका उत्तर इस श्लोकसे हो गया ।

† 'किं पञ्चवदनः' इस प्रश्नका उत्तर यह है ।

* 'कस्माद्दशबाहुः' इस प्रश्नका यह उत्तर है ।

स चैकांशैकरूपात्मा नास्ति तस्य हि साऽऽकृतिः।
तथा दृश्यत एवासौ भ्रान्तिमात्रेण मूर्तिमान् ॥ २४ ॥

चिदाकाशगते स्फारे भूताकाशे स तिष्ठति।
देहे च सर्वभूतानां नित्यं वायुरिवेश्वरः ॥ २५ ॥

सर्वभूतपरित्यक्तस्तस्मिन् काले खमूर्तिमान्।
क्षोभयन्स क्षणं क्षीणः परमां शान्तिमेष्यति ॥ २६ ॥

रोपसे व्यामूढदृष्टि होनेके कारण उसके अन्तर्गत कारणस्वभावका दुर्ग्रह होनेसे ही वह उस तरहकी मूर्तिसे युक्त न दीख पड़ा, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वभूत०' इत्यादिसे।

जैसे अपनेमें अध्यारोपितकार्यरूप पट तन्तुका परित्याग कर देता है वैसे ही चार प्रकारके शरीरों तथा तत्-तत् जीवोंके साथ प्रलयकालमें परमकारण मायाशबल ब्रह्मको प्राप्त हुए चतुर्मुख ब्रह्माजीने जब उसका भी परित्याग कर दिया तब वह पूर्वोक्त आकाशमात्रपरिशेषरूप वर्णित अपनी मूर्तिमें आ गया। अर्थात् कारणरूप अपनी मूर्तिमें स्फुट हो गया। कहनेका तात्पर्य यह है कि कारण-स्वभावके दुर्ग्रहसे ही वह इस तरहकी मूर्तिसे पहले न दीख पड़ा ॥ २३ ॥

यदि वह एकमात्र आकाशस्वरूप ही है, तो फिर निराकार उसकी पूर्ववर्णित देहाकृति क्यों दृष्टिगोचर हुई? इसपर कहते हैं—'स चैकांशैक०' इत्यादिसे।

और वह रुद्र समस्त कार्यविशेषोंके प्रलयके बाद अवशिष्ट कारणके एक अंशमात्रके आकारवाला है। उसकी देहाकृतिका जो मैंने वर्णन किया है यथार्थमें वह कुछ नहीं है, क्योंकि उसका कोई आकार ही नहीं है। उपासक लोग अपनी वासनासे एकमात्र भ्रान्ति द्वारा उसे वैसा मूर्तिमान् देखते ही हैं ॥ २४ ॥

चिदाकाशगत विशाल भूताकाशमें तथा समस्त भूतोंकी देहमें वायुकेसमान वह परमेश्वर नित्य स्थित रहता है * ॥ २५ ॥

उस प्रलयकालमें एक क्षणतक सबको क्षोभित करते हुए, सम्पूर्ण भूतोंसे परित्यक्त होकर चिदाकाशमात्र मूर्तिधारी वह परमेश्वर परमशान्तिको प्राप्त हो जायगा ॥ २६ ॥

* 'स क्व तिष्ठति' (वह कहाँ रहता है) इस प्रश्नका यह उत्तर है।

ये गुणाकृतयः कालाश्चित्ताहङ्कारबुद्धयः ।
प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः ॥ २७ ॥
रुद्रस्य तस्य ते नेत्रसन्निवेशेन संस्थिताः ।
त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे ॥ २८ ॥
यस्मात्तद्व्यतिरेकेण सर्वभूतगणेष्वपि ।
अन्यन्न विद्यते किञ्चिद्देहात्मैव ततः स्थितः ॥ २९ ॥
सर्वसत्त्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम् ।
ईरितः शिवरूपेण चिन्मात्राकाशरूपिणा ॥ ३० ॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुणोंके आकार ; भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल ; चित्त, अहंकार और बुद्धि ; अ, उ, और म्—ये तीनों प्रणवके अक्षर तथा ऋक्, यजु और साम—ये जो तीन वेद हैं वे ही उस रुद्र भगवान्के तीनों नेत्ररूपसे संस्थित हैं* । अपने मुष्टिच्छिद्रमें उसने त्रिशूलरूपी तीनों लोक धारण कर रक्खे हैं † ॥ २७, २८ ॥

अब 'किमात्मा' इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'यस्मात्' इत्यादिसे ।

चूँकि समस्त भूतसमूहोंमें उस परमेश्वरसे भिन्न और कुछ नहीं है, इसलिए समस्त भूतगणोंकी जो देह है उसी रूपसे वह स्थित है । अर्थात् समस्तभूतोंमें अहङ्कारात्मक रुद्रके अभिध्यानसे ही वह देहात्मत्वाभिमानी है‡ ॥ २९ ॥

'किं प्रयोजनः' इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

स्वविरचित सम्पूर्ण जीवोंको अपने-अपने कर्मोंके अनुसार विषयभोगरूप उपलम्भ तथा क्रमशः ज्ञानसाधनप्राप्तिके अन्तमें स्वात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप जो शास्त्रीय विहित और निषिद्ध कर्मोंके ज्ञान एवं फल देनेका स्वभाव है वही सृष्टि आदिमें प्रयोजक होनेसे उसका प्रयोजन है अर्थात् समस्त जीवोंको उनके

* 'किं च नेत्रः' इस प्रश्नका यह उत्तर है ।

† 'किमुग्रात्मा' यहाँ किम् शब्दका उग्र और आत्मा दोनोंमें अन्वय होनेसे 'किमुग्रः, किमात्मा' ये जो दो प्रश्न पूछे गये हैं उनमें प्रथम प्रश्नका यह उत्तर है अर्थात् किस त्रिशूलके धारणसे वह उग्र है, इस गूढार्थक प्रश्नका, जो श्रीरामचन्द्रजीको अभिप्रेत है, यह उत्तर है ।

‡ देखिये भगवान् बादरायणका यह सूत्र—'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' [३।२।१।५] ।

तेनैव च निगीर्णः सन् परमां शान्तिमेत्यसौ ।
निर्मलाकाशरूपात्मा कृष्ण इत्येष ईश्वरः ॥ ३१ ॥
कृत्वा कल्पं जगत्सर्वं तत्पीत्वैकार्णवं तदा ।
स प्रयाति परां शान्तिमभूयःसन्निवृत्तये ॥ ३२ ॥

तत्-तत् कर्मोंके अनुसार विषयफल प्रदान करनेका तथा अधिकारी पुरुषोंको ज्ञान प्रदान करनेका जो स्वभाव है वही उस परमेश्वरका सृष्टि आदिमें प्रयोजन है*। भाव यह कि सर्वसत्त्वोपलम्भरूप स्वभाव ही उसका प्रयोजन है, और कुछ नहीं। चिन्मात्राकाशरूप शिवस्वरूप परमात्मा यानी वाणी और मनके अगोचर निरतिशय भूमानन्दात्मक परम कल्याणमय स्वरूप परमात्मा स्वयं अपनेसे ही 'बहुस्यां प्रजायेय' इस सङ्कल्पात्मक मायावृत्ति द्वारा एकसे बहुत होनेकी इच्छासे प्रेरित होकर जगत्की रचना करता है। और उसी अपने चित्स्वरूपसे प्रलयके लिए स्वयं प्रेरित होकर सर्गक्रमके विपरीत क्रमसे जगत्को निगल कर यानी स्वविरचित जगतका संहार कर आकाशरूपसे स्थित हो जाता है। तदनन्तर स्वयं भी वह अपने उसी परम कल्याणमयरूपसे निगीर्ण होता हुआ अपने उस आकाशभावका भी परित्याग करके भूमानन्दस्वरूप प्रतिष्ठारूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है† ॥ ३० ॥

'किं कृष्णः' इत्यादि सभी प्रश्नोंका उपपत्तिपूर्वक जो उत्तर दिया गया है उसका स्मरण कराते हुए अब महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—'निर्मला०' इत्यादि डेढ़ श्लोकसे।

निर्मल चिदाकाशरूप यही परमेश्वर महाकाल रुद्रका रूप धारण कर प्रलय लाकरके सारे जगत्को एक महासागरके रूपमें परिणत कर देता है और जब सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र महासागरके रूपमें परिणत हो जाता है तब उस महासागरका जल पीकर पुनः शरीर न धारण करनेके लिए परमशान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३१, ३२ ॥

* देखिये गौड पादाचार्यने क्या कहा है—
'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा'।

† 'केनेरितः' इस प्रश्नका यह उत्तर है।

अनन्तरं मया दृष्टस्तत्रासौ यावदुद्यमात् ।
प्रवृत्तः प्राणवेगेन तमाक्रष्टुं महार्णवम् ॥ ३३ ॥
अथ तस्य मुखं स्फारं ज्वालामालाकुलान्तरम् ।
प्राणाकृष्टो महाम्भोधिर्वाडवाग्निमिवाविशत् ॥ ३४ ॥
स एव वाडवो भूत्वा वह्निराकल्पमर्णवे ।
अहङ्कारः पिबत्यम्बु रुद्रः सर्वं तु तत्तदा ॥ ३५ ॥
पातालमिव पानीयं सर्पो बिलमिव क्षणात् ।
पञ्चवायुरिवाकाशमविशत्तन्मुखं जवात् ॥ ३६ ॥
समुपेत्यापिबद्रुद्रः स मुहूर्तेन तत्पयः ।
कृष्णाङ्गोऽर्क इव ध्वान्तं सत्सम्पर्क इवागुणम् ॥ ३७ ॥

'किमकरोत्' इस उपान्त्य प्रश्नका उत्तर सुननेके उत्सुक श्रीरामचन्द्रजीको जानकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वैसा भयङ्कररूप देखनेके बाद मैंने देखा कि वहाँ यह परमेश्वर उद्यम करके यानी उद्यत होकर श्वासवायुके वेगसे उस महासागरको पी जानेमें प्रवृत्त हो गये ॥ ३३ ॥

इसके अनन्तर श्वासवायुसे आकृष्ट महासागर उनके विशाल मुखमें, जिसका भीतरी भाग ज्वालामालाओंसे व्याप्त था, *ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे बड़वानलमें ॥ ३४ ॥

अन्य कालमें भी जल सूख जानेपर तेजमें ही उसका उपसंहार प्रसिद्ध है, इस आशयसे कहते हैं—'स एव' इत्यादिसे ।

वही अहङ्काररूप रुद्र कल्पपर्यन्त समुद्रमें बड़वानल होकर अवस्थित रहता है, परन्तु जब प्रलयकाल आ जाता है तब वह समुद्रके उस सारे जलको पी जाता है ॥ ३५ ॥

जैसे जल पातालमें, साँप बिलमें और पञ्चपवन प्राणियोंके मुखाकाशमें प्रविष्ट होता है वैसे ही एक ही क्षणमें बड़े वेगसे आकर वह भगवान् रुद्रके मुखमें प्रविष्ट हो गया और महाकाल रुद्र भगवान्‌ने भी उस सारे जलको सिर्फ एक

---

* तेजमें ही जलका उपसंहार हुआ, यह दिखलानेके लिए 'ज्वालामालाकुलान्तरम्' यह विशेषण दिया गया है ।

आब्रह्मलोकपातालं शान्तं शून्यमथाभवत् ।
रजोधूमानिलाम्भोधिभूतमुक्तं समं नभः ॥ ३८ ॥
केवलं तत्र दृश्यन्ते चत्वारो व्योमनिर्मलाः ।
इमे पदार्था निस्पन्दाः शृणु तान् रघुनन्दन ॥ ३९ ॥
एकस्तावदसौ मध्ये रुद्रः कृष्णाम्बराकृतिः ।
निराधारः स्थितो व्योम्नि निस्पन्दामोदबिम्बवत् ॥ ४० ॥
द्वितीयोऽवस्थितो दूरे पृथ्व्याकाशतलोपमः ।
भागो ब्रह्माण्डसदनस्याधःपातालसप्तकात् ॥ ४१ ॥
पातालभूतलदिवां सशैलेन्द्रदिवौकसाम् ।
व्याप्तः पार्थिवभागेन पङ्कमात्रात्मनात्मभाक् ॥ ४२ ॥
तृतीयोऽत्र पदार्थोऽभूदूर्ध्वं ब्रह्माण्डभागभूः ।
दृष्टिक्षयात्सुदूरत्वाद् दुर्लक्ष्यगगनासितः ॥ ४३ ॥

मुहूर्तमें ही ऐसे पी लिया, जैसे सूर्य भगवान् अन्धकारको तथा सज्जनोंका सम्पर्क दोषसमूहको ॥ ३६, ३७ ॥

इसके बाद ब्रह्मलोकसे लेकर पातालतक सब स्थान ऐसे शान्त और शून्य हो गया, जैसे धूल, धूम, वायु और मेघ—इन भूतोंसे रहित सब तरहके वैषम्यसे निर्मुक्त आकाश ॥ ३८ ॥

उस समय वहाँ आकाशके समान निर्मल तथा स्पन्दशून्य ये केवल चार पदार्थ ही दीख रहे थे। हे रघुनन्दन, उन्हें आप सुनिये [मैं कहता हूँ] ॥३९॥

उनके मध्यमें एक तो काले रङ्गके आकाशके सदृश आकृतिवाले, निराधार भगवान् रुद्रदेव, स्पन्दनशून्य सौरभ बिम्बकी तरह, आकाशमें स्थित थे ॥ ४० ॥

दूसरा सप्त पातालके बहुत दूर पृथिवी और आकाशतलके सदृश ब्रह्माण्ड-सदनका अधोभाग स्थित था ॥ ४१ ॥

शैलेन्द्रों तथा देवताओंके सहित पाताल, भूतल तथा स्वर्गके बिलकुल भस्म हो जानेके कारण यानी तीनों लोकों तथा उनके भीतर रहनेवाले सभी पदार्थोंके भस्मरूप बन जानेके कारण पुनः जलक्लेदन द्वारा एकमात्र पङ्करूपमें परिणत हुए पार्थिवभागसे व्याप्त होकर वह ब्रह्माण्डसदनका अधोभाग ऊर्ध्वभागकी अपेक्षा अवश्य कुछ समृद्धस्वरूप था ॥ ४२ ॥

उनमें तीसरा पदार्थ ब्रह्माण्डखण्डका ऊर्ध्वभाग स्थित था। बहुत दूर होनेके

दूरविश्लिष्टयोर्मध्यं यत्तद्ब्रह्माण्डखण्डयोः ।
तदाकाशमनाद्यन्तं ब्रह्मनिर्मलमाततम् ॥ ४४ ॥
चतुर्थोऽसौ पदार्थस्तु तदा संलक्षितो मया ।
चतुष्टयादृते नान्यदेतस्मादेव किञ्चन ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

बहिः किं विद्यते ब्रह्मन् ब्रह्मसद्मकटाहतः ।
कास्तत्रावरणा ब्रूहि कियत्यः संस्थिताः कथम् ॥ ४६ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्माण्डखण्डयोः पारे ततो दशगुणं जलम् ।
सन्ध्याकाशमनन्तं तद्वर्जयित्वा ततः स्थितम् ॥ ४७ ॥

कारण वहाँतक आँखोंकी ज्योतियोंकी पहुँच न हो सकनेसे वह दुर्लक्ष्य काले वर्णके आकाशके सदृश था ॥ ४३ ॥

चौथा पदार्थ तो इन दोनोंके बीचमें स्थित आकाश ही था, यह कहते हैं—'दूर०' इत्यादिसे ।

बहुत दूर विभक्त हुए ब्रह्माण्डके उन दोनों खण्डोंके बीचमें जो स्थित था वह तो एकमात्र आदि-अन्तशून्य सर्वत्र व्याप्त निर्मल ब्रह्माकाश ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, वही उनमें चौथा पदार्थ था, जिसका मैंने उस समय अवलोकन किया । मेरी आँखोंके सामने उपस्थित इन चार पदार्थोंके बीचमें इन चारोंसे अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ नहीं था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ४४, ४५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आवरणयुक्त उन ब्रह्माण्डखर्परोंके बाहर क्या है, उनके कौन-कौन आवरण हैं, वे कितने हैं तथा बिना आधारके वे सब वहाँ संस्थित कैसे हैं, कृपाकर यह कहिये ॥ ४६ ॥

इन चार प्रश्नोंमें पहले बीचके दो प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इन ब्रह्माण्डखण्डोंके पारमें उनसे दश गुण अधिक विस्तृत जल है । और वह जल इन दोनों खण्डोंके

ततस्तथैव ज्वालात्म तेजो दशगुणं स्थितम् ।
ततस्तथैव पवनः पवनो निर्मलः स्थितः ॥ ४८ ॥
ततस्तथैव विमलं नभो दशगुणं स्मृतम् ।
ततः परममत्यच्छं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ॥ ४९ ॥
अन्यत्रान्यत्र तस्याथ दृष्टयोऽन्यास्तथैव खे ।
कचन्त्यनन्ता दूरस्था मिथो दृष्टात्मसृष्टयः ॥ ५० ॥

अति विस्तृत सन्ध्याकाशको छोड़कर उसके बाहर ही खूब विस्तृतरूपसे स्थित है ॥ ४७ ॥

उसके बाद जलके दशगुण ज्वालात्मक तेज अवस्थित है। उसके अनन्तर जलके समान ही उस जलको पवित्र करनेवाला तथा स्वयं निर्मल पवन स्थित है ॥ ४८ ॥

उसके बाद उस पवनके समान ही दशगुण विमल आकाश स्थित है। [प्रथम प्रश्नका उत्तर देते हैं—'ततः' से] हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर परम-पवित्र, अतिसूक्ष्म होनेके कारण अत्यन्त ही स्वच्छ अनन्त मायाशबल ब्रह्माकाश स्थित है ॥ ४९ ॥

आकाशसे परे उससे दशगुण अधिक अहङ्कारतत्त्व, उससे दशगुण अधिक महत्तत्त्व और उसके आगे अनन्त प्रकृतिका वर्णन जो पुराण आदिमें मिलता है, उसका यहाँ परित्याग क्यों किया ? इस शङ्कापर कहते हैं—'अन्यत्र' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मायाशबल ब्रह्मके स्वरूपाकाशमें योगि-माहेश्वर-पाञ्चरात्र तथा कापिल आदि तन्त्रोंमें महत्, अहङ्कार आदि तत्त्वभेदके आवरणके विषयमें भिन्न-भिन्न कल्पनादृष्टियाँ अनन्तरूपसे स्फुरित हो रही हैं। किन्तु परस्पर विवादग्रस्त देखी गईं उनकी स्वरूपकल्पनाकी सृष्टियाँ पुराणोंमें मिलती हैं, श्रुतियोंमें नहीं, इसलिए हमने उनकी उपेक्षा कर दी है, इसका तात्पर्य यह है कि अन्य-अन्य योगी, महेश्वर पाञ्चरात्र तथा कपिल आदिके मतके अनुसार मायाशबलित ब्रह्माकाशमें महत्तत्त्व आदि दृष्टिकी कल्पनाएँ भी एक-एकसे दशगुण अधिक हैं। लेकिन परस्पर विवादग्रस्त होनेसे हमने उनकी उपेक्षा कर दी है ॥ ५० ॥

श्रीराम उवाच

ऊर्ध्वे ब्रह्माण्डखण्डस्य तथाधस्तान्मुनीश्वर ।
तज्जलादि महाकारं क्व कथं केन धार्यते ॥ ५१ ॥

वसिष्ठ उवाच

सपार्थिवपदार्थानां स्थितः पुष्करपत्रवत् ।
भागस्तमेवाधावन्ति ते सुता मातरं यथा ॥ ५२ ॥
अतो यदेव नेदीयो ब्रह्माण्डाख्यं महावपुः ।
तत्पदार्थाः प्रधावन्ति तृषिताः सलिलं यथा ॥ ५३ ॥
अवलम्ब्य तदेवान्तः संस्थितास्तैजसादयः ।
न स्थितिं प्रविमुञ्चन्ति स्वां यथाऽवयवा इव ॥ ५४ ॥

अवशिष्ट चौथे प्रश्नका स्मरण दिलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'ऊर्ध्वे' इत्यादिसे ।

हे मुनीश्वर, ब्रह्माण्डखण्डके ऊपर तथा नीचे उससे भी उत्तरोत्तर दश-दश गुण अधिक विस्तारवाला होनेके कारण महान् आकारवाले जलादिको कहां कौन कैसे धारण करता है ॥ ५१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पार्थिव पदार्थोंका जो भाग ब्रह्माण्डखर्परपर है वह कमलपत्रके समान स्थित है । उसी भागको वे आधारादि-भावसे ऐसे आश्रयण करते हैं, जैसे वानरीके शिशु अपनी मांको । अर्थात् जैसे वानरीके बच्चे अपनी मांको पेटमें अच्छी तरह पकड़के दौड़नेपर भी नहीं गिरते, वैसे ही इनकी भी स्थिति है । अथवा उस ब्रह्माण्डखर्परकी ओर उसकी आकर्षणशक्तिसे आकृष्ट होकर वे ऐसे दौड़ते हैं, जैसे वानरीके बच्चे अपनी मांकी ओर दौड़ते हैं ॥ ५२ ॥

उस ब्रह्माण्डखर्परके ऊपर स्थित जलके न गिरनेमें भी यही न्याय है, इस आशयसे कहते हैं—'अतो' इत्यादि ।

इसलिए हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डनामक जो महाशरीर अत्यन्त समीप है उसकी ओर वे सब पदार्थ ऐसे दौड़ते हैं, जैसे तृषित प्राणी जलकी ओर ॥ ५३ ॥

जैसे शरीरमें संयुक्त हाथ, पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़संयोग स्थितिको नहीं छोड़ते वैसे ही उसीका आभ्यन्तर अवलम्बन करके तैजस आदि सब पदार्थ अवस्थित हैं ॥ ५४ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ब्रह्माण्डखण्डे ते तिष्ठतः कथमुच्यताम् ।
किमाकृती धृते केन कथं वा परिनश्यतः ॥ ५५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अधृतं धृतमेवोच्चैरपतच्चैव वा पतत् ।
अनाकृत्येव साकारं जगत्स्वप्नपुरं यथा ॥ ५६ ॥
किमस्य नाम पतति किं वा केनास्य धार्यते ।
यथा संवित्तिकचनं तथैतदवतिष्ठते ॥ ५७ ॥
यथा केशोण्डूकं व्योम्नि यथा च व्योम्नि शून्यता ।
यथा वा पवने स्पन्दो जगच्चिद्गगने तथा ॥ ५८ ॥

और आवरणोंके आधारभूत दोनों ब्रह्माण्डखर्परोंका, जो भारी होनेसे अवश्य गिर जानेवाले हैं, आधार क्या है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आप कृपाकर यह मुझसे कहिये कि वे ब्रह्माण्डखण्ड कैसे अवस्थित रहते हैं, उनका आकार क्या है, किसने कैसे उन्हें धारण कर रक्खा है, अथवा वे गिरकर नष्ट कैसे होते हैं ॥ ५५ ॥

यह जो आधारादिकी चिन्ता हो रही है, सो सत्यतादृष्टिमें ही है । मिथ्या-दृष्टिमें तो जो अत्यन्त भारी पदार्थ हैं उनके भी आधार आदिका कोई नियम नहीं है, यह स्वप्नदृष्टान्तसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अधृतम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यद्यपि इसको किसीने धारण नहीं किया है, फिर भी परमात्माकी अचिन्त्य धारणात्मिका शक्तिसे यह अच्छी तरह धृत है ही । यह बिलकुल गिरता हुआ भी नहीं गिर रहा है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आकृतिशून्य (निराकार होनेपर भी) स्वप्ननगरके सदृश साकार है ॥ ५६ ॥

इस मायिक जगत्का क्या पतन होगा अथवा इसमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसका कोई धारण करेगा । यह ठीक वैसा ही अवस्थित है जैसा कि संवित्तिका स्फुरण है अर्थात् चितिशक्तिके स्फुरणके अनुसार यह अवभासित हो रहा है ॥ ५७ ॥

जैसे आकाशमें केशोण्डूक श्यामता है तथा जैसे आकाशमें शून्यता है एवं पवनमें जैसे स्पन्दन है, वैसे ही चिदाकाशमें यह जगत् है ॥ ५८ ॥

चितौ सङ्कल्पनगरं ब्रह्माण्डाख्यं जगद्गृहम् ।
खे खमेवाप्यनाकारं प्रत्याकारमिव स्थितम् ॥ ५९ ॥
पातसंवित्समुद्भूतं पतदास्ते दिवानिशम् ।
गच्छन्त्या संविदोद्भूतं गच्छदास्ते दिवानिशम् ॥ ६० ॥
स्थितसंवित्समुद्भूतं तिष्ठदास्ते दिवानिशम् ।
उत्पतन्त्या चितोद्भूतमुत्पतत्येव तिष्ठति ॥ ६१ ॥
एति नाशविदा नाशं महाकल्पादिवेदनैः ।
जायते जन्मसंवित्त्या व्योम्नि सर्गादिवेदनैः ॥ ६२ ॥
आभाति मौक्तिकगणः शरदम्बरान्त-
र्दृष्टावसत्य उदितोऽप्यतिसत्यरूपः ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चितिमें ब्रह्माण्डनामक सङ्कल्पनगर है, उसके अन्दर अनेक जगत्‌रूपी घर हैं । चिदाकाशमें निराकार चिदाकाश ही प्रतिनियताकारके समान यानी नियत आकारवालेके सदृश स्थित है ॥ ५९ ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंका नियत या अनियत स्वभाव संवेदनके अनुसार ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'पातसंवित्' इत्यादिसे ।

पतनके अध्याससे युक्त संवित्‌से उत्पन्न यह जगत् रात-दिन गिरनेमें तत्पर है । तथा गमन-अध्याससे युक्त संवित्‌से यह रात-दिन गमनमें ही तत्पर है ॥ ६० ॥

स्थितिके अध्याससे युक्त संवित्‌से समुद्भूत यह संसार सदा अवस्थित है तथा ऊर्ध्वगमनमयी चितिसे उद्भूत यह संसार निरन्तर ऊर्ध्वगमनोन्मुख ही बना रहता है * ॥ ६१ ॥

'कथं वा परिनश्यतः' इसका उत्तर देते हैं—'एति' इत्यादिसे ।

महाकल्पादिके सङ्कल्पों द्वारा नाशसंवित्‌से वह ब्रह्माण्ड नष्ट होता है और सबकी सृष्टिके आरम्भमें सृष्टि-सङ्कल्पों द्वारा जन्मयुक्त संवित्‌से चिदाकाशमें वह उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शरत्कालीन आकाशकी ओर देख रहे पुरुषकी

---

* 'किमाकृती धृते केन' इन दोनों प्रश्नोंका भी—'वे दोनों ब्रह्माण्डखण्ड स्वसंवित्‌से कल्पित नियत तथा अनियत आकारवाले हैं और एकमात्र संवित्‌ने ही इन्हें धारण कर रक्खा है'—यह उत्तर अर्थतः प्राप्त हो गया ।

भ्रान्त्या यथा नभसि च स्फुरतां तथैषां
संख्यां विधातुमिह को जगतां समर्थः ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥८०॥

एकाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे ।
प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं विततकृतिम् ॥ १ ॥
व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्व्यापितां निजाम् ।
महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ॥ २ ॥

दृष्टिमें बेरके आकारके सदृश असत्य मोतियोंका समूह सत्य-सा भासता है, वैसे ही असत्य ही उदित यह संसार अतिसत्यस्वरूप-सा भास रहा है। चिदाकाशमें ये जितने जगत् भ्रान्तिसे स्फुरित हो रहे हैं, ठीक-ठीक उन सबकी गणना करनेमें भला यहाँ कौन समर्थ है* ॥ ६३ ॥

अस्सी सर्ग समाप्त

इक्यासी सर्ग

[प्रलयकालमें नृत्य कर रहे भयङ्कर रुद्र तथा जगद्रूपी अङ्गवाली उसकी छाया कालरात्रिका वर्णन]

'किमकरोत्' 'छायाऽऽसीद्रुद्र का मुने' इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए उपक्रम बाँधते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, इसके बाद मैंने उस महाकाशमें मत्त उस रुद्र भगवान्‌को नृत्य करनेमें प्रवृत्त देखा, उस समय उनका आकार बहुत दूरतक फैला हुआ था, आकाशके सदृश उन्होंने विशाल आकृति प्राप्त की थी, अपनी

---

* द्विवचनान्तसे किये प्रश्नोंका एक वचनान्तसे उत्तर देनेमें यह एक विशेष कारण समझना चाहिए। यहाँ 'जातावेकवचनम्' यह सूत्र स्मर्तव्य है।

अर्केन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम् ।
घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ॥ ३ ॥
बडवाग्निदृशं लोलभुजोर्मिभरभासुरम् ।
एकार्णवाणों द्राग्देहबन्धेनेव समुत्थितम् ॥ ४ ॥
पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः ।
छायेव परिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ॥ ५ ॥
सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे ।
स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ॥ ६ ॥
यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः ।
सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ॥७॥
कृष्णा कृशा शिरालाङ्गी जर्जरा विततात्कृतिः ।
ज्वालाकुलानना लोलवनसंभारशेखरा ॥ ८ ॥

व्यापिता—व्यापकताका उन्होंने त्याग नहीं किया था, उनका वह आकार महान् था, मेघके सदृश उनका श्याम वर्ण था, उनसे दसों दिशाएँ चारों ओरसे खूब व्याप्त थीं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये तीनों उनके तीन नेत्र थे, चञ्चल दसों दिशाएँ ही उनके वस्त्रके स्थानमें थीं, घन तथा दीर्घ प्रभाजालसे वे युक्त थे, इसीलिए वे देखनेमें नील प्रभाज्वालाओंके बन्धनस्तम्भ-जैसे मालूम पड़ रहे थे, वड़वाग्निकी तरह तो उनकी आँखें थीं, चञ्चल भुजारूपी तरङ्गमालाओंसे उनका शरीर खूब चमकीला दीख रहा था, इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो सबको जलमय बनानेवाले प्रलयकालके महासागरका जल ही शरीर ग्रहण कर अभी आविर्भूत हुआ हो। इसके अनन्तर मैं क्या देखता हूँ कि भगवान् रुद्रके नृत्यका अनुकरण करती हुई उनके शरीरसे मानो छाया निकल रही है ॥१—५॥

देखते ही बलात् मेरे मनमें ऐसी आशङ्का उठी कि भला सूर्योंके उपस्थित न रहते महान् अन्धकारसे परिपूर्ण आकाशमें यह छाया स्थित कैसे है ॥ ६ ॥

यह मैं जब विचार कर रहा था कि इतनेमें तत्क्षण ही वह उस समय नाच करती हुई भगवान् रुद्रके सामने आकर खड़ी हो गई। डील-डौलमें विशाल वह अपनी सुन्दर तीन आँखोंसे शोभित हो रही थी ॥ ७ ॥

उसके रूपका वर्णन करते हैं—'कृष्णा' इत्यादिसे।

भिन्नाऽञ्जनतमःश्यामा यामिनीवाकृतिं गता ।
तमःश्रीर्देहयुक्तेव साकारेवाम्बरद्युतिः ॥ ९ ॥
अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव दिङ्मुखम् ॥ १० ॥
कृशा बहूपवासेव परिनिम्नमहातनुः ।
कज्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥ ११ ॥
कृशाऽशक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
ग्रथितेव शिरारूपैर्दामभिर्दैर्घ्यशालिभिः ॥ १२ ॥
तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःखुरम् ।
मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाधोगमागमैः ॥ १३ ॥

वह रङ्गमें काली थी, पतली थी, उसके सारे अंगोंमें नस ही नस दीख रही थी, उसके सभी अङ्ग शिथिल थे, आकृति उसकी विशाल थी, उसका मुख ज्वालाओंसे व्याप्त था; चञ्चल वनसमृद्धिकी नाईं पुष्प, पल्लव आदिसे विभूषित श्यामल उसका मस्तक था ॥ ८ ॥

घनीभूत अञ्जनरूप तमके समान उसका श्याम वर्ण था, इसलिए देखनेमें वह दूसरी मूर्तिमती यामिनी-जैसी, शरीरयुक्त अन्धकारकी शोभा-सी तथा साकार श्यामवर्ण आकाशकी द्युति-जैसी प्रतीत हो रही थी ॥ ९ ॥

वह बहुत लम्बी थी, उसका मुख बड़ा ही भयानक था । वह ऐसी खड़ी थी, मानो अपनी लम्बी देहसे आकाश नापनेको उद्यत हो या आकाशसे अपनी समता कर रही हो । वह मानो अपनी दीर्घ जानु और भुजाओंके भ्रमणसे समस्त दिशाओंके मुखको ही नापनेकी इच्छा कर रही थी ॥ १० ॥

उसे देखनेसे यही प्रतीति हो रही थी, मानो बहुत दिनोंतक अधिक उपवास करनेसे ही वह ऐसी दुबली हो गई है । उसकी लम्बी देहमें सर्वत्र गड्ढे ही गड्ढे दीख रहे थे । कज्जलके सदृश श्याम वर्णकी वह पवनसे आकुल मेघोंकी माला-जैसी थी ॥ ११ ॥

उसे देखनेसे ऐसा भान हो रहा था कि अत्यन्त लम्बी और दुबली उसे खड़ी होनेमें भी जब विधाताने असमर्थ देखा है तब मानो उन्होंने शिरारूपी लम्बी रस्सियोंसे बाँध दिया है, ताकि यह अच्छी तरह खड़ी रहे ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह इतनी अधिक लम्बी थी कि हजारों वर्षोंतक

अन्त्रान्त्रतन्त्रीग्रथितशिरःकरखुरोत्करा ।
आमूलात् सूत्रवलिता कण्टकानामिव स्थली ॥ १४ ॥
विश्वरूपमयार्कादिशिरःकमलजालकैः ।
कृतमालाऽमलालोकवातवह्निमयाञ्चला ॥ १५ ॥
प्रलम्बकर्णा लुलितनागा नृशवकुण्डला ।
शुष्कतुम्बीलताष्ठीला दीर्घा लोलाऽसितस्तनी ॥ १६ ॥
कुमारबर्हिपिच्छौघैर्ब्रह्ममूर्द्धजमण्डलैः ।
लाञ्छितोच्चसुराधीशशिरःखट्वाङ्गमण्डला ॥ १७ ॥
दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्योतपाततः ।
तमोर्णवोद्भवलेखेव वृत्तावर्तविवर्तिनी ॥ १८ ॥
शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतरुसंस्थिता ।
विलोलावयवाष्ठीला वातैः पटपटारवा ॥ १९ ॥

ऊपर-नीचे आ-जाकर मैंने योगबलसे उसके सिर और पादनखोंका अवलोकन किया ॥ १३ ॥

नाड़ियोंके समूहों तथा अँतड़ियोंरूपी रस्सियोंसे ग्रथित सिरसे लेकर पैरतक सभी अङ्गोंसे युक्त वह ऐसे स्थित थी, जैसे मूलसे लेकर शाखाग्रपर्यन्त सूतोंसे ग्रथित कण्टकोंकी निवासभूमि—खदिरादि लता ॥ १४ ॥

नाना वर्णोंके सूर्य आदि देव तथा दानवोंके मस्तकरूपी कमलोंके समूहोंकी माला उसके कण्ठमें विराजमान थी, निर्मल आलोकवाला पवनसे प्रदीप्त अनल उसका आँचल था ॥ १५ ॥

उसके लम्बे दोनों कानोंमें चंचल नाग झूल रहे थे तथा दो मृतक कुण्डलके रूपमें विराजमान थे । शुष्क तुम्बी-लताकी तरह अतिदीर्घ, अत्यन्त चञ्चल तथा काले वर्णके उसके दोनों स्तन जाँघतक लटक रहे थे ॥ १६ ॥

उसका खट्वाङ्गमण्डल मयूरोंके पिच्छसमूहों तथा ब्रह्माके केशोंके मण्डलोंसे लाञ्छित (चिह्नित) चन्द्रादि सुराधीशोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंसे अलङ्कृत था ॥१७॥

चूँकि दन्तरूपी चन्द्रमालासे वह विमल थी, इसलिए विमल दाँतोंके प्रकाशोंके पतनसे अभिवृद्ध तथा अन्धकाररूपी सागरके आवर्तोंसे व्यालोल (चञ्चल) ऊर्ध्वलेखा-जैसी स्थित वह प्रतीत हो रही थी ॥ १८ ॥

आकाशमें उत्पन्न हुए वृक्षके ऊपर आरूढ़ शुष्क तुम्बी-लता-जैसी वह

बृहत्तरङ्गोर्ध्वभुजा श्यामलोल्लासशालिनी ।
एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥ २० ॥
क्षणमेकभुजाकारा क्षणं बहुभुजाकुला ।
अनन्तोग्रभुजाक्षिप्तजगन्नर्तनमण्डपा ॥ २१ ॥
क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुमुखाकृतिः ।
अनन्तोग्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥ २२ ॥
एकपादान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
क्षणं चानन्तपादाढ्या निष्पादाकारिणी क्षणम् ॥ २३ ॥
कालरात्रिरियं सेति मयाऽनुमितदेहका ।
काली भगवती सेयमिति निर्णीतसज्जना ॥ २४ ॥

ऊँचे आकाशरूपी वृक्षके ऊपर आरूढ़ थी । वायुओं द्वारा पटपट शब्दोंसे विभूषित तथा जाँघ तक सभी चञ्चल अवयवोंवाली वह—नीचे तक अपने चञ्चल अवयवोंसे युक्त तथा वायुओं द्वारा पटपट शब्दोंसे अलङ्कृत—शुष्क तुम्बीलता-जैसी ही बिलकुल प्रतीत हो रही थी ॥ १९ ॥

महातरङ्गरूपी लम्बी भुजाओंवाली, श्यामल तथा उल्लासोंसे परिपूर्ण, नृत्यरूपी आवर्तोंसे चञ्चल प्रलयकालीन महासागरकी तरङ्गमाला-सी भास रही थी ॥ २० ॥

क्षणमें ही कभी तो वह एक भुजासे युक्त आकारवाली हो जाती थी और कभी क्षणमें ही अनेक भुजाओंसे व्याप्त हो जाती थी तथा कभी क्षणभरमें ही अपनी अनन्त उग्र भुजाओंसे जगद्रूपी नृत्यमण्डपको ऊपर फेंककर व्याकुल कर देती थी ॥ २१ ॥

क्षणभरमें ही तुरत उसका आकार एक मुखवाला हो जाता था तथा शीघ्र ही उसकी आकृति अनेक मुखोंसे युक्त बन जाती थी । शीघ्र ही वह अनन्त उग्र मुख धारण कर लेती थी तथा क्षणभरमें ही बिना मुखवाली भी वह हो जाती थी ॥ २२ ॥

वह शीघ्र एक पैरसे युक्त हो जाती थी तथा शीघ्र ही उसके सैकड़ों पैर हो जाते थे । क्षणभर भी देर न हो पाती थी कि इतने हीमें वह अनन्त पैरोंसे समन्वित हो जाती थी तथा क्षणमें ही वह बिना पैरकी भी हो जाती थी ॥ २३ ॥

वह रूप देखकर मैंने उसकी देहका अनुमान कर लिया कि हो न हो यह

ज्वालापूर्णारघट्टोग्रखाताभनयनत्रया ।
ज्वलद्वरेन्द्रनीलाद्रिसानूपमललाटभूः ॥ २५ ॥
लोकालोकेन्द्रनीलोग्रश्वभ्रभीमहनुद्वया ।
वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥ २६ ॥
इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैःप्रभाम्बरे ।
विश्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी ॥ २७ ॥
नृत्यद्भुजलतापुष्पैर्नखशुभ्राभ्रमण्डलैः ।
पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रामयन्ती नभस्तले ॥ २८ ॥
भ्रमद्भिर्व्याप्तदिक्चक्रा भुजैः कल्पाम्बुदैरिव ।
वर्षद्भिः प्राणिजप्रान्ततारालेखाबृहत्प्रभाः ॥ २९ ॥

वही कालरात्रि है। अन्य सज्जन महानुभावोंने भी इसको 'यह भगवती काली है' यह निर्णय किया है ॥ २४ ॥

फिर उसके मुखसे लेकर पैरतकके प्रत्येक अङ्गका वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं—'ज्वाला०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवतीकी तीन आँखें थीं, उनकी उपमा तो तब ठीक मिल सकती है, जब कि अरघट्ट यन्त्रके मस्तकके काठमें प्रसिद्ध तीन गड्ढे ज्वालाओंसे परिपूर्ण हो जायँ। और उसकी ललाट भूमिकी उपमा तो वह प्रसिद्ध इन्द्रनील पर्वतका प्रस्थभाग है, जहांपर पृथिवी जल रही हो ॥ २५ ॥

उसके दोनों जबड़े तो लोकालोक पर्वतके प्रसिद्ध इन्द्रनीलके उग्र गड्ढेकी तरह ही भयङ्कर दीख रहे थे, क्योंकि अधिक गहरा होनेसे वहांतक कुण्डलोंकी कान्तिका प्रकाश बिलकुल नहीं पहुँच पाता था। वातस्कन्धरूपी तागोंमें पिरोये गये तारागणरूपी मुक्ताकलापोंकी माला उसके गलेमें विराज रही थी ॥ २६ ॥

इन्द्रनील पर्वतके तुल्य ऊँचे नगरके बाहरके दरवाजेपर पद्मराग आदिकी प्रभासे रञ्जित दरवाजेके उन्नत भीतरी छेदमें विश्रान्त अधोमुख कृत्रिम काचशैलकी तरह भगनामक भीषण काकसे वह भयङ्कर लगती थी ॥ २७ ॥

नाच रही भुजलतारूपी पुष्पोंसे युक्त नखोंकी शुभ्र प्रभारूपी मेघ-मण्डलोंसे वह आकाशतलमें सैकड़ों पूर्णचन्द्रोंको नचाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥ २८ ॥

कल्पान्त मेघोंके तुल्य*, गजमुक्ताओं तथा प्रलयकालमें गिर रही तारोंकी

* अर्थात् स्फुरित हो रही प्रभाओंसे युक्त हाथीके दाँतोंकी तरह पर्वत-प्रान्तोंके ऊपर महा प्रभाओंसे युक्त मोटी मोटी जल-धाराश्रेणीको बरसा रहे कल्पान्त मेघोंकी तरह।

नखपुष्पाङ्गुलीवल्लीजालैर्भ्रान्तभुजद्रुमैः ।
कृष्णैः काननिताशेषगगनाग्रोग्रमूर्तिभिः ॥ ३० ॥
तमालतालतः स्थूलां भुवं दग्धमहावनैः ।
विडम्बयन्ती वलितां जङ्घासङ्घेन लोलता ॥ ३१ ॥
अप्यनन्ते महाव्योम्नि पारं प्राप्तैः शिरोरुहैः ।
कुर्वाणेवाततं वासं चरत्तिमिरदन्तिनः ॥ ३२ ॥
उह्यन्ते मेरवो येन तेन निःश्वासवायुना ।
घनघुङ्घुमदिक्चक्रगगनग्रामघोषिणा ॥ ३३ ॥
घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडगेयं प्रगायता ।
नियतानुनयेनेव चलिता सानुवृत्तिना ॥ ३४ ॥
ततो नृत्तवशावेशाद्वर्द्धमानशरीरिणी ।
मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥ ३५ ॥

श्रेणी-जैसी भासमान नखोंकी पङ्क्तियोंकी विशाल प्रभाओंको बरसा रही भ्रमणशील अपनी भुजाओंसे भगवती कालीने सारे दिग्मण्डलको व्याप्त कर दिया था ॥२९॥

रङ्गमें बिल्कुल काले अतएव उग्र स्वरूपके अपने उन भ्रान्तभुज-द्रुमोंसे, जो नखोंरूपी पुष्पोंसे विभूषित अङ्गुलीरूपी लतासमूहोंसे सुशोभित थे, उस भगवती कालीने सारे आकाशप्रान्तको जङ्गल-सा बना दिया था ॥ ३० ॥

वह भगवती काली सभी ओर चलित हुए अपने जङ्घासमूहसे, जले हुए खजूर आदिके महान् जङ्गलोंसे वलित तथा एकमात्र जले हुए अच्छे-अच्छे तमाल, ताल आदिके वृक्षोंसे स्थूल बनी हुई पृथिवीका अनुकरण कर रही थी ॥३१॥

अनन्त महाकाशमें भी पारङ्गत अपने केशोंसे वह सञ्चरणशील अन्धकाररूपी हाथीका आकाशमें विस्तृत निवास मानो सिद्ध कर रही थीं ॥ ३२ ॥

प्रतिध्वनियोंसे घनीभूत दिग्मण्डलवाले गगनरूपी गाँवमें उद्घोषणशील अपने उस निःश्वास पवनके साथ, जिसके द्वारा मेरु आदि अनेक पर्वत उड़ा दिये जाते थे, वह भगवती बराबर चली जा रही थीं। देखनेसे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह एक ऐसे नटके साथ चली जा रही हैं, जो नियत अनुनयवाला है, और प्रबल वायुके फूत्काररूपी अव्यक्तशब्दसे परिपूर्ण गीत गा रहा है ॥ ३३, ३४ ॥

इसके बाद आकाशमें स्थित अनन्त आकाशके सदृश व्यापकरूप अंगे

यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलावलनसारया ।
माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥ ३६ ॥
आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिकापट्टपट्टिका ।
आदर्शमण्डलान्यङ्गे त्रीणि लोकान्तराणि च ॥ ३७ ॥
कर्णयोर्हिमवन्मेरू रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
ब्रह्माण्डघुङ्घुमैर्माला महती कटिमेखला ॥ ३८ ॥
स्रजः कुलाचलाः भृङ्गवनपचनगुच्छकाः ।
जरत्पुरवनद्वीपग्रामपेलवपल्लवाः ॥ ३९ ॥

योगबलसे उस भगवतीको देखा कि वह नृत्यवश आवेशके कारण वर्द्धमान शरीरवाली हो गई है ॥ ३५ ॥

इतने ही में मैं क्या देखता हूँ कि एकमात्र विलासपूर्वक नृत्य करना ही जिसका अभिप्रेत अर्थ था ऐसी उस भगवती कालीने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतोंसे एक सुन्दर माला बनाकर अपनी देहमें धारण कर लिया ॥३६॥

अधिक क्या कहा जाय, सारा संसार ही उसके आभूषण आदि सामग्रीके रूपमें परिणत हो गया, इस आशयसे कहते हैं—'आसीत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युगान्तकालके प्रसिद्ध पुष्करावर्तक आदि अभ्रमालिका (मेघसमूह) उसके वक्षःस्थलमें इन्द्रनीलकी पट्टपट्टिकाके रूपमें * विराजमान थी । तीनों लोकान्तर उसके जघन, उदर आदि अङ्गमें मणिमय आदर्शमण्डल † बन गये थे ॥ ३७ ॥

हिमालय तथा सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानकी चाँदी और सोनेकी मुद्रिका ‡ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे । ब्रह्माण्डोंकी घुंघुम शब्दोंसे परिपूर्ण माला एक लम्बी लच्छेदार करधनी थी ॥ ३८

शिखरों, वनों एवं नगरोंके गुच्छकोंसे परिपूर्ण तथा जीर्ण-शीर्ण गाँव, वन, द्वीप, ग्राम आदि रूप कोमल पल्लवोंसे भरे सातों कुलपर्वत उसके गलेकी मालाएँ थीं ॥ ३९ ॥

---

* एक तरहका आभूषण (पनवां) ।

† अर्थात् देखने योग्य नमूनेदार अलङ्कार ।

‡ साधारणतया 'मुद्रिका' शब्दका अँगूठी अर्थ है, लेकिन यहाँपर यह 'बाली' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥ ४० ॥
मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दी त्रिपथादिकाः ।
धर्माधर्मावुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥ ४१ ॥
स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्रवद्धर्मपयोलवाः ।
वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥ ४२ ॥
त्रिशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः ।
निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि बिभर्ति सा ॥ ४३ ॥
चतुर्दशविधाभूतजातयो याः सुरादिकाः ।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥ ४४ ॥
तस्याश्च नगरग्रामगिरयो देहशायिनः ।
नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्मसमुदेव ते ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवती कालीके अङ्गोंमें नगर, ग्राम, ऋतु, मास, दिन-रात तथा तीनों लोककी मालाएँ विराज रही थीं—वह सब मैंने देखा ॥ ४० ॥

भद्र, यमुना, त्रिपथगा—भागीरथी आदि नदियां गलेके मोती आदिके हारके रूपमें थीं, धर्म एवं अधर्म दोनों दूसरे कानोंके (पूर्वोक्त कानोंसे अतिरिक्त कानोंके) भूषण बन गये थे ॥ ४१ ॥

भद्र, उस कालरात्रिके धर्मरूपी दूधका क्षरण करनेवाले चारो वेद चार स्तन थे, समस्त शास्त्रार्थरूपी क्षीरवाले ऋक् आदि चार संस्थान उसके कुचाग्र थे ॥ ४२ ॥

त्रिशूल, पट्टिश (पटा), भाला, बाण, शक्ति (बरछी), खड्ग, मुद्गर—इनसे बना जो आयुधोंका समूह था, वही पुष्पमालाके रूपमें उसने धारण किया था ॥ ४३ ॥

जो देवता आदि चौदह तरहकी भूतजातियां हैं, वे शरीरधारी उस कालरात्रिके रोमपंक्तियोंके रूपमें अवस्थित थीं ॥ ४४ ॥

उसकी देहमें अव्यक्तरूपसे स्थित नगर, ग्राम, पर्वत आदि मानो अपना पुनर्जन्म पानेके आनन्दसे उसके साथ-साथ नाच कर रहे थे ॥ ४५ ॥

जङ्गमात्मैकमेवैतज्जगदस्थावरं तदा ।
नृत्यतीति मया ज्ञातं परलोके सुखं स्थितम् ॥ ४६ ॥
निगीर्णं जगदङ्गस्थं कृत्वा तृप्तिमुपागता ।
परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णाहिचातकी ॥ ४७ ॥
आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभात्यखिलं जगत् ।
तस्या वपुषि विस्तीर्णे स्वरूपिणि सरूपधृक् ॥ ४८ ॥
सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननम् ।
जगन्नृत्यति नानात्म मृत्वा पुनरुपागतम् ॥ ४९ ॥
तज्जगन्नर्त्तनं चारु तद्देहादर्शसंस्थितम् ।
चिरं मया तदा दृष्टमविनष्टं पुनः स्थितम् ॥ ५० ॥
विचलत्तारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम् ।
मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामरदानवम् ॥ ५१ ॥

भद्र, सारा संसार उसके नर्तनमें काँप रहा था, इसलिए कोई भी पदार्थ स्थावर (स्थिर) तो था ही नहीं, किन्तु केवल जङ्गमात्मक ही यह जगत् उस समय प्रतीत हो रहा था, पहले नष्ट होकर इसके शरीररूपी परलोकमें सुखसे स्थित सारा जगत् नाच रहा है, यह मैंने जाना ॥ ४६ ॥

निगीर्ण जगत्‌को उदरस्थ करके अत्यन्त तृप्तिको प्राप्त हुई वह कालरात्रि मत्त होकर चारों ओर नृत्य कर रही थी, वह जगत्‌रूपी सर्पको जीर्ण बनाने और नचानेके कारण ठीक चातकी-सी (मयूरी-सी) मालूम हो रही थी ॥ ४७ ॥

समस्त जगत् विस्तीर्ण-स्वरूपवाले उसके शरीरमें आदर्श-प्रतिबिम्बमें स्थित-सा मालूम पड़ रहा था और उसका रूप भी पूर्व जगत्‌के सदृश ही था ॥ ४८ ॥

किसी समय वह नृत्यसे विरत भी हो जाती थी, फिर भी उसके भीतरका जगत् तो नृत्य करता-सा ही प्रतीत होता था, यह कहते हैं—'सा' इत्यादिसे ।

कभी तो वह नृत्य नहीं भी करती थी, परन्तु शैल, पर्वत, अरण्य आदिके साथ वह नानारूप जगत्, जो मरकर फिर आया था, नृत्य करता ही रहा ॥ ४९ ॥

उक्त सुन्दर जगत्‌का नृत्य उसीके देहरूपी आदर्शमें स्थित था और उस समय मैंने दीर्घकालतक उसे देखा, वह एकदम अविनाशी होकर स्थित था यानी निरन्तर चल रहा था ॥ ५० ॥

उसी जगत्‌के नृत्यका वर्णन करते हैं—'विचल०' इत्यादिसे ।

सङ्ग्रामोन्मुक्तचक्राभद्वीपार्णववृताम्बरम् ।
हेलाविवलनावर्त्तप्रौढशैलधरातृणम् ॥ ५२ ॥
नीलमेघांशुकावृत्तिवातघुङ्घुमिताम्बरम् ।
काष्ठास्थ्यादिस्फुटास्फोटपटत्पटपटारवम् ॥ ५३ ॥
जगत्पदार्थैर्व्यामिश्रैरमिश्रैर्मुकुरे यथा ।
व्याप्तमाभोगिभाङ्कारैरङ्गैरङ्गभ्रमैस्तथा ॥ ५४ ॥
मेरुर्नृत्यति लोलोच्चकुलाचलबृहद्भुजः ।
भ्रमदभ्रपटोपेतनमत्तनुतनूरुहः ॥ ५५ ॥
अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादामुद्रणं द्रुमाः ।
भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ॥ ५६ ॥

वह नृत्य क्या था, उसमें समस्त तारागण चल रहे थे, सारा पर्वतसमूह घूम रहा था, अमर और दानव मच्छरोंके समूहके समान वायुओं द्वारा कम्पित किये जा रहे थे ॥ ५१ ॥

सङ्ग्रामभूमिमें छोड़े गए चक्रोंके भ्रमणके सदृश शोभ रहे द्वीपों एवं समुद्रोंसे सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो गया था, हेलासे उत्पन्न भ्रमणोंसे यानी आवर्त वायुओंसे मानो पर्वत एवं धरारूपी तृण वर्तुलाकारमें जोरसे उड़ाये जा रहे थे ॥५२॥

उस नर्तनमें ऊपर नीलमेघरूपी वस्त्रोंका परिचालन होनेपर वायुओंसे आकाशमण्डल घुङ्घुम ध्वनिसे पूर्ण हो गया था, और नीचे परस्पर टक्कर खाये हुए काष्ठ, अस्थि आदिके सन्धिभेदसे हो रही पटपट ध्वनिसे व्याप्त हो गया था ॥५३॥

परस्पर संयोग और विभागसे प्रत्येक क्षणमें कभी मिलित एवं कभी विभक्त हुए जगत्पदार्थोंसे युक्त अङ्गों एवं अङ्गभ्रमणोंके कारण, दर्पणके सदृश उसकी देहमें उनका नृत्य विशाल भांकारोंसे मानो मूर्तिमान् भय-जैसे व्याप्त था ॥ ५४ ॥

उसी जगत्‌के नृत्यका विभागशः वर्णन करते हैं—'मेरु०' इत्यादिसे।

कहीं मेरु पर्वत अपने चञ्चल कुलाचलरूपी बड़े-बड़े हाथोंका सञ्चालन कर नृत्य करता था, इसके अभ्ररूपी वस्त्रोंसे युक्त (आच्छन्न) छोटे-छोटे कल्पवृक्षरूप रोमोंका घुमाव बड़ा ही रमणीय लग रहा था ॥ ५५ ॥

समुद्र भी अपनी मर्यादाका मुद्रण न छोड़कर नाच रहे थे और वृक्ष पृथ्वीसे कभी आकाशमें तथा आकाशसे कभी पृथ्वीमें आते-जाते थे ॥ ५६ ॥

पुराणि घर्घरारावैर्दृश्यन्ते लुठितान्यधः ।
सगृहाट्टालवास्तव्यं न च किञ्चिल्लुठत्यधः ॥ ५७ ॥
तस्यां भ्रमन्त्यां चतुरं चन्द्रार्कदिनरात्रयः ।
नखाग्रलेखालोकान्तर्भान्ति काञ्चनसूत्रवत् ॥ ५८ ॥
विभान्ति सृष्टयस्तस्या घर्माणि जलजालिकाः ।
इव नीहारहारिण्या नीलवारिदवाससः ॥ ५९ ॥
खमेव तस्याः सम्पन्नं कवरीमण्डलं बृहत् ।
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥ ६० ॥
द्वीपाब्धयोऽन्त्रवलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
प्राणापानावलीदोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥ ६१ ॥
तदाऽनुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
हिमवन्मेरुसह्याद्रेर्दोलनभ्रममद्रिभिः ॥ ६२ ॥

किसी समय घर, अट्टालिका एवं गृहस्थीके सामानके साथ नगर घरघर ध्वनि करते हुए नीचेकी ओर लुढ़कते हुए दीख रहे थे, लेकिन वास्तवमें कुछ नहीं नीचेकी ओर लुढ़क रहा था ॥ ५७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जब भगवती कालरात्रि चतुरतापूर्ण नृत्य कर रही थी, तब चन्द्र, सूर्य, दिवस और रात उसके नखाग्रभागकी रेखाओंके अन्दर विद्यमान आलोकमें (प्रभामें) मिलकर घूमते हुए, सुवर्णसूत्रके सदृश, दीर्घाकार प्रकाशित हो रहे थे ॥५८॥

भद्र, कालरात्रिने नीहारके तो हार पहिने थे, उसके वस्त्र नीले मेघ थे, इसलिए मेघोंसे बरसाये गये जो जलबिन्दु थे, वे उसके स्वेदबिन्दुकी तरह मालूम पड़ते थे ॥ ५९ ॥

अब सारा जगत उस भगवतीका अङ्गसमूह बन गया था, यह वर्णन करते हैं—'खमेव' इत्यादिसे ।

आकाश ही उसका बड़ा केशपाश (जूड़ा) बन गया था, पाताल चरण बन गये थे, भूमिमण्डल उदर बना था और दिशासमूह बाहु बन गये थे ॥ ६० ॥

उस भगवतीकी जो आँतोंसे युक्त वलियाँ थीं, वे द्वीप और समुद्र ही थे, जो पसलियाँ थीं, वे सारे पर्वत थे, और जो चञ्चल प्राण और अपान थे, वे सारे आवह आदि पवनस्कन्धरूप आकाश-सौध की शालिकाएँ ही थीं ॥ ६१ ॥

जब भगवती कालरात्रि नृत्य करती थी, तब उसके विशाल शरीरके ऊपर

तरदद्रिगुलुच्छास्ता वलयन्त्या तया स्रजः ।
पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥ ६३ ॥
सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्गः शरीरकः ।
निस्पन्दं स्थातुमशक्नसौ भ्रमति चक्रवत् ॥ ६४ ॥
नानाविभवविज्ञानयज्ञयज्ञोपवीतिनी ।
सा सरन्ती नभस्यासीद्घनघूत्कारघोषिणी ॥ ६५ ॥
तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
प्रतिकृति भवत्यन्तर्न च किञ्चिद्विवर्तते ॥ ६६ ॥
बृहन्नासागुहागेहनिर्गताघनघुङ्घुमाः ।
तत्रोग्रा वायवो वान्ति घोरघूत्कारकारिणः ॥ ६७ ॥

हिमालय, मेरु, सह्याद्रि आदि पर्वतोंने झूलेके आनन्दका अनुभव किया ॥ ६२ ॥

उड़ रही पर्वतरूपी मञ्जरियोंसे युक्त पूर्ववर्णित ब्रह्माण्डमालाका इधर-उधर परिवर्तन करती हुई उस भगवतीने अपनी ताण्डव-लीलासे मानो फिर महाप्रलय आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

हे श्रीरामजी, वे सुर, असुर, नाग आदिके समूह ही भगवतीके रोम थे, इसका शरीर स्पन्दनरहित होकर ठहर सकता ही नहीं था, इसलिए चक्रकी तरह वह बराबर घूम रहा था ॥ ६४ ॥

भद्र, कर्मफलरूप नाना वैभव, कर्मानुष्ठानके कारण अनेक विज्ञान एवं अनुष्ठानरूप यज्ञ—इन तीन सूत्रोंका उसने यज्ञोपवीत धारण किया था, आकाशमें नाचती हुई वह मेघोंकी ध्वनियोंको लेकर वेदघोष कर रही थी, इसलिए ठीक ब्रह्मचारिणीकी तरह प्रतीत हो रही थी ॥ ६५ ॥

वस्तुतस्तु उस नृत्यमें कुछ भी नहीं हिल रहा था, परन्तु भूतल और आकाश चक्रके मिषसे एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित होकर एक दूसरेके सदृश वे दोनों बन जाते थे, इससे कुछ समयके लिए भूतल आकाश बन जाता था और आकाश बन जाता था भूतल, यह देखनेवालोंकी एक भ्रान्ति ही थी ॥ ६६ ॥

कालरात्रिकी श्वासवायुओंका वर्णन करते हैं—'बृहन्ना०' इत्यादिसे ।

उस भगवतीके बड़े-बड़े नासिकागुहारूपी घरोंसे निकले हुए मेघके सदृश घुंघुं शब्द कर रहे उग्र पवन बह रहे थे, इन वायुओंसे घोर घुंघुं शब्द हो रहे थे ॥ ६७ ॥

नभःकरशतैस्तस्याश्चतुरावृत्तिवर्तिभिः ।
भाति चण्डानिलोद्धूतैराकीर्णमिव पल्लवैः ॥ ६८ ॥
तदङ्गजजगद्वस्तुजातभ्रमणसंभवात् ।
दृष्टिर्धीरापि मे मोहे सन्ना सेनेव सङ्गरे ॥ ६९ ॥
प्रोह्यन्ते यन्त्रवच्छैला निपतन्ति नभश्चराः ।
लुठन्त्यमरगेहानि वलिते देहदर्पणे ॥ ७० ॥
मेरवः पर्णवद्भूढा मलयाः पल्लवा इव ।
हिमाद्रयो हिमकणा इवौर्व्योऽब्जलता इव ॥ ७१ ॥
सह्या मह्यामिव खगा विन्ध्या विद्याधरा इव ।
वृक्षावर्ते भ्रमन्तोऽन्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥ ७२ ॥
द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा वलया इव ।
सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्देहवारिणि ॥ ७३ ॥

भद्र, सारा आकाशमण्डल उस भगवतीके चातुर्यपूर्ण पद्धतिसे सञ्चालित हुए सैकड़ों हाथोंके कारण प्रचण्ड वायुओं द्वारा कम्पित पल्लवोंसे व्याप्त-सा हो गया था ॥ ६८ ॥

उसके अङ्गोंसे जनित जगत्पदार्थोंके साथ-साथ जो भ्रमण हुए, उनसे उत्पन्न भ्रमके कारण मेरी धीर दृष्टि ऐसे कुण्ठित हो गई, जैसे युद्ध संग्राममें सेना ॥६९॥

उसका देहरूपी दर्पण जब कुछ भ्रमणशील हो गया, तब यन्त्रोंके सदृश पर्वत विचलित होने लगे, आकाशचारी देवता गिरने लगे और देवताओंके घर लुढ़कने लगे ॥ ७० ॥

उसकी नाभिमें पृथ्वीकी कमललताके सदृश उस समय शोभा मालूम हो रही थी, क्योंकि अनेक मेरु पर्वत ठीक पत्तोंके सदृश प्रतीत हो रहे थे, मलयाचल पल्लव-से भास रहे थे और इनपर हिमाचल हिमकण-सा प्रतीत हो रहा था ॥७१॥

उस भगवतीकी देहमें अनेक सह्य पर्वत पृथ्वीपर पक्षियोंके सदृश, अनेक विन्ध्याचल आकाशमें विद्याधरोंके सदृश तथा वृक्ष और बादल आकाशके अन्दर घूम रहे राजहंसोंके सदृश भास रहे थे ॥ ७२ ॥

उसके देहरूपी सरोवरमें अनेक द्वीप तृणोंके सदृश, समुद्र वलयोंके सदृश और देवताओंके आलय पद्मोंके सदृश भास रहे थे ॥ ७३ ॥

विशदाकाशसंकाशे स्वप्नाञ्जनपुरोपमे ।
अङ्गे तस्या बृहज्जङ्घे पिण्डादित्यसमत्विषि ॥ ७४ ॥
विन्ध्यो नृत्यति काञ्चनाचलवनेऽसह्यश्च सह्यो गिरिः
कैलासो मलयो महेन्द्रशिखरी क्रौञ्चाचलो मन्दरः ।
गोकर्णो गगनाङ्गणे वसुमती विद्याधराणां पुरं
सर्वे जङ्गमतां गता वनभुवस्तस्याः शरीरे सदा ॥७५॥
अब्धिर्नृत्यति पर्वते गिरिरपि प्रोच्चैर्नभःकोटरे
व्योमापीन्दुदिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्ताद्गतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो वनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि
व्यालोलं जगदम्बुधाविव तृणं दिक्चक्रके भ्राम्यति ॥७६॥
व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते
लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।
नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्ध-
वातावकीर्णतृणविक्रमणक्रमेण ॥ ७७ ॥

भगवतीका शरीराङ्ग विशद आकाशके सदृश विशाल था, स्वप्नमें उत्पन्न महान् अञ्जन पर्वतके सदृश था तथा एक पिण्डमें बने हुए बारहों आदित्योंके सदृश तो उसकी कान्ति थी, विशाल उसकी जंघाएँ थीं, इस प्रकारके उसके अङ्गमें कहींपर सुवर्ण पर्वतके ऊपर उगे जङ्गलमें अपना चिरन्तन वैर निकालते हुए-सा विन्ध्याचल नाच रहा था, तो कहीं गगनरूप आंगनमें अपने शत्रु विन्ध्याचलको न सहने योग्य सह्य, कैलास, मलय, महेन्द्रपर्वत, क्रौञ्च पर्वत, मन्दर और गोकर्ण पर्वत मानो कोपसे नाच रहे थे, इनके पक्षपातसे सारी वसुमती और विद्याधरोंके नगर नाच रहे थे— इस तरह उसके शरीरमें सभी स्थावर जङ्गमभावको प्राप्त हो गये थे ॥७४, ७५॥

श्रीरामजी, एक और आश्चर्य सुनिये—उसकी देहमें पर्वतपर समुद्र नाच रहा था, वह पर्वत ऊँचे आकाशकोटरमें नृत्य कर रहा था, वह आकाश भी चन्द्र और सूर्योंके साथ पृथ्वीके नीचे चलित होकर कहां चला गया; यह जाना ही नहीं गया। नानाविध पुष्पोंसे युक्त तथा द्वीप, अचल एवं नगरसे समन्वित वनगण सूर्यमण्डलमें नाच रहा था—यों चञ्चल जगत् समुद्रमें चञ्चल तृणके समान दिशाचक्रमें भ्रमण कर रहा था ॥ ७६ ॥

भद्र, आकाशमें पर्वत घूम रहे थे, दिशाओंमें समुद्र घूम रहे थे, पुर, नगर

मत्स्याश्चरन्ति च मरौ वरवारिणीव
व्योम्नि स्थिराणि नगराणि भुवीव भान्ति ।
खे भूधरा गगनसंक्षयवारिवाह-
मुत्पातवातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥७८॥
ऋक्षोत्करो भ्रमति दीपसहस्रयन्त्र-
चक्रक्रमेण मणिवर्षणवेगचारुः ।
अन्तर्बहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं
विद्याधरामरगणैरिव पुष्पवर्षम् ॥७९॥
संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे
बिन्दूपमा रजतयोर्दिवसोत्कराश्च ।
कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्ण-
रत्नादर्शमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥८०॥

मण्डल, नदियां, सरोवर—ये सब अपने आश्रयभूत लोकसे लोकान्तरमें, दर्पणके भीतर-जैसे, प्रविष्ट होकर—झंझावातके द्वारा असङ्कीर्ण तृणोंका उड़ना जैसे लोकमें विख्यात है, वैसे ही—उड़ रहे थे ॥ ७७ ॥

किञ्च, मत्स्य समुद्रकी नाईं मरुभूमिमें घूम रहे थे, नगर पृथ्वीके सदृश आकाशमें स्थिर दिखाई दे रहे थे, पर्वत आकाशमें प्रतीत हो रहे थे। अधिक आश्चर्य तो यह था कि आकाश एवं प्रलयके मेघ उत्पात-वायुओंसे घिरे हुए पर्वतोंपर स्थित थे ॥ ७८ ॥

किसी यन्त्र-चक्रमें हजारोंकी संख्यामें दीपक लगे हों और वह यदि घूमता हो तो कितना सुन्दर लगता है, ठीक इसी क्रमसे वेगसे हो रही मणियोंकी वृष्टिके सदृश अतिसुन्दर नक्षत्रोंका समूह घूम रहा था। इसकी शोभा उस तरहकी थी, जैसे आपकी सभामें विद्याधरों एवं देवताओंके गण द्वारा प्रीतिसे छोड़ी गई पुष्पवृष्टि भीतर-बाहर भ्रमण करती है ॥ ७९ ॥

भद्र, भगवती कालरात्रिके शरीरमें प्रलय एवं सृष्टियोंके समूह दिन-रातके भागमें प्रतीत हो रहे थे, दिन और रात्रिके समूह मलिन एवं अमलिन रजतके विन्दुके सदृश अतिस्वरूप मालूम पड़ रहे थे, शुक्ल-कृष्णपक्ष सुन्दर निर्मल हीरे एवं इन्द्रनीलमणिके बनाये गये धवल एवं काले आदर्श-मण्डलके सदृश प्रतीत हो रहे थे ॥ ८० ॥

रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि
तारोत्कराास्तरलमण्डलकान्तिहाराः ।
स्वच्छाम्बराणि वलितानि महाम्बराणि
कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलाततलेखाः ॥ ८१ ॥

कल्पान्तकालविलुठत्त्रिजगन्मणीनि
व्यावर्तनैर्झगिति जातझणज्झणानि ।
तेजांसि झङ्कृततयोर्ध्वमधश्च यान्ति
नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥ ८२ ॥

सङ्ग्राममत्तभटखड्गमरीचिवीचि-
श्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।
व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिराणा-
माकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥ ८३ ॥

हे राघव, उसकी देहमें सूर्य, चन्द्र आदिके मण्डल तो रत्न बन गये थे, नक्षत्रसमूह तरल वर्तुलाकार शोभासे युक्त गलेके हारके सदृश बन गये थे, अत्यन्त स्वच्छ गगनमण्डल पहिने हुए महान् वस्त्र बन गये थे। इनमें भ्रमण कर रही विद्युत् अलातचक्र-सी प्रतीत हो रही थी और निरन्तर महान् प्रकाश कर रही थी ॥ ८१ ॥

भगवतीके नृत्यमें कल्पान्तकालमें लुढ़क रहे तीनों जगत् ऊपर-नीचे परिवर्तनोंके कारण तत्काल ही झनझन ध्वनि करनेवाली मणियोंके रूपमें बन गये। झंकारसे ऊपर-नीचे गमन कर रहे सूर्य आदि तेज अनेक तरहके गुणयुक्त (सूत्रयुक्त) नूपुर, वलय आदि भूषणके रूपमें बन गये ॥ ८२ ॥

भद्र, अब एक दूसरा आश्चर्य सुनिये—देवीके ताण्डवनृत्यकालमें वीरजनोंका बड़ा-बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा था, ये वीरजन सङ्ग्राममें मत्त प्रतिभटोंके लिए निकाले गए खड्गोंकी मरीचियोंकी प्रभासे ग्रीष्मकालके दिनोंको भी मलिन कर रहे थे। देवीके नृत्यके समय ऊपर-नीचे होनेवाले संचालनोंसे वे योद्धा लुढ़क रहे थे, फिर भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी स्थिरताके कारण वे स्थिर थे ॥ ८३ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुहरवह्निरवीन्दुपूर्वा
देवासुराः परिविवृत्तिभिरातपन्तः ।
अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति
वातावधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥८४॥
संसारसर्गसुखदुःखभवाभवेहा-
नीहानिषेधविधिजन्ममृतिभ्रमाद्याः ।
सार्द्धं पृथक् च विलसन्ति सदैव सर्गे
व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥ ८५ ॥
भावोद्भवस्थितिविपत्करणभ्रमाणां
संहारसर्गभुवनावनिविभ्रमाणाम् ।
मिथ्यैव खे प्रकचतां खशरीरकाणां
संलक्ष्यतेऽत्र न मनागपि नामसंख्या ॥ ८६ ॥
उत्पातशान्तिमरणोत्सवयुद्धसाम्य-
विद्वेषरागभयविश्वसनादि तत्र ।

किञ्च, यह दूसरा आश्चर्य सुनिये—भूत, भविष्यत् अनन्त कोटि सृष्टि, प्रलय आदिसे युक्त इस भगवती कालरात्रिका जब ताण्डव होता था, तब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता एवं असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्तिसे दूसरे-दूसरे बनकर वायुसे चालित मच्छरोंके सदृश या बिजलीके सदृश प्रसिद्ध अस्थिरताविलाससे आते और जाते दीख पड़ते थे ॥ ८४ ॥

भद्र, भगवतीके शरीरमें जो सर्ग दिखाई देता था, उसमें सृष्टि, प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण आदि परस्पर विरुद्ध भी सब पदार्थ कभी सदा एक साथ एवं कभी अलग-अलग रूपसे विलसित होते मालूम पड़ रहे थे ॥ ८५ ॥

किञ्च, भगवतीके शरीररूप चिदाकाशमें मिथ्यारूप ही चमक रहे अतएव चिदाकाशरूप (शून्यरूप) सृष्टि, प्रलय, चतुर्दश भुवन, पृथ्वी आदि पदार्थोंकी अधिष्ठानवश हुई उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, अर्थक्रिया, परिभ्रम—इन सबकी संख्या कितनी थी, यह तनिक भी मालूम नहीं हो सकती थी ॥ ८६ ॥

भद्र, भगवतीकी देहमें उत्पात, शान्ति आदि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व-समूह

एकत्र कोश इव रत्नचयो विभाति
नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥ ८७ ॥
तस्याश्चिदम्बरमये वपुषि स्वभाव-
भूतास्फुटानुभवभावजगद्व्यवस्थाः ।
सर्वक्षया मलिनदृक्कलिताम्बरस्थ-
केशोण्डूकस्फुरणवत्परितः स्फुरन्ति ॥ ८८ ॥
जगत्संक्षुब्धमक्षुब्धं दृश्यते स्थितिसंस्थिति ।
सञ्चाल्यमानह्रुकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥ ८९ ॥
नृत्यस्फुरत्प्रतापान्तर्जगदर्थाः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसङ्कल्पसर्गवत् ॥ ९० ॥
क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥ ९१ ॥

एकत्र ऐसे प्रतीत होता था, जैसे एक कोशमें एकत्र रत्नोंका समूह। क्योंकि भगवतीके शरीरमें नाना रसोंसे पूर्ण अन्योन्य अनुचित अनेक सर्गपरम्पराएँ विद्यमान थीं ॥ ८७ ॥

श्रीरामजी, परमार्थ-दशामें चिदाकाशमय उसकी देहमें स्वभावभूत यानी अशास्त्रीय ज्ञानसे सिद्ध मायारूप आवरणात्मक अस्फुट अनुभवसे उत्पन्न जगत्-स्थितियाँ एवं जगत्प्रलय चारों ओर ऐसे कलित होते थे, जैसे तिमिर रोगसे मलिन हुई दृष्टिसे आकाशमें केशोण्डूकोंके स्फुरण प्रतीत होते हैं ॥ ८८ ॥

भद्र, अविचल अधिष्ठानरूप स्थितिमें विद्यमान जगत् वस्तुतः अक्षुब्ध ही है, फिर भी मायाक्षोभदृष्टिसे क्षुब्ध-सा दीख पड़ता है, क्योंकि बिम्बरूपसे अचल पर्वत चलित होनेवाले दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर जैसे चलित होता है, ठीक ऐसा ही यह जगत् स्थित है ॥ ८९ ॥

जैसे बालकके सङ्कल्पका सर्ग प्रतिक्षण पूर्वस्थितिका त्याग कर अन्यस्थिति ग्रहण करता है, वैसे ही नृत्यसे चमक रहे विशिष्ट प्रतापसे युक्त मायाके अन्दर प्रविष्ट हुए सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम द्वारा पूर्वस्थितिका त्याग और अन्य-स्थितिका ग्रहण करते रहते थे ॥ ९० ॥

सब पदार्थोंका उत्पादन करनेके लिए ही कारकोंकी क्रिया-शक्ति उपयोगमें

क्षणमालक्ष्यते किञ्चिन्न किञ्चिदपि सा क्षणम् ।
क्षणमङ्गुष्ठमात्रैव क्षणमाकाशपूरिणी ॥ ९२ ॥
यस्मात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाशकोशशुद्धशरीरिणी ॥ ९३ ॥
कालत्रयस्थितजगत्त्रितयान्तरी हि
चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्र-
संसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥ ९४ ॥

आती है, आगेके भावविकार तो स्वयं ही काल आनेपर उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मूँग इकट्ठे करने हों, तो कारकक्रियाशक्तिकी आवश्यकता होती है, परन्तु विशीर्ण होकर फैलनेमें तो उनकी स्निग्धता ही कारण है, न कि अन्यकारक-क्रियाशक्ति, ठीक ऐसे ही यहां समझना चाहिए, यह कहते हैं—'क्रियाशक्तिः' इत्यादिसे ।

भगवतीकी देहमें क्रियाशक्ति है, अतएव उसके द्वारा उसमें निरन्तर भरे जा रहे जगत-रूपी मूँगके दाने ढेरके रूपमें पहले होकर फिर विशीर्ण हो जाते हैं यानी चारों ओर फैल जाते हैं ॥ ९१ ॥

माया भगवती परिणामि-स्वभाव जड़ जगत्‌रूपा होनेके कारण ही प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपकी प्रतीत होती है, यह कहते हैं—'क्षण०' इत्यादिसे ।

भगवती माया एक क्षणमें तो कुछ मालूम पड़ती है और दूसरे क्षणमें वैसी नहीं भी मालूम पड़ती है, एक क्षणमें एक अँगूठेके बराबर प्रतीत होती है, तो दूसरे क्षणमें आकाशको भी भर देनेवाली मालूम पड़ती है ॥ ९२ ॥

चूँकि सर्वविध कलाओंसे परिपूर्ण जगदात्मक यह देवी संवित्-शक्तिरूपा है, इसलिए अनन्त एवं विशाल आकाशकोशके सदृश विशुद्ध स्वरूपवाली ही है ॥९३॥

वह देवी कालरात्रि तीनों कालमें स्थित तत्-तत् विचित्र परिणामधारी समस्त त्रिजगत्‌की भीतरी चित्-शक्ति है, इस कारणसे वह चितेरेके उदार मनमें स्थित चित्रसंसारसमूहके सदृश यथास्थित उस विचित्ररूपसे वैसी प्रकाशित होती है । इस प्रकारके प्रकाशनमें उस चिति-शक्तिका परिवर्तनशील तत्-तत् काम-कर्मवासनाके परिपाकके अनुसार वेग भी रहता है ॥ ९४ ॥

सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मकत्वात्
संशान्तखैकवपुरेकचिदात्मतत्त्वात् ।
एवं निमेषणसमुन्मिषितैकरूपं
सा बिभ्रती वपुरनन्तमनादि भाति ॥ ९५ ॥
तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे
लेखाब्जचक्ररचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां
चित्त्वाद्द्रवज्जलधिकोश इवोर्मिलेखा ॥ ९६ ॥
महती भैरवी देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः ॥ ९७ ॥

तब क्या वह देवी प्रपञ्चपूर्ण ही है, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'सर्वात्म०' इत्यादिसे ।

अविद्यासे आवृत चिति-शक्तिके कारण वह देवी समस्त संसाररूप एक शरीरधारिणी होकर एक प्रकारसे चित्रभित्ति ही बन कर स्थित रहती है और विद्यासे अविद्याके हट जानेपर शुद्ध ज्ञानात्मक बन जानेके कारण वह शान्त आकाशरूप शरीरधारिणी होकर सर्वविध प्रपञ्चसे निर्मुक्त होकर स्थित हो जाती है । इस प्रकार बद्ध और मुक्त पुरुषकी दृष्टिसे गम्य एवं विद्या-अविद्यासे क्रमशः व्यञ्जित हो रहे स्वरूपसे उपलक्षित तथा परमार्थरूपसे अनादि-अनन्त चिदेकरूपको धारण कर रही वह देवी ही प्रकाशती रहती है ॥ ९५ ॥

विवर्त एवं परिणामकी दृष्टिसे तथा जीवन्मुक्त एवं युक्तिवादी आत्माओंकी दृष्टिसे उस मायामें जो जगत्का ज्ञान हो सकता है, इसमें दो दृष्टान्त कहते हैं—'तस्याम्' इत्यादिसे ।

भद्र, उस देवीके शरीरमें विद्यमान उस अनन्त स्फटिक शिलारूप कोशमें यह दृश्य एक रेखामें रचित कमलचक्रादि-सा ही प्रतीत होता है और आकाशमात्र शरीरधारिणी उसमें चिद्रूपके कारण यह दृश्य आकाशात्मक होकर ऐसे भासता है, जैसे द्रवस्वरूप समुद्रकोशमें ऊर्मिरेखा प्रतीत हो रही हो ॥ ९६ ॥

यों उस कालरात्रि और उसके नृत्यका सात्त्विक स्वरूप बतलाकर अब उसके नृत्यका उत्प्रेक्षा आदिसे वर्णन करते हैं—'महती' इत्यादिसे ।

शिरोमन्दाश्रितोग्राग्निदग्धस्थाणुवनावनिः ।
कल्पान्तवातव्याधूता वनमालेव नृत्यति ॥ ९८ ॥
कुद्दालोलूखलवृसीफलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोदञ्चनस्थालीस्तम्भैः स्रग्दामधारिणी ॥ ९९ ॥
एवंविधानां स्रग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीव नृत्तक्षुब्धं क्षयक्षतम् ॥१००॥
वन्द्यमानस्तया सोऽपि तथैवाकाशभैरवः ।
तथैव विततकारस्तदोच्चैः परिनृत्यति ॥१०१॥
डिम्बंडिम्बं सुडिम्बं पचपच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यपक्षैः ।

समस्त आकाशमण्डलको पूर्ण कर देनेवाली वह महान् भैरवी कालरात्रि देवी भैरवाकृति उस कल्पान्तरुद्रके सम्मुख नृत्य कर रही थी ॥ ९७ ॥

भद्र, मैं क्या वर्णन करूँ, कल्पान्तकालके महारुद्रके ललाट-स्थानका दृढ़ता-पूर्वक आश्रयण कर रही जो उग्र तृतीय नेत्राग्नि है, उससे दग्ध हुए अतएव स्थाणुके रूपमें बचे हुए अरण्योंसे युक्त भूमिवाली; कल्पान्त वायुओंसे कम्पित वनमालाके सदृश वह महादेवी नृत्य कर रही थी ॥ ९८ ॥

उस देवीके गलेमें पूर्ववर्णित ही केवल मालाबन्धन नहीं था, परन्तु कुदार, मूसल, ओखरी आदि भी था, यह कहते हैं—'कुद्दालो०' इत्यादिसे ।

कुदार, ओखरी, आसन, हलकी फाल, घट, करण्डक (डला), मूसल, सूप, बटली, स्तम्भ आदिकी माला धारण कर वह देवी नृत्य कर रही थी ॥९९॥

हे श्रीरामजी, इस तरहके नानाविध पुष्पमालासमूहोंके फूलोंको, जो नृत्यमें क्षुब्ध तथा भङ्गसे क्षत हो जाते थे, बखेरती हुई तथा नूतन बनाती हुई सी नाच कर रही थी ॥ १०० ॥

इस प्रकार भयङ्कर रूप धारण करनेवाली उस कालरात्रिके द्वारा वन्दित हो रहे उसी प्रकारका आकाशके सदृश विशाल भयङ्कर रूप धारण किये हुए अनन्ताकृति रुद्र भी देवीके सदृश महानृत्य कर रहे थे ॥ १०१ ॥

रक्त एवं आसवोंसे पूर्ण यमराजके महिषका महान् सींग हाथमें लेकर डिंब, डिंब, सुडिंब, पचपच, झम्य, झम्य, प्रझम्य आदि तालबोधक शब्दवाद्योंके द्वारा

पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाशृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या ॥१०२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणो० कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥८१॥

द्व्यशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

किमेतद्भगवन्सर्वनाशे नृत्यति केन सा ।
किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दामधारणम् ॥ १ ॥

भगवती एकदम नाच रही थी, उसने अपने गलेमें मुण्डोंकी माला पहिनी थी, सिरमें गरुड़के पंख धारण किये थे, प्रलयमें सारे जगत्को खाकर बड़ी ही प्रसन्न हुई थी, और कल्पान्तरुद्र भगवान् भैरवको नमन भी कर रही थी। इस तरह नृत्यपरायण एवं प्रसन्न भगवती कालरात्रिके द्वारा वन्द्यमान भगवान् भैरव आपका कल्याण करें। [अथवा इस श्लोकका दूसरा यों भी अर्थ हो सकता है—देवी कालरात्रि भगवान् भैरवकी स्तुति कर रही थी—हे भैरव, आप सब लोगोंके अनर्थकात्मक भोग एवं स्थूल शरीरादि प्रपञ्चको सबसे पहले खा डालिए, फिर सूक्ष्म शरीर आदि प्रपञ्चको खा डालिए, फिर मूलभूत मायोपाधि एवं कारण शरीरको भी अन्तिम साक्षात्कारमें आकर खा डालिए। इसके बाद पञ्चम आदि योगकी भूमिकाओंमें लगाकर शीघ्र ही सप्तम भूमिका तकके योगको भली-भाँति पचाकर विदेह कैवल्यके द्वारा जला डालिए। यों उस तरह नाच कर रही भगवतीके साथ-साथ आपके द्वारा स्तुति किये जा रहे भगवान् भैरव आपकी रक्षा करें]॥ १०२ ॥

इक्यासी सर्ग समाप्त

बयासी सर्ग

[अज्ञान रहनेपर कलासहित तथा भलीभाँति ज्ञात हो जानेपर कलारहित चिद्रूप परमात्माके तत्त्वका शोधनकर वर्णन]

पूर्व सर्गमें बड़े विस्तारके साथ समस्त प्रपञ्चका वर्णन किया गया है तथा

किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काल्या देहसंस्थितम् ।
परिनृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

नासौ पुमान्न चासौ स्त्री न तन्नृत्तं न तावुभौ ।
तथाभूते तथाचारे आकृती न च ते तयोः ॥ ३ ॥

प्रलीन हुए उस प्रपञ्चकी नृत्य कर रही कालरात्रिके भूषण आदि भावसे अङ्गमें उत्पत्ति एवं नृत्त भ्रमण आदिका भी वर्णन किया गया है। इस विषयमें नष्टकी पुनः उत्पत्तिकी संभावना न मानते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'किमेतत्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जब प्रलयमें सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी किस अङ्गसे नाच कर रही थी ? तथा सूप, ओखली एवं कुम्भ आदिके द्वारा, जो उस समय नष्ट हो चुके थे, उसके माला धारणका जो आपने वर्णन किया है वह क्या है ? मेरे पूछनेका तात्पर्य यह है कि नष्ट हुए सूप आदिकी मालाको जो उसने धारण किया था, उसकी मैं कैसे संभावना करूँ ॥१॥

तीनों जगत्का नष्ट क्या हुआ, फिर कालीकी देहमें स्थित क्या रहा और निर्वाणको प्राप्त हुआ जगत् पुनः आकर नाचने कैसे लगा ? अर्थात् जब जगत् नष्ट हो गया, तो फिर वह स्थित कैसे रहा और जब वह निर्वाणको प्राप्त हो गया तब पुनः आकर वह नाचने कैसे लगा, यह सब कहना विरुद्ध प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

यदि परमार्थदृष्टिसे मेरे कथनमें व्याघात समझते हैं, तो ठीक है, आप वैसा ही समझिये, क्योंकि परमार्थतः चिन्मात्रैकरस परिपूर्णानन्द सन्मात्रसे अतिरिक्त स्त्री, पुरुष आदिरूप जगत् तथा रुद्र और देवी आदिका विभाग—यह सब अत्यन्त असंभावित ही है अर्थात् इनके भेदकी बिल्कुल संभावना ही नहीं है। परन्तु भ्रान्तदृष्टिसे तो तनिक भी उसमें व्याघात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसत्तासे सर्वदा सत्स्वरूप जो वस्तुएँ हैं उनके नाश और अविनाशके विशेषरूपका निरूपण नहीं हो सकता, नष्ट हुई वस्तुओंकी भी स्वप्नमें प्राप्ति दीखती है, मर गये या बहुत दिन पहले जो भस्मीभूत हो चुके हैं उनका भी मुनि, सिद्ध एवं ईश्वर आदिके वरप्रभावसे पुनरागमन प्रसिद्ध ही है। इसलिए जबतक अज्ञान है तबतक

अनादिचिन्मात्रनभो यत्तत्कारणकारणम् ।
अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ॥ ४ ॥
शिवं तत्सच्छिवं साक्षाल्लक्ष्यते भैरवाकृति ।
तथास्थितो जगच्छान्तौ परमाकाश एव सः ॥ ५ ॥
चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ॥ ६ ॥

जगत्‌के आकारका चित्तमें सबकी दृष्टिमें संस्काररूपसे सद्भाव रहनेसे अत्यन्त भ्रान्तिग्रस्त पुरुषोंके द्वारा केवल जगत्‌के रूपसे, सर्वजगत्‌से युक्त एक मूर्ति मानकर, रुद्र, देवी आदिके उपासकोंके द्वारा उक्त रूपसे योगसिद्धिके प्रभावसे उक्त रूपका दर्शन हो सकता है, इस आशयको लेकर कहते हैं—'नासौ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वह रुद्र परमात्मा न तो पुरुष है, न स्त्री है, न उसने नृत्य ही किया है । सच कहना तो यह है कि भगवती काली और भगवान् रुद्र—ये दोनों ही, जैसा कि मैंने आपसे उनका वर्णन किया है वैसे नहीं थे, वस्तुतः उस आचारके भी वे नहीं थे और न उनकी वह आकृति ही कुछ थी ॥ ३ ॥

किन्तु जो कारणोंका कारण है वही अनादि चिन्मात्र, आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशस्वरूप, अविनाशी ही सर्वत्र व्याप्त था ॥ ४ ॥

निरतिशयानन्दैकरस वह ब्रह्म ही नीलकण्ठ, त्रिनेत्र आदि रूप धरकर प्रलयकालमें भैरवाकार उपासकों द्वारा दिखाई देता है, क्योंकि उन उपासकोंकी वासनानुसार वह परमाकाश ही जगत्‌की शान्तिके समय भगवान् भैरवकी उस आकृतिसे युक्त स्थित रहता है ॥ ५ ॥

किंच, चेतन ब्रह्ममें ही जगत्‌का उपसंहार श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है । लोकमें निराकार चेतन कहीं नहीं दीखता, इसलिए जगत्‌का संहार करनेवाले परमेश्वरमें 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध रूपकी संभावना अवश्य करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'चेतनत्वात्' इत्यादिसे ।

चेतन होनेके कारण वह परमेश्वर अपने चेतनस्वरूप वैभवको छोड़कर ऐसे स्थित नहीं रह सकता, जैसे कटक, केयूर आदिरूप अपनी आकृति छोड़कर सुवर्ण ॥ ६ ॥

कथमास्तां वद प्राज्ञ चिन्मात्रं चेतनं विना ।
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना ॥ ७ ॥
कटकादि विना हेम कथमास्तां विलोच्यताम् ।
कथं स्वभावेन विना पदार्थस्य भवेत् स्थितिः ॥ ८ ॥
विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ।
निर्माधुर्यश्च यस्त्विक्षुरसो नहि स तद्रसः ॥ ९ ॥
अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
न च चिन्मात्रनभसो नष्टं क्वचन युज्यते ॥ १० ॥

जैसे कटक, केयूर आदिके आकारमें परिणत हुए बिना सुवर्ण नहीं रह सकता यानी किसी-न-किसी अलङ्कारके रूपमें सुवर्णका परिणत हो जाना जैसे अनिवार्य है वैसे ही चितिमें भी चेत्याकारका अनिवार्य अवलम्बन लोकमें प्रसिद्ध है। इसलिए निराकारपक्षकी ही बिलकुल असंभावना सिद्ध होती है, यह दृढ़तापूर्वक कहते हैं—'कथमा०' इत्यादिसे ।

हे प्राज्ञ, कहिये, चेतनके बिना—चेत्य विषयाकार धारण किये बिना चिन्मात्र भला कैसे रह सकता है? हे प्राज्ञ, कहिये न, तिक्तताके बिना भला मरिच कैसे रह सकता है? ॥ ७ ॥

सविषयतास्वभाव होनेसे भी अज्ञात चितिके आकारका किसी तरह परित्याग नहीं किया जा सकता, इस आशयसे कहते हैं—'कथम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारिये तो सही, भला कटक आदि अलङ्कारस्वरूपताको प्राप्त किये बिना सुवर्णकी स्थिति कैसे रह सकती है, क्योंकि स्वभावके बिना यानी अपने स्वभावको छोड़कर किसी भी पदार्थकी स्थिति रह कैसे सकती है? ॥ ८ ॥

कहिये न, माधुर्यके बिना इक्षुरस कैसे रह सकता है, क्योंकि माधुर्यसे रहित जो इक्षुका रस है, वस्तुतः वह उसका रस ही नहीं है ॥ ९ ॥

अपिच, नष्ट हुए भी पदार्थोंका स्मृतिमें भान होता है, इसलिए चितिदृष्टिसे किसी भी पदार्थका निरन्वयनाश कहीं प्रसिद्ध ही नहीं है, यह कहते हैं—'अचेतनम्' इत्यादिसे ।

चेतनशून्य जो चिन्मात्र है, वस्तुतः उसे चिन्मात्र नहीं कहते और यह भी युक्त नहीं है कि चिन्मात्र आकाशका कहीं कुछ नष्ट हो जाय ॥ १० ॥

स्वसत्तामात्रकादन्यत्किञ्चित्तस्य न युज्यते ।
अन्यत्वमुररीकर्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥ ११ ॥
तस्मात्तस्य यदक्षुब्धं सत्तामात्रं स्वभासनम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥ १२ ॥

किञ्च, ब्रह्मसे अभिन्न जो यह जगत् है, इसके एकमात्र ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त रूपकी प्रसिद्धि न होनेसे किसी पदार्थके नाशकी ही सिद्धि नहीं है, यह कहते हैं—'स्वसत्ता०' इत्यादिसे ।

उस ब्रह्मको स्वसत्तामात्रसे अन्य कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है । [यदि यह आशङ्का हो कि 'निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इत्यादि ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त रूपका कथन श्रुतियोंमें पाया जाता है और पामर लोग ऐसा अनुभव भी करते हैं, तो इस आशङ्कापर कहते हैं—'अन्यत्वम्' से ।] हां, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह ब्रह्मात्मा जगदाकारसे* अन्यरूप स्वीकार करनेके लिए पहले आकाशसे† अभिन्न अपनी आत्माको बना लेता है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि वह ब्रह्म अपनेसे अभिन्न आकाशको बना लेता है, तो फिर उससे भिन्न दूसरा कोई रूप उसके द्वारा स्वीकृत कैसे हो सकेगा ? अथवा सद्रूप अनन्यत्वका सम्पादन न होनेपर उसके द्वारा आकाशकी रचना ही कैसे हो सकेगी, क्योंकि सदात्मताका लाभ ही तो आकाशादिकी उत्पत्ति कही जाती है, इसलिए 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित मूर्तामूर्तस्वरूप सद्रूपसे अन्य है, इसकी सिद्धि किसी तरह भी नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

'तब कहिये, जगत्का स्वरूप क्या है ?' यदि यह कोई प्रश्न करे, तो उसके इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'ब्रह्मसत्ता ही जगत्का रूप है' । वह ब्रह्मसत्ता तत्त्वके अवबोधक प्रमाणके बिना लौकिकदृष्टिसे जगत्प्रलय आदिके आकारसे ऐसे भासती है, जैसे सर्पाकारसे रज्जु भासती है । परन्तु तत्त्वावबोधक प्रमाणके द्वारा तो वह यथार्थरूपसे भासती है, यह निष्कर्ष है, यों उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

* 'बहुस्यां प्रजायेय' यह श्रुति देखिये ।
† 'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः' यह श्रुति देखिये ।

तदेतत्त्रिजगत्सर्गकल्पान्तौ व्योम भूर्दिशः ।
नाश उत्पादनं नाम विना साभासनं नभः ॥ १३ ॥
जननं मरणं मायामोहमान्द्यमवस्तुता ।
वस्तुता च विवेकश्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥ १४ ॥
विद्याविद्याविदेहत्वं सदेहत्वं क्षणश्चिरम् ।
चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चेतरश्च तत् ॥ १५ ॥
सदसच्चाथ सदसन्मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव च ।
देशकालक्रियाद्रव्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥ १६ ॥
रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम् ।
तेजोवार्यनिलाकाशपृथ्व्यादिकमिदं ततम् ॥ १७ ॥
एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः ।
अजहद्व्योमतामेव सर्वात्मैवैवमास्थितः ॥ १८ ॥
एतत्सर्वं च विमलं खमेवात्र न संशयः ।
अस्मादनन्यत्स्वप्नादिर्दृष्टान्तोऽत्राऽविखण्डितः ॥ १९ ॥

इसलिए आदि, मध्य और अन्तशून्य, अक्षुब्ध, सर्वशक्तिमयात्मक ब्रह्मकी स्वसत्तामात्र जो अपनी स्थिति है वही इस जगत्-त्रयका सर्ग और प्रलय है। वही आकाश है, वही पृथिवी है और वही सब दिशाओंके रूपमें स्थित है। तत्त्वावेदक प्रमाणके बिना ही नाश और उत्पत्ति—ये दोनों अविद्यादूषित दृष्टिसे भासते हैं। भाव यह है कि तिमिररोगयुक्त दृष्टिसे चन्द्रकी व्योमादिरूपताके भासनके समान ही वस्तुतः ये दोनों शुद्धसत्तातिरिक्त अर्थशून्य ही हैं ॥१२,१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्म, मरण, माया, मोह, जड़ता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षण, चिरकाल, चञ्चलता, स्थिरता, तुम, मैं, इतर, वह, सत्, असत्, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, बाह्य और आभ्यन्तर विषय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय तथा जो यह सर्वत्र व्याप्त तेज, जल, अनिल, आकाश और पृथिवी आदि है, वह सब शुद्ध निरामय चिदाकाश ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपताका परित्याग न करते हुए सर्वस्वरूप होकर ही स्थित है ॥ १४–१८ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह सब कुछ निर्मल चिदाकाश ही

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥ २० ॥
स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः ।
चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥ २१ ॥
अनिलो जलदोऽम्भोधिर्यो यद्वस्त्वस्ति नास्ति च ।
इत्येते चिन्मयाकाशकोशलेशाः स्फुरन्त्यलम् ॥ २२ ॥

स्थित है, इससे भिन्न कुछ नहीं है । इस विषयमें स्वप्नादि ही अविखण्डित दृष्टान्त है ॥ १९ ॥

सत्-चित्स्वरूप जिस एक परमाकाश परमात्माका मैंने अभी आपसे वर्णन किया है वह 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य' इत्यादि श्रुतियोंमें 'शिव' नामसे कहा गया है । यही सनातन शिव होता है, जिसका मैंने रुद्रमूर्तिके नामसे उपन्यास किया है ॥ २० ॥

वही परमात्मा विष्णु आदिके आकारसे उपासना करनेवालोंके लिए 'हरि' वेषसे स्थित हो जाता है । एवं औरोंके लिए यही पितामह भी होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक हम आपसे क्या कहें, यही परमात्मा चन्द्र, सूर्य आदिके स्वरूपकी वासनासे वासित बुद्धिवालोंके लिए चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर तथा अग्निरूप धारण कर स्थित होता है* ॥ २१ ॥

यही परमात्मा वायु, मेघ और सागर है तथा अतीतादि काल भी यही है। तीनों कालमें जिस वस्तुकी सत्ता विद्यमान है और नहीं है वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है । हे श्रीरामचन्द्रजी, 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्दुः सोऽक्षरः परमः स्वराट् । स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥ स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् । ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥' इस तरह श्रुतिमें प्रतिपादित जो ये विष्णु तथा पितामह आदि भाव अच्छी तरह स्फुरित हो रहे हैं वे सबके सब उस चिन्मय ब्रह्माकाशकोशके गुणादि-उपाधि-प्रयुक्त अंशस्वरूप हैं ॥ २२ ॥

* देखिये यह श्रुति—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' ।

एवंविधाभिः सञ्ज्ञाभिर्मुधा भावनयेदृशाः ।
स्वभावमात्रबोधेन भवन्त्येते तु तादृशाः ॥ २३ ॥
अबोधो बोध इत्येवं चिद्व्योमैवाऽऽत्मनि स्थितम् ।
तस्माद्भेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशाम्यताम् ॥ २४ ॥
तावत्तरङ्गत्वमयं करोति
जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं
निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥ २५ ॥
ज्ञाते तु शान्तिं स तथोपयाति
यथा न सोऽब्धिर्न तरङ्गकोऽसौ ।
यथाऽस्थितं सर्वमिदं च शान्तं
भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिवस्वरूपवर्णनं नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥८२॥



अन्यथा ग्रहण करनेवाली अविद्या द्वारा इस तरहकी संज्ञाओंसे ब्रह्मा, विष्णु आदि ऐसे हो जाते हैं। लेकिन परमात्मस्वभावमात्रका बोध होनेपर तो वे सब चिन्मात्रस्वभाव ही हो जाते हैं ॥ २३ ॥

चिदाकाशरूप ब्रह्म ही अज्ञदृष्टिसे अबोधस्वरूप होकर जीव और जगत्के रूपसे स्थित है तथा तत्त्वदृष्टिसे वही बोधस्वरूप होकर अपने स्वरूपमें स्थित है। इसलिए भेद तथा द्वैत और ऐक्य कुछ भी है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्त हो जाइये ॥ २४ ॥

यह जीव जबतक परब्रह्मात्मक अपने स्वभावको नहीं जानता तबतक यह अज्ञानस्वात्मस्वरूप संसाररूपी महासागरमें जन्म-मरण-भ्रमणादिरूप नाना तरङ्गोंकी कल्पना करता है। परन्तु जब यह अपने स्वरूपको जान लेता है तब तन्मयताको प्राप्त होकर निरामय उसी स्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ २५ ॥

यही कहते हैं—अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर तो वह जीव वैसे शान्तिको प्राप्त हो जाता है जिससे कि न तो वह समुद्र रहता है और न उसमें

त्र्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रपरमाकाश एष यः कथितो मया।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तस्तदा रुद्रः प्रनृत्यति ॥ १ ॥
याऽसौ तस्याऽऽकृतिर्नासावाकृतिः कृतिनांवर।
तच्चिन्मात्रघनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥ २ ॥
मया दृष्टा तदाकाशमेव शान्तं तदाकृतिः।
मयैव तत्परिज्ञातं नान्यः पश्यति तत्तथा ॥ ३ ॥

तरङ्ग ही। यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् उसके लिए परम शान्त अनन्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमूलशङ्करशास्त्रिविरचित-योगवासिष्ठभाषानुवादमें निर्वाणप्रकरणके उत्तरार्धका बयासी सर्ग समाप्त

तिरासी सर्ग

[चिन्मात्र ही भैरवाकार वह भगवान् शिव तथा भगवती काली हैं, चन्मात्रसे अन्य वे नहीं हैं। बोधके लिए कल्पना दृष्टिसे उस तरह भासित होते हैं, यह वर्णन]

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र यही कारण है कि आपकी अविद्या-भ्रान्तिके निरास द्वारा तात्त्विक शिवस्वभाव दृष्टिके उद्‌घाटनके लिए मैंने जगत्-प्रलयके समय रुद्र-नृत्य आदिका, जो स्वानुभूत हैं, वर्णन किया है, वही परमार्थ है; ऐसा आपको भ्रम नहीं कर लेना चाहिए, यह कहते हैं—'चिन्मात्र०' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जो मैंने आपसे वर्णन किया है वह चिन्मात्र परमाकाश ही है, यही शिवरूपसे कहा गया है। यही प्रलयकालमें रुद्र होकर नृत्य करता है ॥ १ ॥

हे पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, उसकी जो यह भयानक आकृति है वह वस्तुतः उसकी आकृति नहीं है, किन्तु उस तरहका वह चिद्घन चिदाकाश ही उस रीतिसे स्फुरित होता है ॥ २ ॥

तत्त्वदृष्टिसे मैंने उस भयानक आकृतिको उस समय शान्त चिदाकाशमात्र देखा। वस्तुतः अकेले मैंने ही उसे जाना, तत्त्वदृष्टिसे हीन कोई ही प्राणी उसे वैसा नहीं देखता ॥ ३ ॥

यथा नाम स कल्पान्तः स रुद्रः सा च भैरवी ।
मायामात्रं तथा सर्वं परिज्ञातमलं मया ॥ ४ ॥
चिद्व्योमैव परं शून्यं सन्निवेशेन तेन तत् ।
तथा संलक्ष्यते नाम भैरवाकारतां गतम् ॥ ५ ॥
वाच्यवाचकसम्बन्धं विना बोधो न जायते ।
यस्मात्तस्मात् त्वयि मया दृष्टमेव प्रवर्णितम् ॥ ६ ॥
सदेव वाच्युपारूढमेतद् राम सदैव ते ।
रूढाधिभौतिकदृशः क्षणान्मायात्मतां गतम् ॥ ७ ॥
न भैरवी सा नैवाऽसौ भैरवो नैव संक्षयः ।
समस्तमेव तद्भ्रान्तिमात्रं चिद्व्योम भासते ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह कल्पान्त, वह रुद्र और वह भैरवी—ये सबके सब जिस तरह मायामात्र हैं, यानी 'कल्पादि सबके सब जैसे मायामात्र हैं' यह सब मैंने अच्छी तरह तत्त्वज्ञान हो जानेके कारण तत्त्वदृष्टिसे ही जान लिया ॥ ४ ॥

केवल वह निराकार चिदाकाश ही उस आकार विशेषसे भैरवाकारताको प्राप्त दिखाई देता है। सच पूछिये तो उस तरहका यथार्थमें कोई रूप आदि नहीं है, किन्तु उपासकोंकी वासनाके अनुसार भैरवाकारताको प्राप्त वह वैसा दीखता है ॥ ५ ॥

कल्पनादृष्टिसे देखी गई वस्तुका वर्णन आपके सामने वाच्य-वाचककी यानी शब्द तथा अर्थकी सम्बन्ध-कल्पनाके बिना निर्विशेषका व्युत्पादन न हो सकनेसे ही मैंने उसकी कल्पना करके आपको समझानेके लिए किया है, यह कहते हैं—'वाच्यवाचक०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि वाच्यवाचक सम्बन्धके बिना बोध नहीं होता, इसलिए कल्पनादृष्टिसे देखी गई वस्तुका ही मैंने आपसे वर्णन किया है ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकालके अभ्यासके कारण जगत्में आपकी आधिभौतिक दृष्टि प्रौढ़ बन गई है, इसलिए आपकी वाणीमें यह जो कुछ दृढ़ताको प्राप्त है वह सब क्षण भरमें मायात्मताको यानी सत्यत्वकी भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि वह सब मायामात्र क्षणिक है, भ्रान्तिसे सत्यरूप प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥

वस्तुतः न वह भैरवी है, न वह भैरव है और न वह प्रलयकाल ही

स्वप्ननिर्माणपुरवत् सङ्कल्परणवेगवत् ।
कथार्थसार्थरसवन्मनोराज्यविलासवत् ॥ ९ ॥
यथा स्वप्नपुरं स्वच्छे व्योम्नि मौक्तिकधीर्यथा ।
यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि तथाऽचिद् भाति चिद्घने ॥ १० ॥
चिन्मात्राकाशमेवाऽच्छं कचति स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
तथा नाम यदाभाति तदात्मैव जगत्तया ॥ ११ ॥
यथा चिद्व्योम्नि कचति स एवाऽऽत्मा तथा पटे ।
तथा कचति तत् तत्र कल्पान्तानलनर्तने ॥ १२ ॥
शिवयोरेवमाकारो निराकारोऽङ्ग वर्णितः ।
अधुना शृणु ते वक्ष्ये नृत्यद्द्वयाऽनृत्ततास्थितिम् ॥ १३ ॥

है, किन्तु वह समस्त ही भ्रान्तिमात्र है, परमार्थरूपसे चिदाकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥ ८ ॥

स्वप्नमें जिसका निर्माण हुआ है उस नगरकी तरह, मनोरथके युद्धके वेगके समान, सुन लेना या कह देना ही एकमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कथार्थोंके रसकी तरह, मनोराज्यके विलासकी तरह यह सब भ्रम है, चिद्घनमें भासित हो रहा है ॥ ९ ॥

जैसे स्वप्न-नगर भासता है, जैसे स्वच्छ आकाशमें मौक्तिक बुद्धि होती है तथा जैसे आकाशमें केशोण्ड्रक भासता है वैसे ही अचित् चिद्घनमें भ्रान्तिसे भासित हो रहा है ॥ १० ॥

तब प्रबोध होनेपर कैसे भासता है, यह कहते हैं—'चिन्मात्रा०' इत्यादिसे। प्रबोध होनेपर एकमात्र स्वच्छ चिदाकाश ही अपने स्वरूपमें अपनेसे भासता है। जब प्रबोध नहीं रहता, तब चिदात्मा ही जगत्-रूपसे वैसा भासता है, यह निश्चित है ॥ ११ ॥

जैसे चिदाकाशमें स्वयं ही आत्मा स्फुरित होता है वैसे ही पटमें स्फुरित होता है और उस कल्पान्तकी अग्नि तथा नृत्यमें भी वह उस रूपसे स्फुरित होता है ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने भगवान् भैरव तथा भैरवीके आकारका,

चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना ।
क्वचित्स्थातुं न शक्नोति वस्त्ववस्तुतया यथा ॥ १४ ॥
स्वभावाच्चेतनं तस्माद् रुद्रत्वेन तथा स्थितम् ।
हेमेव रूपकत्वेन संनिवेशविलासिना ॥ १५ ॥
यन्नाम चेतनं यत्र तदवश्यं स्वभावतः ।
स्पन्दधर्मि भवत्येव वस्तुता हि स्वभावजा ॥ १६ ॥
यः स्पन्दश्चिद्घनस्याऽस्य शिवस्याऽस्य स एव नः ।
स्ववासनावेशवशान्नृत्यमेव विराजते ॥ १७ ॥
अतः स कल्पान्तशिवो रुद्रो रौद्राकृतिर्द्रुतम् ।
यन्नृत्यति हि तद्विद्धि चिद्घनस्पन्दनं निजम् ॥ १८ ॥

जो तत्त्वतः निराकार हैं, वर्णन किया, अब मैं उनकी नृत्यस्थितिका आपसे वर्णन करने चल रहा हूँ, जो वस्तुतः अनृत्यस्वरूप है, आप सुनते रहिये ॥ १३ ॥

जैसे भ्रान्तिसे दिखाई दे रही शुक्ति आदि वस्तु अवस्तुभूत रजत आदि रूपके बिना किसी तरह टिक नहीं सकती, वैसे ही चिन्मात्र पर ब्रह्म परमात्माकी चेतनता भी बिना किसी स्पन्दनके स्थित नहीं रह सकती, क्योंकि भ्रान्तिके स्वभावका विपर्यासकत्व-नियम सर्वत्र समान है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसी भ्रान्ति एक जगह होती है ठीक वैसी ही भ्रान्ति और जगह भी दीखती है, ऐसा नियम नहीं है कि दूसरी जगहकी भ्रान्तिका स्वरूप कोई दूसरा हो ॥ १४ ॥

इसीलिए जैसे सुवर्ण कटक, केयूर आदि आकारोंसे सुशोभित होनेवाले अलङ्काररूपसे स्थित होता है वैसे ही सद्रूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभावसे रुद्ररूप धारण कर स्थित है ॥ १५ ॥

जो चेतन है, जिसमें चेतनत्व अवश्य स्वभावतः है, वह स्पन्दधर्मवाला होता ही है, क्योंकि अधिष्ठानता स्वाभाविक होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १६ ॥

जो इस चिद्घनका स्पन्द है वही इस भगवान् शिवका स्पन्द है। वही हम लोगोंके सामने अपनी वासनावश नृत्यरूपसे विराजमान होता है ॥ १७ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलयकालमें वह भगवान् शङ्कर भयङ्कर आकृतिवाले रुद्र होकर जो शीघ्र नृत्य करते हैं, उसे आप चिद्घनका निजी स्पन्दन ही समझिये ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

प्रामाणिकदृशा दृश्यमिदं नास्त्येव वस्तुतः ।
यद्वास्तवि तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १९ ॥
तत्कल्पान्तमहाशून्ये एतस्मिन् परमाम्बरे ।
कथंचिन्नाम वा चेत्यं चेता चेतति चिद्घनः ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

एतदेव तदाप्यङ्ग द्वैतैक्याम्भोधिशान्तये ।
यदि चिन्मात्रनभसश्चेत्यमस्ति न किञ्चन ॥ २१ ॥
न किञ्चिच्चेतति ततः क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तं दृषन्मौनं विज्ञानघनमम्बरम् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, प्रामाणिक दृष्टिसे वस्तुतः यह दृश्य है ही नहीं, इसलिए उस कल्पमें आपसे मेरा कुछ प्रश्न नहीं है, किन्तु अप्रामाणिक दृष्टि पक्षमें मैं आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ एक तरहसे सत्तावान्-सा है वह सब कल्पान्तमें नष्ट हो जाता है, तो फिर कल्पान्तमें महाशून्य उस परमाकाशमें चेत्य रहित चिति कैसे रहती है ? तथा आश्रयके अभावमें चेतयिता कैसे रहता है अथवा स्वातिरिक्त चितिक्रियाके अभावमें चिद्घन कैसे चेतता है । कहनेका तात्पर्य यह है कि उस दशामें त्रिपुटीका रहना किसी तरह नहीं बन सकता । यदि आप यह कहें कि उस समय न रहते हुए भी दृश्यको अविद्या दिखला देती है, इसलिए उसीसे त्रिपुटीकी सिद्धि हो सकती है, तो इसपर मेरा सविनय यह निवेदन है कि सर्ग और प्रलयमें विशेषता ही क्या रही ? क्योंकि अचेतित—चितिक्रिया-शून्य सर्वजगद्घटित रुद्र और देवीके शरीरमें उस नृत्यकी किसी तरह संभावना नहीं की जा सकती । भाव यह कि एक समयमें द्वैत और ऐक्यकी भावना कदापि नहीं हो सकती ॥ १९, २० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, ऐसी यदि आपकी शङ्का है, तो अपने द्वैत और ऐक्यके सन्देहरूपी सागरकी शान्तिके लिए यह उत्तर सुनिये—सबका प्रलय होनेपर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाशका यदि कुछ भी चेत्य नहीं है, तो फिर उससे अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुके न रहनेसे ही किसी देश और किसी कालमें कोई भी कोई दूसरी वस्तु नहीं चेतता, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्'—जहां सब इसका आत्मा ही हो गया, वहां कौन किससे किसको देखेगा।

यच्चेदं चेत्यते नाम तत्स्वभावोऽस्य वल्गति।
चित्स्वभावस्य शान्तस्य स्वसत्तायामवस्थितेः ॥ २३ ॥
यथा स्वप्ने चिदेवाऽन्तः पुरपत्तनवद्भवेत्।
पुरादि न तु तत् किञ्चिद्विज्ञानाकाशमेव तत् ॥ २४ ॥
आत्मनाऽऽत्मनि चिच्छन्नं ज्ञात्वा च ज्ञेयमप्यलम्।
तथा च सर्गादारभ्य वेत्ति स्वं कचनं च तत् ॥ २५ ॥

यानी उस दशामें द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, चेतयिता, चेत्य, चितिक्रियाका संभव नहीं है। [ऐसी दशामें प्रामाणिक दृष्टिसे सिद्ध नित्यमुक्त आत्मस्वभाव ही प्रलय है—यह आपने सिद्ध कर दिया, अतः सब तरहसे आपका प्रथम कल्प ही सम्पन्न हुआ, ऐसा कहते हैं—'सर्वस्य' इत्यादिसे। अतः सब शान्त पाषाणवत् मौन विज्ञानघन आकाश ही सर्वदा स्थित है। ऐसी दशामें, अप्रामाणिक दृष्टिसे द्वितीय विकल्पका आश्रयण करके आपका प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह भाव है।] ॥ २१, २२ ॥

यदि प्रथम कल्पकी विलक्षणताके लिए प्रलयमें अविद्या आदि किसी चेत्यको आप स्वीकार करते हैं, तो फिर उसीसे त्रिपुटी, जगद्घटित रुद्र और देवीका शरीर तथा उनका नृत्य भी सब उस दशामें रह सकते हैं, इसलिए मैंने जो कुछ कहा है वह कुछ भी असंभावित नहीं है—सबकी उस दशामें संभावना की जा सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'यच्चेदम्' इत्यादिसे।

और जो कुछ यह चेतित होता है वह इस ब्रह्मका अविज्ञात आत्मरूप ही प्रलयमें भी रुद्र, देवी और उसके नृत्यरूपसे प्रथित होता है। [इतनेसे ब्रह्मके वास्तव कूटस्थ चित्स्वरूपमें किसी तरहकी हानि होती हो, सो भी नहीं है—आप भूलकर भी इसके वास्तविक स्वरूपकी हानिकी आशङ्का न कीजियेगा,] क्योंकि चित्स्वभाव शान्तस्वरूप इस ब्रह्मकी अपनी सत्तामें ही अवस्थिति रहती है ॥२३॥

भ्रान्तिके कारण अन्यथात्वका प्रतिभास होनेपर भी वास्तविक स्वभावकी अप्रच्युतिमें दृष्टान्त कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे कि स्वप्नमें एकमात्र चिति ही अन्तःकरणमें ग्राम और नगर-सी होती है—नगर आदिका स्वरूप धारण करती है, परन्तु यथार्थमें वहां पुर आदि कुछ नहीं रहते। जो कुछ वहां रहता है, वह सब विज्ञानाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥ २४ ॥

इसलिए समस्त ज्ञेयको भली भांति जानकर भी चिति अपनेसे अपनेमें सर्वदा

स्वयमन्तः कचन्ती चित्स्वभावाकाशकोटरे ।
क्षणकल्पजगद्भ्रान्तिं धत्ते कल्पनया स्वया ॥ २६ ॥
स्वमन्तः कचत्कान्तिश्चिदाकाशः स्वभावखे ।
अयं सोऽहमयं च त्वं करोतीत्यादिकल्पनम् ॥ २७ ॥
तस्मान्न द्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता ।
न चेतनाचेतनं वै मौनमेव न तच्च वा ॥ २८ ॥
न चेतति क्वचित् किञ्चित्कश्चिच्चेत्यात्मभावतः ।
तेन चेतापि नास्तीव मौनमेवाऽवशिष्यते ॥ २९ ॥

ही ज्ञेयको शून्य जानती है । तथा प्रलयकालमें भी सृष्टिके प्रारम्भ क्षणसे लेकर प्रलय क्षण तक जो जैसे सम्पन्न होता है सबको अपना स्फुरण समझती है। भाव यह कि वह ब्रह्मचिति सदा सर्वज्ञ प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥

एकमात्र यही कारण है कि उस सृष्टिकालमें भी प्रलयको अतीत एवं अनागत सभी तरहके हजारों प्रलयोंके साथ वह अवश्य देखती रहती है, इसकी भी संभावना करनी चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह चिति स्वस्वभावरूप कोटरमें भीतर स्फुरित होती हुई अपनी ही कल्पनासे क्षण, कल्प तथा जगत्की भ्रान्तिको धारण करती है ॥२६॥

यह चिदाकाश निजस्वभावरूप आकाशमें स्वयं ही भीतर देदीप्यमान कान्तिवाला होकर 'यह, वह, मैं और तुम' इत्यादि नानाविध कल्पना किया करता है ॥ २७ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता है, न चेतन है और न अचेतन ही है, किन्तु एकमात्र निश्चित मौन ही है अथवा वह (मौन) भी नहीं है, किंन्तु चिन्मात्र ही स्थित है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सृष्टि और प्रलयमें जो विशेष है वह भी अपने अनुभवसे ही सिद्ध है, एक साथ प्रतीति होनेसे इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

चितिके स्वयं चेत्यस्वरूप होनेके कारण कहीं कोई कुछ भी नहीं चेतता यानी चिन्तनका विषय नहीं बनाता । इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह निश्चित है कि चेत्य और चेतनक्रियाके न होनेसे चेतयिता भी कोई नहीं है अर्थात् चितिसे भिन्न न तो चेत्य है, न चेतनक्रिया है। एकमात्र मौन ही अवशिष्ट है॥ २९ ॥

निर्विकल्पसमाधिर्हि सिद्धान्तः सर्ववाङ्मये ।
तच्च जीवद्दृषन्मौनं तूष्णीमेवात आस्यताम् ॥ ३० ॥
कुर्वन्निजं प्रकृतमेव यथाप्रवाह-
माचारजालमचलः परमार्थमौनात् ।
निर्मानमोहमदभेदमनङ्गजीव-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥ ३१ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विश्वरूपदर्शनं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं मुने ब्रूहि काली किमिव नृत्यति ।
किं शूर्पफलकुद्दालमुसलादिस्रजावृता ॥ १ ॥

इस सम्पूर्ण वाङ्मय प्रपञ्चमें निर्विकल्पक समाधि ही सिद्धान्त है और वह जीवकी पाषाणके समान मौनावस्था है। इसलिए आप बिलकुल चुपचाप स्थित रहिये ॥ ३० ॥

हे श्रीरामजी, आप भी परमेश्वरके समान लोकदृष्टिसे अपने राज्य-परिचालन आदि आचारसमूहका, पिता-पितामह आदिसे जो क्रम चला आ रहा है उसी क्रमसे, परिचालन करते हुए अपनी दृष्टिसे परमार्थतः मौन होनेके कारण मान, मोह, मद आदि भेदसे रहित अङ्गों तथा उनके अभिमानी जीवसे रहित हो आकाशकोशके समान विशालहृदय हो शान्त स्थित रहिये ॥ ३१ ॥

तिरासी सर्ग समाप्त

चौरासी सर्ग

[शिव और शक्तिके स्वरूपका विभागपूर्वक वर्णन तथा सूप आदिकी मालाके स्वरूपका भी सत्यासत्यविचारपूर्वक वर्णन]

श्रीरामभद्रने कहा—हे मुने, आपने जो यह वर्णन किया कि भगवती काली नृत्य करती थी, अब आप उसका असली स्वरूप बतलाइये और वह जो सूप, हलकी

वसिष्ठ उवाच

स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते ।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ २ ॥
यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥ ३ ॥
स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते ।
चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते ॥ ४ ॥

फाल, कुदार, मुसल आदिकी माला पहिने थी, उस मालाके सूप आदिका क्या स्वरूप है, कृपया मुझसे यह भी कहिये । इस श्लोकमें 'कालः किमिव नृत्यति' पाठान्तर भी है, इस पाठमें भी कालात्मक कालीके स्वरूपका ही प्रश्न समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर ग्रन्थमें नृत्य एवं सूप आदिकी मालाका ही वर्णन है ॥१॥

शिवजीके स्वरूपका निरूपण किये बिना शिवशक्तिके स्वरूपका निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंका साथ-साथ स्वरूप बतलानेका उपक्रम करते हैं—'स' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, जो वह भैरव हैं, वह तो चिदाकाशस्वरूप शिवजी ही कहे जाते हैं, उन शिवजीकी वह मनोमयी स्पन्दशक्तिरूपा काली अनन्य ही है, यह आप जानिये । यही माया है, यही शिवजीमें एकरूपसे अध्यस्त होकर उन्हींकी सत्ता और स्फूर्तिसे स्वयं सत्ता एवं स्फूर्तिसे युक्त बनती है, इसलिए शिवजीसे अनन्य है, चलनस्वभाव जो रजोगुण है, इसकी प्रधानता आनेपर स्पन्दनशक्ति कहलाती है और सत्त्वगुणकी प्रधानतासे अपनेमें चारों ओर चितिका प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है तथा जगत्संस्कारसे घटित हो जाती है—इसी कारणसे सृष्टि आदिका सङ्कल्प-विकल्प करनेके कारण मनकी समता ग्रहण करती हुई मनोमयी कही जाती है ॥ २ ॥

दो दृष्टान्तोंसे मायामें अनन्यत्वका समर्थन करते हैं—'यथैकम्' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे पवन और स्पन्दन दोनों एक ही वस्तु हैं अथवा जैसे उष्णता एवं अग्नि दोनों एक ही हैं, वैसे चिन्मात्र शिव एवं स्पन्दनशक्तिरूपा माया दोनों सदा ही एकस्वरूप हैं, भिन्नस्वरूप नहीं ॥ ३ ॥

'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतियोंमें जगत्सृष्टि, प्राणस्पन्दन आदि

तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव लक्ष्यते नाऽन्यथा किल ।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥ ५ ॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा ।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम् ॥ ६ ॥
करोत्येवं शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः ।
सैषा चितिरिति प्रोक्ता जीवनाज्जीवितैषिणाम् ॥ ७ ॥
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता ।
दृश्याभासानुभूतानां करणात् सोच्यते क्रिया ॥ ८ ॥

क्रियासे ही शिवात्मक ब्रह्मका लक्षण करनेके कारण भी माया एवं शिव दोनों अनन्य हैं, यह कहते हैं—'स्पन्देन' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे स्पन्दनसे वायु ही कहा जाता है या जैसे उष्णतासे अग्नि ही कही जाती है, वैसे ही शिवसे भी निर्मल शान्त चैतन्यमात्र ही कहा जाता है ॥ ४ ॥

स्पन्दनरूप मायाशक्तिसे ही वह शिवजी लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं । शिवजी ही ब्रह्मरूप हैं, वे ही शान्त और वाणीविशारदोंके अवाच्य हैं ॥ ५ ॥

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिसे वह स्पन्दशक्ति ही शिवजीकी इच्छा है, यह कहा गया है । वही इच्छा सत्यकाम परमात्माके मनोराज्य-ऐसे जगत्का निर्माण करती है, यह कहते हैं—'स्पन्दशक्ति०' इत्यादिसे ।

मायाकी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मरूप शिवजीकी इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभासका उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुषकी इच्छा कल्पनात्मक नगरका विस्तार करती है ॥ ६ ॥

भद्र, इससे सिद्ध हुआ कि शिवकी उक्त इच्छा ही कार्य करनेमें दक्ष है, अतः समस्त आकारसे रहित शिवजीकी स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा इस समस्त दृश्याभासका निर्माण करती है । वही इच्छा अपने भीतरके चिदाभासके द्वारा दीप्त होकर जीवचैतन्य कही गई है, क्योंकि वही जीवनाभिलाषियोंका जीवन है ॥ ७ ॥

वही जगत्के आकारमें परिणत होती है, अतः समस्त सृष्टिकी प्रकृति भी वही है । दृश्योंमें (पदार्थोंमें) प्रतीत होनेवाले उत्पत्ति आदि विकारोंका सम्पादन भी वही करती है, अतः क्रियारूप भी वही है ॥ ८ ॥

वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते ।
चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः ॥ ९ ॥
जया जयैकनिष्ठत्वात्सिद्धा सिद्धिसमाश्रयात् ।
जयन्ती च जया प्रोक्ता विजया विजयाश्रयात् ॥१०॥
प्रोक्ता पराजिता वीर्याद् दुर्गा दुर्ग्रहरूपतः ।
ॐकारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता ॥ ११ ॥
गायत्री गायनात्मत्वात्सावित्री प्रसवस्थितेः ।
सरणात्सर्वदृष्टीनां कथितैषा सरस्वती ॥ १२ ॥
गौरी गौराङ्गदेहत्वाद् भवदेहानुषङ्गिणी ।
सुप्तानामथ बुद्धानामप्यमात्रोच्चारणाद्धृदि ॥ १३ ॥
नित्यं त्रैलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते ।
शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः ॥ १४ ॥

'द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा' (व्याघ्रचर्म धारण की हुई, शुष्कमांसा एवं अतिभयङ्कर देवी) इत्यादि पुराणोंमें उसकी जो शुष्कता प्रसिद्ध है, उसमें भी निमित्त बतलाते हैं—'वडवा०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, वह शुष्का भी कही जाती है, क्योंकि समुद्र आदिके जलोंसे आर्द्र ब्रह्माण्डरूप शरीरधारिणी वह वडवाग्निकी लपटके सदृश लपटधारी आदित्य आदिकी ज्योतियोंसे सूख जाती है । दुष्टोंके लिए क्रोधकी मूर्ति होनेसे चण्डिका तथा उसका कमलके सदृश वर्णवाली होनेसे उत्पला कही जाती है ॥ ९ ॥

जब वह एकमात्र जयनिष्ठ हो जाती है, तब जया; सिद्धोंकी शरण होनेसे सिद्धा, जया होनेसे जयन्ती तथा विजयका आश्रय होनेसे विजया कही जाती है ॥ १० ॥

महाशक्तिके कारण अपराजिता, उसका स्वरूप दुर्निग्रह होनेके कारण दुर्गा, तथा ॐकारकी सारभूत शक्ति होनेके कारण उमा भी वही कही जाती है ॥ ११ ॥

जप करनेवालोंके लिए परमपुरुषार्थरूप होनेके कारण गायत्री, प्रसवकी भूमि होनेसे सावित्री तथा स्वर्ग-अपवर्गके साधन एवं समस्त कर्मोपासनाके विज्ञानोंकी विस्ताररूप होनेसे सरस्वती भी वही कही जाती है ॥ १२ ॥

चूँकि मायाका स्वरूप अति गौर है, अतः वही गौरी है, वही शिवजीके शरीरकी चिरसङ्गिनी है । सुप्त और जाग्रत् जितने प्राणी त्रैलोक्यमें स्थित हैं उनके हृदयमें अकारादि मात्राओंसे रहित शब्दब्रह्मरूप प्रणवके नादका उच्चारण

नभो हि मांससेताभ्यां दृष्टिकृष्टं विलोक्यते ।
असित नभो नभस्येव तौ नभो नभसि स्थितौ ॥ १५ ॥
नभोनिभावभूताङ्गावच्छौ व्योम्न इवाऽग्रजौ ।
हस्तपादास्यमूर्ध्नो यद् बहुत्वाल्पत्वभेदतः ॥ १६ ॥
नानात्वं हलशूर्पादिस्रग्धरत्वं च तच्छृणु ।
सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी ॥ १७ ॥
दद्यात्स्नायाच्च जुहुयादित्याद्यग्रशरीरिणी ।
चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा भाताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥१८॥
साऽऽकाशरूपिणी कान्ता दृश्यश्रीः स्पन्दधर्मिणी ।
देव्यास्तस्या हि याः काल्या नानाभिनयनर्त्तनाः ॥
ता इमा ब्रह्मणः सर्गजरामरणरीतयः ॥ १९ ॥

सदा होता रहता है, इससे जो अङ्गुष्ठपरिमित हृदयकमलके छिद्रमें लिङ्गाकारसे स्थित शिवजी हैं, उनके मस्तकमें भूषणभूत विन्दुरूपा जो उमारूपा इन्दुकला है, वह भी वही कही जाती है । शिव और शिवा दोनों आकाशरूप हैं, अतः उनका शरीर असित यानी नील प्रतीत होता है ॥ १३, १४ ॥

शिव और भगवती शिवा दोनों तो चेतनरूप हैं, इसलिए वे जड़ आकाशरूप कैसे हो सकते हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'नभो हि' इत्यादिसे ।

चूँकि चिद्रूप शिव और शिवाने मांसमय अपने शरीरके सदृश श्यामवर्ण आकाशको सृष्टिसङ्कल्पदृष्टिसे करपा है, इसलिए श्याम-सा एवं जड़-सा दिखाई देता है । जैसे आकाशमें आकाश स्थित हैं, वैसे ही आकाशरूप वे भी आकाशमें (अपने स्वरूपमें) निराधार ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

उनकी अमूर्तता और स्वच्छता भी आकाशके ही सदृश समझनी चाहिए, यह कहते हैं—'नभो०' इत्यादिसे ।

शिवजी और शिवा दोनों आकाशके सदृश हैं और उनका स्वरूप अमूर्त है, आकाशके जेठे भाइयोंके समान वे दोनों ही अत्यन्त स्वच्छ हैं । [जब अमूर्त हैं, तब हाथ, पैर आदि तथा हलादिमालाका धारण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'हस्त०' इत्यादिसे] भद्र, हाथ, पैर, मुँह तथा सिर आदिकी बहुलता एवं अल्पताके भेदसे अनेकरूपता विचित्रता तथा मालादि-

क्रियाऽसौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः ।
स्पन्दाद् करोति धत्तेऽन्तः कल्पितावयवात्मिका ॥ २० ॥
काली कमलिनी काली क्रिया ब्रह्माण्डकालिका ।
धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि ॥ २१ ॥

का धारण है, उसे आप सुनिये । भद्र, एकमात्र स्पन्दनरूपवाली क्रियात्मिका वह भगवती यद्यपि अनादि-अनन्तरूपा चितिशक्ति है, तथापि अपनी इच्छासे अपने समस्तवैदिक क्रियारूप बनकर उसने 'दद्यात्, स्नायात, जुहुयात्' (दो, नहाओ और होमो) इत्यादि वेदविहित दानादि उत्तम शरीर धारण किया है, वास्तवमें वह देवी स्पन्दनधर्मयुक्त कमनीय दृश्यश्री आकाशरूपिणी ही है, इसलिए उस काली भगवतीके जो नानाविध अभिनयोंसे पूर्ण नृत्य हैं, वे सब ब्रह्माके कर्मफलरूप सब प्राणियोंके जन्म, स्थिति आदिके प्रकार हैं, यह जानना चाहिए ॥ १६–१९ ॥

यतः यह देवी क्रियारूपा है, इसलिए उसका अवयव मानना चाहिए, क्योंकि निरवयव वस्तुसे कोई क्रिया हो नहीं सकती। इस परिस्थितिमें अपना ठीक स्वरूप निबाहनेके लिए ही कल्पित हाथ, पैर आदि अवयवरूपा होकर अपने भीतर ग्राम, नगर, द्वीप, मण्डल आदिकी मालाएँ धारण करती है और उनसे स्पन्दन करती है यानी अपनी क्रियारूपता प्रदर्शित करती है ॥ २० ॥

काली शब्दकी व्याख्यामें भी उसकी एकमात्र क्रियास्वभावता तथा ब्रह्माण्ड-शरीर होनेसे समस्त लोकादि अवयवधारिणी होना भी सिद्ध हो जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'काली' इत्यादिसे ।

भद्र, यह काली है । तात्पर्य यह है—'कल गतौ संख्याने च' इस धातुसे काल और काली दोनों शब्दोंका निर्माण हुआ है । वैयाकरण लोगोंका कहना है कि 'कल' धातु तो एक कामधेनु है यानी कामधेनुसे जो चाहें दुहा जा सकता है, वैसे ही कलधातुसे जो भी अर्थ निकालना हो, निकाला जा सकता है । इसलिए यह लाखों ब्रह्माण्डरूप बीज कोशोंकी निर्माणकर्त्री है, धारणकर्त्री है और परिणाम आदि विकारोंको प्राप्त भी कराती है—यों स्वयं क्रियारूप होती हुई कमललताके सदृश श्यामला भी बन गई है । इसीलिए अपने फूल आदि अवयवरूप इस पृथिवी आदि दृश्य लक्ष्मीको हृदयमें धारण करती है ॥ २१ ॥

न कदाचन चिद्देवी निर्देश्यावयवा क्वचित् ।
शिवत्वाव्यतिरेकेण शिवतैवं विदृश्यताम् ॥ २२ ॥
यथाऽङ्ग शून्यता व्योम्नः स्पन्दनं मातरिश्वनः ।
ज्योत्स्नायाश्चेत्थमेवं हि दृश्यमङ्गं चितेः क्रिया ॥ २३ ॥
शिवं शान्तमनायासमव्ययं विद्धि निर्मलम् ।
न मनागपि तत्राऽस्ति स्तैमित्यं स्पन्दधर्मता ॥ २४ ॥
सा क्रियैव तथारूपा सति बोधवशाद् यदा ।
व्यावृत्त्यैव तथैवाऽऽस्ते शिव इत्युच्यते तदा ॥ २५ ॥

यों जगत्-रूप अङ्गोंको धारण करनेपर भी उसकी असङ्गोदासीन चिद्रूप शिवस्वभावता होनेके कारण वास्तवमें निरवयवता ही है, यह कहते हैं—'न कदाचन' इत्यादिसे ।

वास्तवमें चितिरूपा वह देवी न तो कभी शब्दोंसे वर्णित हो सकती है और न उसके कोई अवयव ही हैं। भद्र, केवल यही आप जानिये कि वह शिवस्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण विशुद्ध शिवात्मक ही है ॥ २२ ॥

अङ्गोंके न रहते भी अङ्गोंका व्यपदेश होनेमें दृष्टान्त देते हैं—'यथाङ्ग' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आकाशका शून्यत्व है, वायुका स्पन्दन है, चन्द्रिकाका खिलनेवाला कुमुद आदि अङ्ग है, वैसे ही चितिका क्रिया एवं दृश्य अङ्ग है ॥ २३ ॥

इस प्रकार उसका कालात्मक, जगदङ्गवाले क्रियास्वरूपका वर्णन कर अब उसका वास्तविक स्वरूप बतलाते हैं—'शिवम्' इत्यादिसे ।

वास्तवमें उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल है, यह आप जानिये । उसमें तनिक भी स्तिमितता या स्पन्दधर्मता नहीं है ॥२४॥

उसका जो क्रियात्मकस्वरूप है, वह तो अबोधकालमें दिखाई पड़ता है और शिवात्मक स्वरूप बोधदशामें प्रत्यक्ष होता है, वही असली है, यह कहते हैं—'सा' इत्यादिसे ।

अज्ञानदशामें वह उक्तस्वरूपा क्रिया ही है, पर जब बोधवश यानी ज्ञानवश क्रियास्वभावसे मुक्त होकर वास्तवरूपधारिणी हो जाती है, तब उसकी शिवसंज्ञा पड़ जाती है—उसे शिव ही कहा जाता है ॥ २५ ॥

चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ।
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥ २६ ॥
कल्पिताकारधारिण्या अनन्यावयवा इमे ॥ २७ ॥
सर्गाः सज्जनतावर्गा लोका आलोकभास्वराः ।
सद्वीपसागराः पृथ्व्यः सवनावनयोऽद्रयः ॥ २८ ॥
साङ्गोपाङ्गास्त्रयो वेदाः सविद्यास्थानगीतयः ।
सविधिप्रतिषेधार्थाः सशुभाशुभकल्पनाः ॥ २९ ॥
सदक्षिणाग्नयो यज्ञाः पुरोडाशाद्यशंसिनः ।
भूपालोलूखलबृसीशूर्पयूपादिसंयुताः ॥ ३० ॥
सङ्ग्रामाः सायुधग्रामाः सशूलशरशक्तयः ।
सभुशुण्डीगदाप्रासहयेभभटभासुराः ॥ ३१ ॥
ज्ञातयो भूतसङ्घानां चतुर्दश सुरादिकाः ।
चतुर्दशाऽब्धिद्वीपोर्व्यस्तथा लोकाश्चतुर्दश ॥ ३२ ॥

कूटस्थ चितिशक्तिरूप देवीका अपने स्वरूपमें जो अविद्यासे प्रतिकूल स्पन्दन, जड़ आदि स्वभावसे स्थिति है, वही क्रिया कही जाती है और विद्यासे जब उसकी वास्तविक विशुद्ध अनुकूल चैतन्यरूप स्थिति हो जाती है, तब उसे शिव कहा जाता है ॥ २६ ॥

भद्र, चितिशक्तिकी स्वरूपभूत, विशाल आकृतिवाली इस क्रियारूपा देवी, जिसने कि कल्पितस्वरूपधारण कर लिया है, ये कहे जानेवाले सारे पदार्थ अभिन्न अवयव ही हैं। [जिसने कल्पित जगत्‌रूप देह धारण किया है, उस कालीके नृत्यमें कल्पित गीतोंके सदृश कल्पित सूर्य आदिकी मालाका धारण करना भी उचित ही है ॥ २७ ॥

ये सब उसके अनन्य अवयव हैं—विद्यमान जनतावर्गसे युक्त सृष्टियाँ, आलोकसे भास्वर लोक, द्वीप एवं सागरोंसे पूर्ण पृथ्वी, वन और भूमिसे युक्त पर्वत ; अङ्ग-उपाङ्गोंसे, विद्यास्थान तथा गीतियोंसे, विधि-निषेधरूप अर्थोंसे एवं शुभाशुभ कल्पनाओंसे युक्त वेद; पुरोडाशरूप द्रव्यसे वर्णित होनेवाले, राजे, ओखली, आसन, सूप, स्तम्भोंसे युक्त दक्षिणाग्निवाले यज्ञ; त्रिशूल, बाण एवं शक्ति आदि अनेकविध आयुधोंसे एवं बन्दूक, गदा, प्रास, घोड़े, हाथी, योधा आदिसे युक्त

श्रीराम उवाच

चितेः कल्पाः शरीरिण्याः सर्गा येऽङ्गे स्थितास्तथा ।
ते किमात्मनि तिष्ठन्ति उताऽसत्या वदेति भो ॥ ३३ ॥

वसिष्ठ उवाच

रामाऽसौ किल चिच्छक्तिस्तया यच्चोदितं तथा ।
तत्प्रचेतितमेवाऽतः सत्यं चेदमिवाऽखिलम् ॥ ३४ ॥

संग्राम एवं पृथ्वी तथा चौदह लोक ये सभी उस महादेवीके अङ्ग हैं ॥२८-३२॥

इस प्रकार आपने दो प्रश्नोंका यद्यपि समाधान तो किया, तथापि पूर्व सर्गमें उक्त इस शङ्काका समाधान नहीं हुआ कि कैसे द्वैत और ऐक्य एक कालमें रह सकते हैं, क्योंकि विनष्ट असत् पदार्थ किसी अर्थ-क्रियाका सम्पादन नहीं कर सकते। अपने अस्तित्वके प्रभावसे कार्यका अस्तित्व पैदा करना ही कारणोंकी कार्यार्थ-क्रिया है और उपादानके साथ कार्योंकी अर्थ-क्रियाकारिता या सत्ताका अपहरण नाश है। एक समयमें कार्योंमें सत्ता या सत्ताका अपहरण उनका कारण कर नहीं सकता। ऐसे पदार्थ, जो कि अपने कारणोंकी सत्ताके साथ अपनी भी सत्ता खो बैठे हैं, प्रलयमें अपनी-अपनी अर्थ-क्रियाका निर्वाह कभी नहीं कर सकते, इस आशयको लेकर श्रीरामभद्र प्रश्न करते हैं—'चितेः' इत्यादिसे।

श्रीरामभद्रने कहा—भगवन्, रुद्र और कालीके शरीरको धारण की हुई चितिके अङ्गमें प्रलयकालमें भी अतीत, अनागत आदि समस्त सर्ग, कल्प और प्रलय स्थित हैं, यह जो आपने वर्णन किया है, उसमें मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। वह यह कि जो सृष्टि आदि स्थित हैं, वे क्या सत्स्वभाव अर्थक्रिया-समर्थ आत्मामें स्थित हैं यानी सत् हैं या मृगतृष्णाजलके सदृश असत्य सत्स्वभावसे रहित हैं ? यह कहिये ॥ ३३ ॥

जगत् और प्रलयकी कभी भी न तो आत्यन्तिक सत्ता है और न आत्यन्तिक असत्ता है। किन्तु सत्य सङ्कल्पका अनुसरण करनेवाली चितिने जिसे सत्यस्वरूपसे प्रकाशित किया वह सत्य है, जिसे असत् स्वरूपसे प्रकाशित किया वह असत्य है। इसलिए किसी भी पदार्थका स्वतः कोई रूप नहीं कहा जा सकता। इस बातसे यह निष्कर्ष निकला कि प्रलयकालमें भी ऐन्दव सर्ग स्थित थे और वे अर्थक्रियासमर्थ भी थे, क्योंकि चितिका वैसा सङ्कल्प था तथा नहीं भी थे, क्योंकि चितिका अन्य सङ्कल्प भी था। इसका पूर्वमें वर्णन भी किया गया है—यों सङ्कल्पभेददृष्टिसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'रामा०' इत्यादिसे।

तत्प्रतिबिम्बितं बाह्यान्मुकुरप्रतिबिम्बवत् ।
सत्यं तदन्तरेवाऽस्ति चितेर्नाऽसत्यमर्थतः ॥ ३५ ॥
चिद्रूपस्य तथाऽप्यन्तः सत्सङ्कल्पपुरं भवेत् ।
दृढध्यानाद्विशुद्धायाश्चितेर्भवतु सा कथम् ॥ ३६ ॥
आदर्शेष्वथवा स्वप्ने सर्गः सङ्कल्पनेऽस्तु वा ।
स आत्मन्यर्थकारित्वात् सत्य इत्येव मे मतिः ॥ ३७ ॥

श्रीरामजी, वास्तवमें तो सब कुछ चितिशक्ति ही है, इसलिए तत्-तत् भोक्ता प्राणियोंके भेद द्वारा सृष्टिनिमित्त या प्रलयनिमित्त जिसका जिस वस्तुके रूपमें सत्यसङ्कल्प चितिने सङ्कल्प किया, उसका उसीके रूपमें उन भोक्ताओंने भी अनुभव किया। अतः उन अनुभवकर्ताओंकी दृष्टिसे यह समस्त जगत् सत्य-सा है और अन्योंकी दृष्टिसे अत्यन्त अप्रसिद्धिके कारण असत्य-सा भी है ॥ ३४ ॥

क्यों सत्य-सा भासा ? इसपर कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

भद्र, बाह्य मुख आदि बिम्बको लेकर जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक वैसे ही पूर्वानुभवजनित वासनाको लेकर उस तरह प्रतिबिम्बित हुआ साक्षी चेतन उसीमें विद्यमान है, अतः अर्थतः उस अनुभविताके प्रति सत्य ही है, असत्य नहीं ॥ ३५ ॥

असत्य क्यों है ? इसपर कहते हैं—'चिद्रूपस्य' इत्यादिसे ।

उक्त अनुभवके बलसे पदार्थकी सत्यता होनेपर भी चेतनरूपका अचेतनरूपमें प्रवेश न हो सकनेके कारण जगत् सङ्कल्पनगरके सदृश मिथ्या ही होगा। जब दृढ़ ध्यानसे चितिका आवरणरूप मल हट जायगा, तब वह प्रतिबिम्बित हो नहीं सकती, फिर सत्यताकी चर्चा ही क्या ? ॥ ३६ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे जगत्में प्रतीत्यात्मक सत्यता जो है, उसे स्वप्न आदिके पदार्थोंमें भी कह सकते हैं, क्योंकि उनके अनुरूप अर्थक्रियाकारिता उनमें भी देखी जाती है, यों कहते हैं—'आदर्शे' इत्यादिसे ।

भद्र, दर्पणमें प्रतिबिम्बात्मक या स्वप्नमें दृश्यमान या सङ्कल्पमें कल्पित जो सृष्टि है, वह भी तो अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सिद्ध प्रतीत्यात्मक सत्य हो सकती है, क्योंकि वह अपने अनुरूप अर्थक्रियाकारी है ही, फिर उसे सत्य ही मानना चाहिये, यह मेरा मत है ॥ ३७ ॥

मम नाऽर्थाय स इति वक्षि चेत्तत्कथं भवेत् ।
देशान्तरगताः सर्वे भवन्त्यर्थाय सम्प्रति ॥ ३८ ॥
यथा देशान्तरग्रामस्तद्गतस्याऽर्थकृद् भवेत् ।
सर्वे तथैव तद्भावं गतस्याऽर्थविनिश्चयात् ॥ ३९ ॥
यद् यथाभूतसर्वार्थक्रियाकारि प्रदृश्यते ।
तत्सत्यमात्मनोऽन्यस्य नैवाऽतत्ताम्रुपेयुषः ॥ ४० ॥
तस्माच्चिच्छक्तिकोशस्थाः सर्वाः सर्गपरम्पराः ।
सत्य आत्मेति तद्भावं गतस्याऽन्यस्य नाऽखिलाः ॥ ४१ ॥

हे राघव, यदि आप यह कहें कि आदर्शके भीतर विद्यमान घट आदि मेरे लिए बाहर जलाहरण आदि करनेमें समर्थ नहीं है, अतः सत्य नहीं, तो इसपर मैं यह कहता हूँ, सुनिये । ठीक ही है, वह दर्पणमें रहनेवाली चीज बाहर आकर कैसे अर्थ-सम्पादन करेगी ? दूसरे स्थानमें स्थित वस्तु दूसरे स्थानमें कुछ अर्थ-सम्पादन नहीं करती, एतावता क्या उसे असत्य समझ लेना चाहिए ? आपके जो घट आदि पदार्थ दूसरे प्रदेशमें रक्खे हैं, वे क्या आपके घरमें आकर कुछ अर्थ करनेमें समर्थ हैं ? ऐसे सब पदार्थोंकी इस समय जैसे देशान्तरमें अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, ठीक वैसे ही दर्पण, स्वप्न आदिमें प्रतिबिम्ब आदिकी भी अर्थक्रियाकारिता है । जैसे देशान्तरमें स्थित गाँव उसमें गये हुए पुरुषके लिए अर्थक्रियाकारी होता है, वैसे ही स्वप्न आदिके द्रष्टाके रूपको प्राप्त हुए पुरुषके लिए स्वप्नादिके समस्त भाव अर्थक्रियाकारी होते ही हैं, क्योंकि यही अर्थका निश्चय है ॥ ३८, ३९ ॥

इसलिए तत्-तत् अर्थक्रियाको देखनेवाले द्रष्टाकी दृष्टिसे ही वह सत्य ठहरता है, दूसरेकी दृष्टिसे नहीं, यों प्रतिबिम्बादिकी सत्यता व्यवस्थित हो जाती है, यों कहते हैं—'यद्यथा०' इत्यादिसे ।

भद्र, जो पदार्थ यथार्थमें सकल अर्थक्रियाकारी दिखाई देता है, उसे देखनेवाले द्रष्टाके प्रति वह सत्य है और उसे न देखनेवाले अन्यके प्रति वह असत्य है ॥ ४० ॥

इसी प्रकार प्रकृतमें भी योजना करनी चाहिए, यों उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

भूतभव्यभविष्यस्थाः संकल्पस्वप्नपूर्गणाः ।
सर्वे सत्याः परं तत्त्वं सर्वात्मा कथमन्यथा ॥ ४२ ॥
प्राप्यन्ते योगसिद्धैन तद्भावं तु गतेन ते ।
अन्येन पर्वता ग्रामा गत्या देशान्तरे यथा ॥ ४३ ॥
चालितस्य यथा गाढनिद्रस्य स्वप्नपत्तनम् ।
न लुठत्येव लुठितमित्यप्यनुमतं स्फुटम् ॥ ४४ ॥
तथा चलन्त्या लुठितं तस्या देहगतं जगत् ।
न लुठत्येव मुकुरप्रतिबिम्बमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

श्रीरामभद्र, इसलिए चितिशक्तिके कोशमें अवस्थित समस्त सृष्टियां स्वप्नादि द्रष्टृरूपताको प्राप्त हुए पुरुषके प्रति सत्य हैं और अन्यके प्रति सब असत्य हैं, क्योंकि तद्गत सत्यताका प्रयोजक अधिष्ठानभूत आत्मा है ही ॥ ४१ ॥

भूत, वर्तमान एवं भविष्यके जितने भी सङ्कल्प, स्वप्न आदिके नगर आदि हैं, वे सब सत्य ही हैं, यदि सत्य न हों, तो सर्वात्मा ब्रह्म चोटीका तत्त्व कैसे हो सकेगा ? कहीं भी अत्यन्त असत् वस्तुका तात्त्विकरूप आत्मा प्रसिद्ध नहीं है ॥ ४२ ॥

इसीलिए दूसरेके स्वप्नोंमें अनुभूत होनेवाले पदार्थोंका योगी लाभ करते हैं और भोग भी करते हैं, यह कहते हैं—'प्राप्यन्ते' इत्यादिसे ।

जैसे अन्य स्थानमें विद्यमान पर्वत, गांव आदि पदार्थ वहां गमन करनेसे प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे भिन्न दूसरा योगसिद्ध पुरुष भी परकाय-प्रवेशसिद्धि द्वारा उसके हृदयमें जाकर उसका मनरूप होकर उसके स्वाप्न पदार्थोंको प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

नृत्यसे भगवती कालरात्रिके चलित होनेपर भी उसकी देहमें स्थित भूमि आदिका चलन न होनेमें दृष्टान्त कहते हैं—'चालितस्य' इत्यादिसे ।

यदि पलँग धीरेसे अन्य स्थानमें हटाया जाय, तो उसपर गाढ़ निद्रामें सोया हुआ पुरुष शयन स्थानसे अन्यत्र ले जाया गया, परन्तु उसका स्वप्ननगर तो लुढ़का ही नहीं और शरीर तो लुढ़का हुआ ही माना जा सकता है। बस इसी प्रकार नृत्य कर रही कालरात्रिका शरीर चलित हुआ, परन्तु शरीरगत जगत् चलित नहीं ही हुआ, यह भी हो सकता है। दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश उसके शरीरमें जगत् स्थित रहता है ॥ ४४, ४५ ॥

स त्रैलोक्यमहारम्भः सत्योऽपि भ्रान्तिमात्रकम् ।
भ्रान्तिमात्रस्य के नाम लुठनालुठने वद ॥ ४६ ॥
कदा स्वप्नपुरं सत्यं कदा स्वप्नपुरं मृषा ।
कदा स्वप्नपुरं भग्नं कदा स्वप्नपुरं स्थितम् ॥ ४७ ॥
भ्रान्तित्वं केवलं सैव दृश्यश्रीर्याचदग्रगा ।
त्वं विद्धीमामपि भ्रान्तिं जगल्लक्ष्मीमवास्तवीम् ॥ ४८ ॥
संकल्पने मनोराज्ये स्वप्ने संकथने भ्रमे ।
यथा पुरानुभवनं त्रैलोक्यानुभवं तथा ॥ ४९ ॥
अहमिति जगदिति नाऽन्तर्भ्रान्तिरियं प्रकचतीव चितः ।
परमाकाशकृशाख्या शाम्यति निपुणं परिज्ञाता ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिवशक्तिवर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥



श्रीरामभद्र, यों त्रैलोक्यका महान् आरम्भ सत्य होते हुए भी केवल भ्रान्ति-मात्र ही है। जो भ्रान्तिमात्ररूप है, उसका लुढ़कना क्या मूल्य रखता है ? यह बतलाइये ॥ ४६ ॥

कब स्वप्नगर सत्य रहा, कब स्वप्नगर असत्य रहा, कब स्वप्नगर नष्ट हुआ और कब वह स्थित रहा ? ॥ ४७ ॥

भद्र, भगवती कालीके अङ्गोंमें स्थित वह समस्त दृश्यश्री केवल भ्रान्तिरूपा ही थी, अतः आप इस समयकी जगत्-लक्ष्मीको भी असत्य भ्रान्तिरूप ही जानिये ॥ ४८ ॥

हे राघव, संकल्प, मनोराज्य, स्वप्न, कथा एवं भ्रमदशामें जैसे नगरोंका अनुभव भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही इस त्रैलोक्यानुभवको भी आप भ्रान्तिरूप ही समझिये ॥ ४९ ॥

भद्र, चितिरूप आत्माके अन्दर यह 'अहम्' (मैं) और जगत् नामकी कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं, किन्तु आकाशकी कृशता (अल्पता) के सदृश केवल भ्रान्ति ही चमकती है। आकाशमें कृशता या कालिमा नहीं है, वह

पञ्चाशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः ।
परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा घनकाननम् ॥ १ ॥
क्रियाऽसौ नृत्यति तथा चितिशक्तिरनामया ।
अस्या विभूषणं शूर्पकुद्दालपटलादिकम् ॥ २ ॥
शरशक्तिगदाप्रासमुसलादि शिलादि च ।
भावाभावपदार्थौघकलाकालक्रमादि च ॥ ३ ॥
चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद्धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि ।
सैव वा जगदित्येव कल्पनेव यथा पुरम् ॥ ४ ॥

केवल भ्रान्तिसे वैसा दीखता है । इसलिए इस दृश्यश्रीको निपुणतासे देखा जाय, तो वह शान्त हो जाती है ॥ ५० ॥

चौरासी सर्ग समाप्त

पचासी सर्ग

[नृत्य कर रही कालिका शिवजीका दर्शन और बड़े प्रेमसे स्पर्श कर उनके अङ्गमें विलीन हो एकरूप हो जाना, यह वर्णन]

श्रीवशिष्ठजीने कहा—भद्र, वर्णित रीतिसे भगवती कालरात्रि भयङ्कर नृत्य करती है, उसके नृत्यका क्या हाल कहें, परिस्पन्दनात्मक अपने दीर्घ भुजमण्डलोंसे उसने सारे आकाशको एक घना जङ्गल-सा बना रक्खा है ॥ १ ॥

श्रीरामजी, चितिशक्तिका असली तत्त्व न जाननेपर वह क्रियारूप बन जाती है और वह स्वभावसे वहां नृत्य करती है । वास्तव स्थिति तो यह है कि चितिशक्तिमें किसी तरहका नृत्यादि विकार है ही नहीं । इसी क्रियात्मक चितिके सूप, कुदार पटल आदि भूषण हैं ॥ २ ॥

बाण, शक्ति, गदा, भाला, मुसल आदि, शिला आदि, भाव, अभाव आदि पदार्थसमूह तथा कला, कालके क्रम आदि भी उसीके भूषण हैं ॥ ३ ॥

जैसे अलातका (लुआठीका) स्पन्दन चक्रके आकारमें दिखाई देता है

पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा ।
यथा स्पन्दोऽनिलस्याऽन्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥ ५ ॥
अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडम्बरमानिलः ।
यथा स्पन्दस्तनोत्येवं शिवेच्छा कुरुते जगत् ॥ ६ ॥
नृत्यन्त्याऽथ यदा तत्र तथा तस्मिन् पराम्बरे ।
काकतालीययोगेन संरम्भवशतः स्वयम् ॥ ७ ॥
निकटस्थः शिवः स्पृष्टः स मनागभ्रमन्तिकम् ।
वाडवोऽग्निः स्वनाशायाऽऽवहन्त्येवाऽम्बुलेखया ॥ ८ ॥

वैसे ही उक्त चितिका स्पन्दन जगत्के आकारमें दिखाई देता है, यह कहते हैं—'चित्स्पन्दः' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे हृदयमें कल्पना (मनोराज्य-कल्पना) ही नगराकारको धारण करती है, वैसे ही चितिका स्पन्दन ही अपने भीतर जगत्को धारण करता है। अथवा जैसे मनोराज्य कल्पना ही नगर है, वैसे ही स्पन्दित चिति ही जगत् है, यह आप जानिये ॥ ४ ॥

अब शिवजीकी इच्छारूपा वह कालरात्रि शिवजीसे अभिन्न है, यह कहते हैं—'पनवस्य' इत्यादिसे ।

जैसा पवनका स्पन्दन है, वैसी ही वह कालरात्रि शिवजीकी इच्छा है। इससे पवनके भीतरका स्पन्दन जैसे पवनके स्वरूपसे अलग नहीं है, किन्तु पवन-स्वरूप ही है और अस्पन्द ही है, वैसे ही शिवजीकी इच्छा शिवजीके स्वरूपसे अलग नहीं है, शिवस्वरूप ही है और अनिच्छा ही है। अतः इच्छात्मिका कालरात्रि पूर्णकाम शिवसे अभिन्न है, यह जान लेना चाहिए ॥ ५ ॥

आकारसे रहित शिवेच्छा साकार जगत्के रूपमें कैसे परिणत होगी ? इसपर कहते हैं—'अमूर्तः' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आकाररहित वायुका स्पन्दन आकाशमें साकार शब्दाडम्बर पैदा करता है, वैसे ही शिवजीकी निराकार इच्छा साकार जगत् पैदा करती है ॥ ६ ॥

भद्र, तदनन्तर जैसे बह रही समुद्रजलकी रेखा अपने विनाशके लिए वाडवाग्निका स्पर्श करती है, ठीक वैसे ही उस चिदाकाशमें नृत्य कर रही उस कालरात्रिने काकतालीय योगसे अत्यन्त प्रेमसे निकटवर्ती शिवजीका स्पर्श कर लिया ।

स्पृष्टमात्रे शिवे तस्मिंस्ततः परमकारणे ।
प्रवृत्ता प्रकृतिं गन्तुं सा शनैस्तनुतां तथा ॥ ९ ॥
अनन्ताकारतां त्यक्त्वा सम्पन्ना गिरिमात्रिका ।
ततो नगरमात्राऽसौ ततश्च द्रुमसुन्दरी ॥ १० ॥
ततो व्योमसमाकारा शिवस्यैवाऽऽकृतिं ततः ।
सा प्रविष्टा सरिच्छान्तसंरम्भेव महार्णवम् ॥ ११ ॥
एक एवाऽभवदथो शिवया परिवर्जितः ।
शिव एव शिवः शान्त आकाशे शमनोऽभितः ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच

भगवञ्छिवसंस्पृष्टा सा शिवा परमेश्वरी ।
किमर्थमागता शान्तिमिति मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥ १३ ॥

ज्योंही उसने स्पर्श किया त्योंही उसका आवरण करनेवाला शक्तिरूप अंश थोड़ा-सा हट गया ॥ ७, ८ ॥

हट जानेके अनन्तर परमकारण एकमात्र शिवजीके स्पर्शसे वह कालरात्रि धीरे-धीरे अपने अव्यक्तभावको तथा छोटेपनको प्राप्त होने लग गई ॥९॥

भौतिक अनन्त आकारोंको त्यागकर वह केवल भूतमात्ररूप हुई, यह कहते हैं—'अनन्त०' इत्यादिसे ।

पहले उसने अपने विशाल आकारका परित्याग किया, पञ्चीकरण त्यागकर पर्वताकृति बन गई, इसके बाद नगराकृतिमात्रस्वरूप हुई, फिर वह विचित्र-वासनारूप पल्लवके कारण वृक्षके सदृश सुन्दरी बन गई ॥ १० ॥

तदनन्तर अव्याकृत आकाशके सदृश आकारवाली हुई, फिर वह शिवजीके आकारमें उस प्रकार सब आडम्बर छोड़कर प्रविष्ट हो गई, जैसे कि नदी समुद्रमें प्रविष्ट होती है ॥ ११ ॥

अनन्तर शिवासे रहित एकमात्र शिवजी ही बच गये । ये पूर्ववर्णित चिदाकाशरूप गगनमें सबका उपसंहार करनेवाले तथा सर्वप्रकारके उपद्रवोंकी शान्तिसे कल्याणात्मा शिवजी ही थे ॥ १२ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—भगवन्, शिवजीसे स्पर्श की हुई भगवती शिवा कालरात्रि क्यों शान्त हो गई ? यह मुझे तत्त्वतः बतलाइए ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सा रामः प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी ।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥ १४ ॥
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ १५ ॥
भ्रमति प्रकृतिस्तावत् संसारे भ्रमरूपिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ १६ ॥
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् ।
अजरं परमाद्यन्तवर्जितं वर्जितद्वयम् ॥ १७ ॥
संविन्मात्रैकधर्मित्वात् काकतालीययोगतः ।
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ १८ ॥
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति ।
तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे ॥ १९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, वह प्रकृति है, वह परमेश्वरकी इच्छारूपा शक्ति है। शास्त्रोंमें विख्यात जगन्माया और स्वाभाविक स्पन्दशक्ति भी वही है ॥१४॥

प्रसिद्ध जो शिवजी हैं, वे प्रकृतिसे पर पुरुष कहलाते हैं, पवनाकृति शिवरूप धरनेवाले पुरुष भी वही हैं, वह शरद्कालके सदृश निर्मल शान्तिधारी एवं परम शान्त हैं ॥ १५ ॥

श्रीरामजी, वह शिवजीकी इच्छारूपा केवल स्वरूपधारिणी परमेश्वरकी चितिशक्ति भ्रमरूपी प्रकृति इस संसारमें तबतक भ्रमण कर सकती है, जबतक नित्यतृप्त, अजर, सर्वोत्कृष्ट आदि-अन्तशून्य, द्वैतरहित, विकारशून्य परमात्माको नहीं देख लेती। इससे निष्कर्ष यह निकला कि शिवेच्छारूप चितिशक्तिमें तबतक स्पन्दन रहता है, जबतक कि इष्टप्राप्ति नहीं हो जाती और इष्टकी प्राप्ति (परमात्माकी प्राप्ति) हो जानेपर तो उसकी शान्ति हो जाती है ॥ १६, १७ ॥

यह प्रकृति एकमात्र चितिशक्तिकी आधारभूत है, इसलिए चितिशक्ति ही समझनी चाहिए। काकतालीय योगसे यह चितिदेवी जब शिवजीका स्पर्श कर लेती है, तब शिवरूप ही हो जाती है ॥ १८ ॥

पुरुषको छूकर समुद्रमें नदीके सदृश उसके अन्दर एकरूप बनकर प्रकृति अपना कार्यरूप परिणाम छोड़ देती है ॥ १९ ॥

आपगा हि पयोमात्रं सङ्गे अर्णव एव सा।
यदा तदा तमेवाऽऽशु प्राप्य तत्रैव लीयते ॥ २० ॥
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवाऽऽसाद्य शाम्यति।
जन्मस्थानशिलां प्राप्य तीक्ष्णधारा यथाऽऽयसी ॥ २१ ॥
पुंसङ्गछायां निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम्।
यथाऽऽशु प्रविशत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥ २२ ॥
चेतित्वा चिन्निजं भावं पुरुषाख्यं सनातनम्।
भूयो भ्रमति संसारे नेह तत्तां प्रयाति हि ॥ २३ ॥
साधुर्वसति चोरौघे तावद्यावदसौ न तम्।
परिजानाति विज्ञाय न तत्र रमते पुनः ॥ २४ ॥

इसमें युक्ति बतलाते हैं—'आपगा०' इत्यादिसे।

नदियोंका स्वरूप तो केवल जलमात्र ही है, समुद्रका सङ्ग होनेपर भी उसका वही रूप रहता है। जब यही असली स्थिति है, तब वह उसको (समुद्रको) प्राप्त कर तत्काल ही उसीमें एकरूपसे लीन हो जाती है ॥ २० ॥

राघव, लोहनिर्मित छुरी आदिकी धारा उत्पत्तिकारण लोहशिलाको प्राप्तकर उसीमें जैसे शान्त हो जाती है यानी लोहेमें मिल जानेपर धार कुछ काम नहीं कर पाता, ठीक वैसे ही वह शिवेच्छारूपा चितिशक्ति उस शिव देवको ही पाकर उसमें शान्त हो जाती है—फिर संसारमें कुछ काम कर नहीं पाती ॥ २१ ॥

वन आदिकी छायामें प्रवेश किये हुए पुरुषकी निजी छाया, जैसे उसीके रूपकी हो जाती है, वैसे ही पुरुषमें प्रविष्ट हुई प्रकृति पुरुषरूप ही हो जाती है ॥ २२ ॥

तब तो वनमें से निकल जानेके बाद जैसे फिर अपनी छाया अलग हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मप्राप्त पुरुषको भी फिर संसार प्राप्त हो सकता है, इसपर कहते हैं—'चेतित्वा' इत्यादिसे।

भद्र, अपना सनातन पुरुषरूप जो भाव है, उसको प्रकाशित कर देनेके अनन्तर फिर वह न इस संसारमें भ्रमण करता है और न प्रकृतिभावको ही प्राप्त करता है, क्योंकि पुनरागमनमें निमित्त अज्ञानका बाध हो जाता है ॥ २३ ॥

तभी इस संसारमें फिर आना होता है, जब संसारकी इच्छा रहती है, परन्तु

द्वैते तावदसद्रूपे रमते भ्रमते चितिः ।
परं पश्यति नो यावत्तं दृष्ट्वा तन्मयी भवेत् ॥ २५ ॥
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाऽब्धिताम् ॥ २६ ॥
तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाऽऽशु दृष्ट्वा
तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गी ॥ २७ ॥

तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो संसारकी इच्छा ही नहीं रह जाती, यह कहते हैं—'साधु०' इत्यादिसे ।

साधु पुरुष तबतक चोरोंके समुदायमें रहता है, जबतक कि वह उसे जानता नहीं यानी भ्रान्तिसे चोरको अपना हितैषी समझकर तबतक उसके बीचमें रहता है, जबतक कि यह चोर है और मेरा हितैषी नहीं है, यह नहीं जान पाता । परन्तु जब जान लेता है कि यह चोर और अहितैषी है फिर उसके बीचमें रमण या वास नहीं करता ॥ २४ ॥

जबतक परम आत्माके स्वरूपको प्रत्यक्षरूपसे नहीं देखती तभी तक असद्रूप द्वैतप्रपञ्चमें चिति (अज्ञ चिति यानी जीव) रमण और भ्रमण करती है । जब उसका प्रत्यक्ष कर लेती है, तब तो तन्मय बन जाती है ॥ २५ ॥

चूँकि चितिमें निर्वाणात्मक प्रशान्त स्वरूप ही परमपद है, इसलिए प्रकृति (अज्ञानयुत चिति) उसे प्राप्त कर जिस प्रकार समुद्रमें नदी समुद्ररूपता प्राप्त करती है उसी प्रकार तद्रूप बन जाती है ॥ २६ ॥

यहांतक जितनी बातें कही गईं, उन सबका संग्रहकर उपसंहार करते हैं—'तावत्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे रामभद्र, जब तक उस परब्रह्म परमात्माको चिति साक्षात् नहीं देखती, तबतक विशाल मोहके प्रभावसे आक्रान्त होकर प्रतिकूल इन सर्गोंमें और इन जन्म आदि दशाओंमें भ्रमण करती है और जब उसे देख लेती है, तब तो उसमें तन्मय बनकर ऐसे डूब जाती है, जैसे कि मधुमें भ्रमरी डूबती है ॥ २७ ॥

संप्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्याऽनुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥८५॥

षडशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम कथं तत्र महाकाशे तथा स्थितः ।
देहे भ्रान्तिं तु तां त्यक्त्वा स रुद्रोऽप्युपशाम्यति ॥ १ ॥
स रुद्रस्तौ जगत्खण्डौ तदा चित्र इवाऽर्पिताः ।
निस्पन्दा एव तत्राऽऽसन् प्रेक्षमाणे स्थिते मयि ॥ २ ॥

हे रामभद्र, लगातार आनेवाले जन्म, मरण एवं मोहमय सकल दुःख जिससे शान्त हो जाते हैं, उस आत्माको प्राप्त कर कौन पुरुष ऐसा है जो छोड़ दे ? क्या कोई रसायनको (अमृतको) प्राप्त और अनुभव कर कहीं छोड़ सकता है ? ॥ २८ ॥

पचासी सर्ग समाप्त

छियासी सर्ग

[ब्रह्माण्डरूपी खोपड़ीको ग्रस लेनेवाले रुद्रशरीरका सूक्ष्मभावसे शिलारूप चिदाकाशमें तिरोभाव तथा उस प्रदेशसे भिन्न अन्य प्रदेशोंके अन्य शिला, वृक्ष आदि सकलरूप ब्रह्ममें सृष्टिकी विचित्रताका दर्शन—यह वर्णन]

सबसे पहले रुद्रदेहके उपसंहारक्रमको सुनाते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, उस महाकाशमें उस प्रकारसे अवस्थित वे महारुद्र जिस रीतिसे अपनी देहगत उक्त भ्रान्तिका त्यागकर शान्त हो जाते हैं, उस रीतिका श्रवण कीजिये ॥ १ ॥

भद्र, ब्रह्माण्डकी ऊपर-नीचेकी दोनों खोपड़ियां तथा वह रुद्र तीनों उक्त

ततो मुहूर्तमात्रेण स रुद्रस्तौ नभोन्तरे ।
खण्डौ विलोकयामास दृशाऽर्केणेव रोदसी ॥ ३ ॥
ततो निमेषमात्रेण घोणाश्वासेन खण्डकौ ।
तौ समानीय चिक्षेप पातालान्तरिवाऽऽनने ॥ ४ ॥
अतिष्ठदेक एवाऽसावेकं खे खमिवाऽखिले ।
भुक्तब्रह्माण्डखण्डोग्रमण्डमण्डकमण्डलः ॥ ५ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण लघुः सोऽभ्रमिवाऽभवत् ।
ततोऽभवद् यष्टिसमस्ततः प्रादेशमात्रकः ॥ ६ ॥
ततः काचकणाकारो मया दृष्टः स तादृशः ।
ततः सोऽणूभवन् दृष्टो मया खादिव्यदृष्टिना ॥ ७ ॥

चिदाकाशमें उस समय चित्रलिखितके सदृश निश्चल यानी चेष्टाशून्य थे, यही पहले मैंने देखा था ॥ २ ॥

तदनन्तर एक मुहूर्तमात्रमें अन्य आकाशमें उस रुद्रने उक्त खण्ड (ब्रह्माण्डके ऊपर-नीचेके दो हिस्से) उस तरह, सूर्यात्मक दृष्टिसे देखे, जिस तरह द्यु और भूमि ॥ ३ ॥

तदनन्तर एक निमेषमात्रमें उस रुद्रने अपने मुखसे खींचे गये श्वासवायुसे उन दोनों खोपड़ियोंको अपने समीप लाकर पाताल-गुहाके सदृश मुखमें फेंक दिया यानी मुखके भीतर डाल दिया ॥ ४ ॥

उस समय वह रुद्र भगवान्, जिसने कि ब्रह्माण्ड खण्डरूपी उग्र दुग्धसार और पक्वान्नके मण्डलको ग्रस लिया था, ऐसे एकरूप हो गये, जैसे आकाशमें आकाश एकरूप हो ॥ ५ ॥

उसके बाद एक मुहूर्तमात्रमें मेघके सदृश वह हलके हो गये, इसके अनन्तर यष्टिके सदृश, इसके बाद प्रादेशमात्र (अंगूठेसे लेकर तर्जनीतकके नाप-वाले—बित्ते भरके) हो गये ॥ ६ ॥

उसके बाद ऐसे रुद्रकी काचके छोटे टुकड़ेके सदृश आकृति हो गई, यह मैंने देखा । फिर दिव्यदृष्टि द्वारा यह भी मैंने देखा कि वे आकाशमण्डलसे भी छोटे अणु होने लग गये ॥ ७ ॥

परमाणुरथो भूत्वा ततस्त्वन्तर्द्धिमाययौ ।
इत्यसौ शममायातः शरदम्बुदखण्डवत् ।
तादृशोऽपि महारम्भः पुरः पश्यत एव मे ॥ ८ ॥
इति सावरणे तेन ते ब्रह्माण्डकवाटके ।
विनिगीर्णे क्षुधार्तेन हरिणेनेव पर्णके ॥ ९ ॥
अथाऽभून्निर्मलं व्योम शान्तं ब्रह्मैव केवलम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं संविदाकाशमात्रकम् ॥ १० ॥
इत्यहं दृष्टवांस्तत्र कल्पान्तमुरुविभ्रमम् ।
दर्पणप्रतिबिम्बाभं शिलाशकलकोटरे ॥ ११ ॥
अथ तामङ्गनां स्मृत्वा तां शिलां तच्च विभ्रमम् ।
राजद्वारगतो ग्राम्य इवाऽहं विस्मयं गतः ॥ १२ ॥
तामालोकितवान् भूयः कलधौतशिलामहम् ।
यावत्सर्वत्र सन्त्यत्र सर्गाः काल्या इवाऽङ्गके ॥ १३ ॥

भद्र, तदनन्तर परमाणुरूप हो गये, फिर एकदम तिरोहित (अदृश्य) हो गये । इस प्रकार उस तरह जगतसे लेकर रुद्र देहतक महारम्भ करनेवाले भी ये रुद्र शरत्कालके मेघखण्डोंके सदृश मेरे देखते-देखते क्रमशः शान्त हो गये ॥८॥

भद्र, भगवान् शङ्करजीने आवरणयुक्त ब्रह्माण्डरूपी कपाट उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कि क्षुधार्त हरिण क्षुद्र पत्तेको निगल जाता है ॥ ९ ॥

तदनन्तर वह दृश्यरूप कालुष्यसे रहित चिदाकाशरूप शान्त केवल ब्रह्मरूप ही रह गया । वह आदि, मध्य और सीमासे शून्य केवल ज्ञानस्वरूप ही रहा ॥ १० ॥

अब पाषाणोदर-कथाकी समाप्ति दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं—'इत्यहम्' इत्यादिसे ।

भद्र, इस प्रकार उस शिलाके टुकड़ेके कोटरमें (खोड़रेमें) मैंने दर्पणमें प्रतिबिम्ब-सा महान् विभ्रमरूप संसार एवं उसका महाप्रलय देखा ॥ ११ ॥

हे राघव, तदनन्तर उस अङ्गनाका, उस शिलाका एवं उस संसारभ्रमका स्मरण कर मैं ऐसे ही विस्मयको प्राप्त हुआ, जैसे कि ग्रामीण पुरुष, जिसने कभी नगर न देखा हो, राजद्वारपर आकर परम विस्मयको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

पुनः उस सुवर्णकी शिलाको मैंने पूर्व प्रदेशसे अन्य प्रदेशोंमें भी देखा।

बुद्धिनेत्रेण दृश्यन्ते दिव्याक्ष्णा वा न ते यथा ।
सर्वत्र सर्वदा सर्वं यदस्त्येव तदा तथा ॥ १४ ॥
दूरवत्प्रेक्ष्यते मांसदृशा यद्येव सा शिला ।
दृश्यते तच्छिलैवैका न तु सर्गादि किञ्चन ॥ १५ ॥
साऽवस्थिता शिलैवैकरूपा निविडमण्डला ।
कलधौतमयी स्फारा सन्ध्याजलदसुन्दरी ॥ १६ ॥
ततोऽहं विस्मयाविष्टः प्रविचारितवान् पुनः ।
शिलायामपरं भागं तथैव परया दृशा ॥ १७ ॥
यावत्तमपि पश्यामि जगदारम्भमन्थरम् ।
तथैव सुषिराकार इव नानार्थसुन्दरम् ॥ १८ ॥
पुनरन्यं तथैवाऽहं प्रदेशं परिदृष्टवान् ।
सर्गसंरम्भवलितं यावत्तमपि तादृशम् ॥ १९ ॥

उसके अशेष अङ्गोंमें सभी जगह कालरात्रिके अङ्गोंके सदृश अनेक सृष्टियां विद्यमान थीं ॥ १३ ॥

भद्र, बुद्धिरूपी नेत्रसे वे सृष्टियां उन शिला खण्डोंमें दीख पड़ती हैं, और अद्वैतदृष्टिसे वे नहीं भी दीख पड़तीं, सब जगह सब कालमें सर्वात्मक वस्तु जब रहती है, तब वैसा हो ही सकता है ॥ १४ ॥

यदि मांसमय दृष्टिसे दूरपर स्थित वस्तुके सदृश आपाततः देखी जाय, तो वह केवल अकेली शिला ही देखनेमें आयेगी, उसमें कुछ भी सर्ग दिखाई नहीं पड़ेगा ॥ १५ ॥

घनमण्डलवाली वह सुवर्णमयी शिला एकरूप ही स्थित थी। सन्ध्याकालके मेघके सदृश अतिसुन्दर एवं विशाल थी ॥ १६ ॥

श्रीराघव, इसके बाद अत्यन्त आश्चर्यसे युक्त होकर मैंने फिर उस शिलाके दूसरे भागके विषयमें उसी प्रकारकी दिव्यदृष्टिसे विचार किया ॥ १७ ॥

विचार कर ज्यों ही मैंने उसे देखा, त्यों ही वह दूसरा भाग भी अनेक तरहके जगद्के आरम्भोंसे (सृष्टियोंसे) खचा-खच भरा ही मेरी दृष्टिमें आया। पहले जिस प्रदेशको देखा था, उसी तरहसे वह भी छिद्राकारमें (आकाशमें) अनेक तरहके अर्थोंसे सुन्दर ही लग रहा था ॥ १८ ॥

इसी तरह फिर मैंने उसके अन्य प्रदेशको भी देखा, तो वह भी उसी प्रकारसे

यं- यं प्रदेशं पश्यामि शिलायास्तत्र तत्र वै ।
जगत्पश्यामि विमलमादर्श इव बिम्बितम् ॥ २० ॥
मयाऽतिकौतुकेनाऽथ सर्वास्तस्य गिरेः शिलाः ।
अन्विष्टा भूमिभागाश्च तृणगुल्मादयस्तथा ॥ २१ ॥
यावत्सर्वत्र तत्तादृग्जगदस्ति यथास्थितम् ।
बुद्ध्यैव दृश्यते नाऽक्ष्णा परया विविधाकृति ॥ २२ ॥
क्वचित्प्रथमसर्गार्थजायमानप्रजापति ।
कल्प्यमानर्क्षचन्द्रार्कदिनरात्र्यृतुवत्सरम् ॥ २३ ॥
क्वचित्किंचिन्महीपीठसम्पन्नजनमण्डलम् ।
क्वचित्किञ्चिदखातोग्रचतुःसागरखातकम् ॥ २४ ॥
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातसुरसञ्जातदानवम् ।
क्वचित्किञ्चित्कृतयुगाचारसज्जनभूतकम् ॥ २५ ॥

अनेक तरहकी सृष्टियोंके आडम्बरोंसे परिपूर्ण ही था ॥ १९ ॥

भद्र, उस शिलाके जिस-जिस प्रदेशको मैं देखता, उस-उस प्रदेशमें, निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश, जगत् दिखाई देता था ॥ २० ॥

इसके बाद मैंने बड़े ही कौतुकसे उस पर्वतकी सभी शिलाएँ, भूमिभाग एवं तृण, गुल्म आदिके ऊपर जहां कहीं भी दृष्टिपात किया, वहां सर्वत्र उसी प्रकार अनेक तरहके आकारोंसे युक्त जगत्को विद्यमान देखा। भद्र, यह उत्तम बुद्धिसे (आधिभौतिक देहभावकी भ्रान्तिसे शून्य सर्वसाक्षी मैं ही हूँ, इस बुद्धिसे) ही देखा जाता है, चर्मचक्षुसे नहीं ॥ २१,२२ ॥

उस उस प्रदेशमें जो जो विशेष विशेष देखा, अब उसे दर्शाते हैं—'क्वचित्' इत्यादिसे।

कहींपर प्रारम्भिक सृष्टिके लिए प्रजापति पैदा हो रहे थे, तो कहीं-पर प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रमण्डल, दिन और रातकी कल्पना की जा रही थी ॥ २३ ॥

कहींपर पृथ्वीकी पीठ मनुष्योंके समूहोंसे भरी थी, तो कहींपर राजा सगरके पुत्रोंने चार समुद्ररूपी विकट खाइयां अभीतक नहीं खोद पायी थीं ॥ २४ ॥

कहींपर कोई जगत् तो देवताओंकी उत्पत्तिसे शून्य और दानवोंकी उत्पत्तिसे

क्वचित्किञ्चित्कलियुगाचारदुर्जनभूतकम् ।
क्वचित्किञ्चित्पुरव्यूहदैत्यसङ्गरदुस्तरम् ॥ २६ ॥
क्वचित्किञ्चिन्महाशैलजालनिर्विवरावनि ।
क्वचित्किञ्चिदसम्पन्नसर्गमेकाम्बुजोद्भवम् ॥ २७ ॥
क्वचित्किञ्चिज्जरामृत्युन्मुक्तभूतलमानवम् ।
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातचन्द्रशून्यशिरःशिवम् ॥ २८ ॥
अनिर्मथितदुग्धाब्धिमृत्युमत्सुरपूरितम् ।
असञ्जातामृताश्वेभवैद्यगोकमलाविषम् ॥ २९ ॥
शुक्रामरमहाविद्यानाशनोत्कसुरव्रजम् ।
क्वचित्किंचिच्च गर्भाङ्गकर्त्तनोत्कसुरेश्वरम् ॥ ३० ॥

युक्त देखनेमें आया, तो कहींपर कुछ जगत् सत्युगके आचरण और सज्जन प्राणियोंसे भरा मैंने देखा ॥ २५ ॥

भद्र, कहींपर कुछ जगत् कलियुगके आचरणोंसे युक्त तथा दुर्जन प्राणियोंसे भरे थे, तो कहींपर कुछ जगत् नगरोंकी राशियों एवं दैत्योंके सङ्ग्रामोंसे अति संकीर्ण थे ॥ २६ ॥

कहींपर जगत् बड़े-बड़े पर्वतोंके समूहोंसे इतना व्याप्त था कि उसमें तनिक भी अवकाश नहीं रह गया था और कहींपर दूसरी कोई सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई थी, केवल ब्रह्माजी ही उत्पन्न हुए थे ॥ २७ ॥

कहींपर कुछ जगत् ऐसे देखे कि उनमें पृथ्वीके सभी मानव जरामरणसे रहित थे और कहींपर भगवान् शङ्कर ऐसी स्थितिमें दिखाई दिये कि उनके मस्तकपर चन्द्ररूप भूषण ही नहीं रहा, क्योंकि भूषणरूप चन्द्रकी उत्पत्ति ही वहां नहीं हुई थी ॥ २८ ॥

भद्र, कहींपर तो क्षीरसागरका मथन ही नहीं हुआ था, इसलिए वह मृत्युग्रस्त देवताओंसे पूर्ण था तथा वहां अमृत, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु, लक्ष्मी और विष भी उत्पन्न नहीं हुए थे ॥ २९ ॥

कहींपर शुक्राचार्यकी मृतसंजीविनी महाविद्या पैदा करनेवाली महती तपश्चर्यामें विघ्न डालनेके लिए देवता उत्कण्ठित दिखाई दे रहे थे, तो कहींपर भावी शत्रुओंके नाशके निमित्त दितिके पेटमें घुसकर गर्भके अवयवोंको काटनेके लिए इन्द्र उत्सुक थे ॥ ३० ॥

अपरिम्लानधर्मत्वात्स्वप्रकाशाखिलव्रजम् ।
क्वचित्किञ्चिच्च पूर्वान्यसन्निवेशक्रमस्थिति ॥ ३१॥
अपूर्ववेदशास्त्रार्थसमाचारविचारणम् ।
क्वचित्किञ्चिन्न कल्पान्तसंक्षोभमिव संस्थितम् ॥ ३२ ॥
क्वचित्किञ्चिच्च दैत्यौघविलुण्ठितसुरालयम् ।
क्वचित्किञ्चित्सुरोद्यानगायद्गन्धर्वकिन्नरम् ॥ ३३ ॥
क्वचित्किञ्चित्समारब्धगीर्वाणासुरसौहृदम् ।
भूतभव्यभविष्यत्स्थजगदाडम्बरं मया ॥ ३४ ॥
तदाऽनुभूतं वपुषि महाविश्वगणात्मनि ॥ ३५ ॥
एकत्र कल्पविक्षुब्धपुष्करावर्तमन्थरम् ।
एकत्र सौम्यसकलभूतसंततिसंस्थितम् ॥ ३६ ॥

कहींपर जगत्में धर्ममें ग्लानि न आनेके कारण समस्त जनता स्वप्रकाश ब्रह्मज्ञानसे पूर्ण थी, कहींपर तो पदार्थस्थिति पूर्वसिद्ध अवयव रचनाके क्रमसे विलक्षण ही थी ॥ ३१ ॥

कहींपर जगत् अपूर्व वेद एवं शास्त्रके अर्थोंके अनुसार आचरण तथा विचारमें तत्पर दिखाई दिया तथा कहींपर महाप्रलयके क्षोभसे रहित अतएव सुन्दर निश्चलरूपसे स्थित दिखाई पड़ा ॥ ३२ ॥

कहींपर तो जगत्में दैत्योंके समूहोंसे देवताओंके घर लूटे हुए मिले, और कहीं किसी जगत्में देवताओंके उद्यानोंमें गन्धर्व तथा किन्नर मधुर गाना गा रहे थे ॥ ३३ ॥

कहीं किसी जगत्में देवता और दानवोंमें समुद्रमथनके लिए बना हुआ उत्तम सौहार्द (मेल) देखनेमें आया ॥ ३४ ॥

भद्र, इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्य कालके महान् जगदाडम्बरको मैंने उस समय विश्वरूप महादेवजीके स्वरूपमें यानी मायायुत चिदाकाशमें देखा ॥ ३५ ॥

उसी जगत्के आडम्बरको फिर दर्शाते हैं—'एकत्र' इत्यादिसे।

कहींपर जगत् कल्पकालके कुपित पुष्करावर्त मेघोंके कारण व्याकुल था, तो कहींपर शान्त समस्त भूतोंके समूहोंसे उपद्रव रहित था ॥ ३६ ॥

एकत्र समन्तुक्षुब्धसुरासुरनरेश्वरम् ।
एकत्राऽसम्भवद्भानुनित्याभिन्नतमोघनम् ॥ ३७ ॥
एकत्राऽसंभवद्ध्वान्तं कान्तं ज्वालोदरोपमम् ।
एकत्र नलिनीनालनिलीनमधुकैटभम् ॥ ३८ ॥
एकत्र पद्ममञ्जूषासुप्तबालनवाब्जजम् ।
एकत्रैकार्णवोदग्रवृक्षविश्रान्तमाधवम् ॥ ३९ ॥
एकत्र कल्परजनीनिःशून्यतिमिराकुलम् ।
शिलाजठरनिस्पन्दं व्योमैव विततात्कृति ॥ ४० ॥
सुषुप्तजठराकारमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं सुषुप्तमिव सर्वतः ॥ ४१ ॥
एकत्र पक्षविक्षुब्धशैलकाकाकुलाम्बरम् ।
एकत्र वज्रनिष्पेषद्रवद्भूधरभासुरम् ॥ ४२ ॥

कहींपर कुपित देवता, दानव एवं राजाओंसे व्याप्त था, कहींपर सूर्यकी उत्पत्ति ही न होनेके कारण निरन्तर अनाशित अन्धकारसे पूर्ण था ॥ ३७ ॥

कोई सूर्योदयके कारण अन्धकारसे रहित अतएव ज्वालोदरके समान सुन्दर प्रतीत हो रहा था, और कहीं भगवान्‌के नाभिकमलकी नालमें मधु और कैटभ छिपे हुए थे ॥ ३८ ॥

किसी जगत्‌में तो नवीन ब्रह्माजी कमलकी पिटारीमें बालकरूपमें सोये पड़े थे, किसी जगत्‌में तो महाप्रलयमें उन्नत अग्रभागवाले अक्षय वटके पत्तेके ऊपर भगवान् नारायण विश्राम ले रहे थे ॥ ३९ ॥

किसी जगत्‌में प्रलयरूपी महारात्रिका अतिशून्यरूप यानी प्रकाशरहित गाढ़ अँधेरा छाया हुआ था, तो किसीमें शिलाके पेटके सदृश निश्चल विशालाकृति आकाश ही दीख पड़ता था ॥ ४० ॥

कोई तो सोया हुआ और जठरके सदृश मालूम पड़ रहा था, कोई अतर्कित (विलक्षण) तथा ज्ञानयोग्य ही नहीं था, इसलिए चारों ओर सुषुप्त-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ४१ ॥

किसी जगतमें परोंसे अत्यन्त क्षुब्ध पर्वतरूपी कौओंसे सारा आकाशमण्डल आच्छन्न था और किसीमें तो वज्रसे चूर्णित अतएव द्रवीभूत पर्वतोंके कारण अपूर्व भासुरता दीख पड़ती थी ॥ ४२ ॥

एकत्रोद्वृत्तमत्ताब्धिह्रियमाणधराचलम् ।
एकत्र पुरवृत्रान्धबलिसङ्गरसङ्कुलम् ॥ ४३ ॥
एकत्र मत्तपातालगजकम्पितवसुन्धरम् ।
एकत्र शेषशिरसः कल्पान्तलुठितावनि ॥ ४४ ॥
क्वचिदल्पेन रामेण हतरावणराक्षसम् ।
रक्षसा रावणेनैव क्वचिद्विहतराघवम् ॥ ४५ ॥
भूस्थपादेन देवाद्रिशिरस्थशिरसा परम् ।
पश्याम्यम्बरमाक्रान्तं क्वचिद्वै कालनेमिना ॥ ४६ ॥
क्वचिच्चापसुरैर्नित्यं दानवैरेव पालितम् ।
क्वचिच्च भ्रष्टदनुजैरमरैरेव पालितम् ॥ ४७ ॥
जिष्णुयुक्तेन गुप्तेन विष्णुपाण्डवकौरवैः ।
क्वचिद्भारतयुद्धेन निहताक्षौहिणीगणम् ॥ ४८ ॥

किसीमें तो तरङ्गमालाओंसे आकुल प्रमत्त समुद्र पृथ्वी और पर्वतोंको ले जाते हुए दीख पड़े और कहींपर त्रिपुरासुर, वृत्रासुर, अन्धकासुर तथा बलिके सङ्ग्राम हो रहे थे, इससे वह बड़ा भयङ्कर प्रतीत हो रहा था ॥ ४३ ॥

कहींपर मत्त पातालगजोंसे वसुन्धरा कम्पित हो रही थी और कहीं शेषके मस्तकसे कल्पान्तमें पृथ्वी लुढ़क रही थी ॥ ४४ ॥

किसी स्थानमें छोटे बालकरूप रामजी राक्षस रावणको नष्ट कर रहे थे, तो किसीमें राक्षस रावण ही सीता-हरण द्वारा राघवको ठग रहा था ॥ ४५ ॥

कहींपर कालनेमि राक्षसने भूमिपर धरे अपने पैरसे तथा सुमेरु पर्वतके मस्तकपर रक्खे अपने मस्तकसे महान् आकाश आक्रान्त कर रक्खा था, यह भी मुझे देखनेमें आया ॥ ४६ ॥

कहींपर सारा जगत् देवोंको हटाकर दानवों द्वारा पालित था और कहींपर दानवोंको हटाकर देवों द्वारा ही पालित था ॥ ४७ ॥

कहींपर जगत् अर्जुनयुक्त स्वजनपालक कृष्णसे पाण्डव तथा कौरवोंके द्वारा महाभारत-युद्धसे अनेक अक्षौहिणियोंका विनाश किया जा रहा था ॥ ४८ ॥

श्रीराम उवाच

किमहं भगवन् पूर्वमभवं कथयेति मे ।
अभवं चेदनेनैव संनिवेशेन तत्कथम् ॥ ४९ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्व एव विवर्तन्ते राम भावाः पुनः पुनः ।
पूर्यमाणा यथा माषाः क्रमेणाऽन्येन तेन वा ॥ ५० ॥
सर्वक्रमसमाः केचित्तथैवाऽन्येन वा मिथः ।
स्फुरन्त्यर्थसमा भावाः केचिदब्धितरङ्गवत् ॥ ५१ ॥
पुनस्त्वं पुनरेवाऽहं पुनः पुनरिमे जनाः ।
न कदाचन नैवाऽन्ये संभवन्त्यखिलं परे ॥ ५२ ॥
त एवाऽन्येऽथवाऽम्भोधौ तरङ्गा इव निर्णयः ।
यद्वन्न जायते तद्वद् भूतानां भ्रमतां भवेत् ॥ ५३ ॥

'कहीं छोटे बालक रामजीके द्वारा रावण मारा जा रहा था' यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'किमहम्' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, क्या मैं पहले उत्पन्न हुआ था, यदि उत्पन्न हुआ था, तो क्या इन्हीं अवयवोंसे उत्पन्न हुआ, या दूसरे अवयवोंसे, यदि इन्हींसे उत्पन्न हुआ तो यह कैसे संभव है ? यह मुझसे कहिये ॥ ४९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, सभी पदार्थ बारबार दूसरे या उसी क्रमसे अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं, जैसे कि बार-बार घड़े आदिमें भरे जा रहे उड़द उसी या अन्य क्रमसे अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं ॥५०॥

भद्र, कोई पदार्थ, जिनके सब क्रम समान हैं, शब्दोंके अर्थोंके तुल्य उसी आकृतिसे स्फुरित होते हैं या कोई समुद्रकी तरङ्गोंके सदृश उसी अथवा परस्पर भिन्न आकृतिसे स्फुरित होते हैं ॥ ५१ ॥

राघव, फिर-फिर तुम, फिर-फिर हम और ये मनुष्य भी फिर-फिर उत्पन्न होते ही रहते हैं। वास्तवमें तत्त्वदृष्टिसे चेतनात्मामें कभी ये या दूसरे या यह सारा जगत् न उत्पन्न होता है या न स्फुरित ही होता है ॥ ५२ ॥

माया दृष्टिसे वे ही उत्पन्न होते हैं या अन्य उत्पन्न होते हैं, इस विषयका तो निर्णय है ही नहीं, यह कहते हैं—'त एवा०' इत्यादिसे।

आयान्ति यान्त्यनन्तानि भूतानीह भवभ्रमैः ।
तान्येवाऽन्यानि चाऽन्यानि समानि विषमाणि च ॥ ५४ ॥
आवृत्तिमन्ति तान्येव तथैवाऽन्यानि चाऽभितः ।
विद्धि सीकरजालानि भूतानि जगदम्बुधेः ॥ ५५ ॥
वित्तबन्धुवयःकर्मविद्याविज्ञानचेष्टितैः ।
तैरेव केचिज्जायन्ते भूयो भूयः शरीरिणः ॥ ५६ ॥
अर्द्धैस्तैः सदृशाः केचित्केचित्पादेन तैः समाः ।
तज्जीवास्तैर्विसदृशा भवन्त्यन्यशरीरिणः ॥ ५७ ॥

समुद्रमें वे ही तरङ्गें दूसरी बार आईं या दूसरी तरङ्गें आईं, यह जैसे अभीतक निर्णय नहीं हो पाया है, वैसे ही भ्रमण कर रहे प्राणी वे ही आये या दूसरे आये इसका भी अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है ॥ ५२ ॥

भद्र, इस संसारमें उत्पन्न हो रहे अनेकविध भ्रमोंके कारण भूत-समुदाय आते और जाते रहते हैं। कोई तो उसी रूपसे आते हैं, कोई अन्य रूपसे आते हैं, कोई समान रूपसे आते हैं और कोई विषम रूपसे आते हैं ॥ ५४ ॥

चारों ओर भूत उसी रूपसे घूमते हैं और अन्य रूपसे भी घूमते हैं, यह आप अधिक क्या कहें ये भूत जगत्-रूपी सागरके जलकणरूप ही हैं, यह आप जानिये ॥ ५५ ॥

इस विषयका पूर्वमें मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरणमें जो कथन किया गया था, उसका स्मरण कराते हुए उसीको कहते हैं—'वित्त०' इत्यादिसे ।

संसारके कोई प्राणी तो पूर्वके ही धन, बन्धु, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओंको लेकर ही बारबार उत्पन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

कोई जीव पूर्वके उन धन आदिसे आधे समान होकर आते हैं और कोई चतुर्थांशसे समान होकर आते हैं, तो कोई जीव ठीक वे ही (उसी शरीरके) बनकर आते हैं और कोई अन्य शरीर धारणकर बिलकुल असमान होकर आते हैं। इससे जीवोंकी एकता होनेपर शरीर भी समान ही होने चाहिए, यह नियम नहीं रहा ॥ ५७ ॥

सर्वैरेभिः समाः केचित्कालेनैव विलक्षणाः ।
कालेन सदृशाः केचिदनेन च विलक्षणाः ॥ ५८ ॥

कालेनाऽऽकुलचेष्टयाऽन्य इव ते गच्छन्त्यधोर्ध्वं पुन-
र्देहालेखनखेदितान्यगणितान्यन्यानि चाऽन्यान्यलम् ।
भूताम्बूनि वहन्ति संसृतिमये तान्यम्बुधौ चञ्चले
चक्रावृत्तिमयानि सङ्कलयितुं शक्नोति कस्तान्यलम् ॥५९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगदन्यान्यत्ववर्णनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इसी प्रकार जीवोंका भेद होनेपर शरीर असमान ही होंगे, यह भी नियम नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वै०' इत्यादिसे ।

किसी समय धन आदिसे एकरूप होते हुए भी ये जीव कालके प्रभावसे अन्य समयमें ठीक उनसे विपरीत हो जाते हैं। किसी समय कालके प्रभावसे सदृश होते हैं, तो शरीरके प्रभावसे विसदृश होते हैं ॥ ५८ ॥

चूँकि वे ही जीव राग, द्वेष, भोगलंपटता आदि दोष पूर्ण विचित्र विचित्र धर्माधर्म चेष्टाके कारण कालवश विचित्र अनेक देह धारणसे दूसरे दूसरे रूपवाले बनकर नीचे एवं ऊपरके लोकोंमें बारबार आते जाते रहते हैं, इसलिए चञ्चल संसारमय समुद्रमें चक्राकार आवर्तमय जो प्राणीरूप जल बह रहा है, वे सदृश हैं, विसदृश हैं, अथवा वे ही हैं या अन्य हैं, इस विषयका निर्धारण भलीभांति कौन पुरुष कर सकता है यानी कोई नहीं कर सकता ॥ ५९ ॥

छियासी सर्ग समाप्त

सप्ताशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततश्चिदाकाशवपुर्व्याप्यनन्तो निरामयः ।
दत्तावधानो वपुषि तदा पश्याम्यहं क्वचित् ॥ १ ॥
यावदन्तर्गतः सर्गः संस्थितोऽङ्कुरितोपमः ।
कुसूलस्येव बीजस्य सिक्तस्यैवाङ्कुरो हृदि ॥ २ ॥
ऊर्ध्वमुच्छून एवान्तः सेकाद्बीजे यथाऽङ्कुरः ।
आकारवत्यनाकारे चित्त्वाचित्त्वे तथा जगत् ॥ ३ ॥
यथोन्मिषति दृश्यश्रीः सुषुप्ताद्बोधमेयुषः ।
जाग्रद्वा विगते स्वप्ने चिन्मात्रस्य स्वचेतनात् ॥ ४ ॥

सतासी सर्ग

[देह, इन्द्रिय आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे अपनी देहमें ही विश्वकी कल्पना तथा अपनी स्वयंभूरूपताका श्रीवसिष्ठजीके द्वारा वर्णन]

जैसे मैंने ध्यानपूर्ण दृष्टिसे सुवर्ण-शिला, वृक्ष, तृण आदि समस्त पदार्थोंमें सृष्टियाँ देखी थीं वैसे ही अपने शरीरके अवयवोंमें भी ध्यानपूर्ण दृष्टिसे अनेक सृष्टियाँ देखीं, यह कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, शिला, तृण, गुल्मादिमें विचित्र सर्ग देखनेके बाद निरामय, सर्वव्यापी, अनन्त, चिदाकाशस्वरूप तथा समाहितचित्त होकर जब मैं देखने लगा, तो मैं क्या देखता हूँ कि मेरे शरीरके ही भीतर सर्ग स्थित है, जिसकी उपमा अङ्कुरित बीजसे दी जा सकती है। यह सर्ग डेहरीके भीतर स्थित वृष्टिसे सिक्त हुए बीजके अङ्कुरके सदृश है ॥ १, २ ॥

जैसे बीजमें भीतर विद्यमान अङ्कुर सींचनेसे विकसित होकर ऊपरकी ओर निकल आता है वैसे ही मूर्त-अमूर्त, चेतन और अचेतन सभी वस्तुओंमें यह जगत् है ॥ ३ ॥

अपनी समाधिमें उस सृष्टिका आपने कैसे अनुभव किया ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सुषुप्ति-अवस्थासे स्वप्नावस्थाको प्राप्त चिन्मात्र पुरुषकी स्वचेतनसे स्वाप्न-

तथैकाऽऽत्मनि सर्गादावनुभूतस्वरूपिणि ।
हृदि सर्गोदयो नाऽन्यरूप आकाशरूपतः ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

आकाशरूप आकाशे परमाकाश कथ्यताम् ।
भूयो निपुणबोधाय कथं सर्गः प्रवर्तते ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम यथा पूर्वं स्वयंभूत्वं मया तदा ।
अनुभूतमसत्सद्वदिदं स्वप्नपुरोपमम् ॥ ७ ॥

दृश्यश्री विकसित होती है अथवा जैसे स्वप्नावस्थाके हट जानेपर प्रबोधको प्राप्त हुए पुरुषका जाग्रत्प्रपञ्च विकसित होता है वैसे ही सृष्टिके प्रारम्भमें जिसने अपने स्वरूपका पृथक् रूपसे अनुभव किया है ऐसे आत्मामें यह सृष्टि उदित होती है। हृदयाकाशमें हुआ यह सृष्टिका उदय आकाशस्वरूपसे (चिदाकाशसे) पृथक् नहीं है ॥ ४, ५ ॥

'हृदि सर्गोदयः' इससे आपने 'हृदय' पदसे हृदयाकाश कहा है और 'आकाशरूपतः' इससे मैंने आपका अभिप्राय 'चिदाकाश' समझा है, अपने इस मतलबको सम्बोधन द्वारा सूचित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी—भगवन् , मेरे स्पष्ट परिज्ञानके लिए विस्तारके साथ आप पुनः इसका वर्णन कीजिये, यह प्रार्थना करते हैं—'आकाशरूप' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—परमाकाश हृदयाकाशरूप हे वसिष्ठजी, चिदाकाश-रूप आपमें सृष्टि कैसे प्रवृत्त होती है, यह आप मुझसे फिर कहिये, ताकि इसका मुझे ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाय ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा पूछे गये मतलबको विस्तारके साथ कहनेके लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैंने अपनेमें सत्के तुल्य प्रतीत होनेवाले वस्तुतः स्वप्ननगरके समान असत् इस स्वयंभू-रूपताका पहले जिस तरह अनुभव किया, उसका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनिये ॥ ७ ॥

तमालोक्य महाकल्पसंभ्रमं व्योमरूपिणा ।
भागेऽन्यत्र शरीरस्य संविदुन्मेषिता मया ॥ ८ ॥
यदैव साऽमला संवित्किञ्चिदुन्मेषिता स्थिता ।
तदैवाऽहं क्वचित्तत्र पश्याम्याकाशतामिव ॥ ९ ॥
गतं स्वभावं चिद्व्योम यथा त्वं राम निद्रया ।
जाग्रद्वा स्वप्नलोकं वा विशन्वेत्सि समं घनम् ॥ १० ॥
दिङ्मात्राकाशमेवाऽऽदौ ततोऽस्मीत्येव वेदनम् ।
तद्घनं कथ्यते बुद्धिः सा घना मन उच्यते ॥ ११ ॥

उस सुवर्णशिला आदिमें महाकल्पके संभ्रमको देखकर चिदाकाशस्वरूप मैंने शरीरके अन्य भागमें स्थित संवित्‌को सृष्टि देखनेके सङ्कल्पसे कौतुकवश उन्मेषित किया—जागृत किया ॥ ८ ॥

पहले 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इस श्रुतिमें प्रतिपादित क्रम जिसका उपलक्षण है ऐसे आकाशकी कल्पना कहते हैं—'यदैव' इत्यादिसे।

वह निर्मल संवित् मेरे द्वारा ज्यौंही कुछ उन्मेषको प्राप्त होकर स्थित हुई त्यौंही मैं वहाँ कहींपर आकाशताका-सा अवलोकन करने लग गया ॥ ९ ॥

यह आकाशता चिद्घनके भीतरी शून्यभावप्राप्तिरूप सौक्ष्म्यका आधिक्य न था, किन्तु चित्सौक्ष्म्यकी अपेक्षा जाड्य अधिक होनेसे स्थूलता ही थी, इस आशयसे दृष्टान्त द्वारा सम्भावना करते हैं—'गतम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे नींद आ जानेसे उसके द्वारा स्वप्नके जाग्रत लोक या स्वप्नके स्वप्न लोकमें प्रविष्ट होते हुए आप अपनी आत्माके ही समान घन उसके आधार स्वभावको समझते हैं वैसे ही स्वभावको प्राप्त चिदाकाशका मैंने अनुभव किया, यह आप सम्भावना कर लीजिये ॥ १० ॥

दिङ्मात्र* आकाश ही सर्वप्रथम चिन्तन करनेसे चित्त होता है। तदनन्तर 'मैं आकाश हूँ' ऐसा जो वेदन है वह अहङ्कार कहलाता है। उसके बाद 'आकाशमेव' ऐसे निश्चयसे और पूर्वभावके विस्मरणसे वह बुद्धि कहलाता है और वही (बुद्धि ही) जब सङ्कल्प, विकल्प, काम तथा विचिकित्सा आदिकी नानाविध कल्पनाओंवाली बन जाती है तब 'मन' इस नामसे कही जाने लगती है ॥ ११ ॥

* अर्थात् अपनी चलनक्रियाके अनुकूलरूपसे दिशाओंका अपनेमें पर्यालोचन करनेवाला।

तद्वेत्ति शब्दतन्मात्रं तन्मात्राणीतराण्यथ ।
पञ्चेन्द्रियाणि तत्स्थौल्यादितीन्द्रियगणोदयः ॥ १२ ॥
सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं जगद् दृश्यघनोदयम् ।
यथा तथैव सर्गादौ दुःखं भाति निमेषतः ॥ १३ ॥
तुल्यकालमनन्तेऽस्मिन् दृश्यजालावभासने ।
कथयन्ति क्रमं केचित् केचिन्न कथयन्ति च ॥ १४ ॥
परमाणुकणे कान्ते सम्पन्नमनुभूतवान् ।
अहं चेतनमात्मानं वस्तुतोऽमलमेव खम् ॥ १५ ॥

वही इस तरह विषयोंकी कल्पना करनेके अनन्तर उनकी ग्राहक इन्द्रियोंकी भी कल्पना करता है, यह कहते हैं—'तद्वेत्ति' इत्यादिसे ।

इस तरह वह पहले शब्द-तन्मात्राकी कल्पना करता है । उसके अनन्तर अन्य तन्मात्राओंकी कल्पना करता है । तदनन्तर उनकी स्थूलतासे पाँच इन्द्रियोंकी कल्पना करता है । इस प्रकार इन्द्रियोंके समुदायका उदय होता है ॥ १२ ॥

इन्हीं विषयों तथा इन्द्रियोंके कारण ही पहले दुःखरहित रहनेवाले आत्माको स्वप्नकी तरह व्यवहारमें दुःखोंकी प्राप्ति होती है, यह कहते हैं—'सुषुप्ताद्' इत्यादिसे।

जैसे सुषुप्तिसे स्वप्नमें प्रविष्ट हो रहे पुरुषको दृश्यके गझिन (घने) आविर्भावसे युक्त जगत्‌का भान क्षण भरमें होता है । वैसे ही सृष्टिके प्रारम्भमें जब दुःखरहित शुद्ध आत्मा इन्द्रियों द्वारा विषयोंकी ओर (अभिमुख) होता है, तब निमेषमात्रमें ही उसको दुःख भासित होने लगता है ॥ १३ ॥

स्वप्नमें आकाशादिक्रमसे सृष्टि नहीं होती, किन्तु एक ही समयमें सहसा सम्पूर्ण जगतका अवलोकन होने लगता है, इसलिये आपका यह विषम दृष्टान्त है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'तुल्यकाल०' इत्यादिसे ।

इस अनन्त परब्रह्म परमात्मामें जब एक ही समयमें सारा दृश्य-जाल भासने लगता है, तब कोई तो उसमें क्रमका * वर्णन करते हैं और कोई नहीं भी करते ॥ १४ ॥

क्षणके अन्दर दीर्घकालकी कल्पनाके समान सुन्दर परमाणुके अन्दर भी दीर्घ

* 'स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' इत्यादि श्रुतियोंमें एक ही समयमें सृष्टिका श्रवण होनेसे एक क्षणके अन्दर ही दीर्घ कालकी कल्पना द्वारा क्रमकी उपपत्ति होती है ।

यथा स्वभावतो व्योम्नि चलत्येवाऽनिशं मरुत् ।
तथा स्वभावात् सर्वत्र पश्यत्येव वपुस्त्विति ॥ १६ ॥
यादृशं चेतितं रूपं शक्त्या परमया तया ।
तच्छक्तोत्यन्यथाकर्तुं नैषा यत्नेन भूयसा ॥ १७ ॥
ततः पश्याम्यहं यावत्सम्पन्नोऽप्यणुरूपकः ।
चित्त्वाच्चेतस्तदेवाऽऽशु तथाभूतोऽस्मि संस्थितः ॥ १८ ॥
ततोऽहं बुद्धवान् रूपं तनु तेजःकणाकृति ।
तदेव भावयन् पश्चाद् गतोऽहं स्थूलतामिव ॥ १९ ॥
प्रेक्षे तावदहं किञ्चिदिति बोधाल्लघोस्ततः ।
मनागालोकनायैव सम्प्रवृत्तोऽनुभूतवान् ॥ २० ॥

देशकी कल्पनासे सम्पन्न ब्रह्माण्डात्मक चेतन आत्माका मैंने ही अनुभव किया—अवलोकन किया । वास्तवमें तो वह आत्मा निर्मल चिदाकाशरूप ही है ॥ १५ ॥

जैसे वायुका सञ्चलनस्वभाव है वैसे ही शरीर आदिकी कल्पना करना मनका स्वभाव है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे वायु स्वभावसे ही आकाशमें निरन्तर चलता रहता है वैसे ही मन स्वभावसे सर्वत्र शरीर आदिका अवलोकन करता ही रहता है ॥ १६ ॥

प्राथमिक मनकी कल्पनारूप उस परम शक्तिने संसारके रूप आदिकी जैसी कल्पना की है उसे स्वयं बड़े प्रयत्नसे भी यह बदल नहीं सकती । कहनेका तात्पर्य यह कि उत्तर कल्पनाओंमें वही स्थिर नियति बनी रही ॥ १७ ॥

यही कारण है कि उसके बाद मैं अपरिच्छिन्नस्वरूप रहनेपर भी उसके द्वारा की गई परिच्छेदकी कल्पनासे परिच्छिन्न बन गया । सच पूछिये तो चिति-रूप होनेसे उस चित्तके ही रूपमें शीघ्र वैसा मैं स्थित हुआ ॥ १८ ॥

उसके बाद चितिके प्रतिबिम्बकी व्याप्तिसे तेजके कणकी तरह आकृतिवाले सूक्ष्म लिङ्ग शरीरका मैंने अनुभव किया और फिर उसी सूक्ष्म शरीरकी भावना करते करते मैं स्थूलदेहताको प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥

उसके पश्चात् 'मैं कुछ देखूँ' इस साधारण बोधसे जब कुछ देखनेके लिए प्रवृत्त हुआ, तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं उस स्थूल शरीरमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी कल्पना द्वारा रूप आदिका अवलोकन करनेवाला बन गया हूँ ॥ २० ॥

यन्नाम तत्र तत्किञ्चित्तस्येहाऽद्य रघूद्वह ।
शृणु नामानि मुख्यानि कल्पितानि भवादृशैः ॥ २१ ॥
द्रष्टुं प्रवृत्तो रन्ध्रेण येन तच्चक्षुरुच्यते ।
यच्च पश्यामि तद्दृश्यं दर्शनं तु फलं ततः ॥ २२ ॥
यदा पश्यामि कालोऽसौ यथा पश्यामि स क्रमः ।
प्रौढा नियतिरित्यस्य यत्र पश्यामि तन्नभः ॥ २३ ॥
स्थितोऽस्मि यत्र देशोऽसावित्यद्यैषा प्रकल्पना ।
तदा त्वहं चिदुन्मेषमात्रात्तन्मात्रकारणम् ॥ २४ ॥
पश्यामीति ततस्तत्र मनाग्बोधो ममोदभूत् ।
ततो रन्ध्रद्वयेनाऽहमपश्यं यत्तदप्यखम् ॥ २५ ॥

हे रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यहां जो कुछ नाम सुनाई पड़ता है वस्तुतः वह उस चितिका ही नाम है । परन्तु आपके सदृश महानुभावोंने जिनकी कल्पना की है ऐसे कुछ मुख्य नामोंका अब [मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप] श्रवण कीजिये ॥ २१ ॥

जिस छिद्रसे मैं देखनेके लिए प्रवृत्त हुआ, वह नेत्र कहलाता है, जिसे मैं देखता हूँ, वह दृश्य यानी रूप कहा जाता है और दर्शन तो उसका फल है ही ॥ २२ ॥

जब मैं देखता हूँ, वह काल है, जैसे देखता हूँ, वह क्रम है और जहां मैं देखता हूँ, वह आकाश है । इस तरह इस आत्माकी प्रौढ़ नियति प्रवृत्त हुई । कहनेका तात्पर्य यह है कि नेत्र आदि इन्द्रियोंके बाद देश, काल आदिकी दृढ़ नियति भी सम्पन्न हो गई ॥ २३ ॥

जिस जगह मैं स्थित हूँ, वह देश कहलाता है, यह मेरी आज की कल्पना है । यह आप मुझसे पूछ सकते हैं कि उस समय आप कैसे रहे ? सुनिये, उस समय मैं चितिका उन्मेषमात्र होनेसे केवल तन्मात्रका कारण था ॥ २४ ॥

देहमें चक्षु आदि छिद्रोंकी कल्पना आदिके दर्शन आदि जनित कौतुकके बाद वहांपर मैं देखूं, ऐसा तनिक बोध मुझमें उदित हुआ । तदनन्तर जब मैं नेत्ररूप दोनों छिद्रोंसे देखने लगा, तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह भी सब आकाशसे भिन्न ही है ॥ २५ ॥

याभ्यायामपश्यं रन्ध्राभ्यां त इमे लोचने स्थिते।
ततः किञ्चिच्छृणोमीति संविदित्युदिता मम ॥ २६ ॥
ततः किञ्चिन्मनाङ्मात्रं झङ्कारं श्रुतवानहम्।
प्रध्मातस्येव शङ्खस्य शब्दं व्योम्नः स्वभावजम् ॥ २७ ॥
याभ्यामहमथाऽश्रौषं त इमे श्रवणव्रणे।
प्रदेशाभ्यां विचरता मरुता विततस्वनम् ॥ २८ ॥
स्पर्शसंवेदनं किञ्चिदहमत्राऽनुभूतवान्।
येन नाम प्रदेशेन तेन सा त्वक्च कथ्यते ॥ २९ ॥
येन स्पृष्टमिवाऽङ्गं तत्तदाऽहमनुभूतवान्।
सत्संवेदनमात्रात्मा सोऽयं वायुरिति स्मृतः ॥ ३० ॥
स्पर्शनेन्द्रियतन्मात्रमिति वेदिनि संस्थितम्।
आस्वादसंविद्याऽभून्मे तदास्वाद्यरसेन्द्रियम् ॥ ३१ ॥

जिन दो छिद्रोंसे मैंने देखा वे दोनों ये मेरे नेत्र स्थित हैं। इसके बाद 'मैं कुछ सुनूँ' यह वृत्ति मुझमें उदित हुई ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् मैंने वहांपर कुछ थोड़ा-सा एक झंकार सुना। वह जोरसे फूँके गये शंखके शब्द-जैसा आकाशका स्वाभाविक शब्द था ॥ २७ ॥

मैंने जिन दो छिद्र-प्रदेशों द्वारा सञ्चरणशील वायुकी सहायतासे* बहुत दूर तक फैले हुए शब्दका श्रवण किया वे दोनों कर्णच्छिद्र हुए ॥ २८ ॥

तदनन्तर जिस प्रदेशसे मैंने वहां जो कुछ थोड़ा-बहुत स्पर्श संवेदनका अनुभव किया, उसको त्वक् कहते हैं ॥ २९ ॥

जिससे छुए हुए-से तत-तत् अङ्गोंका मैंने अनुभव किया, वह एकमात्र सत्यसङ्कल्पस्वरूप पवन कहा गया है ॥ ३० ॥

इस रीतिसे अनुभव करनेवाले मुझमें स्पर्श-इन्द्रियतन्मात्राकी सिद्धि हुई। और जो मुझमें रसास्वाद लेनेकी संवित् (इच्छा) प्रादुर्भूत हुई वही आस्वादन करने योग्य रसभेदोंसे युक्त रसनेन्द्रिय तैयार हो गई ॥ ३१ ॥

---

* श्रोत्रादिका व्यापार भी प्राणके अधीन है, यह दिखलानेके लिए 'विचरता मरुता' यह कहा गया है।

प्राणान्मे प्राणतन्मात्रमुदितं व्योमरूपिणः ।
इत्थं न किञ्चित्सम्पन्नं सर्वं सम्पन्नमत्र मे ॥ ३२ ॥
एवमिन्द्रियतन्मात्रजालं चेत्तत्र संस्थितः ।
यावत्तावद्विदः पञ्च बलादेव ममोदिताः ॥ ३३ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रशरीरकाः ।
अनाकारास्तथा भातस्वरूपिण्यो भ्रमात्मिकाः ॥ ३४ ॥
एवंरूपमहं जालं भावयन् यत्तदास्थितः ।
तदहङ्कार इत्यद्य कथ्यते त्वादृशैर्जनैः ॥ ३५ ॥
एष एव घनीभूतो बुद्धिरित्यभिधीयते ।
साऽथ बुद्धिर्घनीभूता मन इत्यभिधीयते ॥ ३६ ॥

प्राणके सङ्कल्पसे आकृष्ट प्राणवायुके भेदरूप अपानसे घ्राणेन्द्रिय और तन्मात्रा उत्पन्न हुई। इस प्रकार आकाशस्वरूप मुझे देह, इन्द्रिय और विषय सम्पत्ति आदि सब कुछ भास हो गया। लेकिन वास्तवमें कुछ भी नहीं भास हुआ ॥३२॥

तदनन्तर पाँचों इन्द्रियोंकी भोगवृत्ति मुझमें बबरदस्ती उदित हो गई, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जब सब इन्द्रियां और तन्मात्राओंके समुदाय मुझमें स्थित हो गये तब ये सबकी-सब पाँचों इन्द्रियोंकी भोग-वृत्तियां बलात् मुझमें उदित हो गई। उनका शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्धमात्र ही शरीर है। वे मिथ्या होनेसे ही वस्तुतः आकारशून्य हैं, किन्तु भ्रान्तिवश इनका स्वरूप प्रकाशित होता है ॥ ३३, ३४ ॥

इस तरह देह, इन्द्रिय तथा विषयकी भावना करता हुआ यानी उनका अभिमानी होता हुआ मैं स्थित हुआ। उसीको आजकल आपके सदृश जन 'अहङ्कार' इस नामसे कहते हैं ॥ ३५ ॥

दृढ़ अध्यवसायसे विशेष बढ़कर यही अहङ्कार 'बुद्धि' इस नामसे पुकारा जाता है और बादमें जब यह बुद्धि घनीभूत हो जाती है तब यह 'मन' इस नामसे कही जाती है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह भी आपको जान लेना चाहिये कि वही मन पुनः पुनः विषयोंका चिन्तन करनेसे 'चित्त' रूपमें सम्पन्न हो जाता है ॥ ३६ ॥

अन्तःकरणरूपत्वमेवमन्गाऽहमास्थितः ।
आतिवाहिकदेहात्मा चिन्मयव्योमरूपवान् ॥ ३७ ॥
पवनादप्यहं शून्यः केवलाकाशमात्रकः ।
सर्वेषामेव भावानां शून्याकृतिररोधकः ॥ ३८ ॥
अथैवंभावनाच्चाऽहं यदा तत्र चिरं स्थितः ।
तदाऽहं देहवान् दृष्ट इति मे प्रत्ययोऽभवत् ॥ ३९ ॥
तेनाऽहंप्रत्ययेनाऽथ शब्दं कर्तुं प्रवृत्तवान् ।
शून्य एव यथा सुप्तः स्वप्नोड्डीननरो रवम् ॥ ४० ॥
अथ पूर्वं कृतः शब्दो बालेनेव तदोमिति ।
ततः स एष ॐकार इति नीतः पुनः प्रथाम् ॥ ४१ ॥

इस तरह वस्तुतः चिदाकाशरूप सूक्ष्म शरीरधारी मैं ही अन्तःकरणरूपताको प्राप्त होकर स्थित हूँ ॥ ३७ ॥

चूँकि पवनसे भी सूक्ष्म केवल आकाशमात्र शून्य-स्वरूप मैं आकृतिशून्य ही हूँ, इसीलिए सभी कल्पित हो रहे भाव पदार्थोंका मैं न तो निरोधक हूँ और न निवारक ही हूँ ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उस पूर्वकल्पित ब्रह्मात्मक देहमें भावना करके जब मैं चिरकाल तक स्थित रहा, उस समय मुझे यह प्रतीति हुई कि मैंने स्वयं अपनेको ही चतुर्मुख देहवान् देखा है अर्थात् चतुर्मुख देहधारी मैं ही हूँ, ऐसी वृत्ति मुझमें उस समय उदित हुई ॥ ३९ ॥

वैसी वृत्ति होनेसे स्वप्नमें उड़कर आकाशमें सञ्चरण कर रहा सुप्त मनुष्य जैसे शब्द करता है उसी तरह मैंने भी शब्द करना शुरू किया ॥ ४० ॥

विशेष शब्दका अभिलाप करनेमें कोई विनिगमक न होनेके कारण सर्वसाधारण अर्थवाले शब्दसमष्ट्यात्मक ॐकारका ही मैंने पहले-पहल उच्चारण किया, यह कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद पहले-पहल मैंने बालककी नाईं जो शब्द किया वह ॐ था। वही शब्द आगे चल कर संसारमें 'ॐकार' इस नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ ॥ ४१ ॥

ततः स्वप्ननरेणेव यत्किञ्चिद् गदितं मया ।
तदेतद्विद्धि वाचं त्वं पश्चान्नीतां प्रथामिह ॥ ४२ ॥
ब्रह्मैव सोऽस्मि सम्पन्नः सृष्टेः कर्ता जगद्गुरुः ।
ततो मनोमयेनैव कल्पिताः सृष्टयो मया ॥ ४३ ॥
एवमस्मि समुत्पन्नो न तु जातोऽस्मि किञ्चन ।
दृष्टवानस्मि ब्रह्माण्डं ब्रह्माण्डान्तं न किञ्चन ॥ ४४ ॥
एवं जगति सम्पन्ने ममैतस्मिन् मनोमये ।
न किञ्चित्तत्र सम्पन्नं तच्छून्यं व्योम केवलम् ॥ ४५ ॥
इत्थं संशून्यमेवेदं सर्वं वेदनमात्रकम् ।
मनागपि न सन्त्येते भावाः पृथ्व्यादयः किल ॥ ४६ ॥

इसके पश्चात् स्वप्नावस्थामें स्थित मनुष्यके शब्दके समान पूर्व कल्पमें अभ्यस्त व्याहृति, गायत्री, वेदादि जो कुछ मैंने कहा, उसीको आप इस संसारमें वाणीरूप जानिये, जो पीछे वाणी नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई ॥ ४२ ॥

इस तरह सृष्टिका कर्ता जगद्गुरु मैं ब्रह्मा ही हो गया और इसके अनन्तर ब्रह्मशरीरको, जो कि मनोमय ही था, धारण करनेवाले मैंने सृष्टियोंकी कल्पना की ॥ ४३ ॥

इस तरह मैं ब्रह्मरूपसे समुत्पन्न हूँ, मैंने किसी दूसरी वस्तुके रूपमें जन्म नहीं लिया है। ब्रह्मस्वरूप होकर मैंने अपना ही स्थूलदेहभूत आवरणयुक्त ब्रह्माण्ड देखा। ब्रह्माण्डसे बहिर्भूत मैं कुछ नहीं देख सका ॥ ४४ ॥

इस प्रकार मेरे इस मनोमय जगत्के सम्पन्न हो जानेपर भी वास्तवमें कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ है। वह सब शून्य केवल आकाश ही था ॥ ४५ ॥

यही न्याय सारी सृष्टियोंमें जानना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'इत्थम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी प्रकार यानी मेरी इस सृष्टिके समान ही यह सब वेदनमात्र शून्य ही है। ये पृथिवी आदि भावपदार्थ तनिक भी नहीं हैं, यह बिलकुल निश्चित है ॥ ४६ ॥

जगन्मृगतृडम्बूनि भान्ति संविदि संविदः ।
न बाह्यमस्ति नो बाह्ये खे तद्व्योम तथा स्थितम् ॥ ४७ ॥
मरौ नास्त्येव सलिलं संवित्पश्यति तत्तथा ।
निर्मूलमन्तःसन्तप्ता स्वसंभ्रमवती भ्रमम् ॥ ४८ ॥
नास्त्येव ब्रह्मणि जगत्संवित्पश्यति तत्तथा ।
निर्मूलमेव संवित्त्वादेवं भ्रान्तेश्च सम्भ्रमम् ॥ ४९ ॥
असदेवेदमाभाति हृद्येव जगदाततम् ।
सङ्कल्पनमनोराज्यं यथा स्वप्नपुरादिवत् ॥ ५० ॥
पार्श्वसुप्तजनस्वप्नस्तच्चित्तावेशनं विना ।
यथा न किञ्चित्तच्चित्तावेशनादनुभूयते ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानस्वरूप परमात्मामें ज्ञान ही जगत्‌रूप मृगतृष्णाजल भासते हैं। यह हमारा बाह्य जगत् बाह्याकाशमें नहीं है, किन्तु ब्रह्माकाश ही वैसा स्थित है ॥ ४७ ॥

मरुस्थलमें जल बिलकुल नहीं है, किन्तु बिना कारणके ही अन्तःकरणसे क्षुब्ध हो अपनेमें संभ्रम धारण कर बुद्धि उसमें जल देखती है, लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धिका वैसा देखना वस्तुतः उसका भ्रम है, वह जलको नहीं देखती, बल्कि जलके भ्रमको वह उस तरह देखती है ॥ ४८ ॥

इसी तरह ब्रह्ममें जगत् नहीं है, यह बिलकुल सही है, फिर भी बिना कारणके ही अज्ञानावृत संवित्स्वभावसे संविदात्मा वैसा उसे देखती ही है। उसका वैसा देखना वस्तुतः उसकी भ्रान्ति है। वह एकमात्र अपनी भ्रान्तिसे वैसा संभ्रमको देखती है, न कि ब्रह्ममें जगत्‌को। अथवा यों कह सकते हैं कि वह ब्रह्ममें जगत् क्या देखती है, बल्कि भ्रान्तिका संभ्रम (विलास) देखती है॥४९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, असद्रूप ही यह जगत् अन्तःकरणमें ही ऐसे व्याप्त है जैसे सङ्कल्पप्रयुक्त मनोराज्य तथा स्वप्नकालमें निर्मित नगर आदि व्याप्त रहता है ॥ ५० ॥

जैसे समीपमें सोये हुए मनुष्यके स्वप्नका उसके (स्वप्नद्रष्टाके) चित्तमें प्रवेश किये बिना कुछ भी अनुभव नहीं किया जा सकता, परकायप्रवेश द्वारा उसके चित्तमें प्रवेश करनेसे तो उसका अनुभव किया जा सकता है, वैसे ही दर्पणसे जगत्‌कल्पनाके अधिष्ठानभूत चितिशिलामें प्रवेश किये बिना

तथा जगत्तद्दृषदं सम्प्रविश्याऽनुभूयते ।
आदर्शबिम्बिताकारं दृष्टमप्यन्यथाऽप्यसत् ॥ ५२ ॥
आधिभौतिकभावेन नेत्रेण यदि लक्ष्यते ।
तत्तन्न दृश्यते किञ्चिद्गिरिरेव प्रदृश्यते ॥ ५३ ॥
आतिवाहिकदेहेन परं बोधदृशा यदि ।
प्रेक्ष्यते दृश्यते सर्गः परमात्मैव चाऽमलः ॥ ५४ ॥
सर्वत्र सर्गनिर्वाणं प्रज्ञालोकेन लक्ष्यते ।
ब्रह्मात्मैवाऽन्यथा चेत्तन्न किञ्चिदभिलक्ष्यते ॥ ५५ ॥
यत्पश्यत्यवदाता धीः सोपपत्तिविचारणा ।
न तन्नेत्रैस्त्रिभिः शर्वो नेन्द्रो नेत्रशतैरपि ॥ ५६ ॥
यथा खमाद्भुतं सर्गैस्तथा भूरिति बुद्धवान् ।
तदाऽहमभवं ध्याता धराधारणयाऽन्वितः ॥ ५७ ॥

प्रतिबिम्बित आकारवाले जगत्का अनुभव नहीं होता चितिशिलामें प्रवेश कर उसका अनुभव होता है । दिखाई देनेपर भी वह वैसा नहीं है, किन्तु असत् ही है ॥ ५१,५२ ॥

यदि आप आधिभौतिक भावमय नेत्रसे देखना चाहें, तो वे शिलान्तर्गत तत्-तत् ब्रह्माण्ड आपको तनिक भी नहीं दिखाई दे सकते, एकमात्र लोकालोक पर्वतको ही आप देख सकते हैं ॥ ५३ ॥

आतिवाहिक देहसे यदि परमबोधदृष्टिसे देखा जाय, तो वह सृष्टि निर्मल परमात्मस्वरूप ही योगियोंको दिखाई देती है ॥ ५४ ॥

तत्त्वदृष्टिसे यदि देखा जाय, तो सृष्टिका निर्वाण एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही सर्वत्र दिखाई देता है । इससे विपरीत रूपसे देखनेपर तो वह कुछ भी नहीं अभिलक्षित होता ॥ ५५ ॥

तत्त्वदृष्टि और योगीकी दृष्टिकी सर्वोत्कृष्ट रूपसे प्रशंसा करते हैं— 'यत्पश्य०' इत्यादिसे ।

शुद्ध बुद्धि उपपत्ति तथा विचारयुक्त होकर जो देखती है, उसे अपने तीनों नेत्रोंसे न तो भगवान् शङ्करजी देख पाते हैं और न अपने हजार नेत्रोंसे इन्द्र भगवान् ही देख पाते हैं ॥ ५६ ॥

वहां जीवन्मुक्त योगियोंकी दृष्टिसे देख रहे स्वयं तत्त्वज्ञानी श्रीवसिष्ठजीको

तथा धराधारणया धरारूपधरोऽभवम् ।
अत्यजन्नेव चिद्व्योमवपुः सम्राडिवाऽचिरात् ॥ ५८ ॥
धराधारणया चैव धराधातूदरं गतः ।
द्वीपाद्रितृणवृक्षादिदेहोऽहमनुभूतवान् ॥ ५९ ॥
सम्पन्नोऽस्म्यथ भूपीठं नानावनतनूरुहम् ।
नानारत्नावलीव्याप्तं नानानगरभूषणम् ॥ ६० ॥

जब 'आकाशकी तरह यह सारी पृथिवी भी सृष्टियोंसे व्याप्त है' यह बुद्धि उदित हो गई तब क्रमशः पृथिवी आदि एक-एक भूतमें अहंभावकी धारणासे उन्होंने जो-जो कौतुक अपने-आप देखा उन सबका आगे चलकर वर्णन करेंगे। लेकिन सर्वप्रथम पृथिवीकी धारणासे जो उन्होंने देखा, उसीका वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

योगदृष्टिसे जब मैंने यह जान लिया कि जैसे सृष्टियोंसे व्याप्त आकाश है वैसे ही पृथिवी भी अनेक सृष्टियोंसे व्याप्त है, तब पृथिवीकी धारणासे युक्त मैं ध्याता होकर स्थित हुआ ॥ ५७ ॥

जैसे चक्रवर्ती राजा केवल स्वदेहमें अहंभावका त्याग न करता हुआ ही समस्त भूमण्डलके ऊपर ममताका भाव धारण करता है उसी तरह चिदाकाश शरीर मैं भी ब्रह्माहंभावका परित्याग न करता हुआ ही धराहंभावसे यानी 'पृथ्वी मैं ही हूँ' इस तरहकी पृथिवीमें अहंभावकी धारणासे पृथिवीरूपधारी बन गया ॥ ५८ ॥

तदनन्तर हे श्रीरामचन्द्रजी, उस पृथिवीकी धारणासे पृथिवीके अभिमानी जीवकी स्वरूपता प्राप्त कर द्वीप, पर्वत, तृण, वृक्षादिकी देहका मैंने अनुभव किया ॥ ५९ ॥

जो श्रीवसिष्ठजीने अनुभव किया, उसका वे वर्णन करते हैं—'सम्पन्नो०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तब मैं नाना प्रकारके वन तथा वृक्षरूपी रोमोंसे परिपूर्ण, अनेक तरहकी रत्नावलियोंसे व्याप्त तथा नाना तरहके नगररूपी आभूषणोंसे सुशोभित भूतलस्वरूप हो गया* ॥ ६० ॥

---

* यहाँसे शुरू करके इस सर्गके अन्ततक देहाधारसे भूपीठका ही वर्णन करते हैं।

ग्रामगह्वरपर्वाढ्यं पातालसुषिरोदरम् ।
कुलाचलभुजाश्लिष्टद्वीपाब्धिवलयान्वितम् ॥ ६१ ॥
तृणौघतनुरोमाढ्यं गिरिखण्डकगुल्मकम् ।
दिग्वारणकटव्यूहधृतं शेषशिरःशतैः ॥ ६२ ॥
ह्रियमाणं महीपालैः शोभमानेभतन्तुभिः ।
प्राणिभिर्भुज्यमानाङ्गं वर्धमानं व्यवस्थया ॥ ६३ ॥
हिमवद्विन्ध्यसुस्कन्धं सुमेरूदारकन्धरम् ।
गङ्गादिसरिदापूरमुक्ताहाररणत्तनुम् ॥ ६४ ॥
गुहागहनकच्छादिसागरादर्शमण्डलम् ।
मरूषरस्थलश्वेतसुवराम्बरसुन्दरम् ॥ ६५ ॥
भूतपूर्वैः परापूर्णं परिपूतं महार्णवैः ।
अलङ्कृतं पुष्पवनैः समारब्धं रजोघनैः ॥ ६६ ॥

मैं अनेक गाँव-गुफारूपी पर्वोंसे परिपूर्ण, पातालबिलरूपी उदरसे युक्त, सात कुलपर्वतरूपी भुजाओंसे आश्लिष्ट द्वीप तथा समुद्ररूपी कङ्कणोंसे अन्वित भूपीठ हो गया ॥ ६१ ॥

भूपीठरूप मैं दिग्गजोंके मस्तक समूहों तथा शेषनागके हजार सिरोंसे थामा गया, तृणोंके समुदायरूप सूक्ष्म रोमोंसे खूब ढका गया और गुल्मरोगकी गांठोंकी तरह पर्वतोंके समूह मुझमें दिखाई देने लगे ॥ ६२ ॥

सेनासमूहरूपी तन्तुओंकी गांठ-जैसे जिनके हाथी खूब सुशोभित हो रहे थे, ऐसे अनेक राजे परस्पर युद्ध द्वारा भूपीठरूप मेरा हरण करने लगे, अनेक प्राणियोंसे मेरा अङ्ग उपभुक्त होने लगा और ग्राम, नगर तथा प्रदेश आदिकी व्यवस्थासे मैं खूब बढ़ने लग गया ॥ ६३ ॥

हिमालय तथा विन्ध्याचल मेरे सुन्दर कन्धे थे, सुमेरु पर्वत ऊँची गर्दन था, गङ्गा, यमुना आदि नदियोंके प्रवाहरूपी मुक्ताहारोंसे मेरा शरीर झङ्कारयुक्त हो उठा ॥ ६४ ॥

गुहाओंसे गहन कछार आदि देशों तथा आदर्श-मण्डल-जैसे अनेक सागरोंसे मैं परिपूर्ण हो गया और मरुदेश तथा ऊषर स्थलरूपी सफेद सुन्दर वस्त्रोंसे भासित होने लगा ॥ ६५ ॥

पहले पैदा हो चुके महासागरोंसे प्रलयकालमें बिलकुल परिपूर्ण, परन्तु इस

नित्यं कृषीवलैः कृष्टं वीजितं शिशिरानिलैः ।
तापितं तपनैस्तप्तैरुक्षितं प्रावृडम्बुभिः ॥ ६७ ॥
विपुलाग्रस्थलोरस्कं पद्माकरकृतेक्षणम् ।
सितासितघनोष्णीषं दशाशोदरमन्दिरम् ॥ ६८ ॥
लोकालोकमहाखातवलयोग्रास्यभीषणम् ।
अनन्तभूतसंघातपरिस्पन्दैकचेतनम् ॥ ६९ ॥
व्याप्तमन्तर्बहिश्चैव नानाभूतगणैः पृथक् ।
देवदानवगन्धर्वैर्बहिरन्तस्तु कीटकैः ॥ ७० ॥

समय तो स्नानकर ऊपर आये हुएके समान सब ओरसे मैं पवित्र, पुष्पोंकी वन-मालाओंसे अलंकृत तथा चन्दनकी जगहपर स्थित सघन धूलियोंसे लिप्त था ॥६६॥

कृषक सब मेरे ऊपर प्रतिदिन हल जोतने लग गये और शीतल पवन पङ्खा डुलाने लगे। मैं सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तापित तथा वर्षाके जलसे सिक्त होने लग गया ॥ ६७ ॥

विशाल, सम भूप्रदेशरूपी वक्षःस्थलसे अलङ्कृत, पद्माकाररूपी नेत्रोंसे भूषित, सफेद और काले मेघरूपी* पगड़ीसे सुशोभित तथा दसों दिशाओंका उदर ही मेरा मन्दिर (घर) था ॥ ६८ ॥

मैं लोकालोक पर्वतके समीपमें स्थित, जिसका मैंने आपसे पहले वर्णन किया है, महाखातवलयरूप † उग्र मुखसे भीषण हो गया। उस समय अनन्त प्राणिसमूहोंका परिस्पन्दन ही मेरा परिस्पन्दन तथा उनका एकीभूत चेतन ही मेरा चेतन हुआ ॥ ६९ ॥

नानाविध पृथक्-पृथक् भूत समूहरूपी कीड़ोंसे बाहर तथा भीतरसे मैं व्याप्त हो गया अर्थात् उन प्राणियोंमें जो देव, दानव तथा गन्धर्व थे, उनसे तो बाहरसे व्याप्त हुआ तथा जो साधारण नानाविध कृमि, कीट आदि थे उनसे भीतरसे मैं व्याप्त हो गया। मेरे कहनेका तात्पर्य यह कि भूतलरूप मुझमें बाहर तथा भीतरसे अनेक तरहके प्राणियोंका समुदाय ठसा-ठस भर गया ॥ ७० ॥

* यहाँ प्रकरणवश सित और असित घनसे सूर्य और चन्द्रका ग्रहण है।
† विशाल खन्दकके मण्डलरूप।

पातालेन्द्रियरन्ध्रेषु नागासुरकृमिव्रजैः ।
सप्तस्वर्णवकोशेषु नानाजातिजलेचरैः ॥ ७१ ॥

व्याप्तं नदीवनसमुद्रदिगन्तशैल-
द्वीपाख्यजन्तुविषयस्थलजङ्गलौघैः ।
नानावलीवलितमण्डलकोशखण्डं
वल्लीसरःसरिदरातिगणाब्जखण्डैः ॥ ७२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदानन्त्यप्रतिपादनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

भूतलरूप मैं पातालरूपी इन्द्रियछिद्रोंमें नागों तथा असुररूपी कृमिसमूहोंसे एवं सात समुद्रोंके अन्दर स्थित जलचरोंसे व्याप्त हो गया ॥ ७१ ॥

अपनी कही हुई बातोंका संक्षेपसे उपसंहार करते हुए श्रीवसिष्ठजी अनेक विशेषणोंसे भूतलरूप अपनेको विभूषित करते हैं—'व्याप्तम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, [आपसे अधिकमें क्या कहूँ, संक्षेपमें मैं आपसे यही कह देना उचित समझता हूँ कि] भूतलरूप मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीपनामक प्राणियोंके भोग्य स्थल और जङ्गलोंके समूहोंसे व्याप्त हो गया । नाना प्रकारके पर्वत, नदी आदिकी पंक्तियों तथा जनपंक्तियोंसे वेष्टित मण्डलकोशोंके अनेक खण्ड मुझमें दिखाई देने लगे तथा लताओं, अनेक सरोवरों, सरिताओं, शत्रुसमूहों एवं असंख्य कमलखण्डोंसे मैं व्याप्त हो गया ॥ ७२ ॥

सतासी सर्ग समाप्त

अष्टाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भूपीठेन सता तत्र मया तदनु मानव ।
अनुभूतं नदनदीस्वसंवेदनसंस्थितेः ॥ १ ॥
क्वचिन्मरणसाक्रन्दनारीकरुणवेदनम् ।
क्वचिदुत्ताण्डवस्त्रैणमहोत्सवमहासुखम् ॥ २ ॥
क्वचिद् दुर्वारदुर्भिक्षदुराक्रन्दं दुरीहितम् ।
क्वचित्सकलसस्यौघसंपन्नघनसौहृदम् ॥ ३ ॥
क्वचिदग्निमहादाहदग्धदेहोग्रवेदनम् ।
क्वचिज्जलप्लवालूनपुरपत्तनखण्डकम् ॥ ४ ॥

अठासी सर्ग

[अपने शरीररूप भूपीठपर जहाँ तहाँ विद्यमान तथा कौतुकवश आखों देखे गये विशेष-विशेष पदार्थोंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे मनुकुलमें उत्पन्न श्रीरामजी, जिस तरह मैंने आपसे वर्णन किया, उस तरह मैं भूपीठरूप बन गया। उसके बाद यानी पूर्ववर्णित साधारणरूपसे समस्त भूधर्मोंसे घटित अपनी देहको देखनेके बाद नद, नदी, समुद्र आदि विशेषाकारोंको जाननेकी इच्छासे मैंने जैसा अनुभव किया, उसे आप सुनिये ॥ १ ॥

कहींपर तो भूपीठमें पति, पुत्र, भाई आदिके मरणसे विलाप कर रही स्त्रियोंकी करुणवेदना सुनाई देती थी, तो कहींपर उन्नत ताण्डव नृत्य कर रही रमणियोंके महान् उत्सवोंसे आनन्दकी धूम मची थी ॥ २ ॥

कहींपर दुर्निवार दुर्भिक्षके कारण बीभत्स क्रन्दन हो रहा था, कहींपर दुष्ट चेष्टाओंका जाल बिछा था, कहींपर सुवृष्टिके कारण फले हुए धानोंकी सम्पत्तिसे चारों ओर घन सौहार्द निखर रहा था ॥ ३ ॥

कहींपर अग्निके महादाहसे देहोंके जल जानेके कारण लोग उग्र वेदनासे छटपटा रहे थे, तो कहींपर जलकी बाढ़से नगर एवं कसबोंके कुछ हिस्से छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ ४ ॥

क्वचिच्चपलसामन्तकृतलुण्ठनमण्डलम् ।
क्वचिदुद्दामदौरात्म्यरक्षःपैशाचमण्डलम् ॥ ५ ॥
क्वचिज्जलाशयोल्लासवेल्लनोत्पुलकाग्रकम् ।
कन्दरोदरनिष्क्रान्तवातवेल्लितवारिदम् ॥ ६ ॥
संविद्धोधोन्नमत्स्वाङ्गकेशोत्थाङ्कुरलोमकम् ।
वारिवाहनविक्षोभनतोन्नतलसत्तलम् ॥ ७ ॥
सम्भृङ्गभैरवश्वभ्रपुराद्रिवनपत्तनम् ।
संविन्मण्डलसञ्चाललेखाङ्कमृदुकल्पनम् ॥ ८ ॥
क्वचित्सामन्तसंक्षुब्धसैन्यसंहरणं रणे ।
क्वचित्सौम्यसुखासीनसर्वसामन्तमण्डलम् ॥ ९ ॥
अरण्यं क्वचिदाशून्यमुल्लसद्वातझङ्कृति ।
जङ्गलं क्वचिदालूनव्युप्तसंपन्नसस्यकम् ॥ १० ॥

कहींपर जिलेके जिले चञ्चल सामन्तोंके द्वारा लूट लिये गये थे, तो कहींपर जिलेके जिले परले सिरेके दुरात्मा राक्षस एवं पिशाचोंसे भरे पड़े थे ॥ ५ ॥

कहींपर जलाशयोंकी पूर्तिसे क्यारियों एवं बगीचोंका सिञ्चन हो जानेके कारण सस्य, गुल्म आदिका अग्रभाग बड़ा ही पुलकित प्रतीत हो रहा था, कहींपर गुफाओंके उदरच्छिद्रसे निकली हुई वायुने मेघमण्डलको वेष्टित कर रक्खा था ॥ ६ ॥

कहींपर मारे हर्षके पुलकित अपने अङ्ग-केशोंके सदृश अङ्कुररूपी रोम उगे हुए थे, कहींपर जलके जबरदस्त प्रवाहसे उत्पन्न विक्षोभके कारण भूतल ऊँचा नीचा हो रहा था और इससे भला लगता था ॥ ७ ॥

कहींपर नगर, पर्वत, वन और पत्तनोंके अन्दर गड्ढे हो गये थे, इन गड्ढोंके भीतर बड़ी बड़ी शिलाएँ पड़ी थीं, इससे वे गड्ढे एक प्रकारसे सश्रृङ्गसे अतएव अत्यन्त भयङ्कर लगते थे। कहींपर नगर आदिमें रहनेवाले मनुष्योंके मण्डलोंके सञ्चलनमें उनके पैरकी रेखाके चिह्न पड़नेकी शङ्कासे भूतल कुछ मृदु कम्पन भी कर रहा था ॥ ८ ॥

कहींपर रणमें सामन्तों द्वारा क्षुब्ध सैन्यका संहार किया जा रहा था, कहींपर शान्त समस्त सामन्तसमूह सुखपूर्वक बैठा हुआ था ॥ ९ ॥

कहींपर चारों ओर जनतासे शून्य जङ्गल ही जङ्गल था, उसमें उल्लासी

हंसकारण्डवाकीर्णसरः फुल्लाम्बुजं क्वचित् ।
क्वचिन्मरुस्थलस्थूलस्तम्भनार्जुनमारुतम् ॥ ११ ॥
क्वचिन्नदनदीवाहहेलानिकषघर्घरम् ।
क्वचिदङ्कुरकार्याङ्गसिक्तबीजस्य जृम्भणम् ॥ १२ ॥
क्वचिदन्तस्तु कीटास्यमृदुस्पन्दनवेदनम् ।
मां त्वमेवाऽऽशु बुद्ध्वेह त्रायस्वेतीव बोधनम् ॥ १३ ॥
शाखापरिकराभोगं मृद्भागाङ्गनिपीडनैः ।
मूलजालमवष्टभ्य क्वचिद् विटपधारिणम् ॥ १४ ॥
अन्योन्यमलमाक्रम्य दिक्तटाङ्गनिपीडनैः ।
क्वचिदद्रयश्मनिबिडैरर्णवोल्लासवेल्लितम् ॥ १५ ॥

वायुओंके झकोरोंसे झङ्कार हो रहा था । कहींपर जङ्गलमें पहले काटा गया फिर बोया गया, फिर तयार हुआ धान दीख पड़ता था ॥ १० ॥

कहींपर हंस, बतक आदि पक्षियोंसे व्याप्त सरोवरोंमें सुन्दर सुन्दर कमल खिले थे, कहींपर मरुभूमिमें आंधोसे उड़ी हुई धूलियोंसे स्थूल खम्भोंको पैदा करनेवाले धूलिधूसर वायु बह रहे थे ॥ ११ ॥

कहींपर नद, नदी आदिके प्रवाहोंके खेलपूर्वक परस्पर सङ्घर्षोंसे घर-घर ध्वनि हो रही थी, कहींपर अङ्कुर आदिकी उत्पत्तिके निमित्त नहर, अरहट आदि यन्त्रोंसे सींचे गए खेतमें धान आदि बीजोंका वर्धन हो रहा था ॥ १२ ॥

कहींपर भीतर कीटमुखोंका मृदु स्पन्दन अनुभूत हो रहा था और कहींपर कीड़े हे श्रीवसिष्ठजी, मुझे यहां शिला आदिके सङ्कटमें फँसा हुआ जानकर आप ही मेरी रक्षा कीजिये यों जता रहे थे ॥ १३ ॥

भद्र, कहींपर वटवृक्षोंके जङ्गलमें पृथ्वीमें शिखाओंके घुस जानेके कारण मृत्तिकाभागके अङ्गोंको पीड़ित करनेवाले शाखासमूहोंका विशालस्वरूप दीख पड़ता था, तो कहींपर मूलजालको पकड़कर वृक्षोंका धारण दिखाई देता था ॥ १४ ॥

कहींपर पर्वतोंकी शिलाओंके सदृश घनीभूत वृक्षोंने परस्पर अत्यन्त संश्लिष्ट होकर दशाओंके तटरूप अङ्गोंको भर दिया था, इससे समुद्रके विलाससे वेष्टित-सा सारा भूपीठ भास रहा था ॥ १५ ॥

शुष्कपल्लवसंकोचनिबिडाङ्गनिपीडनम् ।
अमर्षणैः करैरार्कैः स्वरसाकर्षणं क्वचित् ॥ १६ ॥
श‍ृङ्गमन्दिरमातङ्गप्रहाराशनिभूरुहाम् ।
निबिडाङ्गोत्कटस्थैर्यपरुषापतनं क्वचित् ॥ १७ ॥
निमीलितेक्षणानन्दतनूनामसमाक्रमम् ।
क्वचित्सूक्ष्मतरोल्लेखमङ्कुरोल्लासनं नवम् ॥ १८ ॥
मक्षिकायौकमशकनिवाससदृशं क्वचित् ।
कुड्यलेशकुभृङ्गारिहलहेलानिकर्षणम् ॥ १९ ॥
शीतं शीतविशीर्णाङ्गजर्जरत्वग्विकीर्णवत् ।
पाषाणीभूतसलिलं क्वचित् परुषमारुतम् ॥ २० ॥

कहींपर इतने घने वृक्ष उगे थे कि पृथ्वीपर सूर्य अपनी किरणोंको ठीक ठीक रीतिसे फैला नहीं सकता था, इसलिए अपनी गतिको रोकनेके अपराधसे क्रुद्ध सूर्य-किरणोंके द्वारा अपना रस खींच लेनेके कारण अरण्यमें सूखे पल्लव सङ्कुचित हो गये थे और घने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका निपीडन भी हो रहा था ॥ १६ ॥

कहींपर पर्वतोंकी चोटियोंपर रहनेवाले हाथियोंके दन्तप्रहाररूप वज्रोंके कठोर आघात वृक्षोंके घने अवयवोंमें विद्यमान दृढ़ स्थिरताकी ओर होते भी मैंने देखे ॥ १७ ॥

कहींपर यह दृश्य देखा कि नेत्रोंको मूँदे हुए प्रसन्नशरीर समाधिनिष्ठ महात्माओंको अपूर्व रामाङ्कुरोंका चमत्कारी उल्लास हो रहा है। वह रोमाङ्कुरोल्लास सूचित करता था कि उनको सूक्ष्मतत्त्वका अनुभव हो गया है ॥ १८ ॥

कहींपर मक्खी, जूं एवं मच्छरोंके समूहोंके निवासके—मैले-कुचैले वस्त्रके—सरीखा ही भूतल था और कहींपर तो छोटी-मोटी भित्तियोंके खण्डों तथा प्रमादसे कमलकोशमें सोये हुए दुष्ट भ्रमरोंको मर्दित करनेके कारण शत्रुरूप हाथियों द्वारा क्रीडासे हलके सदृश वप्र आदिका कर्षण भी हो रहा था ॥ १९ ॥

कहींपर हिमालय आदि प्रदेशोंमें शीत शीतसे छिन्न-भिन्न अङ्गोंवाले जीवोंकी जर्जर हुई त्वचाको पूर्णरूपसे व्याप्तकर स्थित था, कहींपर जलको भी पाषाण बना रहा था और कहींपर कठोर पवन चल रहा था ॥ २० ॥

उद्दालीभूतमृद्वङ्गमज्जदन्तःकृमिव्रजम् ।
क्वचिदुद्भवदङ्गादिमूलं जलनिमज्जनम् ॥ २१ ॥
शनैरन्तर्निलीनाम्बुकृताह्लादं बहिश्वर-
सोन्नामाङ्कुररोमौघं क्वचिद् वर्षविजृम्भितम् ॥ २२ ॥
तनुतरपवनविकम्पितकोमलनलिनीदलास्तरणैः ।
विहरणमिव मे विहितं सरोभिरङ्गेषु निर्वाणम् ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० भूमण्डलगतविशेषवर्णनं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

—:०:—

एकोननवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

पार्थिवीं धारणां बद्ध्वा जगन्ति समवेक्षितुम् ।
संपन्नस्त्वमसौ भूमिलोकः किमुत मानसः ॥ १ ॥

कहींपर विदलित कोमल अङ्गोंके भीतर कीटसमूह घुस रहा था, कहींपर अङ्ग आदि उत्पन्न ही हो रहे थे और कहीं जलमें मज्जन ही हो रहा है—इस प्रकार मैंने अपने भूतलरूप शरीरमें अनुभव किया ॥ २१ ॥

भद्र, अपने भूतलरूप शरीरमें मैंने कहींपर यह अनुभव किया कि बीजोंमें वृष्टिकी अधिकता हुई, इससे धीरे धीरे उनके भीतर प्रविष्ट जलकणोंसे पहले आह्लाद हुआ, फिर उसके बाद उनके बाहर प्रकट हुए अङ्कुररूपी रोमोंकी अभिवृद्धि हुई ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, मेरे भूतलरूप अङ्गोंमें कहींपर सरोवरोंने मन्द-मन्द पवनसे हिलाये गये कोमल कमलनियोंके दलोंके आस्तरणों द्वारा अपूर्व आनन्दरूप क्रीडाका, मानो मेरे लिए, निर्माण कर दिया ॥ २३ ॥

अठासी सर्ग समाप्त

नवासी सर्ग

[भूमिकी धारणासे चिदाकाशमें देखा गया यह भूमण्डल तथा सम्पूर्ण जगत् मनोमात्र है, यह वर्णन]

श्रीरामभद्रने कहा—गुरुवर, कौतुकसे अपनी आत्मामें सकल जगतोंको देखनेके लिए प्रवृत्त हुए आप पार्थिव धारणा बाँधकर क्या हम लोग जिस मृत्पाषाणादिरूप

१—'बहिश्वरसोन्नामाङ्कुररोमौघम्' तक समस्त पद है ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

इदं च मानसं चाऽहं संपन्नः पृथुभूतलम् ।
नेदं न मानसं नैव संपन्नो वस्तुतस्त्वहम् ॥ २ ॥
अमानसं महीपीठं न संभवति किंचन ।
यदसद्धेत्सि यत्सद्वा मनोमात्रकमेव तत् ॥ ३ ॥
चिदाकाशमहं शुद्धं तस्य मे तत्पदात्मनः ।
यच्चिन्मात्रात्मकचनं तत्संकल्पाभिधं स्मृतम् ॥ ४ ॥
तन्मनस्तन्महीपृष्ठं तज्जगत्स पितामहः ।
संकल्पपुरवद्व्योम्नि कचत्येतन्मनोनभः ॥ ५ ॥

भूलोकको देख रहे हैं, तद्रूप हो गये अथवा मनोमात्रमय यानी मनोराज्यके सदृश मृत्तिकादिशून्य स्वप्नमय भूलोक हो गये ? यह कहिये ॥ १ ॥

काल्पनिक दृष्टिसे या तात्त्विक दृष्टिसे यदि विचारा जाय, तो उक्त दो प्रश्नोंमें कोई भेद ही नहीं है, यह सूचित कर रहे श्रीवसिष्ठजी उक्त प्रश्नका उत्तर देते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यदि आप काल्पनिक दृष्टिसे पूछते हैं, तो आपकी दृष्टिसे प्रसिद्ध मिट्टी, पत्थर आदि रूपसे प्रसिद्ध जो भूमण्डल है, वही केवल मनका विकार होनेसे मानस भी है, इसलिए मैं जो विस्तृत भूमण्डलरूप हो गया, वह मानस और यह प्रसिद्ध—दोनों रूप ही बन गया था। यदि आप तात्त्विक दृष्टिसे पूछते हैं, तो वास्तवमें न तो मैं मानसरूप हुआ और न प्रसिद्ध जगद्रूप ही हुआ था ॥२॥

दूसरे श्लोकमें पूर्वार्धसे जो कहा, उसका प्रतिज्ञापूर्वक समर्थन करते हैं—'अमानसम्' इत्यादिसे ।

यदि आप सत् मानते हैं या यदि असत् मानते हैं, दोनों ही पक्षोंमें यह भूपीठ कुछ भी अमानस हो ही नहीं सकता। यह केवल मनकी कल्पना ही है, क्योंकि मनके अस्तित्वमें ही उसमें अस्ति-नास्ति कल्पना होती है ॥ ३ ॥

भद्र, मैं शुद्ध चिदाकाश ही हूँ, उस चिदाकाशरूप मुझमें जो चिदात्माका कुछ स्फुरण हो जाता है, उसीका नाम सङ्कल्प कहा गया है ॥ ४ ॥

वह (प्रसिद्ध) मन, वह भूमण्डल, वह जगत् और वह (प्रसिद्ध) पितामह—ये सबके सब चिदाकाशमें, आकाशमें सङ्कल्पनगरके सदृश, केवल मनरूप नभ स्फुरित होते हैं, अतः ये मनोमय ही हैं ॥ ५ ॥

एवं संकल्पमात्रं मे मनोमात्रं तदाततम् ।
धारणाभ्याससंपुष्टं भूमण्डलमिति स्थितम् ॥ ६ ॥
नेदं भूमण्डलं तद्वै तदन्यद्धि मनोमयम् ।
आकाशमात्रकचनमचेत्यं कचनं चितेः ॥ ७ ॥
तदेवाऽऽकाशमात्रात्म तथाभूतं चिरं स्थितम् ।
इदंप्रत्ययलब्धत्वान्मानसत्वं समुज्झति ॥ ८ ॥

इस तरह वह जो कुछ मैं बन गया, वह सब मेरा सङ्कल्प था, अतः वह विस्तृत मनोरूप ही रहा। केवल धारणाभ्याससे पुष्ट होकर वह भूमण्डल होकर स्थित हो गया था ॥ ६ ॥

अथवा अज्ञानियोंकी दृष्टिसे प्रसिद्ध मिट्टी, काठ आदिरूपता जो लोकमें है, उसका तो 'अपागादग्नेरग्नित्वम्' इत्यादि श्रुतिसे निषेध किया गया है, अतः तत्त्वज्ञकी धारणामें जो कुछ देखा जाता है, उसका स्वरूप अज्ञानियोंकी दृष्टिसे प्रसिद्ध स्वरूप नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—'तदेवा०' इत्यादिसे ।

भद्र, वह मानस भूमण्डल मिट्टी, पत्थर आदिरूप यह भूमण्डल नहीं है, उससे विलक्षण मनोमय है, चिदाकाशमात्रका स्फुरण है, चितिका अचेत्य (चेत्यभिन्न) स्फुरण है ॥ ७ ॥

यदि अमूर्त्त चिदाकाशका स्फुरण ही इस तरहका यह सब कुछ है, तब वह मूर्तरूप इदंप्रत्ययको (साकार 'यह' व्यवहारको) क्यों धारण करता है, इसपर कहते हैं—'तदेवा०' इत्यादिसे ।

चिदाकाशमात्रस्वरूप होता हुआ वह दीर्घकालतक वैसा ही स्थित रहता है, धारणाके अभ्याससे पुष्ट होकर जब 'इदम्' (यह) व्यवहारसे उसका अनुभव होने लगता है तब वह मानसत्वका (मनोमयरूपताका) परित्याग कर देता है। सारांश यह है कि स्वप्न आदिमें केवल मानसरूप अतएव अस्थूल पृथ्वी आदिका जाग्रत्के सदृश 'इदम्' व्यवहारसे ही अनुभव होता है, इसलिए उनमें मनोमयता रहनेपर भी तिरोहित हो जाती है, इस स्थितिमें दूध जब दधिरूपमें बन जाता है, तब उसमें जैसे दूध स्वरूपताका अनुभव नहीं होता, वैसा यहाँ मानसत्वका अनुभव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिए, किन्तु यही कहना चाहिए कि, तरङ्ग, कुण्डल एवं साड़ीके रूपमें ही जैसे जल, सुवर्ण एवं कपासरूपता है, वैसे ही यहाँपर मानसत्व है ही, किन्तु उक्त व्यवहारके बलसे वैसा अनुभव नहीं होता, यह जानना चाहिए ॥ ८ ॥

इदं स्थिरं सुकठिनं विततं भूमिमण्डलं ।
अस्तीति जायते बुद्धिर्व्योम्नीव चिरवेदनात् ॥ ९ ॥
न्यायेनेदमिवाऽनेन न स्थितं वसुधातलम् ।
इदं चैवैकमेवाऽद्य सर्गस्याऽऽद्यमुपागतम् ॥ १० ॥
यथा स्वप्ने पुरत्वेन चिदेव व्योम्नि भासते ।
तथा चिदेव सर्गादाविदं जगदिति स्थितम् ॥ ११ ॥
विद्धि चिद्रूपबालस्य मनोराज्यं जगत्त्रयम् ।
महीतलादिकं दृश्यमिदं सर्वं च सर्वदा ॥ १२ ॥
चिद्रूपस्याऽऽत्मनो नाऽन्यः
संकल्पस्तन्मयं जगत् ।
वस्तुतस्तु न सत्यात्म
न पिण्डात्म न भासुरम् ॥ १३ ॥

भद्र, यह भूमण्डल स्थिर, अत्यन्त कठोर, अतिविस्तारवाला है, इस प्रकारकी बुद्धि, आकाशमें नीलताबुद्धिके सदृश, चिरकालके अभ्याससे ही उत्पन्न होती है ॥९॥

हे रघुवर 'घट आदि तो केवल वाणीके ही विकार हैं, वास्तवमें तो वे कुछ नहीं है, मिट्टीरूप ही हैं, मिट्टी ही सत्य है'। इस श्रुतिदर्शित न्यायसे यदि देखा जाय, तो अज्ञानियोंकी दृष्टिसे प्रसिद्ध इदंरूप यह पृथ्वीतल है ही नहीं, किन्तु मनोरूप आदि सृष्टिका जो सूक्ष्मरूप एक ही था, वही 'त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्' इस श्रुतिसे उपदर्शित यों इदम् स्थूलरूप बनकर स्थित है ॥ १० ॥

'इदंप्रत्ययलब्धत्वात्' (इदं व्यवहारसे उसका अनुभव होनेसे) इस उक्तिको स्पष्ट करते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे।

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही नगरके रूपसे चिदाकाशमें भासता है, वैसे ही सृष्टिके आदिमें चिदाकाश ही इस स्थूल जगत्के रूपसे चिदाकाशमें स्थित है ॥ ११ ॥

हे रामजी, चितिरूपी बालकका (ब्रह्माजीका) त्रिजगत्, यह भूतल आदि सब दृश्य भी सदा एक मनोराज्य ही है, यह आप जानिए ॥ १२ ॥

चिद्रूप आत्माका सङ्कल्प चिद्रूपसे भिन्न नहीं है, इसलिए जगत् तन्मय ही है। वस्तुतस्तु जगत् न तो सत्यरूप है; न पिण्डरूप है और न भासमान ही है ॥ १३ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे यदि निष्कर्ष निकाला जाय, तो यह जगत् अज्ञातचितिरूप

दृश्यमस्त्यपरिज्ञातं परिज्ञातं न विद्यते ।
परिज्ञातं तदेवाऽस्य शृणोषि यदिदं चिरम् ॥ १४ ॥
सर्वं चिन्मात्रमाशान्तं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ।
भूमण्डलात्म दृश्यात्म द्वैतैक्याभ्यां विवर्जितम् ॥ १५ ॥
मणिर्यथा स्वभावेन शुक्लपीतादिकास्त्विषः ।
अकुर्वन्नेव कुरुते चिदाकाशस्तथा जगत् ॥ १६ ॥
यतो न किंचित्कुरुते न च रूपं समुज्झति ।
तस्मान्न मानसं नेदं किंचिदस्ति महीतलम् ॥ १७ ॥
महीतलमिवाऽऽभाति चिद्व्योमैव निरन्तरम् ।
आत्मन्येवाऽतलं व्योम यथाऽमलतलं स्थितम् ॥ १८ ॥

ठहरता है और तत्त्वदृष्टिसे निष्कर्ष निकाला जाय, तो शुद्ध चिन्मात्ररूप ही ठहरता है, इस आशयसे कहते हैं—'**दृश्य०**' इत्यादिसे ।

यह दृश्य अपरिज्ञात चेतनमात्ररूप है और चेतनका परिज्ञान हो जानेपर तो कुछ भी नहीं है । तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर तो तत्त्व वस्तु ही इसका स्वरूप बन जाती है। भद्र, इसका मैं दीर्घकालसे उपदेश दे रहा हूँ और आप उसे सुनते भी हैं, फिर आप क्यों प्रबुद्ध नहीं होते ॥ १४ ॥

किस तरहका ज्ञान हो जानेपर जगत् चेतनमात्ररूप बन जाता है, इसपर कहते हैं—'**सर्वम्**' इत्यादिसे ।

सब कुछ चारों ओरसे शान्त चिदाकाशमात्ररूप ही है, अपने आप ही आत्मामें वह स्फुरित होता है, भूमण्डलरूप और दृश्यरूप चिति ही है, जो द्वैत एवं एकतासे रहित है ॥ १५ ॥

जैसे वैडूर्य आदि मणि कुछ व्यापार न करती हुई भी स्वभावतः शुक्ल, पीत आदि किरणोंका निर्माण करती है, वैसे ही चिदाकाश भी कुछ व्यापार न कराता हुआ ही इस जगत्का स्वभावतः निर्माण करता है ॥ १६ ॥

'**नेति नेति**' इत्यादि श्रुतिका पर्यालोचन द्वारा उपसंहार करते हैं—'**यतः**' इत्यादिसे ।

चूँकि चेतनरूप आत्मा न कुछ करता है और न अपना असली स्वरूप छोड़ता है, इसलिए न तो यह मृत्पाषाणादिमय महीतल कुछ है और न मनोमय ही कुछ है ॥ १७ ॥

निरन्तर चिदाकाश ही महीतलके सदृश भासता है, तलभावशून्य चिदाकाश ही

स्वभावमात्रकचनं तत्तदेव यथास्थितम् ।
भूमण्डलमिवाऽत्यच्छं खमेव विशतान्तरम् ॥ १९ ॥
इदं भूमण्डलं तच्च द्वयमेतन्महाचितेः ।
स्वरूपमेव कचति तव स्वप्नपुरं यथा ॥ २० ॥
इदमाकाशमात्रात्म तदप्याकाशमात्रकम् ।
अज्ञानात्म परिज्ञानाज्ज्ञानान्नेदं न तत्क्वचित् ॥ २१ ॥
त्रैलोक्यभूतजालानां कालत्रितयभाविनाम् ।
संभ्रमः स्वप्नसंकल्पो मनोराज्यदशास्थितौ ॥ २२ ॥
भूतान्यथो भविष्यन्ति वर्तमानानि यानि च ।
भूमण्डलानि तान्यङ्ग सत्ता सामान्यतां गता ॥ २३ ॥

अपने स्वरूपमें स्वभावतः निर्मलतल होकर स्थित है ॥ १८ ॥

प्रसिद्ध यह यथास्थित जगत् और वह धारणाकल्पित जगत् दोनों एकमात्र आत्माका स्वाभाविक स्फुरणमात्र ही है, अत्यन्त निर्मल चिदाकाश ही भेदमें प्रवेश कर रहे स्वभावके बलसे यानी मायाबलसे भूमण्डल-सा बनकर स्थित है ॥ १९ ॥

चितिके विवर्तभावमें धारणाकल्पित (समाधिकल्पित) भूमण्डल और यह प्रत्यक्ष भूमण्डल दोनों ही समान हैं, यह कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

यह प्रत्यक्ष भूमण्डल और वह धारणाकल्पित भूमण्डल—दोनों ही महाचितिके स्वरूपभूत होकर ऐसे स्फुरित होते हैं, जैसे आपका स्वरूपभूत स्वप्नगर होकर स्फुरित होता है ॥ २० ॥

यह प्रसिद्ध भूतल चिदाकाशमात्ररूप है और मेरी धारणासे कल्पित भूतल भी चिदाकाशमात्ररूप है। परन्तु वह जो भासता है, उसमें कारण है—अज्ञानोपहित आत्माका ज्ञान। आत्माका ज्ञान हो जानेपर तो यह दोनों भूमण्डल कहींपर भी नहीं रहते ॥ २१ ॥

श्रीरामजी, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें होनेवाले त्रैलोक्यका समस्त भूतजाल केवल भ्रान्तिरूप ही है, वह सङ्कल्प-जैसा है, उसकी समता ठीक मनोराज्यसे की जा सकती है ॥ २२ ॥

हे प्रिय, जो हो चुके हैं, जो होनेवाले हैं तथा जो वर्तमानमें हैं, वे सभी भूमण्डल सर्वाधिष्ठान होनेके कारण सर्व-साधारण भावको प्राप्त आत्मसत्ताके ही स्वरूपभूत हैं यानी आत्मसत्तासे अलग नहीं है ॥ २३ ॥

अहमेव समग्राणि तेषामन्तर्गतान्यपि ।
तेन तान्यनुभूतानि तथा दृष्टानि चाऽखिलम् ॥ २४ ॥

चिन्मात्रमेतदजरं परमात्तत्त्वं
शुद्धात्मतामजहदङ्गगतं बिभर्त्ति ।
सर्वं यथास्थितमिदं जगदात्तभेदं
बुद्धं सदङ्ग न बिभर्त्ति तु किंचनाऽपि ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनं नामैकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

——:०:——

नवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं वद ब्रह्मन् जगन्ति भवता तदा ।
भूमण्डलानां हृदये क्वचिद् दृष्टानि नैव वा ॥ १ ॥

वे सत्तासामान्यरूप हैं, इसी कारण वे और उनके भीतर विद्यमान सब वस्तुएँ मैं ही हूँ, यों धारणा बाँधकर मैंने मनसे उनका अनुभव किया और साक्षी दृष्टिसे निःशेष दर्शन भी किया ॥ २४ ॥

हे श्रीरामजी, चिन्मात्ररूप, जरावस्थासे शून्य यह परमात्मतत्त्व ही अबोधकालमें अपनी शुद्धरूपताका परित्याग न करके ही यथास्थित इस समस्त जगत्को मानो सद्रूप बनाकर धारण करता है, ज्ञात हो जानेपर तो वह कुछ भी धारण नहीं करता, यही इसकी मुक्ति है ॥ २५ ॥

नवासी सर्ग समाप्त

नब्बे सर्ग

[पृथ्वीके अन्दर अनन्त जगतोंकी दृष्टि तथा जलधारणासे समस्त जललीलाओंका पूर्ववत् वर्णन]

जैसे प्रसिद्ध जगत्में चाँदीकी शिला आदि विभिन्न प्रदेशोंमें अनेक ब्रह्माण्ड हैं वैसे ही धारणाओंसे देखे गये भूमण्डलोंमें भी प्रत्येक वस्तुमें वे जगत् हैं, या नहीं यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्र यह प्रश्न करते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

परात्मजाग्रत्स्वप्नोर्वीमण्डलौघात्मना मया।
ततोऽनुभूतं हृदये दृष्टं च परया दृशा ॥ २ ॥
यावत्तथैव सर्वत्र जगज्जालमवस्थितम्।
सर्वं दृश्यमयं शान्तमपि द्वैतमयात्मकम् ॥ ३ ॥
जगन्ति सन्ति सर्वत्र सर्वत्र ब्रह्म संस्थितम्।
सर्वं शून्यं परं शान्तं सर्वमारम्भमन्थरम् ॥ ४ ॥
सर्वत्रैवाऽस्ति पृथ्व्यादि स्थूलं तच्च न किंचन।
चिद्व्योमैव यथा स्वप्नपुरं परमजातवत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, इसके बाद मुझसे यह कहिए कि जैसे प्रसिद्ध जगत्‌की वस्तुओंमें प्रत्येकमें आपने अनेक जगत् देखे वैसे ही आपने धारणाभ्याससे जिस महीपीठको देखा उसके विविध प्रदेशोंके भीतर भी आपने कहीं जगत् देखे या नहीं। इस श्लोकमें मण्डलशब्दको प्रदेशभेदका वाचक समझना चाहिए ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, पृथ्वीधारणासे परमात्माके जाग्रत्पृथ्वीमण्डल और स्वप्नपृथ्वीमण्डल समूहरूप बनकर मैंने तत्-तत् पृथ्वीके प्रदेशविशेषरूप उसके हृदयमें जो कुछ साक्षिदृष्टिसे देखा और मनसे विचारपूर्वक अनुभव किया, उसे कहता हूँ, सुनिए। स्वप्नका ग्रहण स्वप्नकी पृथ्वीके अनेक प्रदेशोंमें भी अनन्त जगत्‌का अवलोकन हो सकता है, यह बतलानेके लिए किया गया है ॥ २ ॥

क्या देखा क्या अनुभव किया? इसे कहते हैं—'यावत्' इत्यादिसे।

पहले देखी गई चाँदीकी शिलाके सदृश ही यानी चाँदीकी शिलामें मैंने जैसे समस्त जगत् देखे थे, वैसे ही धारणासे दृष्ट भूमण्डलके सभी स्थानोंमें जगत्‌जाल-सा स्थित मैंने देखा। समस्त दृश्यमय द्वैतमय होता हुआ भी यथार्थमें शान्त अद्वैत ही है ॥ ३ ॥

कैसे द्वैतमय है और कैसे शान्त अद्वैतरूप है? इसपर कहते हैं—'जगन्ति' इत्यादिसे।

सभी स्थानोंमें जगत् हैं और सभी जगह ब्रह्म भी स्थित है तथा सब-कुछ शून्यात्मक एवं परमशान्तरूप है और सब अनेक तरहके आरम्भोंसे पूर्ण भी है ॥ ४ ॥

सर्वत्र पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थ हैं और यथार्थमें वह कुछ नहीं भी हैं,

नेह नानाऽस्ति नो नाना न नास्तित्वं न चाऽस्तिता।
अहमित्येव नैवाऽस्ति यत्र तत्र कुतोऽस्ति किम् ॥ ६ ॥
अनुभूतमपीदं सदहमित्यादिरूपकम् ।
नास्त्येव यदि वाऽप्यस्ति तद् ब्रह्माऽजमनामयम् ॥ ७ ॥
यत्स्वप्नपुरमेवेदं सर्गादावेव चिन्नभः ।
अस्तितानास्तिते तत्र कीदृशे क्व कुतः स्थिते ॥ ८ ॥
यथाऽहं दृष्टवांस्तानि जगन्त्यवनिरूपधृक् ।
तथा मया जलीभूय दृष्टं तादृशमेव तत् ॥ ९ ॥

अनुत्पन्न स्वप्ननगरके सदृश है, यदि कुछ है तो केवल पर चिदाकाश ही वस्तु है ॥५॥

एक, अनेक या सत्य वस्तु तब सिद्ध हो सकती है, जब एक, अनेक आदिका दर्शन करनेवाला दर्शनाभिमानी संसारमें प्रसिद्ध हो, परन्तु ऐसा दर्शनाभिमानी ही नहीं है, यह कहते हैं—'नेह' इत्यादिसे ।

भद्र, इस प्रपञ्चमें जब न तो नाना (अनेक) वस्तु है, न अनाना (एक) वस्तु है, न अस्तित्व है और न नास्तित्व ही है । अधिक क्या कहें—जो 'अहम्' (मैं) शब्दसे दर्शनादिका अभिमानी कहा जाता है, वह भी नहीं है । जब वह भी नहीं है, तब कैसे कौनसी वस्तु है ? ॥ ६ ॥

राघव, यद्यपि यह दृश्य सत् और 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूपसे अनुभूत होता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थदशामें है ही नहीं । यदि अस्तित्व है, तो वह अज निर्विकार ब्रह्मका ही है यानी जो कुछ दृश्य भासता है, वह ब्रह्मरूप ही है ॥ ७ ॥

इस रीतिसे जब दृश्योंमें प्रतियोगी अस्तित्वका स्थान नहीं है, तब अस्तित्वके अभाव नास्तित्वका भी स्थान नहीं है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'यत्स्वप्न०' इत्यादिसे ।

चूँकि सृष्टि के आदिमें यानी सृष्टिके पूर्व चिदाकाश ही था, इसलिए सृष्टिके बाद चिदाकाशमें देखा गया भी यह स्वप्ननगरके सदृश ही है, इसलिए उसमें अस्तित्व और नास्तित्व ही कैसे, कहाँ, किस हेतुसे रह सकते हैं ॥ ८ ॥

श्रीरामभद्रने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर देकर अब जल-धारणा बाँधकर जो कुछ कौतुक देखा था, उसको कहनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'यथाऽहम्' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, जैसे मैंने पृथ्वी-धारणा से पृथ्वीरूप बनकर पूर्वोक्त जगत् देखे, वैसे ही जलधारणासे जलरूप बनकर जल-जगत् देखा ॥ ९ ॥

वारिधारणया वारि भूत्वा जडमिवाऽजडम् ।
समुद्रमन्दिरेष्वन्तश्चिरं गुलगुलायितम् ॥ १० ॥
तृणवृक्षलतागुल्मवल्लीनां स्तम्भनाडिषु ।
मृद्वलक्षितमारूढं तवाऽङ्गेष्विव यूकया ॥ ११ ॥
सर्वोत्थानोपमास्तम्भे तच्छेदे वलयोपमा ।
मृद्व्या कर्णाहिगत्यैव रचना प्रकृतोदरे ॥ १२ ॥
वल्लीतमालतालादिपल्लवेषु फलेषु च ।
विश्रम्य पुष्टयाऽऽकृत्या रेखाविरचनं कृतम् ॥ १३ ॥
मुखेनाऽऽविश्य हृदयमृतुवैधुर्य्यधारिणा ।
हता विधुरिता भुक्ता लूना देहेषु धातवः ॥ १४ ॥

हे राघव, मैं यद्यपि चेतनरूप ही हूँ, फिर भी मैं जलधारणासे जड़ जलरूप-सा बन गया। तदनन्तर जलरूप होकर मैंने समुद्ररूपी मन्दिरोंके भीतर दीर्घकाल तक गुड़-गुड़ शब्द किया ॥ १० ॥

जैसे आपके अङ्गोंमें जूँ आदि नजर बचाकर मन्दगतिसे चढ़ जाती है, ठीक ऐसे ही मैं तृण, वृक्ष, लता, गुल्म, वल्ली आदिके डण्ठलोंमें मन्दगतिसे छिपे-छिपे चढ़ गया ॥ ११ ॥

सूक्ष्म तन्तुके आकारके एक छोटे कीड़ेको (काँतरको) कर्णाहि कहते हैं। वह जैसे मन्दगतिसे छिपे-छिपे आकर कानमें घुस जाता है। बस ठीक उस कीड़ेके सदृश मैंने अत्यन्त मृदु गतिसे छिपे छिपे उन तृण, वृक्ष आदिके तनोंमें, तृणादिकी ऊर्ध्वस्थितिके सदृश, ऊर्ध्वस्थिति की तथा उनके पोरों और छद्रोंमें कोमल वलयाकारवाली (गेंडुली सी) रचना भी की ॥ १२ ॥

लताओं और तमाल, ताल आदि पेड़ोंके पल्लवों तथा फलोंमें रसरूपसे विश्राम कर कालसे पुष्ट (उन उन पत्ते आदिके) आकारों द्वारा भीतर शिरा आदि रेखाओंकी रचना भी मैंने की ॥ १३ ॥

जीवोंकी देहोंमें जलपानके समय मुखके द्वारा हृदयमें प्रवेश कर वसन्त आदि ऋतुओंके कारण होनेवाली विषमता धर लेनेवाले मैंने कहीं वात, पित्त और कफरूप धातुओंको धारण किया, कभी उन्हें कुपित किया, कुछको जठराग्निसे पचा डाला, किन्हींको खण्डित किया ॥ १४ ॥

सुप्तं पल्लवतल्पेषु प्रालेयकणरूपिणा ।
तुल्यकालमशेषेषु दिक्षु सर्वास्वखेदिना ॥ १५ ॥
नानाह्रदनदीगेहग्राहिणाविरताध्वना ।
विश्रान्तं सेतुसुहृदः प्रसादेन क्वचित्क्वचित् ॥ १६ ॥
चिदा चिदनुसंधानाज्जडेन तदनाश्रयात् ।
जडाशयेषूल्लसितं जलेनाऽऽवर्तवर्तिना ॥ १७ ॥
मया दुष्कृतिनेवोर्ध्वशिलास्वस्थेन भूभृताम् ।
स्वावर्तवर्तिना श्वभ्रपातेषु शतधा गतम् ॥ १८ ॥
धूम्ररूपेण निर्गत्य दारुभ्यो गगनार्णवे ।
कणरत्नेन नीलर्क्षमण्यन्तर्वर्तिना स्थितम् ॥ १९ ॥

तनिक भी खेदका (थकावटका) अनुभव न करनेवाले हिमकणका रूप धारण किये हुए मैंने एक ही समयमें समस्त दिशाओंमें सम्पूर्ण पल्लवरूपी शय्याओंपर शयन भी किया ॥ १५ ॥

जो ह्रद अनेक नदियोंके घर हैं यानी मार्गके निवासस्थान (विश्रामगृह) हैं, उनका आश्रयण करते हुए तथा निरन्तर प्रवाहके कारण अविरतगतिवाले मैंने बाँधरूपी मित्रके प्रसादसे कहीं कहीं विश्राम भी किया ॥ १६ ॥

मैं चिद्रूप हूँ, चितिरूपी मैंने अचित् अशंका विषयरूपसे अनुसन्धान किया, उसमें भी विषयांशमात्रताके कारण चित्स्वभावका आश्रयण नहीं किया, अतः मैं जड़ जलरूप ही हो गया। यों जड़ जलरूप हुआ, मैं जड़ाशयप्राय जलाशयोंमें हजारों भ्रमोंके साथ आवर्तके सदृश वर्तन करता हुआ खूब उल्लास करता रहा ॥ १७ ॥

प्रायश्चित्तके निमित्त भृगुपतनमें प्रवृत्त हुए पापीके सदृश पर्वतोंकी ऊपरकी शिलाओंसे गिर रहे निर्झररूप मैंने गर्तपातोंमें जीर्ण-शीर्ण होकर हजारों रूपोंसे स्थिति प्राप्त की ॥ १८ ॥

लकड़ियोंसे धूमके रूपमें निकलकर मैं आकाशरूपी समुद्रमें नीले रङ्गके नक्षत्र मणियोंके भीतर रत्नकण बना और मैंने वहाँ स्थान जमा लिया। श्रीवसिष्ठजीकी इस उक्तिसे यह मालूम होता है कि हम लोगोंके लिए अदृश्य नीले वर्णके भी नक्षत्र आकाशमण्डलमें हैं ॥ १९ ॥

विश्रान्तमभ्रपीठेषु विद्युद्वनितया सह ।
भिन्नेन्द्रनीलनीलेन शेषाङ्गेष्विव शौरिणा ॥ २० ॥
परमाणुमये सर्गे पिण्डरूपेष्वलक्षितम् ।
स्थितमन्तःपदार्थेषु ब्रह्मणेवाऽखिलात्मना ॥ २१ ॥
प्राप्य जिह्वाणुभिः सङ्गमनुभूतिः कृतोत्तमा ।
यामात्मनो न देहस्य मन्ये ज्ञानस्य केवलम् ॥ २२ ॥
न मया न च देहेन नाऽन्येनाऽऽस्वादितात्म यत् ।
तदन्तर्विघृतं चेत्यमज्ञानाय तदप्यसत् ॥ २३ ॥

काटी हुई इन्द्रनील मणिके सदृश नीलवर्णवाले भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ शेषनागके अङ्गोंपर विश्राम करते हैं, वैसे ही मेघोंकी पीठपर नील वर्णवाले मैंने भी विद्युत्‌रूपी वनिताके साथ विश्राम किया ॥ २० ॥

परमाणुमय सृष्टिमें यानी पिपीलिका आदि परमसूक्ष्म देहात्मक सृष्टिमें तत्-तत् प्राणियोंके पिण्डरूप एवं उनके भीतरके परम सूक्ष्म नाडीरूप पदार्थोंमें सूक्ष्म-जलरूप बनकर मैं सर्वात्मा ब्रह्मकी तरह स्थित रहा ॥ २० ॥

भद्र, मैं मधुर रसरूप भी तो बन गया था। रसरूप बनकर मैंने जिह्वारूप अणुओंके साथ संसर्ग प्राप्त किया। संसर्ग प्राप्त कर रसास्वादरूपी उनकी वह उत्तम अनुभूति की, जिसे मैं देहकी नहीं मानता, किन्तु केवल ज्ञानरूप आत्माकी मानता हूँ, अर्थात् वह अनुभूति विषयानन्दके आकारमें आविर्भूत आत्माका स्वरूप है, यह मैं मानता हूँ ॥ २२ ॥

कुछ लोग विषयको ही आनन्दरूप और आस्वाद लेने योग्य मानते हैं, परन्तु यह मानना उचित नहीं है, विषय तो असत् और दुःखरूप है तथा वह आस्वाद लेने योग्य है ही नहीं, अतः विषयको अलग कर आनन्दको बतलाते हैं—'न मया' इत्यादिसे।

जो विषयरूप चेत्य है, उसका न तो मैंने (अधिष्ठान चेतनने), न स्वाद लेनेवाले पुरुषकी देहने और न जीवने ही स्वाद लिया है, क्योंकि उसमें न आत्म-सुखका कोई अंश है और न आस्वादकी योग्यता ही है। इस प्रकारके विषयोंका चितिने अपने अन्दर जो स्फुरण किया है, वह जीवोंके अज्ञानार्थ (व्यामोहार्थ) ही है। जिससे वह विषय उत्पन्न हुआ, वह अज्ञान भी असत् ही है, जो स्वयं असत् है, उससे असत् अर्थकी ही उत्पत्ति मानना उचित है ॥ २३ ॥

अथवा, विषय स्वादयोग्य हैं, यदि यह पक्ष है, तो उसमें विषयाधिष्ठान चेतनके

सर्वर्तुरसरूपेण नानामोदानि दिक्चलम् ।
भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददताऽलये ॥ २४ ॥
चतुर्दशप्रकाराणां भूतानामङ्गसन्धिषु ।
उषितं चेतनेनेव जडेनाऽप्यजडात्मना ॥ २५ ॥
सीकरोत्कररूपेण रथमारुह्य मारुतम् ।
आमोदेनेव विहितं विमलव्योमवीथिषु ॥ २६ ॥
राम तस्यामवस्थायां परमाणुकणं प्रति ।
अनुभूतमशेषेण यथास्थितमिदं जगत् ॥ २७ ॥
अजडेन जडेनेव समया जालया तया ।
अन्तः सर्वपदार्थानां ज्ञाता-(ज्ञाऽ १)-ज्ञातेन संस्थितम् ॥२८॥

द्वारा आस्वादित ही विषयोंको, जो कि उसके उच्छिष्टप्राय हैं, दूसरे चखते हैं, यही कल्पना हो, इस आशयसे कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

समस्त ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाला जो रस है, तद्रूप बनकर भ्रमरोंको उच्छिष्ट रस देते हुए मैंने सब दिशाओंमें अनेक तरहके आमोदोंसे पूर्ण फूलोंका खूब उपभोग किया ॥ २४ ॥

भद्र, यद्यपि मैं यथार्थमें अजड़रूप ही हूँ, फिर भी कल्पनावश जड़ जलरूप होकर मैंने चौदह प्रकारके प्राणियोंके अङ्गोंकी सन्धियोंमें चेतनकी नाईं निवास किया ॥२५॥

राघव, मैंने जलकणका रूप भी धारण किया था । उस रूपको धारणकर मैंने पवनरूपी रथपर चढ़कर निर्मल आकाशके मार्गोंमें, आमोदके सदृश, जनाह्लाद और विहार किया ॥ २६ ॥

वहाँ भी परमाणु तककी सभी वस्तुओंमें हर एक जगह, चाँदीकी शिलाके सदृश, सृष्टियोंका मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं—'राम' इत्यादिसे ।

हे रामजी, जलधारणाकालमें भी मैंने प्रत्येक परमाणुके कणमें पूर्णरूपसे यथास्थित इस जगत्को देखा ॥ २७ ॥

एकमात्र जलको विषय करनेवाली एकरूप उस जलधारणासे स्वयं अजड़ होता हुआ भी जड़ जल-सा बनकर तथा सब पदार्थोंके भीतर ज्ञातारूप होता हुआ मैं अज्ञातरूपसे स्थित रहा ॥ २८ ॥

हरएक वस्तुके अन्दर जो जगत् देखे उनके भी भीतरके प्रत्येक पदार्थमें कैसे ही अन्य अन्य अव्यवस्थित जगत् भीतर भीतर मैंने देखे, यह कहते हैं—

जगतां तत्र लक्षाणि नाशोत्पातशतानि च।
मया दृष्टानि रूढानि कदलीदलपीठवत् ॥ २९ ॥
एवं जगच्चाऽजगद्वा साकारं वा निराकृति।
चिन्मात्रगगनं सर्वमाकाशाधिकनिर्मलम् ॥ ३० ॥
न किंचन त्वं च न किंचनेदं
शुद्धः परो बोध इदं विभाति।
स चाऽपि नो किंचन नाऽपि शून्य-
माकाशमेवाऽसि विकासमास्स्व ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जलजगद्वर्णनं
नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

'जगताम्' इत्यादिसे।

भद्र, वहाँ केलेके दलके सदृश भीतर और उसके भी भीतर उत्पन्न लाखों जगत् तथा सैकड़ों नाश एवं उत्पात मैंने देखे ॥ २९ ॥

यद्यपि अधिष्ठान चिति कल्पित अनन्त जगतोंसे व्याप्त है, तथापि उसमें किसी तरहकी भी मलिनता नहीं है—यह कहते हैं, 'एवम्' इत्यादि से।

इस रीतिसे जगत् हो चाहे न हो, साकार हो चाहे निराकार हो, सभी अवस्थाओंमें सब केवल चितिरूप आकाश ही है, यह प्रसिद्ध आकाशसे अधिक निर्मल है ॥३०॥

रामजी द्वारा देखे जानेवाले जगत्में भी उक्त न्यायको लगाते हुए सबके अधिष्ठानभूत शुद्ध चिन्मात्र वस्तुमें श्रीरामजीकी प्रतिष्ठा कराते हैं— 'न किंचन' इत्यादिसे।

आप कुछ नहीं हैं यानी न आपकी तीन अवस्थाएँ हैं और न देह, इन्द्रिय आदि ही हैं, न यह कुछ है यानी न आकाश आदि बाहरी प्रपञ्च ही है, किन्तु परम विशुद्ध बोध ही इस जगत्के रूपमें भासता है। वह—शोधित 'तत्' 'त्वम्' पदार्थरूप—बोध भी वास्तवमें कुछ नहीं है यानी न तो वह दृश्य-स्वभाव है, न अदृश्य-स्वभाव है और न अदृश्य-शून्य-स्वभाव है, किन्तु अखण्डाकाशरूप है। वही आप हैं। इसलिए आप उक्त आत्मरूप बनकर उत्तरोत्तर विकाश प्राप्त कर लें ॥ ३१ ॥

नब्बे सर्ग समाप्त

एकनवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

ततोऽहमभवं तेजस्तेजोधारणयेद्धया ।
चन्द्रार्कतारकाग्न्यादिविचित्रावयवान्वितम् ॥ १ ॥
नित्यं सत्त्वप्रधानत्वात् प्रकाशाकृति राजवत् ।
सर्वं दृश्यमृते सर्वचौरध्वान्तप्रतापयुक् ॥ २ ॥
दीपादिभिः शनैः स्निग्धैर्दशशतविहारिभिः ।
प्रत्यक्षीकृतसर्वार्थं प्रतिगेहं सुराजवत् ॥ ३ ॥
लोकालोके च हृषितैश्चन्द्रार्काद्यंशुरोमभिः ।
परप्रकाशैकरतैर्दूरोत्क्षिप्ताम्बराम्बरम् ॥ ४ ॥

इक्यानबे सर्ग

[तेजकी धारणासे तेजरूप बनकर श्रीवसिष्ठजीने जो सूर्य, चन्द्र, अग्नि एवं रत्न आदिके चमत्कार देखे, उनका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद—जल-धारणासे विचित्र कौतुक देखनेके बाद—प्रबल तेज धारणासे मैं चन्द्र, सूर्य, तारा, अग्नि आदि विचित्र अवयवोंसे सम्पन्न तेज बन गया ॥ १ ॥

तेज निरन्तर सत्त्वप्रधान (प्रकाशप्रधान) होता है, इससे मैं एकमात्र प्रकाशरूप आकारसे चमकने लग गया। मैं अन्धकारपर ऐसा प्रतापी बन गया जैसा कि चक्षुके गोचर अपने हरे हुए पदार्थोंको छोड़कर भाग रहे चोरोंपर राजा प्रतापी होता है ॥ २ ॥

जैसे श्रेष्ठ राजा तरह-तरहकी वेशभूषासे परिभ्रमण करनेवाले स्नेहयुक्त गुप्तचरों द्वारा सबके घरका वृत्तान्त प्रत्यक्ष कर लेता है, वैसे ही हजारों वत्तियोंसे विहार करने-वाले तेलयुक्त दीपक आदिके द्वारा धीरेसे मैंने प्रत्येक घरमें प्रत्येक पदार्थको प्रत्यक्ष कर लिया ॥ ३ ॥

मैंने तेजरूप बनकर केवल दूसरोंके प्रकाशनमें ही तत्पर रहनेवाले, अतएव जनों एवं भुवनोंके प्रकाशमें अतिसन्तुष्ट तथा पुलकित रहनेवाले चन्द्र, सूर्यकी किरणरूपी अपने रोमोंके द्वारा सबको ढक देनेवाले अन्धकाररूप वस्त्रके सहश दृश्यमान आकाशरूप वस्त्रको उठाकर दूर फेंक दिया ॥ ४ ॥

अन्धकारस्य दैन्यस्य समस्तगुणनाशिनः ।
द्रष्टुं सद्द्रष्टुमनिशं सर्वस्य गुणशालिनः ॥ ५ ॥
तमस्तमालपरशुः परशुद्धिकरं पदम् ।
सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तादिजनजीवितम् ॥ ६ ॥
शुक्लकृष्णारुणादीनां नित्यं ज्योत्स्नाङ्कशायिनाम् ।
पुत्राणामिव वर्णानां सर्वेषां देहदः पिता ॥ ७ ॥
घनस्नेहरसं पृथ्व्या रचितानलवेधनम् ।
गृहं प्रति घनानन्दैर्वृतदीपकपुत्रकम् ॥ ८ ॥

तेज अन्धकारको क्यों दूर फेंक देता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'अन्धकारस्य' इत्यादिसे ॥ ४ ॥

भद्र, यह विद्यमान सम्पूर्ण जगत् समस्त गुणोंको छिपा देनेवाले अन्धकाररूपी दीनताका विषय है यानी अन्धकाररूपी दीनता जगत्में जो रूप आदि गुण हैं, उनको दिखने नहीं देती और दूसरेकी दीनताको दूर करनेमें समर्थ सभी गुणशाली पुरुष उत्तम—दीनतारहित—जगत्को देखना चाहते हैं, अतः तेजका अन्धकारको समस्त जगत्से हटा देना युक्त ही है ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र, मैं जिस तेजके रूपमें परिवर्तित हुआ, वह तेज तमोरूपी तमाल वृक्षके लिए तो फरसा है, उत्तम शुद्धिका स्थान है तथा तेजरहित सुवर्ण, मणि, माणिक आदिका लोकमें समादर नहीं होता, अतः वह तेज सुवर्ण आदिरूप जनोंके आदरका हेतु है अथवा सुवर्ण, मणि, माणिक, मोती आदिके रूपसे समस्त जनोंका जीवन-साधन है ॥ ६ ॥

संसारमें जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाशके (तेजके) ही अंश हैं, अतः सदा आलोककी (तेजकी) गोदमें शयन करनेवाले शुक्ल (श्वेत), कृष्ण, अरुण आदि समस्त वर्णोंका, पुत्रोंको देह देनेवाले पिताके सदृश, वह तेज स्वरूपदाता पिता है ॥ ७ ॥

रामजी, यह तेज पृथ्वीके साथ अत्यन्त घनी प्रीति रखता है, इसीलिए तेज अग्नि द्वारा पृथ्वीको (मिट्टीको) नहीं जलाता । पृथ्वी भी अपना स्नेह व्यक्त करने लिए हरएक घरमें बड़े प्रेमसे भीत, प्रासाद (महल) आदिका रूप लेकर तेजके पुत्र दीपकोंकी—वायु आदिके झकोरोंसे—रक्षा करती है ॥ ८ ॥

दृष्टं पातालकेष्वीषत् तमोरूपेषु पावकम् ।
अर्धदृष्टं रजोरूपे भूतले भूतमालिते ॥ ९ ॥
सत्त्वात्मसु महासत्त्वं नित्यत्वं देवसद्मसु ।
जगज्जीर्णकुटीदीपः कूपोऽम्भस्तमसोर्महान् ॥ १० ॥
दिग्वधूविमलादर्शो निशानीहारमारुतः ।
सत्त्वं चन्द्रार्कवह्नीनां कुङ्कुमालेपनं दिवः ॥ ११ ॥
केदारं दिनसस्यानां तमोच्छूनामनुग्रहः ।
नभःकाचबृहत्पात्रक्षालनाम्बु समुल्लसत् ॥ १२ ॥
सत्ताप्रदतयाऽर्थानां प्रकाशकतयाऽपि च ।
चिन्मात्रपरमार्थस्य सहोदर इवाऽनुजः ॥ १३ ॥

तमोभाग, रजोभाग एवं सत्त्वभागकी बहुलतासे युक्त पाताल आदि लोकोंमें तेजके प्रकाशका तारतम्य बतलाते हैं—'दृष्टम्' इत्यादिसे ।

तमोगुणकी अधिकतासे युक्त पातालकुहरोंमें यह तेज स्वल्प प्रकाश करता है और अनेकविध भूतोंकी माला (परम्परा) से युक्त, रजोगुणकी विपुलतावाले भूतलमें यह आधा प्रकाश करता है ॥ ९ ॥

सत्त्वगुणमय यानी सत्त्वगुणकी प्रचुरतासे युक्त देवलोकोंमें यह निरन्तर महान् प्रकाश करता है । भद्र, यह तेज जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण कुटियाका दीपक है और अन्धकारके लिए महा अगाध कूप है यानी जैसे अगाध कूप जलको अपने उदरमें निगल जाता है वैसे ही यह अन्धकारको अपने अन्दर निगल जानेवाला है ॥ १० ॥

दिशारूपी वधुओंके लिए तो यह तेज निर्मल आदर्श है यानी उनको अलग अलग करके दर्शाता है, निशारूपी नीहारके लिए वायु है यानी वायुके सदृश उनको नष्ट कर देता है, चन्द्र, सूर्य और अग्निके लिए तो जीवनसर्वस्व है और स्वर्गलोकके लिए कुङ्कुमका तिलक है ॥ ११ ॥

दिवसरूपी धानोंके लिए वह क्यारी है, तमसे (अन्धकारसे) आक्रान्त रूपादिके लिए तो वह साक्षात् दयाकी मूर्ति ही है और गगनरूप महान् काचपात्रके लिए प्रक्षालनार्थ अतिस्वच्छ जल है ॥ १२ ॥

तेज पदार्थोंमें सत्ताका प्रदान करनेवाला तथा उनको प्रकाशित भी करनेवाला

क्रियाकमलिनीभानुर्भूतलोदरजीवितम् ।
रूपालोकमनस्कारचमत्कारश्चितेर्यथा ॥ १४ ॥
नभस्तलगतासंख्यनक्षत्रमणिमालितः ।
दिनर्तुवत्सराबृंहवाडवाग्न्यादिफेलिनः ॥ १५ ॥
चन्द्रार्कादितरङ्गान्तरजडं पङ्किलो महान् ।
बृहद्ब्रह्माण्डखातस्थो नित्यमेकार्णवोऽक्षयः ॥ १६ ॥
हेमादिषु सुवर्णत्वं नरादिषु पराक्रमः ।
काचकच्यं च रत्नादौ वर्षादिष्ववभासनम् ॥ १७ ॥
ज्योत्स्ना मुखेन्दुबिम्बेषु पक्ष्मलेक्षणलक्ष्मसु ।
स्रवत्स्नेहामृतापूरो हाससौहार्दभासनम् ॥ १८ ॥

है, इसलिए चिन्मात्ररूप जो परमार्थ वस्तु है, उसका एक तरह से वह सहोदर छोटा भाई है। छोटा भाई इसलिए है कि जड़ होनेके कारण वह उससे जघन्य है ॥१३॥

तेज क्रियारूप कमलिनीके लिए सूर्य है और भूतलके हृदयका जीवन है। चाक्षुष वृत्ति और मानस वृत्तिके ऊपर आरूढ़ चितिका जैसे विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति करना चमत्कार है, वैसे ही इस तेजमें भी विषयावरण अन्धकारकी निवृत्ति करना चमत्कार है ॥ १४ ॥

किञ्च, यह तेज विशाल ब्रह्माण्डके खन्दकमें रहनेवाला बड़ा समुद्र ही है, यों उत्प्रेक्षा करनेके लिए रूपकसे कल्पित धर्मोंसे तेजको विशेषित करते हैं—'नभस्तल०' इत्यादिसे।

यह तेज बड़े विस्तृत इस ब्रह्माण्डके खन्दकका एक महान् अविनाशी समुद्र है। आकाशतलमें विद्यमान असंख्य नक्षत्ररूपी मणियोंसे भरा है, इसमें दिन, ऋतु, संवत्सर आदि कालभेदरूप चारों ओर वृद्धिंगत वाडवाग्नि आदिसे उत्पन्न महान् क्षोभके कारण फेन उत्पन्न होता है। चन्द्र, सूर्य आदिरूप तरङ्गोंके भीतर प्रसृत रजसे जलके बिना कभी कीचड़ भी इसमें भरा रहता है ॥ १५, १६ ॥

भद्र, मैं तेज बनकर सुवर्णादिमें सुन्दर वर्ण (रंग) बन गया, मनुष्यादिमें पराक्रम बन गया, रत्न आदिमें काचकच्य (कान्तिविशेष) बन गया और वर्षा ऋतुमें विद्युत्-प्रकाश (बिजलीकी चमक) बन गया ॥ १७ ॥

राघव, मुखके सदृश चन्द्रबिम्बोंमें मैं ज्योत्स्ना बन गया, बरौनीवाले नेत्ररूपी चिह्नसे (अङ्कसे) युक्त मुखरूपी चन्द्रबिम्बोंमें तो ज्योत्स्नाके सदृश बह रहे स्नेहरूपी अमृतका

कपोलबाहुनेत्राक्षिभ्रूकरालकलासकः ।
निजोऽजेयतया जातो विलासः कामिनीजने ॥ १९ ॥
तृणीकृतत्रिभुवनचपेटास्फोटितद्विषाम् ।
शिरःसु वज्रीकरणं वीर्यं सिंहादिचेतसि ॥ २० ॥
कटुकङ्कटकुट्टाकखड्गसंघट्टटाङ्कृतैः ।
पटु स्फुटाटोपरटि भटेष्वटनमुद्भटम् ॥ २१ ॥
देवेषु दानवारित्वं सुरारित्वं सुरारिषु ।
सर्वभूतेषु स्वोजस्त्वमुन्नामः स्थावरादिषु ॥ २२ ॥
अथ ते मरुवद्भास्वांस्तत्राऽहमनुभूतवान् ।
जगदाकाशकोशेषु तेषु तामरसेक्षण ॥ २३ ॥

पूर या हास सौहार्दयुक्त कमनीय कान्ति बन गया ॥ १८ ॥

कामिनीजनोंमें मैं कपोल, बाहु, नेत्र, भौंह, हाथ, केश आदिको अतिसुन्दरतासे प्रकाशित करनेवाला, सर्वत्र अजेयरूपसे प्रसिद्ध स्वाभाविक कामका विलास बन गया ॥ १९ ॥

श्रीरामजी, तेजकी धारणासे तेज होकर मैं वृत्र आदि असुरोंके, जो त्रिभुवनको तृणके समान समझते थे तथा अपनी चपेटाओंसे अपने शत्रुओंको कँपा डालते थे, मस्तकपर वज्रप्रहार बन गया और सिंह आदिके हृदयमें वीर्यरूप बन गया ॥२०॥

किञ्च, वीर पुरुषोंमें रणाङ्गणोंमें निर्भय विचरण करनेका कारण जो उद्भट पराक्रम प्रसिद्ध है, वह भी मैं बन गया, जैसा तैसा पराक्रम नहीं, किन्तु अति कठोर लोह कवचोंको तोड़नेवाले खड्गोंके परस्पर आघातोंसे उत्पन्न टङ्कार ध्वनिसे अत्यन्त पटु तथा बड़े भारी आडम्बरसे युक्त पराक्रम बन गया ॥ २१ ॥

देवोंमें दानवोंका शत्रु, दानवोंमें देवताओंका शत्रु, सब भूतोंमें उत्तम बल तथा वृक्ष आदि स्थावरोंमें उन्नतिरूप भी मैं बन गया ॥ २२ ॥

हे कमलदललोचन, तदनन्तर अपनी धारणासे कल्पित उन जगदाकाशके कोशोंमें मैं सूर्य होकर नीचे कही जानेवाली समस्त वस्तुओंका अपने अन्दर ऐसे अनुभव करने लगा, जैसे कि प्रसिद्ध मरुस्थली अपने अन्दर नदी आदिकी कल्पना-का अनुभव करती है ॥ २३ ॥

उसीको कहते हैं—'दिगन्त०' इत्यादिसे ।

दिगन्तदशनिस्तीर्णैः करजालैर्जगत्खगम् ।
गृह्णदद्र्यङ्गमर्कत्वं ग्रामवद्दृष्टभूतलम् ॥ २४ ॥
कामोत्पले कोशचक्रं वाडवं तिमिरार्णवे ।
ब्रह्माण्डसदने दीपं वृक्षं दिनफलावलेः ॥ २५ ॥
रसायनह्रदाकारमिन्दुत्वं वदनं दिवः ।
निशानिशाचरीहासं विकासं रजनीविशाम् ॥ २६ ॥
जगल्लावण्यलक्ष्मीणां सर्वासामुपमास्पदम् ।
रजनीरोहिणीनारीकैरवाणां परं प्रियम् ॥ २७ ॥
नेत्रवृन्दस्य वक्त्रस्य द्युलतापुष्पजालकम् ।
स्वर्गौघमशकव्यूहं तारकापटलं मृदु ॥ २८ ॥

भद्र, मैंने अपने सूर्यके स्वरूपका अनुभव किया, उस रूपसे मैंने दसों दिशाओंमें फैले हुए हाथरूपी किरणोंसे जगद्-रूपी पक्षीको, जिसके कि बड़े-बड़े पर्वत अवयव थे, पकड़ लिया। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटेसे गाँवके सदृश प्रतीत हुआ ॥ २४ ॥

मेरा सूर्यस्वरूप चन्द्रकी कामना करनेवाले कुमुदोंके लिए कोशबन्धनका हेतु चक्र बना; अन्धकाररूपी समुद्रके लिए वाडवाग्नि, ब्रह्माण्डरूपी घरके लिए दीपक और दिनरूपी फलसमूहके लिए वृक्ष बना ॥ २५ ॥

इसी तरह मैं चन्द्ररूप भी बन गया। मेरा चन्द्रका जो स्वरूप हुआ, उसका आकार अमृतसे लबालब भरी झीलके सदृश था, वह स्वर्गका मुखके सदृश मुख था, निशारूपी निशाचरीका यानी अभिसारिकाका हासके सदृश हास था तथा रात्रिमें प्रवेश करनेवालोंका प्रकाशकर्ता था ॥ २६ ॥

वह मेरा चन्द्रका रूप समस्त जगत्की सुन्दरतारूपी लक्ष्मियोंके लिए उपमान तथा रात्रि, रोहिणीरूपी नारी एवं कुमुदोंके लिए उत्तम स्नेहका भाजन था ॥ २७ ॥

अधिक क्या कहें, जितने संसारमें प्राणी हैं, उन सबके नेत्र और मुखका आह्लाद और विकासका हेतु होनेके कारण वह अत्यन्त ही प्रिय लगता था। श्रीरामजी, तदनन्तर मैं मृदु तारासमूह बन गया यानी अपनेमें समस्त तारोंके स्वरूपका अनुभव करने लगा। यह मेरी तारात्मता आकाशरूपो लताकी मानो पुष्प-राशि थी, और थी स्वर्गसुखरूपी मकरन्दके प्रवाहमें आसक्त मानो मच्छरोंकी कतार ॥ २८ ॥

वणिङ्मात्रे वणिग्घस्ततुलातोलनदोलितम् ।
रत्नत्वं जलकल्लोलहस्तान्दोलनमब्धिभिः ॥ २९ ॥
अब्धाऽब्धौ शफरावर्तमब्धा गोमञ्जरीगणः ।
अब्दादौ दावदहनं वैद्युतं द्योतनं वनौ ॥ ३० ॥
दारुदारणदुर्वारदीप्तं ज्वलनमाततम् ।
यज्ञाग्निदाहकल्याणं विस्फोटकठिनारवम् ॥ ३१ ॥
कचत्काञ्चनमाणिक्यमुक्तामणिमयं महः ।
तपस्तां नीतमाच्छिद्य पाण्डित्यमिव पामरैः ॥ ३२ ॥

भद्र, मैं रत्न बन गया। कुछ समय मेरा यह स्वरूप बाजारोंमें जौहरियोंके हाथोंसे कांटेपर तोलनेके कारण आन्दोलित हो उठा था तथा कुछ समय समुद्रों द्वारा जल-कल्लोलरूपी हाथोंसे कम्पित किया गया था ॥ २९ ॥

श्रीराघव, समुद्रका जल पी जानेवाला बाडवानल भी मैं बन गया। मैंने अपने बाडवानल रूपसे समुद्रमें डरे हुए छोटे छोटे मत्स्योंके परिभ्रमणका खूब कौतुक देखा। जलको स्वाहा करनेवाला सूर्य-किरणका समूह बनकर मैंने अपने शरीरमें प्रकाशका अनुभव किया। मेघ, पर्वत आदिमें मैंने बिजली और दावाग्निका स्वरूप धारण कर लिया और उन शरीरोंमें अपनेमें अपूर्व प्रकाशका अनुभव किया ॥ ३० ॥

किञ्च, मैंने अग्नि बनकर इस प्रकार दीप्तिपूर्वक जलना आरम्भ किया कि उससे लकड़ियोंका विदारण तत्काल हो जाता था, इसीसे लकड़ियोंके विस्फोटोंसे चारों ओर दुर्वार कठिन शब्द उत्पन्न होते थे तथा यज्ञाग्नि होकर मैंने हविष् दाहका भी आनन्द लूटा ॥ ३१ ॥

जब मैं अग्नि बना तब सुवर्ण, माणिक्य, मोती, मणि आदि जो चमकीली ज्योतियाँ थी, उनका कोशागारके दाह द्वारा पराभव कर उनके स्वामियोंको ऐसा सन्ताप पहुँचाया, जैसे बलवान् अनेक मूर्खोंके द्वारा वितण्डासे एक पण्डितको सन्ताप पहुँचाया जाता है। इस विषयकी कहावत है कि एक पलाशके पेड़को देख कर पण्डितने कहा—यह पलाश वृक्ष है। इसपर वहाँ विद्यमान अनेक मूर्खोंने मिल कर कहा, नहीं यह पाढ़रका पेड़ है। झगड़ा बढ़ा और मूर्खोंने पण्डितकी मुक्कोंसे पूजा आरम्भ की, पण्डित भी दुःखी होकर कहने लगा, हाँ, यह पाढ़रका पेड़ है ॥ ३२ ॥

मोती बनकर जो कुछ अनुभव किया, उसे भी प्रसङ्गवश कहते हैं—

'**विश्रान्तम्**' इत्यादिसे।

विश्रान्तं स्तनशृङ्गेषु मुक्ताहारतया तया ।
असुरोरगगन्धर्वनरनायकयोषिताम् ॥ ३३ ॥
पादाहतिं गतं मार्गे तिलकत्वं वधूमुखे ।
खद्योतेन मया लब्धं पश्याऽवस्थासु चापलम् ॥ ३४ ॥
क्वचिद्विद्युत्तया तेषु शफर्या चाऽर्णवेष्विव ।
खस्थेषु विकृतं चारु वार्यावर्तविराविषु ॥ ३५ ॥
क्वचिद्दीपतयाऽऽनीय कलिकाकोमलाङ्गया ।
अन्तःपुरेषु कान्तानां सुरतालोकनं कृतम् ॥ ३६ ॥
क्वचित्कज्जलजालस्य ज्वालाकनकदाकृते ।
खेदिना घनकूर्माभं संगेनैव स्वकोटरे ॥ ३७ ॥
कल्पान्तेषु क्वचित्सर्वजगद्भ्रमघनश्रमात् ।
खे कज्जलासिते लीनं रुद्रेम इव विद्युता ॥ ३८ ॥

भद्र, तदनन्तर मैं मोती बन गया। और मोतियोंके हार रूपसे असुर, नाग, गन्धर्व और नरनायकोंकी रमणियोंके स्तनोपर मैंने दीर्घकालतक विश्राम किया ॥३३॥

खद्योत बनकर जो अनुभव किया, उसे कहते हैं—'पादाहतिम्' इत्यादिसे ।

खद्योत बनकर मैंने मार्गमें गमन कर रहे मनुष्योंके पैरोंसे खूब रगड़ खानेका अनुभव किया और स्त्रियोंके ललाटपर तिलकरूपताका भी अनुभव किया। स्थानभेदोंसे प्राप्त हुई उत्कर्षापकर्षरूप अवस्थाओंमें मेरी चपलता (अनियतता) तो जरा देखिये॥३४॥

जलके आवर्तोंसे शब्दायमान आकाशस्थ मेघोंमें विद्युत्का रूप लेकर मैंने समुद्रमें मछलीके सदृश अत्यन्त सुन्दर ढँगसे चेष्टाएँ कीं ॥ ३५ ॥

मैंने कहीं दीपक रूप भी ले लिया। दीपकके रूपमें जब मेरी अन्तःपुरमें स्थापना हुई, तब रमणियोंकी सुरतक्रीड़ाका भी मैंने अवलोकन किया। दीपकके रूपमें पुष्प-कलिकाके सदृश मेरे कोमल अङ्ग खूब शोभते थे ॥ ३६ ॥

बत्तीके आगेके हिस्सेमें कभी-कभी काजलका एक जाल-सा बन जाता है। यह दीप ज्वालारूप सोनेके टुकड़ेको तोड़-फोड़ देता है, यही इसका स्वरूप है, भद्र, इस कज्जलजालके ही समागमसे कभी मन्दप्रभ बनकर ज्वालादि अङ्गोंको समेट लेनेके कारण दीपकरूपमें मैं घन कूर्मका रूप भी बना लेता था ॥ ३७ ॥

राघव, कभी कल्पान्तका अग्नि बनकर मैंने कल्पान्तमें समस्त जगत्में खूब परिभ्रमण किया। भ्रमण करनेके कारण उस समय मुझे जो बड़ा परिश्रम हुआ, उससे कज्जल-

क्वचिदाकल्पमापीय वाडवाग्नितया जलम् ।
जगत्सु गगनेष्वन्ते ननृते जलराशिषु ॥ ३९ ॥

क्वचिदुन्मुकदन्तेन मया ज्वालाभुजात्मना ।
विलोलधूमावर्त्तोग्रकुन्तलेनाऽऽकुलौजसा ॥ ४० ॥

पुरपल्लवदाहेषु कवलीकृतजन्तुना ।
कृताः कृताष्ट काष्ठादिपदार्थाः स्वादनोचिताः ॥ ४१ ॥

हतेन शस्त्रपाषाणैरयःपिण्डादिवासिना ।
हन्तृदाहार्थमुद्गीर्णाः कणकोपलताः क्वचित् ॥ ४२ ॥

क्वचिन्महाशिलाकोशे पाषाणमणिना मया ।
समस्तभूतादृश्येन स्थितं युगशतान्यपि ॥ ४३ ॥

श्याम आकाशमें कहीं ऐसे विलीन हो जाता था, जैसे इन्द्रके वाहन काले मेघोंमें विद्युत् विलीन हो जाती है ॥ ३८ ॥

कहीं वडवाग्निके रूपसे मैंने कल्पपर्यन्त खूब जलपान किया, तदनन्तर सब जगत् और सब जल जब आकाश यानी शून्यरूप हो गये, तब आकाशमें नृत्य किया ॥ ३९ ॥

मैंने जब अग्निकी देह धारण की थी, तब मेरे ही उल्मुक (जलती लकड़ियाँ) दाँत बन गए, ज्वालाएँ हाथ बन गईं और चञ्चल धूमके आवर्त केश हो गये। इस रूपसे जब नगर और प्ररूढ़ लतापल्लवोंका दाह करना आरम्भ किया तब हे कृताष्ट (दयादि आठ गुणोंको स्थिर बनानेवाले हे श्रीरामजी), जन्तुओंको ग्रास कर जानेवाले मैंने काष्ठ आदि पदार्थोंको अपना खाद्य बना दिया ॥ ४०, ४१ ॥

लोहार आदि कारीगरोंकी प्रयोगशालाओंमें लोहपिण्डोंमें रहकर मैंने मुगदर तथा पत्थरोंसे ताडित होकर ताडन करनेवालेको जलानेके लिए चिनगारियाँ तथा पत्थरके छोटे छोटे कंकर उगले ॥ ४२ ॥

भद्र, कहींपर मैंने बड़ी बड़ी चट्टानोंके अन्दर पाषाणमणिका (हीरा, पन्ना आदिका) रूप लेकर समस्त भूतोंकी दृष्टिसे ओझल होकर सैकड़ों युगतक वास किया ॥ ४३ ॥

श्रीराम उवाच

मुने तस्यामवस्थायामनुभूतं त्वया सुखम् ।
उत दुःखमिति ब्रूहि बोधाय मम मानद ॥ ४४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथा याति नरः सुप्तो जडतां चेतनोऽपि सन् ।
चिद्व्योम गच्छेद् दृश्यत्वं तथा जाड्यं प्रचेतति ॥ ४५ ॥
आत्मानं चेतति ब्रह्म पृथ्व्यादीव यदा तदा ।
सुप्तं जडमिवाऽऽस्तेऽन्तः स्यादस्य न तदन्यथा ॥ ४६ ॥
वस्तुतस्तस्य खोर्व्यादि नाऽसद्रूपं न सन्मयम् ।
द्रष्टृदृश्यमिवाऽऽभाति ब्रह्म चैतत् समं स्थितम् ॥ ४७ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—हे मानद, हे मुनिवर, उस पाषाण आदि अवस्थामें क्या आपने सुखका अनुभव किया अथवा दुःखका अनुभव किया, यह मुझसे ज्ञानके लिए कहिए ॥ ४४ ॥

चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्मभूत मैंने केवल कौतुकवश जगद्रूपताका आरोप देखा था, इसलिए उक्त पाषाण, मणि आदि अवस्थाओंमें मुझको तनिक भी दुःख नहीं हुआ, किन्तु सुख ही हुआ, यों उत्तर देनेके लिए वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे सुप्त पुरुष चेतनरूप होता हुआ भी जडताका अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप आकाश दृश्यभावको प्राप्त होकर जड़ताका अनुभव करता है ॥ ४५ ॥

जब ब्रह्म अपनेको पृथ्वी आदिके रूपके सदृश समझने लगता है, तब सुषुप्तके सदृश जड़-सा बनकर स्थित रहता है, वास्तवमें इसका जो भीतरी सच्चिदानन्दात्मक स्वभाव है, उसका अन्यथाभाव कभी नहीं होता, इसलिए दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ४६ ॥

क्यों ब्रह्मका अन्यथाभाव नहीं होता ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'वस्तुतः' इत्यादिसे ।

ब्रह्ममें जो आकाश, पृथ्वी आदि स्वरूप भासते हैं, वे वास्तवमें ब्रह्मके सद् या असदात्मक स्वरूप नहीं हैं, किन्तु यों ही द्रष्टा-दृश्य-से वे भासते हैं, इसलिए ब्रह्म तो सदा ही एक-सा यानी अविकृत ही अवस्थित है ॥ ४७ ॥

एतत्सत्यपरिज्ञानं यस्योत्पन्नमखण्डितम् ।
न तस्य पञ्च भूतानि न दृश्यद्रष्टृविभ्रमः ॥ ४८ ॥
तदा मयैवं शुद्धेन तत् कृतं ब्रह्मरूपिणा ।
ब्रह्मरूपादृते किंचिदेतत्कर्तुर्न युज्यते ॥ ४९ ॥
यदा सर्वमिदं दृश्यं जातं ब्रह्म निरामयम् ।
तदा ब्रह्मपदस्थेन मयाऽऽत्मैवैवमीक्षितः ॥ ५० ॥
यदा पुनरहं पञ्चभूतानीत्येव भासयन् ।
भवामि जड एवाऽहं तदा चेतामि किं किल ॥ ५१ ॥

अपि च, अज्ञान होनेपर ही दुःख आता है, किन्तु वह नहीं है, यह कहते हैं- 'एतत्' इत्यादिसे ।

भद्र, जिस पुरुषको यह सच्चिदानन्दात्मक अखण्ड ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसकी दृष्टिमें न तो पाँच भूत ही हैं और न उसे दृश्य-द्रष्टाका विभ्रम ही भासता है ॥ ४८ ॥

भद्र, उन धारणाओंमें मैंने जो कुछ उस प्रकारका जगन्निर्माण किया, वह सब विशुद्ध ब्रह्मरूप बनकर ही किया, क्योंकि जगन्निर्माण करनेवालेका शुद्ध ब्रह्मरूपके बिना कुछ रूप हो ही नहीं सकता ॥ ४९ ॥

जब परमार्थ-दशामें यह सब कुछ दृश्य निर्विकार ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ तब ब्रह्मपदमें ही रहकर मैंने अपनी आत्माको उक्त नानाविध जगत्के रूपमें देखा, यहा बत निश्चितरूपसे आप जान लीजिये ॥ ५० ॥

यदि पाषाणमणि आदिका रूप होनेपर मुझमें चैतन्य न रहता, तो उनका अनुभव और आज स्मरण मुझको होता ही नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, पृथ्वी आदिकी धारणाओं द्वारा अपनेको पृथ्वी आदि पाँच भूतोंके रूपमें प्रकाशित कर । रहा मैं यदि जड़ रूप ही बन जाता, तो मैं उनका अनुभव ही कैसे कर सकता ? ॥ ५१ ॥

तब सुषुप्ति अवस्थामें 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह ज्ञानाभावका अनुभव कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'सुप्तोऽस्मि' इत्यादिसे ।

सुप्तोऽस्मीति दृढं भावं बुद्धवांश्चेतनोऽपि सन् ।
नैद्रमेवैत्यलं जाड्यं लसच्चेतति किंचन ॥ ५२ ॥

यस्तु ज्ञानप्रबुद्धात्मा देहस्तस्याऽऽधिभौतिकः ।
शाम्यत्युदेति विमलो बोधात्मैवाऽऽतिवाहिकः ॥ ५३ ॥

आतिवाहिकदेहेन तेन बोधात्मनाऽणुना ।
बृहता वा यथाकामं निर्वाणात्माऽवतिष्ठते ॥ ५४ ॥

बोधदेहेन हृदयं शिलानामप्यभेदिनाम् ।
प्रविश्याऽऽशु विनिर्याति याति पातालमम्बरम् ॥ ५५ ॥

'मैं सोया हूँ' इस दृढ़ भावको चेतन होकर भी मैंने जाना, उस दशामें निद्रा दोषसे उपस्थित किया गया अज्ञान ही 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस प्रतीतिसे प्राप्त करायी गयी जड़ता धारण करता है और प्रकाशमान स्वप्रकाशरूप जो वस्तु है, वह तो उस समय प्रकाशती और अनुभव करती रहती है, यदि यह बात न होती तो सुषुप्तिकालमें अनुभूत अज्ञानका जाग्रत्कालमें स्मरण कैसे होता ? ॥ ५२ ॥

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिसे स्थूल व्यष्टि-समष्टि देहकी आधिभौतिक भावना नष्ट हो जाती है, इसलिए भी जड़ दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं—'यस्तु' इत्यादिसे ।

जिस पुरुषकी आत्मा सत्यज्ञानसे जग गई है, उसकी आधिभौतिक देह तत्काल विलीन हो जाती है यानी देहमें आधिभौतिकताकी प्राप्ति ही नहीं रहती और निर्मल बोधरूप आतिवाहिक देहकी उत्पत्ति हो जाती है ॥ ५३ ॥

बोधरूपी उक्त आतिवाहिक देह छोटी हो चाहे बड़ी हो, उससे अपनी इच्छानुसार पुरुष निर्वाणरूप (समस्त प्रपञ्चोंसे रहित जीवन्मुक्तरूप) होकर स्थित हो जाता है ॥ ५४ ॥

बोधरूप देहके प्रभावसे अभेद्य पाषाण शिलाओंके भी भीतर प्रवेश करके पुरुष अनायास बाहर निकल जाता है, पातालमें चला जाता है और आकाशमण्डलमें भी विचरता है ॥ ५५ ॥

इसलिए मुझे दुःखकी प्राप्ति नहीं हुई, यह कहते हुए उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

तस्मान्मया पुरा राम बोधदेहेन तत्तदा ।
तथा कृतमनन्तेन चिन्मयव्योमरूपिणा ॥ ५६ ॥
वज्रपाषाणपातालनभोम्बरगमागमान् ।
कुर्वतस्तादृशस्याऽऽशु न विघ्न उपजायते ॥ ५७ ॥
बोधमात्रशरीरेण यावदास्ते जडेष्वसौ ।
पदार्थेषु तथाभूतस्तावत्तत्राऽवतिष्ठते ॥ ५८ ॥
स्वेच्छयैव चलित्वाऽथ ततोऽन्यत्र प्रयाति चेत् ।
तत्तत्रैव स्थितिं याति तत्तथैवाऽऽगतिर्यथा ॥ ५९ ॥
बोधमात्रं विदुर्देहमातिवाहिकमव्ययम् ।
इदानीं त्वं तमेवेह बुधोऽनुभवसि स्वयम् ॥ ६० ॥

हे श्रीरामभद्र, इसीलिए उस समय बोधरूप देहके कारण अनन्त चिन्मय आकाशरूपी मैंने पृथ्वी आदिकी धारणा बाँधकर पृथ्वी आदि स्वरूपका निर्माण किया था ॥ ५६ ॥

भद्र, वज्र, पत्थर, पाताल, आकाश एवं स्वर्ग आदिमें यातायात कर रहे उसी तरहके विशुद्ध आत्माको तनिक भी विघ्न उपस्थित नहीं होता ॥ ५७ ॥

बोधमात्र शरीरसे यह आत्मा जड़ पदार्थोंमें जबतक रहता है तबतक उसी रूपसे (बोधमात्र शरीरसे ही) उनमें रहता है, अन्यरूपसे नहीं ॥ ५८ ॥

यह सब कौतुक अपनी इच्छासे ही किये गये थे, इसलिए भी दुःखकी प्राप्ति नहीं हुई, इस आशयसे कहते हैं—'स्वेच्छयैव' इत्यादिसे ।

अपनी ही इच्छासे यदि कोई चलकर फिर अन्यत्र जाता है, या वहाँ स्थिति करता है, या वहाँसे वापस चला आता है, तो दुःख नहीं होता, ठीक इसी प्रकारकी यहाँ भी स्थिति है यानी अपनी इच्छासे किये गये कौतुकोंमें मुझे किसी प्रकारका कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वैसा करना इष्ट ही था, अनिष्ट नहीं ॥ ५९ ॥

आप भी तत्त्वज्ञानी हैं, इसलिए आतिवाहिक देहभाव और धारणाओंके अनुसार जगद्भावरूपी कौतुकोंका दर्शन आपके लिए भी सुलभ है, अतः मेरे कहे गये विषयकी परीक्षा करें, इस आशयसे कहते हैं—'बोधमात्रम्' इत्यादिसे ।

भद्र, एकमात्र तत्त्वज्ञान ही अविनाशी आतिवाहिक देह है, यह तत्त्वज्ञोंका मत है, इसलिए अब आप यदि इच्छा करें, तो आतिवाहिक देह और धारणा द्वारा जगद्भावका अवलोकन कर सकते हैं ॥ ६० ॥

चिन्मात्रव्योमरूपोऽस्मीत्यर्कादाविति बोधतः ।
आत्मैवाऽस्तमुपानीतः सन्नेवाऽसन्निवाऽऽत्मना ॥ ६१ ॥
स्थितं स्वप्नादिजगति तमसेवाऽसतेव च ।
आवृतेनेव वाऽन्यासामलभ्येन स तादृशम् ॥ ६२ ॥
तरङ्गलेखयाऽङ्गारसरितः स्वाङ्गलग्नया ।
मनोराज्यश्रियेवाशुक् प्रीतपन्नस्तद्वदेहया ॥ ६३ ॥
कज्जलालिकया वह्निर्विपिनं पुष्पशोभया ।
फुल्लस्थलाम्बुजाकारं किंशुकाशोकरूपया ॥ ६४ ॥

इच्छासे ही तत्त्वज्ञ पुरुष सूर्यादि समस्त जगत्को विलीन करके आत्ममात्रस्वरूपसे स्थापित कर सकते हैं, यह कहते हैं—'चिन्मात्र०' त्यादिसे ।

इस तरह सूर्य आदि लोकोमें 'चिन्मात्रस्वरूप आकाशरूप मैं ही हूँ,' इस बोधसे अपनी आत्माके असली स्वरूपसे ज्ञात होता हुआ भी सूर्यादिलोक जगत्के बोधसे असत्सा तथा अस्तको प्राप्त-सा हो जाता है यानी तत्त्वज्ञ लोग सूर्य आदि समस्त जगत्को जगद्-रूपसे असत् बनाकर आत्मरूपसे स्थापित कर लेते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ६१ ॥

हम लोगोंकी दृष्टिमें जगत् तो सत्य है, फिर वह असत्-सा बनकर स्थित है, यह कैसे कहते हैं ? इस शङ्कापर स्वप्न आदि जगत्के विद्यमान रहते जाग्रत् जगत् जैसे असत्-सा रहता है, यह कहते हैं—'स्थितम्' इत्यादिसे ।

जैसे जाग्रत्-पुरुषकी दृष्टिमें विद्यमान ही जगत् सुप्त पुरुषमें प्रसिद्ध स्वप्नादि जगत्में अज्ञानता के कारण असत्-सा, शून्यभाव के कारण आवृत-सा या स्वप्नद्रष्टापुरुषोंके द्वारा अलभ्य-सा बनकर स्थित है, वैसे ही प्रकृतमें समझना चाहिए ॥ ६२ ॥

भद्र, जैसे कोई कौतुकी पुरुष मनोराज्यसे कल्पित अङ्गारोंकी नदीके तरङ्गोंका अङ्गसे स्पर्श हो जानेपर भी दुःखी नहीं होता, वैसे ही मैं अपनी थोड़ी इच्छाके कारण पाषाण, मणि आदि रूप हो जानेपर भी दुःखग्रस्त नहीं हुआ ॥ ६३ ॥

यों श्रीरामभद्रके प्रश्नका उत्तर देकर अब प्रस्तुत विषयपर आकर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'कज्जल' इत्यादिसे ।

भद्र, इस तरह अग्निरूपधारी मैंने काजलरूपी भ्रमरोंके समूहोंसे समन्वित एवं अशोकरूप फूलोंकी शोभासे युक्त प्रदीप्त ज्वालाओंके कारण अग्निसे व्याप्त जंगलको

वितताररम्भयाऽप्युच्चैर्ज्वालाज्वलतयेद्धया ।
उपोत्थायाऽङ्ग गलितं खललक्ष्म्येव लोलया ॥ ६५ ॥

तेजस्तयाऽपि परमाणुकणोदरेऽपि
दृष्टेत्थमेवमिह राम मया जगच्छ्रीः ।
अन्या च सा न च चिदम्बरतः परस्मा-
त्स्वप्ने पुराचलगणोऽत्र निदर्शनं वः ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने तैजसजगद्वर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥



विकसित स्थलकमलके सदृश बना दिया ॥ ६४ ॥

हे प्रिय, दुष्ट पुरुषकी लक्ष्मीके सदृश बढ़ी हुई तथा घटाटोपपूर्ण चञ्चल ऊँची ऊँची ज्वालामालाओंके रूपसे तत्काल ही उत्कर्ष प्राप्त कर मैं सहसा नष्ट भी हो गया ॥ ६५ ॥

हे रामजी, तेजःस्वरूप बनकर मैंने परमाणु कणोंके भीतर इसी तरहकी जिस प्रत्येक जगत्-शोभाका अवलोकन किया, वह जगत्-शोभा और आप जिसे देख रहे हैं वह जगत्-शोभा दोनों सर्वोच्च चिदाकाशसे भिन्न नहीं हैं, इस विषयमें दृष्टान्त—आपके स्वप्नके प्रसिद्ध नगर या पर्वत—विद्यमान हैं ॥ ६६ ॥

इक्यानबे सर्ग समाप्त

द्विनवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वातमयीं कृत्वा जगत्प्रेक्षणकौतुकात् ।
धारणां धीरया वृत्त्या विततामहमागतः ॥ १ ॥
संपन्नोऽस्म्यनिलो वल्लीललनालोकलासकः ।
कमलोत्पलकुन्दादिजालकामोदपालकः ॥ २ ॥
सीकरोत्करनीहारहेलाहरणतत्परः ।
सुरतश्रान्तसर्वाङ्गसमाह्लादनतर्षुलः ॥ ३ ॥
तृणगुल्मलतावल्लीदलताण्डवपण्डितः ।
लतौषधिफलोल्लासकुसुमामोदमण्डितः ॥ ४ ॥
मृदुर्मङ्गलकालेषु ललनालोकलालकः ।
भीम उत्पातकालेषु पर्णवत्प्रौढपर्वतः ॥ ५ ॥

बानबे सर्ग

[वायुकी धारणासे वायुभाव प्राप्त हो जानेपर वायुके कार्योंका विस्तार तथा आकाशके साथ सर्वात्मभावमें स्थिति—यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर मैंने जगत् देखनेकी उत्कण्ठासे वायुमय धारणा बाँधी । फिर धीर वृत्तिसे वायुरूपमें स्थिति प्राप्त हो जाने तककी लम्बी वायुमय धारणाको प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

मैं वायु बन गया । मैं वायु बनकर लतारूपी ललनाओंके साथ विलास करता था तथा कमल, उत्पल, कुन्द आदि फूलोंकी सुगन्धकी, स्वायत्त कर, रक्षा करता था ॥ २ ॥

मैं जलकणोंकी राशिको इधर उधर बखेरने तथा नीहारसमूहको लीलासे (क्रीडासे) दूर दूर तक हरण करनेमें निरत रहता था और सुरतक्रीडासे क्लान्त युगलोंके समस्त अङ्गोंमें आह्लाद पहुँचानेमें रात-दिन सतृष्ण रहता था ॥ ३ ॥

तृण, गुल्म, लता, वल्ली तथा पत्तोंको ताण्डव नृत्य सिखलानेमें महापण्डित भी मैं बन गया एवं लता और औषधियों के फलोंके उल्लासों तथा कुसुमोंके आमोदोंसे विभूषित हो गया ॥ ४ ॥

मङ्गलके अवसरोंमें भावी कल्याणको सूचित करनेके लिए मैं मृदु यानी मन्द,

नन्दने कुन्दमन्दारमकरन्दरजोरुणः ।
नरकेऽङ्गारसंभारभूरिनीहारभासुरः ॥ ६ ॥
सागरे सरलावर्तलेखानुमितसर्पणः ।
दिवि वारिदसंचारमृष्टामृष्टेन्दुदर्पणः ॥ ७ ॥
नक्षत्रचक्रसैन्यस्य रथो रंहो विबृंहितः ।
त्रैलोक्यसिद्धसंचारविमानधरणेहितः ॥ ८ ॥
सहोदर इव क्षिप्रगामित्वादस्य चेतसः ।
अनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः स्पन्दानन्दनचन्दनः ॥ ९ ॥
तुषारसीकरासारजरारोमविजर्जरः ।
आमोदयौवनोन्मादो मौनमार्दवशैशवः ॥ १० ॥

सुगन्ध एवं शीतल होकर ललना जनोंके प्रेमका भाजन बन जाता था, उत्पात समयमें तो भावी उत्पातोंको सूचित करनेके लिए भयङ्कर तीक्ष्ण, उष्ण और असह्य बन जाता था, प्रलयकालमें तो पर्वतोंको भी पत्तोंके सदृश उड़ा देता था ॥ ५ ॥

भद्र, नन्दनमें (स्वर्गमें) कुन्द, मन्दार आदिके मकरन्द और पराग (पुष्पधूलि) से धूसर तथा नरकमें अङ्गारोंकी राशि तथा विपुल नीहारसे लदा रहता था ॥ ६ ॥

जब मैं समुद्रमें रहता था, तब मेरी गति सरल तरङ्गोंकी रेखाओंसे अनुमित होती थी और जब मैं आकाशमें रहता था, तब मैं कभी चन्द्रमारूपी दर्पणको मेघरूपी मल हटाकर स्वच्छ बना देता था और कभी मेघरूपी मलिनता लाकर मलिन बना देता था ॥ ७ ॥

मैं नक्षत्र रूपी राजसेनाका बड़े वेगसे आगेकी ओर बढ़ा हुआ रथ था [प्रवह नामका वायु नक्षत्रचक्रको घुमाता है, यह ज्योतिषशास्त्रका सिद्धान्त है], त्रिलोकीमें समस्त सिद्धोंके संचार एवं देवताओंके विमानोंके धारणमें सदा अनुकूल रहता था ॥ ८ ॥

मेरी इतनी शीघ्र गति थी कि मैं चित्त का (मनका) सहोदर भाई-सा था, मैं यों तो अनङ्ग था, फिर भी मैं किसी अङ्गसे रहित न था तथा अपने स्पन्दनोंसे चन्दनोंके बनोंको आनन्द विभोर बना देता था ॥ ९ ॥

तुषार कणोंकी जब महती वृष्टि होती थी, तब तुषार कणरूपी धवल रोमोंके कारण मैं बूढ़ा-सा लगता था, कुसुम आदि आमोदोंसे मैं यौवनके उन्मादसे

नन्दनामोदमधुरा मधुरोदारसंसृतिः ।
चारुचैत्ररथोन्मुक्तो हृतकान्तारतश्रमः ॥ ११ ॥
चिरं गङ्गातरङ्गाङ्गदोलान्दोलनसश्रमः ।
श्रमस्वरूपाज्ञतया निवारितततश्रमः ॥ १२ ॥
पुष्पभारानताः स्पर्शैर्वसन्तवनितालताः ।
चिरं चपलयन् लोलदलहस्तालिलोचनाः ॥ १३ ॥
चिरं भुक्त्वेन्दुबिम्बाग्रं सुप्त्वा पूर्णाभ्रतल्पके ।
विधूय कमलानीकमपनीतरतश्रमः ॥ १४ ॥
समस्तरजसामेको व्योमगामी तुरङ्गमः ।
आमोदमदमातङ्गसमुल्लासमहासुहृत् ॥ १५ ॥

चूर-सा हो जाता था तथा मौन एवं मृदुताके कारण मैं बालकरूप भी हो जाता था ॥ १० ॥

भद्र, नन्दनवनमें मधुर सुगन्धिके कारण मेरा गमन अति मधुर और उदार होता था तथा जब मैं कुबेरके चैत्ररथ नामक उद्यानसे प्रस्थान करता तब कान्ता जनोंके सुरतश्रमको हर देता था ॥ ११ ॥

भगवती भागीरथीके तरङ्गरूपी हिण्डोलोंके आन्दोलनोंसे मुझे श्रम-सा अवश्य लगता था, परन्तु दूसरोंके परिश्रमोंकी निवृत्ति करनेके उत्साहसे उसका मुझे ज्ञान ही नहीं हो पाता था, इसीलिए दूसरोंके असीम श्रमोंको मैं तत्काल ही नष्ट कर देता था ॥ १२ ॥

ऋतुराज वसन्तकी वनिता जैसी लताओंको मैं नर्मस्पर्शोंसे दीर्घकालके लिए चपल बनाता था। वे लतावनिताएँ फूलोंके भारोंसे नत रहती थीं, उनके चञ्चल दल हाथसे प्रतीत होते थे और भ्रमर नेत्रसे लगते थे ॥ १३ ॥

चन्द्रबिम्बमें सर्वश्रेष्ठ अमृतका दीर्घकाल तक पान कर, पूर्ण मेघरूप तल्पपर (शय्यापर) शयन कर तथा कमलोंकी पङ्क्तिको कँपा कर दूसरेके या अपने सुरत-जनित परिश्रमका निवारण करता था ॥ १४ ॥

मैं समस्त धूलियोंके लिए आकाशगामी घोड़ा तथा आमोदरूपी मत्त मातङ्गका उल्लासप्रद महान् मित्र था ॥ १५ ॥

धीरेखाऽप्यतडिच्छृङ्गं पयोदपशुपालकः ।
तन्तुः सीकरमुक्तानामरिधर्मो रजोरुजाम् ॥ १६ ॥
आकाशकुसुमामोदः सर्वशब्दसहोदरः ।
नाडीप्रणालीसलिलं भूताङ्गोपाङ्गवर्तकः ॥ १७ ॥
मर्मकर्मकरैकात्मा हृद्गुहागेहकेसरी ।
नित्यमेकान्तपथिकः सारविज्ञातवेदसः ॥ १८ ॥
आमोदरत्नलुण्टाको विमाननगरावनिः ।
दाहान्धकारशीतांशुः शैत्येन्दुक्षीरसागरः ॥ १९ ॥
प्राणापानकलारज्ज्वा प्राणिनां यन्त्रवाहकः ।
अरिर्मित्रं च द्वीपानां द्वीपसंचारणे रतः ॥ २० ॥

तड़ित्‌रूपी सींगको (गोपाल-बालकोंके वाद्यको) प्राप्त कर उसके नादसे मैं मेघरूपी दुधार पशुओंका एक पालक-सा बन गया, जलकणरूपी मोतियोंके लिए मैं सूत बन गया तथा धूलिनाशक जलके लिए मैंने शत्रुता मोल ली, क्योंकि जलको मैं सुखा देता था ॥ १६ ॥

आकाशरूपी फूलका मैं आमोद था, इसीलिए आकाशके गुण सब शब्दोंका मैं सहोदर भाई भी बन गया तथा प्राणियोंके अङ्ग उपाङ्गोंमें प्रवर्तक बनकर उनकी नाडीरूप प्रणालियोंमें (नालियोंमें) जलरूप-सा भी हो गया ॥ १७ ॥

सब प्राणियोंका प्राणभूत तथा हृदय आदि मर्म स्थानरूप होनेके कारण मर्म कार्य करनेवाले सब स्थानोंका मैं ही एक आत्मा बन गया, हृदय गुहारूप घरका मैं सिंह था, मैं निरन्तर नियमसे संचरण करता रहा, तथा मैं अग्निके बलका ज्ञाता था, क्योंकि दुर्बल जानकर दीपकको बुता देता था और बलिष्ठ जानकर मित्रभावसे अग्निको बढ़ा भी देता रहा ॥ १८ ॥

सुगन्धरूपी रत्नोंका मैं लुटेरा था, यानी जबरन कलीरूपी गाँठ खोलकर चुरा लेनेवाला विमानरूप नगरोंका धारणकारी था, दाह (ताप) रूपी अन्धकारके लिए मैं चन्द्रमा था और शैत्यरूपी चन्द्रमाके लिए क्षीर-सागर था ॥ १९ ॥

प्राण, अपानकी कलारूप रज्जुसे मैं प्राणियोंके यन्त्रोंका चालक था, द्वीपोंका तरङ्गोंसे खण्डन और धूलियोंसे संवर्धन करनेके कारण शत्रु-मित्र दोनों था तथा द्वीपोंमें संचार करनेमें सदा निरत रहता था ॥ २० ॥

पुरोगतोऽप्यदृश्यात्मा मनोराज्यपुरोपमः ।
तालवृन्ततिले तैलमालानं स्पन्ददन्तिनः ॥ २१ ॥
एकक्षणलवेनैव चालिताखिलभूधरः ।
वर्णावलितरङ्गाणां गङ्गावाह इवैककृत् ॥ २२ ॥
धूमाम्बुवाहरजसां महावर्त्तकृदम्भसाम् ।
द्युनदीवाहवार्योघनभोनीलोत्पलालिकः ॥ २३ ॥
शरीरावेष्टितोन्मुक्तपुराणतृणचोपनः ।
स्पन्दपद्मवनादित्यः शब्दवर्षैकवारिदः ॥ २४ ॥
व्योमकाननमातङ्गः शरीरगृहगर्गटः ।
धूलीकदम्बविपिनमालालिङ्गननायकः ॥ २५ ॥
स्त्यानीकरणसंशोषधृतिस्पन्दनसौरभैः ।
सशैत्यैः कर्मभिः षड्भिरलब्धक्षण आक्षयम् ॥ २६ ॥

भद्र, मैं सामने रहता था फिर भी मेरे स्वरूपको कोई देख नहीं पाता था, अतएव मैं मनोराज्यसे कल्पित नगर के सदृश था। पंखेरूपी तिलोंमें मैं तेलके सदृश तथा स्पन्दनरूप हाथीके लिए मैं बन्धनस्तम्भ आलानरूप था ॥ २१ ॥

प्रलयकालमें एक क्षणांशमें ही बड़े-बड़े पर्वतोंको उखाड़कर फेंक देता था। अनेक वर्णरूप तरङ्गोंको गङ्गा-प्रवाहके सदृश धूलिके सम्मिश्रणसे एकरूप बना देता था ॥ २२ ॥

मैंने वायुरूप होकर धूम, मेघ, रज और जलोंका एक आवर्त-सा खड़ा कर दिया था तथा आकाश-गङ्गाके प्रवाहरूप मकरन्दके जल-समूहसे युक्त आकाशरूप नील कमलका मैं भ्रमर था ॥ २३ ॥

झंझावातरूप शरीरके वेष्टनसे निर्मुक्त जीर्ण-शीर्ण तृणोंमें मैं मन्द मन्द गति देता था, स्पन्दनरूप (सामान्य क्रियारूप) कमलवनका मैं आदित्य यानी विकासका हेतु था और शब्दरूप वृष्टिके लिए मैं मुख्य मेघ था ॥ २४ ॥

व्योमरूपी जंगलका मैं मतवाला हाथी था, शरीररूपी घरका मैं गर्गट (निरन्तर शब्द करनेवाला एक तरहका यन्त्र) था, धूलिरूप रमणीसमूहका तथा वनमालारूप नायिकासमूहका आलिङ्गन करनेमें मैं नायक था ॥ २५ ॥

भद्र, वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकारकी क्रियाएँ करते करते प्रलयपर्यंत कभी भी विश्राम नहीं लिया। मेरे वे छः कर्म थे—हिम, घी आदिका पिण्ड बनाना, कीचड़

रसाकर्षणसव्यग्रो नित्यं भ्रातेव तेजसः ।
हरणादानकर्तॄणामङ्गानां विनियोगकृत् ॥ २७ ॥
शरीरनगरे नाडीमार्गैर्गतिनिरर्गलः ।
रसभाण्डे परावर्तादायुर्मणिमहावणिक् ॥ २८ ॥
शरीरनगरीनाशनिर्माणैकपरायणः ।
रसकिट्टकलाधातुपृथक्करणकोविदः ॥ २९ ॥
प्रतिसूक्ष्माणुकं देहे ततो दृष्टं मया जगत् ।
तत्रेत्थं रूपवानस्मि स्फुटमाभोगि सुस्थिरम् ॥ ३० ॥
परमाणुप्रति त्वत्र प्रोह्यन्त इव सर्गकाः ।
न च किंचित्किलोह्यन्ते खाकृते किमिवोह्यते ॥ ३१ ॥

आदिको सुखाना, मेघ आदिको धारण करना, तृण आदि में हलचल पैदा करना, सुगन्धको इधर उधर ले जाना तथा ताप हरना ॥ २६ ॥

श्रीरामजी, रसके आकर्षणके लिए मैं निरन्तर व्यग्र रहता था, इससे तेजका मैं भाई-सा बन गया था और हरण, आदान आदि करनेवाले हाथ आदि अङ्गों का मैं चालक था ॥ २७ ॥

शरीररूपी महानगरमें नाड़ीके मार्गोंसे किसी तरहकी विघ्नबाधा (रोकटोक) के विना अप्रतिहत गमन करता था तथा अन्नरसमय देहपात्रमें प्राणादिके रूपोंसे आवागमन कर आयुरूपी मणिके रक्षणमें मैं महावणिक् बन गया था ॥ २८ ॥

शरीररूपी नगरोंके नाश और निर्माणमें अकेले मैं तत्पर रहता था। अन्नरसोंके मल, सूक्ष्मतर सारभागरूप त्वचा आदि छः कलाओं एवं वात-पित्त-कफरूप धातुओंके पृथक्करणमें मैं महापण्डित था ॥ २९ ॥

तदनन्तर वायुमण्डलमें भी परमाणु तकके एक-एक द्रव्यके अन्दर भी मैंने रत्नकी शिलाके सदृश सुस्थिर, अतिविशाल जगत् देखे। उन जगतोंमें भी इसी तरह पृथ्वी आदि जगत्के रूपमें मैं ही रहा ॥ ३० ॥

यद्यपि यहाँ प्रत्येक परमाणुमें अनेक सृष्टियाँ बहती हुई-सी प्रतीत होती हैं, तथापि परमार्थ दृष्टिसे विचारनेपर न तो कुछ है, न कोई बहती-सी हैं, क्योंकि शून्याकार ब्रह्ममें बहना ही क्या ? ॥ ३१ ॥

प्रत्येक परमाणुमें किन किन पदार्थोंके साथ सृष्टियाँ विद्यमान-सी हैं, इसे कहते हैं—'सचन्द्रा०' इत्यादिसे ।

सचन्द्रार्कानिलाग्नीन्द्रपाशवैश्रवणेश्वराः ।
सब्रह्महरिगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ॥ ३२ ॥
ससागरगिरिद्वीपदिगन्तरमहार्णवाः ।
सलोकान्तरलोकेशक्रियाकालकलाक्रमाः ॥ ३३ ॥
सस्वर्गभूमिपातालततलोकान्तरान्तराः ।
सभावाभाववैधुर्यजरामरणसंभ्रमाः ॥ ३४ ॥
एवं नाम तदा राम भूतपञ्चकरूपिणा ।
मया प्रतिहतं तत्र त्रैलोक्यनलिनोदरे ॥ ३५ ॥
रसः पीतोऽनुभूतश्च क्ष्माजलानिलतेजसाम् ।
मूलजालेन वृक्षाणां प्राणिनां वसता मया ॥ ३६ ॥
रसायनघनाङ्गेषु चन्दनद्रवशोभिषु ।
लुठितं चन्द्रबिम्बेषु तुषारशयनेष्विव ॥ ३७ ॥

उन सृष्टियोंमें चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुण, कुबेर एवं महेश्वर, ब्रह्मा, हरि और गन्धर्व थे, विद्याधर तथा शेषराज थे। सागर, पर्वत, द्वीप, दिशाएँ एवं महान् समुद्र थे; अन्यान्यलोक, लोकपाल, क्रिया, काल एवं कल्पके क्रम थे ॥३२,३३॥

वहाँ स्वर्ग, भूमि, पातालतल तथा अन्यान्य लोकान्तर थे, भाव, अभाव, वैधुर्य, जरा, मरण, आदिकी भ्रान्तियाँ भी वहाँ विद्यमान थीं ॥ ३४ ॥

यों आकाशभावमें भी आकाशके जो विलास हैं, उनका भी अनुभव समझ लेना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यों उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतोंका रूप धारण कर मैंने उस त्रिलोकीरूप कमलके उदरमें खूब विहार किया ॥ ३५ ॥

जैसे जैसे विहार किया, उसका विस्तारके साथ वर्णन करते हैं—'रसः' इत्यादिसे ।

भद्र, पृथ्वी, जल, वायु, और तेजके समूहरूप वृक्षोंके शरीरमें निवास करते हुए मैंने मूलजालके द्वारा पृथ्वीका रस पीया और उसका प्रचुर अनुभव (स्वाद) लिया ॥ ३६ ॥

अमृतसे पूर्ण (घनीभूत) अङ्गोंवाले तथा चन्दनके द्रवके समान शीतल आदि गुणोंसे सुशोभित चन्द्रबिम्बोंपर, जो तुषारकी शय्याओं-ऐसे थे, खूब लोट-पोट की ॥ ३७ ॥

सर्वर्तुवनजालेषु नानामोदानि दिक्ष्वलम् ।
भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददताऽलये ॥ ३८ ॥
ततोन्नतासु मृद्वीषु स्वास्तीर्णास्वम्बराजिरे ।
सुप्तं शुभ्राभ्रमालासु नवनीतस्थलीष्विव ॥ ३९ ॥
सुमनःपत्रमृद्वुषु नीललक्ष्मीविलासिषु ।
सुरसिद्धाङ्गनाङ्गेषु दूरास्तस्मरवासनम् ॥ ४० ॥
कृतः कुमुदकह्लारकमले नलिनीवने ।
कोमलः कलहंसीभिर्लीलाकलकलारवः ॥ ४१ ॥
सरत्सरिच्छिरासारा मूलभूमण्डलान्विताः ।
अङ्गैरूढाः स्फुरद्भूता लोमालय इवाऽद्रयः ॥ ४२ ॥
खाद्रयः प्रथिता दीर्घसरित्सूत्रैः समुद्रकैः ।
आदर्शैरिव विश्रान्तमङ्गेषु प्रतिबिम्बिभिः ॥ ४३ ॥

अपने उपभोगके बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमरको देते हुए मैंने सभी ऋतुओं-में सब ओर विविध आमोदोंसे पूर्ण पुष्पराशियोंका खूब आनन्द लिया ॥ ३८ ॥

विस्तीर्ण, उन्नत, कोमल तथा आकाशरूपी आँगनमें कलापूर्णरूप रीतिसे बिछाई हुई धवल अभ्रमालाओंके ऊपर, जो मक्खनकी स्थलियाँ-सी थीं, शयन किया ॥ ३९ ॥

भद्र, शिरीषके फूलोंसे भी अधिक कोमल तथा नीलकमलकी-सी मनोहर कान्ति-वाली देवाङ्गनाओं तथा सिद्ध-सहचरियोंके मध्यमें कामकी वासनाको दूर फेंककर ही शयन किया ॥ ४० ॥

कुमुद, कह्लार तथा कमलोंसे पूर्ण रम्य बनोंमें तथा कमलनियोंके जङ्गलोंमें मैंने मधुरभाषिणी हँसियोंके साथ बड़ा ही सुमधुर लीलाकलकल निनाद किया ॥ ४१ ॥

रामजी, बह रहीं नदीरूपी सारवान् नाड़ियोंके मूलभूत भूमण्डलोंसे युक्त तथा स्फुरणशील व्याघ्रादि भूतगणोंसे शोभित पर्वतोंको ब्रह्माण्डरूपधारी मैंने अपने अङ्गों-से रोमोंकी पङ्क्तियोंकी तरह धारण किया ॥ ४२ ॥

जगत्में जो गगन, पर्वत आदि प्रसिद्ध हैं, उन्होंने नदीरूप सूत्र एवं समुद्रोंके साथ मेरे अङ्गोंमें प्रतिबिम्ब सहित आदर्शोंकी नाईं विश्राम किया ॥ ४३ ॥

भूतसर्गेण विश्रान्तं सिद्धविद्याधरादिना ।
मद्देहे चेतितेनेव मक्षिकायौकरूपिणा ॥ ४४ ॥

मत्प्रसादेन मुदितैर्लब्धमर्कादिभिर्वपुः ।
कृष्णरक्तसितापीतहरितैर्हरितैरिव ॥ ४५ ॥

समुद्रमुद्रया सप्तद्वीपसप्तात्मरूपया ।
संस्थया स्थापिता भूमिः प्रकोष्ठे वलयोपमा ॥ ४६ ॥

विद्याधरपुरन्ध्रीणां परामृष्टाङ्गयष्टिना ।
अदृष्टेनैव विहितः पुलकोल्लास आत्मना ॥ ४७ ॥

सरिच्छिरामलस्फाररसानि सुषिराणि च ।
जगन्त्येवास्थिजालानि ममाऽऽसन् संस्थितानि च ॥४८॥

सिद्ध, विद्याधर आदि प्राणियोंके समूहोंने ब्रह्माण्डभूत मेरे शरीरमें विश्राम किया । वे मेरी देहमें मक्खी और जूं ऐसे प्रतीत होते थे । ॥ ४४ ॥

तब क्या मक्खी, जूं आदिके सदृश भीत एवं प्रतिक्षण हटाये जानेके कारण उद्विग्न होकर उन्होंने ब्रह्माण्डभूत आपकी देहमें निवास किया ? इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'**मत्प्रसादेन**' इत्यादिसे ।

हे राघव, मेरी कृपासे प्रसन्न होकर सूर्य आदि देवताओंने शरीरसे कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत, हरित, वर्णोंसे स्निग्ध होकर वृक्षोंके सदृश मेरे शरीरमें स्थिति प्राप्त की ॥ ४५ ॥

भद्र, ब्रह्माण्डरूप होकर मैंने सात समुद्रोंसे वेष्टित तथा सात द्वीपोंके कारण सात रूप धरनेवाली यानी सात अङ्गोंसे युक्त भूमिको अपनी कलाईमें कङ्कणके सदृश धारण कर लिया था ॥ ४६ ॥

मैंने विद्याधरोंकी रमणियोंकी अङ्गरूपी यष्टियोंका स्पर्शकर उनमें अपने अमन्द आनन्दसे पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दीं । मैंने यद्यपि उनमें पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दी थीं, तथापि वे मुझको देख नहीं पाती थीं ॥ ४७ ॥

राघव, नदीरूप नाड़ियोंसे निर्मल (शुद्ध) भीतर स्थित प्रचुर रससे पूर्ण, नाना छिद्रोंसे युक्त पर्वत आदि जगत् मेरे शरीरमें अस्थिपञ्जर तथा मांस आदि बन गये थे ॥ ४८ ॥

असंख्यैर्व्योममातङ्गैश्चन्द्रार्कचलचामरैः ।
उदुम्बरान्तर्मशकैरिव मद्धृदये स्थितम् ॥ ४९ ॥
सर्वपातालपादेन भूतलोदरधारिणा ।
खमूर्ध्नाऽपि तदा राम न त्यक्ताऽथ पराणुता ॥ ५० ॥
दिक्षु सर्वासु सर्वत्र सर्वदा सर्वकारिणा ।
सर्वात्मनाऽप्यसर्वेण शून्यरूपेण संस्थितम् ॥ ५१ ॥
किंचित्त्वं सदकिंचित्त्वं साकृतित्वं निराकृति ।
अनुभूतं सजाड्यं च चेतनत्वमलं मया ॥ ५२ ॥
मैनाकमुग्धपीनस्य सागरस्याऽवनिं प्रति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि स्थाणुभूतान्यथो मया ॥ ५३ ॥

मेरे हृदयाकाशमें असंख्य ऐरावत आदि हाथी, जिनपर चन्द्र, सूर्य रूपी चँवर डुल रहे थे, गूलरके अन्दर मच्छरोंकी नाईं स्थित थे ॥ ४९ ॥

यों यद्यपि मैं अतिविस्तृत ब्रह्माण्डरूप था, तथापि मैंने परम सूक्ष्म चिन्मात्र-स्वभावताका परित्याग नहीं किया, यह कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डस्वरूप-दशामें यद्यपि समस्त पाताल मेरे चरण बन गये थे, भूतल मेरा उदर बन गया था और आकाश मेरा मस्तक हो गया था, फिर भी मैंने अपनी चितिमात्रस्वभावरूप सूक्ष्मता कभी नहीं छोड़ी ॥ ५० ॥

यद्यपि मैं समस्त दिशाओंमें, सभी स्थलोंमें, सभी कालोंमें सर्वात्मा बनकर सब-कुछ व्यवहार उस समय कर रहा था, फिर भी असलमें असर्वात्मक अतएव समस्त द्वैत पदार्थोंसे शून्य चिन्मात्र स्वरूपसे स्थित था ॥ ५१ ॥

उस समय मैंने परिच्छिन्नता-अपरिच्छिन्नता आदि सब विरुद्ध धर्मोंका एक साथ अपनी आत्मामें अनुभव किया, यह कहते हैं—'किञ्चित्त्वम्' इत्यादिसे।

उस दशामें किञ्चित्ता-अकिञ्चित्ता, साकारता-निराकरता, जड़ता-चेतनता आदि समस्त परस्पर अतिविरुद्ध धर्मोंका मैंने अपनी आत्मामें एक साथ खूब अनुभव किया ॥ ५२ ॥

जैसे चाँदीकी शिलाके अन्दर अनन्त जगत् विद्यमान हैं, वैसे ही समुद्रके पेटमें जितने प्रदेश पड़े हैं, उनमें भी अनेक जगत् विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं—'मैनाक०' इत्यादिसे।

तदनन्तर मैनाक पर्वतके सदृश भीतर छिपी हुई पर्वतशिलाओंसे मनोहर तथा

जगन्त्यङ्गे मयोढानि गूढानि प्रकटान्यपि ।
प्रतिबिम्बपुराणीव मुकुरेणाऽजडात्मना ॥ ५४ ॥
एवं जलानिलाग्नित्वं भूमित्वं खात्मना मया ।
कृतं चितेव स्वप्नेषु बत मायाविजृम्भितम् ॥ ५५ ॥
अपि तस्यामवस्थायां जगन्त्याकाशकोशके ।
मया दृष्टान्यसंख्यानि परमाणुकणं प्रति ॥ ५६ ॥
परमाणुप्रति व्योम परमाणुप्रति स्थितम् ।
सर्गवृन्दं यथा स्वप्ने स्वप्नान्तरयुतं पुरम् ॥ ५७ ॥
स्वमेवाऽहमभूवं भूमण्डलं द्वीपकुण्डलम् ।
सर्वात्मनाऽपि न व्याप्तं किंचनाऽपि मया क्वचित् ॥ ५८ ॥
सम्भुत्पादयताऽशेषं लतातरुतृणाङ्कुरम् ।
भूतलेन रसाः कृष्टा मयाऽर्थेनैव पुंभृताम् ॥ ५९ ॥

असीम विस्तारवाले समुद्रके पेटमें स्थित प्रत्येक प्रदेशके अन्दर हजारों स्थाणुरूप जो सृष्टियाँ विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया ॥ ५३ ॥

जैसे दर्पण प्रतिबिम्बरूपसे अनेक नगरोंको धारण करता है, वैसे ही चेतमस्वरूप मैंने अपने अङ्गोंमें गुप्त तथा प्रकट अनेक जगत् धारण किये ॥ ५४ ॥

हे राघव, इस प्रकार जल, वायु एवं अग्निरूपता, भूमिरूपताका अपनी आत्मासे मैंने ऐसे निर्माण किया, जैसे स्वप्नोंमें प्रसिद्ध आत्मचिति मायाविस्तृत नगरादिका निर्माण करती है ॥ ५५ ॥

और उस अवस्थामें मैंने आकाशकोशमें स्थित प्रत्येक परमाणुके भीतर भी असङ्ख्य जगत् देखे ॥ ५६ ॥

भद्र, और भी सुनिये, उस अवस्थामें प्रत्येक परमाणुके भीतर असीम आकाश स्थित था और उस अकाशमें भी उड़ रहे अनेक परमाणु विद्यमान थे, उन परमाणुओंके भीतर भी मैंने उस तरहके असङ्ख्य संसार देखे, जैसे कि स्वप्नके अन्दर अन्य स्वप्नके नगर दिखते हैं ॥ ५७ ॥

मैं आध्यासिक आत्माका ही स्वरूपभूत भूमण्डल तथा द्वीपकुण्डलरूप बन गया था। यों सर्वात्मक होते हुए भी मैंने परमार्थरूपसे कहीं किसीका भी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि परमार्थदशामें मैं असङ्ग अद्वयरूप ही हूँ ॥ ५८ ॥

शरीरधारी जो मनुष्य आदि जीव हैं, उनके उपकारार्थ ही लता, तृण, अङ्कुर

अवदाततमे शुद्धबोधकालमुपेयुषि ।
जगल्लक्षाणि तिष्ठन्ति न तिष्ठन्ति च कानिचित् ॥ ६० ॥
चिति यास्तु चमत्कारं चमत्कुर्वन्ति यत्स्वतः ।
स्वचमत्कृतयोऽन्तस्थास्तद्देताः सृष्टिदृष्टयः ॥ ६१ ॥
अनुभूतं कृतं कष्टं यावत्क्वचन किंचन ।
परमार्थचमत्काराहते नेहोपलभ्यते ॥ ६२ ॥
प्रत्येकं विश्वरूपात्मा सर्वकर्ता निरामयः ।
प्रबुद्धः शुद्धबोधात्मा सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥ ६३ ॥

आदि सबका उत्पादन करते हुए मैंने वर्षासे गिरे जलोंको भूतलरूप बनकर खींच लिया ॥ ५९ ॥

जैसे युद्ध जीव-संहारक है, वैसे ही बोधकाल अज्ञान-संहारक है। उक्त बोधदशा प्राप्त करनेपर अति स्वच्छ हुए मुझमें लाखों जगत् रह सकते हैं और कोई भी नहीं रह सकते ॥ ६० ॥

किस रूपसे वे जगत् रहते हैं और किस रूपसे नहीं रहते, इस प्रश्नका उत्तर यह है कि चितिके चमत्कारमात्र रूपसे रहते हैं और उसके विपरीत रूपसे नहीं रहते, यों कहते हैं—'चिति' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

भद्र, चितिके भीतर जो उसके अनेक चमत्कार हैं, वे चमत्कार जो सत्ता स्फूर्ति रूपसे दूसरा चमत्कार स्वयं करते हैं, यानी सत्ता स्फुरणको जगत्में आरोपित कर प्रकट करते हैं ये ही दूसरे चमत्कार इन सृष्टि-दृष्टियोंके रूपमें (संसारके रूपमें) प्रतीत होते हैं ॥ ६१ ॥

मैंने कहीं भी जो कुछ अनुभव किया, जो कुछ बनाया, जो कुछ कष्ट सहा, वह सब परमार्थभूत चिदात्माका चमत्कार ही था, क्योंकि उसके बिना यहाँ कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामजी, इसलिए अध्यारोपदृष्टिसे प्रत्येकमें अपनी सत्ताका समर्पण करनेके कारण मैं विश्वरूपात्मा और सबका कर्ता हूँ तथा अपवाददृष्टिसे प्रबुद्ध होकर मैं शुद्धबोधस्वरूप और कर्तृत्वादि विकारों से रहित हूँ, क्योंकि सब-कुछ तो ब्रह्मात्मक ही ठहरा ॥ ६३ ॥

सर्वः सर्वत्र सर्वात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
एतत्प्रबुद्धविषयमप्रबुद्धं न वेद्म्यहम् ॥ ६४ ॥
आकाशकोशविशदात्मनि चित्स्वरूपे
येयं सदा कचति सर्गपरम्परेति ।
सान्तस्तदेव किल ताप इवाऽन्तरूष्मा
भेदोपलम्भ इति नाऽस्ति सदस्त्यनन्तम् ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे पा॰वा॰ परमार्थसर्गयोरैक्यप्रतिपादनं नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

———०———

अतएव प्रत्येक वस्तुके अन्दर स्थित ब्रह्ममें समस्त जगत्का अध्यास होनेके कारण ब्रह्मस्वरूप सबकी आत्मा, सर्वगामी और सबका आधारभूत है, यह बात प्रबुद्ध योगियोंके लिए है यानी ज्ञानी महात्माओंकी दृष्टिमें जगत्का स्वरूप यह निकलता है और अज्ञानी अप्रबुद्धोंकी कथा तो मैं जानता ही नहीं। अबुद्ध अज्ञानी जगत्का जो स्वरूप समझ कर बैठे हैं, उनको ज्ञानी देख ही नहीं सकता ॥ ६४ ॥

इसलिए अद्वय परमात्मामें जो विद्वान् सर्वत्र सर्वात्मकता कहते हैं, वह केवल कल्पनामात्र है, चिदात्मासे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे।

आकाशकोशके सदृश अत्यन्त निर्मल चितिके स्वरूपमें जो यह अनेकविध सृष्टियोंकी परम्परा प्रकाशित हो रही है, वह अन्तमें चिदात्मक ब्रह्मरूप ही है, उससे अलग नहीं है। जैसे कोई यह शब्द-प्रयोग करे कि 'तापके भीतर उष्णता है' तो उस प्रयोगमें 'ताप', 'भीतर' और 'उष्णता' ये तीनों शब्द एकार्थक ही हैं, उनका पृथक् अर्थ नहीं है, परन्तु प्रयोग कल्पनामात्र है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म दोनों शब्द एकार्थ ही हैं, भिन्नार्थक नहीं हैं, केवल कल्पनामात्ररूपसे भेदका उपलम्भ होता है ॥ ६५ ॥

बानबे सर्ग समाप्त

———

त्रिनवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथैवंरूपसंवित्तेः परावृत्य प्रयत्नतः ।
तमम्बरकुटीकोशदेशमागतवनाहम् ॥ १ ॥
यावत्तत्र न पश्यामि स्वदेहं क्वचन स्थितम् ।
पश्यामि केवलं सिद्धं कमप्यन्यं पुरः स्थितम् ॥ २ ॥
उपविष्टं समाधाननिष्ठमिष्टं पदं गतम् ।
सौम्योदयमिवाऽऽदित्यं दग्धेन्धनमिवाऽनलम् ॥ ३ ॥
बद्धपद्मासनं शान्तं समाधाननिरिङ्गनम् ।
गुल्फद्वितयमध्यस्थवृषणं विषयातिगम् ॥ ४ ॥

तिरानबे सर्ग

[श्रीवसिष्ठजीका कुटीमें ध्यानस्थ सिद्धका दर्शन, कुटीके उपसंहारसे उसका पतन और वसिष्ठजीसे निज वृत्तान्त-वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, तदनन्तर—धारणाके प्रभावसे उत्पन्न हुए जगत्-शरीरको देखनेके बाद—उक्त कौतुकदर्शनभावनात्मक संवित्तिसे (सङ्कल्पसे) मैं निवृत्त हो गया, फिर उस पहलेके अपने समाधिस्थान आकाशकुटियाके प्रदेशकी ओर वापस लौट आया ॥ १ ॥

मैं अपनी पहलेकी कुटियापर पहुँच गया। मैंने वहाँ चारों ओर खूब खोज की। कहींपर भी मुझे अपना शरीर दिखाई नहीं दिया, परन्तु मैंने सामने बैठे किसी दूसरे सिद्धको देखा ॥ २ ॥

वे सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर आसन जमाये हुए थे। उन्होंने परम प्रीतिका भाजन निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया था। वे ऐसे भासमान हो रहे थे, जैसे सौम्य उदयसे युक्त आदित्य तथा इन्धनको दग्ध कर चुके अग्निदेव भासमान होते हैं ॥ ३ ॥

उन्होंने पद्मासन लगाया था। उनके सारे शरीरमें शान्ति-ही-शान्ति भरी थी। समाधि द्वारा इच्छित ब्रह्मपदमें चित्तके स्थिर हो जानेसे उनका शरीर तनिक भी हिलता डुलता न था, उनके अण्डकोश दोनों एड़ियोंके बीचमें दबे थे तथा वे विषयोंसे परे थे ॥ ४ ॥

मृष्टसौम्यसमाभोगस्कन्धबन्धुरकन्धरम् ।
सुस्थिरोदारविश्रान्तस्फारकस्थितिसुन्दरम् ॥ ५ ॥
नाभीनिकटगोत्तानपाणिद्वितयदीप्तिभिः ।
हृदयाम्भोजतेजोभिर्बहिष्ठैरिव भासितम् ॥ ६ ॥
श्लिष्टपक्ष्मेक्षणं क्षीणसर्वेक्षं स्वच्छतां गतम् ।
सरो निमीलिताम्भोजमिव सुप्तं दिनात्यये ॥ ७ ॥
अविक्षुभितमाशान्तमन्तःकरणकोटरम् ।
दधानं धीरया वृत्त्या शान्तोत्पातमिवाऽम्बरम् ॥ ८ ॥
अपश्यता निजं देहं तं मुनिं पश्यता पुरः ।
इदं मया तदा तत्र चिन्तितं चारुचेतसा ॥ ९ ॥

'समं कायशिरोग्रीवम्' इत्यादि श्लोकसे भगवान्‌ने जो ध्यानमें आवश्यक देहस्थिति बतलाई है, उसके लक्षण कहते हैं—'मृष्ट०' इत्यादिसे ।

समान (बराबर) विस्तारवाले दोनों कन्धोंसे, जिनके ऊपर भस्मसे त्रिपुण्ड्र-रेखाएँ खिंची थीं, जिनका गाम्भीर्य अत्यन्त ही लुभावना था, उनकी ग्रीवाकी शोभा देखते बनती थी । सनातन उदार ब्रह्म वस्तुमें उनका मन एकदम विश्रान्ति ले रहा था, इससे उनका मुख प्रसन्न था, इस प्रसन्न वदनसे शोभित उनके मस्तककी जो निश्चल स्थिति हुई थी, उससे वे सिद्ध बड़े ही रम्य लग रहे थे ॥ ५ ॥

नाभिके निकट भागमें चित कर रखे हुए उनके दो हाथोंकी शोभा ठीक खिले हुए दो कमलोंकी शोभाके सदृश थी, मालूम पड़ता था कि वे करकमल क्या हैं मानो बाहर आये हुए हृदयकमलके प्रकाश ही हैं । उनकी दीप्तिसे वे प्रकाश-मान थे ॥ ६ ॥

भद्र, उनके दोनों नेत्रोंकी पलकें बन्द थीं, उनके बाह्य इन्द्रियोंके समस्त व्यापार क्षीण हो गये थे और वे अत्यन्त निर्मल हो गये थे, इसलिए ऐसे भास रहे थे जैसे रातमें मुँदे हुए कमलोंसे युक्त निर्मल तालाब भासता है ॥ ७ ॥

विक्षोभोंसे रहित तथा पूर्णरूपसे शान्त अन्तःकरणरूप कोटरको उन्होंने धीर वृत्तिसे ऐसे धारण किया था मानो समस्त उत्पातोंसे रहित आकाशको धारण किया हो यानी शान्त क्षोभरहित उनका अन्तःकरण आकाशके सदृश अत्यन्त विशाल था ॥ ८ ॥

उस कुटियामें जब मैंने अपनी देह नहीं देखी और सामने उक्त मुनिको

अयं कश्चिन्महासिद्धः संप्राप्तोऽस्मिन् दिगन्तरे ।
विचार्याऽहमिवैकान्तं विश्रामार्थी महाम्बरम् ॥ १० ॥
समाधियोग्यमेकान्तं लभेयेतीह चिन्तया ।
कुटी दृष्टेयमेतेन सत्यसंकल्पशालिना ॥ ११ ॥
मदागमनमेतेन ततोऽचिन्तयता चिरम् ।
तं स्वदेहं शवीभूतमपास्येह कृता स्थितिः ॥ १२ ॥
तदिहास्तमहं यामि स्वं लोकमिति निश्चयम् ।
यावद्गन्तुं प्रवृत्तोऽस्मि तावत्संकल्पनक्षयात् ॥ १३ ॥
सा निवृत्ता कुटी तत्र संपन्नं व्योम केवलम् ।
स सिद्धोऽपि निराधारः पतितोऽधः समाधिमान् ॥ १४ ॥
स्वप्नसंकल्पसंशान्तौ स्वप्नसंकल्पपत्तनम् ।
यदा सा सुकुटी नष्टा मत्संकल्पोपशान्तितः ॥ १५ ॥

देखा, तब वहाँ मैंने अपने शुद्ध अन्तःकरणसे यह विचार किया ॥ ९ ॥

यह कोई बड़े सिद्ध महात्मा हैं । मैंने पहले जैसे एकान्त महाकाशकी, विश्रामके लिए, इच्छा की थी, उसी तरह इन्होंने भी विश्रामके लिए इसकी इच्छा की और सत्यसङ्कल्पके प्रभावसे इस दिशाकी ओर आ गये हैं ॥ १० ॥

मैं समाधियोग्य एकान्त स्थान पाऊँ इस चिन्तासे इन्होंने यहाँ आगमन किया है और यहाँ आकर सत्यसङ्कल्पवश अपनी समाधिके योग्य यह कुटिया देखी है ॥ ११ ॥

उसके बाद दीर्घ काल तक मेरी उपेक्षाके कारण शवरूप यहाँ स्थित मेरी देहको देखा, देखनेके बाद यह नहीं जाना कि मैं यहाँ फिर आऊँगा इससे मेरे शरीरको इन्होंने अन्यत्र फेंक कर इस कुटियामें अपना आसन जमाया है ॥ १२ ॥

अब मेरा तो शरीर वह नष्ट हो गया, अतः मैंने यह निश्चय किया कि इस आतिवाहिक देहसे ही मैं अपने सप्तर्षिलोकको जाऊँ, यों निश्चयकर ज्यों ही मैं जानेके लिए उद्यत हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसङ्कल्पके नष्ट हो जानेसे वह कुटिया भी अदृश्य हो गई और वहाँ केवल शुद्ध आकाशमण्डल ही रह गया। वह सिद्ध भी समाधि अवस्थामें ही निराधार होकर नीचेकी ओर गिरने लग गये ॥ १३, १४ ॥

स्वप्न-सङ्कल्पकी शान्ति हो जानेपर जैसे स्वप्नका नगर ध्वस्त हो जाता

स पपात ततो व्यानी जलोत्पीड इवाऽम्बुदात् ।
खादिवाऽनिलनुन्नोऽब्द इन्दुबिम्बमिव क्षये ॥ १६ ॥
वैमानिक इवाऽपुण्यश्छिन्नमूल इव द्रुमः ।
खात्त्यक्त इव पाषाणः स पपात ततोऽवनौ ॥ १७ ॥
अहं यावदियं तावत्कुटिकाऽस्त्विति कल्पने ।
क्षीणे कुटीक्षये जाते स सिद्धः पतितः क्षणात् ॥ १८ ॥
पतता तेन सिद्धेन ततः सौजन्यकौतुकः ।
मनसैवाऽहमगमं नभसो वसुधातलम् ॥ १९ ॥
सोऽपतत्पवनस्कन्धवलनावर्तवृत्तिभिः ।
सप्तद्वीपसमुद्रान्ते गीर्वाणरमणावनौ ॥ २० ॥
प्राणापानोर्ध्वगामित्वात्खाद् यथास्थितमेव सः ।
सृष्टपूर्वोर्ध्वमूर्ध्वोर्व्यां बद्धपद्मासनोऽपतत् ॥ २१ ॥

है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पकी शान्ति हो जानेसे जब वह कुटिया नष्ट हो गई, तब मेघसे जल-समूहके सदृश वहाँसे वह गिरने लगे। उस समय वह ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो वायुसे छिन्न किया गया मेघखण्ड आकाशसे गिर रहा हो या प्रलय कालमें चन्द्रबिम्ब आकाशसे गिर रहा हो या पुण्यका क्षय हो जानेपर वैमानिक गिर रहा हो या मूलके कट जानेपर वृक्ष गिर रहा हो या आकाशसे फेंका गया पत्थर गिर रहा हो। वे आगे कही जानेवाली काञ्चन भूमिके ऊपर गिरे ॥ १५, १७ ॥

भद्र, मेरा पहलेका सङ्कल्प यह रहा कि यह कुटिया तब तक रहे जब तक कि मेरी यहाँ स्थिति बनी रहे। यह मेरा सत्य सङ्कल्प जब सप्तर्षिलोकमें जानेके सङ्कल्पसे क्षीण हो गया, तब तत्काल ही वह सिद्ध गिर पड़े ॥ १८ ॥

तदनन्तर गिर रहे उस सिद्धके साथ मैं उस आतिवाहिक देहसे सुजनतावश कहिये या कौतुकवश कहिये आकाश-मण्डलसे वसुधातलकी ओर गया ॥ १९ ॥

प्रवह आदि पवनस्कन्धोंका जो परिवर्तन है, इससे जनित आवर्त-वृत्तियोंसे यानी जैसे आवर्तमें घूम रहा जल नीचे घुस जाता है, वैसे ही वह सिद्ध सात द्वीप और चार समुद्रोंके पारकी देवताओंकी आश्रय काञ्चन भूमिपर गिरे ॥ २० ॥

भद्र, जब वे आकाशसे पृथ्वीपर गिरे, तब वे वैसे ही गिरे जैसे कि आकाश

न प्रबुद्धो बभूवाऽसौ विचरं तमचेतनः ।
पाषाणदेह इव वा तूलात्मेवैव वा लघुः ॥ २२ ॥
मया तदवबोधार्थमथ यत्नवता तदा ।
कृत्वा जलदतां व्योम्नि वृष्टं गर्जितमूर्जितम् ॥ २३ ॥
करकाशनिपातेन तेन तस्मिन् दिगन्तरे ।
मयूरं प्रावृषेवाऽमुं बुद्ध्या बोधितवानसौ ॥ २४ ॥
बभूवाऽऽकासिताङ्गश्रीर्विकासितविलोचनः ।
धारानिकरफुल्लात्मा प्रावृषीवाम्बुजाकरः ॥ २५ ॥
प्रबुद्धं संप्रशान्तायां दृष्टौ तमहमग्रतः ।
अपृच्छं स्वच्छया वृत्त्या निवृत्तं परमार्थतः ॥ २६ ॥

की उत्तम कुटियामें पद्मासन बाँधकर स्थित थे। पहले तो उनका पैरका हिस्सा पृथ्वीमें जम गया और उनका मस्तक भी ऊँचा ही रहा, क्योंकि प्राणवायुसे अपनेको, ऊपर आकर्षणसे, ऊर्ध्वगामी पहलेसे ही उन्होंने कर रक्खा था। तात्पर्य यह है कि जैसे कुएँमें उतर रहा घड़ा या तुम्बा रज्जुसे या डंठलसे ऊपरकी ओर स्तंभित रहता है, वैसे ही वह सिद्ध प्राण और अपानसे ऊपरकी ओर स्तंभित रहनेके कारण गिरनेपर भी निम्नमस्तक नहीं हुए ॥ २१ ॥

वह सिद्ध इतने ऊँचेसे गिरे, फिर भी उनका शरीर न तो टूटा और न उनकी समाधि ही भङ्ग हुई, क्योंकि वह योगबलके प्रभावसे वज्रशरीर बन गये थे या तूलपिण्डके सदृश अत्यन्त हलके बन गये थे ॥ २२ ॥

तदनन्तर उनको समाधिसे जगानेके लिए प्रयत्नवान् होकर मैंने उस समय मेघरूप धारण किया और मेघ बनकर खूब बरसा और तेज गर्जना की ॥ २३ ॥

मेघरूप होकर मैंने अपनी बुद्धिके प्रभावसे ओलेरूपी वज्रकी वृष्टि द्वारा उस महात्माको समाधिसे ऐसे जगाया जैसे मेघ वर्षासे मयूरको जगाता है ॥ २४ ॥

समाधिसे जागनेके बाद उनके समस्त अङ्गोंकी शोभा प्रकाशित होने लग गई और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे। उस समय वह ऐसे प्रतीत हुए मानो वर्षा कालमें धारापातोंसे विकसित हुआ कमलवन हो ॥ २५ ॥

परमार्थ ब्रह्ममें स्थितिकी हेतुभूत समाधिके शान्त हो जानेपर जब मेरे सामने वह प्रबुद्ध (जाग्रत) हो गये, तब मैंने बहुत ही स्वच्छ भावसे उनसे यह पूछा ॥ २६ ॥

क्व स्थितोऽसि करोषीदं किंच भो मुनिनायक।
कस्त्वं कस्मादलं दूरान्न भ्रंशमपि चेतसि ॥ २७ ॥
इत्युक्तो मामसौ प्रेक्ष्य संस्मृत्य प्राक्तनीं गतिम्।
उवाच वचनं चारु चातको जलदं यथा ॥ २८ ॥

सिद्ध उवाच

प्रतिपालय मे यावत्स्ववृत्तान्तं स्मराम्यहम्।
कथयिष्यामि ते पश्चात्पाश्चात्यं वृत्तमात्मनः ॥ २९ ॥
इत्युक्त्वा चिन्तयित्वाऽऽशु स यथावृत्तमक्षतम्।
स्मृतवान् सायमह्नीव समाचरितमात्मनः ॥ ३० ॥
मामथोवाच वचनं चारु चन्द्रांशुशीतलम्।
आह्लादनमनिन्द्यं च निरवद्यं सुखोदयम् ॥ ३१ ॥

सिद्ध उवाच

अधुना त्वं मया ब्रह्मन् परिज्ञातोऽभिवादये।
अतिक्रमोऽयं क्षन्तव्यः स्वभावो हि सतां क्षमा ॥ ३२ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, आप कहाँ हैं, यह आप क्या कर रहे हैं, आप हैं कौन और इतने दूरसे आपका नीचे पतन हुआ, फिर भी आप अपने चित्तमें उसका अनुभव क्यों नहीं करते ॥ २७ ॥

जब मैंने ऐसा प्रश्न किया, तब उन्होंने मेरी ओर दृष्टि की, फिर पूर्व गतिका स्मरण कर जैसे चातक मेघसे सुन्दर वचन कहता है वैसे ही मुझसे सुन्दर वचन कहे ॥ २८ ॥

सिद्धने कहा—हे मुने, कुछ क्षण आप ठहरिये, तब तक मैं अपना वृत्तान्त याद कर लूं। फिर मैं आपसे पूर्वजन्मका सारा किस्सा कह सुनाऊंगा ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी, ऐसा कह कर उन्होंने सोचकर समस्त जन्मान्तरोंके वृत्तान्तोंके साथ अपना पूर्व वृत्तान्त जैसे पुरुष पूर्वाह्णमें आचरित वृत्तान्तका सायं कालमें स्मरण करता है वैसे ही तुरन्त स्मरण किया ॥ ३० ॥

इसके बाद वह मुझसे यह वचन बोले। उनका वचन सुन्दर, चन्द्र-किरणोंके सदृश शीतल था, आह्लादकारक था तथा अनिन्द्य, निर्दोष एवं सुखोत्पादक था ॥ ३१ ॥

सिद्धने कहा—हे ब्रह्मन्, हाँ, अभी मैंने आपको जाना, अतः आपको मैं अभिवादन करता हूँ। मैंने प्रथम दर्शनमें आपको अभिवादन नहीं किया, इससे जो

मुने चिरमहं भ्रान्तो देवोपवनभूमिषु ।
भोगामोदविमोहेषु षट्पदः पद्मिनीष्विव ॥ ३३ ॥
दृश्यनद्यामथो चित्तजलवल्लोलहेलया ।
चक्रावर्त्तोह्यमानेन मयोद्विग्नेन चिन्तितम् ॥ ३४ ॥
संसारसागरे दृश्यवल्लोलैरहमाकुलः ।
कालेनोद्वेगमायातश्चातकोऽवग्रहे यथा ॥ ३५ ॥
संविन्मात्रैकसारेषु रम्यं भोगेषु नाम किम् ।
अवतिष्ठे गतोद्वेगसंविद्व्योम्न्येव केवलम् ॥ ३६ ॥

मेरा अपराध हुआ, उसे क्षमा कीजिये, क्योंकि अपराध क्षमा करना सज्जनोंका सहज स्वभाव ही है ॥ ३२ ॥

हे मुने, जैसे कमलोंमें भौंरा भ्रमण करता है वैसे ही मैंने दीर्घकाल तक भोगरूपी सुगन्धसे पूर्ण मोहकारक देवताओंकी उपवनभूमियोंमें उत्तरोत्तर परिभ्रमण किया ॥ ३३ ॥

तदनन्तर चित्तरूपी जलके तरङ्गोंके हिलोरोंसे दृश्यरूपी नदीमें चक्रावर्तोंसे रात-दिन बह रहे मैंने दीर्घकालके बाद विवेकका आविर्भाव होनेपर संसारसे उद्विग्न होकर यों विचार किया ॥ ३४ ॥

संसाररूपी सागरमें दृश्यरूपी तरङ्गोंसे मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया और दीर्घकालके बाद ऐसे उद्वेगको प्राप्त हुआ जैसे कि वृष्टिके अभावमें चातक उद्वेगको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

सिद्धने जो विचार किया, उसे कहते हैं—'संविन्मात्रै०' इत्यादिसे ।

जिनका सार केवल ज्ञान ही है, उन भोगोंमें रम्य वस्तु है ही कौन ! यदि उनमें संविद्रूपसे प्रकाशमान सुख ही रम्य वस्तु है, तो सुखसे भिन्न सुखसाधन दुःखरूप होनेसे उनका सार दुःख ही ठहरा, इसलिए दुःखांशको छोड़कर सारभूत सुख संविदाकाशमें ही केवल अवस्थित रहूँ, दूसरे समस्त असारसे अब मतलब ही क्या ॥ ३६ ॥

अपरिच्छिन्न सुखको छोड़कर परिगणित परिच्छिन्न असुखमें रमण करना उचित नहीं है, यह कहते हैं—'शब्द०' इत्यादिसे ।

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रादृते परम् ।
नेह किंचन नामाऽस्ति किमेतावत्यहं रमे ॥ ३७॥
चिन्मात्राकाशमेवैतत्सर्वं चिन्मात्रमेव वा ।
तत् किमत्राऽसदाकारे रमे नष्टमतिर्यथा ॥ ३८॥
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसाः सरसवैरस्या लुठन्नेषु न को हतः ॥ ३९॥
जीर्णा जीवितजम्बालजरच्छफरिकामतिः ।
कायं द्रुतगताऽऽदातुं जरेच्छति बृहद्बकी ॥ ४०॥
कायोऽयमचिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव ।
स्फुरन्नेव पुरोऽन्तर्धिं याति दीपशिखा यथा ॥ ४१॥

इस संसारमें शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध मात्रको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए ऐसे तुच्छ पदार्थोंमें क्या रमूं ॥ ३७ ॥

ये शब्द आदि जितने विषय हैं, वे यदि स्वतःसत्तावान् चिदात्मामें चिदात्मासे भिन्न माने जायँ, तो वे शून्यात्मक यानी असत् ही होंगे यदि चिदात्मासे अभिन्न माने जायँ, तो चिदात्माके स्वरूप ही होंगे— यों दोनों तरह असद् आकारवाले उन शब्दादिमें, उन्मत्तके सदृश, मैं क्या रमण करूं ॥ ३८ ॥

शब्द आदि विषय विषके सदृश मरण, उन्माद आदि विषमता पैदा करनेवाले हैं, स्त्रियाँ कामरूप विमोहमें ही फँसानेवाली हैं, राग सरस पुरुषको भी नीरस बना देनेवाले हैं, इसलिए इनमें पड़नेवाला पुरुष कौन नष्ट नहीं हुआ । हिरण, हाथी आदि एक-एक वस्तुमें आसक्ति रखनेके कारण वध एवं बन्धनको प्राप्त होते हैं, यह सबको विदित है ॥ ३९ ॥

इसी तरह शरीरमें भी आसक्ति उचित नहीं है, यह कहते हैं—'जीर्णाः' इत्यादिसे ।

जल्दी प्राप्त होनेवाली बुढ़ौती एक तरहकी बड़ी बकी है, यह जब जीवन जीर्ण होने लगता है, तब सोचती है कि मैंने इस जीर्ण जीवनरूपी शेवालमें बड़ी मछली पकड़ ली । यों बुद्धि करके वह तत्काल ही शरीरको अपने उदरस्थ कर लेनेकी इच्छा करती है ॥ ४० ॥

यह शरीर-समुद्रमें बुल्लेके सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाला पदार्थ है, इसलिए कुछ काल तक स्फुरित होते ही सामने देखते-देखते, दीपशिखाके सदृश, विलीन

विविधाकुलकल्लोला चक्रावर्तविधायिनी ।
मृतिजन्मबृहत्कूला सुखदुःखतरङ्गिणी ॥ ४२ ॥
यौवनोल्लासकलिला जराधवलफेनिला ।
काकतालीययोगेन संपन्नसुखबुद्बुदा ॥ ४३ ॥
व्यवहारमहावाहरेखाजडरवाकुला ।
रागद्वेषघनोल्लासा भूतलालोलदेहिका ॥ ४४ ॥
लोभमोहमहावर्ता पातोत्पातविवर्तनी ।
हा तता जीविताख्येयं नदीनदनशीतला ॥ ४५ ॥
अपूर्वाण्युपगच्छन्ति तथा पूर्वाणि यान्त्यलम् ।
संसारसरिदम्बूनि संगतानि धनानि च ॥ ४६ ॥

हो जाता है ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार जीनेकी भी आशा उचित नहीं है, यह बतलानेके लिए उसका नदीरूपसे वर्णन करते हैं—'विविध०' इत्यादिसे ।

यह जीवन नामकी तो एक महानदी है । इसमें विविध प्रकारके विक्षेप तो ज्वारभाटे हैं, चक्र-परिवर्तनोंके सदृश उसमें नानाविध भ्रमण ही आवर्त हैं, मरण और जन्म उसके दोनों तरफके किनारे हैं तथा सुख-दुःख तरङ्ग हैं ॥ ४२ ॥

उसमें यौवनका उल्लास ही कीचड़ भरा पड़ा है, जरारूपी धवल फेन है, काकतालीयके योगसे उसमें कभी कभी सुखरूप बुल्ले भी उठते रहते हैं ॥ ४३ ॥

उसमें व्यवहार महाप्रवाहकी रेखा है—इस व्यवहाररूप महाप्रवाहकी रेखासे उसमें नानाविध मूर्खप्रलापरूपी जलके शब्द हुआ करते हैं यानी वह जलरवोंसे व्याकुल रहती है, राग-द्वेषरूप मेघोंसे वह निरन्तर बढ़ती ही रहती है, भूतलपर उसका शरीर सदा ही चञ्चल रहता है ॥ ४४ ॥

इस जीवननदीमें सदा लोभ-मोहके आवर्त उठते रहते हैं, पतन और उत्पतनसे उसका निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इस प्रकारकी यह जीवननदी शब्दमात्रसे तो अत्यन्त शीतल है, परन्तु अर्थतः वास्तवमें तीनों तापोंका प्रदान करती हुई बहती जाती है, इसलिए इसकी भी आशा करना महान् खेदका ही विषय है ॥ ४५ ॥

संसाररूपी नदीके जलस्थानीय जो इष्ट-पुत्र, मित्र आदिके समागम तथा धन हैं, वे पहलेके तो चले जाते हैं और नवीन आते रहते हैं यानी कोई भी स्थिर नहीं रहते ॥ ४६ ॥

प्रवृत्ता ये निवर्तन्ते तैरलं हतभावकैः ।
अपूर्वा ये प्रवर्तन्ते तेष्वथाऽऽस्थेह कीदृशी ॥ ४७ ॥
सर्वस्याः सरितो वारि प्रयात्यायाति चाऽऽकरात् ।
देहनद्याः पयस्त्वायुर्यात्येवाऽऽयाति नो पुनः ॥ ४८ ॥
शतशः परिवर्तन्ते प्रतिपिण्डं क्षणं प्रति ।
कुलालचक्रकाभावा इव भावा भवाम्बुधौ ॥ ४९ ॥
चरन्ति चतुराश्चौरा विषमा विषयारयः ।
हरन्ति भावसर्वस्वं जागर्मि स्वपिमीह किम् ॥ ५० ॥
आयुषः खण्डखण्डाश्च निपतन्तः पुनः पुनः ।
न कश्चिद्वेत्ति कालेन क्षतानि दिवसान्यहो ॥ ५१ ॥

इस स्थितिमें जो जानेवाले हैं और जो आनेवाले हैं, उनके विषयमें हर्ष-शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं—'प्रवृत्तः' इत्यादिसे ।

जो पहले प्राप्त हुए हैं, वे तो निवृत्त हो जाते हैं और जो कभी प्राप्त हुए हो नहीं, वे प्राप्त होते हैं,-इसलिए ऐसे नष्टस्थितिवाले पदार्थोंकी प्राप्तिसे क्या और इनमें आस्था करना ही क्या यानी न तो उनसे कोई मतलब निकलेगा और न वे विश्वास करने योग्य ही हैं ॥ ४७ ॥

आयुमें धनादिसे विलक्षणता बतलाते हैं—'सर्वस्याः' इत्यादिसे ।

संसारमें जितनी नदियाँ हैं, उनका जल तो पर्वत, मेघ आदि आकर स्थानसे आता और जाता रहता है, परन्तु देहरूपी नदीका आयुरूपी जल तो चला ही जाता है, फिर पुनः लौट कर नहीं ही आता ॥ ४८ ॥

इस संसाररूपी सागरमें प्रतिदेह और प्रतिक्षण भाव यानी योग्य वस्तुओंका, कुम्हारके चाकपर चढ़ाये गये सकोरोंके सदृश, सैकड़ों बार परिवर्तन होता ही रहता है ॥ ४९ ॥

भयङ्कर शत्रुभूत चतुर विषयरूपी चोर चारों ओर घूमते रहते हैं और विवेकरूपी सर्वस्वका अपहरण करते हैं, इसलिए अब जागूँ यहाँ सोया क्यों हूँ ॥ ५० ॥

आयुके टुकड़े-टुकड़े क्षण क्षणमें बार बार गिरते रहते हैं, परन्तु आश्चर्यकी बात है कि कोई भी प्राणी कालके द्वारा विनष्ट किये गये आयुके दिनोंको जान नहीं पाता ॥ ५१ ॥

इदमद्य तथेदं च तथेदमिदमस्य मे ।
एवं कलनया लोको गतं प्राप्तं न वेत्त्यहो ॥ ५२ ॥
भुक्तं पीतमनन्तासु भ्रान्तं च वनभूमिषु ।
दृष्टानि सुखदुःखानि किमन्यदिह साध्यते ॥ ५३ ॥
सुखदुःखानुभवनाद्भूयो भूयो विवर्तनात् ।
अनित्यत्वाच्च भावानां स्थिता निष्कौतुका वयम् ॥ ५४ ॥
भुक्तानि भोगवृन्दानि दृष्टा चाऽनित्यता भृशम् ।
नोपलभ्यत एवाऽतिविश्रान्तिरिह कुत्रचित् ॥ ५५ ॥
भ्रान्तमुत्तुङ्गशृङ्गासु मेरूपवनभूमिषु ।
लोकपालपुरीषूच्चैः संप्राप्तं किमकृत्रिमम् ॥ ५६ ॥
सर्वत्र दारुभिर्वृक्षा मांसैर्भूतानि भूर्मृदा ।
दुःखान्यनित्यता चेति कथमाश्वास्यते वद ॥ ५७ ॥

आज यह हुआ, कल यह होगा, यह तो मेरा है और वह इसका है, इस प्रकार रात दिन सङ्कल्प-विकल्प करता हुआ प्राणी यह नहीं जान पाता कि मेरी कितनी आयु चली गई और अब मेरी मृत्यु आ गई ॥ ५२ ॥

खूब खाया और पीया, अनन्त विभूतियोंमें विचरण किया, सुख-दुःख भी खूब भोगे, अब दूसरा करनेको बचा ही क्या है ? ॥ ५३ ॥

सुख-दुःखके बार-बारके अनुभवसे, बार बार अनेक तरहके परिवर्तनोंसे तथा पदार्थोंकी नश्वरतासे अब हम भोगोंसे ऊब उठे हैं यानी उनमें अब किसी तरहकी उत्कण्ठा रही नहीं ॥ ५४ ॥

यद्यपि नाना तरहके अनेक भोग भोगे, बार-बार पदार्थोंकी अस्थायिता भी देख ली, परन्तु कहींपर भी यहाँ उत्तम शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकी ॥ ५५ ॥

यद्यपि मैंने उत्तुङ्ग शिखरोंवाले मेरुपर्वतकी उपवन भूमियोंमें खूब विहार किया तथा लोकपालोंकी महान् नगरियोंमें भी खूब विहार किया, तथापि क्या आज तक मैंने स्वाभाविक (अकृत्रिम) सुख पाया अर्थात् नहीं ही पाया ॥ ५६ ॥

अब सब भोगोंकी असारता विवेकपूर्वक बतलाते हैं—'सर्वत्र' इत्यादिसे। सभी जगहके वृक्ष काष्ठोंसे ही व्याप्त हैं, प्राणिसमूह मांससे व्याप्त है, पृथ्वी मिट्टीसे भरी पड़ी है, और दुःख एवं नश्वरता सारे संसारको घेर कर खड़ी है, फिर आप कहिये कि उनमें विश्वास कैसे हो ॥ ५७ ॥

न धनानि न मित्राणि न सुखानि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं कालेनाऽऽकलितं जनम् ॥ ५८ ॥
जनो जीमूतजठरजलवद्गिरकुक्षिपु ।
यात्यन्तःशून्य एवाऽस्तं पांसुप्रचयपेलवः ॥ ५९ ॥
न मे मनोरमाः कामा न च रम्या विभूतयः।
इदं मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं च जीवितम् ॥ ६० ॥
क्वेव कस्य कथं नाम कुत आश्वासना मुने।
अद्य श्वो वाऽऽपदं पापो मृत्युर्मूर्ध्नि नियच्छति ॥ ६१ ॥
शरीरं पर्णवद्भ्रंशि जीवितं जीर्णसंस्थिति।
धीरधीरतया ग्रस्ता रसा नीरसतां गताः ॥ ६२ ॥
नीतं मनोरथैरेव नीरसैर्वायुरायतम्।
न मम स्वं चमत्कारकारि किंचिदपीहितम् ॥ ६३ ॥

न तो धन, न मित्र, न सुख और न बान्धव ही उस पुरुषकी रक्षा कर सकते हैं, जो कि कालके गालमें फंस चुका है ॥ ५८ ॥

बालूके ढेरके सदृश यह पुरुष अत्यन्त अस्थिर है, पर्वतोंके मध्यमें बरसे हुए मेघके पेटमें विद्यमान जल जैसे क्षण क्षणमें नष्ट होता रहता है, भीतरसे बचावका उपाय नहीं करता और आखिरमें नष्ट हो जाता है ठीक वैसे ही वह पुरुष विषयोंके अन्दर आसक्त होकर क्षण क्षणमें विनाशकी ओर जाता रहता है और अन्तमें मरण ही प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

न तो स्त्रियाँ ही अच्छी हैं और न अनेक तरहकी भौतिक विभूतियाँ (ऐश्वर्य) ही रमणीय हैं। तथा यह जीवन तो मदमस्त अङ्गनाके कटाक्षभङ्गके समान अति चञ्चल है यानी बहुत जल्द ही नष्ट हो जानेवाला है ॥ ६० ॥

हे मुने, अब आप कहिये कि मनुष्य कहाँ, किसका, किस प्रकार और कैसे विश्वास रख सकता है, यानी इन सब प्रत्यक्ष दृष्टान्तोंसे मनुष्यके लिये कोई स्थान आदि ऐसा है ही नहीं कि विश्वास रखकर विश्रान्ति ले, क्योंकि क्रूर मृत्यु आज या कल अवश्य ही माथेपर आपदाएँ प्राप्त करावेगा ही ॥ ६१ ॥

शरीर तो पत्तेके सदृश गिर जानेवाला है, जीवनकी स्थिति भी जीर्णशाली है, बुद्धि अधीरतासे निरन्तर ग्रस्त है और विषय नीरसता लिये हुए हैं ॥ ६२ ॥

नीरस विषयोंने और उनके मनोरथोंने इस बड़ी आयुको ले लिया, परन्तु

मोहोऽद्य मान्द्यमायातो देहो नेहोपयुज्यते ।
अनास्थैवोत्तमाऽवस्था स्थानास्थैवाऽधमा स्थितिः ॥ ६४ ॥
आपदापतितैवेयमहो मोहविधायिनी ।
नित्यमित्येव मन्तव्यं सक्तव्यं नेह संसृतौ ॥ ६५ ॥
विधिभिः प्रतिषेधैश्च शाश्वतैरप्यशाश्वतैः ।
यथेष्टं नीयते लोको जलं निम्नोन्नतैरिव ॥ ६६ ॥
विवेकामोदसर्वस्वं चेतःकुसुमकोशतः ।
हृत्वा मूर्छां प्रयच्छन्ति विषया विषवायवः ॥ ६७ ॥
असदेव तथा नाम दृष्टं सत्तामुपागतम् ।
यथाऽसदेव सद्रूपं संपन्नमसदेव सत् ॥ ६८ ॥

चमत्कारजनक यानी उत्तम पुरुषार्थरूप चमत्कारकी जननी सम्पत्ति मेरे लिये कुछ भी पैदा नहीं की ॥ ६३ ॥

आज ही मेरा मोह मन्द पड़ गया है, देह यहाँ किसी कामके लिए उपयोगी नहीं है, विषयोंमें आसक्ति न करना सबसे श्रेष्ठ स्थिति है और जीवनमें आस्था बाँधकर बैठे रहना सबसे अधम स्थिति है ॥ ६४ ॥

विवेकी पुरुषोंको सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिमें भी निरन्तर यही मानना चाहिए कि यह बड़ी भारी आपत्ति ही आई, क्योंकि वही विषयसम्पत्ति पुरुषमें बड़ा भारी मोह पैदा करती है, इसलिए इस तुच्छ संसारमें तो कभी आस्था बाँधनी ही नहीं चाहिए ॥ ६५ ॥

विवेकीको तो कर्मशास्त्र भी व्यामोहकारक ही दीखते हैं, यह कहते हैं—'विधिभिः' इत्यादिसे ।

निरन्तरके लिए विधि-प्रतिषेधके प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, चाहे कभी कभी के लिए विधि-निषेधके प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, इनसे तो पुरुष लोकमें उस प्रकार यथेष्ट लुढ़कता फिरता है, जैसे निम्न और उन्नत स्थानोंसे जल ॥ ६६ ॥

क्योंकि ऐहिक और आमुष्मिक विषय कर्मियोंको ही विवेकसे भ्रष्ट कर अनर्थकी ओर पहुँचाते हैं, यह कहते हैं—'विवेका०' इत्यादिसे ।

विषयरूप विषपूर्ण वायुमण्डल अन्तःकरणरूपी फूलके कोशसे विवेक सुगन्धरूपी सर्वस्वका अपहरण कर कर्मशास्त्रमें प्रवृत्त पुरुषको मूर्च्छा प्रदान करता है ॥६७॥

वास्तवमें विषयोंका स्वरूप तो असत् ही है, परन्तु भ्रमसे सद्बुद्धिके कारण

दोलायन्त्योऽवनौ देहं सागरान् सागराङ्गनाः ।
यथा धावन्ति धावन्ति जनता विषयांस्तथा ॥ ६९ ॥
धावन्ति विषयाँल्लक्ष्यमुन्मुक्ताश्चित्तसायकाः ।
स्पृशन्ति न गुणान् भूयः कृतघ्नाः सौहृदं यथा ॥ ७० ॥
उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवाऽतिशत्रवः ।
बन्धवो बन्धनान्येव धनान्येवाऽतिनैधनम् ॥ ७१ ॥
सुखान्येवातिदुःखानि संपदः परमापदः ।
भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥ ७२ ॥

उसे सद्रूपता प्राप्त हुई है, अतः असलमें यह वैसा है नहीं, जैसे मायाके आवरण वश सद्रूप ब्रह्म असत्-सा बन गया वैसे ही मायाके विक्षेपवश असत् सत् ही बन गया। मायामें यह बड़ी पटुता है कि वह अघटित वस्तुको भी घटित कर देती है ॥ ६८ ॥

बाह्य दृष्टियोंको विषयोंन्मुखी दृष्टि स्वाभाविक है, यह कहते है—'दोलायन्त्यः' इत्यादिसे।

जैसे दोनों तटभूमियोंपर प्रवाहको झूलेके सदृश आन्दोलित करती हुई सागराङ्गनाएँ (नदियाँ) सागरोंकी ओर दौड़ती जाती हैं, वैसे ही मोहग्रस्त जनता विषयोंकी ओर दौड़ती जाती है ॥ ६९. ॥

छूटे हुए चित्तरूपी बाण विषयरूप लक्ष्यकी ओर ही स्वभावतः जाते हैं, फिर वे विवेक आदि गुणोंका ऐसे ही स्पर्श नहीं करते, जैसे कि कृतघ्न पुरुष सहृदयताका ॥ ७० ॥

आयु तो एक उत्पातवायु ही है, जो मित्र हैं, वे तो स्नेहासक्ति द्वारा ध्वंसक महाशत्रु ही हैं, जो बन्धुवर्ग हैं, वह तो बन्धनरूप ही हैं और जो धन है, उसे तो मृत्युका ही एक तरहसे साधन समझना चाहिए ॥ ७१ ॥

आसक्ति पैदा करनेके कारण सुख अतिदुःखरूप ही हैं, सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ ही हैं, भोग संसारमें महारोग हैं और भोगोंसे प्रेम महान् अरति यानी व्यग्रतारूप ही है ॥ ७२ ॥

पूर्वोक्तका विवरण करते हुए कहते हैं—'आपदः' इत्यादिसे।

आपदः संपदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥ ७३ ॥
बहून् कालपरावर्तानिष्टानिष्टान् सुखं मनाक् ।
पश्यन् प्रियवियोगांश्च याति जर्जरतां जनः ॥ ७४ ॥
भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक् स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ ७५ ॥
आयुर्याति निरायासपदप्राप्तिविवर्जितैः ।
उदर्कभङ्गुराकारैः करालैः कष्टचेष्टितैः ॥ ७६ ॥
भोगाशाबद्धतृष्णानामपमानः पदे पदे ।
आलानमवलीनानां वन्यानामिव दन्तिनाम् ॥ ७७ ॥
संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ७८ ॥

सभी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ ही हैं, सुख केवल दुःखके लिए ही हैं, जीवन मरणके ही लिए है। अहो, यह मायाका बढ़ाव महान् खेदकारक है ॥ ७३ ॥

कालचक्रके प्रभावसे परिवर्तनशील इष्टानिष्ट प्रसङ्गोंको, विषयोंके किञ्चित् सुखको तथा प्रियजनोंके वियोगोंको देखता हुआ मनुष्य जीर्णभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

विषयसेवनरूप भोग तो सर्पोंके फण ही समझ न लेने चाहिए, क्योंकि उनके साथ तनिक ही स्पर्श किया, तो तत्काल ही डँश लेते हैं और प्रतिक्षण देखते ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

यह आयु तो आयासशून्य आत्माकी प्राप्ति करानेमें सामर्थ्यरहित, भयङ्कर तथा परिणाममें नष्ट होनेवाली अनेक कष्टदायक चेष्टाओंसे व्यर्थ ही चली जाती है ॥ ७६ ॥

भोगोंकी अभिलाषासे बद्धतृष्ण जीवोंका पद-पदपर ऐसे ही अपमान होता है जैसे कि खान, पान, उपवास आदिसे कृश हुए बन्धनस्तम्भमें बद्ध जङ्गली हाथियोंका होता है ॥ ७७ ॥

सम्पत्तियाँ तथा ललनाएँ तरङ्गोंके उत्सङ्गके सदृश अतिक्षणभङ्गुर हैं, अतः ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष होगा, जो साँपके फणरूप छातेकी छायाभूत उन सम्पत्ति आदिमें रमण करेगा, इससे सम्पत्ति आदि क्षणभङ्गुर ही नहीं हैं, किन्तु तत्काल मृत्युप्रद भी हैं, यह जानना चाहिए ॥ ७८ ॥

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥ ७९ ॥
आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये ।
अत्यन्तविरसान्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥ ८० ॥
द्वन्द्वदोषोपरुद्धानि दुःसाध्यान्यस्थिराणि च ।
धनान्यभव्यसेव्यानि मम जातु न तुष्टये ॥ ८१ ॥
आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसायिनी ।
मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥ ८२ ॥
आपातरमणीयानि विमर्दविसराण्यति ।
दुःखान्यापत्प्रदातॄणि संगतानि खलैरिव ॥ ८३ ॥

मान लिया जाय कि विषयभोग मनोरम हैं और ऐश्वर्य भी मनोरम ही है, परन्तु जीवन तो उन्मत्त अङ्गनाओंके अपाङ्गभङ्गके सदृश अति चञ्चल ही है ॥ ७९ ॥

विषय तो आपातरमणीय हैं यानी इन्द्रियसङ्गकालमें ही रम्य भासते हैं, ये परिणाममें अत्यन्त नीरस हैं, इसलिए ऐसे विषयोंमें जो पुरुष रमण करते हैं, वे नरकोंमें ही गिरते हैं, क्योंकि विषयोंके व्यसनियोंको पद-पदपर अधर्म ही होता है ॥ ८० ॥

उसके उपायभूत धनमें दोष बतलाते हैं—'द्वन्द्व०' इत्यादिसे ।

धन द्वन्द्वदोषोंसे आक्रान्त हैं यानी उनका उपार्जन करनेके समय शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वोंका सामना करना ही पड़ता है । अतः वे कष्टसाध्य हैं, और वे स्थिर भी नहीं हैं, क्योंकि राजा, चोर आदिसे उनका विनाश पद-पदमें संभावित है ॥ ८१ ॥

लक्ष्मी ऊपर ऊपरसे ही मधुर है, अन्तमें दुःख देनेवाली है, केवल लोकको मोहमें डालनेवाली है तथा उसका विलास क्षणके लिए ही होता है ॥ ८२ ॥

दुष्टोंके साथ किये गये मैत्री आदि सम्बन्ध जैसे आपातरमणीय, थोड़ेसे संघर्षमें विनाशी, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं, वैसे ही धनके साथ किये गये सम्बन्ध भी आपातरमणीय, थोड़ेमें नष्ट होनेवाले, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं ॥ ८३ ॥

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ ८४ ॥
अन्तकः पर्यवस्थाता जीविते महतामपि ।
चलन्त्यायूंषि शाखाग्रलम्बाम्बूनीव देहिनाम् ॥ ८५ ॥
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥ ८६ ॥
भोगाभोगातिगहने सर्वस्मिन् कायकानने ।
परमुल्लासमायाति तृष्णैका विषमञ्जरी ॥ ८७ ॥
बाल्यं यौवनवद्याति यौवनं याति बाल्यवत् ।
उपमानोपमेयत्वं भङ्गुरत्वं मिथोऽनयोः ॥ ८८ ॥

यौवनकी शोभाएँ शरत्कालके मेघकी छायाके सदृश झटपट चली जानेवाली (नश्वर) हैं और विषय अविचारसे रमणीय तथा परिणाममें सन्तापदायी हैं ॥८४॥

चाहे बड़ेसे बड़े ही क्यों न हों, उनके जीवनके ऊपर मृत्युरूप अन्तक अवश्य उपस्थित हो ही जायगा । देहियोंके आयुष्य तो शाखाके अग्रभागमें लटक रहे जलके ओसकी बूँदोंके सदृश स्खलित हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

वृद्धावस्था प्राप्त कर रहे पुरुषके केश तथा दाँत जीर्णशीर्ण हो जाते हैं, जीर्ण अवस्थावालेके लिए सब कुछ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, परन्तु अकेली तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती ॥ ८६ ॥

अब भोगोंको भोग लिया जाय, जन्मान्तरमें विवेक, वैराग्य आदि प्राप्त हो जायँगे, यह सोचा जाय, तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जन्मान्तरमें विवेकादि प्राप्त होंगे, यह आशा ही नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—'**भोगा०**' इत्यादिसे ।

भावी देहोंकी परम्परारूप शरीररूपी अरण्यमें, जो भोगोंके विस्तारसे अतिगहन हैं, एकमात्र तृष्णारूपी विषमञ्जरी ही अत्यन्त लहलहाती नजरमें आती है ॥ ८७ ॥

बाल्य आदि अवस्थाओंमें भी विवेकादि की आशा नहीं है, यह कहते हैं—'**बाल्यम्**' इत्यादिसे ।

बाल्य अवस्था युवावस्थाके सदृश चली जाती है और युवावस्था बाल्य अवस्थाके सदृश चली जाती है, यों इन दोनोंमें परस्पर उपमानता, उपमेयता तथा विनश्वरता विद्यमान है ॥ ८८ ॥

जीवितं गलति क्षिप्रं जलमञ्जलिना यथा ।
प्रवाह इव वाहिन्या गतं न विनिवर्तते ॥ ८९ ॥
झटित्येवाऽऽगतो देहः कुतोऽप्यर्जुनवातवत् ।
याति पश्यत एवाऽस्तं तरङ्गाम्बुददीपवत् ॥ ९० ॥
रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरताऽपि च ।
सत्येष्वसत्यताऽर्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥ ९१ ॥
सुखं यदात्मविश्रान्तौ गते मनसि सत्त्वताम् ।
पाताले भूतले स्वर्गे तन्न भोगेषु केषुचित् ॥ ९२ ॥
अपि संपूर्णहृद्यार्थाः पञ्चाऽपीन्द्रियवृत्तयः ।
तावज्जयन्ति मामेता भृङ्गं चित्रलता इव ॥ ९३ ॥

अञ्जलिसे जैसे जल क्षणभरमें चला जाता है, वैसे ही यह जीवन क्षणभरमें गल जाता है। नदीके प्रवाहके सदृश बह गयी आयु फिर लौटकर वापस नहीं आती ॥ ८९ ॥

किसी भी अज्ञात कारणसे, अर्जुन वायुके सदृश, यह दुःखदायी देह आया तो है, परन्तु देखते देखते ऐसे झटसे नष्ट हो जाता है, जैसे तरङ्ग, मेघ और दीपक ॥ ९० ॥

हम लोगोंको विषयोंमें नीरसता इसलिए हुई कि रम्य वस्तुओंमें अरम्यता ही देखी, स्थिर वस्तुओंमें अस्थिरता ही देखी और सत्यरूप समझे गये पदार्थोंमें असत्यरूपता देखी ॥ ९१ ॥

मनके वासनानिर्मुक्त हो जानेपर जो आत्मामें विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस विश्रान्तिसे जो सुख मिलता है, वह न तो पातालमें, न भूतलमें, न स्वर्गमें और न किन्हीं भोगोंमें ही प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥

इस समयमें दृढ़ वैराग्यसे युक्त मुझपर सम्पूर्ण विषयोंको लेकर भी समस्त इन्द्रियोंके व्यापार विजय नहीं पा सकते, यह कहते हैं—'अपि०' इत्यादिसे ।

जितने प्रिय बुद्धिसे गृहीत मनोरम विषय हैं वे सब तथा पाँचों इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ क्या मुझको जीत सकती हैं अर्थात् वे मुझको ऐसे जीत नहीं सकती जैसे कि चित्रगतलता भ्रमरको नहीं जीत सकती ॥ ९३ ॥

अद्य दीर्घेण कालेन निरहङ्कृतिना मया ।
स्वर्गापवर्गवैतृष्ण्यमिदमासादितं धिया ॥ ९४ ॥
चिरमेकान्तविश्रान्त्यै तेनैतन्नभसः पदम् ।
त्वमिवाऽऽगतवानत्र दृष्टवानस्मि तां कुटीम् ॥ ९५ ॥
अद्यैतत्संपरिज्ञातं यदेषा भवतः कुटी ।
आगन्ता त्वं पुनश्चेति मया तन्न विचारितम् ॥ ९६ ॥
तदा त्वत्र मया ज्ञातं कश्चित्सिद्धोऽयमात्मना ।
देहं त्यक्त्वेह निर्वाणं गत इत्यनुमानतः ॥ ९७ ॥
एतन्मे भगवन् वृत्तमेषोऽस्मीति यथास्थितम् ।
मया ते कथितं सर्वं यथा जानासि तत्कुरु ॥ ९८ ॥
सिद्धैर्न यावदवधानपरैर्विचार्य
निर्णीतमुत्तमधियाऽन्तरशेषवस्तु ।

आज दीर्घकाल व्यतीत हो जानेके पश्चात् निरहङ्कार हुए मैंने अपनी विवेक-बुद्धिसे यह स्वर्ग-अपवर्गके प्रति विरक्ति प्राप्त की है ॥ ९४ ॥

हे मुने, इसी कारण आपकी तरह मैं भी दीर्घकालतक विश्रान्ति करनेके निमित्त इस आकाशस्थानमें, जो कि आपकी कुटियाकी कल्पनाका भाजन रहा, आया और मैंने उस कुटियाको देखा ॥ ९५ ॥

महाराज, आपकी यह कुटी है और भविष्यमें यहाँपर आप पधारेंगे, यह उस समय मैंने नहीं विचारा । आज ही मुझे यह ज्ञात हुआ है ॥ ९६ ॥

आपने उस समय क्या समझा था, इसपर कहते हैं—'तदा' इत्यादिसे ।

हे मुने, उस समय तो मैंने अनुमानसे यह समझा था कि कोई सिद्ध यहाँ रहता होगा और वह अपने आप अपना शरीर छोड़कर यहाँ मुक्तिको प्राप्त हो गया है ॥ ९७ ॥

हे भगवन्, 'तुम कहाँ स्थित हो' इत्यादि जितने आपने मुझसे प्रश्न किये थे और मेरी जो खरी खरी हकीकत रही, वह सब मैंने कही । अब इसके बाद मुझ अपराधीके ऊपर दण्ड या अनुग्रह इन दोनोंमें से जो कुछ भी आपकी समझमें आता हो, वह कीजिए ॥ ९८ ॥

हे मुने, आपके जैसे सिद्ध भी जबतक समाधिनिष्ठ होकर उत्तम बुद्धिसे

तावत्त्रिकालकलनं न विदन्ति किंचि-
दित्यब्जजादिमनसोऽपि मुने स्वभावः ॥ ९९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० आकाशमण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ हेममयाकाशविस्तीर्णायां महाभुवि ।
सौहार्दादेव सिद्धस्य तस्येदमहमुक्तवान् ॥ १ ॥
त्वया न केवलं तावन्मयाऽपि न विचारितम् ।
आध्यात्मिरहिता नाम न संभवति देहिनाम् ॥ २ ॥

अपने भीतर समस्त वस्तुओंका विचार-पूर्वक निर्णय नहीं करते, तबतक वे त्रिकालके सब वृत्तान्तोंका ज्ञान नहीं कर पाते । इसी तरहका ब्रह्मा आदिके मनका भी स्वभाव है, फिर मेरे जैसे पुरुषोंकी तो बात ही क्या ? इसलिए आपके वृत्तान्तका अपरिज्ञान एवं शरीरका हटाना आदि जो मैंने आपके प्रति अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिए, यह तात्पर्य निकला ॥ ९९ ॥

तिरानबे सर्ग समाप्त

चौरानबे सर्ग

[दोनोंका—श्रीवसिष्ठजी तथा उस सिद्धका—सिद्धलोकमें गमन तथा पिशाचों एवं देवताओंकी केवल मनके अनुसार स्थिति, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद आकाशके समान विस्तीर्ण सात समुद्र और सातों द्वीपोंके बाहर स्थित काञ्चनमय विशाल भूमिमें मैत्रीके कारण ही मैंने उस सिद्धसे यह कहा—मित्र, अकेले आपने ही विचार नहीं किया हो सो बात नहीं है, किंतु मैंने भी विचार नहीं किया । साधारण लोगोंकी बात जाने दीजिये, जो बड़े बड़े योगी हैं, उनको भी ध्यानपूर्वक सब विषयोंमें मनोयोगके बिना भूत, भविष्यत् पदार्थोंका परिज्ञान कदापि नहीं हो सकता ॥ १, २ ॥

कस्मान्मया तवोदन्तं विचार्याऽसौ स्थिरीकृता ।
न कुटी व्योम्नि तेन त्वमभविष्यः स्थिरस्थितिः ॥ ३ ॥
उत्तिष्ठ सिद्धलोकेषु निवसावो यथास्थितम् ।
स्वास्पदस्थितयः सौम्याः स्वात्मसिद्धौ सुसाधनम् ॥४॥
इति निर्णीय तावुच्चैरुत्सृतौ तारकोपमौ ।
सममेकपुटोड्डीनौ व्योमयन्त्रोपलाविव ॥ ५ ॥
प्रणामपूर्वमन्योन्यमथ कृत्वा विसर्जनम् ।
गतः सोऽभिमतं देशमहं चाऽभिमतं गतः ॥ ६ ॥
इति वृत्तान्तमखिलमुक्तवानस्मि राघव ।
तवाऽऽश्चर्यमयीं पश्य संसृतीनां विचित्रताम् ॥ ७ ॥

यदि प्रणिधान (ध्यान) द्वारा सब विषयोंमें मनोयोग हो सकता तो आपका पतन कदापि न होता और संकल्पकुटी स्थिर बनायीं गई होती, यह कहते हैं—**'कस्मात्'** इत्यादिसे ।

मित्र, मैंने आपका वृत्तान्त विचार कर वह कुटी आकाशमें चिरस्थायिनी क्यों न बना दो । यदि मैं ऐसा कर देता तो अवश्य ही आपकी स्थिति स्थिर हो गई होती, आपका पतन न हो पाता ! मित्र, हम दोनोंसे ही परस्पर अपराध हुआ, अतः परस्पर दोनोंको क्षमा कर देनी चाहिये ॥ ३ ॥

अब उठिये, हम दोनों सिद्ध लोकोंमें पूर्ववत् निवास करें—आप नन्दनवनमें चलकर विहार कीजिये और मैं सप्तर्षिलोकमें जाकर रहूँ । बिना हलचलके अपने स्थानमें रहना अपनी विक्षेपशून्य स्थितिके लिए उत्तम साधन है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा निर्णय कर तारोंके सदृश वे दोनों सिद्ध गुलेलसे उड़े हुए दो पत्थरोंके समान एक-साथ बड़ी तेजीसे उड़े ॥ ५ ॥

परस्पर प्रणामपूर्वक एक दूसरेको बिदा कर वह सिद्ध अपने अभीष्ट देशको चला गया और मैं भी अपने अभिमत देशमें आ गया अर्थात् वह सिद्ध नन्दन वनको गये और मैं सप्तर्षिलोकोंमें आया ॥ ६ ॥

हे राघव, इस प्रकार पाषाणोपाख्यान एवं सिद्धका सारा वृत्तान्त मैंने आपसे कह सुनाया । देखिये, संसृतियोंकी कैसी आश्चर्यमयी विचित्रता है ॥ ७ ॥

कुटीमें स्थित जो आपका स्थूल शरीर था, उसे उस सिद्धने फेंक दिया, यह मेरा अनुमान है ऐसा आपने ही मुझसे कहा है । फेंका गया जो पार्थिव शरीर है

श्रीराम उवाच

भगवंस्तव देहोऽसौ पृथिव्यामणुतां गतः ।
भ्रान्तः केन शरीरेण सिद्धलोकांस्ततो भवान् ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

आ स्मृतं शृणु वृत्तान्तं ततो मम जगद्गृहे ।
भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु च ॥ ९ ॥
अहमिन्द्रपुरं प्राप्तो न कश्चित्तत्र दृष्टवान् ।
मामिमं देहरहितमातिवाहिकदेहिनम् ॥ १० ॥
अहं किल तदा राम संपन्नो गगनाकृतिः ।
न चाऽऽधारो न चाऽऽधेयश्चिदाकाशमयात्मकः ॥ ११ ॥
न ग्रहीता न च ग्राह्यस्त्वादृशार्थावबोधिनाम् ।
न चैव देशकालानां क्वचिदावृत्तिकारकः ॥ १२ ॥

वह तो समय पाकर पृथ्वीमें धूल-रूप हो जाता है, यह अर्थतः ही ज्ञात हुआ । ऐसी स्थितिमें एकमात्र मानसिक शरीरसे सिद्धोंके लोकोंमें जाकर वहाँके निवासी जनोंके साथ आपने कैसे व्यवहार किया ? न तो मनोमात्र आत्मा दूसरोंके साथ व्यवहार कर सकता है और न दूसरे ही उसके साथ व्यवहार कर सकते हैं, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'भगवन्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जब आपका यह भौतिक शरीर पृथ्वीमें धूल बन गया, यानी धूलमय हो गया तब आपने किस शरीरसे सिद्धलोकोंमें संचार किया ? ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, हाँ, मुझे स्मरण हो आया, सुनिये उसके बादकी मेरी आत्मकहानी । सुवर्णमयी भूमिसे चलकर जगत्‌रूपी घरमें सिद्धोंकी सेनाओं तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण करता हुआ मैं इन्द्र भगवान्‌के नगरमें पहुँचा । चूँकि मैं इस स्थूल शरीरसे रहित मनोमात्र शरीरधारी था, अतः वहाँ मुझे कोई देख न सका ॥ ९,१० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें सन्देह नहीं कि उस समय मैं गगनाकार हो गया था । न तो मेरा कोई आधार था और न कोई आधेय था । मैं तो चिदाकाशप्रचुर जो मन है, तद्रूप ही हो गया था ॥ ११ ॥

उस समय न तो मैं आपके सदृश स्थूल पदार्थोंके अवबोध करनेवालोंकी तरह

मनोमननमात्रात्मा पृथ्व्यादिपरिवर्जितः ।
संकल्पपुरुषाकारः पदार्थानामरोधकः ॥ १३ ॥
अरुद्धश्च पदार्थौघैः स्वयं स्वानुभवोन्मुखः ।
व्यवहर्त्ता तथाभूतैरेवं पुंभिर्मनोमयैः ॥ १४ ॥
स्वप्नानुभूतयो राम दृष्टान्तोऽत्राऽविखण्डितः ।
अनुभूत्यपलापं तु यः कुर्यात्तेन तेऽस्त्वलम् ॥ १५ ॥
यथा स्वप्नचरो गेहे व्यवहर्ता न दृश्यते ।
तथा तदा न दृष्टोऽस्मि पुरस्थोऽपि नभोगतैः ॥ १७ ॥
अहमन्यान् प्रपश्यामि पार्थिवाकारभासुरान् ।
मामातिवाहिकात्मानं न कश्चिदपि पश्यति ॥ १७ ॥

ग्रहीता (ग्रहणकर्ता) था और न ग्राह्य ही था। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं प्रेषण, प्रतीक्षण आदिके द्वारा दूसरोंके देशों और कालोंका परिवर्तन करनेवाला भी नहीं था ॥ १२ ॥

मनका जो मनन है एकमात्र वही मेरा स्वरूप था, मैं पृथ्वी आदिसे बिलकुल रहित था, मेरा आकार संकल्पके पुरुषके तुल्य था और मैं स्पर्श न होनेके कारण स्तम्भ, कुम्भ आदि विविध पदार्थोंका रोधक नहीं था ॥ १३ ॥

अपने अनुभवकी ओर उन्मुख हुआ मैं यानी स्वानुभवरूप मैं स्वयं भी पदार्थ-समूहोंसे अवरुद्ध नहीं होता था। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैं स्वप्नमनोराज्यके समान मनोमय भूतोंके साथ ही व्यवहार करता था ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरहके अर्थकी संभावनामें स्वप्नके अनुभव पूर्ण दृष्टान्त हैं। जो अनुभवका अपलाप करते हैं—अनुभवको प्रमाण नहीं मानते हैं उन नैयायिकोंके साथ बातें करना ठीक नहीं है, व्यर्थ है * ॥ १५ ॥

जिस प्रकार घरमें सोये हुए स्वप्नमें विचरण करनेवाले स्वप्नमें व्यवहार कर रहे पुरुषको उस घरके दूसरे प्राणी नहीं देख पाते, उसी प्रकार उस समय आकाशमें विहार करनेवाले देवताओंने सामने स्थित रहनेपर भी मुझे नहीं देखा ॥ १६ ॥

पार्थिव आकारके तुल्य भासुर यानी देदीप्यमान अन्य प्राणियोंको मैं तो देखता था, लेकिन स्थूलशरीरधारी मुझे वहाँ कोई भी नहीं देखता था ॥ १७ ॥

*मनमात्रमें अवच्छेदकता सम्बन्धसे देहकी कारणताके सदृश त्वक् एवं मनके संयोगकी भी कारणता है, इसीलिए सुषुप्तिमें त्वङ्मनोयोगका अभाव रहनेसे ज्ञानका अभाव है,

श्रीराम उवाच

न दृश्यते विदेहत्वाद् भवान् व्योमवपुर्यदि ।
तत्कथं तेन सिद्धेन दृष्टोऽसि कनकावनौ ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्मदादिर्जनो नाम यथा संकल्पकल्पितान् ।
नाऽसंकल्पितमाप्नोति सत्यकामवपुर्यतः ॥ १९ ॥

मुझे वहां कोई नहीं देखता था, यह आपका कहना आपके ही पूर्वके कथनसे विरुद्ध है; क्योंकि अभी आपने पहले कहा है कि मैं वहां सिद्धसे देखा गया। मैं अन्य प्राणियोंको देखता था, आपका यह कहना भी असंगत है, कारण कि मनकी बाहर स्वतन्त्रता न होनेसे स्वप्नमें अपने मनोमय पदार्थोंका ही अवलोकन होता है, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'न दृश्यते' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, आकाशमय शरीरधारी आप यदि विदेह होनेके कारण यानी पार्थिव शरीर शून्य होनेके कारण किसीके द्वारा नहीं दिखते रहे, तो फिर उस सुवर्णमयी पृथिवीमें उस सिद्धके द्वारा आप कैसे देखे गये ? ॥ १८ ॥

सत्य सङ्कल्पानुसारी दर्शनकी व्यवस्थासे श्रीवसिष्ठजी दोनोंका परिहार करते हैं—'अस्मदादि०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, हमारे सदृश ज्ञानयोगसिद्ध पुरुष जैसे सङ्कल्पसे कल्पित पदार्थोंका अवलोकन करता है, वैसे ही असंकल्पित पदार्थोंको प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सत्यसङ्कल्पशरीरवाला है ॥ १९ ॥

ज्ञानसिद्ध महानुभावोंका सदा ही सूक्ष्म शरीर रहता है, उनका तो स्थूल शरीर होता ही नहीं, यह आपने अनेक बार मुझसे कहा है, ऐसी दशामें उनका

ऐसा जो नैयायिक प्रलाप करता है, वह मूर्ख है, उसके साथ आपको संभाषण करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि भाषण करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि जाग्रत्कालमें स्मृति होनेसे सुषुप्तिमें भी सुखस्वप्नादिका ज्ञान तो होता ही है। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ॥ शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥' इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध भी होता है तथा निमिके शापसे जब मैंने शरीरका परित्याग कर दिया, तो भी मुझे दुःखका अनुभव तो होता था, उसीके निवारणके लिये ब्रह्माकी आज्ञासे मिले हुए वरुणसे उत्पन्न शरीरका मैंने ग्रहण किया था।

व्यवहारेषु मग्नेन लौकिकेष्वमलात्मना ।
क्षणाद्विस्मर्यते पुंसा सातिवाहिकतात्मनः ॥ २० ॥
मया पश्यतु मामेष इति संकल्पितं तदा ।
तेन मां दृष्टवानेष स्वसंकल्पार्थभाजनम् ॥ २१ ॥
जनो जरठभेदत्वान्न संकल्पार्थभाजनम् ।
स एष जीर्णभेदत्वात् सत्यकामत्वभाजनम् ॥ २२ ॥

स्थूलदेहबुद्धिसे दूसरेको देखना, उससे बातचीत करना आदि सत्य सङ्कल्प कैसे हो सकता है ? ऐसी आशङ्का करनेपर श्रीरामजी कहते हैं—'व्यवहारेषु' इत्यादिसे ।

निर्मलात्मा सूक्ष्म शरीरधारी सिद्ध पुरुष भी लौकिक व्यवहारोंमें मग्न होकर क्षणभरमें ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है, तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि और विवेक कालमें सत्यसङ्कल्पन होता है वैसे ही व्युत्थान—व्यवहार—कालमें सूक्ष्म शरीरभावका विस्मरण भी होता है, इसलिए उनका परदर्शन, संवाद आदिका सङ्कल्प सम्भव है ॥ २० ॥

यह जो सिद्ध था, वह भी सत्यसङ्कल्प तथा सिद्ध था, अतः मुझे देख सकता था, इस आशयसे उसमें विशेषता दिखलाते हैं—'मया' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी उस समय मैंने यह सिद्ध मुझे देखे, ऐसा सङ्कल्प किया था, इससे उस सिद्धने मुझे, जो स्वसङ्कल्पित अर्थका भाजन था, देखा ॥ २१ ॥

साधारण लोगोंकी अपेक्षा सिद्ध पुरुषमें विशेषता बतलाते हैं—'जनः' इत्यादिसे ।

चिरकालकी वासनासे जिस पुरुषका भेद बहुत दृढ़ हो चुका है, वह साधारण पुरुष चिरकालकी वासनासे भेदबुद्धिके दृढ़ होनेके कारण सङ्कल्पित अर्थका भाजन नहीं होता, किन्तु भेदवासना मिट जानेके कारण यह सिद्ध सत्य सङ्कल्पका भाजन था ॥ २२ ॥

जहां दो सिद्ध परस्परविरुद्ध सङ्कल्प करें—जैसे एक तो यह सङ्कल्प करे कि 'मैं' इसे देखूँ और दूसरा यह सङ्कल्प करे कि 'मुझे यह न देखे' ऐसी स्थितिमें वहां कैसी व्यवस्था होगी ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'द्वयोस्तु' इत्यादिसे ।

द्वयोस्तु सिद्धयोः सिद्धविरुद्धेप्सितयोर्मिथः ।
अधिकैकावदातात्मा जयी पुरुषयत्नवान् ॥ २३ ॥
भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु मे ।
विस्मृता व्यवहारौघैः साऽऽतिवाहिकताऽऽत्मनः ॥ २४ ॥
यदा तदाहमपरैर्व्यवहर्तुं महाम्बरे ।
प्रवृत्तो न च मां कश्चित्तत्र पश्यति चञ्चलम् ॥ २५ ॥
अत्यन्तमप्यारटतः शब्दो न श्रूयते मम ।
केनचित्सुरलोकेषु स्वप्नपुंस इवाऽनघ ॥ २६ ॥
अवष्टब्धुं प्रवृत्तस्य नाऽन्यावष्टब्धये मम ।
संपद्यते किंचिदपि मनोमननदेहिनः ॥ २७ ॥

परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध अभीष्टवाले दो सिद्धोंमें जो अधिक निर्मलात्मा यत्नवान् रहता है वह बाजी मार ले जाता है । जैसे एक राज्यसिद्धिके लिए प्रयत्न कर रहे दो राजकुमारोंमें जिसमें शौर्य आदि अधिक मात्रामें रहते हैं, उसीकी विजय होती है वैसे ही यहां भी समझना चाहिये ॥ २३ ॥

ऐसा ही सही, परन्तु आपके इस कथनसे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—"भ्रमतः" इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धोंकी सेनाओं तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें विचरण करते हुए मेरी वह सूक्ष्मरूपता व्यवहारोंकी अधिकतासे जब विस्मृत हो गई—जब मैं अपना सूक्ष्म स्वरूप भूल गया तब महाकाशमें अन्य लोगोंके साथ व्यवहार करनेमें प्रवृत्त हो गया, परन्तु मेरा ऐसा चञ्चल रूप था कि वहां मुझे कोई नहीं देख पाता था ॥ २४, २५ ॥

हे अनघ, मैं वहाँ सुरलोकोंमें अत्यन्त जोरसे शब्द कर रहा था, फिर भी वहाँ जैसे स्वप्नके पुरुषका शब्द कोई नहीं सुनता वैसे ही मेरा वह शब्द कोई नहीं सुन पाता था ॥ २६ ॥

वहाँपर जब कोई गिरता तथा नीचेसे ऊपरकी ओर चढ़ता तो वैसे मौकोंमें मैं झट अपने हाथ आदिका उसे अवलम्बन देनेके लिए उद्यत हो जाता था । लेकिन हे रामजी, उसके सहारेके लिए उद्यत होनेपर भी मननशील मनरूपशरीरधारी मेरा हाथ आदि कुछ भी उसके अवलम्बनके लिए समर्थ नहीं होता था ॥ २७ ॥

एवं व्योमपिशाचोऽहं संपन्नो रघुनन्दन ।
मयाऽनुभूता काऽप्येषा देवागारपिशाचता ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन् किमाकाराः किमास्पदाः ।
किंजातीयाः किमाचाराः कीदृशाः कीदृशाशयाः ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन् यादृशास्तादृशान् शृणु ।
न सभ्योऽसौ न यो वक्ति प्रसंगापतितं वचः ॥ ३० ॥
पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः ।
हस्तपादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति त्वमिवाऽऽकृतिम् ॥ ३१ ॥
छायया भयदायिन्या त्वन्यत्र भ्रमरूपया ।
ते चित्ताक्रमणं कृत्वा बोधयन्ति नराशयम् ॥ ३२ ॥

हे रघुनन्दन, इस तरह मैं आकाशका पिशाच हो गया और देवताओंके घरोंमें इस एक अनिर्वचनीय पिशाचताका मैंने अनुभव किया ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, कृपाकर यह बतलाइये कि इस लोकमें पिशाच किस आकारके होते हैं, वे कहाँ रहते हैं, किस जातिके होते हैं, उनका आचार कैसा होता है तथा वे किस तरहके अभिप्रायवाले होते हैं ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोकमें पिशाच जिस तरहके होते हैं, उनका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनिये । जो मनुष्य प्रसङ्गप्राप्त वचन नहीं बोलता वह सभ्य नहीं है ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई पिशाच आकाशके सदृश सूक्ष्म शरीरवाले—मनोमय देहवाले स्वप्नके समान कल्पित हाथ, पैर आदिसे युक्त होते हैं और आप ही के समान आकारको देखते हैं ॥ ३१ ॥

पिशाच मनोमात्रमय शरीरवाले हैं तो वे दूसरोंके ऊपर आक्रमण कैसे करते हैं, क्योंकि मनमें बाहर आक्रमण करनेकी सामर्थ्य नहीं है, इस शङ्कापर कहते हैं—'**छायया**' इत्यादिसे ।

अन्य मनुष्यके चित्तमें प्रविष्ट होकर भ्रमरूप भयदायिनी अपनी छायासे आक्रमण करके वे सब पिशाच नानाविध दुःख आदि प्रदान करनेवाली चेष्टाओंसे मनुष्यके आशयको उद्बोधित करते हैं ॥ ३२ ॥

घ्नन्त्यदन्ति पिबन्त्याशु लघुसत्त्वबलं जनम् ।
बलं सत्त्वमथो जीवान् हिंसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥ ३३ ॥
आकाशसदृशाः केचित्केचिन्नीहारसन्निभाः ।
केचित्स्वप्ननराकारः साकारा अपि खात्मकाः ॥ ३४ ॥
केचिदभ्रदलप्रख्याः केचित्पवनदेहकाः ।
केचिद् भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥ ३५ ॥
ग्रहीतुं नैव युज्यन्ते ग्रहीतुं शक्नुवन्ति नो ।
आकाशशून्यवपुषः पश्यन्त्याकृतिमात्मनः ॥ ३६ ॥
शीतातपादिविहितं सुखं दुःखं विदन्ति च ।
पातुमत्तुमवष्टब्धुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥ ३७ ॥

उसका यदि मरणके अनुकूल कर्माशय होता है तो मर्मस्थानमें पहुँचकर इनमें कोई पिशाच शीघ्र प्राणियोंको मारते हैं और स्वयं अपने ऋणके अनुबन्धके अनुसार उसके देहधातुओंका भक्षण करते, रुधिर आदि पीते तथा बल एवं सत्त्वको नष्ट करते हैं और चित्तमें आक्रमण करके जीवोंको नष्ट कर डालते हैं* ॥ ३३ ॥

'किमाकाराः किंजातीयाः' इन दो प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे।

इनमें कोई आकाशके सदृश, कोई नीहारके तुल्य और कोई स्वप्नकालके मनुष्योंके आकारके समान आकारवाले साकार होते हुए भी शून्यात्मक होते हैं ॥ ३४ ॥

कोई मेघखण्डके समान, कोई वायुमय देहवाले और कोई प्राणीकी भ्रान्तिके अनुसार देहधारी होते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सबके सब बुद्धि-मनोमय ही होते हैं ॥ ३५ ॥

इन पिशाचोंको पकड़ना सम्भव नहीं है और ये भी यदि किसीको पकड़ना चाहें, तो पकड़ नहीं सकते हैं। आकाशके समान शून्य शरीरवाले वे अपनी आकृतिका स्वयं अनुभव करते हैं और परस्पर देखते हैं ॥ ३६ ॥

तथा वे सब शीत और आतपसे उत्पन्न हुए सुख और दुःखका भी अनुभव करते हैं। किन्तु वे बाहरके जल आदि पी नहीं सकते, अन्न आदि खा नहीं सकते,

*इससे 'किमाचाराः' इस प्रश्नका समाधान किया गया है।

इच्छाद्वेषभयक्रोधलोभमोहसमन्विताः ।
मन्त्रौषधतपोदानधैर्यधर्मवशीकृताः ॥ ३८॥
सत्त्वावष्टम्भयन्त्रेणमन्त्रेणाऽऽराधितेन वा ।
दृश्यन्तेऽपि च गृह्यन्ते कदाचित् केनचित् क्वचित् ॥ ३९॥
देवयोनिर्हि सा तेन केचिद्देवोपमादयः ।
केचिन्नरसमश्रीकाः केचिन्नागसमन्वयाः ॥४०॥
श्वशृगालोपमाः केचिद् ग्रामजङ्गलवासिनः ।
कुल्यावकररथ्यासु वसन्ति निरयेषु च ॥४१॥

किसी पदार्थका अवलम्बन नहीं कर सकते—स्वयं खड़े नहीं हो सकते तथा लेने-देने आदिका यथेष्ट व्यवहार भी वे नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥

वे सब इच्छा, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ और मोहसे युक्त रहते हैं और मन्त्र, औषध, तप, दान, धैर्य एवं धर्मसे वशीभूत होते हैं ॥ ३८ ॥

तब किस उपायसे उन्हें मनुष्य देख पाते हैं, यह कहते हैं—'सत्त्वा०' इत्यादिसे ।

सत्त्वका अवष्टम्भरूप योगधारणाका जो एक भेद है, उससे भूतोंके अवलोकनके अनुकूल बीजाक्षरसे घटित रजतादि पत्रके ऊपर लिखित कण्ठ आदिमें धारण किये गये यन्त्र तथा आराधित मन्त्रसे वे दिखाई देते हैं तथा भूतविद्या जाननेवाले किसी एक पुरुषके द्वारा कभी वशीभूत होकर सेवा आदिमें नियुक्त भी किये जाते हैं; किसी देश में यह प्रसिद्ध है ॥ ३९ ॥

देवयोनिके ग्यारह भेदोंके भीतर यह भूतयोनि है, इसलिये अणिमा आदि ऐश्वर्योंके तारतम्यसे सुखभोग भी उनमें है । यह सूचित करते हुए उनकी जाति तथा आकृतिके भेदका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'देवयोनिर्हि' इत्यादिसे ।

चूँकि यह भूतयोनि भी देवयोनि ही है, इसलिए इन पिशाचोंमें कोई देवरूप ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं, कोई मनुष्योंके समान लक्ष्मीसे सम्पन्न होते हैं और कोई साँपों के सदृश होते हैं ॥ ४० ॥

इनमें कुछ ऐसे होते हैं जिनकी उपमा कुत्तों तथा शृगालोंसे दी जा सकती है। कोई ऐसे होते हैं, जो गाँवोंमें तथा जङ्गलोंमें निवास करते हैं तथा कोई ऐसे भी होते हैं जिनका नहरों, कुओं, मार्गों एवं नरकसदृश अपवित्र देशोंमें ही सदा वास रहता है ॥ ४१ ॥

एतदास्पदमेतेषामित्याकाराः प्रकीर्तिताः ।
पिशाचा एवमाचारा जन्मैषां श्रूयतामिदम् ॥ ४२ ॥
अचेत्यचिन्मयं ब्रह्म सर्वशक्तिस्वभावतः ।
यत्स्थितं बुद्धमेवाऽन्तश्चेत्यं संकल्पयन्निव ॥ ४३ ॥
तं जीवं विद्धि स प्रौढस्त्वहंकार इति स्मृतः ।
सोऽहंकारः स्मृतः पुष्टो मन इत्युदितात्मभिः ॥ ४४ ॥
स एव कथ्यते ब्रह्मा संकल्पाकाशरूपवान् ।
असदेवाऽसतो बीजं जगतो विगताकृतिः ॥ ४५ ॥
एवं मनःस्थितो ब्रह्मा सदेहोऽप्यमलं नभः ।
तत्स्वप्नपुरुषाकारः सन्नेवाऽसद्वपुः सदा ॥ ४६ ॥
पृथ्व्यादिमूर्त्तिरहितस्त्वातिवाहिकदेहवान् ।
पृथ्व्यादयः किल कुतः संकल्पपुरुषस्य खे ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इनके यही सब रहनेके स्थान हैं, इसी तरहके आकारके तथा ऐसे ही आचारके वे पिशाच होते हैं, यह सब मैंने आपसे कह दिया अर्थात् आपने जो प्रश्न किया था कि वे किस आकारके होते हैं उनका आचार क्या है तथा वे कहाँ रहते हैं, इसका उत्तर मैंने आपको दे दिया। अब इनका आप यह जन्म सुनिये ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कार्यब्रह्मसे विलक्षण जो मायाशबल ब्रह्म है, वह समस्त शक्तियोंके स्वभावसे विषयका सङ्कल्प करते हुए मनोमय पुरुषके समान भीतर अवबुद्ध होकर स्वरूपसे जो स्थित है उसीको जीवनामक प्रथम अङ्कुर समझिये। अभिमानसे परिपूर्ण वही अहङ्कार कहा गया है तथा परिपुष्ट हुए उस अहङ्कारको ही उन महानुभावोंने, जिन्हें आत्माका आविर्भाव हो गया है, मन कहा है ॥ ४३,४४ ॥

वह मनरूप जो जीव है वही समष्टिरूपसे सङ्कल्पाकाशरूपधारी ब्रह्मा कहलाता है। असद्रूप इस जगत्का बीज भी एकमात्र असद्रूप ही है, उसकी कोई आकृति नहीं है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार मन ही ब्रह्मा बनकर स्थित है। वह ब्रह्मा सदेह होनेपर भी निर्मल आकाशरूप ही है। स्वप्नके पुरुषके आकारके सदृश उपस्थित रहनेपर भी उसका वह शरीर असत् ही है ॥ ४६ ॥

पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंकी मूर्तिसे रहित होनेपर भी वह ब्रह्मा सूक्ष्म शरीरसे

भवन्मनो यथाकाशपुरं पश्यति कल्पितम् ।
तथा मनो विरञ्चित्वं पश्यत्यात्मनि कल्पितम् ॥ ४८ ॥
यद्वेत्ति कल्पितं तत्सत्पश्यत्यनुभवत्यपि ।
यो यावन्मात्रकस्तत्स कस्मात्किल न पश्यति ॥ ४९ ॥
स यत्पश्यति तत्तादृक् शून्यात्मा शून्यमम्बरे ।
ब्रह्म ब्रह्मणि वा ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥ ५० ॥
तथा संप्रतिभासोऽस्य चिरकालैकभावनात् ।
घनीभूतः स्थितः पुष्टः सुदीर्घस्वप्नसुन्दरः ॥ ५१ ॥
आतिवाहिकदेहस्य तस्य तच्चिरभावनात् ।
सर्गानुभवनं भूरि ब्रह्मणो ब्रह्मरूप्यपि ॥ ५२ ॥
गतं प्रकटतोत्कर्षादाधिभौतिकदेहताम् ।
तेनैव सर्ग इत्युक्तो भेदसन्ततिभासुरः ॥ ५३ ॥

सम्पन्न है । हे श्रीरामचन्द्रजी, आप ही सोचिये कि आकाशमें सङ्कल्पपुरुषके पृथ्वी आदि कहाँसे हो सकते हैं ॥ ४७ ॥

आपका मन जैसे आकाशमें कल्पित नगरका अवलोकन करता है, वैसे ही अपनेमें कल्पित विरञ्चिरूपताका भी अवलोकन करता है ॥ ४८ ॥

एकमात्र यह कारण है कि वह ब्रह्मा अपने जिस जिस सङ्कल्पको जानता है तत्तत् पदार्थोंके आकारसे उसका अवलोकन करता है। और स्वयं उसका अनुभव भी करता है। जो जिस परिमाणका जीव है वह सब चिरूप सत् ही है। इसलिये ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न वह क्यों न अवलोकन करे ॥ ४९ ॥

निराकार मनरूप वह ब्रह्मा ब्रह्मस्वरूप चिदाकाशमें एकमात्र जिस शून्य स्वरूप ब्रह्माण्डाकारका अवलोकन करता है वही जगत् कहलाता है ॥ ५० ॥

तथा इसका प्रतिभास ही इस समय चिरकालकी एकमात्र भावनासे घनीभूत पुष्ट होकर सुदीर्घ स्वप्नके समान सुन्दर अवस्थित है ॥ ५१ ॥

सूक्ष्मशरीरधारी उस ब्रह्मका यह सर्गानुभव ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी चिरकालकी भावनासे अधिक प्रकटताके उत्कर्षसे यानी अधिक प्रकट होनेसे आधिभौतिक शरीरताको प्राप्त हो गया है, जो अनेक भेदसमूहोंसे भासुर है, ॥ ५२, ५३ ॥

स ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्ममात्रात्मनोस्तयोः ।
अजातयोरेव सदा तदात्मजगतोर्द्वयोः ॥ ५४ ॥
अभिन्नयोरेव भृशं शून्यत्वाम्बरयोरिव ।
ऐकात्म्येनैव वसतोः पवनस्पन्दयोरिव ॥ ५५ ॥
वेत्ति भूतमयत्वं तन्मिथ्यैव न तु वास्तवम् ।
तथा यथा त्वं संकल्पपुरुषस्य सतोऽसतः ॥ ५६ ॥
ततः शरीरधातूनां तेन पृथ्व्यादिकाः कृताः ।
अभिधाः पञ्च चित्पुष्टा जगदित्येव ताः स्थिताः ॥ ५७ ॥
यथा त्वसत्य एवाऽयं संकल्पः सत्य एव ते ।
तथाऽसावात्मसंकल्पं सत्यमेवाऽनुभूतवान् ॥ ५८ ॥
स स्वयं चिन्मयाकाशः ससंकल्पश्चिदम्बरम् ।
अतः स्वप्नो जगत्सर्वं कृतौ नाशोद्भवौ स्थितौ ॥ ५९ ॥

वह ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्मस्वरूप ही हैं। ब्रह्मात्मरूप जीव और जगत्, ये दोनों अनुत्पन्न हैं तथा ये दोनों ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि आकाश और शून्यत्व और ये दोनों ऐसे एक रूपसे स्थित हो रहे हैं जैसे कि पवन और स्पन्दन ५४,५५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आप अपने सङ्कल्पपुरुषमें तथा असत् होते भी सद्रूप नगर आदिमें पृथ्वी आदि पञ्चभूतमयता देखते हैं वैसे ही ब्रह्माजी भी इन दोनोंमें भूतमयता देखते हैं। परन्तु वह भूतमयता मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है ॥ ५६ ॥

भूतमयता देखनेके बाद ब्रह्माण्डात्मक अपने शरीरके धातुओंके कठिन एवं द्रवीभूत भागोंकी, जो चितिसत्तासे पुष्ट हैं, पृथ्वी आदि पाँच संज्ञाएँ उन्होंने की हैं। वे ही पाँचों मिलकर 'जगत्' इस नामसे प्रसिद्ध होकर स्थित हैं ॥ ५७ ॥

जैसे आप अपने असत्य सङ्कल्पको बिलकुल सत्यरूप ही अनुभव करते हैं वैसे ही उस ब्रह्माने भी अपने सङ्कल्पको सत्यरूप ही अनुभव किया ॥ ५८ ॥

जैसे वह ब्रह्मा स्वयं चिन्मयाकाश ही हैं वैसे ही परमार्थतः उनका सङ्कल्प भी चिदाकाशरूप ही है। अतः यह समस्त जगत् उस ब्रह्मदेवका एक स्वप्न है तथा उनके सङ्कल्पजनित इसके नाश और प्रादुर्भाव भी दोनों स्वप्नके तुल्य स्थित हैं ॥ ५९ ॥

यथैवैतन्मनः सत्यं तदंशाः सत्यमेव ते ।
तथैव तत्कृताश्चन्द्ररुद्रार्केन्दुमरीचयः ॥ ६० ॥
एवं स्थिते जगज्जालं तन्मनोराज्यमुच्यते ।
तच्च शून्यं निरालम्बमाकाशकचनं चिति ॥ ६१ ॥
यथा स्वप्नपुरं व्योम संकल्पाद्रिर्यथा नभः ।
तथा ब्रह्मजगच्चैव खमेवाऽच्छमनाकृति ॥ ६२ ॥
एवमाभासमात्रस्य कचतोऽनिशमव्ययम् ।
सर्गादिमध्यान्तदृशो मुधैवाऽत्रोदिताः स्थिताः ॥ ६३ ॥
किंचिदाकाशकोशस्य तव वा मम वाऽनघ ।
जगतो वाऽपि जायेत किं वा नश्यति मे वद ॥ ६४ ॥

तब उनके द्वारा निर्मित हुए चन्द्र, सूर्य, तारे आदि सर्वविध अर्थक्रियामें हेतु कैसे हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'यथैवै०' इत्यादिसे ।

जैसे यह मनरूप ब्रह्मदेव सत्य हैं वैसे ही उनके द्वारा निर्मित हुए उनकी वृत्तिरूप वे चन्द्र, रूद्र, सूर्य तथा चन्द्रकिरण आदि भी सत्य ही हैं यानी प्रवृत्ति आदि अर्थ-क्रियाके सम्पादनमें समर्थ हैं ॥ ६० ॥

ऐसी स्थितिमें यह समस्त जगत् सत्य उस ब्रह्मदेवका एकमात्र मनोराज्य ही कहा जाता है और यह सब चितिमें निरालम्ब शून्य आकाशका स्फुरणरूप ही है ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार स्वप्नका नगर चिदाकाशरूप है जैसे सङ्कल्पका पर्वत चिदाकाश स्वरूप है वैसे ही ब्रह्मदेवका यह जगत् निराकार स्वच्छ चिदाकाशरूप ही है ॥ ६२ ॥

इस तरह एकमात्र आभासस्वरूपसे सर्वदा स्फुरित हो रहे इस जगत्की जन्म, स्थिति और प्रलयकी प्रतीतियाँ मिथ्या ही यहाँ उदित होकर स्थित हैं । हे श्रीराम-चन्द्रजी, यथार्थमें तो एकमात्र अविनाशी वह ब्रह्म ही सर्वत्र स्थित है ॥ ६३ ॥

एकमात्र यही कारण है कि आत्माकी चिदाकाशरूपताका अनुसन्धान करनेपर आपके, मेरे या अन्य किसीके भी ये सर्ग आदि कुछ भी नहीं हैं, यह कहते हैं—'**किञ्चिदा०**' इत्यादिसे ।

इसलिए हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह मुझसे कहिये कि चिदाकाशस्वरूप मेरा, आपका या संसारका ही क्या उत्पन्न होता है तथा क्या नष्ट होता है ॥ ६४ ॥

तत्किमर्थमनर्थाय निरर्थकमपार्थकाः ।
कस्मादभ्युदिता ब्रूहि रागद्वेषभयादयः ॥ ६५ ॥
वस्तुतोऽङ्ग न सर्गादिर्न सर्गो नाऽप्यसर्गता ।
विद्यते सकृदाभातमिदमित्थं सदैव तत् ॥ ६६ ॥
आशून्ये विपुलाभोगे स्वच्छचिज्जलपूरिते ।
कलनापङ्ककलिले भविष्यति चिदम्बरे ॥ ६७ ॥
अन्तरिक्षाक्षयक्षेत्रे स्वात्मनो गगनात्मिका ।
तस्माद्बीजादियं जाता भूरिभूतशिलावलिः ॥ ६८ ॥
नाऽस्ति किंचिदिह क्षेत्रं व्युप्तं नाम न किंचन ।
न बीजमस्ति नो जातं किंचित्सर्वं च संस्थितम् ॥६९॥

कहिये यह निरर्थक संसार क्यों अनर्थके लिए उदित हुआ है ? बिना किसी मतलबके यानी बिलकुल अर्थशून्य ये राग, द्वेष, भय, रोग आदि क्यों उदित हुए हैं ? ॥ ६५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः न तो सृष्टिका कोई कारण है, न सर्गता है और न असर्गता ही है, किन्तु सिर्फ एक बार अवभासित हुआ पुनः आवरण होनेके कारण प्रपञ्चरूपसे प्रसिद्धिको प्राप्त यह प्रत्यग्रूप ब्रह्म ही सर्वदा विद्यमान है ॥ ६६ ॥

सर्वदा शून्य, विपुल आभोगवाले, स्वच्छ चितिरूपी जलसे परिपूर्ण,, चिदाकाश रूपी अविनाशी क्षेत्र (खेत) के अज्ञानकल्पनारूपी पङ्कसे व्याप्त होनेपर उसमें उस चिदाकाशस्वरूप बीजसे ही चिदाकाशात्मक यह अनन्त पञ्चभूतरूप ब्रह्माण्डबीजशिलाओंकी पङ्क्ति उत्पन्न हुई हैं और आगे चलकर भी होगी ॥६७, ६८॥

कल्पनारूपी पङ्कके अभावमें बतलाते हैं—'नाऽस्ति' इत्यादिसे ।

वस्तुतः यहाँपर न तो कोई खेत है, न कुछ उसमें बोया गया है, न कोई बीज है और न कुछ उत्पन्न ही हुआ है, किन्तु एकमात्र कल्पनासे सब कुछ यहाँ स्थित है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार पिशाचजातिके वर्णनके प्रसङ्गसे सृष्टिके तत्त्वका वर्णन करके अब प्रस्तुत विषयके अनुकूल होनेसे पूर्ववर्णित पञ्चभूतशिलाके अवयव आदि रूपसे भिन्न-भिन्न जातियाँ दिखलाते हैं—'याः' इत्यादिसे ।

याः शिलावल्लयस्तत्र पुष्टास्ता विबुधादयः ।
यास्तु वर्णोज्ज्वला एताः स्वास्थिता बुद्बुद्बुयः ॥७०॥
यास्त्वर्धपक्कास्ता एता नरनागादिजातयः ।
यास्त्वश्याना रजोनष्टास्ताः कृमिस्थावरादयः ॥ ७१ ॥
यास्तु गुर्व्यः फलैर्हीनाः शून्याकाराः क्षयक्षताः ।
अशरीराः शरीरिण्यस्ताः पिशाचादिकाः स्मृताः ॥७२॥
नहि संकल्पितुः स्वेच्छा क्वचित्पर्यनुयुज्यते ।
तास्तथेच्छा विरिञ्चस्य तथा नाम्न तथोदिताः ॥ ७३ ॥
सर्वा एव चिदाकाशरूपिण्यो भूतजातयः ।
आतिवाहिकदेहिन्यः पृथ्व्यादिरहितात्मिकाः ॥ ७४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस कल्पनारूपी पङ्कसे व्याप्त उस चिदाकाशरूपी खेतमें जो ब्रह्माण्डरूपी शिलाओंकी अनेक पङ्क्तियाँ परिपुष्ट हुई हैं, वे सब देव आदि जातियाँ हैं। [यह सामान्यरूपसे कहा गया है, अब विशेषरूपसे उनका विभाग करके कहते हैं–'यास्तु' से] इनमें जो अत्यधिक सौन्दर्यसे उज्ज्वल रत्नरूप हैं, वे तो देव, ऋषि आदिकी जातियाँ हैं ॥ ७० ॥

इनमें जो शिलाएँ अर्ध उज्ज्वल हैं वे नर, नाग आदि की जातियाँ हैं तथा जो मलिन और रजोगुणसे दूषित शिलाएँ हैं वे सब कृमि, कीट, स्थावर आदि हैं ॥ ७१ ॥

इनमें जो बड़ी, बड़ी वजनदार, कान्ति, प्रकाश आदि फलोंसे हीन, शून्याकार, क्षयक्षत, देहाकारसे रहित तथा शरीरसे युक्त शिलाएँ हैं वे सब पिशाच आदि कही गई हैं ॥ ७२ ॥

उस खेत में उत्तम देवादिरूप रत्न ही पैदा होवें, यही सङ्कल्प हिरण्यगर्भको क्यों नहीं हुआ, वृथा पाषाणरूप पिशाचादि जातियाँ पैदा करनेका उनका क्यों सङ्कल्प हुआ, यह आक्षेप आप सङ्कल्प करनेवाले विधाताकी इच्छाके ऊपर कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि विधाताकी वे इच्छाएँ पैदा होनेवाले जीवोंके पूर्वजन्मकी कर्मवासनाके अनुसार ही हुई हैं, अतएव वे पिशाचजातियाँ भी वैसी ही यानी अपने पूर्वजन्मकी कर्मवासनाके अनुसार ही उदित हुई हैं ॥ ७३ ॥

शिलारूपताकी उत्प्रेक्षा करनेके बाद अब भूतजातियोंमें प्रसक्त भौतिकताका वारण करते हैं–'सर्वा एव' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वास्तवमें तो सभी भूतजातियाँ पृथिवी आदि पञ्चभूतोंसे रहित

ताश्चिराभ्यासवशतस्त्वाधिभौतिकसंविदम् ।
प्राप्ता दीर्घानुभवनात्स्वप्नजाग्रद्दशामिव ॥ ७५ ॥
पिशाचाद्यास्तथा एते तथा भूताधिभौतिकाः ।
तिष्ठन्ति तुष्टमनसः स्वसंसारविहारिणः ॥ ७६ ॥
पश्यन्ति काश्चिदन्योन्यं ग्राम्या ग्राम्येयकानिव ।
स्वप्नैकलोकवास्तव्या इवैता भूतजातयः ॥ ७७ ॥
काश्चिद्बहु नरप्राप्तस्वप्ननिर्माणलोकवत् ।
नाऽन्योन्यमपि पश्यन्ति नानासंस्थानसंस्थिताः ॥ ७८ ॥

स्वरूपव्यापी मनोरूप सूक्ष्मदेहसे युक्त चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ७४ ॥

तब हम लोगोंकी देहमें भौतिकताका अनुभव कैसे होता है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'ताश्चिराभ्यास०' इत्यादिसे ।

चिरकालके अभ्यासके वश वे सबके सब आधिभौतिक संवित्को ऐसे प्राप्त हो गये हैं जैसे दीर्घकालके अनुभवसे यानी दीर्घकालकी भावनासे स्वप्न जाग्रत् दशाको प्राप्त होता है ॥ ७५ ॥

ये पिशाच आदि भी चिरकालके अभ्याससे आधिभौतिक रूपताको प्राप्त होकर अपने संसारमें विहार करते हुए अपनी योनिके भोग्य भोगोंसे सन्तुष्टचित्त हो अवस्थित रहते हैं । तात्पर्य यह कि उनकी पिशाच देह और कुत्सित भोग भी उन्हें अत्यन्त प्रिय ही लगते हैं, बीभत्स नहीं ॥ ७६ ॥

स्वप्नलोकमें निवास करनेवालेंके सदृश कोई कोई पिशाचोंकी ये जातियाँ भी परस्पर एक दूसरेको इस तरह देखती हैं [यानी दर्शन आदिके द्वारा एक दूसरे के साथ ऐसे व्यवहार करती हैं,] जैसे गाँवमें रहनेवाले प्राणी गाँवके निवासियोंको ॥ ७७ ॥

इनकी नाना संस्थानोंमें अवस्थित कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जो बहुधा मनुष्यके स्वप्नमें निर्मित होनेवाले लोगोंकी तरह परस्पर भी नहीं देखती ॥ ७८ ॥

पिशाचजातियोंकी तरह कुम्भाण्डादि जातियोंकी भी प्रायः सूक्ष्मदेहता होती है तथा इनमें भी चेष्टा आदि ठीक वैसे ही पाये जाते हैं, यह कहते हैं—'स्थिता' इत्यादिसे ।

स्थिता यथैता जगति पिशाचाद्याः कुजातयः ।
प्रायस्तथैताः कुम्भाण्डयक्षप्रेतादयः स्थिताः ॥ ७९ ॥
यथा तत्रेह वै निम्ना जलं तत्राऽवतिष्ठते ।
तथा यत्र पिशाचास्तमस्तत्राऽवतिष्ठते ॥ ८० ॥
मध्याह्नेऽपि पिशाचश्चेदजिरे तिष्ठति स्वयम् ।
तत्तस्याऽन्धं तमस्तत्र संनिधानं करोत्यलम् ॥ ८१ ॥
न निहन्ति च तद्भानुर्न चान्यस्तत्प्रपश्यति ।
स एव चाऽनुभवति पश्य मायाविजृम्भितम् ॥ ८२ ॥
अग्नेरादित्यचन्द्रादेस्तैजसं मण्डलं यथा ।
पिशाचादेरजन्यात्म तामसं मण्डलं तथा ॥ ८३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसारमें जैसे पिशाच आदि दुष्ट जातियाँ स्थित हैं प्रायः वैसे ही ये कुम्भाण्ड, यक्ष तथा प्रेत आदि भी स्थित हैं ॥ ७९ ॥

जैसे ऊँच-नीच जमीनके तारतम्यमें जलकी स्थितिमें तारतम्य रहता है वैसे ही पापके तारतम्यसे उनमें तमोगुणका तारतम्य स्थित रहता है, यह कहते हैं— 'यथा तत्रेह' इत्यादिसे ।

जैसे इस संसारमें गहरी जमीनमें जल स्थित रहता है वैसे ही जहाँ पिशाच आदि रहते हैं वहाँपर उनके पापके तारतम्यसे थोड़ा-बहुत तमोगुण भी स्थित रहता है ॥ ८० ॥

यदि मध्याह्नकालमें धूपसे युक्त आँगनमें भी पिशाच विद्यमान रहे, तो वहाँपर भी घोर अन्धकार अच्छी तरह उसकी सन्निधि करता ही है यानी उसके सम्मुख अवस्थित हो ही जाता है ॥ ८१ ॥

उस अन्धकारको सूर्य नहीं नष्ट करते और उसको दूसरा कोई देखता भी नहीं है । एकमात्र वह पिशाच ही उसका अनुभव करता है । हे श्रीरामचन्द जी, देखिये मायाका विकास कैसा है ॥ ८२ ॥

जैसे हम लोगोंके प्रकाशके लिए अग्नि तथा सूर्य आदिका तैजसमण्डल विद्यमान है वैसे ही पिशाच आदिकोंकी व्यवहारसिद्धिके लिए इन्धन आदिसे अनुत्पन्नस्वरूपवाला तामस-मण्डल विद्यमान रहता है ॥ ८३ ॥

याति तेजस्यनोजस्त्वं तमस्योजःप्रधानताम् ।
उलूकवत्पिशाचाद्या आश्चर्यं तत्स्वभावतः ॥ ८४ ॥

एषा पिशाचाजनितस्य जातिः
प्रोक्ता मया ते समयानपेता ।
पिशाचतुल्यः सुरलोकपाल-
लोकेषु जातोऽहमिति प्रसङ्गात् ॥ ८५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णनप्रसंगेन जगद्ब्रह्मणो-रैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥९४॥



उल्लूके समान पिशाच आदि अपने स्वभावसे ही प्रकाशमें निर्बल हो जाते हैं और अन्धकारमें ओजकी प्रधानताको प्राप्त हो जाते हैं यानी प्रबल हो जाते हैं। देखिये, यह कैसा आश्चर्य है ॥ ८४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, पिशाचयोनिमें उत्पन्न जीवकी जातिका मैंने आपसे वर्णन कर दिया, जैसा कि आपने मुझसे पूछा था। पूछी गई बातोंका अवश्य उत्तर देना ही चाहिये, यह व्याख्याताओंका सम्प्रदाय है, इससे शून्य यह पिशाच-जाति न थी। अर्थात् सुरलोकपालोंके लोकोंमें मैं पिशाचतुल्य हो गया, यह जो मैंने आपसे कहा था, उसीके प्रसङ्गमें आपने मुझमें पिशाचजातिके विषयमें पूछ दिया था ‡ ॥ ८५ ॥

चौरानबे सर्ग समाप्त



‡ एकमात्र यही कारण है कि मैंने पिशाचजातिके विषयमें आपसे वर्णन किया है, अन्यथा यहाँ इसके वर्णनकी कोई आवश्यकता न थी।

पञ्चनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततश्चिदाकाशवपुर्भूतपञ्चकवर्जितः ।
विहरन्नहमाकाशे पिशाच इव संस्थितः ॥ १ ॥
न मां पश्यन्ति चन्द्रार्कशक्रा हरिहरादयः ।
न देवसिद्धगन्धर्वकिन्नरा नाऽप्सरोगणाः ॥ २ ॥
नाऽऽक्रामन्ति मयाऽऽक्रान्ता न च शृण्वन्ति मद्वचः ।
इत्यहं मोहमापन्नो विक्रीत इव सज्जनः ॥ ३ ॥
अथ चिन्तितवानस्मि सत्यकामा इमे वयम् ।
पश्यन्तु मां सुरगणास्तेन तस्मिन् सुरालये ॥ ४ ॥
द्रष्टुं प्रवृत्ता मामग्रेवास्तव्याः सर्व एव ते ।
झटित्येव पुरं प्राप्तमिन्द्रजालद्रुमं यथा ॥ ५ ॥

पञ्चानबे सर्ग

[सत्यसङ्कल्पताकी स्मृतिसे पुनः प्राणियोंके साथ व्यवहार तथा अपने आकाश-वसिष्ठ आदि नामोंकी प्राप्तिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उस समय पञ्चभूतोंसे रहित केवल चिदाकाशमात्र शरीरधारी मैं पिशाचके सदृश आकाशमें विहार करता हुआ स्थित था ॥१॥

उस समय मुझे न तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र तथा हरि, हर आदि देख पाते थे और न सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएँ ही देख पाती थीं ॥ २ ॥

मैं पादन्यास, आरोहण आदिके द्वारा उनके ऊपर आक्रमण करता था, परन्तु वे मेरे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। वे लोग मेरा वचन भी नहीं सुन सकते थे, इसलिये मैं मोहको प्राप्त हो गया—मुझे पूर्वापरकर्तव्यताका कुछ भी प्रतिसन्धान न रहा। अतः हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं विक्रीत सज्जनके समान हो गया ॥३॥

इसके अनन्तर मैंने विचार किया कि हम तो सत्यकाम हैं, इसलिए मैंने यह सङ्कल्प किया कि ये देवगण मुझे देखें। मेरे सङ्कल्प करते ही देवलोकवासी उन देवताओंमें सबके-सब ही, जो मेरे सामने रह रहे थे, नगरमें प्राप्त इन्द्रजाल-वृक्षके सदृश मुझे देखनेमें शीघ्र ही प्रवृत्त हो गये ॥ ५ ॥

अथ गीर्वाणगेहेषु सम्पन्नो व्यवहार्यहम् ।
यथास्थितसमाचारः स्थितो निःशङ्कचेष्टितः ॥ ६ ॥
यैरविज्ञातवृत्तान्तैर्दृष्टोऽहमजिरोत्थितः ।
वसिष्ठः पार्थिव इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ७ ॥
व्योमन्यादित्यरश्मिभ्यो दृष्टोऽहं यैर्नभोगतैः ।
वसिष्ठस्तैजस इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ८ ॥
वातात् समुदितो दृष्टो यैरहं गगनास्पदैः ।
सिद्धैर्वातवसिष्ठाख्यस्तैरहं समुदाहृतः ॥ ९ ॥
यैरहं सलिलाद् दृष्टः प्रोत्थितस्तैर्मुनीश्वरैः ।
उक्तो वारिवसिष्ठोऽहमिति मे जन्मसन्ततिः ॥ १० ॥
ततःप्रभृति लोकेऽहं पार्थिवः प्रथितः क्वचित् ।
अम्मयः क्वचिदन्येषां तैजसो मारुतः क्वचित् ॥ ११ ॥

इसके बाद हे श्रीरामचन्द्रजी, उन देवताओंके घरोंमें सर्वविध शङ्काओंसे शून्य चेष्टावाला तथा यथास्थित अपने सब आचारोंसे सम्पन्न मैं सम्भाषण आदिके द्वारा व्यवहरणशील हो गया। वहाँ उनके साथ अब मेरा कोई संकोच नहीं रह गया था ॥ ६ ॥

जिन महानुभावोंको मेरा वृत्तान्त मालूम नहीं था, उन लोगोंने सर्वप्रथम मुझे आँगनमें आविर्भूत हुआ देखा। अतः उस पृथ्वीसे ही मेरी उत्पत्तिकी कल्पना करते हुए उन सज्जनोंने पार्थिव वसिष्ठ नामसे लोकोंमें मुझे प्रसिद्ध कर दिया ॥ ७ ॥

मुझे आकाशवासी जिन महानुभावोंने आकाशमें भगवान् सूर्यदेवकी किरणोंसे निकला हुआ देखा, उन्होंने तैजस वसिष्ठ नामसे मुझे विख्यात किया ॥ ८ ॥

तथा मुझे आकाशवासी जिन सिद्धोंने वायुमण्डलसे आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगोंके द्वारा मैं वातवसिष्ठ कहा जाने लग गया ॥ ९ ॥

जिन मुनीश्वरोंने मुझे जलसे आविर्भूत हुआ देखा, उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम से पुकारा। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार विभिन्न कल्पनाओं द्वारा मेरी यह जन्मपरम्परा है अर्थात् जिन जिन महानुभावोंने जहाँसे मुझे जैसे निकलते देखा उन्होंने वैसे ही मेरे नाम और जन्मकी कल्पना कर दी ॥ १० ॥

तभीसे मैं लोकोंमें कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैजस और कहींपर मारुत वसिष्ठ नामसे अन्यान्य लोगों द्वारा प्रसिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

अथ कालेन मे तत्र तस्मिन्नेवाऽऽतिवाहिके ।
आधिभौतिकता देहे रूढा रूढान्तरेरिता ॥ १२ ॥
यदेतदातिवाहित्वमाधिभौतिकता च खम् ।
द्वयमप्येकदेहात्म ततः कचति मे चितिः ॥ १३ ॥
एवमात्म क्वचिद् व्योमकचनात्माऽप्यहं नभः ।
परमेव निराकारं युष्मास्वाकारवानपि ॥ १४ ॥
जीवन्मुक्तो व्यवहरंस्तथाऽऽस्ते ब्रह्मखात्मकः ।
तथैवाऽदेहमुक्तोऽपि तिष्ठति ब्रह्ममात्रकः ॥ १५ ॥

इसके अनन्तर काल पाकर मेरे उसी सूक्ष्म शरीरसे आधिभौतिकता प्रादुर्भूत हुई, जो चिरकालके अभ्याससे परिणत हुए मनसे प्राप्त हुई थी यानी मनसे ही प्राप्त की गई ॥ १२ ॥

तब अज्ञ प्राणियोंकी नाईं भौतिक देहवाले ही आप क्यों नहीं हुए, इसपर कहते हैं—'यदेतत्' इत्यादिसे ।

चूँकि आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) और आधिभौतिकता—ये दोनों ही चिदाकाश-रूप ही हैं। चिदाकाशरूपसे एक ही देहात्मा है, यही मैंने तत्त्वतः समझा है इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मेरी चिति ही आत्मभावसे स्फुरित होती है, न कि देहात्मभावसे देहात्मभाव स्फुरित है ॥ १३ ॥

इस तरह कहीं आकाशादि पञ्चभूतरूपसे स्फुरित होनेपर भी मैं चिदेकस्व-भाव निराकार परम चिदाकाशरूप ही हूँ ।

तब आप आकारयुक्त कैसे दिखाई देते हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—'युष्मास्वा०' से । लेकिन आप लोगोंमें उपदेशादि व्यवहारकी सिद्धिके लिए आकारवान् भी मैं दीखता हूँ ॥ १४ ॥

वस्तुतः सदेह और विदेह मुक्त—ये दोनों एक ही रूपके हैं, यह कहते हैं—'जीवन्मुक्तः' इत्यादिसे ।

जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ ब्रह्माकाशरूपसे स्थित रहता है वैसे ही विदेहमुक्त भी ब्रह्माकाशरूपसे ही अवस्थित रहता है ॥ १५॥

मम न ब्रह्मतापेता तादृग्व्यवहृतेरपि ।
असंभवादन्यदृशो युष्मदादिष्वहं त्वहम् ॥ १६ ॥
यथाऽज्ञस्य स्वप्ननरे निर्जन्मनि निराकृतौ ।
आधिभौतिकताबुद्धिस्तथा मे जगतोऽपि च ॥ १७ ॥
एवमेवाऽवभासन्ते सर्व एव स्वयंभुवः ।
सर्गाश्च न तु जायन्ते प्रयाता इव चोदिताः ॥ १८ ॥
एष सोऽहमिहाऽऽकाशवसिष्ठः पुष्टतामिव ।
गतोऽद्य स्वात्मनाऽभ्यासाद्भवतां वा भवत्स्थितिः १९ ॥
आकाशात्मान एवैते सर्वं एव स्वयंभुवः ।
यथात्वे तन्मनोमात्रमिमे सर्गास्तथैव हि ॥ २० ॥

ब्रह्मसे अन्य दृष्टिका संभव न होनेसे वैसा व्यवहार करते रहनेपर भी मेरी ब्रह्मता नष्ट नहीं हुई—ज्योंकी त्यों स्थित रही। तथा आप जैसे सज्जनोंके बीच उपदेश देनेके लिए मैं वसिष्ठदेहसे स्थित हूँ ॥ १६ ॥

तब आपका यह कथन कैसे ठीक समझा जाय कि शून्य देहमें आधिभौतिकता रूढ हुई, इस शङ्कापर कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे।

निराकार तथा जन्मशून्य स्वप्नके मनुष्यमें अज्ञानीको जैसे आधिभौतिकता बुद्धि होती है वैसे ही मुझे तथा अन्य जगत्को भी होती है ॥ १७ ॥

इसी तरह ब्रह्माके शरीर तथा तत्कृत सर्ग जो जगत् तथा अन्य लोगोंको उदित हुए-जैसे अवभासित हो रहे हैं वे सबके-सब परकी दृष्टिसे ही आधिभौतिक हैं। वस्तुतः वे नहीं हैं, वे तो कभी उत्पन्न ही नहीं होते ॥ १८ ॥

वह जो मैं आकाशवसिष्ठ हूँ, सो आज यहाँ अपने मनके अभ्याससे ही परिपुष्टताको मानो प्राप्त हुआ हूँ। अथवा आपके मनके अभ्याससे आपकी बुद्धिके अनुसार यह मेरी भौतिकदेहस्थिति है ॥ १९ ॥

मेरी अपनी दृष्टिसे जैसे यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक है वैसे ही हिरण्यगर्भकी अपनी दृष्टिसे भी यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक ही है, यह कहते हैं—'**आकाश०**' इत्यादिसे।

मेरे ही समान ब्रह्माकी दृष्टिमें आये जितने सर्ग हैं, वे सबके-सब ब्रह्माकाशात्मक ही हैं जैसे स्वयं ब्रह्माजी मनोमात्र हैं वैसे ही उनकी सब सृष्टि भी है। अतः परीक्षकदृष्टिसे यह सब जगत् मनोमात्र ही हैं ॥ २० ॥

अहमादिरयं सर्गस्त्वपरिज्ञानदोषतः ।
वेताल इव बालानां गतो वो वज्रसारताम् ॥ २१ ॥
परिज्ञातस्तु कालेन स्वल्पेनैवोपशाम्यति ।
वासनातानवात्स्नेहो बन्धौ दूरगते यथा ॥ २२ ॥
घनत्वमहमासाद्य तथा सर्वस्य शाम्यति ।
परिज्ञाता यथा स्वप्ननिधेरादेयभावना ॥ २३ ॥
शाम्यन्ति संपरिज्ञाताः सकला दृश्यदृष्टयः ।
यथा मरुनदीवेगवारिग्रहणबुद्धयः ॥ २४ ॥
महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।
एतदासाद्यते नित्यं किमेतावति दुष्करम् ॥ २५ ॥
संसारवासनाभावरूपे सक्ता नु यस्य धीः ।
मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः २६

'अहम्', 'त्वम्', जगत् आदि सारी सृष्टि अपरिज्ञानके दोषसे आप अज्ञ जनोंकी दृष्टिमें वज्रके तुल्य ऐसे ही दृढ़ताको प्राप्त हो गई है जैसे कि बालकोंकी दृष्टिमें वेताल ॥ २१ ॥

दूर गये हुए स्वजनमें जैसे काल पाकर वासना कम हो जानेसे स्नेह उपशान्त हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, यथार्थ रूपमें जब यह संसार खूब परिज्ञात हो जाता है तब यह थोड़े ही समयके बाद उपशान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

ज्ञान होनेपर अहङ्काररूप स्थूलता सबकी ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि भली भाँति ज्ञात हो जानेपर स्वाप्निक धनमें उपादेयताकी वासना ॥ २३ ॥

ये समस्त दृश्यदृष्टियाँ भली भाँति ज्ञान हो जानेपर ऐसे बिलकुल शान्त हो जाती हैं, जैसे मरुभूमिकी नदीके वेगमें जलग्रहणकी बुद्धियाँ ॥ २४ ॥

महारामायणके सदृश शास्त्रोंके एकमात्र अवलोकनसे ही यह जीवन्मुक्तत्व सदा प्राप्त किया जा सकता है। इतनेमें क्या दुष्करता है ॥ २५ ॥

संसारमें अधिक आसक्तिके कारण जो अध्यात्मशास्त्रसे पराङ्मुख रहता है, उसकी निन्दा करते हैं—'संसार०' इत्यादिसे।

जिस प्राणीकी बुद्धि संसारवासनावश देहेन्द्रियभोग्यादिरूप अवस्तु स्वभावमें संसक्त रहती है। मोक्षविषयमें जिसकी आकांक्षा नहीं होती वह प्राणी कुत्ता है अथवा

भोगाभोगः किलाऽयं यः स जीवन्मुक्तबुद्धिना ।
कीदृशो भुज्यमानः स्यात्कीदृक्स्यान्मौर्ख्यसेविना २७

महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।
अन्तःशीतलतोदेति पराऽर्थेषु हिमोपमा ॥ २८ ॥

मोक्षः शीतलचित्तत्वं बन्धः संतप्तचित्तता ।
एतस्मिन्नपि नाऽर्थित्वमहो लोकस्य मूढ़ता ॥ २९ ॥

कीट है, मनुष्य नहीं है* क्योंकि जैसी अपवित्रता तथा भोगोंमें आसक्ति कुत्तों तथा कीट-पतङ्गोंमें पायी जाती है वैसे ही अपवित्रता एवं भोगोंमें आसक्ति उस प्राणीमें भी विद्यमान है ॥ २६ ॥

जैसे अत्यन्त पवित्र हविः पुरोडाशादिरूप ही अन्न देव, द्विज आदि खाते हैं तथा उच्छिष्ट, पुरीष आदि अपवित्र पदार्थ कुत्ते एवं कीट, पतङ्ग आदि सब खाते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त महानुभाव लोग शुद्धचिन्मात्रानन्दस्वरूप शास्त्रादि भोगोंका उपभोग करते हैं, किन्तु जो मूर्ख हैं वे लोग अत्यन्त, अपवित्र विषयरूप भोगका उपभोग करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**भोगाभोगः**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन्मुक्तबुद्धि पुरुष द्वारा उपभुक्त हो रहा भोगोंका समूह कैसा होता है तथा अन्यथा वस्तुवेदनरूप मौर्ख्यका सेवन करनेवाला जो मूर्ख प्राणी है उसके द्वारा उपभुक्त हो रहा भोग कैसा होता है, इसका विचार करना चाहिए ॥ २७ ॥

किञ्च, अज्ञ प्राणियोंके भोग्यार्थोंमें (भोग्य पदार्थों में) अग्निकी तरह तृष्णा, क्रोध, लोभादिरूप सन्ताप ही उत्पन्न होता है, किन्तु शास्त्रोंका परिशीलन करनेवाले विद्वानोंको तो समस्त पदार्थोंमें सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है, यह एक दूसरी विशेषता है, यह कहते हैं—'**महारामायण०**' इत्यादिसे ।

एकमात्र महारामायण-जैसे शास्त्रोंके अवलोकनसे ज्ञानियोंको समस्त पदार्थोंमें हिमसदृश सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, शीतलचित्तता यानी चित्तका शीतल होना मोक्ष है तथा सन्तप्तचित्तता यानी चित्तका सन्तप्त होना ही बन्ध है । परन्तु ऐसे भी मोक्षमें संसारका अभिलाष नहीं होता । अहो संसारकी मूढ़ता कैसी आश्चर्यमयी है ॥ २९ ॥

* अर्थात् ज्ञानाधिकारके योग्य मनुष्य-देहके वह अयोग्य है ।

अयं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतः
परस्परं स्त्रीधनलोलुपो जनः।
यथार्थसंदर्शनतः सुखी भवे-
न्मुमुक्षुशास्त्रार्थविचारणादितः ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽगाम ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णनप्रसंगेन जगद्ब्रह्मणो-रैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

यह प्राणी स्वभावसे हो विषयोंके वशीभूत है। एकमात्र यही कारण है कि परस्पर युद्ध, चोरी, हरण आदिसे भी स्त्री तथा धन आदिके सम्पादनमें यह लोलुप है। यह नानाविध भ्रान्तिके सन्तापोंसे जल रहा प्राणी मुमुक्षुशास्त्रोंके अर्थोंके विचारपूर्वक निदिध्यासन आदि उपायोंसे यथार्थ वस्तुके अर्थात् आत्माके संदर्शन-से ही सन्तापशून्य पूर्णानन्दरूप होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारसे विरक्त होकर प्राणी जब श्रुति आदिके श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिसे आत्मा-तत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है तब सर्वविध सन्तापोंसे शून्य सुखी हो जाता है—आनन्दघनपरब्रह्मपरमात्मस्वरूप हो जाता है ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनिजीके ऐसा कहनेपर दिन बीत गया। सूर्य भगवान् अस्ताचलको चले गये। इधर मुनियोंकी सभा भी सायंकालके कृत्यके लिए स्नान करने चली गई और रात बीतनेपर भगवान् सूर्यकी किरणोंके साथ २ फिर मुनियोंकी सभा आकर जम गई ॥ ३१ ॥

पंचानवे सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ दिवस

षण्णवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

पाषाणाख्यानमेतत्ते कथितं कार्यकोविद ।
अनयेमाः स्फुरद्दृष्ट्या सृष्टयो नभसि स्थिताः ॥ १ ॥
न च स्थितं किंचनाऽपि क्वचनाऽपि कदाचन ।
स्थितं ब्रह्मघने ब्रह्म यथास्थितमखण्डितम् ॥ २ ॥
ब्रह्म चिन्मात्रकं विद्धि तद्यथा स्वप्नदृष्टिषु ।
पुरं भवन्निजाद्रूपान्न कदाचन भिद्यते ॥ ३ ॥

छियानबे सर्ग

[पाषाणोपाख्यानके तात्पर्यके रूपमें चितिका विवर्तरूप जगद्भ्रम और अजर अमर चितिरूप आत्मा ही ब्रह्मानन्द है, यह वर्णन]

विस्तारसे वर्णित पाषाणोपाख्यानको सर्वश्रेष्ठ प्रकृत आत्मविषयमें घटाते हैं—'पाषाण०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे कार्यज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, आपसे मैंने यह पाषाणोपाख्यान कहा । पाषाणाख्यायिकासे जो विज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही आप निश्चय कीजिये कि सभी सृष्टियाँ चिदाकाशमें या शून्यतामें ही स्थित हैं ॥ १ ॥

भद्र, किसी भी कालमें कहीं भी कुछ भी वस्तु स्थित नहीं है, किन्तु अखण्ड यथावस्थित ब्रह्म ही चैतन्यानन्दघनरूप स्वभावमें स्थित है और कुछ नहीं है ॥ २ ॥

जगत् चैतन्यमात्रका विवर्त है, यह सबको अपने अपने स्वप्नके अनुभवसे सिद्ध है, यह कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे ।

राघव, आप ब्रह्मको केवल चेतनरूप ही जान लीजिये । वह अपने असली स्वभावसे कभी भी ऐसे ही च्युत नहीं होता जैसे कि आत्मा स्वप्नमें नगररूप होता हुआ भी अपने स्वभावसे च्युत नहीं होता, इससे विवर्तका लक्षण यही निकला कि स्वरूपसे च्युत न हुए पदार्थकी अन्यरूपसे प्रतीति विवर्त है । यह लक्षण जगत्में प्रसिद्ध ही है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्न आत्माका विवर्त है, वैसे ही समस्त जगत् ब्रह्मात्माका विवर्त है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं—'स्वयंभूत्व०' इत्यादिसे ।

स्वयंभूत्वसमापत्तौ तथा दृश्यत्र्यवस्थितौ ।
स्वरूपमजहत्त्वेव चिदाकाशमजं स्थितम् ॥ ४ ॥
न स्वयंभूर्न च जगन्न स्वप्नपुरमस्त्यलम् ।
स्थितं संविन्महादृष्टया ब्रह्म चिन्मात्रमेतया ॥ ५ ॥
यथा पुरं भवत्स्वप्ने चिद्रूपं स्वात्मनि स्थितम् ।
अखण्डमेवमासृष्टेरामहाप्रलयस्थितेः ॥ ६ ॥
हेमहेमाश्मनोः स्वप्नपुरचेतनयोर्यथा ।
भेदो न संभवत्येवं न भेदश्चितिसर्गयोः ॥ ७ ॥
चितिरेकाऽस्ति नो सर्गो हेमाऽस्ति न तद्रूर्मिका ।
स्वप्नाचले चिदेवाऽस्ति न तु काचन शैलता ॥ ८ ॥

चिदाकाश ब्रह्म समष्टिजीवके रूपमें चाहे सूक्ष्म उपाधिको प्राप्त करे चाहे स्थूल दृश्यरूप उपाधिको प्राप्त करे, उभयथापि अपना निर्विकार स्वरूप त्यागे बिना ही स्थित है ॥ ४ ॥

यदि जगत् ब्रह्मका विवर्त है तो परमार्थदृष्टिसे क्या स्थित है ? इसपर कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

न तो स्वयंभूकी (समष्टि हिरण्यगर्भकी) स्थिति है, न जगत्की स्थिति है, न स्वप्न-नगरकी ही असली स्थिति है, किन्तु इस परिपूर्ण आत्मदृष्टिसे केवल चिन्मात्र ब्रह्मकी ही स्थिति विद्यमान है ॥ ५ ॥

दृष्टान्तमें भी यह बात समान है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें नगरादिरूप होकर भी चिन्मय आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्थित है, वैसे ही सृष्टिसे लेकर महाप्रलयपर्यन्तकी अवस्था तक जगद्रूप होकर भी ब्रह्मरूप चैतन्य अपने स्वरूपमें ही स्थित है ॥ ६ ॥

जितनी सृष्टियाँ हैं, उन सबका जो अनुभव होता है, उसमें चितिकी बराबर अनुवृत्ति होती है, इससे भी यह निश्चय होता है कि चिति ही जगत्-के रूपसे स्थित है, यह कहते हैं—'हेम०' इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्ण और सुवर्ण-पत्थरेका (सुमेरु पर्वतपर सुवर्णपत्थर प्रसिद्ध हैं) अथवा स्वप्न-नगर और स्वप्न-द्रष्टा आत्माका परस्पर कभी भेद नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही चिति और सृष्टिका भी परस्पर कभी भी भेद नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

जो भी कुछ है, वह केवल चिति ही है, सृष्टि नहीं, हेमके विकार कटकादि-

चिदेव शैलवद्भाति यथा स्वप्ने निरामया ।
तथा ब्रह्म निराकारं सर्गवद्भाति नेतरत् ॥ ९ ॥
चिन्मात्रमिदमाकाशमनन्तमजमव्ययम् ।
महाकल्पसहस्रेषु नोदेति न च शाम्यति ॥ १० ॥
चिदाकाशो हि पुरुषश्चिदाकाशो भवानयम् ।
चिदाकाशोऽहमजरश्चिदाकाशो जगत्त्रयम् ॥ ११ ॥
चिदाकाशं वर्जयित्वा शवमेव शरीरकम् ।
अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसौचिदाकाशो नशाम्यति॥ १२ ॥
अतो न किंचिन्म्रियते न च किंचन जायते ।
चित्त्वात्तत्श्चित्कचनं जगदित्यनुभूयते ॥ १३ ॥

स्थलमें जैसे वास्तवमें सुवर्ण ही है, कटकादि नहीं वैसे ही यहाँ समझना चाहिए । भद्र, स्वप्न-पर्वतस्थलमें क्या है ? चिति ही तो स्वप्नपर्वत है, उसको छोड़कर दूसरा कोई पर्वतका रूप वहाँ नहीं रहता ॥ ८ ॥

जैसे स्वप्नमें एकमात्र निर्विकार आत्मचिति ही पर्वतके सदृश भासती है, वैसे ही निराकार विकाररहित ब्रह्म ही सृष्टि-सा भासता है, दूसरा नहीं, यह जानिए ॥ ९ ॥

चिन्मात्र निर्मल एवं निर्लेप आकाशरूप यह आत्मा नाश रहित, जन्म रहित तथा वृद्धि आदि विकारोंसे वर्जित है, अतः हजारों महाकल्पोंमें भी यह न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है ॥ १० ॥

जीवरूपी पुरुष चेतनरूप निर्मल आकाश ही है, अतः ये आप चिदाकाशरूप हैं, मैं अजर चिदाकाशरूप हूँ और ये तीनों जगत् भी निराकार चिदाकाशरूप हैं ॥ ११ ॥

यदि शरीरमें चिदाकाश न रहे तो वह निर्जीव ही हो जायगा । यह चिदाकाश काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता और न नष्ट ही किया जा सकता है अर्थात् आत्मा छेदन, ज्वलन एवं नाश इन सबका अविषय है ॥ १२ ॥

भद्र, इन सब कारणोंसे न कुछ मरता है और न कुछ उत्पन्न होता है । चितिमें प्रकाशन स्वभाव है , इसीसे चित्प्रकाश ही जगत्के रूपमें भासता है ॥ १३ ॥

चितिका मरण या भेदन माननेमें कोई प्रमाण नहीं है और यदि मानोगे तो सभीका मरण हो जायगा, यह कहते हैं—'चिन्मात्र०' इत्यादिसे ।

चिन्मात्रपुरुषो जन्तुर्म्रियते यदि नाम वा ।
ततोऽमरिष्यत्तत्पुत्रो निःसन्देहं पितुर्मृतौ ॥ १४ ॥
एकस्मिन्प्रमृते जन्तावमरिष्यंस्तु सर्वदा ।
सर्व एव जनाः शून्यमभविष्यन्महीतलम् ॥ १५ ॥
न चाऽद्यापि मृतं राम चिन्मात्रं कस्यचित्क्वचित् ।
न च शून्या स्थिता भूमिस्तस्माच्चित्पुरुषोऽक्षयः ॥१६॥
एकं चिन्मात्रमेवाऽहं वाऽहं न शरीरादयो मम ।
इति सत्यनुसन्धाने क्व जन्ममरणादयः ॥ १७ ॥
अहं चिन्मात्रममलमित्यात्मानुभवं स्वयम् ।
अपहन्त्यात्महन्तारो निमज्जन्त्यापदर्णवे ॥ १८ ॥

यदि चेतनमात्र स्वरूप जीवका मर जाना ही मान लिया जाय, तो पिताके मर जानेपर उसका पुत्र भी मर जायगा, इसमें किसी भी प्रकारका सन्देह करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि पिता पुत्र तो एकरूप ही हैं, भिन्न नहीं है, इसलिए चेतनात्मा जीव नहीं मरता, यही मत निश्चित है ॥ १४ ॥

'एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूतमें स्थित है' इस श्रुतिसिद्धान्तके अनुसार भूतात्मा-का मरण माननेपर सब भूत (प्राणी) मर जायँगे, यह कहते हैं—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

यदि एक प्राणीके मरनेपर सदा ही सब जन्तु मर जाते, तो ऐसी स्थितिमें सारा भूतल जनोंसे रहित-शून्य ही हो जाता, अतः आत्मा मरता नहीं ॥ १५ ॥

श्रीरामजी, आजतक किसी भी स्थानमें किसीका भी चिन्मात्रस्वरूप मरा नहीं है और चेतनसे शून्य भूतल भी किसी समय नहीं रहा है, इसलिए पुरुषात्मा चेतनको अविनश्वर ही समझिए ॥ १६ ॥

इस स्थितिमें चेतनात्माके परिज्ञानसे ही जन्म-मरणादिरूप अनर्थकी निवृत्ति सिद्ध हुई, यह कहते हैं—**'एकम्'** इत्यादिसे ।

मैं एकमात्र चेतनात्मस्वरूप ही हूँ, मेरा शरीर आदि अनर्थोंके साथ संसर्ग है ही नहीं—इस तरहका जब ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है, तब जन्म-मरण आदि अनर्थ रहे ही कहाँ ॥ १७ ॥

भद्र, मैं निर्मल चेतनमात्ररूप हूँ, इस तरहके आत्माके अनुभवका जो पुरुष कुतर्कोंसे खण्डन करते हैं, वे पुरुष आपदाओंके समुद्रमें डूबते ही रहते हैं ॥ १८ ॥

चिदहं गगनादच्छा नित्याऽनन्ता निरामया ।
किं जीवितं मे किंवाऽपि मरणं वा सुखासुखे ॥ १९ ॥
व्योमात्मचेतनमहं के शरीरादयो मम ।
इत्यात्महाऽपह्नुतेऽन्तर्योऽनुभूतं धिगस्तु तम् ॥ २० ॥
चिदाकाशमहं स्वच्छमनुभूतिरिति स्फुटा ।
यस्याऽस्तमागता मूढं तं जीवन्तं शवं विदुः ॥ २१ ॥
अहं वेदनमात्रात्मा कानि देहेन्द्रियाणि मे ।
लब्धात्मानमिति स्वच्छं प्रविलुम्पन्ति नाऽऽपदः ॥ २२ ॥
चिन्मात्रं शुद्धमात्मानं योऽवलम्ब्य स्थिरः स्थितः ।
नाऽऽधयस्तं विलुम्पन्ति महोपलमिवेषवः ॥ २३ ॥
चित्त्वं स्वभावं विस्मृत्य बद्धास्था ये शरीरके ।
तैः सुवर्णं परित्यज्य गृहीतं भस्म वस्तुतः ॥ २४ ॥

मैं चेतनरूप हूँ, गगनसे भी अति स्वच्छ हूँ, सनातन हूँ, व्यापक हूँ और हूँ सब तरहके विकारोंसे शून्य; इसलिए क्या मेरा जीना, क्या मरना और क्या सुख-दुःख ॥ १९ ॥

मैं आकाशके सदृश निर्मल निर्लेप केवल चेतनस्वरूप हूँ, ये शरीर आदि अनर्थ मेरे होते कौन हैं ? इस तरह विद्वानोंके द्वारा अन्तःकरणमें अनुभूत अनुभवका जो अपने कुतर्कोंके बलसे खण्डन करता है, वह पुरुष अपनी आत्माका ही हनन करता है, ऐसे पुरुषको हजार बार धिक्कार है ॥ २० ॥

मैं चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्मात्मा हूँ, इस तरहका विस्पष्ट अनुभव जिस पुरुषका नष्ट हो गया हो, वह भले ही जीता हो, लेकिन उस मूढको विज्ञजन मुरदा ही जानते हैं ॥ २१ ॥

मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्मात्मा ही हूँ, मेरे देह, इन्द्रिय होते कौन हैं ? इस तरहके अपरोक्ष ज्ञानसे आत्माको प्राप्त कर चुकनेवाले, अविद्यादि मलोंसे निर्मुक्त अतएव अतिविशुद्ध हुए पुरुषको मरण आदि आपदाएँ नष्ट नहीं कर पातीं ॥ २२ ॥

चिन्मात्ररूपी विशुद्ध आत्माको पकड़कर जो पुरुष अचल बनकर स्थित है, उस महापुरुषको मानसिक पीड़ाएँ उस तरह छिन्न-भिन्न नहीं करतीं, जिस तरह महा पाषाणको बाण ॥ २३ ॥

जो पुरुष अपने चेतन स्वभावको भूलकर तुच्छ शरीरमें आस्था बाँधकर बैठे

बलं बुद्धिश्च तेजश्च देहोऽहमिति भावनात् ।
नश्यत्युदेत्येतदेव चिदेवाऽहमिति स्थितेः ॥ २५ ॥
चिदाकाशमहं शुद्धं के मे मरणजन्मनी ।
एवं स्थिते स्युः किंनिष्ठा लोभमोहमदादयः ॥ २६ ॥
चिदाकाशादृते देहान् योऽन्यत्सारमवाप्नुयात् ।
तस्मै तद्युज्यते वक्तुं सन्ति लोभादयस्त्विति ॥ २७ ॥
न च्छिद्ये न च दह्येऽहं चिन्मात्रं वज्रवच्चिति ।
न देही निश्चयो यस्य तं प्रत्यन्तकरस्तृणम् ॥ २८ ॥
अहो नु मुग्धता ज्ञानदृष्टीनां यद्विदन्त्यलम् ।
शरीरशकलाभावे नश्याम इति मोहिताः ॥ २९ ॥

हैं, उन्होंने असली सोनेको छोड़कर राखको ही सोना समझकर ग्रहण किया है, यही वास्तवमें जानना चाहिए ॥ २४ ॥

मैं देहरूप ही हूँ, इस भावनासे पुरुषका बल, बुद्धि और तेज नष्ट हो जाता है और मैं चेतनात्मा ही हूँ, इस ज्ञाननिष्ठासे उसका बल, बुद्धि और तेज उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है ॥ २५ ॥

मैं आकाशके सदृश अतिस्वच्छ विशुद्ध परमात्मारूप हूँ, मेरे जन्म-मरण ही क्या, इस प्रकारकी निष्ठा हो जानेपर पुरुषमें लोभ, मोह आदि दोष रहेंगे ही कहाँ, क्योंकि वे आत्मामें तो रहते नहीं, इसलिए ज्ञानी पुरुषकी वे क्या क्षति पहुँचायेंगे ॥ २६ ॥

चिदाकाशको छोड़कर दूसरे दूसरे तुच्छ स्थूल आदि देहोंको जो पुरुष अलगसे सत्यरूप आत्मा समझकर देखता है, उसी मूढ़के लिए यह कहना उचित है कि लोभ आदि अनर्थ हैं ॥ २७ ॥

मैं न तो छेदा जाता हूँ, न मैं जलाया जाता हूँ, मैं वज्रके सदृश दृढ़ चेतनमात्र स्वरूप हूं, न मैं शरीरी हूं । इस प्रकारका निश्चय जिस महामतिको है, उस महामतिके प्रति यमराज भी तृणके सदृश तुच्छ है ॥ २८ ॥

भद्र, बड़ा ही आश्चर्यका विषय है कि पण्डितोंको भी मोह—व्यामोह देखा जाता है, इसीलिए वे शरीररूप एक जड़ टुकड़ेका नाश उपस्थित हो जानेपर हम नष्ट हो रहे हैं, यों मोहित होकर जोरसे चिल्लाने लग जाते हैं ॥ २९ ॥

अहं चिन्नभ एवेति सत्ये भावे स्थिरे सति ।
वज्रपातयुगान्ताग्निदाहाः पुष्पोत्करोपमाः ॥ ३० ॥
चिन्मात्रममरं नाऽहं यन्नश्यामीति रोदिति ।
अनष्ट एव तद्देहो जातापूर्वा खशोलिका ॥ ३१ ॥
इदं चेतनमेवाहं नाऽहं देहादिदृष्टयः ।
इति निश्चयवान्योऽन्तर्न स मुह्यति कर्हिचित् ॥ ३२ ॥
अहं चेतनमाकाशो नाशो मे नोपपद्यते ।
चेतनेन जगत्पूर्णं केव संदेहिताऽत्र वः ॥ ३३ ॥

मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकारका परमार्थ सत्यरूप भाव जब स्थिर हो जाता है, तब वज्रपात और युगान्तके (प्रलयकालके) अग्निदाह भी फूलोंकी ढेरीसे हो जाते हैं ॥ ३० ॥

मैं अमर चिदात्मारूप नहीं हूं, देहरूप हूँ, इसीसे नष्ट हो रहा हूँ, यों समझकर पुरुष जो रोदन करता है, उसका वह रोदन तो आत्माके नष्ट न होनेपर ही होता है, इसलिए विवेकीकी दृष्टिसे नटके सदृश रोदनविडम्बना एक परिहासका खेल ही है, दूसरा कुछ भी नहीं ॥ ३१ ॥

यह सदा अपरोक्षरूप चेतनरूप ही मैं हूँ, देह आदि दृश्यरूप मैं नहीं हूं, इस प्रकारके निश्चयसे जिस पुरुषका अन्तःकरण पूर्ण है, वह महात्मा कहींपर भी मोहमें नहीं फँसता ॥ ३२ ॥

मैं चेतनात्मक आकाश हूं, मेरे विनाशका कोई भी सटीक हेतु नहीं है, सारा जगत् चेतन-सत्तासे व्याप्त है । अतः तुम लोगोंको यहाँ जन्म-मरण आदिका संशय ही नहीं करना चाहिए ॥ ३३ ॥

चेतनसे अन्य हम लोग हैं, ऐसा जो कहते हैं, वे क्या चैतन्य युक्त होकर कहते हैं अथवा चैतन्यसे शून्य होकर कहते हैं, पहला पक्ष लेते हैं, तो अपना चेतन स्वभाव जानकर वैसा कहना ही नहीं बनता । यदि दूसरा पक्ष लेते हैं, तो जो चैतन्यसे शून्य हैं, वे हम अचेतन हैं, इसका अनुभव या अपलाप, अधिक क्या कहें किसीका भी अपलाप नहीं कर सकते, इस आशयसे कहते हैं— **'चेतनम्'** इत्यादिसे ।

चेतनं वर्जयित्वाऽन्यत्किंचिद्ब्रूयं जना यदि ।
यदुच्यतां महामूढाः स्वात्मा किमपलप्यते ॥ ३४ ॥
तच्चेतनं चेन्म्रियते तज्जनाः प्रत्यहं मृताः ।
ब्रूत किं न मृता यूयं तन्मृतं किल चेतनम् ॥ ३५ ॥
तस्मान्न म्रियते किंचिन्न च जीवति किंचन ।
जीवामीति मृतोऽस्मीति चिच्चेतति न नश्यति ॥ ३६ ॥
चिच्चेतति यथा वा यत्तत्तथा साऽऽशु पश्यति ।
आबालमेषोऽनुभवो न क्वचित्सा च नश्यति ॥ ३७ ॥

यदि चेतनके स्वरूपको छोड़कर और अन्य किसी जड़रूप पदार्थ बनकर मनुष्य प्रश्न करते हैं तो आप उनसे कहिए कि हे महामूढ़, अपनी आत्माका अपलाप क्यों करते हो ॥ ३४ ॥

किञ्च, यदि चैतन्य अपना मरण देखता है, यह माना जाय तो वह सदा ही अपना मरण देखा करेगा, ऐसी स्थितिमें जी रहे पुरुषोंको सदा ही मरणका अनुभव होता रहेगा, यह कहते हैं--**'तच्चेतनम्'** इत्यादिसे ।

आत्मरूप चेतन यदि मरता हो, तो प्रतिदिन यानी निरन्तर आत्मारूप जीव मरे हुए ही हैं, यह मानना होगा, फिर क्या आप लोग मरे हुए ही हैं, यह कहिए, क्योंकि चेतनको तो आप लोगोंने मृत ही माना ॥ ३५ ॥

यों जब मरण ही अप्रसिद्ध है, तब तद्भिन्न जीवनकी भी कल्पना व्यर्थ है वह आशय रखकर कहते हैं--**'तस्मान्न'** इत्यादिसे ।

इससे न कुछ मरता है और न कुछ जीता ही है । मैं जीता हूँ या मैं मरा हूँ, इस प्रकार चिति केवल भ्रान्तिका अनुभव करती है, वास्तवमें वह मरती नहीं है ॥ ३६ ॥

अविनाशी चेतनके अनुसार ही सबको वस्तुओंका अनुभव होता है, उससे विरुद्ध प्रकारसे नहीं, यह कहते हैं--**'चिच्चे०'** इत्यादिसे ।

चितिरूप आत्मा जिस प्रकारसे जिस वस्तुका भ्रान्तिसे अनुभव करता है, उसको उस प्रकारसे तत्काल ही देख लेती है, यह बालकतकका अनुभव है, अतः चिति कहीं भी नष्ट नहीं होती ॥ ३७ ॥

परिपश्यति संसारं परिपश्यति मुक्तताम् ।
सुखदुःखानि जानाति स्वरूपात्तन्न भिद्यते ॥ ३८ ॥

अपरिज्ञातदेहात्तु धत्ते मोहाभिधां स्वयम् ।
परिज्ञातस्वरूपात्तु धत्ते मोक्षाभिधां स्वयम् ॥ ३९ ॥

नाऽस्तमेति न चोदेति न कदाचन किंचन ।
सर्वमेव च चिन्मात्रमाकाशविशदं यतः ॥ ४० ॥

न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तं प्रति स्थितम् ॥ ४१ ॥

चिति संसार देखती है, मुक्ति देखती है, और सुख दुख भी जानती है, इतना होनेपर भी अपने स्वरूपसे कालभेद, देशभेद या वस्तुभेद द्वारा भिन्न नहीं होती ॥ ३८ ॥

तब बन्ध और मोक्षमें विशेष किस बातको लेकर है, इसे बतलाते हैं--- 'अपरिज्ञात०' इत्यादिसे ।

चिति अपने असली स्वरूपको न जाननेके कारण स्वयं मोह नाम धारण करती है यानी संसारग्रस्त हो जाती है ओर जब अपना असली रूप ज़ान जाती है, तब मोक्षनामको स्वयं धारण कर लेती है यानी मोक्षरूप बन जाती है ॥ ३९ ॥

किसी समय कोई कुछ भी न तो नष्ट होता है और न पैदा ही होता है, क्योंकि जो भी कुछ है, वह सभी आकाशवत् अतिविशद चैतन्यमात्ररूप आत्मा ही है ॥ ४० ॥

इन सब बातोंसे निचोड़ यह निकला कि जगत‌के नाना रूपोंमें सत्यता या असत्यता केवल अपने-अपने मन्तव्योंके अनुसार स्थित है, वास्तवमें नहीं, यह कहते हैं—'न तदस्ति' इत्यादिसे ।

ऐसी कोई चीज नहीं है, जो सत्य न हो या ऐसी कोई चीज नहीं है, जो झूठी न हो, क्योंकि अपनी-अपनी मतिके अनुसार जिसने जैसा निश्चित किया, उसके सामने वैसी ही वस्तु उपस्थित हो जाती है, परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है ॥ ४१ ॥

कथित अर्थका निगमन करते हुए उपसंहार करते हैं—'यद्य०' इत्यादिसे ।

यद्यद्यथा जगति चेतति चेतनात्मा
तत्तत्तथाऽनुभवतीत्यनुभूतिसिद्धम् ।
दृष्टं विषामृतदृशेव पदार्थजातं
नाऽतोऽस्ति संविदविधेयमिति प्रसिद्धम् ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे अमरत्वप्रतिपादनं नाम षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संविन्मयत्वाज्जगतः स्वप्नस्य परमात्मनः ।
ब्रह्माकाशतया सर्वं ब्रह्मैवेत्यनुभूयते ॥ १ ॥

श्रीरामजी, इस जगत्‌में पुरुष भ्रान्तिसे जिस वस्तुको जिस रूपसे कल्पना कर लेता है, उस वस्तुका उसी रूपसे अनुभव करने लग जाता है, यह बात सर्वविदित है। इसलिए ये सब पदार्थ विषामृतदृष्टिके सदृश (यानी विषको अमृत समझनेके सदृश) कालादिवश अनियतादि ज्ञानरूप संविदके अनुसार ही व्यवस्थित है, अतः कुछ भी वस्तु चितिरूप आत्मासे भिन्न है ही नहीं, यह बात निर्विवादरूपसे सिद्ध हो चुकी ॥ ४२ ॥

छियानवे सर्ग समाप्त

सत्तानवे सर्ग

[ब्रह्मके सर्वशक्ति होनेके कारण सर्ववादियोंकी उक्तिकी सत्यता, सब लोगोंकी भोगोंमें आसक्ति तथा तत्त्वज्ञानियोंकी विरक्तताका वर्णन]

ब्रह्मके सर्वशक्ति होनेके कारण सभी वादियोंकी उक्ति सत्य है, इस कहे जानेवाले अर्थमें उपयोगी 'न तदस्ति' इस पूर्व सर्गकी अन्तिम उक्तिसे प्रतिपादित तत्त्वका समर्थन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'संविन्मयत्वाद्' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, परमात्माका स्वप्नरूप जो यह जगत् है, वह चितिरूप

भ्रमस्य चाऽतिदृश्यत्वाददृश्यत्वान्महाचितेः ।
मदशक्तिवदात्मेति सत्यताऽस्याऽपि युज्यते ॥ २ ॥
असत्त्वाद्दृश्यविश्रान्तेरलभ्यत्वान्महाचितेः ।
उपलब्धुरभावाच्च शून्यनाम्नीव सत्यपि ॥ ३ ॥

तथा ब्रह्मरूप आकाशात्मक है. अतः सब कुछ ब्रह्म ही है, इस स्थितिमें सत्यरूप जगत्का ही सब अनुभव करते हैं, इसलिए कुछ भी असत्य नहीं है, यह कहा गया ॥ १ ॥

यों ब्रह्मरूपसे सब सत्य होते हुए भी प्रतीयमान रूपसे कैसे सब सत्य हुआ ? क्योंकि रज्जुरूपके सत्य होते हुए भी उसमें अध्यस्त साँप तो सत्य नहीं है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'भ्रमस्य' इत्यादिसे ।

जगद्रूप भ्रम अत्यन्त ही दृश्य है और उसका अधिष्ठान महाचैतन्य अदृश्य है। सारांश यह कि रज्जुसर्पस्थलमें रज्जु भी दृश्य है और साँप भी दृश्य है, दोनों दृश्य होनेके कारण जब रज्जुका दर्शन होता है, तब सर्पका बाध हो जानेके कारण सर्पकी असत्यरूपता हो जाती है। जगद्भ्रममें तो केवल जगद्भ्रान्ति देखी जाती है, परन्तु उसका अधिष्ठान ब्रह्म तो देखा नहीं जाता, अतः रज्जुसर्पसे यह जगत् विलक्षण है। जब यह वस्तुस्थिति हुई, तब मदशक्तिके समान स्वयं अदृश्य होकर दृश्यभ्रमका हेतु बनकर कार्यरूपसे ही आत्मा अपनी सत्ता प्रकट करता है, अतः जगत्का स्वरूप सत्य है, यह कथन युक्तिसङ्गत है ॥ २ ॥

तब पहले यह जो कहा गया है कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो झूठी न हो, इस वचनकी क्या गति होगी ? क्योंकि ब्रह्म झूठा है नहीं, इसपर कहते हैं—'असत्त्वाद्' इत्यादिसे ।

भद्र, परमार्थ वस्तुमें भी शून्यता-सा व्यवहार किया जा सकता है, क्योंकि संसारकालमें सर्वदृश्यविश्रान्तिरूप मोक्ष प्राप्त रहता नहीं और उसके बिना अद्वितीय चिदात्माकी प्राप्ति नहीं होती, इसी तरह मोक्षकालमें भी अन्तःकरणवाले प्रमाता जीव तथा उपलम्भक प्रमाण आदिका बाध हो जानेसे अभाव है, इसलिए आत्माकी एक तरहसे अप्रसिद्धि-सी है, इसलिए वैसा कहा गया है ॥ ३ ॥

इस स्थितिमें जितने भी वादी हैं, उन सबके वचन अपने-अपने अनुभवसे सिद्ध अर्थोंका ही प्रतिपादन करते हैं, अतः सत्यरूप ही हैं, यों सविस्तर प्रतिपादन करते हुए सांख्योक्ति दर्शाते हैं—'चिन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

चिन्मात्रं पुरुषोऽकर्ता समेत्यव्यक्ततो जगत् ।
एवं दृष्टेः सत्यमेतदेवमर्थानुभूतितः ॥ ४ ॥
विवर्तो ब्रह्मणो दृश्यमित्येवंवादिनोऽपि सत् ।
मतमेवं स्वरूपाणामर्थानामनुभूतितः ॥ ५ ॥
परमाणुसमूहात्म जगदित्यपि सत्यतः ।
संवेद्यते यथा यद्यत्तथैवाऽनुभूतितः ॥ ६ ॥
यथा दृष्टं तथैवेदमिह लोके परत्र च ।
नाऽसन्न सदिति प्रौढा सत्यमाध्यात्मिकी गतिः ॥ ७ ॥

भद्र, महाज्ञानी कपिलमुनिजी यह कहते हैं कि पुरुष चिन्मात्र है, वह कोई कार्य नहीं करता, उसीके भोग और मोक्षके निमित्त सृष्टि प्रवृत्त होती है, यह सारा जगत् सुख-दुःख और मोहरूप है, इसलिए सत्त्व आदि तीन गुणोंकी साम्य अवस्थारूप मूलकारण अव्यक्तसे (प्रधानसे) प्रकृतिसे महत्त्व आदिके क्रमसे यह सारी सृष्टि हुई है । कपिलजीका यह मत भी सत्य ही समझना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, यह निर्विवाद है ॥ ४ ॥

जो कि वेदान्तियोंका मत है—यह सारा दृश्यवर्ग ब्रह्मका विवर्त है, वह भी सत् है । क्योंकि उस तरह विमर्श करनेपर उसी तरहके समस्त पदार्थ अनुभूत होते हैं ॥ ५ ॥

इसी प्रकार कणाद, गौतम, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, जैन आदिके मतोंमें जो यह माना गया है कि सारा जगत् परमाणुओंका समूह ही है, वह भी सत्य है, क्योंकि वैसी उनकी कल्पना उनके अनुभवके अनुसार ठीक ही है, यह कहते हैं—**'परमाणु'** इत्यादिसे ।

जिन वादियोंकी कल्पना है कि यह जगत् परमाणुओंका समूहरूप ही है और वही यथार्थरूपसे अनुभूत होता है, वह भी सत्य है, क्योंकि उनको जिस-जिस पदार्थके विषयमें जैसा-जैसा अनुभव हुआ उस-उस अनुभवके अनुसार की गई उनकी कल्पना ठीक ही है ॥ ६ ॥

इस लोक और परलोकमें जो कुछ देखा जाता है, वह वैसा ही है, न वह सत् है या न असत् ही है यानी इन दोनों कोटियोंमें उसकी स्थिति नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय है, यों प्रौढ़ दृष्टिसृष्टिवादी लोग जो मनकी कल्पनामात्ररूप जगत्की

बाह्यमेवाऽस्ति नाऽस्त्यन्यदित्यन्ये सत्यवादिनः ।
स्वामन्यक्षगणातीतं प्राप्नुवन्ति न ते यतः ॥ ८ ॥
अनारतविपर्यासदर्शनात् क्षणभङ्गधीः ।
युक्तैव तद्विदामाद्यं सर्वशक्ति हि तत्पदम् ॥ ९ ॥
कलविङ्कघटन्यायो धर्म इत्यपि तद्विदाम् ।
तथात्मसिद्धेर्म्लेच्छानां तद्देशेषु न दुष्यति ॥ १० ॥
समाः सन्तश्च विप्राग्निविषामृतमृतिष्वपि ।
भान्त्येवं तद्विदां सर्वमिदं सर्वात्मकं यतः ॥ ११ ॥

स्थिति मानते हैं, उनका भी कहना ठीक ही है, क्योंकि उनका वैसा ही अनुभव है ॥ ७ ॥

इसी तरह जो दूसरे वादी यानी चार्वाक हैं, वे कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूतोंका ही यह जगत् है, दूसरा आत्मरूप नहीं है, यह भी उनका कथन सत्य है—वे भी सत्यवादी ही हैं, क्योंकि वे अपनी देहमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे अगम्य आत्माको, विमर्श करते हुए भी, देख नहीं पाते हैं या जान नहीं पाते हैं ॥ ८ ॥

जो क्षणिकवादी हैं, उनका जो यह कहना है कि प्रतिक्षणमें परिणामको प्राप्त करनेवाले पदार्थमें निरन्तर उलट-पुलट देखनेमें आता है, अतः सब पदार्थ क्षणिक ही हैं, यह भी उनका कहना सत्य है, क्योंकि उनकी बुद्धि (क्षणभङ्गबुद्धि) के अनुसार वैसी स्थिति हो सकती है ॥ ९ ॥

जैसे घड़ेमें बन्द बटेर घड़ेका मुँह खोल देनेपर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देहके भीतर बन्द देह जितना बड़ा जीव कर्मक्षय हो जानेपर उड़कर परलोकमें चला जाता है, यों जैनोंकी कल्पना है, यह भी सत्य है, इसी प्रकार यवन लोग मानते हैं कि जीव देह जितना ही बड़ा है उसका उत्पादन ईश्वरने किया है। शरीर जहाँ गाड़ा जाता है, वहीपर वह रहता है, कभी कालान्तरमें ईश्वर उसके विषयमें विचार करते हैं, तब उन्हींकी इच्छासे उसकी मुक्ति होती है या स्वर्ग नरकमें उसको छोड़ देते हैं, यह भी म्लेच्छोंका मत युक्त ही है, क्योंकि उनकी वैसी ही भावना है ॥ १० ॥

जो सन्त पुरुष हैं वे तो ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण, जन्म आदि सभीमें जो कभी-कभी अत्यन्त विषमरूप धारण कर आते जाते रहते हैं, निरन्तर

स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम् ।
अन्विष्टा याति नो प्राप्तिं बुद्धिमत्सर्वकर्तृता ॥ १२ ॥
एकः सर्वत्र कर्तेति सत्यं तन्मयचेतसाम् ।
सोऽयं निश्चयवान्सोऽत्र तदाप्नोतीत्यबाधितम् ॥ १३ ॥

समान भाव ही रखते हुए देखे जाते हैं. यह भी ठीक है, क्योंकि जितनी भी वस्तु या सिद्धान्तस्थितियाँ हैं, वे सब यह अपरोक्ष आत्मरूप ब्रह्म ही हैं, इसलिए सभी वादियोंको अपना-अपना अभिमत (इष्ट) सिद्ध हो जाता है ॥ ११ ॥

यह जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न होता है एवं नष्ट हो जाता है, जगत्का कोई भी कर्ता नहीं है, यों स्वभाववादियोंका जो मत है, वह भी युक्त ही है। इन स्वभाववादियोंके मतमें यह दलील है कि यद्यपि घट, पट आदि स्थलमें बुद्धिमान् कुलाल आदि कर्ता देखे जाते हैं, परन्तु वृष्टि, वायु आदि स्थलमें खोजे जानेपर भी कोई कर्ता देखनेमें नहीं आता, इसलिए सब पदार्थोंका एक बुद्धिमान् कर्ता हाथ लग सकता ही नहीं। असमयकी वर्षा, उत्तम खेतमें उत्पन्न तृण आदि, जो धान पैदा करनेवाले खेतिहरोंके अनिष्ट हैं, कर्ताके बिना स्वभावसे ही उत्पन्न होते रहते हैं, वे अपने कर्ताकी कल्पना सह नहीं सकते, क्योंकि सबका अनिष्ट करनेवाला कोई है नहीं और न उसे अकालवर्षण और पर खेतमें तृण आदिके उत्पादनसे प्रयोजन है, यह कल्पना की जा सकती है ॥ १२ ॥

पृथ्वी, अङ्कुर आदि सब कार्योंमें एक ही कर्ता है, यों कल्पना जो कोई करते हैं, वह भी सत्य है, क्योंकि इस प्रकारके निश्चयवाले उपासकोंको एक कर्ता ईश्वरकी प्राप्ति, उसकी अनुकम्पा, वरदान आदि प्राप्त होते देखे जाते हैं, यह कहते हैं—'एकः' इत्यादिसे

अङ्कुर आदि सब कार्योंका एक ही कर्ता है, इस प्रकारकी कल्पना करनेवाले तन्मय अन्तःकरणवाले वादियोंका मत भी युक्त है, क्योंकि इस तरह एक कर्ताका निश्चय कर उपासना करनेवाला अपने अन्तःकरणमें तदुपास्य सर्वकर्ता एक परमात्माको प्राप्त करता है। पूर्ववादोके सदृश उसे बाधित नहीं मानता। अकाल-वृष्टि और अच्छे खेतमें तृण आदि सबके लिए अनिष्ट नहीं हैं और सब कर्मोंके फलदाता ईश्वर दुष्कर्मफलरूप अनिष्टका भी यदि कर्ता हो जाय, तो कोई दोष भी नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

अयं लोकः परश्चाऽस्ति स्नानाग्न्यादि च नेतरत् ।
एतदेतादृशं सत्यं विद्धि भावितभावनम् ॥ १४ ॥
अशेषं शून्यमेवेति बौद्धानामेतदेव सत् ।
लभ्यते तद्विचारेण यन्न किंचन नैव हि ॥ १५ ॥
चितिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
आशु संपादयत्यन्तरात्मनाऽऽत्मनि खात्मिका ॥ १६ ॥
नेदं शून्यं न चाऽशून्यमित्यवस्तु न तद्विदाम् ।
सर्वशक्तिर्हि सा शक्तिर्न तद्विद्यत एव तत् ॥ १७ ॥
तस्मात्स्वनिश्चये यस्मिन् यः स्थितः स तथा ततः ।
अवश्यं फलमाप्नोति न चेद्बाल्यान्निवर्तते ॥ १८ ॥

आस्तिकोंके मतमें जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है, अतः परलोकार्थियोंके लिए तीर्थ-स्नान, अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं। इस तरहकी उन आस्तिकोंके द्वारा यह जो निर्धारित कल्पना है, वह भी सत्य ही है ॥ १४ ॥

समस्त प्रपञ्च शून्यात्मक ही है, इस प्रकारकी बौद्धोंकी कल्पना है। उनकी यह कल्पना भी सत्य ही हैं, क्योंकि ऐसे विचारसे उनको सर्वशून्यता हाथ लग ही जाती है। शून्यवादमें पदार्थोंमें अशून्यतापादक जब प्रमाण ही नहीं है, तब प्रमेय-शून्यत्वकल्पना कोई असंभव है ही नहीं ॥ १५ ॥

सब वादियोंको अपना अपना जो अभीष्ट सिद्ध हो जाता है, उसमें प्रमाण कहते हैं—'चिति०' इत्यादिसे।

आत्मचिति एक चिन्तामणि-सी है और कल्पवृक्ष-सी है, इसलिए वह आकाश-वत् निर्मल होती हुई भी अपनेसे ही अपने स्वरूपमें जो भी अभीष्ट रहता है, उसे तत्काल ही सम्पादन करती है ॥ १६ ॥

यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, इस प्रकार एक तृतीय अनिर्वचनीय प्रकारको माननेवाले अनिर्वचनीय वादियोंका मत भी सत्य ही है, क्योंकि सर्वशक्तिरूप ब्रह्मकी जो माया शक्ति न तो शून्यरूपा है और सत् (विद्यमान ब्रह्मरूपा) भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय ही है ॥ १७ ॥

इसलिए जिस किसी अपने निश्चयमें दृढ़रूपसे स्थित जो भी कोई हो, वह यदि चपलतावश उस निश्चयसे हटे नहीं, तो उस उस निश्चयके अनुसार अवश्य फल प्राप्त कर सकता है। अथवा अज्ञानके कारण अपने अभीष्ट निश्चयसे न हटे, तो

विचार्य पण्डितैः सार्धं श्रेष्ठवस्तुनि धीमता ।
स रूढो निश्चयो ग्राह्यो नेतरत्र यथा तथा ॥ १९ ॥
संभवत्युत्तमप्रज्ञः शास्त्रतो व्यवहारतः ।
यो यत्र नाम तत्राऽसौ पण्डितस्तं समाश्रयेत् ॥ २० ॥
सतां विवदमानानां सच्छास्त्रव्यवहारिणाम् ।
यः समाह्लादकोऽनिन्द्यः स श्रेष्ठस्तं समाश्रयेत् ॥ २१ ॥
सर्व एवाऽनिशं श्रेयो धावन्ति प्राणिनो बलात् ।
परिनिम्नं पयांसीव तद्विचार्य समाश्रयेत् ॥ २२ ॥

निश्चयानुसार अवश्य फल पाता है । इससे जब तक अज्ञान रहता है, तबतक अनेक सिद्धान्त सत्य हैं, अज्ञानके हट जानेपर आत्मज्ञान-कालमें तो आत्मा ही सत्य ठहरता है, दूसरा नहीं ॥ १८ ॥

इसीलिए अविचारोंसे जिस किसीका सिद्धान्त मान लेना अच्छा नहीं, यह कहते हैं—'विचार्य' इत्यादिसे ।

भद्र, बुद्धिमान् पुरुषको सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तुके विषयमें विद्वानोंके साथ विचार-विमर्श कर लेना चाहिए, फिर विचारके बाद जो भी दृढ़ निश्चय निकले, उसीको ग्रहण करना चाहिए, दूसरे जैसे तैसे निश्चयको ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ पण्डितका लक्षण कहते हैं—'यो यत्र' इत्यादिसे ।

अध्ययन और सदाचरणसे जिस देशमें जो भी उत्तम बुद्धिसे युक्त हो, उस देशमें वही पण्डित है, उसीका आश्रय लेना चाहिए ॥ २० ॥

भद्र, सत् शास्त्रके अनुसार व्यवहार करनेवाले, तत्त्वबोधार्थवाद करनेवाले सज्जन पुरुषोंके मध्यमें जो भी सर्वश्रेष्ठ आह्लादकारक तथा निन्दनीय निषिद्धाचरणोंसे रहित हो, वह पण्डित है, बुद्धिमान् उसीका अवलम्बन करें ॥ २१ ॥

तब क्या अन्य श्रेष्ठ निश्चयोंमें निष्ठा रखना निष्फल है, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'सर्वः' इत्यादिसे ।

भद्र, सभी पुरुष रात-दिन जोर-शोरसे अपने निश्चयके अनुसार माने गये अभीष्ट पदार्थकी ओर ऐसे ही दौड़ते हैं जैसे कि नीचेकी ओर जलराशि दौड़ती है। और उसे प्राप्त करते हैं, परन्तु उनमें परम पुरुषार्थका साधन कौन है, इसका विचार कर सत् शास्त्र एवं सद्गुरुका पुरुषको आश्रय लेना चाहिए ॥ २२ ॥

कल्लोलैरुह्यमानानां नृणां संसारसागरे ।
अज्ञाता दिवसा यान्ति तृणानामिव बिन्दवः ॥ २३ ॥
श्रीराम उवाच
जगत्पूर्वं लतेवाऽपि विश्रान्ता वितते पदे ।
पूर्वापरविचारेण के परामावदर्शिनः ॥ २४ ॥
वसिष्ठ उवाच
जातौ जातौ कतिपये व्यपदेश्या भवन्ति ते ।
येषां यान्ति प्रकाशेन दिवसा भास्वतामिव ॥ २५ ॥

सत्-शास्त्र और सद्गुरु दोनोंका जल्दीसे जल्दी आश्रयण करना चाहिए, क्योंकि आयुष्य विश्वासयोग्य नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'कल्लोलै०' इत्यादिसे।

रामजी, संसारसागरमें मनरोधरूपी तरङ्ग परम्पराओंसे बहे जा रहे मनुष्योंके दिन ऐसे अलक्षित रूपसे व्यतीत हो जाते हैं, जैसे तिनकोंके अग्रभागपर लटके हुए जलबिन्दु ॥ २३ ॥

भोगोंकी तृष्णाएँ अति प्रबल हैं, अतः उनसे विरक्त मुमुक्षु दुर्लभ हैं, उनमें भी परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करनेवाले श्रेष्ठ पण्डित, जिनका आपने उल्लेख किया है, अतिदुर्लभ हैं, इस अर्थको विस्तारसे सुननेके लिए श्रीरामजी पूछते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, अविविस्तृत परमब्रह्मरूप पदमें पहलेसे ही प्राणियोंकी भोग-तृष्णा जगद्रूप हजारों वृक्षोंके वितनोंके जालका विस्तार कर, लताके सदृश, स्थित है । ऐसी स्थितिमें पूर्वापर जगत्स्वरूप अनर्थके विचार तथा सारासारके विचार द्वारा परमार्थदर्शी श्रेष्ठ विद्वान्, जिनका आपने कथन किया, कौन होंगे अर्थात् ऐसे विद्वान् ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ २४ ॥

सत्य है, ऐसे विद्वान् दुर्लभ हैं, फिर भी मनुष्य, गन्धर्व, देव, दानव आदिमें प्रयत्नपूर्वक खोजनेसे वैसे विद्वान् मिल सकते हैं, ऐसा कहते हैं—'जातौ जातौ' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, देव, दानव, मनुष्य आदि हर एक जातिमें कुछ श्रेष्ठ विद्वान् विद्यमान हैं, जिनका कि 'यो यो देवानाम्' इत्यादि श्रुतियोंमें उल्लेख पाया जाता है, प्रकाशमान सूर्यके सदृश उन्हीं विद्वानोंके प्रकाशसे दिवस दिवसरूप होते हैं ॥ २५ ॥

अधश्चोर्ध्वं च धावन्तश्चक्रावर्तविवर्तनैः ।
सर्वे तृणवदुह्यन्ते मूढा मोहभवाम्बुधौ ॥ २६ ॥
नष्टात्मस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम् ।
देवा दिवि दवेनाऽद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव ॥ २७ ॥
पातिता मदसंपन्ना दानवा दानवारिभिः ।
गजा इव निरालाना घोरे नारायणावटे ॥ २८ ॥
न गन्धमपि गन्धर्वा दर्शयन्ति विवेकजम् ।
गीतपीतपरामर्शाः सरन्ति हरिणा इव ॥ २९ ॥
विद्याधराश्च विद्यानामाधारत्वेन मोहिताः ।
स्फुरितानामुदाराणामपि कुर्वन्ति नाऽऽदरम् ॥ ३० ॥
यक्षा विक्षोभितभुवो दक्षतामक्षता इव ।
दर्शयन्त्यसहायेषु बालवृद्धातुरेषु च ॥ ३१ ॥

उन विद्वानोंको छोड़कर दूसरे सभी मूढ हैं और वे मोहरूपी महासागरमें संसार-चक्रोंके आवर्तन-परावर्तनसे ऊपर-नीचे दौड़ते हुए तृणके सदृश बहते रहते हैं ॥२६॥

देव आदि जाति विशेषोंमें उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'नष्टात्म०' इत्यादिसे ।

जिन देवताओंकी आत्मामें निष्ठा नहीं हुई है, वे देव स्वर्गमें भोगरूपी अग्निकी ज्वालाओंमें ऐसे जलते रहते हैं, जैसे वनाग्निसे पर्वतपर वृक्ष जलते रहते हैं ॥ २७॥

मदसे चूर दानव तो दानवशत्रु देवताओंके द्वारा नरायणरूपी गड्ढेमें ऐसे गिराये गये हैं, जैसे कि आलानसे (बाँधनेके खंभेसे) रहित गज बड़े गड्ढेमें गिराया गया हो ॥ २८ ॥

गन्धर्व लोगोंकी तो बात ही जाने दीजिये । वे तो गानरूपी मद्यमें रात-दिन आसक्त (मस्त) रहते हैं, इसलिए वे विवेकजनित ज्ञानका लेश भी दिखला नहीं सकते । हरिणोंके सदृश भ्रान्त होकर मृत्युरूपी व्याधके समीप वे जा रहे हैं ॥२९॥

विद्याधरोंमें ब्रह्मविद्याकी योग्यता है, इसलिए वे विद्याके आधार कहे जाते हैं, यही कारण है कि वे सबसे अधिक चमकीले हैं, परन्तु उदार विवेकोंकी ओर वे आदर नहीं रखते, केवल मोहमें फँसकर भोगविद्याओंमें ही रात-दिन पड़े रहते हैं—उन्हींमें मस्त रहते हैं ॥ ३० ॥

यक्षोंकी भी बात न्यारी है, वे मनुष्योंकी निवासभूमिको क्षुब्ध किये हुए हैं,

दन्तिनामिव मत्तानां रंहसा हरिणाऽरिणा ।
कृतः करिष्यसि त्वं च राक्षसानां परिक्षयम् ॥ ३२ ॥
भृशं पिशाचाः पश्यन्ति भूतभोजनचिन्तया ।
धूमान्धकारानिलया ज्वालयाऽऽहुतयो यथा ॥ ३३ ॥
नागजालमृणालानि मग्नानि धरणीतले ।
नगानामिव मूलानि जडानीव स्थितान्यलम् ॥ ३४ ॥
विवरं शरणं येषां कीटानामिव भूतले ।
तेषामसुरबालानां विवेकेषु कथैव का ॥ ३५ ॥

अपनेको अविनाशी-सा समझते हैं यानी अपना शरीर कभी नष्ट नहीं होगा, ऐसा समझते हैं, मणि, मन्त्र आदिके बलोंसे विहीन असहाय बाल, वृद्ध और आतुरोंके ऊपर अपनी दक्षता दर्शाते हैं ॥ ३१ ॥

जो राक्षस हैं, उनका तो शत्रुभूत विष्णुके द्वारा पूर्वमें अनेक बार वेगपूर्वक विनाश किया गया है और आप भी भविष्यमें करेंगे । राक्षस काम, बल और शौर्यके कारण हाथीके सदृश सदा उन्मत्त रहते हैं । इसलिए इनके प्रमादका फल तो प्रत्यक्ष ही है ॥ ३२ ॥

पिशाच तो सदा भूखसे ही तड़पते रहते हैं, उनको निरन्तर पेट भरनेकी चिन्ता रहती है, अतः कभी भी उनको विवेक नहीं हो सकता, यह कहते हैं—**'भृशम्'** इत्यादिसे ।

जैसे अग्निमें गिरी आहुतियाँ अपनेको निरन्तर धूम युक्त ज्वालाओंसे जलती हुई ही देखती हैं, वैसे ही प्राणियोंको खा जानेकी चिन्तासे, जो कि अज्ञानरूपी धूमान्धकारको वायुके सदृश क्रोध, हिंसा आदिकी ज्वालारूप बना देती है, अपनेको जले हुए ही देखते हैं ॥ ३३ ॥

इसी तरह नागजातिमें भी विवेक नहीं है, यह कहते हैं—**'नागजाल०'** इत्यादिसे ।

यह पाताललोकमें जो नागोंका जालरूप विसतन्तुओंका समूह डूबा हुआ है, वह भी वृक्षोंके मूल समूहके सदृश जड़ (विवेकहीन) ही है ॥ ३४ ॥

कीटोंके सदृश भूतलके छेद ही जिनके आवासस्थान हैं, उन असुररूपी बालकोंके विवेककी तो कथा ही क्या यानी असुरोंमें तत्त्वज्ञानका जनक विवेक होता है, यह कहना तो मूर्खता ही है ॥ ३५ ॥

अल्पमात्रकणार्थेन संचरन्ति दिवानिशम् ।
पिपीलिकासधर्माणः प्रायेण पुरुषा अपि ॥ ३६ ॥
सर्वासां भूतजातीनां व्यग्राणां व्यर्थदीर्घया ।
क्षीबाणामिव गच्छन्ति दिवसानि दुरीहया ॥ ३७ ॥
न कंचित्संस्पृशत्यन्तर्विवेको विमलो जनम् ।
जलेऽगाधे निपतितं निमज्जन्तं रजो यथा ॥ ३८ ॥
नीयन्ते नियमाधूता मानवा मानवायुभिः ।
काम्पिकैः स्फुटतापूताः किशारुनिकरा इव ॥ ३९ ॥
पानभोजनजम्बाले गहने योगिनीगणाः ।
दुर्गन्धपल्वलोद्गारे पतिताः पामरा इव ॥ ४० ॥

यों बल, वीर्य एवं प्रभाव आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न देवोंसे लेकर असुर तकके लोगोंको जब विवेक दुर्लभ है, तब दूसरोंके लिए तो कहा ही क्या जाय, इस आशयसे कहते हैं—'अल्पमात्र०' इत्यादिसे ।

जो पुरुष हैं वे भी तो प्रायः पिपीलिकाके समानधर्मा ही हैं, क्योंकि छोटेसे कणोंके लिए रातदिन वे घूमा करते हैं ॥ ३६ ॥

मद्यपियोंके सदृश अतिव्यग्र सभी भूतजातियोंके दिन निरर्थक लम्बी-लम्बी दुष्ट इच्छाओं या चेष्टाओंसे व्यतीत होते जाते हैं, विवेकका नाम भी वे किसी दिन याद नहीं करते ॥ ३७ ॥

जैसे अगाध जलमें डूब रहे पुरुषका धूलि स्पर्श नहीं करती, वैसे ही विषयोंमें डूब रहे किसी पुरुषके भीतर निर्मल विवेक कभी स्पर्श नहीं करता ॥ ३८ ॥

राघव, देह आदिमें होनेवाले अभिमान एक प्रकारसे प्रबल वायु ही हैं, इन वायुओंके झकोरोंसे मनुष्य अक्रोध आदि नियमोंसे चलित हो जाते हैं यानी क्रोध आदि शत्रुओंके अधीन हो जाते हैं। इसमें दृष्टान्त है निःसार धान्य। जैसे सूप चलानेवाले खेतिहरोंके द्वारा धान्यको शुद्ध बनानेके लिए वह खरिहानमें उड़ाया जाता है और उस सार रहित धान्यको वायु ले जाते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥ २९ ॥

जो योगिनियोंका गण है, वह तामस भोगासक्ति रूप तालाबके दल-दलमें जो कि सुरापान, रुधिरपान तथा मांसभोजन आदि रूप कीचड़ोंसे भरा है, पामरोंके सदृश फँसा हुआ है, उनको भी विवेककी मात्रा नहीं है, यह समझना चाहिए ॥ ४० ॥

केवलं यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कवरुणानिलाः ।
जीवन्मुक्ता हरिब्रह्मगुरुशुक्रानलादयः ॥ ४१ ॥

प्रजापतीनां सप्तर्षिदक्षाद्याः कश्यपादयः ।
नारदाद्याः कुमाराद्याः सनकाद्याः सुरात्मजाः ॥ ४२ ॥

दानवानां हिरण्याक्षबलिप्रह्लादशम्बराः ।
मयवृत्रान्धनमुचिकेशिपुत्रमुरादयः ॥ ४३ ॥

विभीषणाद्या रक्षस्सु प्रहस्तेन्द्रजिदादयः ।
शेषतक्षककर्कोटमहापद्मादयोऽहिषु ॥ ४४ ॥

ब्रह्मविष्ण्विन्द्रलोकेषु वास्तव्या मुक्तदेहिनः ।
मुक्तस्वभावास्तुषिताः सिद्धाः साध्याश्च केचन ॥ ४५ ॥

मानुषेषु च राजानो मुनयो ब्राह्मणोत्तमाः ।
जीवन्मुक्ताः संभवन्ति विरलास्तु रघूद्वह ॥ ४६ ॥

यों देव आदि योनियोंमें विवेक ज्ञानकी दुर्लभता बतला कर अब उनमें जो प्रबुद्ध हैं, उनमें कुछको, परिगणन कर, बतलाते हैं—'केवल०' इत्यादिसे ।

देवादिमें यम, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, वरुण, वायु, हरि, हर, ब्रह्मा, वृहस्पति, शुक्र, अग्नि आदि; प्रजापतियोंमें सप्तर्षिमण्डल, दक्ष आदि, कश्यप आदि, नारद आदि, सनत्कुमार आदि देवकुमार; दानवोंमें हिरण्याक्ष, बलि, प्रह्लाद, शम्बर, मय, वृत्र, अन्धक, नमुचि, केशिपुत्र, मुर आदि; राक्षसोंमें विभीषण आदि, प्रहस्त, इन्द्रजित, आदि; नागोंमें शेष, तक्षक, कर्कोटक, महापद्म, आदि ये सब तथा ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, इन्द्रलोकमें निवास करनेवाले मुक्तस्वभाव और विदेहमुक्त हैं। इसी तरह कोई तुषित (देवयोनि भेद), सिद्ध एवं साध्य भी जीवन्मुक्त हैं ॥ ४१–४५ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ, मनुष्योंमें राजा, मुनि, उत्तम ब्राह्मण जीवन्मुक्त होते हैं, परन्तु ये दुर्लभ हैं यानी लाखों करोड़ों राजा आदिमें जीवन्मुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ ४६ ॥

सभी जातियोंमें जीवन्मुक्त हैं ही, परन्तु वे अति दुर्लभ हैं, यह जो कहा गया, उसका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—'भूतानि०' इत्यादिसे ।

भूतानि सन्ति सकलानि बहूनि दिक्षु
बोधान्वितानि विरलानि भवन्ति किन्तु ।
वृक्षा भवन्ति फलपल्लवजालयुक्ताः
कल्पद्रुमास्तु विरलाः खलु संभवन्ति ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे विवेकिविरलत्ववर्णनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विवेकिनो विरक्ता ये विश्रान्ता ये परे पदे ।
तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरयः ॥ १ ॥
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति नाऽऽविशन्त्याहरन्ति च ।
उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकान्नोद्वेजयन्ति च ॥ २ ॥

अनेक तरहके असङ्ख्य प्राणी चारों ओर दिशाओंमें भरे पड़े हैं, किन्तु उनमें तत्त्वज्ञानसम्पन्न बहुत ही विरल होते हैं, ठीक ही है, फलों, पल्लवोंसे युक्त वृक्ष होते तो असङ्ख्य हैं, परन्तु उनमें कल्पवृक्ष विरले होते हैं ॥ ४७ ॥

सत्तानवे सर्ग समाप्त

अट्ठानबे सर्ग

[तत्त्वज्ञानी सन्तोंके लक्षण तथा परीक्षा द्वारा उनके दोषोंकी उपेक्षा कर उनका आश्रयण करनेका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, विरक्त एवं विवेकसम्पन्न जो महात्मा परमपद ब्रह्ममें विश्रान्ति पाकर स्थित हैं, उन महात्माओंके लोभ, मोह आदि शत्रु छोटे हो जाते हैं। लोभ-मोहकी अल्पता ही जब तत्त्वज्ञोंका लक्षण है, तब उनकी निर्दोषतामें तो कहना ही क्या है ? ॥ १ ॥

महात्मा तत्त्वज्ञानी न तो किसीसे प्रसन्न होते हैं, न किसीपर क्रोध करते हैं, न किसी विषयमें अभिनिवेश (आसक्ति) करते हैं, न खाद्य वस्तुओंका

न नास्तिक्यान्न चास्तिक्यात्कष्टानुष्ठानवैदिकाः ।
मनोज्ञमधुराचाराः प्रियपेशलवादिनः ॥ ३ ॥
सङ्गादाह्लादयन्त्यन्तः शशाङ्ककिरणा इव ।
विवेचितारः कार्याणां निर्णेतारः क्षणादपि ॥ ४ ॥
अनुद्वेगकराचारा बान्धवा नागरा इव ।
बहिः सर्वसमाचारा अन्तः सर्वार्थशीतलाः ॥ ५ ॥
शास्त्रार्थरसिकास्तज्ज्ञा ज्ञातलोकपरावराः ।
हेयोपादेयवेत्तारो यथाप्राप्ताभिपातिनः ॥ ६ ॥

संग्रह करते हैं, न लोगोंसे उद्विग्न होते हैं और न लोगोंको ही उद्विग्न करते हैं ॥ २ ॥

शरीरको अधिक क्लेश पहुँचानेवाले पारलौकिक वैदिक कर्मोंमें भी शुष्क वैदिकके सदृश हठसे प्रवृत्त होकर क्लेशयुक्त नहीं होते, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

आस्तिक्य भावना या नास्तिक्य भावनासे जनित अभिमानप्रयुक्त हठसे न कष्टकारक वैदिक अनुष्ठानमें निरत रहते हैं । उनका आचरण मनोज्ञ एवं अत्यन्त मधुर होता है और प्रिय एवं कोमल वार्ता करते हैं ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञ लोग अपने सङ्गसे चन्द्रकिरणोंके सदृश अन्तःकरणको उल्लास युक्त बना देते हैं । करने योग्य लौकिक एवं वैदिक कर्मोंका जब परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है, तब अकार्योंसे विवेक कर एक क्षणमें ही सन्देह मिटा देते हैं ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञोंके आचरणसे कभी उद्वेग नहीं होता, वे सबके बन्धु-से तथा चातुर्यपूर्ण रहते हैं । बाहरसे उनका आचरण सभीके सदृश होता है, परन्तु भीतरसे वे अत्यन्त शीतल होते हैं ॥ ५ ॥

तत्त्वज्ञ शास्त्रोंके अर्थोंमें बड़ा ही रस लेते है, उत्तम और अधम लोकोंको जानते हैं, कौन वस्तु छोड़ने योग्य है और कौन छोड़ने योग्य नहीं है इसको भली भाँति जानते हैं तथा समयपर जो भी कुछ प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय, उसका अनुवर्तन कर लेते हैं ॥ ६ ॥

विरुद्धकार्यविरता रसिकाः सज्जनस्थितौ ।
अनावरणसौगन्ध्यैः पराश्पदसुखाशनैः ॥ ७ ॥
पूजयन्त्यागतं फुल्ला भृङ्गं पद्मा इवाऽर्थिनम् ।
आवर्जयन्ति जनतां जनतापापहारिणः ॥ ८ ॥
शीतलास्पदवत्स्निग्धाः प्रावृषीव पयोधराः ।
भूभृद्भङ्गकरं धीरा देशभङ्गदमाकुलम् ।
रोधयन्त्यागतं क्षोभं भूकम्पमिव पर्वताः ॥ ९ ॥
उत्साहयन्ति विपदि सुखयन्ति च संपदि ।
चन्द्रबिम्बोपमाकारा दारा इव गुणाकराः ॥ १० ॥
यशःपुष्पामलदिशो भाविसत्फलहेतवः ।
पुंस्कोकिलसमालापा माधवा इव साधवः ॥ ११ ॥

लोकशास्त्रके विरुद्ध आचरणोंसे सदा विरत रहते हैं, सज्जनोंके बीच स्थितिमें यानी सदाचरणमें अत्यन्त रसिक होते हैं। उपदेशसे हृदयकमलको खोल कर उसमें भरे गये ज्ञानके सौगन्ध्योंसे तथा उत्तम आश्रय, सुख तथा अन्नादिसे आये हुए अतिथियोंकी पूजा करते हैं। पूजा करते समय उनका मुखकमल विकसित रहता है, उस समय वे आगत भ्रमरका आश्रयदान आदिसे सत्कार कर रहे विकसित कमलोंके सदृश लगते हैं। जनताके सन्तापोंका अपहरण करनेके कारण वे जनताको अपनी ओर खींच लेते हैं और वर्षाकालके मेघोंके सदृश कृपावृष्टिकारक और शीतल उद्यानके सदृश स्निग्ध होते हैं। भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष राजाओंके नाशक, देशको छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दुर्भिक्ष आदिसे जनित जनता क्षोभको तपस्याके प्रताप, सत्कर्मोंके अनुष्ठान, साम आदि उपायोंसे ऐसे पकड़कर रोक लेते हैं, जैसे भूकम्पको पर्वत ॥ ७, ९ ॥

नानाविध उत्तम गुणोंसे पूर्ण, चन्द्रबिम्बके सदृश प्रसन्नाकृति उत्तम भार्याके सदृश अनेक गुणोंसे पूर्ण शान्ताकृति ज्ञानी पुरुष विपत्तियोंमें उत्साह देते हैं और सम्पत्तियोंमें सुख पहुँचाते हैं ॥ १० ॥

यशरूपी फूलोंसे सारी दिशाओंको निर्मल बनानेवाले, भावी उत्तम फलके हेतु तथा कोकिलके सदृश मधुरभाषण करनेवाले साधु पुरुष वसन्त ऋतु जैसे हैं ॥ ११ ॥

कल्लोलबहुलावर्तं व्यामोहमकरालयम् ।
लुठन्तमिव हेमन्तं लोडयन्तं जनास्पदम् ॥ १२ ॥
वीचिविक्षोभचपलं परचित्तमहार्णवम् ।
तच्च रोधयितुं शक्तास्तटस्थाः साधुपर्वताः ॥ १३ ॥
आपत्सु बुद्धिनाशेषु कल्लोलेष्वाकुलेषु च ।
संकटेषु दुरन्तेषु सन्त एव गतिः सताम् ॥ १४ ॥
एभिश्चिह्नैरथान्यैश्च ज्ञात्वा तानुचिताशयान् ।
आश्रयेतैकविश्रान्त्यै श्रान्तः संसारवर्त्मना ॥ १५ ॥
यस्मादत्यन्तविषमः संसारोरगसागरः ।
विना सत्सङ्गमन्येन पोतकेन न तीर्यते ॥ १६ ॥
आस्तां किं मे विचारेण यद्भवेदस्तु तन्मम ।
इत्यन्तः कल्कमासाद्य न स्थेयं गर्तकीटवत् ॥ १७ ॥

अज्ञानी राजा आदिके चित्तको एक महार्णव ही समझना चाहिए, इसमें अनेक तरहके कल्लोल ही बड़े बड़े आवर्त हैं, व्यामोहरूपी मगर उसमें रहते हैं, अत्यन्त शिशिर पवनसे विक्षिप्त तरङ्गोंके व्याजसे हेमन्तके सदृश वह लुढ़कता रहता है, भ्रमर, हँस आदिके निवासस्थान पद्मवनको विलोडित करता है, काम आदि छः वृत्तियाँ उसमें बड़े बड़े तरङ्ग हैं। उस महार्णवको उपदेशादि द्वारा साधु पुरुषरूपी तटस्थ पर्वत ही रोकनेमें अत्यन्त समर्थ हैं ॥ १२, १३ ॥

भद्र, आपदाओंमें, बुद्धिनाशमें भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मरण आदि कल्लोलोंमें, व्याकुल देशोंमें तथा दुरन्त सङ्कटोंमें सज्जनोंकी सन्त ही गति हैं ॥ १४ ॥

हे श्रीरामजी, इन लक्षणोंसे तथा दूसरे पूर्ववर्णित लक्षणोंसे उन उत्तम अन्तः-करणवाले महात्माओंका परीक्षण कर आप आत्मामें शान्ति प्राप्त करनेके निमित्त उनका आश्रयण कीजिए, क्योंकि आप संसाररूपी मार्गमें भ्रमण करते करते श्रान्त हो गये हैं ॥ १५ ॥

भद्र, यह संसाररूपी साँपोंसे भरा हुआ अत्यन्त विषमय सागर सत्सङ्गरूपी जहाजको छोड़कर दूसरे किसी भी जहाजसे नहीं पार किया जा सकता, इसलिए सत्सङ्गका आश्रयण करना ही होगा ॥ १६ ॥

हमको आत्मा या सत्पुरुषके सम्बन्धमें विचार करनेसे क्या, प्रारब्धवश जो

एकोऽपि विद्यते यस्य गुणास्तं सर्वमुत्सृजन् ।
अनादृतान्यतद्दोषं तावन्मात्रं समाश्रयेत् ॥ १८ ॥
गुणान्दोषांश्च विज्ञातुमाबाल्यात्स्वप्रयत्नतः ।
यथासंभवसत्सङ्गशास्त्रैः प्राग्धियमेधयेत् ॥ १९ ॥
दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ।
स्थूलदोषं त्वनिर्वाणं शनैः परिहरेत्क्रमात् ॥ २० ॥
याति रम्यमरम्यत्वं स्थिरमस्थिरतामपि ।
यथा दृष्टं तथा मन्ये याति साधुरसाधुताम् ॥ २१ ॥

भी कुछ समयपर हो जायगा, वह मेरे लिए अच्छा ही होगा—यों भीतर प्रमाद करके गर्तकीट के सदृश कभी भी पुरुषको नहीं बैठे रहना चाहिए ॥ १७ ॥

भद्र, मैंने अभी अभी आपसे जिन उत्तम गुणोंका वर्णन किया, उनमें से यदि एक भी गुण किसीमें उपलब्ध हो जाय, तो दूसरे गुणोंकी या उसमें विद्यमान अन्य दोषोंको परवाह न कर उतने गुणके उद्देश्यसे उस महात्माका आश्रयण करना चाहिए ॥ १८ ॥

गुण और दोषोंको जाननेके लिए बाल्यावस्थासे लेकर अपने आप प्रयत्न करना चाहिए, अपने प्रयत्नसे ही यथासंभव सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंसे पहले बुद्धि बढ़ानी चाहिए ॥ १९ ॥

यदि दोषका कुछ लेश होवे, तो उसका अनादर कर सज्जनकी नित्य सेवा करनी चाहिए और स्थूल दोषवाले पहलेके परिजनोंका क्रमशः त्याग करना चाहिए ॥ २० ॥

पूर्व परिजनोंका त्याग न करनेपर कौन दोष उपस्थित होते हैं, उन्हें बतलाते हैं—'याति' इत्यादिसे ।

उनका परिहार न करनेपर शोधित भी चित्त अरम्य बन जाता है यानी रागादिसे कलुषित बन जाता है, स्थिर भी विश्रान्तिसुख विच्छिन्न हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है, क्योंकि लोकमें जो देखा जाता है, उसे ही हम मानते हैं, यानी लोकमें इस प्रकार दोष परिजनोंके अपरिहारमें देखे जाते हैं ॥ २१ ॥

भले ही ऐसा हो, उससे भी क्या दोष हुआ ? इसपर कहते हैं—'एवं' इत्यादिसे ।

एष सोऽत्यन्त उत्पातो यः साधुर्याति दुष्टताम् ।
देशकालवशात्पापैर्महोत्पातोऽपि दृश्यते ॥ २२ ॥
सर्वकर्माणि संत्यज्य कुर्यात्सज्जनसंगमम् ।
एतत्कर्म निराबाधं लोकद्वितयसाधनम् ॥ २३ ॥
न सज्जनाद् दूरतरः क्वचिद्भवे-
द्भजेत साधून्विनयक्रियान्वितः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं
विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टनवतितमः सर्गः । ९८ ॥

यह जगत्का अनिष्टकर महान् उत्पात है, जो कि साधु पुरुष असाधु बन जाता है और यही देश-कालवश जनताके दुरदृष्टोंके कारण महोत्पातरूपसे भी दिखाई देता है, जैसे कि विश्वामित्रकी लुब्ध (लोभी) अमात्योंके समर्थनसे वसिष्ठजीकी कामधेनुके हरणमें प्रवृत्ति हुई और इससे परस्पर बैरकी वृद्धिसे जगत्में महान् अनिष्ट हुआ, यों अनेक दृष्टान्त देखे जाते हैं ॥ २२ ॥

कथितका अनुवाद कर उपसंहार करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सब कर्मोंको छोड़कर सज्जनोंका ही समागम करना चाहिए, यही कर्म निराबाधरूपसे इहलोक एवं परलोक दोनोंका साधन है यानी दोनों लोकोंकी प्राप्ति करता है ॥ २३ ॥

इस प्रकारका सज्जनसमागम, गुणोपार्जनक्रमसे जबतक ज्ञाननिष्ठा न हो जाय तबतक, बीचमें कभी छोड़ना नहीं चाहिए, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

भद्र, किसी भी कालमें सज्जन सद्गुरुसे दूर नहीं होना चाहिए, किन्तु विनय, सेवा आदि क्रियाओंसे युक्त होकर साधु पुरुषोंकी निरन्तर सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उन साधुओंके पास जानेमात्रसे विसरणशील उनके शान्ति आदि गुण पास जानेवालेमें ऐसे संक्रान्त (मिश्रित) हो जाते हैं, जैसे फूलोंकी सुगन्ध तिलोंमें सम्बन्धमात्रसे मिश्रित हो जाती है ॥ २४ ॥

अट्ठानवे सर्ग समाप्त

नवनवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

सन्ति दुःखक्षयेऽस्माकं शास्त्रसत्सङ्गयुक्तयः ।
मन्त्रौषधितपोदानतीर्थपुण्याश्रमाश्रयाः ॥ १ ॥
कृमिकीटपतङ्गाद्यास्तिर्यक्स्थावरजातयः ।
कथं स्थिताः किमारम्भास्तेषां दुःखक्षयः कथम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वाण्येवेह भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
आत्मोचितायां सत्तायां विश्रान्तानि स्थितान्यलम् ॥ ३ ॥

निन्नानबे सर्ग

[कृमि, कीट, पतङ्ग, तिर्यग्योनि, स्थावर आदि जातियोंका इस संसारमें जैसा भोग होता है, उस सबका वर्णन]

कृमि, कीट आदि अतिमूढ़ जन्तुओंका तो जीवन ही दुर्लभ हो जायगा, क्योंकि तात्कालिक दुःखशान्तिका उपाय वहाँ है ही नहीं, उनमें ऐसी शक्ति है नहीं जिससे कि वे दुःखशान्तिका उपाय जान सकें। ऐसी स्थितिमें वे किस तरह जीते हैं, यों श्रीरामजी उनकी संसारस्थितिको, जातिप्रसङ्गसे, जानने की इच्छासे पूछते हैं—'सन्ति' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, हम मनुष्य-जातिके लोगोंके दुःखक्षयके लिए तो शास्त्र, सत्सङ्ग, मन्त्र, ओषधि, तप, दान, तीर्थ तथा पुण्याश्रममें निवास आदि उपाय हैं; परन्तु कृमि, कीट, पतङ्ग आदि तथा तिर्यक्, स्थावर आदि जो जातियाँ हैं, उनका दुःखक्षय किस उपायसे होगा, उपायके अभावमें उनका जीवनयापन कैसे ! यानी वे किस तरह जी सकते हैं ॥ १, २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस संसारमें जितने भी जीव हैं वे चाहे स्थावर हों, चाहे जङ्गम हों, वे सब अपने अपने योग्य भोगोंके उचित सुखसत्तामें ही विश्राम किये रहते हैं और उसीसे अपना अपना जीवन भी धारण किये हुए है, इससे निष्कर्ष यह निकला कि तत्-तत्-योनियोंमें भोग्य जो विषय-सुखकी मात्रा है, वही तत्-तत् जीवोंका महान् पुरुषार्थ है, इसी सुखमात्रासे

भूतानामणुमात्राणामप्यस्माकमिवैषणाः ।
किन्त्वल्पास्था वयं विघ्नास्तेषां त्वचलसंनिभाः ॥ ४ ॥
यथा विराट् प्रयतते बालखिल्यास्तथैव खे ।
बालमुष्ट्यल्पकायेऽपि पश्याऽहंकृतिजृम्भितम् ॥ ५ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च निराधारेऽम्बरे खगाः ।
शून्यैकविषयास्तेषां स्वास्थ्यं न भवति क्षणम् ॥ ६ ॥

वे विश्रान्ति लेते हैं और उसीकी आशासे अनेक दुःख झेलते हुए जीते रहते हैं ॥ ३ ॥

भद्र, छोटे छोटे अणुमात्र जो जीव हैं, उनको भी अपनी योनिके अनुसार हम मनुष्य जातिके लोगोंकी जैसी ही सुख भोगनेकी इच्छाएँ रहती ही हैं, परन्तु हम लोगोंको उन भोगोंमें एक तो आस्था नहीं है और उनको प्राप्त करनेमें कोई अधिक विघ्नबाधा भी नहीं पहुँचाता, उनको तो मोह, काम आदि दोषोंकी अधिकताके कारण तथा विवेककी मात्राके अभावसे उन भोगोंमें अधिक आस्था है और उनको पानेमें उन्हें पर्वतके सदृश बड़े बड़े विघ्नोंका सामना भी करना पड़ता है ॥ ४ ॥

यदि प्रश्न हो कि भोगोंमें बहुत आस्था है, यह आपने कैसे जाना, तो इसका उत्तर है—प्रयत्नकी अधिकता, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

भद्र, जिसका समस्त ब्रह्माण्ड एक शरीर है, वह विराट् हिरण्यगर्भ जैसे अपने अधिकार निभानेकी अनेक चेष्टाओंके द्वारा स्वभोगार्थ प्रयत्न करता है, वैसे ही केशोंके अग्रभागके सदृश देहवाले कृमि, कीट आदि भी बालककी मुट्ठीके छेदकी अपेक्षा भी छोटे अल्पकाय आकाशमें प्रयत्न करते हैं, देखिये तो सही कि कैसी अहङ्कारकी महिमा है ॥ ५ ॥

एकमात्र शून्य विषयवाले गगनपक्षी निराधार आकाशमें उत्पन्न होते हैं और वहींपर मर जाते हैं, उनको कुछ भी विषय नहीं मिलता है, परन्तु क्षणभर वे स्वस्थ नहीं बैठते यानी वे अपने प्रयत्नसे तनिक भी हटते नहीं ॥ ६ ॥

कण आदिके उपार्जनमें पिपीलिका आदिका अधिक प्रयत्न देखा जाता है, इससे भी अनुमान होता है कि उन्हें भोगकी आस्था बहुत है, इस आशयसे कहते हैं—'पिपीलिका०' इत्यादिसे ।

पिपीलिकायाश्चेष्टाभिर्ग्रासावासात्मबन्धुभिः ।
अस्मद्दिवसकल्पोऽपि न पर्याप्तः क्षणो यथा ॥ ७ ॥
त्रसरेणुप्रमाणात्मा कृम्यणुस्तिमिनामकः ।
गमने व्यग्रता तस्य गरुडस्येव लक्ष्यते ॥ ८ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इत्याकल्पितकल्पनम् ।
जगद्यथा नृणां स्फारं तथैवोच्चैर्गुणैः कृमेः ॥ ९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यव्यग्रया जर्जरीकृतम् ।
क्षीयते व्रणकीटानामस्माकमिव जीवितम् ॥ १० ॥
पादपाः किंचिदुन्निद्रा घननिद्राः खलूपलाः ।
कृमिकीटादयः कार्ये नरवत्स्वप्नबोधिनः ॥ ११ ॥

भद्र, देखिये—ग्रास तथा निवासका सम्पादन तथा कुटुम्बपोषण आदि नानाविध चेष्टाओंसे यह प्रतीत होता है कि जैसे पिपीलिकाके लिए हमारे दिन जैसा भी दीर्घकाल उनके कणोपार्जनप्रयत्नके लिए क्षणके सदृश पर्याप्त ही नहीं है ॥ ७ ॥

भद्र, यह एक और नवीनता सुनिये—तिमिनामका जो अत्यन्त छोटा त्रसरेणुके बराबरका जीव है, उसकी गमनमें ऐसो व्यग्रता दीखती है, जैसी कि गरुड़की गमनमें व्यग्रता दीखती हो ॥ ८ ॥

देहमें और देहभोग्य वस्तुओंमें अहंममताका अध्यास मनुष्य और कृमि दोनोंको एक सा है, यह कहते हैं—'**अयम्**' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यह, वह, मैं, यह मेरा है, वह मेरा हैं, इस तरह कल्पित अध्यास-रूप जगत् जैसे मनुष्योंके लिए अनेक ऊँचे गुणोंके कारण अत्यन्त आस्थाका भाजन है, ठीक वैसे ही कृमिके लिए भी है ॥ ९ ॥

विषयोंकी आस्थाके कारण आयुका जो निरर्थक क्षय हो जाता है, वह भी हम मनुष्य एवं कीट आदिका समान है, यह कहते हैं—'**देश०**' इत्यादिसे ।

देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि विषयोंकी प्राप्तिके निमित्त व्यग्र बुद्धिसे जैसे हम लोगोंका जीवन जर्जर यानी क्षीण हो जाता है, वैसे ही व्रणकीटोंका भी उक्त व्यग्र बुद्धिसे जीवन क्षीण हो जाता है ॥ १० ॥

वृक्ष आदि स्थावर जीव कुछ कुछ जागते रहते हैं, पत्थर एकदम सोते ही

शरीरनाश एवैषां सुखं संप्रति दुःखकृत् ।
अस्माकमिव तेषां तज्जीवितं तु सुखायते ॥ १२ ॥
जनो द्वीपान्तरं यादृग्विक्रीतः परिपश्यति ।
पदार्थजालं पश्यन्ति तादृक्पशुमृगादयः ॥ १३ ॥
अस्माकमिव संसारस्तिरश्चां सुखदुःखदः ।
पदार्थप्रविभागेन केवलं ते विवर्जिताः ॥ १४ ॥
हृदयात्सुखदुःखाभ्यां नासातो रशनागुणैः ।
पशवः परिकृष्यन्ते विक्रीताः पामरा अपि ॥ १५ ॥

रहते हैं यानी घनी नींदसे सोये हुए ही रहते हैं और कृमि, कीट आदि तो हम मनुष्योंके जैसे अपने अपने उचित विषयभोगमें निद्रा एवं जागरण—दोनोंसे युक्त रहते हैं ॥ ११ ॥

शरीरकालमें सुखपूर्वक स्थित ये जो कृमि, कीट आदि हैं, उनको भी हम लोगोंके सदृश शरीरविनाश ही दुःख पैदा करनेवाला है और जीवन (शरीरमें प्राणस्थिति) सुख पैदा करनेवाला है ॥ १२ से

हम लोगोंके भोग्य, घर, महल, धन आदिको वे कैसे देखते हैं, इसे कहते हैं—'जनः' इत्यादिसे ।

जैसे बेचा गया पुरुष अन्य द्वीपको उदासीनतासे मुग्धदृष्टि होकर देखता है, वैसे ही पशु, मृग आदि उनके अभोग्य घर आदि पदार्थोंको उदासीनतासे मुग्धदृष्टिसे देखते हैं ॥ १३ ॥

जैसे हम मनुष्यजातिके जीवोंको संसार सुख-दुःख देनेवाला है, वैसे ही तिर्यग्योनि पशुओंको भी है । केवल भेद इतना है कि उत्कर्षापकर्ष बुद्धिके कारण गुण-क्रिया विभाग वे नहीं जानते ॥ १४ ॥

बेचे गये मनुष्यकी समानता पशुमें बतलाते हैं—'हृदयात्' इत्यादिसे ।

बैल आदि पशु, जो नाथे जाते हैं, मनसे भीतर भीतर सुख दुःखसे खींचे जाते हैं और बाहरसे नाथ रज्जुके द्वारा नासिका प्रदेशसे खींचे जाते हैं यों दोनों ओर पराधीनतासे खींचे जा रहे भी वे कुछ भी अपना दुःख हरने या प्रकट करनेमें समर्थ नहीं होते, ठीक इसी तरहके द्वीपान्तरमें विक्रीत पामर जन भी होते हैं, इस लिए दोनोंकी समता है ही ॥ १५ ॥

सुप्तानां यादृगस्माकं वेदनं स्पष्टसुत्वचाम् ।
वृक्षगुल्माङ्कुरादीनां तादृगुद्दामवेदनम् ॥ १६ ॥
यादृगस्माकमीत्यर्थक्रमसंसारपातिनाम् ।
पदार्थवेदनं तादृक्तिरश्चां भ्रान्तमभ्रमम् ॥ १७ ॥
आह्लादमात्रसौम्यत्वं सुखतश्चेन्द्रकीटयोः ।
समं विकल्पविन्मुक्तं विकल्पस्त्वनतिक्रमः ॥ १८ ॥

वृक्ष आदिके सुख, दुःखके अनुभव की प्रणाली हमारे सुख दुःखके अनुभवके अनुरूप ही है, ऐसा उपपादन करते हैं—**'सुप्तानाम्'** इत्यादि श्लोकसे।

सुकुमार त्वचावाले हम लोग जब निद्रादेवीकी गोदमें अचेत होकर सोये रहते हैं तब यदि अत्यधिक शीत, गर्मी, मच्छर, खटमल आदि हमें तंग करते हैं तो सुखशून्य नींदमें हमें जैसे महाक्लेशका अनुभव होता है वैसे ही महाक्लेशका अनुभव पेड़, पौधे, अङ्कुर आदिको होता है। श्लोकमें अङ्कुरका ग्रहण अति सुकुमार होनेके कारण उसे कृमि, कीड़ों आदिके काटनेपर अत्यन्त क्लेश होता है यह सूचित करनेके लिए है ॥ १६ ॥

पूर्वमें जो यह कहा था कि हम लोगोंकी भाँति ही पशु, मृगादिको भी संसार सुख ओर दुःखदायक है, किन्तु वे पदार्थोंके गुण, क्रियोपयोग (इसमें यह गुण है यह इस कार्यके उपयोगी है) आदि विवेचनसे, जिससे उत्कर्ष और अपकर्षका ज्ञान होता है, सर्वथा कोरे हैं। इस बातको उपपादनके द्वारा अनुभवमें चढ़ाते हैं—**'यादृग'** इत्यादिसे।

जैसे देशविप्लवके समय पलायन द्वारा धावन आदि गतिके लिए कुश, काँटे, जली हुई बालूपर चलना, बोझ ढोना आदि मुसीबतोंपर पड़े हुए हम लोगोंको चारों ओरसे भयकी आशङ्कासे पूर्ण पदार्थज्ञान होता है वैसा ही पदार्थज्ञान पक्षी, सर्प आदि तिर्यग्योनिवाले जीवोंको भी सदा होता है ॥ १७ ॥

यदि मन विकल्प-ज्ञानोंसे शून्य हो तो आह्लादस्वरूप आत्मानन्दमें और भोजन, निद्रा, मैथुन आदिसे होनेवाले सुखोंमें इन्द्र और कीड़ेकी मनकी प्रसन्नतारूप सौम्यता एक सी है। केवल विकल्प ही दोनोंके लिए—इन्द्र ओर कीड़ेके लिए—हिमालयके समान अलङ्घ्य है ॥ १८ ॥

रागद्वेषभयाहारमैथुनोत्थं सुखासुखम् ।
तिरश्चां जन्ममृत्यादिखेदः कश्चिन्न भिद्यते ॥ १९ ॥
ऋते पदार्थभूतार्थभविष्यद्वस्तुबोधतः ।
शेषं बभ्रुहिगोमायुगजादीनां नृभिः समम् ॥ २० ॥
निद्रामयानां वृक्षाणां स्वसत्तामचलादयः ।
स्थिता अनुभवन्तोऽन्ये चिदाकाशमखण्डितम् ॥ २१ ॥

राग, द्वेष, भय, आहार और स्त्रीसंग जनित सुख और दुःख तथा जन्म-मरणके समय होनेवाला क्लेश इन्द्र और कीड़ेका समान है, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥ १९ ॥

शास्त्रवेद्य पुण्य, पाप, ब्रह्मतत्त्व आदि तथा अतीत और भावी पदार्थोंके सिवा शेष ज्ञान नकुल, साँप, सियार, हाथी आदिका मनुष्यका-सा ही है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है यानी नकुल, साँप, सियार, हाथी आदिको शास्त्रगम्य धर्म, अधर्म, आत्मतत्त्व, अतीत, अनागत आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, मनुष्यको हो सकता है, इसके अतिरिक्त ज्ञान जैसा मनुष्यको है वैसा ही नकुल आदिको भी है ॥ २० ॥

तो पर्वत आदि कैसे अनुभव करते हैं? इस आशङ्कापर कहते हैं—'निद्रा०' इत्यादिसे।

गाढ़ निद्रावाले (सुषुप्तिमें स्थित) वृक्षादिकी अत्यन्त मूढभावसे जो अपनेमें स्थिति है उसका पाषाण आदि अचल पदार्थ अनुभव करते हैं और जो हिमालय, सुमेरु आदि तत्त्वज्ञानी पर्वत हैं, वे तो अखण्ड चिदाकाशका अनुभव करते हुए सदा समाधिमें स्थित हैं ॥ २१ ॥

इस प्रकार न तो वृक्ष आदि जीवोंकी दृष्टिसे जगत्‌की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे गाढ़ निद्रामें मग्न हैं, न पर्वत आदि जीवोंकी दृष्टिसे जगत्‌की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे आत्मसत्तामें स्थित हैं, जंगम जीवोंमें भी तत्त्व-ज्ञानियोंकी दृष्टिसे जगत्‌की कल्पना नहीं हो सकती है, कारण वे तो चिदाकाश-स्वरूप ही हैं। हाँ, कतिपय अज्ञानी जङ्गम जीवोंकी दृष्टिसे जगत्‌की कल्पना हो सकती है। किन्तु उनकी दृष्टि उक्त बहुतसे लोगोंकी दृष्टिसे विरुद्ध जगत्सत्ता-की सिद्धि नहीं कर सकती, इस आशय से कहते हैं—'आपीन०' इत्यादिसे।

आपीननिद्रा वृक्षाद्याः स्वसत्तास्थास्तथाऽद्रयः ।
जङ्गमानि चिदाकाशं नाम किंचित्कदाचन ॥ २२ ॥
अखण्डचित्ता शैलादिसत्ता निद्रा च भूरुहाम् ।
द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात् खमेवैकमतो जगत् ॥ २३ ॥
परिज्ञातं जगद्यावदपरिज्ञानसंयुतम् ।
न त्वं नाऽहं न चैवाऽस्तिनास्ती न च भविष्यति ॥ २४ ॥
यथास्थितं सदैवेदं मौनमेव शिलाघनम् ।
अनाद्यन्तमविच्छिद्रमनिद्रं च सनिद्रकम् ॥ २५ ॥
पूर्वं सर्गाद्यथैवाऽऽसीत्तथैवैकं समस्थितम् ।
भविष्यत्यधुनाऽनन्तं कालमेवं तथैव च ॥ २६ ॥

वृक्ष आदि गाढ़ निद्रामें हैं और पर्वत आदि अपनी सत्तामें स्थित हैं। जो जङ्गम जीव हैं, वे भी सुषुप्ति, मरण, मूर्छा, मोक्ष आदि अवस्थाओंमें चिदाकाश-रूप ही हैं। जङ्गम जीवोंमेंसे किन्हींको कभी (स्वप्नमें) अर्धविकाससे और कभी (जागरणावस्थामें) पूर्ण विकाससे भासमान भी जगत् बहुतोंकी दृष्टिके अनुरोधसे चिदाकाश ही है ॥ २२ ॥

जो पर्वत आदिकी सत्ता और जो वृक्षोंकी निद्रा है, वह द्वैतज्ञानविहीन होनेके कारण अखण्ड चिद्रूप ही है, इसलिए उनकी दृष्टिसे जगत् एक अज्ञानोपहित चिन्मात्र ही है ॥ २३ ॥

औरोंकी दृष्टिसे भी आत्मतत्त्व जबतक परिज्ञात न हो तभी तक जगत् है आत्मतत्त्वका परिज्ञान होनेपर तो न तुम हो, न मैं हूँ, न जगत्सत्ता ही है, न असत्ता है और न जगत्का प्रागभाव ही है यानी किसी कोटिमें जगत्की स्थिति नहीं है ॥ २४ ॥

शिलाके समान ठोस, शान्त, अपने स्वरूपसे अप्रच्युत, उत्पत्ति-नाशसे रहित निर्दोष ब्रह्म ही यह सब कुछ है। वह जैसे निद्रा आत्मामें ही स्वाप्नजगत्-वैचित्र्यकी कल्पना करती है वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे अपनेमें ही जगद्वैचित्र्यकी कल्पना कर रहा है, वास्तवमें वह निर्विकार है ॥ २५ ॥

परमार्थदृष्टिसे तो सद् ही एकरूप है, यह कहते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे।

सृष्टिके पहले सृष्टि आदि जगत् जैसे एकरूप ही स्थित था, वर्तमान कालमें भी वैसे ही स्थित है और आगे भी अनन्त काल तक वैसे ही स्थित रहेगा ॥ २६ ॥

नैवाऽऽत्मता न परता न जगत्ता न शून्यता ।
न मौनता न मौनित्वं किंचिन्नेहोपपद्यते ॥ २७ ॥
त्वं यथास्थितमेवाऽऽस्त्व यथास्थितमहं स्थितः ।
सुखासुखे पराकाशे शान्ते नेहाऽस्ति किंचन ॥ २८ ॥
परमाकाशतां मुक्त्वा किं स्वप्ननगरे वद ।
विद्यते किल तच्छान्तं चिद्व्योमाऽच्छमनामयम् ॥ २९ ॥
अपरिज्ञप्तिरेवैका तत्र संभ्रमकारिणी ।
परिज्ञातमिदं यावद्विद्यते साऽपि न क्वचित् ॥ ३० ॥
परिज्ञाते जगत्स्वप्ने यावत्सत्यं न किंचन ।
ग्रहस्तदेनं प्रति किं स्नेहो वन्ध्यासुते तु कः ॥ ३१ ॥
स्वप्नकाले परिज्ञाते जगत्स्वप्नमणावणौ ।
किमुपादेयता काऽऽस्था प्रबोधेऽसौ न किंचन ॥ ३२ ॥

सत् चिद् आनन्दरूप उसके आत्मत्व आदि भेद भी नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यावर्त्य नहीं है, फिर और भेद क्यों कर होंगे, यह कहते हैं,—'नैव' इत्यादिसे।

न तो आत्मता है, न परता है, न जगता है, न मौनता है, न मौनिता है बहुत क्या कहें उस सद्रूपमें कुछ भी उपपन्न नहीं है ॥ २७ ॥

आप अपने स्वरूपमें ही स्थित रहिये, मैं भी अपने स्वरूपमें ही स्थित हूँ, परम आकाशमें सुख और दुःखका नाम नहीं है और पराकाशके सिवा यहाँ कुछ नहीं है ॥ २८ ॥

जरा बतलाइये तो सही स्वप्ननगरमें परमाकाशताको छोड़कर क्या है ? निर्मल, निर्विकार शान्त चिदाकाश ही तो स्वप्ननगर है ॥ २९ ॥

केवल अज्ञान ही उसमें भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है । जब परम ब्रह्मका परिज्ञान हो जाता है तब अज्ञानका भी कहीं पता नहीं रहता ॥ ३० ॥

जब जगत्‌रूपी स्वप्नका ज्ञान हो जाता है तब उसमें कुछ भी सत्यता नहीं रहती । जगत्‌के प्रति अभिनिवेश (आसक्ति) वन्ध्यापुत्रमें स्नेह करनेके सदृश ही उपहासास्पद है ॥ ३१ ॥

स्वप्नकालके ज्ञात होनेपर प्रत्येक अणुमें जगत्-स्वप्नकी सम्भावना होती है, किन्तु प्रबोधावस्थामें जिसका कुछ अस्तित्व नहीं रहता उसकी क्या तो उपादेयता है और क्या उसपर आदर किया जाय ॥ ३२ ॥

यन्न किंचित्प्रबोधेऽस्ति नाऽप्रबोधेऽस्ति तत्क्वचित् ।
यस्तूपलम्भस्तत्काले पूर्वावस्थैव सा तथा ॥ ३३ ॥
विद्यते वर्तमानत्वं भविष्यद्भूतता तथा ।
बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु शान्तं किलाऽखिलम् ॥ ३४ ॥
यथोर्मिणोर्मौ निहते न काचित्पयसां क्षतिः ।
तथा देहेन निहते देहे नाऽस्ति चितेः क्षतिः ॥ ३५ ॥
चितावाकाश एवाऽहं देह इत्युपजायते ।
संविदेव ततो देहे नष्टे किं नाम नश्यति ॥ ३६ ॥
प्रबुद्धस्यैव चिद्व्योम्नः स्वप्नो जगदिति स्थितम् ।
पृथ्व्यादिरहितं यस्मात्तस्मात्स्वप्नात्मकं जगत् ॥ ३७ ॥
सर्गादौ पूर्वचित्स्वप्नाज्जाता पृथ्व्यादिवस्तुधीः ।
स्वप्नार्थे सत्यताभ्रान्तिः कल्पनामात्ररूपिणी ॥ ३८ ॥

जिस वस्तुकी प्रबोधावस्थामें कुछ भी सत्ता नहीं है वह अबोधावस्थामें भी कहींपर नहीं है। जो अप्रबोधावस्थामें उसकी प्रतीति होती है, वह अज्ञता ही है अर्थात् अज्ञान ही उसकी प्रतीतिके रूपसे प्रसिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

न तो वर्तमान सच है, न भविष्यत् सच है और न भूतकाल ही सच है, न अज्ञान सच है और न उनका ज्ञान सच है। ये सब वस्तुएँ अज्ञानवश ही प्रतीत होती हैं वास्तवमें कुछ नहीं हैं ॥ ३४ ॥

ऐसी स्थितिमें मिथ्या देह आदिके मिथ्या शत्रुओं द्वारा नष्ट किये जानेपर भी उन दोनोंके अधिष्ठानरूप-आत्माका कुछ भी नहीं बिगड़ा, यह कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे।

जैसे एक लहरके आघातसे दूसरी लहरके छिन्न-भिन्न होनेपर जलकी कुछ हानि नहीं होती वैसे ही एक देहसे दूसरी देहके नष्ट होनेपर चित्‌को कुछ भी क्षति नहीं होती है ॥ ३५ ॥

आकाशरूप चित्‌में ही देह ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान ही पैदा होता है ऐसी अवस्थामें भ्रमात्मक ज्ञानरूप देहके नष्ट होनेपर क्या नष्ट हुआ ॥ ३६ ॥

ज्ञानघन चिदाकाश ही स्वप्न जगत्‌रूपसे प्रसिद्ध है। चूँकि यह जगत् स्वप्न-जगतके समान पृथिवी आदिसे शून्य है, इसलिए स्वप्नरूप है ॥ ३७ ॥

पूर्व चित्‌के स्वप्नसे सृष्टिके आदिमें पृथिवी आदि पदार्थबुद्धिका उदय

पूर्वात्पूर्वतरस्याऽस्य स्वप्नस्याऽवयवस्थितौ ।
सत्येवाऽसत्यरूपायां पृथ्व्यादिकलना कृता ॥ ३९ ॥
सा च भ्रान्तिस्तथा रूढा यथाऽसत्यैव सत्यताम् ।
परमामागता तत्तु सत्यमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४० ॥
वस्तुवस्तु यथाभूतं चिद्ब्रह्मैवाऽऽततं स्थितम् ।
न च तत्संस्थितं किंचित्स्मर्ताऽस्मर्ता किमात्मकः ॥ ४१ ॥
एवंमात्रापरिज्ञानमेवाऽत्र प्रतिबोधकम् ।
अत्रैव तु परिज्ञानं कवाटप्रविघाटनम् ॥ ४२ ॥

हुआ। स्वप्नके पदार्थमें सत्यता बुद्धि काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार पूर्वसे पूर्वतर अनादि प्रवाहरूप स्वप्नके अवयवोंमें मूढोंने सत्य पृथ्वी आदिकी कल्पना ऐसे ही कर डाली जैसे कि आधुनिक असत्य वस्तुमें सत्य कल्पना की जाती है ॥ ३९ ॥

वह भ्रान्ति वैसी बद्धमूल हुई कि निपट असत्य होती हुई भी परम सत्यताको प्राप्त हो गई। किन्तु परम सत्य चिति तो अत्यन्त निर्मल है, उसमें जड़तारूप मलका रत्तीभर भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ४० ॥

असत्यस्वरूप जगद्भ्रान्तिको मूढोंने अपनी कपोलकल्पनासे सच सी मान लिया है, यों 'इव'से सत्यसे उपमित कर उपमा द्वारा भ्रान्तिकल्पनामें सत्यार्थ-कल्पनाकी समानता दिखलाई। वह तभी सम्भव हो सकती है जब पहले सत्य पदार्थ रहे हों, उनका अनुभव भी हुआ हो और इस समय उनका स्मरणकर्ता भी हो। दूसरी हालतमें यह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'वस्तुवस्तु'** इत्यादिसे।

वास्तवमें अपने स्वरूपसे अच्युत सच्चिदानन्दरूप सर्वव्यापक ब्रह्म ही स्थित है। सत्यरूप पृथ्वी आदि कुछ भी पहले कभी नहीं रहा। ऐसी परिस्थितिमें जब उसके अनुभवकी सर्वथा असिद्धि है तब उसका स्मरण करनेवाला या विस्मरण करनेवाला भला कौन होगा ? ॥ ४१ ॥

तब असत्य पदार्थमें अत्यन्त अप्रसिद्ध सत्यताकी समानताका प्रतिबोधक क्या होगा ? ऐसी आशङ्कापर स्वप्रकाश सत्यस्वरूपका अज्ञान ही असत्यमें सत्यत्वके सादृश्यका प्रतिबोधक है, यह कहते हैं—**'एवं मात्रा०'** इत्यादिसे।

यथार्थस्वरूप चिदानन्दरूप ब्रह्ममात्रविषयक अज्ञान ही जगत्में (असत्यमें) सत्यत्वकी समानताका प्रतिबोधक है, अतएव तत्त्वका परिज्ञान ही आवरणरूप

पारिशेष्यान्न पृथ्व्यादि किंचित्संभवति क्वचित् ।
यो द्रष्टा यच्च वा दृश्यं विमलं शिवमेव तत् ॥ ४३ ॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बाद्बिम्बं भाति जगत्तथा ।
चिद्व्योमनि स्वतो भातमबिम्बादेव बिम्बितम् ॥ ४४ ॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बं न दृष्टमपि किंचन ।
तथा चिद्व्योमगं विश्वं न दृष्टमपि किंचन ॥ ४५ ॥
लभ्यते यद्विचारेण यत्सकारणकं स्थितम् ।
तत्सच्छेषं तु भामात्रमभूतं सत्कथं भवेत् ॥ ४६ ॥
भवेद्भ्रमात्मकमपि किंचिदर्थक्रियाकरम् ।
स्वप्नाङ्गनाऽपि कुरुते सत्यामर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४७ ॥

अज्ञानकपाट तथा विक्षेपरूप जगत्सत्यताभ्रान्ति-कपाटका उद्घाटन है ॥ ४२ ॥

अज्ञान-कार्यके साथ अज्ञानका नाश होनेपर चिन्मात्र शेष रहनेसे पृथ्वी आदि किसीका कहींपर भी संभव नहीं है। जो द्रष्टा है अथवा दृश्य है, वह सब पूर्वोक्त परिशिष्ट चैतन्यमात्र विशुद्ध शिव ही है ॥ ४३ ॥

जैसे दर्पणमें निमित्तभूत बाहरी बिम्बसे भीतर प्रतिबिम्बकी प्रतीति होती है वैसे ही निमित्तभूत प्रतिबिम्बके बिना ही अपने-आप चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित जगत् प्रतीत होता है ॥ ४४ ॥

दर्पणके दृष्टान्तसे विवक्षित अंशको कहते हैं—'मुकुरे' इत्यादिसे।

जैसे दर्पणके अन्दर दिख रहा भी बिम्ब वास्तवमें कुछ नहीं है वैसे ही चिदाकाशमें प्रतीत हो रहा भी विश्व परमार्थदृष्टिमें कुछ भी नहीं है ॥ ४५ ॥

जो वस्तु शास्त्रीय विचारसे प्राप्त होती है जिसकी स्थिति प्रमाणरूप कसौटीसे प्रमाणित है वही सत् है उससे अन्य तो प्रतिभामात्र है, वह तीनों कालोंमें सत्ता-शून्य है—न भूतकालमें था, न वर्तमानमें है और भविष्यत्में होगा। भला वह सत् कैसे हो सकता है ॥ ४६ ॥

यदि जगत् असत् है तो वह व्यवहारार्थ क्रियाके योग्य कैसे है, इस शङ्का-पर कहते हैं—'भवेद्' इत्यादिसे।

कुछ भ्रमात्मक वस्तुएँ भी अर्थक्रियाकारी देखी जाती हैं, जैसे स्वप्नस्त्री असत्य होती हुई भी मनुष्योंकी सत्य वीर्यविसर्जनरूप अर्थक्रिया करती ही है ॥ ४७ ॥

यत्तद्भानं तु सा चिद्धा परमं तच्चिदम्बरम् ।
इति क्वाहं क्व विश्वश्रीः क्व त्वं दृश्यदृशश्च काः ॥ ४८ ॥
मृत्वा पुनर्भवनमस्ति किमङ्ग नष्टं
मृत्वा न चेद्भवनमस्ति तथापि शान्तिः ।
विज्ञानदृष्टिवशतोऽस्त्यथ चेद्विमोक्ष-
स्तन्नेह किंचिदपि दुःखमुदारबुद्धेः ॥ ४९ ॥
मूर्खस्य यादृशमिदं तु तदज्ञ एव
जानात्यसौ नहि वयं किल तत्र तज्ज्ञाः ।
मत्स्यो हि यो मृगनदीसलिले स एव
जानाति तच्चपलवीचिविवर्तनानि ॥ ५० ॥

'अहम्' आदि जगत्की शोभा प्रतिभासिक ही है, अन्य प्रकारकी नहीं है। जो जगत्का भान है वह आत्मस्वरूप चैतन्यका प्रकाश ही है अन्य नहीं है। उस भानका व्यावर्तक दृश्यरूप यदि भानसे पृथक् माना जाय तो शून्य ही ठहरेगा यदि भानरूप माना जाय, तो भानका व्यावर्तक न होने से चिदाकाशरूप ही होगा, इस प्रकार विचार करनेपर जगत्का रूप कुछ भी सिद्ध नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें कहाँ मैं हूँ, कहाँ विश्वशोभा है, कहां आप हैं और दृश्यदृष्टियाँ ही कौन हैं ?

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदारमति आपकी, जो पूर्वोक्त विज्ञानदृष्टिसे चिन्मात्र-स्वरूप हैं, देहके विनाशसे मरकर फिर अन्य देहकी उत्पत्तिसे उत्पत्ति है यानी मुक्ति नहीं है तो क्या हानि हुई ? क्योंकि दुःखगन्धविहीन निरतिशयानन्दरूप चैतन्यका नाश और उत्पत्तिसे तनिक भी स्पर्श नहीं है यदि मरकर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, मुक्ति होती है तो भी सर्वप्रपञ्चका उपशम ही है। इसलिए उक्त दोनों ही पक्षोंमें तनिक भी दुःखकी प्राप्ति नहीं है ॥ ४९ ॥

तब मूर्खको मरण और जन्ममें क्योंकर दुःख प्राप्त होता है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो इसके प्रति उस दुःखप्राप्तिका मूर्खको ही अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं—**'मूर्खस्य'** इत्यादिसे ।

मूर्खको जिस प्रकारका दुःख होता है उसे मूर्ख ही जानता है, वह हम लोगोंकी जानकारीके बाहरकी बात है। देखिये न, जिसे मृगतृष्णारूपी नदीके जलमें 'मैं मछली हूँ' यों अपनी मछलीरूपताका अनुभव होता है, वही तो उसकी (मृगतृष्णारूपी

अन्तर्बहिस्त्वमहमित्यपि चैवमादि
सर्वात्मकं तपति चिन्नभ एकमेव ।
शाखाशिखाविटपपत्रफलैकदेहः
संकल्पवृक्ष इव बोधखमात्रसारः ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थनिरूपणं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

शततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

युक्तिः स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्संसारे दुःखशान्तये ।
तेषां येषामयं पक्षः श्रूयतामुच्यतां ततः ॥ १ ॥

नदीकी) चञ्चल लहरोंका लहराना जानेगा, किन्तु जिसे मृगतृष्णा-नदीकी भ्रान्ति नहीं है, वह कैसे जानेगा ॥ ५० ॥

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे तो केवल चिदाकाश ही 'तुम' 'मैं' आदिरूप सम्पूर्ण जगत् बनकर प्रकाशमान होता है। देखिये न, आत्मा ही डालियाँ, उनकी चोटियाँ, उनकी टहनियाँ, उनके पत्तों और फलोंके रूप-धारण द्वारा सङ्कल्पवृक्ष बनकर मनोराज्यमें प्रकाशमान होता है ॥ ५१ ॥

निन्नानवे सर्ग समाप्त

सौ सर्ग

[देहको आत्मा माननेवालोंके मतमें आग्रह रखनेवालोंकी भी बुद्धि जैसे वास्तविक तत्त्वकी ओर आकर्षित हो जाय वैसी युक्तिका प्रतिपादन]

पहले सृष्टिवादियोंकी उक्तिकी सत्यताके वर्णनके सिलसिलेमें 'स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम्' इससे चार्वाककी उक्तिको समुचित कहा, उक्त कथन उनके अभिमत सब आस्तिक जनोंके विपक्षरूप देहात्मवादके विषयमें कैसे उचित है अथवा उनकी पुरुषार्थसिद्धि कैसे होती है, यह सब जाननेके लिए इच्छुक श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'युक्तिः' इत्यादिसे ।

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम् ।
तत्तथैवाऽनुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ ३ ॥
यथा खं सर्वगं शान्तं तथा चिद्व्योम सर्वगम् ।
तदेवैक्यमथ द्वैतमन्यार्थस्याऽत्यसंभवात् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न ध्यान देकर सुननेकी कृपा कीजिये तदनन्तर उसका यथार्थ उत्तर देनेका अनुग्रह कीजिये। जब तक जीवे, आरामसे जीवे, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। [जीतेजी अपनी मृत्युका प्रत्यक्ष नहीं होता यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दूसरोंकी मृत्यु प्रतिदिन दिखती है अपनी मृत्युका भी उसी तरह अनुमान हो सकता है। यदि कहिये चार्वाकोंके मतमें अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे प्रत्यक्षके सिवा और कोई प्रमाण नहीं मानते। अच्छा, उनके मतमें देह-नाश ही मृत्यु हो। पुनर्जन्म तो वे मानते नहीं अतः उनके मतमें देह-नाश ही सकल दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष ठहरा वह उनको वाञ्छनीय ही है इस आशयसे कहते हैं—'भस्मीभूतस्य'।] सकलदुःखोंकी निवृत्तिको प्राप्त भस्मीभूत देहका पुनः आगमन कैसे हो सकता है। ऐसा जिनका सिद्धान्त है, इस संसारमें उनकी दुःखशान्तिके लिए कैसी युक्ति है? ॥ १,२ ॥

संवित्को अपने निश्चयके अनुसार ही विवर्तका अनुभव होता है, ऐसा नियम है। उक्त नियममें ही संवित्की देहात्मभावमें भी उपपत्ति होती है और मोक्षमें भी उपपत्ति होती है। इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उसका समर्थन करते हैं—**'यम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—संवित् जो जो निश्चय करती है अपने अन्दर ज्योंका त्यों वही अनुभव करती है, यह बात सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है ॥ ३ ॥

जैसे भूताकाश सर्वव्यापक और शान्त हैं वैसे ही चिदाकाश भी सर्वव्यापी और शान्त है। वह चिदाकाश ही विविध वादवाले पामर लोगोंसे कल्पित देहादि द्वैत और वेदान्तके मर्मको जामनेवाले विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध अद्वैत भी है, क्योंकि उससे अतिरिक्त वस्तुका अत्यन्त असंभव है ॥ ४ ॥

अन्य वस्तुके असंभवमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टिके पूर्व

सर्गादौ तद्दतेऽन्योऽर्थो महाप्रलयरूपिणि ।
अकारणत्वान्नास्त्येव ब्रह्मैवेदमतस्ततम् ॥ ५ ॥
समस्तवेदशास्त्रार्थं ये महाप्रलयादि च ।
नेच्छन्ति ते महामूढा निःशास्त्रा नो मृता इव ॥ ६ ॥
सर्वशास्त्राविरुद्धेन सर्वं ब्रह्मेदमित्यलम् ।
स्थितं सानुभवं योक्तृ येषां तैर्न कथाक्रमः ॥ ७ ॥

यह सत् ही था) इत्यादि श्रुतियोंसे परिपोषित युक्ति कहते हैं—**'सर्गादौ'** इत्यादिसे ।

सृष्टिकी पूर्वावस्थामें, जबकि अद्वितीय ब्रह्मरूपी महाप्रलयका ही बोलबाला था, अद्वितीय ब्रह्मके सिवा कोई पदार्थ था ही नहीं, उसका कोई भी कारण नहीं, जिसकी कि उसके पूर्वमें होनेकी संभावना हो। इसलिए यह ब्रह्म ही जगत्के रूपसे व्याप्त है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि हम ब्रह्मरूपी महाप्रलय ही नहीं मानते, जैसे बीजाङ्कुर आदिकी परम्परा अनादि है वैसे ही पृथिवी आदि महाभूतोंका प्रवाह अनादि कालसे चला आ रहा है, अतः इससे विलक्षण जगत् कभी रहा ही नहीं। इस तरहके पूर्वमीमांसक आदि कर्मकाण्डियोंके पक्षका खण्डन करते हैं—**'समस्त०'** इत्यादिसे ।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस परम पदका प्रतिपादन करते हैं), 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (उसीको ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध सकल वेद और शास्त्रोंके प्रतिपाद्य महाप्रलयरूप ब्रह्मको, जीवोंकी ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्तिको तथा मुक्तिके साधन तत्त्वज्ञानको जो नहीं मानते हैं, उनकी मूढताका क्या ठिकाना है। मोक्षशास्त्रके अप्रामाणिक होनेपर तुल्ययुक्तिसे कर्मशास्त्रकी अप्रमाणताका भी वारण नहीं हो सकता, अतः वे शास्त्रशून्य हैं। जब शास्त्रशून्य हो गये तो हमारी दृष्टिमें वे मरे हुएसे हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानके उपदेशके अयोग्य हैं ॥ ६ ॥

जिन महापुरुषोंका देह, इन्द्रिय आदिकी सकल व्यवहारोंमें नियुक्ति करनेवाला प्रत्यगात्म चैतन्य या मन सकल शास्त्रोंसे अविरुद्ध "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म ही है) इस प्रकारके ज्ञानसे प्रचुरमात्रामें पूर्णकाम हो चुका हो, उन कृतार्थ पुरुषोंके साथ भी उपदेशकथा करना उचित नहीं है। केवल जिज्ञासु पुरुषोंके लिए ही उपदेशवार्ता उचित है ॥ ७ ॥

नित्या निरन्तरोदेति यादृशी संविदाशये ।
भूयते तन्मयेनैव पुंसा देहोऽस्तु माऽथवा ॥ ८ ॥
बोधाच्चेत्संविदो जातः स दुःखी पुरुषो भवेत् ।
विरुद्धं वेदनं यावत्तावज्जीवोऽङ्ग तन्मयः ॥ ९ ॥
जगच्चिद्व्योमकचनमात्रमेवेति भाविते ।
तत्कथं वेदनं व्योम्ना बोधः कस्य कुतो भवेत् ॥ १० ॥

प्रसङ्गतः प्राप्त विषयकी समाप्ति कर प्रस्तुत विषयपर आते हैं—**'नित्या०'** इत्यादिसे ।

हृदयमें जैसी संवित् निरवच्छिन्नरूपसे सदा उदित होती है मनुष्य वैसा ही हो जाता है । देह हो चाहे न हो । भाव यह है कि चार्वाकोंके संमत देहात्मभावमें भी वैसी दृढनिश्चयात्मक संवित्का उदय ही अन्वय और व्यतिरेकसे हेतु है, देह आदि व्यभिचरित होनेसे हेतु नहीं है ॥ ८ ॥

इसी कारण यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्दघन है तथापि विरोधी दुःखित्वादिज्ञानकी दृढतासे उसमें दुःखमयता सबको अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—**'बोधात्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यदि संवित्के बोधसे पुरुष दुःखी हुआ है, तो जब तक विरुद्ध दुःखित्व ज्ञान रहेगा तभी तक जीव दुःखमय रहेगा ॥ ९ ॥

यद्यपि जगत् पूर्वोक्त रीतिसे दुःखमय ही है तथापि यह निरतिशयानन्द चिदाकाशका स्फुरणमात्र ही है यों उसकी भावना करनेसे उसके वास्तविक स्वरूपका दर्शन होनेपर भ्रान्तिसे कल्पित दुःखरूपता तथा उसकी दर्शन, दृश्य, दर्शक आदि त्रिपुटीकी शान्ति हो जाती है । देहात्मवादी भी यदि ऐसी भावना करें, तो उनकी भी मुक्ति हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—**'जगत्'** इत्यादिसे ।

जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका स्फुरणमात्र ही है ऐसी भावना की जाय तो पहले प्रसिद्ध दुःखादिका वेदन कैसे हो सकेगा ? भला कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाशसे कैसे किसको दुःखका बोध होगा ? कोई द्वितीय हो और कोई दुःखका निमित्त हो तभी तो दुःखका संभव है । जब एकमात्र आनन्दघन चिदाकाश ही है तब दुःखबोधकी क्या कथा है ॥ १० ॥

उक्त अर्थमें 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (तत्त्वज्ञानावस्थामें अद्वैतको देख रहे पुरुषको कौन मोह और कौन शोक) इस श्रुतिको अर्थतः उदाहृत करते

न कानिचित्प्रधावन्ति एकनिश्चयसंविदाम्
पुंसां सुखानि दुःखानि रजांसि नभसामिव ॥ ११ ॥
संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा निश्चयस्तावदीदृशः ।
आबालमेतत् संसिद्धं केनाऽपह्नूयते कथम् ॥ १२ ॥
न देहः पुरुषो वाऽपि जीवोऽन्य उपलभ्यते ।
संवित् सर्वमिदं सा तु यथा वेत्ति तथा जगत् ॥ १३ ॥
सा सत्याऽप्यथवाऽसत्या तया देहोऽनुभूयते ।
स्वातन्त्र्येण यथा स्वप्ने पाताले खे जले दिवि ॥ १४ ॥

हैं—'**न कानिचित्**' इत्यादिसे ।

एक ब्रह्म ही है ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानवाले पुरुषोंको किन्हीं सुख या दुःखोंका ऐसे ही स्पर्श नहीं होता जैसे कि आकाशको धूलियोंका स्पर्श नहीं होता ॥ ११ ॥

अपने अपने दृढ़ निश्चयके अनुसारी पदार्थके अनुभवमें संवित्की प्रमाणता और चित्तवृत्तिकी सत्यता ठीक नहीं है, देहात्मभावमें पहलीकी (संवित्को) प्रमाणता नहीं है और ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्तिमें दूसरी (चित्तवृत्तिकी सत्यता) नहीं है इस आशयसे कहते हैं—'**संवित्**' इत्यादिसे ।

संवित् सत्य (प्रमा) है और चित्तवृत्ति सत्य (अबाधित) है ऐसा दोनोंका नियम नहीं है । किन्तु निश्चय इस तरहके सत् और असत् अर्थके अनुभवमें कारण होता ही है, यह आबालवृद्ध प्रसिद्ध है । इसका कौन कैसे अपलाप कर सकता है । भाव यह कि अनुभव विरुद्धका आश्रय लेकर अनुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ १२ ॥

इसलिए सकलवादियोंके अभिमत तत्-तत् वेषोंको धारण करनेमें समर्थ संवित् ही आत्मा है, ऐसा सब वादियोंको समझाकर सब कृतकृत्य (सफलमनोरथ) किये जा सकते हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**न देहः**' इत्यादिसे ।

चार्वाकोंका अभिमत शरीर, सांख्योंका अभिमत पुरुष और मीमांसक आदिका अभिमत जीव या भोक्ता संवित्से पृथक् उपलब्ध नहीं होता, अतः सब वादियोंके कल्पनास्थान देह आदि संवित् ही हैं । वह (संवित्) जैसा अनुभव करती है वैसा ही जगत् हो जाता है ॥ १३ ॥

वह संवित् सत्य हो अथवा असत्य हो उसे केवल अपनी कल्पना द्वारा (पृथिवी आदि कारणोंकी अपेक्षा करके नहीं) ऐसे देहका अनुभव होता है जैसे

संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा तावन्मात्रः स्मृतः पुमान् ।
स यथानिश्चयो नूनं तत् सत्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥
प्रामाण्यं सर्वशास्त्राणामेतेनैव प्रसिद्ध्यति ।
सर्वसिद्धान्तसिद्धान्त एष एवेति मे मतिः ॥ १६ ॥
तस्मादबोधता याऽऽस्ते यथा संवित्तथैव सा ।
भवत्यकलुषाकारा तथैव फलभागिनी ॥ १७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यवेदशास्त्रैषणाभ्रमैः ।
अबोधता तु या संवित्कदाचित्सा न नश्यति ॥ १८ ॥

स्वप्नमें, पातालमें, आकाशमें, जलमें और स्वर्गमें केवल कल्पनासे ही देहका अनुभव होता है ॥ १४ ॥

संवित् चाहे सत्य हो, चाहे असत्य हो, संविद्मात्र ही आत्मा है। उक्त संवित्मात्र आत्मा जिस प्रकारके निश्चयवाला होता है वह सत्य (उसकी क्रिया [व्यवहारक्रिया] में समर्थ) होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

संवित् ही जब सब वादियोंके अभिमत आत्मादिके रूपसे स्थित होती है तो ऐसी परिस्थितिमें सत्य होने और उसके द्वारा कल्पित पदार्थोंके तत्-तत् अभिमत अर्थक्रियामें समर्थ होनेके कारण पूर्वोक्त सकलशास्त्रोंका प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहा, यह कहते हैं—**'प्रामाण्यम्'** इत्यादिसे ।

संविद्-मात्र आत्मासे ही सब शास्त्रोंका प्रामाण्य अक्षुण्ण होता है और यह संविद्-अद्वैतात्मवाद सिद्धान्त ही सब वादियोंका उपजीव्य होने और पुरुषार्थहेतु होनेसे सब सिद्धान्तोंका शिरोमणि सिद्धान्त है ॥ १६ ॥

तो क्या संवित् ही तत्-तत् वादियोंके अभिमत देहादिके आकारसे तत्-तत्-निश्चयके अनुसार परिणत होती है ? इसपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

संवित्में जो अबोधता यानी अविद्या है, वही तत्-तत् वादियोंकी जैसी संवित् होती है परिणाम द्वारा प्रवृत्ति आदिके समय वैसे ही बन जाती है । वही जब तत्त्वज्ञान रूपसे परिणाम होनेपर निर्मल शुद्ध चिदाकार हो जाती है तब मोक्षफलभागिनी बन जाती है ॥ १७ ॥

इसलिए पुण्य तीर्थ, पुण्य पर्व आदि देश कालमें स्नान, दान आदि कर्मोंसे, रसायन, मन्त्र, ओषधि आदि द्रव्योंसे, कर्मशास्त्र द्वारा उपदिष्ट लोकैषणा, धनैषणा

आविर्भवति सा भूयः क्षीणाशङ्का क्षणेन चेत् ।
तत्केन संविदो दुःखं कदा नामोपशाम्यति ॥ १९ ॥
संविदेव नृणां जीवः स यदा दृढभावनः ।
तथा सुखी वा दुःखी वा भवेदित्येष निश्चयः ॥ २० ॥
संविच्चेदस्ति तज्ज्ञानां शरणं भवभेदने ।
नास्ति चेत्तच्छिलामूकमान्ध्यमेवाऽवशिष्यते ॥ २१ ॥
यत्तयैव च संवित्या वेदनेनैव लभ्यते ।
अयं स्वभावज्ञप्त्याऽन्तर्जाड्यं पुंसेव निद्रया ॥ २२ ॥

और पुत्रैषणा रूप भ्रान्तियोंसे वह अबोधता और उससे उत्पन्न विक्षेपसंवित् कभी भी नष्ट नहीं होती ॥ १८ ॥

बोध होनेपर जब अविद्या छिन्न-भिन्न हो चुकी पुनः उसके आविर्भावमें कोई कारण नहीं है और दूसरी बात यह भी है कि यदि उसका पुनः आविर्भाव माना जाय, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं, क्योंकि जब-जब ज्ञान द्वारा वह बाधित होगी, पुनः उसका आविर्भाव हो जायगा, ऐसा कहते हैं—**'आविर्भवति'** इत्यादिसे ।

आत्यन्तिक बाधसे क्षीण हुई अविद्याकी पुनः प्राप्तिकी आशङ्का भी नहीं है । यदि अविद्या एक बार बाधित होकर पुनः क्षणभरमें आविर्भूत हो जायगी, तो जीवका दुःख कब किससे शान्त होगा यानी कभी भी किसीसे भी शान्त न हो सकेगा ॥ १९ ॥

संवित् ही मनुष्योंका जीव (जीवात्मा) है उसकी जैसी दृढ़ भावना होती है वैसा ही पुरुष सुखी या दुःखी होगा, ऐसा निश्चय है ॥ २० ॥

प्रत्यगात्मरूप संवित् ही जब तत्त्वतः ज्ञात होती है तब अपने कार्यभूत बन्धको दूर करती है, इसलिए मुमुक्षु लोगोंकी वही शरण है । उसके अभावमें सारा जगत् अन्धकारपूर्ण हो जायगा । मोक्षकी आशा तो दुराशा ही हो जायगी, ऐसा कहते हैं—**'संवित्'** इत्यादिसे ।

संवित्का यदि अस्तित्व है तो ज्ञानियोंके संसारनाशमें वही शरण है, यदि वह नहीं है, तो शिलाके समान जड़ अन्धकार ही अन्धकार शेष रह जाता है ॥ २१ ॥

कैसे अन्धकार ही शेष रह जाता है ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसपर कहते हैं— **'यत्तयैव'** इत्यादिसे ।

चूँकि स्वप्रकाशरूप उसीसे प्रत्यगात्मसंवित् रूप जीवको निद्रा द्वारा अपनी

श्रीराम उवाच

दिक्ष्वधस्ताच्च नाऽन्तोऽस्या भावी नाऽपि जगत्क्षयः ।
अस्तीति भावितं येन संत्यक्ताभावबुद्धिना ॥ २३ ॥
विज्ञानघनमेवेदमिति नूनमपश्यता ।
पश्यता च यथादृष्टं सर्वक्षयमपश्यता ॥ २४ ॥
तस्य स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्युक्तिराधिविनाशने ।
इति मे संशयं छिन्धि भूयो बोधाभिवृद्धये ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्रैकं तावदुचितं पूर्वमेव तथोत्तरम् ।
द्वितीयमुत्तरं न्याय्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ २६ ॥

जड़ताके सदृश अन्धकार तुल्य अज्ञानसे ही यह प्रपञ्च प्राप्त हुआ है, यदि संवित्का अपलाप किया जाय, तो असाक्षिक अन्धकार ही शेष रह जायगा ॥ २२ ॥

कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था यानी जगत्का अभाव नहीं था ऐसा मानकर जो महाप्रलय नहीं मानते वे शास्त्रशून्य मुरदे ही हैं, यों आपने पूर्वमें जिनकी निन्दा की है, उनके मतके अनुसारी दृढ़ निश्चयवाले लोगोंको तत्त्वज्ञान-प्राप्तिमें युक्ति है या नहीं इस विषयमें सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'दिक्ष्व०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, इस सृष्टिका पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि आठ दिशाओंमें ऊर्ध्व दिशामें (ऊपर) और नीचे भी अन्त नहीं हैं, न यह आगे उत्पन्न होनेवाली ही है और न इसका नाश ही होता है इस तरह जगत्के प्राग् अभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—इन तीनों अभावोंको तिलाञ्जलि दे चुके, यह सब विज्ञानघन ही है, यों इसे परमार्थतत्त्वरूप न देख रहे, जैसा जगत् दीख रहा है, वही सत्य है यों समझ रहे और जगत्का विनाश न देख रहे जिस पुरुषने जगत्की उक्तरीतिसे सत्यताकी भावना की, उसके संसाररूपी दुःखकी निवृत्तिमें कैसी युक्ति है ? हे ब्रह्मन्, बोधकी वृद्धिके लिए मेरे इस सन्देहको पुनः निवृत्त करनेकी कृपा कीजिये ॥ २३—२५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, यहाँपर एक तो पूर्वोक्त ही (शास्त्रशून्य वे हम तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें मृतकसे ही हैं, उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिये यही) उत्तर उचित है अथवा पहले पूर्ववादीके प्रति जो 'यं यं निश्चयमादत्ते

ईदृग्भावस्त्वया प्रोक्तो यः पुमान् पुरुषोत्तम ।
स तावच्चेतनामात्रं भवतीत्यनुभूयते ॥ २७ ॥
स चाऽऽकारविनाशेन युज्यते नाऽत्र संशयः ।
अथाऽविनाशो देहश्चेत्तद्दुःखस्याऽत्र कः क्रमः ॥ २८ ॥
भवेद् भागविभागात्मविनाशस्त्वविचारितः ।
अवश्यं तस्य भवति किलेति ननु निश्चयः ॥ २९ ॥

संविदन्तरखण्डितम्' इत्यादि उत्तर कहा है, वही उचित है। ऐसी परिस्थितिमें चैतन्यसे जबतक संवित्‌का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक तो उसका वैसा निश्चय हो सकना संभव नहीं है, अतः उसे भी थोड़ा बहुत चैतन्यका बोध कराकर पूर्व निश्चय उसीका विवर्त है यों व्युत्पत्ति कराकर उसके अनुभवमें अखण्ड आनन्दघन उतारा जा सकता है ॥ २६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, इस प्रकारके आशयवाले जिस पुरुषका आपने प्रतिपादन किया है क्या वह देहसे अतिरिक्त चेतनको आत्मा माननेवाला है, या नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म देहको आत्मा माननेवाला है, या स्थूल देहको आत्मा माननेवाला है, या शुद्ध संवित्‌को आत्मा माननेवाला है, या अज्ञानसे आवृत संवित्‌को आत्मा माननेवाला है या संवित्‌का अपलाप करनेवाला है। यदि वह चेतनामात्रका (चिदाभासरूपका) अस्तित्व स्वीकार करता है तो उसे क्रमसे आत्मतत्त्वका अनुभव होता ही है, उसके संसारसे उद्धारमें कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि देहादि आकारवाली उपाधिका विनाश होनेसे वह परमात्माके साथ मिल जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। यदि उसकी विनाशी अन्नमय देहमें आत्मबुद्धि हो, तो उसे चारों ओरसे विनाशकी शङ्कासे दुःख होगा ही। यदि अविनाशीमें आत्मत्वका निश्चय हो तो उसे देहाकार समझने मात्र अपराधसे उसको दुःखप्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार क्रमशः उपदेश देनेपर—ज्ञानचर्चा सुनानेपर—वह भी आत्मतत्त्वको प्राप्त हो ही जायगा ॥ २७, २८ ॥

तीसरे पक्षमें कहते हैं—'भवेद्' इत्यादिसे।

अवयवघटित स्थूल शरीरको आत्मा समझनेवालेने स्थूल देहके अवश्यम्भावी विनाशका विचार नहीं किया। जो वस्तु सावयव होती है, उसका विनाश तो किसीके रोके रोका नहीं जा सकता है—अवश्यम्भावी है। इससे वह भी स्थूल देहसे अतिरिक्त आत्माको मानता है, यह सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

मृतः स संविदात्मत्वाद्भूयो नो वेत्ति संसृतिम्।
ज्ञानधौता न या संविन्न सा तिष्ठत्यसंसृतिः ॥ ३० ॥
अथवा नास्ति संवित्तिरिति निश्चयवान् यदि।
ततस्ताद्दग्वेदनतो भवत्येव दृषज्जडः ॥ ३१ ॥
यथावेदनमर्थेषु चिरत्वे देहक्षयात् क्षते।
मृतिरेव परं श्रेयो दृष्टं नाऽनुभवादिति ॥ ३२ ॥
असंभवच्छुद्धविदो निःशरीरा भवन्ति ये।
जडभावा जडीभूय दुर्भेदान्ध्या भवन्ति ते ॥ ३३ ॥

चतुर्थ पक्षमें कहते हैं—'**मृतः**' इत्यादिसे।

शुद्धसंवित्को आत्मा माननेवाला जीवन्मुक्त सदा सब जगह लीलासे जगत्का दर्शन करता हुआ भी मृत्युके बाद विदेहतामात्रसे कैवल्यको प्राप्त होकर फिर संसारको नहीं जानता है—नहीं देखता है। जो संवित् तत्त्वज्ञानसे शुद्ध नहीं है, वह संसारकी प्राप्तिके बीजका नाश न होनेसे संसारके बिना नहीं रहती, अवश्य संसारमें आती है। उसका भी किसी न किसी जन्ममें ज्ञानका उदय होनेसे संसारसे निस्तार हो जाता है ॥ ३० ॥

छठे पक्षमें कहते हैं—'**अथवा**' इत्यादिसे।

अथवा यदि 'संवित्ति नहीं है' इस प्रकारका निश्चयवाला (संवित्का अपलाप करनेवाला) हो तो इस प्रकारके ज्ञानसे वह चिरकालतक पत्थरके समान जड़ होता ही है ॥ ३१ ॥

उसने उस अवस्थामें क्या अथवा कैसा श्रेय देखा ? इसपर कहते हैं—'**यथावेदनम्**' इत्यादिसे।

मरणपर्यन्त दृढीकृत अपने उक्त ज्ञानके अनुसार ही देहपातके बाद विशेष विज्ञान जब नष्ट हो गया तब गाढ़ सुषुप्तिके सदृश मृत्युको हो (नैयायिकोंके मोक्षके तुल्य) दुःखशून्य होने से उसने परम श्रेय समझा, किन्तु निरतिशय आनन्दके अनुभवसे उस मूर्खने श्रेयका दर्शन नहीं किया ॥ ३२ ॥

जो शून्यवादी हैं, जिनका आत्माके अभावमें दृढ निश्चय है, वे जब मरते हैं तब किस गतिको जाते हैं ? इसपर कहते हैं—'**असम्भवात्**' इत्यादिसे।

जिनके मतमें शुद्धसंवित्के अस्तित्वका संभव नहीं है, वे जब शरीररहित होते हैं यानी मरते हैं तब जड़को तत्त्व माननेवाले वे जड़ होकर दुर्भेद्य अन्धकारसे

ये चाऽपि स्वप्नपुरवत्सर्वं पश्यन्ति चिन्मयाः ।
तेषामिदमिवाऽशेषं जगज्जालं प्रवर्तते ॥ ३४ ॥
स्थैर्यास्थैर्येण भूतानां किमपूर्वमतौ भवेत् ।
भूतस्थैर्ये तथाऽस्थैर्ये सुखं चैवाऽसुखं समम् ॥ ३५ ॥
स्थिरमस्त्वस्थिरं वाऽपि मह्यादि महतामपि ।
चिद्भामात्रमिदं भाति यावदज्ञानमाततम् ॥ ३६ ॥

पूर्ण होते हैं। इस विषयमें श्रुति भी है—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।' (जो अज्ञानी लोग हैं वे लोग मरकर गाढ़ अन्धकारसे आच्छन्न असुर्य नामक लोकोंमें जाते हैं) ॥ ३३ ॥

जो विज्ञानवादी लोग क्षणिक विज्ञानमय जगत् स्वप्ननगरके तुल्य है, यह मानते हैं, उनको भी व्यवहारसिद्धि पूर्वोक्त मतवालेके समान है, ऐसा कहते हैं—'ये' चापि इत्यादिसे।

क्षणिक और विकारी चित्को आत्मा माननेवाले जो विज्ञानवादी लोग सम्पूर्ण जगत्को स्वप्ननगरके समान देखते हैं, उनका यह साराका सारा जगज्जाल प्रवृत्त हो रहता है, निवृत्त नहीं होता ॥ ३४ ॥

जो लोग जगत्को स्थिर मानते हैं और जो लोग क्षणिक मानते हैं, उन दोनोंके ही सुख-दुःखभोगपर्यन्त सभी व्यवहार समान हैं, यह कहते हैं—'**स्थैर्या०**' इत्यादिसे।

स्थिरता और क्षणिकतासे जगद्व्यवहारवैचित्र्यबुद्धिमें क्या अन्तर होगा ? भूत चाहे स्थिर हों चाहे अस्थिर (क्षणिक) हों, सुख और दुःख तो समान ही होंगे ॥ ३५ ॥

तत्त्वज्ञानियोंका भूमि आदि भूतोंकी क्षणिकता और स्थिरतामें कोई आग्रह नहीं है। अध्यस्त पदार्थ केवल अधिष्ठान ब्रह्मसे ही सारवान् है। इसलिए शुक्ति और रजतके मूल्यके विचारकी भाँति उसकी स्थिरता और अस्थिरताका विचार व्यर्थ है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**स्थिरम्**' इत्यादिसे।

पृथिवी आदि महाभूत स्थिर हों चाहे अस्थिर हों ये केवल चिद्भानरूप ही हैं। जब तक अज्ञानका साम्राज्य है, तभी तक इनकी प्रतीति होती है ॥ ३६ ॥

संवित् क्षणिक नहीं है, क्योंकि वह अपने अनस्तित्वरूप नाश और जड़ताको व्याप्त नहीं कर सकती, संवित्की व्याप्तिके बिना उन दोनोंकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः संवित्के क्षणिकत्वका कथन संभव नहीं है, यह कहते हैं—'**संवित्**' इत्यादिसे।

संविदा संविदोऽसत्तामिहाऽव्याप्य विनष्टया ।
निर्णीयाऽङ्गीकृतं यैर्वा जाड्यं तद्बालकैरलम् ॥ ३७ ॥
येषां विद्भ्यः शरीराणि ते वन्द्याः पुरुषोत्तमाः ।
शरीरेभ्यो विदो येषां तैरलं पुरुषाधमैः ॥ ३८ ॥
चिद्रूपो जीवबीजौघ आकाशकृमिजालवत् ।
ऊर्ध्वं तिर्यगधो याति पूर्यमाण इव स्वयम् ॥ ३९ ॥

जिन्होंने कालतः असत्ता क्षणिकता और देशतः असत्ता जड़ता दोनोंका स्पर्श किये बिना ही नष्ट हुई क्षणिकत्वाभिमतसंवित्से संवित्की जड़ता और क्षणिकताका निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, इस प्रकारके मूर्खोंसे संभाषण तक नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥

इसलिए कूटस्थ चित्से विवर्त रूपसे चिद्से व्याप्त देहपर्यन्त जड़प्रपञ्चकी उत्पत्ति माननेवाले धन्य हैं, क्योंकि उनके मतमें 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' वाचारम्भणन्यायसे विकारको असत्य समझनेपर चित् ही अवशिष्ट रहती है । अचिद् देह आदिसे चित्की उत्पत्ति माननेवाले चार्वाक, नैयायिक आदि मूर्ख हैं । चित्के विनाशसे जड़का परिशेष न तो पुरुषार्थ है और न पुरुषार्थका साधन ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'येषाम्'** इत्यादिसे ।

जिनके मतमें चित्से शरीरोंकी उत्पत्ति है, वे पुरुषश्रेष्ठ वन्दनीय हैं । जिनके मतमें शरीरसे चित्की उत्पत्ति होती है, उन पुरुषाधमोंसे भाषण करना भी ठीक नहीं है ॥ ३८ ॥

जीवसमष्टिरूप एक हिरण्यगर्भ ही नाना जीवोंके रूपसे ऊपर नीचे लोकोंमें गमन आदि द्वारा संसारी बनता है, यह कल्पना भी समुचित है, ऐसा कहते हैं— **'चिद्रूपः'** इत्यादिसे ।

जैसे माट, मटकोंमें भरी जा रही जलराशि ऊपर, नीचे और तिरछे जाती है वैसे ही चिद्रूप जीवसमष्टि हिरण्यगर्भ ही मच्छड़ोंके समूहकी तरह तिरछे, ऊपर और नीचेके लोकोंमें गमन, आगमन द्वारा संसारको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

हिरण्यगर्भकी जो कर्तृरूप नाना जीवोंका समष्टिरूपता है, वह भी हिरण्यगर्भचित्की स्वकल्पनाके आग्रह वश ही है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'चेतयते'** इत्यादिसे ।

चेत्यते येन कर्ताऽन्यो बीजौघेन स तत्परः ।
तथैवाऽनुभवत्यन्तः स्वयमेव विवल्गति ॥ ४० ॥

यद्यथा चेत्यते येन तज्जीवेनाऽऽशु तेन तत् ।
चिद्रूपेणाऽऽप्यते सिद्धमेतदाबालमक्षतम् ॥ ४१ ॥

यथा धूमस्य नभसि यथाम्भोधौ महाम्भसः ।
आवर्तवृत्तयश्चित्रास्तथा चिद्व्योम्नि संसृतेः ॥ ४२ ॥

पुरी भवति चिद्व्योम यथा स्वप्ने नरं प्रति ।
तथाऽऽदिसर्गात्प्रभृति तदेवेदं जगत् स्थितम् ॥ ४३ ॥

जो हिरण्यगर्भरूप चिदाभास बीजौघभावसे अपनी समष्टिताकी भावना कर उनकी वासनाके अनुसार ही सृष्टिके आदिमें बहुत प्रकारसे भिन्न व्यष्टिरूप कर्ताकी अपने अन्तःकरणमें भावना करता है, वह उक्त भावनामें आसक्त होकर उसी भावनासे नाना कर्तृरूपका अन्तःकरणमें स्वयं ही अनुभव करता है और जैसा अनुभव करता है वैसे ही संसारको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

इस प्रकारसे भी वही सिद्ध हुआ जिसकी हमने पहले प्रतिज्ञा की थी, ऐसा कहते हैं—**'यद्यथा'** इत्यादिसे ।

जो जिस पदार्थकी जिस प्रकार भावना करता है, चिद्रूप वह जीव शीघ्र ही उसको प्राप्त होता है, यह बात बालकोंसे लेकर बड़े-बूढ़ों तक सबपर प्रसिद्ध है ॥४१॥

इसलिए उन जीवचैतन्योंकी विचित्र विचित्र वासनाओंके अनुरूप तत्-तत् सृष्टिके चेतनोंकी विचित्रतासे अनन्त सृष्टिवैचित्र्य है, यह कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें धुंएकी विचित्र विचित्र भ्रमियाँ (आवर्त) होतो हैं और जैसे महासागरमें जलराशिकी विचित्र भ्रमियाँ होती हैं वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें चिदाकाशमें जगत्सृष्टिकी विचित्र भ्रमियाँ होती हैं ॥ ४२ ॥

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही मनुष्यके प्रति नगरीका रूप धारण करता है वैसे ही आदि सृष्टिसे लेकर चिदाकाश हो जगत्का रूप धारण कर स्थित है ॥ ४३ ॥

सहकारी कारणोंके बिना ही सृष्टिके आदिमें केवल प्रतिभामात्रसे सिद्ध होनेके कारण भी जगत्की स्वप्नसमता ही है, ऐसा कहते हैं—**'सहकारि०'** इत्यादिसे ।

सहकारिनिमित्तानि यथा स्वप्ने न सन्ति वै।
पृथिव्यादीनि भूतानि तथैवाऽऽदौ जगत्स्थितेः ॥ ४४ ॥
अङ्गानां स्वप्ननगरे वसुधा विविधाः कृताः ।
यास्ता एव जगत्स्वप्ननगरे पुष्टतां गताः ॥ ४५ ॥
चिन्मात्राकाशमेवेमाः प्रजा द्वैतैक्यवर्जिताः ।
केवाऽत्र रञ्जनाऽन्या खे यद्वाभाति खमेव तत् ॥ ४६ ॥
चिच्चन्द्रिका चतुर्दिक्कं शीतलाऽऽह्लादकारिणी ।
तनोति चेतनालोकं तस्येदं कचनं जगत् ॥ ४७ ॥
अद्यैवाऽऽद्यन्तयोर्व्योम्नि चिन्मये सर्गदर्शनम् ।
चिदुन्मेषनिमेषाभ्यां खात्मोदेत्यस्तमेति च ॥ ४८ ॥

जैसे स्वप्नमें स्वप्ननगर आदिकी उत्पत्तिके लिए सहकारी कारण नहीं हैं वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें जगत्स्थितिके सहकारी कारण पृथिवी, आदि महाभूत नहीं हैं ॥ ४४ ॥

स्वप्ननगरमें नगरके अवयवरूप महल, घर आदिके उत्तरोत्तर भूमिका-भेद जो अर्धविकासवश अपूर्ण किये गये थे, वे ही जगत्रूपी स्वप्ननगरमें पूर्ण विकास द्वारा पुष्टताको प्राप्त हुए हैं ॥ ४५ ॥

द्वैत और ऐक्यसे विहीन ये सकल प्रजाजन चिदाकाशरूप ही हैं। चिदाकाशमें दूसरी रंजना (राग—द्वैतलेश) क्या हो सकता है। जो यहाँपर द्वैत-सा मालूम पड़ता है वह सब चिदाकाश ही है ॥ ४६ ॥

त्रिविध तापकी शान्ति करनेके कारण शीतल, आह्लादजनक चित्रूपी चाँदनी चारों ओर चेतनारूपी प्रकाश (पदार्थप्रतीतिरूपी प्रकाश) बखेर रही है। उक्त चेतनारूपी आलोकका ही पदार्थरूपसे स्फुरण यह जगत् है ॥ ४७ ॥

सृष्टिके पूर्व और सृष्टिके बाद (प्रलयमें) सृष्टि रहित स्वभाववाले चिन्मय आकाशमें केवल आज ही (वर्तमान क्षणमें ही) सृष्टिका दर्शन प्रसिद्ध है। और वह आकाशरूप ब्रह्म ही है। वह आत्मचित्के परिच्छिन्नरूपसे उन्मेष होनेपर पलक भरमें स्वप्नके तुल्य उदित होता है और आत्मचित्के अपरिच्छिन्नरूपसे निमेष होनेपर अपने आप स्वप्नकी भाँति अस्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

चित् यदि अपनी सत्ताके बलसे सत् बना कर जगत्को देखती है तब तो कुछ भी असत् नहीं कहा जा सकता है, पेसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे।

यद्यथा वेत्ति यत्तत्सत्तथैवाऽनुभवत्यलम् ।
यस्मात्समस्तं चिन्मात्रं किमिवाऽत्र न विद्यते ॥ ४९ ॥

शरदाकाशविशदं संविदः सौम्यमानसाः ।
असन्त एव तिष्ठन्ति सन्तोऽधिगततत्पदाः ॥ ५० ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः
प्रवाहसंप्राप्तनिजार्थभाजः ।
तिष्ठन्ति कार्यव्यवहारदृष्टौ
निरामया यन्त्रमया इवैते ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

श्रुतिप्रसिद्ध सत् वस्तु (चिति) यतः जिस जिस वस्तुको सृष्टिके आदिमें जैसा जैसा जानती है, उसका आज भी वैसा ही अनुभव करती है, इसलिये साराका सारा जगत् चित्मात्र उसमें नहीं है क्या ? जो कि वह असत्य होगा ? ॥ ४९ ॥

शरत् ऋतुके समान निर्मल ज्ञानवाले शान्तचित्त तथा परम तत्त्वका साक्षात्कार कर चुके पुरुष चित्से पृथक्रूपसे असत् ही हैं और चिद्रूपसे तो सत् ही हैं ॥ ५० ॥

उनकी उस प्रकारकी स्थितिकी लक्षण द्वारा पहचान कराते हैं—'निर्मान०' इत्यादिसे ।

मान और मोहसे विहीन, संगरूपी दोषपर विजय पा चुके (स्त्री, पुत्र आदिकी आसक्तिसे रहित), लोकप्रवाहवश आत्मकर्तव्य करनेवाले और दोषलेशरहित महापुरुष यन्त्रमय (पुरुषप्रतिमा) के समान हैं, वे औरोंकी कार्यव्यवहारदृष्टिमें स्थित होते हैं ॥ ५१ ॥

सौ सर्ग समाप्त

एकाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रमेव पुरुषस्तदेवेत्थमवस्थितम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ १ ॥
तच्चाऽवदातमाकाशं तन्मये द्रष्टृदृश्यते ।
तावन्मात्रं जगदतो हेयोपादेयधीः कुतः ॥ २ ॥
न विद्यते परो लोको बार्हस्पत्यस्य यस्य तु ।
विदोऽन्यत्तस्य किं सारं रागद्वेषावतः कुतः ॥ ३ ॥

एक सौ एक सर्ग

[सर्वत्र सदा निर्मल संवित्रूपी एक आत्माका साक्षात्कार कर रहे पुरुषकी, भयके हेतुओंकी प्राप्ति न होनेसे, निर्भयस्थितिका वर्णन]।

केवल चिन्मात्र ही तत्त्व है, ऐसा ज्ञान हो जानेपर सभी वादियोंकी अभय पदमें जिस तरह प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय, वैसा वर्णन करनेके लिए भूमिका रचते हैं—**'चिन्मात्रमेव'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र ही पुरुष है। वही नाना वादियों द्वारा परिकल्पित स्थायी तथा क्षणिक आदिरूपसे एवं जन्म, मरण, भय, शोक आदिके रूपसे अवस्थित है ॥ १ ॥

उसीका उपपादन करते हुए उसका फल कहते हैं—**'तच्च'** इत्यादिसे ।

और वह चिन्मात्र निर्मल आकाश ही है। द्रष्टा और दृश्य, ये दोनों उसके विवर्तभूत हैं। चिन्मात्र ही जब यह जगत् है। तब हे श्रीरामचन्द्रजी इसमें हेय और उपादेय बुद्धि कहाँसे हो सकती है ? ॥ २ ॥

हेय और उपादेयके अभावमें राग और द्वेषकी प्रसिद्धि नहीं होती—यह विज्ञानैकस्कन्धवादी बौद्धको भी सम्मत है, किन्तु क्षणिक विज्ञान असार है, इसलिए उसका मत उपेक्षणीय है, यह कहते हैं—**'न विद्यते'** इत्यादिसे ।

बृहस्पति द्वारा * प्रणीत बुद्धशास्त्रके अनुगामी जिस क्षणिकवादी बौद्धके मतसे क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, उसके मतमें भी विषयोंका सर्वथा

* बृहस्पतिने रजिपुत्रों तथा असुरोंको विमोहित करनेके लिए बुद्धशास्त्रकी रचना की थी, यह मत्स्यपुराण आदिमें प्रसिद्ध है ।

इष्टानिष्टदृशो रागद्वेषदोषाः किमात्मकाः ।
संविद्व्योममये स्वप्ने जगदाख्येऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ४ ॥
इदं हेयमुपादेयं वेति संवित्खमात्मनि ।
निर्मले निर्मलं भाति केवात्र तदतद्दृशौ ॥ ५ ॥
संविन्नरोऽमरो नागः संवित्स्थावरजंगमम् ।
भावाभावादयोऽस्याब्धेस्तरङ्गावर्तबुद्बुदयः ॥ ६ ॥

अभाव होनेके कारण ही राग-द्वेष कहाँसे हो सकते हैं, उनकी प्राप्ति ही नहीं है। किन्तु संवित्से अन्य उसके मतमें नित्य पुरुषार्थरूप सार ही क्या है, जिसकी कि संभावनासे वह उस संवित्की नित्यता स्वीकार नहीं करता † ॥ ३ ॥

कूटस्थ संवित्का ही विवर्तरूप स्वप्न जगत् है, इस हमारे सिद्धान्तमें तो राग-द्वेषकी किसी तरह प्राप्ति है ही नहीं, यह कहते हैं—**'इष्टानिष्टदृशः'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, हम वेदान्तियोंके मतमें तो यह जगत् नामका स्वप्न संविदाकाशमय ही है, इसमें इष्ट और अनिष्टकी दृष्टियाँ (यह इष्ट है यह अनिष्ट है इस प्रकार की प्रतीतियाँ) तथा तन्मूलक राग और द्वेष किस आकारके होंगे, यह कहिये ॥ ४ ॥

अथवा यह हेय है और यह उपादेय है यों विकल्पाध्यास भले ही रहे, तो भी संविदाकाशमें कोई अन्तर नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

यह हेय है अथवा यह उपादेय है, यह विकल्पाध्यास भी निर्मल संविदाकाशरूप ही है। उक्त निर्मल संविदाकाश भी निर्मल आत्मामें (संविदाकाशमें) ही अवभासित हो रहा है, अतः यहाँपर यह इष्ट या यह अनिष्ट है यों दो तरहकी दृष्टि कैसी ? ॥ ५ ॥

संसारके सभी पदार्थ एकमात्र अविनाशी संविद्रूप ही हैं, इसलिए उनके जन्म, मरण आदिकी भी संभावना नहीं हो सकती, यह कहते हैं—**'संविन्नरो०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, नर, अमर, नाग, स्थावर, तथा जंगम—ये सबके सब

† विज्ञानसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, यह तो वह भी मानता है, लेकिन विज्ञानको वह नित्य नहीं मानता, क्षणिक मानता है, सिर्फ इसी एक उसके क्षणिक अंश में हमें वाद है।

संविदाकाशमेवाऽहं भवानपि जना अपि ।
म्रियामहे नो कदाचित् संवित्किल कदा मृता ॥ ७ ॥
संविदो नाऽस्ति संवेद्यं स्वयं संवेद्यतामिता ।
चित्त्वादतो विशालाक्ष द्वितैकत्वे क्व वा स्थिते ॥ ८ ॥
संविन्मात्रादृते तस्माद्भूतं किमिव कथ्यताम् ।
कथ्यतां म्रियते तच्चेत्तदद्येमे कुतो वयम् ॥ ९ ॥
वादिनः सौगताद्या ये ये लोकायतिकादयः ।
संविदाकाशमुत्सृज्य यन्मयन्ते तदुच्यताम् ॥ १० ॥

संविद्रूप ही हैं। भाव, अभाव, * आदि भी इसी संविद्रूप सागरकी तरङ्ग, भ्रमि आदि वृत्तियाँ हैं ॥ ६ ॥

मैं संविदाकाशरूप ही हूँ, आप भी संविदाकाशरूप ही हैं तथा हम दोनोंके अतिरिक्त ये जितने जीव हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे भी सब संविदाकाशरूप ही हैं। हम लोग कभी मरते नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। बतलाइये तो सही संवित् क्या आजतक कभी मरी है ? ॥ ७ ॥

सभी संविद्रूप हैं जब यह एक निश्चित सिद्धान्त है तब संवित्से भिन्न संवेद्य बचता ही क्या है, अपनेमें ही स्वसंवेद्यताकी कल्पना तो अपने कन्धेपर अपनेको चढ़ा लेनेकी कल्पनाके सदृश ही है, यह कहते हैं—'संविदो' इत्यादिसे।

हे विशालनयन श्रीरामचन्द्रजी, संवित्का कोई संवेद्य नहीं है। यदि स्वयं ही यह संवित् संवेद्यताको प्राप्त हो तो चिद्रूप इससे अन्य संवेद्यतालक्षण क्रिया-कर्म-भेदरूप द्वित्व अथवा उससे व्यावृत्त एकत्व—ये दोनों कहाँ रहे ॥ ८ ॥

कहिये, उस संवित्के अतिरिक्त नित्य सद्वस्तु क्या है ? और आप यह भी कहिये कि यदि वह मरती है, तो फिर आज ये हम लोग जी कैसे रहे हैं ? ॥ ९ ॥

इन सब बातोंका निचोड़ यह निकला कि संविदाकाश ही सभी वादियोंके अपने-अपने अभिमत पदार्थोंके आकारसे सर्वत्र प्रतीत होता है। उसके बिना अन्य कोई गति नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'वादिनः' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, सौगत आदि जो वादी हैं तथा लोकायतिक (चार्वाक)

* जन्म, मरण आदि।

संविदाकाशमेवैतत् केनचिद् ब्रह्म कथ्यते ।
केनचित् प्रोच्यते ज्ञानं केनचिच्छून्यमुच्यते ॥ ११ ॥

केनचिन्मदशक्त्याभं केनचित् पुरुषाभिधम् ।
केनचिच्च चिदाकाशं शिव आत्मा च केनचित् ॥ १२ ॥

चिन्मात्रमेवमप्युक्तं याति न क्वचिदन्यताम् ।
यस्मात् स्वयं तदेवैवमात्मानं वेत्ति नेतरत् ॥ १३ ॥

आदि जो वादी हैं, वे सबके सब संविदाकाशके सिवाय जो पदार्थ मानते हैं, कहिये वह क्या है ? ॥ १० ॥

ब्रह्मवादीको आगे कर, उसका सर्वप्रथम नाम लेकर उक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं—'संविदाकाश०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संविदाकाशको ही कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई विज्ञान कहते हैं कोई शून्य कहते हैं ॥ ११ ॥

कोई (१) मदिरा मदके तुल्य † (देहाकारमें परिणत भूतधर्मभूत), कोई (२) पुरुष, कोई (३) चिदाकाश तथा कोई (४) शिव एवं आत्मा कहते हैं ॥ १२ ॥

इस तरह अनेक वादियों द्वारा अनेक प्रकारकी कल्पना करनेपर भी चितिके स्वरूपके विषयमें किसी तरहकी क्षति नहीं होती, क्योंकि यह चिति समस्त विकल्पोंकी साक्षी होनेसे स्वयं निर्विकल्पस्वरूप है, यह कहते हैं—'चिन्मात्र०' इत्यादिसे ।

इस तरह इसके स्वरूपके विषयमें नाना तरहकी कल्पना होनेपर भी यह चिन्मात्र स्वरूपवाली चितिशक्ति कहीं अन्यरूपताको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस तरह अनेक प्रकारसे विकल्पित यह अपने आत्माको स्वयं तद्रूप ही जानती है, अन्यरूप नहीं ॥ १३ ॥

---

† जैसे अन्नादि विविध वस्तुओंका संमिश्रण ही मदरूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही देहाकारमें परिणत पृथिवी आदि महाभूतोंका धर्म ही चेतन है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह चार्वाकोंका मत है ।

(१) देहात्मवादी चार्वाक्, (२) सांख्य, (३) योगी, (४) शैव लोग इसे शिव, ईश्वर, आत्मा, अणु और जीव कहते हैं ।

चूर्णतां यान्तु मेऽङ्गानि सन्तु मेरूपमानि च ।
का क्षतिः का च वा वृद्धिश्चिद्रूपवपुषो मम ॥ १४ ॥
मृताः पितामहाद्याश्चिन्न मृता सा म्रियेत चेत् ।
तज्जन्म नैव नाम स्यादस्माकं मृतसंविदाम् ॥ १५ ॥
न जायते न म्रियते संविदाकाशमक्षयम् ।
भवेत् कथं कथय किं किलाऽऽकाशस्य संक्षयः ॥ १६ ॥
जगद्रूपैककचनमविनाशि चिदम्बरम् ।
उदयास्तमयोन्मुक्तं स्थितमात्मनि केवलम् ॥ १७ ॥
जगद्भानं दधद्दाहं चिन्नभःस्फटिकाचलः ।
अनादिमध्यपर्यन्तः स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सारे अङ्ग चूर्ण-चूर्ण हो जायँ, या सुमेरु पर्वतके सदृश विशाल हो जायँ, इससे चिन्मात्र शरीरवाले मेरी क्या क्षति हुई और क्या वृद्धि हुई ? ॥ १४ ॥

हम लोगोंके पितामह आदिके शरीर मर गये, किन्तु उनकी चिति तो नहीं मरी । यदि वह भी मर जाती, तो फिर मृत आत्मावाले उनका पुनर्जन्म ही न होता और तुल्यन्यायसे हम लोगोंका भी पुनर्जन्म न हुआ होता ॥ १५ ॥

यह संविदाकाश अक्षय है। न तो यह कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आकाशका नाश क्या होगा अथवा कैसे होगा, यह कहिये ॥ १६ ॥

इस तरह संविद्के नाशका संभव न होनेसे जगद्रूप स्फुरणवाले उदय और अस्तमयसे रहित अविनाशी चिदाकाश अपनी आत्मामें ही स्थित है ॥ १७ ॥

चिदाकाशरूपी स्फटिक-पर्वत अपने अन्दर स्वयं जगत्प्रकाशको धारण करता हुआ स्वतत्त्वसाक्षात्काररूपी अग्निसे उसका दाह करके स्वच्छ आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहता है । यह आदि, अन्त तथा मध्यसे शून्य है * ॥ १८ ॥

---

* जैसे स्वच्छ स्फटिक-पर्वत अपने भीतर प्रविष्ट प्रतिबिम्बवनको पहले धारण करता हुआ कदाचित् प्रतिबिम्ब वह्निभावको प्राप्त हुए अपने ही द्वारा उस वनको जलाकर स्वरूपमात्रमें अवस्थित रहता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये, यह आशय है ।

यथा यथाऽन्धकारेण प्रेक्ष्यमाणं प्रणश्यति ।
किमप्यज्ञाऽभ्रचक्राभं तथेदं विश्वमात्मनि ॥ १९ ॥
यथाऽम्बुधिः स्वयं याति तोयाद्यावर्तकादिकम् ।
स्थितोऽदधत्तथैवेदं चिदाकाशोऽङ्गमात्मनि ॥ २० ॥
चिन्मात्रमेव पुरुषः खवत् स च न नश्यति ।
कदाचनाऽपि तद् व्यर्थं यन्नश्यामीति शोकिता ॥ २१ ॥
देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथ ॥ २२ ॥

ज्यों-ज्यों ज्ञान प्रबल होता जाता है त्यों-त्यों अज्ञानजनित यह जगत् भी नष्ट होता जाता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—**'यथा यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे अन्धकार द्वारा रातमें बनाया गया कुछ एक तरहका मेघसंघात जगत्का आवरण, जो रात खुलते समय दिखाई देता है, क्रमशः बिलकुल नष्ट हो जाता है यानी ज्यों ज्यों सूर्यका प्रकाश बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ वह कुछ देरके बाद पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अज्ञानरूपी अन्धकार द्वारा संपादित यह विश्व भी ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ ज्ञानका प्राबल्य होनेपर अन्तमें बिलकुल नष्ट होकर स्वरूपमें प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

जैसे सागर स्वयं ही अपने स्वरूपभूत जलप्रवाह, तरङ्ग आदिमें आवर्त, फेन, बुद्बुद आदि रूप अङ्ग धारण करता रहता है वैसे ही चिदाकाश भी अपने स्वरूपमें ही जगद्रूपी अङ्ग धारण करता हुआ स्थित है ॥ २० ॥

चिन्मात्र ही पुरुष है, वह आकाशवत् नित्य है, कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए 'मैं नष्ट होता हूँ' इस तरहका जो शोक करना है, वह सर्वथा व्यर्थ है ॥ २१ ॥

जीर्ण शरीरके त्यागसे अत्यन्त नूतन शरीरकी प्राप्तिमें निमित्तभूत मृत्युके उपस्थित होनेपर हर्ष मनाना ही उचित है, शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं—**'देहादेहा०'** इत्यादिसे ।

जीर्ण शरीरत्यागसे अन्य नूतन शरीरकी प्राप्ति होनेपर तो एक महान् नवीन उत्सव ही मनाना चाहिये । अरे मूढ़ पुरुषो, हर्षरूप मरणके उपस्थित होनेपर तुम लोग विषाद क्यों करते हो ? ॥ २२ ॥

मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽत्राऽप्युपचयो महान् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः ॥ २३ ॥
मरणं जीवितं तस्मान्न दुःखं न सुखं यतः ।
नाऽस्त्येवैतच्चिदाकाशः किलेत्थमभिजृम्भते ॥ २४ ॥
मृतस्य देहलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ।
मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥ २५ ॥
मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भवामयसंक्षयः ।
भूयः शरीरलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ॥ २६ ॥

पुनर्जन्म कदापि नहीं होता, यदि यही मत तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ है, तो भी तुम्हें विषाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एकमात्र मृत्युसे ही सर्वविध अनर्थोंका निवारण हो जाता है, यह कहते हैं--**'मृत०'** इत्यादिसे ।

मृत प्राणी पुनः उत्पन्न नहीं होता, यदि यही तुम्हारा निश्चित मत है, तो इसमें भी वह महान् पुरुषार्थोत्कर्ष ही है, क्योंकि उत्पत्ति और नाश तथा ग्रहण और त्याग, इत्यादि सभी ज्वर एकमात्र उस मरणसे ही शान्तिको प्राप्त हो गये ॥ २३ ॥

इस प्रकार जब जन्म और मरणके रहते भी दुःखकी प्राप्ति नहीं है, तो फिर इनकी अभावदशामें भला दुःखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस आशयसे उपसंहार करते हैं—**'मरणम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि जन्म नहीं है और मरण नहीं है, अतः सुख नहीं है, और दुःख भी नहीं है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है; किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही इन सबके रूपसे स्फुरित हो रहा है ॥ २४ ॥

मृत प्राणीको पुनः देहका लाभ होता है या नहीं, यह सन्देह बना रहनेसे मृत्युसे भय माननेवालेके प्रति पूर्वोक्त अर्थको ही पुनः उक्तिवैचित्र्यसे कहते हैं—**'मृतस्य'** इत्यादिसे ।

यदि मृत प्राणीको पुनः देहका लाभ होता है, तो यह नूतन महोत्सव ही हुआ, क्योंकि बुढ़ापा तथा नानाविध रोगोंसे ग्रस्त कारागृहके सदृश पूर्व शरीरका नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु परम सुखमय है ॥ २५ ॥

मृत्युके बाद कुकर्मियोंको नरक आदिके श्रवणसे यदि भय होता है, तो फिर जीवित प्राणियोंको भी, जो चोरी आदि कुत्सित कर्म करनेवाले हैं, राजदण्डका भय बना रहता है तथा 'अत्युत्कट पाप कर्मोंका फल प्राणीको इसी लोकमें जीते जी भोगना

कुकर्मभ्योऽथ भीतिश्चेत्सा समेह परत्र च ।
तानि मा कार्ष भोस्तस्माल्लोकद्वितयसिद्धये ॥ २७ ॥

मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति भाषसे ।
भविष्यामि भविष्यामि भविष्यामीति नेक्षसे ॥ २८ ॥

क्व नाम जन्ममरणे क्व भवाभवभूमयः ।
संविदात्मकमेवेदं व्योम व्योम्नि विवर्तते ॥ २९ ॥

संविदाकाशमात्रात्मा पिब भुङ्क्ष्वाऽऽस्स्व निर्ममः ।
आकाशकोशकान्तस्य कुत इच्छोदयस्तव ॥ ३० ॥

स्वप्रवाहबलोद्युक्तदेशकालवशादितान् ।
भवान् भुङ्क्तेऽभयो भव्यः पावनान् पावनादपि ॥ ३१ ॥

पड़ता है,' यों पाप कर्मोंके फलश्रवणसे यहाँ भी उन्हें भय होता ही है, इसलिए समान भय होनेसे आप कुकर्म ही न करें, यह कहते हैं—**'कुकर्मभ्यः'** इत्यादिसे ।

कुकर्मोंसे जो भय है, वह तो इस लोकमें तथा परलोकमें भी समान ही है, इसलिए दोनों लोकोंकी उत्तम फल-प्राप्तिके लिए कुकर्म ही नहीं करने चाहिये ॥२७॥

मैं मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, यही बराबर कहा करते हैं, मरनेके बाद भी मैं चिद्रूपसे सदा स्थित रहूँगा, रहूँगा, रहूँगा, ऐसा विचार नहीं करते ॥२८॥

परमार्थ दृष्टिसे तो जन्म और मरणकी प्राप्ति नहीं है, यह कहते हैं—**'क्व नाम'** इत्यादिसे ।

विचार कर देखिये न, वस्तुतः ज॰म और मरण कहाँ हैं, उत्पत्ति और विनाशकी भूमियाँ कहाँ हैं, यह सब मक चिदाकाश ही चिदाकाशमें विवर्तभावको प्राप्त हो रहा है ॥ २९ ॥

ज्ञानपरिपूर्ण महात्माओंका इच्छाशून्य व्यवहार होनेसे उन्हें कदापि दुःख प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं—**'संविदाकाश०'** इत्यादिसे ।

आप एकमात्र संविदाकाशरूप ही हैं, इसलिए ममता छोड़कर आप खूब खाइये, पीजिये । आप सांसारिक सब व्यवहार करते चलिये । आप तो आकाशकोशके सदृश निर्मल हैं । भला आपमें इच्छाका उदय कहाँसे हो सकता है ? ॥ ३० ॥

अपने प्रवाह-बलसे प्राप्त प्रयत्नसे तथा देश और कालके वशसे प्राप्त हुए शब्दादि विषयोंका, और उनमें भी जो पावनसे भी अत्यन्त पावन हैं, उनका

मध्यमध्यगतान्दोषान्देशकालवशोदितात् ।
अनादृत्याऽन्तरेवाऽऽस्ते सुप्तधीरवहेलयन् ॥ ३२ ॥
न दुःखमेति मरणात् सुखमेति न जीवितात् ।
नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि स तदास्ते विवासनः ॥ ३३ ॥
मरणजीवितजन्मजरत्तृणा-
न्थ विमृशन्विगतेच्छमवासनः ।
विदितवेद्य इहाऽज्ञ इवोदितो
वसति वीतभयस्त्वचलो यथा ॥ ३४ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

यानी जो मनको मलिन बनाने तथा उसके विक्षेपमें हेतु नहीं हैं उनका मध्यात्मा पुरुष निर्भय होकर उपभोग करता है ॥ ३१ ॥

बीच बीचमें यानी देशमें जब किसी तरहका उपद्रव आकर खड़ा हो जाता है या दुर्भिक्ष पड़ जाता है तब भी ज्ञानी पुरुषको दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उस समय वह कहीं एकान्त पर्वतकी गुफामें समाधिसुखका अनुभव करके उस दुःख-ग्रस्त कालकी अवहेलना कर देता है, यह कहते हैं—— **'मध्यमध्य०'** इत्यादिसे ।

बीच-बीचमें आ टपके देशकालके वश उदित हुए नानाप्रकारके दोषोंका अनादर करके उनकी अवहेलना करता हुआ वहीं एकान्त पर्वतकी गुफामें निर्विकल्पक समाधिमें सुप्तबुद्धि पुरुष स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

निर्विकल्पक समाधिमें निमग्नबुद्धि पुरुष न तो मृत्युसे दुःखको प्राप्त होता है और न जीवनसे सुखको ही प्राप्त होता है । वह किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करता और न किसीसे द्वेष ही करता है । वह वासनाशून्य होकर समाधि-स्थित रहता है ॥ ३३ ॥

इस सर्गमें कहीं गई बातोंका संक्षिप्तरूपसे उपसंहार करते हैं—**'मरण०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन-मरण तथा जन्मको जीर्ण तृण समझता हुआ इच्छा-शून्य तथा वासनासे रहित जीवन्मुक्त पुरुष विदितवेद्य होनेपर भी अतिमूढकी तरह भयशून्य हो इस संसारमें ऐसे निवास करता है, जैसे अचल ॥ ३४ ॥

एक सौ एक सर्ग समाप्त

द्व्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

परिज्ञाते परे वस्तुन्यनादिनिधनात्मनि ।
संपद्यते वद ब्रह्मन् कीदृशः पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु संपद्यते कीदृग्ज्ञातज्ञेयो नरोत्तमः ।
यावज्जीवं कथं चैव किमाचारोऽवतिष्ठते ॥ २ ॥

उपला अपि मित्राणि बन्धवो वनपादपाः ।
वनमध्ये स्थितस्याऽपि स्वजना मृगपोतकाः ॥ ३ ॥

एक सौ दो सर्ग

[तत्त्वज्ञानीकी लक्षणावलिका, जिसके दृढ़ अभ्याससे बोध दृढ़ हो जाय, पुनः वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हेब्रह्मन्, आदि और अन्तसे शून्य परम तत्त्व ब्रह्म वस्तुका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर उत्तम पुरुष किन-किन लक्षणोंसे विशिष्ट (युक्त) हो जाता है, यह कृपा कर कहिये ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञेय वस्तुका जिसे भलीभाँति परिज्ञान हो चुका है ऐसा जीवन्मुक्त नरोत्तम कैसा होता है और जीवन-पर्यन्त वह किस तरहके स्वभावसे तथा किस आचारसे युक्त होकर अवस्थित रहता है, यह [मैं आपसे कहता हूँ] आप सुनिये ॥ २ ॥

उन लक्षणोंमें स्वभावभूत आभ्यन्तर लक्षणोंको पहले कहनेके लिये उपक्रम करते हैं—'**उपला अपि**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जंगलके बीचमें रहते हुए भी उस जीवन्मुक्त पुरुषश्रेष्ठके पत्थर भी मित्र, वनके वृक्ष भी बन्धु तथा मृगोंके बच्चे ही स्वजन बन जाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि मित्र तथा पत्थर आदिमें संयोग तथा वियोग होनेपर भी उसकी स्थिति एक-सी बनी रहती है—मित्र आदिके संयोग और वियोगमें उसे हर्ष और दुःख नहीं होता ॥ ३ ॥

आकीर्णं शून्यमेवाऽस्य विपदश्चाऽतिसंपदः ।
स्थितस्याऽपि महाराज्ये व्यसनान्येव सूत्सवाः ॥ ४ ॥
असमाधिः समाधानं दुःखमेव महत्सुखम् ।
व्यवहारोऽपि सन्मौनं कर्माण्येवाऽत्यकर्मता ॥ ५ ॥
जाग्रदेव सुषुप्तस्थो जीवन्नेव मृतोपमः ।
करोति सर्वमाचारं न करोति च किंचन ॥ ६ ॥
रसिकोऽत्यन्तविरसो निर्घृणो बन्धुवत्सलः ।
निर्दयोऽत्यन्तकरुणो वितृष्णस्तृष्णयाऽन्वितः ॥ ७ ॥

महान् राज्यमें स्थित रहनेपर भी उस पुरुषके लिए मनुष्योंसे ठसाठस भरा स्थान भी बिलकुल शून्य है, उस महात्माके लिए आपत्तियाँ भी (धन तथा बन्धु आदिका नाश भी) सम्पत्तिरूप हैं। वध, बन्धन तथा परवशता आदि नाना प्रकारके दुःख ही उसके लिए महान् उत्सवके तुल्य रहते हैं यानी उन दुःखोंको वह जीवन्मुक्त महात्मा महान् उत्सवके समान मानता है ॥ ४ ॥

उसके लिए असमाधि भी समाधि है, दुःखको ही वह महान् सुख समझता है, उसका वाचिक व्यवहार होनेपर भी वह मौन है। यद्यपि उसके सभी कर्म होते ही हैं, फिर भी उसके वे सब कर्म अकर्मता ही है ॥ ५ ॥

वह जाग्रदवस्थामें स्थित रहनेपर भी सुषुप्त सदृश निर्विकल्पात्मामें स्थित रहता है। जीवित रहता हुआ भी अशरीरात्मभावमें स्थिति होनेसे मृत प्राणीके तुल्य है। समस्त आचार भी यह करता है, फिर भी अकर्ता आत्मामें प्रतिष्ठित होनेसे कुछ नहीं करता ॥ ६ ॥

उसकी विषयसुखोंमें एकमात्र आत्मसुखकी दृष्टि रहती है, इसलिए वह रसिक है, किन्तु विषयदृष्टिसे तो वह अत्यन्त विरक्त है। चूँकि किसी व्यक्तिविशेषमें वह स्वीयताबुद्धि नहीं रखता, इसलिए उसमें करुणा तो है ही नहीं, किन्तु स्वात्मताबुद्धिसे निरुपाधि प्रेम होनेके कारण वह बन्धुओंमें वत्सल है। दयाविषय द्वितीय वस्तुको वह नहीं देखता, इसलिए दयाशून्य है, लेकिन अपने शरीरकी उपमा द्वारा वह दूसरेके शरीरमें भी सुख-दुःखका अवलोकन करनेसे अत्यन्त करुणासे युक्त है। इसी तरह परिपूर्ण होनेसे वह तृष्णासे शून्य है, किन्तु अज्ञ जनोंका उद्धार करना उसका स्वभाव है, अतः उनके हितकी तृष्णासे अन्वित है ॥ ७ ॥

सर्वाभिनन्दिताचारः सर्वाचारबहिष्कृतः ।
वीतशोकभयायासः सशोक इव लक्ष्यते ॥ ८ ॥
तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते तु सः ।
परमुद्वेगमापन्नः संसृतौ रसिकोऽपि सन् ॥ ९ ॥
नाऽभिनन्दति संप्राप्तं नाऽप्राप्तमभिवाञ्छति ।
आस्तेऽनुभूयमानेऽर्थे न च हर्षविषादयोः ॥ १० ॥
दुःखिते दुःखितकथः सुखिते सुखसंकथः ।
आस्ते सर्वास्ववस्थासु हृदयेनाऽपराजितः ॥ ११ ॥
कर्मणः सुकृतादन्यदस्मै किंचिन्न रोचते ।
स्वभाव एव महतां ननु यन्न विचेष्टितम् ॥ १२ ॥

'किमाचारोऽवतिष्ठते' इससे पूछे गये बाह्य वर्णन करते हैं—'सर्वाभि०' इत्यादिसे ।

सर्वाभिनन्दित आचारोंसे युक्त होनेपर भी वह समस्त आचारोंसे बहिष्कृत है। शोक, भय तथा आयाससे रहित होनेपर भी वह अज्ञ जनोंका दुःख देखकर उनके लिए शोक करता है, अतः शोकयुक्त-सा दीखता है ॥ ८ ॥

न तो उस जीवन्मुक्त प्राणीसे संसार भयभीत होता है और न वही संसारसे भीत होता है। अन्य जनकी दृष्टिमें संसारमें रसिक (अनुरक्त) होकर भी वह संसारसे परम उद्विग्न यानी वैराग्यको प्राप्त हुआ रहता है ॥ ९ ॥

वह जीवन्मुक्त पुरुष सम्प्राप्त हुई वस्तुका न तो अभिनन्दन करता है, और न अप्राप्तकी अभिलाषा करता है तथा हर्ष और विषादमें कारणभूत पदार्थके अनुभूत होनेपर भी वह सज्जन हर्ष तथा विषाद नहीं करता ॥ १० ॥

किसी दुःखी प्राणीको देख लेनेपर उसके साथ बैठकर उससे दुःखित प्राणीको कथा तथा किसी सुखसम्पन्न पुरुषके मिल जानेपर उससे सुखकी कथा कहता जाता वह विवेकी महात्मा हृदयसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सुख एवं दुःखसे अभिभूत न हो सदा एक-सा स्थित रहता है ॥ ११ ॥

सुकृत कर्मसे अन्य उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अशास्त्रीय चेष्टासे जो शून्य होना है वह उन महात्माओंका स्वभाव ही है अर्थात् महात्माका यह स्वभाव ही है कि वे लोग शास्त्रवर्जित चेष्टा कभी नहीं करते ॥ १२ ॥

नाऽऽलम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित् ।
नाऽर्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥ १३ ॥
यथाशास्त्रव्यवहृतैः सुखदुःखैः क्रमागतैः ।
अनागतोऽपि चाऽऽयाति न हर्षं न विषादिताम् ॥१४॥
संप्रहृष्टाश्च लक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते दुःखितास्तथा ।
न स्वभावं त्यजन्त्यन्तः संसाराभटीनटाः ॥ १५ ॥
आत्मीयेष्वर्थजातेषु मिथ्यात्मसु सुतादिषु ।
बुद्बुदेष्विव तोयानां न स्नेहस्तत्त्वदर्शिनाम् ॥ १६ ॥
अस्नेह एव सुघनस्नेहार्द्रहृदयो यथा ।
वत्सलां दर्शयन् वृत्तिं ज्ञस्तिष्ठति यथाक्रमम् ॥ १७ ॥

वह जीवन्मुक्त महात्मा न तो किसीमें आसक्तिका अवलम्बन करता है और न कहीं विरक्तिका ही अवलम्बन करता है। वह धनोंके लिए अर्थी यानी याचक होकर इधर-उधर नहीं भटकता फिरता। वह वीतराग होकर भी रागयुक्त-सा मालूम पड़ता है ॥ १३ ॥

शास्त्रानुकूल व्यवहारसे क्रमशः प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे संस्पृष्ट न होनेपर भी उनका स्पर्श-सा करता है तथा उनसे वह हर्ष या विषादिताको कभी प्राप्त नहीं होता है ॥ १४ ॥

सुख और दुःखसे वह एक तरहसे स्पृष्ट-सा होता है, यह जो ऊपर कहा है, उसका हेतुके प्रदर्शन द्वारा विवरण करते हैं—'संप्रहृष्टाश्च' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा लोग सुख-दुखके कारणोंसे प्रसन्नचित्त तथा दुःखित अवश्य भासते हैं, परन्तु अपने निरतिशयानन्दप्रतिष्ठासे उत्पन्न धैर्यपूर्ण स्वभावका वे कभी परित्याग नहीं करते, क्योंकि वे लोग संसाररूपी नाट्यशालाके नट हैं ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वदर्शी महात्माओंको मिथ्याभूत पुत्र आदि अलीक पदार्थसमूहोंसे ऐसे ही स्नेह नहीं होता, जैसे कि जलोंके बुद्बुदोंमें ॥ १६ ॥

स्नेहरहित होनेपर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष सुघन स्नेहसे आर्द्र हृदयवालेके समान यथायोग्य अपनी वत्सलता दर्शाता हुआ स्थित रहता है ॥ १७ ॥

परन्तु अज्ञानी लोग तत्त्वज्ञानियोंकी तरह अनासक्तिपूर्वक विषयोंका भोग करना नहीं जानते, यह कहते हैं—'वायूनिव' इत्यादिसे।

वायूनिव प्रवाहस्थाः स्पृशन्ति विषयान् मुधा ।
देहसत्ताविषान्मूढा लीयन्ते विषयोदरे ॥ १८ ॥
बहिः सर्वसमाचारमन्तः सर्वार्थशीतलम् ।
नित्यमन्तरनाविष्ट आविष्ट इति तिष्ठति ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

स्वरूपमीदृशं तस्य को वेत्ति मुनिनायक ।
वद सत्यमसत्यं वा भवत्यज्ञो ह्यपीदृशः ॥ २० ॥
अश्ववद् ब्रह्मचर्येण चरन्तोऽचारुचेतसः ।
मिथ्या तपस्विदार्ढ्याय भवन्त्येवंविधा मुने ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, लेकिन अज्ञानी लोग तो देहात्मसत्तारूपी विषसे मूर्छितसे होकर कामादि-सन्तापकी शान्तिके लिए अत्यधिक आसक्तिके कारण विषयोंके उदरमें लीन होते हैं तथा विषयोंके उदरमें लीन होते हुए भी वे उन विषयोंका कुछ थोड़ा-सा ऐसे ही स्पर्श कर पाते हैं, जैसे कि प्रतप्त वैतरणी नदीके प्रवाहमें पड़े नरकीय पुरुष ऊपर भागसे कुछ थोड़ा-सा व्यर्थ वायुओंका स्पर्श कर पाते हैं। तत्त्वतः विषयका अनुभव करके वे विश्रान्तिको नहीं प्राप्त कर सकते, यह अभिप्राय है ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष बाहरसे समस्त शिष्टोंके आचारोंको करता हुआ भी भीतर समस्त अर्थोंसे शीतल बना रहता है। वह सदा भीतर सबसे अनाविष्ट पृथक् होकर भी आविष्ट-सा स्थित रहता है ॥ १९ ॥

उक्त लक्षणोंसे तत्त्वज्ञानीका परिचय होना बड़ा कठिन है। क्योंकि मूर्ख, दाम्भिक, वञ्चक, तपस्वीमें भी बलात् सम्पादित हुए इन लक्षणोंका दर्शन हो सकता है, यों श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'स्वरूप०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, तत्त्वज्ञानीका ऐसा स्वरूप सत्य है या असत्य इसको कौन जान सकता है। यह कहिये, क्योंकि आपके द्वारा कहे गये लक्षणोंसे युक्त दाम्भिक अज्ञानी पुरुष भी इस लोकमें देख पड़ता है ॥ २० ॥

हे मुने, अश्वकी तरह ब्रह्मचर्यव्रतका परिपालन करते हुए कलुषित चित्तवाले अज्ञानी दाम्भिक पुरुष भी ज्ञानी महानुभावोंकी नकलकर झूठमूठमें अपनी दृढ़ तपस्विता दिखलानेके लिए यानी मिथ्या परिकल्पित अपनी तपस्याकी दृढ़ प्रख्याति

वसिष्ठ उवाच

असत्यं वाऽस्तु सत्यं वा स्वरूपं वरमीदृशम् ।
विद्धि वेदविदां त्वेष स्वभावानुभवस्थितः ॥ २२ ॥
अनाविष्टा विचेष्टन्ते वीतरागाः सरागवद् ।
गतहासा हसन्त्यज्ञान् सहसा करुणाकुलाः ॥ २३ ॥
चित्तादर्शगतं दृश्यं सर्वं कपटकुट्टिमम् ।
पश्यन्त्यसत्परिज्ञातं स्वप्ने हेमेव हस्तगम् ॥ २४ ॥
अन्तःशीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन ।
दूराच्चन्दनदारूणामामोदमिव जन्तवः ॥ २५ ॥

करनेके लिए अर्थात् मुझे संसार बहुत बड़ा तपस्वी समझे, इस आशयसे ऐसे होते हैं ॥ २१ ॥

अपनेको तपस्वी बतलानेके लिए दृढ़ किए गये इन लक्षणोंका फल शुभ ही होता है, इसलिए उन लक्षणोंसे युक्त पुरुषोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । क्योंकि वैसे पुरुषोंका अनुसरण करनेपर स्वभावसिद्ध लक्षणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी भी अचानक कहीं लब्ध हो जाता है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'असत्यं वा'० इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चाहे असत्य हो चाहे सत्य, किन्तु ऐसा स्वरूप हर हालतमें अच्छा ही है यानी दुर्लभ होनेसे उक्त लक्षणोंसे सम्पन्न स्वरूप श्रेष्ठ ही है । कहनेका तात्पर्य यह है कि उन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुषकी उपेक्षा अनुचित है, चाहे भले ही वह दाम्भिक क्यों न हो । और जो वेदार्थतत्त्ववित् पुरुष हैं उनमें तो ये लक्षण स्वभावानुभव बलसे ही प्रतिष्ठित होते हैं । हठात् सम्पादित नहीं होते ॥ २२ ॥

वीतराग तथा क्रियाके फलोंमें आसक्तिशून्य भी वे जीवन्मुक्त पुरुष रागीके समान चेष्टा करते हैं, अत्यन्त दयामय वे हास रहित होते हुए भी हाससे युक्त होकर अज्ञानियोंके ऊपर हँसते हैं ॥ २३

वे लोग समस्त दृश्यको चित्तरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित कपट भूमिके तुल्य ऐसे ही असत् देखते हैं जैसे कि स्वप्नमें परिज्ञात हस्तगत सुवर्णको असद्रूप देखते हैं ॥ २४ ॥

जैसे चन्दनकी लकड़ीकी सुगन्धको कृमि, कीट आदि जन्तु दूरसे नहीं जान

ये तु विज्ञातविज्ञेयास्तादृशाः पावनाशयाः ।
जानन्ति तांस्तथैवाऽन्तरहेः पादानिवाऽहयः ॥ २६ ॥
भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः ।
ग्राम्यैर्धनैः किलाऽनर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे ॥ २७ ॥
तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषां न दर्शने ।
निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाऽङ्ग ते ॥ २८ ॥

पाते, वैसे ही इनकी उस अन्तःकरणकी शीतलताको कोई नहीं जान पाते ॥ २५ ॥

यद्यपि तत्त्वज्ञानीके स्वरूपको अज्ञानी नहीं जान सकते तथापि तत्त्वज्ञानी तो अवश्य ही जानते हैं, यह कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

जो विज्ञेय पदार्थका भलीभाँति ज्ञान कर चुके हों और उन्हींके समान पवित्र अन्तःकरणवाले ज्ञानी महानुभाव हैं, वे तो अपने अन्तःकरणमें उन्हें ठीक उसी तरहसे ऐसे जानते हैं, जैसे कि साँपोंके पैरोंको साँप जानते हैं ॥ २६ ॥

दाम्भिक लोग सर्वत्र अपनेमें तत्त्वज्ञके लक्षणोंका प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो सचमुच तत्त्वज्ञानी हैं, वे लोग अपने स्वरूपको छिपाये फिरते हैं; उन्हें इसकी चाट नहीं होती कि हमें सब लोग ज्ञानी समझें । हे श्रीरामजी, इसी विशेषता-से वे पहिचाने जा सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—**'भावम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे सर्वोत्तम ज्ञानी महानुभाव अपने उस उत्तम भावको छिपाये-फिरते हैं, क्योंकि गाँवों तथा नगर आदिके धनोंसे जो खरीदी नहीं जा सकती, ऐसी चिन्तामणिको भला बाजारमें बेचनेके लिए कौन फैलायेगा ॥ २७ ॥

जैसे बेचनेके लिए बाजारमें फैलाई गई चिन्तामणिको कोई भी नहीं कह सकता कि यह असली चिन्तामणि है वैसे ही जबर्दस्ती अपने गुणका प्रचार करने करानेवालोंको सभी लोग जान जाते हैं कि यह दाम्भिक है—संसारको धोखा देता है । वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानी नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'तस्मिन्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी. उन तत्त्वज्ञानी महानुभावोंका अपने गुणोंको छिपा रखनेमें ही तात्पर्य रहता है । दूसरों द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति करानेमें नहीं, क्योंकि वे लोग वासनासे शून्य, द्वैतरहित एवं अभिमानसे रहित होते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ २८ ॥

एकान्तामानदौर्गत्यजनावज्ञमयस्तु तान् ।
सुखयन्ति यथा राम न तथैव महर्द्धयः ॥ २९ ॥
स्वसंवेदनसंवेद्यसारा विदितवेद्यता ।
नैषा दर्शयितुं शक्या दृश्यते न च तद्विदा ॥ ३० ॥
गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे ।
इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥ ३१ ॥
क्रियाफलानि चिद्व्योमगमनादीनि राघव ।
अज्ञानामपि सिध्यन्ति मन्त्रौषधिवशादिह ॥ ३२ ॥
यो यादृक् क्लेशमाधातुं समर्थस्तादृगेव सः ।
अवश्यं फलमाप्नोति प्रबुद्धोऽस्त्वज्ञ एव वा ॥ ३३ ॥
आमोदश्चन्दनस्येव स्पन्दनस्य फलं हृदि ।
सर्वस्यैवाऽस्ति तन्नूनं तद्गता समवाप्यते ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन महात्माओंको एकान्त सेवन, सत्कार एवं पूजन आदिका अभाव, दरिद्रता तथा मनुष्यों द्वारा अपमान—ये सब जैसे सुखी बनाते हैं वैसे बड़ी-बड़ी ऋद्धि-सिद्धियाँ सुखी नहीं बनातीं, क्योंकि सम्मान तथा धन आदिकी समृद्धि होनेपर जनसमाजके द्वारा प्राप्त हजारों प्रतिष्ठा आदिसे तत्त्वज्ञानीके आत्मसुखानुभवमें विच्छेद पड़ने लगता है ॥ २९ ॥

विदितवेद्यताका (तत्त्वज्ञताका) जो सार (निरतिशय आनन्दरूप सार) है, वह एकमात्र स्वानुभवसे ही ज्ञेय है। वह किसी दूसरेको दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उस आदमीको भी वह नहीं दिखाई देता जो उसके स्वरूपको जानता है, किन्तु स्वप्रकाशरूपसे वह अनुभूत होता है ॥ ३० ॥

मेरे इस गुणको संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा अहंकारियों-को होती है, जीवन्मुक्त विवेकियोंको नहीं होती ॥ ३१ ॥

हे राघव, इस संसारमें आकाशगमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे सब मन्त्र, ओषधिके वशसे अज्ञानियोंको भी अक्सर प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

जो जैसा क्लेश सहन करनेमें समर्थ है, वैसा ही वह अवश्य फल प्राप्त करता है। चाहे वह प्रबुद्ध हो या अज्ञानी हो ॥ ३३ ॥

चन्दनके आमोदकी तरह विहित और निषिद्ध कर्मोंका फल सभी जन्तुओंके अपने हृदयमें ही अपूर्वरूपसे विद्यमान है। समय पाकर आविर्भूत हुए उसे, अवश्य

अहन्तावासनाद्वैतं वस्तुता दृश्यवस्तुषु ।
यस्याऽस्त्यसौ साधयति खगमादिक्रियाफलम् ॥ ३५ ॥

इदं न किञ्चिद्भ्रान्तिर्वा खं चेति ज्ञस्तु वेत्ति यः ।
सोऽवासनः कर्मवात्याः कथं साधयति क्रियाः ॥ ३६ ॥

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३७ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ।
यदुदारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः ॥ ३८ ॥

जगदेव तृणं यस्य न किंचिद्रज एव वा ।
किं नाम तस्य भवतु अन्यदादेयतां गतम् ॥ ३९ ॥

तद्वान् जन्तु प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

सिद्धिरूप दृश्य वस्तुओंमें 'मैं भोक्ता होऊँ' इस प्रकार अहन्ता वासनादिरूप परिच्छिन्न आत्मकल्पना जिसके भीतर विद्यमान है, वह आकाशगमन आदि क्रिया-फलको सिद्ध कर लेता है ॥ ३५ ॥

जो ज्ञानी यह सब आकाशगमन आदि सिद्धिसमूह तुच्छ है और मनोभ्रममात्र है अथवा अधिष्ठान चिदाकाशमात्र है यह जानता है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मरूपी आँधीसे भ्रमणप्राय आकाश-गमन आदि सिद्धि-फलवाली मन्त्रौषधादि क्रियाओंकी क्यों सिद्धि करने जायगा ॥ ३६ ॥

तत्त्वज्ञानीका इस संसारमें न तो कर्मसे ही कोई प्रयोजन है और न कर्माभावसे कोई प्रत्यवायप्राप्तिरूप अनर्थ है तथा ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें इस विवेकीका, किसी आत्मप्रयोजनकी अपेक्षा करके, आश्रयणीय कोई भी नहीं है ॥ ३७ ॥

पृथिवीपर, स्वर्गमें देवताओंमें, अन्तरिक्ष या कहींपर भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उदारचेता तत्त्वज्ञानीके लोभके लिए हो यानी उसे लुभा सके ॥ ३८ ॥

जिसके लिए सारा संसार तृणके बराबर है, जिसमें रजोगुणका लेश भी नहीं है, उस धीर तत्त्वज्ञानी महात्माके लिए आत्मासे अन्य यानी अनात्मभूत क्योंकर उपादेय होगा ? ॥ ३९ ॥

निर्वाहितजगद्यात्रः परिपूर्णमना मुनिः ।
यथास्थितमसावास्ते संप्रयाति यथागतम् ॥ ४० ॥
नित्यान्तःशीतलो मौनी सत्त्वीभूतमनोवनिः ।
परिपूर्णार्णवाकारो गम्भीरप्रकटाशयः ॥ ४१ ॥
रसायनपरापूर्णह्रदवत् ह्लादमात्मनि ।
धत्ते करोति वाऽन्यस्य सकलेन्दुरिवाऽमलः ॥ ४२ ॥
मन्दारमञ्जरीकुञ्जपिञ्जरा देवभूमयः ।
न तथा ह्लादयन्त्येता यथा पण्डितबुद्धयः ॥ ४३ ॥
चन्द्रबिम्बैर्वसन्तैश्च महतामहताशयैः ।
सारं सौभाग्यसौगन्ध्यसौरभालोकभोगिषु ॥ ४४ ॥

लोकसंग्रहके लिए जगत्के व्यवहारोंका पूर्णरूपसे निर्वाह करनेवाले परिपूर्णमना मननशील, जीवन्मुक्त पुरुष स्वस्वरूपमें ज्योंका त्यों स्थिर होकर यथाप्राप्त शिष्टाचारका अनुसरण करता है ॥ ४० ॥

अन्तःकरणमें शीतल, मौनी, सत्त्वगुणमय मनवाला ज्ञानी पुरुष सर्वदा परिपूर्ण सागरके समान गम्भीर एवं प्रकट आशयवाला रहता है ॥ ४१ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृतसे भरे सरोवरके समान अपने आत्मामें स्वयं आनन्दकी हिलोरें लेता रहता है तथा निर्मल परिपूर्ण चन्द्रमाके समान दूसरेको भी आनन्द प्रदान करता रहता है ॥ ४२ ॥

वह अन्यको आनन्दप्रदान करता है, इसका स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं—'**मन्दार**' इत्यादिसे ।

मन्दारकी मञ्जरीके कुञ्जोंसे पिञ्जर देवताओंके नन्दनवनकी भूमि मनुष्यको वैसा आनन्द नहीं दे सकती, जैसा कि आह्लाद उपदेश आदि द्वारा पण्डितोंकी बुद्धियाँ देती हैं ॥ ४३ ॥

सारग्राही विवेकी पुरुष ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी आलोकभोगियोंमें चन्द्रबिम्बोंसे, सौगन्ध्यभोगियोंमें वसन्तसे तथा सौभाग्यभोगियोंमें तत्त्ववेत्ताओंके रागादिसे अनुपहत आशयोंसे सार ग्रहण करता है ॥ ४४ ॥

तत्त्वज्ञानियोंके आशयोंसे किस सारका ग्रहण करता है, यदि कोई यह पूछे, तो इसका उत्तर यह है कि वह सबसे पहले जगत्को मिथ्या देखता है उसके बाद

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वमिन्द्रजालमसन्मयम् ।
त्यजतीति विनिश्चित्य दिनानुदिनमेषणाः ॥ ४५ ॥
शीतातपादिदुःखानि निजदेहगतान्यपि ।
अन्यदेहगतानीव ज्ञः पश्यत्यवहेलया ॥ ४६ ॥
करुणोदारया वृत्त्या वृत्त्या व्रततिधीरया ।
नीरसो नीरसारां तु सारतां सरति स्थितिम् ॥ ४७ ॥
व्यवहारं यथाप्राप्तं लोकसामान्यमाचरन् ।
चराचराणां भूतानामुपर्येवाऽवतिष्ठते ॥ ४८ ॥

क्रमशः समस्त अपनी इच्छाओंका त्यागकर देता है, यह कहते हैं—'भ्रान्तिमात्रम्' इत्यादिसे ।

सर्वप्रथम वह सारग्राही महात्मा यह सारा विश्व इन्द्रजालके समान असन्मय एकमात्र भ्रान्तिरूप ही है, इस प्रकारका निश्चय करके दिन-प्रति-दिन अपनी इच्छाओंका त्याग करता जाता है ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् शीतोष्णादि द्वन्द्वकी सहिष्णुतारूप यानी सर्दी-गर्मीका जो सहन करना है, तद्रूप सारको ग्रहण करता है, यह कहते हैं—'शीता०' इत्यादिसे ।

अपने शरीरमें प्राप्त भी शीत, आतप आदि दुःखोंको ज्ञानी पुरुष अन्य देहस्थके समान अनादरसे देखता है ॥ ४६ ॥

तदनन्तर समस्त भूतोंके ऊपर अनुकम्पास्वरूप दृढ़ अवलम्बन, यथाप्राप्त जलमात्रसे भी सन्तोष कर लेना इत्यादि जो गुण हैं, तद्रूप सारको ग्रहण करता है, यह कहते हैं—'करुणोदारया' इत्यादिसे ।

एकमात्र दूसरेके उपयोगके लिए पुष्प-फल आदि धारण करनेवाली लताके सदृश, करुणाके कारण उदार वृत्तिसे अन्य दुःखी प्राणीका परिपालन करता है तथा स्वयं विरक्त होकर वह, जो मिल जाय उससे सन्तोष कर लेना इस तरहकी उत्तम-वृत्तिसे जिसमें सन्तोषका हेतु एकमात्र जल ही रहता है, वैसी वृत्तिसे स्थितिरूप सारताको प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

यथाप्राप्त लोकसामान्य व्यवहारका सम्पादन करता हुआ वह जीवन्मुक्त विवेकी पुरुष समस्त चराचर प्राणियोंके ऊपर (उत्कर्षमें अथवा ऊर्ध्वमूलभूत ब्रह्ममें) अवस्थित रहता है ॥ ४८ ॥

ज्ञानीकी ऊपर स्थिति कैसे रहती है, यह दिखलाते हैं—'प्रज्ञाप्रासाद०' इत्यादिसे ।

प्रज्ञाप्रासादमारूढस्त्वशोच्यः शोचते जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४९ ॥
चिरं कल्लोलवलितः सुमना जलधौ भ्रमे ।
परं पारमुपागत्य परां विश्रान्तिमेति सः ॥ ५० ॥
हसन् स शान्तया वृत्त्या प्राक्तनीर्जागतीर्गतीः ।
स्मयमान इवाऽऽस्तेऽन्तर्जनताश्च घनभ्रमाः ॥ ५१ ॥
एताः कान्तारनिर्मग्नमिताः संसारदृष्टयः ।
असत्यो हृतवत्यो मामित्यन्तर्याति विस्मयम् ॥ ५२ ॥
दृष्ट्वाऽष्टगुणमैश्वर्यमनिष्टं मे तृणायते ।
इत्युपैत्युपशान्तत्वात्स्मयमानोऽपि न स्मयम् ॥ ५३ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी प्रासादके ऊपर आरूढ़ होकर स्वयं अशोच्य हो अज्ञानियोंके विषयमें शोक करता है । वह सबको ऐसे देखता है, जैसे पर्वतपर खड़े मनुष्य भूमिपर स्थित जनोंको देखते हैं ॥ ४९ ॥

उसी समय वह चिरकालसे पीछे पड़े रागादि विक्षेपरूप दुःखोंसे मुक्त होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है, यह कहते हैं—'**चिरम्**' इत्यादिसे ।

भ्रमरूपी सागरमें राग, द्वेष आदि लहरोंसे चिरकाल तक विक्षिप्त (लथेड़ा गया) वह निर्मल मनवाला पुरुष ज्ञान द्वारा पर पारको प्राप्त होकर परम विश्रान्तिको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

प्राक्तन संसारकी गतियोंको अतिशान्त वृत्तिसे हँसता हुआ तथा गाढ़ भ्रमसे परिपूर्ण यानी महान् अज्ञानसे भरे जनसमूहोंके प्रति अपने अन्तःकरणमें मुस्काता हुआ-सा स्थित रहता है ॥ ५१ ॥

ये असद्रूप सांसारिक दृष्टियां, जो जंगलमें रास्ता न मिलनेसे अन्धा बनकर इधर उधर भटक रहे अन्धपुरुषसे उपमित हैं, मुझे मोहित करती थीं, ऐसा विचार कर वह ज्ञानी पुरुष भीतर विस्मयको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

यह मेरा परम सौभाग्य है कि अष्टविध परिपूर्ण ऐश्वर्य मुझे अनिष्ट तथा तृणके समान अवभासित हो रहे हैं, ऐसा समझकर कुछ हँसता हुआ भी गर्व उपशान्त होनेसे गर्व नहीं करता है ॥ ५३ ॥

ज्ञानीके स्थानादिका नियम नहीं है, यह कहते हैं—'**कश्चित्**' इत्यादिसे ।

कश्चिद्गिरिगुहागेहः कश्चित्पुण्याश्रमाश्रयः ।
कश्चिद् गृहस्थाश्रमवान् कश्चिद्बहु रटन् स्थितः ॥ ५४ ॥
कश्चिद्भिक्षाचराचारः कश्चिदेकान्ततापसः ।
कश्चिन्मौनव्रतधरः कश्चिद्ध्यानपरायणः ॥ ५५ ॥
कश्चिद्विपश्चिद्विख्यातः कश्चिच्छ्रोता श्रुतेः स्मृतेः ।
कश्चिद्राजा द्विजः कश्चित्कश्चिदज्ञ इव स्थितः ॥ ५६ ॥
गुटिकाञ्जनखड्गादिसिद्धः कश्चिन्नभोगतः ।
कश्चिच्छिल्पकलाजीवी कश्चित्पामररूपभृत् ॥ ५७ ॥
कश्चित्त्यक्तसमाचारः कश्चिच्छ्रोत्रियनायकः ।
कश्चिदुन्मत्तचरितः प्रव्रज्यां कश्चिदाश्रितः ॥ ५८ ॥

कोई ज्ञानी पुरुष पर्वतोंकी गुफाको अपना घर बनाकर उसमें रहता है, कोई पवित्र आश्रममें रहता है, कोई गृहस्थ आश्रममें ही रहता है और कोई ज्ञानी तो सदा इधर-उधर घूमता रहता है। ज्ञानी पुरुषका कोई एक नियत स्थान नहीं रहता ॥ ५४ ॥

कोई भिखमंगोंके आचरणसे युक्त हो पर्यटन करता है, तो कोई एकान्तमें तपस्वी बनकर रहता है, तो कोई मौनव्रतधारी होकर रहता है और कोई महात्मा तो ब्रह्मध्यानमें ही परायण रहता है ॥ ५५ ॥

कोई विख्यात पण्डित होता है, तो कोई श्रुति-स्मृतिका श्रोता भी दीखता है। कोई राजा, तो कोई ब्राह्मण तथा कोई अज्ञानीके समान स्थित रहता है ॥ ५६ ॥

कोई गुटिका, अञ्जन या खड्ग आदिसे सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है तो कोई शिल्प कलासे अपनी जीविकाका सम्पादन करता है और कोई पामरके समान रूप धारणकर स्थित रहता है ॥ ५७ ॥

कोई समस्त आचारोंसे शून्य होता है, तो कोई आचार-अनुष्ठानमें श्रोत्रियोंका नायक होता है, कोई उन्मत्त पुरुषके तुल्य चरित्रवाला होता है और कोई संन्यास-धर्म धारण कर स्थित रहता है ॥ ५८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नवाक्यमें 'कीदृशः पुरुषोत्तमः' इस पदको सुनकर उसके अर्थकी जिज्ञासाकी संभावना करते हुए श्रीवसिष्ठजी पुरुषवर्णनपूर्वक उसमें उत्तमता दिखलाते हैं—'पुरुषो न' इत्यादिसे ।

पुरुषो न शरीरादि न च चित्तादि किञ्चन।
पुरुषश्चेतनं नाम न स नश्यति कर्हिचित् ॥ ५९ ॥
अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसावक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽसौ सनातनः ॥ ६० ॥
इति सम्यक्प्रबुद्धो यः स यथा यत्र तिष्ठति।
तथा तिष्ठतु तत्रात्र स्थानस्थानियमेन किम् ॥ ६१ ॥
पातालमाविशतु यातु नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमतु पेषणमेव येन
चिन्मात्रमेतदजरं न तु यातु नाश-
माकाशकोश इव शान्तमजं शिवं तत् ॥ ६२ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षो० निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे मरणाद्यभावोपदेशो नाम
द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

पुरुष शरीर आदि और चित्त आदि कुछ नहीं है, किन्तु वह एकमात्र चेतन ही है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता * ॥ ५९ ॥

यह चेतन पुरुष किसीसे छेदा नहीं जा सकता, कोई इसे जला नहीं सकता, कोई इसे जलसे भिगा नहीं सकता और कोई इसे सुखा भी नहीं सकता है; यह तो नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है ‡ ॥ ६० ॥

ऐसे पुरुषोत्तमके तत्त्वपरिज्ञानसे वह स्वयं भी तत्त्वज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तम है, न कि वर्णाश्रम-मर्यादाका परिपालन करनेसे, क्योंकि वर्णाश्रम मर्यादाका पालन न करनेपर भी उसकी पुरुषोत्तमतामें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती, इस आशयसे कहते हैं—'इति सम्यक्' इत्यादिसे।

इस प्रकार अच्छी तरह जो प्रबुद्ध हो गया वह जहां जैसे रहना चाहे वैसे ही यहां या वहां जहाँ कहींपर स्थित रहे, उसको वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाके परिपालनमें आस्था रखनेसे या किसी तरहके नियमसे कोई मतलब नहीं है ॥ ६१ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष जबर्दस्ती स्वयं नष्ट हो जानेकी इच्छासे पातालमें प्रवेश कर

---

* वह कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अविनाशी है, अतः वही उत्तम है।

‡ छेदन, भेदन आदि विनाशके कारणोंका संस्पर्श न रहनेसे भी वही उत्तम है।

त्र्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भामात्रं भानमात्रं वा शान्तं भासत एव च।
चिन्मात्रं यदनाद्यन्तं तस्य नाशः कथं कदा ॥ १ ॥

जाय, आकाशको लाँघकर उसके ऊपर चला जाय, दिग्मण्डलमें भ्रमण करे, जिससे कि मानसोत्तर लोकालोकादि पर्वतोंसे वह चूर्ण-चूर्ण हो जाय। परन्तु इसका जो चिन्मात्रस्वरूप है, वह अजर ही बना रहता है, कदापि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह तो आकाशकोशके सदृश सर्वदा शान्त, अज और शिवरूप ही है—उपप्लव रहित नित्य निरतिशयानन्दरूप ही है ॥ ६२ ॥

एक सौ दो सर्ग समाप्त

एक सौ तीन सर्ग

[चितिकी नित्यता, एकता तथा स्वातन्त्र्य का साधन तथा इस सत्-शास्त्रकी महिमा और हितोपदेशका वर्णन]

सबसे पहले चितिसामान्यकी अविनाशिताका सबके अनुभवबलसे साधन करते हैं—'**भामात्रम्**' इत्यादिसे

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें अन्तःकरणके साक्षीरूपसे तथा सुषुप्ति-दशामें अज्ञान, स्वप्नादिके साक्षीरूपसे प्रत्यगात्म प्रकाशमात्र अथवा विषय-प्रकाशमात्र सबको भासता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणसे और व्यवहारसे तथा स्मृति प्रमाणोंसे जो आदि एवं अन्तसे रहित, शान्त, चिन्मात्र है, वह तो सिद्ध ही है। उसका भला नाश किस कारणसे होगा ? यदि कहो, उससे असाधित कारणसे उसका नाश होगा सो उससे असाधित कारण ही प्रसिद्ध नहीं है और उसके द्वारा जो साधित है उसका तो वह उपजीवक है, इसलिए वह उसके नाशका हेतु कैसे हो सकता है ? अतः उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। यदि आप कालको उसके नाशका निमित्त बतावें, तो काल भी उसके नाशका निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि कालकी भी सिद्धि तो उसीके अधीन है, अतः उसका भी वह उपजीवक है ॥ १ ॥

अविनाशी पुरुष चिन्मात्रस्वरूप रहे, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'**तावन्मात्रम्**' इत्यादिसे।

तावन्मात्रं च पुरुषः कदाचित् स न नश्यति।
यदि नश्यति चिन्मात्रं भूयो जायेत किं कथम्॥ २ ॥
न चाऽन्यदन्यच्चिन्मात्रं क्वचित् किञ्चन कस्यचित्।
सर्वानुभवसादृश्ये कीदृशी नाम साऽन्यता ॥ ३ ॥
सर्वस्यैव हिमं शीतमुष्णोऽग्निर्मधुरं पयः।
चिन्मात्रस्याऽवदातस्य कीदृगन्यत्वमत्र तु ॥ ४ ॥

चूँकि पुरुष चिन्मात्रस्वरूप है, इसलिए कदापि वह नष्ट नहीं हो सकता। यदि चिन्मात्र नष्ट हो जाय, तो फिर क्या उत्पन्न होगा और कैसे उत्पन्न होगा ? ॥ २ ॥

यदि कोई कहे कि नाशके अनन्तर दूसरी चित् उत्पन्न हो जायगी, उससे पुनः सृष्टि होगी, तो इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे।

हेश्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्रसे भिन्न कोई दूसरा चिन्मात्र किसी प्रकार कदापि हो ही नहीं सकता, क्योंकि चिति तो एकमात्र अनुभवस्वरूप है, उसका पूर्व और उत्तरकालमें सर्वांशमें सादृश्य है। उसकी भला कैसी भिन्नता होगी ? अर्थात् वह अन्यता मिथ्या ही है ॥ ३ ॥ *

यदि कोई कहे कि पुरुषके भेदसे चित्का भेद होगा, तो उसपर कालभेदकी तरह पुरुषभेदसे भी चित्का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिम आदिमें शैत्य आदिकी तरह चितिमें भी किसीको विलक्षणताका अनुभव नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'सर्वस्यैव' इत्यादिसे।

जब सभी लोगोंको हिम शीतल है, अग्नि ऊष्ण है तथा दुग्ध मधुर है यों भासता है, तो फिर इस निर्मल चिन्मात्रमें ही भेद कैसे भासेगा ? ॥ ४ ॥

---

* भाव यह कि पूर्वकालकी चितिसे उत्तरकालकी चितिका भेद किंमूलक है ? क्या मध्यमें विच्छेदज्ञानसे उसकी कल्पना की जाती है या वह पहलीसे विलक्षण है, इसलिए भेदकी कल्पना की जाती है ? विच्छेदज्ञानसे वह अन्य नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव ही चित् है, अनुभव रहते विच्छेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। पूर्व चित्से वह विलक्षण भी नहीं है, क्योंकि यदि विलक्षण मानी जाय तो 'अचित्' हो जायगी। पूर्व और उत्तरकालकी चित्में सर्वांशमें अनुभवकी समानता है, अतः वह भिन्नता (अन्यता) कैसी ? अर्थात् पूर्व और उत्तर चित्की भिन्नता मिथ्या ही है।

शरीरनाशे नाशश्चेच्चिन्मात्रस्य तदुच्यताम् ।
हर्षस्थाने विषादः किं मरणे संसृतिक्षये ॥ ५ ॥
न च नाम शरीरस्य नाशे नश्यति चिन्नभः ।
देहे नष्टेऽपि बन्धूनां म्लेच्छैर्दृष्टा पिशाचता ॥ ६ ॥
यावच्छरीरसत्ता चेच्चेतनस्य तदुच्यताम् ।
शवः कस्मान्न चलति सत्यखण्डे शरीरके ॥ ७ ॥
पिशाचानुभवो जीवधर्मश्चेत्तत् स सर्वदा ।
किं न पश्यति किं बन्धौ मृते पश्यति तत्तथा ॥ ८ ॥
जीवधर्मो विशिष्टश्चेत्तादृशत्वं नरः कथम् ।
मिथ्या देशान्तरमृते पिशाचत्वं न पश्यति ॥ ९ ॥
तस्मात् सर्वात्मकं त्वेतच्चिन्मात्रं न नियन्त्रितम् ।
यद्यद्यत्र यथा वेत्ति तत्तत्तत्राऽवगच्छति ॥ १० ॥

सुख-दुःखरूप विशेष ज्ञानके सिवा चैतन्य कुछ नहीं है । विशेष्य ज्ञानमें अवच्छेदकता सम्बन्धसे शरीर कारण है । शरीरका नाश होनेसे ज्ञानका नाश माननेवाले चार्वाक और वैशेषिकोंकी शङ्का उभाड़कर उसका निराकरण करते हैं—'**शरीर०**' इत्यादिसे।

शरीरके नाशसे ही यदि चिन्मात्रका नाश हो गया, तो मरणसे ही संसारका नाश हो गया, फिर हर्षकी जगह विषाद क्यों ? ॥ ५ ॥

शरीरका नाश होनेपर चिदाकाश कभी नष्ट नहीं होता । क्योंकि बन्धुओंका शरीर नष्ट होनेपर भी म्लेच्छों द्वारा उनकी पिशाचता देखी गई है ॥ ६ ॥

जबतक शरीर है तभी तक चेतनकी भी सत्ता है, यदि यह कहा जाय, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अखण्डित शरीर रहनेपर भी मृतक क्यों नहीं चलता, इसका क्या उत्तर है ? ॥ ७ ॥

पिशाच देखना यदि जीवका धर्म है, तो फिर वह जीव सर्वदा पिशाच क्यों नहीं देखता । बन्धुके मृतक बन जानेपर ही क्यों देखता है ? ॥ ८ ॥

बन्धुमरणज्ञानविशिष्ट जीव है तथा पिशाचदर्शन उसका धर्म है, यदि ऐसा नियम हो, तो भी बन्धुके जीवित रहते ही मिथ्या देशान्तरमें उसकी कल्पित मृत्यु सुननेपर पिशाचताको मनुष्य क्यों नहीं देखता ॥ ९ ॥

इसीलिए चित्के भेद और विनाशका योग न होनेसे चिन्मात्र सर्वात्मक सिद्ध है,

अबाधितैवैकघना संविद्भवति यादृशी ।
तादृश्येवाऽनुभूतिर्हि तत्स्वभावोऽत्र कारणम् ॥ ११ ॥
अन्यन्न संभवत्यत्र सर्गादावेव कारणम् ।
यन्नाम तदिदानीं स्यात्कथ्यतां कीदृशं कथम् ॥ १२ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्ना न चैवाऽद्याऽवभासते ।
विकल्पश्रीर्जगद्भासा केवलं भाति चिन्नभः ॥ १३ ॥
आभासमात्रमेवेदं दृश्यमित्यवबुध्यते ।
दृश्यमित्यवबोधेन तदृते स्यात्क दृश्यता ॥ १४ ॥

वस्तुकृत परिच्छेदसे भी वह नियन्त्रित नहीं है। अतः जिस जिस वस्तुको चिति जब जहाँ जानती है, तब वहाँ अपने स्वरूपको ही तत् तत् वस्तुके रूपसे वह जानती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कोई भी वेद्य वस्तु चितिसे पृथक् नहीं है ॥ १० ॥

इस प्रकार सृष्टिके आरम्भमें सत्यसंकल्प होनेके कारण जिसके मार्गमें कोई विघ्नबाधा (रुकावट) उत्पन्न नहीं होती ऐसी संवित् अपने संकल्पानुसार जैसी ही होती है वैसी ही इस समय सब लोगोंकी अनुभूति है। संवित्का स्वभाव ही इसमें कारण है ॥ ११ ॥

सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी संवित्के सिवाय प्रधान (प्रकृति), परमाणु आदि सृष्टिके आरम्भमें कारण कदापि नहीं हो सकते। ब्रह्मसे अतिरिक्त जो भी कारण वादियोंको जँचता हो, कृपया वे उसका स्वरूप तथा उसके कारण होनेमें जो युक्ति हो, उसका उपपादन करें। मैं उनका झटपट श्रुति और युक्तियों द्वारा खण्डन करूँगा ॥ १२ ॥

यदि वादी प्रश्न करे कि कृपया आप ही बतलाइये आपका कैसा सिद्धान्त है, तो इसपर कहते हैं—'सर्गादा०' इत्यादिसे।

द्वैत न तो सृष्टिके आदिमें ही उत्पन्न हुआ और न आज ही इसका अवभास होता है, एकमात्र चिदाकाश ही जगत्के रूपसे प्रतीत होता है ॥ १३ ॥

यदि केवल चिदाकाश ही प्रतीत होता है, तो सब लोगोंको 'दृश्य' रूपसे किसका बोध होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'आभासमात्र०' इत्यादिसे।

यह आभासमात्र (विवर्तमात्र) 'दृश्य' रूपसे लोगोंको ज्ञात होता है। 'दृश्य' रूपसे ज्ञात हो रहे इस शुक्तिरजत, मरुनदी, आदिरूप विश्वकी चिदाकाशके बिना क्या कहीं सत्यता दिखाई दी ? ॥ १४ ॥

स्वचमत्कारचातुर्यं चारु चिन्नभसा रसात् ।
बोधेन बुध्यते दृश्यमित्यबोधान्न बुध्यते ॥ १५ ॥

बोधोऽबोधश्च तद्रूपमेवमेव निरामयम् ।
भेदोऽत्र वाचि न त्वर्थे तस्मान्नाऽस्त्येव दृश्यता ॥१६॥

या चाऽऽसीद्दृश्यतैषां तां विद्धि त्वमविचारणाम् ।
सा चेदानीं विचारेण विनष्टाऽतः क्व दृश्यता ॥ १७ ॥

अस्मिन्नेव धियो यत्न आत्मज्ञानविचारणे ।
यत्नेन परमोऽभ्यासः स लोकद्वयसिद्धिदः ॥ १८ ॥

चिदाकाश अपनी चमत्कार चातुरीको ही आसक्तिवश जाग्रत् और स्वप्नबोधसे 'दृश्य' समझता है और सुषुप्ति अवस्थामें बोध न होनेसे नहीं जानता है ॥ १५ ॥

वे बोध और अबोध कौन हैं? इस आशङ्कापर कहते हैं—'बोधः' इत्यादिसे।

बोध और अबोध चिदाकाशका ही निरामय (निर्विकार) रूप है, जड़का नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूपसे वह एक ही है। बोधके बिना अबोधका रूप ही प्रसिद्ध नहीं होता और बोध हो जानेपर अबोधका संभव नहीं है, इसलिए 'राहोः शिरः' (राहुका सिर) 'शिर एव राहुः' (सिर ही राहु) इसके समान केवल वाणीमात्रसे भेद है, किन्तु अर्थमें कुछ भेद नहीं है। इसलिए दृश्यता है ही नहीं ॥ १६ ॥

अथवा यह समझिये कि आत्मतत्त्वके अविचारसे ही चित्में दृश्यता थी और इस समय विचार करनेपर वह नष्ट हो गई है, ऐसा कहते हैं—'या च' इत्यादिसे।

जो इन लोगोंको दृश्यता थी, उसे आप अविचारणा जानिये यानी आत्मतत्त्वके अविचारका ही वह फल था और वह विचारसे अब नष्ट हो चुकी है, अतः दृश्यता कहाँ है ॥ १७ ॥

इसलिए विचारके लिए ही प्रयत्न करना चाहिये यह बात मैं अनेक बार कह चुका हूँ, ऐसा कहते हैं—'अस्मिन्नेव' इत्यादिसे।

इस आत्मज्ञानके विचारमें ही बुद्धिका यत्नपूर्वक उपयोग करना चाहिये। यत्नपूर्वक किया गया परम विचार इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सिद्धि देनेवाला है। सूत्रमें भी कहा है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (दुर्ज्ञेय आत्मसाक्षात्कार आवृत्तिविशिष्ट श्रवण आदि-

अविद्योपशमस्त्वेष जातोऽपि भवतामिह ।
अभ्यासेन विना साधो न सिद्धिमुपगच्छति ॥ १९ ॥
त्रोद्वेगं संपरित्यज्य गृहीत्वाऽनुदिनं क्षणम् ।
लोकद्वयहितं पथ्यमिदं शास्त्रं विचार्यताम् ॥ २० ॥
विज्ञातमप्यविज्ञातमात्मज्ञानमिदं भवेत् ।
भवतां भूरिभागानां संभूयाऽभ्यसनं विना ॥ २१ ॥

से साध्य है, अतः उसकी आवृत्ति करनी चाहिये), 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' (विद्यासे अविरुद्ध फलवाले फलोन्मुख कर्मसे प्रतिबन्धका अभाव होनेपर इस जन्ममें भी विद्योत्पत्ति हो सकती है, प्रतिबन्ध होनेपर जन्मान्तरमें भी हो सकती है, इस प्रकार अनियम है, उक्त अनियम श्रुतियोंमें देखा गया है) ॥ १८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि नित्य अपरोक्ष वस्तुके विषयमें प्रवृत्त उपदेशवचन एकबारकी प्रवृत्तिसे ही अज्ञानका विनाश कर वस्तुको प्रकट कर ही देगा, फिर अभ्यासकी क्या आवश्यकता है ? तो इसपर कहते हैं—'अविद्यो०' इत्यादिसे ।

हे सज्जन, यद्यपि आप लोगोंका यहाँपर यह अज्ञान विनष्ट हो चुका है फिर भी अभ्यासके बिना वह जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ १९ ॥

तो किस ग्रन्थको लेकर विचारका अभ्यास करना चाहिये जिससे जल्दीसे जल्दी बोध सिद्धिको प्राप्त हो सकता है, ऐसा यदि कोई पूछे तो उसपर कहते हैं—'त्रोद्वेगम्' इत्यादिसे ।

शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न पुरुषको आलस्य, बेचैनी आदि उद्वेग और उनके कारणभूत यथेष्ट भोजन, कुसंगति आदिका परित्याग कर और क्षणभरके लिए गुरुसेवा आदिका नियम लेकर इस महारामायण नामक शास्त्रका प्रतिदिन विचार करना चाहिये। यह इस लोक और परलोक—दोनों लोकोंमें हितकारी और कल्याणकारी है ॥ २० ॥

उसपर भी बहुतसे सहपाठियोंके साथ मिलकर अभ्यास करना आपसमें एक दूसरेके अनुभवके आदान-प्रदान द्वारा बहुत जल्द ज्ञानप्रतिष्ठाका हेतु है, ऐसा कहते हैं—'विज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यह आत्मज्ञान तरह तरहकी असंभावना, विपरीतभावना आदि रखनेवाले आप लोगोंके मिलजुल कर अभ्यास न करनेसे, ज्ञात होता हुआ भी, अज्ञातप्राय हो जाता है ॥ २१ ॥

यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा।
सोऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ २२ ॥

तस्मादस्मान्निवर्तध्वमसच्छास्त्रविचारणात् ।
शान्तिं प्राप्स्यथ सच्छास्त्राज्जयलक्ष्मीं यथा रणात् ॥ २३ ॥

विवेके चाऽविवेके च वहत्येषा मनोनदी।
यत्रैव वाह्यते यत्नात्तत्रैव स्थितिमृच्छति ॥ २४ ॥

अस्माच्छास्त्रादृते श्रेयो न भूतं न भविष्यति।
ततः परमबोधार्थमिदमेव विचार्यताम् ॥ २५ ॥

स्वयमेव विचार्येदं परो बोधोऽनुभूयते ।
संसाराध्वश्रमहरो न त्वेतद्वरशापवत् ॥ २६ ॥

ज्ञान दुर्लभ है, इस भयसे श्रवणका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं— 'यः' इत्यादिसे।

जो जिस वस्तुको चाहता है, उसके लिए यत्न करता है और वह यदि थक कर बीचमें ही अपना विचार न बदल दे, तो उसे अवश्य प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अनात्मशास्त्रोंके अभ्याससे विमुख हुए पुरुषोंको इस शास्त्रका अभ्यास करना चाहिये, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए असत् शास्त्रोंकी विचारणासे आप लोग निवृत्त हो जाइये। जैसे युद्धसे विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है वैसे ही इस सत्-शास्त्रके अभ्याससे आप लोगोंको अवश्य शान्ति प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

यह मनरूपी नदी विवेक और अविवेक दोनों ओर बहती है जिस ओर प्रयत्नसे (विरोधी दूसरे स्रोतको रोकनेके यत्नसे) बहाई जाय, वहींपर स्थिर हो जाती है ॥ २४ ॥

इस शास्त्रके सिवा विवेकका सर्वश्रेष्ठ साधन आजतक न तो कोई हुआ और न आगे होगा, इसलिए परम बोधकी प्राप्तिके लिए इसीका पुनः पुनः मनन करना चाहिए ॥ २५ ॥

जो पुरुष इस श्रेष्ठतम शास्त्रका विचार कर चुका है, उसे प्रत्यक्षरूपसे आत्म-तत्त्व बोधका, जो कि संसाररूपी मार्गकी थकावट दूर करनेवाला है, अनुभव होता है वरदान अथवा शापके समान चिरकालके विलम्बसे उसका अनुभव नहीं होता ॥ २६ ॥

यन्न पित्रा न वा मात्रा न चाऽपि सुकृतैः कृतम् ।
श्रेयस्तद्वः परिज्ञातमिदमाशु करिष्यति ॥ २७ ॥
भवबन्धमयी साधो विषमेयं विषूचिका ।
आत्मज्ञानादृते दीर्घा न कदाचन शाम्यति ॥ २८ ॥
महामोहमयी माया मिथ्यैवाऽहमिति स्थिता ।
शास्त्रार्थभावनेनाऽऽशु मुच्यतां परशोच्यता ॥ २९ ॥
यात माऽऽपातमधुरं व्योम व्योमैकरूपिणीम् ।
शून्यं वायुं लिहन्तोऽन्तर्लेलिहाना इवाऽहयः ॥ ३० ॥
यान्ति वो दिवसाः कष्टमविज्ञातगमागमाः ।
व्यवहारे हि तैरेव प्रतिपालयतां मृतिम् ॥ ३१ ॥
तावदाश्वासनैषाऽस्ति भवतां भवभागिनाम् ।
दिनानि कतिचिद्यावन्नाऽऽयाति मरणावधिः ॥ ३२ ॥

यह शास्त्र माता, पिता आदिकी भी अपेक्षा अत्यन्त हितकारी है, ऐसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

आपका जो हित पिताने नहीं किया या जो हित माँने नहीं किया अथवा जो हित पुण्योंने नहीं किया वह हित यह शास्त्र तुरन्त करेगा; यदि विचार द्वारा आप लोग इसे जान लें ॥ २७ ॥

हे सज्जनशिरोमणे, यह भवबन्धनरूपी विषय-विषूचिका असीम है, आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य उपायसे कभी भी इसका शमन नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

'अहम्' यों मिथ्या ही खड़ी हुई महामोहमयी मायाका और उक्त मायासे प्राप्त हुई अपरिमित शोचनीयताका शास्त्रार्थभावना द्वारा शीघ्र ही परित्याग कीजिये ॥२९॥

आरम्भमें आपाततः मधुर प्रतीत होनेवाले शून्यस्वरूप विषयोंका आस्वाद ले रहे आप लोग एकमात्र आकाशरूपिणी अपार सृष्टिकी ओर—भूखे अतएव रसशून्य वायुको चाट रहे सर्पोंके समान—न बढ़ें ॥ ३० ॥

बड़े खेदकी बात है, दिनों द्वारा ही मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे आप लोगोंके जीवनके सारे दिन व्यवहारमें ही व्यतीत होते हैं । कब दिन आया और कब गया यह भी आप लोगोंको ज्ञात नहीं होता ॥ ३१ ॥

कुछ ही दिनों तक जबतक कि आयुकी मरणरूप अवधि नहीं आती है, संसार-

आगच्छन्त्यां मृतौ कष्टं परितापमवाप्स्यथ ।
तं यत्राऽङ्गाङ्गविच्छेदः शीतचन्दनलेपनम् ॥ ३३ ॥
क्रीणन्ति प्राणपण्येन धनं मानं घनभ्रमाः ।
यथाशास्त्रैः कथं बुद्धया न क्रीणन्त्यजरं पदम् ॥ ३४ ॥
पदं परमयत्नेन क्रियते यैश्चिदम्बरे ।
कथं तैः सह्यतेऽज्ञानशत्रुपादः स्वमूर्धनि ॥ ३५ ॥
निर्मानमोहमापन्ना गतिं गच्छत माऽधमाम् ।
क्रियते स्वात्मबोधेन मूलकाषो महापदाम् ॥ ३६ ॥

सागरमें निमग्न हुए आप लोगोंके लिए सत् शास्त्रकी अवलम्बनयोग्यता द्वारा यह आश्वासन है ॥ ३२ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि उसके बाद क्य होगा ? तो इसपर कहते हैं—'आगच्छन्त्याम्' इत्यादिसे ।

दिनपरदिन समीपमें आ रही मृत्युके प्राप्त होनेपर ऐसा दुःख प्राप्त होगा कि जिसमें अङ्ग-अङ्गका छेदन भी शीतलचन्दनलेपके समान अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ३३ ॥

मूर्ख लोग युद्ध आदिमें प्राणोंकी बाजी लगाकर भी धन और विजयाभिमानका उपार्जन करते हैं, किन्तु वे विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि उपायोंसे प्राप्त हुई तत्त्व-बुद्धिसे अजर-अमर मोक्षपदका उपार्जन क्यों नहीं करते ? ॥ ३४ ॥

जो विवेकशील पुरुष अनायास (एकमात्र आत्मतत्त्वज्ञानसे) ब्रह्माकाशमें स्थान बनाते हैं, अज्ञानरूपी शत्रुका वध करनेमें समर्थ उन सर्वोत्कृष्ट पुरुषों द्वारा उत्तम शास्त्रकी उपेक्षासे अपने सिरपर अज्ञानरूपी शत्रुकी लात कैसे सही जा सकती है ? ॥ ३५ ॥

हे पुरुषो, आप लोग अभिमान तथा मोहसे रहित विवेकको प्राप्त होकर यानी तत्त्व जानकर मोक्षगतिको प्राप्त हों अधम संसारगतिको प्राप्त न हों । आत्मबोध द्वारा बड़ी-बड़ी विपदाओंकी जड़ खोदी जाती है ॥ ३६ ॥

यह वसिष्ठ चिरकालसे हम लोगोंके उद्बोधनमें कमर कसकर लगा है, मारे चिल्लाहटके इसका कण्ठ सूख गया है, यह बेचारा कण्ठ सूखने से बच जाय यों मेरे ऊपर दयासे मेरा वचन ध्यानसे सुनकर आप लोग अपना स्वरूप जानिये, यों अतिशय वात्सल्यवश कहते हैं—'प्रलपन्तम्' इत्यादिसे ।

प्रलपन्तमहोरात्रं युष्मदर्थेन मामिमम् ।
यं प्रदश्येदसाकर्ण्य स्वात्मनैवाऽऽत्मताऽप्यताम् ॥ ३७ ॥
अद्यैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः ।
संप्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥ ३८ ॥
अस्माद्ग्रन्थादृते ग्रन्थो नाऽन्यः स्वात्मावबोधने।
नूनमर्थकरो ग्राह्यस्तिलस्तैलार्थिनामिव ॥ ३९ ॥
आत्मज्ञानमिदं शास्त्रं प्रकाशयति दीपवत् ।
पितेव बोधयत्याशु कान्तेव रमयत्यलम् ॥ ४० ॥
विद्यमानमपि ज्ञानं ज्ञातं शास्त्रगणान्न यत् ।
दुर्बोधं मधुरं तत्तु ज्ञास्यन्तीतो न संशयः ॥ ४१ ॥

आप लोगोंके उद्बोधनके लिए जी-जानसे लगे हुए, आप लोगोंके लिए रात-दिन प्रलाप कर रहे, कण्ठ सूखने आदि क्लेशोंसे नित्य पीड़ित हो रहे मेरी (जगत्प्रसिद्ध इस वसिष्ठकी) ओर देखकर दयावश मेरे वचनोंको आदरसे सुनकर, उद्बुद्ध हो, देहेन्द्रियादि परिच्छिन्न आत्मभावका परित्याग कर यथार्थब्रह्मात्मता प्राप्त कीजिए ॥३७॥

आज ही आत्मज्ञानसे क्या प्रयोजन है आगे चलकर कभी आत्मज्ञान कर लेंगे यों सोचनेवालेके प्रति कहते हैं—'अद्यैव' इत्यादिसे ।

जो पुरुष आज ही मृत्युरूपी आपत्तिकी चिकित्सा (प्रतीकारका उपाय) नहीं करता वह मूढ़ मृत्युके सरपर सवार होनेपर व्याकुलावस्थामें क्या करेगा ? ॥३८॥

अपने असली स्वरूपका ज्ञान करानेकेलिए इस ग्रन्थको छोड़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है, इसलिये जैसे तैलार्थी (तेल चाहनेवाले) तिलोंका संग्रह करते हैं वैसे ही अपना कल्याण चाहनेवालोंको यह अभिलषित अर्थ देनेवाला है इस बुद्धिसे इस ग्रन्थका संग्रह करना चाहिये ॥ ३९ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य अध्यात्म ग्रन्थोंकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है ? तो इसपर कहते हैं—'आत्मज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यह शास्त्र (ग्रन्थ) दीपकी नाईं आत्मरूप ज्ञानको प्रकाशित करता है, पिताके समान हितोपदेश देता है और कान्ताके सामान अत्यन्त आनन्द देता है ॥ ४० ॥

नित्यप्राप्त भी जिस आत्मरूप ज्ञानको अनेक शास्त्रोंसे लोग नहीं जान सके, उस दुर्बोध मधुर ज्ञानको इस ग्रन्थके अभ्याससे जान जायँगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ४१ ॥

इदमुत्तममाख्यानं मुख्यानां शास्त्रदृष्टिषु ।
सुखेन बोधदं हृद्यमपूर्वं न तु किंचन ॥ ४२ ॥
नानाख्यानकथाचित्रं विनोदेन विचारयन् ।
इदं शास्त्रं परं याति पुमान्नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ ४३ ॥
यो ह्यद्याऽपि न संप्राप्तः पण्डितैरविखण्डितैः ।
स इतः प्राप्यते बोधः सुवर्णमिव सैकतात् ॥ ४४ ॥
शास्त्रकर्तरि मङ्क्तव्यं न कदाचन कुत्रचित् ।
शास्त्रार्थ एव तन्नित्यं युक्तियुक्तानुभूतिदे ॥ ४५ ॥

शास्त्रोंमें मुख्य आख्यानोंमें यह आख्यान सर्वोत्तम है यह अनायास ज्ञान देनेवाला अत्यन्त मनोहर एवं अनादि है। इसमें तत्त्ववेत्ताओंके सम्प्रदायमें प्रसिद्ध वस्तुसे अतिरिक्त स्वकपोलकल्पित कुछ भी वस्तु नहीं है ॥ ४२ ॥

विविध आख्यानों और कथाओंसे विस्मयजनक इस शास्त्रका कौतुकवश विचार करता हुआ पुरुष आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इसमें जरा भी संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत पण्डितोंको भी जो बोध (आत्मज्ञान) आजतक प्राप्त नहीं हुआ वह इस शास्त्रसे प्राप्त हो जाता है जैसे कि सोनेकी खानमें चालने, धोनेसे अलग किये गये बालूसे सुवर्ण प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

यदि कोई आशङ्का करे कि इसी शास्त्रसे यदि ज्ञान होता है, तो इस शास्त्रके रचयिताको किस शास्त्रसे ज्ञान हुआ ? जहाँसे उसे ज्ञान हुआ वहींसे हम भी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे। यदि इस शास्त्रके रचयिताने ज्ञान हुए बिना ही रचना की है तो इस शास्त्रसे ज्ञानोदयकी कौन आशा है ? इसपर कहते हैं—'शास्त्रकर्तरि' इत्यादिसे ।

यदि यह शास्त्र युक्तियुक्त न होता और विचार करनेपर अनुभूतिप्रद न होता तो इस शास्त्रके कर्ताको कहाँसे बोध हुआ यों उसके कर्तामें बोधके कारणोंकी छानबीनमें निरत होना ठीक होता। यह शास्त्र तो स्वतः हजारों युक्तियोंसे युक्त है और अनुभवप्रदान करनेवाला है। इसके विचारनेपर स्वानुभवसे ही सब शङ्काएँ निवृत्त हो जाती हैं, इसलिए इसीमें सदा निमग्न होना ठीक है। शास्त्रके रचयितामें बोध है या नहीं यह शङ्का कहीं कभी ध्यानमें नहीं लानी चाहिए ॥ ४५ ॥

अज्ञानान्मत्सरान्मोहादविचारिभिरेकता ।
अवहेलितशास्त्रार्थैः कर्तव्या नाऽऽत्महन्तृभिः ॥ ४६ ॥
जानाम्येव यथैवेमा यदहं त्वं यथा धियः ।
तथा बोधितकारुण्यात्स्वभावो हि ममेदृशः ॥ ४७ ॥
युष्मत्संविल्लवः शुद्ध एवं वक्तुमिह स्थितः ।
अहं नरो न गन्धर्वो नाऽमरो न च राक्षसः ॥ ४८ ॥

अतएव इस शास्त्रकी अवहेलना करनेवालोंके साथ भूल कर भी कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये, यह कहते हैं—'अज्ञानात्' इत्यादिसे।

अज्ञानसे, डाहसे अथवा मोहसे इस शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले अविवेकी आत्महत्यारों*के साथ कदापि मित्रता नहीं करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

यदि प्रश्न हो कि यदि ऐसा है, तो आप हम लोगों एवं अन्य अज्ञानियोंके साथ क्यों मित्रता करते हैं ? मित्रताके कारण ही तो आप दयावश उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं ? इसपर कहते हैं—'जानामि' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, ये श्रोता लोग जिस प्रकारके अधिकारी हैं, आप जैसे अधिकारी हैं और जैसी श्रवण-धारणाके अभ्यासमें पटु आप लोगोंकी बुद्धियाँ हैं एवं जैसे मैं आप लोगोंको उपदेश देनेके लिए आपके पिताजी द्वारा आज्ञप्त हुआ यह सब मैं भली भाँति जानता हूँ। अतः आप लोगोंके महाभाग्योदयसे जागी हुई करुणासे आप लोगोंको उपदेश देनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ, चूँकि मेरा स्वभाव ही ऐसा है, दीन जनोंमें मेरी दया सदा जागी रहती है, निष्ठुरताका तो मुझमें नाम तक नहीं है; इसलिए आप लोगोंका हित चाहनेवाले मेरे वचनोंपर आप लोग आदर करें, यह भाव है ॥ ४७ ॥

अथवा मैं आप लोगोंका आत्मा ही हूँ आप लोगोंके पुण्यसे शुद्ध आत्मतत्त्वका आप लोगोंको उपदेश देनेके लिए आया हूँ। और मेरे भी आप लोग परम प्रेमास्पद आत्मा ही हैं, इसलिए आप लोगोंका मित्र-सा हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं—'युष्मत्०' इत्यादिसे।

मैं न मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूं और न राक्षस हूँ, किन्तु आप लोगोंका शोधित संविद्रूप सूक्ष्मार्थ (आत्मा) हूँ तथा आप लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिए यहाँपर स्थित हूँ। हे श्रीरामजी, आप लोग भी संविद्रूप ही हैं, अति

---

* इस मोक्षशास्त्रकी अवहेलना करनेसे आत्मज्ञानकी अप्राप्ति ही आत्महत्या है।

संविन्मात्रा भवन्तो हि तद्भावोऽस्त्यतिनिर्मलः ।
स्थितोऽस्मीति भवत्पुण्यैर्ननु नाऽस्मि न चाऽपरः॥ ४९ ॥
श्यामायमाना नाऽऽयान्ति यावन्मरणवासराः ।
सारः संह्रियतां तावद्वैरस्यं वस्तुदृष्टिषु ॥ ५० ॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ ५१ ॥
सर्वभावेषु वैरस्यं न यावत्समुपागतम् ।
भावानां भावना तावत्तानवं नोपगच्छति ॥ ५२ ॥
आत्मानमलमुद्धर्तुं वासनातानवादृते ।
नास्त्युपायो महाबुद्धे कश्चनाऽपि कदाचन ॥ ५३ ॥

निर्मल संविद्रूप ही मैं आप लोगोंके पुण्योदयसे स्थित हूँ । मैं आप लोगोंकी आत्मासे अतिरिक्त नहीं हूँ ॥ ४८,४९ ॥

मैं आप लोगोंका अत्यन्त आप्त हूं, इसलिये जबतक रात्रिके समान अन्धकार पूर्ण मृत्युदिवस पासमें नहीं आते तब तक मेरे द्वारा कहा गया सब वस्तुओंमें वैराग्यरूप पहला सार पदार्थ बटोरकर रख लीजिये ॥ ५० ॥

जो पुरुष इसी लोकमें नरकरूपी व्याधिके प्रतीकारका उपाय नहीं करता, वह ओषधिरहित (जहाँ ओषधि दुर्लभ है) स्थानमें जाकर नरकरूपो रोगोंसे छटपटाता हुआ क्या करेगा ॥ ५१ ॥

यदि कोई आशङ्का करे कि वैराग्य ही परम सार क्यों है ? तो इसपर वैराग्यके बिना वासनाओंकी तनुता (अल्पता) की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'सर्वभावेषु' इत्यादिसे ।

जबतक सकल पदार्थोंमें वैराग्य नहीं प्राप्त होता तबतक पदार्थोंकी बासना कम (निवृत्त) नहीं होगी ॥ ५२ ॥

वासनाको निवृत्तिमें आपका इतना बड़ा आग्रह क्यों है ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'आत्मानम्' इत्यादिसे ।

हे महामते, आत्माका पूर्णरूपसे उद्धार करनेके लिए वासनाकी निवृत्तिको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय न कभी था और न होगा ॥ ५३ ॥

पदार्थोंके रहते उनकी वासनाकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'भावास्तु' इत्यादिसे ।

भावास्तु यदि विद्यन्ते तद्धि ते वस्तुभावना ।
किन्त्वेते नैव सन्तीह शशशृङ्गादयो यथा ॥ ५४ ॥
सर्व एव जगद्भावा अविचारितचारवः ।
अविद्यमानसद्भावा विचाराद्विशरारवः ॥ ५५ ॥
प्रामाणिकविचारेषु न विद्यन्ते कृतेषु ये ।
कथं सन्ति जगद्भावास्ते के सन्ति सदैव वा ॥ ५६ ॥
सर्व एव जगद्भावाः कारणाभावतो भृशम् ।
सर्गादावेव नोत्पन्ना यच्चेदं भाति तत्परम् ॥ ५७ ॥
पदे सर्वेन्द्रियातीते मनःषष्ठेन्द्रियात्मनाम् ।
भावानां कारणं नाऽस्ति मनःषष्ठेन्द्रियात्मकम् ॥ ५८ ॥

यदि पदार्थ सत्यरूपसे रहें तो उनमें से अपने अनुकूल पदार्थोंमें यह मेरे लिए आवश्यक है इसका मुझे सम्पादन करना चाहिये इत्यादि वासना होती है, किन्तु ये पदार्थ तो शशके सींग आदिकी तरह यहाँ हैं ही नहीं; जगत्में जितने पदार्थ हैं, उनपर जबतक विचार नहीं किया जाता तभी तक रमणीय प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनकी सत्ता है नहीं। विचार करनेपर वे सामने खड़े ही नहीं होते हैं, न मालूम कहाँ विलीन हो जाते हैं ॥ ५४, ५५ ॥

यद्यपि ये पदार्थ वेदान्तियोंके विचारमें नहीं हैं तथापि कपिल, कणाद आदिके विचारमें तो हैं ही, ऐसी अवस्थामें आपने उन्हें असत्य ही कैसे मान लिया ? इस शङ्कापर कहते हैं —'प्रामाणिक'० इत्यादिसे ।

प्रामाणिक विचार करनेपर जो जगत्पदार्थ नहीं टिकते हैं, वे कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? वे एक एक वस्तुरूप हैं या सर्ववस्तुरूप हैं, सदा ही रहते हैं, या कभी ही रहते हैं ? सभी प्रकारसे पहले सैकड़ों वार हम उनका खण्डन कर चुके हैं, यह अर्थ है ॥ ५६ ॥

सभी जगत्के पदार्थ कारणके अत्यन्ताभावसे सृष्टिके प्रारम्भमें उत्पन्न ही नहीं हुए, जो यह प्रतीत होता है वह परम ब्रह्म ही है ॥ ५७ ॥

कारणका अभाव कैसे है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'पदे' इत्यादिसे ।

सभी इन्द्रियोंसे अज्ञेय स्वप्रकाश चिदेकरस परब्रह्ममें मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे वेद्य होनेवाले पदार्थोंके मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे वेद्य कारणकी प्रलयकालमें संभावना तक नहीं की जा सकती है ॥ ५८ ॥

भावानां विविधाख्यानामनाख्यं कारणं कुतः ।
कुतो वस्तुन्यवस्तुत्वं व्योमन्यव्योमता कुतः ॥ ५९ ॥

साकारस्य हि साकारं वटधानादिवद्भवेत् ।
बीजं तद्वस्तु साकारं जायतेऽन्यत्कुतोऽन्यथा ॥ ६० ॥

न किंचिदपि यत्राऽस्ति बीजमाकृतिमन्मनाक् ।
तत आकृतिमद्विश्वं भवतीति विडम्बनम् ॥ ६१ ॥

कार्यकारणभावादि तस्मिन्नहि परे पदे ।
वाचालत्वेन यन्नाम कल्प्यते मौर्ख्यमेव तत् ॥ ६२ ॥

सहकारिनिमित्तानामभावे हि न कारणात् ।
कार्यं भवेदन्यदेति बालैरप्यनुभूयते ॥ ६३ ॥

नाम और रूप युक्त जगत्का अनाम और अरूप ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, यों दूसरी युक्ति दर्शाते हैं—'भावानाम्' इत्यादिसे ।

विविध नाम-रूपवाले पदार्थोंका नाम-रूपविहीन कारण कैसे हो सकता है । इसी एकरीतिसे वस्तु अवस्तुका कारण तथा शून्य अशून्यका कारणन हीं कहा जा सकता, यह कहते हैं—'कुतः' से । वस्तुमें अवस्तुता कैसे हो सकती है और व्योममें अव्यो-मता कैसे हो सकती है ? ॥ ५९ ॥

वटके बीजके समान साकारका साकार ही बीज हो सकता है । बीज वह वस्तु हो उससे साकार विसदृश अन्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ६० ॥

जिसमें तनिक भी आकृतिवाला कुछ बीज नहीं है, उससे आकृतिवाला विश्व उत्पन्न होता है, यह कथन विडम्बनावाक्यके समान निरर्थक है ॥ ६१ ॥

उस परम पदमें कार्यकारणभावादि नहीं है, बकवासके कारण जो उसमें कार्य-कारणभावादिकी कल्पना की जाती है, वह निरी मूर्खता है ॥ ६२ ॥

सहकारी और निमित्त कारणके अभावमें कारणसे (उपादानकारणसे) कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती सहकारी और निमित्तकारणके अस्तित्वमें होती है, यह बात बच्चोंको तक विदित है ॥ ६३ ॥

जगद्‌ज्ञानरूप होनेके कारण भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घटज्ञानमें घटकारणता नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं—'तन्मात्र०' इत्यादिसे ।

तन्मात्रवेदनं भूयः पृथ्व्यादीनां च कारणम् ।
किमस्ति कथ्यतां छाया कथमास्ते वदाऽऽतपे ॥ ६४ ॥
परमाणुसमूहा ये जगदित्यप्यवास्तवम् ।
शशशृङ्गं धनुःप्रख्यमज्ञानादभिधीयते ॥ ६५ ॥
परमाणुसमूहश्चेत्संभूय कुरुते जगत् ।
यदृच्छयैव तमसि शीर्यते च यदृच्छया ॥ ६६ ॥

कहिये तो सही जगत्-मात्रज्ञानरूप चित् पृथिवी आदिका कारण कैसे हो सकता है। चित्में अचित्की स्थिति नहीं हो सकती, इसलिए भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'छाया' से। भला कहिए तो सही धूप में छाया कैसे रह सकती है? ॥ ६४ ॥

इसीसे परमाणुकारणवादी बौद्ध आदिके मतका खण्डन हो गया। कारण कि अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) परमाणुसमूह इन्द्रियगोचर नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं--'परमाणु०' इत्यादिसे।

जो बुद्ध आदि लोग परमाणुओंका समूह ही जगत् है, ऐसा कहते हैं उनका कथन वास्तविक नहीं है, जैसे कोई शशका सींग धनुषके तुल्य है, कहे वैसे ही यह भी अज्ञानसे कहा जाता है ॥ ६५ ॥

यदि परमाणु आपसमें मिलकर जगत्की रचना करें तो उनका सदा आकाशमें उड़ना, गिरना दिखाई देनेके कारण प्रत्येक घरमें प्रतिदिन पहाड़की चोटीसी और कुएँका गड्ढासा हो जायगा, ऐसा कहते हैं—'परमाणु०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

यदि परमाणुओंका समूह मिलकर जगत्की रचना करता, तो अवयवभूत वे जब चाहते तब आकाशमें उड़ते और जब चाहते नीचे गिरते इस प्रकार जगह जगह, घर घर प्रतिदिन उसकी अपूर्व धूलिकी अम्बार लग जाती अथवा बड़ा गड्ढा हो जाता और दूसरी बात यह भी है कि परमाणु नामक निरवयव कोई द्रव्य किसी-को दिखाई नहीं देता है, जालोंके अन्दर सूर्य-किरणोंमें सावयव ही रजःकण दिखाई देते हैं। यदि कहिये उन्हींके अवयव जहाँ तक हो सकते हैं उसकी चरमसीमा निरवयव है ऐसा अनुमान होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह परस्पर संयोगके अयोग्य होनेसे अद्रव्य हो जायगा। निरवयवका अन्यके साथ संयोग नहीं हो सकता। संयोग एक देशमें होता है ऐसा नियम है। संयोग न होनेसे

तदङ्गमिङ्गते नित्यं देशे देशे गृहे गृहे ।
अपूर्वात्मरजःशृङ्गं खातं वा स्यादिने दिने ॥ ६७ ॥
न च तद्दृश्यते किंचित्कस्य तत्कर्म तादृशम् ।
भवेद् व्यर्थमभव्यस्य जडास्तु परमाणवः ॥ ६८ ॥
नाऽबुद्धिपूर्वं तत्कर्म संभवत्यङ्ग कस्यचित् ।
बुद्धिपूर्वं तु यद् व्यर्थं कुर्यादुन्मत्तको हि कः ॥ ६९ ॥
जडस्य बुद्धिपूर्वेहा मरुतो नाऽस्ति तां विना ।
न संभवत्यणुचयो नाऽन्यत्कर्तोपपद्यते ॥ ७० ॥

द्व्यणुक आदिकी सिद्धि नहीं होगी । दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि अतीन्द्रिय आकाशपुष्पसे परमाणुओंके संयोजन द्वारा जगत्की रचना करना किसका काम है ? क्या किसी असंसारी पुरुषका वह काम है या संसारीका ? संसारीकी शक्ति तो परमाणुओंसे जगत्की रचना करनेमें कतई नहीं है, यह बिलकुल साफ है । यदि कहो कि संसारके अयोग्य ईश्वर या जड़का यह काम है, तो उनसे ईश्वरका बिना प्रयोजनके जगत्का निर्माण व्यर्थ है । नित्यमुक्त ईश्वरको कोई प्रयोजनापेक्षा भी नहीं है अथवा सृष्टिका कोई प्रयोजन उपपत्तितः सिद्ध भी नहीं किया जा सकता । और जड़ परमाणु अपने-आप जगत्सृष्टिमें प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, यह भाव है ॥६६—६८॥

यदि कोई शङ्का करे कि चेतनको बुद्धिपूर्वक किये गये काममें प्रयोजनकी अपेक्षा होती है अबुद्धिपूर्वक किये गये काममें तो प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है, तो इसपर कहते हैं—'ना०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्र, उक्त जगत्सृष्टिरूप कार्य[1] किसीका अबुद्धिपूर्वक तो नहीं हो सकता और बुद्धिपूर्वक तो उस व्यर्थ कर्मको कौन पागल करेगा ?॥ ६९ ॥

इस कथनसे वायु ही परमाणुका संघात करेगा, बुद्धिपूर्वक व्यापारके बिना ही अणुओंका संघात (मेलन) हो जायगा, इस आशका भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं—'जडस्य' इत्यादिसे ।

जड़ वायुकी बुद्धिपूर्वक चेष्टा नहीं है । बुद्धिपूर्वक चेष्टाके बिना परमाणुओंका एकत्रीकरण नहीं हो सकता । जड़ और सर्वज्ञसे (ईश्वरसे) अतिरिक्त जीव, प्रलयमें

१ जिसकी सुन्दर रचना मनको चक्करमें डालदेनेवाली है, अनेक भुवन, गिरि, नदी, तालाव आदिसे युक्त है तथा जरायुज, अण्डज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे पूर्ण है ।'

वयमात्मान एवेमे खात्मानः खात्मका जनाः ।
तथा स्थिता यथा स्वप्ने भवतां स्वप्नमानवाः ॥ ७१ ॥

तस्मान्न जायते किंचिद्विश्वं नाऽपि च विद्यते ।
इत्थं चिन्नभ एवाऽच्छं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ ७२ ॥

विश्वाकाशं चिदाकाशे विष्वग्विश्रान्तिमागतम् ।
स्पन्दो द्रवत्वं शून्यत्वमनिलेऽम्भसि खे यथा ॥ ७३ ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ निमेषेणाऽतिदूरतः ।
संविदो यद्वपुर्मध्ये चिद्व्योम्नो विद्धि तद्वपुः ॥ ७४ ॥

शरीर नहीं होनेके कारण, असमर्थ ही था; इसलिए सृष्टिके आरम्भमें इसके किसी कर्ताकी उपपत्ति नहीं हो सकती है ॥ ७० ॥

यदि कर्ताके अभावसे जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ तो हम लोगोंका क्या स्वरूप है ? कैसे जगत्में स्थित हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'वयम्' इत्यादिसे ।

ये हम लोग देह आदि मूर्ततासे रहित चिदात्मरूप ही हैं एवं अन्य लोग भी हमारी नाईं ही चिदात्मरूप ही हैं तथापि जैसे स्वप्नमें आपके स्वप्न-मानव होते हैं वैसे ही अपनी कल्पनासे ही स्थित हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार सब कुछ उपपन्न होनेसे ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त ही निर्बाध है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए न तो जगत् कुछ उत्पन्न ही होता है और न विद्यमान ही है। इस प्रकार जगत्के रूपसे निर्मल चिदाकाश ही अपनेमें अपने आप विकसित होता है ॥ ७२ ॥

जैसे वायुमें स्पन्द, जलमें द्रवता और आकाशमें शून्यता इनसे (वायु आदिसे) अभिन्न ही चारों ओर विश्रान्त हैं वैसे ही चिदाकाशमें विश्वाकाश अभिन्न होकर ही चारों ओर विश्रान्त है ॥ ७३ ॥

जगत्-शून्य चिदाकाशका जो स्वरूप पहले दृष्टान्तपूर्वक अनेक बार अनुभवमें बैठाया गया है, उसीका स्मरण कराते हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

अत्यन्त दूरसे भी दूर एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें दोनों देशोंके मध्य-में एक क्षणभरके लिए संवित्का जो स्वरूप है, वही निर्विषय चिदाकाशका स्वरूप समझिये ॥ ७४ ॥

स स्वभावो हि सर्वेषामर्थानां ते च तन्मयाः ।
तादृशास्तन्नभोरूपास्तेन विश्वमतो नभः ॥ ७५ ॥
स्वभावस्य परा वृत्तिर्मनागेवाऽऽशु तस्य सा ।
स्वभावादविभिन्नैव सेदं जगदिति स्थिता ॥ ७६ ॥
जगच्चिन्नभसोस्तस्मान्न कदाचन भिन्नता ।
एकमेव द्वयो रूपं पवनस्पन्दयोरिव ॥७७ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्ये हि यद्वपुः ।
शान्ताशेषविशेषात्म तन्मुख्यं नेतरद्विदुः ॥ ७८ ॥
स स्वभावोऽङ्ग भूतानां तत्र तिष्ठन्ति पण्डिताः ।
तस्मान्न विचलन्त्येते नित्यध्यानाद्धरादयः ॥ ७९ ॥
आभासाकाशमेवेदं भामात्रमवभासनम् ।
विश्वमाकाररहितं स्वभावं विदुरव्ययम् ॥ ८० ॥

सब पदार्थोंका संविदाकाश ही परमार्थ स्वभाव है, वे सब पदार्थ संविदाकाशमय, चिदाकाशसदृश और चिदाकाशरूप ही हैं, इसलिए विश्वकी चिदाकाशरूपसे ही भावना करनी चाहिये शून्यरूपसे भावना नहीं करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

पूर्वोक्त चिदाकाशकी स्वभावसे अभिन्न ही विवर्तभावसे जो परम स्थिति है उसीको आपातदर्शी व्यवहारी 'जगत्' नामसे पुकारते हैं ॥ ७६ ॥

इसलिए जगत् और चिदाकाश ये दो कदापि परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं जैसे पवन और स्पन्द दोनोंका एक ही रूप है वैसे ही इनका एक ही स्वरूप है ॥ ७७ ॥

क्षणभरमें एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें मध्यमें ज्ञानका सकल विशेषोंसे शून्य जो स्वरूप है वही अनुभवका मुख्य दृष्टान्त है उससे अन्य नहीं ॥ ७८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वही अशेष विशेषोंसे शून्य चिदाकाश सब भूतोंका स्वभाव है, उसीमें पण्डित लोग समाधि द्वारा स्थित रहते हैं, चिदाकाशरूप उससे ये पृथिवी आदि पदार्थ विचलित नहीं होते हैं ॥ ७९ ॥

यह विश्व चिद्रूपी दर्पणमें आभासाकाश ही है, उसका अवभासन भी चित्की प्रभारूप ही है। निराकार अविनाशी चित्स्वभावको ही विद्वान् पुरुष जगत् कहते हैं ॥ ८० ॥

न जायते न म्रियते न भूत्वा भावि कुत्रचित् ।
अनन्यदेव चिद्व्योम्नः शून्यत्वमिव खाज्जगत् ॥ ८१ ॥
न विश्वमस्ति नैवाऽऽसीन्न च नाम भविष्यति ।
इदमाभासते शान्तं चिद्व्योम परमात्मनि ॥ ८२ ॥
चिन्मात्रमेव कचति स्वप्ने पुरतया यथा ।
तथैव जाग्रदाख्येऽस्मिन्स स्वप्ने कचति स्वयम् ॥ ८३ ॥
सर्गादावेव भावानामसत्त्वेत्यस्ति देहकः ।
कुतस्तस्माच्छरीरत्वं स्वप्न एव नभश्चितेः ॥ ८४ ॥
स्वयंभ्वाख्यं शरीरं स्वं पूर्वः स्वप्नो महाचितेः ।
इतउत्थानास्तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरं वयम् ॥ ८५ ॥
गण्डस्योपरि जातानां स्फोटानामत एव नः ।
परमेण प्रयत्नेन न मनो नाम यास्यति ॥ ८६ ॥

यह जगत् न तो उत्पन्न होता है, न उत्पन्न होकर विनष्ट होता है और न कभी भविष्यमें होनेवाला ही है। यह चिदाकाशसे वैसे ही अभिन्न है जैसे कि आकाशसे शून्यता अभिन्न है ॥ ८१ ॥

न जगत् है, न कभी था और न कभी होगा। यह परम शान्त चिदाकाशका आत्मामें ही अवभास हो रहा है ॥ ८२ ॥

जैसे स्वप्नमें चिन्मात्र ही नगर, पर्वत आदिके रूपसे प्रकाशमें आता है वैसे ही इस जाग्रत् नामक स्वप्नमें वह चिदाकाश ही स्वयं जगत्के रूपसे प्रकाशित हो रहा है ॥ ८३ ॥

सृष्टिके आरम्भमें पृथिवी आदि पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं है, इसलिए पार्थिव आदि देहका कैसे संभव हो सकता है ? इसलिए यह भासमान शरीरता आकाशरूप चितिका स्वप्न ही है ॥ ८४ ॥

स्वयम्भू नामका अपना शरीर महाचितिका पहला स्वप्न है। तदनन्तर स्वयम्भू शरीरसे उत्पन्न हुए हम लोग स्वप्नसे दूसरे स्वप्नके सदृश हैं ॥ ८५ ॥

इसलिए जैसे गलगण्डमें (गण्डमालामें) निकले हुए फोड़ेका गलेसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ब्रह्मसे हमारा भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है यों व्यवहित सम्बन्धकी दृढ़-भ्रान्ति होनेके कारण हमारा मन भी, चाहे कितने ही प्रयत्नसे क्यों न प्रेरित किया जाय, ब्रह्ममें शीघ्र नहीं जायगा ॥ ८६ ॥

ब्रह्मैवाऽसत्यपुरुषः सत्यवच्चाऽनुभूयते ।
स्थितं ततः प्रभृत्येव न त्वलीकमिदं ततम् ॥ ८७ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमलीकं जायते जगत् ।
यथा स्वप्ने तथाऽलीकमेवमाशु विनश्यति ॥ ८८ ॥
चिद्व्योमैवैत्य विश्वत्वं यथा स्वप्ने विनश्यति ।
अनुदित्वैव विश्वत्वं जाग्रदाख्ये तथैव च ॥ ८९ ॥
अनुभूतमलीकं चाऽप्यलीकं सत्यवत्स्थितम् ।
संविदेव यथा स्वप्ने नगरादितयोदिता ॥ ९० ॥
साकारेव निराकारा स्थिता तद्वज्जगत्तया ।
संविदाकाशमाकाशादणु मेरोरणुर्यथा ॥ ९१ ॥

जैसे गला ही गण्डमालाके रूपमें स्थित होकर गण्डमालाके ऊपर निकले हुए फोड़ेके रूपसे भी स्थित यानी उससे अभिन्न है फिर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ व्यष्टिजीवरूप असत्य पुरुष होकर देहरूपसे पृथक् प्रतीत होता है। जभींसे ब्रह्म जीवरूप हुआ तभीसे यह मिथ्या जगत् स्थित है ॥ ८७ ॥

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सारा जगत् स्वप्नजगतके समान अलीक (असत्य) ही उत्पन्न होता है और स्वाप्न जगत्के समान ही नष्ट हो जाता है ॥ ८८ ॥

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही जगतका रूप धारणकर लीन हो जाता है वैसे ही जाग्रत् नामक स्वप्नमें भी, जन्म धारण किये बिना ही, जगत्का रूप धारण कर नष्ट होता है ॥८९॥

यदि यह जगत् असत् (अनृत) है तो इसका अनुभव कैसे होता है और कैसे यह सत्यकी नाईं स्थित है, क्योंकि शशके सींगोंमें, जो असत् हैं, ये दोनों बातें नहीं दिखाई देतीं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'अनुभूतम्' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें संवित् ही नगर, पर्वत, नदी आदिके रूपसे उदित होती है वैसे ही अलीक (असत) होते भी अनुभूत और असत् होते भी सत्यवत् स्थित यह जगत् संवित्से ही उदित है, अतः संविद्रूप ही है। शून्यरूप नहीं है ॥ ९० ॥

स्वप्ननगर आदिके समान ही निराकार होती हुई भी साकार-सी संवित् जगत् रूपसे स्थित है। जैसे मेरु पर्वतके धूलि-कण परमाणुके समान अणु हैं वैसे ही संविदाकाश आकाशसे भी अणु है ॥ ९१ ॥

किल यत्तस्य नाम स्यादाकाशादणुता कुतः ।
कारणाभावतोऽन्यस्य नाऽऽकार उपपद्यते ॥ ९२ ॥

सर्गादावेव योऽजातो जातोऽयं जगतः कुतः ।
यदेव वेदनाकाशे पुरं स्वप्ने तदेव नः ॥ ९३ ॥

भेदः स्वप्नाद्रिचिद्व्योम्नोर्न शून्याम्बरयोरिव ।
यदेव चिन्नभो नाम तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ९४ ॥

आकाशसे भी बढ़कर अणुता नामका धर्म कहाँ प्रसिद्ध है ? जो कि संविदाकाशका (ब्रह्मका) धर्म होगा, इसलिए आकाशसे भी बढ़कर अणुता उसका धर्म नहीं है। तब अणुता कहनेका तात्पर्य क्या है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'कारणा०' से जगत्का स्थूल आकार अणुरूप कारणके बिना नहीं बन सकता, यह कहनेके लिए उसे अणु कहा है ॥ ९२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ईंट आदिसे नगर आदिकी उत्पत्ति दिखलाई देती है, अतः जगत्से ही जगत्की उत्पत्ति हो, न कि ब्रह्मसे। इसपर कहते हैं—'सर्गादा०' इत्यादिसे।

जो नगर आदि सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न नहीं हुआ वह जगत्से कैसे उत्पन्न हुआ ? दूसरी बात यह भी है कि स्वप्नमें ईंट आदिके बिना ही नगर आदि दिखाई देते हैं। जाग्रद्वेदनाकाशमें जो नगर है, वही हमारे सिद्धान्तमें स्वप्नमें भी नगर है और वहाँपर व्यभिचार स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ ईंट आदिसे नगरनिर्माण नहीं होता है ॥ ९३ ॥

इस प्रकार स्वप्नपदार्थ और जाग्रत्पदार्थोंका परस्पर भेद न होनेपर स्वप्नपदार्थोंका चिदाकाशसे भेद न होनेके कारण जाग्रत्पदार्थोंका भी चिदाकाशसे अभेद सिद्ध हो गया, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'भेदः' इत्यादिसे।

जैसे शून्य और आकाशका परस्पर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही है वैसे ही स्वप्न-पर्वत और चिदाकाशमें भी परस्पर भेद नहीं है, दोनों अभिन्न हैं। जो चिदाकाश है, वही स्वप्न-नगर है ॥ ९४ ॥

उक्त अभेदमें स्पन्द-वायु और वायु-आकाश दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'यदेव' इत्यादिसे।

यदेव स्पन्दनं नाम स एव पवनो यथा ।
स्पन्दास्पन्दैकरूपात्मा वायुर्व्योमोपमो यथा ॥ ९५ ॥

तस्माच्चिन्नभ एवेदं जगदाकृति लक्ष्यते ।
सर्वं शून्यं निरालम्बं भासनं चिद्विवस्वतः ॥ ९६ ॥

शान्तमेवेदमखिलं निरस्तास्तमयोदयम् ।
सकृद्विभातममलं दृषन्मौनमनामयम् ॥ ९७ ॥

तस्माद्वद कथं भावाः कुतो भावाः क्व भावधीः ।
क्व द्वैतं क्वैकता काऽहं क्व भावाः क्व च भावनाः ॥ ९८ ॥

नित्योदितो व्यवहरन्नपि निर्विकारो
द्वित्वैक्यमुक्तमतिरुत्तमशीतलोऽन्तः ।
निर्वाण-आस्स्व विगतामयशुद्धबोध-
बोधैकतामुपगतोऽङ्ग न सन्ति भावाः ॥ ९९ ॥

जैसे जो ही स्पन्दन है, वही वायु है और जैसे स्पन्दन और अस्पनन्दन स्वरूपवाला वायु आकाशसे अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश और स्वप्ननगर अभिन्न हैं ॥ ९५ ॥

इसलिए चिदाकाश ही जगत्के आकारमें दिखाई देता है । यह सब चिद्रूपी सूर्यका निराधार प्रकाशन है ॥ ९६ ॥

यह समस्त जगत् जन्मविनाशरहित अखण्डस्फुरणरूप निर्मल निर्विकार पत्थरके समान स्तब्ध शान्त (ब्रह्म) ही है ॥ ९७ ॥

इस तरह चित्की प्रपञ्चशून्यता सिद्ध हुई, यह कहते हैं— 'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए जरा आप कहिए तो सही कैसे पृथिवी आदि पदार्थ हैं ? कहाँसे ये उत्पन्न हुए हैं, कहाँ पदार्थबुद्धि है ? कहाँ द्वैत है ? कहाँ अद्वैत है ? कहाँ मैं हूँ ? कहाँ पदार्थ हैं और कहाँ वासना है ? ॥ ९८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप निर्विकार शुद्ध बोधरूप तत्त्वके परिज्ञानसे उक्त तत्त्वमें एकरूप होकर सदा राज्यका परिपालन आदि व्यवहार करते हुए भी उसमें 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान न होनेके कारण विकारसे रहित, परस्पर विरोधी द्वैत और अद्वैतसे

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सकलभावाभावोपदेशेन परमार्थैकताप्रतिपादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

आकाशः शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रकोऽनिलः ।
तत्सङ्घोत्कर्षजं तेजस्तच्छान्तिश्चेत्यपां स्थितिः ॥ १ ॥

मुक्त होकर और अन्दर अत्यन्त शीतल हो निरतिशय आनन्दको प्राप्त होइये, क्योंकि विक्षेपके कारण ये पदार्थ नहीं ही हैं ॥ ९९ ॥

एकसौ तीन सर्ग समाप्त

एकसौ चार सर्ग

[जैसे आकाश आदिकी वायु आदिरूपता अनुभवसे सिद्ध है वैसे ही चित्की ही अनुभवतः जगद्रूपताका साधन]

चिन्मात्र ही स्वप्नकी भाँति जगत्के आकारसे प्रतीत होता है, ऐसा जो पहले कहा था, अनुभवका अवलम्बन होनेपर प्रमाणों द्वारा पदार्थतत्त्वकी जिज्ञासा कर रहे सभीको उसीकी शरणमें जाना होगा उसके सिवा दूसरा चारा है ही नहीं। भले ही आकाश आदिके क्रमसे सृष्टिकल्पना परम्पराओंसे अतिदूर जाकर ही उसका समाश्रयण करें, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए आकाशादिकी आचार्यप्रसिद्ध स्वरूपस्थिति कहते हैं—**'आकाशः'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शब्दतन्मात्र आकाश है और स्पर्शतन्मात्र वायु है। उन दोनोंके अत्यन्त संघर्षसे उत्पन्न हुआ रूपतन्मात्र तेज है। उक्त तेजकी शान्ति (ऊष्णता और रूक्षताके शमन द्वारा शीतलता द्रवत्वाश्रयरूप रसतन्मात्र) जलका रूप है। आकाश, वायु, तेज और जलका संघ (इनका मेलन होनेपर

भूरेषां सङ्घः स्वप्नाभे जगद्भाने क्रमस्त्विति ।
कथं नाम किलाऽमूर्ताद्व्योम्नो मूर्तिः प्रवर्तते ॥ २ ॥
गत्वा सुदूरमप्येतज्ज्ञस्तेश्चेत्परिकल्प्यते ।
तदादावेव सत्यर्थे दोषोऽस्मिन्क इवाऽमले ॥ ३ ॥

घनीभावका हेतु गन्धभाव) पृथिवी है । इस प्रकार चित्से ही स्वप्न-सदृश जगद्भान-में यह क्रम है। यहाँपर हमारा प्रश्न है कि अमूर्त आकाशसे पृथिवी-पर्यन्त मूर्त पदार्थ-संघ कैसे हुआ ? इसके उत्तरमें यदि कोई कहे कि आकाशसे क्रियास्पर्शप्रधान वायु ही उत्पन्न होता है । वह रूपहीन होनेके कारण कुछ अंशमें आकाशके तुल्य और क्रियास्पर्शप्रधान होनेके कारण किसी अंशमें मूर्तके तुल्य है, इससे रूपतन्मात्रप्रधान मूर्त तेजको उत्पन्न करेगा, तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि निरवय कूटस्थ आकाश-से वायुकी ही सिद्धि नहीं हो सकती । कोई भी निश्चेष्ट तथा निरवयव पदार्थ न तो कुछ बना सकता है और न उसमें विकार ही हो सकता है । किञ्च, यदि वह सम्पूर्णरूपसे विकृत हो जाय, तो आकाशके अभावसे वायु आदिके लिए अवकाश ही नहीं रहेगा । यदि आधा या उससे कम आकाश विकृत होता है, यह मानो तो आकाश भी अवयववान् हो जायगा । यदि कहो अवयववान् भी हो क्या हानि है ? तो समानरूपसे वही स्पर्शवान् क्रियावान् भी हो जायगा, ऐसी स्थितिमें वायु आदिकी उत्पत्तिकी व्यर्थता तथा निरवकाशता और एक आकाश और उसके अवयवोंकी भी निरवकाशता हो जायगी । इस प्रकार रूपरहित वायुसे भी रूपतन्मात्रकी उत्पत्तिका आरम्भसे (आरम्भ वादानुसार) या परिणामसे (परिणामवादानुसार) निरूपण करना कठिन ही नहीं असंभव ही है । कारण कि कारणके गुण कार्यके गुणोंके आरम्भक होते हैं, ऐसा नियम है । वायुमें रूपका अभाव है । परिपाकसे परिणाम होता है और तेजके बिना परिपाककी भी संभावना नहीं है, इसी प्रकार अग्नि, जल आदि उत्तरवर्ती भूतोंमें भी समझ लेना चाहिये ॥ २ ॥

यदि कोई कहे कि अनुभवबलसे ही कूटस्थ आकाशसे चलनात्मक वायुकी उत्पत्ति, रूपरहित वायुसे रूपवान् तेजकी उत्पत्ति; नीरस तेजसे रसरूप जलकी उत्पत्ति तथा गन्धहीन जलसे गन्धवती पृथिवीकी उत्पत्तिकी कल्पना करेंगे । अनुभव रूप भगवती संवित् ही हम लोगोंके सारे विरोधको हटाकर अनुभवानुरूप सब पदार्थों का समर्थन कर देगी । इसपर कहते हैं—'गत्वा' इत्यादिसे ।

ज्ञप्तिरेवाऽतिविमला स्वरूपात्मनि भाति यत् ।
तदेव जगदित्युक्तं सत्यमित्येव सत्यतः ॥ ४ ॥
न क्वचित्सन्ति भूतानि पञ्च कुड्यादयो न वा ।
असन्त्यप्यनुभूतानि ननु स्वप्नदशास्विव ॥ ५ ॥
स्वभाव एव विमलो यथा स्वप्ने पुरादिवत् ।
कचत्येवं जाग्रतीदं जगद्वद्वस्तु तत्सुखम् ॥ ६ ॥
चेतनाकाश एवाऽहं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
इत्यहं जगदित्येकं खमेवैकं शिलाघनम् ॥ ७ ॥

यदि दूरकी उड़ान भर कर अन्तमें फिर लाचार होकर संवित्‌की ही शरण लेनी पड़ती है, तो पहले ही जैसे वह स्वप्न आदिमें स्वाप्नजगत्‌का वेष धारण करती है वैसे केवल विवर्तसे सारे जगत्‌का वेष धारण करती है, इस सर्वार्थसाधक निर्मल सिद्धान्तको मान लेनेमें कौन दोष है ? ॥ ३ ॥

उसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं—'ज्ञप्ति०' इत्यादिसे ।

अति निर्मल संवित् ही अपने स्वरूपमें भासित होती है, यह कथन 'वही जगत है' यों परमार्थ सत्यस्वरूप अधिष्ठानके बलसे तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि यथार्थवादिनी श्रुतिके बलसे सत्य ही है, यह सिद्धान्तरहस्य हम पहले ही कह चुके हैं ॥ ४ ॥

न तो कहींपर पाँच भूत हैं और न घट, कुड्य आदि भौतिक पदार्थ ही हैं, किन्तु फिर भी जैसे स्वप्न आदिमें भूतभौतिकशून्य चिति ही भूतभौतिकके समान सबको दिखलाई देती है वैसे ही जाग्रत्‌में असत् भी भूतभौतिकपदार्थ चितिबलसे सत्य-से अनुभूत होते हैं ॥ ५ ॥

जैसे स्वप्नमें चित्स्वभाव आत्मा ही नगर पर्वत, आदिके तुल्य प्रकाशित होता है वैसे ही जाग्रत्‌में भी वह सत् चित् सुखरूप आत्मा जगत्‌के समान प्रकाशमें आता है ॥ ६ ॥

मैं चेतनाकाश ही हूं, यह जगत् भी चेतनाकाश रूप ही स्थित है, इसलिए मैं और जगत् दोनों एक ही हैं । वस्तुतः केवल शिलाके समान ठोस चिदाकाशका ही अस्तित्व है ॥ ७ ॥

यदादिसर्गजननं यत्कल्पान्तनिवर्तनम् ।
यद्वा भुवनसंस्थानं तद्धि व्योम निराकृति ॥ ८ ॥
सति वाऽसति वा देहे
निर्दुःखसुखत्वमक्षयं मोक्षः ।
बुद्धेऽमले स्वभावे
निर्भरविश्रान्तिरस्तु सर्वेह ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वभावं जगदाकारं चिद्भावोऽनुभवन्स्थितः ।
स्वतः स्वप्नमिवाऽनन्यमात्मनः कल्पनाभिधम् ॥ १ ॥

जो आदि सृष्टिमें जगत्की उत्पत्ति है और जो कल्पमें (प्रलयमें) उसकी निवृत्ति है अथवा जो जगत्की स्थिति है, वह निराकार चिदाकाश ही है ॥ ८ ॥

निर्मल आत्मस्वरूपके ज्ञात हो जानेपर जो दुःखलेशशून्य अक्षय सुखता (भूमानन्दरूपता) है, वही मोक्ष है । उक्त मोक्ष देहके रहते या न रहते एक सा है (जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिमें कोई भेद नहीं है) । उस मोक्षमें पूर्ण निर्भर विश्राम आपको प्राप्त हो । उतनेसे ही आपकी कृतकृत्यता है ॥ ९ ॥

एक सौ चार सर्ग समाप्त

एकसौ पाँच सर्ग

[चित्का ही जाग्रत्के तुल्य और चित्का ही स्वप्नके तुल्य भान होता है, इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें कोई अन्तर नहीं है, यह वर्णन]

जगत्की पूर्वोक्त स्वप्नसमानताका विस्तारसे वर्णन करनेके लिए पृष्ठ भूमि तयार करते हैं—'स्वभावम्' इत्यादिसे ।

चित्स्वभाव आत्मा अपनी कल्पनारूप अपनेसे अभिन्न स्वभाव जगदाकारका

जाग्रत्सुषुप्तमेवेदं शिलाजठरमेव वा ।
आकाशमेव वा शून्यं जगत्त्वेन च नोज्झितम् ॥ २ ॥
स्वप्न एवाऽत्र दृष्टान्तः पुरमण्डलमण्डितः ।
स्वप्ने जगन्न किंचित्सदित्थमाभाति भासुरम् ॥ ३ ॥
त्रैलोक्यमसदेवेदं यथा स्वप्नेऽवभासते ।
जाग्रत्यस्मिंस्तथैवेदं मनागप्यत्र नाऽन्यथा ॥ ४ ॥
न जाग्रति न च स्वप्ने जगच्छब्दार्थसंभवः ।
स्वं वस्तुतस्तु चिद्व्योम्नो भानं बुद्धं जगत्तया ॥ ५ ॥
चिद्व्योम्ना स्वचमत्कारो व्योमन्यग्र्यादिरूपभृत् ।
जगदित्येव बुद्धोऽन्तर्जाग्रत्स्वप्ने स्वयंभुवा ॥ ६ ॥

स्वयं अनुभव करता हुआ स्थित है । अर्थात् स्वप्नमें जिस प्रकार आत्मा अपनेसे अभिन्न अपनी कल्पनारूप पुर, नगर आदिका अनुभव करता हुआ स्थित रहता है वैसे ही जगदाकार अपने स्वभावका, जो अपनेसे अनन्य (अभिन्न) है और अपनी ही कल्पना है, अनुभव करता है ॥ १ ॥

यह जाग्रत् , जो कि जगत् रूपसे त्यक्त न होता हुआ अज्ञानरूप ही है, मूलतः शिलारूप ही है और अधिष्ठानरूपसे शून्य आकाश ही है, निरा स्वप्न है ॥ २ ॥

स्वप्न भी ऐसा ही होता है, अतः वही इसका ठीक-ठीक उदाहरण है, यह कहते हैं—'स्वप्न' इत्यादिसे ।

इस विषयमें विविध नगरोंसे अलंकृत स्वप्न ही दृष्टान्त है, स्वप्नमें जगत्का नामलेश भी नहीं रहता फिर भी वह इसी प्रकार देदीप्यमान प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्नमें यह असत् ही त्रैलोक्य अवभासित होता है वैसे ही इस जाग्रद् अवस्थामें भी अवभासित हो रहा है, इसमें जरा भी स्वप्नसे निरालापन नहीं है ॥ ४ ॥

जगत्-शब्दके अर्थका (जगत्का) न तो जाग्रत्में संभव है और न स्वप्नमें ही संभव है, वस्तुतः चिदाकाशका जो स्वकीय अवभासन है उसे ही अज्ञानी जन जगत् मान बैठे हैं ॥ ५ ॥

अपने आप होनेवाले चिदाकाशने अन्धकारसे आवृत आत्मरूप आकाशमें पर्वत, नगर आदिका स्वरूप धारण करनेवाले अपने चमत्काररूप तमको जाग्रत्-स्वप्नमें जगत् समझा है ॥ ६ ॥

जगन्न किंचिदेवेदं चिद्रूपं च न किंचन ।
एते किंचिदिवाऽऽभातो नभश्चिज्जगती मुधा ॥ ७ ॥
आभातमेव त्रैलोक्यं यथा स्वप्ने न किंचन ।
शून्यमेव भवेदेवमेवं जाग्रति निर्वपुः ॥ ८ ॥
स्वप्ने किल महाबुद्धे नानानिर्माणशालिनि ।
आरम्भा एव नाऽऽरम्भा असत्सदिव चाऽऽततम् ॥ ९ ॥
अव्योमैवाऽतिविततं व्योमान्तपरिवर्जितम् ।
व्योमैवाऽचलसंघातो नानापुरगणोत्करः ॥ १० ॥
अप्यब्दाब्ध्यद्रिनिर्घोषो मौनमेव यथा तथा ।
न शृणोत्येव पार्श्वस्थः संप्रबुध्याऽपि किंचन ॥ ११ ॥

यह जगत् कुछ नहीं है (शून्य है), भास्यमान जगत्के शून्य होनेसे उसका भासक चित्का रूप भी कुछ नहीं है। ये अत्यन्त असत् चित् और जगत् (ग्राह्य और ग्राहक) ब्रह्ममें मुधा (मिथ्या) ही भासित होते हैं ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें भासित हुआ त्रैलोक्य वास्तवमें कुछ नहीं है, शून्य है वैसे ही जाग्रत् अवस्थामें भी भासित हो रहा यह त्रैलोक्य स्वरूपहीन (निराकार) शून्य ही है ॥ ८ ॥

हे महामते, विविध प्रकारके गृह, उपवन आदिकी निर्मितियोंसे शोभायमान स्वप्नमें आरम्भ अनारम्भ ही है और असत् सत्के समान व्याप्त है ॥ ९ ॥

ब्रह्म ही अत्यन्त विस्तृत शून्यरूप आकाश पहले बना और भूताकाश ही क्रमशः वायु आदि बनकर पर्वतसमूह और विविध नगरोंका समूह बना, यह महान् आश्चर्य है ॥ १० ॥

जैसे स्वप्नमें मेघों, सागरों और पर्वतोंकी गर्जन आदि ध्वनि सोये हुए एक स्वप्नद्रष्टा पुरुषके प्रति प्रख्यात होनेपर पासमें सोये हुए दूसरेके (स्वप्नके अद्रष्टाके) प्रति शून्य ही है, क्योंकि पासमें सोया हुआ पुरुष जागकर भी मेघ आदि या उनके गर्जनको कुछ भी नहीं सुनता, वैसे ही जाग्रत्-शब्द आदि भी शून्य ही हैं ॥ ११ ॥

प्रजायते वा जातोऽपि वन्ध्यायास्तनयो यथा ।
जातोऽप्यजात एवाऽऽस्ते यथाऽऽत्ममृतिविस्मृतौ ॥ १२ ॥
सदसद्भवति क्षिप्रं भुवोऽननुभवो यथा ।
विपर्यस्यति सर्वं च रात्रिरेव यथा दिनम् ॥ १३ ॥
असद्यत्संभवत्याशु दिनमेव यथा निशा ।
असंभवः संभवति यथा स्वमृतिदर्शनम् ॥ १४ ॥
असंभवः संभवति जगद्भानमिवाऽम्बरे ।
तम एव महालोको यः सनिद्रः स वासरः ॥ १५ ॥
आलोक एवैति तमो यन्निद्रा स्वप्नवासरा ।
वसुधैव भवेद्व्योम श्वभ्रादिपतने यथा ॥ १६ ॥
असत्यरूपमेवेति भाति स्वप्ने जगद्यथा ।
तथैव जाग्रदाभाति मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥ १७ ॥

जैसे उत्पन्न न हुआ भी वन्ध्यापुत्र स्वप्नमें उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न न हुआ भी यह जाग्रत्-जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है एवं जैसे मरकर उत्पन्न हुआ भी पुरुष अपनी मृत्युकी विस्मृति होनेपर मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, यों समझता है वैसे यह जगत् उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है ॥ १२ ॥

जैसे स्वप्नमें सोये हुए पुरुषका अपनी शयनभूमिका अननुभव उसकी असत्ता सिद्ध करता है वैसे ही सत् वस्तु असत् हो जाती है और सब कुछ विपर्यासको प्राप्त हो जाता है जैसे कि रात्रि ही दिन हो जाती है ॥ १३ ॥

स्वप्नमें जो असत् है वह शीघ्र ही संभव हो जाता है जैसे कि दिन ही रात्रि हो जाता है और असंभव संभव हो जाता है जैसे कि अपनी मृत्यु का दर्शन ॥१४॥

स्वप्नमें असंभव संभव हो जाता है जैसे कि आकाशमें जगत्का भान, अन्धकार ही महान् प्रकाश बन जाता है और जो निद्रायुक्त (रात्रि) है, वह दिन बन जाता है ॥ १५ ॥

प्रकाश ही अन्धकार बन जाता है क्योंकि उल्लू आदिकी नींद ऐसी देखी जाती है कि उसमें दिन ही स्वप्नहेतु (रात्रि) बन जाते हैं । स्वप्नमें गड्ढेमें गिरनेका अनुभव होनेपर शयनभूमि ही गर्ताकाश (गड्ढा) बन जाती है ॥ १६ ॥

जैसे स्वप्नमें असत्यरूप ही जगत्का इस तरह भान होता है वैसे ही जाग्रत-

यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ ।
जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

नैतदेवमपि क्षिप्रात्प्रत्ययो यत्र बाधकः ।
स्वप्ने तद्दर्शनेनाऽन्तः कथं जाग्रत्समं भवेत् ॥ १९ ॥

का भी मिथ्या ही भान होता है। स्वप्न जगत् एवं जाग्रत्-जगत् दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥ १७ ॥

जैसे दो (कलका और आजका) सूर्य एक-से होते हैं जैसे दो (युग्मज) पुरुष एक-से होते हैं वैसे ही ये जाग्रत् और स्वप्न भी एक-से हैं। इनमें तनिक भी विलक्षणता नहीं है ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त जाग्रत् और स्वप्नकी समताका खण्डन कर इसमें विलक्षणता दिखला रहे, श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'नैतत्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जाग्रत् और स्वप्नमें तनिक भी अन्तर नहीं है, ऐसा जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें तो तुरन्त ही स्वप्नका बाध करनेवाली जाग्रत्प्रतीति होती है, उसके देखनेसे मनमें अपने आप ही स्वप्नकी आभासताका अनुभव हो जाता है, अतः जाग्रत् स्वप्नके तुल्य कैसे हो सकता है ? ॥ १९ ॥

केवल इतनेसे ही जाग्रत्-जगत्की स्वाप्न जगत्से विलक्षणता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न देशवाली जाग्रत्प्रतीति स्वप्नप्रतीतिकी बाधक नहीं हो सकती। स्वप्न-स्थानमें निद्रायुक्त स्वप्नदेहस्थ पुरुष स्वाप्न बन्धु-बाधवोंको देखता है स्वप्नदेहके निवृत्त होनेपर निद्रारहित जाग्रत्-देहस्थ होकर स्वप्नमें देखे हुए बन्धु आदिकी असत्ताका अनुभव करता है। अन्य देशमें अन्य देहसे देखे गये पदार्थोंका—देहान्तर और देशान्तरमें अन्यका दर्शन होनेपर—अदर्शन उनका बाध नहीं कहा जा सकता। पूर्वजन्मके बन्धु-बान्धवोंका इस जन्ममें दर्शन न होनेसे बाध भी तो है ही, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्नमें समता ही है, वैषम्य नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'विहृत्य' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

विहृत्य स्वप्नजगति स्वप्नबन्धुजनैः समम् ।
मृतिमाप्नोति तत्राऽसौ द्रष्टा स्वप्नस्य राघव ॥ २० ॥
मृतः सन्स्वप्नजगति स्वप्नजन्तुवियोगवान् ।
इह प्रबुध्यते जन्तुर्निद्रामुक्तश्च कथ्यते ॥ २१ ॥
सुखदुःखदशामोहान्दिनरात्रिविपर्ययान् ।
अनुभूय बहून्द्रष्टा म्रियते स्वप्नसंसृतौ ॥ २२ ॥
गतनिद्रतया पश्चान्निद्रान्त इह जायते ।
न सत्यमेतदित्येवं ततः प्रत्ययवान्भवेत् ॥ २३ ॥
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः प्रजायते ॥ २४ ॥
जाग्रद्द्रष्टा तथा जाग्रत्संसारे मृतिमाप्तवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ २५ ॥
न स्वप्नमसदित्येवं पूर्वस्मिञ्जाग्रदात्मनि ।
पुनः प्रत्ययमादत्ते स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गतः ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुवर, यह स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें स्वप्न-संसारके अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ विहार कर स्वप्नदेह-निवृत्तिमय मृत्युको प्राप्त होता है, स्वप्नसंसारमें मरकर स्वप्नके प्राणियोंसे वियुक्त होकर जीव जाग्रत्संसारमें जागता है, और निद्रामुक्त कहा जाता है। स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें अनेकानेक सुख-दुःखदशाओं भ्रान्तियों तथा रात्रि और दिनके विपर्यासोंका अनुभव कर स्वाप्न शरीरका त्याग करता है। फिर नींद टूट जानेके कारण निद्राके अन्तमें शयनदेशमें उत्पन्न होता है और जाग्रत्-देहसे सम्बद्ध होता है। तदुपरान्त ये स्वप्नमें देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे, यह जानता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें मृत्युको प्राप्त होकर (स्वाप्न शरीरका त्याग करके) दूसरे जाग्रन्मय स्वप्नको देखनेके लिए पुनः जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है वैसे ही जाग्रन्मय स्वप्न देखनेवाला जाग्रत्संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न देखनेके लिए फिर पैदा होता है ॥ २०-२५ ॥

जैसे जाग्रत्में मरकर अन्य जाग्रत्में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्वजाग्रत-प्रपञ्चमें वह स्वप्न तथा असत् था इस प्रकारकी प्रतीतिको प्राप्त नहीं होता वैसे ही एक स्वप्नसे

स जाग्रत्प्रत्ययं तत्र पुनर्गृह्णाति मुग्धधीः ।
स्वप्नसंदर्शनं त्वन्यत्तत्राप्यनुभवत्यथ ॥ २७ ॥
स्वप्नं जाग्रत्तया जाग्रत्स्वप्नत्वं चेति नामनि ।
न जायते न म्रियते जायते म्रियतेऽपि च ॥ २८ ॥
स्वप्न द्रष्टा स्वप्नमृतः प्रबुद्ध इह कथ्यते ।
इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते ॥ २९ ॥
स्वप्नात्स्वप्नस्थितौ जाग्रज्जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनम् ।
मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ ३० ॥
इतिहासमयावेव जाग्रत्स्वप्नावुभावपि ।
परस्परं गतावेतावुपमानोपमेयताम् ॥ ३१ ॥

दूसरे स्वप्नको प्राप्त हुआ पुरुष उत्तर (बादके) स्वप्नमें जाग्रत्प्रतीति ग्रहण करता है। उत्तर स्वप्नमें जाग्रत्प्रतीति जैसे भ्रान्ति है वैसे ही पूर्वजाग्रत्में स्वप्नता और असत्ताका ग्रहण भी मूढताप्रयुक्त (भ्रम) ही है। फिर स्वप्नमें भी अन्य स्वप्नदर्शनका अनुभव करता हुआ स्वप्नका ही जाग्रत्रूपसे अनुभव करता है इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न नामकी दोनों अवस्थाओंमें जीव न स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता है किन्तु तत्-तत् (जाग्रत स्वप्नके) शरीरोंमें अभिमानके ग्रहण और त्याग द्वारा जन्म लेता है तथा मरता है ॥ २६-२८ ॥

स्वप्न देखनेवाला जीव स्वप्नमें मरकर जागरणमें जागा हुआ कहलाता है और यहाँ (जाग्रत्में) मरा हुआ स्वप्नमें जागा हुआ कहलाता है। इस तरह स्वप्न और जाग्रत्की समता ही है विषमता नहीं है ॥ २९ ॥

इस प्रकार एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें स्थिति होनेपर दूसरा स्वप्नही पहले स्वप्नकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे विशेष दर्शन यानी जाग्रत् होता है इसी प्रकार जाग्रत्में मरकर अन्य जाग्रत्रूप स्वप्नमें जागे हुए पुरुषका पूर्व जाग्रत् अवश्य स्वप्न है ॥ ३० ॥

जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही उपन्यासमय (उपन्यासके कथार्थके समान काल्पनिक) ही हैं यथार्थ नहीं हैं, इसलिए दोनों परस्पर एक दूसरेके उपमान-उपमेय बने हुए हैं। 'इतीहासमयौ' ऐसा दीर्घ पाठ होनेपर 'स्वप्न और जाग्रत् कुछ विलक्षण होनेपर भी' यह अर्थ है। उक्त पाठमें इति, इह, असमं विषमं यातः—

स्वप्नो जाग्रदिवाऽऽभाति जाग्रत्स्वप्नमिवोदितम् ।
वस्तुतस्तु द्वयमसच्चित्खं कचति केवलम् ॥ ३२ ॥
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतजातमशेषतः ॥
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ ३३ ॥
मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिच्चमत्कारमात्रात्म तथा काष्ठोपलाद्यपि ॥ ३४ ॥
वस्तुजातमिदं स्वप्ने जाग्रत्यपि तथैव नः ।
दृष्टो य उपलः स्वप्ने चिच्चमत्करणादृते ॥ ३५ ॥
किमन्यत्संवद प्राज्ञ किलाऽवश्यं चिदेव सा ।
ननु यादृग्वपुः स्वप्ने जाग्रत्तादृगखण्डितम् ॥ ३६ ॥

असमयौ ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये । 'इतीहासन्मयौ' यह पाठ ठीक है । इस पाठमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

वर्तमान दशामें तो स्वप्न भी जाग्रत्के तुल्य ही स्पष्टतया प्रतीत होता है, अतीत जाग्रत् भी प्रसिद्ध स्वप्नके समान ही उदित होता है । वास्तवमें दोनों असत् हैं केवल चिदाकाशका ही स्वप्न जाग्रतके रूपमें स्फुरण होता है ॥ ३२ ॥

स्थावर और जंगम समस्त प्राणी विचार करनेपर चिन्मात्रके सिवा और क्या ठहरते हैं, कुछ भी नहीं ठहरते ॥ ३३ ॥

जैसे मृण्मय (मिट्टीका बना) पात्र मिट्टीसे रहित हो यह कदापि संभव नहीं है वैसे काठ, पत्थर आदि सकल वस्तुएँ भी चित्-चमत्कार रूप ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ३४ ॥

जैसे हमारे स्वप्नकी सकल वस्तुएँ चिच्चमत्काररूप हैं वैसे ही जाग्रत्की भी सब वस्तुएँ चित्चमत्कार रूप ही हैं । भला बताइये तो सही स्वप्नमें जो पत्थर दिखाई देता है वह चित्के चमत्कारको छोड़कर और क्या हो सकता है ? हे प्राज्ञ, इस विषयमें विद्वानोंके साथ युक्तिपूर्वक विचार विनिमय द्वारा निश्चय कीजिये । विचार-विनिमय द्वारा तत्त्वदृष्टि होनेपर वह स्वप्न पत्थर प्रसिद्ध चित् ही ठहरेगा । जैसा स्वप्नका स्वरूप है हूबहू ठीक वैसा ही स्वरूप जाग्रत्का भी है ॥ ३५,३६ ॥

जगज्ज्ञातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्म खण्डितम् ।
जगज्ज्ञातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्मकुट्टिमम् ॥ ३७ ॥
मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ३८ ॥
शैलात्मकं यथा भाण्डं शैलशून्यं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ३९ ॥
द्रवरूपं यथा वारि द्रवरिक्तं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४० ॥
ऊष्मरूपो यथा वह्निर्निरूष्मा नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४१ ॥
यथा स्पन्दमयो वायुरस्पन्दो नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ३२ ॥
यद्यन्मयं तद्विना तु तत्कथं किल लभ्यते ।
क्वाऽशून्यं लभ्यते व्योम क्वाऽघना लभ्यते मही ॥ ४३ ॥

इसलिए अध्यारोपपक्षमें चिन्मात्र ब्रह्म ही जगत्के आकारसे विभक्त है और अपवादपक्षमें तो समस्त जगत् चिन्मात्र ब्रह्म हो गया है ॥ ३७ ॥

जैसे मृण्मयपात्र मिट्टीसे विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मयचेत्य (जगत्) चित्-शून्य (चिद्व्यतिरिक्त) नहीं दिखाई देता ॥ ३८ ॥

जैसे पत्थरका बना हुआ पात्र पत्थर-विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) भी चिद्भिन्न नहीं मालूम होता ॥ ३९ ॥

जैसे द्रवरूप जल द्रवहीन नहीं पाया जा सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चिद्व्यतिरिक्त नहीं हो सकता जैसे उष्णतारूप अग्नि उष्णताशून्य मिले यह कदापि सम्भव नहीं है, वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) चिद्व्यतिरिक्त कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ४०,४१ ॥

स्पन्दमय (चलन-स्वभाव) वायु कदापि स्पन्दशून्य नहीं प्राप्त हो सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित्-शून्य कदापि नहीं मिल सकता ॥ ४२ ॥

जो वस्तु जिससे बनी है उसके बिना वह कैसे प्राप्त हो सकती है। आकाश अशून्य कहाँ मिलता है और पृथ्वी अमूर्त कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥ ४३ ॥

चिद्व्योममयमेवेदं यथा घटपटादिकम् ।
स्वप्ने तथेदं शैलादि चिद्व्योमाभासमात्रकम् ॥ ४४ ॥

स्वप्ने यथा गगनमेव पुराचलादि
संविन्मयं सुभग जाग्रति तद्वदेव ।
स्वप्नोऽथ जाग्रदिति शान्तमनन्तमेकं
चिन्मात्रमत्र ननु नाम विनाऽस्तु वादः ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥



जैसे स्वप्नमें घट, पट आदि पदार्थ चिदाकाशमय ही हैं वैसे ही ये जाग्रत्के पर्वत, नगर आदि एकमात्र चिदाकाशके आभास हैं ॥ ४४ ॥

हे सुन्दर, जैसे स्वप्नमें प्रसिद्ध नगर, पर्वत, गृह आदि संविन्मय (चिन्मय) आकाश ही हैं वैसे ही जाग्रत्में प्रसिद्ध नगर, पर्वत आदि भी संविन्मय गगन ही हैं। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् विकल्पशून्य असीम अखण्ड चिन्मात्ररूप ही सिद्ध हुए। इस प्रकारके तत्त्वके विषयमें वादियोंका विवाद वृथा है ॥ ४५ ॥

एक सौ पाँच सर्ग समाप्त ।



षडधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

कीदृशं स्याच्चिदाकाशं तद्‌ब्रह्मन् ब्रह्म यत्परम् ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नाऽस्ति मेऽमृतम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

समयोर्यमयोर्भ्रात्रोर्व्यवहाराय नामनी ।
यद्वत्क्रियेते द्वे तद्वज्जाग्रत्स्वप्नशिलामये ॥ २ ॥

एक सौ छः सर्ग

[विविध लक्षणोंसे पुनः चिदाकाशका प्रदर्शन-सा किया जाता है और चिदाकाश ही जगत् है इसका विस्तारसे वर्णन]

विस्तारसे वर्णित जगत्की स्वप्न-तुल्यतासे जिस प्रकारका चिदाकाशमात्र तत्त्व ज्ञातव्य है, उसके स्वरूपका पहले एक बार नहीं सैकड़ों बार वर्णन हो चुका है तथापि शायद किन्हीं मन्दमतियोंकी समझमें न आया हो इस तरहकी संभावना कर उनके ऊपर दयावश पुनः उसीका स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षणोंसे खूब भलीभाँति उपपादन सुननेके लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'कीदृशम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, जिसे आप परब्रह्म, चिदाकाश कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? कृपया और कहिए। यद्यपि आप पहले भी उसका लक्षण कह आये हैं, फिर भी आपके मुखारविन्दसे इस अमृतके तुल्य मधुर विषयको सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १ ॥

पूर्व प्रस्तुत श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए श्रीवसिष्ठजी जाग्रत्-स्वप्नकी तुल्यताका रामचन्द्रजीके प्रश्नोत्तरकी पूर्वपीठिकाके रूपसे अनुवाद करते हैं—'समयोः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे समान रूपरेखावाले दो यमज भाइयोंके, व्यवहारके लिए, दो पृथक् नाम रक्खे जाते हैं वैसे ही अखण्ड चिद्रूपी शिलामय (अखण्ड-चिद्रूपी शिलामें प्रतिबिम्बितप्राय) समान रूपरेखावाले जाग्रत्-स्वप्नरूप दोनों प्रपञ्चोंके दो नाम रक्खे जाते हैं ॥ २ ॥

वस्तुतस्त्वनयोर्भेदो न द्वयोः पयसोरिव ।
द्वयमप्येकमेवैतच्चिन्मात्रं व्योम निर्मलम् ॥ ३ ॥
देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः ।
निमिषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ ४ ॥
यादृशस्तिष्ठतः स्वच्छं रसमाकर्षतस्तरोः ।
भवेद्भावो नभःस्वच्छस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ५ ॥
विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
यादृशः स्यात्समो भावस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ६ ॥
अनागतायां निद्रायां मनोविषयसंक्षये ।
पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ७ ॥
तृणगुल्मलतादीनां वृद्धिमागच्छतामृतौ ।
यः स्यादुन्ममतो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ८ ॥

दो जलोंकी तरह वस्तुतः इन दोनोंमें (जाग्रत् और स्वप्नमें) भेद नहीं है, ये दोनों निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप एक ही हैं ॥ ३ ॥

उक्त चिदाकाशके पूर्वोक्त लक्षणका स्मरण कराते हुए प्रथम कहते हैं—**'देशाद्देशान्तरम्'** इत्यादिसे ।

एक देशसे दूर दूसरे देशमें पलक भरमें गई हुई संवित्का मध्यमें जो निर्विषय रूप है, वही चिदाकाश कहा जाता है ॥ ४ ॥

जड़ोंसे पृथिवीका रस खींचते हुए वृक्षका जैसा ह्रासवृद्धिशून्य आह्लादभाव प्रसिद्ध है वैसा ही चिदाकाश कहा जाता है ॥ ५ ॥

जिसकी सकल कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हों, चित्त शान्त हो चुका हो, उस पुरुषका जैसा सकलवैषम्यशून्य सहजसुखस्वरूपानुभव है (कारण कि निर्विक्षेप दशामें 'मैं सुखपूर्ण हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है) वैसा ही चिदाकाश है ॥ ६ ॥

निद्रा आनेके पूर्व और जागरणके अन्तमें (नींद न आई हो तुरन्त आने ही वाली हो जागरणमें मनको भटकानेवाले विषयोंका नाश हो गया हो यानी जागरणके अन्तमें) स्वस्थ पुरुषका जो भाव है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥ ७ ॥

वर्षाऋतु या शरदृतुमें वृद्धिको प्राप्त हो रहे पेड़, पौंधे और झाड़ियोंका जो ममताहीन आनन्दभाव है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ ८ ॥

रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्याऽमृतस्य यः ।
भावः पुंसः शरद्व्योमविशदस्तचिदम्बरम् ॥ ९ ॥
यदेतदासनं सृष्टं काष्ठपाषाणभूभृताम् ।
चेतनानां च सत्तात्म चिदाकाशः स उच्यते ॥ १० ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
यत्र वाऽस्तमयश्चित्खं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ ११ ॥
यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्राः परिणमन्त्यलम् ।
पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ १२ ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं स चिदाकाश उच्यते ॥ १३ ॥
दिवि भूमौ बहिश्चान्तस्तथाऽन्यस्य समाभिधः ।
यो विभात्यवभासात्मा चिदाकाशः स उच्यते ॥ १४ ॥

बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयोंके भोगसे रहित जीवित पुरुषका शरदाकाशके समान स्वच्छ जो भाव है, वही चिदाकाश है ॥ ९ ॥

ब्रह्माने काठ, पत्थर और पर्वतोंकी जो निश्चेष्ट स्थितिका निर्माण किया है वही यदि चेतन जीवोंकी सत्तात्मस्थितिरूप हो तो वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १० ॥

जिससे सुषुप्तिके साक्षी, स्वप्न और जागारके द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटीका उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, उसे आप निर्विकार चिदाकाश जानिये ॥ ११ ॥

विविध प्रकारके सभी पदार्थज्ञान जिससे ही उदित होते हैं और जिसमें ही आलोचन, विमर्श, अध्यवसाय, हान और उपादानरूपसे उत्तरोत्तर परिणत होते हैं, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १२ ॥

जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सब उदित होता है, जो सर्वस्वरूप है, जिसने सबको सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है और जो सदा सर्वमय है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १३ ॥

स्वर्गमें, भूमिमें, बाहर तथा अपने अन्दर और दूसरेके अन्दर जो समनामका ज्योतिःस्वरूप परमतत्त्व भासता है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १४ ॥

यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसदुत्थितं विश्वं विश्वाङ्गे तच्चिदम्बरम् ॥ १५ ॥
यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते यन्मयास्तच्चिदम्बरम् ॥ १६ ॥
निद्रायां विनिवृत्तायां यतो विश्वं प्रवर्तते ।
निवर्तते च यच्छान्तौ तच्चिदम्बरमुच्यते ॥ १७ ॥
यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत्सत्तालयोदयौ ।
स्वानुभूत्यात्मकं स्वान्तःस्थितं तद्विद्धि चिन्नभः ॥ १८ ॥
नेदं नेदं तदित्येवं सर्वं निर्णीय सर्वथा ।
यन्न किंचित्सदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥ १९ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
दूरतोऽर्धनिमेषेण तच्चिन्मात्रवपुः स्मृतम् ॥ २० ॥

जिस नित्य असीम विराट्में मजबूत तागेमें मालाकी तरह मूर्त और अमूर्त यह सारा जगत् स्थित है और जिससे उदित हुआ है, वह चिदाकाश है ॥ १५ ॥

जिससे सृष्टि और प्रलयरूप सब विकार उत्पन्न होते हैं, जिसमें लीन हो जाते हैं और जो सबका उपादान कारण है, वह चिदाकाश है। इससे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिसे उक्त तटस्थ लक्षण दिखलाया ॥ १६ ॥

सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्राके निवृत्त होनेपर जिस प्रत्यगात्मासे विक्षेपशक्तिवश जाग्रत् स्वप्नरूप और आकाशादिस्वरूप विश्वका आविर्भाव होता है और विक्षेपशक्तिके शान्त होनेपर पूर्वोक्त विश्व विलीन हो जाता है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥ १७ ॥

जिसके उन्मेष और निमेषसे (पलक उठाने और गिरानेसे) जगत्सत्ताके प्रलय और उदय* होते हैं, स्वानुभवरूप जो अपने हृदयमें स्थित है, उसे आप चिदाकाश जानिये ॥ १८ ॥

यह नहीं है, यह नहीं है इस प्रकार सब तरहसे भली भाँति निर्णय कर जो कुछ नहीं है, सदा सर्वरूप वह चिदाकाश कहलाता है। इस प्रकार सर्वनिषेधका अवधि सर्वात्मरूप उसका लक्षण बतलाया है ॥ १९ ॥

आधे पलकमें (झटपट) दूरसे एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें मध्यमें जो

* निमेषसे—चरम साक्षात्कारवृत्तिके आविर्भावसे—जगत्की सत्ताका लय होता है। निमेषसे—स्वस्वरूपके आवरणसे जगत्-सत्ताका उदय होता है।

विश्वं तन्मयमेवेदं यथाभूतं यथास्थितम्
रूपालोकमनस्कारैर्युक्तमप्येवमीदृशम् ॥ २१ ॥
ईषदुन्मेषणादेतदन्यतामिव गच्छति ।
अनन्यरूपमपि सच्चिद्व्योम विमलाकृति ॥ २२ ॥
पश्यन्नेवेन्द्रियैरर्थान्नूनं निर्वासनाशयः ।
प्रबुद्ध एवैकघनः सुषुप्तावस्थितो भव ॥ २३ ॥
निर्वासनः शान्तमना वद व्रज पिबाऽऽहर ।
पाषाण इव संजीवो नित्यं सुघनमौनवान् ॥ २४ ॥

संवित्का रूप है वह चिन्मात्रस्वरूप कहा गया है। अर्धोन्मेष इसलिए कहा कि विलम्ब होनेपर वृत्तिका विच्छेद होने या अन्य विषयका सम्पर्क होनेसे शुद्ध चिदाकाश नहीं पहिचाना जा सकता। उपक्रममें उक्तका पुनः कथन उपसंहार जतलानेके लिए है ॥ २० ॥

चिदाकाशके लक्षणोंके निरूपणकर उसकी अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए विश्वकी तन्मयता दर्शाते हैं—'विश्वम्' इत्यादिसे ।

बाह्य विषयभोगों और आभ्यन्तर विषयभोगोंसे युक्त तथा इस प्रकारका यथाभूत तथा यथास्थित यह साराका सारा विश्व चिन्मय ही है ॥ २१ ॥

ऐसी परिस्थितिमें प्रलयावस्थासे सृष्ट्यवस्थाकी भेदप्रतीति कैसे होगी ? इस आशंकापर कहते हैं—'ईषत्' इत्यादिसे ।

निर्मल आकारवाला अनन्यरूप (एकरूप) होता हुआ भी यह चिदाकाश थोड़ेसे विकाससे अन्य-सा (भिन्न-सा) हो जाता है ॥ २२ ॥

उक्त अन्यताभ्रान्ति वासनावश होती है, जिसे वासना नहीं है, उसे उक्त भ्रम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'पश्यन्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियोंसे पदार्थोंका अनुभव करते हुए ही आप वासनाशून्य अन्तःकरण होकर निरतिशय आनन्दरूप चिदात्माके ज्ञानसे युक्त हो सुषुप्तकी तरह स्थित होइये ॥ २३ ॥

वासनाविहीन शान्तचित्त आप चैतन्य रहते पाषाणवत् मौन धारणकर आत्मानन्दमें निमग्न हो बोलिये, भ्रमण कीजिये, पीजिये, भोजन कीजिये ॥ २४ ॥

इदं न संभवत्येव दृश्यं पश्यसि यत्पुरः ।
मृगतृष्णाजलमिव द्वैतमिन्दाविवोदितम् ॥ २५ ॥
इदमादावनुत्पन्नं कारणाभावतः किल ।
कारणेन विना कार्यं नहि नामोपपद्यते ॥ २६ ॥
यद्वोपपद्यते किंचित्तदकारणकोद्भवम् ।
यथास्थितं परं रूपमुद्भूतमिव लक्ष्यते ॥ २७ ॥
तद्यथास्थितमेवाऽङ्ग पूर्वरूपमवस्थितम् ।
भवत्यद्वयमेवाऽच्छं द्वयेनाऽप्युपलक्षितम् ॥ २८ ॥
तत्रेदंप्रत्ययः प्रौढो भवत्यनुभवो हि यः ।
समायातमिदं भ्रान्तं तत्स्वप्नस्त्रीसमं विदुः ॥ २९ ॥

जो यह दृश्य आगे आप देखते हैं, इसका मृगतृष्णा-जलके समान तथा चन्द्रमामें प्रतीत हो रहे द्वैतके (द्वित्वके) समान किसी प्रकार भी संभव नहीं है ॥ २५ ॥

कारणके अभाववश यह सृष्टिके प्रारम्भमें उत्पन्न ही नहीं हुआ । क्योंकि कारणके अभावमें कार्यकी उपपत्ति हो ही नहीं सकती ॥ २६ ॥

यदि कहिये कि जो कोई बीजसे अङ्कुर आदि कार्य, अन्वय-व्यतिरेकके दिखाई देनेसे, बिना कारणके उत्पन्न होता है, वह भी बिना कारणके उत्पन्न नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी अद्वय ब्रह्मसे ही होती है ।

शङ्का—निर्विकार अद्वितीय ब्रह्मसे अङ्कुर आदिकी उत्पत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—यथास्थित परमरूप ही उद्भूत-सा (विकसित हुआ-सा) प्रतीत होता है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्यों-का-त्यों ही वह पूर्वरूप स्थित रहता है फिर भी जैसे अद्वितीय भी चन्द्रबिम्ब भ्रान्ति होनेपर द्वित्वसे युक्त होता है वैसे ही वह भी भ्रान्तिसे उद्भूतसा प्रतीत होता है ॥ २८ ॥

अद्वितीय ब्रह्म ही वह है तो उसमें अन्यथा ज्ञान कैसे होता है ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

अद्वितीय ब्रह्ममें यह जगत् है इस तरहका जो दृढ प्रत्यय होता है, वह अनादि कालसे प्राप्त अज्ञानसे हुआ स्वप्नस्त्री समागमके तुल्य है ॥ २९ ॥

तस्माद्दृश्यं न चोत्पन्नं नैवाऽस्ति न भविष्यति ।
न च नश्यति यन्नाऽस्ति तस्य किं नाम नश्यति ॥ ३० ॥
तत्तदेव परं शान्तं चिद्व्योमैव तथा स्थितम् ।
स्वरूपादच्युतं स्वस्थं सौम्यं जगदिवोदितम् ॥ ३१ ॥
नहीदमग्रे यद्दृष्टं दृश्यं तत्सत्कदाचन ।
न चाऽपि द्रष्टा दृष्टार्थाभावे क्व द्रष्टृता किल ॥ ३२ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्द्रष्टृदृश्यावभासनम् ।
किमिदं कथमाभाति भूयोऽपि वदतांवर ॥ ३३ ॥

इसलिए न तो दृश्य उत्पन्न हुआ है, न इस समय है और न आगे होगा तथा न नष्ट होता है, जो है ही नहीं, उसका नाश क्या होगा ? ॥ ३० ॥

विश्व (जगत्) परम शान्त चिदाकाश ही है, चिदाकाश ही विश्वके आकारसे स्थित है। वह परिणामवश जगत्‌के आकारसे परिणत नहीं हुआ, किन्तु अपने स्वरूपसे च्युत हुए बिना स्वस्थ सौम्य वह जगत्‌सा उदित हुआ है ॥ ३१ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि परिणामसे वह जगद्रूप क्यों नहीं होता ? तो इसपर उसकी (दृश्यकी) ब्रह्मसमानसत्ताका अभाव होनेके कारण उसका (द्रष्टाका) जगद्रूप परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

जो यह दृश्य है यह कभी पहले सत् नहीं देखा गया है, पदार्थोंके अभावसे द्रष्टा भी नहीं देखा गया, अतः द्रष्टृता भी नहीं है ॥ ३२ ॥

यदि द्रष्टा और दृश्य अत्यन्त असत् हैं, तो उनकी प्रतीति कैसे होती है। अत्यन्त असत्‌का तो कहीं भान नहीं दिखाई देता, यों श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'एवं चेत्' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, यदि द्रष्टा और दृश्य असत् हैं, तो कृपया कहिये कि यह द्रष्टा और दृश्यका अवभास क्यों और कैसे होता है ? यद्यपि हे वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ, भगवन्, आप इस विषयका प्रतिपादन पहले कर चुके हैं तथापि पुनः कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ३३ ॥

श्रीरामजीकी शङ्कामें प्रथम श्लोक द्वारा असत्‌के भानका संभव स्वीकार कर द्वितीय श्लोक द्वारा सत् परमात्माका ही माया वश वैसा भान होता है, यह उत्तर देते

वसिष्ठ उवाच

असद्रूपस्य दृश्यस्य कारणाभावतः सदा ।
दृश्यताऽस्येत्यपि प्रौढिनिर्देशस्याऽत्यसंभवात् ॥ ३४ ॥
यदिदं भासते किंचिद् द्रष्टृदृश्यभ्रमात्मकम् ।
जगदादि परं रूपं तद्विद्धि परमात्मनः ॥ ३५ ॥
स्वप्ने चिन्मात्र एवाऽऽस्ते यथा गगनकाननम् ।
तथा जगत्तया भाति स्वयं चिन्मात्रमात्मनि ॥ ३६ ॥
इहाऽऽदिसर्गात्प्रभृति नाऽस्त्युपादानकारणम् ।
किंचनाऽपि क्वचिदपि भातीत्थं ब्रह्म केवलम् ॥ ३७ ॥
यच्चिदाकाशकचनं स्वयमात्मनि जृम्भते ।
तदिदं भाति तस्यैव जगदित्युदितं वपुः ॥ ३८ ॥

हैं—'असद्रूपस्य' इत्यादिसे ।

कारणके अभावसे असद्रूप दृश्यकी उत्पत्तिका ही संभव नहीं है, इसकी 'दृश्यता' यह भी प्रौढिनिर्देश है, प्रौढिवादका अत्यन्त असंभव है ॥ ३४ ॥

अतएव यह द्रष्टा, दृश्य असत्‌का रूप नहीं है, किन्तु परमार्थ ब्रह्मका रूप है, ऐसा कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

द्रष्टा दृश्य भ्रमरूप जो यह जगत् आदि कुछ भासता है, उसे आप परमात्माका परम रूप जानिये ॥ ३५ ॥

यह परमात्माका ही रूप है, यह कैसे जाना ? इस आशङ्कापर स्वप्नदृष्टान्तसे जाना, यह कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें चिन्मात्र ब्रह्म हो आकाश-उपवन बनता है वैसे ही चिन्मात्र अपनेमें अपने आप जगद्रूपसे भासित होता है ॥ ३६ ॥

यदि कोई कहे कि तब इसकी स्वप्नसमानता कैसे है; तो सकल कारणकलाप-शून्य सुषुप्तितुल्य प्रलयसे आविर्भूत होनेके कारण ही यह स्वप्नसमान है, ऐसा कहते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

यहाँ आदि सृष्टिसे लेकर कहींपर भी कुछ भी उपादान कारण नहीं है, केवल ब्रह्म ही इस प्रकार जगत्‌के रूपसे स्फुरित होता है ॥ ३७ ॥

अपने आप आत्मामें चिदाकाशका जो विशेष स्फुरण होता है, वह उसीका

यथा भावस्य भावत्वं यथा शून्यस्य शून्यता ।
आकारिणो यथाऽकारस्तथा चिन्नभसो जगत् ॥ ३९ ॥

इदं विद्धि चिदाभासं परमार्थघनं घनम् ।
इत्थं स्थितं स्वयं भातं द्रष्टृदृश्यदृगात्मकम् ॥ ४० ॥

वस्तुतस्तु द्वयाभावान्नाऽऽभासि न च भासनम् ।
किमपीदमनिर्देश्यं सद्वाऽसद्वेति वेत्ति कः ॥ ४१ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कार्यकारणतादिकः ।
कथं भेदः किमायातः कथं सत्यत्वमागतः ॥ ४२ ॥

जगत् नामसे आविर्भूत शरीर अवभासित होता है, चिदाकाश-स्फुरणके अधीन इसका स्फुरण है, इससे भी यह स्वप्नतुल्य है ॥ ३८ ॥

निर्धर्मक चिदाकाशकी जगद्धर्मकता कैसे ? ऐसी आशङ्का होनेपर मायिक विकल्पसे ही उसकी जगद्धर्मकता है, यों दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—"यथा" इत्यादिसे ।

जैसे भाव पदार्थका स्वभाव भावता है जैसे शून्यका शून्यता स्वभाव है तथा जैसे आकारवान्का आकार स्वभाव है वैसे ही चिदाकाशका जगत् स्वभाव है ॥३९॥

सैन्धवघनके समान एकरस परमार्थवस्तु ही मायामें चिदाभास इस प्रकार त्रिपुटीरूप होकर स्थित है; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि रूप इसीको जानिए । मायाका त्याग होनेपर तो द्वैतका अभाव होनेसे न भासक है और न भासन है, अनिर्वचनीयरूप यह सत् है या असत् है यह कौन जानता है, क्योंकि बाधितका विचार ही क्या हो सकता है ? ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, 'न भास्य है और न भासन है' आपके इस कथनके अनुसार यदि परमार्थ तत्त्व द्रष्टा और दृश्य दोनोंसे शून्य है, तो कार्य-कारणतादिरूप भेद कैसे है ? द्रष्टाके बिना किसीकी सिद्धि नहीं हो सकती है । और दूसरी बात यह कि वह किस उपादान कारण या निमित्त कारणसे आया । यदि असत्य ही है, कहें तो कैसे सत्यताको प्राप्त हुआ अर्थात् कैसे सब लोगोंको सत्यरूपसे भासित होता है ? यह मुझे बतलानेकी कृपा करें ॥ ४२ ॥

वसिष्ठ उवाच

चित्प्रकाशो यथाभानं यदा भावयति स्वयम् ।
स्वात्मा तथा तदेवाऽऽशु पश्यसीत्यसि दृष्टवान् ॥ ४३ ॥
चिद्व्योमैवाऽयमाकारः स्वे व्योम्न्येव न मुह्यति ।
स्वयमेव यथा स्वप्ने कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४४ ॥
भावाद्भावान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
तच्चिद्व्योम तदेवेदं सर्वं च स्थिति नेतरत् ॥ ४५ ॥

पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अपना आत्मा भी चित्प्रकाश (ईश्वर) स्वयं जब प्राणियोंकी इच्छा, कर्म और वासनाके उद्बोधानुसार जिसकी जिस प्रकार (सत्यसंकल्परूपसे) भावना करता है, उसको उस समय आप वैसे ही देखते हैं और आपके रूपसे उसीने पूर्वोक्त द्रष्टा दृश्य भावका अनुभव किया । इससे कार्यकारणभावादि भेदकी सिद्धि है ॥ ४३ ॥

वह कार्यकारण भावादि आकार चिदाकाश ही है जैसे कि मिट्टी ही घड़ा है, इसलिए चिदाकाश ही इसका उपादान कारण है और मोह (अज्ञान) ही निमित्तकारण है ।

शङ्का—यह कैसे प्रतीत होता है ?

उत्तर—चूँकि यह स्वरूपभूत चिदाकाशका ज्ञान होनेपर ही मोहको प्राप्त नहीं होता अन्यथा मोहको प्राप्त होता है । जैसे स्वप्नमें स्वयं ही मोहको प्राप्त होता है, आत्मप्रबोधसे मोहका त्याग करता है ।

शङ्का—आत्मबोधमें समर्थ ईश्वर स्वयं जीव बनकर क्यों मोहको प्राप्त होता है, क्यों प्रबुद्ध नहीं होता ?

उत्तर—स्वतन्त्र ईश्वरसे 'आप समर्थ होकर भी क्यों मोहमें पड़ते हैं, ऐसा प्रश्न या आक्षेप करनेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४४ ॥

दुग्धभावसे दधिभावकी प्राप्तिमें और पिण्डभावसे घटभावकी प्राप्तिमें पूर्वभावकी निवृत्ति होने और उत्तरभावकी उत्पत्ति न होनेपर मध्यमें पलकभरके लिए जो सन्मात्ररूपसे प्रसिद्ध परमार्थ सत्य संवित्‌का स्वरूप है, वही चिदाकाश है, यह मैं पहले कह चुका हूँ । वही (चिदाकाश ही) यह सब वस्तु रूपसे प्रतीत होता है अन्य नहीं, इसलिए इस सबपर सत्यताकी प्रतीति हुई है ॥ ४५ ॥

जैसे ईश्वरकी जीवभाव कल्पनापर कोई आक्षेप करनेवाला नहीं है वैसे ही

कार्यकारणभावादिदृशोऽविद्याविजृम्भिताः ।
जगद्वत्कल्पयत्येष कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४६ ॥
द्रष्टा भोक्ताऽथ कर्ता वा कश्चित्स्यादितरो यदि ।
तत्कथं किमिदं दृश्यमिति युज्येत नाऽन्यथा ॥ ४७ ॥
यत्र स्वप्ने निराभासं चिद्व्योमैव विराजते ।
शुद्धमेकमनेकात्म तत्र किं क्व विकल्प्यते ॥ ४८ ॥
आस्वयम्भुव एवेयं चिन्मात्रे भाति सर्गभाः ।
परिज्ञाता सती सा तु ब्रह्मैव भवति क्षणात् ॥ ४९ ॥
एषैव त्वपरिज्ञाता भ्रान्तिर्मायेति कथ्यते ।
जगदित्युच्यतेऽविद्या दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥ ५० ॥

जीवकी भी अपनी अविद्यासे कार्यकारणरूप अवस्थाओंकी (द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप अवस्थाओंकी) कल्पनामें भी आक्षेप करना युक्त नहीं है, यह कहते हैं—'कार्य-कारण०' इत्यादि से ।

यह अविद्यासे उत्पन्न हुई कार्यकारणभाव आदि दृष्टियोंकी जगत्की नाईं कल्पना करता है । इसके प्रति आक्षेप कर्त्ता कौन हो सकता है ? कोई भी अपने प्रति मैं किसलिये ऐसा करता हूँ, यों प्रश्न या आक्षेप नहीं कर सकता है, यह भाव है ॥ ४६ ॥

आत्मासे अन्यके कर्ता और भोक्ता होनेपर तो प्रश्न या आक्षेप हो ही सकता है, ऐसा कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

यदि द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता कोई दूसरा हो तो कार्यकारण आदि भेद कैसे है और कौन इसका उपादान है ? यह प्रश्न बन सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ४७ ॥

जिस स्वप्नमें निराभास शुद्ध एक चिदाभास ही अनेक रूपोंसे विराजमान होता है, वहाँपर कौन किसपर आक्षेप करे ॥ ४८ ॥

स्वयम्भूसे लेकर ही यह सृष्टिभ्रान्ति तत्त्वके परिज्ञानके अभावसे चिन्मात्रमें प्रतीत होती है, तत्त्वज्ञान होनेपर तो वह तत्क्षण ब्रह्म ही हो जाती है ॥ ४९ ॥

यह सृष्टिभ्रान्ति ही तत्त्वतः परिज्ञात न होकर शास्त्रोंमें मायाके नामसे पुकारी जाती है, लोकमें 'जगत्' नामसे कही जाती है, अज्ञानियों द्वारा 'अविद्या' कही जाती है और तत्त्वज्ञानियों द्वारा 'दृश्य' नामसे वर्णित है ॥ ५० ॥

चिदाकाशप्रकाशेन चित्ता दृश्यपिशाचकः।
वेतालो बालकेनेव बुद्धोऽसन्नेव सन्निव ॥ ५१ ॥
जगत्ताऽऽत्मन्यसत्याऽपि चिद्व्योम्नैवाऽनुभूयते।
सत्येव साङ्गलेखेव स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥५२ ॥
अहमद्रिरहं रुद्रः समुद्रोऽहमहं विराट्।
चेत्यते खे चितैवेति स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥ ५३ ॥
आकारि कारणाभावाज्जातं कार्यं न किंचन।
महाप्रलयचिद्व्योम्नि चित्स्थितेत्थमिदन्तया ॥ ५४ ॥
अकारणकमेवेदं व्योम व्योम्नाऽनुभूयते।
जगदित्येव शून्याङ्गं चिन्मात्रात्म चिदात्मनि ॥ ५५ ॥

जैसे अविद्यमान भी पिशाच बालकको अपनी कल्पना-वश विद्यमान-सा प्रतीत होता है वैसे ही चिदाकाशप्रकाशको अपना चित्स्वभाव, जो पृथक् सत् न होता हुआ भी सत्-सा जगत्-पिशाचके रूपमें ज्ञात हुआ है ॥ ५१ ॥

जैसे स्वप्नमें असत्में सत् प्रतीति और निरवयवमें सावयव प्रतीति होती है वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—'दृश्याकाश०' इत्यादिसे।

यद्यपि जगत्ता असत्य है, तथापि चिदाकाशको अपने स्वरूपमें ही उस का अनुभव होता है। जैसे स्वप्नमें चैतन्यकी नगरता और पर्वतता असत्य होते हुए भी सत्य-सी निरवयव होते भी सावयव-सी प्रतीत होती है वैसे ही यह जगत्ता सत्य और सावयवसी प्रतीत होती है ॥ ५२ ॥

मैं मेरु, हिमालय आदि पर्वत हूं, मैं रुद्र हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं विराट् हूँ, यों स्वप्नमें पर्वतता और नगरताकी प्रतीतिकी भाँति आकाशमें चित् ही अहंताके अध्याससे अनुभव करती है ॥ ५३ ॥

चित्-अनुभव ही सर्ग है, यह क्यों कहते हैं? प्रधान, परमाणु आदि अन्यान्य कारणोंसे ही यह उत्पन्न हुआ है, यह क्यों नहीं कहते, इस आशङ्कापर कहते हैं—'आकारि' इत्यादिसे।

साकार कारणके अभावसे कुछ भी कार्य उत्पन्न नहीं हुआ, महाप्रलयरूपी चिदाकाशमें चित् इस तरह जगद्रूपसे स्थित है ॥ ५४ ॥

अवयवशून्य चिन्मात्ररूप यह आकाश बिना किसी कारणके ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाशमें जगद्रूपसे अनुभूत होता है ॥ ५५ ॥

सर्व एव जडा जीर्णा दर्पणा इव जन्तवः ।
समीपगत एवाऽन्तः कुर्वतस्तु विचारणम् ॥ ५६ ॥
तत्तत्स्वरूपमुत्सृज्य बुद्ध्वा चिन्मात्रखं जगत् ।
अश्मना चेतनेनैव स्थेयं नाऽऽस्थेतरोत्तमा ॥ ५७ ॥
यथाऽऽस्ते चलयद्देहं वार्यावर्तजगद्द्रवः ।
चेततीति तथा चित्त्वं स्थिता चित्तज्जगद्दृशा ॥ ५८ ॥
यथा कल्पद्रुमोऽभीष्टं कुर्याच्चिन्तामणिर्यथा ।
तथा यद्भावितं स्वान्तस्तत्पूरयति चित्क्षणात् ॥ ५९ ॥
चितिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
आशु संपादयत्यन्तरात्मनाऽऽत्मनि खात्मिका ॥ ६० ॥

सभी जीव-जन्तुओंने दर्पणके सदृश अपने अन्दर जगद्भेदकी कल्पना कर रक्खी है विचार न करनेसे (स्वरूपज्ञान सामर्थ्यसे शून्य होनेके कारण) जड़ होकर वे जीर्ण हो गये हैं। किन्तु विचार कर रहे पुरुषश्रेष्ठका तो परम पुरुषार्थ, प्रत्यगात्मरूपसे अपने अन्दर होनेके कारण, समीपगत ही है ॥ ५६ ॥

सत्-तत् नामरूपस्वरूपका त्यागकर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाश ही है, यों जगत्को चिन्मात्र जानकर चिदेकघनको पत्थरके समान अचल होना चाहिये। इससे अतिरिक्त मायिक देहावस्था उत्तम नहीं है ॥ ५७ ॥

चित् कैसे जगत्के रूपसे स्थित है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'तथा' इत्यादिसे।

जैसे जल अपने शरीरको परिचालित करता हुआ आवर्त (जलभ्रमि), तरङ्ग आदिके रूपसे जगत्में द्रव होकर स्थित होता है वैसे ही चित् 'चेतनि' यों व्यापार रूप चित्ताकी अपनेमें कल्पना कर जगद्रूपसे स्थित है ॥ ५८ ॥

जब अल्पशक्तिवाले कल्पद्रुम आदि भी संकल्पित वस्तुओंकी कल्पना करनेकी शक्ति रखते हैं तब सर्वशक्तिमान् परमात्मामें उक्त शक्ति है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे कल्पवृक्ष अभीष्ट फल देता है और जैसे चिन्तामणि मन चाही वस्तु देती है वैसे ही चित् भी जिस वस्तुकी मनमें भावना की जाय, उसकी तत्क्षण पूर्ति कर देती है ॥ ५९ ॥

आकाशात्मक चिति चिन्तामणि और कल्पवृक्षके समान शीघ्र ही अपनेसे अपनेमें अभीष्ट (वाञ्छित) का सम्पादन करती है ॥ ६० ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ मध्यदेशे चितेर्वपुः ।
यत्तन्मयमिदं दृश्यं कुतो द्वैतैक्यविभ्रमः ॥ ६१ ॥
चिच्छायैवं कचत्यच्छमनन्ता भास्वरोदरा ।
अङ्गरिक्ताऽपि दृश्याऽन्तःशून्यता नीलतेव खे ॥ ६२ ॥
विसदृशकार्यानुभवो
न भवति सहकारिकारणाभावात् ।
सर्गादावत आद्या
चिदेव दृश्यं यथा स्वप्ने ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

पलक भरमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें प्राप्ति होनेपर मध्यमें जो चितिका अशेषविशेषशून्य स्वरूप है, तन्मय ही यह विश्व है, इसमें द्वैत और ऐक्य भ्रम कैसे हो सकता है ? ॥ ६१ ॥

इस तरह अनन्त भास्वर चित्प्रभा ही जगत्के वेषसे स्पष्टतया स्फुरित होती है। जैसे आकाशमें शून्यता नीलताके सदृश स्फुरित होती है वैसे ही अवयवरहित भी वह दृश्या है ॥ ६२ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें चित्से विसदृश (विलक्षण यानी जड़) कार्यका उद्भव नहीं हो सकता है, कारण कि विसदृशतामें निमित्तभूत सहकारी कारणोंका अभाव है। अर्थात् सुसदृश भी कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि भेदक कोई नहीं है, अतः कार्यत्वकी असिद्धि है। अतः आद्य चित् ही दृश्य है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह स्वप्न दृष्टान्तसे सिद्ध हो चुका ॥ ६३ ॥

एक सौ छः सर्ग समाप्त

सप्ताधिकशततमः सर्गः

अचेत्यचिन्मयं विश्वं विष्वगाभाति चिन्नभः ।
अत्र चिच्चेतनं चेदं चेत्यमप्येवमात्मकम् ॥ १ ॥
अतो जीवन्नपि मृत इव सर्वोऽवतिष्ठते ।
असावहं च त्वं चेति जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ २ ॥
काष्ठमौनमृता एव व्यवहारगता अपि ।
खगमा एव वा सर्वे भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ३ ॥

एक सौ सात सर्ग

[अचेत्य पृथिवी आदिकी अवस्तुता तथा स्वप्नकी भाँति जगत् चित्‌का स्फुरण है, यह उपपादन]

विश्वके चेत्यभावका निराकरण कर उसमें चिन्मात्रता सिद्ध करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'अचेत्य०' इत्यादिसे ।

अचेत्य चिन्मय विश्व चिदाकाश चारों ओर भासित होता है, विश्वकी सिद्धि चिदाकाशमात्रके अधीन है, अतः उसे चिदाकाशरूप कहा। इसमें चित्, चेतन क्रिया और चेत्य यह त्रिपुटी चिन्मयी है यह प्रतिज्ञार्थ है । इस प्रतिज्ञामें शुद्ध चिदात्मक प्रतिज्ञार्थके रूपसे अभिप्रेत है, यह शेष है ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा सिद्धिके दो फल हैं । स्थित जगत्‌के जगद्भावकी निवृत्ति और जी रहे हम लोगोंके जीवभावकी निवृत्ति, ऐसा कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

इसलिए जीता हुआ भी यह सारा प्रपञ्च मरा सरीखा है । यह, मैं और तुम भी सब जीते हुए भी मरे-से हैं ॥ २ ॥

अथवा उक्त प्रतिज्ञासिद्धिका फल सब पदार्थोंकी कूटस्थता और अमूर्तता है, ऐसा कहते हैं—'काष्ठ०' इत्यादिसे ।

व्यवहारमें प्रतिष्ठित भी सब प्राणी काठके समान मौनको अर्थात् अत्यन्त निष्क्रियता (निश्चेष्टता) रूप कूटस्थताको ही प्राप्त हैं अथवा सभी स्थावर-जंगम (चर-अचर) पदार्थ आत्यन्तिक अमूर्तताको प्राप्त हैं ॥ ३ ॥

अथवा आकाशकी नीलताके सदृश भासित हो रहे विश्वकी असत्यताका निश्चय उक्त प्रतिज्ञासिद्धिका फल जानिये, ऐसा कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

आकाशकाचकच्यात्म यदिदं किंचिदाततम् ।
न किंचिदेव तद्विद्धि किंचिद्व्योम्नि कुतो भवेत् ॥ ४ ॥
केशोण्डूकनदीवाहधूमालीमौक्तिकादिवत् ।
यत्खं कचति तत्राऽस्ति नाऽनुभूतेऽपि वस्तुता ॥ ५ ॥
तथैवाऽस्मिञ्जगन्नाम्नि चिद्व्योम्नि कचने चितेः ।
अनुभूतेऽपि निःशून्ये काऽऽस्थाऽऽस्थाभावकश्च कः ॥६॥
चिद्बालकल्पनाजाले शून्यात्मनि निरर्थके ।
अवस्तुभूते पृथ्व्यादौ भ्रान्तिमात्राम्बरोदये ॥ ७ ॥
किमास्था बालका ब्रूत ममेदमहमित्यलम् ।
आ ज्ञातं रमते बालसंकल्पे बाल एव च ॥ ८ ॥

आकाशमें काच और केशोंकी नीलताके समान जो कुछ यह व्याप्त है, उसे आप शून्य ही (कुछ भी नहीं) जानिये। कारण कि चिदाकाशसे क्या कहाँसे होगा ?

आकाशमें केशसमूहके समान नीलता, नदी, रथ, धूमपङ्क्ति और मोतियोंके सदृश जो आकाशका स्फुरण होता है, उसके अनुभूत (अनुभवमें आरूढ़) होनेपर भी उसमें वस्तुता नहीं है ॥ ४, ५ ॥

आकाशमें स्फुरित हो रही मोतियोंकी मालाके सदृश ही जगत्-भ्रम है, उसमें भोगाशा करना ठीक नहीं है, ऐसा फलित कहते हैं—'तथैव' इत्यादिसे ।

वैसे ही इस जगत्-नामवाले चित्के स्फुरणरूप चिदाकाशमें, जो अनुभूत होनेपर भी निश्शेषतः शून्य है, कौन आस्था है और आस्थाजनक कौन पदार्थ है ॥६॥

पृथिवी आदि प्रपञ्च चिद्रूपी बालककी कल्पनाओंका राशिरूप है, शून्यरूप है, व्यर्थ है, अवस्तुरूप है, भ्रान्तिमात्रसे आकाशमें उदित है, अतः इसमें भोगास्था कैसे संभव है ॥ ७ ॥

हे मूढ़ लोगो, कहो तो यह मेरा है यह मैं हूँ इस प्रकारकी आस्था क्या ठीक है ? अर्थात् अनुचित है ।

प्रश्न—यदि आस्था अनुचित ही है, तो क्यों लोग उसपर आस्था करते हैं ?

उत्तर—हाँ, ठीक है, जैसे बालकके संकल्पमें बालकको ही दिलचस्पी है अन्यको नहीं वैसे ही मूर्खजन ही इस असत्प्राय प्रपञ्चपर आस्था करते हैं, नहीं ॥ ८ ॥

पृथ्व्याद्यसद्विचारैर्वा व्यर्थं यास्यति जीवितम् ।
किंचिच्च न ज्ञास्यति भोराकाशक्षालनोद्यतः ॥ ९ ॥
सहकार्यादिपूर्वाणां कारणानामभावतः ।
यदादावेव नोत्पन्नं तन्नामाऽद्य भवेत्कुतः ॥ १० ॥
अजातेनाऽसताऽर्थेन खेन व्यवहरन्ति ये ।
मूढा मृतमजातं वा तनयं पालयन्ति ते ॥ ११ ॥

अतएव जिन्हें तनिक भी विवेककी झलक प्राप्त हो गई है, उन्हें असत् पृथिवी आदिका लाभ करानेवाला विचार, जो जन्मको निष्फल बनानेवाला है, छोड़कर जन्मको सफल बनानेवाले वैराग्य आदि साधनोंका सहारा लेना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'पृथ्व्याद्य०' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदि असत्-पदार्थोंके विचार-विमर्शोंसे जन्म वृथा बीत जायगा, हे आकाशको धोनेका उद्योग करनेवाले मूर्खजीव, तेरे हाथ कुछ भी न लगेगा । जैसे सुवर्ण, रत्न आदिके लोभकी इच्छासे प्रवृत्त आदमी यदि सोने और हीरेकी खानका धोना-पोंछना छोड़कर आकाशको धोने-पोछने लगे, तो चाहे कितनी ही मेहनत क्यों न करे फल कुछ न देखेगा वैसे ही पृथिवी आदि असत् पदार्थोंका विमर्श भी आकाश धोनेके तुल्य वृथा ही है, यह भाव है ॥ ९ ॥

पृथिवी आदिकी असत्ताका, कोई कारण न होनेसे अनुत्पत्ति द्वारा, पहले उपपादन कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं—'सहकार्या०' इत्यादिसे ।

सहकारी आदि कारणोंके अभावसे जो सृष्टिके प्रारम्भमें ही उत्पन्न नहीं हुआ भला बतलाइये तो वह आज कहाँसे उत्पन्न होगा ? ॥ १० ॥

इस व्यवहारमें तल्लीनता विद्वानोंके लिए हास्यास्पद ही है, ऐसा कहते हैं—'अजातेन' इत्यादिसे ।

जो लोग कभी उत्पन्न न हुए अतएव असत् आकाशतुल्य पृथिवी आदि शून्य पदार्थसे व्यवहार करते हैं वे मूढ़ अजात (उत्पन्न न हुए) मृत पुत्रका लालन-पालन करते हैं ॥ ११ ॥

तात्त्विक दृष्टिमें पृथिवी आदिकी अत्यन्त असंभावना अपने अनुभव-बलसे कहते हैं—'कुतः' इत्यादिसे ।

कुतः पृथ्व्यादयः केन के नाम कथमुत्थिताः ।
चिद्व्योमेत्थमिदं शान्तं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ १२ ॥
कार्यकारणकालादिकल्पनाकुलचेतसाम् ।
एवं पृथ्व्यादयः सन्ति तैर्बालैरलमस्तु नः ॥ १३ ॥
अपृथ्व्यादि जगन्नाम सपृथ्व्यादि च खात्मकम् ।
कचतीत्थं नभोरूपं स्वप्नादिष्विव चिन्मणिः ॥ १४ ॥
अङ्ग यदेतस्य चिदम्बरस्य
निराकृति स्वानुभवानुमानम् ।
तदेतदाभाति महीतलादि-
रूपेण वेद्येति कृताभिधानम् ॥ १५ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्याभावप्रतिपादनं
नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

ये पृथिवी आदि कहाँसे हुए, किससे हुए और कैसे हुए ? इनका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार यह शान्त चिदाकाश ही अपनेमें अपने-आप स्फुरित होता है ॥१२॥

मूढदृष्टिको तो हम प्रमाण नहीं मान सकते, ऐसा कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे। कार्य, कारण, काल आदिकी कल्पनावश व्याकुल चित्तवाले जिन मूढ़ोंकी दृष्टिमें इस तरह पृथिवी आदि हैं, उन मूढ़ोंसे हमें कोई मतलब नहीं है ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिमें पृथिवी आदिसे रहित और मूढ़ोंकी दृष्टिमें पृथिवी आदिसे युक्त जगत् चिदात्मक है या स्वप्नका पृथिवी आदिसे रहित जगत् और जाग्रत्में प्रसिद्ध पृथिवी आदिसे युक्त जगत् दोनों ही चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदिमें चित्रूपी मणि पृथिवी आदिके रूपमें स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश इस प्रकार जगत्के रूपसे स्फुरित होता है ॥ १४ ॥

स्वानुभवैक वेद्य जो इस चिदाकाशका निराकार स्वरूप है, वही यह महीतल आदि रूपसे वेद्य, दृश्य नाम धारण कर उस तरह स्फुरित होता है ॥ १५ ॥

एक सौ सात सर्ग समाप्त

अष्टाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अविद्या दृश्यरूपेयं कचन्ती यस्य विद्यते ।
चिन्नभःस्वप्ननगरी दृश्यमानाऽपि शून्यकम् ॥ १ ॥
तस्याऽज्ञस्य कियत्कालं किंरूपा स्यात्किमात्मिका ।
कियती सा च वेत्त्येवं मुने मे कथ्यतां पुनः ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

अविद्या विद्यते येषामज्ञानां भूतलादिका ।
तेषामस्यां ब्रह्मणीव नाऽस्त्यन्तोऽत्र कथां शृणु ॥ ३ ॥

एक सौ आठ सर्ग

[अविद्याके विनष्ट हुए बिना कहीं भी जगत्का अन्त नहीं है ? इस विषयमें विस्तारके साथ मनोरञ्जक अविद्याख्यानका वर्णन]

पूर्ववर्णित संसाररूपी अविद्याका तत्त्वज्ञानसे त्रैकालिकी असत्तापत्तिरूप बाध हुए बिना देशतः या कालतः अन्त हो सकता है या नहीं ? यों सन्देहमें पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

हे मुनीश्वर, यह चिदाकाशकी स्वप्ननगरीरूप अविद्या, जो विद्यमान होती हुई भी शून्यरूप अथच दृश्यरूप है, बाध न होनेके कारण जिस पुरुषके प्रति स्फुरित होती हुई विद्यमान है, उस अज्ञानीके प्रति वह कब तक रहती है, उसका क्या स्वरूप है, क्या उपादान है अथवा देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है यह सब मुझसे पुनः कहनेकी महती कृपा कीजिये ॥ १, २ ॥

उक्त सन्देहकी दूसरी कोटिको (देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है, इस अंशको) लेकर वसिष्ठजी उसे पुष्ट करनेके लिए 'विपश्चित्' कथा सुनानेके उद्देश्यसे श्रीरामचन्द्रजीको सावधान करते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

जिन अज्ञानियोंमें भूतल आदिरूप अविद्या विद्यमान है, उनका जैसे ब्रह्ममें देशतः कालतः अन्त (परिच्छेद) नहीं है वैसे ही इसमें भी देशतः कालतः अन्त नहीं है । इस विषय में उपपत्ति करानेवाली इस कथाको सुनिये ॥ ३ ॥

सदृशं जगतोऽस्याऽस्ति क्वचिदम्बरकोणके ।
कस्मिंश्चित्त्रिजगत्किंचिदनयैव व्यवस्थया ॥ ४ ॥
अस्ति कश्चिद्भुवो भागो भूषणं तत्र भूस्थितेः ।
पुरी ततमितिर्नाम्ना सुव्यक्तकलनाऽवनौ ॥ ५ ॥
तत्राऽऽसीत्पार्थिवः कश्चिद्विपश्चिदिति विश्रुतः ।
यः सभायां सुसभ्यायां विपश्चित्त्वाद्विराजते ॥ ६ ॥
राजहंस इवाऽब्जिन्यामृक्षचक्र इवोडुराट् ।
सुमेरुरिव शैलौघे यः सभायामराजत ॥ ७ ॥
निवर्तते यतोऽशक्त्या वचनं गुणवर्णनात् ।
कवीनामचलाकारा भवेद्भा भूधरो यथा ॥ ८ ॥

लोकालोक पर्वतकी सुवर्णशिलासे स्वच्छ किसी वस्तुमें स्थित चिदाकाशके कोनेमें, उस कोनेके भी किसी एक भागमें, इस त्रैलोक्यके तुल्य कोई जगत् इसी जगत्प्रसिद्ध भुवन, द्वीप, देश, काल आदिकी व्यवस्थासे युक्त है ॥ ४ ॥

उसमें जम्बूद्वीप नामक भूमिका भूषणभूत कोई एक भूमिभाग है । उसमें भी पर्वत, चहारदिवारी, बालू आदिसे होनेवाली विषमता न होनेमें (समथल भूमि होनेसे) मनुष्य, हाथी, घोड़े, रथ आदिके गमनागमन आदि व्यवहारसे युक्त भूमिमें (समभूमिमें) ततमिति नामसे विख्यात एक नगरी थी ॥ ५ ॥

उस नगरीमें विपश्चित् नामसे विख्यात राजा था, सकल शास्त्रोंमें विशेष विद्वान् होनेके कारण, विशिष्ट सभ्योंसे पूर्ण अपनी राजसभामें वह विशेषरूपसे शोभित होता था, जैसे कमलिनीमें राजहंस शोभित होता है, जैसे नक्षत्रमण्डलमें चन्द्रमा विराजमान होता है और जैसे पर्वत श्रेणियोंमें सुमेरु शोभा पाता है, वैसे ही वह अपनी सभामें शोभा पाता था ॥ ६, ७ ॥

सर्वत्र उत्तरोत्तर गुणोंके उत्कर्ष-वर्णनमें प्रवृत्त कवियोंकी सूक्तियाँ उस विपश्चित्-रूप चरमसीमा (अवधि) से गुणोंकी अनन्तता और निरुपमताके कारण वर्णन न कर सकनेसे लौट जाती थीं (वर्णन नहीं कर सकती थीं)। फिर भी कविजन उसका सत्संग करते ही थे, क्योंकि उससे कवियोंकी पर्वतके तुल्य विशाल स्थिर, सम्पत्ति, ख्याति और गुणोंके उत्कर्षसे उत्पन्न शोभा प्राप्त होती थी । जैसे मेरु अपने आश्रित लोगों मृगों, तृणों और झाड़ियोंको अपनी कान्तिसे स्वर्णमय बना देता है वैसे ही वह भी सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें स्वर्णमय बना देता था ॥ ८ ॥

प्रातः प्रातर्विकसितात्सर्वाशाभासनोद्यतात् ।
यतः प्रतापजनितश्रीरुदेत्यम्बुजादिव ॥ ९ ॥
स ब्रह्मण्यमतिर्मानी वह्निमेवाऽधिदैवतम् ।
अपूजयत्समं भक्त्या देवं वेत्ति स्म नेतरम् ॥ १० ॥
समत्स्यमकरव्यूहा गजवाजिगणान्विताः ।
आवर्तचक्रव्यूहाढ्याः कल्लोलबलमालिताः ॥ ११ ॥
मर्यादापालने युक्ता अकम्पनबलाधिकाः ।
मन्त्रिष्वप्यस्य चत्वारो दिक्षु सत्सागरा इव ॥ १२ ॥
तैरशेषककुप्चक्रनाभिराभासितावनिः ।
आसीत्सुदुर्जयो जेता स सुदर्शनचक्रवत् ॥ १३ ॥

जैसे अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको जगमगानेवाले प्रातःकालमें खिले हुए कमलसे सूर्यके आतपसे उत्पन्न हुई शोभा प्रकट होती है वैसे ही प्रसन्नवदन तथा अपनी कान्तिसे सकल दिशाओंको उद्भासित करनेमें उद्यत राजा विपश्चित्से, प्रखर प्रतापसे उपार्जित सम्पत्तियाँ कवियोंको प्रातः प्रातः प्राप्त होती थीं ॥ ९ ॥

राजा विपश्चित्को सदा ब्राह्मणोंके हितका खयाल रहता था, अतएव देवताओंमें वह्निके ब्राह्मण होनेके कारण वह देवताओंमें अग्निकी ही भक्तिके साथ पूजा करता था, अग्निके सिवा और किसी देवताको जानता तक न था ॥ १० ॥

उक्त राजाके मन्त्रियोंमें से चार मन्त्री, जो अत्यन्त धीर, विपुलबाहुबलशाली, निर्भय सेनासे प्रभावान्वित थे, चार दिशाओंमें चार सागरोंकी भांति शत्रुसेनाके निरोधके साथ देशव्यवस्था करनेके लिए नियुक्त थे। सागर मछलियों और मगरोंके झुण्डके झुण्डसे भरे रहते हैं तो मन्त्री हाथी, घोड़ोंसे युक्त थे, समुद्र आवर्तोंकी (जलभ्रमियोंकी) राशियोंसे भरे रहते हैं तो मन्त्री सेनाके विविध व्यूहोंसे युक्त थे और समुद्र ज्वार भाटोंमे घिरे रहते हैं तो मन्त्री विशाल सेनासे घिरे रहते थे ॥ ११,१२ ॥

उन मन्त्रियोंके कारण वह राजा सकल दिशारूपी पहियोंका नाभिकी (हालकी) तरह आधारभूत बनकर सुदर्शन चक्रके समान शत्रुओं द्वारा अनभिभवनीय (अतिरस्करणीय) और स्वयं विजेता हो गया था ॥ १३ ॥

तमेकदा ययौ पूर्वदिङ्मुखाच्चतुरश्चरः ।
स उवाच रहो रंहोगतिघोराक्षरं वचः ॥ १४ ॥
देव दोर्द्रुमविश्रान्तधरागोबन्धनाच्युत ।
श्रूयतां मन्मुखात्पश्चाद्यथाप्राप्तं विधीयताम् ॥ १५ ॥
पूर्वदिङ्मुखसामन्तो ज्वरेणाऽस्तमुपागतः ।
मन्ये जेतुं यमं यातस्त्वयाऽऽरब्धो जितारिणा ॥ १६ ॥
तस्मिन्समन्ततो जेतुं दक्षिणापथनायकः ।
पूर्वापराभ्यामाक्रम्य बलाभ्यामरिणा हतः ॥ १७ ॥
तस्मिन्मृते समागम्य यावद्वारुणदिक्पतिः ।
बलेनाऽऽयाति ककुभौ ते समादातुमादृतः ॥ १८ ॥
पूर्वदेशनृपैः सार्धं दक्षिणापथपार्थिवैः ।
तावदेवाऽरिभिरसावर्धमार्गे रणे हतः ॥ १९ ॥

एक समय पूर्व दिशासे एक चतुर गुप्तचर उसके पास आया । उसने एकान्तमें राजासे कालगतिके समान अनिवार्य होनेके कारण कर्णकटु वचन कहा ॥ १४ ॥

भगवन्, विशाल बाहुरूपी वृक्षोंपर डाले हुए पृथ्वीरूपी गऊके बन्धनसे आप कभी विमुख नहीं हुए यानी सदा पृथिवीको आपने अपनी बाहुओंपर बाँध रक्खा है । आप कृपाकर मेरे मुंहसे वृत्तान्त सुनिये और फिर जो समयोचित हो उसे करनेकी कृपा कीजिये ॥ १५ ॥

महाराज, पूर्व दिशाके सामन्तकी ज्वरसे मृत्यु हो गई है। मानो शत्रुओंको परास्तकर चुके आपसे आज्ञा पाकर वे यमराजको जीतनेके लिए यमलोक चले गये हैं ॥१६॥

उनके मरनेके उपरान्त दक्षिण दिशाके अधिपति (आपके सामन्त) चारों ओरसे पूर्व और दक्षिण दिशाको स्वायत्त करनेके लिए उद्यत हुए, किन्तु उन्हें भी शत्रुने पूर्व और पश्चिमकी सेनाओं द्वारा आक्रमणकर मार डाला ॥ १७ ॥

उनके मर जानेके उपरान्त पश्चिम दिशाके अधिनायक (आपके सामन्त) ज्यों ही सेना बटोर कर आपकी पूर्व और दक्षिण दिशाओंको शत्रुसे मुक्त करनेकी इच्छासे जा रहे थे त्यों ही रास्तेमें शत्रुओंने पूर्व देश और दक्षिण देशके राजाओंके साथ संग्राममें उन्हें मार दिया ॥ १८, १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथाऽस्मिन्कथयत्येवं त्वरार्तमपरश्चरः ।
उपप्लवो जडोत्पीड इव हर्म्यं विवेश ह ॥ २० ॥

चर उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देवारिभिरुपद्रुतः ।
इत आयाति सबलो भग्नसेत्वम्बुपूरवत् ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुत्वा महीपालः कालक्षेपमवास्तवम् ।
मन्यमान उवाचेदं निर्गच्छन्वरमन्दिरात् ॥ २२ ॥
राज्ञः सन्नह्य सामन्तानानीयन्तां च मन्त्रिणः ।
उद्घाट्यन्तां हेतिशाला दीयन्तां घोरहेतयः ॥ २३ ॥
श्लेष्यन्तां कङ्कटा देहेष्वागच्छन्तु पदातयः ।
गण्यन्तामाशु सैन्यानि क्रियन्तां वरकल्पनाः ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उक्त गुप्तचर जल्दी जल्दी राजासे यह कह ही रहा था कि प्रलयमें जलप्रवाह (बाढ़) के समान दूसरा गुप्तचर राजप्रसादमें प्रविष्ट हुआ ॥ २० ॥

गुप्तचरने कहा—महाराज, उत्तर दिशाके अधिनायक (आपके सामन्त) शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होकर जिसका बाँध टूट गया ऐसे जलप्रवाहके समान सेना सहित इधर ही आ रहे हैं ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, यह सुनकर राजाने विलम्बको सब वस्तुओं और महलोंके लिये खतरनाक समझकर सुन्दर प्रासादसे निकलते हुए यह कहा—

राजगण, सामन्त और मन्त्रिगण हरबा-हथियारसे लैस कर लिवा लाये जायँ, शस्त्रागार खोल दिए जायँ, सबको भीषण अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायँ, सैनिक कवच पहन लें पैदल सेनाएँ जल्दी कूच करें, तुरन्त सेनाकी गिनती की जाय, श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकोंको प्रोत्साहित किया जाय, सेनाध्यक्षोंकी नियुक्तियाँ की जायँ और चारों ओर गुप्तचरोंका जाल बिछाया जाय ॥ २२–२४ ॥

कल्प्यन्तां च बलाध्यक्षाः प्रेष्यन्तामभितश्चराः ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

वदत्येवं त्वरायुक्तं संरम्भवति राजनि ।
प्रतिहार उवाचेदं प्रविश्याऽऽकुलमानतः ॥ २५ ॥

प्रतिहार उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देव द्वार्यवतिष्ठति ।
काङ्क्षत्यब्जमिवाऽर्कस्य देवदेवस्य दर्शनम् ॥ २६ ॥

राजोवाच

गच्छाऽविलम्बितं तावदेनमेव प्रवेशय ।
जानीमः किं दिगन्तेषु वृत्तं वृत्तान्तसंश्रवात् ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त उत्तराशेशं प्रतिहारप्रवेशितम् ।
प्रणामपरमग्रेऽसौ राजाऽपश्यद् बलाधिपम् ॥ २८ ॥
क्षतविक्षतसर्वाङ्गमङ्गमङ्गेषुसंततम् ।
श्वासाकुलं वमद्रक्तं धैर्येणाऽबलनिर्जितम् ॥ २९ ॥
स प्रणम्य त्वरायुक्तमुवाचेदमुपक्रमम् ।
संस्तभ्याऽङ्गव्यथामाशु संततोच्छ्वासमुच्छ्वसन् ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भय-चकित राजा त्वरापूर्वक यह सब कह ही रहा था कि द्वारपालने घबराहटके साथ प्रवेश कर प्रणामपूर्वक राजासे यह कहा ॥ २५ ॥

द्वारपाल बोला—महाराज, उत्तर दिशाका सेनाधिपति ड्योढ़ीपर खड़ा है जैसे कमल सूर्यके दर्शनोंकी आकाङ्क्षा करता है वैसे ही महाराजाधिराजके (आपके) दर्शन चाहता है ॥ २६ ॥

राजाने कहा—जाओ, बहुत जल्द ही उसे प्रवेश कराओ, उसके मुँहसे वृत्तान्तके भली भाँति श्रवणसे दिगन्तोंमें क्या घटना घटी यह जानेंगे ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राजाके यह कहनेपर द्वारपाल द्वारा भीतर प्रवेशित सेनाध्यक्ष उत्तर दिशाके अधिपतिको राजाने प्रणाम करते देखा, उसके संपूर्ण अङ्ग क्षत-विक्षत थे, प्रत्येक अवयवमें बाण व्याप्त थे, सांस जोरसे चल रही थी, निर्बल

बलाध्यक्ष उवाच

देव त्रयोऽपि दिक्पाला बलेन बहुना सह ।
त्वदाज्ञयेव निर्जेतुं यमं यमपुरं गताः ॥ ३१ ॥
तद्देशपालनाद्यर्थमशक्तं मामिमं ततः ।
अनुद्रवन्तो बहवो भूपाः प्राप्ता बलादिह ॥ ३२ ॥
महत्परबलं प्राप्तमिदं देवस्य मण्डलम् ।
विधीयतां तथाप्राप्तं न देवस्याऽस्ति दुर्जयम् ॥ ३३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्मिन् वदत्येवमार्तिमत्याजिविक्षते ।
सहसैवाऽभ्युवाचेदं प्रविश्य पुरुषोऽपरः ॥ ३४ ॥
पुरुषा मण्डलस्याऽस्य विपुला दललीलया ।
स्थितान्यखिलान्युच्चैश्चतुर्दिक्कं नरेश्वर ॥ ३५ ॥
कचच्चक्रगदाप्रासकुन्तकाननकान्तिभिः ।
चलिता नोऽरिभिर्भूमिर्लोकालोकतटैरिव ॥ ३६ ॥
पताकायुधयोधङ्गाश्चलत्परिकराकुलाः ।
विसरन्ति रथास्तत्र प्रोड्डीनत्रिपुरौघवत् ॥ ३७ ॥

होनेके कारण वह शत्रु द्वारा जीता गया था। उसने धीरतासे देहव्यथा सहनकर लगातार साँस लेते हुए प्रणामपूर्वक राजासे जल्दी जल्दी ये वाक्य कहे ॥ २८-३० ॥

सेनाधिपतिने कहा—राजन्, तीनों दिक्पाल बहुत बड़ी सेनाके साथ मानो आपकी आज्ञासे यमको जीतनेके लिए यमपुर चले गये हैं, तदनन्तर उनके देशोंका परिपालन करनेमें अशक्त मेरा पीछा कर रहे बहुतसे राजा यहाँ जबर्दस्ती पहुँचे हैं। आपके मण्डलमें शत्रुओंकी यह बड़ी भारी सेना प्राप्त हुई है, सो हमारी पराजित सेनाकी जैसी दुर्दशा इन लोगोंने की है वैसी ही इनकी दुर्दशा कीजिये आपके लिए कुछ भी दुर्जय नहीं है ॥ ३१-३३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इसके बाद युद्धभूमिमें क्षतविक्षत शरीरवाले अतएव पीड़ित उत्तरदिशाधिपति यह कह ही रहे थे इतनेमें दूसरे आदमीने प्रविष्ट होकर राजासे यह कहा—महाराज, इस मण्डलके लोग पीपलके पत्तोंकी-सी कँपकँपीसे विशाल बन गये हैं, चारों ओर शत्रुओंकी सेनाएँ प्रचुर मात्रामें व्याप्त हैं। शत्रुओंने लोकालोक तटोंकी तरह

करानुन्नामयन्तः खे मांसवृक्षवनोपमाः ।
बृंहन्ति वारणव्यूहा वर्षावारिदवृन्दवत् ॥ ३८ ॥

नतोन्नतानि कुर्वन्तः स्पन्देनोर्वीनतोन्नतैः ।
हेषन्ते हयसंघाता वातस्पन्दमहाब्धिवत् ॥ ३९ ॥

रसन्ति तुरगापूराः फेनिलावर्तपातिनः ।
सर्वतो वलयाकारा लवणार्णववारिवत् ॥ ४० ॥

आकाशकान्तिसन्नाहैर्दिशं प्रति बलं बलम् ।
उदेत्यलघुकल्लोलैः प्रलयार्णवपूरवत् ॥ ४१ ॥

शरास्त्रशस्त्रसन्नाहमुकुटाभरणत्विषः ।
कचन्ति त्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव तदङ्गगाः ॥ ४२ ॥

हमारी भूमि घेर ली है, उनके खड्ग, गदा, प्रास और भालोंके समूहोंकी कान्ति चमक रही है। पताका, शस्त्रास्त्र और योद्धाओंसे भरे हुए चञ्चल और सुन्दर सम्पूर्ण सामग्रीवाले रथ इधर उधर चल रहे हैं। वे उड़े हुए त्रिपुरासुरके नगरोंके समूहसे प्रतीत होते हैं ॥ ३४-३७ ॥

वर्षा ऋतुके मेघोंके सदृश हाथियोंके झुण्ड, जो मांसके वृक्षोंसे भरे वनके तुल्य हैं, आकाशमें सूड़ोंको उठाते हुए चिंघाड़ रहे हैं ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके झुण्ड, जो गतिके क्रमसे पृथिवीकी समता, विषमताकी नाईं समता विषमता कर रहे हैं, वायुसे आन्दोलित महासागरकी भाँति हिनहिना रहे हैं ॥ ३९ ॥

क्षीरसागरके जलके समान फेनयुक्त आवर्तोंकी (जलभ्रमियोंकी) भाँति इधर-उधर वृत्ताकार घूम रहे घोड़ोंके वृन्द शब्द करते हैं ॥ ४० ॥

जैसे प्रलयकालके सागरका प्रवाह बड़े बड़े ज्वार भाटोंसे प्रत्येक दिशामें प्रकट होता है वैसे ही आकाशके समान स्वच्छ कान्तिवाले कवच शस्त्रास्त्रोंसे युक्त सेना भी प्रत्येक दिशामें प्रकट होती है ॥ ४१ ॥

योद्धाओंके शरीरपर लगे हुए बाण, अस्त्र-शस्त्र, कवच, मुकुट और आभरणोंकी कान्तियाँ आपके प्रतापाग्निकी ज्वालाकी भाँति विकसित होती हैं ॥ ४२ ॥

समत्स्यमकरव्यूहाः सचक्रावर्तवृत्तयः ।
उद्यन्ति सैन्यसंघट्टाः कल्लोला जलधेरिव ॥ ४३ ॥

परस्परपरामर्शात्कुन्ताद्यायुधपङ्क्तयः ।
कोपादिवोग्रहुँकारैर्ज्वलन्ति विरटन्ति च ॥ ४४ ॥

इति कर्तुमहं देव विज्ञप्तिं स्वामिनेरितः ।
तस्मान्मण्डलसीमान्तगुल्माद्युद्धाय गच्छता ॥ ४५ ॥

तमहं देव गच्छामि शक्त्यृष्टिशरसंगतः ।
मयेहाऽऽवेदितं सर्वं देवो जानात्यतः परम् ॥ ४६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वाऽथ प्रणामं च स कृत्वा त्वरया ययौ ।
कृत्वा गुलगुलारावं शान्तो वीचिरिवाऽम्बुधेः ॥ ४७ ॥

जैसे मछली और मगरोंके समूहसे युक्त चक्राकार जलभ्रमिवाले कल्लोल सागरसे आविर्भूत होते हैं वैसे ही मत्स्य, मकरकीसी आकृतिवाले व्यूहोंसे युक्त, तलवारोंके आवर्तसे युक्त सेनासंघात आविर्भूत हो रहा है ॥ ४३ ॥

भाले आदि हथियारोंकी श्रेणियाँ परस्पर टकरानेके कारण मानो क्रोधवश भीषण हुंकारोंसे जलती हैं और कठोर शब्द करती हैं ॥ ४४ ॥

उस मण्डलकी सीमामें स्थित छावनीसे युद्धके लिए जाते हुए स्वामीने यह निवेदन करनेके लिए श्रीमानके समीप मुझे भेजा है ॥ ४५ ॥

महाराज, शक्ति, ऋष्टि और बाणोंसे युक्त मैं जिन्होंने मुझे आपके पास भेजा था उन स्वामीके समीप जाता हूं, मैंने यहाँ आकर सब निवेद्य आपकी सेवामें निवेदन कर दिया, इसके उपरान्त आप जानें ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, गुड़ गुड़ शब्द करके विलीन हुई समुद्रकी लहरके समान वह पुरुष राजासे यह निवेदन कर प्रणामपूर्वक शीघ्रतासे चला गया ॥ ४७ ॥

संभ्रान्तमन्त्रिनृपयोधनियोगिनाग-
नारीरथाश्वपरिचारकनागरौघम् ।
राज्ञो गृहं स्वभयतोलितहेतिसार्थं
चण्डानिलाकुलमहावनतुल्यमासीत् ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपा० अविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाऽष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

नवाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे सर्वे मन्त्रिणो नृपमाययुः ।
मुनयो वासवमिव दैत्याक्रान्तनभोभुवम् ॥ १ ॥

राजाके प्रासादमें खलबली मच गई, उसकी अवस्था आँधीसे व्याकुल महावनकी-सी हो गई। मन्त्री, राजा, योद्धा, राजाके आज्ञाकारी कर्मचारी, स्त्रियाँ, हाथी, घोड़े, परिचारक और नागरिक सबके सब भयभीत हो गये। सभी जीवोंने अपने प्राणोंके भयसे अपने अपने बचावके साधन हथियार उठा लिये ॥ ४८ ॥

एक सौ आठ सर्ग समाप्त ।



एक सौ नौ सर्ग

[मन्त्रियोंकी सलाहसे राजाका अपने शरीरका होम करना, तदुपरान्त अग्निसे चार शरीरोंसे युक्त राजाका प्रकट होना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्रजी, जैसे मुनिगण इन्द्रके, जिसके भूलोक और अन्तरिक्षलोकपर दैत्य आक्रमण कर चुके, समीप आते हैं वैसे ही सब मन्त्री राजाके समीप आये ॥ १ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

देव निर्णीतमस्माभिर्यावन्न विषयोऽयः ।
त्रयाणामप्युपायानां दण्डस्तेषु विधीयताम् ॥ २ ॥
प्रणयोऽनुप्रवेशो वा न कदाचन यः कृतः ।
अधुना तेषु तं देव कुर्यात्तेषु कथैव का ॥ ३ ॥
पापा म्लेच्छा घनाढ्याश्च नानादेश्याः सुसंहताः
बहवो लब्धरन्ध्राश्च सामादेर्नाऽऽस्पदं द्विषः ॥ ४ ॥
तत्सुसाहसमेवेदं वर्जयित्वा प्रतिक्रिया ।
नान्याऽस्ति शीघ्रमेवाऽतो रणोद्योगो विधीयताम् ॥ ५ ॥
वीराणां दीयतामाज्ञा पूज्यन्तामिष्टदेवताः ।
आहूयन्तां च सामन्ता हन्यतां रणदुन्दुभिः ॥ ६ ॥

मन्त्रियोंने कहा—महाराज, हमने सब विचार कर निश्चयकर लिया है। शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायों द्वारा काबूमें आने लायक नहीं है, अतः उसपर दण्डका विधान कीजिये ॥ २ ॥

महाराज, दान, संमान आदिसे स्नेह और अनुप्रवेश (अपने पक्षवालोंका ही शरणागतिके बहाने काकोलूकीयन्यायसे उनके विनाशके लिए उनके देशमें प्रवेश), जिसका आजतक कभी उनके लिए प्रयोग नहीं किया गया, इस समय उन शत्रुओंपर प्रेम और अनुप्रवेशरूप कीर्ति हरनेवाले उपाय किये जायँ, इसकी कथा ही क्या है ।

जिनपर थोड़ा बहुत विश्वास किया जा सके और जिनको द्रव्यकी कमी हो उनपर साम, दान आदि उपायोंकी गुंजायश है, किन्तु ये शत्रु तो ऐसे नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—पापाः इत्यादिसे ।

पापी, सीमाप्रान्तके निवासी, प्रचुरधनसम्पन्न, विविधदेशीय, सुसंगठित, हमारी कमजोरीको जाननेवाले बहुतसे शत्रु साम, दान उपायोंके योग्य नहीं हैं ॥ ४ ॥

इसलिए इनके विषयमें साम-दानका प्रयोग करना अत्यन्त दुःसाहस है (अविचारित कार्य है) इसका परित्याग कर शीघ्र ही युद्धका उद्योग कीजिये । इनके प्रतिकारका दूसरा उपाय है ही नहीं ॥ ५ ॥

वीरोंको युद्धके लिए आज्ञा दीजिये, इष्ट देवताओंका जप-पूजन आदि अनुष्ठान कीजिये, सामन्तोंका आह्वान कीजिये और रणभेरियाँ बजाई जायँ ॥ ६ ॥

सन्नह्यन्तामशेषेण निर्गच्छन्तु रणे भटाः ।
क्रियन्तां कालकम्पाभ्रमेदुराराजिता दिशः ॥ ७ ॥
आस्फाल्यन्तां धनूंष्युच्चैः क्वणन्तु गुणपङ्क्तयः ।
भवन्तु जलदश्यामाः ककुभः खण्डमण्डलैः ॥ ८ ॥
स्फुरज्ज्याविद्युतः शूरवारिदा घनगर्जिताः ।
नाराचधारा मुञ्चन्तु कचत्कोदण्डकुण्डलाः ॥ ९ ॥

राजोवाच

गम्यतां सङ्गरायाऽऽशु संविधानं विधीयताम् ।
स्नात्वाऽहं पूजयित्वाऽग्निं निर्गच्छामि रणाजिरम् ॥ १० ॥
इत्युक्त्वा नृपतिः स्नातो महारम्भोऽपि स क्षणात् ।
प्रावृषीव नवोद्यानं गङ्गाजलधरैर्घटैः ॥ ११ ॥
अथ प्रविष्टोऽग्निगृहं पूजयित्वा हुताशनम् ।
आदरेण यथाशास्त्रं चिन्तयामास भूमिपः ॥ १२ ॥

सब योद्धाओंको कवच आदिसे सुसज्जित कीजिये युद्धका बाना पहनाइये, तदुपरान्त वे सबके सब युद्धके लिए प्रस्थान करें और दिशाओंको गजघटाओंसे काले काले प्रलयमेघोंसे जैसे पाट दीजिये ॥ ७ ॥

धनुष खूब (कानों तक) ताने जाँय, प्रत्यञ्चाएँ टंकार करें, अर्धमण्डलाकार धनुषोंसे दिशाएँ मेघश्यामला हों, धनुषरूपी कुण्डलोंसे देदीप्यमान गम्भीर सिंहनादवाले शूरवीररूपी मेघ, जिनमें प्रत्यञ्चारूपी बिजली कौंध रही है, बाणरूपी जलधाराओंको बर्षावें ॥ ८, ९ ॥

राजाने कहा—संग्रामके लिए शीघ्र प्रस्थान कीजिये । नगररक्षा, व्यूहरचना आदिकी व्यवस्था कीजिये । मैं भी स्नानके उपरान्त अग्निदेवकी पूजा कर संग्राम-भूमिमें आता हूँ ॥ १० ॥

ऐसा कहकर आवश्यक अन्यान्य कार्योंके रहते भी (अत्यावश्यक अन्यान्य कार्योंको छोड़कर भी) राजाने एक क्षणमें जैसे वर्षाऋतुमें नूतन बगीचा मेघ द्वारा स्नान करता है वैसे ही गङ्गाजलसे भरे हुए घड़ोंसे स्नान किया ॥ ११ ॥

स्नान करनेके उपरान्त राजाने अग्निगृहमें प्रवेश किया और विधिपूर्वक श्रद्धासे अग्निकी पूजाकर निम्नलिखित बातोंपर विचार किया ॥ १२ ॥

नीतमायुरनायासविलासविभवश्रिया ।
प्रजाभ्यो दत्तमभयमासमुद्रसमुद्रितम् ॥ १३ ॥
आक्रान्तवसुधापीठाः पादपीठे कृता द्विषः ।
लता फलभरेणेव नमिताः ककुभो दश ॥ १४ ॥
प्रजाचित्तेन्दुबिम्बेषु लिखितं धवलं यशः ।
भूमावारोपिता कीर्तिलता त्रिपथगामिनी ॥ १५ ॥
कोशवद्भरिता रत्नैः सुहृन्मित्रार्यबन्धवः ।
निपीतोऽर्णवतीरेषु नालिकेररसासवः ॥ १६ ॥
द्विषामाकम्पिता भेकगलाङ्गत्वगिवासवः ।
मच्छासनाङ्किता जाता द्वीपान्तरकुलाचलाः ॥ १७ ॥
विहृतं सिद्धसेनासु दिगन्तनवभूमिषु ।
भूम्यन्तभूभृतां मूर्ध्नि विश्रान्तं मेघलीलया ॥ १८ ॥
धियेवोच्चैः पदे ज्ञानपूर्णयैकान्तशीलया ।
विलब्धान्यविनष्टानि राष्ट्रानीष्टार्थकारिणा ॥ १९ ॥

मैंने अनायास विलासविभवपूर्ण सम्पत्तिसे आयु व्यतीत की, समुद्रपर्यन्त शासन-मुद्रापूर्वक अपनी सारी प्रजाको अभयप्रदान किया। पृथ्वीपर आक्रमण करनेवाले शत्रुओंको चरणोंपर नवा डाला। जैसे लताएँ फलोंके बोझसे नत हो जाती हैं वैसे ही कर आदि फलके भारसे दसों दिशाओंको मैंने नवा दिया ॥ १३, १४ ॥

प्रजाके चित्तरूपी चन्द्रबिम्बोंमें अपना शुभ्र यश भर दिया, भूमिमें तीनों लोकोंमें फैलनेवाली कीर्तिरूपी लता लगा दी ॥ १५ ॥

सुहृत्, मित्र पूज्य ब्राह्मण (गुरुवर्ग) और बन्धुबाधवोंको विविध रत्नोंसे खजानेके समान भर दिया, समुद्रके किनारे नारिकेलरसका आसव छक कर पीया ॥ १६ ॥

शत्रुओंके प्राणोंको मेढककी गर्दनकी त्वचाके समान खूब कँपा डाला, द्वीप-द्वीपान्तरके कुल कुलपर्वतोंपर मेरे शासनकी छाप लग चुकी ॥ १७ ॥

दिगन्तोंमें प्रसिद्ध अपूर्व सुवर्णभूमियोंमें, जो सिद्धसेनाओंसे पूर्ण हैं, मैंने खूब विहार किया, लोकालोकपर्वतपर्यन्त पर्वतोंके और सीमाप्रान्तवर्ती राजाओंके सिरपर मेघोंकी लीलासे विश्राम किया और पैर रक्खा ॥ १८ ॥

जैसे ज्ञानपूर्ण एकान्तमें समाधि बुद्धिसे परमोच्च ब्रह्ममें विश्राम

रक्षांस्यप्यविनीतानि बद्धानि निगडैर्घनैः ।
धर्मार्थकामैरन्योन्यं चयापचयवर्जितैः ॥ २० ॥
अखण्डितैर्मया नीतं पीतातियशसा वयः ।
इदानीं शष्पविश्रान्तप्रालेयभरभासुरम् ॥ २१ ॥
आगतं वार्धकं सर्वभोगसंरम्भमार्जनम् ।
तस्योपर्यरयो रौद्रा बलवन्तो रणैषिणः ॥ २२ ॥
संभूय सर्वतः प्राप्ताः संदिग्धो वर्तते जयः ।
तदिहैवाऽनलायाऽस्मै देवाय जयदायिने ॥ २३ ॥
मस्तकाहुतिमेवेमां समुद्यम्य ददामि वै ।

राजोवाच

कृशानो देव मूर्धाऽयं तुभ्यमाहुतितां गतः ॥ २४ ॥
मया पूर्वं पुरोडाश इव देवेश दीयते ।
यदि तुष्टोऽसि भगवंस्तदनेन कृतेन मे ॥ २५ ॥
चत्वारो भवतः कुण्डात्स्वदेहाः प्रोद्भवन्तु मे ।
बलवन्तः श्रिया दीप्ता नारायणभुजा इव ॥ २६ ॥

लिया जाता है वैसे ही प्रजाओंका हितसम्पादन करनेवाले मैंने राष्ट्रोंकी अभिवृद्धि की और उपार्जन किया ॥ १९ ॥

उद्धत (विनयरहित) लङ्का आदि द्वीपोंमें रहनेवाले राक्षसोंको भी मजबूत हथकड़ियों द्वारा मैंने जकड़ा, परस्पर एक दूसरेसे अबाधित, वृद्धि-ह्रासशून्य (समानरूपसे संचित) धर्म, अर्थ और काम द्वारा अवस्था व्यतीत की। इस समय मानो अत्यन्त यशपान करनेके कारण अतिधवलताको प्राप्त हुआ मैं तृणोंपर लदे हुए प्रचुर बर्फके समान सफेद बुढ़ापेको प्राप्त हो गया हूँ। बुढ़ापेके ऊपर यानी इस बुढ़ापेमें भीषण युद्धाकाङ्क्षी बलवान् शत्रु दल बांधकर चारों ओरसे लड़नेके लिए उपस्थित हैं। जीत होनेमें सन्देह है, इसलिए विजयप्रदान करनेवाले इन अग्निदेवके लिए यहींपर इस मस्तकाहुतिको ही उठाकर देता हूं। राजाने कहा—हे अग्निदेव यह मेरा सिर आपके लिए आहुतिरूप बन चुका है। जैसे मैंने पहले आपके लिए पुरोडाशकी आहुतियां दी हैं वैसे ही इसकी आहुति आज आपको देता हूँ। यदि मेरे इस कामसे आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तो आपके कुण्डसे मेरे नारायणकी भुजाओंके समान शोभायुक्त बलवान् चार शरीर उत्पन्न हों ॥ २०—२६ ॥

तैश्चतुर्दिक्मेवाऽरीन्वध्यामहमविघ्नतः ।
त्वया च दर्शनं देयं मह्यं मतिमते विभो ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा स महीपालः खड्गमादाय चिच्छिदे ।
शिरःकमलमालोलं लीलयेवाऽऽशु बालकः ॥ २८ ॥
छिन्नमेष शिरो यावज्जुहोत्यसितवर्त्मने ।
तावच्छरीरेण सह पपाताऽग्नौ स पार्थिवः ॥ २९ ॥
भुक्त्वाऽथ वह्निस्तं देहं ददावस्मै चतुर्गुणम् ।
महतामुपयुक्तं हि सद्य एवाऽभिवर्धते ॥ ३० ॥
चतुर्मूर्तिरथोत्तस्थौ पावकाद्वसुधाधिपः ।
प्रज्वलंस्तेजसां पुञ्जैर्नारायण इवाऽर्णवात् ॥ ३१ ॥
ते देहास्तस्य चत्वारो विरेजुर्भास्वरत्विषः ।
सहजातोत्तमोत्तंसभूषणायुधवाससः ॥ ३२ ॥

हे विभो, उन शरीरोंसे मैं चारों दिशाओंमें अपने शत्रुओंका बिना किसी विघ्नबाधाके संहार करूँ और आपके दर्शनोंकी इच्छासे आपका स्मरण करनेवाले मुझे आप दर्शन दें ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, यह कहकर उस राजाने जैसे बालक अनायास चञ्चल कमलको तोड़ता है वैसे ही चञ्चल शिररूप कमलको खड्ग लेकर शीघ्र काट डाला ॥ २८ ॥

ज्योंही वह राजा अपने कटे सिरका अग्निमें हवन करने लगा त्योंही शरीरके साथ अग्निमें गिर पड़ा ॥ २९ ॥

उस शरीरको खाकर (आहुतिरूपसे ग्रहणकर) अग्निने उसे चतुर्गुण शरीर दिया। महान् लोगों द्वारा स्वीकृत वस्तु शीघ्र ही वृद्धिको प्राप्त होती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३० ॥

इसके पश्चात् चार मूर्ति धारणकर राजा तेजकी राशियोंसे देदीप्यमान हो वह्नि-कुण्डसे ऐसे ही निकला जैसे कि तेजके पुञ्जोंसे देदीप्यमान भगवान् सागरसे निकले थे ॥ ३१ ॥

दीप्तकान्तिवाले उसके वे चार शरीर अत्यन्त सुशोभित हुए, उनके माला, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र साथ ही उत्पन्न हुए थे और कवच, शिरस्त्राण भी साथ ही

सकंकटशिरस्त्राणाः समौलिकटकाङ्गदाः ।
सहारकुण्डलाभोगाः सर्वाः सर्वे महाशयाः ॥ ३३ ॥
सर्व एव समाकाराः सदृशावयवान्विताः ।
चञ्चलोच्चैःश्रवःप्रख्यं हयरत्नमवस्थिताः ॥ ३४ ॥
ससुवर्णशरापूर्णतूणीराः सुमहाशयाः ।
समानगुणकोदण्डाः समानवपुषः शुभाः ॥ ३५ ॥
समारोहन्ति ते यस्मिन्पुंसि नागे रथे हये ।
सर्वेषामरिदोषाणां नैव गम्यो भवत्यसौ ॥ ३६ ॥
पीत्वा धृत्वा चिरं कालं गर्भे पुरुषतापिताः ।
वेद्यामिव हितास्तत्र सागरा वडवार्चिषा ॥ ३७ ॥
रत्नाश्वदेहकुसुमोत्करपूर्णदेहा-
श्चत्वार इन्दुहसितैरवभासयन्तः ।
सन्मूर्तयो हरय एव यथाऽब्धयो वा
वेदा इवाहुतिहुतादनलात्प्रसस्रुः ॥ ३८ ॥

पैदा हुए थे। वे मुकुट, कंकण, बाजूबंदसे युक्त थे, हार और कुण्डलोंकी कान्तिसे जगमगा रहे थे। वे सब सबकी रक्षा करनेवाले तथा महान् आशयवाले थे। सबकी रूपलेखा एकसी थी और सब एकसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे युक्त थे, सबके सब चञ्चल उच्चैःश्रवाके सदृश उत्तम घोड़ोंपर चढ़े थे ॥ ३२-३४ ॥

उनके सोनेके बाणोंसे भरे तरकस बंधे थे, एकसी प्रत्यञ्चावाले उनके धनुष थे, सुन्दर समान शरीरवाले महामना वे मङ्गलमय पुरुष जिस पुरुष, हाथी, रथ और घोड़े-पर सवार होते थे, वह शत्रुप्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, औषधि, यन्त्र, शस्त्रास्त्र आदि दोषोंका लक्ष्य ही नहीं हो सकता था ॥ ३५-३६ ॥

वे चार देह क्या थे चार सागर ही थे। मानो बाडवाग्निने पहले पीकर चिर कालतक उन्हें अपने गर्भमें धारण किया, तदुपरान्त उन्हें पुरुषके आकारमें परिवर्तित किया, तत्पश्चात् उन्हें वहाँ अग्निकुण्डमें रखा ॥ ३७ ॥

रत्नोंसे विभूषित और रत्नभूत अश्वशरीरोंमें पुष्पराशियोंसे पूर्णदेहवाले चन्द्रमारूपी अपनी मन्द मुस्कानसे दशों दिशाओंको जगमगा रहे वे चार विपश्चित् आहुतियों द्वारा

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे अवि० वि० अग्निप्रवेशाद्देहलाभो नाम
नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमः ।

वसिष्ठ उवाच

पुरोपकण्ठसंप्राप्तैश्चतुर्दिक्कं सहारिभिः ।
एतस्मिन्नन्तरे तत्र प्रवृत्तं दारुणं रणम् ॥ १ ॥
लुण्ठितग्रामनगरं प्रजाकुलमहाकुलम् ।
अग्निदाहज्वलद्देहं धूमाभ्रपटलावृतम् ॥ २ ॥
शरजालमहाधूमच्छन्नार्कविलसत्तमः ।
क्षिप्रदृष्टरवि क्षिप्रमदृष्टरविमण्डलम् ॥ ३ ॥
अग्निदाहमहातापप्रतप्तपर्णकाननम् ।
लोलालातलताशूलमुसलोपलपूर्णखम् ॥ ४ ॥

प्रसन्न अग्निसे चार विष्णु ऐसे या चार सदेह समुद्र ऐसे अथवा चार मूर्तिमान् वेद ऐसे बाहर निकले ॥ ३८ ॥

एक सौ नौ सर्ग समाप्त ।

एक सौ दस सर्ग

[नगरके समीप पहुँचे हुए शत्रुओंके साथ चारों ओर हुए घमासान संग्रामका विस्तृत वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें वहाँ चारों ओर नगरके समीप पहुँचे हुए शत्रुओंके साथ भीषण संग्राम छिड़ा ॥ १ ॥

उक्त युद्धमें नगर और गाँव लूटे गये, प्रजामण्डलमें महाव्याकुलता छा गई, आगकी लपटोंसे शरीर जलने लगे, धूमरूपी मेघोंके घने स्तरोंसे आकाश-मण्डल छिप गया, बाणोंकी लगातार घनी वृष्टि और निविड़ धूमसे सूर्य ढक गया, अतएव चारों ओर अन्धकार फैल गया । वहांपर क्षणमें सूर्यमण्डल दीख पड़ता था और क्षणभरमें ओझल हो जाता था । अग्निकी लपटोंके तेज संतापसे वनोंके

अनलप्रतिबिम्बौघैर्द्विगुणज्वलनायुधम् ।
रणभग्नमहाशूरप्राप्तेन्द्रवनितासुधम् ॥ ५ ॥
उद्दामवारणारावै रणलम्पटहर्षदम् ।
भुशुण्डीमण्डलप्रासशूलतोमरवर्षदम् ॥ ६ ॥
भटकोलाहलोल्लासहृद्भङ्गमृतपामरम् ।
रजःपटलशुभ्राभ्रकृतद्युपथवारणम् ॥ ७ ॥
मरणव्यग्रसामन्तमुक्तनादव्रजद्व्रजम् ।
इतश्चेतश्च निपतद्वैद्युतोपहतप्रजम् ॥ ८ ॥
अग्निदग्धपतद्गेहप्रोज्झिताग्निमयाम्बुदम् ।
मरणाह्लाददासंख्यशरधारामयाम्बुदम् ॥ ९ ॥
जितसागरकल्लोलं तुरङ्गमतरङ्गकैः ।
दन्तिदन्तविनिष्पेषतारक्रेंकारकर्कशम् ॥ १० ॥
कोटकोटिकुटीकुड्यकण्टकोद्भटसङ्कटम् ।
चटत्कुण्ठितकोटाट्टकूटाटननटच्छटम् ॥ ११ ॥

सब पत्ते मुरझा गये थे, चञ्चल लुआठी, शूल, मूसल, पत्थर आदिकी राशियोंसे आकाश पट गया था, अग्निके प्रतिबिम्बोंके पड़नेके कारण हथियारोंकी चमचमाहट दुगुनी हो रही थी, रणमें काम आये हुए महाशूरवीर योद्धाओंको अप्सराएँ और सुधा प्राप्त हो रही थी, मदोन्मत्त हाथियोंकी चिंघाड़से संग्रामोत्सुक वीरोंको अपार हर्ष हो रहा था, बन्दूकोंकी गोलियों, भालों, शूलों और तोमरोंकी वर्षा हो रही थी, योद्धाओंके कोलाहलके उल्लासके सुननेमात्रसे हृदय फटनेके कारण अनेकों कायरोंके प्राण-पखेरू उड़ रहे थे, धूलिपटलरूपी सफेद मेघने अन्तरिक्षको आच्छन्न कर दिया था, मरनेके लिए व्याकुल हुए सामन्तोंके दलके दल चिल्लाते हुये जा रहे थे, इधर उधर गिर रही बिजलियोंसे (उल्कापातोंसे) प्रजाका विनाश हो रहा था, अग्निसे जले हुए अतएव गिर रहे गृह अग्निकी वर्षा करनेवाले धूममय मेघोंकी सृष्टि कर रहे थे । असंख्य बाणोंकी वृष्टिरूपी धारावाले मेघ मरणाह्लाद प्रदान कर रहे थे ॥ २–९ ॥

अश्वरूपी तरङ्ग सागरोंके कल्लोलोंको मात कर रहे थे, हाथियोंके दाँतोंके परस्पर टकरानेके कारण कर्णकटु टंकार ध्वनि हो रही थी, दुर्गोंके सन्धिप्रदेशोंमें बनी हुई कुटियोंकी दीवारोंपर श्रेष्ठ भट काँटेदार बाण रोपनेमें व्यग्र थे, अग्निकी ज्वालाओंसे

लुठत्पटनकुट्टाकसाटोपस्फुटपट्टिशम् ।
खे वटत्केतुपट्टाट्टपटत्पटपटारवम् ॥ १२ ॥
दन्तिदन्तगुणोद्गीर्णैर्हेतिपाषाणघर्षणैः ।
तारक्रेंकारहुंकारैराहूतसुरवारणम् ॥ १३ ॥
वहच्छरनदीपूरपूर्णाम्बरमहार्णवम् ।
विचलच्चक्रकुन्तासिधारामकरकर्कशम् ॥ १४ ॥
उन्नादयोघसंघट्टकंकटोत्कटटांकृतैः ।
लसज्झणझणारावैर्घटितद्वीपमण्डलम् ॥ १५ ॥
पादपातपरापिष्टशरसंजातकर्दमम् ।
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमाणरथद्विपम् ॥ १६ ॥
सुपर्णहेलानिपतत्प्रोत्पतत्पट्टपट्टिशम् ।
शरवारितरङ्गार्तभग्नायुधजलेचरम् ॥ १७ ॥

वेष्टित अतएव भग्नप्राय दुर्गसन्धिस्थित अटारियोंमें पर्यटन द्वारा अग्निछटा नाच रही थी ॥ १०,११ ॥

घटाटोपके साथ टूटे फूटे हुए चलनेमें रुकावट डालनेवाले तोमर इधर उधर लुढ़के हुए थे, अटारियोंमें, जिनके ऊपर आकाशमें वस्त्रपताकाएँ लहरा रहीं थीं, पट-पट शब्द हो रहे थे, हाथियोंके दाँतोंके शुक्लतादि गुणोंके उद्गिरणसे (निकलनेसे), हथियारोंकी पत्थरोंपर रगड़ लगनेसे और तीक्ष्ण टंकार और हुंकारोंसे युद्धोत्साहोत्पादनवश दिग्गजोंका मानो आह्वान हो रहा था ॥ १२, १३ ॥

लगातार बह रही बाण-नदीके वेगसे आकाशरूपी महासागर भर गया था, चल रहे चक्र, भाले, तलवार रूपी मगरोंसे वह संग्रामसागर भयावना लगता था। सिंहनाद कर रहे योद्धाओंके परस्पर टकरानेपर कवचोंकी तीक्ष्ण टंकारोंसे हो रहे झङ्कारोंसे सब द्वीप गूंज उठे थे ॥ १४, १५ ॥

पैरोंके आघातसे खूब पीसे गये बाणोंसे चारों ओर कीचड़ हो गया था, बह रही रक्तकी नदीके प्रवाहमें रथ, हाथी तक बहे जा रहे थे ॥ १६ ॥

गरुड़की लीलासे पट्टिश नामक शस्त्रविशेष गिर रहे थे और उड़ रहे थे, बाणरूपी जलतरङ्गोंसे पीड़ित हुए योद्धाओंके आयुधरूपी जलचर टूक टूक हो रहे थे ॥ १७ ॥

हेतिसंघट्टनिष्क्रान्तज्वालाप्रज्वलिताम्बरम् ।
वलीपलितनिर्मुक्तशूराक्रान्तत्रिविष्टपम् ॥ १८ ॥
पाण्डुपांसुपयोवाहकचचक्राचिरद्युति ।
हेतिनिर्विवराकाशायुधानाधारभूतलम् ॥ १९ ॥
कटङ्कटभटाटोपरटत्प्रतिभटोत्कटम् ।
चटच्छकटसंघट्टपिष्टकाष्ठलुठद्रथम् ॥ २० ॥
कबन्धभटवेतालमिश्रकण्टकसंकटम् ।
वेतालभुज्यमानाग्र्यशवमांसहृदम्बुजम् ॥ २१ ॥
शूरशातितशीरार्धशिरःकरखुरोरुकम् ।
कबन्धदोर्द्रुमस्पन्दवनीकृतनभस्तलम् ॥ २२ ॥
तरल्लोलास्यवेतालहासघट्टितपेटकम् ।
कंकटोत्कटसाटोपभटभ्रुकुटिभीषणम् ॥ २३ ॥
एकान्तमारणैकान्तमरणैकान्तभूषणम् ।
प्रहारदानग्रहणकार्पण्यापारदूषणम् ॥ २४ ॥

कहींपर आपसमें टकरा रहे शस्त्रास्त्रोंसे निकली हुई ज्वालाओंसे आकाश जल रहा था, देवत्वकी प्राप्तिसे बुढ़ापेके कारण वदनपर होनेवाली झुर्रियों और सफेदोसे मुक्त हुए शूरवीर लोगोंसे स्वर्ग पट रहा था ॥ १८ ॥

धूलिरूपी मेघोंमें चक्ररूपी बिजलियाँ कौंध रही थी, शस्त्रास्त्रोंसे ठसाठस भरा होनेके कारण अवकाशरहित भूतल वहांपर वारोंका आधार नहीं रह गया था ॥१९॥

बाणोंकी वृष्टि कर रहे महाभटोंके घटाटोपसे गरज रहे प्रतिभटोंसे संग्राम-भूमि बड़ी डरावनी लगती थी, पृथिवीको व्याप्त कर रहीं (ढक रहीं) गाड़ियोंके आघातोंसे चूर चूर हुए अन्य गाड़ियोंके अवयवभूत काठोंमें रथ लड़-खड़ा रहे थे, संग्रामभूमि कबन्ध हुए भटों और वेतालोंसे मिश्रित शत्रुओंसे ठसाठस भरी थी, तिल रखनेको भी ठौर नहीं थी, वेताल श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भटशवोंका हृदयकमलरूपी मांस खा रहे थे, शूरवीर पुरुषों द्वारा वीरोंके सिर, हाथ जंघाएँ और खुर काटे गये थे, कबन्धोंके भुजरूपी वृक्षोंकी हलचल-से आकाशतल वन सा बन गया था, तैर रहे चञ्चल मुखवाले वेतालोंने हर्षके आधिक्यसे हंसी खुशीसे अपनी अपनी पेटियाँ शवोंसे भरी थीं, कवच पहननेके कारण घटाटोपवाले भटोंकी भ्रुकुटिसे रणभूमि भयंकर थी। वहांपर नियमतः स्वयं मरना या दूसरोंको मारना यही भटोंका एकमात्र आभूषण था एवं प्रहारोंको देने और अपने ऊपर

शूरवारणसामन्तमदवारिविशोषणम् ।
मारणैकान्तरसिककृतान्तानन्दपोषणम् ॥ २५ ॥
अविकत्थनगुप्तानां शूराणां जयघोषणम् ।
अशूराणां च गुप्तानां प्रभावुद्धोषणं परम् ॥ २६ ॥
शौर्यादीनां प्रसुप्तानां स्वगुणानां प्रबोधनम् ।
धनमाधारभूतानां राष्ट्रेषु भुजशालिनाम् ॥ २७ ॥
दन्त्यारूढरथास्फोटप्रभग्नकटवारणम् ।
समस्तमत्तगन्धेभदानवारिनिवारणम् ॥ २८ ॥
सारसारवसामन्तमुक्तमत्तमतङ्गजम् ।
जरज्जितकरानीककल्पितासीकवेदनम् ॥ २९ ॥
दिनं दिनकरस्येव नृपस्य शरणं गतम् ।
अनागतभटव्रातपिष्टार्धमृतमानवम् ॥ ३० ॥

लेनेमें असामर्थ्य ही वहाँपर महती निन्दा थी ॥ २०—२४ ॥

उक्त संग्राम गजरूपी शूरवीर सामन्तोंके मदजलका शोषण कर रहा था, वहाँ दूसरोंको मारनेमें अत्यन्त रसिक वीरभट कालके आनन्दकी पुष्टिकर रहे थे, अपने मुँहसे अपनी वीरताका बखान न करनेसे छिपे हुए शूरवीर भटोंका काम ही रणमें उनकी वीरता देखनेवाले लोगोंको मुँहसे उनके शौर्यकी घोषणा करा रहा था, छिपे हुए कायरोंका भी काम ही दर्शकों द्वारा प्रभुके समीप उनकी अशूरताकी घोषणा करा रहा था, उक्त संग्राम सोये हुए अपने शौर्य आदि गुणोंका उद्बोधन करता था, भुजबलशाली अतएव राष्ट्रमें दुर्बल लोगोंके आधारभूत शूरवीरोंका धन था ॥ २५—२७ ॥

हाथीपर सवार होकर युद्ध करनेवाले तथा रथियोंके परस्पर युद्धमें बेचारे हाथियोंके गण्डस्थल क्षतविक्षत हो गये थे, सकल मदोन्मत्त गन्धगजोंके[1] मदजल उक्त युद्धमें सूख गये थे, मदोन्मत्त हाथियोंके तालाबोंमें घुसनेपर सारसोंकी तरह चीत्कारके साथ भाग रहे तरुण सामन्त भी वहांपर हाथियोंको छोड़ जा रहे थे। बूढे होनेपर भी खड्गविद्यामें सिद्धहस्त भटोंकी सेना द्वारा अपनी खड्गप्रहरणताप्रकटनका[2] समर्थन किया जा रहा था। भटोंकी सेनाके न आनेपर भी उनके आगमनकी भ्रान्तिसे भगदड़ होनेपर

१. जिसके मदको सूंघकर अन्य गज भाग खड़े होते हैं, वह गन्धगज कहलाता है।
२ आसीकवेदन—जिनका असि (तलवार) हथियार है वे आसीक कहलाते हैं। उनके भावका प्रकटन आसीकवेदन है। मूलस्थित आसीकवेदनका ही पर्याय खड्गप्रहरणता प्रकटन है।

मानवायुबलोन्मत्तनतप्रारब्धकुट्टनम् ।
धनानां प्राणपण्यानां नवमापणपत्तनम् ॥ ३१ ॥
पटनद्धपताकौघजातसंचारिदोर्द्रुमम् ।
रक्तोज्ज्वलत्वात्त्रैलोक्यलक्ष्म्या भूषणविद्रुमम् ॥ ३२ ॥
मन्दराहननोद्भूतक्षीरोदजलसुन्दरैः ।
छत्रैश्छादितहेत्योघपुष्पाढ्यगगनाङ्गनम् ॥ ३३ ॥
गणगीर्वाणगन्धर्वगीतशूराशयं कृतम् ।
तद्भातरलतालाग्रहेतिहालाहलायुधम् ॥ ३४ ॥
संघप्रहरणासंख्ययातुधानाझणज्झणम् ।
भुक्त्वा चाऽद्रिगुहागेहपूरितापूर्वदुर्द्रुमम् ॥ ३५ ॥
कचत्कुन्तवनन्यस्तशिरःकरवृताम्बरम् ।
क्षेपणोन्मुक्तपाषाणपूरस्रुतककुब्लतम् ॥ ३६ ॥

परस्पर पैरोंसे कुचले गये मनुष्य अधमरे हो गये थे, अतएव दिन जैसे सूर्यकी शरणमें रहता है वैसे ही राजाके पैरोंकी शरणमें वे अपने आप चले गये थे ॥ २८–३० ॥

अभिमानरूपी उन्माद वायुके कारण उन्मत्त हुए भटों द्वारा प्रणत (शरणागत) लोगोंपर भी प्रहारपर प्रहार किये जा रहे थे। वह संग्रामस्थल प्राणों द्वारा प्राप्त करने योग्य धनोंका नूतन बाजाररूप नगर था। वस्त्रोंसे बंधी हुई पताकाओंके समूह हो लहरा रहे हस्तवृक्ष बन गये थे। खूनसे अत्यन्त लाल होनेके कारण वह रणाङ्गण त्रैलोक्यलक्ष्मीका भूषणभूत मूंगा बन गया था ॥ ३१, ३२ ॥

युद्धभूमिका गगनरूपी आंगन मन्दराचलके आघातसे उछले हुए क्षीरसागरके जलके समान सुन्दर छत्रोंसे आच्छादित तथा शस्त्रास्त्रोंके समूहरूपी फूलोंसे युक्त था। उक्त युद्धस्थलमें प्रमथगणों, गन्धर्वों तथा देवताओं द्वारा शूरवीर भटोंके उत्साह आदि-के गीत गाये जा रहे थे, उनको (गणों और गन्धर्वोंकी) कान्तिसे चञ्चल ध्वजाओंसे तथा हथियाररूपी मद्यसे उन्मत्त होनेके कारण भट वहांपर बलरामरूप बन गये हैं ॥ ३३, ३४ ॥

उस युद्धमें बहुत बड़ा झुण्ड बांधकर अनायास प्रहार करनेवाले असंख्य राक्षसों द्वारा चुपचाप स्वयं भटमांस खाकर शवोंके ढेरके ढेर उठा ले जाकर पर्वत-गुहारूप अपने घरमें अपने परिवारके—विषवृक्षसदृश—सब राक्षसोंको भोजन कराया गया था ॥ ३५ ॥

चमचमा रहे भालोंकी श्रेणियोंसे भालोंके वन ऐसे प्रतीत हो रहे भालोंसे कटनेवाले

महाचटचटाशब्दस्फुटद्‌द्रवबृहद्द्रुमम् ।
नारीहलहलारावरणन्नगरमन्दिरम् ॥ ३७ ॥
मन्द्रावानलाकारनभोभातायुधव्रजम् ।
परित्यज्य धनं गेहं दूरोर्वीविद्रुतप्रजम् ॥ ३८ ॥
सर्वतो हेतिवहनात्ससक्षप्रेक्षकोज्झितम् ।
वर्जितं भीरुभिः पक्षिराजवृन्दमिवाऽहिभिः ॥ ३९ ॥
दन्तिदन्तविनिष्पिष्टशिष्टसङ्कटसंकटम् ।
कटे मृत्योरिव नरद्राक्षापीडनयन्त्रके ॥ ४० ॥
यन्त्रपाषाणसंघट्टपिष्टाम्बरगतायुधम् ।
योधनादनदद्दन्तिवृन्दबन्धुरकन्दरम् ॥ ४१ ॥
धराधरदरीरन्तःप्रतिश्रुत्प्रोतगर्जितम् ।
अर्जितं प्राणसर्वस्वसर्जयद्भिरुपार्जितम् ॥ ४२ ॥

भटों द्वारा काटकर फेंके गये सिर और हाथोंसे रणभूमिका आकाश पट गया था, क्षेपणोंसे (गुलेलकी तरहका एक देशी अस्त्र जिससे ढेले दूर दूरतक फेंके जाते हैं) फेंके गये पत्थरोंकी राशियोंसे दिशारूपी लता लांघी गई थी ॥ ३६ ॥

ताल ठोकने आदिसे उत्पन्न महान् चट चट शब्दोंसे विशाल वृक्षोंके टूटनेकी-सी ध्वनि हो रही थी एवं स्त्रियोंके हाहाकार शब्दोंसे नगरोंके घर-के-घर जगूँ रहे थे ॥ ३७ ॥

आकाशमें मन्द-मन्द ध्वनिवाली अग्निके तुल्य शस्त्रास्त्रोंकी राशियाँ शोभित हो रही थीं, सबकी सब प्रजा अपना घर द्वार छोड़कर दूरदेशोंमें भाग गई थी, हथियारोंके चारों ओर चलनेसे युद्धदर्शक लोगोंने भी भयसे चारों ओरसे युद्धभूमिका त्याग कर दिया था, भयभीत सापोंने युद्धभूमिका गरुड़ोंके झुण्डकी तरह त्याग कर दिया था तथा उक्त युद्धभूमिमें मनुष्यरूपी अंगूरोंको पीसनेके कालके यन्त्र ऐसे गण्डस्थलमें हाथियों द्वारा दाँतोंसे पिस चुके हुओंसे बचे हुए उत्तम भटोंको बड़ी मुसीबत हो रही थी ॥ ३८–४० ॥

आकाशमें चल रहे हथियार प्रेक्षणी द्वारा फेंके गये पत्थरकी टक्करसे चूर-चूर हो रहे थे और योद्धाओंके सिंहनादसे, चिंघाड़ रहे हाथियोंके समूहसे, कन्दराएँ भर गई थीं ॥ ४१ ॥

उस युद्धमें शूरोंके सिंहनाद पर्वतोंकी गुफाओंमें पहुँचकर प्रतिध्वनियोंसे मिल गये

भर्जितं हेतिदहनैरग्निदाहैश्च संततैः ।
तैरेवाऽन्यैरथाऽन्यैश्च द्वन्द्वयुद्धैरनिष्ठितम् ॥ ४३ ॥
वेष्टितं मृतशिष्टैश्च सारैः सुभटपेटकैः ।
कैलासैरिव संशुद्धैरीश्वराधारतां गतैः ॥ ४४ ॥
तैरुदारैः समाक्रान्तं ये मृत्योरपि मृत्यवः ।
मरणं जीवितं येषां जीवितं मरणं रणे ॥ ४५ ॥
रणे नभसि निर्लूनवरवारणवारिजे ।
सारसाः सरसीवाऽत्र रेजुरत्युद्भटा भटाः ॥ ४६ ॥
यन्त्राश्मक्षेपणानां प्रसरण-
सरिता घूकृतैः फूत्कृतैर्द्राक्
क्रान्तानां व्योम्नि मूर्ध्नां शर-
सलिलमुचां सैनिकानां च नादैः ।

थे और जन्मसे लेकर बड़े प्रयत्नसे उपार्जित बलसर्वस्वको प्रकट कर रहे शूरवीरों द्वारा वह चलाया गया था ॥ ४२ ॥

उक्त युद्धभूमि हथियाररूपी अग्निसे तथा चारों ओर फैली हुई अग्निसे भूनी गई थी तथा पूर्ववर्णित युद्धोंसे तथा अन्यान्य द्वन्द्वयुद्धोंसे वहाँ युद्ध समाप्तिको नहीं प्राप्त हो रहा था ॥ ४३ ॥

मरे हुओंसे अवशिष्ट, बलशाली, स्वामीकी वञ्चना न करनेवाले, हृदयमें ईश्वरको धारण करनेवाले, उत्तम भटरूपी कैलासोंसे वह युद्ध चारों ओर परिवेष्टित था। कैलास भी अत्यन्त पवित्र, सारवान् और श्रीशङ्करजीका आधार है। जिनका रणसे भागकर जीना मरनेके समान अप्रिय है और रणमें मरना जीनेके समान प्रिय है ऐसे उदार पुरुषोंसे त्रैलोक्य भी जीता जाता है। वे ही काल के भी काल होते हैं यानी परमपद प्राप्त हैं। जैसे कहा है—दो ही पुरुष तो सूर्यमण्डलका भेदन कर परमपदको प्राप्त—होते हैं योगयुक्त संन्यासी और रणमें सम्मुख मारा गया योद्धा ॥ ४४, ४५ ॥

अत्यन्त शूरवीर योद्धा कटे हुए सुन्दर सुन्दर हाथीरूप कमलोंसे भरी हुई युद्धभूमिके आकाशमें तालाबमें सारसोंके समान सुशोभित हुए ॥ ४६ ॥

गुलेलसे फेंके गये पत्थरोंके प्रवाहरूपी नदियोंकी ध्वनियोंसे तुरन्त ही बह कर आकाशमें उड़े हुए मस्तकोंकी फुफकारोंसे, बाणरूपी जल बरसा रहे सैनिकोंके

टांकारैरायुधानां नभसि
विसरतामश्वचक्रेभशब्दै-
रासीन्निःसंधिबन्धोपलजठर-
जडं जीर्णकर्णं गतं तत् ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्यो० विप० संग्रामवर्णनं नाम दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति कल्पान्तसदृशे यत्ते समरसंभ्रमे ।
पतन्तीषूत्पतन्तीषु सेनासु समरेऽजिरे ॥ १ ॥
तूर्यभेरीमहाशङ्खखङ्गेषु खे नदत्सु च ।
धनुर्ध्वनिषु वीराणां तारक्रेंकारकारिषु ॥ २ ॥
अन्योन्यकठिनास्फोटविकटे भटपेटके ।
क्वत्कटकटाटोपे कड्कुट्टितकङ्कटे ॥ ३ ॥

सिंहनादोंसे और आकाशमें फैल रहे शस्त्रास्त्रोंकी सरसराहटोंसे एवं सात घोड़ों तथा हाथियोंके हिनहिनाने और चिंघाड़नेसे व्याप्त युद्धने सबके कानोंको बहिरा बना दिया था। वह रणस्थल कहींपर भी सूराखसन्धि-सम्बन्धसे रहित पत्थरके समान जड़ हो गया था ॥ ४७ ॥

एकसौ दसवाँ सर्ग समाप्त

एकसौ ग्यारह सर्ग

[अपनी सेनाकी हार होते न होते रणभूमिके लिए निकले हुए राजा द्वारा वायव्यास्त्रोंसे चारों ओर शत्रुओंके संहारका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस प्रकार प्रलयतुल्य घमासान युद्ध चल रहा था, संग्रामभूमिमें सेनाएँ हार और जीत रही थीं, तूरी, रणसिंगा और महाशङ्खोंकी ध्वनियाँ प्रतिध्वनि द्वारा आकाशमें बज रही थीं, आकाशमें तलवारें सरसराहटके साथ बोल रही थीं, वीरोंके धनुषोंकी दीर्घ टंकार ध्वनियाँ हो रही थीं, भटगण परस्पर जोर-शोरसे ताल ठोक रहे थे, निर्दयतासे कूटे (पीटे) हुए कवच जोरके कट-कट शब्द कर

किंचित्प्रभज्यमानासु विशत्करमासु संगरे ।
विपश्चित्पक्षसेनासु लूयमानलतास्विव ॥ ४ ॥
उद्भूत्पूरयन्नाशा नृपनिर्याणदुन्दुभिः ।
चतुर्धाऽशनिसंपूर्णकल्पाभ्ररवमांसलः ॥ ५ ॥
स्फुटतां कुलशैलानां तुल्यकालमिवोत्कटः ।
स्फुचटचटास्फोटैर्जडिताखिलदिक्तटः ॥ ६ ॥
लोकपालैरिवाऽऽकारैर्नारायणभुजैरिव ।
स चतुर्भिश्चतुर्दिक्कं निर्जगाम महीपतिः ॥ ७ ॥
चतुरङ्गेण महता सैन्येन परिवारितः ।
अट्टालवलयात्कृच्छ्रान्निर्गत्य नगराद्बहिः ॥ ८ ॥
ददर्शाऽऽत्मबलं रिक्तं बलवद्रिपुमण्डलम् ।
गर्जन्तं च लयाकृत्या भीमं युद्धोद्धतार्णवम् ॥ ९ ॥
शरसीकरनीरन्ध्रं मकरव्यूहसंकुलम् ।
वारणव्यूहवलितं तरङ्गव्यूहविस्तृतम् ॥ १० ॥

रहे थे, राजा विपश्चित्‌की सेनाएँ कुछ हारसी रही थीं, काटी जा रही लताओंकी भाँति सेनाका बहुत बड़ा भाग मूर्छित हो रहा था, इतनेमें राजा विपश्चित्के रणभूमि-प्रयाणकी दुन्दुभि, जो वज्रयुक्त प्रलयकालीन मेघकीसी ध्वनिसे पूर्ण थी, दिशाओंको अपनी ध्वनिसे पूर्ण करती हुई बजी। उक्त दुन्दुभि-ध्वनि एक साथ टूट रहे कुल-पर्वतोंकी ध्वनिके समान प्रचण्ड थी, उसने प्रकट हो रही अपनी गड़गड़ाहटसे सकल दिक्तटोंको स्तब्ध कर दिया था। वह राजा विपश्चित् भगवान् श्रीविष्णुजीकी सदेह भुजा ऐसे चार शरीरोंसे रणभूमिके लिए चौतरफा निकला ॥ १-७ ॥

चतुरङ्गिणी महती सेनासे चारों ओर घिरे हुए राजाने अटारियोंसे परिवृत नगरसे कठिनाईके साथ निकलकर संग्राम संलग्न अपनी सेनाको खाली (बलहीन) देखा और शत्रुसेनाको बलयुक्त देखा। शत्रुसेनाका क्या कहना था, वह युद्धके लिए सन्नद्ध गरज रहा भयङ्कर चलनेवाला समुद्र ही थी, बाणरूपी जलकणोंसे खूब भरी थी, मकराकार सेनाके व्यूहोंसे पूर्ण थी, हाथियोंके झुण्डोंसे घिरी थी,* अश्वोंकी कतारोंसे विस्तारयुक्त थी ॥ ८-१० ॥

१ सागरपक्षमें मगरोंके समूहोंसे भरा हुआ। जलहस्तियोंके समूहसे भरा हुआ।

चक्रावर्तवहद्व्यूहकल्लोलकलितान्तरम् ।
चलद्रथशतावर्तं पताकालहरीगणम् ॥ ११ ॥
प्रस्फुरच्छत्रफेनाढ्यं हयहेषितफीत्कृतम् ।
समुल्लसद्धेतिजलं कचद्धाराकरं परम् ॥ १२ ॥
तरत्तरलमातङ्गतुरङ्गौघतरङ्गकम् ।
हेत्यम्भसि कचत्पापसुघद्गुलुगुलोदरम् ॥ १३ ॥
दरीदलनसंक्षुब्धमरुज्जनितघुँघुमम् ।
नतोन्नतकृताद्रीन्द्रमहास्पन्दशरीरकम् ॥ १४ ॥
मज्जन्मातङ्गतुरगहेलाहतमहीधरम् ।
अपारविचरत्पूरकल्लोलालमहाजलम् ॥ १५ ॥
अकालकल्पान्तदशासमुत्थानघनाकृतिम् ।
आक्रान्तरोदसीरन्ध्ररुधिरैकमहार्णवम् ॥ १६ ॥
कचदायुधखण्डौघडीनरत्नावृतोदरम् ।
चलद्व्यूहचलद्व्यस्तयन्त्राश्मक्षेपणाश्मकम् ॥ १७ ॥

चक्राकार आवर्तके समान बह रहे सेनाके व्यूहरूपी (रचनाभेदरूपी) ज्वारभाटोंसे व्याप्त थी, चल रहे सैकड़ों रथ ही उसमें सैकड़ों जलभ्रमियाँ थीं, पताकाएँ ही छोटी छोटी लहरें थीं, चमक रहे श्वेतछत्ररूपी फेनसे वह लबालब भरी थी, घोड़ोंका हिनहिनाना ही उसमें जलजीवोंकी फुफकार थी, हथियाररूपी जल चमचमा रहा था, विकसित हो रही बाणरूपी धाराओंकी वह उत्तम आकर (खान) थी, तैर रहे चञ्चल हाथी और घोड़ोंके झुण्ड ही उसमें तरङ्गें थीं, हथियाररूपी जलमें काले सर्पोंके ऐसे म्लेच्छ उसमें दीख पड़ रहे थे, द्राविड आदि भटोंकी बातचीतसे उसमें गुड़गुड़ शब्द हो रहा था, कन्दराओंके कटनेसे क्षुभित हुए वायुसे उसमें घुम् घुम् शब्द हो रहा था, ऊँचे नीचे हाथी उसके विशाल कलेवरमें पर्वतोंके डूबने-उतरनेसे होनेवाली महा हलचल पैदाकर रहे थे, डूब रहे हाथी घोड़े ही उसमें अनायास मारे गये (पक्ष काटनेसे पंगु बनाये गये) पर्वत थे। असीम चारों ओर फैला हुआ सेनासमूह ही उसकी कल्लोलोंसे (महातरङ्गोंसे) अलङ्कृत अपार जलराशि थी ॥ ११-१५ ॥

अकालमें (अनवसरमें) महाप्रलयके आविर्भावके सदृश उसका आकार अत्यन्त घना था, खूनके महासागरने पृथिवी और अन्तरिक्षके मध्यवर्ती अवकाशको ढक दिया था, देदीप्यमान शस्त्रास्त्रोंके खण्डोंकी राशिरूपी उछल रहे रत्नोंसे उसका मध्यभाग

रक्तसीकरनीहारसंध्याभ्रपटलानतम् ।
क्वचित्पांसुपयोवाहपीतहेतिपयोधरम् ॥ १८ ॥
तमालोक्य रणाम्भोधिमगस्त्योऽस्य भवाम्यहम् ।
इति संचिन्त्य मनसा स पातुं तं रणार्णवम् ॥ १९ ॥
अस्त्रं सस्मार वायव्यं चतुर्दिक्कं च संदधे ।
धनुषि शिखराधारे त्रिपुरान्त इवोद्यतः ॥ २० ॥
आत्मीयदेशसैन्यानां श्रेयोर्थं शान्तयेऽनलम् ।
नमस्कृत्याऽथ जप्त्वाऽऽशु स तत्तत्याज दारुणम् ॥ २१ ॥
यथा तथैव तत्याज तस्य साहायकाय सः ।
पर्जन्यास्त्रं महास्त्रेशं द्विषदातपशान्तये ॥ २२ ॥
तस्मादस्त्रजुषो घोराद्धनुषः परिनिर्गताः ।
अष्टमूर्तेश्चतुर्दिक्कमाशाकुहरपूरकाः ॥ २३ ॥
निर्ययुर्बाणसरितस्त्रिशूलसरितस्तथा ।
शक्तीनामुग्रसरितो भुशुण्डीसरितस्तथा ॥ २४ ॥

पटा था, चल रही सेनाओंमें चल रहे क्षेपणी यन्त्रके (गुलेलके) पत्थर व्यस्त थे। रक्तके छोटे छोटेकण और कुहरेरूपी सन्ध्याकालके मेघसे युक्त थी, कहींपर धूलिरूपी मेघसे अस्त्रशस्त्ररूपी जलका सागर पी डाला गया था ॥ १६–१८ ॥

उक्तसंग्रामसागरको देखकर मैं इसका अगस्त्य (अगस्त्यने जिस प्रकार सागरको पी लिया था वैसे ही इसे पी डालूं) ऐसा मनमें विचार कर उसने संग्राम सागरको पीनेके लिए वायव्य अस्त्रका स्मरण किया और जैसे मेरुरूप धनुषमें त्रिपुरासुरके वधके लिए उद्यत हुए शिवजीने अस्त्रका सन्धान किया था वैसे ही चारों ओर उसने उसका सन्धान किया ॥ १९–२० ॥

राजाने अपने देशके सैनिकोंके हितके लिए शत्रुवधार्थ अग्निदेवको नमस्कार कर और जप कर शीघ्र जैसे उस भीषण अस्त्रको छोड़ा, वैसे ही उसकी सहायताके लिए महान् अस्त्रश्रेष्ठ पर्जन्यास्त्रको शत्रुरूपी आतपकी शान्तिके लिए छोड़ा ॥ २१, २२ ॥

चारों ओर वायव्यास्त्र और पर्जन्याशास्त्रसे युक्त अतएव अष्टमूर्ति उस भीषण धनुषसे दिशाओंके अवकाशको पाट देनेवाली बाणोंकी नदियाँ, त्रिशूलोंकी नदियाँ, शक्तियोंकी विकट नदियाँ, बन्दूकोंकी नदियाँ, मुद्गरोंकी नदियाँ, भालोंकी नदियाँ, चक्रोंकी नदियाँ, कुल्हाड़ोंकी नदियाँ, तोमरोंकी नदियाँ भिन्दिपालों (तोपों) को

मुद्गराणां च सरितः प्रासानां सरितो रयात् ।
चक्राणां चैव सरितः परश्वधनदीरयाः ॥ २५ ॥
तोमराणां च सरितो भिन्दिपालमहापगाः ।
पाषाणानां च सरितो वाताः कल्पान्तशंसिनः ॥ २६ ॥
अशनीनां च सरितो विद्युतां सरितस्तथा ।
जलधारासरित्पूराः खड्गवर्षसमन्विताः ॥ २७ ॥
सनाराचा महावर्षहर्षलोत्पातपीवराः ।
नागाश्च युगपर्यन्तस्फुटिताद्रीन्द्रजा इव ॥ २८ ॥
तेनाऽस्त्रवर्षवेगेन धुतः सोऽरिबलार्णवः ।
झटित्येव न कालेन पांसुराशिरिवाऽभितः ॥ २९ ॥
सलिलाशनिशस्त्राणामासारैश्चण्डमारुतैः ।
सरांसीव विसेतूनि सैन्यानि परिदुद्रुवुः ॥ ३० ॥
चतुरङ्गश्चतुर्दिक्कं बलौघः स पराङ्मुखः ।
ययौ प्रावृड्गिरिणदीमहावाह इव द्रुतः ॥ ३१ ॥

नदियाँ, पत्थरोंकी नदियाँ, वज्रोंकी नदियाँ और बिजलियोंकी नदियाँ बह निकलीं। कल्पान्तके (प्रलयके) सूचक प्रचण्ड वायु बहने लगे। जलधाराकी नदियोंके प्रवाह तलवारोंकी वृष्टिके साथ बह निकले। युगोंके अवसानमें टूट फूटकर धराशयी हुए कुलपर्वतोंसे निकले हुए, प्रचण्ड वायुसे बढ़े हुए, उत्पातोंके समान मोटे ताजे साँप बाणोंके साथ बह निकले ॥ २३–२८ ॥

उस शस्त्रास्त्रवृष्टिके वेगसे वह पूर्वोक्त विशाल शत्रु-सेना-सागर शीघ्र ही धूलके ढेरकी भाँति चारों ओर उड़ा दिया गया। उसमें कुछ भी समय नहीं लगा ॥२९॥

जल, वज्र और शस्त्रास्त्रोंकी वेगवती वृष्टि तथा प्रचण्ड आँधीसे शत्रुसेना बाँधरहित तालाबके जलकी भाँति चारों ओर भाग खड़ी हुई। वह चतुरङ्गिणी सेना युद्धसे विमुख होकर वर्षाकालकी पर्वतनदीके महाप्रवाहके तुल्य भागती हुई चारों दिशाओंको चली गई ॥ ३०,३१ ॥

सेनामें पर्वतनदीकी समताका उपपादन करते हुए भाग रही सेनाका वर्णन करते हैं—'वहत्' इत्यादिसे ।

वहत्स्विन्नबृहच्छिन्नपताकाकेतुपादपः ।
मरीचिपुष्पशबलविलोलासिलतावनः ॥ ३२ ॥
विलुठत्पुष्टपाषाणपृषद्रक्तद्रवावचः ।
घोरैर्घुरघुरारावैरलं हृदयभङ्गदः ॥ ३३ ॥
उह्यमानबृहद्दन्तिदन्तद्रुमविघट्टनैः ।
स्फूर्जच्चटचटारावतर्जितोद्गर्जिताम्बुदः ॥ ३४ ॥
हेतिवृत्तोग्रसंघट्टपुष्पजातझणज्झणः ।
तरत्तरलसारावतुरङ्गमतरङ्गकः ॥ ३५ ॥
रथादिभटचक्रौघशिलाक्रेंकारपीचरः ।
पदातिरथहस्त्यश्वशिलासंघट्टसंकटः ॥ ३६ ॥
कटुचंकारचीत्कारक्रेंकारपरिपीवरः ।
मृता मृता वयमिति घनकोलाहलाकुलः ॥ ३७ ॥
सेनावारिमहावर्तचलद्गुलुगुलारवः ।
रक्तसीकरनीहारसन्ध्याम्बुदवितानकः ॥ ३८ ॥

वायुके प्रवाहमें बह रहे पसीनेसे तर कटे हुए बड़े बड़े पताका-दण्ड ही उस गिरिनदीरूप सेनामें वृक्ष थे, किरणरूपी फूलोंसे चितकबरे (मिश्रित) चञ्चल खड्ग ही लताओंके समूह थे, दौड़नेकी शक्ति न होनेसे लड़खड़ा रहे, मोटे ताजे पुरुषरूपी पत्थरोंके बिन्दुरूपी खूनके पनालेसे वह अवर्णनीय थी, भयंकर घुर-घुर शब्दोंसे वह कायरोंके हृदयको टुकड़े टुकड़े करनेवाली (डरावनी) थी, बह रहे महागजोंके दाँत-रूपी वृक्षोंके परस्पर टकरानेसे प्रकट हो रहे कट-कट शब्दसे गरज रहे मेघोंको मात कर रही थी, हथियारोंसे पत्थरोंकी तेज टक्कर ही उसमें नदीके किनारेके पुष्पवृक्षपर हुआ भँवरोंका झंकार था, तैर रहे चञ्चल तथा चिल्ला रहे घोड़े ही उसकी तरङ्गें थीं। रथादिके तथा भटवृन्दके पत्थरोंसे टकरानेपर हुए आर्तस्वररूपी मेढक तथा पक्षियोंके शब्दसे युक्त थी, पैदल सेना, रथ, हाथी और अश्वरूपी पाषाणोंके परस्पर टकरानेसे वह संकुल थी, कर्णकटु टंकार, चीत्कार, क्रेंकारसे पुष्ट थी, हम मरे हम मरे इस प्रकारके जनकोलाहलसे भरी थी, सेनारूपी जलके बड़े-बड़े आवर्तोंमें गुड़-गुड़ ध्वनि हो रही थी, रक्तके कण तथा कुहरारूपी सन्ध्याकालका मेघ उसका चँदवा था ॥ ३२—३८ ॥

हेतिवीचिवटाच्छिन्नवारिवामनवारिदः ।
वर्षपङ्किलभूपीठतटखण्डनमण्डितः ॥ ३९ ॥
कुन्तशूलगदाप्रासवहत्तलतलाद्भुतः ।
साक्रन्दभीरुजनताप्रतपन्मृगपोतकः ॥ ४० ॥
मृतहस्त्यश्वयोधौघजीर्णपर्णनिरन्तरः ।
पिष्टदेहवसामांसपङ्कसंजातकर्दमः ॥ ४१ ॥
चूर्णीकृतखुरापिष्टमहास्थिघनसैकतः ।
उह्यमानशिलापूरकाष्ठकोटिकटङ्कटः ॥ ४२ ॥
उद्गर्जत्प्रलयाम्भोदैर्वहत्प्रलयवायुभिः ।
प्रपतत्प्रलयासारैः प्रलयाशनिसंकटैः ॥ ४३ ॥
पङ्किलाखिलभूपीठैः सलिलोपप्लुतस्थलैः ।
सितशैत्यवशाश्यानधाराकृतखपञ्जरैः ॥ ४४ ॥
समग्रनगरग्रामगृहज्वलितवह्निभिः ।
प्रजाश्वेभपदातीनामाक्रन्देनाऽपि घर्घरैः ॥ ४५ ॥

शस्त्रास्त्ररूपी लहरोंसे वटवृक्षोंके समान काटे गये मेघ जलसे नम्र हुए थे । वर्षासे पङ्कयुक्त हुए भूप्रदेशके तटको तोड़नेसे वह विशेष शोभित थी ॥ ३९ ॥

मार्ग बनानेके लिए भाले, त्रिशूल, गदा, बल्लोंको धारण करनेवाले भाग रहे भटोंसे बह रहे तालवनके समान अद्भुत थी, रो धो रहे कातर लोग ही उसमें गिर रहे मृगछौने थे ॥ ४० ॥

मरे हुए हाथी, घोड़े और भटोंके समूहरूपी जीर्णशीर्ण पत्तोंसे वह आच्छन्न थी, पीसे गये शरीरोंके बसा और मांसके कीचड़से उसमें चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो गया था, चूर चूर की हुई हड्डियाँ ही उसमें कुछ स्थूल बालूवाले तट थे और खुरोंसे खूब पीसी गई महा हड्डियाँ ही उसमें महीन बालूवाले तटप्रदेश थे । उसमें बह रहे पत्थरसमूहों तथा लकड़ियोंकी चोटियोंके आपसमें टकरानेसे कटकट शब्द होता था ॥ ४१, ४२ ॥

गरज रहे प्रलयकालके मेघोंसे, बह रहे प्रलयकालके प्रचण्ड वायुओंसे, गिर रही प्रलयकालीन मूसलाधार वृष्टिसे, प्रलयकालके वज्रपातरूपी संकटोंसे, पङ्कमय सकल भूतलोंसे, जलसे उपद्रवपूर्ण स्थलोंसे, तेज शीतसे जम गई वर्षाधारोंके आकारके आकाशमें बने पिंजड़ोंसे, समस्त नगर, गाँव और घरोंको जलाकर राख कर चुकी अग्नियोंसे,

रथाम्भोधरनिर्ह्रादैर्दिवि भूमौ घनारवैः ।
चतुर्दिक्कं घनं तारक्रेंकारस्य चतुष्टयैः ॥ ४६ ॥
विद्युद्वलयविस्तारकारिसंघट्टघर्षणैः ।
शरशक्तिगदाप्रासभिन्दिपालादिवर्षणैः ॥ ४७ ॥
सर्वदिक्कमसंख्यानि बलानि बलशालिनाम् ।
भूभृतां विद्रवन्त्याशु विनेशुर्मशकौघवत् ॥ ४८ ॥

उद्दामपावकवनोपमहेतिसार्थ-
मेघानलाकुलजनाशनिवर्षपातैः ।
आसन्बलानि चपलाब्धिजलाबलानि
पर्याकुलानि वडवाग्निमिवाऽऽविशन्ति ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वि० चतुर्दिग्गतबलद्रवणं नामैकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

प्रजा, घोड़े, हाथी और पैदल सेनाओंके रोदनसे, आकाश और भूमिमें हो रहे तीक्ष्ण ध्वनिवाले रथ और मेघों के घर घर शब्दोंसे, चारों ओर विपश्चित्‌के धनुषके चार तेज क्रेंकारोंसे, बिजलीरूपी कंकणका विस्तार करनेवाले मेघोंके परस्पर टकराने और रगड़ खानेसे, बाणों, शक्तियों, मुद्गरों, बल्लमों, भालों और बन्दूकोंकी वर्षाओंसे चारों ओर बलशाली राजाओंके असंख्य सैनिक भागते हुए मच्छरोंके समूहकी भाँति शीघ्र नष्ट हो गये । सीमान्तके राजाओंकी सेनाएँ तीक्ष्ण वह्निराशिके सदृश शस्त्रास्त्रसमूहरूपी मेघों-की आगसे लोगोंको घबड़ाहटमें डाल देनेवाले वज्रपातोंसे व्याकुल होकर चञ्चल सागरजलमें उबाले जा रहे जलचरोंकी नाईं बाडवाग्निमें प्रवेश कर रही थीं ॥४३–४९॥

एकसौ ग्यारह सर्ग समाप्त

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

लोकहाराम्बरव्यालं चेदिचन्दनकाननम् ।
छिन्नं परशुधाराभिः पतितं दक्षिणार्णवे ॥ १ ॥
पर्णवत्प्रोह्य पूरेण पारसीकाः परस्परम् ।
प्रहरन्तो विमोहेन विनष्टा वञ्जुलावने ॥ २ ॥
दर्दुराद्रौ दुरन्तेषु दरदीर्णहृदन्तराः ।
दरीरन्ध्रेषु संलीना दरदा दानवा इव ॥ ३ ॥
चतुरायुधधाराग्रचूर्णनीहारधारिणः ।
विद्युद्वलयिनो वाता वेल्लितायुधवारिदाः ॥ ४ ॥
दन्तिनोऽन्योन्यमाभग्नदन्तदेहौघपीडिताः ।
मृत्यूदरोम्भकग्रासपिण्डपिण्डा इवाऽभवन् ॥ ५ ॥

एकसौ बारह सर्ग

[जीवन लेकर भाग रहे जिस जिस देशके पैदल भट जहां जहां जिस प्रकार विनष्ट हुए उसका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, चेदिरूपी चन्दनोंका वन, जहाँ मोतियोंके हार, वस्त्र और साँप दर्शनीय होते हैं, कुल्हाड़ियोंकी धाराओंसे कटकर दक्षिण सागरमें गिर गया ॥ १ ॥

पारसदेशके भट अस्त्रप्रवाहसे पत्तोंकी भाँति बहाये जाते हुए मोहवश आपसमें प्रहारकर वञ्जुलावनमें विनष्ट हो गये ॥ २ ॥

दरददेशके भट दर्दुर पर्वतपर आरपार रहित (असीम) गुफाओंके बिलोंमें भयसे विदीर्णहृदय होकर दानवोंकी भाँति विलीन हो गये ॥ ३ ॥

बाण, बल्लम, तलवार और कुल्हाड़ारूपी चार शस्त्रास्त्रोंकी धाराके अग्रभागसे हुए पत्थर, कवच आदिके चूर्णरूपी बर्फको धारण करनेवाले बिजलियोंसे आवेष्टित वारुणास्त्रसे उत्पन्न हुए मेघ चले ॥ ४ ॥

आपसके आघातोंसे भग्नदन्त (जिनके दांत टूट गये थे) देहोंमें रुधिर-राशिसे लथपथ पीड़ाक्रान्त हाथी मृत्युके पेटको पूर्ति करनेवाले ग्रासके बराबरके पिण्ड ऐसे हुए ॥ ५ ॥

तज्ञा रैवतिका रात्रौ रौद्रतोमरताडिताः ।
रूपिकाभिः पिशाचीभिर्भुक्ता भागीकृताङ्गकाः ॥ ६ ॥
तालीतमालगहने दशार्णजीर्णजङ्गले ।
गले पादं निधायाऽन्तः कृत्ताः सिंहैर्गतासवः ॥ ७ ॥
पश्चिमार्णवतीरस्था नालिकेरधरावनौ ।
यवना विगतप्राणा निगीर्णा मकरोत्करैः ॥ ८ ॥
नाराचनिकरं नीलं निमेषं नाऽसहञ्छकाः ।
रमठा नलिनीषण्डा इव ताण्डवितासवः ॥ ९ ॥
श्रवणाभोगश्रृङ्गाग्रो महेन्द्रोऽद्रिर्दिवि व्रजैः ।
विद्रुतैर्वलितो नीलैर्जालैर्जलमुचामिव ॥ १० ॥
चामीकरवराकारा भग्ना तङ्गणवाहिनी ।
मृता हृताम्बरा चोरैर्भुक्तैकान्ते निशाचरैः ॥ ११ ॥
द्यौरिवर्क्षभरैरासीत्तदासारं भुवस्तलम् ।
विवर्तमानैरभितः कचद्भिर्ज्वलनायुधैः ॥ १२ ॥

भीषण तोमरोंसे पीटे गये दरद देशके ही कोई भट रात्रिमें अपने रूपसे पुरुषोंको वञ्चित करनेवाली पिशाचियों द्वारा उपभुक्त हुए और फिर उन्होंने उनके अङ्ग आपसमें बांट लिये, यों बेचारे रैवतकपर्वतमें विलीन हो गये ॥ ६ ॥

दशार्णदेशके भट ताल और तमालसे घने पुराने जंगलमें सिंहों द्वारा गलेमें पैर डालकर हृदय चीरकर मार डाले गये ॥ ७ ॥

पश्चिमसागरके तटवर्ती देशोंके यवनभट वेलाभूमिमें मगरोंके झुण्डोंसे निगल लिये जानेके कारण मर गये ॥ ८ ॥

शक लोग लोहमय बाणराशिको क्षण भर भी सहन न कर सके एवं रमठों-के प्राण कमलिनीसमूहकी भाँति मारे भयके कांप उठे ॥ ९ ॥

श्रवण नक्षत्रके संस्थानके (शरीर गठनके) समान तीन शिखराग्रोंसे युक्त महेन्द्र पर्वत स्वर्गमें जा रहे भटोंसे परिवृत होकर मेघोंसे परिवृत-सा हो गया ॥ १० ॥

तङ्गणभटोंकी सेना, जिसका आकार सुन्दरसुवर्णके सदृश था, चोरों द्वारा वस्त्रादिलुण्ठनपूर्वक छिन्न-भिन्न की गई, फिर निशाचरों द्वारा एकान्तमें चट कर दी गई थी, यों मटियामेट हो गई ॥ ११ ॥

तङ्गणसेनाके भक्षणके समय वहाँका भूमितल चारों ओर घूम रहे उल्मुक

घराधरधरारन्ध्रप्रतिश्रुद्धनघुंघुमा ।
जगद्गेहगुहासीद्यौर्घनं गातुमिवोद्यता ॥ १३ ॥
द्विपान्तरजनाश्चक्रैर्जर्जरा जीवितं जहुः ।
मीनजङ्गलजम्बाले जीर्णमत्स्या इवाऽजले ॥ १४ ॥
यावद्द्वीपा जिताः कुक्षौ सह्याद्रौ सममूर्तयः ।
आश्वस्य दिवसान्सप्त ययुरायासमन्थरम् ॥ १५ ॥
गन्धमादनपुन्नागवनगुञ्जेषु पुञ्जिताः ।
विद्याधरकुमारीभिर्गान्धाराः परिरक्षिताः ॥ १६ ॥
हूणचीनकिरातानां मुक्तैस्तैश्चक्रवर्षणैः ।
कमलानीव लूनानि शिरांस्यभिमुखानिलैः ॥ १७ ॥
निलीपा नलिनीनाले कण्टका इव निश्चलाः ।
द्रुमेद्रुमे द्रुममया भयात्त्वस्याऽवसंश्रिरम् ॥ १८ ॥

(लुआठी) लिये हुए अतएव चमक रहे निशाचरोंसे नक्षत्र-मण्डलसे आकाशकी नाईं शोभित हुआ ॥ १२ ॥

उक्त विपश्चित्की विजय होनेपर जगद्रूपी गृहगुहावाला अन्तरिक्ष लोक मेघोंके पृथिवी-बिलोंमें गर्जनकी प्रतिध्वनिसे गम्भीर घुम्-घुम् ध्वनियुक्त (विपुल मृदङ्गध्वनि युक्त) होकर मानो उसका प्रचुर यश गानेके लिए उद्यत हुआ ॥ १३ ॥

मछलियोंके विहाररूप शिवारके छोटेसे तालाबके भाग्यवश सूख जानेपर (जल-शून्य होनेपर) बड़ी बड़ी मछलियोंके तुल्य अशरण होकर खड्गोंसे जर्जर हुए अन्यान्य द्वीपोंके भटोंने अपने प्राणोंका परत्याग किया ॥ १४ ॥

जीते हुए सकल द्वीपोंके भट सह्याद्रिमें छिपकर सात दिन तक विश्रामकर चिकित्सा आदि द्वारा घावोंके पूरे होनेसे स्वस्थ होकर बाणवृष्टियोंसे क्लेशित होते हुए कठिनाईके साथ धीरे धीरे अपने देशोंको चले गये ॥ १५ ॥

मारे भयके गन्धमादन पर्वतके पुंनाग वृक्षोंके झुरमुटमें इकट्ठे हुए गान्धार देशके भटोंकी विद्याधरकुमारियोंने रक्षा की ॥ १६ ॥

हूण, चीन और किरातोंके सिर विपश्चित्से छोड़े गये मुँहमें आगसे युक्त वेगवान् चक्रोंसे कमलोंकी तरह काटे गये ॥ १७ ॥

निलीप नामक देशके भट कमलनालमें उगे हुए निश्चल काँटोंके समान

चारुसारङ्गरङ्गासु शैलकाननभूमिषु ।
चतुर्दिक्कं तदापातैः संपन्नं क्षोभणं घनम् ॥ १९ ॥
कण्टकस्थलनामानः कण्टकस्थलकर्कशाः ।
कण्टकस्थलगा आसन्कण्टकस्थलमण्डले ॥ २० ॥
पारसीकाः परं पूरैः पारं प्राप्य पयोनिधेः ।
निपेतुः पवनैः पूताः प्रलये तारका इव ॥ २१ ॥
ववुरम्भोधिकुट्टाका दृषदां कटकाङ्किताः ।
सर्वदिग्वनलुण्टाका वाताः प्रलयशङ्किताः ॥ २२ ॥
आसारसाराः पङ्काम्बुप्लुताः सघनघुंघुमाः ।
आसन्दशदिशोऽदृश्या बहुक्षुब्धायुधानिलैः ॥ २३ ॥
निर्ह्रादकारिभिर्वातैर्वहच्छपच्छपारवम् ।
प्रसस्रुर्भुवि नीहारा महार्णवरया इव ॥ २४ ॥

विपश्चितके भयके मारे प्रत्येक वृक्षमें वृक्षमयसे निश्चल हो चिर कालतक निवास करते रहे ॥ १८ ॥

मृगों और पक्षियोंके विहारके लिये सुन्दर रङ्गभूमिरूप पर्वत और वनभूमियोंमें विपश्चित्के आगमनोंसे या शस्त्रास्त्रोंके संपातोंसे चारों ओर अत्यन्त घबड़ाहट फैल गई ॥ १९ ॥

करञ्जवनके समान कठोर कण्टक-स्थलनामक भट दस्युओंके देशमें करञ्ज आदिके वनोंमें छिप गये ॥ २० ॥

पारसी भट समुद्रके तरङ्गवेगसे परली पार पहुँचकर, वायुसे पाक होकर प्रलय-कालमें तारोंके समान गिर पड़े ॥ २१ ॥

समुद्रको तरङ्गोंके आन्दोलनों द्वारा कूटनेवाले, पत्थरोंकी मारसे पर्वतशिखरोंपर चिह्न करनेवाले, सब दिशाओंके वनोंको झकझोरकर विनष्ट करनेवाले तथा प्रलयकी आशङ्का पैदा करनेवाले प्रचण्ड पवन बहने लगे ॥ २२ ॥

दशों दिशाएँ अत्यन्त क्षुब्ध हुए शस्त्रास्त्रों और वायुओं द्वारा मूसलधार वृष्टिसे सम्पन्न होकर कीचड़ और जलसे सराबोर, गंभीर घुम् घुम् शब्द युक्त तथा अदृश्य हो गई ॥ २३ ॥

सायँ सायँ शब्द करनेवाले वायुओंसे महासागरके प्रवाहसे बरफ छप्-छप शब्दके साथ पृथिवीपर गिरने लगा ॥ २४ ॥

विदूरस्था रथेभ्यश्च वीचिचीत्कारकारिणः ।
सरोम्भस्यनिलैः पेतुः पद्मेभ्य इव षट्पदाः ॥ २५ ॥
आयुधौघेऽपि चक्रौघात्पादातं बलमाविलम् ।
रजोराशिरिवाऽऽसारे न समर्थं पलायने ॥ २६ ॥
हूणा आमस्तकं मग्ना उत्तरार्णवसैकते ।
क्लिन्नास्तत्रैव पङ्कान्तः पूरणाविलशूलवत् ॥ २७ ॥
तीरैलावनलेखासु शकाः पूर्वपयोनिधेः ।
नीता बद्ध्वा दिनं मुक्ता न गता यमसादनम् ॥ २८ ॥
मन्दं मन्द्रा महेन्द्राद्रौ क्रन्दन्तः पतिता दिवः ।
आश्वासिता मुनिवरैर्निजाश्रममृगा इव ॥ २९ ॥
प्रविष्टा याचनं सह्ये लब्धाः सुरबिलाद् द्वयम् ।
अनर्थेनाऽर्थ आयाति काकतालीयतः क्वचित् ॥ ३० ॥

वायुसे उड़ाये जा रहे विदूरदेशके रथिक लहरोंका-सा चीत्कार करते हुए कमलोंसे भ्रमरोंकी तरह रथोंसे तालाबके जलमें गिर गये ॥ २५ ॥

उनकी पैदल सेना तो पासमें शस्त्रास्त्रराशिके रहते भी विपश्चित्की चक्रराशिसे आँखके अश्रुओंसे भर जानेके कारण, मूसलाधार वृष्टि होनेपर धूलराशिके समान, भागनेमें समर्थ नहीं हुई ॥ २६ ॥

हूणदेशके भट उत्तर सागरके रेतीले तटपर सिर तक डूबकर भूमिमें गाड़नेके कारण मटमैला हुआ लोहेका शूल जैसे मोरचेसे युक्त होनेसे क्लेदयुक्त हो जाता है वैसेही क्लेद युक्त हो गये अर्थात् सड़ गये ॥ २७ ॥

शकभटोंको पूर्वसागरकी तटभूमिकी एला (इलायची) वन श्रेणियोंमें पहुँचाकर विपश्चित्ने उन्हें एक दिन तक बाँधकर छोड़ दिया, अतएव वे यमलोक नहीं गये, नहीं मरे ॥ २८ ॥

मन्द्रदेशके भट धीरे धीरे सिसकते सिसकते द्युलोकके समान ऊँची पर्वतकी चोटीसे महेन्द्र पर्वतपर गिरे और अपने आश्रमके मृगोंकी भाँति मुनिवरोंने खान, पान, स्थान आदि प्रदान द्वारा उन्हें आश्वासन दिया ॥ २९ ॥

जो भट सह्याद्रिमें प्रविष्ट हुए थे, वे तो मूकाम्बिकाके समीप कुटजाख्य नामक सह्याद्रिशिखरके देवबिलमें भाग्यवश प्रविष्ट हुए, उक्त बिलसे उन्हें ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं । कभी कभी भाग्योदय होनेसे अचानक अनर्थसे भी

पतिता दर्दुरारण्ये दशार्णा जीर्णपर्णवत् ।
भुक्त्वा विषफलान्यज्ञा मृतास्तत्रैव ते स्वयम् ॥ ३१ ॥
विशल्यकरणीं भुक्त्वा काकतालीययोगतः ।
हिमाद्रौ हैहया याता गृहं विद्याधरा इव ॥ ३२ ॥
पृष्ठनृम्लानकुसुमा धनुर्भिर्गृहमागताः ।
वङ्गा नाऽद्याऽपि दृश्यन्ते पिशाचत्वमिवाऽऽगताः ॥ ३३ ॥
अङ्गा वनफलैर्भुक्तैर्विद्याधरपदप्रदैः ।
विद्याधरीभिः क्रीडन्ति दिवि विद्याधराः स्थिताः ॥ ३४ ॥
तालीतमालखण्डेषु पतिताः पातिताङ्गकाः ।
पारसीका गता मोहं भ्रमाद्वैमानिका इव ॥ ३५ ॥
तरलासारमातङ्गं पतितं तङ्गणाङ्गणे ।
अङ्गैरङ्ग कलिङ्गानां चतुरङ्गं बलं हतम् ॥ ३६ ॥

अर्थ (पुरुषार्थ) हस्तगत हो जाता है, कारण कि मरनेके लिए वे सुरबिलमें घुसे थे, किन्तु उन्हें सिद्धियाँ मिल गईं ॥ ३० ॥

दाशार्ण देशके भट पुराने पत्तेके समान दर्दुरारण्यमें पहुँचे । वे मूर्ख विषफल खाकर वहींपर अपने-आप मर गये ॥ ३१ ॥

हैहयदेशके भट हिमालयमें काकतालीयन्यायसे विशल्यकरणी औषधिको खाकर विद्याधरोंकी भाँति आकाशचारी होकर अपने घर चले गये ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार बंगके भट भी हिमालयकी औषधियाँ खाकर पृष्ठलग्न मनुष्योंकी नाईं म्लान (कुम्हलाए) शेखर पुष्पोंसे युक्त हो बाणोंके चुक जानेसे केवल धनुषोंसे युक्त हो अपने-अपने घर आये, मारे भयके आज भी बाहर न निकलने कारण पिशाचताको प्राप्त हुए जैसे दिखाई नहीं पड़ते ॥ ३३ ॥

अङ्ग देशके भट विद्याधरोंका पद प्रदान करनेवाले वनफलोंके भक्षणसे स्वर्गमें विद्याधर होकर वहां विद्याधरियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥ ३ ॥

पारसो भट ताल और तमालके समूहोंमें प्रविष्ट हुए, प्रविष्ट होते ही शत्रुओंने उनके अङ्ग-अङ्ग काट डाले, अतएव बेचारे मूर्च्छाको प्राप्त हो गये । वहांपर भ्रान्तिवश विमानचारी ऐसे हो गये ॥ ३५ ॥

हे वत्स, कलिङ्गोंकी चञ्चल और निस्सार हाथियोंसे युक्त चतुरङ्ग सेना अङ्ग-देशवासी भटोंसे घायल होकर तङ्गण देशमें पहुँची ॥ ३६ ॥

क्रमत्यरिबले साल्वाः शरशैलोदकोदरे ।
पतिताः प्रभुणा सार्धमद्याऽप्येवोपलाः स्थिताः ॥ ३७ ॥

असंख्याः प्रपलायन्तः ककुभं ककुभं प्रति ।
नराः सरत्तरङ्गेषु सागरेषु लयं गताः ॥ ३८ ॥

क्षेत्राटवीपुरजलस्थलशैलकूल-
कुल्याग्रहारसरिदब्धिभृगुद्रुमेषु ।
ग्रामारपट्टिगिरिकूपगुहागृहेषु
भ्रष्टानि कः कलयितुं कुबलानि शक्तः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम
द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

साल्वदेशके भट बाण, पत्थर और जलसे युक्त शत्रुसेनाके आक्रमण करनेपर अपने प्रभुके साथ धराशायी हो गये, वे आज भी उस देशके ग्रामदेवतारूप प्रतिमा बनकर स्थित हैं ॥ ३७ ॥

प्रत्येक दिशाकी ओर भाग रहे असंख्य भट तरङ्गोंसे व्याप्त सागरोंमें लीन हो गये ॥ ३८ ॥

केवल सागरोंमें ही लीन नहीं हुए किन्तु खेतोंमें, जंगलोंमें, नगरोंमें, जलोंमें स्थलोंमें, पहाड़ोंमें, नदी और समुद्रोंके तटोंमें, नहरोंमें, ब्राह्मणोंको दिये गये माफी ग्रामोंमें, नदियोंमें, समुद्रोंमें, भृगुओंमें, वृक्षोंमें, कसबोंमें, खुश्क जगहोंमें, पर्वतोंमें, कुओंमें, गुहाओंमें, गृहोंमें विनष्ट हुए भगोड़े सैनिकोंको बचानेमें कौन समर्थ था ॥ ३९ ॥

एक सौ बारह सर्ग समाप्त

—:०:—

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

बलान्यनुतरन्तोऽथ तदित्थं द्रवतां द्विषाम् ।
दूराद्दूरतरं प्राप्ताश्चत्वारस्ते विपश्चितः ॥ १ ॥
सर्वशक्तिमयैकेन चेतनेनेश्वरेण ते ।
प्रहिता दिग्जयं चक्रुः सर्व एव समाशयाः ॥ २ ॥
दूरात्तावदविच्छिन्नमनुसस्रुर्बलानि ते ।
यावत्तीरं समुद्राणां प्रवाहाः सरितामिव ॥ ३ ॥
दूराविश्रान्तयानेन तेषां तत्सर्वसाधनम् ।
आत्मीयं परकीयं च क्षीणं कुसरिदम्बुवत् ॥ ४ ॥
आत्मीयान्यन्यदीयानि तेषां वीक्ष्य बलान्यलम् ।
क्षीणानीव मुमुक्षूणां पुण्यपापानि धावताम् ॥ ५ ॥
स्वयमस्त्राणि शान्तानि कृतकृत्यान्यथाऽम्बरे ।
ज्वालाजालानि वह्नीनां दाह्यस्याऽसंभवादिव ॥ ६ ॥

एक सौ तेरह सर्ग

[शत्रुओंके विनाशसे विजयके साधनभूत शस्त्रास्त्रोंके विनाश तथा समुद्रोंके वैभवका विस्तारसे वर्णन]

तदनन्तर इस प्रकार भाग रहे शत्रुओंकी सेनाका पीछा कर रहे वे चार विपश्चित् अत्यन्त दूर चले गये । सर्वशक्तिशाली सब देहोंमें स्थित एक चेतन ईश्वरसे दिग्विजय करनेके लिए प्रेरित, तुल्य अभिप्रायवाले उन सबोंने दिग्विजय किया ॥ १, २ ॥

नदियोंके प्रवाहोंकी नाईं उन्होंने दूरसे अपनी सेनाओंका निरन्तर शत्रु-सेनासे सम्पर्क रखते हुए समुद्रके तट तक अनुसरण किया । दूर तक बिना विश्राम लिए चलनेसे विपश्चितके सैनिकोंके वे जीवननिर्वाह और युद्ध आदिके साधन प्रतिदिनके व्ययसे छोटी-छोटी नदियोंके जलकी भाँति क्षीण हो गये ॥ ३, ४ ॥

दौड़ रहे विपक्षियोंकी, अपनी और दूसरोंकी दर्शनीय सेनाएँ मुमुक्षु जनोंके पुण्य-पापोंकी तरह पूर्णरूपसे मटियामेट हो गईं ॥५॥

इसके उपरान्त जैसे अग्निकी ज्वालाएँ दाह्य वस्तुओंके (लकड़ी आदिके)

आलयेषु रथाश्वेभवृक्षौघादिषु हेतयः ।
आसन्निद्रालवो लीना दिनान्ते विहगा इव ॥ ७ ॥
तरङ्गा इव तोयेऽन्तर्नीहारा इव वारिदे ।
मेघा वायाविवाऽऽमोदा व्योमनीव निलिल्यिरे ॥ ८ ॥
धारापङ्कतलालीनशान्तहेतिजलेचरः ।
नाराचसीकरासारनीहारपरिवर्जितः ॥ ९ ॥
चक्रावर्तशतोन्मुक्तो युक्तः सौम्यतयाऽच्छया ।
प्रशान्तमेघसंरम्भतरङ्गोत्तुङ्गवर्षणः ॥ १० ॥
अन्तर्लीनर्क्षरत्नौघकोणसंस्थार्कवाडवः ।
शून्यतावारिरमलो व्योमैकाब्धिरभूत्पृथुः ॥ ११ ॥
लम्बप्रकाशगम्भीरं प्रसन्नं कान्तिमत्तमम् ।
रजोविरहितं रेजे खं मनो महतामिव ॥ १२ ॥

अभावसे शान्त हो जाती हैं वैसे ही अपना कार्य सम्पन्न कर चुके दिव्यास्त्र भी आकाशमें लीन हो गये ॥ ६ ॥

तरकस, म्यान आदि अपने निवास गृहोंमें, रथों, हाथियों और वृक्षोंके समूहोंमें अस्त्र सायंकालके समय निद्रालु पक्षियोंके समान लीन होकर निश्चेष्ट हो गये ॥ ७ ॥

उक्त आयुध, जैसे लहरें जलके अन्दर विलीन हो जाती हैं, जैसे कुहरा बादल-में विलीन हो जाता है, जैसे बादल वायुमें विलीन हो जाते हैं वैसे ही तरकस, म्यान आदिमें विलीन हो गये ॥ ८ ॥

शून्यतारूपी जलसे भरा निर्मल आकाशरूपी एकार्णव प्रलयकालमें प्रसिद्ध एकमात्र अति विस्तृत सागर बन गया, क्योंकि उसके अस्त्र-शस्त्ररूपी जलजन्तु मूसलाधार वृष्टिसे हुए कीचड़में विलीन होकर शान्त हो चुके थे, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्तोंसे वह रहित था अतः निर्मल सौम्यता उसमें चारों ओर विराजमान थी, बाणरूपी जलकणोंकी वेगवती वृष्टि और कुहरा उससे हट चुका था, बादलोंके घटाटोपसे हुई तरंगोंकी भाँति ऊँची ऊँची जलधाराएँ उसमें शान्त हो चुकी थीं, नक्षत्ररूपी रत्न-राशि अन्दर छिप चुकी थी तथा सूर्यरूपी वडवाग्नि उसके एक देशमें स्थित थी ॥ ९-११ ॥

एकार्णव-सा विस्तृत आकाश, जो विस्तृत (फैले हुए) सूर्यप्रकाशसे गम्भीर अतएव कान्तियुक्त और धूलिपटलसे रहित अतएव प्रसन्न था, महात्माओंके मनकी

अथाऽर्णवांस्ते ददृशुराकाशस्याऽनुजानिव ।
विस्तीर्णान्विमलाकारान्पूरिताखिलदिक्तटान् ॥ १३ ॥
तरङ्गकणकल्लोलमहागुलुगुलाकुलान् ।
भूरिसीकरनीहारहारिहारिशरीरिणः ॥ १४ ॥
स्थितानात्मानमास्तीर्य भूमौ व्याध्यातुरानिव ।
श्वसनार्तांश्चलद्देहान्विवर्तोर्मिमहाभुजान् ॥ १५ ॥
जडानपि स्पन्दमयान्कल्लोलाकोटकोटरान् ।
संसारानिव विस्तीर्णांश्चक्रावर्तदशाकुलान् ॥ १६ ॥
रत्नराशितटोद्योतपीवरीकृतभास्करान् ।
शङ्खराशिविशद्वातशब्दतर्जितघुंघुमान् ॥ १७ ॥
मांसलोर्मिघटाघोषघर्घराम्बरडम्बरान् ।
वर्तुलावर्तविस्तारप्रभ्रमद्द्रिद्रुमद्रुमान् ॥ १८ ॥

भाँति सुशोभित हुआ। महात्माओंका मन भी आत्मज्ञानसे गम्भीर होनेसे प्रकाशमय तथा रजोगुणसे रहित होनेके कारण प्रसन्न रहता है ॥ १२ ॥

तदुपरान्त उक्त चार विपश्चितोंने आकाशके छोटे भाइयोंके सदृश विस्तार युक्त, निर्मल आकारवाले, सम्पूर्ण दिशाओं तक फैले हुए चार समुद्रोंको देखा ॥१३॥

उनमें लहरोंके खण्डों और कल्लोलोंसे चारों ओर महान् गुड़ गुड़ शब्द हो रहा था, प्रचुर जलकणरूपी कुहरेको हरनेवाले मेघोंसे उनका कलेवर बड़ा रमणीय प्रतीत होता था, रोगाकुल पुरुषोंकी भाँति वे अपनी कायाको पसारे हुए थे, वे वायुसे पीड़ित (आन्दोलित) थे, अतएव उनका कलेवर चञ्चल था और वे तरङ्गरूपी बाहुओंको बार-बार ऊपर उठा रहे थे * ॥ १४-१५ ॥

वे संसारकी नाईं जड़ होते हुए भी चेष्टामय थे, कल्लोलरूपी टेढ़े-मेढ़े खोडरोंसे भरे थे, † चक्राकार आवर्तरूपी (जलभ्रमिरूपी) दशाओंसे व्याकुल तथा विस्तीर्ण थे। रत्नोंकी राशियोंको धारण करनेवाले तटोंकी जगमगाहटसे उदय समयमें मानो वे सूर्यको विशाल बना देते थे। शङ्खोंके झुण्डोंमें प्रवेश कर रहे वायुका शब्द ही मानो उनकी तर्जनध्वनि (डांट-डपटकी हुंकार) थी। बड़ी-बड़ी लहरोंकी परम्पराओंकी ध्वनियोंसे वे मेघोंकी गड़गड़ाहटसे पूर्ण आकाशके

* रोगाकुलके पक्षमें—सांस रोगसे पीड़ित अतएव चञ्चलशरीर तथा पीड़ाके मारे बार-बार भुजाओंको ऊपर उठा रहे। † संसारपक्षमें षडूर्मियोंसे (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिसे) कुटिल जलाशयोंसे पूर्ण।

मकरव्यूहनिर्ह्रादघर्घरोदरघुंघुमान् ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमज्जत्पोतकृतारवान् ॥ १९ ॥
उद्ग्रीवकूर्ममकरनिगीर्णौर्णनरोत्करान् ।
ऊर्मिबिम्बितसप्ताश्वसहस्रार्कनभोनिभान् ॥ २० ॥
भांकारकारिपवनपतद्भूत्यततोद्भटान् ।
ऊर्म्युदस्तमणिव्रातबलाज्झणझध्वनीन् ॥ २१ ॥
नानाजालैर्बलभुजैर्हेलास्पृष्टार्कमण्डलान् ।
नमदुन्नमदुद्रश्मिरत्नमाणिक्यमण्डलान् ॥ २२ ॥
उत्फालफेनिलावर्तविवर्तमकरोत्करान् ।
क्वचित्करिकरोन्नामैः क्षणं वंशवनीकृतान् ॥ २३ ॥

आडम्बरसे युक्त थे, उनके गोल-गोल आवर्तोंके विस्तारमें मूंगेके वृक्ष जोरसे घूम रहे थे, मगरोंके झुण्डोंके घर-घर शब्द ही उनके पेटकी गुड़गुड़ाहट थी, ह्वेल मछलियोंकी पूंछोंके अगले भागकी मारसे फटे हुए अतएव डूब रहे जहाजों-के कोलाहलसे भरे जा रहे थे, ऊनी वस्त्र पहने हुए नरनिकरोंको ऊपर गर्दन निकाले हुए कछुए और मगर निगल रहे थे, हजारों लहरोंमें प्रतिबिम्बित सूर्योंसे वे जिसमें सहस्त्र सूर्य उदित हुए हों ऐसे आकाशके तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥१६-२०॥

मालसे लदे हुए तथा तने हुए पालपर फर-फर ध्वनि करनेवाले वायुओंके कारग चल रहे जहाजोंकी कतार ऊपरको उछल रही थी, लहरोंमें उलझी हुई रत्नराशियोंके गिरनेके धक्केसे उनमें झंकार ध्वनि हो रही थी, विविध जलोंसे युक्त सेनाओंकी बाहुओं द्वारा अनायास सूर्यमण्डलका स्पर्श कर रहे थे (या विविध समुदायोंसे पूर्ण तरंगरूपी बाहुओंसे वे अनायास सूर्यमण्डलका स्पर्श कर रहे थे), ऊपरको छिटक रही किरणोंसे युक्त मणिमाणिक्योंके समूह उनमें डूब और उतरा रहे थे, फाँदनेसे फेनवाले आवर्तोंमें (जलभ्रमियोंमें) मगरोंके झुण्डके झुण्ड घूम-फिर रहे थे, चक्कर लगा रहे थे, कहींपर हाथियोंके सूंड़ोंको ऊपर करनेसे वे क्षणभरके लिए बाँसके बनसे बनाये जा रहे थे, हाथियोंकी पूँछ उनमें लहरियोंकी बौर-सी मालूम पड़ रही थी, हाथियोंकी पीठरूपी पंक्तियोंमें सटी हुई फेनराशिसे वे पुष्पित बसंत जैसे प्रतीत हो रहे थे। कहींपर (श्वेत द्वीप आदिमें) मालूम पड़ता था कि मानों बसंत अपने परिवारके साथ उनके अन्दर विश्राम कर रहा है, उनके एक स्थानपर असंख्य नाना प्रकारके सुर और असुरोंके

लहरीवल्लरीवालान्पृष्ठतालिषु माधवान् ।
क्वचिदन्तरविश्रान्तसपरिच्छदमाधवान् ॥ २४ ॥
एकदेशस्थितासंख्यनानासुरसुरालयान् ।
तारानवतरङ्गौघपरिदन्तुरिताम्बरान् ॥ २५ ॥
गुहामशकवद्गर्तभीतशाखायिताचलान् ।
नयतोऽम्बुतरङ्गौघैर्वेलाद्रीनतिखर्वताम् ॥ २६ ॥
खक्षेत्रारोपितानल्परत्नरश्मिपथाङ्कुरान् ।
शुद्धशुक्तिमुखोन्मुक्तमुक्तान्तरितसैकतान् ॥ २७ ॥
नानारत्नांशुकौशेयसूत्रचित्रांस्तरङ्गितान् ।
विशन्नदीन्दशादिग्भिः समाकीर्णान्पटानिव ॥ २८ ॥
इन्द्रनीलतटैर्व्युप्तमुक्ताशुक्तिशताङ्कितैः ।
क्वचिद्दर्शयतः कान्तशतेन्दुकनखश्रियम् ॥ २९ ॥

आवास बने थे, फेन आदिरूप तारोंसे युक्त नूतन तरङ्गराशियोंसे वे आकाशका परिहास कर रहे थे, गुफामें स्थित मच्छरकी नाईं पातालरूपी गड्ढेमें प्रविष्ट होकर बाहर निकलनेमें भयभीत पर्वत उनमें मूलशाखासे (जड़ोंकी शाखाके तुल्य) प्रतीत हो रहे थे, वे अपनी तरंगराशियोंसे तटवर्ती पर्वतोंको छोटे बना रहे थे (तटवर्ती पर्वतोंकी अपेक्षा तरंग राशियाँ बहुत ऊँची थीं, अतः वे छोटे दिखाई दे रहे थे) ॥ २२-२६ ॥

उन्होंने (चार सागरोंने) आकाश रूपी खेतमें बहुतसे रत्न किरणरूपी अङ्कुर लगा रक्खे थे, स्वच्छ सीपोंके मुँहसे गिरी हुई मोतियोंसे उनके बालुमय तटप्रदेश आच्छन्न थे, विविध प्रकारके रत्नोंकी किरणरूपी रेशमी सूत्रोंसे उनका कलेवर चित्र-विचित्र हो रहा था, प्रविष्ट हो रही नदियाँ ही उनके तुरीमें प्रविष्ट किये (लपेटे) जा रहे तन्तु (सूत) थे, दशा (किनारा) रूपी दिशाओंसे वे चारों ओर फैलाये गये थे, अतएव बीने जा रहे वस्त्रोंके तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥२७-२८॥

कहींपर वे इन्द्रनील मणियोंके तटोंसे, जिसमें इतस्ततः बिखरी हुई मोती-वाली सैकड़ों सीपें जड़ी थी, अपनी नख शोभाको सैकड़ों सुन्दर (पूर्ण) चन्द्र-माओंसे युक्त-सी दिखला रहे थे ॥ २९ ॥

रत्नांशुजालसंदिग्धास्तरङ्गादेशबिम्बिताः ।
परिवर्तयतः फुल्लास्तीरतालीवनावलीः ॥ ३० ॥
एलालवङ्गकङ्कोलफलमालां जिघृक्षुभिः ।
वेलावनलताभ्रष्टामाक्तावृत्तीञ्जलेचरैः ॥ ३१ ॥
चूतनीपकदम्बाग्रविहगान्प्रतिबिम्बितान् ।
भुञ्जानैर्विप्रलम्भेन कृताच्छोटाञ्जलेचरैः ॥ ३२ ॥
खेचरप्रतिबिम्बेन विद्रवद्भिरितस्ततः ।
भग्नबन्धबृहत्सेतून्क्षणं प्रति जलेचरैः ॥ ३३ ॥
अमूर्तान्प्रतिबिम्बेन हृदयस्थजगत्त्रयान् ।
चतुरो व्योमविपुलान्दिक्षु नारायणानिव ॥ ३४ ॥
अतिगाम्भीर्यनैर्मल्यविस्तारविभवैर्नभः ।
निगीर्य संदर्शयतो हृदयादिव बिम्बितम् ॥ ३५ ॥
जलचारिविहङ्गानां साकाशं प्रतिबिम्बितम् ।
आशयैर्दधतः सारैः पद्मान्भृङ्गमिवाऽऽत्मगम् ॥ ३६ ॥

वे रत्नोंकी किरणराशियोंका सन्देह करानेवाली तरङ्गोंमें प्रतिबिम्बित तट-भूमिकी विकसित तालकी वनपक्तियोंको तरङ्गोंके परिवर्तनोंसे परिवर्तित कर रहे थे, तीरभूमिके वनोंकी लताओंसे घिरे हुए इलाइची, लौंग, कङ्कोलोंके फलोंको लेनेकी इच्छा करनेवाले जलजन्तु उनमें बार-बार आ जा रहे थे, आम, भूकदम्ब, कदम्बकी चोटियोंपर बैठे हुए पक्षियोंको जिनकी जलमें परछाँई पड़ी थी, भक्ष्य मांस आदिके प्रदर्शनके व्याजसे लहरके समीप लाकर खा रहे जलजन्तु उनमें चुटकी बजानेकी-सी ध्वनि कर रहे थे, नभचर जन्तुओंके प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण इधर उधर दौड़ रहे जलजन्तु उनमें प्रति क्षण बड़े-बड़े (पुल) तोड़ रहे थे और बाँध रहे थे। उन्होंने चार दिशाओंमें चार समुद्रोंको देखा। वे अमूर्त थे किन्तु प्रतिबिम्बिसे सारा त्रैलोक्य उनके हृदयमें स्थित था, आकाशके समान वे विशाल थे, अतएव अमूर्त, त्रैलोक्यको हृदयमें धारण किये हुए और आकाशके समान व्यापक नारायणके समान थे ॥ ३०-३४ ॥

अत्यन्त गम्भीरता, निर्मलता और विस्तारके वैभवसे अपनेमें प्रतिबिम्बित आकाशको मानो हृदयसे निकाल कर दिखला रहे थे, वे जलचर पक्षियोंके आकाशसहित प्रतिबिम्बको रत्नराशियोंके किरणोंसे कर्बुरित अपने हृदयोंसे

तरङ्गतरलास्फालमारुतैराहताम्बरान् ।
कन्दरोद्गारगम्भीरैः कल्पान्तजलदालयान् ॥ ३७ ॥
गुहागुलुगुलावर्तनिर्घोषाशनिभीषणान् ।
भृशं भावयतो ग्रस्तानगस्त्यौर्वानलानिव ॥ ३८ ॥
भूरिसीकरपुष्पाणि तरङ्गौघतरूणि च ।
प्राप्तान्यम्बुवनानीव लहरीमञ्जरीणि खम् ॥ ३९ ॥
स्रस्तरङ्गजालानि प्रोड्डीनप्राणिमन्त्यधः ।
आकाशखण्डखण्डत्वात्पतितानीव विभ्रमात् ॥ ४० ॥
एलालवङ्गबकुलामलकीतमाल-
हिंतालतालदलताण्डवखण्डिताग्रे ।
प्राप्ते पतल्लवणवारिधिदीर्घतीरं
रेखा बभावलिनिभाऽम्बरशैलमूर्ध्नि ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० समुद्रवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

धारण कर रहे थे, अतएव कोशके बीचमें स्थित भंवरोंको धारण करनेवाले पद्मोंके सदृश दीख रहे थे, तरंगोंसे चञ्चलतापूर्वक उछले हुए वायुओंके झोकोंसे आकाश तलपर आघात कर रहे थे, मध्यवर्ती पर्वतोंकी कन्दराओंमें वायुके प्रवेश और निकलना रूप जो उद्गार था, उससे अनुमेय कन्दराओंके गाम्भीर्योंसे वे प्रलयकालके मेघोंके निवासरूप थे, गुहाओंमें आवर्तोंकी गुड़गुड़ाहट ध्वनियोंसे वे वज्रकी भाँति भीषण थे, अपनेको पी डालनेवाले अगस्त्योंको और वड़वानलोंको अपने गुहारूपी उदरोंमें खूब ग्रसे हुए दर्शा रहे थे, जलरूपी वनोंको, जिनमें प्रचुर जलकण ही पुष्प थे, तरंगराशियाँ ही वृक्ष थे, छोटी लहरें ही मंजरी (बौर) थीं, आकाशमें पहुँचे हुए दर्शा रहे थे, उड़े हुए मछली आदि जीवजन्तुओंसे युक्त चल रही तरंग-राशियोंको आकाशके शस्त्रोंसे कटनेपर खण्ड रूपसे नीचे गिरे हुए टुकड़ेसे दर्शा रहे चार समुद्रोंको उन्होंने देखा ॥ ३५-४० ॥

आकाश तक पहुंचे हुए पर्वतोंके शिखरोंपर तटोंके आगे पूर्ववर्णित रीतियोंसे तरङ्गों द्वारा स्वागत कर रहे क्षार-सागरके तटपर विपश्चित्‌सेनाके पहुँचनेपर चारों ओर इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिंताल और ताड़के पत्तोंके ताण्डवोंसे विभक्त भँवरोंके समान काली वनपङ्क्ति शोभित हुई ॥ ४१ ॥

एक सौ तेरह सर्ग समाप्त

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तेषां तदा तत्र ततस्तांस्तानदर्शयन् ।
पार्श्वगा वनवृक्षाब्धिशैलमेघवनेचरान् ॥ १ ॥

देव पश्याऽस्य शैलस्य येयमभ्रंकषाऽग्रभूः ।
समरुन्मध्यदेशादेरश्मदेशमुपेयुषः ॥ २ ॥

इमा बकुलपुन्नागनालिकेरकुलाकुलाः ।
विपिनावलयो वान्तविविधामोदमारुताः ॥ ३ ॥

लुनात्युपत्यकां वार्धिः शैलशालिशिलावलीः ।
वनालीर्लहरीदात्रैरापादफलपल्लवाः ॥ ४ ॥

एक सौ चौदह सर्ग

[पार्श्ववर्ती द्वारा विपश्चितोंको दर्शाये गये वन, वृक्ष, सागर, शैल और वनचरोंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, इसके पश्चात् विपश्चितोंके पार्श्ववर्ती मन्त्री आदिने वहाँ पहुँचनेके बाद वहाँपर भाँति-भाँतिके वन, वृक्ष, सागर, पर्वत, मेघ और वनेचर कौतुकके लिए विपश्चितोंको दिखलाये ॥ १ ॥

महाराज ! तलहटी, मध्यभाग तथा चोटीके क्रमसे आगे पाषाणमयताको प्राप्त (अत्यन्त पथरीले) इस शैलकी आकाशसे बातें करनेवाली अतएव प्रचुर वायुसे पूर्ण (अथवा क्रीड़ाविहार कर रहे गन्धर्व आदिसे भरी हुई) शिखर-भूमिको आप देखनेकी कृपा कीजिये ॥ २ ॥

देव, मौलसिरी, केसर, नारियलके वृक्षोंसे भरी हुई इन वनस्थलियोंपर भी, जो विविध सुगन्धियोंसे पूर्ण वायुओंको बहा रही हैं, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥ ३ ॥

यह महासागर लहरीरूपी हँसवोंसे तराईको (पर्वतके पासकी सम भूमिको) और पर्वतपर शोभित शिलाओंको काटता है और चोटीसे लेकर जड़ तक फलों और पल्लवोंसे लदी हुई वनपंक्तियोंको भी काटता है ॥ ४ ॥

अधित्यकासु मेघालीर्नृत्यतां स्वाम्बुभूभृताम् ।
धुनोति जलधिर्बालो गृहधूमावलीमिव ॥ ५ ॥
राकाब्धिपूरसंप्रोतशङ्खशाखास्तटद्रुमाः ।
चन्द्रबिम्बफलाः कल्पवृक्षा इव विभान्त्यमी ॥ ६ ॥
रत्नपुष्पभरापूर्णरक्तपल्लवपाणयः ।
भवन्तं पूजयन्तीव लतादारान्विता द्रुमाः ॥ ७ ॥
प्रोतोर्मिमकरग्रासैर्दृषद्दन्तैर्गुहामुखैः ।
ऋक्षवानृक्षवद्भूभृद्वत्ते घुरघुरारवम् ॥ ८ ॥
महेन्द्रो मन्द्रगर्जाभिरभिक्षिपति गर्जतः ।
पर्जन्यानूर्जितो जन्यः प्रतिजयान्यथा जडैः ॥ ९ ॥

जैसे कोई बालक अपने घरकी धूम-पङ्क्तियोंको पङ्खेसे कम्पित करता है वैसे ही यह सागर वायुसे हिलाई गई वृक्ष और लता रूपी भुजाओंके अभिनय-से नाच रही, स्वेदतुल्य अपने जलकणोंसे व्याप्त, पर्वतोंकी ऊपरकी भूमिपर बैठी हुई मेघपङ्क्तिको कम्पित करता है, कृपया देखिये ॥ ५ ॥

पूर्णिमाके दिन चन्द्रोदयके समय वृद्धिको प्राप्त समुद्रके प्रवाहोंसे जिनकी शाखाओंमें शङ्ख उलझ गये थे, ऐसे ये तटवृक्ष चन्द्रबिम्बके समान अमृत-रससे भरे और सफेद फलोंसे पूर्ण कल्पवृक्षसे शोभित हो रहे हैं, तनिक दृष्टि-पात कीजिये ॥ ६ ॥

लतारूपी धर्मपत्नियोंसे युक्त ये वृक्ष, जिनके लाल पल्लवरूपी हाथ रत्नोंके तुल्य पुष्पोंसे भरे हैं, अपने घरमें प्राप्त अतिथिरूप आपकी मानो पूजा करते हैं ॥ ७ ॥

यह ऋक्षवान् नामका पर्वत लहरोंमें उलझे हुए मगरोंको अपनेमें ग्रसनेवाले सफेद पत्थररूपी दाँतोंसे युक्त गुहारूपी मुखोंसे ऋक्षके समान (भालूके समान) घुरघुर शब्द करता है ॥ ८ ॥

जैसे बलवान् युद्ध-कुशल भट रिपुओंको जड़ वचनोंसे ललकारता है वैसे ही यह महेन्द्र पर्वत ऊपरसे गरज रहे मेघोंको नीचेसे गम्भीर गर्जनाओं द्वारा सामने डाट-फटकार रहा है ॥ ९ ॥

चन्दनारूषितः श्रीमाञ्जेतुं जलधिवेल्लनाः ।
समुद्यत इवोच्चोऽसौ मल्लो मलयपर्वतः ॥ १० ॥
सर्वतः कचितोऽजस्रं रत्नवीचिभिरम्बुधिः ।
भूरत्नवलयभ्रान्त्या प्रेक्ष्यते सूर्यमार्गगैः ॥ ११ ॥
सरन्ति रत्नमूर्धानश्चलकानिलपायिनः ।
वानपूराः पर्वतकाः सर्पा इव नतोन्नतैः ॥ १२ ॥
भ्रमन्तो वीचिशृङ्गेषु मकरेभाः करोत्कटैः ।
हरन्ति सीकराम्भोदा मेघानुद्राविता इव ॥ १३ ॥
आवर्तवलिताकारः सीकरोत्करकीर्णदिक् ।
पूर्णत्वात्तु शिरोऽशक्तो म्रियतेऽत्युत्करः करी ॥ १४ ॥
विविधप्राणिसंपूर्णाः सजलाद्रिनतोन्नताः ।
यथैवाऽम्भोधयः सर्वास्तथैव द्वीपभूमयः ॥ १५ ॥

चन्दनके वृक्षोंसे व्याप्त, अतिशयशोभाशाली, अति उन्नत यह मलय पर्वत-रूपी मल्ल (पहलवान) प्रतिमल्लरूपी सागरकी लहररूपी भुजाओंकी लपेटको जीतनेके लिए उद्यत-सा हो रहा है ॥ १० ॥

चारों ओरसे रत्न-मिश्रित तरङ्गोंसे निरन्तर व्याप्त समुद्रको आकाशचारी जीव, भूमिके रत्नकङ्कणकी भ्रान्तिसे देखते हैं ॥ ११ ॥

वनसमूहोंसे भरे हुए छोटे-छोटे पर्वत, जिनके शिखरोंपर रत्न विराजमान हैं वायुवश घनके कम्पित होनेपर नीची ऊँची गतियोंसे चलनेवाले बनकर सर्पोंकी भाँति सरकते हैं ॥ १२ ॥

तरङ्गोंके शिखरोंपर घूम रहे समुद्री मगर और जंगली हाथी तरङ्गशिखरों-के निकलने और प्रविष्ट होनेपर एक दूसरेके ग्रहणके लिए सूँड़ों और खोले हुए मुँहोंसे बादलोंसे अनुद्रुत जलकण गिरानेवाले मेघोंकी भाँति कौतुक देखने-वालोंका मन हरते हैं ॥ १३ ॥

उनमेंसे एक हाथी भाग्यवश अगाध जलमें भँवरोंकी पकड़में आकर जलकणोंकी मूसलाधार बौछारोंसे दिशाओंको व्याप्त कर डूबनेके कारण जलसे भर जानेसे सिर उठानेमें असमर्थ हो सूंड़ ऊपर कर मर रहा है, जरा दृष्टिपात कीजिये ॥ १४ ॥

जैसे सागर विविध प्राणियोंसे पूर्ण, जलसे भरे हुए तथा पर्वतोंसे ऊँचे

आवर्तानात्मनोऽनन्यानप्यन्यानिव भास्वरान् ।
गृह्यमाणानसद्रूपान्दृश्यमानानपि स्फुटान् ॥ १६ ॥
तरङ्गतरलानन्तर्जडानप्यम्बुधिश्चलान् ।
धत्ते ब्रह्म जगन्तीव सान्तानप्यन्तवर्जितान् ॥ १७ ॥
यानन्तरिन्द्रवद्भ्रातुमणीन्धत्तेऽम्बुधिर्बहून् ।
मन्थापहृतसर्वस्वो देवेभ्यः परिरक्षितान् ॥ १८ ॥
दृश्यमानान्महातेजस्तया पातालतोऽप्यलम् ।
प्रतिबिम्बधिभङ्ग्याऽन्तरसत्यानिव गोपितान् ॥ १९ ॥
तेषां मध्यादेकमेकं प्रत्यहं पश्चिमार्णवे ।
निक्षेपाय क्षिपति यं तेन मन्ये दिनं भवेत् ॥ २० ॥
नानादिग्देशपयसामब्धौ साधुसमागमः ।
यात्रायामिव लोकानां मिथः कलकलान्वितः ॥ २१ ॥

नीचे (विषम) हैं वैसे ही सब द्वीपभूमियाँ भी हैं ॥ १५ ॥

जैसे ब्रह्म अपनेसे अभिन्न होते हुए भी भिन्नसे प्रतीत होनेवाले, दिखाई देते हुए भी असद्रूप, जड़ होते हुए भी चलनेवाले, सान्त होते हुए असीम जगत्‌को धारण करता है वैसे ही जलधि अपनेसे अभिन्न होते हुए भी भिन्नसे मालूम पड़नेवाले, दिखाई देते हुए भी चञ्चल, विनाशशील होते हुए भी अन्त रहित असीम आवर्तोंको धारण करता है ॥ १६,१७ ॥

जैसे इन्द्र असुरोंसे रक्षा करते हुए मणियोंको अपने अन्दर रखते हैं वैसे ही मन्थनके समय देवता और असुरों द्वारा हृत-सर्वस्व सागर मन्थनके समय देवताओंसे परिरक्षित जिन बहुतसी मणियोंको अपने अन्दर रखता है और महातेजरूप अतएव पातालसे भी भलीभाँति दिखाई दे रहीं जिन मणियोंको प्रतिबिम्बरूपसे असत्यसी बनाकर अन्दर छिपाकर रखता है, उन मणियोंमें से एक जिस मणिको प्रतिदिन पश्चिम सागरमें रखनेके लिए आकाशमें फेंकता है, उससे दिन होता है, ऐसी मेरी मति है ॥ १८-२० ॥

जैसे यात्रामें लोगोंका कलकल ध्वनिसे युक्त परस्पर समागम होता है वैसे ही नाना दिशाओं और देशोंके जलोंका कलकल शब्दसे मिश्रित परस्पर समागम होता है ॥ २१ ॥

जलेचरावरा नूनं सागरार्णवसंगमे ।
अन्योन्यवेल्लनाद्युद्धं न कदाचन शाम्यति ॥ २२ ॥
ताम्यत्तिमितरङ्गाग्रनर्तनावर्तविभ्रमम् ।
वलयन्वायुरायाति वान्तसीकरमौक्तिकैः ॥ २३ ॥
सरिन्मुक्तालतामध्यमध्यस्थाब्दमणीश्वराः ।
दीर्घाः खणखणायन्ते चञ्चलाः सर्वतोऽम्बुधेः ॥ २४ ॥
महेन्द्राद्रेर्गुहागेहपरावृत्तार्णवाध्वनाम् ।
भांकारिण्यो भुवः सिद्धसाध्यानां सुसुखावहः ॥ २५ ॥
मन्दरः कन्दरोद्गीर्णैः प्रसरैर्मातरिश्वनः ।
कम्पाकुलवनाभोगः पुष्पमेघांस्तनोति खे ॥ २६ ॥

युद्धमें उत्साह रखनेवालोंमें जलचर ही श्रेष्ठतम होते हैं, ऐसा मेरा तर्क है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम सागरके संगममें इनका सदैव परस्पर आस्फालनवश कभी भी युद्ध शान्त नहीं होता ॥ २२ ॥

रतिखेदसे श्रान्त हुई मछलियोंके लहरोंकी चोटियोंपर नाचनेमें जो आवर्तों कासा (जलभ्रमियों का-सा) विलास हुआ उसको उड़ाये हुए जलकणरूपी या जलकणसहित पारितोषिकरूप मोतियोंसे वेष्टित करता हुआ प्रभुकी भाँति यह वायु आ रहा है, देखिये ॥ २३ ॥

नदीरूपी मोतियोंकी मालाओंके बीच-बीचमें गुँथे हुए मेघरूपी उत्तमोत्तम चञ्चल रत्न सागरके कण्ठमें सबसे बढ़कर लम्बमान होनेसे आपसकी टक्करसे खनखना रहे हैं ॥ २४ ॥

महेन्द्र पर्वतकी अरतिकारिणी (उदास) भूमियोंमें पहुँच कर उनमें अभिरुचि न होनेसे गुहारूपी गृहोंमें रतिके लिए समुद्री मार्गसे लौटे सिद्ध और साध्यरूप देवयोनियोंके रतिश्रमको हटानेसे सुखकारी यह वायु बह रहा है ॥ २५॥

यह मन्दराचल पर्वत कन्दराओंसे निकले हुए वायुके झोकोंसे आकाशमें पुष्पवर्षी मेघोंका विस्तार कर रहा है अर्थात् शिखरपर छाये हुए मेघोंको फूलोंसे पूर्ण कर रहा है, देखिये ॥ २६ ॥

चूतनीपकदम्बाढ्यगन्धमादनकन्दरान् ।
विशन्ति मेघहरिणास्तडित्तरललोचनाः ॥ २७ ॥
हिमवत्कन्दरोद्गीर्णा वल्लीवलयताण्डवम् ।
तन्वाना वायवो यान्ति विभिन्नाब्दाब्धिवीचयः॥ २८ ॥
तात चूतकदम्बाग्रपरामर्शसुगन्धयः ।
वलयन्त्यब्धिकल्लोलान्गन्धमादनवायवः ॥ २९ ॥
जलदान्वलयन्वायुरलकालकतां गतान् ।
इत आयाति पुष्पाभ्रं रचयन्वनवीथिषु ॥ ३० ॥
कुन्दमन्दारसंदोहमधुरामोदमन्थरान् ।
तुषारसीकरोन्मिश्रानिवाऽत्र कलयाऽनिलान् ॥ ३१ ॥
नालिकेरलतालास्यलब्धतिक्तसुगन्धयः ।
पतन्ति पवनाः पश्य पारसीकपुरीः पुरा ॥ ३२ ॥

ये बिजलीरूपी चञ्चल नेत्रवाले मेघरूपी हरिण आम, धूलिकदम्ब और कदम्बोंसे परिपूर्ण गन्धमादनकी कन्दराओंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २७ ॥

हिमालयकी गुफाओंसे निकले हुए, मेघों और समुद्रकी तरङ्गोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा लताओंको नचा रहे मन्द-सुगन्ध शीतल पवन बह रहे हैं ॥ २८ ॥

हे देव, आम और कदम्बकी शाखाओंकी चोटियोंके सम्पर्कसे सुगन्धवाले गन्धमादन पर्वतके ये वायु सागरकी तरङ्गोंको वेष्टित कर रहे हैं ॥ २९ ॥

अलकापुरी (कुबेरनगरी) के अलक (चूर्णकुन्तल) बने हुए मेघोंको वेष्टित कर रहा तथा वनश्रेणियोंमें पुष्पमेघकी रचना कर रहा वायु इधर ही आ रहा है ॥ ३० ॥

कुन्द और मन्दार (पारिजात) की पुष्पराशियोंकी सुमधुर सुगन्धिके भारसे मन्दगतिवाले अतएव तुषारकणोंसे संपृक्त जैसे वायुओंका इस गन्धमादन पर्वतपर स्पर्श कीजिये ॥ ३१ ॥

नारिकेल वृक्षों तथा मल्लिका आदि लताओंको नचानेसे क्रमशः उनकी तीक्ष्ण मद्यगन्ध और सुगन्धको प्राप्त पवन पारसीक पुरीमें गिरते हैं, देखिये ॥ ३२ ॥

धुन्वानाः पुष्पितेशानवनकर्पूरवारिदान् ।
चालयन्तोऽनिला वान्ति कैलासकमलाकरान् ॥ ३३ ॥
करीन्द्रकुम्भनिष्क्रान्तसदमन्थरमूर्तयः ।
इमे शुकशुकायन्ते विन्ध्यकन्दरवायवः ॥ ३४ ॥
शबरीणां शरीरेषु शीर्णपर्णोत्करे गिरौ ।
नाराचैः पर्णशबरैर्वनाली नगरायते ॥ ३५ ॥
अब्ध्यद्रिसरिदम्भोदवनलेखाङ्गिका दिशः ।
त्वत्प्रतापबलैरेता हसन्तीवाऽर्करश्मिभिः ॥ ३६ ॥
अत्रोपशैलवनवीथिषु पुष्पशय्या
विद्याधरीविरचिताः परिवर्णयन्ति ।
पार्श्वद्वयस्थपरिवृत्तपदात्समुद्रा-
द्व्यावृत्तमुग्धवनितापुरुषायितानि ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० निर्वा० उ० अवि० विप० दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

भगवान् शिवजीके विकसित प्रमदवनके केलेके कर्पूरसे सुरभित, मेघोंको कंपा रहे और कैलासके कमलाकरोंको हिला रहे वायु बह रहे हैं ॥ ३६ ॥

गजेन्द्रोंके गण्डस्थलसे चू रहे मदजलसे मन्थर मूर्तिवाले ये विन्ध्याचलकी कन्दराके वायु, काशके डण्ठलोंसे होनेवाली शुक्-शुक् ध्वनि करते हैं अथवा विन्ध्याचलके सुग्गोंके साथ निकलनेसे उनके रंगसे हरेसे प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ॥

शबरियोंके शरीरोंमें वस्त्रोंकी कल्पना द्वारा जीर्णशीर्ण पत्तोंके ढेरवाले मलयाचल पर्वतपर पत्ते पहननेवाले शबरोंसे तथा बाणोंसे पूर्ण अतएव थोड़ेसे अवशिष्ट मृगों-पक्षियोंसे युक्त मलयवनराजियाँ नगर-सी मालूम पड़ती हैं ॥ ३५ ॥

ये दिशाएँ जिनके सागर, पर्वत, नदियाँ, मेघ, वनपङ्क्तियाँ अवयव हैं, आपके प्रतापसे परिपुष्ट हुई सूर्यकी किरणोंसे मानो हँसती हैं ॥ ३६ ॥

इस प्रदेशमें पर्वत तथा वनवीथियोंके समीप रतिके लिए विद्याधरों द्वारा रची गई पुष्पशय्याएँ महावरकी छापसे युक्त दोनों बाजुओंमें स्पष्टरीतिसे उठे हुए चरण-चिह्नसे पुरुषके रति-श्रान्त होनेपर अधोदेशसे व्यावृत्त हुई मुग्धवनिताके पुरुष-आचरणोंको सूचित करती हैं ॥ ३७ ॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त ।

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

पार्श्वगा ऊचुः

अत्रोत्तमाशय लतावलयालयेषु
लीलाविलोलललनाः कलयन्ति गीतम् ।
उद्दामभावरसविस्मृतवासरेहा
विश्रम्य किंनरगणाः कलकाकलीकम् ॥ १ ॥
एते हिमाद्रिमलयाचलविन्ध्यसह्य-
क्रौञ्चा महेन्द्रमधुमन्दरदर्दुराद्याः ।
दूरस्थिता दृशि सिताभ्रपटा बहन्ति
संशुष्कपर्णलवलाञ्छितलोष्टलीलाम् ॥ २ ॥
अमी दूरालोकव्यवहितमहावर्त्मनिचयाः
पुरः प्राकाराणां कुलशिखरिणो बिभ्रति वपुः ।
विशन्तीरम्भोधिं कलय लुलिता भान्ति सरितः
पटस्याऽन्तः सक्ताः प्रतनुसितसूत्रा इव दशाः ॥ ३ ॥

एक सौ पन्द्रह सर्ग

[चारों दिशाओंमें वन, पर्वत, वृक्ष, नदी, समुद्र, वायु, पशु-पक्षी, मेघ आदिका वर्णन]

पार्श्वचरोंने कहा—हे उदाराशय, जिनकी ललनाएँ विहारक्रीडाओंमें सदा आसक्त रहती हैं, ऐसे किन्नरगण उत्कट संचारिभावों और संभोगश्रृङ्गाररससे दिवस-चेष्टाओंको भूलकर इस पर्वतपर लतानिकुञ्जोंमें अस्फुट मधुर तानवाले गीत गाते हैं और सुनते हैं ॥ १ ॥

अत्यन्त ऊंचे भी पर्वत दूरसे दिखाई देनेके कारण बहुत छोटे मालूम होते हैं, ऐसा कहते हैं—'एते' इत्यादिसे ।

महाराज, देखिये, हिमालय, मलयाचल, विन्ध्याचल, सह्याद्रि, क्रौञ्चाद्रि, महेन्द्र, मधु, मन्दर, दर्दुर आदि ये सफेद मेघरूपी वस्त्रोंसे ढके हुए पर्वत दूर होनेके कारण दर्शकोंकी दृष्टिमें सूखे हुए पत्तोंसे वेष्टित ढेलोंकी रूपरेखाको धारण करते हैं ॥ २ ॥

राजन्, देखिये, ये कुलशैल, दूरसे देखनेपर जिनके मध्यवर्ती मार्गसमूह

दशाशाः शैलानामुपरि परितः प्रावृतघना
घनश्यामाकाराः खगकलकलालापलपिताः ।
लतामुक्तैः पुष्पैर्ललितवनलेखाभुजलता
हसन्त्यस्ते राजन् भवनवनिता भान्ति पुरतः ॥ ४ ॥

तालीतमालबकुलाकुलतुङ्गशृङ्ग-
मेकीकृताकृति वनं तरलं विभाति ।
अभ्याहतं जलनिधेस्तरलैस्तरङ्गै-
स्तीरान्तलग्नघनशैवलजालकल्पम् ॥ ५ ॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितोऽपि शरणार्थिनः शिखरिपत्रिणः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥ ६ ॥

दूसरोंको नहीं दिखाई देते, परस्पर सटे होनेसे चारों ओर नगरके प्राकार (चहार दीवारी) जैसे प्रतीत होते हैं। सागरमें प्रवेश कर रहीं प्रवेशत्वरासे लड़खड़ाती हुई नदियाँ वस्त्रके भीतर लगी हुई महीन सफेद सूतकी किनारी-सी लग रही हैं ॥ ३ ॥

हे राजन्, सामने दसों दिशाएँ, जिन्होंने चारों ओर पहाड़ोंकी चोटियोंपर मेघोंको फैला रक्खा है, जिनकी मेघके सदृश श्यामल आकृति है, पक्षियोंके कलरव ही जिनके वार्तालाप हैं, जिनकी वन-श्रेणिरूपी भुजलताएँ लताओंसे वर्षाए गये फूलोंसे अलंकृत हैं, आपके अन्तःपुरकी रानियोंको हंस रहीसी मालूम पड़ती हैं ॥ ४ ॥

ताड़, तमाल, मौलसिरीके पेड़ोंसे भरे हुए ऊँचे ऊँचे पर्वत-शिखरोंसे युक्त दूरसे प्राकारके सदृश प्रतीत हो रहे शैलोंमें एकाकार तथा वायुसे चञ्चल वन सागरकी तरङ्गोंसे आकुल तीरभूमिसे सटा हुआ सेवारसमूहसा मालूम हो रहा है ॥ ५ ॥

इसमें भगवान् शेषशायी सोते हैं, इसमें उनके शत्रुओंका (असुरोंका) निवास है, इसीमें इन्द्रके भयसे शरणमें आये पर्वत निर्भय होकर सोते हैं, इसीमें वड़वानल भी प्रलयकालीन मेघोंके साथ वास करता है। ओह ! सागरका शरीर कितना विस्तीर्ण, कितना बलवान् और कितना भारसहिष्णु है। शायद ही इसके समान विस्तृत, बली और भारसह दूसरा हो ॥ ६ ॥

एते जम्बुनदीतटा रविकरैराभान्ति हेमाखिल-
ग्रामारण्यपुरस्थलीगिरितरुस्थाणवग्रहारोच्चयाः ।
ज्वालालीवलिताम्बरान्तरलिहो मुञ्चन्ति भासोऽभितः
सर्वा भूमिप भूरिहैवममरासेव्याऽस्ति नो मानुषैः ॥ ७ ॥
एते कदम्बवनकम्बलमम्बुदाभ-
माभान्ति भास्करपथानुगता वहन्तः ।
अस्याऽचलस्य वसुधेव तटं तवाऽस्तु
मा सूर्यरोधकनभस्थघनौघशङ्का ॥ ८ ॥
एषोऽसौ मलयोऽलयोऽग्रलवलीवल्लीलसच्चन्दन-
स्फीतामोदमदाद्रसेन तरवो वक्रे क्रियन्ते त्रिभिः ।
सज्वालोदहनाक्षसंस्थितकपोलोष्मोदयोत्ताण्डवे
अङ्गुष्ठाङ्गुलिभिर्यथोष्णककणास्तप्ता यथा योषिताम् ॥ ९ ॥

कोई दूसरा पार्श्वचर उत्तर दिशाकी ओर मुड़े हुए विपश्चित्से मेरुकी तराईमें सुवर्णमय जम्बूनदीके तटोंको दिखलाता हुआ कहता है—'एते' इत्यादिसे ।

ये जम्बूनदीके तट, जिनमें सब गाँव, वन, नगर, उपवन, पर्वत, वृक्ष, ठूंठ और विप्रोंको दिये गये ग्राम सुवर्णमय हैं, सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त होकर चारों ओर जगमगाते हैं तथा ज्वालाओंकी पङ्क्तियोंसे वेष्ठित आकाशमें पहुँचकर चारों ओर दीप्तियोंकी बौछार करते हैं । हे महाराज, यहाँपर इस प्रकारकी यह सारी भूमि देवताओंके उपभोगयोग्य है, मनुष्योंके आवासयोग्य नहीं है ॥ ७ ॥

इस पर्वतकी मेघसदृश कदम्बवनरूपी कम्बलको धारणकर रही सूर्यके मार्गको चूमनेवाली शिखरभूमियाँ शोभा पा रही हैं । अतः इन भूमियोंमें मेरी भूमिकी तरह ही ये भी भूमियाँ ही हैं ऐसी आपकी बुद्धि हो, ये सूर्यको ढकनेवाली आकाशस्थ मेघराशियाँ हैं, ऐसी शङ्का आप न करें ॥ ८ ॥

दूसरा पार्श्वचर दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित विपश्चित्से मलयाचलका वर्णन करते हुए कहता है— 'एष' इत्यादिसे ।

महाराज, समीपमें दिखलाई दे रहा यह मलयाचल है, इसके प्रभावका क्या बखान करें, श्रेष्ठ लवलीलताओंसे विभूषित चन्दन-वृक्षोंकी प्रचुर मनोहर सुगन्धिसे इसके और वृक्ष भी चन्दन बन जाते हैं, देवता, असुर और मनुष्य उनका मुखकमलमें

एषोऽब्धिधौतकलधौतजटाधिरूढ-
भोगीन्द्रभोगपरिवेष्टितचन्दनोऽङ्गः ।
विद्याधरीवदनपङ्कजदीप्तिपुञ्ज-
हेमीकृताखिलशिलो मलयाभिधानः ॥१०॥

कूजत्कुञ्जकठोरगह्वरनदीकत्कारवत्कीचक-
स्तम्भाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाचलोऽयं गिरिः
एतस्मिन्प्रबलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहणतरुस्तम्भेषु कुम्भीनसाः ॥११॥

कोमलकनकलतालय-
विलसितललनाविलोलवलयकृतम् ।
श्रवणरसायनपानं
विततमिहाऽऽकर्णयाऽस्य तटे ॥१२॥

भृंगके तुल्य तिलक लगाते हैं और इसकी मनोहर सुगन्धिसे भगवान् शिवजीके कपोलोंमें गर्मी पैदा करनेवाले ताण्डव नृत्यमें उत्पन्न हुए गरम स्वेदबिन्दु स्त्रियोंके सुरतश्रमसे उत्पन्न स्वेदबिन्दुओंकी भाँति अत्यन्त शीतल बनाये जाते हैं ॥ ९ ॥

इस मलयाचल पर्वतने, जिसके सागरसे धोये गये सुवर्णमय तटोंपर उगे हुए चन्दन-वृक्ष साँपोंसे परिवेष्टित रहते हैं, विद्याधर स्त्रियोंके वदनकमलके कान्तिपुञ्जसे सकल शिलाओंको सुवर्णमय बना दिया है ॥ १० ॥

यह क्रौञ्चाचल पर्वत है। इसमें रहनेवाले कौए निकुञ्जों, शिलामय प्रदेशों (पथरीली भूमियों), गुफाओं और नदियोंकी तालध्वनियोंसे युक्त बज रहे बाँसोंके गीतोंको सुननेकी तीव्र इच्छासे चुपचाप हो गये हैं। इसमें इधर उधर उड़ रहे मयूरोंकी केकाध्वनियोंसे भयभीत हुए साँप खोखलेवाले पुराने वृक्षोंके तनोंमें अपने शरीरको छिपाये रहते हैं ॥ ११ ॥

हे राजन्, यहां इस क्रौञ्चाद्रिके तटपर कोमल कनकलतासे निर्मित निकुञ्जमें कान्तके साथ क्रीडा कर रहीं ललनाओंके रत्यवस्थामें चञ्चल कंकणोंसे किया हुआ कानोंके लिए अतिमधुर होनेसे रसायनपानके तुल्य दूरतक फैले भूषणशब्दको आप सुनिये ॥ १२ ॥

करिकरटगलितमदजल-
वलितश्चलवीचिचञ्चरीकचयैः ।
चर्वित एष कदर्थित इव
कणनिकरो विरौति वारिनिधौ ॥ १३ ॥

पश्याऽमलेन्दुरामृत-
नवनीतशरीरसुन्दरीवलितः ।
पितुरुत्सङ्गे कुरुते
जललीलां क्षीरवारिनिधौ ॥ १४ ॥

नृत्यन्ति मत्तकलकोकिलकाकलीकाः
पश्याऽमले मलयसानुनि बालवल्ल्यः ।
लोलालिजालनयनारुणपत्रपाणि-
पुष्पा मधूत्सवविलासविशेषवत्यः ॥ १५ ॥

हाथियोंके गण्डस्थलोंसे चुए हुए मदजलोंसे मिश्रित अतएव चञ्चल भ्रमर-वृन्द द्वारा चबाया हुआसा पीडित कणसमूह सागरमें मानो रोता है ॥ १३ ॥

कोई पार्श्वचर सागरमें प्रतिबिम्बित चञ्चल चन्द्रबिम्बको दर्शाते हुए कहता है—'पश्या०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, अमृत-मथनसे उत्पन्न हुए नवनीतके सदृश स्वयं निर्मल चन्द्रमा वैसी ही सुन्दर शरीरवाली सुन्दरियोंसे परिवृत्त होकर क्षीरसागरमें प्रतिबिम्बित हो पिताकी गोदमें जलक्रीड़ा करता है ॥ १४ ॥

दूसरा कोई पार्श्वचर मलय पर्वतपर राजाको लतानृत्य दिखलाता है—'नृत्यन्ति' इत्यादिसे ।

निर्मल मलयपर्वतशिखरमें बाललताएँ नाचती हैं देखिये, मतवाले कोकिलोंकी मीठी तान ही इनका पञ्चमस्वर है, चञ्चल भ्रमरवृन्द ही इनके नयन हैं, नूतन किसलय-रूपी हाथोंमें उन्होंने फूल ले रक्खे हैं और वसन्तोत्सवके विलासरूप पुष्पपरागोंका तिलक लगा रक्खा है ॥ १५ ॥

कोई तीन उत्तम मोतियोंकी खानों और उनमेंसे उत्तम मोतियोंकी उत्पत्तिका वर्णन करता है—'वंशानाम्' इत्यादिसे ।

वंशानां हृदि पर्वतेषु जलधौ तोयार्थिनीनां तु ये
शुक्तीनां हृदये विशन्ति समये वर्षाम्भसां बिन्दवः ।
ते मुक्ताफलतां व्रजन्ति करिणां कुम्भेषु वाऽन्यद्भवेत्
शुद्धौ मौक्तिकवत्स्युरुत्तमगुणा एतास्त्रिधा जातयः ॥१६॥

शैलेऽब्धौ पुरुषेऽवनौ जलधरे भेके शिलायां गजे
नानाकारधरा भवन्ति मणयः कर्माणि तेषां विभो ।
ह्लादोच्चाटनमारणज्वरभयभ्रान्तिप्रकाशान्धता-
खेदोत्तापनभूनभोगतिदृशो नाशो विधानं तथा ॥१७॥

वातायनोदरगवाक्षकवाटकक्षा-
द्वाराननैरिह पुराण्युदिते पठन्ति ।
श्वभ्राभ्रकन्दरदरीवनवेणुरन्ध्र-
वर्गेण मन्दर इवाऽमृतसिन्धुमिन्दुम् ॥१८॥

पर्वतोंमें विशेष बाँसोंकी गाँठके छेदमें और सागरमें जलाकाङ्क्षिणी सीपोंके भीतर स्वाति नक्षत्रमें जो वर्षाबिन्दु प्रविष्ट होते हैं, वे मोतीका रूप धारण करते हैं एवं मोतियोंकी तीसरी जाति गन्धगजोंके मस्तकोंमें होती है। इन पूर्वोक्त मोतियोंकी ये तीन प्रसिद्ध जातियाँ स्थानशुद्धि होनेपर स्थूलतारूपी उत्कृष्ट गुणसे भी उत्तम गुणवाली होती हैं ॥ १६ ॥

इसी प्रकार रत्नोंकी भी विभिन्न आकरोंमें (खानोंमें) उत्पत्ति और विभिन्न गुण और कार्यसिद्धि रत्नशास्त्रमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'शैले' इत्यादिसे ।

हे प्रभो, पर्वतमें, सागरमें, पुरुषमें, पृथिवीमें, मेघमें, मेढकमें, पत्थरमें और हाथीमें नाना आकारवाली मणियाँ होती हैं। कृपया आप उनके काम सुनिये, संतापनिवृत्ति, शत्रुओंका उच्चाटन, मारण, ज्वर, भीति, भ्रान्ति, अन्धता, खेद, उत्तापन तथा अपने स्वामीके प्रति व्यवहित (छिपी हुई) तथा दूरस्थित वस्तुओंको प्रकाशित करना, दूर गमनकी शक्ति पैदा करना, या भूमि में छिपकर गमनशक्ति, आकाशगति उत्पन्न करना, अतीत और भविष्यको दिखाना, रोग तथा दुर्भिक्षका शमन करना, दूसरों द्वारा प्रयुक्त विष, कृत्या, यन्त्र, मन्त्र आदिका प्रतीकार करना आदि ॥ १७ ॥

कोई दूसरा पार्श्वचर चन्द्रोदयके समय नगरमें हर्षवश हुए खिड़की आदिसे

एतच्छृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
प्रालेयाद्रेः प्रतितटवनं प्रोत्पतत्यभ्रमूर्ध्वं
वज्रस्तम्भो गगनसुतलोत्तोलनायेव भूमेः ॥१९॥

गङ्गातरङ्गहिमसीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
पुष्पाभ्रसंवलितपुष्पितकाननानि
राजन्विलोकय महेन्द्रगिरेस्तटानि ॥२०॥

देशान्तरेषु विततानि वनान्तराणि
पुष्पस्थलान्युपवनान्यथ पत्तनानि ।

जनघोष और मन्दर पर्वतमें गर्त आदिके घोषके उपमानोपमेयभावसे उत्प्रेक्षा करत है—'वातायने' इत्यादिसे ।

इस प्रदेशमें नगर, चन्द्रमाके उदित होनेपर खिड़की, झरौखे, दरवाजे आदि-रूपी मुँहोंसे अमृतसिन्धुभूत चन्द्रमाकी ऐसे ही स्तुति करते हैं जैसे कि मन्दराचल गर्त, मेघ, गुफा, बनैले बाँसोंके छिद्रोंसे अमृतसागररूप चन्द्रमाकी स्तुति करता है ॥१८॥

कोई हिमालयके तटोंसे मेघोंकी उड़ानमें पवन द्वारा किये गये शिखरहरणकी तथा भूमिसे उठे हुए आकाश-पातालको तोलनेके खम्भेकी उत्प्रेक्षा करता है—'एतत्' इत्यादिसे ।

आकाश और पातालकी गुरुता और लघुताके परीक्षार्थ तोलनेके लिए भूमिके वज्रस्तम्भकी नाईं हिमालयकी तटवनभूमियोंसे मेघ ऊपर उड़ता है। ऊपरकी ओर मुँह की हुई मुग्ध (भोली) सिद्धाङ्गनाओं द्वारा बड़े आश्चर्यके साथ देखा गया वायु मानो इस पर्वतके शिखर ले जाता है क्या ॥ १९ ॥

हे राजन्, गङ्गातरङ्ग और हिमके कणोंसे शीतल महेन्द्र पर्वतके तटोंको देखिये। इनके सुन्दर शिलातलोंपर विद्याधर लोग बैठे हैं और इनके पुष्पित वन फूल और मेघोंसे व्याप्त हैं ॥ २० ॥

पुण्यतम प्रदेश, वन, तीर्थ आदिके दर्शनसे दौर्भाग्यनिवृत्तिरूप महान् फल होता है, ऐसा कहते हैं—'देशान्तरेषु' इत्यादिसे ।

देश-देशान्तरोंमें फैले हुए अन्यान्य वनों, पुष्पवाटिकाओं, उपवनों तथा

तीर्थेषु पूतभुवनानि जलानि दृष्ट्वा
दौर्भाग्यभीतिरपयाति जवानुविद्धा ॥ २१ ॥

शृङ्गाणि पूरितदिगन्तरमण्डलानि
श्वभ्राभ्रकन्दरनिकुञ्जकुलाकुलानि ।
व्योमोपमान्यपि च वारिधिकुण्डलानि
दृष्ट्वा गलन्ति कुकृतानि बृहत्तराणि ॥ २२ ॥

रम्याश्चन्दनवीथयो हि मलये विन्ध्ये मदान्धा गजाः
कैलासे नृप पादजाति कनकं चन्द्रं महेन्द्राचले ।
दिव्याश्चौषधयस्तुषारशिखरे सर्वत्र रत्नानि वै
सन्त्यन्धाखुवदेष जीर्णसदने व्यर्थं जनो जीर्यते ॥ २३ ॥

सोन्नतं जगदिवोरुतटाकं
वारिणा विवलितं तिमिरेण ।
प्रस्फुरन्ति च युगान्त इवैता
विद्युतः शफरिका इव लोलाः ॥ २४ ॥

नगरोंको और तीर्थोंमें पवित्र स्थानों और जलोंको देखकर दौर्भाग्यभीति बड़े वेगसे दूर भाग जाती है ॥ २१ ॥

दिशाओंके मध्यवर्ती अवकाशको पाट देनेवाले गर्त, मेघ, गुफा और निकुञ्जोंसे परिपूर्ण आकाशतुल्य पर्वतशिखरोंको तथा निर्मल सेतुबन्धादि तीर्थोंको देखकर बड़े बड़े ब्रह्महत्या आदि पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

राजन्, मलयाचलमें चन्दनवृक्षोंकी मनोहर श्रेणियां हैं, विन्ध्याचलमें मतवाले हाथी हैं, कैलासमें श्रेष्ठ सुवर्ण है, महेन्द्राचलमें चन्द्र (हीरा) है, हिमालयमें दिव्य ओषधियाँ हैं, सब स्थानोंमें रत्न हैं, किन्तु भाग्यहीन पुरुष उनको न देखकर अन्धे चूहेकी तरह जीर्ण-शीर्ण घरमें वृथा दिन बिताता है ॥ २३ ॥

मेघरूपी अन्धकारसे आवृत ये दिशाएँ प्रलय कालमें जलसे व्याप्त अन्तरिक्ष-लोक तक भरे जगद्रूपी एक तालाब-सी मालूम पड़ती हैं और उनमें चञ्चल बिजलियाँ तालाबोंमें मछलियाँ-सी फुरती हैं ॥ २४ ॥

सावश्यायाश्यानीहारधारा
　　धारोद्गारान्वारिदान्मादयन्तः　　।
शीतानीतोद्दामरोमाञ्चचर्चाः
　　प्रोद्यच्छब्दं　वान्त्यहो　वर्षवाताः ॥२५॥

हा वाति नीलजलदप्रसरानुसारी
　　वातः　किरन्विटपिपल्लवपुष्पगुच्छान् ।
धीरोत्करद्रुमवनान्तरचारचारु-
　　रासारसीकरकदम्बकसारसारः　　॥२६॥

मारुताः　सुरतक्लान्तकान्तानिःश्वसितैरिमे　　।
वहन्ति　वृद्धिं गन्धं च　लवं　स्वर्गादिव　च्युताः ॥२७॥

कुवलयकुवलयविकचन-
　　कुसुमलताविदलनोद्यता　मृदवः　।
घनपटपाटनपटवो
　　विधुतोपवना　वहन्त्यमी　पवनाः ॥२८॥

स्वयं हिमकणोंसे लदे हुए, भूमिस्थित तुषारपङ्क्तिको शोषण द्वारा हल्की बनानेवाले, जलधारा वर्षानेवाले तथा मेघोंको मतवाले बना रहे शीतस्पर्शसे शरीरोंमें प्रचुर रोमाञ्च पैदा करनेवाले ये वर्षाऋतुके वायु सायँ सायँ बहते हैं ॥२५॥

अहा, नीले बादलोंका पीछा करनेवाला यह धीर वायु बह रहा है। यह पेड़ोंके पल्लव और फूलोंके गुच्छोंको बखेर रहा है, अङ्कुर और पेड़-पौधोंके बनोंके अन्दर संचारसे भला लगता है एवं मूसलाधार वृष्टिके जलकणोंसे अत्यन्त ही सुहावना है ॥ २६ ॥

जैसे स्वर्गसे च्युत हुए जीव पूर्व पुण्यवासनाके लेशको धारण करते हैं वैसे ही सुरतसे क्लान्त (श्रान्त) कान्ताओंके निश्वासोंसे ये वायु वृद्धि और सुगन्धिको धारण करते हैं ॥ २७ ॥

भूमण्डलके कमलोंको खिलाने और पुष्पलताओंको खोलनेमें सचेष्ट, मेघरूपी वस्त्रोंकी चीरफाड़ (छेदन-भेदन) में दक्ष तथा उपवनोंको कम्पित करनेवाले ये मन्द सुगन्ध शीतल पवन बहते हैं ॥ २८ ॥

संध्याभ्रलेशाननुपयन्ति वाता
नभस्तले कोमलकम्पनेन ।
नृपाङ्गणे पुष्पविचित्रलेखा-
नुवासिते भृत्यवरा इवैते ॥२९॥
क्वचित्कुसुमगन्धयः कमलवर्गगन्धाः क्वचि-
त्क्वचित्कुसुमवर्षिणो ललितकेसरासारिणः ।
क्वचिच्च हिमपाण्डवो हरितपीतलश्यामला
वहन्ति शिखरानिलाः सुरतमन्दघर्मच्छिदः॥ ३०॥
क्वचिद्घुंकारकांकारैरङ्गारनिकरान्करैः ।
किंकरैर्विकिरत्यर्को मूर्खसंसर्गवानिव ॥३१॥
नररसायनतृप्तिविमुक्तया
प्रमदया मदयापितलज्जया ।
उपगते वपुषा न विषह्यते
विषविमूर्च्छनयेव समायता ॥३२॥

जैसे फूलोंकी विविध विचित्र पङ्क्तियोंसे सुसज्जित (फूलोंसे सजाये गये) राजाके आँगनमें मन्त्री आदि श्रेष्ठ भृत्य फूलोंको बिना कुचले जतनसे चलते हैं वैसे ही ये वायु गगनतलमें मन्द-मन्द कम्पनके साथ सान्ध्य मेघोंके समीप जाते हैं ॥२९॥

ये पर्वत-शिखरके वायु कहींपर फूलोंकी सुगन्धिसे भरे हैं तो कहींपर विविध कमलोंकी भीनी-भीनी गन्धवाले हैं, कहींपर सुन्दर केसरराशिसे लदे हैं तो कहींपर बर्फसे सफेद हैं और कहींपर हरे, पीले और काले पर्वतीय धातुओंसे हरे, पीले और काले रंगके हैं। ये सुरतमें क्लान्त लोगोंके स्वेदबिन्दुओंको दूर करते हुए बह रहे हैं ॥ ३० ॥

कहींपर सूर्य मूर्खोंकी कुसंगतिमें पड़े पुरुषकी नाईं सेवकोंकी भाँति आज्ञाकारी सूर्यकान्तमणियोंसे गुफा आदिमें जलाये जा रहे प्राणियोंके हुंकार और चीत्कार पूर्ण रोंदनोंसे युक्त अंगारोंको अपनी किरणोंसे (हाथोंसे) फेंक रहा है ॥ ३१ ॥

पुरुषरूप (संगम द्वारा आस्वादनीय) रसायनमें अतृप्त अतएव मदवश लज्जारहित महिला द्वारा शरीरसे आलिङ्गित पुरुषकी सुरतकी समाप्तिके लिए आवश्यक अन्यान्य कार्य वर्णनरूप वञ्चनोक्ति विषविमूर्च्छनासे हुई अपनी मृत्युके समान नहीं सही जाती है ॥ ३२ ॥

वलिततामरसा मृदुसीकराः
शशिकरोत्करवीचिविभेदिनः ।
सदहना इव तापमयाः पुरो
विरहिणीषु वनावनिवायवः ॥३३॥
इह हि पूर्वपयोधितटावटे
विकटपत्रपटाः कटकीतटाः ।
नवमदासवयौवनसंश्रयाः
कलय यान्ति कथं शबरस्त्रियः ॥३४॥
नवरसासवसारनिशागम-
क्षयभयातुरचित्ततयाऽङ्गना ।
त्यजति कान्तमियं न मनागपि
द्रुतमितो वलितेव पुरोऽहिभिः ॥३५॥
प्रभाततूर्यमुखरैर्दिवसैरिव तर्जिता ।
हृद्येव स्फुटिता नारी निलीना दयितोरसि ॥३६॥
प्रोत्फुल्लकिंशुकैषा
दक्षिणजलधेस्तटेऽत्र वनराजी ।

कमलोंकी सुगन्धिसे परिपूर्ण, शीतल जलकणोंसे लदे हुए, चन्द्रकिरणोंके समूहकी तरह स्वच्छ लहरियोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले सामने बह रहे ये वनभूमिके स्वच्छ वायु विरहिणी नारियोंके लिए अग्निपूर्णके तुल्य संतापकारी होते हैं ॥ ३३ ॥

हे राजन्, इस पूर्वसागरके तटरूप निचली भूमिमें काँसेके कड़े पहनी हुई बड़े बड़े पत्ते रूपी वस्त्रवाली शबरस्त्रियाँ, जो नवीन मदरूप आसवको पैदा करनेवाले यौवनसे युक्त हैं, देखिये कैसे चल रही हैं ॥ ३४ ॥

यह महिला विलक्षण सुरतानन्दको देनेवाले मदसंभोगसे युक्त रात्रिके बीतनेके भयसे दुःखी होकर सामने दिखाई दे रही साँपोंसे वेष्टित चन्दनलताकी तरह द्रवित हुए अपने पतिको जरा भी नहीं छोड़ती है ॥ ३५ ॥

नौबतखानेमें बजी हुई प्रातःकालकी सहनाईसे कोलाहलयुक्त दिवसों द्वारा डाँटी-डपटी गईं अतएव विदीर्ण हृदय-सी नारी अपने पतिके वक्षःस्थलमें विलीन हो गई है ॥ ३६ ॥

यहां दक्षिण महासागरके तीरपर इस वनपङ्क्तिको, जिसमें किंशुकके पेड़

ज्वलितेव जलतरङ्गैः
पौनःपुन्येन सिच्यतेऽम्बुधिना ॥३७॥
अस्या निर्यान्त्यनिलै-
र्धूमा इव कृष्णकेसराम्बुधराः ।
अङ्गारा इव कुसुमा-
न्युपशान्ताङ्गारवच्च खगभृङ्गाः ॥३८॥
ईदृश्येव विलोकय
वनराजी सत्यवह्निना ज्वलिता ।
गिरिशिरसि तूत्तरस्यां
दिशि दूरे धूयते च खे पवनैः ॥३९॥
क्रौञ्चाचलस्य भुवि मन्थरमेघचक्र-
गम्भीरताररवनर्तितबर्हिणीयम् ।
पश्योत्थितं तुमुलमाकुलवर्षवात-
व्याधूतपुष्पफलपल्लवकाननीयम् ॥४०॥

फूले हैं, अतएव जो जली हुई सी दिखाई देती है, सागर अपनी जलतरङ्गोंसे बार-बार सींचता है, देखनेकी कृपा कीजिये ॥ ३७ ॥

फूले हुए किंशुकवृक्षोंसे भरी हुई इस वनपङ्क्तिसे धूमके समान काले-काले ऊपरी भागसे युक्त मेघ धूमके समान निकलते हैं, किंशुकके फूल अंगारोंकी भाँति निकलते हैं और पक्षी तथा भँवर बुते हुए अंगारोंकी तरह निकलते हैं ॥ ३८ ॥

जिसमें सच आग नहीं थी, किन्तु किंशुक फूलरूप कल्पित आग थी, ऐसी वनपङ्क्तिको दिखलाकर उत्तर ओर सच आगवाली वनराजिको कोई पार्श्वचर दिखलाता है—'ईदृश्येव' इत्यादिसे ।

महाराज, यहाँसे दूर पर्वतकी चोटीपर उत्तर दिशाकी ओर सच आगसे जल रही ऐसी ही वनपङ्क्ति वायु द्वारा आकाशमें कँपाई जाती है, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥ ३९ ॥

राजन्, क्रौंचाचलकी भूमिमें मन्द-मन्द चलनेवाले मेघवृन्दके गंभीर और तेज गर्जनोंसे नाच रहे मयूरोंसे पूर्ण तथा तेज वृष्टि और वायुसे गिरे हुए फूल, फल और पल्लवोंसे पटे हुए ऊँचे वनसमूहको कृपया देखिये ॥ ४० ॥

अस्ताचले विकटकाञ्चनकूटकोटि-
संघट्टनस्फुटितजर्जरचारुसंधिः ।
खर्वं रथः पतति स स्म रवेः सचक्र-
चीत्कारतारतरकूबररास एषः ॥४१॥
भुवनभवनप्राकारेऽद्रौ निशाकरभेरुकं
परिविकसितं भीतं भासा मलालिरुपाश्रितः ।
तदिह जगतां वस्तु श्रेष्ठं न किंचन विद्यते
विधिरुपहतः कुर्यान्नो यत्क्षणेन कलङ्कितम् ॥४२॥
त्रिभुवनहराट्टहासो
भुवनमहाभवन एष मङ्कोलः ।
क्षीरसलिलावपूरो
गगनाब्धेश्चान्द्र आलोकः ॥४३॥
स्पृष्टप्रदोषमयमन्दरमथ्यमान-
चन्द्रार्णवोल्लसितदुग्धतरङ्गभङ्गैः ।

यह सूर्यका रथ अस्ताचल पर्वतमें ऊँचे नीचे सुवर्णमय शिखरोंकी नोकोंसे टकरानेके कारण सुन्दर जोड़ोंमें जर्जरित हो पहियोंकी घरघराहटसे तीक्ष्णतर कूबरध्वनि-वाला होकर नीची भूमिमें उतर रहा है ॥ ४१ ॥

भुवनरूपी भवनके प्राकार (प्राचीर) रूप उदयाचल पर्वतके शिखरपर चन्द्रमारूपी माङ्गलिक फूल मङ्गलसूचक होनेसे अमङ्गलसे भयभीत हो चारों ओर कान्तिसे विकसित हुआ। उस प्रकारके मङ्गलमय फूलके समीप भी अमङ्गलकारी विधि द्वारा प्रेरित हुआ कलङ्करूपी भ्रमर प्राप्त हो ही गया। ऐसी परिस्थितिमें इस भुवनमें ऐसी श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है, जिसे कलमुँहा विधि क्षणभरमें कलङ्कित न कर दे। भाव यह कि पृथ्वीका स्पर्श न कर पर्वतशिखराकाशमें चलनेवाले चन्द्रमाकी जब यह दशा है, तब औरकी तो कथा ही क्या है ॥ ४२ ॥

यह चन्द्रमाकी चाँदनी प्रदोषकालमें नाच रहे त्रिभुवनसंहारकारी शिवजीका अट्टहास है या भुवनरूपी महाभवनकी चूने आदिसे होनेवाली सफेदी है या आकाशरूपी समुद्रके दुग्धरूपी जलका स्वच्छ प्रवाह है ॥ ४३ ॥

सन्ध्याके धातुरागोंसे मिश्रित प्रदोषमय मन्दरसे मथ्यमान चन्द्रमारूपी क्षीर-

पश्य प्रभापटलकैः परिपूरिताङ्गीः
पूरैरिवोग्रसरितः प्रसरद्भिराशाः ॥४४॥
एते पतन्त्यतुलतालकराललोल-
वेतालबालवलिता निशि गुह्यकौघाः ।
हूणेश्वरस्य नगराणि निरस्तशान्ति
स्वस्तिश्रवादिविकलानि बलेन भोक्तुम् ॥४५॥
तावद्विभाति गगने परिपूर्णचन्द्रो
यावद्वधूवदनमेति न सद्मबाह्यम् ।
अभ्युद्गतेऽङ्गणनभस्यबलाननेन्दा-
विन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ॥४६॥
वृद्धानि चन्द्रांशुनवाम्बराणि
गङ्गौघनिर्धूतशिलान्यमूनि ।
हिमाततान्युग्रलताजटानि
तुषारशैलेश्वरमस्तकानि ॥४७॥

सागरसे उछले हुए दुग्धतरङ्गखण्ड ऐसे फैल रहे प्रभाजालोंसे, जो शिवजी द्वारा छोड़ी गई गङ्गाजीके फैल रहे प्रवाह जैसे स्वच्छ हैं, परिपूरित अवयववाली दिशाओंको देखिये ॥ ४४ ॥

हे अनुपम, तालके वृक्षोंके तुल्य कराल वेतालोंके बच्चोंसे परिवृत ये गुह्यकगण रात्रिके समय शान्तिपाठ, स्वस्तिवाचन आदि मङ्गलाचरणोंसे रहित अतएव उत्पातोंसे पीडित आपके शत्रु हूणेश्वरके नगरवासियोंको खानेके लिए जाते हैं ॥ ४५ ॥

आकाशमें पूर्ण चन्द्रमा तभीतक शोभा पाता है जब तक कि वधूका मुँह घरके बाहर खुले आँगनमें नहीं आता । घरके बाहरके आँगनरूपी आकाशमें वधूमुखरूपी चन्द्रमाके उदित होनेपर तो उसकी सुन्दरताके सामने फीके पड़े चन्द्रमा और सफेद बादलके टुकड़ेमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है ॥ ४६ ॥

कोई अन्य पार्श्वचर चन्द्रकिरणोंसे व्याप्त हिमालयके शिखरोंका वर्णन करता है—'वृद्धानि' इत्यादिसे ।

ये हिमालय पर्वतके विशाल हिमाच्छन्न शिखर हैं । ये चन्द्रकिरणरूपी नूतन वस्त्र पहने हैं, गङ्गाके प्रवाहसे इनकी शिलाएँ हिल रही हैं तथा बड़ी बड़ी लताएँ इनकी जटा-सी मालूम हो रही हैं ॥ ४७ ॥

स एष मन्दारवनावतंसो
दोलाप्सरोगेयविसारिवातः ।
क्वचिन्मणिद्योतविचित्रचित्रः
संदृश्यते व्योमनि मन्दराद्रिः ॥४८॥
प्रोन्निद्रनीरन्ध्रशिलीन्ध्रसान्द्र-
पुष्पार्घ्यपात्रभ्रमहामहीध्राः ।
सान्द्राभ्रनिर्ह्रादगभीरकुक्षौ
सर्क्षान्तरिक्षश्रियमुद्वहन्ति ॥४९॥
इतः स कैलासगिरिर्गरीयसा
प्रभाप्रवाहेण मितेन यस्य खम् ।
शम्भोरिवाऽऽभाति सुतस्य कुट्टिमं
चन्द्रोऽपि च क्षीरसमुद्रगो यथा ॥५०॥
स्थाणूनां छिन्नशाखानां मृन्मयानां च वासवः ।
संघत्ते पश्य दूराणां वातैर्मुक्तशिखा इव ॥५१॥

पारिजातके वृक्षोंसे विभूषित यह मन्दराचल, जिसका पवन झूल रही अप्सराओंके गीतोंको फैलाता है और जो कहींपर मणियोंकी प्रभासे विचित्रस्वरूप है, अति ऊँचा होनेके कारण आकाशमें दिखाई देता है ॥ ४८ ॥

खिले हुए और फूलोंसे भरे हुए कुकुरमुत्तारूप पुष्पपूर्ण अर्घ्यपात्रोंको धारण करनेवाले महान् पर्वत तेज मेघनिर्घोषोंसे गंभीर कन्दरामें नक्षत्रोंसे पूर्ण आकाशकी शोभा धारण करते हैं ॥ ४९ ॥

यहाँसे उत्तरकी तरफ प्रसिद्ध कैलासपर्वतपर दृष्टि-निक्षेप कीजिये जिसके चारों ओर व्याप्त हुए विस्तृत प्रभाप्रवाहसे आकाश नीचेकी तरफ भगवान् शिवजीके पुत्र श्रीस्वामी कार्तिकेयका मोतीके चूर्णसे बना क्रीडागृहका गचसा शोभित हो रहा है। ऊपरकी तरफ जैसे क्षीरसागरमें डूबा चन्द्रमा शोभित होता है वैसे ही शोभित होता है ॥ ५० ॥

राजन्, कौतुकी इन्द्र कुल्हाड़ोंसे जिनकी शाखाएँ कट गई हैं ऐसे ठूँठ और अग्नि द्वारा जिनकी छप्पर आदि शाखाएँ नष्ट हो गई ऐसी मिट्टी की दीवार, जो एक दूसरेसे दूर हैं,—दोनोमें वृष्टिसेकसे अङ्कुर पैदा कर दोनोंको खुली शिखावाले-से बनाकर वायु द्वारा मानो परस्पर बाँधनेके लिए इकट्ठा करता है ॥५१॥

एते कदम्बकुलकुन्दसुगन्धिवाता
लिम्पन्ति मांसलतया मकरन्दवृष्टेः ।
घ्राणं घनैः परिमलैरलिजालनीला
न्यालोड्य मेघपटलैः खमिवाऽभ्रकायाः ॥५२॥

उन्निद्रकुड्मलदलासु वनस्थलीषु
सच्छायशाद्वलघनेषु च जङ्गलेषु ।
ग्रामेषु संततफलद्रुमसंकुलेषु
लक्ष्मीः स्वयं निवसतीव निवासहेतोः ॥५३॥

वातायनागतलतावृतसौधकोश-
कोशातकीकुसुमकेसरमाहरद्भिः ।
आगुल्फकीर्णमुकुलाजिर एष वातै-
र्ग्रामो विभाति नगरं वनदेवतानाम् ॥५४॥

उन्निद्रामलचम्पकद्रुमलतादोलाविलोलाङ्गनाः
कूजन्निर्झरवारयः परिसरप्रोन्निद्रतालद्रुमाः ।
उत्फुल्लोज्ज्वलमञ्जरीसितलतागेहोल्लसद्बर्हिणः
पर्यन्तोन्नतसाललम्बजलदा रम्या गिरिग्रामकाः ॥५५॥

महाराज, देखिये, ये विविध प्रकारके कदम्बों और कुन्दोंसे सुगन्धित वायु मकरन्दकी (फूलोंके रसकी) वर्षासे खूब घन, भ्रमरराशिसे काले और मेघके सदृश बन कर तथा सब तरहकी सुगन्धियोंसे सनकर जैसे मेघ आकाशको व्याप्त करते हैं वैसे ही लोगोंकी नाकको व्याप्त कर रहे हैं ॥ ५२ ॥

वर्षा ऋतुमें कलियोंकी विकसित पँखुरियोंसे सुशोभित वनस्थलियोंमें, छायादार वृक्षोंके झुण्डों तथा हरी-हरी दूबसे आच्छन्न मैदानोंसे मनोहर जंगलोंमें एवं कतार बद्ध खड़े फलवाले पेड़ोंसे भरे हुए गाँवोंमें लक्ष्मी अतिशय शोभा देखनेके कारण रहनेके लिए अपने-आप बस जाती है ॥ ५३ ॥

यह सामनेका गाँव, जिसके आँगन झरोखों तक आई हुई लताओंसे वेष्टित महान् घरोंके मध्यमें तोरईके फूल और केसरोंको ला रहे वायुओंसे घुटने तक फूलोंसे भरे हैं, वनदेवताओंके नगर-से मालूम पड़ते हैं ॥ ५४ ॥

महाराज, देखिये ये पर्वतके रमणीय ग्राम हैं, इनमें खिली हुई निर्मल चम्पक-वृक्षोंकी लताके झूलोंमें ललनाएँ क्रीड़ा कर रही हैं, झरनेका जल झर झर ध्वनि कर

वातालोलविचित्रपत्रलतिकासंपूर्णनीलस्थला:
कूजल्लावककोककुकुटघटा गायत्पुलिन्दाङ्गना: ।
बालाव्याकुलतर्णका दधिमधुक्षीराज्यपानोज्ज्वला:
कस्येवाऽमृतमण्डपा विरचिता रम्या गिरिग्रामका: ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिदनुक्तपदार्थवर्णनं नाम पञ्चदशाधिकशततम: सर्ग: ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततम: सर्ग:

अनुचरा ऊचु:

देव पश्याऽत्र संग्रामलग्नसीमान्तभूभृताम् ।
कचन्ति हेतिसंघाता विसरन्ति बलानि च ॥ १ ॥

रहा है, सीमाओंमें चारों ओर ताड़के वृक्ष फूले हैं, विकसित चटकीली मञ्जरियोंसे अलङ्कृत लतागृहोंमें मयूर नाच रहे हैं तथा चारों ओर ऊँचे ऊँचे प्राचीर या वृक्षोंपर मेघ लटके हैं ॥ ५५ ॥

वायुवश हिल रहीं लाल, पीले और हरे पत्तोंवाली छोटी-छोटी लताओंसे इनके हरे-भरे मैदान भरे हैं, गौरेया, कोक और कुकुट चहचहा रहे हैं, शबरोंकी स्त्रियाँ गा रही हैं, बालकों द्वारा पालित होनेसे इनमें बछड़े आनन्दमग्न हैं यानी उनमें किसी प्रकारकी घबड़ाहट नहीं है और बालक तथा अव्याकुल बछड़े दही, शहद, दूध और घी पीनेसे खूब तगड़े हैं। इस प्रकारके पर्वतग्राम ब्रह्माके विश्रामके लिए निर्मित मण्डप-से लग रहे हैं ॥ ५६ ॥

एक सौ पन्द्रह सर्ग समाप्त

एक सौ सोलह सर्ग

[संग्राम, आकाश, वियोगी, पर्वतग्राम, पर्वत-गुफाके मेघ और कौओंका वर्णन]

अनुचरोंने कहा—महाराज, यहाँपर युद्धरत सीमाप्रान्तके राजाओंके अस्त्र-शस्त्रोंकी राशियाँ चमचमा रही हैं। चतुरङ्गिणी सेना विलक्षण रीतिसे इधर-उधर चल रही है, कृपाकर देखें ॥ १ ॥

हतान्हतानभिमुखान्वीरान्वीरैः सहस्रशः ।
आरोप्याऽऽरोप्य खं यान्ति पश्य पश्याऽङ्गना रथैः ॥ २ ॥
विजिगीषोः पुनः प्राप्ते संकटे प्रकटे रणे ।
धर्म्यं विराजते युद्धं यौवने सुरतं यथा ॥ ३ ॥
लोकैरनिन्दिता लक्ष्मीरारोग्यं श्रीसमन्वितम् ।
धर्म्यं युद्धं परार्थेन जीवितस्योत्तमं फलम् ॥ ४ ॥
अविरोधेन धर्मस्य युद्धे संमुखमागतम् ।
योधानुरूपं यो हन्ति शूरः स्वर्ग्यः स नेतरः ॥ ५ ॥
हस्तस्थितासिवरनीलसरोजदाम-
श्यामो हयोत्थघनरेणुनिशागमोऽत्र ।
आलोकय क्रमणमेष कथं करोति
प्रोन्नामहेतिभरभूषणभाजि लक्ष्म्याः ॥ ६ ॥

महाराज, देखिये, देखिये, अप्सराएँ वीरों द्वारा संग्राममें अभिमुख मारे गये हजारों वीर योद्धाओंको चढ़ा-चढ़ाकर विमानों द्वारा आकाशमें जा रही हैं ॥ २ ॥

रणमें शत्रुओंका संकट उपस्थित होनेपर बलवान् विजेतासे धर्मके बिना उसका वध शोभा नहीं देता, किन्तु युवावस्थामें धर्मयुक्त (विहित) सुरतके समान धर्मसे युक्त युद्ध ही शोभा देता है ॥ ३ ॥

लोगों द्वारा अनिन्दित लक्ष्मी, श्रीयुक्त आरोग्य, धर्मयुक्त युद्ध और दूसरेके लिए जीवन—ये ही जीवनके उत्तम फल हैं । लोकनिन्दित सम्पत्ति आदि जीवनके फल नहीं हैं ॥ ४ ॥

जो युद्धमें सामने आये हुए योद्धाको धर्मके अविरोधसे योद्धाके अनुरूप* मारता है, वही शूर स्वर्गगामी होता है, दूसरा नहीं ॥ ५ ॥

हे राजन्, उद्यत शस्त्रास्त्ररूपी भूषणोंसे भासुर इस शूरवीर पुरुषमें संग्राम-लक्ष्मीके हाथमें स्थित श्रेष्ठ तलवाररूपी नील कमलोंकी मालासे श्याम, घोड़ोंके खुरोंसे उठी घनी धूलिसे हुआ अन्धकाररूपी यह निशागम संग्रामभूमिमें कैसे क्रमण करता है । आशय यह कि क्या लक्ष्मी इसको इस रात्रिके समयरूप स्वयं-

* योद्धाके अनुरूपका तात्पर्य यह है कि यदि योद्धा एक हो तो एक ही उससे लड़े, यदि किसी सवारीपर हो तो सवारीवाला ही, धनुषसहित हो तो धनुषयुक्त ही, खड्गयुक्त हो तो खड्गयुक्त ही, आयुधरहित हो तो आयुधरहित ही बाहुयुद्ध करता हुआ लड़े, अन्यथा नहीं ।

एते कचन्ति शरशक्तिगदाभुशुण्डी-
शूलासिकुन्तपटुतोमरचक्रपूर्णाः ।
तापाः सताण्डवकचप्रचले चलेऽब्धौ
देहेन वल्गति भुवीव फणीन्द्रसंघाः ॥ ७ ॥
पश्याऽम्बरं बलवदम्बुधराब्धिपूर्णं
पश्याऽम्बरं तरलतारकतारहारम् ।
पश्याऽम्बरं सुघनसक्तमसैकसारं
पश्याऽम्बरं विशदचन्द्रकरावसिक्तम् ॥ ८ ॥
यत्राऽनेकसुरासुरास्पदघटा तारापदेशं गता
ऋक्षाणां च यदास्पदं विसरतां सर्वोन्नतानां च यत् ।
तस्मिञ्छून्यमिति प्रतीतिरधुनाऽप्यस्तं गता नाऽम्बरे
कोऽन्यो मार्जयितुं जनोऽज्ञरचितं लोकापवादं क्षमः ॥ ९ ॥

वरमें बरती है या नहीं, यह कौतुक देखिये ॥ ६ ॥

बाण, शक्ति, गदा, बन्दूक, त्रिशूल, तलवार, भाले, तेज तोमर, चक्र आदि हथियारोंसे लदे हुए ये योद्धा इधर-उधर घूम रहे केशरूप विनके और काठोंसे चञ्चल पर्वतपर प्रज्वलित वनाग्निकी तरह चमकते हैं और उनपर शर, शक्ति आदिके समूह सागरके देहके कम्पित होनेपर पृथिवीपर फैले हुए वहाँके सर्पादिसमूह जैसे चमकते हैं ॥ ७ ॥

महाराज, बलवान्, मेघरूपी सागरसे भरे हुए आकाशको देखिये, चञ्चल तारेरूपी लम्बे हारसे युक्त आकाशपर दृष्टिपात कीजिये, खूब घने अन्धकारके तुल्य काले आकाशको देखिये तथा निर्मल शुभ्र चन्द्रकिरणोंसे धवलित आकाशको देखिये ॥ ८ ॥

जिस आकाशतलमें सुर और असुरोंके अनेक विमान तारोंके सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अश्विनी आदि नक्षत्रोंका निवासस्थान है, जो रात-दिन चलनेवाले महोन्नत सूर्य, चन्द्र आदिका भी स्थान है, उस चौगिर्द भरे हुए भी आकाशमें मूर्ख जनोंकी 'शून्य' ऐसी प्रतीति अब तक नष्ट नहीं हुई। जहाँपर इस प्रकारका विशाल और शक्तिशाली आकाश अज्ञों द्वारा लगाये गये अपवादको मिटानेमें समर्थ नहीं हुआ वहाँ दूसरा कौन पुरुष लोकापवादको मिटानेमें समर्थ होगा ? ॥ ९ ॥

मेघाटोपैः प्रलयदहनैरद्रिपक्षाभिघातै-
स्तारापूरैरमरदितिजक्षुब्धसंग्रामसंघैः ।
व्योमाऽद्याऽपि प्रकृतिविकृतिं नाम नाऽऽयात्यसंख्यै-
रन्तः साराशयगुणवतां लक्ष्यते नो महिम्नः ॥ १० ॥

आन्दोलयस्यविरतं गगनार्कमङ्के
नारायणं च शशिनं च तथेराणि ।
तेजांसि भासुरतडित्प्रभृतीनि साधो
चित्रं तथापि न जहासि यदान्ध्यमन्तः ॥ ११ ॥

आकाश काशसि तु यत्र शशाङ्कबिम्बं
त्वत्कीर्णकज्जलतमोमलिनोऽसि तत्त्वम् ।
सङ्गान्न यन्नयसि तत्खलु चित्रमुच्चैः
को नाम वाऽन्तरमलं मलिनीकरोति ॥ १२ ॥

मेघोंके अगणित आडम्बरोंसे, प्रलयकालकी असंख्य अग्नियोंसे, पर्वतोंके क्रोधपूर्ण परोंके आघातोंसे, तारोंके वृन्दोंसे तथा देवता और दैत्योंके संग्रामोंसे आकाश आज तक भी प्रकृति-विकृतिको प्राप्त नहीं होता है। सचमुच जिनके स्थिराशयतारूप गुण हैं, उन्हींकी महिमाका अन्त नहीं दिखाई देता ॥ १० ॥

हे साधो, हे आकाश, तुम सूर्यको निरन्तर अपनी गोदमें झुलाते हो, केवल सूर्यको नहीं, भगवान् नारायण, उनके अनुचर अन्यान्य देवता, चन्द्रमा, अन्यान्य ग्रहों तथा चमकीले बिजली आदि तेजोंको भी अपनी गोदमें झुलाते हो, फिर भी अपने अन्दरके अन्धकारका (कालिमाका) त्याग नहीं करते, यह महान् आश्चर्य है ॥ ११ ॥

हे आकाश, तुम मलिन हो, जहाँपर चन्द्रबिंब छिद्ररूप तुमसे व्याप्त हो काजलके तुल्य काला हुआ वहाँपर कलङ्कके बहाने मैला सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसी अवस्थामें तुम अपने सम्पर्कसे सम्पूर्ण चन्द्रबिम्बको जो काला नहीं करते यह बहुत बड़े आश्चर्यकी बात है। अथवा मलिनके संसर्गसे जिसके अन्दर भी मैल हो, वही बाहर भी मलिन किया जाता है जो अन्दर निर्मल है उसे कौन मलिन कर सकता है ? ॥ १२ ॥

अथवा भले ही मलिनता आदि भी दोष तुममें हों फिर भी निर्विकारताके बलपर भी दोषप्रयुक्त सकल अनर्थोंसे विहीनतारूप सुख तुम्हें सुलभ है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'पूर्णस्याऽपि' इत्यादिसे ।

पूर्णस्याऽपि जगद्दोषैः सर्वदैवाऽविकारिणः ।
खस्य मन्ये बुधस्येव सुखं सर्वार्थशून्यता ॥ १३ ॥
कल्पाभ्रद्रुमवीरुदुन्नतिदृशां कर्ताऽसि धर्ताऽसि च
आकाशेन्दुघनार्ककिन्नरमरुत्स्कन्धामराणामपि ।
सर्वं रम्यमसंकुलाशयसमस्वच्छस्वभावस्य ते
यत्त्वेतद्दहनत्वमङ्ग तदहो मुख्याय खेदाय नः ॥१४॥
आकाश काशमसि निर्मलमच्छमुच्चै-
राधार उन्नततयोत्तममुत्तमानाम् ।
त्वामेत्य किन्तु विरलं करकाघनोऽयं
लोकं विदर्मयति तेन परोऽसि नीचैः ॥ १५ ॥
आकाश कर्षकष एव निकर्षणं ते
मन्ये चिरं समचितं न तु किंचिदन्यत् ।
शून्योऽसि यज्जलधरर्क्षविमानचन्द्र-
सूर्यानिलान् वहसि भासि न चाऽर्थशून्यः ॥ १६ ॥

यद्यपि आकाश जगत्के सम्पूर्ण दोषोंसे भरा है फिर भी सदा अविकारी आकाशको तत्वज्ञानीके समान सर्वानर्थ शून्यतारूप सुख है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १३ ॥

हे उदारमते, हे अकाश, तुम अपनी उन्नति चाहनेवाले प्रलयकालीन मेघों, वृक्षों और लताओंकी—अवकाश प्रदान द्वारा—उन्नतिके कर्ता हो, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, किन्नर, वायुस्तरों और देवताओंको धारण करते हो (आधार हो), सम और निर्मल स्वभाववाले तुम्हारे सब कार्य रमणीय ही हैं, सुन्दर ही हैं, लेकिन अग्नि और सूर्यके प्रज्ज्वलनको अवकाश देनेके कारण तुममें जो सन्तापकता है; तुम्हारा यह काम हमारे खेदके लिए है, सुखके लिए नहीं है । यह वनाग्नि और सूर्यके सन्तापसे सन्तप्त पुरुषकी उक्ति है ॥ १४ ॥

हे आकाश, तुम अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, चमकदार और उन्नत होनेके कारण उत्तम देवता आदिके उत्तम आधार भी हो, किन्तु अवकाशयुक्त तुम्हारा आसरा लेकर यह ओले बरसानेवाला बादल लोगोंको ओलोंसे घायल करता है, उसके दोषसे तुम अत्यन्त अपकृष्ट हो गये हो ॥ १५ ॥

हे आकाश, मैं तुम्हें सोनेके समान कसौटीके पत्थरपर घिसना बहुत अच्छा समझता हूँ । कसौटीके पत्थरके सिवा दूसरी तुम्हारी परीक्षा लेनेकी जगह नहीं है ।

अह्नि प्रकाशमसि रक्तवपुर्दिनान्ते
यामासु कृष्णमथ चाऽखिलवस्तुरिक्तम् ।
नित्यं न किंचिदपि सद्वहसीति मायां
न व्योम वेत्ति विदुषोऽपि विचेष्टितं ते॥ १७ ॥

अकिंचनोऽपि कार्याणि साधयत्याततताशयः ।
अन्तःशून्यमपि व्योम सर्वस्योन्नतिकारणम् ॥१८॥

न तृणसलिलं नैव ग्रामो न नाम च पत्तनं
न च दलभरस्निग्धच्छायस्तरुर्न च सत्प्रपा।
तदपि गगनाध्वानं सूर्यः प्रयाति दिने दिने
विषममपि यत्प्रारब्धं तत्त्यजन्ति न सात्त्विकाः ॥१९॥

क्योंकि तुम शून्य होते हुए भी बादलों, तारों, विमानों, सूर्य, चन्द्र और वायुओंको धारण करते हो, चमकते हो और निष्प्रयोजन भी नहीं हो। सोनेके सब गुण तुममें विद्यमान हैं, अतएव तुम्हारे गुणोंकी परीक्षाके लिए भी सोनेके गुणोंकी परीक्षा लेनेका स्थान समुचित है, यह भाव है ॥ १६ ॥

हे आकाश, तुम दिनमें सूर्यके आतपसे चमकदार रहते हो, रातमें सन्ध्याकी लालिमासे तुम्हारा कलेवर लाल हो जाता है, रात्रिमें तुम काले बन जाते हो। अथच सदा कुछ भी सद् वस्तुको धारण नहीं करते हो, इसलिए सकल वस्तुओंसे रिक्त हो अतः तत्त्वज्ञानीरूप तुम्हारे चरित्रको कोई नहीं जानता है ॥ १७ ॥

हे आकाश, तुम अकिञ्चन हो तुम्हारे पास कुछ नहीं है, फिर भी विपुल बुद्धि-वाले तुम सब कार्योंको, अवकाश प्रदान द्वारा, सिद्ध करते हो, अन्तःशून्य हो फिर भी सबकी उन्नतिके कारण हो ॥ १८ ॥

आकाशमार्गमें पथिकके विश्रामके साधन न तृण हैं और न जल है, गाँव तो नहीं ही है, कसबे और नगरकी तो तनिक भी संभावना नहीं है, पत्तोंकी राशियोंसे शीतल छायावाले वृक्ष भी नहीं हैं तथा रमणीय पौसारा भी नहीं है फिर भी सूर्य आकाशमार्गमें प्रतिदिन यात्रा करते हैं। सच है, सात्त्विक पुरुष प्रारब्ध किये हुए कामको, चाहे वह कितना ही कठिन क्यों न हो, छोड़ते नहीं हैं ॥ १९ ॥

यामा ध्वान्तपटेन शीतलरुचिः कर्पूरपूरैः करै-
र्रकालोकनवांशुकेन दिवसस्तारौघपुष्पोत्करैः।
द्यौरम्भोदतुषारवारिकुसुमैः सर्वर्तवो भूषय-
न्त्येते कालकलात्मनोस्त्रिभुवने व्योमाङ्गणं नाथयोः ॥२०॥
धूमाभ्ररेणुतिमिरार्कनिशेशसंध्या-
ताराविमानगरुडाद्रिसुरासुराणाम् ।
क्षोभैरपि प्रकृतिमुज्झति नाऽन्तरिक्षं
चित्रोत्थिता स्थितिरहो नु महाशयस्य ॥ २१ ॥
दिग्भित्तिबद्धमिदमूर्ध्वतलान्तरिक्ष-
मुर्वीतलं घनपुराचलभूरिभाण्डम् ।
विद्याधरामरमहोरगजालकारं
लोकौघसंसरणसंघपिपीलिकाढ्यम् ॥ २२ ॥

रात्रि आकाशको अन्धकाररूपी वस्त्रसे, चन्द्रमा कर्पूरके प्रवाहके तुल्य शुभ्र किरणोंसे, दिन सूर्यके आतप (घाम) रूपी नूतन वस्त्रसे, द्युलोक रात्रिके तारा-समुदायरूपी पुष्पराशियोंसे और सब ऋतुएँ मेघ, बरफ तथा जलरूपी पुष्पोंसे भूषित करती हैं। ये सभी मिलकर समय और कलात्मक त्रिभुवनके स्वामी सूर्य और चन्द्रमाके विहारस्थल आकाशको भूषित करते है ॥ २० ॥

आकाशरूपी आँगन धूप, बादल, धूलिपटल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, तारावृन्द, विमानराशि, गरुड़, पर्वत, सुर और असुरोंके क्षोभोंसे भी अपनी प्रकृतिका (पूर्वावस्था-का) त्याग नहीं करता है, कारण कि महाशय पुरुषकी स्थिति आश्चर्यमय तथा उन्नत दिखाई देती है ॥ २१ ॥

कोई दूसरा पार्श्वचर त्रिभुवनका एक जीर्णशीर्ण गृहके रूपमें वर्णन करता है—'दिग्भित्ति०' इत्यादिसे।

देव, इस त्रिभुवनरूपी जीर्ण गृहको, जो दिशारूपी दीवारोंपर खड़ा है, अन्तरिक्ष लोक जिसकी छत है, भूमि जिसका निचला भाग है, मेघ, नगर और पर्वत जिसके बड़े-बड़े वर्तन आदि गृहोपकरण हैं, विद्याधर, देवता तथा महान् नाग जिसमें मकड़ी नामके कीड़े हैं एवं जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकारके प्राणिवर्गरूपी चीटियोंकी बारातसे भरा है, देखनेकी कृपा कीजिये ॥ २२ ॥

कालः क्रिया च भुवनं भवनं चिराय
नामाऽधितिष्ठत इवोपवनं विकासि ।
आशङ्क्यते प्रतिदिनं ननु नष्टमेव
नाऽद्याऽपि नश्यति च केयमहो नु माया ॥ २३ ॥
[युगलकम्]

खं मन्ये पादपादीनां रोधयत्यधिकोन्नतिन् ।
अकर्तुरेव महतो महिम्नोदेति कर्तृता ॥ २४ ॥
जगतां यत्र लक्षाणि नभवन्त्युद्भवन्ति च ।
तच्छून्यमुच्यते व्योम धिक्पाण्डित्यमखण्डितम् ॥ २५ ॥
व्योमन्येव प्रलीयन्ते व्योमतः प्रोद्भवन्ति च ।
गच्छतोन्मत्ततामेतामीश्वरान्यभिदा कृता ॥ २६ ॥

जैसे माली और मालिन—पति-पत्नी विकसित (फले-फूले) बागकी रक्षा करते हैं वैसे ही इस प्रकारके इस त्रिभुवनरूपी भवनकी काल और क्रियारूपी पति-पत्नी चिरकालसे रक्षा करते हैं । यद्यपि काल और क्रिया इसकी रक्षा नहीं करते, अपि तु प्रतिदिन इसके नाशकी ही आशङ्का करते हैं तथापि यह आजतक नष्ट नहीं हुआ । नष्ट होता भी है तो प्रवाहसे फिर उग जाता है । अहा नष्ट होता हुआ भी नष्ट नहीं होता, यों विरुद्धधर्मवान् होनेसे यह इन्द्रजालके सदृश है ॥ २३ ॥

आकाश वृक्ष आदि वृद्धिशील वस्तुओंकी अधिक उन्नतिको रोकता है, उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता ।

शङ्का—आकाशमें कोई निरोधक व्यापार नहीं है, अतः वह निरोधका कर्ता नहीं ही है, इसलिए उसमें विरुद्ध निरोधकर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् आकाशमें कर्तृता महिमासे ही उदित होती है ॥ २४ ॥

जिसमें लाखों जगत् विलीन होते हैं और जिससे उत्पन्न होते हैं उस आकाशको शून्य कहा जाता है; आकाशशून्यतावादीके ऐसे प्रौढ़ पाण्डित्यकी बलिहारी है ॥ २५ ॥

आकाशमें सब भूत विलीन होते हैं, आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही स्थिर रहते हैं, इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' यह शास्त्रसिद्ध ईश्वरलक्षण आकाशमें ही दीखता है, इसलिए आकाश ही ईश्वर है । आकाश ईश्वरसे भिन्न है, ऐसा भेद उन्मत्तताको प्राप्त (पागल) वादीने किया है ॥ २६ ॥

आयान्ति यान्ति निपतन्ति तथोत्पतन्ति
सर्गश्रियः कणघटा इव पावकोत्थाः ।
यत्राऽमलं तदहमेकमनादिमध्यं
मन्ये खमेव न तु कारणमीश्वराख्यम् ॥ २७ ॥
आधारमायततरं त्रिजगन्मणीना-
मङ्गे बिभर्त्यमितमन्तरशेषवस्तु ।
व्योमैव चिद्वपुरहं परमेव मन्ये
यत्रोदयास्तमयमेति जगभ्रमोऽयम् ॥ २८ ॥
वनावनौ वनचरचारुकामिना
मनोहरद्रुमगहनेषु गीयते ।
इतो गिरेः शिरसि विलोक्यतेऽमुना
वियोगिना पथि वहता रसाकुलम् ॥ २९ ॥

यदि अग्निसे चिनगारियोंकी तरह आकाशसे ही जगत्के जन्म, स्थिति और लय मानते हो तो आकाश जड़ नहीं है, किन्तु चिद्व्योमरूप मैं ही हूँ, 'मुझमें ही सब उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही स्थित है और सब मुझमें ही लयको प्राप्त होता है। वह अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ' इस आशयकी भगवती श्रुतिसे मैं ही ईश्वर हूँ, यों तटस्थ ईश्वर पक्ष खण्डनार्ह है, ऐसा कोई तत्त्वज्ञानी वहाँपर कहता है—'आयान्ति' इत्यादिसे ।

जिसमें सृष्टियाँ अग्निसे उत्पन्न हुई चिनगारियोंकी नाईं उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती हैं, लीन होती हैं और आविर्भूत होती हैं, आदि, मध्य और अन्त शून्य एक निर्मल आकाश मैं ही हूँ, ईश्वर नामका नैयायिकोंका अभिमत तटस्थ कारण दूसरा नहीं है ॥ २७ ॥

जिसमें यह जगद्भ्रान्तिका उदय और अस्त होता है, जो निस्सीम आकाश अपने शरीरमें अशेष वस्तुओंको धारण करता है तथा त्रैलोक्यरूपी मणियोंका विस्तृत आधार है वह आकाश ही चिन्मय पर ब्रह्मरूप है ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २८ ॥

कोई पार्श्ववर्ती पर्वतपर विशेष कौतुक दिखलाता हुआ कहता है—'वनावनौ' इत्यादिसे ।

पर्वतके शिखरपर वनभूमिमें वनेचर सुन्दर कामी पेड़के रमणीय झुरमुटमें

गीतं शृङ्गतरूच्चपल्लवपुटे निःश्वस्य सोत्कण्ठया
कण्ठाश्लिष्टगिरा वियोगहतया विद्याधराणां स्त्रिया।
यन्नामाऽत्र तदेष नाथ पथिकः सोच्छ्वासमाकर्णयन्
दोलान्दोलनयेव चञ्चलधिया नो याति नोऽनूच्यते ॥ ३० ॥
गायत्यद्रिशिरस्तरौ दलपुटे निःश्वस्य विद्याधरी
काकल्या तिलकं वियोगविधुरा बाष्पाकुलैषा पुरः।
नाथोत्सङ्गगृहे गृहीतचिबुकं स्मेरं भवच्चुम्बनं
स्मृत्वाऽऽस्वाद्य रसायनं हतसमा नीता मयैता इति ॥ ३१ ॥
अस्याः प्राग्भवसत्पतिः स मुनिना शापेन वृक्षीकृतो
वर्षद्वादशकं तदेव गणयन्त्येषैव साऽत्र स्थिता।
गायत्युत्कलिता तदेव दयितं तं पादपं संश्रिता
मार्गे मार्गविहारिणां वदनतो राजन्ममैतच्छ्रुतम्॥ ३२ ॥

जो गीत गाता है, नीचे मार्गमें चल रहा यह वियोगी पुरुष उस गीतको सुनकर शृंगार रसाकुल हो ऊपर देखता है॥ २९ ॥

दूसरा अनुचर वैसा ही दूसरा कौतुक दिखाता हुआ कहता है—'गीतम्' इत्यादिसे।

हे नाथ, पर्वतशिखरके ऊँचे पेड़के किशलयपुटसदृश निकुञ्जमें वियोगवश दुःखी उत्सुक विद्याधरोंकी स्त्रीने लंबी साँस लेकर रुँधे हुए कण्ठसे जो गीत गाया उसके नीचे चल रहा राही उच्छ्वासपूर्वक उसे सुनकर झूलेकी नाईं झूल रही चञ्चल बुद्धि से न आगे जाता है और न उसके अनुगामी ही उसे बुलाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है॥ ३०॥

सामने पर्वत-शिखरके वृक्षमें पत्तोंकी आड़में वियोगिनी अतएव बार-बार आँसू गिरा रही यह विद्याधरी साँस छोड़कर बिना कोई तिलक लगाये ही मधुर स्वरसे हे नाथ, मैंने आपके गोदरूपी घरमें चिबुक पकड़कर हँसते हुए आपके चुम्बनका स्मरणकर बार-बार उसका आस्वादन कर यहाँपर इन कलमुँहे वर्षोंको क्लेशसे बिताया इस आशयके गाने गाती है॥ ३१ ॥

क्यों वह वहींपर बैठी है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहता है—'अस्या' इत्यादिसे।

इसके युवक सुन्दर पतिको (विद्याधरको) मुनिने किसी अपराधवश शापसे बारह वर्षतकके लिए वृक्ष बना दिया है, उन्हीं वर्षोंको गिन रही यह यहींपर बैठी है।

पश्यैष सोऽस्मदवलोकनशान्तशापो
विद्याधरो विटपितामवमुच्य बालाम्।
कण्ठेकरोति विटपाकृतिविप्रलम्भै-
स्तैरेव बाहुभिरलं स्फुटपुष्पहासः ॥ ३३ ॥
शिखरिणां करिणां कुसुमोत्करो
विटपिषु स्फुटरोमसु राजते।
गगनविच्युततारकलीलया
शिखरमेष तुषारसमानया ॥ ३४ ॥
मीनावलीसरभसप्लुतिघट्टिताम्बु-
वीचीविलोलविरुवत्कुररीकराला।
कावेर्यहो कुसुमशुक्लपटाऽवभाति
निःशङ्करङ्कुकुलसंकुलकूलकच्छा ॥ ३५ ॥
भात्यत्र पश्य रविणा कटके सुवेल-
शैलस्य काञ्चनशिला सकलाऽमलश्रीः।

उत्कण्ठित होकर उसी अपने पतिरूप वृक्षके आश्रित होकर गाती है। हे राजन्, मार्गमें वियोगी पथिकोंके मुँहसे यह खबर मुझे मिली है ॥ ३२ ॥

हे राजन्, हमारा यहाँ आना और हमारा दर्शन होना यही मुनिने इसके शापान्तकी अवधि की थी, देखिये यह वृक्षभूत विद्याधर हम लोगोंके दर्शनसे ही शापमुक्त हो गया है, अतः वृक्षताका त्यागकर युवती विद्याधरीका शाखाओंके बहाने उन्हीं बाहुओंसे खूब आलिङ्गन करता है। खिले हुए फूल ही उसके हास बन गये हैं ॥ ३३ ॥

दूसरा अनुचर पर्वतोंका वर्णन करता है—'शिखरिणाम्' इत्यादिसे।

पर्वतरूपी हाथियोंके वृक्षरूपी खड़े हुए रोंगटोंमें पुष्पराशि शिखरोंमें बसन्त ऋतुके हिमकणके सदृश आकाशसे च्युत तारोंकी लीलासे शोभित हो रही है ॥ ३४ ॥

अहा, पुष्परूपी शुभ्र वस्त्र ओढ़ी हुई कावेरी, जो मछलियोंकी तेज उछालोंसे फटी हुई जललहरियोंमें खेल रही शब्दायमान कुररियोंसे भयंकर है तथा जिसके तट और जलमय प्रदेश निःशङ्क मृगकुलसे भरे हैं, बड़ी भली लगती है ॥ ३५ ॥

हे राजन्, इस सुवेलपर्वतशिखरपर सूर्यसे खूब चमचमा रही पूरी सोनेकी

वेलावलोलवरुणालयवीचिभङ्ग-
पर्यस्तवाडवकृशानुकणोपमानम् ॥ ३६ ॥
आसन्नपीनजलदावलितालयानां
गेहोपशल्यपरिफुल्लवनद्रुमाणाम् ।
लक्ष्मीः पलाशपटलावलिताम्बराणां
घोषौकसां समवलोकय पर्वतेषु ॥ ३७ ॥
उन्निद्रपुष्पपटुपाण्डुरपुष्पखण्डा
मन्दारभाण्डविशिखण्डिकरण्डकच्छाः ।
ग्रामाः प्रपातजलजालविलासवाद्या
वल्गद्गुहागहनगीतजना जयन्ति ॥ ३८ ॥
उन्निद्रकन्दलदलान्तरलीयमान-
कूजन्मदान्धमधुपोन्मदपामराणाम् ।
मन्ये न सा भवति तुष्टिरिहाऽमराणां
या गोकुलेषु गिरिगह्वरिणां नराणाम् ॥ ३९ ॥

शिला तटप्रदेशोंमें चञ्चल सागरकी तरङ्गराशियोंसे व्याप्त बड़वानलके कणकी तरह मालूम पड़ती है ॥ ३६ ॥

राजन्, पर्वतोंपर अहीरोंकी टोलीके घरोंकी शोभा देखिये । इनके हरएक घर निकटवर्ती मोटे-मोटे मेघोंसे ढके हैं, घरोंकी आस-पासकी भूमियोंमें वनवृक्ष फूले हैं, ढाकके पेड़ोंके झुरमुटोंसे इन्होंने आकाशको पाट रखा है ॥ ३७ ॥

खिले हुए फूलोंसे अत्यन्त शुभ्र पुष्पवाटिकाओंसे भरे हुए ये गाँव, जिनमें मन्दारके वृक्षरूपी बहुतसे फूलोंके वर्तन हैं और नाना प्रकारके मयूरोंके नाचनेके स्थानरूप ठण्डे प्रदेश हैं, प्रपातोंकी (बड़े-बड़े झरनोंकी) जलराशियोंके विलास ही जिनमें मयूरोंके नाचके बाजेका काम करते हैं एवं प्रतिध्वनियोंसे गूँज रही गुहाओंसे पूर्ण जंगलोंमें जिनकी जनता गाना गाती है, स्वर्गसे भी बढ़कर हैं ॥ ३८ ॥

इस पर्वतीय ग्राममें गायोंके झुण्डोंके बीचमें तुरन्त खिली हुई कलियोंकी पँखुड़ियोंके अन्दर छिपे-छिपे गुञ्जन कर रहे मदोन्मत्त भँवरोंके दर्शनसे कामोद्रेकवाले, पर्वतगुफामें रहनेवाले पामर लोगोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह श्रेष्ठ आनन्द नन्दनवनमें विहार करनेवाले देवताओंको भी सुलभ नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३९ ॥

भृङ्गावदोलितलताकुलकाननान्त-
गायत्पुलिन्ददयिताननदत्तनेत्रम् ।
लीलाकुला गतघृणं गिरिगह्वरेषु
किं घ्नन्ति शत्रुमिव मुग्धमृगं किराताः ॥ ४० ॥
नानाविकासिकुसुमोत्करसारलब्ध-
वल्लीदलावलनशीतलिताध्वगाङ्गाः ।
साम्भःप्रथप्रसरणेन तरत्तरङ्गा
ग्रामा गिरीन्द्रगहनेषु जयन्ति चन्द्रम् ॥ ४१ ॥
कूजन्निर्झरवारयः परिसरप्रोन्निद्रतालद्रुमा
हेलोल्लासितपुष्पपल्लववलद्वल्लीवितानाम्बराः ।
पर्यन्तोन्नतसाललम्बिजलदा रम्या गिरिग्रामका-
श्चन्द्राश्वत्थमितावनिं शशिपुरोद्यानस्य भागा इव ॥ ४२ ॥

भृंगों द्वारा झूलनेके लिए झूला बनाई गई लताओंसे हलचलवाले जंगलके अन्दर गुफाओंमें गा रही शबरियोंके मुँहोंपर सतृष्ण टकटकी लगाये हुए अतएव शृङ्गारिक चेष्टावाले किरात सुन्दर भोले-भाले मृगोंको शत्रुकी तरह कैसे मारते हैं ? ओहो, अन्यत्र दृष्टि लगायें और अन्यमनस्क शबरोंकी चञ्चल निशानेको वेधनेकी चतुराई तथा ऐसे अवसरपर भी निर्दयता विस्मय पैदा करती है। अथवा मृगोंसे कम्पित लताओंके सदृश पुलिन्द-ललनाओंके नेत्रोंकी सुन्दरताहरण और लतापल्लवभोजनरूप धर्मका उनमें परिज्ञान होनेसे उन्हें शत्रु समझ रहे किरात दयायोग्य समयमें भी उन्हें निर्दयतापूर्वक मारते हैं क्या ? यों उत्प्रेक्षा है ॥ ४० ॥

पर्वतराजके वनोंके मध्यमें स्थित ये गाँव, जिन्होंने भाँति भाँतिके फूले हुए फूलों-की राशियोंसे शीतलता, सुगन्धि, पराग आदि सारको प्राप्त वायुके लतापत्रोंके परि-चालनोंसे पथिकोंके अङ्गोंको शीतलता पहुँचाई है, जिनमें जलके गुण शीतलतासे प्रख्यात वायुओंके प्रसारसे जलाशयोंमें लहरियाँ तैर रही हैं, सौगन्ध्यगुणकी अधिकतासे चन्द्रमण्डलको जीत रहे हैं। चन्द्रमण्डलस्थ देवताओंकी अपेक्षा ग्राम-वासियोंको अधिक सुख है, यह भाव है ॥ ४१ ॥

स्वर्गस्थ चन्द्रनगरके उपवनोंके भाग-ऐसे ये मनोमोहक पर्वतीय गाँव, जिनमें झरनोंका जल अविरत कलकल ध्वनि कर रहा है, चौगिर्द ताड़के पेड़ खिले हैं, जिनका आकाश स्वाभाविक उल्लाससे युक्त फल और पल्लवोंसे लदी हुई लताओंके

आसन्नपीतघनघर्घरमेघनाद-
नृत्यच्छिखण्डिनवताण्डवविप्रकीर्णैः ।
ग्रामाः कलापिकुलकोमलबर्हखण्डैः
प्रोड्डीनचन्द्रकमणिप्रकरा जयन्ति ॥ ४३ ॥
पार्श्वस्थचारुशशिमण्डलमण्डनेषु
विश्रान्तवारिगुरुवारिदवारणेषु ।
ग्रामेषु या गिरितटेषु विलासलक्ष्मी
राज्येषु सा विभववत्सु कुतो विरिञ्चेः ॥ ४४ ॥
स्वामोदनन्दनवनान्तरसुन्दरेषु
सन्तानकस्तबकहासिनिकुञ्जकेषु ।
उन्निद्रमन्द्रमधुपाकुलपारिभद्र-
सान्द्रद्रुमेष्वभिरमे गिरिगह्वरेषु ॥ ४५ ॥
हरिणीरावरम्येषु हारिहारितहारिषु ।
गिरिग्रामेषु पुष्पेषु पुरेष्विव रतिर्नृणाम् ॥ ४६ ॥

वितानोंसे आच्छन्न है और जिनमें आसपासके ऊँचे ऊँचे सालके पेड़ोंपर मेघमण्डल लटका है, चन्द्रामृतको चुआनेवाले अश्वत्थसे युक्त ब्रह्मलोकको मात करते हैं ॥ ४२ ॥

ये पर्वत-ग्राम, जिनमें बिजलीसे वेष्टित गँभीर गर्जन-तर्जनवाले निकटवर्ती बादलोंके गर्जनसे नाच रहे मयूरोंके अभिनव नृत्योंसे बिखरे हुए मयूरोंके झुण्डोंके नये नये मोरपङ्खोंसे चन्द्रकरूपी मणिराशियाँ उड़ी हैं, दिव्य बनकर ब्रह्मलोकको अपने सन्मुख फीका बना रहे हैं ॥ ४३ ॥

एक बगलमें चल रहा चन्द्रमण्डल ही जिनका आभूषण है, जलसे भरे मेघरूपी हाथी जिनमें आराम करते हैं ऐसे पर्वतशिखरोंपर बसे हुए इन ग्रामोंमें जो सौन्दर्यातिशय है, वह सौन्दर्यातिशय वैभवपूर्ण ब्रह्माके राज्यमें कहाँ सुलभ है ? ॥४४॥

अपनी मनोहारिणी सुगन्धिसे नन्दनवनके केन्द्रकी तरह सुन्दर कल्पवृक्षके फूलोंके गुच्छोंका परिहास करनेवाले निकुञ्जोंसे भरी हुई पर्वतकंदराओंमें, जो पुष्पित होनेके कारण गंभीर गुञ्जन करनेवाले भँवरोंसे व्याप्त नीमके पेड़ोंसे पटी हैं, मुझे बड़ा आनन्द मिलता है ॥ ४५ ॥

हरिणियोंके निनादसे रमणीय, मनोहर हारीत पक्षियोंसे सुन्दर पर्वत-ग्रामोंमें कामके नगरोंमें जैसी लोगोंकी प्रीति है ॥ ४६ ॥

स्फाटिकस्तम्भसंभाररम्यनिर्झरवारिणि ।
नृत्यन्त्येताः शिखण्डिन्यः पश्याऽस्मिन् ग्रामगह्वरे ॥ ४७ ॥
शिखण्डिन्यो विलासिन्यः पुष्पभारनता लता ।
अत्र नृत्यन्ति कुञ्जेषु रणन्निर्झरपुष्करे ॥ ४८ ॥
हारीतहारिहरितोपवनद्रुमासु
वापीप्रमाणरणितामलकाकलीषु ।
ग्रामस्थलीषु गिरिगह्वरगोपितासु
मन्ये मुदैष रमते स्वरसेन कामः ॥ ४९ ॥
श्रीमद्वृत्तमहाशयातपहर प्रोच्चैर्गभीराकृते
भूभृन्मूर्धसु भूषणं भवसि भो भूमे रसैकास्पदम् ।
एतत्तु क्षपयेन्मनांसि यदिदं मेघ त्वया वर्षता
हर्षादूषरपल्वलस्थलतरुष्वम्भोविभागक्रमः ॥ ५० ॥

राजन्, स्फटिकके खम्भोंकी राशियोंकी तरह रमणीय झरनोंके जलोंसे सुशोभित इस ग्रामरूपी कन्दरामें देखिये, ये मयूरियाँ नाचती हैं ॥ ४७ ॥

राजन् देखिये, झर्झर शब्द कर रहे झरनोंके जलसे सुहावने इस ग्राममें निकुञ्जमें विलासवती मयूरियाँ और फूलोंसे लदी होनेके कारण झुकी हुई लताएँ नाचती हैं ॥ ४८ ॥

पर्वत-कन्दराओंसे अपनी गोदमें छिपाये गये ग्रामके मैदानोंमें, जिनमें बगीचोंके पेड़ हारीत पक्षियोंसे मनोहर और हरे हैं और बावड़ियोंके आसपास हंस, सारस आदिकी कूजरूप निर्मल मधुर तान सुनाई देती है, मालूम होता है काम स्वेच्छासे आनन्दके साथ मौज लेता है ॥ ४९ ॥

हे श्रीमानोंके स्वभावके समान महोदार स्वभाववाले, हे महाशय, हे सन्तापहारिन्, अत्यन्त उन्नत और गंभीर आकृतिवाले हे मेघ, तुम पर्वतोंके शिरोभूषण हो और खेत, उपवन आदिकी समृद्धिके कारणभूत जलके एकमात्र आश्रय हो। यों हजारों गुण तुममें हैं फिर भी हर्षसे बरस रहे तुमने जो अपात्रभूत ऊसर प्रदेश, तालतलैया, कंटीले पेड़ आदिमें सुन्दर उपजाऊ खेतोंके समान जलविभागका क्रम अपनाया है, यह तुम्हारा सत्-असत् पात्रका अपरिज्ञान सज्जनोंके मनको काँटेकी तरह वेधता है। यदि तुम्हारे ऐसे सुपात्रोंके उत्कृष्ट गुणोंका आदर न करेंगे, तो कौन करेगा? [यहांसे लेकर प्रायः सर्गकी समाप्ति तकके सब श्लोक अन्योक्तिसे भरे हैं। मेघके बहाने किसी दानी

नित्यं स्नासि सुतीर्थवारिविसरैरुच्चैःपदस्थोऽम्बुद
शुद्धः सन्विपिनावनौ निवससि प्रारब्धमौनव्रतः ।
रिक्तस्याऽप्यतिकान्तिरेव भवतः कायाश्रया लक्ष्यते
प्रोत्थायाऽशनिमातनोषि किमिदं तुच्छं तवाऽऽचेष्टितम् ॥ ५१ ॥

वस्त्ववस्थानगतं सर्वं शुभमप्यशुभं भवेत् ।
दुर्मेघं स्थानमासाद्य वारि त्वसिततां गतम् ॥ ५२ ॥

अहो नु मेघेन जलं विमुक्त-
महो नु तोयेन विपूरिता भूः ।
अहो नु भूमौ परिपोषितश्च
जलैर्धनाढ्यैः प्रणयीव दीनः ॥ ५३ ॥

महाशयके प्रति भी जो पात्रापात्रका विचार नहीं रखता है, यह उक्ति लागू होती है] ॥ ५० ॥

हे मेघ, तुम नित्य समुद्र, गङ्गा आदि सुतीर्थोंकी जलराशिसे स्नान करते हो, ऊँचे स्थानपर बैठकर सब जीवोंको जल देते हो, शुद्ध होकर मुनियोंका-सा व्रत लेकर वनभूमिमें निवास करते हो एवं शरत् कालमें यद्यपि तुम खाली हो जाते हो फिर भी तुम्हारे शरीरपर अत्युत्कृष्ट धवलकान्ति ही शोभा पाती है। यों सर्वथा श्रेष्ठ होनेपर भी तुम जलदानके लिए उठकर जो बिजली और अग्निके साथ कटुशब्द करते हो यह तुम्हारा आचरण कैसा है? सर्वथा अनुचित है ॥ ५१ ॥

अनुचित स्थानपर पड़ी हुई सुन्दर वस्तु भी असुन्दर हो जाती है। दुष्ट मेघ-रूप अयोग्य स्थानको पाकर स्वच्छ मधुर जल भी काला और क्षार हो जाता है ॥ ५२ ॥

अहा! मेघने जल बरसाया, अहा! जलसे पृथिवी आप्लावित हो गई, अहा! जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन-हीन मित्रको धन-दौलतसे पुष्ट करते हैं वैसे ही जलोंने भूमिमें मुरझाये हुए धान आदिको पुष्ट किया है ॥ ५३ ॥

कोई पार्श्वचर दया, उदारता आदि गुणोंके वर्णनके सिलसिलेमें उनसे विपरीत निर्दयता, अनुदारता आदि दुर्गुणोंसे युक्त मूर्खोंकी, कुत्तेके गुणोंसे अदला बदलीके सन्देह ? प्रदर्शन द्वारा, निन्दा करता है—'नैर्घृण्य०' इत्यादिसे।

नैर्घृण्यमस्थैर्यमथाऽशुचित्वं
रथ्याचरत्वं परिकुत्सितत्वम् ।
श्वभ्यो गृहीतं किमु नाम मूर्खै-
र्मूर्खेभ्य एवाऽथ शुना न जाने ॥ ५४ ॥
गुणैः कतिपयैरेव बहुदोषोऽपि कस्यचित् ।
उपादेयो भवत्येव शौर्यसन्तोषभक्तिभिः ॥ ५५ ॥
उन्मत्तमत्तपतनोन्मुखगावसा-
मानाधिकान्विषयवीथिषु मुक्तमूर्त्तिः ।
यन्मन्यते तृणलव ग्र विलोकयेच्छा-
सत्त्वं जडत्वमुत वाऽस्य विचार्यतां तत् ॥ ५६ ॥

निर्दयता, अस्थिरता, अशुद्धता, गलियोंमें मारे मारे फिरना, सर्वथा निन्द्यता आदि दुर्गुण कुत्तोंसे मूर्खोंने सीखे या मूर्खोंसे ही कुत्तेने लिये इसका मुझे सन्देह है, निश्चय नहीं है ॥ ५४ ॥

यदि मूर्ख सर्वथा निन्दनीय ही हैं, तो नरेश आदि उनको अपने पास क्यों रखते हैं ? इस संशयपर कहते हैं —'गुणैः' इत्यादिसे ।

यद्यपि मूर्खजन दोषोंके भण्डार होते हैं फिर भी जैसे कोई कुनृपति कुत्तोंको पालते हैं वैसे हो कुत्तेके सदृश कतिपय शूरता, सन्तोष, स्वामिभक्ति आदि गुणोंके कारण ही कोई कुनरपति आदि मूर्खोंको अपने पास रखते हैं ॥ ५५ ॥

भोग-परम्पराओंमें संलग्न (विषयलम्पट) मूर्ख धतूरं खानेसे उन्मत्त हुए, मदिरा आदि पीनेसे मदमत्त हुए, प्रमाद और क्रोधावेशादिवश कुएँमें गिरनेके लिए उद्यत हुए, भूतावेशसे इधर उधर दौड़ रहे तथा तत्त्वज्ञानके उत्कर्षसे देहादिके परिच्छेदकी विस्मृतिवश 'मैं ब्रह्म हूं' यों सर्वोत्कृष्ट प्रमाकी प्रतिष्ठा होनेसे षष्ठ आदि भूमिकामें आरूढ़ हुए पुरुषोंको—अपनेमें अभिज्ञताके आरोपसे—जो तृणतुल्य समझता है, हे तृणलवाग्र, उसे तुम्हीं देखो । यह इस विषयलम्पट पुरुषकी इच्छा-सत्ता है या जड़ता है इस रहस्यका तुम्हीं विचार करो । यदि इच्छासत्ता है, तो वही कुत्तोंके तुल्य है, यदि जड़ता है, विषयलम्पटता आदि दोषोंकी अधिकतासे वह स्वयं तृणलवसे भी नीच है; अतः विचार करनेपर उसकी तृणसमानता भी दुर्लभ है, यह अर्थात् सिद्ध हो जायगा । ऐसी अवस्थामें उन्मत्त आदिसे भी वह अधिक नीच है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥ ५६ ॥

कोलाहलः समानेऽपि तिर्यक्त्वे क्षुब्धमानसैः ।
अन्यथा सह्यते सिंहैर्मीलितैरन्यथा श्वभिः ॥ ५७ ॥

नित्याशुचे प्रियजने भषणैकनिष्ठ
रथ्यान्तरभ्रमणनीतसमस्तकाल ।
कौलेयकाशयसमानतयैव मन्ये
मूर्खेण केनचिदहो बत शिक्षितोऽसि ॥ ५८ ॥

नित्यं सर्वं जगदसदृशं कुर्वतोच्चैर्विधात्रा
दौहित्रेऽस्मिञ्छुनि समदृशे निर्मितं सर्वमेव ।
वासोऽमेध्यावकरकुहरे भोजनं गूथपूयं
सर्वालोके कुरतिकुरतिः सर्वनिन्द्यं शरीरं ॥ ५९ ॥

त्वत्तः कोऽधम इत्युदीरितवते श्वोवाच हासान्वितं
मत्तो मौर्ख्यममेध्यमान्ध्यमशुभं यः सेवते सोऽधिकः ।

यद्यपि सिंह और कुत्ता-दोनोंमें पशुता समान है यानी दोनों तिर्यग् योनिके जीव हैं, तथापि मेघगर्जन आदिके कोलाहलको सिंह बिना क्षोभके अनादरवश आँखें मूँदकर सहते हैं, किन्तु कुत्ते क्षुब्ध हो भयवश आँखें मूंदकर सहते हैं यही दोनोंकी परस्पर विलक्षणता है ॥ ५७ ॥

हे नित्य अपवित्र, अपने प्रियजनके प्रति हू हू करनेमें प्रवीण, गली-कूचोंमें घूमनेमें सारा समय बितानेवाले अरे कुत्ते, मालूम होता है जैसी मेरी चित्तवृत्ति है वैसी ही इसकी भी है यह देखकर तुम्हें अपने गुणोंकी शिक्षाका पात्र समझ रहे किसी मूर्खने नित्य अशुचिता आदि अपने गुण तुम्हें सिखाये हैं। ऐसी परिस्थितिमें शिष्यकी अपेक्षा गुरुमें गुणाधिकता-दर्शन उपपन्न होता है ॥ ५८ ॥

कर्मोंकी विषमतावश अत्यन्त विषम जगत्की रचना कर रहे विधाताने अपने दौहित्र (सरमा नामकी देवशुनीके पुत्ररूप) इस कुत्तेमें अनुरूप सब धर्मोंके दर्शनके लिए वक्ष्यमाण सभी कुछ समान रूपसे बना डाला। वह सब-कुछ है, कूड़े करकटके स्वनिर्मित गड्ढेमें निवास, पुरीष और पीब भोजन, सड़क आदि खुली जगहोंमें चिरकाल तक ग्रन्थिरूप कुत्सित मैथुनमें दुरिच्छा तथा सर्वनिन्दनीय शरीर ॥ ५९ ॥

तुमसे बढ़कर अधम कौन है ऐसा पूछनेवालेके प्रति कुत्तेने हँसते हुए कहा— जो अज्ञान, अपवित्र देहाद्यभिमान, विचारदृष्टिशून्यताका सेवन करता है, वह मुझसे बढ़कर अधम है। किन गुणोंसे तुम मूर्खकी अपेक्षा श्रेष्ठ हो यह पूछनेपर उसने

शौर्यं भक्तिरकृत्रिमा धृतिरिति श्रीमान्गुणो योऽस्ति मे
मूर्खादेष गुणः प्रयत्ननिचयैरन्विष्य नो लभ्यते ॥ ६० ॥
भुङ्क्तेऽमेध्यममेध्य एव रमते नित्यं महावस्करे
तूष्णीमत्ति सचेतनं कृतरतिर्निश्चेतनं कृन्तति ।
सर्वैरेत्य रते शुनीविवलिते लोष्टैर्जनैस्ताड्यते
धात्रा खेलसमन्वितस्थितिरलं लोके कृतो नेश्वरः ॥ ६१ ॥
लिङ्गस्योर्ध्वं रटत्काक आत्मानं दर्शयत्ययम् ।
सर्वाधःपातकोत्तुङ्गगतं पश्यत मामिति ॥ ६२ ॥
काकक कटुकल्कारव
कवलितगुणकर्दमे भ्रमन्सरसि ।
अन्तरयसि मधुपरवं
यदतो मे शिरसि फलभूतः ॥ ६३ ॥

कहा—शूरता, नैसर्गिक स्वामिभक्ति, अल्पमें ही सन्तोष ये जो मुझमें सुन्दर गुण हैं, मूर्खमें वे गुण लाखों प्रयत्नोंसे ढूंढ़नेपर भी नहीं पाये जा सकते ॥ ६० ॥

कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अति अपवित्र विष्ठाके ढेरमें ही खेलता है, बेचारे जीवित नेउर, चूहे आदिको भाग्यवश पाकर बड़े चावसे खा डालता है, निर्बल बकरी, बछड़े आदिको बिना किसी अपराधके काट खाता है, कुतियाके साथ सटनेपर सब लोग उसे ढेले मारते हैं। सचमुच ब्रह्माने अत्यन्त असमर्थ कुत्तेको लोकमें जन्मभर दुःख भोगनेके लिए ही रचा है ॥ ६१ ॥

कहींपर नदीके किनारे निर्माल्य, अक्षत आदि खानेके लिए शिवलिङ्गके ऊपर काँव-काँव कर रहे कौवेको देखकर कोई अनुचर उसके काँव-काँव करनेके आशयकी उत्प्रेक्षा करता है—'लिङ्गस्य' इत्यादिसे ।

शिवलिङ्गके ऊपर काँव-काँव करता हुआ यह कौवा अपनेको दृष्टान्तरूपसे दर्शा रहा है—हे लोगो, अधोगतिके हेतुभूत सब पातकोंमेंसे शिवस्वभक्षणके लिए शिवलिङ्गाश्रयणरूप सर्वोत्कृष्ट पातकको प्राप्त हुए प्रत्यक्ष काकरूप मुझे देखो ॥ ६२ ॥

दूसरा अनुचर तालाबमें काँव-काँव करते हुए घूम रहे कौएके प्रति कहता है—'काकक' इत्यादिसे ।

अरे निन्द्य कौए, अरे अपनी कर्णकटु काँव-काँवसे हँस, सारस आदिके सुगुणोंको मटियामेट करनेवाले, तालाबमें कीचड़में घूमता हुआ तू सुन्दर भ्रमरोंकी गुञ्जारको

कवलयति नरकनिकरं
परिहरति मृणालिकां ध्वाङ्क्षः ।
यदतोऽस्तु मा स्मयस्ते
स्वभ्यस्तं सर्वदा स्वदते ॥ ६४ ॥

विविधवनकुसुमकेसर-
धवलवपुर्हंस इव दृष्टः ।
काकः कृमिकुलकवलं
क्लिन्नमथो कवलयन् ज्ञातः ॥ ६५ ॥

तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः संगतैः किल कोकिलैः ।
केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥ ६६ ॥
अरण्यान्या मृदः स्थाणौ स्थितः काको निरीक्षते ।
चैत्याद्दशदिशश्चोरो निशि सुप्ते जने यथा ॥ ६७ ॥

अपनी कर्णकटु काँव-काँवसे जो तिरोहित करता है, इससे मेरे सिरपर शल्यकी-सी वेदना पैदा होती है ॥ ६३ ॥

अपने मित्रके प्रति कोई कहता है—'कवलयति' इत्यादिसे ।

कौआ नाना प्रकारकी अपवित्र वस्तुओंको खाता है, मृणालकी डण्डीको, जो प्राप्त है, छोड़ देता है इस विषयमें आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्यसन होनेके कारण खूब आदत पड़ी रहती है, तो निन्दनीय वस्तु भी बडी स्वाद लगती है जैसे कि लहसुन मिश्रित खटाई आदि निन्दित वस्तुएँ अभ्यस्त लोगोंको अच्छी लगती हैं ॥ ६४ ॥

विविध वनपुष्पोंके केसरसे धवलदेहवाले कौएको लोगोंने हंस समझा । बादको जब उसे सड़े-गड़े कीड़े मकोड़े निगलते देखा तब जाना कि यह कौआ है ॥ ६५ ॥

समानरंगके (एकसे) परवाले कोयलोंमें हिलेमिले कौएको कौन पहचानता यदि वह स्वयं काँव-काँव न कर बैठता ॥ ६६ ॥

महा अरण्यकी मिट्टीकी बनी पुरानी भीतके ऊपर बैठा हुआ यह कौआ जैसे रात्रिके समय लोगोंके सो जानेपर चोर श्मशानवृक्षपर चढ़कर दसों दिशाओंकी ओर झांकता है वैसे ही चारों ओर देखता है ॥ ६७ ॥

सरभससारसविदल-
त्पुष्करमकरन्दसुन्दरे सरसि ।
कथमिह विहरति काकः
स्फुरदवकरनिकरधूसरस्कन्धः ॥ ६८ ॥
हा कष्टमिष्टवपुषि स्फुटपुण्डरीक-
कोशे कषाहननयोग्यमुखः पिशाचः ।
पश्यैष काक उपविश्य कुपल्वलेऽस्मिन्
लीलाः करोति विविधाः सह राजहंसैः ॥ ६९ ॥
हे काक कर्कशरव क्रकचैकचिह्न
तादृक्स्वशङ्कनमपि क्व नु तेऽद्य यातम् ।
कस्मादनर्थकमिदं पिकपाकमेक-
पुत्राशया तदपि ते ह्युपहाससिद्ध्यै ॥ ७० ॥

बेगसे उड़ रहे या कलियोंके आस-पास मँडरा रहे सारसों द्वारा चट-चट खिल रहे कमलोंके मकरन्दसे (पुष्परससे) मनोहर इस तालाबमें कौआ, जिसके कन्धे कूड़े करकटकी उड़ रही धूलिसे धुमैले हैं, कैसे क्रीड़ा करता है ? उसका यहाँ क्रीड़ा करना अनुचित है, यह भाव है ॥ ६८ ॥

हे राजन्, खिले हुए कमलोंके आकर स्वानुरूप स्थानरूप सरोवरमें तैर रहे राजहंसोंके साथ थप्पड़ खाने योग्य कुरूप मुँहवाला पिशाचतुल्य यह कौआ [जिस सुन्दर सरोवरमें राजहंस विहार करते हैं उसमें विहारके अयोग्य यह काला-कलूटा कौआ] इस कीचड़पूर्ण तलैयामें घुसकर राजहंसोंकी नकल उतारनेके लिए विविध लीलाएँ करता है, यह बड़े खेदकी बात है, कृपया देखिये ॥ ६९ ॥

बञ्चना, चोरी आदिसे मुझे प्राप्त होनेवाले धनादि भागको न्याययुक्त उपायसे कोई सज्जन न ले जाय, इस आशङ्कासे सन्तके खण्डनके लिए राजसभामें अवाञ्छनीय कर्णकटु प्रलाप कर रहे खलके प्रति अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है—'हेकाक' इत्यादिसे ।

अरे कौए, अरे कठोररव सुननेवालेके कानोंको चीर डालनेवाला काँव काँव शब्दरूपी आरा ही तुम्हारा एकमात्र लक्षण है। मेरे भागको कौएसे भिन्न कोई न खा जाय इस आशङ्कासे तुम सदा कौओंका आह्वान करते हुए काँव काँवकी रट लगाते रहते हो, तुम्हारा आज ऐसी शङ्का करना कहाँ चला गया? तुम्ही मेरे एकमात्र

आलोक्य पङ्कजवने सविलासवन्तं
काकं कलङ्कसदृशं भृशमारटन्तम् ।
हा कष्टशब्दशतनष्टविचेष्टितो यो
नो रोदिति क्रकचकेन विदार्यतां सः ॥ ७१ ॥

विशरारुशरारुमये
बकमद्गुघने च पल्वले चपलाः ।
स्युर्यदि कौशिककाका-
स्तत्स्यादेषा समन्विता गोष्ठी ॥ ७२ ॥

कोकिलः काकसंघातैः समसंवरणाकृतिः ।
गदितैर्व्यक्ततामेति सभायामिव पण्डितः ॥ ७३ ॥

मृदुकुसुमाङ्कुरदलनं
सोढुमलं कोकिलस्य कुसुमलता ।

बच्चे हो, तुम चिरकालतक जीवो इस आशासे कोकिलके बच्चेको तुम व्यर्थ पालते हो। तुम एकमात्र कटु बोलनेवाले हो, पुत्रभ्रान्तिसे तुम्हारा सुस्वरवाले कोयलके बच्चोंको पालना भी मनोरथसिद्धिके लिए नहीं होगा, अपि तु उपहासास्पद ही होगा ॥ ७० ॥

कमलवनमें विविध क्रीडाएँ कर रहे कलङ्कसदृश कौएको जोर जोरसे काँव काँव करते देखकर किसीने कहा—हे काक, तुम्हारे या तुम्हारे सदृश खल पुरुषोंके सैकड़ों कटुशब्दोंके श्रवणसे दुःखवश भौचक्का होकर जो नहीं रोता उस आदमीको आरेके तुल्य कटु वचनोंसे तुम्हें चीर डालना चाहिये, मैं तो वैसा नहीं हूँ, अतः क्योंकर मेरे सामने काँव काँव करते हो ॥ ७१ ॥

खलोंकी सभामें और भी खल ही योग्य हैं। वहाँपर एक भी साधुका रहना ठीक नहीं है, यों अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है—'विशरारु०' इत्यादिसे ।

इधर उधर घूम रहे हिंसक जलजीवोंसे पूर्ण बगुले, जलकाक आदिसे पटे हुए छोटेसे कीचड़मय तालाबमें यदि चञ्चल उल्लू और कौए रहें, तो यह तालाबकी सभा अपने योग्य सदस्योंसे सम्पन्न हो ॥ ७२ ॥

रंग, शरीरको ढकनेवाले पर और शरीरकी गठनसे कौओंके झुण्डोंके तुल्य कोयल, मूर्खोंकी सभामें पण्डितके सदृश वाणी द्वारा व्यक्त होता है ॥ ७३ ॥

फूलोंकी लता कोकिलके धीरे धीरे फूलोंकी पँखुरियोंके छेदनको भले सहन कर सकती है, किन्तु चील, गीध, जलकाक, बगुला, मुर्गा और कौएके छेदनको कदापि

न तु कङ्कगृध्रमद्गुक-
बककुक्कुटवायसादीनाम् ॥ ७४ ॥
श्रोत्रोत्सवं तव कलं कलकण्ठ कोऽत्र
नादं शृणोति रतिविग्रहसंधिदूतम् ।
काकैरुलूककलहैरिह गुल्मकेषु
क्रेंकारघर्घररवैः श्रुतिरागताऽस्तम् ॥ ७५ ॥
वाचा कोमलया सुकोकिलशिशुः कल्याणकल्पां कथां
सर्वाविर्जनमार्जवेन कुरुते यावत्पुरो रागिणाम् ।
तावन्मत्तनयोऽयमित्यविरतं द्रांकारभीमारवैः-
र्ध्वाङ्क्षेणोपवने निपत्य नभसः सर्वे कृता नीरसाः ॥ ७६ ॥
किं किं कोकिल कूजसि द्रुतरवं हर्षात्समुल्लासितं
ग्रीवाकोटरतः प्रवेशय पुनर्मा भूच्चिरं ते भ्रमः ।
उद्दामैः कुसुमैर्निरन्तरतरं नेदं मधोर्जृम्भितं
हेमन्तेन कृतास्तुषारनिकरैः शुष्का अमी पादपाः ॥ ७७ ॥

नहीं सह सकती ॥ ७४ ॥

हे मधुरकण्ठ हे कोयल, यहाँपर कानोंके लिए उत्सवरूप तुम्हारे कलरवको, जो रतिरूपी विग्रहका सन्धिदूत है, कौन सुनता है । क्योंकि यहाँ नीमके झुरमुटमें उलुओंके साथ सदा कलह करनेवाले कौओंने काँव काँवके कोलाहलसे सबके कान बहरे कर दिये हैं ॥ ७५ ॥

उपवनमें तान सुननेके प्रेमी लोगोंके आगे कोयलका मनोहर बच्चा कोमल वाणीसे महोत्सवतुल्य कथा कर अनायास सब लोगोंका ज्योंही मनोरञ्जन करता है त्योंही कौएने आकाशसे बागमें उतर कर यह मेरा बच्चा है, मैं ने इसे पाला है, यों काँव-काँवरूपी रूक्ष वाणीसे सब श्रोताओंको निरुत्साह कर दिया ॥ ७६ ॥

अयोग्य श्रोताओंके बीच अनवसरमें अयोग्योंको योग्य समझकर भ्रान्तिसे अपने गुणोंका प्रदर्शन करनेके लिए उत्सुक किसीके प्रति कोई दूसरा अन्योक्तिसे कहता है—'किं किम्' इत्यादिसे ।

हे कोइल, तुम श्रोताओंकी योग्यता आदिका विचार किये बिना ही अपने गुणोंके प्रख्यापनकी उत्सुकतासे उत्पन्न हर्षसे जल्दी जल्दी क्यों कूकते हो ? गले रूपी कोटरसे हर्षवश हो रहे कुहकनेके उल्लासको अपने अन्दर प्रवेश करा दो, मौन हो

कूजत्कोकिलकोमलं कलरवैर्नित्यं प्रशस्ताकृते
केनेदं बत शिक्षितोऽसि वचनं दुःखप्रदं दुर्भगम् ।
चैत्रे चित्रनवाङ्कुरे विरहिणी वक्ति त्वया याऽऽत्मनः
कस्याऽयं मधुरित्यतस्तवतवेत्युक्तं स्वरौच्चैस्तरोः ॥ ७८ ॥
मौनस्पन्दविहारवर्णवपुषां साम्येऽपि काकव्रजेऽ-
काकः कोकिल एष कान्तिरुचिरो दूरात्परिज्ञायते ।
मध्ये मूर्खजनस्य पण्डित इव स्वाकारभव्यक्रियः
सर्वो हि प्रथिमानमेति सदृशस्वान्तश्चमत्कारतः ॥ ७९ ॥
भ्रातः कोकिल कूजितैरलमलं नाऽऽयात्यनर्घ्यो गुण-
स्तूष्णीमास्स्व विशीर्णपर्णपटलच्छन्ने क्वचित्कोटरे ।

जाओ । यह गुणोंके प्रख्यापनका अवसर है और ये श्रोता श्रवणकी योग्यता रखते हैं ऐसी भ्रान्ति तुम्हें न होनी चाहिये। यह फूलोंको बहारसे पटा हुआ वसन्तऋतुका उन्मेष नहीं है, किन्तु हेमन्तने इन पेड़ोंको पालेकी वर्षासे सुखा डाला है। इनके बीच तुम्हारी वाणी सफल न होगी ॥ ७७ ॥

रंग-विरंगके नये नये अङ्कुरोंसे भरे हुए चैत्रके महीनेमें जो वियोगिनी नायिका है, वह कहती है—हे नित्य प्रशंसनीय आकृतिवाले, हे कुहक रहे कोयल, 'यह चैत्र महीना किसका है ? इस तरहके मेरे प्रश्नके उत्तरमें तुमने अपने मधुके (चैतके) ऊँचे पेड़परसे जल्दी जल्दी जोरसे 'तव तव' (तुम्हारा तुम्हारा) यो मधुर स्वरसे जो मीठी वाणी कही, खेद है, यह दुःखदायी असत्य वचन तुमने किससे सीखा ? आशय यह कि यह विरहसे दुखियाका (मेरा) वसन्त नहीं है, किन्तु अपनी सहचरीके साथ गा रहे तुम्हारा ही वसन्त है। ऐसी परिस्थितिमें तुम्हें 'मम मम' (मेरा मेरा) कहना चाहिये; 'तव तव' इस तरहका तुम्हारा असत्य वचन मुझे पीड़ित करनेके लिए ही है ॥ ७८ ॥

कौओंके झुण्डमें मौन, चेष्टा, पक्षादिचालनरूप व्यवहार, वर्ण, रंग और आकार एकसा होनेपर भी यह कान्तिसे मनोहर कोयल है, कौआ नहीं है, यों कोयल मूर्ख लोगोंके बीचमें पण्डितकी तरह दूरसे पहचाना जाता है। अपनी आकृतिसे अपना उत्तम गुण सूचित करनेवाले सभी पुरुष अपने अनुरूप हृदयचमत्कारसे, भले ही वह गुप्त हो, विख्यातिको प्राप्त होते हैं ॥ ७९ ॥

अरे भाई कोयल, कर्णकटु काँव काँव कर रहे कौवोंके झुण्डसे भरा हुआ

उद्दामद्रुमकन्दरे कटुरटत्काकावलीसंकुलः
कालोऽयं शिशिरस्य संप्रति सखे नाऽयं वसन्तोत्सवः ॥ ८० ॥
चित्रं मातरमेष कोकिलशिशुः संत्यज्य काकीं गतः
सैषैनं तुदतीति यावदहमप्याचिन्तयामि क्षणम् ।
तावत्सोऽपि तथाऽऽशु मातृसदृशं श्लिष्टो रसाद्वर्धितुं
यामायाति दिशं स्वभावसुभगः सैवाऽस्य माहात्म्यदा ॥८१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वा० उ० अवि० विपश्चि० श्वकाककोकिलान्योक्तिवर्णनं नाम षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

यह शिशिरका समय है, वसन्तरूपी उत्सव नहीं है। इस समय कुहकनेसे उत्तम गुण (प्रशंसारूप गुण) प्राप्त नहीं होता, अतः कुहकनेकी आवश्यकता नहीं है। कहीं विशाल वृक्षके खोखलेमें, जो गिरे हुए पत्तोंसे ढका है, चुपचाप बैठे रहो ॥ ८० ॥

यह कोयलका बच्चा अपनी कौवी माताको छोड़कर जो चला गया, वह एक आश्चर्य है। उसके बाद यह कौवी माँ इस कोयल बच्चेको चोंच और पञ्जोंसे घायल करती है, यह दूसरा आश्चर्य है, यों क्षणभर जब मैं सोचने लगता हूँ तब तक कोयलका बच्चा भी उत्साहसे अपनी माँके सदृश बढ़नेके लिए तत्पर हो गया, यह तीसरा आश्चर्य है। सचमुच भाग्यवान् पुरुष जिस दिशाको जाता है, वही दिशा उसकी महिमा बढ़ाती है ॥ ८० ॥

एक सौ सोलह सर्ग समाप्त

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

सहचरा उचुः

पश्याऽद्रिसानाविव बिम्बितं खं
पुरःसरो मारपुरःसरो यः ।
कह्लारपद्मोत्पलजालनाल-
ललद्विचित्रारवपक्षिवीतम् ॥ १ ॥
विकासितोद्दण्डसहस्रपत्र-
कोशस्थलस्थोद्धुरराजहंसम् ।
पीठद्विरेफद्विजलोकजुष्टं
भुवीव गेहं कमलासनस्य ॥ २ ॥
आकीर्णसीकरकरालदिगन्तराले
फुल्लोत्पलाब्जपटलोदररेणुगौरम् ।

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

[कमल, कुइँ तथा नील कमलोंसे सुशोभित तालाबका वर्णन और उसके सिलसिलेमें कमल, भौंरे, हंस, सारस आदिका वर्णन]

पहले तेरह श्लोकों द्वारा सरोवरका ही मुख्यरूपसे वर्णन करनेके लिए कोई भूमिका बाँधता है—'पश्य' इत्यादिसे ।

साथियोंने कहा—हे राजन्, यहाँ सामने पर्वतशिखरपर, जो सरोवरकी शोभा बढ़ानेके कारण कामोद्दीपक होनेसे कामका प्रधान भृत्य-सा (दाहिना-हाथसा) है, लाल कमल, श्वेत कमल और नीले कमलोंके समूहोंकी डंडियोंमें मृणालके लिए विचर रहे भाँति-भाँतिके कलरव करनेवाले पक्षियोंसे व्याप्त, अतएव नक्षत्र (तारे) और पक्षियोंके साथ प्रतिबिम्बित हुए आकाशके तुल्य सरोवरको देखिये ॥ १ ॥

इन्द्रनीलके पीढेके सदृश भ्रमरों, सारस, क्रौञ्च आदि पक्षियों और ब्राह्मणों द्वारा सेवित उक्त सरोवर, जिसमें खिले हुए और ऊपर उठे दण्डवाले विविध कमलोंके कोशस्थलोंमें बैठे और उनकी शोभाको धारण करनेवाले राजहंस बैठे हुए हैं, भूमिमें आया हुआ ब्रह्माका घर-सा मालूम पड़ता है ॥ २ ॥

राजन्, इस सरोवरको देखिये। यह चारों ओर बिखरे हुए सीकरोंसे (जलकणोंसे)

आमोदमत्तमधुपद्विजगीतिगीतं
यातं वितानकमिवाऽम्बरगं वहन्तम् ॥ ३ ॥
क्वचित्तरत्तारतरङ्गभङ्गं
क्वचिद्द्विषद्भूरिविरावभृङ्गम् ।
क्वचिद्गभीरामलवारिसुप्तं
क्वचित्सरोजोज्ज्वलपुष्पगुप्तम् ॥ ४ ॥
कणाणुमुक्ताजलतापटालं
तीरेषु सिंहे सुलतासुटालम् ।
तरङ्गनिर्धूतशिलोग्रकच्छं
महीतलाकाशमनन्तकच्छम् ॥ ५ ॥
तडित्प्रकाशोदरमस्य मेघ-
नुन्नाब्जजातोत्थरजःप्रभाभिः ।

दिशाओंके मध्यभागोंको बर्फमय बना रहा है, खिले हुए नीलकमल और साधारण कमलोंकी राशियोंके बीचके पुष्पपरागसे चारों ओर पीला बना है, सुगन्धिसे मस्त हुए भौंरों और सारस, क्रौञ्च आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणों द्वारा गीतोंसे इसका यश गान किया जाता है, ऊपर तने हुए चँदवेके समान आकाशस्थ बादल और कुहरेको परछांईके व्याजसे धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

देखिये, कहींपर इसमें लम्बी, लम्बी लहरें तैर रही हैं, कहींपर भँवर अधिक मस्तीसे आपसमें लड़ते हुए गुनगुना रहे हैं, कहींपर यह गहरे और स्वच्छ जलसे—निश्चलतावश—सोया हुआ-सा है एवं कहींपर कमलों और कुमुदोंसे सोखा हुआ-सा आच्छन्न है ॥ ४ ॥

मोती-ऐसे छोटे-छोटे जलबिन्दुओंसे यह लोगोंके सन्तापकी निवृत्ति करता है, तटभूमिमें सिंहकी प्रतिबिम्बरूप अन्य सिंहकी आशङ्कासे जल पीनेमें होनेवाली झिझकको वृक्षकी चोटीसे लेकर जलतक लटकी लताओं द्वारा प्रतिबिम्बके दर्शनमें रुकावट डालकर भली भाँति निवृत्त करता है, तरङ्गोंने इसके आसपासके पत्थरों और कीचड़से भरे दलदलोंको साफ-सुथरा बना दिया है एवं यह असंख्य बादलोंसे अनन्त कच्छवाला (जलप्रायदेशवाला) आकाश ही मानो भूतलमें उतरा है ॥ ५ ॥

मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले वायुसे कम्पित कमलोंकी राशियोंसे गिरे हुए पराग-पुञ्जकी आभासे इसका मध्यभाग बिजलीके प्रकाशसे पूर्ण-सा मालूम होता है,

पृषद्धरध्वान्तमयैकदेशं
सन्ध्याम्बराभोगमिवाऽऽप्रकाशम् ॥ ६ ॥
वातावकीर्णशरदम्बुदखण्डखण्डं
व्योमेव केवलसमीरणमावृताङ्गम् ।
हंसैर्लसद्बिसलताकवलालसांसै
कालेन संचयकृतैरिव चन्द्रबिम्बैः ॥ ७ ॥
आमोदमन्दमकरन्दकरालवात-
व्याधूतपङ्कपुटपाटनपाटवेन ।
उद्यन्महापटपटा वयतीव लेखा-
क्षुभ्यत्खगाश्रितलतोज्झितपुष्पवर्षम् ॥ ८ ॥
वेल्लन्महाकमलपल्लवतालवृन्त-
संवीजितं वलितचामरचारुफेनम् ।
राजायमानमलिकोकिलगीतगीतं
सद्वृत्तपङ्कजलतालवलिताङ्गनौघम् ॥ ९ ॥

इसलिए एक ओर जलकणोंसे भरा हुआ तथा दूसरी ओर अन्धकारपूर्ण यह सरोवर सन्ध्याकालके आकाशकी तरह चारों ओर प्रकाशवाला या अल्प प्रकाशवाला है ॥६॥

अपने बच्चोंके लिए घोसलोंमें ले जाये जा रहे कमल-नाल, कमल-कन्दरूपी ग्रासोंके भारसे थके कन्धेवाले हंसोंसे, जो काल द्वारा इकट्ठा किये गये चन्द्रबिम्ब जैसे हैं, घिरकर मन्दता, सुगन्धि, शीतलता आदि गुणोंसे रहित केवल वायुयुक्त भी यह वायुसे जिसके शरत्कालके मेघ छिन्नभिन्न किये गये ऐसे आकाशकी तरह शोभ रहा है यदि यह मन्दता, सुगन्धि, शैत्य आदि गुणोंसे सम्पन्न वायुसे युक्त होता तो फिर इसकी शोभाका क्या ठिकाना था ॥ ७ ॥

इस तालाबकी लहरी, सुगन्धिके भारसे मानो मन्दगामी तथा पुष्परसके संसर्गसे नम वायुओं द्वारा कम्पित जलमिश्रितपंकभागके पंकको नीचे दबाकर जलसे पृथक् करनेकी चतुराईवश जिससे शीघ्रतासे पट-पट शब्द हो रहा है, अपनी ध्वनिसे खिन्न होकर उड़े हुए पक्षियोंकी निवासभूत लताओं द्वारा छोड़ी गई पुष्पवृष्टिका विस्तार करती है ॥ ८ ॥

राजन्, इस सरोवरकी राजाका सा ठाट-बाट है। देखिये न, वायुवश हिल रहे महाकमल और पल्लवरूपी पङ्खोंसे यह संवीजित (झला गया) है, सुन्दर फेन ही इसके

भृङ्गाग्रभाजनमनोहरहारिगीतं
राजीवरेणुरणकीर्णपिशङ्गतोयम् ।
डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डुरपुण्डरीक-
खण्डोपमण्डिततटोपवनावतंसम् ॥ १० ॥
विविक्तहृदयाम्भोजं हृदयाह्लादनं परम् ।
रसवत्स्वादु भातीदं सरः सत्संगमोपमम् ॥ ११ ॥
बिम्बितेन मरुव्योम्ना भातीदं सौम्यनिर्मलम् ।
शास्त्रार्थपरिणामेन महतामिव मानसम् ॥ १२ ॥
किंचिल्लक्ष्यमपश्यामं पृषत्परुषमारुतम् ।
हिमाभ्रमिव भातीदं सरः सरससारसम् ॥ १३ ॥

डुलाये गये चँवर हैं, भौंरे और कोयल अपने गीतोंसे इसका गान करते हैं तथा कमललतारूपी सुरूप, सुडौल, सच्चरित्र तथा सुन्दरी अनेक ललनाओंसे यह घिरा है ॥ ९ ॥

भँवररूपी श्रेष्ठ सत्पात्र मनोहर गुणियोंका इसमें मनोज्ञ गाना होता है, इसका जल कमलपरागोंके सम्पर्कसे व्याप्त अतएव सुनहला है और इसने तटवर्ती उपवनकी मस्तकालङ्कारभूत पुष्पराशिको फेनपिण्डोंके समान सफेद कमलराशिसे सुशोभित कर रक्खा है । १० ॥

पवित्र हृदयके समान निर्मल कमलोंसे भरा हुआ हृदयको अत्यन्त आनन्द देनेवाला जलपूर्ण यह मधुर सरोवर पवित्र (निर्मल) हृदयकमलवाले, हृदयको अत्यन्त आह्लादित करनेवाले, प्रीतिपूर्ण तथा अत्यन्त मधुर सत्संगके तुल्य है ॥ ११ ॥

हे सौम्य, जैसे ब्रह्माकार वृत्तिसे (चरम साक्षात्कारवृत्तिसे) महात्माओंका निर्मल मन शोभित होता है वैसे ही यह निर्मल सरोवर अपनेमें प्रतिबिम्बित मरुदेशवत् निर्जल आकाशसे शोभित है ॥ १२ ॥

हेमन्तऋतुमें इस सरोवरकी कैसी दशा होती है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'किञ्चित्' इत्यादिसे ।

हेमन्तऋतुमें सुन्दर सारसोंसे पूर्ण यह सरोवर हेमन्त ऋतुके मेघोंकी तरह शोभित होता है, कुहरेसे चारों ओर घिरे रहनेके कारण कुछ-कुछ दिखाई देता है. कुहरा इसे अपने रंगमें रंग लेता है, अतएव इसकी कालिमा (श्यामलता) चली जाती है और जलबिन्दुओंसे इसकी हवा अति कठोर बन जाती है ॥ १३ ॥

यथेदं ब्रह्मणो दृश्यमविकारादि नेतरत् ।
यथाऽम्भसि तरङ्गादि राजन् पृथगिव स्थितम् ॥ १४ ॥
आत्मनैवोह्यमानानां चक्रावर्तविधायिनाम् ।
जडाशयानां विषमा हा कल्लोलपरम्परा ॥ १५ ॥
कूपवापीसरोब्धीनां दृश्यते यादृगन्तरम् ।
नारीपुरुषतोयानां विज्ञेयं तादृगन्तरम् ॥ १६ ॥
जन्तोरिवाऽस्य मनसो जलजातिबन्ध-
जीर्णस्य जर्जरदशालहरीभ्रमेण ।
आवर्तवृत्तिवलितान्यतिसंततानि
को नाम संकलयितुं कमलानि शक्तः ॥ १७ ॥

हे राजन्, जैसे विकारादिशून्य यह जगत् कूटस्थ नहीं है, किन्तु ब्रह्ममात्र ही है, तथापि ब्रह्ममे पृथक्-सा प्रतीत होता है। वैसे ही जलमें तरङ्ग आदि जलमात्र ही हैं फिर भी पृथक्‌से मालूम होते हैं ॥ १४ ॥

जैसे अपने ही जलसे बहाये जा रहे तथा चक्राकार भँवर बनानेवाले जलाशयोंके कल्लोलोंकी परम्परा बड़ा आश्चर्य पैदा करती है वैसे ही अपने अज्ञानसे ही संसारके प्रवाहमें बहाये जा रहे सदसत्कर्मरूप भँवरोंकी रचना करनेवाले जड़ लोगोंके मनोरथोंकी परम्पराएँ आश्चर्यमें डालती हैं ॥ १५ ॥

जैसे कुआँ, बावड़ी, तालाब और सागर आदिरूप उपाधिके भेदसे जलमें तारतम्यकी (उत्कर्ष-अपकर्षकी) प्रतीति होती है, वैसे नारी, पुरुष आदिके शरीरके उत्कर्षसे उनकी आत्मामें उत्कर्ष और अपकर्षके तारतम्यकी प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं—'कूप०' इत्यादिसे।

कुआँ, बावड़ी, सरोवर और सागरके जलमें उपाधि भेदसे जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होता है वैसा ही अन्तर नारी, पुरुष, बालक आदिके शरीरके (उपाधिके) उत्कर्षसे उनकी आत्मामें भी उत्कर्ष और अपकर्षका तारतम्य समझना चाहिए ॥ १६ ॥

जलमें उत्पन्न होनेवाले कमल, सेवार आदिके संसर्गसे जीर्ण हुए इस सरोवरके विविध योनियोंके सम्बन्धसे जीर्ण हुए जीवके मनकी तरह कमल आदि-की (तत्-तत् देहोंकी) जर्जर दशापर्यन्त लहरियोंके (भोगोत्सवोंके) भ्रमसे अत्यन्त व्याप्त हुए आवर्तोंके सदृश इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियोंके परिवर्तनोंकी भाँति अनगिनत कमलोंके गिननेमें कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी नहीं ॥ १७ ॥

चित्रं विजृम्भितमहो जडसंगमस्य
पद्मोऽपि यन्निजगुणानगुणानिवैषः ।
अन्तः प्रगोपयति कण्ठतले निवेश्य
सर्वस्य दर्शयति दुर्भगकण्टकौघम् ॥ १८ ॥
सच्छिद्रैरदृढैः सूक्ष्मैर्गोपितैर्जाड्यसंयुतैः ।
अनल्पैरपि निःसारैः पद्मस्येव गुणैरलम् ॥ १९ ॥
महतां कुलपद्मानां गुणसौन्दर्यशालिनाम् ।
प्रभावं नाऽस्ति संख्यातुं वासुकेरपि शक्तता ॥ २० ॥
हरिवक्षोगता लक्ष्मीरपि शोभार्थमेव यत् ।
बिभर्ति कमलं हस्ते काऽन्या शंसाऽधिका भवेत् ॥ २१ ॥

यहाँसे पद्मोंका वर्णन आरम्भ करते हैं—'चित्रम्' इत्यादिसे ।

अहा ! यह आश्चर्यकी बात है कि जिस कमलकी लोकमें सौन्दर्य, सौगन्ध्य आदि सद्गुणोंकी खानके रूपसे प्रसिद्धि है, वह भी मुकुलितावस्थामें जो सौगन्ध्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुणोंको दोषोंकी तरह गलेमें निगलकर अन्दर छिपाता है और कुरूप काँटोंको बाहर सबको दिखलाता है, यह जलकी (जड़—मूर्खकी) संगतिकी बलिहारी है । यदि मूर्खकी संगति न होती तो ऐसा क्यों करता ? [यहाँसे लेकर प्रायः सभी श्लोक अन्योक्तिमय हैं] ॥ १८ ॥

जो कमलके गुणशब्दसे पुकारे जानेवाले तन्तु हैं उनके तुल्य दोष-युक्त गुणोंकी सर्वत्र उपेक्षा ही करनी चाहिये, यों प्रसंगवश कहते हैं—'सच्छिद्रैः' इत्यादिसे ।

जो गुण कमलके गुणोंके (तन्तुओंके) तुल्य छेदवाले (सदोष), कच्चे, ऐसे सूक्ष्म कि मालूम भी न पड़ें, छिपाये हुए, जड़तापूर्ण, थोड़े और निस्सार (तुच्छ) हों उनकी सर्वथा उपेक्षा करना ही ठीक है । वे कदापि उपादेय नहीं हैं ॥ १९ ॥

सुगन्धि, सुन्दरता आदिसे शोभित होनेवाले बड़े बड़े उत्कृष्ट कमलोंके (यश-रूपी सुगन्धिसे अपने कुलको प्रख्यात करनेवाले महान् पुरुषोंके) प्रभावका बखान करनेकी सामर्थ्य शेषनागमें भी नहीं है ॥ २० ॥

भगवान् श्रीहरिके वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली सकल सौन्दर्योंकी अधिदेवी लक्ष्मीजी जिस कमलको शोभाके लिए ही अपने हाथोंमें धारण करती हैं, उसकी इससे बढ़कर दूसरी प्रशंसा क्या हो सकती है ॥ २१ ॥

सितासिताभ्यां रूपाभ्यां कमलोत्पलखण्डयोः ।
वैसादृश्यं भवेत् किन्तु समा जडजडैतयोः ॥ २२ ॥

साम्यं न फुल्लविपिनेन सरःसु याति
व्योम्ना न तारकयुतेन न चेन्दुवृन्दैः ।
नृत्यद्वधूविहसिताननशोभयैति
फुल्लस्य पङ्कजवनस्य नवोदिता श्रीः ॥ २३ ॥

येषां पुष्पलतास्वादैरनन्यमनसां गतम् ।
भृङ्गाणामायुरायामि त एव सुभगोत्तमाः ॥ २४ ॥

चूतचारुचमत्कारं चञ्चरीकाश्चरन्ति ये ।
त एव सचमत्कारा इतरे जातिपूरणम् ॥ २५ ॥

कमल और नीलकमलकी केवल सफेद और काले रूपोंसे ही परस्पर विलक्षणता है, किन्तु इनकी जलसे जड़ (अचेतन) चन्द्रसूर्यद्वेषरूप मूर्खतास्वरूप वृत्ति समान है ॥ २२ ॥

तालाबोंमें खिले हुए कमलोंकी नवोदित शोभाकी फूले हुए पारिजात वनसे तुलना नहीं की जा सकती, तारोंसे भरे हुए आकाशसे और अनेक चन्द्रबिम्बोंसे भी उसकी बराबरी नहीं हो सकती है । यदि उसकी बराबरी हो सकती है, तो नाच रही बहूके चाँदके टुकड़े ऐसे मन्द मुस्कानयुक्त मुखशोभासे ही हो सकती है ॥ २३ ॥

फूल और लताओंको छोड़कर अन्यत्र कभी भूलकर भी मन न लगानेवाले जिन भँवरोंको लम्बी आयु फूल और लताओंका ही आस्वाद लेनेमें बीती, सचमुच वे ही सौभाग्यशालियोंमें श्रेष्ठ हैं । या 'सुभग उत्तमा' दो पृथक् पद भी हो सकते हैं । वैसी स्थितिमें हे सुभग, वे भृङ्ग ही उत्तम हैं, ऐसा अर्थ है ॥ २४ ॥

जो भ्रमर और कोयल आमकी सुगन्धि, मकरन्द और पल्लवोंका कषाय रस चखते हैं, उन्हींका जीवन चमत्कारपूर्ण है, औरोंका तो केवल आयु बिताना है या योनि भोगनामात्र है ॥ २५ ॥

पद्मोंके मकरन्दको चखनेवाले भ्रमर पद्मसे अतिरिक्त वनोंमें आसक्त भ्रमरोंका मानो परिहास करते हैं, ऐसा कहते हैं—'मत्ता' इत्यादिसे ।

मत्ता मधुमदामोदैः पुष्करेषु रणन्ति ये ।
तुष्टानामितरस्वादैर्भ्रमराणां हसन्ति ते ॥ २६ ॥
येनोषितं विरुतमुल्लसितं प्रसुप्तं
पद्मोदरेषु शशिकोटरकोमलेषु ।
भृङ्गः स एष शिशिरे विरसेषु भावं
कष्टं करिष्यति कथं तरुपुष्पकेषु ॥ २७ ॥
अफुल्लमल्लिकोद्दाममुकुलोपरि षट्पदः ।
दृश्यते कालरुद्रेण शूले प्रोत इवाऽन्धकः ॥ २८ ॥
आस्वादयन् विविधपुष्पमधूनि भृङ्ग
नित्यं भ्रमन्सकलशैललतागृहेषु ।
नाद्याऽपि तुष्यसि किमङ्ग दुराशयोऽसि
मन्ये न सारमुपगच्छसि वा वनेभ्यः ॥ २९ ॥
कमलकुलकवलकोविद
गच्छ सरो मधुप मा रूढम् ।

जो भ्रमर कमलमधुमदसे उत्पन्न आनन्दसे मस्त होकर कमलोंपर गूँजते हैं, वे मानो अन्य फूलोंके आस्वादोंसे सन्तुष्ट भँवरोंका परिहास करते हैं ॥ २६ ॥

जो भ्रमर शरदादि ऋतुओंमें चन्द्रमाके कोटरके तुल्य कोमल (सुन्दरतम) कमलोंके अन्दर रहा, खेला, सोया और गूँजा, हा खेद है, वही यह बेचारा भ्रमर शिशिर ऋतुके आनेपर अन्य नीरस वृक्षोंसे कैसे प्रीति करेगा ॥ २७ ॥

मालतीकी कहींसे भी तनिक भी न फूली हुई शूलसदृश कठोर कलीके ऊपर बैठा हुआ भ्रमर कालरुद्र द्वारा शूलपर पिरोया हुआ अन्धकासुर-सा मालूम पड़ता है ॥ २८ ॥

अरे भ्रमर, तुम भाँति-भाँतिके फूलोंके रस चखते हुए सब पर्वतोंके निकुञ्जोंमें नित्य चक्कर लगाते हो, आजतक तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ। पुष्परसलम्पट होनेके कारण सचमुच तुम्हारा आशय शुद्ध नहीं है। मालूम पड़ता है, आजतक तुम्हें वनोंसे सार प्राप्त नहीं हुआ। यदि सार वस्तु तुम्हें मिल जाती, तो तुममें असन्तोष न रहता और तुम्हारे इस तरह भटकनेकी भी संभावना न रहती ॥ २९ ॥

कमलवनोंमें मकरन्द चखनेमें प्रवीण हे भ्रमर, तुम कमलोंसे भरे सरोवरमें

बदरदरीषु विदीर्णं
देहं कुरु कण्टकक्रकचैः ॥ ३० ॥
अतसीकुसुमे कुवलय-
दलवलये विकसिते च तापिच्छे।
परभागमेहि मधुना
तासु विसदृशीव पण्डितः पुरुषः ॥ ३१ ॥
पश्यैषा नाभिनलिनीकेसरैः पालिता श्रिया।
हंसमालामलावल्ली सामगायनकूजिता ॥ ३२ ॥
दोलाकमलनीलस्थां दृष्ट्वा खे प्रतिबिम्बिताम्।
हंसो हंसीमनुसरन् मण्डले नेह चेतति ॥ ३३ ॥

जाओ मकरन्दसे परिपुष्ट अपने शरीरको बेरोंकी झाड़ियोंमें काँटेरूपी आरोंसे मत चीरो ॥ ३० ॥

जैसे पण्डित पुरुष अपने अनुरूप प्रभु, समाज आदि न मिलनेपर विद्वान् प्रभुकी प्राप्तिके लिए अयोग्य (मूर्ख) प्रभुके समीप भी बस जाता है, किन्तु किरातोंके बीचमें वास नहीं करता वैसे ही हे भ्रमर, जिन ऋतुओंमें—हेमन्त, शिशिर आदिमें—तुम्हें कमल नहीं मिलते उन ऋतुओंमें भी अपने रंगसे मिलते-जुलते अलसीके फूलोंमें, नीलकमलसमूहमें तथा फूले हुए तमालमें यथावसर प्राप्त हुए मधुसे अपनी गुजर करो, जीवननिर्वाह करो ॥ ३१ ॥

कोई पार्श्वचर हंसश्रेणीका वर्णन करता हुआ उसे राजाको दिखलाता है—'पश्य' इत्यादिसे।

राजन् देखिये, सरोवरोंकी नाभिरूप नलिनियोंके उपभुक्त केसरोंसे उनके समान कान्तिवाली शोभासे पालित यह हंसश्रेणिरूपी सुन्दर लता है, इसकी ध्वनि सामगायनके समान गंभीर है ॥ ३२ ॥

राजन् देखिये, आकाशमें हंसीका पीछा कर रहा हंस इस सरोवरके मध्यमें प्रतिबिम्बित, झूलेके सदृश कमलरूप घोसलेमें स्थित हंसीको देखकर उसके गिरने और डूबनेकी आशङ्कासे मूर्च्छित हो गया है ॥ ३३ ॥

हंसकी-सी स्त्रीव्यसनिताकी (स्त्रीलम्पटताकी) कोई अनुचर निन्दा करता है—'मा भूत्' इत्यादिसे।

मा भूत्कस्यचिदेवैषा राजन् व्यसनिता भृशम् ।
पश्यैतां बिम्बितां हंसो हंसीमनुसरन्मृतः ॥ ३४ ॥
हेलया राजहंसेन यत्कृतं कलकूजितम् ।
न तद्वर्षशतेनाऽपि जानात्याशिक्षितुं बकः ॥ ३५ ॥
समानेष्वाकराकारजातिचेष्टाशनादिषु ।
हंसस्य राजहंसस्य दूरमत्यन्तमन्तरम् ॥ ३६ ॥
शुक्लपक्षस्थितो व्योम्नि कुमुदाकरभासकः ।
आह्लादयति चेतांसि हंसश्चन्द्र इवोत्थितः ॥ ३७ ॥
उन्नालनलिनीनालकदलीस्तम्भसंकुले ।
वने विहरतां लक्ष्मीं हंसानामेति कः खगः ॥ ३८ ॥

हे राजन्, अत्यन्त स्त्रीलम्पटता किसीकी भी न हो। देखिये न, तालाबमें प्रतिबिम्बित इस हंसीका अनुसरण कर रहे (पीछा कर रहे) बेचारे हंसने प्राण गँवा दिये ॥ ३४ ॥

राजन्, राजहंसने अनायास जो मनोमोहक मधुर कूजन (ध्वनि) किया उसे बगुला पूरे सौ वर्षोंमें भी बोलना नहीं सीख सकता ॥ ३५ ॥

राजहंस और हंसका जन्मस्थान, आकृति, जाति, चेष्टा, आहार, नाम और रंग सब कुछ समान है। फिर भी साधारण हंस और राजहंसमें महान् अन्तर है, महान् अन्तर है। राजहंस सुवर्ण पद्मोंमें विचरते हैं, समुद्रमें गोता मारकर मोती चरते हैं एवं जहांपर किसी भी पक्षीकी पहुँच नहीं है ऐसे आकाशके ऊपरी भागमें उड़ते हैं, साधारण हंसोंमें यह बात कहाँ है? यह भाव है ॥ ३६ ॥

सफेद डैनोंसे आकाशमें स्थित तथा कुमुदाकरकी शोभा बढ़ानेवाला हंस उदित हुए चन्द्रमाके समान लोगोंके चित्तोंको आह्लादित करता है * ॥ ३७ ॥

ऊपरको उठे हुए नालदण्डवाली नलिनियोंके नालरूपी कदलीस्तम्भोंसे भरे हुए कमलवनमें विहार कर रहे हंसोंकी शोभाको कौन दूसरा पक्षी पा सकता है? यह सरलार्थ है। योगसे जिसके नाल ऊपरको की गई है ऐसी हृदयकमलरूपी नलिनीके—प्राणायामाभ्याससे—विकासवश कदलीस्तम्बवत् स्तम्बसे व्याप्त हृदय-

*चन्द्रमा भी शुक्लपक्षमें आकाशमें स्थित होता है तथा कुमुदाकरको खिलाता है, यों दोनोंका साम्य है ॥

तरङ्गवलयालोलसीकरोत्करहारिणी ।
कुमुदोत्पलकह्लारपुष्पसंभारसुन्दरी ॥ ३९ ॥
भृङ्गलोलालकलता रणत्सारसनूपुरा ।
वर्तुलावर्तनाभीका चलद्वीचिविलोचना ॥ ४० ॥
प्रतीक्षमाणा दयितं रसपूरकरं धरम् ।
नारीव सरसी चारुहंसकाभ्यां विराजते ॥ ४१ ॥

हे हंस मद्गुबककाकशरारुसारे
मा त्वं सरस्यविरतं कुरु वासमेकः ।
आपद्यपीह समशीलवयोवचोभिः
श्रेयःफला भवति संगतिरात्मवर्गैः ॥ ४२ ॥

पादाक्रान्तमहेभमस्तकतटः पद्माकरैकालयः
कह्लारोत्पलकुन्दचम्पकलतासंभोगसौभाग्यवान् ।
भृङ्गोऽप्येष विधेर्वशेन शिशिरे लोष्टं तृणं स्वादयन्
शीते शुष्कबकत्यहो नु विपदा दैन्ये मनो दीयते ॥

कमलत्रयरूप वनमें त्रिविधतापहारी निरतिशय आनन्दके आस्वादसे सदा विहार कर रहे यतियोंकी जीवन्मुक्तिसुखसाम्राज्यरूप सम्पत्तिको कौन देवता पा सकता है ? यह गूढार्थ है ॥ ३८ ॥

यह सरसी (तालाब) जैसे नारी नूपुरोंसे विराजमान होती है वैसे ही हंसके बच्चोंसे सुशोभित हो रही है। तरङ्ग ही इसके कंकण हैं, चञ्चल जलकणराशि ही इसका हार है, कुईं, नीलकमल, लालकमल आदि फूलोंके संभारसे यह सुन्दर है, भँवर ही इसके चञ्चल कुन्तल हैं, कूज रहे सारस ही नूपुर हैं, गोल भँवर ही नाभि है तथा चञ्चल तरङ्ग ही नेत्र हैं, यह मनोरथको पूर्ण करनेवाले (जलके प्रवाहको बढाने-वाले) पर्वतरूप पतिको देख रही है ॥ ३९-४१ ॥

हे हंस, जलकाक, बगुला, कौआ आदि हिंसकोंसे भरे तालाबमें सदा अकेले मत रहो, क्योंकि इस आपत्तिमें भी समान शील, अवस्था और बोलीवाले अपने वर्गके साथ संगतिसे अच्छा ही फल होता है ॥ ४२ ॥

अपने पैरोंसे गजराजके मस्तकपर आक्रमण करनेवाला एकमात्र पद्माकरमें रहनेवाला तथा रक्तकमल, नीलकमल, कुन्द और चम्पकलताओंके भोगरूप सौभाग्यसे

पुत्रस्येह दलोदरे द्युतितरत्तारं चिरं संस्मृतं
हंसस्यांऽसवितुन्ननालगहने संचारिणा भो मया।
शुक्लासारमिवाऽब्जिनी विकिरति स्वं वारिबिन्दूत्करं
मध्याह्ने शिशिरं विकासि सहसा मूर्ध्नि स्फुटं दृश्यताम् ॥ ४४ ॥
व्योम्नीन्दोरिव सौम्यवारिणि चिरं निःशब्दकं सर्पतो
हंसस्यांसहताब्जनालवलनानिष्कम्पटङ्कक्षतैः ।
गङ्गावारिवदत्र पुष्करपुटाद्ब्राह्मादिवाऽस्योपरि
भ्रष्टा ये जलबिन्दवो जलचरा हृष्टाः पिबन्त्याशु तान् ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्यो० विप० पद्मभ्रमरहंसवर्णनं नाम सप्तदशाधिक-शततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

युक्त यह भँवर भी भाग्यवश हेमन्त और शिशिर ऋतुमें ढेले और पत्थर चाटता हुआ स्थलमें रहनेवाले बगुलेके तुल्य आचरण करता है। अहा ! विपत्तिके समय महान् पुरुष भी दीनतामें मन लगाते हैं, दीन-हीन बन जाते हैं ॥ ४३ ॥

हे राजन्, मैंने हंसके परोंसे चीरे गये कमलवनमें प्रविष्ट होकर देदीप्यमान कमलके अन्दर बैठे हुए हंसके बच्चेका अपने पिताके प्रति निकल रही जो जोरकी चीत्कार थी, उसका स्मरण किया। उसका वह वचन था, हे तात ! कमलिनी जैसे सफेद मोतीके तुल्य जलबिन्दुओंकी वृष्टि करती है वैसे ही आकाश जल-बिन्दुओंकी राशि बरसाता है, ऊपर सिरपर दोपहरके समयमें भी खूब जवानीको पहुँचे हुए बर्फको प्रत्यक्ष देखिये ॥ ४४ ॥

हे राजन्, इस सरोवरमें, आकाशमें चन्द्रमाकी तरह प्रसन्न (स्वच्छ) जलमें चुपचाप चिरकाल तक तैर रहे हंसके परोंसे प्रताडित कमलनालोंके संवलनरूप निष्कम्प टङ्काघातोंसे ब्रह्माके आसनभूत कमलपुटके समान कमलपुटसे जो जलबिन्दु इसके ऊपर गिरे, उन्हें मछली आदि जलचर बड़ी प्रसन्नतासे गङ्गाजलके तुल्य शीघ्र पीते हैं ॥ ४५ ॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

सहचरसहचर्यः क्रमेणोचुः

निर्गुणस्य बकस्याऽस्य गुण एकोऽस्ति दृश्यताम् ।
यत्प्रावृषं स्मारयति प्रावृट्प्रावृडिति ब्रुवन् ॥ १ ॥

बक हंस इवाऽऽभासि सरःस्थो मद्गुसौहृदम् ।
नृशंसत्वं च वाणीं च त्यक्त्वा हंसो भव स्फुटम् ॥ २ ॥

गम्भीरं वारिगर्भं प्रसृतजलचरं ये प्रविश्य प्रविश्य
प्राङ्मत्स्यान्प्रोतचञ्च्वश्चतुरतर परं जग्धवन्तो विदग्धाः ।
ते केनाऽप्यद्य दिष्ट्या मृततिमिगमिताः कालयुक्ते महिम्ना
नाऽऽक्रामन्ति क्रमस्थाः सुहरमपि पुरः पङ्गवो मद्गवोऽमी ॥ ३ ॥

एक सौ अठारह सर्ग

[बगुले, जलकाक, मोर, वियोगी पथिक, मछली और चातकोंके चरित्रका वर्णन]

सहचर और सहचरियोंने क्रमसे कहा—देखिये, यह बक यद्यपि प्रायः निर्गुण है तथापि इसमें एक गुण है, वह यह कि प्रावृट् प्रावृट् कहता हुआ यह प्रावृट्का (वर्षा ऋतुका) स्मरण कराता है ॥ १ ॥

अरे बगुले, तालाबमें बैठा हुआ तू रंगसे (सफेद परोंसे) हंस-सा मालूम पड़ता है । कौओंके साथ मित्रता, क्रूरता (मछलियोंपर निर्दय प्रहार करना) और कटु वाणीका त्यागकर तू सच (असली) हंस बन जा ॥ २ ॥

हे चतुरश्रेष्ठ, मछलियोंको मारनेमें अत्यन्त प्रवीण जिन जलकौओंने जल-जीवोंसे परिपूर्ण गम्भीर जलके अन्दर बार-बार प्रवेश कर पहले (निगलनेके समय) मछलियोंसे चोंचें भर कर मछलियाँ खाईं, वे ये कौए जिनके गलेमें भाग्यवश किसी कारण मरे हुए 'तिमि' जातिकी मछलियोंके भक्षणसे रोग उत्पन्न हो गया है, अत्यन्त क्षुधासमयमें (आक्रमणके समयमें) तीरमें कतार बाँधकर स्थित हुए भी, पङ्गु होनेके कारण, अपने सामने तटपर आई हुई, अनायास पकड़में आने योग्य मछलियोंपर आक्रमण नहीं करते, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ३ ॥

एवं व्रिहन्यते लोकः स्वार्थेनेति प्रदर्शयन् ।
मद्गुर्मद्गुरुतां यात इत्येवं स्तौति दुर्जनः ॥ ४ ॥
उत्कन्धरो विततनिर्मलचारुपक्षो
हंसोऽयमत्र नभसीति जनैः प्रतीतः ।
गृह्णाति पल्वलजलाच्छफरीं यदाऽसौ
ज्ञातस्तदा खलु बकोऽयमितीह लोकैः ॥ ५ ॥
अतिबहुकालविलोला-
नवलोक्य बकांस्तपोदम्भान् ।
अत्रैवाऽतिमिरस्थां-
स्तटवनिता विस्मिता धूर्तान् ॥ ६ ॥
अत्र जले हिमहेलाः
पश्यैता अपहरन्ति सितपद्मान् ।

दुर्जनोंने लोकहिंसा द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि करना जलके कौओंसे सीखा, ऐसा प्रकारान्तरसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इसी तरह (जलकौएके समान ही) अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए लोगोंका गला घोटना उचित है, इस बातको दर्शाता हुआ जलकौआ मेरा गुरु बन गया है, यों दुष्ट जन कौएकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

आकाशमें यह सामने खड़ा बगुला, जिसने सुन्दर गर्दन ऊँची कर रक्खी है और सफेद सुन्दर पर फैला रक्खे हैं, हंस ही है यों लोगों द्वारा निर्णीत हुआ, जब यह भूमिमें कीचड़से भरी छोटी तलैयामें मछलियाँ पकड़ता है, तब लोग यह बगुला है, ऐसा निश्चय करते हैं ॥ ४ ॥

कीचड़से भरी छोटी-सी तलैयामें मछलियोंको पकड़नेके लिये चिरकाल तक चञ्चलता दिखला चुके इसी सरोवरमें तपका ढोंग बाँधे हुए बगुलोंको देखकर धूर्तोंके चरित्रको भली भाँति जाननेवाली कोई तीरप्रदेशस्थित महिला बगुलोंके समान ही अन्यत्र चिरकाल तक विषयलम्पटतावश चञ्चलतावाले यहींपर तपस्याका ढोंग बाँधनेवाले रात्रिकी प्रतीक्षा कर रहे धूर्तोंको देखकर आश्चर्यमें पड़ गई ॥ ६ ॥

पथिककी स्त्री कमल तोड़नेवाली महिलाओंको देख रहे अपने पतिके (पथिकके) प्रति कहती है—'अत्र' इत्यादिसे ।

हे प्रियतम, इस जलमें शीतको कुछ भी न गिननेवाली ग्रामीण स्त्रियोंको देखो,

इच्छसि ता अनुगन्तुं
नाऽहं ते वल्लभा व्रजामीति ॥ ७ ॥
कुपितां तामनुनेतुं
यत्नपरः पान्थ एष पथि कान्ताम् ।
अवलोकय नरनायक
कुसुमलताकुहरकेलितीरवने ॥ ८ ॥
इति हावभावविलसित-
विवलनकोपार्धदृष्टिहसितानि ।
कुर्वाणा वरवनिता
कथयति ते दृश्यतां राजन् ॥ ९ ॥
बकमद्गुशरारूणां नित्यमेकौकसामपि ।
संकरोऽस्ति मिथो बुद्धेर्न मूर्खविदुषामिव ॥ १० ॥
चञ्च्वग्रे खञ्जरीटस्य कीटः किटिकिटायते ।
दौर्भाग्यस्य पुराणस्य पताकेवोच्छ्रितोन्नते ॥ ११ ॥

ये सफेद कमलोंको ले जाती हैं। तुम इनका अनुगमन करना चाहते हो इसलिये मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ, अतएव मैं जाती हूँ ॥ ७ ॥

हे नरनाथ, पूर्वोक्त वचन कहनेवाली रूठी हुई अपनी प्रियाको मनानेके लिए यह बटोही मार्गके पुष्पलता-निकुञ्जोंसे भरे क्रीडातटवनमें बड़े जतनसे अपनी प्रेयसी का अनुनय विनय करता है, कृपया आप देखिये ॥ ८ ॥

कोई पार्श्वचर इसी पथिक जोड़ेके (स्त्री-पुरुषोंके) चरित्रको ढिठाईके साथ कह रही वेश्याको राजाके लिये दिखलाता है—'इति' इत्यादिसे ।

हे राघव, हाव, भाव, विलास, शरीरको मटकाना, कोप, कटाक्ष, और हास कर रही वेश्या उक्त पथिक जोड़ेका चरित्र कहती है, कृपया आप देखें ॥ ९ ॥

बगुला, जलकाक और दूसरोंपर घात करनेवाले मछुए आदि नित्य एक ही जगह रहते हैं, फिर भी मूर्ख और विद्वानोंकी बुद्धिके समान इनकी बुद्धिका आपसमें मेल नहीं है ॥ १० ॥

खञ्जनकी चोंचमें फतींगा पर फड़फड़ाता है, काँपता है। उसका पर फड़फड़ाना क्यों है मानो वह पूर्वजन्मसंचित पापकी ऊँची जगहमें पताका है ॥ ११ ॥

तारं तीरतरौ स रौति तरलो यावद्बकः प्रोल्लसं-
स्तावत्पल्वलगोष्पदेऽम्बुकलिले यावद्बलाद्देहकम् ।
मज्जन्त्या प्रियवक्षसीव निपुणं त्रातं शफर्या भया-
द्धृद्भङ्गेन महापदीह हि मृतेर्नान्यद्भवेत्सौख्यदम् ॥ १२ ॥
बकाजगरमद्गूनां हृदि या प्राणिनां धृतिः ।
अचर्विंतनिगीर्णानां मन्ये निद्रोपमैव सा ॥ १३ ॥
आसन्नमद्गुबकगृध्रबिडालसर्प-
दृष्ट्या भयं भवति यत्सलिलाशयानाम् ।
तस्याऽग्रतस्तृणमिवाऽशनिपातभङ्गो
जातिस्मरेण विदुषोक्तमदः पुरा मे ॥ १४ ॥
इह सरोवरतीरतरोस्तले
कुसुमशालिनि मुग्धमृगान्पुरः ।

छोटी तलैयाके तटके वृक्षपर उल्लासके साथ वह चपल बगुला जब जोरसे बोलता है तब थोड़ेसे जलसे गीले तलैयारूपी गोखुरमें पूर्णशक्तिसे—प्रेमसे प्रियतमकी छातीमें जैसे—भयसे चिपट रही बेचारी मछलीने मरकर भी अपने शरीरकी रक्षा की। इस संसारमें महा आपत्ति प्राप्त होनेपर हृदय फटनेसे हुई मृत्युसे बढ़कर दूसरा सुखप्रद शरण नहीं है। मरकर भी जो उसने अपने शरीरकी रक्षा की, वह भी उचित ही किया ॥ १२ ॥

बगुला, अजगर और जलकाकके पेटमें बिना चबाये निगले हुये मछली आदि प्राणियोंकी जो चित्तस्थिति है, मैं समझता हूँ वह सुषुप्ति-सी (गहरी नींद-सी) या मूर्छा-सी होती होगी ॥ १३ ॥

जलचर मछली आदि जीवोंको समीपमें जलकौआ, बगुला, चील, बिलार, साँप देखनेसे जो भय होता है उस भयके आगे वज्रपातसे हुआ भय तृणके समान नगण्य है। यह रहस्य बात जातिस्मरणसे मछली आदि जलजीवोंकी योनियोंके दुःखका स्मरण करनेवाले विद्वान् पुरुषों द्वारा अनुभूत है, इसे असत्य नहीं समझना चाहिये ॥ १४ ॥

हे राजन्, फूलोंकी राशिसे सुशोभित यहाँ सरोवरके तटके पेड़के नीचे सामने भ्रमर रहनेपर नयन और कानोंकी शोभासे नूतन नील कमल और केतक बिखेर रहे भोले-भाले सुन्दर मृगोंको प्रियाको दिखलाइये ॥ १५ ॥

समवलोकय लोकमलौ बला-
त्समवकीर्णनवोत्पलकेतकान् ॥ १५ ॥
बर्ही प्रोन्नतचित्तत्वात्तोयमिन्द्रं प्रयाचते ।
स पूरयति तेनाऽस्य महात्मा निखिलां महीम् ॥ १६ ॥
मेघाननुसरन्त्येते मयूरास्तनपा इव ।
मलिनो मलिनस्यैव पुत्र इत्यनुमीयते ॥ १७ ॥
मृगानालोक्य पथिकश्चिन्तयन्दयितेक्षणे ।
पुरःस्थेषु पदार्थेषु यन्त्रपुत्रिकतां गतः ॥ १८ ॥
शिखी वार्यपि नाऽऽदत्ते भूमेर्भुङ्क्ते बलादहिम् ।
दौरात्म्यं तन्न जाने किं सर्पस्य शिखिनोऽथवा ॥ १९ ॥
सज्जनाशयनीकाशं त्यक्त्वा बर्ही महत्सरः ।
पिबत्यम्ब्वभ्रनिष्ठ्यूतं मन्ये तन्नतिभीतितः ॥ २० ॥
लसत्कलापजलदाः पश्य नृत्यन्ति बर्हिणः ।
धुन्वानाः पिच्छकान्तीन्दुं प्रावृषः पोतका इव ॥ २१ ॥

मोर क्षुद्राशय न होनेके कारण इन्द्रसे जल माँगता है, अत्यन्त उदार इन्द्र अक्षुद्रचित्तत्वरूप गुणसे सन्तुष्ट होकर मोरकी प्रसन्नताके लिये सारी पृथ्वीको जलसे पूर्ण कर देता है ॥ १६ ॥

ये मोर बछड़ेकी तरह मेघोंके पीछे-पीछे चलते हैं, मलिन मलिनका ही बच्चा है, ऐसा अनुमान होता है ॥ १७ ॥

पथिक मृगोंको देखकर सामनेकी वस्तुओंमें प्रियाके नेत्रोंका चिन्तन करता हुआ कलसे चलनेवाली गुड़िया-सा बन गया है ॥ १८ ॥

मोर भूमिका जल तक ग्रहण नहीं करता, किन्तु साँपोंको जबरदस्ती खा डालता है, यह सर्पका दौरात्म्य है अथवा मोरकी दुष्टता है, यह मैं नहीं जानता ॥ १९ ॥

मोर सज्जनोंके हृदयके समान स्वच्छ महान् सरोवरको छोड़कर मेघ द्वारा थूका हुआ जल पीता है, मालूम पड़ता है उसका मेघका जलपान सरोवरको नमस्कार करना पड़ेगा, इस भयसे है ॥ २० ॥

हे राजन् देखिये, ये मयूर, जिनके पररूपी मेघ चमक रहे हैं जो पिच्छ (परोंके चन्द्रक) रूपी चन्द्रमाको कँपा रहे हैं, वर्षाऋतुके बच्चोंकी नाईं नाचते हैं ॥ ॥

वसने वनवातविसारिणां
चपलचन्द्रकचारुतरङ्गिणाम् ।
इह पयोनिधिरेव कलापिनां
विसृतमुक्ततयेव विलासनः ॥ २२ ॥
चर तृणानि पिबाऽम्बु वनावनौ
कलय विश्रमणं कदलीवने ।
चकितचातक पावकदूषिता
नहि सुखाय भवत्यतिमानिता ॥ २३ ॥
नाऽयं मयूर मकरालयवारिपूर-
पूर्णोदरो जलधरोऽम्बरमारुरुक्षुः ।
दावाग्निदग्धवनपादपकोटराग्र-
धूमावलीवलय उत्थित एष शैलात् ॥ २४ ॥
येनाऽब्देन शरद्विधावपि शिखी संतर्पितो वारिभि-
र्नो वर्षास्वपि पूरयेद्यदि सरस्तद्बालकोचितम् ।

यहाँपर मोतियोंको देनेके कारण सागर ही सुन्दर वनमें वनके वायुसे फैलनेवाले तथा चञ्चल चन्द्रक रूपी सुन्दर तरङ्गोंसे युक्त मयूरोंको नचानेवाला होता है, मेघ नचानेवाला नहीं है, देखिये ॥ २२ ॥

हे चकित चातक, तुम्हारा वनभूमिमें गर्मीके दिन अग्निसे दूषित (सदा अग्निकी संभावनावाले) सूखे पेड़के खोखलेमें निवासके आग्रहसे सूचित अति अभिमानिता सुखके लिए नहीं है। तुम केलेके वनके समीपवर्ती शीतल हरे तिनकों को चरो, नहर आदिमें जल पीओ एवं केलेके वनमें विश्राम लो ॥ २३ ॥

हे मयूर, यह सागरके जलसे भरा हुआ अतः आकाशमें चढ़नेकी इच्छावाला मेघ नहीं है, यह तो पर्वतसे उठी हुई वनाग्निसे जले हुए वनवृक्षोंके खोखलेकी अग्निकी धूमराशि है ॥ २४ ॥

अनावृष्टिके समय भूमिका जल न पीनेवाले मयूरके आशयका कोई अनुचर वर्णन करता है—'येना' इत्यादिसे ।

जिस मेघने शरत् ऋतुमें भी मयूरको जलधाराओंसे तृप्त किया वह वर्षा ऋतुमें भी तालाबको न भरे ऐसा उसका जो चरित्र है, वह बालजनोचित (क्षुद्रोचित) है, उस महान्‌के योग्य नहीं है। उदारताके समयमें भी की गई इस अनुदारताको देखकर पामरों

आरब्धं समवेक्ष्य सज्जनजनो हासेन दुःस्थो भवे-
द्धीत्यात्मतृषैव नेतुमखिलं कालं समभ्युद्यतः ॥ २५ ॥
स्फटिकविमलं पीत्वा तोयं घनोदरनिर्गतं
पिबति न पुनर्मार्गे क्षुभ्यंस्तृषाऽपि शिखी जलम् ।
स्फुरति च घनं स्मृत्वा स्मृत्वा न चाऽपि विपद्यते
गुणवति जने बद्धाशानां श्रमोऽपि सुखावहः ॥ २६ ॥
इहाऽतिवाहयन्त्येते मार्गदौस्थ्यं घनागमे ।
कथाभिः पथिकाः प्रायो विमूढा जीवितं यथा ॥ २७ ॥
पश्याऽत्र नाथ सरसः
कमलोत्पलकुमुदबिसमृणालानाम् ।
कह्लारपत्रपयसां
भारानादाय बालिकाश्चलिताः ॥ २८ ॥

हास किये गये उपहाससे वह सज्जन दुःखी होगा, यह सोचकर मयूर सदाके लिए अपनी प्यास ही न बुझानेके लिए तैयार हो गया ॥२५॥

शङ्का—तो क्या मयूर अनुचितकारी है ?

समा० नहीं, मेघके पेटसे निकला हुआ, स्फटिकसा स्वच्छ जल पीकर मोर प्याससे पीड़ित होकर भी फिर मार्गमें गिरा हुआ कीचड़वाला जल नहीं पीता ।

शङ्का—तब तो वह मारे प्यासके मर जाता होगा ?

समा० नहीं, नहीं, वह मेघका स्मरणकर हर्षित होता है और मरता भी नहीं । क्योंकि गुणवान् पुरुषपर आशा बांधे हुए लोगोंका परिश्रम भी सुखकारी होता है, दुःखद नहीं होता ॥ २६ ॥

यहाँपर ये पथिक लोग बरसातमें कथा-वार्ताके आलाप द्वारा मार्गमें होनेवाली शोचनीय दशाको (वियोगको) वैसे ही बिताते हैं जैसे कि प्रायः मूर्खजन अपना जन्म यापन करते हैं । कान्ताविरही पथिकोंका वर्षा ऋतुमें कहींपर कथालाप आदि-से कष्टपूर्वक वैसे ही समययापन होता है जैसे कि आत्मज्ञानशून्य मूर्खोंका जन्मयापन होता है, यह भाव है ॥ २७ ॥

हे राजन्, यहाँपर तालाबसे कमल, नीलकमल, कुईं, सफेद कमल, भसींड, कमलनाल, रक्तकमल, पत्ते और जलके बोझको लेकर युवतियाँ चलीं ॥ २८ ॥

किमिदं न यथेति ततः
　　पृष्टाभिस्ताभिरुक्तमेतस्य ।
व्यसनज्वरतप्तायाः
　　पथिक वयं बालसख्य इति ॥ २९ ॥
अथ रागरक्तहृदयाः
　　स्तनभरवितता विलासललिताङ्ग्यः ।
पथिकानां स्मरणपथं
　　भूयोऽप्यनयन्प्रियाः स्वगेहस्थाः ॥ ३० ॥
सा नूनं मम कान्ता
　　दृष्ट्वा सुस्निग्धघनतमःश्यामम् ।
गगनं च शून्यगहनं
　　प्रलपति भुवि पतति विस्खलति ॥ ३१ ॥
भृङ्गावलीकुवलयावलिताब्जपात्र-
　　संप्रेर्यमाणनलिनीमधुपानमत्तः ।

इसके बाद इन कमल आदिके बोझोंको क्यों ले जाती हो, यह पूछनेपर उन्होंने पूछनेवालेको (मुझको) यह उत्तर दिया—हे पथिक, हम लोग वियोगरूपी दुःखके ज्वरसे सन्तप्त नायिकाकी बालसखियाँ हैं और उसके उपचारके लिए कमल आदिके बोझोंको ले जाती हैं ॥ २९ ॥

तदुपरान्त प्रेमपूर्ण हृदयवाली, स्तनोंके भारसे नत (झुकी हुई) तथा विविध हावभावोंसे मनोहर अङ्गोंवाली वे ललनाएं देख रहे पथिकोंको उनके घरकी प्रियाओं-का बार-बार स्मरण कराती हैं ॥ ३० ॥

वहाँपर कोई पथिक अपनी प्रियाका स्मरण कर कहता है—'सा' इत्यादिसे ।

वह मेरी प्रिया जलसे भरे मेघरूपी अन्धकारसे काले आकाशको चिकने तथा मेघ और अन्धकारके समान काले शून्यवनको देखकर प्रलाप करती होगी, भूमिपर गिरती होगी तथा चलते-चलते ठोकर खाती होगी ॥ ३१ ॥

हाय, भ्रमरश्रेणी तथा नीलकमलोंसे परिवेष्टित कमलरूप पानपात्रसे (पीने-के बर्तन—कटोरेसे) उडेले जा रहे कमलिनीके मधुको पीनेसे मस्त हुआ और तट-

हा वाति तीरतरुपल्लवलास्यलब्ध-
संमुग्धशब्दगणगीतगुणो नभस्वान् ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० हरिणमयूरकलुग्धादिवर्णनं नामाष्टादशाधिक-शततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः

सहचरा ऊचुः

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके ।
प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम् ॥ १ ॥
एकत्र शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम् ।
दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥ २ ॥

भूमिपर उगे हुए वृक्ष, लता आदिके पल्लवोंके नृत्यसे प्राप्त हुई मधुर गंभीर शब्द-राशिसे प्रख्यापित शीतलता, मृदुता, सुगन्धि आदि गुणोंसे पूर्ण वायु बहता है ॥३२॥

एक सौ अठारह सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नीस सर्ग

[पथिकका अपनी प्रियासे भेंट होनेपर उसके आगे उसके वियोगसे हुई अपनी मरणान्त दशाका वर्णन]

सहचरोंने कहा—राजन् , देखिये, मन्दरकी झाड़ीमें यह पथिक चिरकालके पश्चात् प्राप्त हुई अपनी प्रियाके आगे भूतपूर्व अपनी विरह-कथा कहता है ॥ १ ॥

प्रियाके आगे उससे वर्णित विरहकथाका वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधता है—'एकत्र' इत्यादिसे ।

हे प्रिये, तुम्हारे वियोगकी अवस्थामें मेरी एक दिन हुई आश्चर्यपूर्ण दुर्घटनाको सुनो । तुम्हारे समीप अपना समाचार भेजनेके लिये दूतका विचार करते-करते विचारमग्न हुए मैंने यह कहा ॥ २ ॥

अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।
नैवाऽस्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै
प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥ ३ ॥
आ एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः ।
विद्युल्लताविलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः ॥ ४ ॥
भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयाऽऽत्मानिलैः ॥ ५ ॥
चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती ।
न जाने क्वाऽधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥ ६ ॥



इस महाप्रलयकालके तुल्य वियोगमें (विरहरूप महती आपत्तिमें) यहाँपर स्थित मुझे समाचार पहुँचाने द्वारा उससे (मेरी प्रियासे) संमानित-करनेके लिये जो मेरे घर जाय ऐसा दयालु दूत कौन होगा ? जो दूसरेके दुःखकी निवृत्तिके लिये प्रेमसे सरलतापूर्वक सदा प्रयत्न करे, ऐसा पुरुष संसारमें है ही नहीं ॥ ३ ॥

हाँ याद आई, सामने पर्वत-शिखरपर यह दिखाई दे रहा मेघ प्रेमसे सदा परदुःखको निवृत्त करना आदि गुणोंसे युक्त है। यह कामदेवके घोड़ेके समान शीघ्र मेरे घर जा सकता है । परोपकारमें परायण यह बिजलीकी रेखारूप विलासवती नायिकासे वेष्टित हो स्थित है ॥ ४ ॥

अरे भाई मेघ, तुम्हारे गलेमें गुण है यानी तुम गुणवान् हो। गुणशाली अपने योग्य इन्द्रधनुषको लेकर, हे सुन्दर आकाशमार्गचारी, तुम मेरी प्रियाके समीप जाकर जिनसे जलकी बूँदें गिर रही हों ऐसे अपने वायुओंसे पहले उसे ढाढस देना फिर मेरा सन्देश पहुँचानेके लिये धीरे धीरे गर्जना, क्षणभरके लिये दया करना, कारण कि तुम्हारे गंभीर गर्जनको मेरे वियोगदुःखसे अश्रुपूर्णमुखी बालकमलनालके सदृश कोमल शरीरवाली कृशाङ्गी मेरी प्रिया सहनेमें असमर्थ है ॥ ५ ॥

हे मेघ, उस प्रियाका चित्तरूपी तूलिकासे हृदयरूपी आकाशपर चित्र लिखकर मैंने आलिङ्गन किया, अभी ही न मालूम वह यहाँसे कहाँ चली गई ॥ ६ ॥

इत्थं चिन्तापरवशमतेस्तन्वि सार्धं त्वयाऽसा-
वन्तर्लीनप्रसरमनसः क्वाऽपि याता स्मृतिर्मे ।
संपन्नोऽहं परवशवपुः काष्ठकुड्योपमाङ्गो
भङ्गं सोढुं क इव विरहक्लेशजं नाम शक्तः ॥ ७ ॥
पश्चाज्जातः कलकलरवः संतते पान्थसार्थे
दीनालापैर्व्यसनविधुरैरालपन्ते च मेघम् ।
कष्टं पान्थो मृत इति महारम्भसंपन्न हाहा-
शब्दः प्रोद्यत्पथिकवनितविस्मृतोरःप्रहारः ॥ ८ ॥
लोकेऽनायं मृत इति ततो वाष्पसंपूरिताक्षं
शावीं पूजां विरचितवता संचयीकृत्य दारु ।
दग्धुं नीतोऽस्म्यतिभयमहं प्रज्वलच्चित्यनन्त-
प्रोद्यत्स्फोटस्फुटपटपटारावरौद्रं श्मशानम् ॥ ९ ॥
तत्राऽहं तैः कमलवदने वाष्पपूर्णाक्षिपक्षै-
र्न्यस्तः कैश्चिच्चितिशयनके बद्धलोकालिलेखे ।

हे कृशाङ्गि, इस तरह मेघसे कहकर तुम्हारी चिन्तासे पराधीन बुद्धिवाले मेरे मनका व्यापार भीतर ही भीतर लीन हो गया, अतएव तुम्हारे ही साथ मेरी स्मृति (पूर्वापरके अनुसन्धानकी शक्ति) भी गुम हो गई। तदुपरान्त स्मृतिनाशसे मेरा शरीर बेकाबू हो गया और मेरे सब अवयव काष्ठलोष्ठके समान निश्चेष्ट हो गये। भला वियोगदुःखसे उत्पन्न पराभवको कौन सह सकता है ॥ ७ ॥

तदनन्तर मेरी वैसी अवस्था देखकर एकत्र हुए जनसमूहमें महा हाहाकार मचा और देखनेके लिये आ रही पथिकमहिलाओंका भी छाती पीटना भूलकर अहा बेचारा पथिक मर गया ऐसा कोलाहल हुआ। वहाँपर किन्हींने दुःखभारसे रुँधे हुए स्वरवाले दीनतापूर्ण आलापोंसे मेघकी निन्दा की ॥ ८ ॥

उसके पश्चात् पथिक लोगोंने यह मर गया है, ऐसा निश्चय कर आँखोंमें आँसू भर कर शवोचित पूजा (चन्दन, माला आदिसे सजावट) की तथा लकड़ियाँ इकट्ठा कर मुझे जलाने के लिये जल रही चिताओंसे निकल रहे पटपट फटफट शब्दोंसे उद्वेजक तथा अत्यन्त भीषण श्मशानमें ले गये ॥ ९ ॥

हे कमलाक्षि, वहाँपर अश्रुपूर्ण नेत्रराजिवाले कुछ पथिकोंने मुझे चितारूपी शय्या-पर रक्खा। वहाँपर चारों ओर लोकपक्तियोंकी तरह जिसकी पंक्ति बँधी थी, धूम-

धूमोद्गाराविरलजटिले मस्तके मत्तमृत्यो-
　　श्चूडारत्नोत्तम इव कलामात्रदृश्येऽग्निहेम्नि ॥ १० ॥
अस्मिन्काले कुवलयलताकोमला धूमलेखा
　　नासारन्ध्रं मृदुगलबिलं मे प्रवृत्ता नियातुम् ।
उष्णा कृष्णा नकुलकलिता सत्वरं बालसर्पी
　　भूमे रन्ध्रं तनुमिव दराद्दैर्घ्यसंकोचकुब्जा ॥ ११ ॥
त्वत्संकल्पामृतकवचितो नाऽपविद्धस्तयाऽहं
　　कुन्तश्रेण्या दृढपतनया वज्रकायो यथाऽजः ।
त्वामासन्नां मदनसरितं हृद्गृहे गाहमानो
　　मर्मच्छेदेष्वपि विलसिता नाऽविदं वेदनास्ताः ॥ १२ ॥
एतावन्तं समयमुचितं तन्वि सार्धं त्वयाऽन्त-
　　र्लीलालोलं हृदि चिरतरं तन्मयाऽत्राऽनुभूतम् ।
यस्मिन्दृष्टेऽमृतहृद इवोन्मज्जनौचैर्यथाऽसौ
　　राज्याभोगो विशसनमिवाऽल्पाल्पमेवेति बुद्धिः ॥ १३ ॥

राशिके उद्गारसे निरन्तर जटायुक्त (व्याप्त), मदोन्मत्त मृत्युके मस्तकपर उत्तम चूडामणिके सदृश प्रकाशमान अग्निरूप सोनेके थोड़ी-बहुत दृश्य होनेपर नीलकमललताके समान कोमल, गरम, काली, दीर्घताके संकोचसे कुबड़ी, धूमपंक्ति कोमल गलेके सूराख और नासिकारन्ध्रमें, नकुलसे भयभीत हुई नीलकमलनालके समान कोमल, गरम, काली, दीर्घताके संकोचसे छोटी बनी हुई बालसर्पिणी छोटे भूमिके छेदमें जैसे प्रवेश करती है वैसे ही प्रवेश करनेके लिए प्रवृत्त हुई ॥ १०, ११ ॥

हे प्रिये, मैं तुम्हारे आकाररूप अमृतसे कवचित था, अतएव कवचावृत मुझको उक्त धूमपंक्तिने वैसे ही पीड़ा नहीं पहुँचाई जैसे कि वज्राङ्ग ब्रह्माजीको जोरसे छोड़ी गई मृत्युके भालोंकी श्रेणीने पीड़ित नहीं किया और हृदयरूपी गृहसमीपवर्तिनी कामनदीरूपा तुममें गोते लगा रहे मुझको अग्निदाहसे भी मर्मच्छेद होनेपर उत्पन्न हुई पीड़ा मालूम न होती केवल धुएँसे तो क्योंकर पीड़ा होती ? ॥१२॥

हे कृशाङ्गि, मूर्च्छावस्थामें इतने कालतक अपने हृदयमें तुम्हारे साथ मैंने लीलामनोहर जिस सुखका अनुभव किया, वह अभूतपूर्व था। अमृतके कुण्डमें गोते लगानेसे जैसा सुख होता है वैसा ही वह सुख था। उस सुखका अनु-

सा लीला ते विलासा वचनमपि च तत्तत्स्मितं ते कटाक्षाः
सानन्दानन्तरस्य प्रसरसमुचिता दूरमण्येकभूषा ।
तानीहारावसारावहसनचलनावेगविक्षोभितानि
किंवा तत्तन्न यत्संस्मृतममृतरसाह्लादमन्तः करोति ॥ १४ ॥

त्वत्संगमे सुरतसौख्यरसायनेन
बाले ततोऽहमतितृप्ततया श्रमार्तः ।
तत्र स्थितो मृदुनि तल्पतले शशाङ्क-
बिम्बे शरच्छिशिरनिर्मलशोचिषीव ॥ १५ ॥

अत्राऽन्तरे झटिति चन्दनपङ्कशीता-
द्दीर्घादिवेन्दुशकलादशनिः सशब्दः ।
दृष्टो मया चितितलज्वलितो हुताशः
क्षीराब्धिवाडवनिभोऽङ्गगतः स्वतल्पात् ॥ १६ ॥

भव होनेपर यह प्रसिद्ध त्रैलोक्यराज्यके आधिपत्यसे होनेवाला सुख भी पूर्ववर्णित मर्मच्छेदन-दुःखके समान तुच्छ ही है, ऐसी मेरी राय है ॥ १३ ॥

हे प्रिये, तुम्हारी वह केवल स्वानुभवसे ज्ञेय निरतिशयानन्दरूप अनुपम लीला, वैसे ही भौंह मटकाना आदिरूप विलास, वैसा ही आनन्दमय वचन, वैसा ही मुस्काना, वैसे ही कटाक्ष तथा वही प्रधान अलङ्काररूप मणिमयी एकावली रहित आभ्यन्तरिक आनन्दके उचित आलिङ्गन, वैसी ही नखक्षत आदि चेष्टाएँ, वैसा ही रतिकूजित, वैसे ही हँसना, चलना, चित्तविक्षोभ आदि थे। इनमेंसे जिसका स्मरण हृदयमें अमृत-रसाह्लाद न करे ऐसा कोई न था सभी हृदयमें आह्लाद पैदा करते ही थे ॥ १४ ॥

हे मुग्धे, उसके पश्चात् मैं तुम्हारे संगमसे अतितृप्त होनेके कारण थकनेसे शिथिल होकर वहांपर कोमल शय्यापर, जो शरत् ऋतुमें शीतल निर्मल किरणोंसे युक्त चन्द्रबिम्ब जैसी स्वच्छ थी, लेट गया ॥ १५ ॥

इस बीचमें एकाएक मैंने जैसे चन्दनपङ्कके सदृश शीतल विशाल चन्द्रबिम्ब-से मेघनिर्घोषके साथ वज्र निकले वैसे ही अत्यन्त असंभावनीय अपनी शय्यासे निकली अपनी देहसे स्पष्ट शब्दयुक्त चिताके नीचे जली हुई अग्निको क्षीरसागरके बड़वानलके समान देखा ॥ १६ ॥

सहचरा ऊचुः

इत्युक्तवति कान्तेऽस्मिन् हा हताऽस्मीति वादिनी ।
मुग्धा मौग्ध्याद्दरावर्तशङ्कया मूर्च्छिता स्थिता ॥ १७ ॥
तामेनामेष नलिनीदलवीजेन वारिभिः ।
आश्वासयंस्तथावस्थां कण्ठेकृत्वाऽत्र संस्थितः ॥ १८ ॥
पुनः पृष्टोऽनया वक्ति पश्य तामेव संकथाम् ।
एष पार्श्वगतामेनां गृहीत्वा चिबुके प्रियाम् ॥ १९ ॥
हाहा हुताश इति किंचिदिवोपजात-
खेदो वदामि खलु यावदहं त्वरावान् ।
तावच्चितिर्झटिति तैरवलुण्ठिता सा
पान्थैः क्षणात्खरखराकुलिता लसद्भिः ॥ २० ॥
पान्थास्ततस्तरलतालविलासवाद्य-
मालिङ्ग्य मामतनुशेखरपूरिताङ्गम् ।
उत्थापितस्थितिमलं परिवार्य सर्वे
नेदुर्जगुर्जहसुराननृतुर्ववल्गुः ॥ ॥ २१ ॥

सहचरोंने कहा—राजन् , उक्त प्रियके ऐसा कहनेपर 'हा मैं मरी' कहती हुई वह मुग्धा नायिका मुग्धतावश महान् प्रलयकी आशङ्कासे मूर्च्छित हो गई ॥ १७ ॥

मूर्च्छित अपनी प्रियाको यह बेचारा पति नलिनीके पत्तोंके पङ्खेसे तथा जल-सेकसे प्रकृतिस्थ करता हुआ मूर्च्छित प्रियाको गले लगाकर यहां मन्दराचलके निकुञ्जमें बैठा है ॥ १८ ॥

फिर प्रियाके पूछनेपर देखो यह उसी कथाको पासमें बैठी हुई अपनी प्रिया-से उसकी ठुड्डी पकड़कर कहता है ॥ १९ ॥

हे प्रिये, मुझे जब आगकी लपटोंसे कुछ पीड़ा हुई तो ज्योंहीं मैंने घबराहटके साथ 'अरे अरे आग' कहा त्योंही झटपट आनन्दमें मग्न हो रहे पथिकोंने खड़खड़ (चटचट) शब्दसे व्याप्त वह चिता सब लुआठियोंको हटाकर क्षणभरमें शान्त कर दी ॥ २० ॥

तदुपरान्त मरे हुएके पुनः जी जानेसे उत्पन्न हुए हर्षवश पथिक लोग चञ्चल तालियोंके विलासरूपी बाजेके साथ मुझे चितासे उठाकर बहुतसी माङ्गलिक पुष्प-मञ्जरियोंसे मेरे शरीरको विभूषित कर, मुझे गले लगाकर, सब मेरे चारों ओर खड़े

विषमविनायकसुखदं
वलितं भस्माहिशवशिरःप्रकरैः ।
शशिधवलास्थिकपालं
वपुरिव रौद्रं श्मशानमथ दृष्टम् ॥ २२ ॥

पार्श्वच्छायां हरन्तो विचलितविदलक्लिन्नकङ्कालगन्धा-
स्तन्वन्तो भूरिभस्मप्रविततमिहिकामाधुनानाः शवानाम् ।
केशानाकाशकोशे शशिगलितशराकारिणः शाङ्कराणा-
मस्थीनां टांकृतेनाऽऽरचितखरगिरस्तत्र वाता वहन्ति ॥ २३ ॥

ज्वलदनलचितिप्रवाहनिर्य-
त्पवनहतोष्मविशुष्कपर्णवृक्षा ।
ज्वलनपवनभास्करात्मजानां
रमणगृहानुकृतिं बिभर्ति सा भूः ॥ २४ ॥

हो गये । मेरे पुनरुज्जीवनके हर्षसे सबने अट्टहास किया, गाया, सब खिलखिलाये और नाचे एवं घरको आये ॥ २१ ॥

इसके पश्चात् मैंने संहारकारी रुद्रके शरीरके समान भीषण श्मशान देखा, वह अति विकट नायकहीन पिशाच आदिके लिये सुखकारी था, राख, माँस और मुर्दोंकी खोपड़ियोंके ढेरोंसे व्याप्त था तथा चन्द्रमाके सदृश सफेद हड्डियाँ और कपाल उसमें बिखरे थे । संहाररुद्रका शरीर भी विकट विनायक आदि गणोंको सुखदायक है, विभूति, सर्पहार और शवकपालोंसे व्याप्त है और चन्द्रकिरणोंसे शुभ्र मुण्डमालाएँ भी उसमें हैं ॥ २२ ॥

भगवान् शङ्करके आभूषणयोग्य हड्डियोंके टङ्कारसे कठोर शब्द करनेवाले वायु वहाँपर बहते थे, वे समीपवर्ती वनकी हरियालीको राख उड़ाकर हर रहे थे, गल रहे सड़े-पड़े नरकङ्कालोंकी दुर्गन्धको फैला रहे थे, प्रचुर भस्मराशिसे गाढ़ हुए कुहरेको उड़ा रहे थे, मुर्दोंके बालोंको इधर-उधर उड़ा रहे थे और आकाशरूपी तरकसमें चन्द्रमासे गिरे हुए बाणोंका-सा उनका आकार था ॥ २३ ॥

वह श्मशान भूमि, जिसके वृक्षोंके पत्ते धधकती हुई अग्निवाली चिताओंके प्रवाहरूपसे निकल रहे धुएँ और चिनगारियोंसे पूर्ण वायुसे मुरझाकर सूख गये थे, अग्नि, वायु और शनैश्चरकी क्रीडाके योग्य घरके तुल्य लक्षण धारण करती है ॥२४॥

दृष्टं श्मशानं तदनन्तभीमकरङ्ककङ्कालघनामगन्धि ।
माद्यच्छिवावायसकङ्कगृध्रपिशाचवेतालविरावरौद्रम् ॥ २५ ॥
आनीतनानाशवबन्धुसार्थसंरोदनाह्लादिदिगन्तकुञ्जम् ।
खगावकृष्टार्द्रशिसन्त्रतन्त्रीनिबद्धदग्धद्रुमखण्डजालम् ॥ २६ ॥
क्वचिच्चितिक्षोभकृतप्रकाशं क्वचिन्महाकेशकृताब्दवृन्दम् ।
क्वचिच्च रक्ताक्तधरावितानं नक्तंस्तनत्यभ्रमिवाऽस्तशैलम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वा०
उ० अवि० विपश्चि० पथिकविरहवृत्तवर्णनं नाम
एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

मैंने वैसा श्मशान देखा, जो असंख्य भीषण आधे जले नरकङ्कालोंसे अत्यन्त दुर्गन्धिपूर्ण था और मतवाले सियारों, कौओं, चीतों, गीधों, पिशाच और वेतालोंकी चिल्लपोंसे भयङ्कर था ॥ २५ ॥

वहाँपर जलानेके लिये लाये गये नाना मुर्दोंके बन्धु-बान्धवोंके रोनेधोनेसे उसके दिगन्त और झाड़ियाँ गूँजती थी, उसमें कौए, चील आदिसे खींची गई गीली अँतड़ियोंसे अधजले पेड़ और लताएँ बँधी थीं ॥ २६ ॥

कहींपर चिताओंके संचालनसे महान् प्रकाश हो जाता था, कहींपर बहुत बड़ी केशराशि द्वारा वहाँ बादलके समूहसे बनाये गये थे, कहींपर पृथिवीतल रुधिरधारासे लथपथ था, अतएव रात्रिके समय शैलशून्य वह गरज रहे मेघसा शब्द करता था ॥ २७ ॥

एक सौ उन्नीस सर्ग समाप्त

विंशाधिकशततमः सर्गः

सहचरा ऊचुः

एवंप्राया: कथाः कुर्वत्पश्यैनन्मिथुनं महत् ।
पानं प्रवृत्तवत्सारं पातुं पद्मनिभेक्षण ॥ १ ॥
कदलीकन्दलीस्वच्छगुच्छाच्छोटनपण्डिताः ।
विविधा वायवो वान्ति पुष्पकेसरमण्डिताः ॥ २ ॥
वान्ति वाता वनोद्भ्रान्तविविधामोदमांसलाः ।
पीतघर्मकणाः कान्तललनालकलालकाः ॥ ३ ॥
कुलाचलगुहागेहवलनोद्यन्मृगाधिपाः ।
सरन्त्यसुरसंरम्भैर्लवणार्णवमारुताः ॥ ४ ॥
तमालतालतरललीलान्दोलनलालिताः ।
अनिला जलकल्लोलोत्क्रान्तकोमलपल्लवाः ॥ ५ ॥

एक सौ बीस सर्ग

[वायु, वृक्ष, भ्रमर, वनराजि, देवाङ्गना, समुद्रकी लहर, सुवर्णचूड पक्षी आदिका वर्णन]

सहचरोंने कहा—हे कमलनेत्र इस तरहकी वियोगकालिक कथाएँ कह रहा यह स्त्री-पुरुषका जोड़ा इस समय उत्तम आसवपान करनेके लिये प्रवृत्त है, इसे आप देखिये ॥ १ ॥

कोई सहचर विविध वायुओंका वर्णन करता है—'कदली' इत्यादिसे ।

केलेके गोफोंके सुन्दर गुच्छोंको फुलानेमें पण्डित तथा फूलोंके परागोंसे विभूषित ये अनेक प्रकारके वायु बहते हैं ॥ २ ॥

वनोंसे निकली हुई भाँति-भाँतिकी सुगन्धियोंसे हृष्टपुष्ट, स्वेदबिन्दुओंका पान करनेवाले तथा ललनाओंके इधर उधर बिखरे हुए कुन्तलोंको (मुँहकी ओर लटके केशोंको) नचानेवाले वायु बहते हैं ॥ ३ ॥

कुछ पर्वतोंके गुफारूपी गृहोंमें पैठकर घूमनेमें उद्योगी सिंहोंकी तरह क्षार-समुद्रके वायु, राक्षसोंके-से सुमेरुशिखराक्रमणके उद्योगोंसे बहते हैं ॥ ४ ॥

तमाल और ताड़के पेड़ोंमें चञ्चल बच्चोंकी तरह क्रीड़ाके झूलनोंसे झुलाये गये, जलतरङ्गोंसे उछलकर वृक्षाग्रोंके कोमल पल्लवोंपर आक्रमण करनेवाले तथा नाच रही

ललन्नवलतावान्तपुष्पधूलिविधूसराः ।
सरन्ति मरुतो मन्दमुद्यानेषु नृपा इव ॥ ६ ॥
मधुरं वंशविश्रान्तो गातुमेष वनानिलः ।
प्रवृत्तः पाण्डुनगरनारीभिरिव शिक्षितः ॥ ७ ॥
निकारः कर्णिकारेण पवनस्य यदा कृतः ।
तदा परिहरन्त्येनं भ्रमरा अपि दूरतः ॥ ८ ॥
न ददाति फलं किंचिदर्थिने न च पल्लवम् ।
तालः स्तम्भतयाऽऽरम्भं ह्यरूपैव विनाऽऽकृतिः ॥ ९ ॥
राग एव हि शोभायै निर्गुणानां जडात्मनाम् ।
राजेव राजते राजन्रागेणैवैष किंशुकः ॥ १० ॥
आगच्छ कर्णिकारोऽयं विकारस्यैव भाजनम् ।
निरामोदः किमेतेन निर्गुणेनेव जन्तुना ॥ ११ ॥

नवीन लताओंसे निकली हुई पुष्पधूलियोंसे धूसर वायु उद्यानोंमें राजाओंकी तरह मन्दगतिसे चलते हैं ॥ ५,६ ॥

बाँसोंके वनमें विश्राम लेता हुआ यह वनवायु हस्तिनापुरकी नारियोंसे सिखलाया गया हुआ-सा मीठा गाना गानेके लिए तयार हुआ है ॥ ७ ॥

जबसे कर्णिकारने सुगन्धि, पराग आदि न देकर वायुका तिरस्कार किया तभीसे भ्रमर भी इसका (कर्णिकारका) दूरसे त्याग करते हैं, इसके समीप नहीं जाते हैं ॥ ८ ॥

तालका पेड़ खम्भेकी तरह सीधा होता है, अतः उसपर कोई चढ़ नहीं सकता। इसीलिए वह किसी अर्थीको न फल देता है और न पल्लव ही देता है। इनकी अति उन्नत भी आकृति अर्थियोंके अभिलाषकी पूर्तिके बिना शोभा नहीं देती ॥ ९ ॥

उदारता आदि गुणोंसे रहित मूर्खोंकी वस्त्र, अलङ्कार आदिके आडम्बरसे शरीरकी सजावट ही शोभाके लिए होती है, अन्य कुछ नहीं। राजन्, यह फूला हुआ पलाशका पेड़ फूलोंकी सजावटसे ही राजाके तुल्य मालूम पड़ता है ॥१०॥

आओ, यह सुगन्धिरहित कर्णिकार विषादरूप चित्तविकारका ही पात्र है, व्यर्थ ही हमने इसका आश्रय लिया है। निर्गुण जीवके तुल्य इसके अनुसरणसे क्या लाभ है? ॥ ११ ॥

विलोलमञ्जरीजालतडित्सङ्गस्थितोऽसितः ।
चातकस्याऽम्बुदभ्रान्तिं तमालः कुरुते मुधा ॥ १२ ॥
पत्राला घनसंघाताः सच्छायावृतभूभृतः ।
गुणानां महतां योग्या वंशा वंशा इवोन्नताः ॥ १३ ॥
हेमसान्वासनस्थोऽग्र्यो वातव्याधितटोऽम्बुदः ।
तडित्पीताम्बरं धत्ते क्षुब्धं हरिरिवोद्धवः ॥ १४ ॥
प्रवेशनिर्गमव्यग्रतरत्खगशिलीमुखः ।
प्रफुल्लकिंशुको भाति वीरो रक्त इवाऽसृजा ॥ १५ ॥
मन्दारमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराम्भोदमन्दिरे ।
महेन्द्रमस्तके मत्ताः सुप्ता गन्धर्वकामिनः ॥ १६ ॥

चञ्चल मञ्जरीराशिरूपी बिजलीके संगसे युक्त तथा काला तमालवृक्ष चातकको व्यर्थ ही मेघकी भ्रान्ति कराता है ॥ १२ ॥

ये ऊँचे बाँस उन्नत कुलके समान हैं। उन्नत कुलके लोग पर्णोंसे (वाहनोंसे-रथ, हाथी, घोड़े आदिसे) विभूषित होते हैं तो ये पर्णोंसे (पत्तोंसे) विभूषित हैं। उन्नत कुलोंका संघ दुर्भेद्य होता है तो इनका भी संघ दुर्भेद्य है, उन्नत कुलके जन सज्जनोंके उपकारके लिए राजाओंका आश्रय स्वीकार करते हैं, तो इन्होंने उत्तम छायाओंसे पर्वतोंको आच्छादित कर रक्खा है। उन्नत कुलके जन सन्मान आदि महान् गुणोंके योग्य होते हैं, तो ये (बाँस) धनुषावस्थामें प्रत्यञ्चारूप गुणोंके योग्य हैं। यों इन बाँसोंकी उन्नत कुलोंके साथ पूर्णरूपेण समता है ॥ १३ ॥

जैसे सुवर्णमय शिखररूप आसनपर बैठनेवाला अतएव अग्रिमें स्थित होनेवाला वायुरूप व्याधिसे युक्त ओर-छोरवाला यह मेघ बिजलीसे पीले आकाशको क्षुब्ध करता है वैसे ही सुवर्णमय शिखरके तुल्य आसनपर बैठनेवाले, सर्वश्रेष्ठ, वात-व्याधिसे (उद्धवसे) युक्त सन्निधिवाले उत्कृष्ट ऐश्वर्यसम्पन्न हरि चमचमा रहे बिजलीके सदृश पीताम्बरको धारण करते हैं यों हरि और मेघकी समानता है ॥ १४ ॥

प्रवेश और निर्गममें उतावलीवाले पक्षी और भ्रमररूपी बाण जिसमें संचार कर रहे हैं ऐसा यह फूला हुआ पलाशका वृक्ष रुधिरसे लथपथ वीरके तुल्य मालूम पड़ता है ॥ १५ ॥

महेन्द्रपर्वतके शिखरपर मन्दारमञ्जरियोंकी राशियोंसे पीले मेघरूपी मन्दिरमें ये कामी गन्धर्व मद्यपानसे मत्त होकर सोये हैं ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमवनच्छायाविश्रान्ता विततान्विताः ।
पश्य पार्थिव गायन्ति सिद्धविद्याधराध्वगाः ॥ १७ ॥
पश्य कल्पद्रुमस्याऽस्य पल्लवे पल्लवे वने ।
विश्रान्ताः सुरसुन्दर्यो गायन्ति च हसन्ति च ॥ १८ ॥
मन्दिरं मन्दपालस्य मन्दरे मृदुमन्दिरे ।
मुनेरिदमुदारस्य भार्या सा यस्य पक्षिणी ॥ १९ ॥
अन्योन्यामतसिंहेभनकुलोरगकेलिकाम् ।
पश्य मुन्याश्रमश्रेणिं सर्वर्तुकुसुमद्रुमाम् ॥ २० ॥
विद्रुमद्रुममिश्राणामम्भोधितटवीरुधाम् ।
बिम्बितार्काः रुचन्त्येते पल्लवेषूदबिन्दवः ॥ २१ ॥
वीचयो रत्नमाणिक्यपदेष्वावर्तवृत्तिभिः ।
विलसन्ति विलासिन्यो वक्षःस्विव विलासिनाम् ॥ २२ ॥
नागलोकेन्द्रलोकस्त्रीगमनागमनोद्भवः ।
दिव्यो भूषणझांकारः श्रूयते नभसः शृणु ॥ २३ ॥

हे राजन् देखिये, कल्पवृक्षोंके वनकी शीतल छायामें विश्राम कर रहे, उत्तम उत्तम वीणा आदि बाजोंसे युक्त ये सिद्ध और विद्याधर गाते हैं ॥ १७ ॥

महाराज देखिये, इस कल्पद्रुमके वनमें पल्लव पल्लवपर बैठी हुई (विश्राम कर रहीं) देवाङ्गनाएँ गाती हैं और हंसती हैं ॥ १८ ॥

सुन्दर सुन्दर मन्दिरोंसे भरे हुए मन्दराचलपर मन्दपाल मुनिका यह मन्दिर है, जिस उदार मन्दपालकी वह प्रसिद्ध जरिता नामकी गृध्री भार्या है ॥ १९ ॥

राजन्, ये मुनिजनोंके आश्रम, जिनपर जातिवैरका परित्यागकर आपसमें गाढ़ा स्नेह रखनेवाले सिंह-हाथी, नकुल-साँप आदि प्रेमक्रीड़ा करते हैं तथा ये सब ऋतुओंमें फूल देनेवाले वृक्षोंसे पूर्ण हैं, देखिये ॥ २० ॥

मूँगोंके वृक्षोंसे उलझी हुई सागरतटकी लताओंके पल्लवोंपर जलबिन्दु, जिनपर सूर्यका प्रतिबिम्ब है, शोभित होते हैं ॥ २१ ॥

रत्न और मणियोंकी खानोंमें लहरें बार बार परिवर्तनों द्वारा वैसे ही क्रीड़ा करती हैं जैसे कि हाव-भाववाली युवतियाँ अपने विलासी पतियोंके वक्षस्थलोंपर बारबार परिवर्तनोंसे क्रीड़ा करती हैं ॥ २२ ॥

राजन् सुनिये, नागलोक और इन्द्रलोककी स्त्रियोंके गमनागमनसे होनेवाला

श्रवणोपान्तविभ्रष्टमदमत्तालिनीस्वरैः ।
ऐरावणस्नानभुवो गायन्तीव गुहा गिरेः ॥ २४ ॥
हसतोऽनुदिनं कृष्णपक्षे कृष्णान्तलेखिकाः ।
दृश्यन्ते कृशगात्रस्य वास्तुकावलयोऽम्बुधेः ॥ २५ ॥
आमोदगन्धश्वसना सच्छायाशीतलाङ्गिका ।
एकान्तदर्शिताकारा नानाकुसुमपूरिता ॥ २६ ॥
वनविन्यासवसना निर्झरामलहासिनी ।
आस्तीर्णपुष्पास्तरणा धन्या वनविलासिनी ॥ २७ ॥
रमन्ते नन्दनोद्याने न तथोदारबुद्धयः ।
यथोपशान्तशब्दासु शुद्धासु वनभूमिषु ॥ २८ ॥
सुविरक्तं मुनेश्चेतो रक्तं च विषयार्थिनः ।
रमयन्ति समं रम्या विजना वनभूमयः ॥ २९ ॥

मनोहर आभूषण-झङ्कार आकाशसे सुनाई देता है ॥ २३ ॥

ऐरावतके गण्डस्थलसे गिरे हुए मदजलसे मस्त हुई भ्रमरियोंकी गुञ्जारध्वनियोंसे ऐरावतके स्नानस्थानरूप पर्वतकी गुफाएँ मानो गाती हैं ॥ २४ ॥

कृष्णपक्षमें दिनपर दिन घट रहे अतएव कृशकाय सागरको कृष्णान्तरेखारूप पङ्क्तियाँ निवास स्थानरूप वेलातटपर दिखाई देती हैं ॥ २५ ॥

कोई सहचर दो श्लोकोंसे वनोंका ही विलासिनीके (स्त्रीके) रूपसे वर्णन करता है—'आमोद०' इत्यादिसे ।

वनरूपी विलासिनी धन्य है । वनका मनोहर गन्ध ही इसका सुगन्धित निश्वास है । सुन्दर घनी छाया ही शीतल अङ्ग हैं, यह (वनभूमि) एकान्तमें भगवदाकारको दिखलानेवाली है (और नायिका एकान्तमें अपने रूपको दिखलानेवाली है) । भाँति-भाँतिके आभूषणरूप पुष्पोंसे भरी है, वृक्षोंका निबिड़ विन्यास ही इसके वस्त्र हैं । निर्झर (झरना) ही निर्मलहास है एवं इसने फूलोंकी सेज बिछाई है । [वनभूमि और विलासिनी दोनोंमें सब विशेषण लगाने चाहिये] ॥ २६, २७ ॥

उदारमति देववृन्द आदि नन्दनवनमें वैसा आनन्द नहीं लेते जैसा कि सून-सान (शब्दशून्य) शुद्ध वनभूमियोंमें आनन्द लूटते हैं ॥ २८ ॥

अत्यन्त विरक्त मुनिके चित्तको और अनुरक्त विषयी पुरुषके चित्तको मनोहर-निर्जन वनभूमियाँ एकसा आनन्द देती हैं ॥ २९ ॥

सलिलाधौतवप्राणामम्भोधितटभूभृताम् ।
नूपुरैरिव रत्नौघैः पादा भान्ति ध्वनन्ति च ॥ ३० ॥
पुंनागनगविश्रान्ताः कान्तकाञ्चनकान्तयः ।
हेमचूडाः खगा भान्ति दिवि देवगणा इव ॥ ३१ ॥
भ्रमराम्भोदधूमाढ्याः फुल्लचम्पककाननाः ।
कम्पन्ते पश्य वातेन ज्वलिता इव पर्वताः ॥ ३२ ॥
कुर्वन्तं करवीराग्रलतान्दोलावदोलकम् ।
कोकिलं कोकिलाऽऽलिङ्ग्य लोला लापयति प्रियम् ॥ ३३ ॥
लसत्कलकलारावमेता लावणसैन्धवीः ।
पूर्णास्तटभुवो भूपैः पश्योपायनपाणिभिः ॥ ३४ ॥
आ पूर्वादा परस्माल्लवणजलनिधेरोत्तराद्दक्षिणाद्वा
देवोदग्राजिशिष्टा इह नरपतयः पादपीठीक्रियन्ताम् ।

सागरके तटवर्ती पर्वतोंके, जिनके तट जलतरङ्गोंसे धोये साफ सुथरे हैं, पाद (तलैटियाँ) समुद्रीय रत्नराशियोंसे नूपुरोंके समान शोभित होते हैं और शब्द करते हैं ॥ ३० ॥

पुंनागके वृक्षोंपर विश्राम कर रहे सुन्दर सुवर्णकी-सी कान्तिवाले हेमचूड़ नामके पक्षी (एक प्रकारका पीला पक्षी) स्वर्गमें देवताओंके समान शोभा पाते हैं ॥ ३१ ॥

भ्रमर और मेघ रूपी धुँएसे पूर्ण फूले हुए चम्पकोंके वन जब वायुसे हिलते हैं तब जल रहे पर्वतसे मालूम पड़ते हैं, देखिये ॥ ३२ ॥

उत्कण्ठित कोयल (मादा) कनेरके पेड़की ऊपरकी शाखारूपी झूलेमें झूल रहे अपने प्रिय कोयलका आलिङ्गन कर मधुर गाना गा रही है ॥ ३३ ॥

हे राजन्, कलकलध्वनिपूर्वक उपायन (भेंट) हाथमें लिये हुए राजाओंसे पूर्ण क्षारसमुद्रकी इन तटभूमियोंको देखिये ॥ ३४ ॥

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर क्षारसागर तक इस जम्बू द्वीपमें भीषण युद्धमें बचे हुए नरपतियोंको अपने चरणोंके आसन बनाइये अर्थात् उनके मस्तकपर पदार्पण द्वारा उनपर अनुग्रह कीजिये। और तत्-तत् मण्डलोंकी पृथिवीका प्रत्येक दिशामें चिरकाल तक रक्षाके लिए शास्त्रानुसार (नीतिशास्त्रमें वर्णित प्रकारसे) समाधान-

दीयन्तां मण्डलानां दिशि दिशि च यथाशास्त्रमस्त्राण्यवन्या
रक्षायै क्षान्तिपूर्वं चिरमतुलबलं शान्तया शासनानि ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वाल्मीकीये मोक्षो० निर्वा० उ० अवि० विपश्चि० दिगन्तरवृत्तिवाय्वादिवर्णनं नाम विंशत्यधिकशततमः सर्गः

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तेष्वर्णवतटेष्वेते भूमौ विपश्चितः ।
उपविश्यैतदखिलं चक्रू राज्यप्रयोजनम् ॥ १ ॥
तदा तत्रैव ते वासभूमिं कृत्वा यथाक्रमम् ।
तस्थुर्मण्डलमर्यादां स्थापयामासुरक्षताम् ॥ २ ॥
अथ वर्णयितुं श्रीमांस्तत्प्रतापमिवाऽगमत् ।
संप्रविश्य समुद्रान्तरन्यलोकान्तरं रविः ॥ ३ ॥

पूर्वक शान्त बुद्धिसे शासन दीजिये, उसके पश्चात् अस्त्र-शस्त्र दीजिये और उसके पश्चात् विशाल सेना दीजिये ॥ ३५ ॥

एक सौ बीस सर्ग समाप्त

एक सौ इकीसवाँ सर्ग

[मण्डलमर्यादाकी स्थापना कर अग्निकी शरणमें गये हुए विपश्चितोंका अग्निके वरदानसे दिगन्तोंके दर्शनका उद्योग]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुनायक, इसके बाद उन समुद्रतटोंपर भूमिपर बैठ कर चारों विपश्चितोंने पहले मन्त्रियों द्वारा निवेदित मण्डलमर्यादास्थापनरूप सारा राज्य-प्रबन्ध किया ॥ १ ॥

उस समय पदके क्रमके अनुसार निवासभूमि बनाकर उन्होंने वहींपर निवास किया और मजबूत मण्डलमर्यादाकी स्थापना की ॥ २ ॥

इसके बाद श्रीमान् सूर्य मानो उनके (विपश्चितोंके) प्रतापका वर्णन करनेके लिए समुद्रके अन्दर प्रवेश कर अन्य लोकको (ज्योतिषियोंके मतसे पाताल लोकको

आययौ यामिनीश्यामा मेघलेखेव तानवम् ।
संपादिताहर्व्यापारास्तस्थुः स्वशयनेषु ते ॥ ४ ॥
आसमुद्रं नदीवाहा इव दूरादुपागताः ।
इदं संपादयामासुर्विस्मयाकुलचेतसः ॥ ५ ॥
अहो नु दूरमध्वानं प्राप्ता वयमयत्नतः ।
प्रभावाद्देवदेवस्य वह्नेर्दिव्यैः स्ववाहनैः ॥ ६ ॥
कियती स्यात्प्रविस्तीर्णा दृश्यश्रीरियमातता ।
इतः समुद्रास्तदनु द्वीपभूरम्बुधिः प्रभुः ॥ ७ ॥
इतो द्वीपं ततोऽम्भोधिः किमन्ते स्यात्ततोऽपि च ।
कियती कीदृशी वा स्यान्मायेयं चेत्यरूपिणी ॥ ८ ॥
तत्प्रार्थयामहे देवं हुताशं तद्वरादिमाः ।
प्रेक्षामहे दिशः सर्वा आपर्यन्तमखेदिनः ॥ ९ ॥

और पौराणिकोंके मतसे मेरुपर्वतके उत्तर भागमें स्थित दूसरे वर्षको) चला गया ॥ ३ ॥

मेघपङ्क्तिके समान काली रात्रि विस्तारको प्राप्त हुई और वे विपश्चित सारे दैनिक कृत्य पूर्ण करके सोनेके लिए शय्याओंपर आरूढ़ हुए ॥ ४ ॥

दूरसे नदियोंके प्रवाहके समान समुद्र तक पहुँचे हुए अतएव आश्चर्यमें डूबे हुए उन्होंने नीचे कही जानेवाली बातोंपर विचार किया ॥ ५ ॥

ओहो ! हम लोग देवाधिदेव अग्निके प्रतापसे बिना किसी क्लेश-आयासके बहुत दूर मार्गमें आ पहुँचे हैं ॥ ६ ॥

यह चारों ओर फैली हुई दृश्य शोभा कितनी विस्तृत होगी। यहांसे जम्बू-द्वीपके बाद क्षार समुद्र है, क्षार समुद्रके बाद फिर प्लक्षद्वीप-भूमि है, उसके बाद फिर महान् (क्षार समुद्रसे दुगुना बड़ा) इक्षुरसका समुद्र है, इक्षु-समुद्रके बाद कुशद्वीप है, कुशद्वीपके बाद सुराका सागर है। इस तरह क्रमसे सात समुद्र और सात द्वीपोंके बाद अन्तमें क्या होगा ? फिर उसके बाद क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया कितनी बड़ी और कैसी विचित्र वस्तुओंवाली होगी ॥ ७, ८ ॥

यह सब देखनेके लिए हम श्रीअग्निदेवकी प्रार्थना करें, उनके वरदानसे इन

इति संचिन्त्य ते सर्वे यथास्थानमवस्थिताः ।
सममेवाऽऽह्वयामासुर्भगवन्तं हुताशनम् ॥ १० ॥
बभूव भगवानेयामथ दृश्यो हुताशनः ।
आकारवान्वरं पुत्राः प्रगृह्णीतेत्युवाच ह ॥ ११ ॥

विपश्चित ऊचुः

पञ्चभूतात्मकस्याऽस्य दृश्यस्याऽन्तं सुरेश्वर ।
देहेन मन्त्रदेहेन तमन्ते मनसाऽपि च ॥ १२ ॥
यावत्संवेदनं यावत्संभवं यावदात्मकम् ।
पश्येम इति नो देव दीयतामुत्तमो वरः ॥ १३ ॥
आसिद्धगम्यमध्वानं पश्येम वपुषा वयम् ।
तदन्ते मनसैवाऽथ दृश्यं पश्येम भो प्रभो ॥ १४ ॥
आसिद्धगम्यमध्वानं मृत्युरस्माकमस्तु मा ।
अध्वन्यसंभवदेहे मन एव प्रयातु नः ॥ १५ ॥

सब दिशाओंको बिना परिश्रमके अन्त तक देखें। चार सागरोंके तटोंपर बैठे हुए उन सबने यह विचार कर एक ही साथ भगवान् अग्निका आह्वान किया ॥ ९, १० ॥

इसके अनन्तर भगवान् अग्नि उनके सन्मुख आकार धारण कर दृश्य हुए और उन्होंने उनसे कहा—'हे पुत्रो, वर माँगो' ॥ ११ ॥

विपश्चितोंने कहा—हे देवाधिदेव, पञ्चभूतरूप इस दृश्यका अन्त—जहांतक इस शरीरसे जाना संभव हो इस शरीरसे, इस शरीरसे अगम्य स्थानमें वैदिक मन्त्रोंके प्रभावसे संस्कृत इसी शरीरसे, उससे अगम्य स्थानमें मनसे प्रत्यक्षके योग्य सब पदार्थ, अनुमानगम्य सब पदार्थ तथा श्रुति आदि गम्य सकल पदार्थ[1] जैसे हम देखें हे नाथ, वैसा उत्तम वरदान हमें दीजिये ॥ १२, १३ ॥

हे प्रभो, योगप्रभावसे गम्य मार्गतकके दृश्यको हम इस देहसे देखें इसके पश्चात् योगियों द्वारा योगप्रभावसे अगम्य दृश्यको मनसे ही देखें ॥ १४ ॥

योगियोंके योगप्रभावसे गम्य मार्गमें चल रहे हम लोगोंकी मृत्यु न हो, जिस मार्गमें देहका संभव नहीं यानी दक्षिणायण तथा उत्तरायण मार्गरूप मर कर ही जाये जा सकने योग्य पथमें हमारा मन ही गमन करे ॥ १५ ॥

१ या सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च, सकल सूक्ष्म प्रपञ्च और सकल कारण प्रपञ्च ।

वसिष्ठ उवाच

अथैवमस्त्विति प्रोच्य पावकः सहसाऽगमत् ।
क्षणादौर्वतया यातुं समुद्र इव सत्वरः ॥ १६ ॥
अग्निर्जगामाऽथ समाजगाम
निशा विलम्ब्याऽथ जगाम साऽपि ।
समाजगामाऽपि रविर्जगाम
तेषां च धीराऽर्णवलङ्घनेहा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिन्निर्णयो नामैकविंशत्यधिक-शततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वर मांगनेके पश्चात् बड़वानलरूपसे समुद्रमें प्रवेश करनेके लिए त्वरा कर रहे अग्निदेव 'ऐसा ही हो' कहकर क्षणभरमें सहसा चले गये ॥ १६ ॥

इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये, तदनन्तर रात्रि आई वह भी कुछ देर ठहरकर चली गई, तदुपरान्त सूर्य भगवान् आये और उनकी विशाल सागरको लाँघनेकी इच्छा भी आई ॥ १७ ॥

एक सौ इक्कीस सर्ग समाप्त

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततः प्रभाते प्रसभं पृथिव्याः
कृत्वा यथाशास्त्रमलं व्यवस्थाम् ।
आविष्टदेहा इव ते रसेन
निषेध्यमाना इव मन्त्रिमुख्यैः ॥ १ ॥
निवार्य सर्वं परिवारमाश्र-
माक्रन्दमानं वदनै रुदद्भिः ।
निरस्य चाऽस्नेहतयाऽभिमान-
मात्सर्यलोभाभिभवैषणादि ॥ २ ॥
दिगन्तमालोक्य समुद्रपारे
क्षणात्समायाम इति ब्रुवन्तः ।
स्वमन्त्रशक्त्योत्तमतां गतैस्तै-
रब्धिः पदैरेव तदा प्रविष्टः ॥ ३ ॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

[सागरके तरङ्गोंमें पैरोंसे चल रहे चारों विपश्चित् तरङ्गरूपी मगरोंको चीरकर समुद्र पार गये, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, तदुपरान्त प्रातःकाल मन्त्रियोंके न चाहनेपर भी जबरदस्ती नीतिशास्त्रके अनुसार पृथिवीके राज्यविभाग, राज्य-परिपालनके उपायोंका उपदेश, मर्यादास्थापन आदिकी भली भाँति व्यवस्था कर दिगन्तके दर्शनकी उत्कट उत्कण्ठासे ग्रह, भूत आदिके आवेशसे युक्तसे तथा साक्षात् निषेध न कर सक रहे श्रेष्ठ मन्त्रियों द्वारा इशारेसे रोके जा रहे वे चारों विपश्चित् रो रहे अतएव अश्रुपूर्ण मुखोंसे युक्त सब परिजनोंको निवृत्तकर, स्नेहशून्य होनेके कारण अभिमान, डाह, लाभ, शत्रुओंके पराभवकी इच्छा, राज्य, स्त्री, पुत्र आदिकी इच्छाका त्यागकर हम लोग समुद्रपारमें दिगन्तको देखकर शीघ्र ही आते हैं यों परिजनोंकी तसल्लीके लिए कहते हुए गये। अग्निदेवकी प्रसन्नतासे प्राप्त मन्त्रकी सामर्थ्यसे ही भूमि, जल आदि भूतोंपर विजय पानेसे उत्तमताको (सिद्धताको) प्राप्त हुए उन्होंने उस समय पैरोंसे ही समुद्रमें प्रवेश किया ॥ १–३ ॥

विपश्चितस्ते दिशिदिश्यनल्पै-
भृत्यैः समुद्रं प्रविशद्भिरेव ।
भृत्यैश्च कैश्चित्त्वनुगम्यमाना
ययुर्यथा वारिणि पद्भिरेव ॥ ४ ॥
तरङ्गजालेषु पदानि कृत्वा
पृष्ठे स्थलस्येव जलस्य चाऽन्तः ।
चत्वार एकैकतयैव युक्ता
भृशं वियुक्ता निजसेनया ते ॥ ५ ॥
पदक्रमेणैव महार्णवान्त-
स्तावत्प्रविष्टा अवलोकितास्ते ।
तटस्थितैर्यावददृश्यभावं
शरन्नभो मेघलवा इवाऽऽपुः ॥ ६ ॥
तमध्वानमथोहुस्ते जलधौ पादचारिणः ।
विततध्यवसायेन बद्धकक्षाहरा इव ॥ ७ ॥
उन्नतावनतामद्रिसमारोहावरोहणैः ।
श्रियं वारितरङ्गाणां हरन्तो हरिमूर्तयः ॥ ८ ॥

वे चारों विपश्चित् स्नेहकी अधिकतासे प्रत्येक दिशामें समुद्रमें प्रवेश कर रहे बहुतसे प्रजाजनों (पालनीय लोगों) तथा भृत्योंसे (सेवकोंसे) अनुगम्यमान होते हुए स्थलके समान जलमें भी पैरोंसे हो गये ॥ ४ ॥

भूमितलके समान जलके अन्दर तरङ्गराशियोंमें भी पैर रखकर अकेले ही उद्यत हुए वे चारों विपश्चित् अपनी सेनासे अत्यन्त वियुक्त हो गये ॥ ५ ॥

चरणोंके विन्याससे ही महासागरके अन्दर प्रविष्ट हुए उन्हें तटपर खड़े हुए लोगोंने तबतक देखा जबतक कि वे शरत्कालके आकाशमें प्रविष्ट हुए मेघखण्डके समान अदृश्यताको प्राप्त हुए ॥ ६ ॥

पीलवानरूपी दृढ़निश्चयसे प्रेरित हुए समुद्रमें पैदल चलनेवाले उन चारों विपश्चितोंने पीठपर बाँधे हुए महान् भारको ढोनेवाले हाथियोंके तुल्य उस मार्गको व्यतीत किया ॥ ७ ॥

पर्वतके सदृश उतार और चढ़ावसे ऊँचो और नीची जलतरङ्गोंकी शोभाको,

आवर्तेषु तृणानीव भ्रान्ता विगतसंभ्रमम् ।
चिरं चञ्चलमत्ताभ्रचन्द्रमण्डलशोभिषु ॥ ९ ॥
मन्त्रविद्यावलौजोभिर्दुर्जयाः शस्त्रपाणयः ।
क्वचित्प्रमत्तैर्मकरैर्निगीर्णोद्गीर्णदेहकाः ॥ १० ॥
जलकल्लोलविश्रान्तवातोत्सारितमूर्तयः ।
नीतानीताः क्षणेनैव योजनानां शतं शतं ॥ ११ ॥
जलकल्लोलमातङ्गतुङ्गिताङ्गतया तया ।
दधाना निजराज्येभपृष्ठरोहस्थितिश्रियम् ॥ १२ ॥
विस्तीर्णोर्मिघटापट्टपाटपट्टनपाटवैः ।
दर्शयन्तो जलाम्भोदनिष्क्रान्ति मारुता इव ॥ १३ ॥

स्वयं भी उसका ग्रहण करनेसे, हर रहे अतएव भगवान् श्रीहरिकी-मूर्तिके तुल्य[1] मूर्तिवाले उन्होंने मस्तमेघ-घटामें प्रविष्ट हुए चन्द्रमाके समान अपने प्रवेशसे शोभायुक्त हुए आवर्तोंमें (जलभँवरोंमें) किसी प्रकारके भय-विस्मयके बिना चिरकाल तक तृणोंके समान भ्रमण किया ॥ ८, ९ ॥

वे मन्त्र, विद्या, बल और तेजस्वितासे दुर्जय थे तथा हाथमें शस्त्र लिए हुए थे, अतएव कहींपर मस्त मगरोंने पहले उनके शरीरोंको निगला फिर पचानेकी शक्ति न होनेसे उगिल दिया ॥ १० ॥

जलतरङ्गोंमें विश्राम ले रहे वायुओंसे गेंदको तरह उछाले गये शरीरवाले वे एक ही क्षण में सो सो योजन पहले पहुँचाये गये फिर वापस लाये गये ॥ ११ ॥

जलतरङ्गरूपी हाथियों द्वारा की गई अपूर्व चमत्कारकारिणी तुङ्गदेहता (उन्नतशरीरता) से वे अपने राज्यमें हाथियोंके पीठकी सवारीकी शोभा धारण कर रहे थे ॥ १२ ॥

बड़ी विस्तृत तरङ्गराशिरूपी लाफलकोंको तोड़ने और उलटनेमें पटुताओंसे, वायुओंसे उद्दीपित बिजलियोंको ह जलरूपी मेघसे (निकलना) दिखला ॥ १३ ॥

१ हरिमूर्तिने भी मन्थाचलसे मन्थनकालमें जलतरङ्गोंके आरोह और अवरोहोंसे उन्नत-अवनत लक्ष्मीको हरा ऐसी प्रसिद्धि है ।

तरत्तरलमातङ्गतरङ्गौघविघट्टिताः ।
अत्यजन्तो निजं धैर्यं वेलावरतटा इव ॥ १४ ॥
महोर्मिमुक्तामाणिक्यमण्डलप्रतिबिम्बिताः ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ १५ ॥
पाण्डुडिण्डीरपिण्डेषु कुर्वन्तो लाघवात्पदम् ।
श्वेतपद्मपरिक्रान्तराजहंसश्रियं दधुः ॥ १६ ॥
घननिर्घातनिर्घोषभीषणार्णवघुंघुमात् ।
न भीता भूभृतस्तत्र वेलावलयजृम्भितात् ॥ १७ ॥
अभ्रंलिहजलाद्रीन्द्रपातोत्पातविघट्टिताः ।
क्षणं पातालमाजग्मुः क्षणमर्कास्पदं ययुः ॥ १८ ॥
अशङ्कितोत्पतद्वारिपूरपातपटावृताः ।
उत्पातपातनिपतद्वितानकवृता इव ॥ १९ ॥

यद्यपि वे तैर रहे चञ्चल गजोंकी तरह तरङ्गराशियोंसे विघट्टित (धक्का-मुक्कीसे पीड़ित) हुए थे तथापि उन्होंने तीरभूमिके प्रसिद्ध सुन्दर पथरीले तटोंके समान अपना धैर्य नहीं खोया ॥ १४ ॥

बड़ी बड़ी लहरोंमें मोतियों और मणियोंकी राशियोंमें प्रतिबिम्बित हुए वे एकाकी होनेपर भी चारों ओर पुरुषोंके समूहसे परिवृत जैसे मालूम होते थे ॥१५॥

शीघ्रतासे सफेद फेनके पिण्डोंपर पैर रख रहे उन्होंने सफेद कमलोंपर चढ़े हुए राजहंसोंकी शोभा धारण की ॥ १६ ॥

मेघके घोर गर्जनकी ध्वनिके सदृश भयंकर सागरके घुम घुम शब्दसे, जोकि तटभूमिमें टकरानेसे और तेज हुआ था, वे राजा होनेके कारण[1] बिलकुल नहीं डरे ॥ १७ ॥

आकाशको छूनेवाले जलमय पर्वतराजोंके उछलने और गिरनेसे धक्कामुक्कीमें पड़े हुए वे क्षणभरमें पाताल पहुंचते थे और क्षणभरमें सूर्यमण्डलमें पहुँच जाते थे ॥ १८ ॥

अचानक ऊपर गिरे हुए जलप्रवाहरूपी वस्त्रसे ढके हुए वे उत्पातोंकी प्राप्ति होनेपर गिर रहे मेघरूपी चंदवेसे ढके हुए-से मालूम पड़ते थे ॥ १९ ॥

१ भूभृत् शब्द श्लिष्ट है इसके राजा और पर्वत दो अर्थ हैं, पर्वत समुद्रकी तरङ्गोंसे भयभीत नहीं होता भूभृत् होनेसे वे भी नहीं हुए ।

प्रक्रान्तास्तेऽम्बुराशौ सहचरमकराः शूरनक्रैः कुलीरै-
र्व्याप्ताऽऽवर्तविवृत्ताः सलिलतरुलतासीकरैरन्तरालैः ।
कुर्वन्तः कान्तियुक्तं वपुरिव कुसुमैर्भ्रान्तमाणिक्यमुक्तै-
र्व्यक्ताऽव्यक्तांशुजालैः प्रतिपक्ष्मितरैरभ्ररूपैरदभ्रैः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्ध अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम
द्वाविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्येते दृश्यरूपाया अविद्याया विचारणे ।
प्रवृत्ताः पादचारेण समुद्रद्वीपगामिनः ॥ १ ॥

विशाल मेघोंसे प्रकट और अप्रकट किरणराशिवाली घूम रही मणियों और मुक्ताओंकी राशियोंसे तथा बीचमें जलमय वृक्षलतातुल्य तरङ्गोंके जलकणोंसे फूलोंकी तरह अपने शरीरको विभूषित कर रहे, बड़े बड़े बली मगर और केकड़ोंसे व्याप्त तरङ्गोंमें चारों ओरसे घिरे हुए तथा मगर ही हैं सहचर (मित्र) जिनके ऐसे वे विपश्चित् समुद्रमें पैरोंसे चले ॥ २० ॥

एक सौ बाईस सर्ग समाप्त

एक सौ तेईस सर्ग

[द्वीप और समुद्रोंमें गये हुए विपश्चितोंकी पश्चिमकी ओर गये हुएके क्रमसे विविध दशाओंका वर्णन]

इस रीतिसे समुद्र और द्वीपोंमें जानेवाले वे चार विपश्चित् पैदल दृश्यरूप अविद्याके अन्तके विचारमें प्रवृत्त हुए ॥ १ ॥

अब्धेर्द्वीपं पुनर्द्वीपादब्धिं द्वीपं गिरिं वनम् ।
लाघवाल्लङ्घयामासुश्छेदभेदविवर्जिताः ॥ २ ॥

पीतो विपश्चित्पाश्चात्यो मीनेनाऽमरमानिना ।
विष्णुमीनकुलोत्थेन वितस्तावाहनौजसा ॥ ३ ॥

क्षीरोदं प्राप्य मत्स्येन तेनोद्गीर्णः सुदुर्जरः ।
तेन क्षीरोदमुल्लङ्घ्य गतो दूरं दिगन्तरम् ॥ ४ ॥

दक्षिणो यक्षनगरे संप्रेक्ष्येक्षुरसार्णवे ।
शिक्षादक्षिणयाऽऽक्षिप्य यक्षिण्या कामुकीकृतः ॥ ५ ॥

पूर्वो मकरमाक्रम्य यदा गङ्गां निकृत्तवान् ।
गङ्गया स तदानीय कान्यकुब्जे समुज्झितः ॥ ६ ॥

शरीरके छेद-भेदसे रहित विपश्चितोंने समुद्रसे द्वीपको द्वीपसे समुद्रको इस प्रकार द्वीप, पर्वत और वनको शीघ्रतासे लाँघा ॥ २ ॥

उन चार विपश्चितोंमें से पश्चिम दिगन्तको देखनेके लिए प्रवृत्त विपश्चित-को अपनेको अमर समझनेवाली विष्णुमीन कुलमें उत्पन्न मछली, जिसका वेग अत्यन्त शीघ्र बहनेवाली व्यास नदीकी नौकाके सदृश अत्यन्त तीखा था, निगल गई ॥ ३ ॥

उसे पचाना सरल न था, अतएव उस मछलीने क्षीरसागरमें पहुँचकर उसे उगल दिया । तदनन्तर क्षीरसागरको लाँघकर वह दूर दिगन्तरको गया ॥ ४ ॥

दक्षिण दिगन्तको देखनेके लिये प्रवृत्त विपश्चित्को इक्षुरससागरमें स्थित यक्षनगरमें वशीकरणविद्याकी शिक्षामें निपुण यक्षिणीने देखकर अपने विद्याबलसे अपनी ओर आकृष्ट कर अपना प्रेमी बना लिया ॥ ५ ॥

पूर्व दिगन्तको देखनेके लिए प्रवृत्त विपश्चित्ने गङ्गाके हजार मुहानोंको एक-एक करके देखते हुए जब कहींपर मगरको, जो उसे निगलना चाहता था, खींचकर उसके उद्धारके लिए उसे गङ्गामें ले जाकर चीर डाला, तब गङ्गाजीने उसे पीछे वापस लाकर कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में छोड़ दिया ॥ ६ ॥

उत्तरस्तूत्तरकुरूनाराध्य प्राप्तवाञ्श्रियम् ।
तं तयैनं न बाधन्ते दिगन्ते मृतभीतयः ॥ ७ ॥

तया मकरमातङ्गनिगीर्णोद्गीर्णमूर्तिमान् ।
अतिचक्राम सुबहून्द्वीपान्तरकुलाचलान् ॥ ८ ॥

पश्चिमः पृष्ठमारोप्य हेमचूडेन पक्षिणा ।
कुशद्वीपे कुशाङ्गश्रीस्तरसा तारतोऽर्णवान् ॥ ९ ॥

क्रौञ्चद्वीपाचले पूर्वो निगीर्णो रक्षसा वने ।
तद्रक्षः पाटित तेन हृदयेऽन्त्रविकर्तनैः ॥ १० ॥

उत्तर दिगन्तको देखनेके लिए प्रवृत्त विपश्चित्ने उत्तर कुरुदेशमें श्रीदेवीजी-के साथ लीला कर रहे भगवान्की आराधना कर अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किया। अतएव उक्त विपश्चित्को ऐश्वर्यके प्रतापसे दिगन्तमें व्याप्त मरणप्रयुक्तभय दुःख नहीं देते अर्थात् वह अमर हो गया ॥ ७ ॥

उक्त अणिमा आदि ऐश्वर्यके प्रतापसे ही मगर और जलगजों द्वारा पहले निगली फिर उगली गई मूर्तिवाला वह अनेकानेक द्वीप-द्वीपान्तरके कुलशैलोंको लाँघ गया ॥ ८ ॥

फिर पश्चिम दिगन्तकी ओर प्रवृत्त विपश्चित्के वृत्तान्तका वर्णन करते हैं— 'पश्चिमः' इत्यादिसे ।

पश्चिमकी ओर चले विपश्चित्को, जिसकी अङ्गशोभा कुशकीसी थी, पक्षि-राज गरुड़ने अपनी पीठपर बैठाकर वेगसे कुशद्वीप और अनेक सागरोंको पार कर दिया ॥ ९ ॥

फिर पूर्व विपश्चित्का समाचार कहते हैं—'क्रौञ्च०' इत्यादिसे ।

क्रौञ्चद्वीप पर्वतपर वनमें राक्षस पूर्व विपश्चित्को निगल गया। तदनन्तर उस राक्षसको विपश्चित्ने आँतड़ियोंके छेदन द्वारा चीर डाला ॥ १० ॥

फिर दक्षिण विपश्चित्का वृत्तान्त कहते हैं—'दक्षिणः' इत्यादिसे ।

दक्षिणो दक्षशापेन यक्षतामागतः क्षणात् ।
शाकद्वीपे शतेनाऽसौ वर्षाणां मोक्षमागतः ॥ ११ ॥

उत्तरस्तरसोत्तीर्णताराब्धरतरङ्गिणः ।
महार्णवसुवर्णोर्व्यां सिद्धशापाच्छिलां गतः ॥ १२ ॥

ततो वर्षशतेनाऽसौ प्रसादाज्जातवेदसः ।
तेनैवोन्मोचितस्तत्र सिद्धेन रतिमाप्तवान् ॥ १३ ॥

वर्षाण्यष्टावभूद्राजा नालिकेरनिवासिनाम् ।
पूर्वः परमधर्मिष्ठः प्राप्तवान्प्राक्स्मृतिं ततः ॥ १४ ॥

कल्पवृक्षवने मेरोरुत्तरेऽप्सरसा सह ।
उवास दशवर्षाणि नालिकेरफलाशनः ॥ १५ ॥

शाकद्वीपमें दक्षिणकी ओर चला हुआ विपश्चित् दक्षके शापसे एक क्षणमें यक्ष बन गया एक वर्ष तक यक्ष बने रहनेके बाद उसकी मुक्ति हुई ॥ ११ ॥

फिर उत्तरकी ओर चले विपश्चित्का वृत्त कहते हैं—'उत्तर०' इत्यादिसे ।

उत्तर विपश्चित् वेगसे बड़े-बड़े और छोटे-मोटे नदी-नाले तथा समुद्र पार कर स्वादुजलवाले महासागरके आगे प्रसिद्ध सुवर्णभूमिमें सिद्धके शापसे शिला बन गया ॥ १२ ॥

तदुपरान्त एक सौ वर्ष बाद अग्निदेवके अनुग्रहसे वहाँ उसी सिद्धने उसे शापसे मुक्त कर दिया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ १३ ॥

फिर पूर्व विपश्चित्का वृत्तान्त कहते हैं—'वर्षाणि' इत्यादिसे ।

परम धर्मात्मा पूर्व विपश्चित् कान्यकुब्ज देशसे उत्तरकी ओर गया । वहाँ आठ वर्ष तक प्रधानरूपसे नारियलोंकी उत्पत्तिवाले देशमें रहनेवाले लोगोंका राजा बन गया । तदुपरान्त उसे पूर्व जन्मका स्मरण हो गया ॥ १४ ॥

नारियलके फलोंपर निर्वाह करनेवाला वह मेरुपर्वतके उत्तर तरफ स्थित कल्पवृक्ष वनमें दश वर्ष तक अप्सराके साथ रहा ॥ १५ ॥

विहगाऽऽश्वासतत्त्वज्ञः शाल्मलिद्वीपशाल्मलौ ।
पश्चिमः पक्षिणीनीडे क्रीडया न्यवसत्समाः ॥ १६ ॥
मन्दराऽद्रौ मृदुतले मन्दारतरुमन्दिरे ।
किंनरी मन्दरीनाम्नी दिनमेकमसेवत ॥ १७ ॥
क्षीरोदवेलावनकल्पवृक्षवनावलीनन्दनदेवताभिः ।
सार्धं समाः सप्ततिमप्सरोभिर्निनाय कामाकुलितोऽथ पूर्वः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषुनिर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० दिग्विहरणं नाम त्रयोविंशाधिक-शततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

पश्चिम विपश्चित् पक्षियोंकी वशोकरणविद्यामें पारंगत था, अतएव पहले उसे गरुड़ने पोठ पर बैठाकर समुद्र पार किया था। वह शाल्मली द्वीपके शाल्मली पेड़पर पक्षीके घोंसलेमें उसके साथ क्रीडावश दस वर्षतक रहा ॥ १६ ॥

कोमल लताओंसे भरे हुए मन्दराचल पर, मन्दार वृक्षोंके निकुञ्जरूप गृहोंमें मन्दरी नामकी किन्नरीने उस पश्चिम विपश्चित्का एकदिन तक सेवन किया ॥१७॥

इसके उपरान्त पूर्व विपश्चित् नारियलके वनसे क्षीरसागरके तटपर गया। वहाँकी कल्पवृक्षके वनोंकी पङ्क्तियोंमें नन्दनवनकी देवियों—अप्सराओं—के साथ कामाकुल इसने सत्तर वर्ष बिताये ॥ १८ ॥

एक सौ तेईस सर्ग समाप्त

